पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे?

सम्पादक

ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक :

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही हैं। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानीगणों के वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देखा सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबोकर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता, मन को व विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों-करोड़ों के मनों के अंतःस्थल को छूकर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्लमार्क्स के साम्यवाद की क्रान्ति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट् गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े करते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाये, कैसे छन्दबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर, १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आस-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे, छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला

की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किंतु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक-दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि- "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गईं- संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख-सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद

पैदल लम्बा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अँग्रेजी सीखकर लौटे। आसनसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मदनमोहन मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से, मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान, बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जनआक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रान्तिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रांता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्तजी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री श्रीगोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधीजी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधानमंत्री राहत फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्रीकृष्णदत्तपालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रहकर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर- घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदयस्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ। स्थान बदला, आगरा से मथुरा आग गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों

का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतःस्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुःखी था- पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रान्ति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि-विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परमवंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनने महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूलथाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञानसम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप-पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों के द्वारा विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों को विशेष कार्य-भार सौंप परमवंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया-पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन, संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के

अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक, साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी-बूटी, यज्ञ विज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना, मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञानसम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का, एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युगशिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन-जाग्रति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञासंस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञामण्डल, स्वाध्याय-मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया-कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तपसाधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया-कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी के दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट-आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नवनिर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरुसत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युग संधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नवनिर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रान्ति ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद, दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु सम्पन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९४ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी गई। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो एक सौ आठ खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हुआ। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जाएँगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़-चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है। ☐☐☐

भूमिका

आज का मनुष्य अधिक सुविधा व साधन सम्पन्न है । इतना अधिक कि २०० वर्ष पूर्व का मनुष्य कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था । वैज्ञानिक क्रान्ति व आर्थिक क्रान्ति ने साधनों के अम्बार जुटा दिये हैं, फिर भी मनुष्य पहले की तुलना में स्वयं को अभावग्रस्त, रुग्ण, चिन्तित व एकाकी ही अनुभव कर रहा है । सुख-सन्तोष की दृष्टि से वह पहले की अपेक्षा और अधिक दीन-दुर्बल हो गया है । शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक संतुलन, नैतिक विकास, पारिवारिक सौजन्य, सामाजिक सद्भाव, आर्थिक संतोष व आंतरिक उल्लास की दृष्टि से मनुष्य जाति समग्र विश्व में नई-नई समस्याओं से घिर गयी है । परमपूज्य गुरुदेव *इन सभी समस्याओं के मूल में उलटी बुद्धि का नट नृत्य ही देखते हैं । दुर्मतिजन्य दुर्गति ही चारों* ओर दिखाई देती है एवं यह दुर्बुद्धि भावनात्मक स्तर पर एक विचार क्रान्ति के बिना ठीक होगी नहीं, यह उनका वाङ्मय के इस खण्ड में अभिमत है ।

विचारों में अपार शक्ति छिपी पड़ी है । विचारशीलता एवं विवेकशीलता विकसित की जा सके तो *तथाकथित शिक्षा में प्राण डाले जा सकते हैं एवं व्यक्ति को विद्या रूपी संजीवनी द्वारा मूर्च्छना से उबारा जा* सकता है । गायत्री परिवार का यही लक्ष्य बताते हुए बारबार युगदृष्टा आचार्यश्री ने लिखा है कि, बिना एक व्यापकस्तरीय विचार क्रान्ति के इस राष्ट्र का ही नहीं, सारी विश्व-वसुधा का सामाजिक, नैतिक व बौद्धिक स्तर पर नवनिर्माण सम्भव नहीं । गायत्री एवं यज्ञ के तत्वदर्शन को इसके लिए अनिवार्य बताते हुए उनने जन-जन तक सद्बुद्धि व सद्कर्म का संदेश पहुँचाने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है । वैयक्तिक एवं सामाजिक बुराइयाँ कभी हटेंगी तो इन दोनों संस्कृति के आधार स्तंभों के माध्यमों से ही, यह पूज्यवर ने लिखा ही नहीं, कैसे यह सम्भव हो पाया है, यह प्रमाणित कर दिखाया है ।

पूज्यवर लिखते हैं कि, नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में घुसी हुई भ्रान्तियाँ आज प्रचलन में इतना गुँथ गई हैं कि, उनकी अनुपयुक्तता के बारे में संदेह करने तक की आवश्यकता नहीं समझी जाती । समीक्षा की जानी चाहिए कि, मानवी गरिमा की कसौटी पर खरा उतरने वाले नीतिवान आज की परिभाषा में कौन हैं । औसत नागरिक की तरह सादगी भरा जीवन-निर्वाह करने वाले, उत्कृष्ट चिन्तन व आदर्श *चरित्र की गौरव-गरिमा बनाये रख पवित्रता एवं प्रखरता पर आधारित व्यक्तित्व बनाये रखने वाले व्यक्ति ही* इस निर्धारण में आने चाहिए एवं जो भी इस मर्यादा को तोड़ता है-जिसे संकीर्ण स्वार्थपरता के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं-लोकमंगल के उत्तरदायित्व उठाने के लिए जिसके मन में कोई उल्लास नहीं, उसे अनैतिक ही कहना चाहिए । आदर्शवादिता ही दूरदर्शितापूर्ण नीति है एवं उसी को अपनाने में ही पूरा लाभ है, यह आज सभी को समझाना अत्यधिक आवश्यक है । संवेदनामूलक साहित्य व प्रशिक्षण द्वारा ऐसे देवमानवों का निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की नैतिक क्रान्ति का एक प्रमुख चरण है ।

वे लिखते हैं कि, बौद्धिक क्षेत्र में अंधविश्वासों के उलूकों ने अनेकों घोंसले बना रखे हैं । नशा, माँसाहार, तनाव भरा जीवन, अपव्यय युक्त प्रदर्शन, अमर्यादित प्रजनन, स्वच्छन्द यौनाचार, पारिवारिक विघटन, अनावश्यक धन संचय आदि को पूज्यवर ने बौद्धिक अंधविश्वास, प्रतिगामिता भरा चिन्तन नाम देकर लिखा है कि, सोचने का तरीका उलटा जाना चाहिए एवं सामर्थ्य भर कमाने, आवश्यकता भर खर्चने की सुसन्तुलित नीति अपनाये जाने पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए । धर्म-दर्शन के क्षेत्र में भी एक महाक्रान्ति की अपेक्षा रखते हुए वे लिखते हैं कि, जो भी प्रतिपादन व्यक्ति को पवित्र-प्रखर बनाने में समर्थ हों, मनुष्य मात्र पर समान रूप से लागू होते हों, उन्हें अपनाया जाय व शेष का खण्डन-मण्डन करने की अपेक्षा उन्हें उपेक्षा के गर्त में डाल दिया जाय । तत्वदर्शन की असंख्य परस्पर विरोधी धाराएँ आज समाज में प्रचलित हैं-एक ही ईश्वर को जाने वाले राजमार्ग के होते हुए भी अनेकानेक पंथ अपनी ढपली-अपना राग बजाते दीख पड़ते हैं, इन सभी के बारे में एक बौद्धिक क्रान्ति का प्रयोजन पूरा किया जाना अपेक्षित है

एवं वह विवेक के आधार पर उनकी परिणति को ध्यान में रखते हुए विनिर्मित नये युगदर्शन के रूप में ही सम्भव है, यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए ।

सामाजिक क्रान्ति की बात करते हुए पूज्यवर लिखते हैं कि, ऐसे प्रचलन निरस्त किये जाने चाहिए जो विषमता, विघटन, अन्याय व अनौचित्य के पृष्ठपोषक हैं । नर-नारी में भेद, जन्मजाति के आधार पर ऊँच-नीच, भिक्षा व्यवसाय, मृतकभोज, बालविवाह, अनमेल विवाह जैसी अगणित कुप्रथाओं के साथ-साथ विवाहोन्माद से प्रखर संघर्ष किया जाना चाहिए । इन सभी कुप्रचलनों से भरी अनीति एवं भ्रान्ति को तभी हटाया-मिटाया जा सकता है, जब दुर्बुद्धि को रोकने वाला एक जनआंदोलन खड़ा हो सकेगा । समाधान बताते हुए वे लिखते हैं कि, अपना समाज सहकारी समाज बने । उसकी अभिनव संरचना में कौटुम्बिकता के शाश्वत सिद्धान्तों का समावेश किया जाय । न जाति-लिंग की विषमता रहे, न आर्थिक दृष्टि से किसी को अमीर-गरीब रहने दिया जाय, न कोई उद्धत-अहंकारी धनाध्यक्ष बने व न किसी को पिछड़ेपन की पीड़ा-भर्त्सना सहनी पड़े । मिल-बाँट कर खाने और हिल-मिल कर रहने की समाज संरचना द्वारा ही मनुष्य को एक व्यापक सामाजिक क्रान्ति द्वारा सुख-शांति से रहने का अवसर दिया जा सकता है । छह अरब मनुष्यों में पायी जाने वाली भ्रान्तियों-विकृतियों से जूझना असम्भव अवश्य लगता है, परन्तु युग-मनीषा चाहे तो वह कर सकती है । श्रेष्ठता का वातावरण भी इसी आधार पर बन सकता है ।

अंधविश्वासों, रूढ़िवादिता, मूढ़मान्यता भरे कुप्रचलनों से यदि आज के समाज को मुक्त करना है तो इक्कीसवीं सदी के आगमन से पूर्व ही निरंकुश बुद्धिवाद के स्थान पर संवेदनामूलक समाज की स्थापना के संकल्प को पूरा करना होगा । यह होकर ही रहेगा, इसमें किसी को संदेह नहीं होना चाहिए क्योंकि यह परिवर्तन की वेला है । बुद्धिवाद के दिन अब लद गये अब उलटे को उलटकर सीधा कर देने वालों का समय आ गया है । विवेक, औचित्य एवं आदर्श की समन्वित दूरदर्शिता जाग्रत करने वाली रणनीति जो पूज्यवर ने इस खण्ड में समझायी है, वह एक विराट विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि, स्वरूप एवं परिणति हमें समझाती व आशावादी बनाती है ।

—ब्रह्मवर्चस

suchi snb

विषय-सूची

* * *

विचार-क्रान्ति अपने समय की असाधारण महाक्रान्ति

विचार क्रान्ति की रूपरेखा

हर किसी को यह समझ लेना चाहिए कि मनःस्थिति ही परिस्थितियों की जन्मदात्री है। चेतना के स्वस्थ-स्तर का प्रमाण-परिचय, विचार-प्रवाह के आधार पर आँका जाता है। साधनों की न्यूनाधिकता ही अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति के नाम से जानी जाती है। साधन, शरीर द्वारा जुटाए जाते हैं। चेतना आकांक्षा उत्पन्न करती हैं और चेतना के सहारे ही शरीर की सत्ता बनी रहती है। निष्प्राण हो जाने पर शरीर अपनी समूची क्रियाशीलता खो बैठता है और मरण के उपरान्त तुरन्त ही सड़ने-गलने लगता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए स्वजन-सम्बन्धी अन्त्येष्टि द्वारा मृत शरीर को यथासंभव जल्दी ही समाप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

एक जैसी परिस्थितियों में जन्मे मनुष्यों में से कुछ उन्नति के शिखर स्तर तक जा पहुँचते हैं और कितने ही रोती-कलपती स्थिति में दुर्दशाग्रस्त बने रहते हैं। इस अन्तर का कारण न तो समाज है और न वातावरण । साधन ही यदि सब कुछ रहे होते, तो एक जैसी परिस्थितियों में जन्मे-पले मनुष्यों का भविष्य एक जैसा ही बनना चाहिए था, पर ऐसा नहीं होता। मनःस्थिति ही प्रेरणाओं का प्रवाह पैदा करती है, वह ही शरीरगत क्रिया-कलापों को इधर से उधर घसीटती फिरती है। योग्यता, क्षमता और दक्षता की स्थिति विचारधारा के अनुरूप ही सुविकसित अथवा अनाथ स्थिति में बनी रहती है; इसी आधार पर परिस्थितियाँ भी बनती, बिगड़ती और बदलती रहती हैं। इसीलिए मनुष्य का स्तर एवं भविष्य उसकी मनःस्थिति पर पूरी तरह अवलम्बित देखा जाता है।

इन दिनों व्यक्ति और समाज को अनेक प्रकार की कठिनाई से, समस्या, चिंता, आशंका और विपन्नताओं से ग्रस्त देखा जाता है। उसका दोष यों तो साधन-सामग्री के अभाव पर थोपा जाता है और परिस्थितियों के कारण यह सब हुआ माना जाता है। सुधार के इच्छुकों का प्रयास भी यही रहता है कि परिस्थिति बदलने के लिए साधनों को विपुल मात्रा में जुटाया जाय।

यह बात एक सीमा तक ही सही हो सकती है। इसमें संदेह करने की गुंजाइश इसलिए बहुत है कि तथाकथित सुसम्पन्न लोग भी अनेक शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं सामुदायिक विपन्नताओं से घिरे पाए जाते हैं। दुर्व्यसनों के, विग्रहों, कुटेवों के और अनाचरणों के शिकार, समुन्नत कहे जाने वाले ही अधिक पाये जाते हैं; देखने वालों को उनका वैभव चकाचौंध जैसा दीख सकता है, पर जिस पर बीतती है, वह जानता है कि उन्हें सामान्य लोगों की तुलना में ईर्ष्या से लोक आक्रमणों तक का; असन्तोष से लेकर विक्षोभ तक का कितना अधिक भार वहन करना पड़ता है, वे किस बुरी तरह घुटन सहते और झख मारते देखे जाते हैं, इसका कारण वैभव की कमी या अधिकता नहीं है वरन् उसके कारण उठने वाले उद्वेगों ने ही त्रस्त कर रखा है। विवेचना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि विचार-विकृति किस बुरी तरह, हर किसी को सताती और गिराती पायी जाती है।

भूतकाल की तुलना में आज मनुष्य समुदाय कहीं अधिक सुविधा-साधनों से सम्पन्न है। यदि इन विपुलताओं का सदुपयोग कर सकने वाली विवेकशीलता भी विद्यमान रहती, तो इस उन्नतिशीलता से सम्पन्न समझे जाने वाले समय में, हर किसी को अपेक्षाकृत अधिक सुखी, समुन्नत और सुसंस्कृत पाया जाता । पर स्थिति आशा-अपेक्षा की तुलना में सर्वथा विपरीत ही दीख पड़ती है। चैन से रहने और रहने देने का सुयोग किसी भी क्षेत्र में नहीं बन पड़ रहा है।

विश्व-व्यवस्था की वर्तमान स्थिति पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि बढ़ता प्रदूषण, युद्धोन्माद विकरण, अपराधों की अभिवृद्धि, जनसंख्या विस्फोट, पर्यावरण आदि अनेक संकटों से संसार को बुरी तरह जूझना पड़ रहा है। जन-समुदाय भी दुर्बलता, रुग्णता, अशिक्षा, दरिद्रता आदि के कुचक्र में पिस रहा है। समस्याएँ, उलझनें, विपत्तियाँ अपने-अपने ढंग से हर किसी को हैरान कर रही हैं, स्नेह-सौजन्य के लिए हर किसी को तरसना पड़ रहा है, चिन्ताएँ, आशंकाएँ, जन-जन के मन को आतंकित किये हुए हैं और भी बहुत कुछ ऐसा हो रहा है, जिसे अशुभ एवं अनुचित ही कहा जा सकता है।

यह सब क्यों हो रहा है? इस प्रश्न पर विचार करने वालों को हतप्रभ हो जाना पड़ा है। प्रगति युग के नाम से प्रख्यात अपने समय में जब विज्ञान ने अनेकानेक सुविधा-साधन उपलब्ध करा रखे हैं, तो फिर वह अभावग्रस्तता कहाँ से उपज पड़ी, जिसके कारण उचित-अनुचित सब कुछ कर गुजरने के लिए लोगों को आकुल-व्याकुल होकर रहना पड़ रहा है? जब बुद्धिवाद ने अनेकानेक रहस्यों को खोज निकाला है और अभिनव प्रतिपादनों का अम्बार लगा दिया है तो फिर पथ भूले बंजारे की तरह कष्टदायक भटकाव क्यों सर्वसाधारण को संत्रस्त किये हुए हैं?

मोटी दृष्टि से इन पहेलियों के अनेक कारण और उनके भिन्न-भिन्न हल सूझ पड़ते हैं; पर जब गहराई में उतरकर वस्तुस्थिति जानने के तात्विक प्रयत्न किये जाते हैं, तो एक ही अति-स्पष्ट और नितान्त निर्विवाद कारण उभरता है कि उपलब्धियों के दुरुपयोग में दुर्बुद्धि का बोलबाला हो चला है। अचिन्त्य-चिन्तन अपनाने की

मानसिकता बन गयी है। नैतिक मूल्यों की अवज्ञा और उपेक्षा होने लगी है। जल्दी से जल्दी, अधिक से अधिक वैभव बटोरने की ललक इतनी उग्र हो उठी है कि राजमार्ग पर चलकर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कोई तैयार नहीं। हर कहीं पगडण्डी खोजने और जो सूझ पड़े, उसी पर आँख बन्द करके पगलाये लोगों की तरह दौड़ पड़ने की होड़ चल रही है।

उक्त स्थिति में, जो उचित था, उसे छोड़कर आतुरता की मन:स्थिति में कुछ भी कर गुजरने की रीति-नीति चल पड़ी है। उसी बदहवासी में ऐसी मन:स्थिति बन गई है जिसमें अनर्थ अपनाए बिना चैन ही नहीं पड़ता। उसी में लाभ समझा जाता है और वही इष्ट-अभीष्ट बनकर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर रही है, जिसमें तात्कालिक लाभ के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं। इसकी परिणति कुछ ही समय बाद क्या होगी? इस संदर्भ में शान्तचित्त से सोचने की किसी को फुरसत ही नहीं है। यही है वह अर्द्ध-विक्षिप्तता, जिसके चंगुल में फँसे होने से छोटे से लेकर बड़े तक के सिर पर अपने-अपने ढंग की सनकें सवार हैं। उन्हीं के कारण ऐसे अनाचरण भी अपना लिए गए हैं, जो विपत्ति के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न कर ही नहीं सकते।

वस्तुस्थिति और भी स्पष्ट करनी हो, तो आज के विग्रहों का उत्पादन केन्द्र 'बुद्धि-विभ्रम' या 'आस्था-संकट' के नाम से जाना जा सकता है। यही है वह विभ्रम जिसके कारण उलटे पैरों, उलटी दिशा में चल पड़ने जैसी स्थिति बन गयी है। स्पष्ट है कि चिंतन ही कर्म के रूप में परिणत होता है। उसके कारण भली-बुरी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। जो कुछ उगता है, वह धरती की ही देन होती है, इसी तरह जो कुछ भी सामने आता है, वह वस्तुत: अपनायी गई गतिविधियों की ही परिणति होती है।

अस्तु, अपने भाग्य का निर्माता स्वयं होने के शाश्वत सत्य को ध्यान में रखते हुए, इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि विकृत मन:स्थिति ही एकमात्र वह कारण है, जिसने अनेकानेक संकटों के तूफान खड़े कर दिए हैं अन्यथा जब पुराने समय में स्वल्प साधनों के रहते लोग हँसते-हँसाते, खिलते-खिलाते जीवन जीते रहे, तो अब साधन-सुविधाओ की विपुलता होते हुए भी व्यक्ति को विपन्न और समाज की उद्विग्न स्थिति में दिन गुजारने का अन्य कोई कारण हो ही नहीं सकता।

यों, असंख्य समस्याओं के अनेक समाधान सोचे जा सकते हैं और उनके लिए अनेक उपक्रम भी अपनाये जा सकते हैं। इस खोजबीन में अनेक मूर्धन्य जुटे भी रहते हैं पर यदि धीर-गम्भीर होकर सोचा जा सके, तो बात ऐसे ही दीख पड़ेगी जैसी कि कस्तूरी वाले हिरण को सुगन्धि उपलब्ध करने के लिए दिशा-दिशा में भटकन अनुभव करनी पड़ती है और निराशा के साथ-साथ थकान की दुहरी मार से दम तोड़नी पड़ती है। परिस्थितियों का उत्पादन मन:स्थिति के स्रोत से होता है, यदि इतनी मोटी बात समझ ली गयी होती, तो समाधान के लिए अनेकानेक उपचार अपनाने की अपेक्षा, उसकी जड़ ही पकड़ में आ जाती। विकृत-चिन्तन को निरस्त करने का काम ही सम्पन्न कर लिया जाय तो वह सब कुछ बदल जायेगा जो मानवी गरिमा के न तो अनुरूप है और न अनुकूल।

रोगी को प्राण-संकट से उबारने के लिए एमर्जेंसी उपचार तत्काल किया जाना आवश्यक होता है। इस समय एक ही निर्धारण यह है कि जनमानस के परिष्कार को सर्वोपरि प्राथमिकता दी जाय। विचार-क्रान्ति को समस्त उपलब्धियों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक मानते हुए, उसी लक्ष्यवेध पर समग्र कौशल को केन्द्रित किया जाय। लोक-मानस को यदि सही मार्ग पर चलने के लिए सहमत किया जा सके तो समझना चाहिए कि अगणित संकटों का समाधान मात्र एक ही उपचार से संभव हो गया।

समझा और समझाया जाना चाहिए कि जब शरीर यात्रा का निर्वाह थोड़े समय के थोड़े से परिश्रम से ही संभव हो सकता है तो सोने के भंडार जमा करने के लिए लालायित होने का क्या औचित्य है? अधिक बटोरना, अपने सिर पर असह्य भार लादना और उसे खींचने में समूची क्षमता गँवा बैठना, भला किस प्रकार बुद्धिमानी का चिन्ह हो सकता है? गुंजाइश से अधिक चटोरेपन से प्रेरित होकर पेट में अभक्ष्य ठूँसते रहा जाय तो दर्द-उल्टी होना ही चाहिए; कभी-कभी तो प्राण-संकट तक आ खड़ा हो सकता है। व्यसन, विलासिता, अमीरी-प्रदर्शन का ठाट एवं अहंकार का उन्माद, यदि सब मिलकर एक साथ आक्रमण करें, तो समझना चाहिए कि घायल गधे पर एक साथ कौवे, चील, गिद्ध, सियार और कुत्ते दौड़ने जैसी स्थिति बन गयी और बारी-बारी से नोचे जाने की अधिक कष्टदायक घड़ी सामने आ खड़ी हुई।

लिप्सा व तृष्णा की तृप्ति कोई अब तक तो कर नहीं सका है, आगे भी कोई इस समुद्र जितनी गहरी खाई को पाटने में सफल हो सकेगा, इसकी संभावना न तो वर्तमान में किसी से बन पड़ेगी और न भविष्य में भी इसकी कहीं कभी आशा की जा सकती है। चारे-दाने का लालच चिड़ियों और मछलियों को प्राण गँवाने के संकट में फँसा देता है। अतिशय लालच के वशीभूत होकर जिन कुकृत्यों को अपनाया जाता है, वे नशेबाजी की तरह क्षणिक आमोद से ललचाकर व्यक्ति को हर दृष्टि से खोखला और अकाल मृत्यु का ग्रास बनाकर ही छोड़ते हैं। यदि उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत कराया और कुटेव को छोड़ने के लिए किसी प्रकार सहमत किया जा सकता तो

उस व्यक्ति का, संबद्ध परिवार का और प्रकारान्तर से समूचे संसार का हित साधन हो सकता था।

यह समझने और उस संकट की ओर से लौट पड़ने का काम स्वयं अपने विवेक से किया जा सके, तो और भी अच्छा; अन्यथा हितैषियों का कर्त्तव्य है कि आत्महत्या के लिए उतारू आवेशग्रस्त को बलपूर्वक दबोचकर, औचित्य तक ही सीमित रहने के लिए बाधित किया जाय। आज के 'आस्था-संकट' से ग्रसित लोगों को, महामारी ग्रसित, विपत्ति झेलने वालों की श्रेणी में गिनते हुए, उन्हें रोग मुक्त करने के लिए यह सभी कुछ किया जाना चाहिये।

प्रकारान्तर से यही है, महान परिवर्तन प्रस्तुत कर सकने वाली 'विचार क्रान्ति की रूप-रेखा' लोक-मानस के परिष्कार नाम से भी इसी का उल्लेख होता है। अवांछनीय मान्यताओं, गति-विधियों की रोकथाम के लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है। इसे सम्पन्न करने के लिए हमें आपत्तिकालीन स्थिति से निपटने जैसी उदार साहसिकता का परिचय देना चाहिए। पड़ोस में हो रहे अग्निकाण्ड के समय मूकदर्शक बने रहना किसी को भी शोभा नहीं देता, विशेषतया उनको, जिनके पास फायर बिग्रेड जैसे साधन हैं। विवेकशीलता और उदारता से सम्पन्न लोगों के लिए यह अशोभनीय है कि विश्वसंकट का समाधान समझते हुए भी, उस संदर्भ में जो सहज ही अपने से बन पड़ सकता था, उससे उपेक्षा दिखाएँ, अन्यमनस्कता जैसी निष्ठुरता अपनायें।

बाहरी सहायता से अधिक देर तक, किसी का काम नहीं चल सकता। उससे विपत्ति की वेला में यत्किंचित् सहायता भर मिल सकती है। काम तो अपने पैरों पर खड़े होने से ही बनता है। अपनी भुजाओं का पुरुषार्थ ही निर्वाह-साधन जुटाने से लेकर प्रगतिपथ पर अग्रसर होने जैसे सुयोग जुटाता है। रक्तदान से, आहत को तात्कालिक राहत ही दी जा सकती है। जीवित रहने की आशा तभी बाँधती है, जब अपना शरीर स्वयं रक्त उत्पादन करने लगता है। मानवी करुणा के नाते अभावग्रस्त की सहायता तो होनी ही चाहिए, किन्तु स्थायी समाधान तभी बन पड़ेगा, जब अपने बल-बूते, अपनी समस्याओं से निबटने की साहसिकता उभरे।

दानों में सबसे बड़ा दान एक ही है कि व्यक्ति की प्रस्तुत मानसिकता को झकझोर कर जाग्रत बनाया जाय। अपनी भूलें सुधारने और अपने भाग्य का निर्माण करने के लिए साहसिकता अपनाने के लिए सहमत किया जाय। विचार-क्रान्ति में यही किया जाता है कि भटकाव के दुष्परिणामों की मान्यताओं को इतनी गहराई तक पहुँचाया जाय, कि अवांछनीयता अपनाए रहने की स्थिति से पीछा छुड़ा सकने की बात बन पड़े। सुखद संभावनाओं के निकट तक जा पहुँचने के लिए चल पड़ने वाला पौरुष अपनाने के लिए कटिबद्ध होने का उत्साह जगाया जाय।

अपनी समस्याओं का उत्तरदायी स्वयं को भी मानने और अपना सुधार करने के बाद दूसरों से भी सहयोग की आशा-अपेक्षा करने की बात तो समझने योग्य है; पर इसका कोई औचित्य नहीं कि अपनी प्रतिगामिता को छाती से चिपकाए बैठे रहा जाय और जिस-तिस पर प्रस्तुत कठिनाइयों का दोष मढ़कर किसी प्रकार मन समझा लिया जाय। ईश्वर भी मात्र उन्हीं की सहायता करता है, जो अपनी सहायता आप करते हैं। इस सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता भले ही कोई हठवादिता अपनाकर परावलम्बन के आधार पर दिवास्वप्न सजाता रहे। पात्रता की अभिवृद्धि के बिना, उदारचेताओं के अनुदान भी आते-आते कहीं बीच में ही अटक जाते हैं।

यही हैं शाश्वत तथ्य, जिन्हें समझने-समझाने के लिए समझदारों को सहमत करना विचार-क्रान्ति की पृष्ठभूमि है। यही है अपने समय की सबसे बड़ी आवश्यकता । इसी में सन्निहित है–सुख, शान्ति और प्रगति के सूत्र सिद्धान्त।

विचार-क्रान्ति आज की सबसे बड़ी आवश्यकता

एक समय था जब अवांछनीय व्यक्तियों या तत्त्वों को हटाने के लिए प्रधानतया शस्त्रबल से ही काम लिया जाता था; तब विचार-शक्ति की व्यापकता का क्षेत्र खुला न था। यातायात के साधन, शिक्षा, साहित्य, ध्वनि विस्तारक यन्त्र, प्रेस आदि की सुविधाएँ उन दिनों न थीं और बहुसंख्यक जनता को एक दिशा में सोचने, कुछ करने या संगठित करने के लिए उपयुक्त साधन भी न थे। इसलिए संसार में जब भी अनाचार, पाप, अनौचित्य फैलता था तब उसके निवारण के लिए, उस अनौचित्य के केन्द्र बने हुए व्यक्तियों की शक्ति को युद्ध द्वारा- शस्त्रबल से निरस्त किया जाता था। प्राचीनकाल में युग परिवर्तन की यही भूमिका रही है।

रावण, कुंभकर्ण, मेघनाद, खरदूषण, कंस, जरासन्ध, दुर्योधन, वेन, हिरण्यकश्यपु, महिषासुर, वृत्रासुर, सहस्त्रबाहु आदि अनीतिमूलक वातावरण उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों की शक्ति निरस्त करने के लिए जिन्होंने सशस्त्र आयोजन किये, परास्त किया, उन महामानवों को युग-परिवर्तन का श्रेय मिला। उन्हे अवतार, देवदूत आदि के सम्मानों से सम्मानित किया गया। भगवान् राम, भगवान् कृष्ण, भगवान् परशुराम, भगवान् नृसिंह आदि को इसी संदर्भ में सम्मानपूर्वक पूजा सराहा जाता है।

पिछले दो सौ वर्षों में विज्ञान ने अद्‌भुत प्रगति की है। संसार की समस्याओं को नया स्वरूप दे दिया । संसार के सुदूरवर्ती देश अब यातायात सुविधा के कारण गली मुहल्ले की तरह अत्यन्त निकट आ गये। तार और डाक ने जानकारियों का आदान-प्रदान सुलभ बना दिया। प्रेस, अखबार और रेडियो ने ज्ञानवर्द्धन की अनुपम सुविधायें प्रस्तुत कर दीं। संसार की अनेक सभ्यताओं और विचारधाराओं ने एक-दूसरे को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया। साथ ही ऐसे-ऐसे दूर मार करने वाले शस्त्रों का

आविष्कार आरम्भ कर दिया, जिससे युद्ध केवल दो ही देशों के बीच सम्भव न रह गया। व्यक्तिगत लड़ाइयाँ तो सरकारी कानून के अन्तर्गत असम्भव हो गईं। आज किसी देश का प्रधानमन्त्री भी किसी का वध कर डाले तो उसे फाँसी पर ही चढ़ना पड़ेगा।

इसी प्रकार युद्ध भी अब इतने महँगे और जटिल हो गये जिन्हें करने की हिम्मत सहसा पड़ती ही नहीं। पुराने जमाने में योद्धा लोग तलवार से एक दूसरे का सिर काट कर परस्पर निपट लेते थे पर अब तो पूरे देश की समस्त जनता को प्रकारान्तर से अपने देश की युद्ध-व्यवस्था में भाग लेना पड़ता है। युद्ध के अस्त्र-शस्त्र तथा क्रिया-कलाप भी इतने महँगे हैं कि एक सैनिक को मारने में प्रायः हजारों रुपया खर्च पड़ जाता है। विजय सैन्य सफलता में ही नहीं होती, उसके पीछे अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी और सहायताएँ, सहानुभूतियाँ भी काम करती हैं। इस विज्ञान युग में पिछले दो युद्ध अनन्त संहारक साधनों से लड़े गये फिर भी उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ। वे समस्याएँ ज्यों-की-त्यों आज भी मौजूद हैं, जो इन युद्धों से पहले थीं और जिनके लिए ये युद्ध लड़े गए थे। तीसरा युद्ध तो और भी भयावह होगा। उससे मर्ज और मरीज दोनों ही साथ-साथ समाप्त होंगे। अणु-युद्ध में कोई देश किसी को नहीं जीतेगा वरन् संसार के सामूहिक संहार का ही दृश्य उपस्थित होगा।

कहने का तात्पर्य इतना भर है कि प्राचीनकाल में अनीति एवं अनुपयुक्त परिस्थितियों के मूल कारण बने हुए कुछ व्यक्तियों को निरस्त कर देने से वातावरण बदल जाता था; पर अब वैज्ञानिक प्रगति ने इस सम्भावना को समाप्त कर दिया। पहले कुछ शक्तिशाली शासक ही भला बुरा वातावरण बनाने के निमित्त होते थे। अब जनता के हर नागरिक को अपनी शक्तियाँ विकसित करने और उपयोग करने की ऐसी सुविधा मिल गई है कि वह स्वयं एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में समाज पर भारी प्रभाव छोड़ता है।

आज जो पाप, अनाचार, दंभ, छल, असत्य, शोषण आदि दोषों का बाहुल्य होने से समाज में भारी अव्यवस्था उत्पन्न हो रही है, उसके लिए किन्हीं अमुक व्यक्तियों को दोषी ठहराने या उन्हें मार-काट देने से समस्या का हल नहीं हो सकता। अब विचार-परिवर्तन ही एकमात्र वह आधार रह गया है जिसके माध्यम से विभिन्न प्रकार के कष्टों का सृजन करने वाले दुर्गुणों को समाप्त करके न्याय तथा शांति की स्थापना की जा सकती है।

इस युग की सबसे बड़ी शक्ति शस्त्र नहीं रहे वरन् उनका स्थान विचारों ने ले लिया है। चूँकि अब शक्ति जनता के हाथ में चली गई है। जन-मानस का प्रवाह जिस दिशा में बहता है उसी तरह की परिस्थितियाँ बन जाती हैं। इस जन-प्रवाह को शस्त्रों से नहीं, विचारों से ही रोका जा सकता है। यह तनिक भी अत्युक्ति नहीं समझी जानी चाहिए कि अब शस्त्र-युद्ध का जमाना चला गया, आज तो विचार-युद्ध का युग है जो विचार प्रबल होंगे वे ही अपने अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर लेंगे।

इस तथ्य को और भी अच्छी तरह समझने के लिए पिछली दो शताब्दी की कुछ राज्य-क्रान्तियों पर ध्यान देना होगा। कुछ शताब्दी पूर्व संसार भर में राजतन्त्र था। राजा शासन करते थे। उस पद्धति की अनुपयुक्तता रूसो आदि दार्शनिकों ने प्रतिपादित की और अपने ग्रन्थों में बताया कि राजतन्त्र के स्थान पर जनतन्त्र स्थापित किया जाये, उसका स्वरूप और प्रतिफल भी उन्होंने बताया। यह विचार जनमत को प्रिय लगा। फलस्वरूप एक के बाद एक राजक्रान्ति होती चली गई। जनता विद्रोही बनी और राजतन्त्रों को उखाड़कर उनके स्थान पर प्रजातन्त्र स्थापित कर लिए। योरोप, अमेरिका, एशिया, अफ्रीका के अनेक देशों में एक के बाद एक प्रजातन्त्र का उदय होता चला गया। जनता ने सशक्त राजसत्ताओं को जिस बल-बूते पर पलट डालने में सफलता पाई वह उनकी विचारणा ही थी। प्रजातन्त्र की उपयुक्तता पर विश्वास करके साधारण लोगों ने राजतन्त्र उलट दिये, इसे विचार-शक्ति की विजय ही कहा जायेगा।

एक दूसरी राजनैतिक विचार-क्रान्ति पिछले ही दिनों हुई है। कार्लमार्क्स की प्रकृति के दार्शनिकों ने बताया कि साम्यवादी सिद्धान्त ही जनता के कष्टों को दूर करके उसकी प्रगति का पथ प्रशस्त कर सकते हैं। उन्होंने साम्यवाद का स्वरूप, आधार और प्रयोग प्रस्तुत किये, जनता ने उसे समझा, यह विचारधारा लोकप्रिय हुई, विचारशील लोगों की दृष्टि में वह उपयुक्त जँची। फलस्वरूप उसका विस्तार होता चला गया। आज संसार की एक तिहाई से अधिक जनता उसी साम्यवादी शासन-पद्धति को अपना चुकी है और एक तिहाई जनता ऐसी है जो उस विचारधारा से प्रभावित हो चली है। कोई युद्ध इतनी जनता को इतने कम समय में, इतनी सरलतापूर्वक किसी शासन के अन्तर्गत नहीं ला सकता था, जितनी इन विचार-क्रान्तियों के द्वारा सफलता उपलब्ध कर ली गई।

यह राजनैतिक विचार-क्रान्तियों की चर्चा हुई। दो धार्मिक क्रान्तियाँ भी गत ढाई सहस्राब्दियों में ऐसी ही हुई हैं जिनकी सफलता शस्त्र-बल पर नहीं, विचार-बल पर ही अवलम्बित रही है। बुद्ध धर्म के प्रचारकों ने जत्थे बना कर एशिया के समस्त देशों में परिभ्रमण किया। फलस्वरूप एक सहस्राब्दी के अन्तर्गत उस समय की अधिकांश एशिया की जनता बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गई। कुछ समय पूर्व तक चीन, तिब्बत, जापान, इण्डोनेशिया जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, श्रीलंका आदि देश पूरी तरह बौद्ध थे। भारत के भी एक बड़े भाग में बौद्ध धर्म प्रचलित था। इस धार्मिक विजय का श्रेय बौद्ध-दर्शन तथा उसकी प्रचार पद्धति को ही दिया जा सकता है।

एक ऐसी ही विचार-क्रान्ति ईसाई प्रचारकों ने की है। आज दुनिया में लगभग एक अरब ईसाई हैं–एक अरब अर्थात् संसार की आबादी के एक तिहाई। संसार के तीन

आदमियों में से एक ईसाई है। ईसाई धर्म का जन्म भी ईसा से आरंभ हुआ पर उसे एक मजहब का रूप ईसा से कई सौ वर्ष बाद सेन्टपाल ने दिया। मिशनरियों का प्रचार कार्य तो लगभग दो सौ वर्षों से ही आरम्भ हुआ है। इस थोड़ी ही अवधि में संसार के एक तिहाई भाग पर ईसाई संस्कृति का कब्जा होना, युद्ध के आधार पर नहीं-विचार-विस्तार की प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव हुआ है। राजनैतिक दृष्टि से साम्यवाद ने और धार्मिक दृष्टि से ईसाई धर्म ने जो अनुपम प्रगति की है, इसका श्रेय उन विचार-पद्धतियों को, जनता के सामने प्रभावशाली एवं आकर्षक ढंग से रखना ही तो है।

उपरोक्त तथ्यों पर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये तो इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि इस युग की सबसे बड़ी साधना विचार-शक्ति है। जन-मानस को प्रभावित कर वोट के बल से भारत में लम्बे समय तक कांग्रेस ने शासन किया। स्वाधीनता प्राप्त करने में हमारे नेताओं ने जनता के विचार-निर्माण करने से ही सफलता पाई। जन-मानस बदल जाये तो अपने देश का ही नहीं-किसी भी देश का शासन दूसरी पार्टी के हाथ में जा सकता है। जनता के विचार-प्रवाह की प्रचण्ड धारा किसी भी शासन को इधर से उधर पलट कर सकती है। किसी शासन का जिक्र इसलिए किया जा रहा है कि वह आज सबसे बड़ी साधन-सम्पन्न संस्था समझी जाती है। इस संस्था के माध्यम से बहुत बड़ा काम हो सकता है। इतनी बड़ी केन्द्रित शक्ति होते हुए भी वस्तुत: कोई सरकार अब जन-मानस की अनुगामिनी एवं दासी ही है। वास्तविक शक्ति तो इस युग में विचार-पद्धति की प्रखरता पर ही आधारित है। लोक-मानस जिस विचारधारा से प्रभावित होगा, वैसी ही परिस्थितियाँ उस समाज में विनिर्मित होने लगेंगी।

व्यक्ति और समाज के सम्मुख उपस्थित अगणित उलझनों और कठिनाइयों का समाधान करने, धरती पर स्वर्ग अवतरित करने एवं सतयुग वापिस लाने की आकांक्षा आज विश्व मानव की अन्तरात्मा में हिलोरें ले रही है। यह आकांक्षा मूर्तरूप कैसे धारण करेगी ? इस प्रश्न का उत्तर एक ही हो सकता है-जन-मानस की दिशा पलट देने से। विचार-क्रान्ति वह प्रक्रिया है जिसके आधार पर जन-मानस की मान्यताओं एवं निष्ठाओं में हेर-फेर करके गतिविधियों एवं क्रिया-पद्धतियों को बदला जा सकता है। यह परिवर्तन जिस क्रम से होगा, उसी क्रम से परिस्थिति भी बदलेगी। युग-परिवर्तन की मंजिल इसी मार्ग पर चलने से पूरी होगी।

इस निष्कर्ष पर पहुँचने में किसी को कठिनाई न होनी चाहिए कि मनुष्य जाति की व्यक्तिगत एवं सामाजिक वर्तमान कठिनाइयों का कारण उसकी विचारणाओं का स्तर गिर जाना ही है। असंयम ने हमारा स्वास्थ्य खोखला कर दिया, अनुदारिता ने पारिवारिक स्नेह-सौहार्द्र से रहित-विसंगठित बनाया। अपराधी मनोवृत्ति ने असुरता एवं अशांति का सृजन किया। हीनता ने हमारी प्रगति को रोका। क्षुद्रता के कारण हेय स्थितियों में पड़े रहे। अविनय ने हमें शत्रुता, विरोध, असहयोग एवं तिरस्कार का भागी बनाया। असन्तुलन ने मानसिक शक्ति नष्ट कर दी। व्यक्ति को जितने प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ रहा है, जितना अभाव और कष्ट सहना पड़ रहा है उसका प्रधान कारण व्यक्तित्व का स्तर गया-बीता होना ही है। यदि उसे सुधारा जा सके तो निस्सन्देह हर व्यक्ति सामान्य साधनों एवं परिस्थितियों में भी स्वर्गीय आनन्द तथा उल्लास से भरा जीवन जी सकता है।

समाज के सामने जो समस्याएँ हैं वे भी दुष्प्रवृत्तियों द्वारा जनित हैं। आलस, संकीर्णता, स्वार्थपरता, सामूहिकता का अभाव, नागरिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा, भीरुता जैसे सामाजिक दोष-दुर्गुणों ने खाद्यान्न, महँगाई, बेकारी व बेरोजगारी, गरीबी, अशिक्षा व अपराधों की समस्यायें उत्पन्न की हैं। यदि जातीय जीवन में परस्पर मिलजुलकर एकता और आत्मीयता के आधार पर काम करने की लगन को स्थान मिल जाय, तो जो साधन आज अवांछनीय कार्यों में खर्च हो रहे हैं वे ही सार्वजनिक विकास में प्रयुक्त होते दिखाई दें और विपन्नता, सम्पन्नता में बदल जाय।

जनता विचार-रहित नहीं है, मनुष्य विवेक-शून्य नहीं हुआ है। यदि उसे तथ्य समझाये जायँ तो समझता- मानता और बदलता है। राज-सत्ता और धर्म-आस्था में आश्चर्यजनक हेर-फेर विचार-क्रान्तियों द्वारा किस प्रकार सम्भव हो सके ? उसकी कुछ चर्चा ऊपर की पंक्तियों में की जा चुकी है। सांस्कृतिक, नैतिक या आध्यात्मिक क्रान्ति जो भी कुछ नाम दिया जाय उससे मानवीय अन्त:करण को उत्कृष्ट स्तर की ओर अग्रसर करने की प्रक्रिया भी पूरी की जा सकती है। मनुष्य का वास्तविक, चिरस्थायी एवं सर्वांगीण हित-साधन इसी प्रकार होना है तो वस्तुस्थिति समझा दिये जाने पर जन-मानस उसे स्वीकार करेगा और अपनायेगा भी।

विचार-क्रान्ति, जिसका अर्थ है मनुष्य के आस्था स्तर को निकृष्टता से विरतकर उत्कृष्टता की ओर अभिमुख करना। आज की यह सबसे बड़ी आवश्यकता है । विश्व मानव उसी के लिए तड़प रहा है। युग की यही पुकार है । संसार का उज्ज्वल भविष्य इसी प्रक्रिया द्वारा सम्भव है। इतने आवश्यक एवं महत्वपूर्ण प्रयोजन की पूर्ति के लिए हर प्रबुद्ध व्यक्ति को कुछ सोचना ही होगा और करना ही होगा। अन्यमनस्क बैठे रहने से तो हम अपनी आत्मा के सामने कर्तव्यघात के अपराधी ही ठहरेंगे। अत: उदार-चेता, विचारशीलों को चाहिए कि वे अपने क्रिया-कलाप में इसी पुण्य-परमार्थ का समुचित समावेश किए रहने की मानसिकता अपनाएँ। पुरातनकाल के परमार्थी-महामानव, यही करते भी रहे हैं। स्वयं औसत नागरिक स्तर का निर्वाह अपनाने वाला लोकसेवी सम्पदा किस प्रकार, कितनों को बाँटे? जो जिसके पास है ही नहीं, वह उसे

लाये कहाँ से? सदावर्त बँटवाना, बावड़ी बनाना, कम्बल बाँटना जिनके लिए संभव है, वे धनाधीश वैसे भी करते रह सकते हैं। परन्तु ब्रह्मचेता-तत्त्वज्ञानियों के लिए तो इतना ही संभव है, कि भटकों को राह दिखायें और जो उठने का साहस नहीं कर पा रहे हैं, उन्हें उठाने के लिए लिए अपने कौशल का उपयोग करें।

मन:स्थिति बदल जाने पर परिस्थितियों का बदल जाना सुनिश्चित है। सफलताएँ अर्जित करने वाले और परमार्थ के आधार पर देवमानव कहलाने वाले लोगों ने अपने क्षेत्र में अपने स्तर की सूझ-बूझ और क्रिया-प्रक्रिया का परिचय दिया है। यही है करणीय और अनुकरणीय। देवमानवों की तरह अभिनन्दनीय मनीषियों ने अपनी श्रद्धा और सक्रियता को इसी दिशा में नियोजित रखा है, कि उलटे चिन्तन को सीधा किया जाय। भटकावों को निरस्त करके नयी राह अपनाने के लिए समुद्र में खड़े रहने वाले प्रकाश स्तम्भों की तरह, सही मार्ग-दर्शन करते रहने में जीवन बिता दिया जाय। यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण माना गया कि जो इस काम में निरत रहे, उन्हें भू-सुर पृथ्वी के देवता स्तर की मान्यता दी गयी और उसी स्तर की वरिष्ठता-प्रतिष्ठा उन्हें प्रदान की गयी।

विद्यमान जनसमुदाय में से, अधिकांश लोगों का अधिकांश चिन्तन और अधिकांश क्रिया-कलाप दिग्भ्रान्त स्तर का बना हुआ है। इसको बदले, सुधारे और उच्चस्तरीय बनाये बिना किसी प्रकार गति नहीं। इसके लिए जन-जन से सम्पर्क करना, घर-घर अलख जगाना, विचार-गोष्ठियों के माध्यम से प्रस्तुत परिस्थितियों और उनके समाधान पर प्रकाश डालते रहने का उपक्रम अपनाना-आज का सबसे बड़ा कार्य है। अपने मिशन ने इसी प्रयोजन के लिए प्रज्ञा परिवार में साप्ताहिक सत्संगों और दीप-यज्ञ आयोजनों की योजना बनायी और तत्परतापूर्वक चलायी है।

वाणी द्वारा सत्संग प्रक्रिया अपनाने की तरह लेखनी के माध्यम से स्वाध्याय के साधन जुटाना भी उतना ही आवश्यक है। लेखनी और वाणी का, स्वाध्याय और सत्संगों का आधार समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। दोनों के मिलने से ही, बिजली के दो तार मिलने पर करेन्ट उत्पन्न करने की तरह समग्र उपक्रम बन पड़ता है। गाड़ी के दोनों पहियों की समान उपयोगिता है। साथ ही यह प्रबंध भी करना पड़ता है कि दोनों मिल-जुलकर समान रूप से भार वहन करने की प्रक्रिया को सम्पन्न करते रहें।

युग साहित्य का सृजन शान्तिकुंज में जिस स्तर पर हो रहा है, उसे अनुपम कहा जा सकता है। उसमें भविष्य को उज्ज्वल बनाने वाले वर्तमान का निर्धारण सुझाया जाता रहता है; इसे सर्वत्र युग मनीषा के प्रसाद-अनुदान स्तर की मान्यता मिल रही है।

'विचार क्रान्ति अभियान' को अपने समय की सशक्त महाक्रान्ति कहना चाहिए। इस अभियान को सतयुग की वापसी के लिए, नवयुग के गंगावतरण के लिए किये जा रहे प्रचण्ड प्रयास के रूप में समझा और अपनाया जा सकता है। अच्छा हो युग-धर्म को पहचाना जाय और भावनाशील वर्ग को युगान्तरीय चेतना के साथ सम्बद्ध किया जाय। वरिष्ठों के सम्मिलित प्रयासों की इन दिनों महती आवश्यकता है। इसकी भागीदारी का सुयोग प्रत्येक प्राणवान को उपलब्ध कराया जाना चाहिए; विशेषतया तब, जबकि वह अवसर स्वयं अनेक अरमान लिए अपने ही द्वार पर आ खड़ा हुआ है।

विचार-क्रान्ति की पृष्ठभूमि एवं आधार

सामान्यजन उन्हीं बातों को मानते और अपनाते हैं जो उनकी समझ में आ जाती हैं पर हर बात को समझने और उसकी तह में जाकर वस्तुस्थिति का विश्लेषण करने की सामर्थ्य हर व्यक्ति में नहीं होती; इसके बावजूद भी मापदण्ड बदलते रहते हैं। व्यवस्थाओं का ढाँचा बदलता है और ऐसी भारी उथल-पुथल समय-समय पर मचती रहती है, जिसे क्रान्ति की संज्ञा दी जाती है। राष्ट्रीय और सामाजिक धारा को मोड़ने वाली न जाने कितनी क्रान्तियाँ हुई हैं और होती रहेंगी। उन क्रान्तियों का केन्द्रीय तत्व यह रहा है कि लोगों ने प्रचलित मापदण्डों को व्यर्थ समझ लिया और उन्हें नकार दिया । एक अर्थ में लोगों ने नए जीवन-मूल्यों को अपनाया।

जब सामान्य आदमी वस्तुस्थिति का विश्लेषण तथा प्रचलित मान्यताओं और परम्पराओं की उपयोगिता-अनुपयोगिता को समझने में समर्थ नहीं है तो सवाल उठता है कि अब तक इतने परिवर्तन, इतनी क्रान्तियाँ किस तरह सम्भव हो सकीं? इसका जवाब यह है कि समाज के मस्तिष्क कहे जाने वाले बुद्धिजीवी, जनमानस को जिस प्रकार का मार्गदर्शन देते हैं, लोकजीवन तब वैसी ही धारा अपनाता है। दुनिया के अन्य देशों का इतिहास न देखें, अपने देश का ही इतिहास ले तो आर्ययुग से लेकर ब्रिटिशकाल तक और अब भी समाज का मार्गदर्शन विचारशीलों ने ही किया है। प्राचीनकाल में तो विचारवानों का एक वर्ग विशेष ही बना हुआ था। जिसे समाज में सर्वोपरि स्थान मिला हुआ था। यह वर्ग ऋषि-मनीषियों का था। जिन्हें समाज रूपी शरीर के नियंत्रक-नियामक होने का गौरव प्राप्त था। ऋषि का तात्पर्य दाड़ी-जटा वाले कतिपय लोगों से नहीं, अपितु उन विचारशीलों से था, जिनकी दृष्टि मानवी अन्तराल तथा उसके वैयक्तिक एवम् सामाजिक स्वरूप को स्पष्टतया जानने, समझने सुधारने, में सक्षम होती थी।

समाज का वैचारिक दिशा-निर्देश करने वाले व्यक्ति को चाहे ऋषि कहलें अथवा विचारक । चाहे मनीषी कह लें अथवा प्रबुद्ध व्यक्ति, समाज को ऊँचा उठाने का श्रेय उन्हीं को रहता है। संसार में व्याप्त जितने भी उन्नत और विचारशील देश हैं, ये सब एकाएक ही उन्नत या समृद्ध नहीं हो गए वरन् उन्हें ऊँचा उठाने के

लिए कितने ही प्रबुद्ध व्यक्तियों ने अपना असाधारण योगदान दिया है।

इस सन्दर्भ में रूस की सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक और वैज्ञानिक प्रगति की मिसाल दी जाती है। बहुत लोग जानते होंगे कि इस शताब्दी के पूर्व यहाँ तक कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक पच्चीस-तीस वर्षों तक यहाँ की तीन चौथाई जनसंख्या से भी अधिक लोग अशिक्षित थे। फिर १९१७ में एक क्रान्ति हुई जिसे सफल बनाने में रूस के बुद्धिजीवियों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी और उसकी पृष्ठभूमि बनाने के लिए अथक प्रयास किया था। उस क्रान्ति की सफलता के पीछे पढ़े-लिखे विचारशीलों की लगन, परिश्रम, निष्ठा तथा त्याग का स्वर्णिम अध्याय जुड़ा हुआ है।

रूसी विद्वान लेखक ए. पुच्को ने इस क्रान्ति को सांस्कृतिक क्रान्ति की संज्ञा दी। इसका एक ही उद्देश्य था राष्ट्र में वैज्ञानिकों, लेखकों कलाकारों एवम् विशेषज्ञों के अभाव की पूर्ति करते हुए राष्ट्र का नवनिर्माण । इस आन्दोलन में लेनिन, कोसतान्तिन, त्सियोल्कोवस्की एवम् इवान पावलोव जैसे व्यक्ति अगुआ थे। जिन्होंने विचारक और विशेषज्ञ पैदा करने के साथ-साथ सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रसार करने में अथक परिश्रम और अपूर्व त्याग किया; परिणाम यह हुआ कि १९६० तक पहुँचते-पहुँचते प्रत्येक व्यक्ति औसत शैक्षणिक योग्यता के साथ राष्ट्र प्रेम अर्जित कर चुका था और आज रूस की सुदृढ़ स्थिति से समूचा संसार परिचित है।

रूस के बाद दुनिया के समृद्ध देश अमेरिका को देखें। अब से दो सौ वर्ष पहले वहाँ के लोग असभ्य और असंस्कृत थे पर वहाँ के विचारशीलों ने अपने कर्तव्य को पहचाना और राष्ट्र के नवनिर्माण में संलग्न हुए।

सन् १९१० में अमेरिका के कुल नौ व्यक्ति वहाँ की राजधानी वाशिंगटन में सरकारी अनुसन्धान की रूपरेखा लेकर एकत्र हुए। उन्होंने बुकिंग इंस्टीट्यूट नामक संस्था की स्थापना की। इसका उद्देश्य शान्तिपूर्ण तरीके से अमेरिकी समाज व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना था। संस्थान ने प्रशासनिक शिक्षण संस्थान, उद्योग धन्धे तथा कला व विज्ञान के सभी क्षेत्रों को अपना कार्यक्षेत्र बनाया व उसे दृष्टिगत रखते हुए कार्यक्रम बनाए । इन कार्यक्रमों को बुकिंग इंस्टीट्यूट ने न केवल व्यवस्थित ढाँचा देकर उनका प्रचार किया, वरन् वहाँ के विचारशीलों तक भी उन्हें पहुँचाया। अमेरिका के विचारशीलों ने इन कार्यक्रमों को एकमत से स्वीकार किया । इस अभियान में बाववुड, जान गार्डिनर, चार्ली हैन जैसे प्रख्यात विचारक सलंग्न हुए और कार्यक्रम को आगे बढ़ाया । कहा जाता है कि बुकिंग इंस्टीट्यूट ने लोगों के चिन्तन प्रवाह को ऐसा मोड़ दिया जैसा कि वर्षों पूर्व ब्रिटेन प्रोटेस्टेण्ट चर्च के अनुयायियों ने लोक चिन्तन की दिशा मोड़ी थी।

सभी उदाहरणों और राष्ट्रीय सामाजिक प्रगति के मूल में विचारशील व्यक्यिों का आधारभूत योगदान रहा है लेकिन ये यह महान साधना तभी सम्पन्न कर सके, जब उन्होंने अपने निजी स्वार्थों को तिलांजलि दे डाली। जीवन निर्वाह के आवश्यक प्रयासों को निजी स्वार्थ की संज्ञा नहीं दी जा सकती पर जब व्यक्ति अपनी सुख-सुविधा को ही महत्व देने लगे, विलासितापूर्ण जीवन की प्राप्ति में जुट जाय तथा उसके लिए बौद्धिक शक्ति का दुरुपयोग करने लगे तो न केवल समाज की हानि होती है वरन् व्यक्तिगत रूप से उसे भी घाटे में रहना पड़ता है।

प्राचीनकाल में ऋषि जीवन की निश्चित मर्यादायें थीं। समाज का मस्तिष्क कहे जाने वाले इस वर्ग के व्यक्ति अपने घर में अगले दिन का अनाज नहीं रखते थे। अपरिग्रह व्रत का कठोरतापूर्वक पालन करने वाले ऋषियों को क्या किन्हीं अभाव का सामना करना पड़ता था? नहीं! समाज का हर व्यक्ति अपने उपार्जन में उनका नियत हिस्सा रखता था पर जब से ऋषि परम्परा नष्ट हुई, दुकान में नकली सामानों की तरह इस वर्ग में भी नकली लोगों की बढ़ोत्तरी हुई। इससे लोग दिग्भ्रान्त हुए। जनता का शोषण हुआ। परिणामस्वरूप जनसमुदाय ने भी नैतिक नियमों में उपेक्षा बरतनी शुरू की । निष्ठा और समाज देवता के प्रति भक्तिभाव में इससे जो कमजोरी आयी, उसका फल हजार वर्षों की गुलामी के रूप में भुगतना पड़ा।

अभी पिछले कुछ दशकों पूर्व स्वतन्त्रता की जो लड़ाई लड़ी गयी, उसमें विचारशीलों ने अपनी भूल को समझा और सही दिशा में प्रयास किये। वे जनजागरण के लिए प्रयत्नशील हुए तथा जनता के रक्त में उबाल लाने के लिए संघर्ष करते रहे तो उसके बाद सुखद परिणाम भी सामने आये। स्वतंत्रता प्राप्ति का यह तो एक पड़ाव भर है, अभी बहुत कुछ करना है। उदाहरण के लिए, सामाजिक परिवर्तन, कुरीतियों एवं कुप्रथाओं का संशोधन जैसे अनेकानेक लक्ष्य हैं, जिन्हें पाये बिना राष्ट्र सुखी और समुन्नत नहीं बन सकता।

यह खेदजनक पहलू है कि विचारशील व्यक्ति पुनः तन्द्राग्रस्त हो गए और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् स्वार्थलिप्सा की गिरफ्त में जकड़े जाने लगे। यह कोई शुभ लक्षण नहीं है यदि जल्दी ही इस तन्द्रा को तोड़ा नहीं गया तो अच्छे परिणाम सामने नहीं आयेंगे? कहा जा चुका है कि प्रत्येक देश में होने वाले परिवर्तनों में बुद्धिजीवियों की भूमिका प्रमुख रहती है। आदिकाल से लेकर अब तक समाज-व्यवस्था, रीति-रिवाज और प्रथा-परम्पराओं का निर्धारण तथा संचालन प्रबुद्ध व्यक्तियों के ही हाथ में रहा है। होने वाले परिवर्तनों के परिणाम की सम्भावना इस अध्ययन से आँकी जा सकती है कि प्रबुद्ध लोगों की मनोदशा कैसी रही, उपलब्धियों का स्वरूप क्या रहा और बुद्धिजीवियों का झुकाव किस ओर रहा ?

यह निर्विवाद सत्य है कि विवेचन और विश्लेषण के रूप में ही मनुष्य अपनी शक्ति का सार्थक और निरर्थक उपयोग कर सकता है। इस उपयोग का नेतृत्व वे लोग करते हैं जो बौद्धिक दृष्टि से प्रतिभासम्पन्न हैं। इसीलिए विचारशीलों को चाहिए कि वे अपने स्वरूप तथा स्थान के अनुसार अपने दायित्व को पहिचानें तथा अपने आस-पास के वातावरण, जन-समाज की मानसिक बनावट, उनके रहन-सहन और रीति-रिवाजों का अध्ययन करें तथा अपना कर्त्तव्य निबाहें ताकि समाज में सुखद परिवर्तन लाये जा सकें। इसी प्रकार विचार-क्रान्ति की, व्यापक सुधार-परिष्कार की आधारशिला रखी जा सकेगी।

विचार-क्रान्ति का तत्वदर्शन

क्रान्ति की निरन्तरता ही धर्म है। हमें अपने विकास के लिए-इस जीवन के माध्यम से ही -अपने धार्मिक होने का प्रमाण देना होगा। सामाजिक आदर्शवादी लोग, आदर्श और वास्तविकता के बीच दो व्यवस्थाओं के संघर्ष में विश्वास रखते हैं-जो सारे धर्मों का सार है। आवश्यक परिवर्तन और संघर्ष का यह क्रान्तिकारी क्रम चलता ही रहता है। बुद्ध ने संसार के दुःख और कष्टों को देखकर उन्हें संसार से समाप्त करने का प्रयत्न किया । उन्होंने उसकी उपेक्षा या व्याख्या भर नहीं कर दी, बल्कि एक पक्के क्रान्तिकारी की तरह उन पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया। ईसा ने अनुभव किया कि स्वर्ग का साम्राज्य इस संसार के मुकाबले पर डटा है। सेण्ट पॉल की दृष्टि में इस संसार की शक्तियाँ आत्मा की शक्तियों के मुकाबले में सन्नद्ध हैं। आगस्टाइन की नजर में पार्थिव शक्ति परमात्मा के नगर के विरुद्ध युद्ध कर रही है। धर्म संसार की सत्ता आत्मशक्ति को ला बिठालने के लिए एक चुनौती है। यह सब तथ्य मनुष्य का इसलिए आह्वान करते हैं कि वह परीक्षण करे और अभियान का क्रम अपनाए।

स्वयं परमात्मा एक सर्वोच्च क्रान्तिकारी है। वह स्रष्टा और पालनकर्ता के साथ एक विनाशकर्ता भी है। सृजन और विनाश दैवी-शक्ति के परस्पर आश्रित गुण हैं। यदि एक नई और अपेक्षाकृत अच्छी व्यवस्था खड़ी होनी हो तो पुरानी व्यवस्था को तोड़ फेंकना होगा। हम न केवल आध्यात्मिक जगत में अपितु राजनीतिक, सामाजिक, औद्योगिक जगत में भी ऐसी रूढ़ियों से घिरे हैं, जो कभी जीवित थीं, परन्तु अब निर्जीव हो चुकी हैं। अब केवल शासकीय उपायों से काम नहीं चलेगा। इस समय आवश्यकता एक क्रान्तिकारी परिवर्तन की, आमूल-चूल उथल-पुथल की है। थोड़ी सी भी फसल के लिए भूमि की जुताई करनी पड़ती है। वांछित उपलब्धि के लिए समाज की बौद्धिक, नैतिक और भौतिक अनेक जुताइयाँ आवश्यक हैं। इस प्रकार की जुताई के साधन, जिनके द्वारा प्रगति होती है, वहीं हैं जिन्हें विद्रोह, विप्लव या क्रान्ति कहा जाता है। इसके स्वरूप को समयानुसार बदला भले ही जाता रहे पर विशाल परिवर्तन के लिए इनसे बचा नहीं जा सकता, बल्कि इसके लिए एक संतुलित व्यवस्था का ताना-बाना अदृश्य शक्तियाँ बुन रही हैं।

सब सुधार उन आन्दोलनकारी, विद्रोही और क्रान्तिकारी लोगों द्वारा किए गए हैं, जो पाखण्डों के जनकों के खिलाफ युद्ध करते रहे हैं, वे नये आन्दोलन शुरू करते हैं। नये धर्म विज्ञान का प्रतिपादन करते हैं। नये संविधानों की नींव डालते हैं। धर्म इस महत्त्वपूर्ण कार्य को अपनी महान सामर्थ्य के द्वारा सदा से करता आया है। ईसा ने पुरोहितों के पाखण्ड के विरुद्ध, साम्राज्यवादी रोम की दूषित परम्पराओं के विरुद्ध और अपने समय की रूढ़िवादिता, भ्रष्टाचार के विरुद्ध विद्रोह किया।

यह सामाजिक आवेश जो इन महान नेताओं को बल और प्रेरणा देता है, धार्मिक उत्साह के विपरीत नहीं है। बल्कि इसे तो धार्मिकता का स्वाभाविक परिणान कहना होगा। सही अर्थों में धार्मिक-चेतना अनीति, अनाचार, अन्याय सहन नहीं कर सकती। धार्मिक सन्त, पैगम्बर, महापुरुष जिनकी आत्माएँ अत्याचार,अन्याय देखते ही भड़क उठती हैं, वे लोग हैं जिन्होंने मानवता के प्राण-तत्व पर सबसे गहरी छाप डाली है।

केवल इसलिए कि हमारी रुचि सामाजिक है, यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हमें स्वयं को आध्यात्मिक क्षेत्र से अलग कर लेना चाहिए। आध्यात्मिक सजगता और सामाजिक दक्षता केवल सहचर ही नहीं हैं, अपितु एक-दूसरे के पूरक भी हैं। आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा करना, सुचारु रूप से कार्य करने की अपनी क्षमता को सीमित कर लेना है। जब तक मानवता निकृष्ट, कठोर और अपरिष्कृत है, उसे पिघलाया और ढाला नहीं जा सकता। ईश्वर पर विश्वास करने वालों की श्रद्धा ही वह स्थिति पैदा करती है, जिसके प्रभाव से कठोर हृदय व्यक्ति भी पर दुःख में द्रवित हो उठता है। यही भावना सोद्देश्यपूर्ण क्रान्ति करा सकती है, कराती रही है। विचार-क्रान्ति का तत्वदर्शन यही है। जिसकी प्राण-ऊर्जा कल के परिवर्तित समाज का जीवनाधार बन रही है।

यहाँ दर्शन के स्वरूप को भी समझ लेना चाहिए कि आखिर दर्शन है क्या ? कुछ औंधे-सीधे विचारों को अव्यवस्थित रूप में रख देना? या एक ऐसी समृद्ध चिंतन प्रणाली प्रस्तुत करना, जिससे समय, समाज एवं समस्त विश्व का समग्र विकास सम्भव हो सके? सुकरात के शब्दों में कहें तो वास्तविक दर्शन यही है।

किन्तु इन दिनों दर्शनों की ऐसी बाढ़ आयी है कि विचार और दर्शन में कोई अन्तर ही नहीं रहा। जब भी किसी के मन में कोई नयी सोच उभरी, उसको लिपिबद्ध

कर दिया। बस, वह उसके द्वारा प्रतिपादित दर्शन बन गया। भले ही वह सिद्धांत ही क्यों न हो? समय की आवश्यकता पूर्ति करता हो अथवा नहीं, वह दर्शन है। सन् १८९६ में हॉवर्ड विश्वविद्यालय की स्नातक दर्शन परिषद् में व्याखान देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि जिसमें व्यावहारिकता हो, जो संपूर्ण जीवन-शैली को प्रभावित करता हो, जिसमें समाज को मार्गदर्शन करने की सामर्थ्य हो, सही अर्थों में वहीं सच्चा दर्शन है, शेष सभी विचारधारा हैं। लिबनिज, काण्ट, हेगल, स्पिनोजा सभी ने ईश्वर संबंधी अपने-अपने मत भर प्रकट किये हैं, अतः वे विचारक तो हो सकते हैं, दार्शनिक नहीं। जहाँ फिलासफी होती है, वहाँ क्रान्ति होती है, समग्र परिवर्तन होता है, जबकि विशिष्ट विचारधारा कुछ एक अनुयायी भर पैदा कर पाती है, कोई नया समाज अथवा व्यवस्था नहीं। कतिपय नवीन चिंतन देकर फिलॉस्फर बन बैठना-यह पश्चिम की पद्धति और देन है। भारत जैसे पूर्वी देशों में तो दर्शन समाज परिवर्तन का सुनिश्चित आधार माना जाता है। गाँधी जी ने ग्रामोद्योग पर आधारित दर्शन दिया था और कहा था कि हर हाथ को काम और हर पेट को अनाज इसी के माध्यम से संभव है। आर्थिक स्वावलंबन इसी के द्वारा हस्तगत किया जा सकता है। भारत का जब कभी आर्थिक कायाकल्प होगा तो इसी आधार पर संपन्न होगा।

एक समय था,जब संपूर्ण विश्व में मार्क्सवाद की बड़ी धूम थी। उसने अर्थतंत्र से संबंधित इतनी सशक्त विचारधारा दी थी कि संसार में उससे क्रान्ति हो गई। विश्व के आधे से अधिक देश उस विचारधारा को अपनाने के लिए विवश हो गये। इस आधार पर उन देशों ने एक नई समाज व्यवस्था को जन्म दिया, जिसका नाम समाजवादी समाज-व्यवस्था रखा गया। ईसा के दर्शन को जब लोगों ने हृदयंगम किया, तो दुनिया में ईसाइयत फैल गई। रूसो फिलॉस्फर थे, मौलिक चिंतन के राजतंत्र के जमाने में जब उन्होंने राजा तथा सामंतों की तानाशाही और निरंकुशता देखी, तो उनके अंदर का दार्शनिक जाग उठा और एक नई व्यवस्था 'डेमोक्रेसी' का प्रतिपादन किया । जिन दिनों की यह बात है उन दिनों जब सर्वप्रथम इसे प्रस्तुत किया गया तो लोगों ने इसकी बड़ी हँसी उड़ायी। कहा-यह दर्शन नहीं, पागलपन है। भला जनता, जनता पर किस प्रकार शासन कर सकती है? किन्तु आज वही पागलपन किस तरह सारी धरती में अपना प्रभुत्व जमाये हुए हैं -यह सर्वविदित है । यह एक फिलॉसफी और फिलॉसफर की शक्ति है। ऐसी विचार-चेतना जब कभी जहाँ भी अवतरित हुई है उसने सुषुप्ति तोड़ी और मूर्च्छना मरोड़ी है।

बुद्ध अपने काल के सशक्त मनीषी थे। जहाँ मनीषा जन्म लेती है, वहीं मनीषी का अवतरण होता है। ऐसे मनीषी जब धरित्री पर आविर्भूत होते हैं, तो समाज के जरा-जीर्ण कलेवर का उद्धार हो जाता है। उसमें नयी चेतना पैदा होती है, नई व्यवस्था आती है, नई स्फूर्ति और उमंग का आविर्भाव होता है। यह मनीषी की, मनीषा की सामर्थ्य है। दर्शन इसी से उत्पन्न होता है। बुद्ध ने जब अपने समय को देखा तो उन्हें घोर वितृष्णा हुई। उस जमाने की कुप्रथाओं से उन्हें इतनी घृणा हुई कि उन्होंने समाज को एक अभिनव सूत्र दिया- **"बुद्धं शरणं गच्छामि"** । बुद्धि की, विवेकशीलता की, समझदारी की शरण में आओ उन्होंने इसका आह्वान किया । **"संघं शरणं गच्छामि।"** संघबद्ध होकर काम करो-अपनी ढपली,अपना राग मत गुनगुनाओ, समाज की सेवा संगठित होकर ही की जा सकती है। लोगों को उन्होंने इसका प्रथम पाठ पढ़ाया **"धर्मं शरणं गच्छामि"**-आज का जो सर्वोपरि धर्म समाज सेवा है, उसे समझो और अपना लो, इसका उपदेश किया।

इस बुद्ध दर्शन ने जन चेतना में जो उथल-पुथल मचायी, वह असाधारण थी। संपूर्ण उत्तर पूर्व इससे इस कदर प्रभावित हुआ, जिसकी छाप आज तक विद्यमान है। इस प्रकार के करतब कर दिखाने वालों को मनीषी कहते हैं। मनीषी विचार नहीं, दर्शन देते हैं। एक ऐसा दर्शन, जो लम्बे समय तक समाज का मार्गदर्शन करता रहे। समस्याओं का समाधान सुझाता रहे, उलझनों को घटाता-मिटाता रहे। ऐसे लोग भारत में प्राचीन समय में बहुतायत से भरे हुए थे। ये ऋषि कहलाये। इन्होंने भारतीय संस्कृति को एक समृद्ध चिंतन और सर्वांगीण दर्शन दिया। इसी दर्शन ने इस भूमि में इतने सारे महामानव, अवतार, युग पुरुष, समाज सुधारक, ऋषि-मनीषी पैदा किये कि इसे देवभूमि कहा जाने लगा। इसकी तुलना स्वर्ग से की जाने लगी। इसे स्वर्ग की उपमा दी जाने लगी-ऐसा स्वर्ग जिसमें जीवन्त देवता रहते हों, चलते-फिरते प्रत्यक्ष देव निवास करते हों। ऐसे देव जहाँ भी रहेंगे, वहाँ स्वर्ग की अनुभूति स्वाभाविक है। इमर्सन कहा करते थे- "मुझे नरक में भेज दो, मैं वहीं स्वर्ग पैदा कर दूँगा।" यह फिलॉसफी की शक्ति है, शिक्षा या वातावरण की नहीं। शिक्षा और वातावरण तो कई देशों में भारत जैसे रहे हैं, पर वहाँ वह संस्कृति और विद्या नहीं है इसलिए वे वहाँ के निवासी भारत जैसे नहीं बन सके।

वर्तमान में सर्वत्र अराजकता और अव्यवस्था का दौर-दौरा इसलिए दीख पड़ता है क्योंकि आज दर्शन के नाम पर वितंडावाद ज्यादा चल पड़ा है। सब अपने मान-यश के पीछे भागते प्रतीत होते हैं। जब स्थिति ऐसी हो जाय, जिसमें व्यक्ति प्रमुख और समाज को गौण माना जाने लगे, तो दशा दयनीय और दुःखद होनी स्वाभाविक है। एक बानगी के सहारे भली-भाँति समझा जा सकता है कि सम्प्रति किस प्रकार लोग एक दूसरे पर अपना वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश कर स्वयं को यशस्वी बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। कई वर्ष पूर्व प्रूधों ने गरीबों पर एक पुस्तक लिखी। नाम रखा- 'फिलॉस्फी ऑफ पॉवरटी' अर्थात् 'दरिद्रता का दर्शन' इसके कुछ समय पश्चात् मार्क्स ने इसके जवाब में एक दूसरा ग्रंथ लिखा 'पॉवरटी ऑफ फिलॉसफी' या 'दर्शन की दरिद्रता'। उक्त रचना में

१.१० सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे?

कई प्रकार के तर्कों द्वारा पूर्वी के तथ्यपूर्ण विचारों को गलत साबित करने का प्रयास किया है। जब स्वयं को श्रेष्ठ और वरिष्ठ सिद्ध करने के लिए दूसरों को निकृष्ट बताने की प्रतिस्पर्धा चल पड़े, तो समाज की जो दुरवस्था हो सकती है, वही आजकल दिखाई पड़ रही है। इसी दिशा में सारा श्रम, समय, क्षमता, प्रतिभा चुकते दृष्टिगोचर हो रहे हैं। जब समाज-निर्माण में काम आने वाली क्षमताओं का दुरुपयोग होने लगे, तो उससे उत्पन्न होने वाले दर्शन का अन्दाज लगाया जा सकता है। आज इसी भ्रष्ट दर्शन ने समाज की यह गति बनायी है। जब भौतिकवादी दर्शन भोगवाद के ''ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'' के चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाय, तो समय का प्रवाह किस ओर होगा? इसका अनुमान लगाना कोई बहुत मुश्किल नहीं।

'ह्वाट इज फिलॉसफी?' नामक कृति में मूर्धन्य विचारक फ्रैंक थिली ने इसी पर विचार किया है। वे लिखते हैं कि फिलॉसफी चिंतन प्रणाली कम, जीवन विधा अधिक है। वह सिद्धात नहीं, व्यवहार है। उनके अनुसार जिस दर्शन में जीवन जीने की कला का अभाव हो, जो व्यक्ति-निर्माण की प्रक्रिया नहीं बता पाता हो एवं जहाँ अपकर्ष से उत्कर्ष की ओर जाने का कोई मार्ग न हो, वह दर्शन नहीं हो सकता। वे कहते हैं कि दर्शन में इतनी सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह मानवी जीवन को चरम लक्ष्य तक पहुँचा सके। यहाँ उनके विचार भारतीय अध्यात्म से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। वस्तुतः भारतीय अध्यात्म में ही इतनी शक्ति है कि वह जीवन के अंतिम ध्येय तक व्यक्ति को पहुँचा सके, किन्तु थिली के अनुसार आज वह भी असहाय इसलिए लग रहा है क्योंकि इन दिनों पूर्वी अध्यात्म पर पश्चिमी विचारधारा हावी है। वह मात्र कथन, श्रवण एवं मानसिक ऐय्याशी जैसा विषय बन कर रह गया है।

ऐसी दशा में अध्यात्म को जी कर दिखाने की आवश्यकता पड़ी ताकि लोगों को आश्वस्त किया जा सके कि यह किसी भी प्रकार घाटे का सौदा नहीं है, इसमें हर तरह से लाभ ही लाभ है । यह काम शांतिकुंज के सूत्र संचालकों ने बखूबी पूरा किया। आज का 'विचार क्रान्ति आन्दोलन' उसी का परिणाम है कि उस दर्शन पर आधारित 'युग-निर्माण योजना', 'प्रज्ञा अभियान आन्दोलन' द्रुतगति से अपना कलेवर-विस्तार करता चल रहा है। अगले दिनों यह विश्वव्यापी बनकर 'युग परिवर्तन' का अपना महती प्रयोजन पूरा कर लेगा, इस तथ्य पर हममें से प्रत्येक को विश्वास रखना चाहिए।

विश्व विभीषिकाओं से निपटने का एकमात्र आधार

इन दिनों समस्याएँ व्यक्ति के सामने ही नहीं विश्व के सामने भी हैं। मनुष्य अपनी उलझनों में फंसा है और समस्याओं, विपत्तियों के कुचक्र में फँसा हुआ व्याकुल, बेचैन दीख पड़ता है। यही स्थिति समस्त विश्व की भी है। उसके सामने भी विभीषिकाओं का घटाटोप कम भयावह स्थिति में नहीं है । ये कारण बन और बढ़ रहे हैं जिनके कारण किसी दिन यह ग्रह-नक्षत्रों की बिरादरी में मुकुटमणि बना हुआ भूलोक भस्मसात होकर धूयें के बादलों की तरह अन्तरिक्ष में भ्रमण करने लगे।

सभी जानते हैं कि तीसरे विश्व युद्ध की तैयारियाँ तेजी से हो रही हैं और महाविनाश के नरसिंहे बज रहे हैं। अणु-आयुधों के भण्डार तेजी से भरते और बढ़ते जा रहे हैं, उसे देखते हुआ लगता है कि कोई एक पागल बटन दबाने भर की हरकत से ऐसी तबाही उत्पन्न करेगा, जिससे उबरने का अवसर फिर किसी को मिल ही न सके, ५०० करोड़ मनुष्यों का अस्तित्व बच ही न सके। बचे भी तो उन्हें विपपायियों का नया कलेवर धारण करके, नई आकृति प्रकृति में निर्वाह करना पड़े। हो सकता है कि वृत्तासुर और हिरणाक्ष्य के आतंक से किसी प्रकार जान बचा सकने वाली, धरती अणु प्रहारों की चोट न सह सके और अन्तरिक्षीय धूलि बनकर आत्मघात कर ले। यह कुकल्पना नहीं, तथ्यों को देखते हुए यथार्थता पर अवलम्बित संभावना है, जिसे परिस्थितियों का विश्लेषण कर सकने वाला कोई भी विचारशील तथ्य रूप में ही स्वीकार करेगा।

अणु युद्ध में देर लगे तो भी परीक्षणों से उत्पन्न हुए विकिरण से अब तक भी वातावरण इतना विषाक्त हो चुका है कि उसका प्रभाव धीरे-धीरे सामने आता जायेगा और पीढ़ियों को विकृत-विद्रूप बनाता चलेगा। कल-कारखाने और विष वाहन इतना प्रदूषण उगल रहे हैं कि दम घुटने जैसी परिस्थितियाँ बनती चली जा रही हैं। तापमान बढ़ रहा है और ध्रुवों के पिघलने से समुद्र में बाढ़ आने का खतरा उभर रहा है। हिमयुग आ धमकने की भी संभावना है। यदि वे विपत्तियाँ आईं तो मनुष्य जाति को अपना सिर छिपाने के लिए कहाँ कितना स्थान मिल सकेगा और साधनों के अभाव में किस प्रकार दम तोड़ना पड़ेगा, आज तो उसकी कल्पना भी दिल दहला देने के लिए पर्याप्त है।

बढ़ती हुई जनसंख्या इसी स्तर की विपत्ति है। प्रजनन जिस तेजी से बढ़ रहा है उसे किसी विनाशकारी तूफान से कम भयावह नहीं माना जा सकता। तूफान, चक्रवात कुछ ही क्षेत्र को प्रभावित करते हैं पर बढ़ती जनसंख्या की विभीषिका अगली एक शताब्दी के भीतर ही वह स्थिति पैदा कर देगी, जिससे अन्न-जल पाने से लेकर सिर छिपाने के लिए छाया मिल सकना भी दूभर हो चले। टिड्डी दलों की तरह किसी खोह से निकलने वाली संख्या कहीं हरीतिमा का नाम भी शेष न रहने देगी। ठूँठ और पिंजरा

ही सर्वत्र घिनौने रूप में दृष्टिगोचर होंगे। यह संकट मूढ़मति तो नहीं समझ सकती पर जिनकी आँखें हैं वे देखते हैं कि प्रजनन का चक्रवात धरती के किसी कोने में शान्ति न रहने देगा। निर्वाह के साधन चुक जाने पर लोग एक-दूसरे का खून पियेंगे और बेमौत मरेंगे।

अपराधी प्रवृत्ति का प्रचलन एक नई समस्या है। पारिवारिक और सामाजिक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में मानवी व्यवहार में छीना-झपटी की नीति को मान्यता मिलती चली जाती है। जब पशु-पक्षियों का शिकार खेला जा सकता है तो आदमी को आदमी का शिकार खेलने में क्या हर्ज है? साहसी आक्रमण करते हैं और जोखिम से डरने वाले ठगने और चूसने के चित्र-विचित्र तरीके ढूँढ़ते हैं। न्यायनीति धीरे-धीरे कहने-सुनने भर की बात तक सीमित होती जा रही है। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाले जंगली कानून का सर्वत्र बोल बाला है। शत्रु द्वारा जो कुछ मध्य युग में किया जाता था वह अब मित्रों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। आशंका, असुरक्षा की भावना ने आतंक की स्थिति उत्पन्न कर दी है। स्नेह-सौजन्य, सद्भाव, सहयोग, परमार्थ की चमकीली पन्नियाँ तो अभी भी सजी धजी दीखती हैं पर पर्दा उघाड़ते ही सड़ी और विषैली बदबू के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता, जो जितना बड़ा धूर्त है उसने सज्जनता का उतना ही चमकीला लबादा ओढ़ रखा है।

कहना न होगा कि इस माहौल में जो विग्रह खड़े हों वे कम हैं। भाषा, सम्प्रदाय, क्षेत्र, वर्ग आदि तो मात्र बहाने हैं। जब आपाधापी चिन्तन क्षेत्र पर सवार हो तो फिर नीति अनीति का, उचित-अनुचित का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। जिससे जिस प्रकार घात लगाते बनता है वह उसमें चूकता नहीं। स्पष्ट है कि इन परिस्थितियों में विपन्नता ही गले बँधेगी और पग-पग पर संकटों का घटाटोप खड़ा होगा। चाहे उसका स्वरूप वैयक्तिक अनाचार के रूप में हो अथवा सामूहिक विग्रहों के रूप में। अशान्ति बढ़ेगी ही घटेगी नहीं।

निराकरण क्या है? इस संदर्भ में लौट-फिर कर आना वहीं पड़ेगा, जहाँ व्यक्तिगत समाधान का सूत्र खोजा गया है। लोगों का चिन्तन-उलटा जाय। प्रवाह को मोड़ा जाय और अनाचार, मानवी बुद्धि, शक्ति एवं सम्पदा को सदाशयता का समर्थक बनाया जाय। चेचक की हर फुन्सी पर पट्टी कैसे बँधेगी? उपचार तो रक्त शोधन का करना पड़ेगा। हर मच्छर का पीछा कौन करे? सड़ी कीचड़ को बुहारने से ही उनका उद्भव रुकेगा। मानवी चिन्तन को दिशा देने की आवश्यकता है। क्षमताओं को ध्वंस प्रयोजनों से रोकने और सृजन सत्प्रयोजनों में लगाने से काम चलेगा जितनी सामर्थ्य विनाश प्रयोजनों के सरंजाम खड़े करने में संलग्न है उसे खाई खोदने से रोका और दीवार उठाने में लगाया जाय तो परिणामों में असाधारण अन्तर दृष्टिगोचर होगा।

महायुद्ध के साधन जुटाने में, अनावश्यक प्रजनन में, अपराधी कुकृत्यों में, सम्पदा के केन्द्रीकरण में, अनाचारी कुचक्रों में इन दिनों उससे भी अधिक सामर्थ्य खर्च होती है जितने से कि ५०० करोड़ मनुष्यों को अन्न, वस्त्र और निवास का उपक्रम बनता है। बर्बादी में लगी हुई सामर्थ्य यदि रुके तो खाई खोदे जाने के दुर्भाग्य पर अंकुश लगे। उस शक्ति को स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा, कला, उत्पादन, सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन जैसे उपयोगी कार्यों में लगाया जा सके तो उस कल्पना को साकार होने में देर न लगे जिसमें मनुष्य में देवत्व और धरती पर स्वर्ग के अवतरण की आशा-अपेक्षा की गई है।

युग परिवर्तन का व्यावहारिक स्वरूप और सुनिश्चित आधार एक है-लोकचिन्तन का कायाकल्प। विभीषिकाओं से छूटने और उज्ज्वल संभावनाओं को साकार करने के लिए कोई युद्ध छेड़ने, कारखाने खड़े करने, सुविस्तृत योजना बनाने, असाधारण सरंजाम जुटाने की आवश्यकता नहीं है। दुर्बुद्धि के रहते सभी सुधार प्रयत्न निष्फल होते रहेंगे। भ्रष्ट-चिन्तन से उत्पन्न दुष्ट आचरण का दावानल ऐसा है जिसकी चपेट से उस क्षेत्र की किसी भी वस्तु को बचाया जा सकना कठिन है।

मानवी दुर्बुद्धि से जूझने हेतु अपने समय का सबसे बड़ा काम एक ही है कि आकांक्षा, विचारणा और आदतों, प्रवृत्तियों के परिवर्तन का मोर्चा संभाला जाय। यह कठिन भी है और सरल भी। कठिन तब, जब इस सम्बन्ध में कुछ किया ही न जाय और सरल तब जब कमर बाँध कर इस दिशा में साहसपूर्वक चल पड़ा जाय। साम्यवाद, प्रजातन्त्र के पक्ष में पिछले ही दिनों सफल क्रान्तियाँ हो चुकी हैं। कोई कारण नहीं कि संव्याप्त अवांछनीय चिन्तन को उलटा न जा सके, कीचड़ में फँसे को उबारना और धोकर घर पहुँचाना संभव न हो सके। करने वाले जब कुछ कर गुजरने पर उतारू हुए हैं तो तीन चुल्लू में समुद्र सोखने और स्वर्ग से धरती पर गंगा उतार लाने जैसे असंभव को संभव करके रहे हैं। 'प्रज्ञा अभियान' युग संकल्प की पूर्ति हेतु महाकाल द्वारा प्रेरित युग-प्रवाह है। लाखों करोड़ों व्यक्ति अब इस धारा से जुड़ते चले जा रहे हैं। समय की प्रतीक्षा जो कर रहे हैं, वे अन्ततः निराश ही होंगे।

क्रान्ति का नया आयाम-विचार-क्रान्ति

इन दिनों विचार-क्रान्ति के तूफानी झकोरों से अधजगे, उनींदे, आँखे मलते मानव समाज की अकुलाहटें साफ नजर आ रही हैं। साथ ही ध्वनित होते हैं ये सवाल

क्या जरूरत आ पड़ी इस क्रान्ति की? विगत इतिहास में हो चुकी अनेक क्रान्तियों की अपेक्षा इसमें क्या विशेषता है? सवालों की जटिलता के बावजूद इनकी सामयिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। मानव जीवन के इतिहास की पोथी क्रान्ति के अक्षरों से रँगी पड़ी है। मानवीयता के महाउदधि में क्रान्ति के अनेक ज्वार उठे और विलय हुए इतने पर भी वर्तमान क्रान्ति जो स्वर्णयुग की संदेशवाहक है की अपनी मौलिकता है। इसे अतीत के पृष्ठों में झाँकि, वर्तमान से सम्बन्ध सूत्र जोड़े बिना नहीं परखा जा सकता। समुज्वल भवितव्यता की चिरस्थाई संस्थापना पर विश्वास जमाने का और आधार भी क्या है?

क्रान्तियों के इतिहास के अन्दर हम दो सिद्धान्तों को काम करते देखते हैं। एक तो सातत्य का सिद्धान्त है, दूसरे परिवर्तन का । ये दोनों सिद्धान्त परस्पर विरोधी लगते हैं परन्तु ये विरोधी हैं नहीं। सातत्य के भीतर परिवर्तन की झलक है। इसी प्रकार परिवर्तन भी अपने अन्दर सातत्य का कुछ अंश छिपाए रखता है। असल में हमारा ध्यान उन्हीं परिवर्तनों की ओर जाता है जो क्रान्ति के रूप में अचानक फट पड़ते हैं। फिर भी प्रत्येक भूगर्भशास्त्री जानता है कि धरती की सतह पर जो बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं, उनकी चाल बहुत धीमी होती है। इसी तरह क्रान्तियाँ भी धीरे-धीरे होने वाले परिवर्तन और रूपान्तरण की एक बहुत लम्बी प्रक्रिया का बाहरी प्रमाण भर होती हैं। इस तथ्य के मुताबिक पिछली क्रान्तियों को इन दिनों सम्पन्न हो रही महाक्रान्ति की तैयारी के रूप में समझा जा सकता है।

पहली क्रान्ति उस समय घटी जब क्रान्तिधर्मी मानव अपने आरम्भिक काल में छोटे-छोटे समूह बनाकर रहता था। सर्वथा अव्यवस्थित किन्तु उसके पास वे सारे उपकरण थे जिनसे जीवन में क्रान्ति घटे। हुआ भी ऐसा ही। राधाकुमुद मुखर्जी की 'एन्सिएण्ट इण्डिया' के अनुसार समूहों की व्यवस्था के सविधि संचालन के लिए राज्य का उदय हुआ। राजतन्त्र पनपा। पारस्परिक सम्बन्ध उदारतापूर्वक निभ सकें इस हेतु समाज नीति निर्धारित हुई। विनिमय व्यवस्था ने अर्थनीति को जन्म दिया और मनुष्य के अन्तरंग उन्नयन की प्रणाली ने अध्यात्म का रूप धारण किया। यह मानव जीवन की पहली क्रान्ति थी जिसका तथ्यपूर्ण विवेचन डॉ. रांगेय राघव ने अपनी रचना 'आदि से इन्द्र तक' में सफलतापूर्वक किया है। उस समय के राजा और राज्य, व्यक्ति और समाज की कल्पना वैदिक साहित्य का अवगाहन किए बिना अशक्य है।

न केवल भारत में बल्कि, यूनान, मिश्र, रोम जहाँ भी मानव ने निवास किया समष्टि मन का यही चमत्कार घटा। प्रथम क्रान्ति से जीवन तीन अंगों में व्यवस्थित हुआ। राज्य, अर्थ, बुद्धि। राज्य का नियंत्रक राजा अथवा प्रशासक, अर्थ के नियन्त्रक व्यापारी और बुद्धि का नियामक मनीषी। मनीषियों का धन्धा, कर्तव्य, मनोरंजन कुछ भी नाम दें एक ही था-जीवन की समस्याओं का हल । इसी वर्ग ने हर कहीं मैजिनी, वाल्टेयर, रूसो, लेनिन, गाँधी की भूमिका निभाई। अन्य दो में से प्रथम तो जड़ता से ग्रसित होकर क्रान्ति का विरोधी ही साबित हुआ, दूसरे ने तटस्थता बरतने अथवा अवसरवाद अपनाने में अपनी सार्थकता मानी।

मानव की प्रबल अभीप्सा रही है उन्नयन। जब यह अन्तर में घटित हुआ है तब वह चेतना के गंभीरतर शिखरों पर बैठा है। जब बाहर हुआ है तब आत्मविस्तार पनपा है। इस विस्तार का रूप देशकाल के अनुरूप कुछ भी हो। धीरे-धीरे राज्य बढ़े समाज विशाल हुआ जीवन जटिल। संकीर्णताओं की जकड़न और विवशता की बेबस सिसकियाँ गूँजी। ऋषि-मनीषी क्रान्तिदर्शी थे और सामान्य जन क्रान्तिधर्मी। इन दोनों में जब जो अपना पथ भूला तब-तब मानवता विकल हुई। जन विकलता की तड़प ही तो क्रान्ति की तड़ित है। यह तथ्य देशव्यापी, क्षेत्रव्यापी, जाति-व्यापी न होकर जीवनव्यापी है।

आदमी की तकलीफ के दो कारण हैं पहला-साधनों का अभाव, दूसरा व्यवस्था का वह स्वरूप जो अपने लौह-पाश के द्वारा स्वाभाविक विकास को रोकना चाहता है। ये चाहे शासन के शोषक हों अथवा रूढ़ियों, कुरीतियों के पृष्ठपोषक, दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। इन दोनों कारणों के पीछे वह अज्ञान है जो व्यक्ति और समाज के बीच असन्तुलन की सृष्टि करता है। राजतन्त्र के चरमराते ढाँचे ने जब व्यक्तिवाद का रूप लिया, शोषणवाद को प्रश्रय दिया वहीं से विश्व इतिहास में क्रान्ति की शृंखला चल निकली। फलत: न केवल भारत बल्कि फ्रांस, रूस इटली, अमेरिका, जापान सहित लगभग समूचे विश्व ने कसम खा ली कि राजतन्त्र को उखाड़ फेंकना है, व्यक्तिवाद को बिस्मार करना है। हुआ भी यही जहाँ कहीं भी क्रान्तियाँ हुईं उनका पहला प्रकोप राजतन्त्र पर हुआ । चूँकि राजसत्ता ने अपनी पूरी प्रभाविकता में अर्थ और समाज पर अपनी पकड़ जमा रखी थी, इसलिए उसके प्रभाव अर्थ व समाज पर पड़े बिना न रहे।

'ऐन इलस्ट्रेटेड आउट लाईन हिस्ट्री ऑफ मैनकाइंड' के सम्पादक के. कूपर कोल के संकेतानुसार ये सभी क्रान्तियाँ संख्या की दृष्टि से भले अनेक हों पर स्वरूप और सिद्धान्त की दृष्टि से एक-सी हैं। राजतन्त्र के विकल्प के रूप में लोकतन्त्र व साम्यवाद प्रकाश में आए। लोकतन्त्र की शुरूआत वैशाली के गणतन्त्र से हुई, जिसकी शृंखला अभी जिसने आगे चलकर औद्योगिक क्रान्ति से अपना सहचरत्व निभाया। जीवन मूल्यों के परिपेक्ष्य में वैज्ञानिकता का सीधा आघात धर्म पर हुआ और जीवन शैली के क्षेत्र में औद्योगिक क्रान्ति ने उथल-पुथल मचाकर रख दी।

इन सब के बावजूद क्या मानव की विकलता थमी, वेदना कम हुई? यदि नहीं तो अवश्य इन परिवर्तनों में कुछ मूलभूत कमियाँ रहीं होंगी यदि ऐसे न होता तो व्यक्तिवाद की समाप्ति का दावा करने वाली लोकतान्त्रिक

व्यवस्था में वे न होते जिन्हें अपनी रोटी दूसरों के साथ खाना मंजूर नहीं। जिन्हें पूरी रोटी सिर्फ अपने लिए चाहिए, बल्कि बस चले तो वे औरों की भी रोटियाँ छीनकर बेच डालें और मिले धन से घूँटभर शराब पीने में चैन महसूस करे.। साम्यवाद व्यक्ति की मौलिकता पर कुठाराघात करने वाला सिद्ध न होता। विनिमय और अर्जन की प्रणाली इतनी दुर्बल कैसे होती?

वास्तविकता कुछ ऐसी ही है। क्रान्ति की संरचना और प्रक्रिया पर गौर करने पर स्पष्ट होता है कि इसका आरम्भ हमेशा कुछ विचारशील, साहसी, परम्पराओं की तुलना में विवेक को महत्व देने वाले व्यक्तियों के द्वारा होता है। आर्थिक ढाँचा या तो तटस्थ रहता है अथवा किन्हीं अंशों में सहयोगी अथवा विरोधी। राजसत्ता हमेशा विरोधी पाले में खड़ी मिलती है। क्रान्तिकारी सर्वहित में सर्वस्व दे डालने की मौलिक विशेषता के कारण व्यक्तित्ववान होते हैं। अपने इस गुण व अदम्य साहस से वह व्यवस्था बदल डालते हैं। प्रकाश में आती है क्रान्तिकारी सरकार। क्रान्तियाँ क्षेत्रीय हैं या राष्ट्रीय, भारत, फ्रांस का उदाहरण लें अथवा मिजोरम-आसाम का। नेपाल, इटली, अमेरिका कोई भी क्यों न हो । हर कहीं अपने समय में क्रान्तिकारी सरकारें आयी हैं। बस यहीं से क्रान्ति रुकी और गड़बड़ियाँ पनपीं। रशियन विचारक प्रिंस क्रोपाटकिन ने 'रिवोल्यूशनरी गवर्नमेण्ट' नामक निबन्ध में इसका सुन्दर विवेचन किया है। उनके अनुसार ऐसी स्थिति में क्रान्तिधर्मी-क्रान्तिविरोधी का चोला ओढ़ लेते हैं। सामयिक निदान हो जाने के कारण कुछ दिन अमन चैन लगता है। जाग्रत जन फिर गाढ़ी नींद के खर्राटों में डूब जाता है। पर थोड़े ही दिन बाद पोल खुल जाती है। जर्जर व्यवस्था के ढाँचे, आर्थिक रूढ़ियाँ आपस का विद्वेष, कड़ी सामाजिकता, अनगढ़ जनसमुदाय सब मिलकर ऐसा भोंडा प्रदर्शन करने लगते हैं कि विश्वास नहीं होता कि यहाँ कभी क्रान्ति हुई थी।

इसका एकमेव कारण है व्यक्ति और समाज की संरचना और अन्तर्सम्बन्धों को विसार देना । जीवन का विकास मनो-सामाजिक होता है। क्रान्ति क्यों नहीं ऐसी होनी चाहिए? व्यक्ति ढले नहीं, समाज सुधरा नहीं ऐसी दशा में उलट-फेर कितने दिन काम देगी। स्थाई समाधान एक ही है व्यक्ति बदले, समाज सुधरे। आवश्यकता मनो-सामाजिक क्रान्ति की है। होता यह कि व्यवस्था को बदलने वाले क्रान्ति दल के दो भाग होते हैं। एक नयी व्यवस्था में प्राण भरता, दूसरा व्यक्ति गढ़ता है। समाज की प्रथा, परम्परा व कुरीतियाँ सुधारता है। मात्र सामाजिक क्रान्ति से काम चलने वाला नहीं। जमाने को भारी तादाद में विवेकानन्द, गाँधी मैजिनी चाहिए; जब तक इस व्यक्ति निर्माण की फैक्ट्री में ताला लगा हुआ है तब तक क्रान्ति की पूर्णता सम्भव नहीं। व्यक्ति अच्छे होंगे, हर बिगड़े ढाँचे को बना देंगे। यदि ये स्वार्थ लोलुप हुए तो बने ढाँचे को भी जर्जर हो चकनाचूर होना पड़ेगा।

आज की दशा में जर्जरित ढाँचों में पिस रहे मानवी जीवन को देखने पर यही लगता है कि घूम-फिर कर आदमी वहीं बल्कि उसके भी बदतर हालत में आ पहुँचा है जहाँ से उसने अपनी यात्रा शुरू की थी। अब उसे पुनः आवश्यकता पड़ गई है कि नयी व्यवस्था का सृजन हो। परस्पर के सम्बन्ध नए सिरे से विकसित हों अर्थात् समाज नीति की नयी स्मृति बने। विनिमय प्रणाली ऐसी हो जो हर किसी को सामान्य जरूरतें पूरी कर सके। मानवी चेतना के अवरोहण, बहिरंग जीवन को परिष्कृत करने वाली ऐसी प्रक्रिया विकसित हो अन्धविश्वास जिसके निकट न फटके।

इस आ पड़ी जरूरत को कौन पूरा करेगा? कहाँ है ये सब विशेषताएँ? इसके लिए क्रान्ति के उस नये आयाम को ढूँढ़ना पड़ेगा जो विगत की भूलों से मुक्त हो, जिसमें व्यक्ति के मनो-सामाजिक नवसृजन की अपूर्व क्षमता हो। क्रान्ति का यही नया आयाम विचार-क्रान्ति है। इस नये आयाम द्वारा सम्पन्न हो रही महाक्रान्ति ने अपना केन्द्र बनाया है, व्यक्ति को, उसकी परिधि है समाज-व्यक्ति की अन्तर्शक्तियों को उजागर करे, समाज की प्रत्येक प्रणाली को नया रूप देने के लिए कटिबद्ध हो यह। विश्व के समस्त मानव समुदाय के क्षितिज पर क्रियाशील प्रथम अहिंसक महाक्रान्ति होगी। हिंसा, विद्वेष, मानवीय दुर्बलताओं को जो उखाड़ फेंकने के लिए तत्पर हो उस प्रक्रिया में इनका स्थान कहाँ ?

इतने पर भी इसकी शक्ति ने समूचे विश्व को चकित कर रखा है। विचारों का जबर्दस्त तूफान क्या कुछ नहीं कर रहा इन दिनों। १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति गायब, हिटलर का उत्थान और पतन दोनों समाप्त । हेनरी ट्रूमैन से रोनाल्ड रीगन तक चलने वाला शीत युद्ध पिघलकर बह गया। अटलांटिक सन्धि का रक्षातन्त्र रद्द, जर्मनी का बँटवारा समाप्त। धर्म और विज्ञान के कदम एक दूसरे से मिलने के लिए बढ़े। तनिक गहरे उतरें तो पता चलेगा कि विचार-क्रान्ति की वीणा ने सद्भाव, सहनशीलता, सदाशयता की नयी रागिनियाँ बजाई हैं। हो भी क्यों न ? तलवार से हम मनुष्य को पराजित कर सकते हैं, जीत नहीं सकते। मनुष्य को जीतना, उसके हृदय पर अधिकार पाना है और हृदय की राह समर भूमि की लाल कीच नहीं, सहिष्णुता का शीतल प्रदेश है, उदारता का उज्ज्वल क्षीर समुद्र है।

विचारों की क्रान्ति यही राह प्रशस्त कर रही है, टूटे दिलों को जोड़ रही है और पुराने घावों को सहलाकर उन्हें भरती जा रही है। 'वारसा सन्धि संगठन' 'उत्तर अटलांटिक संगठन' जिन्होंने दो दुनिया हो बसा रखी थीं इस तरह एक दूसरे को छाती से चिपटाने के लिए आतुर हो उठेंगे, किसने सोचा था? पश्चिम एशिया के घोर शत्रु ईरान और इराक का भी निकट आने के लिए सोचने लगना, बर्लिन की दीवार

का धराशायी होना, यही नहीं इनकी मुद्राओं ओस्तमार्क दूशमार्क का एक हो जाना सिर्फ विचारों की शक्ति का चमत्कार है । इसी ने रूस को वह बल दिया जिससे 'पेरेस्त्रोइका' यानी पुनर्निर्माण और 'ग्लासनोस्त' यानी खुलेपन रूपी दो सबल भुज दण्ड उठे और लौह परदे को एक ओर समेट दिया।

ये तो विचारों की महाक्रान्ति के ये कुछ बबूले हैं अभी तो ज्वार आना शेष है। जिसके लिए श्री अरविन्द ने अपने ग्रन्थ 'ह्यूमैन साइकल' में कहा है मनुष्य के जीवन सम्बन्धी विचार प्रयत्न और भावनाओं की ऐसी प्रवृत्ति जो सामुदायिक मन को वशीभूत कर ले तो उसका परिणाम निश्चित ही मानव जीवन के समस्त क्षेत्र में एक गम्भीर क्रान्ति होगा। वह उसे प्रारम्भ से ही एक नया रंग और वातावरण, एक उच्चतर भावना, एक महत्तर उद्देश्य प्रदान करेगी। इस प्रारम्भ की परिणति होगी नया युग जो व्यवस्थाओं, प्रणालियों व नीतियों की दृष्टि से अद्भुत होने के साथ व्यक्तित्व संरचना की दृष्टि से भी अभूतपूर्व होगा। मनुष्य को देवत्व की अनुभूति कराए और स्वर्ग के नन्दन कानन को धरती पर उतारे बिना न रहेगा।

क्रान्ति निज के अंतराल से आरम्भ होगी

जब हम 'क्रान्ति' शब्द पर विचार करते हैं तो कई बार हमें भ्रान्ति हो जाती है। हम यह मान बैठते हैं कि क्रान्ति अर्थात् सामूहिक-क्रान्ति। क्रान्ति अर्थात् सामाजिक-क्रान्ति। इस संबंध में हमारी अब तक की मान्यता यह रही है कि यह सदा सामूहिक अथवा सामाजिक हुआ करती है, किन्तु तनिक गहराई में जाकर यदि चिन्तन करें तो ज्ञात होगा कि तथ्य सर्वथा विपरीत है, सच्चाई बिल्कुल भिन्न है। क्रान्ति सर्वदा वैयक्तिक होती है। समाज मे जो दिखाई पड़ता है वह तो मात्र परिवर्तन है। यह वैयक्तिक, क्रान्ति की ही परिणति है। क्रान्ति सामूहिक कभी होती नहीं। सामूहिक तो मात्र बदलाव होता है।

समाज-व्यवस्था के विकास से लेकर अब तक के इतिहास का अध्ययन-अवलोकन करें, तो विदित होगा कि अब तक अगणित परिवर्तन, अगणित क्षेत्रों में सम्पन्न हो चुके हैं। अनुसंधान से यह भी स्पष्ट हो जायगा कि प्रत्येक के मूल में एक मार्गदर्शक सत्ता काम करती रही है, यदि वह सत्ता न होती तो संभवतः वह परिवर्तन भी सम्पन्न न हो पाते। यहाँ ध्यातव्य यह भी है कि ऐतिहासिक क्रान्तियाँ तभी संभव हो पायी हैं जब अगुआई करने वाले व्यक्ति की विचारधारा समाज के लिए ग्राह्य हो अथवा समाज ने उसे स्वीकार किया हो। उदाहरण के लिए समाज-विकास संबंधी प्रकरण को लिया जा सकता है। जैन-धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के मन में विचार आया कि व्यक्ति एक दूसरे से अलग-थलग पड़े रहते हैं। इससे उन्हें अनेकानेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। यदि उन्हें एक स्थान पर किसी प्रकार इकट्ठा किया और बसाया जा सके तो इससे न केवल एक-दूसरे की विचारधारा से अवगत हो सकेंगे, वरन् परस्पर प्रेम-सौहार्द्र को विकसित कर मिलजुलकर अपनी समस्याओं का हल भी ढूँढ़ सकेंगे। बस उन्होंने अपना उक्त विचार तत्कालीन यायावरों के समक्ष रखा। उन्हें उनके विचार पसन्द आये। उनके स्वयं के विचारों में उथल-पुथल मची, उनका रूपान्तरण हुआ और क्रान्ति हो गई-समाज-निर्माण संबंधी क्रान्ति। यदि आदिम काल में यायावर मनुष्यों के विचारों में परिवर्तन न आया होता, तो ऋषभदेव के उत्कृष्ट विचार भी समाज की स्थापना करने में सर्वथा विफल रहते। यहाँ दृष्टव्य यह है कि क्रान्ति जैन तीर्थंकर ने नहीं की, उन्होंने तो सिर्फ मार्गदर्शन किया, रास्ता बताया, क्रान्ति का प्रादुर्भाव तो सही अर्थों में हर एक व्यक्ति के अन्तराल में हुआ और वही जब समग्र रूप में सामने आया, तो काया-पलट हो गयी, परिवर्तन एवं नवनिर्माण हो गया।

इसी बात का समर्थन करते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्रान्ति भी तभी शक्य है, जब हम उसके लिए तैयार हों। इससे कम में वह संभव हो नहीं सकती। वे कहते हैं कि आज हमारी मान्यता ही उलटी हो चुकी है। हम सोचते हैं कि इस संसार में सन्त, सुधारक अथवा कोई ऐसे अवतारी पुरुष आयेंगे, जो चमत्कारिक ढंग से दुनिया को बदलकर चले जायेंगे। उनके अनुसार आज समाज की ऐसी भौंड़ी सोच ही उसे समय की माँग के अनुरूप परिवर्तित नहीं होने देने के मूल में छिपी हुई है।

यह सत्य है कि समय-समय पर अवतारी पुरुषों का इस धरित्री पर अवतरण होता आया है पर समय और समाज का मार्गदर्शन करना ही उनका एकमेव हेतु रहा है। समाज गलत रास्ते पर चल रहा होता है तो वे सही पथ प्रदर्शन करते हैं, किन्तु इसके लिए उपकरण तो व्यक्ति को स्वयं बनाना पड़ता है, वे सिद्धान्त बता देते हैं पर व्यावहारिक जीवन में उसे उतारना तो समाज के हर एक व्यक्ति को ही पड़ता है, तभी युगान्तरकारी परिवर्तन संभव होता है। इससे कम में किसी प्रकार की क्रान्ति अथवा परिवर्तन की सहज कल्पना नहीं की जा सकती। भगवान बुद्ध ने सूत्र दिया- 'अप्प दीपो भव' अपना दीपक आप बनो, दूसरे दीपक के प्रकाश में चलने की कोशिश मत करो, क्योंकि यह दूसरों का अधिक समय तक साथ न दे सकेंगे। सभी ने उनके इस मर्म को समझा और जुट पड़े अन्तस् के दीप को जलाने में प्रत्येक गृही और शरणागत शिष्यों ने प्रयत्न आरम्भ किया तो धर्मचक्र प्रवर्तन हो गया, बौद्ध धर्म का विस्तार हो गया और समस्त मध्यपूर्व एशिया इस क्रान्ति से अछूता न रह सका, उसकी कायापलट हो गयी। भगवान महावीर ने कहा- 'अहिंसा परमो धर्मः।'

अहिंसा ही सबसे बड़ा धर्म है। लोगों ने इसे अपने जीवन में उतारना आरंभ कर दिया। बस, क्रान्ति हो गई, जैन धर्म का जन्म हो गया।

मूर्धन्य मनीषी एवं दार्शनिक बर्टेण्ड रसेल अपनी पुस्तक 'रिवोल्यूशन एण्ड दि सोसाइटी' में इसी बात का अनुमोदन करते हुए लिखते हैं कि क्रान्ति सदा व्यक्ति में घटित होती है, समाज में अधिक से अधिक तो सुधार ही घट सकता है। वे आगे लिखते हैं कि जो क्रान्ति व्यक्ति में घटती है वह अध्यात्म कहलाती है। समाज में वह घट नहीं सकती। जो घटती है वह राजनीति होती है। स्पष्ट है, यदि हमें समाज में धार्मिक परिवर्तन लाना है तो प्रत्येक के हृदय में उस महाक्रान्ति को जन्म देना होगा, जो परिवर्तन के लिए अभीष्ट है।

लियो टालस्टाय अपनी चर्चित कृति 'समाज-निर्माण' के 'नवनिर्माण' अध्याय में लिखते हैं कि समाज सुधार के लिए निश्चय ही संसार में सन्तों और महामानवों का समय-समय पर जन्म होता रहता है पर वे भी व्यक्तियों द्वारा इस दिशा में प्रयास-पुरुषार्थ के अभाव में ज्यादा कुछ कर नहीं पाते। हाँ, यदि लोगों ने पराक्रम करना स्वीकार कर प्रयत्नपूर्वक एक कदम आगे बढ़ाना अंगीकार कर लिया, तो यह संभव है कि महापुरुष अपने आत्मबल द्वारा पीछे से धक्का देकर उन्हें दो कदम और आगे बढ़ा दें, किन्तु इसका शुभारंभ उन्हें स्वयं से करना होगा, यह दायित्व उन्हें स्वयं निबाहना होगा, तभी ऐसा शक्य है। इसके अभावों में इनकी दशा उन लोगों जैसी हो जाती है। जिनके सामने भोजन परोसा रखा रहता है पर हाथ-पैर न चला सकने की स्थिति में भूखे रह जाते हैं। एक उदाहरण देकर वे इसे और स्पष्ट करते हैं। कहते हैं कि जिस प्रकार साइकिल चलाने संबंधी नियमोपनियम सुन, समझ और सीख लेने भर से ही साइकिल चलाना नहीं आ जाता, अपितु इसके लिए उस पर सवार होना और संतुलन बनाये रखना भी जरूरी होता है। आश्चर्य नहीं, इस क्रम में वह दो-चार बार गिर पड़े और चोट खा बैठे पर यही गिर पड़ना उसे संतुलन रखना सिखा देता है। ऐसा न हो तो सवार साइकिल चलाना जिन्दगी भर कभी सीख ही नहीं सकता। चढ़ना और गिर पड़ना उसके लिए स्वाभाविक और जरूरी है, उतना ही जरूरी जितना जीवित रहने के लिए प्राण वायु।

वे आगे लिखते हैं कि जब मैं यह कहता हूँ योगी, यती, सन्त आदि सभी से उपदेश लेना, तो मेरा तात्पर्य मात्र इतना होता है कि जितने साइकिल के ज्ञाता और निष्णात् हों, पूछ सबसे लेना, चलाने का मर्म प्रत्येक से समझ लेना किन्तु इससे यह मत मान लेना कि साइकिल चलाना आ गया। यह तो सिद्धान्त है। इसे व्यावहारिक रूप तो साइकिल चढ़कर ही देना पड़ेगा, तभी कोई साइकिल संचालन में कुशल बन सकता है। ठीक इसी प्रकार सन्तों के उपदेश सुनकर कोई सन्त नहीं बन सकता है। जब सन्त को अपने भीतर पैदा करेगा, तभी वह सज्जन कहला सकेगा।

वर्तमान समय में टालस्टाय की यह बात अक्षरशः लागू होती है। हम यह समझकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं कि प्रज्ञा का समर्थ अवतार इस पृथ्वी पर आयेगा और अपनी जादू की छड़ी घुमाकर पलभर में संसार को बदलकर रख देगा। कलियुग को क्षण मात्र में सतयुग-प्रज्ञायुग में परिवर्तित कर देगा, पर यह हमारा भ्रम है। यदि किसी ऐसी समर्थ सत्ता का अवतरण हुआ भी, तो भी यंत्र हमें ही बनना पड़ेगा, हाथ-पैर हमें ही चलाने पड़ेंगे, पुरुषार्थ हमें ही करना पड़ेगा। समग्र परिवर्तन तभी संभव हो सकेगा। विश्व की बदलती परिस्थितियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उस समर्थ सत्ता का अवतरण हो चुका है और प्रचण्ड विचार-प्रवाह के रूप में समस्त पृथ्वी पर वह छा चुकी है। अब इसके आगे का कार्य हमें करना है। इस सशक्त चेतना प्रवाह को अपने अन्दर ग्रहण-धारण करना पड़ेगा, जो प्रत्येक के अन्तस् में बुद्ध पुरुष पैदा कर सके, अवतार-चेतना को जन्म दे सके, ऋषि उत्पन्न कर सके। महाक्रान्ति का सूत्रपात तभी संभव है। समग्र परिवर्तन युग-परिवर्तन। युग-परिवर्तन तभी शक्य हो सकता है, इससे कम में नहीं।

विचार क्रान्ति की वेला आ पहुँची

विश्व के इतिहास पर यदि हम दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि परिवर्तन चक्र घूमता रहता है, लट्टू की तरह, कालचक्र की तरह। जिस प्रकार कालचक्र कभी थमता नहीं, निर्बाध गति से चलता ही रहता है, उसी प्रकार परिवर्तन का भी एक चक्र है, जो सदा गतिमान है। जो कुछ आज दिखाई पड़ रहा है, वह कल नहीं रहेगा, यह सुनिश्चित है और जो समय कल आवेगा यह भी शाश्वत नहीं रहेगा। यह भी सत्य है। तात्पर्य यह है कि समय की तरह परिवर्तन भी चक्रवत् है। वह घूमता रहता है।

"हम आज जिस उथल-पुथल और अराजकतावादी समय से गुजर रहे हैं, वह कल नहीं रहेगा, क्योंकि उसी के बीच एक नई समाज-व्यवस्था, एक नई सृष्टि का जन्म हो रहा है। यह नई व्यवस्था आज भले ही हमें नहीं दिखाई पड़ रही हो पर कुछ ही वर्षों में उसका मूर्तिमान स्वरूप सामने आने ही वाला है। यही परिवर्तन है-क्रान्ति है विचार क्रान्ति है" यह उद्गार हैं मूर्धन्य मनीषी हरिभाऊ उपाध्याय के 'युग धर्म' पुस्तक में।

क्रान्ति अनादि काल से चलती आ रही है और अनन्त काल तक चलती रहेगी। आरम्भ में प्रस्तर युग था। तब लोग पत्थर के औजारों का प्रयोग करते और वनों में रहते थे। धीरे-धीरे उनमें विकास हुआ वे कबीलों में रहने लगे एवं लोहे के आयुधों का प्रयोग आरम्भ किया। फिर उनमें सभ्यता और समाज का विकास हुआ। वे सभ्य कहलाने लगे। इसके बाद राजतंत्र का सूत्रपात हुआ, किन्तु जब

राजतंत्र ने तानाशाह का रुख अपना लिया, तो एक बार पुनः लोगों की चेतना जगी। उनका उनींदापन हटा तो राजतंत्र की नींव हिल उठी। गुलामी की प्रथा का अन्त हुआ, प्रजातन्त्र आया और स्वराज्य मिला। यह सब स्वयं में एक परिवर्तन था, क्रान्ति थी।

इटली के इतिहास को देखें तो ज्ञात होगा कि वहाँ की पराधीन जनता जब गुलामी की जंजीरों में फँसी त्राहि-त्राहि कर रही थी, तो मेजिनी ने उनमें प्राण फूँके और विदेशियों से लोहा लेने के लिए गैरीबाल्डी के नेतृत्व में खड़ा किया। बाद में जब स्वतंत्रता मिली, तो कैवूर के राष्ट्रपतित्व में वहाँ की सरकार बनी। फ्रांस की राज्य क्रान्ति, अमेरिका की दास प्रथा, रूस की बोलशेविक और अक्टूबर-क्रान्ति सभी उसी परिवर्तन के चिन्ह हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि कालचक्र की तरह परिवर्तन-चक्र भी सदा गतिमान है। अब भी वह अपने प्रकार से चल रहा है।

उपरोक्त सभी क्रान्तियाँ न्यूनाधिक खूनी थीं। इनमें कमोबेश रक्तपात हुआ था, पर अबकी बार जो क्रान्ति होने जा रही है, वह विशुद्धतः रक्तहीन क्रान्ति, विचार-क्रान्ति होगी। इसमें न रक्त बहेगा, न समर युद्ध होंगे। बिना कुछ हुए परिवर्तन होता चला जायेगा और लोग बदलते चलेंगे। इस आध्यात्मिक क्रान्ति की शुरूआत हो चुकी है।

जीवन जब सरल-स्वाभाविक ढंग से चलता-बढ़ता रहता है तब उसे प्रगति कहते हैं, किन्तु जब माया, मोह, अज्ञान, अन्धकार के वशीभूत हो वह अवरुद्ध हो जाता है, उसकी गति थम जाती है, तो यही पतन कहलाने लगता है। इन समस्त गतिरोधों को सहता हुआ जब धैर्य पराकाष्ठा को पार कर जाता है, तो भीतर का उमड़ता-घुमड़ता प्राण बम की तरह धमाका करता है। यही क्रान्ति है। कार्ल मार्क्स का साम्यवाद, रूसो का 'समाजवाद' ऐसी ही क्रान्ति के प्रतीक थे। पतन जब अपने अन्तिम चरण में पहुँचता है और उत्थान की शुरूआत होती है तो दोनों संक्रान्ति अवस्था को ही 'क्रान्ति' नाम से अभिहित करते हैं।

आज हम ऐसी ही प्रभात वेला से गुजर रहे हैं, जब पराभव चरमोत्कर्ष पर हैं और उत्क्रान्ति का दिनमान निकलने वाला है, भोर का आभास देने वाले कुक्कुट बाँग लगाने वाले हैं। ज्वर जब चढ़ता है तो लोग यह सहज ही अनुमान लगा लेते हैं कि शरीर विकारग्रस्त है पर विशेषज्ञ यह भी जान जाते हैं कि विकार मुक्ति का यही स्वाभाविक और प्राकृतिक तरीका है शरीर का और रोगी अब विकार मुक्त होने ही वाला है। परिवर्तन के महान क्षणों का क्रिया रूप लेते देखते हुए यह आशा की जा सकती है कि अब उज्वल भविष्य सन्निकट है। विचार-क्रान्ति से ही विचार परिवर्तन होने ही वाला है। विश्व के महान मनीषियों और भविष्यद्रष्टाओं का भी ऐसा ही कथन है। 'युगधर्म' पुस्तक के 'क्रान्तियुग' अध्याय में मूर्धन्य विचारक हरिभाऊ उपाध्याय आगे लिखते हैं कि "मुझे यह स्पष्ट दीख रहा है कि भारत के अन्दर और बाहर विश्वभर में एक अदृश्य किन्तु प्रबल और महान समुद्र मन्थन चल रहा है एवं फलश्रुति के रूप में रत्न-राशि अगले दिनों निकलने ही वाली है। यह मंथन इतना सशक्त और शक्तिशाली है कि संसार की कोई शक्ति उसे रोक नहीं सकती।

"उसका वेग इतना दुर्धर्ष है कि जो कोई उसे रोकना चाहेगा या तो वह खुद समाप्त हो जायेगा अथवा थककर स्वयं को उसके अनुकूल बना लेगा।" आगे वे लिखते हैं कि "अब समाज में न धनपति कहलाने वाले लोग रहेंगे, न दरिद्र-कंगाल, वरन् दोनों की आर्थिक स्थिति एक समान होगी। कोई बात सिर्फ इसलिए मान्य न होगी कि उसे किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति ने कही, वरन् व्यक्ति, देश और समाज को ऊँचा उठाने वाली बात ही अच्छी और उपयोगी समझी जायेगी। लोग उसे ही अंगीकार भी करेंगे, जो कल्याणकारी और लोकोपयोगी मानी जायेगी तथा नीति और न्याय के मानदण्डों के अनुरूप होगी। जन्म के आधार पर कोई बड़ा-छोटा, ऊँच-नीच नहीं होगा, अपितु योग्यता ही इसका आधारभूत मापदण्ड होगा। नर-नारी को समानता मिलेगी और हर क्षेत्र में एकता, समता के उदाहरण दृष्टिगोचर होंगे। नये भगवान और नये इंसान की रचना होगी। पुराण, कुरान, इंजील में से वही बातें स्वीकार्य होंगी, जो समय, समाज और परिस्थिति की कसौटी पर नीति और बुद्धिसम्मत साबित होंगी। पुस्तकें अब सस्ती लोकप्रियता और वाहवाही के लिए नहीं लिखी जायेंगी और न पढ़ी जायेंगी, अपितु उनका एकमात्र लक्ष्य पाठक का आत्म-विकास होगा।'

प्रिंस क्रोपाटकिन ने भी भविष्य का दर्शन किया था। वे अपनी पुस्तक 'क्रान्ति की भावना' में लिखते हैं कि उन्हीं की पुस्तकें जीवित रह सकेंगी, जिनमें तपस्या, विद्या और सेवा का संगम होगा।

प्रिंस कोपाटकिन ने भी भविष्य का दर्शन किया था। वे अपनी पुस्तक 'क्रान्ति की भावना' में लिखते हैं कि "सामाजिक जीवन में ऐसे अवसर आ जाते हैं, जब क्रान्ति एक अनिवार्य आवश्यकता बन जाती है। वह चीख-चीख कर कहती है कि अब आगे इसके बिना किसी तरह काम चलने वाला नहीं। चहुँ ओर संव्याप्त पुराने, सड़े-गले विचारों की जगह नवीन और न्यायसंगत विचार आन्दोलित होने एवं लोगों के जीवन में बलात् अपना स्थान बनाने के लिए उमड़ने-घुमड़ने लगते हैं।" आज हम ऐसे ही क्षणों से गुजर रहे हैं, जब हमें पुराने व प्रतिगामी विचारों को त्याग कर युगानुकूल नूतन विचारधारा को हृदयंगम करना चाहिए, जो स्वयं हमारे लिए और इस युग के लिए कल्याणकारी हो। वास्तविक विचार-क्रान्ति तभी आ सकती है एवं तभी वर्तमान युग का वह स्वप्न साकार हो सकता है, जिसमें "नया भगवान बनायेंगे, नया इंसान रचायेंगे, नया संसार बनायेंगे।"

का स्पष्ट उद्घोष किया गया है। अच्छा हो, हम अपने को स्वयं ही बदल लें, अन्यथा महाकाल की प्रत्यावर्तन प्रक्रिया प्रताडित करके हमें विचार परिवर्तन के लिए बाध्य करने ही वाली है।

अपने युग की असाधारण महाक्रान्ति

विश्व इतिहास में कितनी ही ऐसी महाक्रान्तियाँ हुई हैं जो चिरकाल तक स्मरण की जाती रहेंगी और लोकमानस को महत्वपूर्ण तथ्यों से अवगत कराती रहेंगी। छिटपुट उलट-पुलट तो सामयिक तथा क्षेत्रीय समस्याओं के समाधान हेतु होती ही रहती हैं पर विश्लेषण और विवेचन उन्हीं का होता है जिनमें व्यापकता के साथ-साथ प्रवाह परिवर्तन भी जुड़ा होता है। ऐसी घटनाएँ ही महाक्रान्तियाँ कहलाती हैं।

पौराणिक काल का समुद्र मंथन, वृत्रासुर वध, गंगावतरण, हिरण्याक्ष के बन्धनों से पृथ्वी की मुक्ति परशुराम द्वारा कुपथगामियों का ब्रेन-वाशिंग आदि ऐसी ही महान घटनाओं को प्रमुख माना जाता है, जिन्होंने कालचक्र के परिवर्तन में महान भूमिका निभाई, ऐसा कहा जा सकता है । अन्य देशों के मिथकों में भी ऐसे ही मिलते-जुलते अलंकारिक वर्णन हैं, यदि ये सब सही है तो मानना होगा कि महाक्रान्तियों का सिलसिला चिरपुरातन है।

इतिहास काल में भी कुछ बड़े शक्तिशाली परिवर्तन हुए हैं, जिनमें रामायण प्रसंग, महाभारत आयोजन और बुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन प्रमुख हैं। लंका काण्ड के उपरान्त रामराज्य के साथ सतयुग की वापसी संभव हुई है। महाभारत काल के उपरान्त भारत को विशाल भारत-महान भारत बनाने का लक्ष्य पूरा हुआ। बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन से तत्कालीन वह विचार-क्रान्ति सम्पन्न हुई जिसकी चिंगारियों ने अगणित क्षेत्रों के, अगणित प्रसंगों को ऊर्जा और आभा से भर दिया। वह दावानल अनेक मंचों, धर्म- सम्प्रदायों, सन्त, समाज-सुधारकों और शहीदों के रूप में पिछली शताब्दी तक अपनी परम्परा को विभिन्न रूपों में कायम रखे रहा। प्रजातन्त्र और साम्यवाद की सशक्त नई विचारणा इस प्रकार उभरी जिसने लगभग समूची विश्व-वसुधा को आन्दोलित करके रख दिया। पिछली क्रान्तियों के संदर्भ में इतने ही संकेत पर्याप्त होने चाहिए, जिनसे सिद्ध होता है कि मनीषा जब भी आदर्शवादी ऊर्जा से अनुप्राणित होती है, तो अनेक सहचरों को खींच बुलाती और कार्य कर दिखाती है जिसे आमतौर से मानवी कहना, गले न उतरने पर दैवी अनुग्रह की संज्ञा दी जाती है। पुरातन कालों के ऐसे ही महान परिवर्तनों के साथ जुड़े हुए झंझावातों को अवतार की संज्ञा देकर संतोष कर लिया जाता है। असंभव को संभव कर दिखाने वाले महापराक्रमों को मनीषा की प्रखरता भी जनसहयोग के सहारे सम्पन्न कर सकती है, इसे सामान्य स्तर का जनसमुदाय स्वीकार भी तो नहीं करता।

पिछले महान परिवर्तनों को युगान्तर या युग परिवर्तन भी कहा जाता रहा है । इन दिनों ऐसे ही प्रचण्ड प्रवाह के अवतरण का समय कहा जा सकता है, जिसे पिछले समस्त परिवर्तनों की संयुक्त शक्ति का एकात्म समीकरण कहा जा सकता है। पिछले परिवर्तनों में कितना समय लगता रहा है, इसके संबंध में सही विवरण तो उपलब्ध नहीं पर वर्तमान महाक्रान्ति का स्वरूप समग्र रूप से परिलक्षित होने में प्रायः सौ वर्ष का समय महत्वपूर्ण होगा। यों उसका तारतम्य पहले से भी चल रहा है और पूरी तरह चरितार्थ होने के बाद भी कुछ समय और लगेगा।

अपने समय का महा-परिवर्तन 'युगान्तर' के नाम से जाना जा सकता है। युग परिवर्तन की प्रस्तुत प्रक्रिया का एक ज्वलन्त पक्ष तब देखने में आया, जब प्रायः दो हजार वर्षों से चले आ रहे आक्रमणों-अनाचारों से छुटकारा मिला। शक, हूण, कोल, किरात, यवन लगातार इस देश पर आक्रमण करते रहे हैं। यहाँ का वैभव बुरी तरह लुटता रहा है। विपन्नता ने इतना पराक्रम भी शेष नहीं रहने दिया था, कि आक्रान्ताओं को उलटे पैरों लौटाया जा सके। फिर भी महा-क्रान्ति ने अपना स्वरूप प्रकट किया। दो विश्व युद्धों ने अहंकारियों की कमर तोड़ दी और दिखा दिया कि विनाश पर उतारू होने वाली कोई भी शक्ति नफे में नहीं रह सकती। दोनों महायुद्धों का विनाश-विवरण सामने हैं पर उससे भी बढ़कर विधायी पक्ष उभरकर ऊपर आया। भारत ने लम्बे समय से चली आ रही राजनैतिक पराधीनता का जुआ देखते-देखते उतार फेंका। दावानल इतने तक ही रुका नहीं। अफ्रीका महाद्वीप के अधिकांश देश साधारण से प्रयत्नों के सहारे स्वतंत्र हो गये। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे द्वीपों तक ने राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली।

इसी बीच सामाजिक-क्रान्ति का किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित परिवर्तन नहीं हुआ वरन् उसने समस्त विश्व को प्रभावित किया। दास-दासियों की लूट-खसोट और खरीद-फरोख्त बन्द हुई। इतने पुराने प्रचलन को इतनी तेजी से उखाड़ना संभव हुआ, मानो किसी बड़े तूफान ने सब कुछ उलट-पुलट कर रख दिया हो। राजतंत्र का संसार भर में बोल-बाला था। सामंतों की सर्वत्र तूती बोलती थी। अमीर-उमरा और जमींदार ही छत्रप बने हुए थे। वे न जाने किस हवा के झोंके के साथ टूटी पतंग की तरह उड़ गये। वैभव के प्रतीक विशालकाय और लोहे जैसे सुदृढ़ स्तर के दुर्ग अब केवल खण्डहरों की तरह किसी समय की स्थिति का परिचय मात्र देते हैं। स्त्री और शूद्र के रूप में तीन चौथाई जनता, किसी प्रकार अपने मालिकों के अनुग्रह पर निर्भर रहकर जीवन-यापन भर के साधन मात्र स्वीकार कर लेने पर कामचलाऊ मात्रा में जीवनयापन कर पाती थी। वह

स्थिति अब कहाँ रही? 'नर और नारी एक समान', 'जाति वंश सब एक समान' का निर्धारण प्रायः विश्व के अधिकांश भागों में सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया गया है। व्यवहार में उतरते-उतरते कुछ समय तो लग रहा है और कठिनाई भी अड़ रही है पर देर सबेर में यह समस्या भी पूरी तरह सुलझ जायेगी। समय की बदलती हुई चाल को देखते हुए विश्वास किया जा सकता है।

यह सारे परिवर्तन प्रायः इसी बीसवीं शताब्दी में सम्पन्न हुए हैं जबकि इन प्रतिगामिताओं को जड़ जमाने में हजारों वर्ष लग गये थे।

भूतकाल की समीक्षा आसानी से बन पड़ती है, क्योंकि तथ्यों की रूपरेखा बन चुकी होती है और प्रमाणों का संकलन क्रमबद्ध रूप से हो चुका होता है। वर्तमान का आकलन कठिन पड़ता है क्योंकि बिखरा हुआ होता है और अपरिपक्व स्थिति में भी। फिर भी जो परिस्थितियों का आकलन और पर्यवेक्षण कर सकते हैं, वे देखते हैं कि इन दिनों भी परिवर्तन का प्रवाह कम तीव्र गति नहीं अपनाये हुए हैं।

कठिनाई एक ही अड़ गई है कि विज्ञान, बुद्धिवाद ने तात्कालिक लाभ को प्रमुखता देना और दूरदर्शिता की उपेक्षा करना एक प्रकार का दुराग्रह बना लिया है। इस आवेश के सामने आदर्शवादिता का पक्ष अपनी उपयोगिता और प्रामाणिकता पूरी तरह प्रस्तुत नहीं कर पा रहा है। तात्कालिक लाभ उठाने का प्रचलन इतना अधिक कार्यान्वित होने लगा कि मानवी गरिमा के उपयुक्त आदर्श उपस्थित करने वाले उदाहरण कठिनाई से ही जहाँ-तहाँ दीख पड़ते हैं। इस निराशा ने यह मान्यता बना दी है कि संकीर्ण स्वार्थपरता ही व्यावहारिक और लाभदायक है। भले ही उसके लिए कितने ही छल, प्रपंच, अनाचार और आतंक आदि का सहारा क्यों न लेना पड़े।

भवितव्यता, उत्कृष्टता का पक्ष लेते हुए उसे फलित करने का वातावरण बना रही है, पर निहित स्वार्थों का समुदाय इतना बड़ा बन और बढ़ गया है कि उसे हटाना और उखाड़ना सहज नहीं दीख पड़ रहा है। बुझता हुआ दीपक पूरी लौ उठाता है। रात्रि के अन्तिम चरण में अँधेरा सबसे अधिक गहरा होता है। हारता जुआरी दूना दुस्साहस अपनाता है। 'मरता सो क्या न करता' वाली उक्ति ऐसे ही समय पर चरितार्थ होती है। वैसा ही इन दिनों भी हो रहा है। नीति और अनीति के बीच इन दिनों घमासान युद्ध हो रहा है। कुहराम और धकापेल का ऐसा माहौल है जिसमें सूझ नहीं पड़ता कि आखिर हो क्या रहा है! इस आँख-मिचौनी में धूप-छाँह में किसे पता चल पा रहा है कि हो क्या रहा है; कौन जीत और कौन हार रहा है? इतने पर भी अदृश्य को देख सकते हैं, वे सुनिश्चित आधारों के सहारे विश्वास करते हैं कि सृजन ही जीतता है। विजय सत्य की ही होती है। अतः उज्ज्वल भविष्य का दिनमान उदय होकर रहेगा और आँखों को धोखे में डालने वाला तम मिटेगा।

महाक्रान्ति के वर्तमान दौर में क्या हो रहा है, क्या होने जा रहा है, क्या बन रहा है व क्या बिगड़ रहा है? इसका ठीक तरह सही स्वरूप देख पाना सर्वसाधारण के लिए संभव नहीं। दो पहलवान जब अखाड़े में लड़ते हैं तो दर्शकों को ठीक तरह पता चल नहीं पाता कि कौन हार रहा है और कौन जीतने जा रहा है? पर यह असमंजस अधिक समय नहीं रहता। वास्तविकता सामने आकर ही रहती है। वर्तमान में बिगाड़ होता अधिक दीखता है और सुधार की गति धीमी प्रतीत होती है फिर भी प्रवाह की गति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हम पीछे नहीं हट रहे, आगे ही बढ़ रहे हैं। अनौचित्य का समापन और औचित्य का अभिवर्द्धन ही निष्कर्ष का सार संक्षेप है।

भविष्य का सुनिश्चित निर्धारण तो नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है, वह उसे बना भी सकता है और बिगाड़ भी। बदलती हुई परिस्थितियाँ भी पासा पलट सकती हैं। इतने पर भी अनुमान और आँकलन यदि सही हो तो संभावना की पूर्व जानकारी का अधिकार पता चल जाता है। इसी आधार पर संसार की अनेक योजनाएँ बनती और गतिविधियाँ चलती हैं। यदि भावी अनुमान के संबंध में स्थिति सर्वथा अनिश्चित रहे तो किसी महत्वपूर्ण विषय पर कुछ सोच सकना ही संभव न होगा। अग्रगमन की दिशा में कदम भी न उठ सकेंगे।

यह महाक्रान्ति की बेला है, युग परिवर्तन की भी। अशुभ की दिशा से शुभ की ओर प्रयाण चल रहा है। प्रवाह बह रहा है। तूफान की दिशा और गति को देखते हुए अनुमान लगाया जा सकता है कि वस्तुओं को किस दिशा में धकेला और बढ़ाया जाता है। नदी के प्रवाह में गिरे हुए झंखाड़ बहाव की दिशा में ही दौड़ते चले जाते हैं। तूफानो की जो दिशा होती है उसी में तिनके, पत्ते और धूलि कण उड़ते चले जाते हैं; महाक्रान्ति सदा सृजन और संतुलन के निमित्त उभरती है। पतन और पराभव की बिडम्बनाएँ तो कुसंस्कारी वातावरण आये दिन रचती रहती हैं। पेड़ प[र] लगा हुआ फल नीचे की ओर गिरता है। पानी भी ढलान की ओर बहकर निचाई की ओर चलता जाता है, किन्तु असंतुलन को संतुलन में बदलने के लिए जब महाक्रान्तियाँ उभरती हैं तो उसका प्रभाव-परिणाम ऊर्ध्वगमन, उत्कर्ष, अभ्युदय ही होता है। इसलिए उन्हें ईश्वरेच्छा या भगवान का अवतार भी कहा जाता है। उस उभार को देखते हुए यह सहज विश्वास किया जा सकता है कि भविष्य उज्ज्वल है। हम सब शान्ति और प्रगति का लक्ष्य पाने की दिशा में चल रहे हैं तथा प्राप्त करके भी रहेंगे।

अपने समय की महाक्रान्ति

छोटे सामयिक, स्थानीय एवं वैयक्तिक समस्याओं के उपाय-उपचार छोटे रूप में भी सोचे और खोजे जा सकते

हैं पर जब विपन्नताएँ व्यापक हों तो उनसे निपटने के लिए बड़े पैमाने पर व्यापक तैयारी करनी होती है। नल का पानी कुछ लोगों की जल आवश्यकता पूरी कर सकता है, किन्तु सूखाग्रस्त विशाल भूखंडों के स्थायी समाधान बड़े उपायों से ही बन पड़ते हैं। भगीरथ ने यही किया था हर वर्ष बृहत्तर भारत के उत्तरी भूखण्ड को जल के अभाव में जो त्रास सहने पड़ते थे, उनका समाधान एक दो कुआँ बाबड़ी बना देने से नहीं हो सकता था। अस्तु, दूरदर्शी भगीरथ, हिमालय में कैद पड़ी विशाल जलराशि को गंगा के रूप में विशाल क्षेत्र में दौड़ाने के लिए कटिबद्ध हो गये। फलस्वरूप उसके प्राभाव में आने वाले क्षेत्र समुचित जल व्यवस्था बन जाने से सुरम्य और समृद्ध बन गये।

तथाकथित बुद्धिमान और शक्तिशाली इन दिनों की समस्याओं और आवश्यकताओं को तो समझते हैं पर उपाय खोजते समय यह मान बैठते हैं कि यह संसार मात्र पदार्थों से सजी पन्सारी की दुकान भर है। इसकी कुछ चीजें इधर से उधर कर देना, अनुपयुक्त को हटा देने और उपयुक्त को उस स्थान पर जमा देने भर से काम चल जायगा। समूचे प्रयास इन दिनों इसी दृष्टि से बन और चल रहे हैं। इन्हें ख्याली पुलाव कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी

चोट लगी हो तो महरम पट्टी की जा सकती है पर समस्त रक्त में फैले रक्त कैन्सर या रक्त की विषाक्तता से तो उस उपाय द्वारा नहीं जूझा जा सकता। एक दिन तो कोई किसी को भी मुफ्त में रोटी खिला सकता है पर आये दिन की आवश्यकताएँ तो अपने बलबूते ही हल करनी होंगी। किसी भी दानवीर के सदावर्त भण्डार से सभी का गुजारा चलता रहे, यह भी तो संभव नहीं।

इन दिनों समाज के सामने अगणित विकृतियों का, अवांछनीय प्रचलनों का घटाटोप छाया हुआ है, जिससे निपटा तो जा सकता है पर मिलजुल कर ही। कोई एक व्यक्ति पूरे शहर को साफ रखने का दायित्व नहीं उठा सकता, भले ही वह पहलवान जैसा हृष्ट-पुष्ट एवं लखपति-करोड़पति जैसा समृद्ध ही क्यों न हो। महान परिवर्तन सदैव सामूहिक प्रयासों से ही संभव होते रहे हैं, आगे भी वैसे ही संभव होंगे। दूरदर्शी मनीषा को प्रस्तुत माहौल में एक काम अवश्य करना होगा- प्रस्तुत समस्याओं के कारण एवं निवारण के विषय में धैर्यपूर्वक शांतचित्त से सोचना।

वस्तुतः आज मानवी चिंतन, चरित्र तथा व्यवहार बुरी तरह गड़बड़ा गया है और उसकी स्थिति विक्षिप्तता ग्रस्तों की तरह हो गई है। इसी कारण ऐसे ऊटपटांग काम होने लगे हैं जिनसे अपने व दूसरों के लिए विपत्ति ही चारों ओर छायी दीख पड़ती है। पगलाये व्यक्ति द्वारा की गयी तोड़-फोड़ की मरम्मत तो होनी चाहिए पर साथ ही उस उन्माद की रोकथाम भी होनी चाहिए जिसने भविष्य में भी वैसी ही उद्दण्डता करते रहने की आदत अपनाली है।

सोचने पर घबराहट होती है कि आसमान में टँगे ग्रह, नक्षत्र, तारक यदि अचानक नीचे गिर पड़ें तो अपने घर-परिवार का तो कचूमर ही निकल जाएगा। सोचा जा सकता है कि जब वे अरबों-खरबों वर्षों से आसमान में टँगे पड़े हैं तो कम से कम अपनी जिन्दगी और गाँव - मुहल्ले की जिन्दगी तक तो टँगे ही रहेंगे। मनुष्य का भटकाव, अनावश्यक भय अथवा पगलाना चिन्ता तो अवश्य उत्पन्न करता है पर ऐसा कुछ है नहीं जिनका सहज समाधान न निकल सके। मनुष्य को गड़बड़ियाँ करते रहने की जहाँ छूट मिली है, वहाँ उसे समझ भी दी गई है कि उलझनों को सुलझाने में सफल हो सके।

अड़चनों से निपटने के लिए योजना बनानी और तैयारी करनी चाहिए। निराश होने से तो मात्र आशंका ही का आतंक रहेगा। यहाँ यह तथ्य भी स्मरण रखने योग्य है कि सामान्यजन अपनी निजी समस्याओं को ही जिस-तिस प्रकार सँभालते, सुधारते रहते हैं पर व्यापक विपत्ति से तो मिलजुल कर ही निपटना पड़ता है। बाढ़ आने, महामारी फैलने जैसे अवसरों पर सामूहिक योजनाएँ ही काम देती हैं। पुरातन भाषा में ऐसे ही महत्वपूर्ण परिवर्तनों को युग परिवर्तन अथवा अवतार जैसे नामों से पुकारा गया है। ऐसे तूफानी परिवर्तनों को 'महाक्रान्ति' भी कहते हैं। क्रान्तियाँ प्रतिकूलताओं से निपटने के लिए संघर्ष रूप में उभरती हैं, पर महाक्रान्तियों के लिए तो दूरगामी योजनाएँ बनानी पड़ती हैं। अनौचित्य के विरुद्ध संघर्ष छेड़ने के साथ-साथ नव सृजन के नियम निर्धारण करने एवं कदम उठाने पड़ते हैं। इसे अपने समय की अदृश्य में पक रही खिचड़ी को महाक्रांति के रूप में जाना जाय, तो भी ठीक है और युग परिवर्तन कहा जाय, 'इक्कीसवीं सदी में उज्ज्वल भविष्य की संरचना' जैसा कुछ नाम दिया जाय, तो भी कोई हर्ज नहीं।

अत्यधिक विशालकाय सुविस्तृत क्षेत्र को प्रभावित करने वाले ५०० करोड़ मनुष्य के चिन्तन प्रवाह को अवांछनीयता से विरत करके, वांछनीयता के साथ जोड़ देने वाले कार्य को कोई एक व्यक्ति न कर सकेगा पर इस तथ्य पर अविश्वास नहीं करना चाहिए कि ऐसे अवसर भूतकाल में भी अनेक बार आये हैं और जब मनुष्य निराश होने लगे हैं तब उनमें नये सिरे से नई हिम्मत भरने के लिए प्रभात काल के अरुणोदय की तरह नये तूफानी प्रवाह उदय होते रहे हैं, जिनके लिए बड़ी से बड़ी उथल-पुथल भी असंभव नहीं होती।

ह्वेल मछलियाँ जब इकट्ठी होकर समुद्र के किसी क्षेत्र में मस्ती मचाती हैं, तो उस परिधि में भी ऐसे तूफान खड़े कर देती हैं, जो छोटी मोटी नाव को देखते-देखते डुबो दें। अमावस्या पूर्णमासी को समुद्र में उठने वाले ज्वार-भाटे भी ऐसे ही लगते हैं, मानो वे शांत सागर को ज्वार-भाटों के सहारे आकाश तक उछाल कर रहेंगे।

मनुष्य के लिए यह सब कर सकना कठिन हो सकता है। पर उस प्रकृति के लिए तो ऐसी उठक-पटक क्रीड़ा-विनोद मात्र है, जो आये दिन विशालकाय ग्रह-पिण्ड रचने और मिटाने का खेल-खिलवाड़ करते रहने में अलमस्त बालकों की तरह निरत रहती है। स्रष्टा की सत्ता और क्षमता पर जिन्हें विश्वास है, उन्हें इसी प्रकार सोचना चाहिए कि गंदगी कितनी ही कुरूपपूर्ण क्यों न हो, वह तूफानी अंधड़ के दबाव और मूसलाधार वर्षा के प्रवाह के सामने टिक नहीं सकेगी।

आज किसी को भी यह नहीं सोचना चाहिए कि मनुष्य दुष्ट चिन्तन और भ्रष्ट आचरण पर ही उतारू रहता है। मनुष्यता समय-समय पर ऐसी, आश्चर्यजनक करवटें लेती रही है, जिसके अनुसार देवमानवों का नया बसन्त नयी कोपलें, नये खेत और नये फूलफूलों की सम्पदा लेकर सभी दिशाओं में अट्टहास करता दीख पड़ता रहा है। महामानवों, देवपुरुषों, मनीषियों सुधारकों, स्रजेताओं का ऐसा उत्पादन होता रहा है, मानो वर्षा ऋतु में अगणित वनस्पितियों और जीव-जंतुओं की नई फसल उगाने की सौगन्ध खाई हो। अगले ही दिनों आने वाले दशक में नये स्रजेताओं की एक नई पीढ़ी ऐसी विकसित होगी, जिसके सामने अब तक के सभी संतों, सुधारकों और शहीदों के पुरुषार्थ छोटे पड़ जायेंगे, ऐसा विश्वास किया जाना चाहिए।

महाक्रान्ति सुनिश्चित एवं अति निकट

मंत्रिमण्डल जब तक राज-काज ठीक चलाता रहता है तब तक ढर्रा यथावत् चलता रहता है पर जब अव्यवस्था या अराजकता फैलती है तो फिर राष्ट्रपति शासन लागू होता है और अयोग्य शासकों को पदच्युत करके सत्ता का केन्द्रीयकरण कर लिया जाता है। इन दिनों समष्टि स्तर पर ऐसा ही कुछ होने जा रहा है। तथाकथित प्रगतिशीलता ने मनुष्य को इतना उद्धत और अहंकारी बना दिया है कि वह अपने निर्धारणों पर पुनर्विचार करने तक को तैयार नहीं है।

स्रष्टा की एक सुनिश्चित प्रक्रिया है कि जब-जब औचित्य व नीतिमत्ता का पराभव और अनौचित्य का विस्तार होगा तब-तब प्रबल प्रतिक्रिया के रूप में सत्ता स्वयं अवतरित होकर रहेगी और तब तक अपने प्रयास जारी रखेगी जब तक कि असन्तुलन की धुरी अपना उचित स्थान ग्रहण न कर ले।; इस वचनबद्धता पर विश्वास किया जाना चाहिए। अनौचित्य चिरस्थाई नहीं हो सकता उसे घड़ी के पेण्डुलम की तरह एक सीमा तक आगे बढ़ने के बाद वापस लौटना पड़ता है। यह उपक्रम न चले तो संसार का निर्धारित क्रम ही गड़बड़ा जाय। बिना पेण्डुलम की घड़ी का चक्र कैसे घूमे ?

मनुष्य इन दिनों की परिस्थितियों से चिन्तित न हो सो बात नहीं है। वह कुछ करने के लिए उपाय भी सोचता है, प्रचलनों का प्रतिगामी प्रवाह इतना द्रुतगामी है कि सुधार परिष्कार का प्रयास कुछ जम ही नहीं पाता। बालू का महल प्रचण्ड अंधड़ के प्रवाह में यथास्थान टिके रहना तो दूर उड़कर कहीं से कहीं चला जाता है और जहाँ दीवार खड़ी की गई थी वहाँ उनके लकीर जैसे निशान भी नहीं दीख पड़ते। अब तक के सुधार-प्रयास वैसे ठोस परिणाम प्रस्तुत नहीं कर सके हैं, जैसी कि आशा अपेक्षा की गई थी। ऐसी दशा में सर्वसाधारण के मन में निराशा उत्पन्न होना स्वाभाविक है। जो जीतता है उसी का समर्थन करने के लिए दुर्बल मन लुढ़क जाता है। पानी के तेज प्रवाह को चीरते हुए उलटी दिशा में साहसपूर्वक छरझराते हुए आगे बढ़ते जाना किन्हीं सशक्त मगरमच्छों से ही बन पड़ता है। प्रवाह से प्रतिकूल दिशा में कोई बिरले ही चल पाते हैं।

ऐसी विकट घड़ियों में निराशा के अंधकार को चीरते हुए प्रभातकाल का ब्रह्ममुहूर्त्त उदय होता है। उसके पीछे पीछे अरुणोदय की ध्वजा फहराते हुए उषाकाल चला आता है। जब प्रतिकूलता झीनी पड़ती है तो अनर्थ भी अपने कदम पीछे हटा लेता है और उसे चुनौती देने के लिए अकेला मुर्गा भी मैदान में खड़े होकर गर्दन ऊँची उठाकर, तनकर बाँग लगाता देखा जाता है। कहाँ व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ सफल अंधकार और कहाँ अकेला निहत्था मुर्गा, फिर उसके साहस के पीछे प्रभात के आगमन की सुनिश्चित संभावना ही काम करती है। यह विश्वास उसके मनोबल को सैकड़ों गुना आगे बढ़ा देता है और तीखी बाँगें लगाकर सारे सम्पर्क क्षेत्र में नवजागरण का संदेश देता है; इन दिनों भी यही हो रहा है।

भ्रष्ट चिन्तन और दुष्ट आचरण के विरुद्ध एक प्रचण्ड विचार -क्रान्ति का अवतरण हो रहा है। ऐसा अवतरण जिसने कि किसी समय धरती की प्यास बुझाने के लिए गंगा को स्वर्ग का आनन्द छोड़कर धरती पर बहने और खेत-खेत को सींचने के लिए बाधित किया था। ऐसे अवतरण जिसमें कि अरुणोदय होते ही अंधकार के विशाल साम्राज्य को देखते-देखते तिरोहित होना पड़ता है।

असुरता के शक्तिशाली साम्राज्य पृथ्वी के अधिकांश भाग को शिकंजे में कसे हुए थे पर उसे कुचल देने के लिए जब मनुष्यों तक ने इनकार कर दिया तो रीछ-वानरों की मण्डली अपनी अदक्षता से परिचित होते हुए भी मैदान में कूदी और उसने वह कर दिखाया जिस पर सहज विश्वास भी नहीं होता। समुद्र छलाँगना, पर्वत उठाना, लंका जलाना एक बन्दर के लिए संभव हो सकता है? इस गुत्थी को बुद्धि न समझ सकती है, न समझा सकती है। इस गुत्थी के समाधान में वह विश्वास ही काम दे सकता है, जिसका

प्रतिपादन है कि अनाचार को एक सीमा से आगे नहीं बढ़ने दिया जा सकता।

पराजितों की शक्ति भी समवेत होकर कभी-कभी अपनी समर्थता का अद्भुत परिचय देती है। हारे हुए देवताओं की शक्ति-सामर्थ्य को संगठित करके प्रजापति ने देवी दुर्गा की रचना की थी और उसके अदृश्य हाथों ने दृश्यमान महाबलशाली, मधुकैटभ, महिसासुर, शुंभ-निशुंभ जैसे दुर्दान्त दैत्यों को धरती में मिला दिया था। मनुष्य की हड्डियों से बना बज्र वृत्रासुर जैसे त्रैलोक्य विजयी को चकनाचूर कर सकता है । इस पर बुद्धि भले ही विश्वास न करे पर श्रद्धा को स्वीकार करना पड़ता है कि सत्य और न्याय साथ हों तो सावित्री जैसी महिला काल का रास्ता भी रोक सकती है और उसके शिकंजे से अपने पति को छुड़ाकर जिन्दा कर सकती है। इतना तो भीष्म ने भी मौत से कह दिया था कि बिना उत्तरायण आए मैं तुम्हारे साथ नहीं चल सकता, मरजी हो तो निर्धारित मुहूर्त्त पर आ जाना तब मुझे तुम्हारे साथ चलने में आपत्ति न होगी।

सत्य के अपराजित होने पर जिन्हें विश्वास है वे काल से भी मोर्चा लेते रह सकते हैं और यथार्थता को विजयी बनाने के लिए बुद्ध, गाँधी की तरह अन्तिम साँस पूरी होने तक लड़ते रह सकते हैं। श्रद्धा और विश्वास की शक्ति अजेय जो है।

इन दिनों जिधर नजर डालकर देखते हैं अनर्थ का ही बोलबाला दिखता है। पाप की विजय दुंदभी बज रही है। कुम्भकरण का खुलता हुआ मुँह असंख्य को चबैने की तरह चबाता दीखता है। पृथ्वी को चुरा ले जाने वाले हिरण्याक्षों की कमी नहीं। इतने पर भी कोई अदृश्य शक्ति कहती है कि उसकी नियत मर्यादाओं का उल्लंघन देर तक नहीं चल सकेगा। आसमान पर कीचड़ उछालने वालों कुकृत्य उनके चेहरे को ही कालिमा से लपेट देगा।

बीसवीं सदी के अन्तिम दिनों तक अनाचार को जीतते देखा जाता रहा है। मरते समय चींटी के पंख उग आते हैं। मरने वाले पतंगे दीपक की लौ बुझाने के लिए कूदते हैं पर अपनी जान गवाँ बैठने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते कौरवों की विशालकाय सेना पाण्डवों के छोटे-से समुदाय के सामने देर तक खड़ी नहीं रह सकी थी। आग की चिनगारी को जब विफरने का मौका आता है तो विशाल क्षेत्र में फैली वन-सम्पदा को दावानल बनकर कुछ ही समय में भस्मसात् करके रख देती है, जब तूफान आते और घटाटोप बरसते हैं तो धरती पर दूर-दूर तक फैले तिनके, कचरे को न जाने कहाँ से उड़ाकर कहाँ पहुँचा देते हैं कि ढूँढ़ने पर उनका पता नहीं चलता।

समय चक्र परिवर्तनशील है। वह एक जैसी ही स्थिति में कभी रहता नहीं। बच्चा किशोर बनता है, किशोर से जवान, जवान से प्रौढ़, प्रौढ़ से जराजीर्ण बनता और मरने के बाद नया जन्म धारण कर लेता है। यह भ्रमणशील गतिचक्र कभी किसी के बूते रुका नहीं है। इन दिनों भी किसी को ऐसे मन छोटा नहीं करना चाहिए कि प्रस्तुत विपन्नताएँ, विभीषिकाएँ, अवाँछनीयताएँ, दुष्प्रवृत्तियाँ आगे भी इसी प्रकार जड़ जमाए बैठी रहेंगी। उनका बदलना निश्चित है। इस निश्चय में इतना और जोड़ लेना चाहिए कि महाक्रान्ति का समय अति निकट है। इक्कीसवी सदी अण्डे का छिलका तोड़कर बाहर निकलने का प्रबल पुरुषार्थ कर रही है। उसे मनोरम चूजे की तरह उछलता-फुदकता हम सब निश्चित रूप से देख सकेंगे। शांतिकुंज के प्रयास इन दिनों इसी दिशा में गतिशील है।

समग्र परिवर्तन की बेला आ पहुँची

काल गणना के संदर्भ में 'युग' शब्द का उपयोग अनेक प्रकार से होता है। इन दिनों जिस प्रचलन या प्रभाव की बहुलता होती है उसे उसी नाम से पुकारा जाने लगता है, जैसे ऋषियुग, सामंतयुग, जनयुग आदि। रामराज्य के दिनों की सर्वतोमुखी प्रगति, शांति और सुव्यवस्था को सतयुग के नाम से जाना जाता है। कृष्ण की विशाल भारत निर्माण संबंधी योजना के एक संघर्ष पक्ष को महाभारत नाम दिया जाता है। परीक्षित के काल में कलियुग के आगमन और उससे राजा के संभाषण अनुबंधों का पुराण गाथा में वर्णन है। अब भी रोबोट युग, कम्प्यूटर युग, विज्ञान युग आदि की चर्चायें होती रहती हैं। अनेक लेखक अपनी रचनाओं के नाम युग शब्द जोड़कर करते हैं जैसे यशपाल जैन का 'युग बोध' आदि। यहाँ युग शब्द का अर्थ जमाने से है। जमाना अर्थात् उल्लेखनीय विशेषता वाला जमाना, एक एरा एक पीरियड इसी संदर्भ में आमतौर से युग शब्द का प्रयोग होता है।

एक ओर मान्यता पंचांगों में अनेकानेक संवत्सरों के आरम्भ से शुरू होती है। ज्योतिष का एक मत ऐसा ही है जबकि युगों का समय लाखों, करोड़ों वर्षों का बताया गया है और सभ्यता के विकास को उस आधार पर अरबों-खरबों वर्ष बीत चुके हैं और अभी अपने समय के तथाकथित कलियुग का अंत होने में लाखों वर्ष शेष हैं। यह ऐसी काल गणनाएँ हैं जिन्हें पौराणिक अलंकारिक भाषा के अंतर्गत ही स्थान मिल सकता है। मिथक ही इन किंवदंतियों के पक्षधर हो सकते हैं अन्यथा इतिहासकारों, नृतत्ववेत्ताओं और भू-भौतिकी के जानकारों के अनुसार विकसित मानवी सभ्यता के जो चिह्न मिले हैं, वे दस हजार वर्ष से पुराने नहीं है।

यहाँ युग से अर्थ विशेषता युक्त समय के रूप में लिया गया है। 'युग निर्माण योजना' आंदोलन चलाने के प्रयास में भी इसी मान्यता का बाहुल्य रहा है। युग प्रभात, युग गीत, युग संधि आदि शब्दों का उल्लेख इसी अभिप्राय से किया गया है कि अबकी अवांछनीयता युक्त परिपाटियाँ बदलकर नये स्वरूप में विकसित-विनिर्मित होंगी। कली खिलकर फूल बनती है। बीज बदलकर अंकुर बन जाता है। अण्डे उड़ने वाले पक्षी का रूप धारण कर लेते हैं तो कोई कारण नहीं कि इन दिनों जो प्रचलन स्वभाव-अभ्यास में आ गया है वह उसी प्रकार का सदा-सर्वदा बना रहे । वनस्पतियाँ गाय के पेट में जाकर दूध बनती हैं। दूध का स्वरूप घी में बदल जाता है और घी का परिवर्तित स्वरूप मिष्ठान बनकर सामने आता है, तो यही परिवर्तन प्रक्रिया मनुष्य के चिंतन और व्यवहार में परिवर्तन न ला सके ऐसा कोई कारण नहीं। मधुमक्खियाँ फूलों के पराग से जहाँ मधु बना सकती हैं तो प्रबल प्रयत्न द्वारा परिस्थितियों में वांछनीय परिवर्तन प्रस्तुत न किया जा सके ऐसी कोई बात नहीं।

इस प्रकार के परिवर्तन और प्रयासों के लिए विशेष प्रकार के आरंभ से लेकर आधार खड़े होने तक के समय को यदि युग-संधि नाम दिया जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। बारह वर्ष की अवधि को व्यावहारिक युग भी कहा जाता है। युग संधि की अवधि जो १९८९ से आरंभ होकर २००१ तक चलने वाली है, को भी इसी स्तर का मानकर चला जाय तो उसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे अमान्य किया जाय।

मनुष्य जीवन के हर बारह वर्ष में एक नया मोड़ आता है। इससे पहले चलते रहे स्वरूप में, आकृति और प्रकृति बहुत कुछ बदल जाती है। १२, २४, ३६, ४८, ६० और ८० आयु का यदि बारीकी से अंतर किया जाय तो प्रतीत होगा कि नाम में तो अंतर नहीं पड़ा है, पर आकार-प्रकार में असाधारण स्तर का अंतर उत्पन्न हो गया। इतना बड़ा अंतर जिसे बाहर वाले सहज पहचान भी न सकें। जन्मकाल और जराजीर्ण मरण काल के अथवा मध्यवर्ती परिवर्तनों वाले विरामों का अंतर यदि मापा जाय तो प्रतीत होगा कि एक ही व्यक्ति के स्तर में असाधारण स्तर के मोड़ आये और परिवर्तन हुए । वह कुछ से कुछ बनता चला गया। इन मोड़ों को भी यदि जीवन प्रवाह का परिवर्तन कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी।

वृक्षों के तनों पर क्रमशः चढ़ती-बदलती परतों का अध्ययन करने वालों ने सूक्ष्म अध्ययन करके जाना है कि प्रकृति चक्र का प्रभाव उनमें आवश्यक परिवर्तन करता, अनुदान देता चला गया है। इसमें हर बार नियमित रूप से प्रायः ग्यारह-बारह वर्ष का अंतर रहा है।

वनस्पतियों के बाह्य स्वरूप में तो प्रायः बहुत बड़ा अंतर नहीं होता पर उनके अंतर पाये जाने वाले सूक्ष्म रसायनों की मात्रा घट-बढ़ जाती है। इसलिए उनकी जाँच-पड़ताल के आधार पर लोगों की शारीरिक स्थिति में परिवर्तन आ जाने के कारण औषधि निर्माण के नये निर्धारण करने पड़ते हैं। यदि न किये जायें तो वह परंपरावादी चिकित्सा पद्धति आधुनिकतम न रहकर अपनी उपयोगिता गँवाती जाती है। अंतरिक्ष में होते रहने वाले परिवर्तनों का प्रभाव वृक्षों और वनस्पतियों पर पड़ता है। उसके पीछे भी एक प्रकृति चक्र काम करता है और वह प्रायः बारह वर्ष की धुरी पर घूमता है।

मनुष्य शरीर की कोशिकाएँ प्रायः पुरानी होकर मरती और नयी जन्मती रहती हैं। यह क्रम लगातार चलता है। प्रायः बारह वर्ष में पुराने सभी कोश बदल जाते हैं और उनके स्थान पर नये आ जाते हैं। यह कायाकल्प जैसे अंतर शरीर के आन्तरिक क्षेत्र में होते रहते हैं और उनकी मोटी दृष्टि से देखने पर बाहर से कुछ भी पता नहीं चलता फिर भी बारह वर्ष में हर शरीर का कोशीय कायाकल्प होते रहने की बात विज्ञानसम्मत है।

स्वभावों में मानसिक चिंतन और आकर्षण, निर्धारणों में भी यह परिवर्तन लहराते देखे जाते हैं। बच्चे और बूढ़े के बीच जो अन्तर पाये जाते हैं। वे हर बारह वर्ष की सीढ़ी पर पैर जमाते हुए कहीं से कहीं पहुँचते हैं। इन बारीकियों को जहाँ ध्यान में रखा जाना संभव होता है वहाँ तदनुरूप सुधार-सहयोग की भी व्यवस्था बन पड़ती है और जिस लक्ष्य तक पहुँचना है उसकी यात्रा बिना गड़बड़ाये सुनियोजित ढंग से चलती रहती है। संस्कार कराने की पद्धति हिन्दू धर्म में प्रायः इसी आधार पर विनिर्मित की गयी है।

समस्त आकाश का स्वरूप निर्धारित करने के लिए उस विशाल क्षेत्र को बारह राशियों में बाँटा गया है। इसी से मिलता-जुलता एक छोटा विभाजन सौर मंडल का भी किया गया है। पंचांगों का निर्माण प्रायः उसी आधार पर होता है। ज्योतिष का ग्रह-गणित भी प्रायः इसी पर निर्भर रहता है। अन्तरिक्ष में, समुद्री हलचलों में, ऋतु प्रभावों में प्रायः इसी के अनुरूप सूक्ष्म परिवर्तन होते रहते हैं। उन्हीं को आधार मानकर खगोलवेत्ता कई प्रकार के फलादेश प्रस्तुत करते रहते हैं। बारह महीनों का वर्ष माना जाने के पीछे भी कालगणकों ने इसी आधार को अपनाया है।

सूर्य में धब्बे के रूप में जाने वाले विस्फोट भी लगभग बारह वर्ष के अन्तर से ही अपने तूफानों में परिवर्तन करते रहते हैं। उनके प्रभाव प्रायः पृथ्वी समेत सौरमंडल के अन्य ग्रहों, उपग्रहों पर पड़ते हैं। इस प्रभाव को अन्तरिक्ष विज्ञानी अनुभव करते हैं। कीट पतंगों की प्रजातियों में भी धीमे, सूक्ष्म, अदृश्य परिवर्तन क्रम गतिशील रहते हैं।

महागज, महाव्याघ्र, महासरीसृप महागरुण अचानक धरती से विलीन नहीं हुए, वरन् क्रमिक परिवर्तन ने ही उन्हें छोटे से बड़ा बनाया था और बड़े से छोटे करते-करते उस स्थिति में पहुँचा दिया जिसमें कि वे सामान्य कलेवर लिए हुए अभी भी विद्यमान हैं।

परिवर्तन क्रम में बारह का अंक अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। तपश्चर्याएँ प्राय: बारह वर्ष में पकती हैं। बड़े प्रायश्चित परिशोधन भी इतना ही समय माँगते हैं। पाण्डवों को बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास हुआ था। राम की तपश्चर्या में बारह वर्ष बीते और दो वर्ष युद्ध प्रसंगों में बीते। इसी प्रकार अन्य ऋषि-मुनियों का महामानवों, ऋषियों मनीषियों, वैज्ञानिकों, मूर्धन्यों का प्रतिभा उभार प्राय: बारह वर्ष तक ही एक ढर्रे का रहा है। ध्यानपूर्वक जीवनचर्याओं का वर्गीकरण और अध्ययन करने से यह तथ्य भली प्रकार निखरकर आता है। घड़ी के घण्टे भी तो हर दिन बारह ही बजाते हैं।

युगसंधि के बारे में आम मान्यता यह रही है कि यह सन् १९८९ से २००१ तक के मध्यवर्ती बारह वर्षों की होनी चाहिए। उसमें ध्वंस और विकास के दोनों ही उपक्रम अपने-अपने ढंग से सभी क्षेत्रों में चलने चाहिए। अनौचित्य को घटाने और औचित्य को बढ़ाने के लिए प्रकृति प्रेरणा और मानवी पुरुषार्थपरायणता का क्रिया-कलाप दीख पड़ना चाहिए। स्थिति सूर्योदय और सूर्यास्त काल की परिवर्तनपरायण एवं संघर्षशील स्तर की होनी चाहिए।

संसार में जो कुछ भला-बुरा घटित या विनिर्मित हो रहा है। उसके मूल में एकमात्र तथ्य काम करता है-मनुष्य का विचार प्रवाह, पारस्परिक व्यवहार की उत्कृष्टता, निकृष्टता उसी आधार पर बन पड़ती है। वस्तुओं के उत्पादन विनाश का, सदुपयोग-दुरुपयोग का आधार यही है। मान्यता, आकांक्षा, अभिरुचि, उमंग और प्रेरणा ही यह शक्ति है जो अभीष्ट को विनिर्मित, परिवर्तित करती है। परिस्थितियों का उद्‌भव इसी स्रोत से होता है। उत्थान-पतन की यह धुरी विचारणीय ही है।

अगले दिनों यदि अवांछनीयता को निरस्त और सुखद संभावनाओं को प्रशस्त करना है तो प्राथमिकता जनमानस के परिष्कार को देनी होगी। इस हेतु ऐसी प्रचण्ड विचार क्रांति का व्यापक अभियान आरंभ किया जाना चाहिए। विचार-क्रांति अपने युग की ऐसी प्रचंड-प्रक्रिया है जिसके आधार पर समस्त समस्याओं का एकमात्र और सुनिश्चित हल खोजा जा सकता है। तत्वदर्शियों का कहना है "मनुष्य एक भटका हुआ देवता है।" भ्रांतियों ने ही उसे ऐसे जाल-जंजाल में उलझाया है कि उस कुचक्र में से निकलने और सही मार्ग पर चल पड़ने का अवसर ही नहीं आता।

विचार मनुष्य की मौलिक विशेषता है। उसी के आधार पर वह वनमानुष से नर नारायण स्तर तक सृष्टि का मूर्धन्य कहलाने का अधिकारी बना है। शिक्षा, चिकित्सा, कृषि, पशुपालन, उद्योग, व्यवसाय, ज्ञान-विज्ञान आदि की अनेकानेक उपलब्धियाँ इसी आधार पर हस्तगत कर सकना संभव हुआ है। किन्तु दुर्भाग्य एक ही बात का है कि नीति, व्यवहार, लक्ष्य, उद्देश्य, अनुबंध, अनुशासन जैसे महत्वपूर्ण विषयों में उसने औचित्य के स्थान पर अनौचित्य अपनाया है। यह इस कारण बन पड़ा कि आत्म-गौरव को एक प्रकार से विस्मृत कर दिया गया। कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों के संबंध में उपेक्षा बरती गयी। मर्यादाओं का परिपालन और वर्जनाओं का अनुशासन निभा सकना बन नहीं पड़ा। दुरुपयोग से तो अमृत भी विष बन जाता है। विचार पद्धति को अनौचित्य के साथ जोड़कर जो कुछ बन पड़ा उसमें लाभ का अंश स्वल्प और पतन-पराभव का ही बहुत बड़ा अंश रहा।

सुधार इसी का किया जाना है। परिवर्तन यहीं से आरंभ होना है। इतिहास में राजक्रान्ति, समाजक्रान्ति, आर्थिक क्रान्तियों के वर्णन हैं। पर अब तक समग्र विचार क्रान्ति का एक अनुष्ठान संभव नहीं हुआ, जो चक्रवर्ती शासन की तरह विश्व की चिंतन व्यवस्था को उत्कृष्टता के केन्द्र पर केन्द्रित रखे। दार्शनिक हेर-फेर होते रहे हैं। सम्प्रदायों में नई कलियाँ फूटती रही हैं। प्रथा-परपंराओं के परिवर्तन और नये समन्वय होते रहे हैं। सांस्कृतिक उथल-पुथल भी होती रही है पर विचार क्षेत्र में ऐसी महाक्रान्ति अभी तक नहीं हुई जो मनुष्य को मानवी दृष्टिकोण के साथ घनिष्टतापूर्वक जोड़ती, औचित्य एवं विवेक को सर्वमान्य बना पाने में सफल होती। इसी कमी का प्रतिफल है कि अपने अपने ढंग की अवांछनीयताएँ पनपती रही हैं। विचारों की सर्वोपरि शक्ति का जिन्हें ज्ञान है उन्हें यह भी विदित है कि विचार जिस ओर भी समग्र संकल्प और पुरुषार्थ को साथ लेकर चल पड़ते हैं, उसी क्षेत्र की आश्चर्यजनक प्रगति के सरंजाम खड़े करते रहते हैं। संसार में जो कुछ हुआ है या होने जा रहा है उसे एक मात्र विचार-शक्ति की उपलब्धि ही मानी-जानी चाहिए। भली होने पर वही उत्थान के सरंजाम जुटाती है और बुरी होने पर वही पतन-पराभव के अंबार खड़े कर देती है। विलास और वैभव में रुचि लेने लगती है तो उसमें भी कमी नहीं रहती। उद्दंडता पर उतरती है तो हाहाकार खड़े कर देती है। क्रियाकलापों, चेष्टा, विधानों, सरंजामों और सफलताओं की चर्चा तो बहुत होती रहती है पर उसके मूल में निमित्त कारण क्या रहा है? इसका पर्यवेक्षण करने पर एक ही निष्कर्ष निकलता है कि विचार प्रवाह ही वह बाजीगर है जिसकी उँगलियों से बँधे हुए तार परिस्थितियों और उपलब्धियों की कठपुतलियाँ नचाते और चित्र-विचित्र कौतुक-कौतूहल खड़े करते रहते हैं।

होता यह रहा है कि अनापेक्षित क्रिया-कलापों को रोकने के लिए भर्त्सनाओं और प्रताड़नाओं के अवरोध काम में लाये जाते रहे। होता यह भी रहा है कि अभीष्ट प्रगति के लिए सुविधा-साधन जुटाने के प्रबंध होते रहे पर यह भुला दिया गया कि यह सब आवश्यक होने पर भी पर्याप्त नहीं है। जब तक विचार विश्वास, साहस और पुरुषार्थ का आंतरिक वर्चस्व उभारा न जायेगा तब तक कोई भी प्रयास परिणाम स्थायी न हो सकेगा। विपन्नताओं में फँसने के लिए अवांछनीय मान्यताएं भी विवश करती हैं। ऊँचा उठने के लिए वह उत्कृष्टता चाहिए जो सद्‌गुण

और सत्प्रवृत्तियों के रूप में प्रकट होती और कोयले जैसी परिस्थितियों को उपयुक्त तापमान देकर हीरे में परिणत करती है।

संसार में वस्तुओं का इतना अभाव नहीं कि किसी को निर्वाह साधनों के संबंध में अभावग्रस्त रहना पड़े। परिस्थितियों में, साधनों में इतनी शक्ति नहीं है कि वह किसी को विशिष्ट और वरिष्ठ बना सकें। हँसती-हँसाती, खिलती-खिलाती जिंदगी जीने के लिए वैभव की बहुलता अपनी कारगर भूमिका नहीं निभा पाती। जबकि स्वल्प साधनों के बीच भी व्यक्ति ऋषितुल्य जीवन जी सकता है और नर काया में रहते हुए भी नारायण स्तर की भूमिका निभा सकता है। स्वयं धन्य होता और संपर्क क्षेत्र को कृतकृत्य करता दीख पड़ता है।

साधन जुटाने और बढ़ाने की चेष्टा को उचित ठहराया और सराहा जा सकता है पर इतने भर से यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि उतने भर से ही कोई सुखी रह सकता है और साथियों को सुखी रहने दे सकता है। अभीष्ट उत्पादन और उसके सदुपयोग की समुचित क्षमता उच्चकोटि के विचारों में ही भरी-पूरी है। यदि वह हस्तगत हो सके तो व्यक्ति कठिन परिस्थितियों से निपटता हुआ अपने अभीष्ट क्षेत्र में अनवरत गति से आगे बढ़ता रहता है। इसके ठीक विपरीत देखा यह भी गया है कि दुर्बुद्धि के रहते प्रचुर साधन संपदा किसी प्रकार हस्तगत हो जाने पर भी उससे केवल अनर्थ ही अनर्थ उपस्थित होता चला जाता है।

इन दिनों संपन्नता, शिक्षा और वैज्ञानिक प्रगति की बात जोर-शोर से कही जाती है। कथन का औचित्य मानते हुए भी इम तथ्य को भी साथ लेकर चलना चाहिए कि गुण, कर्म व स्वभाव में सत्प्रवृत्तियों का समुचित समावेश करने वाली सदाशयता से भी जन-जन को सुसंपन्न किया जाना चाहिए ताकि वह अभावों को अपने बाहुबल से सरलतापूर्वक निरस्त कर सके हर परिस्थितियों में व्यक्तित्व को प्रतिभा, प्रामाणिकता और प्रखरता से सुसंपन्न करते हुए समग्र प्रगति का अधिष्ठाता बना सके। यह विचारक्रांति ही आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। जन-मानस को परिष्कृत करने की बात को उपेक्षा में नहीं टाला जाना चाहिए अन्यथा अपेक्षाकृत संपन्न बनने पर भी मनुष्य न तो चैन से बैठ सकेगा और न संबंधित जनों को चैन से बैठने देगा। निर्धनता बुरी है पर उससे भी हजार गुनी बुरी विचारभ्रष्टता है जिसके कारण दरिद्रता का ही नहीं दुष्प्रवृत्तियों का भी शिकार बनना पड़ता है। समृद्धि का समुचित लाभ उठाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सद्विचारों से उद्‌भूत शालीनता को प्राथमिकता दी जाय और उसे अर्जित करने के लिए प्राणपण से प्रयत्न किया जाय । इसी का नाम है विचार-क्रान्ति। यही है नवयुग की आधारशिला। समग्र परिवर्तन इसी आधार पर होगा।

लोकचिन्तन को उलटने का उपयुक्त अवसर

मनुष्य के संकल्प और सुनियोजित पुरुषार्थ का महत्व कम नहीं है फिर भी समय की अनुकूलता हो तो सफलता कम समय में और अधिक तेजी से मिलती है। हवा का रुख पीछे से आगे धकेलने वाला हो तो पैदल चलने वाले या साइकिल सवार को कम परिश्रम में अधिक दूरी पार कर लेने का अवसर मिलता है। ढलान पर बिना पेट्रोल खर्च किए ही मोटर लुढ़कने लगती है। नदी के बहाव में नावें भी गति पकड़ लेती हैं । लकड़ी के मोटे लट्ठे नदी में तैरते हुए इतनी लम्बी दूरी पार कर लेते हैं, जिसके लिए परिवहन वाले ढेरों किराया माँगते। हवा का रुख अनुकूल देखकर बच्चे पतंगें उड़ाने के लिए दौड़ पड़ते हैं। पनचक्की वाले अपनी मशीन चालू कर देते हैं। किसान बरसात के दिनों में बुवाई करते हैं और फसल को तेजी से बढ़ती पकती देखते हैं। माली भी ऋतु के अनुरूप पेड़-पौधे लगाते और उद्यान की अभिवृद्धि में चमत्कारी प्रगति होती देखते हैं। कुम्हार भी सूखा मौसम देखकर आँवा पकाता है।

रूस में लेनिन जेल में बन्द थे। जब उन्हें मुक्त किया गया तो आश्चर्यचकित होकर उन्होंने पूछा उतनी जल्दी सत्ता परिवर्तन का कठिन काम कैसे सम्पन्न हो गया? विवरण सुनने के उपरान्त उन्होंने जाना कि क्रान्तिकारियों के प्रयासों का समय ने भी साथ दिया और कठिन कार्य सरल हो गया।

भारत की स्वतन्त्रता में सैनानियों का त्याग, बलिदान तो प्रमुख था ही पर उन दिनों अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी ऐसी बन गई थीं जिनमें ब्रिटेन इतनी दूरी पर इतने जाग्रत देश पर देर तक शासन कर सकना सम्भव नहीं देख रहा था। दबाव और झुकाव ने मिल-जुलकर अनुकूलता बना ली। ऐसे घटनाक्रम संसार में अन्यत्र भी बहुत बार घटित हुए हैं। जिनमें मूर्धन्य प्रतिभाओं का उफनता संकल्प, साथ ही लोकमानस का उस सन्दर्भ में भावभरा उत्साह मिलकर ऐसी शक्ति बने जिसके कारण इतनी बड़ी और इतनी महत्वपूर्ण सफलताएँ मिलीं जिन्हें देखकर देखने वाले आश्चर्यचकित होकर रह गये थे। वर्षा की अनुकूलता किसान के श्रम को अनेक गुना लाभदायक बना देती है।

नवयुग के सन्दर्भ में प्रथम आवश्यकता यह समझी गई है कि अवांछनीय चिन्तन को उलट दिया जाय। आज हम सब भ्रान्तियों के युग में जी रहे हैं। भटकाव की दिशा में चल रहे हैं। परिणामतः सुख-सुविधा के लिए किए गए प्रयास कुछ ही समय में अनेक गुनी हानि लेकर सामने आ

उपस्थित होते हैं। फुर्ती, उत्तेजना के लिए पिया गया नशा कुछ समय तो अपना चमत्कार दिखाता है पर थोड़े ही दिनों में पीने वाले के शरीर को पोला और मन को ढीला बनाकर रख देता है। अर्थसंकट, परिवार विग्रह, अपयश जैसी अनेक हेय प्रतिक्रियाएँ सामने आ खड़ी होती हैं। इन दिनों का जीवन दर्शन किसी भी कीमत पर तात्कालिक लाभ उठा लेने का बन पड़ा है। भले ही पीछे यह अनीति-मूलक होने के नाते कितने ही बड़े संकट क्यों न खड़े करे? छोटे-बड़े अपने-अपने क्षेत्र में अपने अपने ढंग से इसी प्रवाह में बह रहे हैं। आदर्शों के प्रति आस्था टूटती जा रही है। मानवी गरिमा के साथ जुड़े हुए गौरव और वर्चस्व की उपेक्षा ही रही है। विवेक को दकियानूस बताकर पीछे धकेल दिया गया है और मनमर्जी की उच्छृंखलता बरतना बड़प्पन समझा जाने लगा है। यह प्रचलन कुछ एक बलिष्ठों को ही अच्छा लगा। सर्वसाधारण को उसका भारी त्रास सहना पड़ा। सोचा जाने लगा कि प्रचलित अनाचार का अन्त होना चाहिए। जिस दुश्चिन्तन को अपनाकर अच्छे-भले आदमी अनाचारी वर्ग में जा सम्मिलित होते हैं उसका अन्त होना चाहिए। ऐसी व्यापक जनभावना ही ईश्वर इच्छा भी बन जाती है। अनाचार की प्रतिक्रिया का नाम ही दैवी अवतार है। प्रतिभाएँ जब संशोधन कार्य में जुटती हैं तो उनकी सहायता में दैवी अनुकूलन का सहयोग भी मिलता है। ध्रुव, प्रह्लाद, हरिश्चन्द्र से लेकर गाँधी बुद्ध तक को दैवी सफलताएँ हस्तगत हुई, जिन्हें मानवी सहयोग के साथ दैवी अनुग्रह भी जुड़ा हुआ कह सकते हैं। महाकाल की अदृश्य व्यवस्था सूक्ष्म जगत में इसका ताना-बाना बुनती रहती है। अनीति को हटाने और नीति को जिताने में उसकी बड़ी भूमिका रहती है। इस तथ्य के पक्ष में इतिहास के अनेक घटनाक्रम ढूँढ़े और प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

यह स्वीकारा जाना चाहिए कि इस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता विचारक्रांति है। लोगों की सोच उस मान्यता के साथ जुड़ गयी है जो तुर्त-फुर्त असीम लाभ पाने के लिए औचित्य को ताक पर उठाकर रख देती है। कहने को कोई नीति-सदाचार का समर्थन वाणी से भले ही करे पर अधिकांश लोगों का आचरण अन्धविश्वासों, ललक, लिप्साओं और चतुरता के सहारे कुछ भी कर गुजरने का स्वभाव बन गया है। इसी आधार पर वे विभूतियाँ उपज पड़ी हैं उनके कारण अनाचार का बोलबाला होता दिखता है। सार्वजनिक हित बुरी तरह आहत होता है।

इस तथ्य को सभी जानते हैं कि मन:स्थिति के अनुरूप ही विचार-संस्थान काम करता है। साधन और सहयोग जुटते हैं। फलत: परिस्थितियाँ बनकर खड़ी हो जाती हैं। परिस्थितियों का प्रत्यक्ष उपचार भी किया जाना चाहिए पर यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि सड़ी कीचड़ की खाई कृमि-कीटकों, विषाणुओं और दुर्गन्ध भरे उफानों का सृजन करती ही रहेगी। जब तक उस उद्गम में भरी सड़न को हटाया न जाएगा तब तक ऊपर से सूखी-गीली मिट्टी का छिड़काव अथवा अगरबत्ती जलाने जैसे उपचार से स्थाई समाधान बन नहीं पड़ेगा। रक्त के अशुद्ध रहते रुग्णता से निश्चिन्तता कहाँ मिलती है? विष वृक्ष के पत्ते तोड़ने से नहीं उसकी जड़ काटने से काम चलता है।

इन दिनों सुविधा-साधन पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़े-चढ़े हैं पर उनके कारण लाभ मिलने के स्थान पर हानिकारक माहौल ही बन रहा है। इस उलटवासी का रहस्य इतना भर है कि जन-मानस में दुर्बुद्धि भर जाने से दुरुपयोग का स्वभाव और अभ्यास बन गया है। फलत: अवांछनीय रीति से प्रयुक्त किया गया अमृत भी विष का काम करता है। शक्तियों का, साधनों का दुरुपयोग होते देखकर एक शब्द में यही कहा जा सकता है कि यह दुर्बुद्धि का कौतूहल है। यदि औचित्य की पक्षधर गतिविधियाँ अपनाई गयी होतीं, तो उनके प्रयोक्ता धन्य हो जाते और प्रस्तुत साधनों के सदुपयोगगर से इन समस्याओं में से एक भी टिक न पातीं जो जन-जन तक को अभावों और अनाचारों के शिकंजे में कसकर नीबू की तरह निचोड़े जा रही हैं।

प्रकृति का उत्पादन इतना कम नहीं है कि प्रस्तुत समुदाय की उचित आवश्यकताओं को पूरा न कर सके। हर पेट को रोटी और हर हाथ को काम मिल सके, इसकी व्यवस्था अत्यन्त सरलतापूर्वक जुटाई जा सकती है। यदि मूर्धन्यों के निहित स्वार्थ आड़े न आएँ और कुछ लोग कुबेर जैसे सम्पन्न बनने की ललक छोड़ दें तो जितना कुछ इन दिनों उपलब्ध है उसी को मिल-बाँट कर खाने पर सभी को सुखपूर्वक जीने का अवसर मिल सकता है। बुद्धिमानों की बुद्धि यदि अनगढ़ और अशिक्षितों को ऊँचा उठाने में लगे तो कोई कारण नहीं कि एक शिक्षित दो अशिक्षितों को पढ़ा लेने का व्रत लेकर आज की संव्याप्त अशिक्षा का समापन देखते-देखते सम्भव न कर सके, व्यक्तिगत विलासिता और अहंमन्यता यदि इतने स्वेच्छाचार पर न उतरे तो तथाकथित सुविकसितों का वैभव-श्रम, कौशल और चिंतन सर्वसाधारण की समस्याओं का सुझाव प्रस्तुत न कर सके।

पिछड़े लोगों पर आलस्य, प्रमाद जैसी नासमझी छाई हुई है तो विकसित वर्ग पर निजी लिप्सा-लालसा भूत पिशाच की तरह हावी है। इन्द्र से कम विलासी और कुबेर से कम सम्पत्तिवान बनने की किसी की आकांक्षा नहीं है। ऐसी दशा में एक ओर खड्ड खुदेंगे और दूसरी जगह टीले उठेंगे। समानता और एकता के अभाव में बिखराव और संग्रह वाली धनीवृत्ति आए दिन संकट खड़े करती रहेगी। भले ही उनके लिए दम दिलासा देने वाले कुछ उपचारों का सिलसिला चलता रहे।

व्यक्ति अपना जीवनचक्र शालीनता का निर्वाह करते हुए किस प्रकार सुनियोजित करें। यदि यह समझ जन जन में जगाई जा सके तो समझना चाहिए कि संसार की आधी समस्याओं का समाधान हो गया। प्रतिमाह यदि औसत

नागरिक स्तर का निर्वाह स्वीकार कर सके तो उनके पास जो असाधारण स्तर की क्षमताओं के भण्डार शेष रह जाते हैं वे पिछड़ों को उठाने में लग सकते हैं और खड्ड टीलों को पाटते हुए समतल भूमि बनाने की युग समस्या का सरलतापूर्वक समाधान कर सकते हैं।

व्यक्तिपरक संकीर्ण स्वार्थपरता, अदूरदर्शिता, उद्धत अहंता, ललक, लिप्सा, वासना तृष्णा यदि किसी रूप में बनी और बढ़ती रहीं तो समझना चाहिए कि चल रहे सुधार-उपचार मन बहलाव के कौतुक-कौतूहल बनकर रह जाएँगे। सही रूप में स्थायी समाधान तभी सम्भव होगा जब मनुष्य की मानवी गरिमा, मर्यादा और वर्जना के प्रति निष्ठा उत्पन्न होगी। यह उत्पादन जहाँ भी जिसके यहाँ भी, जब भी उठ खड़ा होगा समझना चाहिए कि उसकी शक्ति और सामर्थ्य हजार गुनी हो गई और इतने भर से लोग मिलजुलकर उन सभी समस्याओं का हल कर लेंगे, जिनका घटाटोप भावी विकास की अनन्त सम्भावनाएँ लेकर उमड़-घुमड़ रहा है।

व्यक्तियों से मिल कर समाज बना है। व्यक्ति गया-गुजरा होगा तो समाज की दुर्दशा बनी ही रहेगी। दुरुपयोग के रहते उस सभी उपार्जन का सत्यानाश होता रहेगा जो धन, बल, बुद्धि, कौशल आदि के नाम से जाना जाता है; इसके आधार पर कुछ लोग सुखी सम्पन्न हो सकते हैं पर सर्वसाधारण के पिछड़ेपन को वे मुँह मोड़कर ही देखते रहेंगे व उपलब्धियों का अपव्यय ही करते रहेंगे।

विचार शक्ति इस विश्व की सबसे बड़ी शक्ति है। उसी ने मनुष्य के द्वारा इस उबड़-खाबड़ दुनिया को चित्रशाला जैसी सुसज्जित और प्रयोगशाला जैसी सुनियोजित बनाया है। विनाश करना होगा तो भी वही करेगी। दीन, हीन और दयनीय स्थिति में पड़े रहने देने की जिम्मेदारी भी उसी की है। उत्थान-पतन की अधिष्ठात्री भी तो वही है। वस्तुस्थिति को समझते हुए इन दिनों करने योग्य एक ही काम है 'जन मानस का परिष्कार'। इस को विचार-क्रान्ति का नाम दिया गया है। इसी की सफलता-असफलता पर विश्व का मनुष्य का उत्थान-पतन पूरी तरह निर्भर है। प्रमुखता और प्राथमिकता इसी को मिलनी चाहिए। विश्वात्मा की यही माँग है। दैवी शक्तियाँ इसी को सम्पन्न करने के लिए उद्यत हैं। प्रयोजन की पूर्ति के लिए जो कदम बढ़ाएँगे वे पाएँगे कि हवा अनुकूल चल रही है। ऐसी अनुकूल जिसमें अभीष्ट की सफलता अत्यन्त सरल सम्भव होती दीख पड़े।

क्रान्तिकारी परिवर्तन-प्रक्रिया से गुजर रहे हम-सब

आश्चर्य इस बात का है कि जितने प्रश्न आज हमारे पास हैं, उससे कहीं ज्यादा उत्तर हैं। लेकिन इतने पर भी जिन्दगी समस्याओं से भरी और उलझनों से घिरी है। प्रत्येक समस्या के अंकुरित होते ही उस पर चारों ओर से समाधानों की बौछार होने लगती है पर कुछ ही क्षणों में सारे समाधान मिट्टी में मिल जाते हैं और समस्या का वट-विटप जन-जीवन को अपनी विषैली छाँव से घेरता दीख पड़ता है। जैसे इन समाधानों ने ही इसे खाद बनकर पोषण दिया और फैलाया हो।

तत्ववेत्ता डी. एस. राबिन्सन के शब्दों में 'बात सही है। मृत समाधान ज्यादा से ज्यादा खाद का काम ही कर सकते हैं।' अपनी पुस्तक 'एन्थोलॉजी ऑफ रीसेन्ट फिलॉसफी' में उन्होंने कहा कि समाधान बहुत हैं लेकिन हैं सब मरे हुए, जैसे मरे हुए आदमी और जिन्दा आदमी के बीच कोई बात-चीत नहीं हो सकती, ऐसे ही हमारे समाधानों और हमारी समस्याओं के बीच कोई बात-चीत सम्भव नहीं। हर सवाल के साथ एक उलझन है कि वह नया है और उसे हमारी तनिक भी परवाह नहीं। समस्याएँ कभी हमसे पूछकर नहीं आतीं। उनके आ जाने पर भी हम पुराने समाधानों को मजबूती से पकड़े बैठे रहते हैं। हमें ऐसा लगता है कि समाधान हमारे पास हैं फिर भी समस्याएँ हल नहीं हो पा रहीं; शास्त्रों की पोथियों से हम घिरे बैठे हैं और जीवन है कि उलझता जा रहा है।

इसके पीछे बुनियादी भूल है- नयी खोज का बन्द हो जाना। जबकि नए प्रश्न नए उत्तर चाहते हैं। नयी समस्या नया समाधान माँगती है। नयी परिस्थितियाँ बदले स्वरों में नयी चेतना को चुनौती दे रही हैं। सच कहा जाय तो उनकी उपज ही इसलिए है *कि मानवी चेतना अपने नित* नए आयाम विकसित कर सके। मनोवैज्ञानिक बाल-मन के सामने तरह-तरह की उलझन भरी पहेलियाँ रखने का सुझाव देते हैं। प्रत्यक्ष में इस तरह के कार्य का अर्थ समय और श्रम की बरबादी है। किन्तु जिन्हें मानव मन के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान है उन्हें मालूम है कि इस तरह की पहेलियों को हल करने में लगी बुद्धि की विश्लेषण-विवेचन क्षमता अनेक गुना बढ़ सकेगी। ठीक इसी तरह से सामूहिक और वैयक्तिक जीवन में उभरती समस्याएँ प्रकृति द्वारा प्रस्तुत की जा रही नयी-नयी पहेलियाँ हैं। इन्हें हल करने में संलग्न रहने के कारण ही मनुष्य अपने मन और बुद्धि के इस उत्कर्ष तक पहुँच सका है। ज्ञान की वही विधा अपना सर्वाधिक विकास कर सकी, जिसने नए सवालों की चुनौती को स्वीकार कर नए जबाव खोजने में तत्परता बरती। विज्ञान की शाखा-प्रशाखाओं का रोज होता जा रहा विस्तार इसी का परिणाम है।

यदि यह विकास और विस्तार अवरुद्ध है तो तत्वदर्शन का, जीवन जीने की कलाओं और इसके विज्ञान का। जिन्दगी के व्यापक परिक्षेत्र में उठने वाली समस्याओं का हल खोजने के लिए अभी भी हम सहस्राब्दियों पुरानी

सड़ी-गली पोथियों के बदरंग हो गए पन्ने थामे बैठे रहते हैं, परम्पराओं, प्रथाओं और रूढ़ियों के ढेर में इस कदर उलझ जाते हैं कि विवेक ही गुम हो जाता है। इनमें से किसी की तनिक सी अवहेलना हमें पूर्व पुरुषों का उपहास मालूम पड़ती है।

हमारे सामने इसलिए पहला जीता-जागता सवाल है कि इन मरे हुए उत्तरों को कब विदा किया जायगा? क्या कारण है कि हमने नए उत्तर नहीं खोजें? अगर हमारे पास उत्तर हैं ही रेडीमेड, तो हम नए खोजने की तकलीफ क्यों उठाएँ? मन की तो सहज इच्छा होती है लीस्ट रेसिस्टेंस- की, कम से कम तकलीफ उठानी पड़े । उत्तर तैयार है तो उसी से काम चला लें। एकबारगी हमें पुराने उत्तरों से मुक्त और रिक्त हो जाना पड़ेगा, तभी हम उस बेचैनी में नयी समस्याओं के लिए समाधान खोजने में तत्पर हो पाएँगे।

भविष्य के भव्य महलों का निर्माण तभी सम्भव है जब पुराने खण्डहरों का मोह छूटे। इसका मतलब यह नहीं कि अतीत सर्वथा निरर्थक या हानिकर है। इसका उपयोग प्राचीनता की वास्तुकला को जानने में उन तकनीकी बारीकियों को पकड़ने में है, जिनके आधार पर अतीत की इमारत अपने युग के जीवन को सुखद छाँव प्रदान कर सकी। लेकिन उपयोगिता की सीमा-संकेतों को ग्रहणकर नई शोध करने तक सीमित है। नकल करने के फेर में पड़ने पर हमें सब कुछ गँवा बैठने के लिए विवश होना पड़ेगा।

नई शोध-नया समाधान भारत-भूमि की गौरवमयी परम्परा रही है। इसमें किसी तरह का प्रमाद यहाँ की संस्कृति में सर्वथा वर्जनीय माना गया है, जिसे हम वैदिक युग का स्वर्ण युग कहते हैं यह नए समाधानों की ढूँढ़-खोज का युग था। अर्थ और कर्म की अपेक्षा ज्ञान महत्वपूर्ण था । ज्ञान की खोज में तत्वदर्शन की मीमांसाओं में लगे ऋषि-मुनि समाज में सर्वोपरि सम्मानित पुरुष थे। धर्म सभाओं, यज्ञ आयोजनों का एकमेव उद्देश्य था नए समाधानों से जनसामान्य को अवगत कराना । जब कभी इसमें जड़ता आयी है, समाज और व्यक्ति के कदम पतन की ओर मुड़े हैं। महाभारतकालीन समाज की अव्यवस्थित स्थिति का एक मुख्य कारण यह भी था। उस युग के बौद्धिक वर्ग ने यह मान्यता बना ली थी कि हम सिर्फ प्राचीनता के पूजक होकर जियेंगे, नयी शोध नहीं स्वीकार गे। वेद तीन हैं इनकी संख्या चार नहीं हो सकती। भगवान व्यास ने अपने पुरुषार्थ और नीति बल से इस मान्यता को ध्वस्त किया । महर्षि महाअथर्वण ने ऐसे ढेरों नए समाधान ढूँढ़े थे जिनकी प्रयोजनीयता को सत्य होने के बाद भी नहीं स्वीकारा जा रहा था। व्यास ने इसे लेकर अथर्ववेद की रचना की। नए तत्वदर्शन का विस्तार किया।

इन दिनों की स्थिति बहुत कुछ वैसी ही है, कारण कि दुनिया एक बहुत बड़ी क्रान्ति से गुजर रही है। इस क्रान्ति का काफी कुछ भाग सम्पन्न हो चुका है; बहुत कुछ सम्पन्न होना बाकी है। अगर हम यह न समझ सकें तो सवाल रोज बढ़ते जाएँगे और एक भी हल न निकाल सकेंगे। इस क्रान्ति की तीव्रता को समझाते हुए मूर्धन्य मनीषी जे. वाद्स कनिंघम ने अपने ग्रन्थ 'ह्यूमैनिटी इन इवॉल्यूशन' में कहा है कि ईसा के मरने के अठारह सौ पचास वर्षों में दुनिया का जितना ज्ञान बढ़ा, जितनी तेजी से बदलाव आया पिछले डेढ़ सौ सालों में उतना सम्पन्न हो गया और पिछले डेढ़ सौ सालों में जो कुछ हुआ उतना पिछले पन्द्रह वर्षों मे हो सका। अब आगामी कुछ सालों में जितना कुछ सम्पन्न होने जा रहा है, उसको देखते हुए इन सभी प्रतिमानों को टूटना पड़ेगा।

पुरानी दुनिया को एक सुविधा थी। उसमें बदलाव का फासला इतना लम्बा होता था जिसका कोई हिसाब नहीं। हजारों साल तक यही उत्तर काम देता था इतने पर भी यहाँ जीवन विद्या के तत्वदर्शी ऋषियों ने नए हल की खोज के लिए 'माप्रमदितव्यं' का निर्देश दिया था। अब जबकि बदलाव बहुत तेज है, कुछ ही सालों में दुनिया का नया स्वरूप गढ़ा जाना है। तब बदली हुई दुनिया के लिए नए समाधान की खोज सर्वोपरि आवश्यकता बन चुकी है। बाप-बेटे की उम्र का फासला यों तो बीस साल का दीखता है। लेकिन अगर गिनती ठीक से करें तो अन्तर अठारह सौ साल का मालूम पड़ने लगेगा। क्योंकि पुरानी दुनिया के अठारह सौ सालों में जो बदलाव आता था वह अब पन्द्रह सालों में आ जाता है। ऐसे में इस बदली हुई स्थिति में हल के लिए पुरानी पोथियाँ उलटें तो निराशा का हाथ लगना स्वाभाविक है क्योंकि सारी परिस्थितियाँ बदली हुई हैं।

अब सारा विश्व एक गाँव हो गया है। जितनी देर में हम एक गाँव से दूसरे गाँव पहुँचते थे, आज उतनी देर में हम दिल्ली से लन्दन पहुँच सकते हैं। इन दिनों न केवल मनुष्यता जुड़ गई है बल्कि उसके जुड़ने के तरीके बदले हुए हैं। पहले एक जाति अथवा एक धर्म के अनुयायी ही एक स्थान में रहते थे। अब यह स्थिति नहीं है। वर्ग और आश्रम के मूल आधार बिखर चुके हैं। सामाजिक सम्बन्ध ही नहीं राजनीतिक खाँचा-ढाँचा बदला हुआ है। राजतन्त्र की परिपाटियों को लागू करने की सोच भी अप्रासंगिक बन चुकी है। ऐसे में अनिवार्य बन चुकी है नए तत्वदर्शन की खोज । बदले हुए परिवेश में मनुष्य के भौगोलिक और भावनात्मक सम्बन्धों की व्याख्या समीचीन है। प्रकृति और ईश्वर के साथ मधुर सम्बन्ध आज कैसे बन सकें इसका स्पष्टीकरण अनिवार्य है।

महाकाल की अदृश्य शक्ति, दृश्य हलचलें भविष्य के इसी तत्वदर्शन का ताना-बाना बुनने में लगी हैं पर इतना ही तो पर्याप्त नहीं पूर्णता तो तभी आ सकेगी जब मनुष्य

कुचाल तो कुचाल ही ठहरी। कुचक्र तो कुचक्र ही है। इस दुर्भाग्य को क्या कहा जाय ? अवांछनीय प्रचलनों के रूप में वह उसकी दुर्बल मनःस्थिति पर इस बुरी तरह हावी हो गया है कि निरीह जनसमुदाय उससे आत्मरक्षा कर सकने के लिए पुरुषार्थ करना तो दूर, सोचने तक में समर्थ नहीं हो रहा है।

सद्ज्ञान के इस आलोक की प्रथम किरण जाग्रत आत्माओं के प्राणवान व्यक्तियों के अन्तराल में इस प्रकार चमकनी चाहिए कि वे अपनी स्थिति का पर्यवेक्षण करें और औचित्य-अनौचित्य का वर्गीकरण करके उनमें से उपयोगी का चयन करने का साहस जुटा सकें। यह शुभारम्भ इस निर्धारण के साथ होना चाहिए कि आकांक्षाओं को मोड़ा-मरोड़ा जायेगा, औरों से उपलब्ध करने की ललक और अनावश्यक अपव्यय की लिप्सा पर नियन्त्रण किया जायेगा। रिक्तता न आने पावे इसलिए उसके स्थान पर पारमार्थिक महत्वाकांक्षा को उससे भी अधिक तीव्रता के साथ जगाया जायेगा, जितना कि तृष्णाएँ, ऐषणाएँ उमगती-उफनती रहती थीं।

मध्यकाल में वैराग्य के नाम पर ऐषणाओं का दमन तो किया जाता रहा किन्तु चिरपुरातन की तरह परमार्थ परक संवेदनाओं को उभारा नहीं गया। फलतः तथाकथित साधु-सन्त और भक्त-विरक्त शून्यता के शिकार हो गए। नीरस और निरुपयोगी जीवन जीने लगे। भारभूत बने और उपलब्धियों से वंचित रहने के कारण उपहासास्पद बनते चले गये। लम्बे कटु अनुभव के उपरान्त अब उस भूल को दुहराने की आवश्यकता नहीं है। हमें उस राजमार्ग पर चलना चाहिए जिसे देव संस्कृति के नाम से जाना जाता और परमार्थ परायण पुण्य परम्परा के रूप में अपनाया जाता रहा है।

देने की आकांक्षा का उभार ही देव परम्परा है। भारत के तैंतीस कोटि नागरिक इसी को चिरकाल तक अपनाए रहे और इस धरती को स्वर्गीय वैभव से सुसम्पन्न बनाए रहने का श्रेय पाते रहे। पुनर्निर्माण की प्रभात वेला सामने है। तमिस्रा से उबरने और आलोक-आभा का वरण करने के इस पावन पर्व पर अग्रदूतों के निजी निर्धारण यह होने चाहिए कि वे याचना का पिछड़ापन छोड़कर उदार अनुदानों के अधिष्ठाता बनने के लिए साहस जुटाएँ। इसके लिए संचित कुसंस्कारिता के अभ्यस्त ढर्रे को बदलने सुधारने की हिम्मत जुटानी होगी।

'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष अकाट्य तर्कों-तथ्यों से भरा है। उस नीति को अपनाए बिना और कोई चारा नहीं। युग परिवर्तन के लिए जिस आत्म परिवर्तन की आवश्यकता है उसका शुभारम्भ, श्रीगणेश इस प्रकार होना है कि अमीरी के सपनों को विदा करें और शालीनता की रीति-नीति अपनाने की आत्मनिर्भरता का संकल्पपूर्वक वरण करें। पिछला कदम उठाना और अगला बढ़ाना ही प्रगतिक्रम है दोनों का समन्वय हुए बिना बात बनती ही नहीं।

अवांछनीयता छोड़ देना भर पर्याप्त नहीं। तत्परता को कोई दूसरा काम चाहिए और यह एक ही हो सकता है सृजनात्मक सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन में संलग्नता। दोनों परस्पर पूरक हैं। इनमें से किसी एक को अपनाना और दूसरी को छोड़ सकना किसी भी प्रकार संभव नहीं, जो सेवा धर्म तो अपनाना चाहते हैं और तृष्णाओं से आकुल मनःस्थिति को बदलना नहीं चाहते, उनका मनोरथ पूरा हो नहीं सकेगा या तो तृष्णाओं की व्यस्तता में समय ही नहीं निकलेगा या फिर उन सेवा कृत्यों में ही स्वार्थ साधन के ऐसे उपाय ढूँढ़ेंगे जिनके कारण उलटे परिणाम निकलेंगे। सेवा, सेवक और योजना तीनों ही समान रूप से बदनाम होंगे।

'सादा जीवन-उच्च विचार' का सिद्धान्त शत-प्रतिशत सही है। जो उच्च विचारों का वरण करना चाहते हैं, श्रेय पथ पर चलना चाहते हैं, उन्हें सादगी अनिवार्यतः अपनानी पड़ेगी अन्यथा लिप्सा-लालसाओं के अन्धड़ में उच्च विचार मात्र कल्पना भर बने रहेंगे। चरितार्थ होने की दिशा में दो कदम भी आगे बढ़ न सकेंगे। बढ़ेंगे तो इतनी थकान और कठिनाई अनुभव करेंगे कि जो सोचा था उसे छोड़ बैठने के अतिरिक्त और कोई उपाय बचेगा ही नहीं। उत्कृष्टता अपनाने की बात वहीं से आरम्भ होती है जहाँ से व्यक्तिगत लोभ-मोह पर तृष्णा, अहंता पर लिप्सा-लालसा पर अंकुश लगाने और प्रगति का सफलता का केन्द्रबिन्दु परमार्थ प्रयोजनों के साथ जोड़ने का निश्चय निर्धारण किया जाता है। इतना बन पड़े, सध सकें तो समझना चाहिए कि स्थिति में काया-कल्प जैसा हेर-फेर हो गया। भिखारी का, पराश्रयी का उद्विग्न-असन्तुष्ट सा स्तर उलटकर महामानवों जैसा देव जीवन अभीष्ट हो तो उपरोक्त मार्ग पर चलने के अतिरिक्त और कोई मार्ग है नहीं।

दृष्टिकोण बदले तो परिवर्तन में शीघ्रता

कब किस दान की महिमा अत्यधिक बढ़ी-चढ़ी मानी जाती है? इस प्रश्न के उत्तर में एक ही बात कही जा सकती है कि जब जिस विपत्ति का अत्यधिक प्रकोप हो, तब उसके निराकरण का उपाय ही सर्वश्रेष्ठ दान है। प्यास से संत्रस्तों को पानी, भूख से तड़पतों को अन्न, अग्निकाण्ड का शमन करने के लिए जल, बाढ़ की चपेट से घिरों को नाव, दुर्घटनाग्रस्तों को चिकित्सा-उपचार जैसे उन साधनों की आवश्यकता पूर्ति की जाती है जिनके कारण संकटग्रस्तों को अत्यधिक त्रास सहन करना पड़ रहा है।

वर्तमान समय में आस्था संकट के रूप में और दुर्भिक्ष जन-जन के ऊपर प्रेत-पिशाच की तरह चढ़ा हुआ है। लोग बेतरह भूल-भुलैयों में भटक रहे हैं। दृष्टिकोण में ऐसी विकृति समा रही है कि उलटा सीधा और सीधा-उलटा

दीखता है। कौरवों को नवनिर्मित राजमहल में प्रवेश करते समय जल में थल और थल में जल दीख पड़ा था। इस कारण वे मतिभ्रम में पड़े, दुर्गति को प्राप्त हुए और उपहासास्पद भी बने।

इन दिनों जो चिन्तन, प्रचलन, व्यवहार एवं लक्ष्य अपनाया जा रहा है, यह लगभग उल्टे स्तर का है। हर किसी को आपाधापी पड़ी है। जो जितना भी, जिस प्रकार भी बटोर सकता है उसमें कमी नहीं रहने दे रहा है। साथ ही जो उपलब्ध है, उसका भोंड़ा उपयोग करने में ही अहंकार की पूर्ति मानी जा रही है। उदण्डता ही समर्थता का पर्यायवाची बनने का प्रयत्न कर रही है। आदतों में घुसी पड़ी विकृतियाँ अशान्ति और उद्विग्नता को दिन-दिन बढ़ावा दे रही हैं। असंतोष, खीझ, थकान, निराशा के साथ-साथ आक्रमण और प्रतिशोध का कुचक्र ऐसा चल रहा है जिसका ओर-छोर कहीं दीख नहीं पड़ता।

अपने समय में सबसे बड़ा अभाव और कष्ट यह है कि लोगों को मानवोचित स्तर पर सोच सकना और तदनुरूप क्रिया-कलापों को ढाल सकने में सफल होना कठिन जान पड़ता है। पानी ढलान की ओर से सहज बह निकलता है पर उसे ऊँचा उठाने में असाधारण कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इस सत्साहस के क्षेत्र में चरम सीमा की दुर्बलता छाई हुई है। भ्रष्ट चिन्तन अपनाते ही दुष्ट आचरण बन पड़ने का सिलसिला तो तेजी से चल पड़ता है। यही सामाजिक विकृतियों की उद्गमस्थली है। जहाँ उभरने वाला प्रवाह अपने प्रभाव क्षेत्र में कीचड़ ही कीचड़ भरता है। पाचन तंत्र खराब हो जाने पर बढ़ती हुई विषाक्तता असंख्य आकार-प्रकार के रोग उत्पन्न करने लगती है। ठीक इसी प्रकार विकृत-चिन्तन का अन्धड़ उमड़ पड़ने पर आँखों में धूल भर जाती है और यथार्थता को सही रीति से देख पाना कठिन पड़ता है। क्रियाएँ अपने आप नहीं बन पड़तीं। उनके पीछे आकांक्षाओं, मान्यताओं एवं विचारधाराओं का गहरा पुट रहता है। शरीर मन का वाहन है। उसे वही करना पड़ता है जिसके लिए मनरूपी संचालक उसे निर्देश देता और दबाव डालता है। दृश्यमान अनाचार के पीछे बौद्धिक दुश्चिन्तन ही अपनी समग्र भूमिका निभाता है। कठपुतली को बाजीगर के इशारे पर ही तो नाचना पड़ता है।

सुधार का उपचार करना हो तो एक ही उपाय अपनाना पड़ेगा कि कुविचारों के प्रभावों को मोड़ा और उसकी दिशाधारा को सदुद्देश्यों के साथ जोड़ा जाय। इतना बन पड़ने पर वह सब सरल हो जायेगा, जो इन दिनों अपेक्षित है। विचारों की गंदगी यथावत् बनी रहनेपर मनुष्य रच तो सज्जनता और उदारता के पाखण्ड भी सकता है पर उनके पीछे श्रेष्ठ आधार न होने पर रची हुई विडम्बना कागज की नाव जैसी अपनी असमर्थता प्रदर्शित करने लगती है।

संसार के कोने-कोने में स्थानीय परिस्थितियों और प्रचलनों के अनुरूप असंख्य प्रकार की अवांछनीयताएँ अनेक रूप में उभरती देखी जाती हैं। सोचने वाले उन सब को स्वतंत्र समस्या समझकर सामयिक एवं स्थानीय उपाय ही अपनाते हैं। इसका परिणाम आहात स्थान पर सुन्न करने वाले लेप लगा देने जैसा होता है। हाथों-हाथ तो कुछ सुधार दीख पड़ता है पर जैसे ही उस लेप का प्रभाव हलका होता है व्यथा ज्यों की त्यों फिर उभर आती है। इस खिलवाड़ में समय नष्ट करते रहने की अपेक्षा उपयुक्त यही है कि विचार-क्रान्ति का तूफानी सरंजाम जुटाया जाय और उसे इतना प्रबल-प्रचण्ड बनाया जाय कि जो कुछ भी कचरा जहाँ भी गया है वह अन्धड़ के साथ उड़ता और कहीं से कहीं पहुँचता जाता दिखाई पड़े। प्राकृतिक सफाई तो तूफानी अन्धड़ और घटाटोप वर्षा का प्रबल-प्रवाह ही व्यापक रूप से सम्पन्न कर पाता है यों घर-आंगन में बुहारी लगाकर सफाई की चिन्ह-पूजा तो किसी प्रकार होती ही रहती है।

भटकाव में पड़ने की अपेक्षा हमें लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिए अपनी समूची तन्मयता एवं तत्परता को उसी में नियोजित करना चाहिए। इसके लिए तर्क और तथ्यों पर आधारित यथार्थता का प्रबल प्रतिपादन बहुत हद तक काम दे जाता है। इन शताब्दियों में प्रजातंत्र और साम्यवाद की तो विचारधारा मनीषियों ने इस प्रकार प्रस्तुत की कि उन्होंने संसार के दो तिहाई मस्तिष्कों को अपने प्रभाव की परिधि में जकड़ लिया। जो एक तिहाई शेष हैं, वे अपने निहित स्वार्थों की वकालत में ही असहमति प्रकट करते देखे जाते हैं। विरोध उनका उथला होता है और ऐसा होता है जिसका खंडन किये जाने पर बगलें झाँकने और खीसें निपोरने के अतिरिक्त और कुछ बन नहीं पड़ता। शालीनता की पक्षधर विचार-क्रान्ति की दृढ़ता और यथार्थता के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उसके प्रयोग जहाँ कहीं, जहाँ किसी, जितनी सशक्तता के साथ प्रयुक्त किये गये हैं उन्होने अपना चमत्कारी प्रतिफल प्रस्तुत किया है। यह बात अलग है कि उन विचारों में संभवतः व्यावहारिकता न रही हो और संकीर्ण स्वार्थों का समूह उनके साथ पूर्वाग्रह की तरह जुड़ा हुआ हो और जैसा प्रभाव-परिणाम हो सकता हो, वैसा न हुआ हो। विचार-क्रान्ति का ही परिणाम है कि उसके एक झकझोरे ने इन्हीं दिनों राजशाही, सामंतशाही, साहूकारी, व्यवसाय, जातिगत ऊँच-नीच, दास-दासी प्रथा, सती-प्रथा जैसे चिरकाल से जड़ जमाये बैठे अनौचित्यों को जड़मूल से उखाड़कर फेंक दिया है। अब उनके खण्डहरों पर इतिहास के विद्यार्थियों की ही नजर पड़ती है। पुरातन काल जैसा वैभव और जलजला उनका कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता।

नई विचार-क्रान्ति में व्यक्तित्वों का परिमार्जन प्रमुख है। इन दिनों निजी जीवन में व्यक्तिवादी संकीर्ण स्वार्थपरता का बोलबाला है। इसके स्थान पर प्रतिष्ठापना यह की जाती है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसकी समाजनिष्ठा अक्षुण्ण रहनी चाहिए। भले ही इसके लिए

निजी लोभ, मोह और अहंकार को नियंत्रित, अनुबंधित करना पड़े। नीर-क्षीर विवेक वाली दूरदर्शिता को प्रश्रय मिले, भले ही इसके लिए कितने ही पुराने प्रचलनों को ताक पर उठाकर रखना पड़ता हो। जन-जन को ऐसी रीति नीति अपनाने के लिए बाधित किया जाय, जिससे मानवी गरिमा के साथ जुड़ी हुई सद्भाव सम्पन्न शालीनता के अनुरूप ही आचरण करते बन पड़े। सहकार, शिष्टाचार, एवं सज्जनता के उदार समावेश का हर कार्य में भली प्रकार सम्पुट हो।

इन दिनों मनुष्य की निजी आदतों से लेकर समाज, शासन, व्यवसाय आदि में अवांछनीयता के ऐसे तत्वों का असाधारण रूप से समावेश हो गया है जिन्हें नहीं ही पनपना चाहिए था; आवश्यकता इसी सफाई की है। इसके लिए प्रतिभाशाली हर व्यक्तित्व को अपनी क्षमता के अनुरूप योगदान देना पड़ेगा। मनीषियों की लेखनी और वाणी को सशक्त अस्त्र-शस्त्रों की भूमिका निभानी चाहिए। वक्ता की वाणी इतनी मुखर होनी चाहिए कि उसकी यथार्थता मिश्रित ओजस्विता हर सुनने वाले को ध्यान देने और अनौचित्य से विरत होने के लिए बाधित कर सके। युग गायक सरसता की ऐसी स्वर लहरी निर्धारित कर सकता है जिससे उसके ऊपर लगा कामुकता भड़काने का कलंक धुल सके। धनिकों के लिए प्रायश्चित का ठीक यही समय है। व्यक्तिगत सम्पदा को शासकों से लेकर ईर्ष्यालुओं तक कोई भी सहन न करेगा। उसकी प्रधान प्रकृति भी दुर्व्यसनों, अपव्ययों, विपत्तियों और विग्रहों के साथ विदा होने की है। अगले दिनों की उथल-पुथल पर यह बिजली सबसे पहले संचित सम्पदा पर ही गिरेगी क्योंकि अनेकानेक समस्याओं, संकटों और विडम्बनाओं का प्रमुख कारण उसी लोभ, लिप्सा को माना जाता रहा है। अच्छा हो जिनके पास अनावश्यक संग्रह है, वो उसे युगधर्म की पुकार को सुनने-समझने के उपरान्त उसी हेतु विसर्जित कर दें।

जनमानस को प्रभावित करने वाले और भी अनेक तंत्र हैं इसमें प्रेस ने अपना मजबूत स्थान बना लिया है। अभिनय भी बल कौशल का प्रतीक प्रतिनिधि बनकर रह रहा है। जिनमें नेतृत्व कर सकने की प्रतिभा हो वे उन्हें अपनी विशिष्टता सिद्ध करने के लिए यश लोलुपता में खर्च न करें वरन् लोकमानस के साथ गुँथकर ऐसा प्रबल प्रयत्न करें कि बुद्ध, गाँधी, शंकर, दयानन्द, विवेकानन्द, विनोबा की तरह सही मार्गदर्शन की आवश्यकता पूरी कर सकें। इस संबंध में किसी को भी अपनी क्षमता कम करके नहीं आँकनी चाहिए। टिटिहरी का समुद्र सुखाने का संकल्प अगस्त्य की सहायता से पूरा होकर रहा था। कार्ल मार्क्स, लेनिन, रूसो जैसे विचारक किसी युनीवर्सिटी के प्राध्यापक नहीं थे। कबीर और रैदास जैसों ने यथार्थता के प्रतिपादन में इतना साहस दिखाया कि जमाने के सामने अकेले ही अड़ जाने की उनकी प्रतिज्ञा अन्त तक निभी रही। हजारी किसान ने नितान्त अनपढ़ होते हुए भी अपने सम्पर्क क्षेत्र में हजार आम्र उद्यान लगाने में सफलता पाई थी। धुन के धनी इतने शक्ति सम्पन्न होते हैं कि साधनों और सहयोगियों की परवाह न करते हुए भी वे अपनी नाव चलाते और उसमें बिठाकर अनेक को पार करते हैं।

युगधर्म ने जिस एक आधार को प्रमुख घोषित किया है वह है 'विचार-क्रान्ति' जनमानस का परिष्कार। प्रचलनों में विवेकसम्मत निर्धारणों का समावेश। यह सब क्रियापरक कम और भावना प्रधान अधिक है। इसके लिए विचारणा से लेकर भावसम्वेदनाओं की मानसिकता को झकझोरने से काम चल जायगा। दृष्टिकोणों में बदलाव आने पर प्रचलनों में उलट-पुलट होकर रहेगा। जिस दिशा में प्रतिभाएँ समूचे मनोयोग के साथ बढ़ेंगी, उस पर पीछे चलने वाले अनुयायियों की कमी रहने वाली है ही नहीं।

आँखों पर जिस रंग का चश्मा पहन लिया जाता है सभी वस्तुएँ उसी रंग की दिखाई पड़ती हैं। दर्पण में अपना ही चेहरा दीखता है। गुम्बद में अपनी ही आवाज गूँजती है। छाया अपने साथ-साथ ही चलती है। मनुष्य का विकसित व्यक्तित्व जब आदर्शवादी मार्ग पर चलने का संकल्प करता है तो उसकी शक्ति हजारों गुनी हो जाती है। सहयोगियों और साधनों की कमी नहीं रहती। आवश्यकता केवल एक है- अपनी मनस्वी सत्ता के जागरण की और उसको उत्कृष्टता के साथ जोड़ते हुए आदर्शवादिता के मार्ग पर धकेल देने की।

यदि हम मनुष्य के मूल स्वरूप के बारे में विचार करें तो ज्ञात होगा कि मनुष्य जैसा कि उसे माना जाता है कि वह उठा हुआ पशु है भ्रमपूर्ण प्रतीत होगा, भले ही आज उसकी स्थिति इससे और भी दयनीय हो गई हो, जिससे उसे विकसित पशु तो क्या, बुद्धिहीन पशु कहने में भी संकोच नहीं किया जाता पर यह मान्यता नितान्त भ्रमपूर्ण है। जब वन्यप्राणी घने जंगलों में दिग्भ्रान्त हो फँस जाते हैं तो वह वहाँ से निकलने की लाख कोशिश करने के बावजूद भी असफल होकर वहीं मर-खप कर समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य की आज की स्थिति लगभग ऐसी ही है। इतने पर भी उसके मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। क्षणिक और सामयिक भटकाव से ही उसे पशु कह देना उचित नहीं है; वस्तुतः वह उठा हुआ पशु नहीं, अपितु गिरा हुआ देवता है। यह देवत्व आज भी उसमें मौजूद है, पर समस्या एक ही है कि देवासुर संग्राम की तरह आज उसका असुरत्व उस पर हावी हो चला है, इसीलिए हमें वह पशुतुल्य जान दीख पड़ता है, किन्तु वास्तविकता ऐसी है नहीं। अब उसका देवत्व जगने का क्रम आरम्भ हो गया है।

जैकब स्मिथ अपने बहुचर्चित ग्रन्थ 'मैन-डैविल और डीटी' में इसी प्रकार की विचारधारा प्रकट करते हुए कहते हैं कि यदि मानवी असुरत्व को उसके वास्तविक सत्ता का उद्बोधन और दिग्दर्शन कराया जाय, तो कोई

कारण नहीं कि उसके देवत्व में रूपान्तरण न हो सके। इसके समर्थन में वह ढेर सारे पौर्वात्य और पाश्चात्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं तथा कहते हैं कि यह सारे प्रतिमान इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि मानवी सत्ता मूलतः देवत्व प्रधान है, देवत्व का ही वह प्रतिनिधित्व करती है। उनका यह कथन ऋषि काल के प्राचीन भारतीय इतिहास का पर्यवेक्षण करने से भी सही साबित होता है और इन दिनों के विश्वस्तरीय चिन्तन-पद्धति में आये विलक्षण परिवर्तन से भी सत्य प्रमाणित हो रहा है, भले ही उसके पीछे महाकाल अथवा किसी उच्चस्तरीय सत्ता का परोक्ष हाथ हो, पर इनसे इतना तो निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि जैसी मान्यता मानव के विषय में बनाकर रखी गई थी, वस्तुतः वह भ्रामक है।

कहते हैं कि भटाका हुआ यदि देर से भी वापस आ जाये, तो हर्ज नहीं अरबी की 'देर आयद दुरुस्त आयद' कहावत प्रसिद्ध है। मनुष्य के लिए अभी भी कुछ बिगड़ा नहीं है और न विशेष विलम्ब हुआ है। यदि अभी भी वह देवत्व के अपने मूल स्वरूप में स्वयं को परिवर्तित कर लेता है, तो यह सृष्टि भी सुरक्षित बच जायेगी और महाकाल को कोई कठोर कदम भी नहीं उठाना पड़ेगा, अन्यथा मनुष्य उसकी प्रताड़ना से किसी भी प्रकार बच न सकेगा।

पीटर टेलर ने अपनी पुस्तक 'डिवाइन मैन' में ठीक ही कहा है कि "मनुष्य यदि संकल्प कर ले, तो उसके लिए नेक इन्सान तो क्या, देवता के समतुल्य बन सकना भी असंभव नहीं पर इसके लिए पहाड़ को खोखला करने वाली दीमक जैसी दृढ़ता चाहिए।" इस धैर्य व दृढ़ता के अभाव में ही आज यह दीन-दयनीय स्थिति में पड़ा पशुवत् जान पड़ता है, किन्तु एक बार किसी प्रकार उसकी इस सामूहिक दृढ़ता का, जो उसे श्रेय पथ पर ले जाने में सक्षम होती है, उसका उद्दीपन-जागरण हो जाय, तो फिर वह असाधारण, अभूतपूर्व जैसा बनकर ही रहता है। अब मनुष्य के जागरण का अनुकूल समय आ पहुँचा है, जब एक बार फिर से यह देवत्व के अपने पुरातन इतिहास को दुहराने जा रहा है। इस क्रम में यदि आगामी शताब्दी के अन्त तक 'गोल्डन एज' स्वर्णिम युग जैसा कुछ धरती पर अवतरित हो जाय, तो हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

हवा युग-परिवर्तन के अनुकूल ही बह रही है

हवा की प्रत्येक श्वास से सृष्टि के प्रत्येक स्पन्दन से उठ रही विचारक्रान्ति की यह पुकार महाश्मशान बनती जा रही इस धरती को नन्दन-कानन बनाने के लिए है। महाकाल स्वयं को दो रूपों में प्रकट करता है। अपने पहले रूप में वह रुद्र होता है और दूसरे में शिव । रुद्र की विनाश लीला शिव के सृजन के लिए भूमि तैयार करती है। बीसवीं सदी की शुरूआत से आज तक हुई घटनाओं का सरसरी नजर से जायजा लें तो रुद्र का ताण्डव नर्तन समझा जा सकेगा। प्रारम्भ से लेकर लगभग आधी सदी तक मानव जाति दो महायुद्धों की तैयारियाँ करने और विनाश के ज्वालामुखी को भड़काने में जुटी रही। जर्मनी के तहखानों का खून अभी तक सूखा नहीं था कि कोरिया युद्ध की लपटों में घिर गया। एक के बाद एक कम्बोडिया, वियतनाम, ईरान, ईराक जैसे अनेक ने विनाश-लीला में अपनी भागीदारी निभाई। जी. विलकिन की पुस्तक 'ह्यूमन रेस इन ट्वेन्टियथ सेन्चुरी' के अनुसार इस सदी में लगभग दो सौ छोटे-बड़े युद्ध लड़े गये। धरती पर कोई ऐसी जगह नहीं बची जिसे महारुद्र के चरणों ने प्रकम्पित न किया हो। इस प्रकम्पन से न जाने कितने राजमुकुट भूमि लुंठित हुए इक्के दुक्के जो बचे हैं वे भी अपने विनाश की तैयारी कर रहे हैं। जिनके राज्य में सूर्य नहीं अस्त होता था वे ही अब कोने में सिमटते जा रहे हैं।

बात युद्धों की नहीं है, मान्यताएँ, नीतियाँ व प्रणालियाँ बनी और ढहीं। नाजीवाद, फासीवाद धूमकेतु की तरह उलटा होकर काल के प्रचण्ड झोंकों में बह गया। साम्यवाद के वितान फैले और सिमटने लगे। हीगेल, मार्क्स, एगेल्स गुजरे जमाने की चीजें होती जा रही हैं। जिनकी पूजा होती थी उन्हीं के बुत टूटने लगे। हिटलर, मुसोलिनी, माराबों दाँतो, रोब्सपियर, कापूर, नैपोलियन के व्यक्तित्व व कर्तृत्व दोनों तिरस्कृत हो काल के किसी कोने में जा पड़े हैं।

ऐसे में प्रकृति भला क्यों पीछे रहती । उसने भूकम्प, सूखा, बाढ़ जैसे पुराने युग के हथियारों के स्थान पर ग्रीन हाउस प्रभाव, ओजोन की छतरी को फाड़ना, खनिज सम्पदाओं की रिक्तता, हवा, पानी की विषाक्तता जैसे अनेक कारनामे दिखाकर ५०० करोड़ मानवों में सिहरन पैदा कर दी। नौवें दशक में प्रवेश करते-करते धरती के विश्वविश्रुत वैज्ञानिक चिन्तक व समाज के कर्णधार चीत्कार कर उठे- अब हम धरती को नहीं बचा सकते, महाप्रलय आने ही वाली है।

किन्तु कहाँ? बीत चली कालरात्रि के ब्रह्ममुहूर्त आते-आते रुद्र के क्रिया-कलापों में से शिवत्व झलकने लगा। भले ही अभी यह सबको स्पष्ट न हुआ हो किन्तु ऐसा कुछ हो रहा है जो अनोखा है, अद्‌भुत है, अलौकिक है। इसे स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द 'द ह्यूमन सायकिल' में कहते हैं- दक्षिणेश्वर में/जो काम शुरू हुआ था, वह पूरा होना बाकी है। सामान्यजन तो इसे समझ भी नहीं सके हैं। विवेकानन्द ने जो कुछ प्राप्त किया, जिसे अभिवर्धित करने का प्रयत्न किया वह अभी तक मूर्त कहाँ हुआ है? विजय गोस्वामी ने भविष्य के जिस सत्य को निगूढ़ रखा वह उनके शिष्य तक नहीं जान पाए और अब अधिक उन्मुक्त ईश्वरीय प्रकाश की तैयारी हो रही है,

अधिक ठोस शक्ति प्रकट होने को है। यह कार्य मनुष्य की प्रकृति में फेर, बदलकर नया इन्सान गढ़ना और इस धरती में स्वार्गिकता लाना था। जिसे ये महाकाल के दूत करने में जुटे थे। इस विशिष्टता को इन वरिष्ठों के सिवाय और कौन जानता है? किसमें यह अनोखी सामर्थ्य है जो रुद्र के तीव्र ताण्डव में छुपे शिव सृजन को निहार सके।

किन्तु अब जैसे-जैसे ब्रह्ममुहूर्त की घड़ियाँ अरुणोदय की ओर बढ़ती जा रही हैं विनाश के आवरण में स्वयं को ढके सृजन स्पष्ट होने लगा है। आज के समय में इसका एक सुस्पष्ट चिन्ह है विश्व के हर कोने में अँगड़ाइयाँ ले रही जनचेतना। उसे सिर्फ व्यवस्था को बदल डालने मात्र से सन्तुष्टि नहीं है। वह स्वयं में समूचे समाज में एक मौलिक परिवर्तन करना चाहती है। महर्षि का संकेत भी इसी ओर है। यों मानव को अपनी उत्पत्ति से लेकर आज तक अनेक सुखद-दु:खद घटनाओं से गुजरना पड़ा है। स्वयं को उसने कई तरह के दबावों में आकर ढाला और गढ़ा है। उसकी निजी चेष्टाएँ भी कम नहीं हैं। किन्तु इस बार भावी समाज के चिरस्थाई सुख का आधार बनने वाला परिवर्तन अपने आप में अनूठा है।

अब तो हो चुके परिवर्तनों के इतिहास की ओर झांकें, उनके प्रभावी कारकों की ओर देखें तो पाते हैं कि सारी फेर-बदल राजनैतिक, आर्थिक, भौगोलिक, जैविक, जनसंख्यात्मक और सांस्कृतिक कारणों के इर्द-गिर्द घूमती रही है। यद्यपि ऊपर से न दिखते हुए भी इनका किसी न किसी प्रकार सम्बन्ध मनौवैज्ञानिक कारक से रहा है। किन्तु सामान्यतया राजनैतिक कारणों की प्रधानता समझी गई है। व्यवस्था से कष्ट हो रहा है, व्यवस्था बदल दो। राजतन्त्र नहीं तो अधिनायकवाद, साम्यवाद, प्रजातन्त्र समाजवाद, बदलाव के बाद भी उद्देश्य कोसों दूर रहा। प्रिंस क्रोपाटकिन का 'क्रांति की भावना' में कहना है कि परिवर्तन करने वाले जब शासन व्यवस्था संभाल लेते हैं तो कुछ ही समय बाद सारी समस्याएँ फिर से ज्यों की त्यों खड़ी दिखाई देती हैं। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति इसी का एक उदाहरण है।

ऐसा सिर्फ इसलिए कि व्यवस्था उतनी दोषी नहीं जितना कि दोषी वह समाज रहा जिसने व्यक्ति को सही गढ़ा नहीं। समस्त विसंगतियों, दुरावस्थाओं का मूल कारण समाज की जीवनी-शक्ति कहे जाने वाले उस वर्ग का समाप्तप्राय हो जाना है जिस पर व्यक्ति को तराशने की जिम्मेदारी थी। इसके अतिरिक्त प्रथाएँ, परम्पराएँ, रीतियाँ, रिवाज, मान्यताएँ, मूल्य और प्रतिमान यही मिलकर वह साँचा बनाते हैं, जिसमें व्यक्ति ढलता है और आज यह इतना जर्जर हो अपनी सामयिकता खो बैठा है कि इसमें उस इन्सान को ढालने की ताकत नहीं रही, जो नए समय के अनुरूप नए आदमी तैयार कर सके। ऐसी दशा में आवश्यक हो गया है कि यह सब भी परिवर्तित हो जिससे कि मनुष्य सँवर सके।

किन्तु इन्सान का मोह इन्हें हर हाल में चिपटाए रहना चाहता है। लिहाजा सतयुगी परिस्थितियाँ लाने के लिए संकल्पित महाकाल ने आन्तरिक एवं बाह्य ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं, जिसके दबाव में आकर कोयले को हीरा बनना ही पड़े। विचार करें तो प्रकारान्तर से यह भी एक अनुग्रह है, जिसके कारण हम सबको पुरानी सड़ चुकी केंचुल उतार कर नवीन सौन्दर्य उद्भासित करने का अवसर मिल रहा है। सुविख्यात चिन्तक प्रीतम ए. सोरोकिन 'रिकांस्ट्रक्शन ऑफ ह्यूमैनिटी' में कहते हैं- "इस बार के परिवर्तन पिछली फेर- बदल से कहीं अधिक चिरस्थाई और उपयोगी रहेंगे। उनके अनुसार इस हो रहे प्रत्यावर्तन में प्रधानता मनोवैज्ञानिक कारक की रहेगी और है भी।"

आज मानव न केवल सोचने के लिए बल्कि अपनी सोच बदलने के लिए विवश है। उसे साफ मालूम हो गया है कि व्यवस्था बदलने भर से पर्यावरण संकट, प्राकृतिक असन्तुलन सुधरने वाला नहीं है। उसके लिए तो हमें ही बदलना होगा। सच कहा जाय तो असन्तुलित प्रकृति नहीं, असन्तुलित मनुष्य है। प्रकृति तो अपने नियन्ता के संकेतों के अनुसार उसे सुधारने के लिए सक्रिय भर हुई है।

महाकाल की इस अपरिवर्तनीय योजना का केन्द्र है व्यक्ति और परिधि है समाज । विवेकानन्द के शब्दों में इस सृजनात्मिकता शक्ति की धुरी बनी है भारत भूमि। तीन चरणों वाली इस योजना का प्रथम चरण है व्यक्ति की सोच को उलटना। ओसवाल्ड स्पेंगलर के शब्दों में जहाँ अभी वह यह मान बैठा है कि आदमी श्रेष्ठ पशु है उसके पास औरों पर धौंस जमाने का एक ही उपाय है बल। बदलते समय में यह मापदण्ड शरीरबल, धनबल व बुद्धिबल तो हुआ पर काम नहीं बदला। वहीं बदली सोच के आधार पर उसे सोचना पड़ेगा कि क्षमताएँ उत्पीड़न के लिए नहीं है वरन् इसलिए हैं कि दूसरों की भी क्षमताएँ उभारी जायँ और सारी मनुष्य जाति एक साथ लम्बे डग भर कर अपने को धरती का देवता सिद्ध कर सके।

दूसरे चरण में प्रथा, परम्पराओं, रीतियों, मूल्यों में व्यापक स्तर की फेर-बदल होगी । जहाँ अभी इन्हें संयुक्त रूप में लोकभाषा में नाम दिया गया है- धर्म । वहाँ बदले हुए समय में यह जाना जा सकेगा कि धर्म इस जाल-जंजाल में उलझना नहीं है। वरन् यह वह तत्व है जिसके आधार पर क्रूरकर्मा अंगुलीमाल तक महाभिक्षु बन सका । आज की प्रथा-परम्पराओं को कतर-ब्योंत कर वे ही नीतियाँ रची जायेंगी जो मानव-यात्रा को सुगम करने वाला पाथेय बन सके। स्वर्गीकरण के तीसरे और अन्तिम चरण में आएगा- समाज जिसने अभी बीहड़ जंगल का रूप ले लिया है। जहाँ उत्कृष्ट चिन्तन, उत्तम चरित्र, मृदुल व्यवहार कभी किसी बिरले भाग्यशाली को दिखाई पड़ जाते हैं। वहीं समाज अपना स्वरूप बदलकर ऋषियों का आरण्यक बन सकेगा। स्वयं को ऐसी पाठशाला में

विकसित कर सकेगा जो आदमी को सोचना, जीना और व्यवहार करना सिखाए। योजना के ये त्रिविध चरण मानव समाज रूपी नचिकेता को महाशिव के तीन वरदान हैं।

इन्हें ग्रहण करने, अपना सहचर बनाने के लिए उसने हम सबसे साहस भरा कदम उठाने का आव्हान किया है। परवाह नहीं यदि हम शक्तिहीन हैं, पुराने समाज ने हमें नगण्य माना है। जिन्हें भी अतिप्रबल परिवर्तन का आदेश प्राप्त होता है। वे उसकी अनन्त-शक्ति से पूरित होते हैं। यह वही सामर्थ्य है जो धरती से लाखों गुना भारी-भरकम नक्षत्रों को उनकी कक्षाओं में घुमाती है, ऐसी आसानी से जैसे कोई बालक गेंद घुमाता हो। उसके लिए असम्भव क्या ? यह असंभव को साधित करने में भी सिद्धहस्त है। हम क्या हैं, कैसे हैं। भूलकर जैसे भी हैं, संकल्प पूर्ति के इस महत्वपूर्ण चरण में अपनी भूमिका निभाने को तत्पर हों तो आने वाले समय में धरती पर स्वर्ग का गंगावतरण करने वाले भगीरथ का गौरव हासिल हुए बिना न रहेगा।

प्रस्तुत संकटों का कारण एवं निवारण

मनुष्य को आज इतनी अधिक सुविधाएँ और साधन-सम्पदाएँ प्राप्त हैं कि २०० वर्ष पूर्व का मनुष्य इनकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। पहले की अपेक्षा उसके साधनों और सुविधाओं में निरन्तर वृद्धि ही होती जा रही है। इसके उपरान्त भी मनुष्य अपने को पहले की तुलना मे अभावग्रस्त, रुग्ण, चिन्तित और एकाकी ही अनुभव कर रहा है। भौतिक होने पर, सुविधा-साधनों में अभिवृद्धि होने के बाद होना तो यह चाहिए था कि मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक सुखी और अधिक सन्तुष्ट रहता, किन्तु हुआ इसके विपरीत ही है। यदि गम्भीरतापूर्वक मनुष्य की आन्तरिक स्थिति का विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होगा कि वह पहले की तुलना में सुख-सन्तोष की दृष्टि से और अधिक दीन-दुर्बल हो गया है। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक-सन्तुलन, पारिवारिक-सौजन्य, सामाजिक-सद्भाव, आर्थिक-सन्तोष और आन्तरिक-उल्लास की दृष्टि से सभी क्षेत्रों में मनुष्य जाति नई-नई समस्याओं व संकटों से घिर गई है।

आज की सुविधा-सम्पन्नता और प्राचीनकाल की परिस्थितियों में तुलना की जाय और मनुष्य के सुख-सन्तोष को भी दृष्टिगत रखा जाय तो पिछले जमाने की असुविधा भरी परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्ति अधिक सुखी और सन्तुष्ट जान पड़ेंगे। इन पंक्तियों में भौतिक-प्रगति तथा साधन-सुविधाओं की अभिवृद्धि को व्यर्थ नहीं बताया जा रहा है, न कि उनकी निंदा की जा रही है। कहने का आशय इतना भर है कि परिस्थितियाँ कितनी ही अच्छी और अनुकूल क्यों न हों यदि मनुष्य के आन्तरिक स्तर में कोई भी सुधार नहीं हुआ है तो सुख-शान्ति किसी भी उपाय से प्राप्त नहीं की जा सकती है।

वर्तमान युग की समस्याओं और संकटों के लिए परिस्थितियों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। परिस्थितियाँ तो पहले की अपेक्षा अब कहीं अधिक अच्छी, अनुकूल और सहायक हैं। फिर क्या कारण है कि व्यक्ति और समाज इन दिनों दुःख-दारिद्रय, दैन्य-दुर्बलता, संकट-समस्याओं तथा विपत्तियों, आपदाओं से बुरी तरह ग्रस्त हैं? इसका कारण अन्तर में ही खोजना पड़ेगा और यह मानना पड़ेगा कि बाहर से मनुष्य जितना साधन-सम्पन्न और समृद्ध होता गया तथा भीतर से वह उतना ही रुग्ण बनता चला गया। अयोग्य व्यक्ति, अधिकार और मूढ़-मन्द मति लोग, हथियार मिलने पर जिस प्रकार अनर्थ मचाते हैं ठीक वैसी ही स्थिति इन दिनों मनुष्य की है। साधन-सुविधाओं के बड़े-चढ़े अम्बार ने उसे और अधिक अहंवादी, कुटिल, स्वार्थी, संकीर्ण तथा भ्रष्ट बना दिया है।

सर्वतोमुखी पतन और पराभव के इस संकट का निराकरण करने के लिए एक ही उपाय कारगर हो सकता है। वह है, व्यक्ति और समाज का भावनात्मक परिष्कार। भावना स्तर में अवांछनीयताओं के घुस पड़ने से ही तमाम समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। इन समस्याओं का यदि समाधान करना है तो सुधार की प्रक्रिया भी वहीं से प्रारम्भ करनी पड़ेगी जहाँ से ये विभीषिकाएँ उत्पन्न हुई हैं। अमुक-अमुक समाधान का सामयिक उपचार तो हो सकता है पर चिरस्थायी समाधान के लिए आधार को ही ठीक करना पड़ता है।

इस समाधान के लिए सुलझे हुए विचारशील व्यक्तियों को लोकसेवा की दृष्टि से आगे आना चाहिए। सुविधाएँ बढ़ाकर जनजीवन को सहज और सरल बनाने को भी सेवा में सम्मिलित किया जा सकता है और पीड़ितजनों की सहायता-सुश्रूषा करना भी सेवा धर्म के अन्तर्गत आता है, किन्तु इस तरह की सेवाओं से भी बढ़कर महत्वपूर्ण है-जनमानस का परिष्कार । यदि यह कार्य किया जाय तो अभावग्रस्त रहते हुए सुविधा-साधनों का लाभ उठाया जा सकता है। उन्हें अर्जित किया जा सकता है, इसके बिना सुविधा सम्बर्द्धन और पीड़ा निवारण के प्रयास भी सामयिक और अस्थायी उपचार ही सिद्ध होंगे। उदाहरण के लिए, भूखे व्यक्ति को एक बार भोजन करा दिया जाय तो उस समय तो उसका पेट भर जायेगा, लेकिन जब उसे दुबारा भूख लगेगी तो पहले की गई सेवा उस समय व्यर्थ हो जायेगी। तब उसका कोई परिणाम या प्रभाव काम करता नहीं दीखेगा। इसी समस्या को गहराई से देखा जा सकता है कि कहीं वह व्यक्ति बेकार तो नहीं है, निकम्मा या कामचोर होने के कारण ही तो भिक्षाजीवी नहीं बन गया है? इन कारणों का पता लगाकर इन्हें दूर किया जाय तो वह समाधान अधिक स्थायी समाधान देने वाला होगा।

१.३६ सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे?

मनुष्य समाज की अन्य समस्याओं के सन्दर्भ में भी इसी प्रकार सूक्ष्म-दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अपनी आस्थाओं और मान्यताओं के अनुरूप ही व्यक्ति परिस्थितियों को सुखद या दुःखद बना लेता है। दृष्टिकोण के अनुसार ही मनुष्य की जीवनधारा बहती है। एक ही स्टेशन से चलने वाली दो रेलगाड़ियाँ थोड़ी दूर जाकर पटरियाँ बदलने से दो विभिन्न दिशाओं में चल पड़ती हैं। पटरी बदलने वाले एक छोटे से यन्त्र का यह प्रभाव होता है कि दिल्ली से चलने वाली एक रेलगाड़ी कलकत्ता पहुँच जाती है और दूसरी उससे सर्वथा विपरीत दिशा में बम्बई जा पहुँचती है। हिमालय पर्वत से ही निकली सिन्धु, ब्रह्मपुत्र और गंगा नदी अलग-अलग सागरों में जाती हैं। केवल इस कारण कि पहाड़ का ढलान दो विभिन्न दिशाओं में है। इसी प्रकार एक ही परिस्थिति भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न ढंग से प्रभावित करती है। एक ही परिस्थिति में जन्मे दो व्यक्तियों में से कोई सन्त-महापुरुष बन जाता है और कोई चोर-डाकू। अस्तु, स्थायी समाधान केवल विचारों, आस्थाओं व मान्यताओं के परिष्कार द्वारा ही सम्भव है।

पिछले दिनों विश्व के कतिपय राजनेता परिवर्तन का आधार दमन और बाहरी दबाव बताते रहे। उन्होंने इस नीति को अपनाया भी। आरम्भ में थोड़ी-बहुत सफलता मिलती भी दिखाई दी, लेकिन अन्ततः असफलता ही हाथ लगी। जहाँ कहीं थोड़ी बहुत सफलता मिलती भी दिखाई दी तो वह मात्र इस कारण कि बाहरी दबाव निरन्तर बना रहा। उस दिखाई देने वाले परिवर्तन के साथ यह सम्भावना बराबर बनी रही कि दबाव हटाते ही लोग फिर अपने रूप में आ जावेंगे। कहीं-कहीं यह दबाव दीर्घकाल तक चला और श्मशान जैसी शान्ति छायी रही, किन्तु जिन लोगों ने दमन किया, अपने शत्रुओं या विपक्षियों को दबाया, बाद में उन्हीं के हाथों उसी प्रकार दबाये गये।

रक्तपात, दमन और हिंसा का चाव ही कुछ ऐसा है कि कोई शिकार न मिलने पर वह अपने ही साथियों को दबाने और फाड़ने लगता है। भेड़िया हिंसक जानवर है। दूसरे जानवरों का शिकार कर वह पेट भरता है और जब कोई शिकार नहीं मिलता तो अपनी ही जाति के भेड़ियों को मारकर खाने लगता है। इसके विपरीत घास-पात खाने वाली भेड़ें चारा-पानी नहीं मिलने पर एक-दूसरे की गर्दन पर सिर रख लेती हैं और मृत्यु का वरण कर लेती हैं। मरना भेड़ियों को भी पड़ता है और भेड़ों को भी, पर भेड़िये के मरने में भेड़ की सी सौम्यता और गरिमा कहाँ दिखाई देती है? यह विचार अब गलत ही सिद्ध हुआ है कि बाहरी दबाव से किसी को सुधारा या ठीक किया जा सकता है। परिवर्तन केवल आन्तरिक स्तर पर प्रभाव डालने वाले प्रयासों से ही सम्भव है और उस स्तर को प्रभावित करने के लिए विचारों के बीज, प्रेरणाओं की खाद तथा प्रोत्साहन का वातावरण बनाया जाना चाहिए।

इन दिनों अपना समाज शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं से बुरी तरह त्रस्त है। विविध प्रकार की समस्याओं के विभिन्न कारण बताये तथा तदनुरूप उपचार सुझाये जाते हैं पर देखा यह जाता है कि सामयिक राहत मिलने के बाद समस्याएँ पुनः उठ खड़ी होती हैं तथा वे स्थूल उपचार उतने कारगर नहीं सिद्ध हो पाते। कारण यह है कि समस्याओं को जन्म देने वाले स्थूल कारणों को ही अधिक महत्व दिया जाता है तथा उस मूलभूत तथ्य की उपेक्षा कर दी जाती है जो वस्तुतः हर प्रकार की समस्या का सृजनकर्ता है। गम्भीरता से विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि यदि हमारे सोचने का ढंग सही रहा होता तो व्यक्ति एवं समाज के सामने प्रस्तुत समस्याओं में से एक का भी अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता और हर व्यक्ति सुख-शान्ति, हर्ष एवं उल्लास की जिन्दगी जीता। सुर-दुर्लभ मानव जीवन को नारकीय जीवन की प्रताड़ना भुगतने के लिए विवश करने वाला अनात्म तत्व एक ही है बुद्धि विपर्यय। इसी का अभिशाप विभिन्न प्रकार की समस्याओं को जन्म देता है।

स्वास्थ्य की समस्या को ही लें तथा कारणों की गम्भीरता से खोजबीन करें तो अचिन्त्य-चिन्तन की विकृति प्रमुख कारण के रूप में उभरकर सामने आती हैं। वन्य प्रदेशों में स्वच्छन्द निवास करने वाले अभावग्रस्त और कष्टसाध्य जीवन जीने पर भी पशु-पक्षियों में से एक भी बीमार नहीं पड़ता तो फिर मनुष्य के ऊपर ही क्यों कर विपत्ति टूटी कि कोई भी स्वस्थ कहा जाने लायक नहीं दीखता। चल फिर लेने वाले को बीमार न कहें यह बात दूसरी है पर बारीकी से निरख-परख करने पर प्रतीत होगा कि न्यूनाधिक मात्रा में शत-प्रतिशत लोग शारीरिक और मानसिक रोगों से ग्रस्त रुग्ण जीवन जी रहे हैं। ऐसा क्यों हुआ? उत्तर है, एक ही चिन्तन का उलटगामी होना। मनुष्य ने अपनी आहार-विहार की आदतों को अप्राकृतिक ढाँचे में ढाला और अस्वस्थता को स्वेच्छापूर्वक आमन्त्रित किया। उल्टी चिन्तन-पद्धति को उलटा जा सके और यह बात हृदयंगम करायी जा सके कि प्राकृतिक जीवनचर्या, संयमित आहार-विहार का क्रम ही सुस्वास्थ्य एवं आरोग्य का एकमात्र आधार हो सकता है तो निस्सन्देह सभी मनुष्य स्वस्थ, उल्लसित एवं नीरोग जीवन जीने लगेंगे तब विपुल परिमाण में न तो औषधियों की आवश्यकता होगी और न ही अस्पतालों की पर यदि रवैया इसी प्रकार चलता रहा तथा दिनचर्या असंयमित एवं कृत्रिमता से युक्त बनी रही तो बीमारियाँ और भी बढ़ेंगी तथा स्वास्थ्य संकट और भी अधिक सघन होगा, निरन्तर बढ़ता ही जायेगा। रोगों से छुटकारा पाना यदि अभीष्ट हो तो आज या आज से हजार वर्ष बाद मनुष्य को इसी सिद्धान्त को अपनाना होगा कि प्राकृतिक आहार-विहार अपनाने के अतिरिक्त नीरोग रहने

एवं दीर्घजीवी बनने का और कोई मार्ग नहीं हो सकता। प्राकृतिक जीवन जीने की प्रेरणा देने वाली चिन्तन-पद्धति जो व्यक्ति देगा सचमुच वह धन्वन्तरि जैसा ही होगा। आहार-विहार को संयमित एवं प्राकृतिक बनाने वाली विचारधारा द्वारा मानव जाति की जितनी सेवा होगी उतनी औषधि अनुसंधानशालाओं एवं मेडीकल कालेजों में लगे वैज्ञानिक भी नहीं कर सकते।

आर्थिक संकट से देश की अधिकांश जनसंख्या ग्रस्त है। इसका कारण राजनीति क्षेत्र के नेताओं की अदूरदर्शिता भरी अर्थनीति भी हो सकती है परन्तु कठोर श्रम से बचने की, आरामतलबी की, ठाट-बाट बनाने की मनोवृत्ति भी इस संकट के लिए कम जिम्मेदार नहीं है। पसीना बहाकर कड़ी मेहनत करने की यदि हर व्यक्ति आदत डाले तो देश की जमीन से अब की तुलना में बीस गुना पैदावार होने लगे। कुटीर उद्योग, कल-कारखाने तथा शिल्प, व्यवसाय अभी की तुलना में कई गुना लाभ देने वाले सिद्ध हो सकते हैं। ऐसे कितने ही देशों के उदाहरण सामने हैं जो कल परसों तक घोर विपन्नताओं एवं प्रतिकूलताओं का सामना कर रहे थे। विभिन्न प्रकार के अवरोध उनके मार्ग में चट्टान की भाँति अड़े थे पर परिश्रमशीलता के बलबूते देखते ही देखते वे उन्नति के शिखर पर जा पहुँचे। जापान, इजराइल, डेनमार्क, कनाडा, स्वीडन आदि देशों के उदाहरण इसी सत्य की पुष्टि करते हैं कि समृद्धि किसी देश की बपौती नहीं है न ही कोई अप्रत्याशित उपलब्धि, यह श्रम की कीमत पर खरीदी गई होती है। वहाँ के नागरिकों ने श्रमशीलता को अपनी आराध्य देवी मानकर आराधना की, फलतः उस देवी की अनुकम्पा सम्पत्ति एवं समृद्धि के रूप में बरसती चली गई।

अपने यहाँ घर में अच्छी खेती होते हुए भी लड़के तनिक-सी पढ़ाई पढ़ लेने के बाद शहरों में क्लर्की ढूँढने तथा नरक जैसी गलियों के गन्दे मकानों में सड़ने के लिये मारे-मारे फिरते रहते हैं। बुद्धि विपर्यय यहीं है जिसके कारण सम्पन्नता के मूलभूत आधार श्रम की अवमानना करते क्या शिक्षित क्या अशिक्षित सभी देखे जाते हैं। बैठे ठाले दिन गुजारने वाली बाबूगीरी की नौकरी के फिराक में चक्कर लगाने, श्रम से जी चुराने की मनोवृत्ति के रहते न तो व्यक्ति की प्रगति सम्भव है और न ही समाज अथवा देश की।

अवगति तथा आर्थिक विपन्नताओं को बनाये रखने में कुरीतियों का भी बड़ा हाथ है। सामाजिक कुरीतियाँ हमारी हड्डियों को चबाती हैं और नस-नस पर चिपकी हुई जोकों की तरह हमें दरिद्रता की यंत्रणा सहते रहने के लिए विवश करती हैं। प्रचलित विवाह प्रथा को ही लें तथा अन्य देशों की विवाह परम्परा से तुलना करें तो मालूम होगा कि इतनी महँगी और व्यक्ति तथा समाज को दरिद्र बनाने वाली बेहूदी प्रथा कहीं भी नहीं है। दहेज के नाम पर माँगी गई मोटी रकम की आपूर्ति के लिए कितने ही व्यक्ति बेईमानी का पल्ला पकड़ते हैं। जो सम्पन्न हैं वे समाज के संचित पैसे की होली फूँकते, ओछे प्रदर्शनों में देखे जाते हैं जो पैसा घर-परिवार के बाल-बच्चों के विकास में लग सकता था अथवा समाज के पिछड़े वर्ग के काम आ सकता था-उथली अहंमन्यता की पूर्ति में उसे व्यर्थ गँवा दिया जाता है। यह ढर्रा यूँ ही चलता रहा तो आर्थिक विपन्नता से छुटकारा पाना सदियों तक सम्भव नहीं होगा।

उत्पादन, व्यवसाय एवं औद्योगिक कौशल की भारी योजनाएँ बनते एवं चलते हुए तीन दशक पूरे होने को आये। समृद्धि बढ़ने की बात मृगतृष्णा की तरह बनी रही। प्रगति की गति बिना तेल के घिसटने वाले इंजन की भाँति है। यदि लोगों को घोर परिश्रमी, मितव्ययी, सादगीप्रिय बनने और रूढ़ियों को कुचल डालने के लिए प्रेरणा न दी गई और वर्तमान मनोवृत्तियाँ कायम रहीं तो देश से न तो गरीबी जायेगी और न बेईमानी। कमाया धन दुर्व्यसनों में नष्ट होगा, कुरीतियाँ हमें दरिद्र बनायेंगी और कामचोरी की मनोवृत्ति से उत्पादन गिरेगा। ऐसी स्थिति में समृद्धि की बात मात्र मानसिक कल्पना बनकर घुमड़ती रहेगी। ऐसी प्रचण्ड विचारधारा का उद्भव एवं प्रसार हो सके कि कामचोरी, आरामतलबी, फिजूलखर्ची और कुरीतियों की बेवकूफी से लोग विरत हो सकें तो कुछ ही वर्षों में भारत उस पुरातन स्थिति को फिर से प्राप्त कर सकता है जिसे विदेशी सोने की चिड़िया कहकर पुकारते थे। दरिद्रता वस्तुतः हमारी मानसिक दरिद्रता की प्रतिक्रिया-प्रतिच्छाया मात्र है। जब तक हमारे विचार करने की पद्धति नहीं सुधरेगी तब तक अर्थ संकट दूर होने की आशा मात्र दुराशा ही बनी रहेगी।

प्रकृति के नयनाभिराम दृश्य, विलक्षण सौन्दर्य, प्राणियों की चित्र-विचित्र दुनिया, अनेकानेक प्रकृति प्रदत्त साधन तथा मानव आविष्कृत सुविधायें, सत्पुरुषों का संसर्ग आदि असंख्य धाराएँ ऐसी हैं जो प्रचुर परिमाण में हमारे चारों ओर विद्यमान हैं तथा हर घड़ी प्रमुदित होने का अवसर प्रदान करती हैं। स्रष्टा ने मानव जीवन के इर्द-गिर्द बिखरा वातावरण ऐसा सुरुचिपूर्ण बनाया है कि कोई भी सही मस्तिष्क वाला व्यक्ति जन्म से लेकर मरणपर्यन्त हर घड़ी हर्षोल्लास से भरा हुआ बिता सकता है। पर दुर्भाग्य को क्या कहा जाय? जिसने मनुष्य की विचार प्रणाली में विष घोल दिया, जिससे वह हर बात को उलटे ढंग से सोचने लगा जो परिणाम निकलना चाहिए था वही निकला। दुर्बुद्धि ग्रस्त मस्तिष्क में सदा चिन्ता, भय, शोक, संशय, निराशा, उद्वेग के ज्वालामुखी ही फूटा करते हैं। वे मन को इतना अधिक असन्तुलित कर देते हैं कि आत्महत्या करने को जी चाहता है। कुकल्पनाओं के आधार पर विनिर्मित दुःखों के कारण जो वास्तविक दीखते हैं वे बिल्कुल ही अवास्तविक होते हैं। उल्टी बुद्धि ही अनेक प्रकार की मानसिक समस्याओं एवं मनोरोगों का कारण है।

अनेकानेक सामाजिक समस्याओं के मूल में भी उलटी बुद्धि का नग्न नृत्य देखा जा सकता है। एक छोटा- सा

नमूना सर्वत्र देखने को मिलता है कि कई व्यक्तियों को सन्तान या लड़का नहीं होता। वस्तुत: वे लोग बहुत ही सुखी और सौभाग्यशाली हैं। कन्याओं के विवाहोपरान्त वे निर्द्वन्द्व होकर अपना सम्पूर्ण समय और धन परमार्थ प्रयोजनों में लगाकर लोक और परलोक उज्ज्वल बना सकते है। बढ़ती हुई आबादी की विभीषिका देश के सामने हैं। ऐसी स्थिति में लड़का न हुआ तो इसमें दु:ख मनाने की कौन-सी बात है पर प्राय: देखा यह जाता कि बेटा न होने पर विशेष दुखी लोग हर जगह पाये जाते हैं । इनमें से कितने तो दूसरा विवाह करते, खान-दान का लड़का गोद लेते हैं। उनका यह सोचना संकीर्णता का परिचायक है कि अपने श्रम, समय और धन का लाभ किसी अपना कहे जाने वाले लड़के को मिले। ऐसा सोचने वाले देश, धर्म, समाज, संस्कृत, ईश्वर आदि को सर्वथा भूल जाते हैं अन्यथा वे अपनी समृद्धि उनको देकर यशस्वी बन सकते थे और आत्मशांति की दिशा में कदम बढ़ा सकते थे। यह तो एक उदाहरण मात्र है। ऐसी अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ जनमानस के मन में भरी हुई हैं।

समाज में अगणित अपराध बढ़ रहे हैं। बेईमानी, ठगी, चोरी, डकैती, गुण्डागर्दी का ऐसा बोल बाला है कि सामान्य नागरिक को अपनी सुरक्षा कठिन पड़ रही है। पेशेवर अपराधियों के लिए प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में कानून, पुलिस, कचहरी, जेल आदि से बचकर निकल जाना एक सामान्य-सी बात है। कठोर नियन्त्रण एवं प्रशासनिक व्यवस्था के अभाव में अपराध की प्रवृत्ति बढ़ रही है। हर व्यक्ति का नागरिक जीवन इस बढ़ती हुई अनियन्त्रित अपराधवृत्ति के कारण असुरक्षित और अनिश्चित होता जा रहा है। यह विभीषिका विचार-पद्धति को उलट कर ही दूर की जा सकती है। मनुष्य का गौरव कर्तव्य एवं आदर्शवादी परम्परा अपनाने में है। अपनी तथा दूसरों की समग्र प्रगति सदाचरण और सहयोग पर निर्भर है। तर्क तथ्य और प्रमाण के आधार पर यह मान्यता जन मानस में गहराई तक प्रवेश करायी जा सके तो अपराधों का उन्मूलन सम्भव है। अपराधकर्ता का उस परोक्ष दण्ड व्यवस्था पर विश्वास जम जाय कि कानून और कचहरी से तो बचा भी जा सकता है पर ईश्वर की निगाह से नहीं। अपने ही कुकर्म एक न एक दिन परिपक्व होकर आदि व्यधियों के रूप में फूटेंगें इस मान्यता के सुदृढ़ होते ही आपराध कर्म की ओर प्रवृत्त होते ही हर व्यक्ति के पैर काँपने लगेंगे । अपराध नियन्त्रण के लिए भले ही राजकीय दण्ड व्यवस्था रहे पर उसका समूलोच्छेदन कर्तव्य भावना, आत्मगौरव एवं ईश्वरीय न्याय की यथार्थता समझ लेने पर ही सम्भव है।

विचारों में क्रान्ति आए तो समस्यायें सुलझें

अब से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व जब भगवान बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ था, उस समय भी आज की ही तरह जनमानस का चिन्तन एवं कर्तृत्व बहुत ही निकृष्ट स्तर का हो चला था। तान्त्रिक एवं वाममार्गी साधनाओं के नाम पर सर्वत्र भ्रष्टाचार फैला हुआ था। लोग निकृष्ट एवं भ्रष्टजीवन जीते हुए भी अमुक कर्मकाण्डों, पूजा-विधानों आदि बाह्योपचारों के बहाने स्वर्ग मुक्ति आदि की आशा किया करते थे। तन्त्र में अलंकारिक रूप में वर्णित पंच मकार मद्य, माँस, मदिरा, मुद्रा और मैथुन को खुली छूट मान लिया गया। चरित्र एवं सदाचरण जैसे शब्दों को उपहासास्पद मूर्खता समझा जाता था। यज्ञों के बहाने, मद्य माँस का भरपूर सेवन होता था। देवी-देवताओं के नाम पर बलिप्रथा का खूब जोरों पर प्रचलन था। भैरवी चक्र ने व्यभिचार को पूरी तरह छूट दे रखी थी। उस अनाचार-दुराचरण का परिणाम वही हो रहा था जो होना चाहिए। लोग रोग, शोक, पाप, ताप, क्लेश, कलह, दु:ख, दारिद्र्य में बुरी तरह डूबे हुए थे। सर्वत्र अशांति का हाहाकार था।

ऐसी भीषण प्रतिकूल एवं चारों ओर उद्विग्नता से भरी परिस्थितियों में गौतम बुद्ध जन्मे। उन्होंने आत्म-कल्याण की दृष्टि से गृह त्याग भी किया था। रुग्ण, बुड्ढे और मृतक मनुष्यों को आश्चर्य से देखकर वे इनसे बचने का उपाय सोचने लगे। बीमारी, बुढ़ापा और मृत्यु जैसे दु:खों के माध्यम से महाकाल द्वारा भेजी प्रेरणावश उन्होंने आकांक्षा की कि वे ऐसे तप-साधना करेंगे, जिससे अजर-अमर होने का सदा नीरोग एवं युवा बने रहने का अवसर मिले। इसी उद्देश्य को लेकर वे अगणित सुख-सुविधाओं को लात मार कर तप करने निकले थे। अनाचार के विरुद्ध प्रतिकार के प्रतीक रूप में जन्मे इस अवतार के विकास का प्रारम्भ तप से ही हुआ। उन्होंने वह किया भी पर देर तक उस मार्ग पर चलते न रह सके। तप द्वारा जैसे-जैसे उनकी आत्मा पवित्र होती गई, उन्हें विश्व मानव की पीड़ा, अपनी पीड़ा लगने लगी। जनसमाज जिस पतित एवं हेय स्थित में पड़ा हुआ था, उस पतन को उन्होने अपनी आत्मा में भी अनुभव किया। विश्व की पीड़ा, उनकी अपनी पीड़ा बन गई। आत्म-कल्याण की उनकी आकांक्षा जन-कल्याण की भावना में बदलने लगी। उनकी आत्मकेन्द्रित चिन्तन धारा पलट गई। वे सोचने लगे- मैं अकेला मुक्ति लेकर क्या करूँगा ? अज्ञान के निविड़ बन्धनों में बँधे हुए प्राणी जब इतनी नारकीय यन्त्रणाएँ सह रहे हैं तब मेरा कर्त्तव्य अपनी निज की समस्याओं तक सीमित रहने का नहीं। तप के द्वारा जो आत्मशक्ति प्राप्त हुई, उसका उपयोग लोक-कल्याण के लिए करना चाहिए। जितना ही अधिक विचार किया, उतना ही उनका संकल्प प्रखर एवं परिपक्व होता गया। उन्होंने जनमानस का परिशोधन करने में लग पड़ने का निश्चय कर लिया। जो बुद्ध आत्म-कल्याण की आकांक्षा लेकर तप साधना करने, गृहत्याग करके निकले थे, उनकी

तपश्चर्या ने उन्हें विश्व मानव के कल्याण में ही आत्मकल्याण का दर्शन कराया। उनकी व्यष्टि कल्याण की आकांक्षा समष्टिगत हित-साधन में बदल गई।

बुद्ध ने धर्मचक्र प्रवर्तन के माध्यम से अपने ढंग की एक अद्भुत एवं महान् क्रान्ति का अभियान चलाया और उनकी पुण्य-प्रक्रिया में स्नान करने वाली असख्य आत्माओं ने स्वर्गीय शान्ति का अनुभव किया। तान्त्रिक बाममार्गी भ्रष्टाचार की दावानल बुझी और उसके स्थान पर दया, करुणा, क्षमा, अहिंसा, सदाचार, तप-संयम, उदारता की सुरसरि प्रवाहित होने लगी।

अपने आत्म-विकास के इस क्रम में महात्मा बुद्ध ने घोषणा की- "स्वर्ग और मुक्ति की मुझे तनिक भी कामना नहीं है। लोकहित के लिए मैं बारम्बार मरूँगा। जब तक एक भी प्राणी बन्धन में बँधा हुआ है। तब तक व्यक्तिगत मुक्ति को मैं कदापि स्वीकार नहीं करूँगा। परमार्थ में मिलने वाला आत्मसन्तोष मुझे लोक और परलोक के समस्त सुखों की अपेक्षा अधिक प्रिय है। अपनी इस घोषणा के अनुरूप ही उन्होंने मृत्यु-पर्यन्त कार्य किया। व्यक्तिगत तपश्चर्या का विकसित स्वरूप लोकहित की सेवा-साधना में परिणत हो गया एवं वे अपने समय के सबसे बड़े समाज सुधारक और युग निर्माता हुए। उन्होंने जन-मानस के पतनोन्मुख प्रवाह को उलट-पलटकर रख देने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। तपश्चर्या और अध्यात्म का सर्वश्रेष्ठ एवं व्यावहारिक स्वरूप संसार के समक्ष प्रस्तुत करने वालों में बुद्ध का स्थान असाधारण रहा। उन्होंने जन-मानस के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए किये जाने वाले प्रयासों को तपश्चर्या और योगाभ्यास की ही संज्ञा दी। उनके अनुयायी लाखों बौद्ध भिक्षु सारे संसार में उनका महान मिशन फैलाने के लिए उसी निष्ठा से संलग्न हुए, जैसे कोई तपस्वी तप-साधना में लग सकता है।

बौद्ध धर्म के मूल तन्त्र तीन है (१) "धम्मं शरण गच्छामि।" धर्म की शरण में जाता हूँ। (२) "बुद्धं शरणं गच्छामि।" अर्थात् विवेक की शरण में जाता हूँ। (३) "संघं शरणं गच्छामि।" अर्थात् सब की शरण में जाता हूँ। उन तीन सिद्धान्तों में मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को धर्ममय बनाने की, विवेक को सर्वोपरि स्थान देने की, संघ शक्ति को प्रबल बनाने की प्रेरणा है। यह तीनों ही आदर्श ऐसे हैं, जिनके बिना न व्यक्तिगत जीवन सुख-शान्तिमय बन सकता है और न जन समाज की प्रगति एवं समृद्धि की अभिवृद्धि हो सकती है। इन तीन सिद्धान्तों को जीवन में अपनाकर ही मनुष्य स्वर्गीय परिस्थितियाँ प्राप्त कर सकता है। इन्हें छोड़ देने पर उसे पतन एवं नारकीय यन्त्रणाओं का उत्पीड़न सहना पड़ता है।

अधर्म का आचरण करने वाले असंयमी, पापी, स्वार्थी, कपटी, धूर्त और दुराचारी लोग शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य एवं धन-सम्पत्ति, यश, वैभव आदि सब कुछ खो बैठते हैं। उन्हें बाह्य जगत में घृणा और तिरस्कार तथा अन्तरात्मा में धिक्कार ही उपलब्ध होते हैं। ऐसे लोग भले ही उपभोग के कुछ साधन इकट्ठे कर लें पर अनीति का मार्ग अपनाने के कारण उनका रोम-रोम अशान्त एवं आत्म-प्रताड़ना की आग में झुलसता रहता है। चारों ओर उन्हें घृणा-तिरस्कार एवं असहयोग ही मिलता है। आतंक के बल पर यदि ये कुछ पा भी लेते हैं तो उपभोग के पश्चात उनके लिए विपतुल्य दुःखदायक ही सिद्ध होता है। आत्म-शान्ति पाने, सुसंयमित जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य को धर्ममय जीवनक्रम अपनाने के कारण तत्पर होना पड़ता है। नैतिकता, मानवता एवं कर्तव्यपरायणता को ही अपने जीवन में समाविष्ट करना होता है। इस प्रवृत्ति का व्यापक प्रसार करने के लिए किये गये प्रयत्नों को नैतिक क्रान्ति की संज्ञा दी जाती है। बौद्ध धर्म के प्रथम मन्त्र "धम्मं शरणं गच्छामि" में इसी नैतिक-क्रान्ति की चिनगारी निहित है। इस मन्त्र को लोकव्यापी बनाने के लिए जो प्रयत्न बौद्ध-धर्मावलम्बियों ने किया था- उसे विशुद्ध नैतिक-क्रान्ति ही कहा जायेगा।

दूसरे मन्त्र "बुद्धं शरणं गच्छामि" में विवेक बुद्धि को सर्वोपरि महत्व दिया गया है। कालान्तर में पुरानी अच्छी प्रथा-परम्पराएँ भी रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से दब जाती हैं, तब उनका सुधार और परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। उस जमाने में अनीतिपूर्ण असंख्य कुप्रथाएँ पनप रहीं थीं। लोग उनका समर्थन और अनुकरण इसलिए करते थे कि यह बातें पूर्वकाल से चली आ रही हैं। बुद्ध ने बताया कि पूर्वकाल से चली आने के कारण ही कोई प्रथा परम्परा या विचारधारा मान्य नहीं हो सकती है। विवेक का स्थान सर्वोपरि है। जो बातें विवेकसम्मत न हों, वे किसी की भी कही हुई क्यों न हों, कितनी ही पुरानी क्यों न हों उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। जब लोगों ने तांत्रिकी-हिंसा को वेदसम्मत बताया तो उन्होंने वेद को मानने से भी इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा- विवेक से बढ़कर वेद नहीं हो सकता। यदि वेद अनाचार का प्रतिपादन करता हो तो वह कितना ही प्राचीन और किसी का भी बनाया हुआ हो- माना जाने योग्य नहीं। पंडित लोग वेदों के जैसे गलत अर्थ करते थे, उन्हें देखते हुए बुद्ध को उन प्रतिपादनों को अस्वीकृत करना पड़ा। उन्होंने अपने समय की अनेक कुरीतियों और अनुपयुक्त रूढ़ियों, प्रचलनों एवं मान्यताओं को तोड़-मरोड़ कर रख दिया। इसे बौद्धिक-क्रान्ति ही कहा जा सकता है। बुद्ध ने नैतिक क्रान्ति ही नहीं बौद्धिक-क्रान्ति भी की।

बुद्ध धर्म के तीसरे मन्त्र "संघं शरणं गच्छामि" में प्रत्येक व्यक्ति को संघबद्ध, अनुशासित रहने की प्रेरणा है। उच्छृंखलता, व्यक्तिवाद, संकीर्ण स्वार्थ परायणता, अनुशासनहीनता, अनुदारता की महामारी जिस समाज में भी लग जाती है, अन्ततः विनष्ट ही हो जाता है।

विशृंखलित लोग पारस्परिक सहयोग के अभाव में न तो प्रगति कर पाते हैं और न सुखी रह पाते हैं। इसलिए संघबद्धता सामूहिकता को बौद्ध धर्म में एक आवश्यक सद्गुण माना गया है। अलग-अलग गुफाओं में दूर-दूर रहने की अपेक्षा बौद्ध भिक्षुओं का निवास एवं कार्यक्रम विशाल संघारामों में ही रहने का होता था। एकाकी रहने वाले व्यक्ति संकीर्णताग्रस्त होते हैं और इस फक्कड़पन के कारण जनसेवा के लाभ से वंचित रहने पर आध्यात्मिक दृष्टि से भी पतित ही माने जाते हैं।

सत्पुरुषों, श्रेष्ठ व्यक्तियों का सामूहिक रूप से संघबद्ध रहना भी आवश्यक है क्योंकि जनमानस के पतनोन्मुख प्रवाह को रोकने के लिए एकाकी व्यक्ति का प्रयत्न नहीं होता चाहे वह कितना ही प्रतिभा सम्पन्न क्यों न हो। इसके लिए संघ शक्ति-संगठित प्रयासों की ही आवश्यकता एवं अपेक्षा रहती है। त्रेता में भगवान राम ने रीछ-बानरों का संघबद्ध सहयोग प्राप्त करके आसुरी प्रवाह को रोकने का संघर्ष किया व सफलता पायी। बुद्ध ने यह भली-भाँति समझ लिया था कि जन-शक्ति के सहयोग से ही अभीष्ट उद्देश्य में सफल होना सम्भव है। उन्होंने त्यागी, लोकसेवी और सदाचारी जाग्रत आत्माओं की एक विशाल सेना खड़ी की थी। उनके व्यापक एवं प्रबल प्रयासों से समाज की अवांछनीय स्थिति को बदलकर रख दिया। आसुरी तत्वों को कुचल मसलकर परे कर दिया। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म को सामाजिक क्रान्ति का सूत्रधार कहा जा सकता है।

बुद्ध अपने तीन प्रमुख मन्त्रों को तीन उद्देश्यों को पूर्ण करने में आजीवन प्रयत्नरत रहे। नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रान्ति के उनके सत्प्रयास निष्फल नहीं गए। अपने समय में जन-समाज की उन्होंने सच्ची सेवा की जिससे लोककल्याण का महान कार्य सम्पन्न हुआ।

आज की परिस्थितियाँ लगभग बुद्धकाल जैसी ही हैं। अनीति, अनाचार, अविवेक आदि दुर्गुण व्यापक जन-मानस में जड़ जमाये बैठे हैं। ऐसी ही विषमा वेला में महाकाल की प्रेरणा जाग्रत आत्माओं को झकझोरती है, विशिष्ट आत्माएँ ऐसी ही विपन्न परिस्थितियों में अवतरित होकर लोकव्यापी संकट का समाधान करने में जुट पड़ती देखी जाती हैं। महाकाल की प्रबल प्रेरणा से जागृत आत्माओं को नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक क्रान्ति में संलग्न देखा और समझा जा सकता है। दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन एवं सत्प्रवृत्ति संवर्धन की गतिविधियाँ दृष्टिगोचर होने लगी हैं। समझ लेना चाहिए कि नैतिक-क्रान्ति का चक्र तेजी से गतिशील हो गया है और युग परिवर्तन सन्निकट ही है। जनमानस में संव्याप्त निकृष्ट चिन्तन एवं भ्रष्ट आचरण का अब अन्त ही समझना चाहिए। मानवी पुरुषार्थ जब संतुलन बनाये रहने में असफल होता है तो व्यवस्था को भगवान स्वयं संभालते हैं।

इन दिनों कुछ ऐसा ही होने जा रहा है। महाकाल की चेतना सूक्ष्म जगत में ऐसी महान हलचलें विनिर्मित कर रही है, जिसके प्रभाव-परिणाम को देखते हुए उसे अप्रत्याशित और चमत्कारी ही माना जायेगा। अवतार सदा ऐसे ही कुसमय होते हैं, जैसा कि आज है। अवतारों ने लोक चेतना में ऐसी प्रबल प्रेरणा भरी है जिससे अनुपयुक्त को उपयुक्त में बदलने की संभावना साकार हो सके। दिव्य चक्षुओं से युगान्तरीय चेतना को गंगावतरण की तरह धरती पर उतरते प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

नवयुग की पृष्ठभूमि और मूलभूत आधार

अपने समय के मूर्धन्य विश्व विचारक बर्टेण्ड रसेल ने युग विकृतियों के कारण और निवारण पर बहुत विचार किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं, वे सभी के लिए विचारणीय हैं।

बर्टेण्ड रसेल के अनुसार; इन दिनों यह पूँजीवादी मान्यता अत्यन्त घातक है कि हर सम्भव उपाय से उत्पादन की मात्रा बढ़ाई जानी चाहिए। नई तरह की मशीनों से औरतों और बच्चों से काम लेकर काम के घण्टे बढ़ाकर विविध प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि की जानी चाहिए। उपयोगी चीजों का उत्पादन होता रहना चाहिए अन्यथा अभावजन्य अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न होंगी।

आधुनिक सुविकसित साधनों के सहारे संसार की पूरी जनसंख्या का एक हिस्सा बिना अधिक समय तक काम किये वह सारा काम निबटा सकता है जो उपयोग की वस्तुएँ पैदा करने के लिए सचमुच ही आवश्यक है। जो समय ऐश्वर्य के अनावश्यक साधनों को पैदा करने में खर्च किया जाता है, उसके कुछ भाग स्वस्थ मनोरंजन और सैर-सपाटे में खर्च करके शारीरिक एवं मानसिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। शिक्षा व सांस्कृतिक विकास कार्यों में भी उस महत्वपूर्ण समय का नियोजन हो सकता है। कला, साहित्य, गायन-वादन जैसे मनोविकास के साधनों का आविष्कार एवं विकास, अनुपयोगी वस्तुओं के उत्पादन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

संसार की मौजूदा औद्योगिक व्यवस्था इसी अदूरदर्शी नीति पर चल रही है कि वस्तुओं का बिना उपयोगी-अनुपयोगी में भेदभाव किये अधिक से अधिक उत्पादन हो। यह व्यवस्था इसी प्रकार ही चलती रही तो मानवी विकास का लक्ष्य अधूरा ही रह जायेगा। वर्तमान व्यवस्था में निरर्थक वस्तुओं के उत्पादन में क्षमता नियोजित होने से मानव बल का बहुत अपव्यय होता है।

कुछ व्यक्ति जी-तोड़ मेहनत करें और अपने स्वास्थ्य को गँवा बैठें, यह जितना अहितकर है, उतना ही यह अन्यायपूर्ण है कि कुछ लोगों की आय अधिक हो और उन्हें न्यूनतम घण्टे काम करना पड़े। यह सच है कि

शारीरिक श्रम की तुलना में बौद्धिक श्रम कम समय तक किया जा सकता है, पर यह इतना भी कम नहीं होना चाहिऐ कि एक वर्ग आरामतलब बन जाये।

सम्पत्ति के उत्तराधिकार के विषय में बर्टेण्ड रसेल का कहना है कि "यह बात तो समझ में आती भी है कि जिस-जिस आदमी का काम असाधारण रूप से उपयोगी सिद्ध हुआ है। जैसे आविष्कर्त्ता का, उसे औसत, नागरिक से थोड़ा अधिक आय का उपयोग करने दिया जाय, पर इसका कोई कारण समझ में नहीं आता कि सम्पत्ति का उत्तराधिकार बेटों, पोतों को मिलना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि एक ऐसा निकम्मा और असाधारण रूप से ऐसा सौभाग्यशाली वर्ग पैदा हो जाता है जो अपने पैसे के बल पर प्रभावशाली बन जाता है। विश्व में जहाँ भी यह उत्तराधिकार में धन मिलने की परम्परा विद्यमान हो, उसे अविलम्ब समाप्त किया जाना चाहिए।"

वितरण की वर्तमान व्यवस्था किसी सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। इसकी उत्पत्ति एक ऐसी व्यवस्था से हुई जो देश विजय द्वारा थोपी गई थी। विजेताओं ने जो व्यवस्था अपने हितों के लिए बनाई थी, उसे कानून का थोड़ा जामा पहनकर ढाल दिया गया। तब से अब तक कोई बुनियादी परिवर्तन उसमें नहीं हुआ। यह पुनर्निर्माण किन सिद्धान्तों एवं आधारों पर आधारित हो, यह एक ऐसा विचारणीय प्रश्न है जिसके उत्तर में मानवजाति का भविष्य अवलम्बित है।

इस समय दो आन्दोलन ऐसे हैं जिनसे कुछ आशा बँधती है कि ये वर्तमान अव्यवस्था और टकराव को दूर करने में सहायक हो सकते हैं। उन में से एक है, 'सहकारिता आंदोलन' तथा दूसरा है 'संघाधिपत्यवाद'। सहकारिता आंदोलन बहुत बड़े क्षेत्र में मजदूरी देकर काम लेने की पद्धति का स्थान ले सकता है एवं रेलवे जैसे क्षेत्रों में संघाधिपत्यवाद के सिद्धान्तों को सबसे आसानी से लागू किया जा सकता है।

उपभोक्ता, उत्पादन और पूँजीपति के विभिन्न हितों के बीच जो अलगाव है– वही वर्तमान व्यवस्था की सारी बुराइयों की जड़ है। सहकारी व्यवस्था उपभोक्ता और पूँजीपति के हितों में सामंजस्य स्थापित करती है। संघाधिपत्यवाद उत्पादक के हितों में समन्वय स्थापित करता है, लेकिन इन दोनों में से कोई भी व्यवस्था अपने आप में परिपूर्ण नहीं है तो भी मौजूदा व्यवस्था से ये दोनों ही व्यवस्थाएँ कहीं बेहतर सिद्ध होंगी। इन दोनों के सम्मिश्रण से एक तीसरी व्यवस्था भी निकल सकती है जो समस्त औद्योगिक समस्याओं को दूर कर सके।

बर्टेण्ड रसेल लिखते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है कि राजनैतिक क्षेत्र में लोकतन्त्र की स्थापना के लिए असंख्य नर-नारियों ने संघर्ष किया है पर उद्योगों में लोकतन्त्र की स्थापना करने का प्रयास अत्यल्प हुआ है, जबकि युग की प्रधान आवश्यकता वही है।

राजनैतिक संस्थाएँ सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य यह पूरा कर सकती हैं कि वे व्यक्ति में सृजन की प्रवृति, उमंग, उत्साह और जीवन का उल्लास बनाये रखें। लोगों में भरपूर उमंग बनाये रखने के लिए केवल सुरक्षा की ही नहीं बल्कि उत्साहवर्धक उल्लास भरे, सुअवसरों की भी आवश्यकता होती है। भय से मुक्ति का नाम सुरक्षा है। भय मुक्ति निषेधात्मक नहीं है, वरन् उस की पूर्णता, उत्साह, उमंग, आशा, सृजनशीलता और शालीनता के उदात्त अभिवर्द्धन के साथ जुड़ी है।

'मार्क्सवाद' अर्थ को तो प्रधानता देता रहा है पर यह समझना एक भूल है कि समस्त समस्याओं का एकमात्र कारण आर्थिक विषमता है, जैसा कि प्रायः मार्क्सवाद के व्याख्याकार कहते हैं– मार्क्स का अभिन्न सहयोगी एन्जेल्स स्वयं स्पष्ट करते हुए लिखता है, "नई पीढ़ी कभी-कभी आर्थिक पहलू पर जरूरत से अधिक जोर देती है, यह उचित नहीं है। यह सच है कि वस्तुओं का उचित परिमाण में उत्पादन और सही रीति से उसका वितरण समाज की सुव्यवस्था के लिए आवश्यक है पर इसका अर्थ यह नहीं कि अर्थ ही एकमात्र मनुष्य जीवन का लक्ष्य है वरन् यह कहना चाहिए कि अर्थ भी जीवन के लिए प्रमुख कारक है। जो मार्क्स के सिद्धान्तों की तोड़-मरोड़ करता है और यह कहता है कि अर्थ का अनुकूलन ही समस्त समस्याओं का एकमात्र हल है, वे भारी गलती पर हैं। मनुष्य के चिन्तक-आचरण, दार्शनिक-सिद्धान्तों, धार्मिक विचारों का भी समाज संरचना में असाधारण प्रभाव पड़ता है। ऐतिहासिक संघर्षों एवं परिवर्तनों में इनकी भी विशेष भूमिका होती है। अतएव समस्त इतिहास की अर्थ की भाषा में व्याख्या अनुचित ही नहीं हानिकारक भी है।"

दार्शनिक राबर्ट ओवेन का जन्म इंग्लैण्ड में हुआ। मालिक व मजदूर के बीच कैसा सम्बन्ध होना चाहिए। इसका एक प्रेरणास्पद उदाहरण उसने युवावस्था में एक मिल की व्यवस्था हाथ में लेते ही प्रस्तुत किया। वह चिन्तक और व्यवस्थापक दोनों ही था। मानचेस्टर की एक मिल में उस ने श्रमिकों के उत्थान के लिए जो भी कुछ किया, उसके लिए आज भी इंग्लैण्ड में उसका नाम श्रद्धापूर्वक श्रमिक वर्ग द्वारा लिया जाता है। मजदूरों के लिए उसने समग्र शिक्षा व्यवस्था बनाई। स्वास्थ्य की सुविधाएँ उपलब्ध करायीं। निकटवर्ती क्षेत्रों में शराब की दुकानें बन्द करा दीं। श्रमिकों को उनके उत्तम चरित्र और पदोन्नति के लिए पारितोषिक देने की व्यवस्था की। परिणाम यह हुआ कि स्वास्थ्य, स्वच्छता एवं शिक्षा का स्तर बढ़ते ही श्रमिकों की स्थिति दिन-प्रतिदिन सुधरती गई। बाद में चिन्तन और लेखन उसकी प्रिय अभिरुचि के

विषय बन गये। अपनी पुस्तक 'लाइफ आफ ओवेन' में वे लिखते हैं कि समस्त मानवी हलचलों का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति है पर सुख किसी व्यक्ति विशेष के लिए नहीं उपलब्ध कराया जा सकता वरन् समस्य मनुष्य जाति को ध्यान में रखकर प्रयास करने से ही स्थाई सुख-शांति सम्भव है। उसके लिए सामूहिक विकास से सम्बन्धित उद्योगों को प्रोत्साहन देना होगा।

वह कहते हैं कि आदमी का व्यक्तित्व उस परिस्थिति से निर्मित होता है जिसमें वह पैदा हुआ, जहाँ वह रहता और काम करता है। बुरी परिस्थितियाँ बुरे व्यक्तित्व पैदा करती हैं व अच्छी परिस्थितियाँ अच्छे व्यक्तित्व को। परिस्थिति को अच्छा बनाने के लिए ओवेन कुछ प्रमुख बातों पर जोर देते हैं-

(१) शिक्षा सार्वजनिक, सर्वसुलभ और हर व्यक्ति के लिए अनिवार्य होनी चाहिए तथा सदुद्देश्यपूर्ण हो।

(२) सम्पत्ति इतनी होनी चाहिए कि हर व्यक्ति खुशहाली का जीवन जी सके।

(३) बेकारी का डर नहीं होना चाहिए। उनके लिए उद्योगों का संचालन दूरदर्शी, उदारमान और सर्वहितैषी के हाथो में सौंपा जाना आवश्यक है।

१९वीं सदी के आरम्भ का ओवेन पहला व्यक्ति था जिसने अपने ही विचारों को क्रियात्मक स्वरूप देने का प्रयास किया। 'सोशल सिस्टम' पुस्तक में उसने कम्यून व्यवस्था पर आधारित जिस समाज की परिकल्पना की थी। उसे प्रायोगिक रूप १८२४ में दिया। ३० हजार पोंड की राशि से उसने हार्मनी इण्डियाना में ६०,००० एकड़ जमीन खरीदी तथा न्यू हार्मनी के नाम से एक साम्यवादी उपनिवेश बसाया, जिससे सदस्यों की संख्या क्रमशः हजारों से बढ़ते हुए कुछ ही वर्षों में लाख तक जा पहुँची।

उपनिवेश का उद्घाटन करते हुए ओवेन ने कहा था कि "मैं एक बिल्कुल नई सामाजिक व्यवस्था, नये प्रयोग का शुभारम्भ कर रहा हूँ ताकि दुनिया संकीर्णता के दलदल से निकले और समूह में भाई-भाई की भाँति रहना सीखे।"

'बाबूफ' फ्रांस का एक समाजवादी विचारक था। (जीवन काल १७६४ से १७९७ तक) फ्रांस की क्रान्ति को उसने ही दिशा दी। कार्ल मार्क्स के पूर्व ही उसने साम्यवादी विचारधारा का उद्घोष किया था। पूँजीवादी सरकार के विरोध में आवाज उठाने के कारण उसे अन्ततः मात्र ३३ वर्ष की आयु में फाँसी पर लटका दिया गया।

बाबूफ के अनुसार, मानवी विकास का लक्ष्य होना चाहिए एक ऐसे समाज की संरचना, जिसमें हर व्यक्ति सुख-शांति से भरा-पूरा जीवन व्यतीत करे पर यह तभी सम्भव है जब हर व्यक्ति समान हो। समान इस अर्थ में कि प्रत्येक को जीवनयापन की अनिवार्य सुविधाएँ मिलें।"

समाज के पुनर्निर्माण का बाबूफ ने जो आधार दिया वह यह था कि प्रकृतिप्रदत्त समस्त सम्पदा का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। व्यक्ति को निजी सम्पत्ति रखने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। विरासत में किसी भी व्यक्ति को पैतृक सम्पत्ति न मिले। मरने के बाद उसकी सम्पत्ति सरकारी ट्रस्ट के हाथों सौंप दी जाय। सरकार तथा सरकारी आधिकारी जनता द्वारा सीधे चुने जायँ। चुने हुये अधिकारियों की देख-रेख में सारी उत्पादित वस्तुओं का वितरण व्यक्ति की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाय न कि उसकी योग्यता को देखकर। प्रबन्धक और कर्मचारियों का स्थानान्तरण होते रहना आवश्यक है ताकि उनमें शक्ति के लोभ का भय नहीं रहे और भ्रष्टाचार पनपने की गुंजाइश कम रहे। वोट वही दे सकेंगे जो चरित्रवान हैं तथा समाज के लिए उपयोगी काम करने में विश्वास रखते हों। बच्चों को संकीर्ण स्वार्थपरता से ऊँचे उठकर समाजपरायण, कर्तव्यनिष्ठ होने की शिक्षा आरम्भ से ही दी जानी चाहिए ताकि वे आगे चलकर सुयोग्य नागरिक सिद्ध हो सकें।

फ्रांस के प्रसिद्ध समाजशास्त्री और प्रजातन्त्र सिद्धान्त के जन्मदाता 'जीनजेक्स रूसो' ने भावी प्रगति के लिए बाल शिक्षा को प्रधानता देने की बात कही है। वे कहते हैं उज्ज्वल भविष्य की संरचना सुव्यवस्थित समाज से होगी। सुव्यवस्थित समाज के लिए नागरिकों को चरित्रनिष्ठ और समाजनिष्ठ बनना चाहिए। यह कार्य उपदेशों, परामर्शों, प्रदर्शनों से नहीं वरन् उस वातावरण के द्वारा सम्पन्न होना चाहिए जो व्यक्तित्व को अपने ढाँचे में ढाल सके। यह ढलाई बड़ी आयु हो जाने पर बड़ी कठिनाइयों से ही हो सकती है इसलिए जैसे भी खिलौने ढालने हों उसका प्रयास तभी होना चाहिए जब मिट्टी गीली हो। सूख जाने पर, पक जाने पर परिवर्तन का प्रयास अत्यन्त कष्टसाध्य है।

रूसो का इस संदर्भ में, लिखा एक उपन्यास 'इमिले' विश्वविख्यात है। इसमें उसने बाल-विकास और बाल-विकास के लिए किस प्रकार का वातावरण आवश्यक है, यह बताया है । साथ ही यह भी सुझाया कि वैसा वातावरण बनाने के लिये न केवल अभिभावकों वरन् समूचे समाज को क्या प्रयत्न करना चाहिए।

वे कहते हैं कि बालकों पर किताबी बोझ न लादा जाय। दस वर्ष तक, उनके शरीर को स्वास्थ्य और आदतों को शालीन बनाने पर पूरा ध्यान केन्द्रित किया जाय। उन्हें आरम्भ से ही संगीत की शिक्षा दी जाये। भावनात्मक विकास के लिए यह नितान्त आवश्यक है। उनकी दृष्टि मे खेलकूद के विभिन्न आयोजनों द्वारा, मनोविनोद के विभिन्न उपकरणों द्वारा व्यक्तित्ववान् बनाया जा सकता है। छोटी आयु में बालकों के बहुत पढ़ाने को वे अत्याचार कहते हैं और बताते हैं कि इससे वे पढ़ाकू तो हो सकते हैं पर व्यक्तित्व की दृष्टि से बुरी तरह कुचल जायेंगे। डरा धमका

कर सुधारने की अपेक्षा उनको उपयोगी कार्यों में लगा देने और चिन्तन को रचनात्मक दिशा देने की बात पर उन्होंने अधिक जोर दिया है। जो जिस विषय का विशेषज्ञ बनना चाहे वह उसमें प्रवीणता प्राप्त करने की सुविधा उपलब्ध करे यह एक बात है। किन्तु सामान्य जीवनयापन करने और उन्हें व्यावहारिक ज्ञान से वंचित रखकर पुस्तकी कीड़ा बना देने की वे अनुमति नहीं देते। नारी की प्रकृति की संरचना की ओर ध्यान दिलाते हुए और उसके मातृत्वपरक सहज उत्तरदायित्वों का स्मरण कराते हुए उनका मत है कि नारी शिक्षा का लक्ष्य पुरुष शिक्षा से कुछ भिन्न रखना आवश्यकता है। सामान्य ज्ञान दोनों एक जैसा प्राप्त करें पर साथ ही यह भी न भूला जाय कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की व्यावहारिक जीवन की समस्याओं का समाधान करना तथा सुख-शान्ति, प्रगति का मार्ग प्रशस्त करना है।

रूसो ने भी मानवी भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए बालकों के व्यक्तित्व निर्माण को सर्वोपरि महत्व दिया है और कहा है कि नवयुग की पृष्ठभूमि और आधारशिला उन्हीं के बलबूते विनिर्मित की जा सकती है।

विश्व इतिहास पर दृष्टिपात करने से एक बात और भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है कि संसार में जितने भी परिवर्तन हुए हैं भले ही वे व्यक्तिगत स्तर पर सम्पन्न हुये हों अथवा सामाजिक रूप से, इन परिवर्तनों का आधार केवल विचारों का परिवर्तन, आस्थाओं का परिष्कार और जनमानस का शोधन ही रहा है। बाहरी नियम बनाकर अथवा सामाजिक दबाव डालकर कुछ कार्य पूरे भले ही कर लिये हों परन्तु ऐसे प्रयास समय पाकर विफल ही सिद्ध होते आये। किसी युग में बाहरी दबावों के कारण लोगों को लम्बे समय तक दबाए रहना भले ही संभव हो गया परन्तु अब दिनों-दिन शिक्षा का प्रसार होता जा रहा है, फलस्वरूप लोगों में जाग्रति भी आई है और वे ऐसी मनःस्थिति में नहीं है कि बाहरी प्रभाव या नियमों के दबाव को लम्बे समय तक सहन कर सकें। वैसे भी बाहरी दबाव केवल हाथ-पैरों को बाँध देने जैसे ही सिद्ध हो सकते हैं, पाबन्दियों को तोड़ने और इनके लिए निर्धारित दण्ड से बच निकलने का उपाय ढूँढ़ ही लेते हैं। कारण कि बाहरी दबाव या नियम कानूनों से व्यक्ति की आंतरिक स्थिति में तो कोई परिवर्तन होता नहीं। इसलिए दमन, दबाव और दण्ड का भय प्रायः असफल ही सिद्ध होता आया है। परिवर्तन जो भी स्थाई और प्रभावशाली सिद्ध हुए उनकी सफलता का रहस्य विचारों में परिवर्तन लाने वाले वे प्रयत्न है जिनमें लोगों की आन्तरिक स्थिति बदली जा सकी।

इन दिनों जिस व्यापक परिवर्तन की आवश्यकता है, यह पिछले सभी परिवर्तनों और क्रान्तियों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण का लक्ष्य लेकर चलने वाले प्रत्येक लोकसेवी को यह दृष्टिकोण अपनाना और समझना चाहिए। इसी मूल नीति के आधार पर अपने निकटवर्ती जनों को प्रेरणा प्रोत्साहन देने से लेकर व्यापक स्तर पर इन प्रवृत्तियों का विकास करने के लिये प्रयत्न करना चाहिए। विचार-क्रान्ति, दृष्टिकोण का सुधार, भावनात्मक परिष्कार या आस्थाओं का शोधन, नाम चाहे जो भी रख लिया जाय उससे आशय एक ही है और वह यह है कि मनुष्य को नियन्त्रित और संचालित करने वाली चेतना को प्रभावित कर उसे अभीष्ट दिशा दी जाय। यह करने पर ही समाज में सुख की, शान्ति की स्थापना हो सकती है। इस तरह के परिवर्तन राजदण्ड या कानून बनाने से नहीं हो सकते और नहीं केवल दोष दुष्प्रवृत्तियों की बुराई, आलोचना या निन्दा करने भर से काम चल सकता है। राजदण्ड, राजनियम और सामूहिक निन्दा आवश्यक तो है फिर भी वह समाज में व्याप्त विकृतियों का सम्पूर्ण उपचार नहीं हैं। उपचार और समाज का नवनिर्माण तो तभी संभव है जब उसमें रहने वाले मनुष्यों का आन्तरिक स्तर सद्‌विचारों और सद्‌भावनाओं से भरा हुआ हो। राजनियमों के प्रति सम्मान, निन्दा और भय तथा समाज के प्रति निष्ठा भी तो ऐसे व्यक्तियों में ही होती है जिनके हृदय उदार और विचार उज्ज्वल हैं, जिनके मन में आदर्शवादिता के आस्था और सिद्धान्तों के प्रति रुझान या लगाव हो।

लोकसेवियों को व्यापक परिवर्तनों के लिए प्रयास करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि बुरे विचार ही बुरे कर्म के रूप में परिणत होते हैं और अच्छे कर्म सद्‌विचारों का ही प्रकटीकरण व्यक्त स्वरूप होते हैं। जिस प्रकार हवा में पानी हो तो ही हिमपात या वर्षा होती है। यदि हवा में पानी का अंश न रहे तो न बर्फ गिर सकती और न ही बरसा हो सकती है। इसी प्रकार विचारों में बुराई का अंश ही कुकर्म बनकर प्रकट होता है और अच्छे विचार ही सत्कर्मों के रूप में सामने आते हैं।

प्रश्न उठता है कि किस प्रकार लोकमानस के परिष्कार का प्रयास किया जाय? किस आधार पर व्यापक परिवर्तन प्रस्तुत किये जायें? मनुष्य के सोचने और विचारने के तरीके में आई गिरावट को किस प्रकार मिटाया जाय? तथा उसे कैसे उत्थान की ओर अग्रसर किया जाय? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि विचारणाओं और भावनाओं में, आस्थाओं और मान्यताओं में आयी विकृतियों का निराकरण सद्‌विचारों की स्थापना, आदर्शवादिता की प्रतिष्ठापना द्वारा ही सम्भव है। इसके लिए विचार-क्रान्ति की प्रक्रिया, भावनात्मक परिष्कार का उपक्रम व्यापक स्तर पर चलना चाहिए तथा उत्कृष्ट और प्रगतिशील विचारों को जन-जन तक पहुँचाना चाहिए।

प्राचीनकाल में किसी भी महापुरुष के विचार, कोई भी अच्छा सिद्धान्त बड़े प्रयत्नों के बाद एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँच पाता था। फलतः अभीष्ट परिवर्तन के लिए एक कठिनाई यह भी थी कि परिवर्तन-प्रक्रिया काफी लम्बे समय में सम्पन्न हो पाती थी। विज्ञान ने अब यह कठिनाई दूर कर दी हैं। अब पर्याप्त संचार-साधन और सुविधाएँ उपलब्ध हैं। प्रेस और प्रकाशन के साधनों की बहुलता है। प्रचार के पुराने तरीकों में भी सुधार हो चुका है। इन सब कारणों से सद्विचारों का प्रचार कोई बहुत अधिक श्रम साध्य या पहले जैसा कष्टसाध्य कार्य नहीं रह गया है।

सद्विचारों का प्रचार और उन्हें जन-मानस में प्रतिष्ठित करना तब भी दुस्साध्य था, जबकि विचारशीलता का अभाव था। लेकिन आधुनिक युग में शिक्षा के प्रसार और हर क्षेत्र में लोगों की विकसित रुचि के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि लोगों में किसी विचार को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है। विचारशीलता का पहले जैसा अभाव नहीं है। सभ्यता के विभिन्न क्षेत्रों में विकास करने के साथ-साथ आज का मनुष्य इतना विचारशील भी बना है कि यदि उसे तथ्य समझाया जाए, विचारों को दिशा दी जाय तो वह उन्हें समझने और मानने के लिए तैयार हो जाता है। लोकसेवियों को चाहिए कि आदर्शवादिता की प्रतिष्ठापना के लिए, उत्कृष्ट सिद्धान्तों का आरोपण करने के लिए वे जन-जन के पास जायें और लोगों की आस्थाओं, मान्यताओं तथा विचारणाओं को परिष्कृत करने के लिए आवश्यक प्रयास करें।

आवश्यक नहीं है कि इस प्रयोजन के लिए वहीं लोग प्रयत्न करें जिनमें ऐसी सामर्थ्य हो। युद्ध के मोर्चे पर लड़ने वाले हथियार बनाना नहीं जानते । कारखानों में थोड़े से लोग ही हथियार बनाते हैं और हजारों-लाखों सिपाही उनसे लड़ाई लड़ते हैं। विचारक्रान्ति के लिए भी ज्ञान अस्त्रों, पुस्तकों को लेकर हजारों लोग निकल सकते हैं और प्रेरक तथा दिशा प्रदान करने वाले विचारों का समाधान कर कुविचारों, निकृष्ट मान्यताओं का हनन कर सकते हैं। इसके लिए सुलझी विचारधारा का साहित्य लेकर निकलना चाहिए, लोगों को उसे पढ़ने तथा विचार करने की प्रेरणा देनी चाहिए, उसके साथ ही अशिक्षित व्यक्तियों के लिए पढ़कर सुनाने या परामर्श द्वारा प्रेरणा देने की प्रक्रिया चलानी चाहिए।

व्यापक परिवर्तन के लिए विचारक्रान्ति ही एकमात्र उपाय है और यह उपाय सद्विचारों के प्रचार द्वारा आस्थाओं के निर्माण के रूप में क्रियान्वित करना चाहिए।

क्रान्ति का सही अर्थ समझें

परिवर्तन सृष्टि का शाश्वत नियम है। मनुष्य, समाज, संस्कृति और सभ्यता को इस परिवर्तन प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ता है। समय-समय पर कितनी ही नवीन परम्पराओं, प्रचलनों एवं प्रथाओं का देश और समाज की आवश्यकता के अनुरूप प्रादुर्भाव होता है। एक समय की उपयोगी मान्यताएँ एवं परम्पराएँ दूसरे समय में अनुपयोगी हो जाती हैं। उनमें परिवर्तन सुधार की आवश्यकता पड़ती है। समाज व्यवस्था शासनतन्त्र आदि में भी समय-समय परिवर्तन होते रहते हैं। एक व्यवस्था, एक नियम, ए कानून हर काल में उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकते। उनम बदली परिस्थितियों की माँगों के अनुरूप हेर-फेर करते रहने से ही समाज की सुव्यवस्था कायम रह सकती है। समाज के सुनियोजित संचालन और विकास की दृष्टि से परिवर्तन आवश्यक और उपयोगी भी है।

कितनी ही प्रथाएँ, मान्यताएँ एवं व्यवस्थाएँ एक निश्चित अवधि के बाद जराजीर्ण हो जाती तथा ऐसा रूढ़ियों का रूप ग्रहण कर लेती हैं जो व्यक्ति और समाज के लिए हर दृष्टि से हानिकारक हैं पर पुरातन के मोह अथवा स्वार्थों पर आघात पहुँचने के भय से मनुष्य उन्हें छोड़ना नहीं चाहता उनसे चिपका रहता है। फलतः एक ऐसा अवरोध पैदा होता है जो विकास-प्रक्रिया का मार्ग अवरुद्ध करता है। अराजकता, अव्यवस्था तथा अवांछनीयता को ऐसी ही परिस्थितियों में आश्रय मिलता है। उनमें सुधार एवं परिवर्तन के लिए जब व्यक्तिगत विरोधात्मक प्रयत्न कारगर सिद्ध नहीं होते तो व्यापक परिवर्तन करने वाली क्रान्तियों का जन्म होता है जो आंधी-तूफान की भाँति आती हैं तथा अपने प्रवाह में उस कचरे को बहा ले जाती हैं जिनके कारण समाज में अव्यवस्था फैल रही थी।

प्रयास संघर्षात्मक होते हुए भी क्रान्ति सृजन की एक ऐसी प्रक्रिया है जो उपयोगी मानवीय मूल्यों को पुनर्स्थापना एवं सुनियोजन के लिए आवश्यक है। जनमानस में संव्याप्त भ्रान्तियों में से एक यह है कि क्रान्ति परिवर्तन की हिंसात्मक पद्धति है तथा क्रान्तियों को जन्म देने में आर्थिक विषमता ही प्रधान कारण होती है। वस्तुतः कार्लमार्क्स की साम्यवादी विचारधारा के बढ़ते हुए प्रभाव ने उपरोक्त मान्यता को जन्म दिया । मानव जीवन के अनिवार्य पहलू- अर्थ और सम्बन्धित तन्त्र के व्याख्या होने के कारण मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि समाज में मूलभूत प्रेरक शक्ति अर्थ ही है। आर्थिक असन्तुलन ही समाज की विभिन्न समस्याओं को जन्म देता है। यह असन्तुलन जब चरमसीमा पर जा पहुँचता है तो क्रान्तियों का सूत्रपात होता है। मार्क्स के अनुसार विश्व की अधिकांश क्रान्तियाँ आर्थिक विषमता के कारण हुई हैं, यह मान्यता एकांगी और अपूर्ण है। वस्तुस्थिति की गहराई में पहुँचने के लिए इतिहास का पर्यवेक्षण व अध्ययन करना होगा।

प्रख्यात फ्रांसीसी क्रान्ति का इतिहास यह बताता है कि उन दिनों फ्रांस में निरंकुश शासकों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। अत्याचार, अन्याय की चक्की में जनता पिस रही थी। नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं अधिकार लगभग समाप्त हो गये थे। फ्रांसिसी क्रान्ति में समानता का विचार अर्थ के आधार पर नहीं, बुद्धि के आधार पर मानवतावादी सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में किया गया, मौलिक प्रेरणा यह थी कि मनुष्य जब जन्म लेता है तो स्वतन्त्रता तथा समानता का अधिकार एक समान होता है। इस स्वतन्त्रता तथा प्राकृतिक समानता को जबरन प्रतिबन्धित नहीं किया जाना चाहिए। इस विचारणा ने फ्रांस की क्रांति का सूत्रपात किया। सूत्रदार बने वाल्टेयर और रूसो। तब तक रूसो की सशक्त समाजवादी विचारधारा प्रभाव में आ चुकी थी जिसने फ्रांस के बौद्धिक समुदाय में प्रेरणा भरकर अनीति और अत्याचार के विरुद्ध उकसाया।

इंग्लैण्ड की प्यूरिटन क्रान्ति पर प्रभाव बाइबिल में प्रतिपादित समानता के विचारों का था जिसे राजनीतिक समर्थन भी मिल गया। उन दिनों ब्रिटिश पार्लियामेन्ट लोकतान्त्रिक नहीं थी, अधिकार भी सीमित थे। साम्राज्यवादी शासन का देश पर प्रभुत्व था। असमानता की खाई पाटने की तीव्र आवाज उठी। धार्मिक एवं राजनैतिक दोनों ही मंचों से एक साथ साम्राज्यवाद के विरोध में वैचारिक वातावरण तैयार हुआ जिसने क्रान्ति का सूत्रपात किया।

दास प्रथा के विरुद्ध अमेरिका में जिस क्रान्ति का जन्म हुआ वह मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए था। काले, गोरों के बीच भेद-भाव की प्रवृत्ति चरम सीमा पर थी। वर्णभेद के पनपते विष-वृक्ष ने समाज की उन जड़ों को खोखला बनाना आरम्भ कर दिया जिन पर मनुष्यता आधारित है। काले नीग्रो पर गोरों का अत्याचार अनाचार बढ़ता ही जा रहा था। उत्पीड़ित मानवता के व्यथित स्वर ने विद्रोह की आवाज फूँकी । फलस्वरूप सर्वत्र अमानवीय दास-प्रथा के विरुद्ध आवाज उठी जो क्रमशः तीव्र होती गयी। दास प्रथा का अन्त हुआ ।

इतिहास की ये महत्वपूर्ण क्रान्तियाँ अर्थ से अभिप्रेरित नहीं थीं। इनका लक्ष्य था व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य, राजनैतिक लोकतन्त्र तथा मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना । रूस की आधुनिक क्रान्ति को मार्क्स के वर्ग युद्ध के दर्शन शास्त्र का आदर्श स्वरूप माना जाता है जबकि सत्य दूसरा ही है। रूसी क्रान्ति का जन्म जार के अत्याचारी, भ्रष्ट शासन के विरोध में हुआ न कि वह वर्ग संघर्ष अथवा आर्थिक असमानता का प्रतिफल था। अस्तु-आर्थिक विषमता को एक मात्र सभी समस्याओं का कारण मानना तथा क्रान्तियों का सूत्रधार कहना विवेकसम्मत नहीं है।

क्रान्ति का स्वरूप हिंसात्मक भी नहीं है जैसी कि मान्यता अधिकांश व्यक्तियों के मन में बनी हुई है। क्रान्ति का अर्थ है –वैचारिक परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें जनचेतना अनौचित्य का विरोध करने, छोड़ने तथा औचित्य को अपनाने के लिए विवश हो जाय। जो क्रान्तियाँ आरम्भ हुईं अहिंसात्मक तरीके से, पर आगे चलकर हिंसात्मक रूप में बदल गयीं वे समाज में विशेष परिवर्तन कर सकने में समर्थ न हो सकीं। प्रमाण सामने है– विश्व की भौतिक एवं सामाजिक क्रान्तियों का इतिहास विश्व की अधिकांश क्रान्तियाँ जिन आदर्शों से प्रेरित होकर शुरू हुईं वे आगे चलकर गौण हो गये और एकमात्र सत्ता का परिवर्तन ही प्रमुख लक्ष्य रह गया। सत्ता के संकुचित लक्ष्य तक केन्द्रित हो जाने से क्रान्ति का अभीष्ट लक्ष्य कभी पूरा न हो सका। निरंकुश तानाशाही शासन से तात्कालिक राहत भले ही मिल गयी हो पर क्रान्ति का समग्र उद्देश्य अपूर्ण ही बना रहा। क्रान्ति का अर्थ है– व्यक्ति के अन्तरंग और बहिरंग का आमूलचूल परिवर्तन। एक ऐसा परिवर्तन जो मनुष्य समुदाय को परस्पर एक-दूसरे के निकट लाता तथा बाँधता हो। समाज की रूढ़िग्रस्त परम्पराओं और कुरीतियों को समाप्त करता तथा स्वस्थ परम्पराओं के प्रचलन के लिए साहस दिखाता हो। निःसन्देह क्रान्ति का स्वस्थ स्वरूप और महान लक्ष्य यही होना चाहिए।

स्पष्ट है कि इस महान् लक्ष्य की पूर्ति हिंसात्मक तरीके से नहीं विचारक्रान्ति के अहिंसात्मक आध्यात्मिक प्रयोग-उपचारों के द्वारा ही सम्भव है। बुद्ध का धर्म-चक्र प्रवर्तन क्रान्ति का आदर्श और समग्र स्वरूप था। गान्धी का स्वराज्य आन्दोलन भी इन्हीं आदर्शों से अभिप्रेरित था। मात्र बाह्य परिवर्तनों से समाज की अनेकानेक समस्याओं का समाधान होना सम्भव रहा होता तो कभी का हो गया होता। विश्व में कितनी हिंसात्मक क्रान्तियाँ हुई हैं। सत्ता में परिवर्तन भी हुए हैं पर मानव जाति की मूल समस्या अपने स्थान पर यथावत् बनी हुई है। फ्रान्स, इंग्लैण्ड, अमेरिका, रोम तथा रूस की प्रख्यात क्रान्तियों के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता है कि इन देशों में मानवतावादी व्यवस्था स्थापित हो गयी है, असमानता की खाई पट गयी है और आपसी स्नेह, सौहार्द्र की मात्रा बढ़ी है। सत्ता परिवर्तन के सीमित आवेग और आवेश तक सीमित रह जाने वाली हिंसात्मक क्रान्ति की पद्धति से किसी भी समस्या का स्थायी हल नहीं निकल सकता। आये दिन तथाकथित क्रान्ति के नाम पर कितने ही देशों में सत्ता के उलट फेर की घटनाएँ देखी और सुनी जाती हैं पर उनसे किसी देश में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना में सहयोग मिला हो, ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं देखने में आया हो।

यह तथ्य भली-भाँति हृदयंगम करना होगा कि परिवर्तन का केन्द्रबिन्दु मनुष्य है। बाह्य परिस्थितियाँ तो आन्तरिक परिवर्तन के अनुरूप बनती-बदलती रहती हैं। क्रान्ति की सफलता मनुष्य के आन्तरिक परिवर्तन पर अवलम्बित है। समग्र-क्रान्ति भी मनुष्य के भीतर ही सम्भव

है। समाज को तो यथास्थिति ही प्रिय है- उसकी स्वयं की व्यक्तियों से अलग कोई सत्ता नहीं है। बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन की बात सोचते रहने तथा मनुष्य के आन्तरिक परिवर्तन की उपेक्षा करते रहने से कुछ स्थायी हल नहीं निकल सकता। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विचारक 'लारेंस हाइड' ने कुछ सारगर्भित प्रश्न उठाये हैं जो विचारणीय हैं। उनका कहना है कि क्या व्यक्ति का पुनर्निर्माण किए बिना समाज का निर्माण सम्भव है? मानव के भीतर बैठे हुए बन्दर एवं चीते को क्या मात्र बाह्य दबावों से नियन्त्रित, परिवर्तित किया जा सकता है? क्या बिना किसी उच्च आदर्श अथवा शक्ति का आश्रय लिए हम वह प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं जिनकी उन समस्याओं के हल के लिए आवश्यकता है जो समय-समय पर होती रहने वाली क्रान्तियों के बावजूद यथावत् बनी रहती हैं। क्या मनुष्य के बीच परस्पर सघन आत्मीयता विकसित किये बिना सच्चे समाजवाद की स्थापना सम्भव है? क्या हम केवल भौतिक शक्तियों का आश्रय लेकर बिना आध्यात्मिक जीवन का अवलम्बन लिए मानव जाति को स्थायी सुख-शान्ति प्रदान कर सकते हैं लारेंस स्वयं उत्तर देते हुए कहते हैं- "ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। हमें स्थायी परिवर्तन के लिए एक ऐसी आध्यात्मिक क्रान्ति का श्रीगणेश करना होगा जो अहिंसात्मक हो, वैचारिक हो तथा जिसका लक्ष्य सम्पूर्ण विश्व हो न कि सीमित व्यक्तियों अथवा एक समाज विशेष का मात्र परिवर्तन।"

कहना न होगा कि आध्यात्मिक क्रान्ति द्वारा ही व्यक्ति का बाह्यान्तर परिवर्तन तथा समाज का पुनर्निर्माण संभव है। इसके लिए एक ऐसे सशक्त वैचारिक वातावरण का सृजन करना होगा कि मनुष्य उस परिवेश की उत्कृष्टता में ढलता चला जाय। संगठन-शक्ति की महत्ता, उपयोगिता असंदिग्ध है। बड़े परिवर्तन संगठन के बिना नहीं हो सकते। व्यक्ति अकेला कितना भी समर्थ क्यों न हो -एकाकी कुछ नहीं कर सकता। संसार में जब भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, संगठित प्रयासों के बलबूते। आध्यात्मिक क्रान्ति की चिनगारी भी उत्कृष्ट व्यक्तियों की आहुति पाकर प्रज्ज्वलित होगी। दावानल का स्वरूप ग्रहण करेगी। सर्वत्र संव्याप्त दुष्प्रवृत्तियों, अवांछनीयताओं, कुरीतियों, मूढ़ मान्यताओं, अन्धविश्वासों का कूड़ा-करकट उस दावानल में ही जल सकेगा पर उस अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए सर्वप्रथम ऐसे भावनाशीलों को आगे आना होगा जो स्वयं के व्यक्तित्व को सोने की भाँति तपा सकें और कुन्दन बन कर समाज में आलोकित हो सकें। नवसृजन के आध्यात्मिक क्रान्ति आयोजन में उन्हें ही आगे बढ़कर हिस्सा बँटाना होगा जो समस्त मानव जाति का भविष्य उज्ज्वल देखने के इच्छुक हैं तथा ध्वंस में नहीं सृजनात्मक प्रयासों में विश्वास रखते हैं।

नैतिक एवं बौद्धिक परिवर्तन का आह्वान

नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्रों में घुसी हुई भ्रान्तियाँ अपने-अपने क्षेत्रों में चित्र-विचित्र प्रथा-परम्परा बनकर रही हैं और प्रचलन में इतनी गुँथ गई हैं कि उनकी अनुपयुक्तता के बारे में सन्देह करने तक की आवश्यकता नहीं समझी जाती।

मानवी सत्ता, स्रष्टा की अनुपम कलाकृति है, उसे इसलिए सृजा गया है कि अपनी विशिष्टता और वरिष्ठता के सहारे इस विश्व उद्यान को सुरभित, समुन्नत रखे। औसत नागरिक की तरह सादगी भरा निर्वाह करे- उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श चरित्र की गौरव-गरिमा बनाये रहे-पवित्रता एवं प्रखरता पर आधारित व्यक्ति समर्थ्य रखें-तथा ऐसी योजना बनाकर चलें जिसका अनुकरण करने वाले निरन्तर ऊँचे उठते, आगे बढ़ते रहें। संक्षेप में यही है मनुष्य की नीति-मर्यादा का सार-संक्षेप। इसका जो जितना परिपालन करता है वह उतना ही नीतिवान है। इस निर्धारणा को जो जितना तोड़ता है जो लोभ, मोह और अहंकार के लिए ही मरता-खपता है-जिसे वासना-तृष्णा के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं- जिसे संकीर्ण स्वार्थपरता से आगे की बात सोचने की फुरसत ही नहीं- जिसके मन में लोकमंगल के उत्तरदायित्व निभाने के लिए उल्लास उठता ही नहीं उसे अनैतिक कहना चाहिए। उद्धत अपराधों की तरह संकीर्ण स्वार्थपरता भी तत्वदर्शियों द्वारा अनीति ही मानी गई है। देखा जाना चाहिए कि अनीति ने व्यक्तिगत रुझान और सामुदायिक प्रचलन में कितनी गहरी जड़ें जमायी हैं। इन्हें उखाड़ने के लिए उतनी ही गहरी खुदाई करने की आवश्यकता पड़ेगी। हर व्यक्ति को समझाया जाना चाहिए कि प्रस्तुत प्रवाह में बहने पर वह किस प्रकार हर दृष्टि से घाटे ही घाटे में रहता है। समझना होगा कि यदि आदर्शवादिता अपनाई जा सके तो उसमें पूरी तरह लाभ ही लाभ है।

बौद्धिक क्षेत्र में अन्धविश्वासों के उलूकों ने कितने घोंसले बना रखे और वे कितनी निश्चिन्तता से बस गये हैं यह देखकर आश्चर्य होता है। आहार को ही लें भूना तला, मिर्च-मसाले वाला स्वादिष्ट समझा जाने वाला अभक्ष्य ही हम सब उदरस्थ करते हैं। नशा पीते हैं। यह भूलते ही जा रहे हैं कि मानवी आहार में शाक-भाजी की प्रमुखता कितनी आवश्यक है। अन्न लेना हो तो उबाल लेना ही पर्याप्त है। माँस मानवी आहार में किसी दृष्टि से फिट नहीं बैठता। खारी नमक-सोडियम क्लोराइड- एक प्रकार का विष है। इसी प्रकार शीरा निचोड़ देने के बाद चीनी भी मीठा जहर सिद्ध होती है पर कौन किसे समझाये कि वर्तमान पाक-विद्या एवं स्वाद-लिप्सा प्रकारान्तर से

धीमी आत्महत्या ही सिद्ध होती है। यदि आहार क्षेत्र में विचार-क्रान्ति का समावेश हो सके तो दावे के साथ कहा जा सकता है कि प्रस्तुत दुर्बलता और रुग्णता से आधा छुटकारा अनायास ही मिलता है। इसी प्रकार सोने-जागने, श्रम करने, धूप हवा के सम्पर्क में रहने, ब्रह्मचर्य पालने जैसे मोटे-मोटे प्रकृति निर्देशों को पाला जा सके तो मनुष्य भी स्वच्छन्द जीवन जीने वाले अन्य प्राणियों की तरह नीरोग एवं दीर्घजीवी रह सकता है। यदि आहार-विहार का प्रचलित प्रवाह उलटा जा सके तो समझना चाहिए कि पीड़ा सहने, चिकित्सा में धन गँवाने, अशक्त रहने, अनुपयोगी बनने, असमय बेमौत मरने जैसे अगणित संकटों से सहज छुटकारा मिल गया।

मानसिक विक्षोभों का प्रधान कारण है-निषेधात्मक चिन्तन। जो उपलब्ध है उसका सन्तोष आनन्द लेने की अपेक्षा जो नहीं है, उसी की सूची बनाये फिरना, अधिक सम्पन्नों के साथ तुलना करके दरिद्र अनुभव करना तुलना करना ही है तो पिछड़ों के साथ करके अपने सौभाग्य को सराहा क्यों न जाय। चारों ओर जो उत्साहवर्धक वातावरण भरा पड़ा है जिसे देखने, सोचने, स्मरण करने से कृतज्ञता, प्रसन्नता की अनुभूति होती है उसी पर ध्यान केन्द्रित क्यों न किया जाय? मनोकामनाओं के पर्वत सिर पर लादने की अपेक्षा निर्वाह में सन्तोष करने की आदत क्यों न डाली जाय। अभीष्ट प्रतिफल की ललक में आकुल-व्याकुल रहने की अपेक्षा कर्तव्यपालन में निरत रहने और उतने भर में गर्व-गौरव अनुभव करने की आदत क्यों न डाली जाय? हार-जीत की परवाह न करते हुए भी खिलाड़ी जब प्रसन्नतापूर्वक खेल का आनन्द ले सकते हैं तो जीवन नाटक में आने वाले उतार-चढ़ावों में अपना ही सन्तुलन क्यों बिगाड़ा जाय? हर कोई हमारी मर्जी पर चले इसका आग्रह क्यों हो? अपनी जैसी विचार स्वतन्त्रता दूसरों को क्यों न अपनाने दी जाय? आदि प्रश्न ऐसे ढर्रे में विवेक युक्त परिवर्तन किया जा सके तो तनाव, खीज, चिंता, आशंका, आवेश जैसे कितने ही मनोविकारों द्वारा निरन्तर झुलसते रहना समाप्त हो सकता है।

हँसने-हँसाने की हलकी-फुलकी चिन्तन-प्रक्रिया एक आदत भर है, जिसका अनुकूलता या प्रतिकूलता से कोई गहरा सम्बन्ध नहीं है। मस्तिष्क सभी को उपलब्ध है। भाव सम्वेदना से भरा-पूरा अन्तःकरण किसके पास नहीं है। उस क्षीर सागर, कैलाश जैसे पुण्य क्षेत्र में भ्रष्टता और दुष्टता से सने कषाय-कल्मष भर लेने का ही परिणाम है कि ऋषि कल्प सम्भावनाओं वाली देवात्मा चेतना निकृष्ट नारकीयता में आबद्ध होकर रह जाती है। इसे उलटना हर विवेकशील के लिए सम्भव है। बाल्मीकि, अंगुलिमाल, विल्वमंगल जैसे जब दृष्टिकोण बदलते ही कुछ से कुछ हो सकते हैं तो अन्य किसी के लिए वैसा आत्मपरिवर्तन क्या कठिन हो सकता है।

परिवार एक भला-चंगा उद्यान है। उसे स्रष्टा की अमानत समझकर कर्तव्यनिष्ठ माली की तरह सुसंस्कृत स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न चले। पत्नी के साथ मित्र, साथी भर मानकर चला जाय। यौनाचार की अति करके उसके शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य को क्षत-विक्षत न किया जाय। अनावश्यक प्रजनन से हर किसी के लिए सिर दर्द उत्पन्न न किया जाय। लड़की-लड़के में भेदभाव करने की कुटिलता से बचा जाय, हर सदस्य के प्रति एक आँख प्यार की और दूसरी सुधार की रखी जाय तो वह भ्रष्टाचार न पनपेगा, जिसमें प्रसन्न करने के लिए अनुचित उपहार देने की रीति-नीति अपनाई जाती है। उत्तराधिकारियों के स्वावलम्बी होते हुए उन्हें पूर्वजों की सम्पत्ति मिले यह कानून प्रचलन चोरों ने चोरों के लिए ही बनाया है। हर समर्थ व्यक्ति को अपनी कमाई खानी चाहिए। पूर्वजों का छोड़ा धन सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन में लगना चाहिए। आलस्य, प्रमाद, विलास, अपव्यय, उपेक्षा, असहयोग के विष वृक्ष यदि परिवार के खेत में न पनपने दिये जायँ तो कोई कारण नहीं कि अपने इन्हीं घर-घरोंदों को नर-रत्नों की खदान के रूप में परिणत न किया जा सके। नये परिवार बनते और पुराने टूटते जा रहे हैं। खण्डहरों और मरघटों का विस्तार हो रहा है। ऐसी दशा में परिवारों को भटियारों की सराय तथा भेड़ों के बाड़े जैसा कुरुचिपूर्ण देखा पाया जा रहा है तो आश्चर्य ही क्या है।

शरीर, मस्तिष्क, परिवार की तरह ही अर्थव्यवस्था का भी जीवन तन्त्र पर भारी प्रभाव पड़ता है। आज हर धनी-निर्धन हर किसी की आर्थिक आवश्यकता बढ़ी-चढ़ी है और तंगी अनुभव होती है। संचय और अपव्यय के लिए तो कुबेर का खजाना भी कम पड़ता है। अनीति उपार्जन, अपराध, ऋण, रिश्वत, बेईमानी का दौर आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के नाम पर चलता है। इस कमी की पूर्ति उस तरह नहीं हो सकती जिस तरह कि लोग चाहते हैं। लोभ-लिप्सा को न पटने वाली खाई और न बुझने वाली आग कहा गया है। रावण, हिरण्यकश्यपु, वृत्रासुर, सिकन्दर जैसे धनाध्यक्षों को जब वैभव के पहाड़ हाथ लगने पर भी सन्तोष न मिला तो सामान्य स्तर वालों की बात ही क्या है? ऐसी दशा में अर्थ सन्तुलन बिठाने के लिए दृष्टिकोण परिवर्तन का नया आधार अपनाना पड़ेगा। औसत देशवासियों के स्तर का निर्वाह-तेते पाँव पसारिये जितनी लम्बी सौर, सादा जीवन उच्च विचार वाले विलास और अपव्यय में कटौती जैसे दूरदर्शितापूर्ण सिद्धान्त अपना लेने पर इस सम्बन्ध की समस्याएँ सहज ही हल हो जाती हैं। आलस्य, प्रमाद छोड़ा, श्रमशील बना काम को प्रतिष्ठा का प्रश्न माना और योग्यता वृद्धि में उत्साह रखा जाय तो स्तर के अनुरूप आजीविका बढ़ भी सकती है। प्रश्न विस्तार से कम, सदुपयोग से अधिक सम्बन्धित है। थोड़े से साधनों का भी यदि श्रेष्ठतम सदुपयोग बन पड़े तो गरीबी में भी अमीरों से बढ़कर आनन्द के

साथ जिया जा सकता है। परिश्रम और ईमानदारी की कमाई ही फलती-फूलती है। इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर उपार्जन और उपयोग का संतुलन बिठाया जाय तो अर्थ संकट इस तरह किसी को भी न सताते। जैसा कि अपव्ययी, दुर्व्यसनी और सामाजिक कुरीतियों की मूढ़-मान्यताओं से ग्रसित लोगों को निरन्तर भुगतना पड़ता है।

इच्छित सम्पदा उपलब्ध करार के लिए गढ़ा खजाना, लाटरी का नम्बर, लक्ष्मी सिद्धि, ठगी, चोरी के फेर में पड़े रहने के अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि सोचने का तरीका उलट दिया जाय और सामर्थ्यभर कमाने आवश्यकता भर खर्चने की सुसन्तुलित नीति अपनाई जाय। अध्यात्मवादी और साम्यवादी दोनों इस निर्धारण पर समान रूप से सहमत हैं। लिप्सा और तृष्णा को नियन्त्रित किया जा सके तो निर्वाह में औचित्य की मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए बचत को सत्प्रवृत्ति सम्बर्धन में लगाया जा सके तो उतने भर से दरिद्रता का युग समाप्त हो सकता है और सीमित साधनों से हर दिशा में हर्ष-उल्लास बरस सकता है।

शिक्षितों का असन्तोष देखते ही बनता है। कुछेक को छोड़कर अधिकांश को बेकारी या अल्पाजीविका की शिकायत है। हर कोई ठाट-बाट की नौकरी चाहता है। श्रम कम से कम, आजीविका अधिक से अधिक आमतौर से शिक्षितों पर यही भूत चढ़ा रहता है। सभी को ऐसी ही ठाट-बाट की नौकरी चाहिए पर सभी को मिलें कैसे? उन्हें रखे कौन? अभी तो देश में शिक्षा मात्र ३० प्रतिशत है। जब अधिकांश शिक्षित होंगे और सभी ठाट-बाट की नौकरी माँगेंगे तब उनका मनोरथ पूरा होने में और भी विग्रह उत्पन्न होगा। शिक्षा का लक्ष्य मात्र नौकरी ही हैं तो संकट और भी अधिक बढ़ेगा। फलतः उस वर्ग का असन्तोष विग्रह ऐसे संकट खड़े करेगा, जैसे कि बिना पढ़े रहने पर उत्पन्न न होते।

यहाँ शिक्षा की निन्दा नहीं की जा रही न उसे अनुपयोगी बताया जा रहा है वरन् कहा यह जा रहा है कि सामान्य ज्ञान की मैट्रिक स्तर की जीवनोपयोगी प्रारम्भिक शिक्षा सर्वसुलभ हो। उसके बाद कालेज में प्रवेश करने से पूर्व हर अभिभावक अपने बच्चों का आजीविका लक्ष्य निश्चित करें। यह मानकर चलें कि नौकरी हर वर्ग के छात्रों में से कठिनाई से ५ या १० प्रतिशत को ही मिलेगी, शेष को अन्य आधार अपनाकर अपने पैरों खड़ा होना होगा। जो भी धारा जिसे अनुकूल पड़े वह उस स्तर की औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करे। जिन्हें किसी विषय का विशेषज्ञ बनना हो, वे उसमें पारगत होने की दृष्टि से लम्बे अध्ययन की योजना बनायें इसमें हर्ज नहीं पर भेड़िया धसान की तरह नौकरी के लिए कालेज की खर्चीली पढ़ाई के लिए धकापेल मचाना सर्वथा अबुद्धिमत्तापूर्ण है। नई पीढ़ी के लिए सहकारी उद्योग के सहारे उत्पादन तन्त्र खड़े करने और उनमें कठोर श्रम करने के लिए उद्यत रहने की बात मस्तिष्क के हर कोने में बिठा दी जाय तो शिक्षितों के जिस घुटन में घुटते और अवांछनीय दिशा में चल पड़ने का जो संकट खड़ा है उससे छुटकारे का मार्ग मिल सकता है।

शिक्षा व्यवस्था बनाने वालों का उत्तरदायित्व है कि वे पिछले दिनों से चले आ रहे घपले को बन्द करें। असन्तोष उत्पन्न करने वाली शिक्षा पद्धति को बदलें और ऐसा कुछ पढ़ायें जिससे जीवनोपयोगी सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त आजीविका उपार्जन का भी पथ प्रशस्त होता हो। कोसने से नहीं, ढर्रे पर लुढ़कते रहने से भी नहीं; बात तब बनेगी जब छात्र, अभिभावक एवं शिक्षातन्त्र के निर्माता व्यावहारिक नीति अपनायें और पढ़ने-पढ़ाने का समूचा ढाँचा नये सिरे से निर्धारित करें।

व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित समस्याओं में अब अध्यात्म दर्शन, आस्तिकता, आध्यात्मिकता, धार्मिकता, भक्ति और कर्मयोग का क्षेत्र बना रहता है। बौद्धिकता का दायरा तो बहुत बड़ा है पर उसे स्वास्थ्य सन्तुलन, अर्थ परिवार के अतिरिक्त धर्मदर्शन को और जोड़कर जीवन साधना के पंचशीलों से समेटा जा सकता है। दर्शन क्षेत्र की मान्यताओं को कसौटी पर कसा जाना चाहिए कि वे मनुष्य को अधिक सुसंस्कृत, अधिक पराक्रमी, अधिक उदार व समाजनिष्ठ बनने में किस हद तक सहयोग देती हैं। विभिन्न धर्म सम्प्रदायों के अन्तर्गत अगणित मान्यताओं और परम्पराओं का ऐसा उलझा हुआ जाल-जंजाल है कि एक को सच ठहराते ही शेष सभी को झूठ ठहराना पड़ता है। एकात्मता की ओर ले चलने वाले नैतिक सूत्र उनमें हैं तो पर प्रत्यक्ष रूप में ऐसी मान्यताओं और परम्पराओं का ही घटाटोप है जो एक दूसरे से तालमेल बिठाने में सर्वथा असमर्थ हैं। ऐसी दशा में किसी धर्म दर्शन का सर्वांश में मान्यता देने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि उनमें जो भी प्रतिपादन व्यक्ति को पवित्र-प्रखर बनाने में समर्थ हो, मनुष्य मात्र पर समान रूप से लागू होते हो, उन्हें अपनाया जाय और शेष का खण्डन-मण्डन करने की अपेक्षा उसे उपेक्षा से डाल दिया जाय।

देवता की मनुहार, उपचार के सहारे प्रसन्न करके बिना उपयुक्त मूल्य चुकाये, कुछ भी मनोरथ पूरा करा लेने की मान्यता का अन्त होना चाहिए। देवत्व का अवलम्बन अन्तराल में दिव्य प्रेरणाएँ उभारने की सम्वेदनात्मक प्रक्रिया के रूप में अपनाया जाय। पूजा-उपासना को आत्म परिष्कार की अध्यात्म विज्ञानसम्मत प्रणाली माना जाय। उतने भर से पाप-दण्ड भुगतने से छुटकारा मिलने या कोई विलक्षण चमत्कार प्रकट होने जैसी बाल कल्पनाओं को निरस्त किया जाय। कथा-पुराणों के सुनने-सुनाने से नहीं, उनमें वर्णित नीति भाव को हृदयंगम करने से बात बनती है। परम्पराएं अनादि काल से समय-समय पर बदलती रहीं हैं और भविष्य में भी यह क्रम चलता रहेगा, इसलिए प्रथा प्रचलनों के सम्बन्ध में किसी को भी पूर्वाग्रहग्रसित नहीं

होना चाहिए। नीति मर्यादाओं को छोड़कर सभी प्राचीन निर्धारणों को इसी कसौटी पर कसा जाना चाहिए कि उनमें से कितने तर्क, तथ्य, प्रमाण के अतिरिक्त सामयिक समाधान में किस हद तक सहायक होते हैं। तत्वदर्शन की असंख्य परस्पर विरोधी धारायें और मान्यताएँ प्रचलित हैं। इनमें सबको तो मान्यता नहीं दी जा सकती विवेक के आधार पर उनकी परिणति को ध्यान में रखते हुए युगदर्शन को नया रूप मिलना चाहिए। बौद्धिक क्रांति का प्रयोजन इसी प्रकार पूरा होता है।

सामाजिक क्रान्ति में ऐसे प्रचलनों को निरस्त किया जाना चाहिए, जो विषमता, विघटन, अन्याय और अनौचित्य के पृष्ठपोषक हैं। पारस्परिक स्नेह, सामंजस्य सहयोग का विस्तार करने वाली वसुधैव कुटुम्बकम की, आत्मवत् सर्वभूतेषु की दृष्टि पोषक प्रथा प्रचलनों को ही मान्यता मिले और शेष को औचित्य की कसौटी पर खोटी सिद्ध होने पर कूड़ेदान में झाड़-बुहार कर फेंक दिया जाय।

अपने समाज में नर-नारी के मध्य बरती जाने वाली भेद नीति, जन्म जाति के आधार पर मानी जाने वाली ऊँच-नीच, भिक्षा व्यवसाय, मृतकभोज, बाल विवाह अनमेल विवाह जैसी अगणित कुप्रथायें प्रचलित हैं। इनमें सब से भयंकर हैं विवाहोन्माद, जिसमें गरीबों द्वारा अमीरों का स्वाँग बनाकर अपने बर्तन, कपड़े गँवा बैठने की मूर्खता की जाती है। सभी जानते हैं कि खर्चीली शादियाँ हमें दरिद्र और बेईमान बनाती हैं। फिर भी बुद्धिमान और मूर्ख उस सर्वनाशी कुप्रथा को छाती से लगाये बैठे हैं। इन सभी कुप्रचलनों में भ्रान्ति और अनीति बेतरह गुँथी हुई है पर परम्परा के नाम पर उन्हें अपनाया और सर्वनाश के पथ पर बढ़ते चला जा रहा है। यह दुर्बुद्धि रुकनी ही चाहिए।

अपना समाज सहकारी सहायक बने। उसकी अभिनव संरचना में कौटुम्बिकता के शाश्वत सिद्धान्तों का समावेश किया जाय। जाति लिंग की विषमता न रहे और न आर्थिकी दृष्टि से किसी को गरीब अमीर रहने दिया जाय। न कोई उद्धत, अहंकारी, धनाध्यक्ष बने, न किसी पिछड़ेपन की पीढ़ा भर्त्सना सहन करनी पड़े, अपराध की गुंजाइश ही न रहे यदि कहीं कोई उपद्रव उभरे तो उसे लोकशक्ति द्वारा इस प्रकार दबोच दिया जाय कि दूसरों को वैसा करने का साहस ही शेष न रहे। मिल-बाँटकर खाने और हिल-मिल कर रहने की समाज संरचना के अन्तर्गत ही मनुष्य को सुख-शांति से रहने का अवसर मिल सकता है।

पाँच अरब मनुष्यों में पाई जाने वाली भ्रान्तियों, विकृतियों, दुष्प्रवृत्तियों से जूझना कठिन लगता भर है। युग मनीषा यदि उसे कर गुजरने के लिए तत्परता प्रकट करे तो सत्य में हजार हाथी का बल होता है इस उक्ति के अनुसार श्रेष्ठता का वातावरण भी इसी प्रकार बन सकता है जिस प्रकार कि मुट्ठी भर लोगों ने अग्रगामी होकर दुष्टता भरे प्रचलनों से लोकमानस को भ्रष्ट करके रख दिया है।

बुद्धिवाद नीतिनिष्ठा का पक्षधर बने

सभी प्राणियों को प्रकृति ने इतना सहज ज्ञान दिया है कि वे उसके सहारे अपने शरीर यात्रा भर चलाते रह सकें। यों उसके अन्तराल में विभूतियों की कमी नहीं। वह इस दृष्टि से सम्पन्न सामर्थ्यवान हैं पर पात्रता के अभाव में दुरुपयोग के लिए कोई क्यों अपना वैभव लुटाये? प्रकृति को कृपण तो नहीं कहेंगे पर वह अदूरदर्शी भी नहीं है। जो जितना सम्भाल सके उसे उतना ही दिया जाय, इस सन्दर्भ में उसने सदा व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। इस परीक्षा में मनुष्य ने सदा से ही आगे रहने की चेष्टा की और तदनुरूप प्रकृति का आँचल उठाकर एक के बाद एक बहुमूल्य विभूतियाँ हस्तगत करने में सफलता पाई।

वायु प्रदूषण, आणविक-विकिरण, जल प्रदूषण, ऊर्जा स्रोतों का अत्यधिक दोहन, विलास के साधनों का अमर्यादित उपयोग, प्रलयंकर शस्त्रास्त्रों का निर्माण और उनकी अधिसंख्य देशों में बढ़ती प्रतिस्पर्धा जैसे संकट भरे कदम महाप्रलय जैसी चुनौती सामने लेकर खड़े हैं। एक ओर विज्ञान क्षेत्र के मनीषी मूर्धन्यों के सामने यह समस्या है कि इस दुरुपयोग को कैसे रोका जाय और उनके कारण उत्पन्न हो रहे अनेकानेक विग्रहों, संकटों से कैसे उबारा जाय? दूसरी ओर एक और प्रश्न भी उनके सामने है कि मनुष्य को अधिक सुखी, समुन्नत बना सकने का प्रयोजन पूरा करने के लिए किन नये शोध क्षेत्रों में प्रवेश किया जाय। इनकी नीति क्या हो व इनकी मर्यादा को कहाँ किस प्रकार बाँधा जाय? दोनों ही प्रश्न मानवी बुद्धिमत्ता के समक्ष एक प्रश्न चिन्ह बनकर खड़े हैं और कहते हैं कि सही समाधान न निकला तो विज्ञान अपना पोषण-धर्मी रूप त्यागकर महारुद्र बनेगा और प्रलय का ताण्डव नृत्य आरम्भ करेगा। आखिर नियति ही है। मनुष्य को सीमित सुविधा छूट ही दे सकती है। औचित्य का अतिक्रमण सहन नहीं कर सकती । इसलिए मूर्धन्य विचारकों के अनुसार विनाश और विकास के मध्य झूलने वाले हलके से धागे को सही दिशा देना ही वह कार्य है जिस पर वर्तमान का समाधान तथा भविष्य का निर्धारण पूर्णतया अवलम्बित है।

आज की सबसे बड़ी समस्या है दुरुपयोग को रोकना और उपयोग को अपनाना । इसका समाधान पाने हेतु समुद्र जितनी गहराई में उतरने तथा अन्तरिक्ष को मथ डालने वाले मनीषी का समग्र मन्थन करने पर एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि निर्धारण की कसौटी 'उत्कृष्ट आदर्शवादिता' को अपनाकर चला जाय और

उसकी छत्र-छाया में हर स्तर का निर्णय किया जाय। मानवी सत्ता की उच्चस्तरीय विशिष्टता एक ही है– 'आदर्शों के प्रति आस्था'। इसी ने उसे चिंतन के क्षेत्र में उत्कृष्टता और व्यवहार के क्षेत्र में उदार सहकारिता जैसी सत्प्रवृत्तियाँ प्रदान की हैं और उसकी गौरव-गरिमा को बढ़ाया है। इस विशिष्टता की जितनी उपेक्षा की जायेगी उतनी ही विपत्ति उभरेगी और विनाश की विभीषिका बढ़ेगी। इस सत्प्रवृत्ति को पुरातन भाषा में 'आध्यात्मिकता' कहा जाता है। यह शब्द किसी को अटपटा लगता हो तो 'दूरदर्शी आदर्शवादिता' जैसा कोई शब्द देने में किसी को कोई एतराज नहीं होना चाहिए। यही है वह कसौटी जिस पर अद्यावधि प्रगति के उपयोग में हुई भूलों को सुधारना और जो उपलब्ध है, उसका सर्वहित में सदुपयोग कर सकना; सम्भव हो सकता है। साथ ही इसी आधार को अपनाकर विज्ञान की भावी दिशाधारा का उपयुक्त निर्धारण हो सकता है।

विज्ञान ने पदार्थ जगत में असीम चमत्कार उत्पन्न किये हैं। अब उसका काम है कि मानवी चिन्तन, चरित्र और लोक परम्पराओं को प्रभावित करे। इन क्षेत्रों में घुसी हुई भ्रान्तियों एवं अवांछनीयताओं को उसी प्रकार निरस्त करें जिस प्रकार उसने पिछले दिनों भौतिक जगत को वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में यथार्थता की जानकारी रखते हुए सत्य की शोध का अधिष्ठाता कहलाने का श्रेय-सम्मान पाया और अपना महान उत्तरदायित्व निभाया है। उसकी यह सेवा पिछली सहस्राब्दियों में प्रस्तुत किये गये अनुदानों की तुलना में अकेली ही अत्यधिक भारी-भरकम सिद्ध होगी। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि "जो धर्म वैज्ञानिक अनुशासन पर सही न ठहराया जा सके उसे नष्ट कर देना चाहिए। जितनी जल्दी ये अनावश्यक अन्ध परम्पराएँ व मूढ़ मान्यताएँ धर्म से निकाल दी जायें, उतना ही ठीक है। जब यह सब हो चुकेगा तो जो कुछ भी बच रहेगा, वह बहुत उज्ज्वल, शाश्वत व अपनाने योग्य होगा।" वस्तुतः विज्ञान और अध्यात्म का, सम्पदा और उत्कृष्टता का, शक्ति और शालीनता का, बुद्धि और नीति-निष्ठा का समन्वय अपने युग का सबसे बड़ा चमत्कार समझा जायगा। विज्ञान क्षेत्र पर छाई हुई मनीषा को यह युग धर्म निभाना ही चाहिए।

विज्ञान युग के प्रारम्भिक दिनों में पदार्थ की ही सत्ता मानी गयी थी और कहा गया था कि चेतना का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मान्यता यह थी कि विश्व पदार्थमय है। जड़-चेतन के नाम से जाने वाले सभी घटक मात्र पदार्थ हैं। अस्तु, उनकी नियति भी पदार्थ जैसी ही है। पर अब उस मान्यता में सुधार परिवर्तन करने का समय आ गया। पिछली दो शताब्दियों की खोजों ने यह मान्यता विकसित की है कि चेतना का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह प्राणियों में पृथक-पृथक इकाइयों के रूप में दृष्टिगोचर होती है, किन्तु उसका समग्र रूप ब्रह्माण्डव्यापी है। प्रकृति की तरह ही चेतना की सीमा एवं क्षमता अनन्त है। इतनी ही नहीं, चेतना के वरिष्ठ होने के कारण उस क्षेत्र की उपलब्धियाँ भी तुलनात्मक दृष्टि से अत्यधिक हैं। इन्जन कितना ही सशक्त क्यों न हो उसे चलाने के लिए चेतन ड्राइवर भी चाहिए। 'ऑटोमेटिक' कहलाने वाली मशीनें भी किसी न किसी रूप में संचालक का निर्देश प्राप्त करती ही रहती हैं। ठीक उसी प्रकार कार्य संचालन से लेकर विश्व-व्यवस्था में एक अदृश्य चेतना शक्ति काम करती है।

विज्ञान की 'ईकॉलाजी' धारा ने इन दिनों पूरे जोर शोर और साहस-विश्वास के साथ यह सिद्ध कर दिया है कि प्रकृति से मात्र शक्ति एवं क्रिया ही जुड़ी नहीं है, एक और भिन्न क्रिया भी आच्छादित है जिसे दूरदर्शी-सन्तुलन बिठाने, औचित्य अपनाने से लेकर सुखद सम्भावनाएँ अपनाने तक की विशेषताओं से सुसम्पन्न कहा जा सकता है। यह विशिष्टता जड़ पदार्थों में स्वभावतः नहीं पाई जाती। फिर भी उस प्रक्रिया का अस्तित्व ही नहीं सुदृढ अनुशासन भी प्रमाणित हो रहा है। इस दिशा में परामनोविज्ञान, पराभौतिकी आदि अन्य विज्ञानधाराओं ने भी अग्रिम पंक्ति में खड़े होकर समर्थन आरम्भ कर दिया है। स्थिति बदलती जा रही है और चेतना का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने की विवशता बढ़ती जा रही है। मनीषी आइन्स्टीन ने अपने अन्तिम दिनों में प्रायः अर्द्ध आस्तिकता स्वीकार कर ली थी और वे चेतना की सत्ता एवं वरिष्ठता मानने लगे थे। तब से लेकर अब तक और भी बहुत कुछ हुआ है। वह सभी ऐसा है जो चेतना की सामर्थ्य को पदार्थ में सन्निहित क्षमता से भी अधिक सामर्थ्यवान एवं उपयोगी सिद्ध करता है। पुरातन भाषा में ब्रह्माण्डीय चेतना को परब्रह्म के नाम से और उसके वैयक्तिक अस्तित्व को आत्मा कहा जाता था। अब विज्ञान के लिए विश्वचेतना एवं व्यक्ति चेतना के अस्तित्व से इन्कार करना उतना आसान नहीं रह गया जितना कि एक शताब्दी पूर्व था।

चेतना का क्षेत्र निस्संदेह उससे भी कहीं अधिक समर्थता से भरा-पूरा जितना कि अब तक पदार्थ जगत को जाना पाया गया है। पदार्थ में मात्र शक्ति एवं क्रिया है, जबकि चेतना में कहीं अधिक ऊँचे स्तर की ऐसी क्षमता विद्यमान है जो पदार्थ को सदुपयोग मे नियोजित कर सके। इतना ही नहीं, उसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ भी हैं जो व्यक्ति की विचारणा, भावना, आस्था, आकांक्षा को पाशविक प्रवृत्तियों से विरत करके उसे उच्चस्तरीय भाव-भूमिका में पहुँचा सके, जिसमें सज्जन, महामानव, सन्त-सुधारक, ऋषि, देवदूत एवं भगवान निवास करते हैं। कहना न होगा कि ऐसे व्यक्तित्व ही अपने समय एवं संसार की सर्वोच्च विभूति कहलाते हैं। उनके आदर्शों का अनुकरण करके अनेक को 'महान' बनाने का उत्साह, प्रकाश एवं श्रेय प्राप्त होता है स्पष्ट है कि धन, स्वत्व शिक्षा, बल, कला आदि समस्त वैभव एक तराजू के एक

पर रखा जाय तो गरिमा सम्पदा की नहीं, सज्जनता श्रेष्ठता की ही सिद्ध होगी, संसार के इतिहास में से ईशा, जरथुस्त, मेजिनी, बुद्ध, गाँधी, लिंकन, कन्फ्यूशियस, अरस्तू, कागावा, विवेकानन्द को निकाल दिया जाय तो फिर वह मात्र अनाथ, असहाय, भोंड़ी भीड़ का झुण्ड भर रह जाता है। समय आ गया कि अब हम विशालकाय सयंत्रों, तथ्य तक सीमित न रहें, उच्चस्तरीय प्रतिभाएँ उत्पन्न करने के लिए प्रयास करें। उसके लिए विज्ञान के सहकार की नितान्त आवश्यकता है।

प्रकारान्तर से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि विश्वयसुधा में श्रेष्ठता सम्वर्धन के लिए अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय सम्भव किया जाय। उत्कृष्टता की पक्षधर मान्यताओं, आकांक्षाओं, उमंगों का उत्पादन कभी अध्यात्म तत्वज्ञान अकेला ही कर लेता था। उन दिनों साहित्य, संगीत कला आदि के सम्वेदनात्मक माध्यम पूरी तरह अध्यात्म का समर्थन सहयोग करते थे। आज जब पदार्थ ही सब कुछ है तो चिन्तन और चरित्र की पक्षधर आस्थाओं को अपनाने की पृष्ठभूमि कैसे बने? वह न बने तो फिर महामानवों का उद्‍भव कैसे हो? ये न उपजें तो विश्व व्यवस्था का सदाशयता सम्पन्न नवनिर्माण किस प्रकार सम्भव हो?

इन प्रश्नों का उत्तर भी विज्ञान को ही देना होगा क्योंकि पुरातन अध्यात्म अपनी निजी दुर्बलताओं और अनास्थापरक प्रत्यक्षवादी प्रतिपादनों के कारण जराजीर्ण हो चुका। इससे वर्तमान परिस्थितियों में किसी चमत्कार की आशा नहीं की जा सकती। इसका उपयोग तो इतना भर है कि वर्तमान खण्डहर को हटाकर पुरानी मजबूत नींव पर नये भवन का निर्माण कर दिखाया जाय। मरणासन्न धर्म को अमृत संजीवनी पिलाने का काम भी विज्ञान के हनुमान को करना होगा। यह उत्तरदायित्व उसी का है कि प्रस्तुत साधनों का उपयोग करके न केवल प्रशिक्षण प्रतिपादन के लिए उत्कृष्टता समर्थक वातावरण बनाए-साधन जुटायें वरन् ऐसे उपाय भी खोजें जिनसे काय कलेवर एवं मन:संस्थान की रहस्यमय क्षमताओं को उभार कर सामान्यों को असामान्य बनाया जा सकना सम्भव हो सके।

मानवी संवेदनाओं को पोषण दें– रौंदे नहीं

मनुष्य आत्म-हत्या जैसे जघन्य पाप करने पर क्यों उतारू होता है ? इस सम्बन्ध में विभिन्न स्तर के विद्वानों के विविध मत हैं। बहुसंख्य अर्थशास्त्री आत्महत्याओं का कारण अभाव एवं गरीबी को मानते हैं। समाजशास्त्रियों का कहना है कि पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से ऊबकर ही मनुष्य आत्महत्या के लिए सचेष्ट होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मन:विक्षोभों से उत्पन्न होने वाले मानसिक असन्तुलन ही आत्महत्याओं के कारण बनते हैं, अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों एवं मन:शास्त्रियों के निष्कर्ष एक सीमा तक सही हो सकते हैं पर गहराई से विचार करने पर यह पता चलता है कि आर्थिक, सामाजिक अथवा मन:विक्षोभ जैसे छोटे कारण उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जिनके कारण मनुष्य अपने जीवन को ही समाप्त कर लेने की बात सोचे। वस्तुतः भविष्य के प्रति घोर निराशा की भावना से अभिप्रेरित होकर वह आत्मघाती कदम उठाने की कोशिश करता है।

निराशा को जन्म देने में अपनी तथा दूसरों की उपेक्षा, अवमानना ही प्रमुख कारण बनती है। सहानुभूति और आत्मीयता मिलती रहे तो मनुष्य कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी हँसती-हँसाती जिन्दगी जी सकता है और अभावों में दु:ख-क्लेशों में भी अपनी सहज मस्ती बनाये रख सकता है। इसके विपरीत सहानुभुति न मिलने तथा उपेक्षा-तिरस्कार सहते रहने से जीने की अभिरुचि नहीं रहती । साधनों की अनुकूलता रहते हुए भी निराश युक्त मन:स्थिति बन जाती है और स्वयं का जीवन भारभूत जान पड़ता है।

अर्थाभाव और सामाजिक परिस्थितियाँ आत्महत्या की घटनाओं के लिए जिम्मेदार होतीं तो सर्वाधिक आत्महत्याएँ गरीबी से त्रस्त, पिछड़े और अविकसित समाज में होतीं। पर सर्वेक्षणों से प्राप्त निष्कर्ष यह बताते हैं कि सम्पन्न, सुविकसित तथा प्रगतिशील समाज में आत्महत्या की घटनाएँ अधिक घटित होती हैं। जबकि कितनी ही जंगली व असभ्य जातियाँ घोर गरीबी में जीवनयापन कर रही हैं। इनका कोई विकसित समाज भी नहीं है फिर भी उनमें ऐसी घटनाएँ यदा-कदा ही घटती हैं। जो समाज और देश जितने ही अधिक सम्पन्न और विकसित हैं उनमें आत्महत्या जैसे अपराध उतने ही अधिक होते पाये गये हैं। अतीत और वर्तमान के समय का तुलनात्मक अध्ययन करने पर भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। जैसे-जैसे मनुष्य प्रगति की ओर अग्रसर हुआ है उसी अनुपात में उपरोक्त घटनाओं में अभिवृद्धि हुई । यह इस बात का परिचायक है कि प्रगतिशील कहे जाने वाले आज के समाज में जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टि अधिक बलवती होती जा रही है। जिसका प्रमुख कारण है– परस्पर एक-दूसरे के प्रति सघन आत्मीयता सहानुभूति का बढ़ता हुआ अभाव । 'निरंकुश बुद्धिवाद' मानवीय संवेदनाओं को रौंदता हुआ चला जा रहा है।

'स्ट्रगल फॉर एक्जिस्टेन्स एण्ड सरवाइवल ऑफ दी फीटेस्ट' का डारविनवादी सिद्धान्त द्वारा एक आदर्श के रूप में प्रगतिशीलता के पर्याय के रूप में अपनाया जा रहा है। समर्थ ही जीवित रहें इस जीवन दर्शन को यदि सर्वत्र मान्यता मिल गयी तो इससे बढ़कर मनुष्य जाति के लिए और दूसरी कोई दुर्भाग्य की बात नहीं होगी। फिर मनुष्य

और पशु समाज में प्रकृति की दृष्टि से विशेष भिन्नता न होगी। साधन एवं बुद्धिसम्पन्न होते हुए भी भाव-संवेदनाओं की दृष्टि से मनुष्य आदिम मानव जैसा ही होगा। समाज में असमर्थों का एक वर्ग ऐसा भी होता है जिनकी देखरेख, सुरक्षा एवं संरक्षण की जिम्मेदारी समर्थों के ऊपर होती है। उन्हें साधन-सुविधाएँ ही नहीं प्यार-दुलार एवं सहानुभूति की भी उतनी ही जरूरत होती है। यदि यह सब न मिले तो उनमें घोर निराशा की भावना जन्म लेने लगती है। अपनी असमर्थता और समर्थों की उपेक्षा-तिरस्कार की दुहरी मार से ग्रस्त व्यक्ति जीवन को भारभूत समझने लगता है। ऐसे ही व्यक्तियों में से अधिकांशतः आत्महत्या के लिए चेष्टा करते हैं। विश्व के मूर्धन्य समाजशास्त्रियों एवं मनोविज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि "आत्महत्या करने वालों में विधवा, विधुर, तलाकशुदा निःसन्तान, अविवाहित तथा असाध्य रोगों से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या अधिक होती हैं। परिवार एवं सामाजिक तिरस्कार को न सह पाने के कारण इनकी मनःस्थिति इस योग्य नहीं रह पाती कि परिस्थितियों से संघर्ष कर सकें। उन्हें आत्महत्या का मार्ग ही सरल जान पड़ता है।

जहाँ असमर्थों के प्रति सहानुभूति दर्शाने, सहयोग करने से उनमें जीवन के प्रति आस्था पैदा होती तथा जीने की उमंग जगती है, वहाँ दूसरी ओर मानवता के मेरुदण्ड भाव संवेदनाओं को पोषण मिलता है तथा उन्हें जीवन्त बने रहने का सुअवसर मिलता है। व्यक्ति अथवा समाज में सहृदयता का विकास कितना अधिक हुआ यही वह आधार है जिसके द्वारा यह बताया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति अथवा अमुक समाज कितना सुविकसित है। मानवीय भाव-संवेदनाओं के विनष्ट होने से समाज में बर्बरता-निष्ठुरता की मात्रा बढ़ती जायेगी। हर व्यक्ति अपने को असुरक्षित और एकाकी महसूस करेगा।

भौतिकवादी एकांगी दृष्टि ने पिछले दिनों इस तथ्य की उपेक्षा की है। बुद्धिवाद जीवन पर हावी है, जिसने सहृदयता की उपयोगिता एवं गरिमा को नकारा है। समर्थों द्वारा असमर्थों की उपेक्षा इसका एक पत्यक्ष उदाहरण है इसमें एक खतरनाक कड़ी और जुड़ने जा रही है। पश्चिमी देशों के बुद्धजीवियों ने यह आवाज उठायी है कि वृद्धों, अपाहिजों तथा असाध्य रोगियों को स्वेच्छा से मरने का कानूनी अधिकार दिया जाय। प्रकारान्तर से यह आत्महत्या जैसे अपराध का खुला समर्थन है। प्रत्येक धर्मों तथा समाज की मानवीय आचार संहिताओं ने आत्मघात को हत्या की भाँति एक जघन्य अपराध माना है तथा यह घोषणा की है कि मनुष्य को अपने जीवन अथवा दूसरों के जीवन को समाप्त करने का कोई अधिकार नहीं है। यह प्रक्रिया अदृश्य सत्ता के हाथों संचालित है; विश्व के प्रत्येक देश की कानूनी आचार संहिताओं ने भी आत्म हत्या को एक अपराध की श्रेणी में रखा है। स्वेच्छा पूर्वक मरने के अधिकार की माँग को अभी कानूनी मान्यता नहीं मिली है। पर उठती हुई यह आवाज इस तथ्य का बोध कराती है कि मानवी मूल्यों का बुरी तरह ह्रास हो रहा है तथा हृदय की संवेदनशीलता समाप्त होती जा रही है रुग्ण असमर्थ को कष्टों से मुक्ति दिलाना उपरोक्त माँग का प्रमुख लक्ष्य कहा जा रहा है पर यह वस्तुतः रूखे बुद्धिवादियों की आन्तरिक संवेदनशून्यता का ही परिचायक है।

सन् १९३२ में सर्वप्रथम ब्रिटेन की संसद में स्वेच्छापूर्वक मरने के अधिकार की मांग उठी। सन् १९३६, १९५० में भी इस तरह का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया पर तीनों ही बार इसे संसद द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया। सन् १९७० में ब्रिटिश सांसदों ने पुनः संसद के समक्ष यह विधेयक रखा कि वयोवृद्धों तथा असाध्य रोगों से ग्रस्त लोगों को मरने के लिए वैधानिक अधिकार दिया जाय। इस प्रस्ताव को मूर्धन्य चिकित्सकों एवं वकीलों का समर्थन प्राप्त था पर संसद द्वारा अमानवीय कहकर निरस्त कर दिया गया। ऐसा ही पस्ताव अमेरिका में भी रखा गया पर काँग्रेस द्वारा अस्वीकृत हो गया। इन दिनों स्वेच्छा से मरने का अधिकार सम्बन्धी माँग विभिन्न देशों में और भी तीव्रता से उठने लगी है। ब्रिटेन, फ्रांस, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, रूस आदि विकसित देशों के बुद्धिजीवी, डाक्टर, वकील, कानून विशारद इसे औचित्यपूर्ण ठहराने लगे हैं। १९८० में 'न्यू इंग्लैण्ड जनरल ऑफ मेडिसीन' में प्रकाशित एक विवरण के अनुसार 'येलन्यूहेवन' नामक अस्पताल में लगभग ढाई वर्षों की अवधि में सैकड़ों अपाहिज बच्चों को उनके माता-पिता ने ऊबकर चिकित्सकों के सहयोग से दवाओं के माध्यम से मरने में योगदान दिया है।

एक समाचार के अनुसार इंग्लैण्ड में प्रतिवर्ष तीन सौ से लेकर पाँच सौ अपंग विकलांग बच्चों को तीव्र विषैली दवाओं के माध्यम से चिकित्सालयों में मार दिया जाता है। इंग्लैण्ड के मानवतावादियों ने बढ़ती हुई इस प्रवृत्ति की कड़ी आलोचना की है। पश्चिमी देशों में असाध्य रोगों से पीड़ित मरीजों को स्वेच्छा से मरने दिया जाय अथवा नहीं यह एक सर्वाधिक चर्चित विषय बन गया है। स्वेच्छा मृत्यु की विभिन्न प्रकार की तकनीक पर कितने ही विद्वानों न पुस्तकें लिखनी भी प्रारम्भ कर दी हैं। ब्रिटेन में एक नया 'एक्जिट' नामक संगठन बना है जिसके सदस्य स्वेच्छा मृत्यु वरण को औचित्यपूर्ण बताते हुए जोरदार पतिपादन एवं प्रचार करते हैं। सदस्यों की संख्या लगभग नौ हजार है। संगठन की एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई है, 'एनाइड टू सेल्फ डिलिवरेन्स', जिसमें यह बताया गया है कि रुग्ण, अपंग और असमर्थ जीवन समाज एवं स्वयं पीड़ित व्यक्ति के लिए क्यों अनुपयोगी और निरर्थक है। पुस्तक में यह भी वर्णन है कि कब और किन परिस्थितियों में व्यक्ति को आत्महत्या कर लेनी चाहिए। इसकी सरल विधि कौन-कौन सी हो सकती है। इसका इसमें विस्तृत उल्लेख किया गया है। दस अमेरिकी राज्यों में तो 'नेचुरल डेथ एक्ट' भी अब पारित हो चुका है जिसके अन्तर्गत

कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में डाक्टरों की गठित एक विशेष समिति की सहमति से न्यायालय कैन्सर आदि असाध्य रोगों से पीड़ित रोगियों को मरने का अधिकार दे देता है।

धर्म, संस्कृति और अध्यात्म के संदेशवाहक तथा अहिंसा के पुजारी भारत जैसे देश में भी पिछले कुछ दिनों से यह माँग की जाने लगी है कि असाध्य रोगियों की कष्ट मुक्ति के लिए उन्हें स्वेच्छापूर्वक मरने की अनुमति दी जाय। इस सन्दर्भ में एक सांसद ने वर्ष १९८० में सदन के समक्ष 'मर्सीकिलिंग बिल-८०' प्रस्तुत किया जिसमें यह कहा गया था कि ऐसे व्यक्ति जो अपनी असमर्थता अथवा असाध्य रोगों के कारण परिवार और समाज पर भार बने हुए हैं, उनकी प्रार्थना पर मरने का अधिकार प्रदान किया जाय। सम्बन्धित प्रस्ताव का कानून पारित कर वैध घोषित किया जाय। प्रस्ताव तो रद्द हो गया पर अपने देश में पश्चिमी भौतिकवादी देशों की भाँति इस तरह की मानवीय माँग का उठना कम चिन्ता की बात नहीं है। यह इस बात का स्पष्ट संकेत है कि मानवीय गरिमा को विभूषित करने वाली सहृदयता की मात्रा यहाँ भी घटती जा रही है।

समर्थों को ही जीने का अधिकार है, इस उपयोगितावादी दर्शन को यदि मान्यता मिल गयी तो अनास्था को और भी अधिक बढ़ावा मिलेगा। फिर अनावश्यक रूप से कोई किसी के लिए न तो कष्ट उठायेगा और न ही सहयोग करेगा। जिनसे कुछ प्रत्यक्ष लाभ की गुंजायश दीखेगी, उपयोगिता उन्हीं की स्वीकारी जायेगी। असमर्थ बाल-वृद्धों, अपाहिजों, असाध्य रोगियों को समाज के लिए अनुपयोगी और भारभूत मानकर तिरस्कृत कर देने से निष्ठुरता को प्रोत्साहन मिलेगा। अस्तु, निरंकुश बुद्धिवाद ने हृदय की संवेदनशीलता को समाप्त करने के लिए जिस उपयोगितावादी दर्शन को मान्यता दी है उसे निरस्त करना होगा इसके लिए ऐसा वातावरण विनिर्मित करने की आवश्यकता है जिससे उदार आत्मीयता एवं सदाशयता को प्रोत्साहन मिले। सहृदयता को हर कीमत पर जीवन्त रखने में मनुष्य अपना गौरव समझे। समर्थता वही अभिनन्दित हो जो करुणा से अनुप्राणित हो। उस बुद्धि की प्रखरता की सराहना की जाय जो पीड़ा-पतन के निवारण में संलग्न हो। संकीर्ण स्वार्थों में लिप्त समर्थता की भर्त्सना की जाय।

नवनिर्माण का उत्कृष्टतावादी जीवन-दर्शन

सामाजिक प्रगति की चर्चा की जाती है तो कई अदृश्य पहलुओं पर विचार करना होता है। समाज एक इकाई है, व्यक्तियों से मिलकर ही जिसका निर्माण होता है। जो प्रवृत्तियाँ, संस्कार व्यक्ति परिवार को जकड़े रहते हैं प्रकारान्तर से वे ही समाज के अभ्युदय में भी बाधक एवं सहायक सिद्ध होते हैं। समाज का विकासक्रम बताता है कि मनुष्य आदिम युग में चलकर आधुनिक युग तक प्रगति करते-करते अपनी मूल प्रवृत्तियों को छोड़ता व मानवोचित सुसंस्कारों को ग्रहण करता चला आया है। इस तरह यह नहीं मानकर चलना चाहिए कि सुसंस्कार कभी नहीं छूटते, सामाजिक अवांछनीयताएँ कभी नहीं मिटतीं। यदि ऐसा होता तो वन्य पशुओं को सरकस में कलाकारों जैसा करतब दिखा सकना कैसे सम्भव हो पाता? माँसाहारी प्रकृति के कुत्ते-बिल्ली क्यों मनुष्य के साथ घुल-मिलकर वैसे ही आहार-विहार के आदी बनते?

वंशानुक्रम यथा परिवार का भी अपना प्रभाव है। वातावरण का प्रभाव तो रहता ही है और इसी आधार पर व्यक्तित्व बनते-ढलते रहते हैं। फिर भी इसे पत्थर की लकीर नहीं कहा जा सकता। हेय परिस्थितियों में जन्मे-पले लोगों में से असंख्य ऐसे हुए हैं जिनसे संचित कुसंस्कारों की केंचुली को साहसपूर्वक उतार फेंका और दिशा बदल कर उस ओर चल पड़े जिस ओर कि उस समुदाय का कदाचित् ही कोई चला हो। रैदास, कबीर दादू, नानक आदि सन्तों और बुद्ध, गाँधी आदि महामानवों में से एक कभी ऐसा नहीं था जिनकी सहायता का श्रेय उनकी आरम्भिक परिस्थितियों को मिल सके। कुछ तो ढलती आयु में बदले हैं और इसी जन्म के अभ्यस्त कुसंस्कारों को तिनके की तरह तोड़ने में समर्थ हुये हैं। बाल्मीकि, अंगुलिमाल, चण्ड, अशोक, अजामिल, बिल्वमंगल आदि की लम्बी नामावली ऐसे अप्रत्याशित परिवर्तन की सम्भावना सिद्ध करने के लिए साक्षी रूप में प्रस्तुत की जा सकती है।

यह सब इसलिए कहा जा रहा है कि जीवन दर्शन में उत्कृष्टता का समावेश करने, दृष्टिकोण में आदर्शवादी मान्यताओं को स्थान दिलाने की अनिवार्यता महत्ता को समाज को दिशा दिखाने वाले मनीषी भली प्रकार समझ लें, यह एक शाश्वत एवं सामयिक आवश्यकता है जिसे इन दिनों हर कीमत पर पूर्ण किया जाना है अन्यथा लोकप्रवाह जिस दिशा में बह रहा है उसे देखते हुए स्वार्थपरता और आक्रामकता की बढ़ती हुई प्रवृत्तियाँ सारे वातावरण को विषाक्त किये बिना न रहेंगी। यह विषाक्तता अन्ततः अराजकता की गृह-युद्ध जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करेंगी। फलस्वरूप सामूहिक आत्महत्या जैसा महाविनाश का दृश्य उत्पन्न होगा। आवश्यक नहीं कि इसके लिए परमाणु बम ही बरसे। आपाधापी की यादवी ने एक दूसरे को चीर खाने के लिए उत्साहित किया है। विजयी, पराजित दोनों ही अपना अस्तित्व गँवा बैठे हैं। इस तथ्य की साक्षी में प्राणिजगत के अनेक उद्धत समुदायों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो कभी बहुत समर्थ रहे हैं। किन्तु अब उनका कोई अता-पता शेष नहीं। मनुष्य

भी इसका अपवाद नहीं हो सकता। वह शालीनता और उदार सहकारिता की नीति अपनाकर आगे बढ़ा है; नीति उलटेगी तो प्रगति भी अवगति में वापिस होगी। सृष्टि का मुकुटमणि समझा जाने वाला मनुष्य उसी आदिम युग में जा पहुँचेगा जहाँ डार्विन के अनुसार उसके पूर्वज पेड़ों पर उलटे लटककर पत्थरों से शिकार मारकर अपना निर्वाह वनमानुष स्तर का किया करते थे। भावना क्षेत्र में दुष्ट दुर्बुद्धि का समावेश कितनी समस्याएँ और विभीषिकाएँ उत्पन्न करता है इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हम अपने चारों ओर पग-पग पर उपस्थित देखते हैं।

शालीनता ही एकमात्र आधार है जिसे अपनाकर मनुष्य सुखी, संतुष्ट रह सकता है और प्रगति पथ पर अनवरत क्रम से समूचे समुदाय के साथ आगे बढ़ता रह सकता है। उसकी जितनी उपेक्षा होगी दुष्परिणामों की उतनी ही वृद्धि होगी। आज के लाभ भर की बात समझने वाले सशक्त जीवधारी भी स्तर की दृष्टि से उपहासास्पद बने हुए हैं। मनुष्य भी यदि दूरदर्शिता, विवेकशीलता, न्यायनिष्ठा, सहकारिता, संयमशीलता जैसी गरिमामयी सत्प्रवृत्तियों का अवलम्बन त्यागता है तो प्रस्तुत सम्पदा एवं चतुरता भी उसे दुर्गति से बचा नहीं सकेगी। बढ़े हुए साधन उसे अधिक तेजी से महाविनाश के गर्त में गिराने की भूमिका प्रस्तुत करेंगे।

सामयिक एवं भावी विपत्ति से बचने का शान्ति एवं प्रगति का उज्ज्वल भविष्य की संरचना का एक ही मार्ग है कि लोकचिन्तन एवं लोकव्यवहार में सदाशयता का उच्चस्तरीय समावेश हो। समाज में ऐसी परम्पराएँ चले जिससे एक दूसरे के प्रति स्नेह सम्मान का प्रतिपादन करे और संयमशीलता सच्चरित्रता में, उदार सहयोग में एक-दूसरे से आगे बढ़ने का प्रतिद्वन्द्विता करता दीख पड़े।

इन दिनों इसकी आवश्यकता तो समझी जा रही है, किन्तु उसके लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं वे सर्वथा उथले, अधूरे, कागजी एवं सतही हैं। प्रवचन, लेखन से आदर्शों की महत्ता बताने के प्रयत्न होते रहते हैं मानो किसी को इससे पूर्व उन बातों की जानकारी ही न रही हो। सच तो यह है कि जिन्हें उपदेश किये जाते हैं वे सभी उसी की तरह शिक्षाएँ अपने से छोटों को दिया करते हैं। फिर एक-दूसरे के साथ इस प्रकार के खिलवाड़ जैसे विनोद कौतुक करने की विडम्बना रचता रहे तो इससे बनेगा क्या? लोकचेतना में अवांछनीयता का असाधारण समावेश प्रचलन द्वारा उसका समर्थन पोषण ऐसा संकट है, जिससे उभरने के लिए क्रान्तिकारी परिवर्तन करने होंगे। राजक्रान्ति कुशल योद्धाओं की रणनीति द्वारा सफल हो सकती है। अर्थ क्रान्ति के लिए यदि उत्पादन उपयोग के दोनों पक्ष उस क्षेत्र के मूर्धन्य लोग सम्हाल सकें तो उतने भर से सम्पन्नता न सही निर्वाह की सुविधा तो निश्चित रूप से बैठ सकती है। जापान की अर्थ नीति और प्रगति इसका उदाहरण है। लेनिन, अमानुल्ला, गाँधी जैसे कुछेक लोग क्रान्तियाँ करके दिखाते रहे हैं पर उस सामाजिक क्रान्ति के लिए असाधारण व्यूह रचना कराने एवं साधन जुटाने की आवश्यकता पड़ेगी। जिसमें नैतिक और बौद्धिक क्रान्ति के उत्कृष्टतावादी तत्वों का समुचित समावेश हो।

राष्ट्रीय एवं सामाजिक, प्रगति की बात सोचते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि राष्ट्र या समाज का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वे व्यक्तियों के समुच्चय का एक कल्पित नाम हैं। वस्तुतः इनकी प्रगति की, समृद्धि की, प्रखरता, समर्थता की बात सोचना हो तो उस क्षेत्र में निवास करने वाले के व्यक्तित्व का स्तर समझना होगा और उस क्षेत्र की विकृतियों को निरस्त एवं सत्प्रवृत्तियों को प्रखर बनाने की योजना बनानी होगी। इससे कम में बात बनती ही नहीं। साधनों से सुविधा बढ़ती है यह ठीक है। सुविधा सभी को चाहिए यह भी ठीक है पर यह उससे ज्यादा ठीक है कि यदि व्यक्तित्व में निकृष्टता घुसी रहे तो बढ़ी हुई सम्पदा का दुरुपयोग होगा और फल-स्वरूप उतनी विपत्तियाँ बढ़नी निश्चित हैं जितनी कि अभावग्रस्त स्थिति में सहन न करनी पड़ती।

उलझी आँटी का छोर तलाश करते-करते बात वहाँ आकर रुकती है, जहाँ व्यक्तित्व स्तर का केन्द्र बिन्दु है। मनुष्य की सामर्थ्य असीम है पर उसे सत्प्रयोजनों में लगाने का अवसर भी तो मिले। यह कार्य कौन करे? निश्चित रूप से यह सामर्थ्य जीवन के उत्कृष्टतावादी दर्शन में ही है। दर्शन से तात्पर्य उस आस्था से है जो अन्तराल की गहन परतों का स्पर्श करती है। कानूनी नियम और बौद्धिक प्रशिक्षण तो इस दिशा में बहुत थोड़ी सहायता कर पाते हैं। सच तो यह है कि अन्तराल की आस्थाओं के निर्देशन विचारणा और क्रिया-प्रक्रिया का बलात् अनुकरण करना होता है। कानून और धर्मोपदेश दोनों ही उस स्थिति में अपंग बने रहते हैं। आस्था केन्द्र ही व्यक्तित्व का ध्रुवनाभिक है। उस क्षेत्र को स्पर्श किये बिना व्यक्तित्व को उत्कृष्टतावादी नहीं बनाया जा सकता। संक्षेप में दर्शन की इस सामर्थ्य को सर्वोपरि महत्व दिया जा सकता है और उसे व्यक्ति एवं समाज का भाग्य विधाता कहा जा सकता है।

समय की विषम बेला में वरिष्ठों का दायित्व

व्यक्ति की आन्तरिक उत्कृष्टता ही बस इस बात की गारन्टी है कि वह स्वयं सुखी रहेगा और अपने सम्पर्क क्षेत्र को शान्ति एवं प्रगति से लाभान्वित करेगा। परिस्थितियाँ मनःस्थिति की प्रतिक्रिया भर हैं। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है। इन सनातन तथ्यों को कोई भी अपने चिन्तन और चरित्र के अनुरूप उत्थान और पतन का अवसर प्रस्तुत करते हुए देखकर यथार्थता परख सकता है।

वर्तमान की विभीषिकाओं को निरस्त करने और भविष्य की उज्ज्वल सम्भावनाओं से भरा-पूरा देखने का जो सपना सँजोया गया है उसके मूल में इसी प्रतिष्ठा को आधारभूत माना गया है कि जन-जन को उत्कृष्टता अपनाने के लिए सहमत किया जायेगा, फलतः शालीनता और सद्भावना का वातावरण बनेगा। इतना बन पड़ने पर सामान्य सुविधा-साधनों के सहारे भी शान्ति और प्रगति की परिस्थितियाँ विनिर्मित होती चली जायेंगी। नव सृजन का, युग परिवर्तन का, उज्ज्वल भविष्य का आधार खड़ा करने वाले तत्व इस तथ्य से पूर्णतया आश्वत हैं कि मनुष्य की अन्तरात्मा को जगाया जा सके तो वह सहज में ही शालीनता अंगीकार करेगी। इतनी बात बन सकी तो फिर सुख-शान्ति की समग्रता में कही कोई कमी न रहेगी।

इन्हीं विश्वासों के सहारे युगान्तरीय चेतना प्रकट और प्रखर होती चल रही है। वातावरण की विषाक्तता में सन्देह नहीं तो भी मानव अन्तरात्मा इतनी समर्थ है कि घेरे का दबाव उसे मूर्छित भर कर सकता है। आत्यन्तिक हनन करने में सफल नहीं हो सकता। भयानक ग्रीष्म में धरती घास सर्वत्र सूख जाती है तो भी उसकी जड़ों में अमृत्व विद्यमान रहता है। ज्योंही बादल बरसते हैं, देखते-देखते सूखी जड़ें उगती और धरती पर मखमली कालीन की तरह फैलती चली जाती हैं। पतनोन्मुखी गुरुत्वाकर्षण निश्चित रूप से प्रबल है । वह उत्थान को पतन में परिणत करने के लिए सतत संलग्न रहता है। फिर भी ऊर्ध्वगमन की प्रक्रिया निराश नहीं होती । अग्नि की लपटें ऊपर ही उठती हैं। गर्मी हर वस्तु को फुलाती और उठाती है। पृथ्वी के आकर्षण से अग्नि के विकर्षण ने पराभूत होने से इन्कार कर दिया है।

इन शाश्वत सिद्धान्तों ने आज की विषम बेला में अपनी प्रामाणिकता का परिचय देने के लिए अग्निपरीक्षा में होकर गुजरना स्वीकार कर लिया है। प्रस्तुत विषाक्तता से जूझने के लिए सृजन शक्तियों ने समय की चुनौती स्वीकार की है और कहा है, ध्वंस नहीं सृजन जीवन्त है। असत्य नहीं, सत्य प्रबल है। नियन्ता का समर्थन पतन के नहीं, उत्थान के साथ है। अन्धकार कितना ही सघन या विस्तृत क्यों न हो, उसे दीपक की एक छोटी-सी बाती ललकारती रहती है। फिर परिस्थितियों की विषमता देखकर सृजन के मुख पर मलीनता लाने का कोई कारण नहीं।

विलासी, लिप्सा और आधिपत्य की अहंता ने मनुष्य को व्यामोह के बन्धन में बाँधा है। उसे वासना, तृष्णा के प्रपंच में जकड़ा और अपंग, असहायों की दयनीय स्थिति में ला पटका है। पतन का दाँव चल गया, क्योंकि उसे अवरोध का सामना नहीं करना पड़ा। यदि आत्मा पर जाग्रतों जैसी तेजस्विता दृष्टिगोचर होती तो क्षुद्रता को ऐसा दुस्साहस करते न बन पड़ता कि वह महानता को पदच्युत करके स्वयं सिंहासनारूढ़ होती है। दुर्दैव का प्रकोप ही कहना चाहिए कि संसारभर को प्रकाश देने वाले सूर्य ने अन्धकार का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और लम्बा समय उनींदी तमिस्रा में पड़े-पड़े गँवा दिया। ग्रहण का कलंक देर तक सूर्य, चन्द्र को अपने चंगुल में ग्रसित किये नहीं रहता। प्रकाश की सत्ता है, अन्धकार की नहीं। प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है। उदीयमान प्रकाश का सामना नहीं करना पड़े तभी तक उसकी सत्ता है। आलोक के उदित होने पर उसका पलायन देखते ही बनाता है।

उद्बोधन और आलोक न मिले तो व्यामोह और भटकाव की स्थिति देर तक भी बनी रह सकती है, पर प्रभात की जागरणबेला अपना शंखनाद करती रहे और तन्द्रा पर उसका कोई प्रभाव न पड़े ऐसा हो नहीं सकता। अरुणोदय के साथ अन्तरिक्ष से अवतरित होने वाली ऊर्जा जब वृक्ष-वनस्पतियों से लेकर कीट-पतंगों और पशु-पक्षियों तक को जागरूकता एवं सक्रियता अपनाने के लिए उत्तेजित करती है तो कोई कारण नहीं कि मानवी अन्तकरण रखने वालों पर उसका कोई असर नहीं पड़े। उनकी बात दूर है जो काया तो मनुष्य आकृति की पहने बैठे हैं पर उसके भीतर निवास अभी भी पशु ही कर रहा है।

नवजागरण की इस प्रभात बेला में इन दिनों सर्वत्र नये ढंग से सोचने और नया क्रम अपनाने की हलचल दृष्टिगोचर हो रही है। सघन तमिस्रा में गहरी निद्रा बनी रहे और प्राणी मृतवत् पड़ा रहे तो आश्चर्य की बात नहीं, किन्तु जब दिनमान को प्रखरता बढ़ती ही चल रही हो और हलचलों में तूफानी गतिशीलता उछल रही हो तो फिर आलसी और प्रमादी भी लम्बी चादर तानकर सोये एवं निष्क्रिय पड़े नहीं रह सकते। स्वयं न जगें तो समय जगा देता है। कोई कुछ करना न चाहे तो भी परिस्थितियाँ कुछ करने-कराने के लिए विवश करती हैं। इन दिनों ऐसे हो भी रहा है । जागरण का दौर शरीरगत सक्रियता में ही नहीं मनोगत विचार मन्थन में भी प्रकट और प्रखर हो रहा है। चिन्तन को नई दिशा मिली है। पिछले दिनों पेट भरना ही प्रमुख रहा है। लोभ को प्रमुखता मिली है और विलास एवं संचय को ही सौभाग्य का चिन्ह समझा जाता रहा है। पिछले दिनों लोभ की ही तरह कोई भी मनुष्य को निर्विवाद बन्धनों में बाँधने के लिए बेड़ी की भूमिका निभाता रहा है। दोनों अभिन्न मित्र जो हैं लोभ को हथकड़ी बनने का अवसर मिल रहा है तो मोह भी सहचरत्व का आनन्द क्यों न ले। वह बेड़ी बनकर साथ क्यों न रहा हो। जब किसी को जकड़ना, पकड़ना ही ठहरा तो दोनों अभिन्न मित्र समान पराक्रम क्यों न करें? समान लाभ क्यों न उठायें? समान श्रेय क्यों न पायें?

तमिस्रा भरी लम्बी काल रात्रि में निशाचरों की ही पाँचों उँगलियाँ घी में ही रही हैं। हिंस्र पशु-पक्षी आक्रामक बनते रहे हैं। उल्लू और चमगादड़ स्वच्छन्द विचरे हैं। चोर-चांडालों ने निर्द्वन्द्व होकर घातें लगाई हैं।

इसमें साधनों का अपव्यय, अपहरण तो हुआ ही है। सबसे बड़े दुर्भाग्य की बात यह रही कि तन्द्रा ने आलस्य और प्रमाद बनकर स्वभाव पर आधिपत्य कर लिया और मनुष्य को अपंग जैसा बनाकर रख दिया। अपंग का अर्थ बाधित भी होता है- बाधित अर्थात् बन्दी। बन्दी अर्थात् जकड़ा हुआ । यह जकड़न थोपी गई या स्वेचाछापूर्वक अपनाई गई, यह बात दूसरी है। लोभ की हथकड़ी पहने हुए व्यक्ति हाथों के अवरुद्ध हो जाने पर कुछ कर नहीं सकता, इसी प्रकार मोह की बेड़ियों में कस जाने के उपरान्त किसी के लिए कुछ दूर चल सकना भी शक्य नहीं रहता। श्रेय पथ पर वे लोग चल नहीं सकते जिन्हें मात्र अपने छोटे से कुटुम्ब को ही इन्द्रासन सौंपे जाने की बात सूझती है। ऐसों की लोकमंगल के लिए कुछ करने की इच्छा क्यों उठेगी? जिन्हें लालच के लिए ही खपना-खटकना है वे क्यों परमार्थ को प्रश्रय देंगे? उनके लिए संव्याप्त पीड़ा और पतन को हलके करने के लिए उपलब्धियों में से कुछ कारगर अंशदान कर सकना कठिन है। लम्बी तमिस्रा ने पिछड़ों को निष्क्रिय और प्रगतिशीलों को संकीर्ण स्वार्थपरायण बनाकर रख दिया । लिप्सा और लालसा की ललक बढ़ती ही गई। वासना और तृष्णा में मन ऐसा रमा कि यह सूझना तक रुक गया कि जीवन क्रम में इससे आगे की भी कोई मंजिल या जिम्मेदारी है। बड़प्पन और विलास की वारुणी जब मनःतन्त्र पर पूरी तरह हावी हो रही हो तो दीन-दुनिया की समस्याएँ, आवश्यकताएँ सूझे भी कैसे? सूझे तो उनके समाधान का कोई उपचार कैसे बने?

यह है- उस भूत का पर्यवेक्षण जो अभी आधा-अधूरा ही विगत हो पाया है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि नव प्रभाव की ऊर्जा ने झकझोरे बिना छोड़ा किसी को नहीं। जीवन्तों में से हरेक को यह विचार करना पड़ रहा है कि परिवर्तन की इस पुण्य बेला में क्या उसे भी कुछ करना पड़ेगा? समय के साथ चलने के बिना क्या उसका भी काम नहीं चलेगा?

यह अन्तर्मन्थन उन्हें खासतौर से बेचैन कर रहा है, जिनमें मानवी आस्थाएँ अभी भी अपने जीवन्त होने का प्रमाण देतीं और कुछ सोचने-करने के लिए नोंचती-कचोटती रहती हैं। उन्हें सोचना पड़ रहा है कि परिवर्तन से भरी इस युग सन्धि में उस तरह नहीं रहा जा सकता जैसा कि पिछले दिनों चलता रहा है। इन दिनों न समय की माँग अनसुनी की जा सकती है और न ही आत्मा की पुकार को देर तक दबाया जा सकता है। विनाश से जूझने और विकास को सोचने के लिए जब जागरूकों की सेना कमर कसकर अग्रगामी हो रही हो- प्रयाण की शंख ध्वनि से दिगन्त गूँज रहा हो तो मुँह छिपाकर बैठे रहना भी तो सरल नहीं है। उसमें भी भीतर का रुदन और बाहर का उपहास बाधक बनता है। संकीर्ण स्वार्थपरता में आवद्ध बने रहने की स्थिति तब तक तो अखरती नहीं थी जब अन्यत्र भी वैसा ही दौर चल रहा था पर जब जाग्रति ने हर जगह सक्रियता उत्पन्न की है और आदर्शों को जीवन्त करने के लिए कुछ कर गुजरने की ठान ठानी है तो मुँह छिपाकर बैठे रहना भी कठिन है। लोक भर्त्सना से तो किसी बहाने बचा भी जा सकता है पर आत्म-प्रताड़ना से छुटकारा कैसे मिले ?

जाग्रत आत्मा कहे जाने में रुचि और रुझान के [illegible] है और वह भी ऐसा होता है जो कच्चे धागे की तरह स्थायित्व पकड़ नहीं पाता। उससे अच्छी वस्तु दीखी कि पुरानी छूटी । लेखा-जोखा साक्षी है कि जो एक बार इस परिवार में प्रविष्ट हुआ वह सदा-सर्वदा के लिए उसी का परिजन होकर रह गया। 'अखण्ड-ज्योति' को एक ऐसा सूत्र कहते हैं जिस में बहुमूल्य मणिमुक्तकों की माला गुँथी हुई है। हम लोग जाग्रत-जीवन्तों की तरह एक आदर्शवादी परिवार बनकर रह रहे हैं।

यह मिलन पठन-पाठन की सामग्री जुटाने या खपाने के लिए नहीं, वरन् उस महान उद्देश्य के लिए हुआ है जिसमें व्यक्ति व समाज का समान रूप से हित-साधन सन्निहित है। जिसमें आत्मा व परमात्मा को समान रूप से सन्तुष्ट होने का अवसर है। महानता का रास्ता ऐसा है जिस पर वाहन के सहारे नहीं अपने पैरों से ही चलना पड़ता है। जो उतना साहस सँजो लेते हैं उनके लिए मंजिल के हर विराम पर अपेक्षाकृत अधिकाधिक आनन्द की सामग्री मिलती जाती है। प्रगति के हर चरण पर पहले से अधिक प्रसन्नता की स्थिति उपलब्ध होती है।

व्यष्टि को क्षुद्र और समष्टि को महत् कहते हैं। विराट ही ब्रह्म है। संकीर्ण स्वार्थपरता की कीचड़ में सना हुआ व्यक्तिवाद ही भवबन्धन है। इसी में फँसा हुआ कुंभीपाक नरक में सड़ने का कष्ट उठाता है। कहते हैं कि नरकों में एक ऐसा भी है जिसमें घड़े में बन्द होकर रहने का कष्ट सहना पड़ता है। यह कुम्भीपाक व्यथा और कुछ नहीं व्यक्तिवादी संकीर्णता में आबद्ध रहने की घुटन भर है। पेट और प्रजनन में लिप्त मनुष्य सोचता तो कुछ इसी प्रकार है कि वह दूसरों की तुलना में अधिक चतुर है। लेना सबसे, देना किसी को कुछ नहीं कि नीति आकर्षक भी लगती है, चतुरता युक्त भी। किन्तु वास्तविकता कुछ दूसरी ही है। ऐसे मनुष्य अत्यधिक घाटे में रहते हैं। आत्म-सन्तोष , लोकसम्मान और दैवी अनुग्रह के तीनों ही महान् लाभों से उन्हें सर्वथा वंचित रहना पड़ता है फिर प्रगति भी सीमित क्षेत्र में ही सम्भव होती है। ऐसे लोग जो भी पाते हैं अपव्यय में गँवाते हैं। साथ ही जन-सहयोग के अभाव में अपने बलबूते उतना कम जमा कर पाते हैं जिन पर कोई गये-गुजरे स्तर वाला ही सन्तोष कर सकता है। यह संग्रह जिन्हें मुफ्त में मिलता है उनका चिन्तन और चरित्र उठता नहीं गिरता है। इस प्रकार यह हराम में मिला उत्तराधिकार

उनके लिए भी अभिशाप ही सिद्ध होता है जिन्हें इच्छा या अनिच्छा के देना पड़ा।

चतुर लोगों की इन दिनों भरमार है। बुद्धिमानों के दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। बुद्धिमत्ता का निर्धारण और निर्देशन एक है कि महानता का मार्ग अपनाया जाय। इसमें किसानों को बीज बोने, उद्योगियों को कारखाना लगाने, विद्वान को अध्ययन करने के समय त्याग करना पड़ता है। लाभदायक प्रतिफल को देखते हुए यह आरम्भिक विनियोग किसी भी दृष्टि से घाटे का सौदा नहीं है। महानता का वृक्षारोपण कुछ ही समय में कल्पवृक्षों के नन्दन वन की तरह फूलता-फलता है। तत्काल होने की आतुरता हो तो फिर हथेली पर सरसों जमाकर दिखाने वाली बाजीगरी के कुचक्र में फँसने और जंजालों में भटकने के अतिरिक्त और कुछ हाथ लगता नहीं है।

महानता का अवलम्बन करके असंख्य व्यक्ति क्षुद्र परिस्थितियों में जन्मने-पलने पर भी अपनी विशिष्टता के आधार पर उच्च स्थिति पर पहुँचे और यशस्वी हुए हैं। इन उदाहरणों से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि महानता उस उद्यान को लगाने की तरह है जो आरम्भ में परिश्रम और साधन चाहता है, किन्तु समयानुसार सुरभि और सम्पदा के उभयपक्षीय अनुदान उत्साहवर्धक मात्रा में प्रदान करता है। वह महानता आखिर है क्या जिससे व्यक्तित्व विशिष्टता युक्त एवं वर्चस्व वैभव सम्पन्न बनता चला जाता है? इसका उत्तर एक ही है समष्टि की साधना। लोक-सेवा, जनकल्याण इसे अपनाने का एक ही उपाय है, स्वार्थ को परमार्थ के निमित्त विसर्जित करना। इस दुस्साहस को जो जितनी मात्रा में क्रियान्वयन कर पाता है। वह उसी अनुपात में अपने को बुद्धिमान एवं भाग्यवान अनुभव करता है। परिमाणों को धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा कर सकने वाले अपने अनुभव एक स्वर से यही सुनाते रहे हैं कि समष्टि की सेवा-साधना से बढ़कर लाभदायक उद्योग इस संसार में और कोई है ही नहीं। इसे अपनाने पर स्वार्थ और परमार्थ की उभयपक्षीय पूर्ति सहज ही होती है।

इस युगसन्धि की ऐतिहासिक बेला में दूरदर्शिता और सदाशयता की संयुक्त माँग एक ही है कि इन दिनों संकीर्ण स्वार्थपरता पर अंकुश लगाया जाय और जो बच सके उसे नवसृजन के पुण्य-प्रयोजन में भावनापूर्वक लगाया जाय। धन का प्रभाव हो सकता है किन्तु श्रम, समय एवं मनोयोग की किसी के पास भी कमी नहीं हो सकती है। रुचि होने पर भी निरर्थक कामों में भी अधिक व्यस्त समझे जाने वाले लोग भी ढेरों श्रम, समय व साधन लगाते रहते हैं। फिर इसमें तो निर्धनों को भी कठिनाई नहीं हो सकती। व्यस्तता का बहाना करके समय दान और तंगी की आड़ लेकर अंशदान न दे सकने का तर्क तो दिया जा सकता है पर औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। न बहानेबाजी को सच्चाई बताने का प्रयास सफल हो सकता है तथ्य में 'अरुचि' भी काम कर रही होती है। जाग्रतों के उत्तरदायित्व और समय की माँग की संगति बिठाई जा सके तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि इन दिनों वैयक्तिक जंजालों को थोड़ा हलका किया जा सकता है और उस बचत को उन परमार्थ प्रयोजनों में लगाया जा सकता है जो युगसन्धि के इस पर्व पर मानवी सभ्यता के विकास या विनाश में से एक का चुनाव करने के साथ संबद्ध हैं। लिप्सा-लालसा में ही तो ८४ लाख योनियों में भटकते हुए लम्बा समय बीता है। अब यदि इस जीवन के बचे-खुचे समय का कहने लायक अंश युग धर्म के निर्वाह में लगा दिया जाय तो कोई बड़ा घाटा पड़ने वाला नहीं है। पेट-प्रजनन की प्रक्रिया तो अगले दिनों हेय योनियों के कुचक्र में फँसे रहने पर भी भली प्रकार चलती रह सकती है।

हमारी आध्यात्मिक क्रान्ति और प्रबुद्ध व्यक्ति

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से ही भारतवर्ष में भी समाज परिवर्तन की चर्चा तेजी से होने लगी है। बुद्धि-विनियोग से लेकर, शिक्षा-पद्धति, रहन-सहन, आचार-विचार आज सभी अपभ्रंश दिखाई दे रहे हैं। कानूनी ढाँचा, आर्थिक स्तर, औद्योगिक उन्नति के सभी क्षेत्र विशृंखलित दिखाई दे रहे हैं, वैसे ही हमारी नैतिक प्रवृत्तियों में भी निरन्तर ह्रास हो रहा है। जहाँ व्यक्तिगत चरित्र दूषित हुए हैं वहाँ राष्ट्रीय आचरण भी पिछले बीस वर्षों में गिरा ही है।

समाज की सभ्य और सुसंस्कृत रचना प्रबुद्धवर्ग के व्यक्तियों के हाथों ही सम्पन्न होती हैं, ऐसी जनक्रान्तियाँ भारतवर्ष में पहले भी हो चुकीं हैं। यह कोई अनहोनी बात नहीं होने जा रही। बुद्ध, राम, कृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द के काल में ऐसी क्रान्तियाँ हुई और सामाजिक स्वरूप परिवर्द्धित हुआ। इतिहास उसकी पुनरावृत्ति करना चाहता है।

शिक्षित और विचारशील व्यक्तियों के संगठित प्रयत्नों के फलस्वरूप सोवियत-संघ, अमेरिका, क्यूबा, चीन, जापान में आर्थिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक क्रान्ति के मुख्य उद्देश्य पर काम करना सम्भव हो सका तो भारतवर्ष में भी वैसी क्रान्ति लाई जा सकती है। योजनाबद्ध क्रियाशीलता समाज के प्रबुद्ध व्यक्तियों के हाथ सौंपकर उन्हें उद्देश्यपूर्णता का बल देकर समाज के रुग्णता का उपचार किया जा सकता है, उसके लिए जन-मानस बन भी रहा है।

स्वाधीनता संग्राम भी इन्हीं परिस्थितियों में लड़ा गया था। काँग्रेस आज देश की सर्वोच्च शक्तिशाली पार्टी के रूप में देशभर में कार्य कर रही है, वह भी थोड़े से प्रबुद्ध व्यक्तियों के संगठन पर इतना विशाल आकार ग्रहण कर सकी। इतिहास प्रसिद्ध घटना है सर ह्यूम ने जब काँग्रेस की नींव रखी थी तो उनके सदस्यों की संख्या उँगलियों पर

गिने जाने से भी कम थी पर वह सभी विचारशील व्यक्ति थे, विचारों की आग फैलाकर ही इन थोड़े से लोगों ने एक विशाल संगठन पैदा कर लिया और राष्ट्र के राजनैतिक ढाँचे को बदल डाला।

अब जो परिस्थितियाँ शेष हैं उनमें आर्थिक और औद्योगिक युद्ध राजनैतिक स्तर पर लड़ा जा रहा है, प्रबुद्ध व्यक्तियों का एक बड़ा वर्ग उधर खिंच गया है। थोड़े से ऐसे कर्मठ व्यक्ति चाहिए जो राजनैतिक दिशा से मुख मोड़कर अपनी नेतृत्व शक्ति का उपयोग जौन गार्डनर, बौब वुड, चार्ली, होर, कौन्सतान्तित त्सियोल्कोवस्की, इवान पावलोव, सन यात सेन और कागावा की तरह नैतिक सांस्कृतिक और सामाजिक क्रान्तियों में कर सकें। प्रभावशील जन नेतृत्व और प्रबुद्ध व्यक्तियों के संगठित प्रयास राष्ट्र के वर्तमान ढाँचे को बदल डालने के लिए काफी हैं।

किन्तु इस घोषणा से पूर्व हमें भारत की विशिष्ट परम्पराओं, सस्कारों एवं मनोवृत्तियों का विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक है। कांग्रेस ने राष्ट्र की उन्नति के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किये, किन्तु उसकी प्रतिष्ठा गिर रही है। इसका एक कारण है। वह यह कि –उसने देशवासियों के संस्कार और उनकी मनोवृत्ति को नहीं समझा या समझने की चेष्टा नहीं की। जो पार्टियाँ विजयी हो रही हैं उनमें जिनका भविष्य उज्ज्वल है वे ऐसी ही होंगी जिन्होंने यहाँ की आत्मा का गहन अध्ययन किया होगा।

धर्म और अध्यात्म भारत की आत्मा है, प्राण है, सर्वस्व है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था– "मैं तुम्हारी बात जानता हूँ, नास्तिकों जैसी बात करके भी तुम धर्म को नहीं ठुकरा सकते क्योंकि वह तुम्हारे संस्कारों में बस गया है।"

राजनीति हो अथवा शिक्षा-नीति हमारी मनोवृत्ति दार्शनिक है। हम धर्म और अध्यात्म को जीवन का पूर्ण उद्देश्य मानते हैं अन्य किसी भी लक्ष्य के लिए उसे ठुकरा नहीं सकते। कोई भी सामाजिक क्रान्ति लाने के लिए इस मनोवृत्ति का ज्ञान होना परम आवश्यक है। राजनीतिक क्रान्ति भी महात्मा गाँधी के आध्यात्मिक मार्गदर्शन के साथ-साथ चल सकी थी। उसे हरगिज नहीं छोड़ा जा सकता। क्योंकि हमारी हर साँस धर्म है, हम धर्म खाते हैं, धर्म कमाते हैं, सोने, उठने बैठने, बोलने, पढ़ने का सारा विकासक्रम धार्मिक मनोभूमि पर टिका है, तो फिर उसे छोड़ा नहीं जा सकता हमारा अस्तित्व ही धर्म है यों मानना चाहिये।

इसलिए भावी सामाजिक-क्रान्ति में जिन लोगों को भाग लेना है भारतवर्ष में उनकी विशिष्टता प्रबुद्ध होना ही काफी नहीं आध्यात्मिक होना भी आवश्यक है। उनका ज्ञान सामान्य स्थिति से आत्म-दर्शन, जीवन-कला, जीव विज्ञान और ब्रह्म-विद्या से जुड़ा हुआ हो तो समाज उनकी बात सुनने और मानने को तैयार होगा। प्रवर्त्तकों को इस विचारधारा के अनुरूप योजनाएँ और प्रशिक्षण देकर प्रबुद्ध व्यक्तियों को क्रान्तिकारी तैयार करना चाहिए। समाज के भावी निर्माण का कार्य केवल ऐसे ही व्यक्तियों द्वारा सम्भव होगा। भारतवर्ष की यह विशिष्टता उसके उज्ज्वल भविष्य के लिए बनी भी रहनी चाहिए। इसे भविष्यवाणी भी कह सकते हैं और देश पर परमात्मा की कृपा भी कह सकते हैं। मूल बात एक ही है कि देह, मन और आत्माओं में बसे आध्यात्मिक संस्कारों को न तो राजनीति की ब्लीचिंग साफ कर सकती है और न अभारतीय शिक्षा और समाजवाद ।

आज बड़े-बड़े कार्यकर्ताओं के सामने यह असमंजस उपस्थित है। तब यह सोचना आवश्यक है कि समाज के अभिनव निर्माण का स्वरूप किस तरह निर्मित किया जाय, उसे कौन-सा विनियोग प्रदान किया जाये?

अन्य राष्ट्रों के सामाजिक परिवर्तनों का संक्षिप्त इतिहास भी यों प्रस्तुत है और भारतीय परिस्थितियों का विश्लेषण भी। उसे देखकर यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि हम परिवर्तनों को ला सकते हैं, यदि सूत्र संचालन के लिए थोड़े से प्रबुद्ध व्यक्ति उठ खड़े हों, जो आध्यात्मिक ज्ञान के साथ आध्यात्मिक उद्देश्य भी लिए हों। उनमें इतना गौरव रहना चाहिए कि वे देश के भावी निर्माण के लिए उच्चतम त्याग, अधिकतम परिश्रम, लगन और कर्मठता तथा आदर्श और सिद्धांतों की शिला पर उद्देश्य प्राप्ति तक निष्ठापूर्वक सुदृढ़ बने रह सकते हैं।

सारा देश आज अपने आपको बदल डालने के लिए अकुला रहा है। वातावरण बदल रहा है, परिस्थितियाँ बदल रही हैं, दृष्टिकोण बदल रहे हैं। यह राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य का प्रतीक है पर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आदर्श, दिशा और विश्वासों से विभ्रमित समाज रास्ते से कुरास्ते में भी चल पड़ सकता है। वर्तमान झुकाव है उसी ओर। उसे रोकने के लिए आध्यात्मिक क्रान्ति ही अब विकल्प रह गयी है।

भारतीय संस्कृति के अध्यात्म स्तम्भों वाला दुर्ग लगभग ढह चुका है। आस्तिकता और कर्तव्यपरायणता की नींव हिल चुकी है। नीति और सदाचरण की चौपाल फूट रही है। आदर्श और सिद्धान्तों के द्वार अस्त-व्यस्त हो चुके। स्वास्थ्य, मनोबल, सुदृढ़ गृहस्थ, जातीय संगठन का मसाला लगभग समाप्त-सा है। उस दुर्ग पर दखल देने के लिए बाह्य संस्कृतियाँ अवसर ढूँढ़ रही हैं। ऐसे समय प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति का यह कर्तव्य हो गया है कि वह देश की आध्यात्मिक क्रान्ति की भूमिका निभाने में हिस्सा ले। यह अन्तिम समय, अन्तिम चेतावनी है। अभी भी राष्ट्र सजग न हुआ तो भारतीय संस्कृति का सूर्य अस्त ही हुआ मानना चाहिए। उसके साथ-साथ हिन्दू जाति का अस्तित्व भी समाप्त हुआ समझना चाहिए।

बौद्धिक क्रान्ति, नैतिक क्रान्ति-सामाजिक क्रान्ति के सर्वतोमुखी परिवर्तन का लक्ष्य लेकर अपना गायत्री परिवार

चल रहा है। उसकी प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक प्रवृत्तियों में हम सबको उत्साहपूर्वक भाग लेना चाहिए। यह कार्य संगठित रूप से ही अधिक अच्छी तरह हो सकते हैं। इसी आधार त्रिविध क्रान्तियों से जुड़ा हुआ एक अति प्रचण्ड एवं व्यापक महायुद्ध लड़ा जायगा, जिसमें प्रबुद्ध व्यक्तियों की भूमिका अत्यन्त बढ़-चढ़ कर रहेंगी।

गायत्री-परिवार का लक्ष्य– आध्यात्मिक-क्रान्ति

गायत्री को भारतीय संस्कृति की जननी और यज्ञ को भारतीय धर्म का पिता माना जाता है । गायत्री का संदेश है– सद्विचार, विवेक, सद्भावना, अध्यात्मिक उच्चस्तर, मानवता के आदर्शों की अभिव्यक्ति। यज्ञ का तत्वज्ञान है– त्याग, सत्कर्म, सदाचार, संयम, सेवा, सामूहिकता, सहिष्णुता, सहयोग, स्नेह, उदारता, श्रमशीलता, तितीक्षा। गायत्री हमें मानसिक दृष्टि से महान बनने की प्रेरणा देती है और यज्ञ की शिक्षा सांसारिक दृष्टि से आदर्शवादी, धर्मनिष्ठ कर्तव्यपरायण महापुरुष बनने की है।

गायत्री और यज्ञ की उपासना को धर्म-कर्मों में प्राथमिक स्थान देकर ऋषियों ने मानवता के आदर्शों में मनुष्य को लगाये रखने का प्रयत्न किया है यों गायत्री और यज्ञ के असंख्य वैज्ञानिक लाभ हैं, इनके द्वारा अनेक समस्याओं को सुलझाने का भारी उपयोग भी है पर यहाँ इस पुस्तक मे इस दृष्टिकोण से विचार करेंगे कि गायत्री यज्ञ की धर्म प्रवृत्ति को एक आन्दोलन का रूप देकर हम किस प्रकार नैतिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

प्रतीक-पूजा के रूप में भी गायत्री और यज्ञका सद्विचारों और सत्कार्यों का माध्यम बताकर इनकी आवश्यकता समझाने तथा अपनाने के लिए जनसाधारण को प्रेरित करने का लक्ष स्थिर किया गया है। कपड़े का छोटा-सा तिरंगा झण्डा जिस प्रकार राष्ट्रीयता का, राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक माना जाता है, उसका अभिवन्दन किया जाता है उसी प्रकार सद्विचारों और सत्कार्यों के प्रतीक के रूप में सर्वत्र गायत्री तथा यज्ञ का अभिवन्दन पूजन अर्चन हो तो इससे मानवता एवं नैतिकता के आदर्शों को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक ही है।

राष्ट्र निर्माण के लिए

राष्ट्र निर्माण के लिए आज अनेक प्रयत्न हो रहे हैं। सम्पत्ति और समृद्धि बढ़ाने के लिए कितनी ही योजनाएँ बन रही हैं। इनके सफल होने तथा उनसे उत्पन्न धन द्वारा सुख-शांति बढ़ने की तब तक आशा नहीं की जा सकती जब तक कि जन-साधारण का नैतिक स्तर ऊँचा न उठाया जाय। जिन व्यक्तियों के हाथ में आज योजनाओं को कार्यान्वित करने तथा न्याय, शासन, अर्थ, व्यवसाय, यातायात, निर्माण-कर वसूली आदि को चलाने आदि की जिम्मेदारी हैं उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जो ठीक तरह अपना काम करते हैं। इन कार्यों से जनता को या सरकार को जो लाभ होना चाहिए, उसका एक बड़ा अंश इन कार्यकर्त्ताओं द्वारा ही अपहरित कर लिया जाता है। जनता की भी मनोवृत्ति यही है। बीज, कुआ, उद्योग-धन्धे चलाने आदि के नाम पर लिया हुआ सरकारी ऋण, विवाह शादियों की धूमधाम में फूँक दिये जाते हैं। आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक, शारीरिक, राजनैतिक धार्मिक सभी क्षेत्रों में यह भ्रष्टाचारी मनोवृत्ति ऐसी कठिनाई उत्पन्न करती है जिससे राष्ट्रीय उन्नयन के लिए किए हुए अनेक प्रयत्नों के परिणाम आशाजनक नहीं हो पाते।

हम हजारों वर्षों के अज्ञानान्धकार युग को पार कर राजनैतिक दृष्टि से स्वाधीन हुए हैं। अब निर्माण कार्य हमें स्वयं करना है। इसके लिए सरकारी और गैरसरकारी भौतिक प्रयत्न चल रहे हैं यह सन्तोष की बात है, किन्तु साथ ही जनसाधारण का मानसिक, नैतिक चरित्र का, आध्यात्मिक स्तर ऊँचा उठाने की भी भारी आवश्यकता है। इसके बिना आर्थिक उन्नति का लक्ष्य पूरी तरह सफल नहीं होगा, यदि किन्हीं अंशों में सफलता मिली भी तो इससे लोगों की विलासिता एवं फिजूलखर्ची ही बढ़ेगी वह पैसा उनमें दोष और दुर्गुण ही पैदा करेगा। सम्पत्ति का सच्चा लाभ भी वही उठा सकते हैं जिनमें विवेकशीलता और दूरदर्शिता हो, इन दो वस्तुओं के अभाव में बढ़ी हुई समृद्धि, स्वयं मनुष्य के लिए एक विपत्ति ही बन सकती है।

राष्ट्र के स्वस्थ विकास के लिए, अविद्या, दरिद्रता एवं कुरीतियों के बंधनों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए- सामाजिक एवं बौद्धिक क्रान्ति के लिए–निश्चित रूप से जनसाधारण का नैतिक स्तर ऊँचा करना होगा। इसकी उपेक्षा करके अन्य मार्गों से प्रगति के पथ पर आगे बढ़ सकना कठिन है। भारतीय संस्कृति- नैतिकता एवं मानवता की सार्वभौम संस्कृति है। इस देश की महान् परम्पराओं में से प्रत्येक का निर्माण मनुष्य को सदाचारी, संयमी एवं समाजसेवी बनाने की दृष्टि से ही हुआ है। हमारा प्राचीन इतिहास, दर्शन, धर्मशास्त्र, समाज तंत्र, कर्मकाण्ड, शिष्टाचार, आहार-विहार, विचार प्रवाह, आचार, विधान, वेश विन्यास, आदर्श, उद्देश्य सभी कुछ ऐसा है कि जिसे अपनाने वाला उन नैतिक तत्वों का सहज ही अनुचर बन जाता है जो विश्व में शान्ति, सुरक्षा, उन्नति और प्रसन्नता की स्थिति बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान

यही भारतीय संस्कृति है। उसका पुनरुत्थान आवश्यक है। हमारे नैतिक आन्दोलन की यही आधारशिला हो सकती है। अज्ञानान्धकार के मध्य युग में जबकि प्रत्येक क्षेत्र में बुराइयाँ और विकृतियाँ घुसीं उसी समय हमारा सांस्कृतिक क्षेत्र भी दूषित हो गया। उसमें ऐसे विचार, ऐसे आचार घुस पड़े जिनके कारण हमारी महान् सांस्कृतिक परम्परा विकृत होकर ऐसी हो गई जिनके कारण आत्मिक स्तर का ऊंचा होना तो दूर उलटे अनेक प्रकार के अध:पतन उपलब्ध हुए।

जिस देश के लोग अपनी संस्कृति का सन्देश लेकर विश्व के कोने-कोने में जाते थे और वहाँ के भिन्न भाषा, वेश, भाव, आदर्श, आचार-विचार, धर्म के लोगों को प्रभावित करके अपनी संस्कृति में दीक्षित करते थे, वहाँ के लोगों की परम्पराएँ संकीर्णता में बँधकर इतनी हीन हो गईं कि चंद मुसलमानों ने आक्रमण करके हमारे ही करोड़ों भाई हमसे छीन लिए, उनके लाख विलाप करने पर भी हम उन्हें अपने धर्म में वापिस न ले सके, फलस्वरूप पाकिस्तान के रूप में उसका दंड हमें चुकाना पड़ा। संकीर्णता, विवेकहीनता की अनेक कुप्रथाएँ आज भी उसी प्रकार हमारे सामाजिक एवं बौद्धिक क्षेत्र में डेरा डाले बैठी हैं। इन अविवेकपूर्ण, अन्ध परम्पराओं से छुटकारा पाये बिना हमारी प्राचीन संस्कृति का रूप स्पष्ट नहीं हो सकता। आज तो हम दूसरे देशवासियों की दृष्टि में, विचारशील लोगों की दृष्टि में, कुरीतियों और संकीर्णताओं के पिटारे हैं। अपनी इन बुराइयों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सच्चा प्रयत्न करने की आवश्यकता है, तभी हमारा ऋषि युग को वापस लाने का सांस्कृतिक पुनरुत्थान का लक्ष्य पूरा होगा।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि गायत्री यज्ञ आंदोलन का लक्ष्य सत्विचारों और सत्आचारों का विस्तार करना है । यही भारतीय संस्कृति है। नैतिक पुनरुत्थान या विचार-क्रान्ति भी इसी को कहना चाहिए। हमारे देश की विचारधारा, भावना एवं परम्परा के अनुरूप राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण की जो रूपरेखा हो सकती है उसे सांस्कृतिक पुनरुत्थान नाम दिया जा सकता है। एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति और सच्चरित्रता एक ही वस्तु है। मानवता के सारा आदर्श उसमें सन्निहित है।

सुख-शान्ति की सारी संभावनाएँ इस बात पर निर्भर हैं कि हम लोग किस सीमा तक अपने विचारों को पवित्र रखते हैं, कितना एक-दूसरे के साथ सच्चाई, प्रेम एवं भलमनसाहत का व्यवहार करते हैं। मनुष्य जब एक दूसरे से सहयोग करता है। कठिनाइयों को घटाने एवं सुविधाओं को बढ़ाने में तत्पर होता है तो उसकी रचनात्मक शक्ति बढ़ जाती है, इस रचनात्मक शक्ति का लोकहित में उपयोग करने से प्रसन्नता, आनन्द, उल्लास का, सुख साधनों की अभिवृद्धि का द्वार खुल जाता है। इसके विपरीत जब दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष, पाप, पाखंड का शोषण और आक्रमण का मार्ग अपनाता है तो दु:ख-दारिद्र व क्लेश कलह की घटाएँ घुमड़ने लगती हैं। जब हम एक-दूसरे को नीचा दिखाने, दुख देने के लिए जब तत्पर होते हैं तो अध:पतन की सत्यानाशी संभावनाएँ सामने आ खड़ी होती हैं।

संसार में शान्ति का क्षेत्र बढ़े, परस्पर सहयोग और सद्भावपूर्वक सब लोग जीवन-यापन करें, इसके लिए यह आवश्यक है कि हर व्यक्ति के अन्त:प्रदेश में मनुष्य के अनुरूप आदर्शों के प्रति गहरी निष्ठा स्थिर रहे। मानव जीवन का गौरव और समाज की सुव्यवस्था इसी बात पर निर्भर है कि हर व्यक्ति दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करे जैसा वह अपने लिए दूसरों से चाहता है। जिस प्रकार दूसरों के दुर्व्यवहार से अपने को कष्ट होता है, उसी प्रकार जब मन में यह अनुभूति होने लगे कि हमारे दुर्व्यवहार से दूसरों को भी कष्ट और असुविधा होती है तो हमारा मन बुराइयों से घृणा करने लगेगा। बुराइयों के प्रति घृणा और सत्प्रवृत्तियों के प्रति श्रद्धा जब बढ़ती है तो समझना चाहिए कि असुरता का विनाश और देवत्व का विकास हो रहा है। यही वह स्थिति है जिसे उत्पन्न करके इस पृथ्वी पर स्वर्ग अवतरित करने के स्वप्नों को साकार किया जा सकता है।

राष्ट्र को उन्नतिशील बनाने के लिए जो प्रयत्न चल रहे हैं उनकी सफलता के लिए प्रत्येक क्षेत्र में सच्चरित्रता की अभिवृद्धि होना आवश्यक है। नेता, सरकारी कर्मचारी, व्यापारी, किसान, मजदूर, अध्यापक, चिकित्सक, शिल्पी, धर्मजीवी सभी यदि अपने-अपने कर्तव्य को ठीक प्रकार पालन करने लगें, ईश्वर को सर्वव्यापक समझकर ईमानदारी और सच्चाई पर आरूढ़ हो जावें तो जितना कार्य अब बहुत धन खर्च करने पर भी अधूरा होता है, उससे भी कहीं अधिक प्रगति कहीं कम धन और कहीं कम समय में पूरी हो सकती है।

विचार-क्रान्ति की योजना

विचारों की शक्ति महान है। मनुष्य को जितनी आवश्यकता उत्तम अन्न, स्वच्छ जल, खुली हवा, रोशनी, सफाई, कपड़ा, मकान, परिश्रम तथा आराम की है उससे कहीं अधिक आवश्यकता उत्तम विचारों की है। जिसका मस्तिष्क विचार शून्य है, जो घटिया किस्म के विचारों में डूबा रहता है उसे एक प्रकार का पशु ही कहना चाहिए । केवल रोटी, वासना और तृष्णा में संलग्न व्यक्ति मनुष्य के महान गौरव को कलंकित करने वाला है। इस कलंक की कालिमा को छुड़ाने के लिए विचारशीलता तथा विवेकशीलता को बढ़ाने का प्रयत्न करने की भारी आवश्यकता है। शिक्षा के विभिन्न साधन आजीविका

सम्बन्धी या सांसारिक जानकारियों को बढ़ाने तक ही सीमित रह जाते हैं। जरूरत इस बात की है कि विद्या का क्षेत्र बढ़ाया जाय। लोग अपने बारे में, आत्मा के बारे में, परमात्मा के बारे में, अपने कर्तव्यों के बारे में अधिक जाने। यह जानकारी जितनी ही बढ़ेगी उतना ही सुख-शान्ति के क्षेत्र का विस्तार होगा।

गायत्री परिवार का प्रत्येक सदस्य विचारशील एवं स्वाध्याय प्रेमी बने, इसके लिए यह संस्था-विस्तृत स्टडी सर्किल- अध्ययन क्षेत्र- बनाने में संलग्न है। शाखा संचालकों से तथा परिवार के प्रत्येक सक्रिय कार्यकर्त्ता से यह आशा की जाती है कि वह भारतीय संस्कृति की महानता प्रतिपादित करने वाला साहित्य स्वयं नियमित रूप से पढ़े तथा अन्य धर्मप्रेमियों को ऐसा साहित्य पढ़ने की प्रेरणा दे। जिनमें इस प्रकार की अभिरुचि के बीज दिखाई दें, उनके घर पर जाकर नैतिक साहित्य पढ़ने के लिए दिया जाय, जब पढ़ लें तब वापस लाया जाय। एक के बाद दूसरी पुस्तकें उन्हें पढ़ने को मिलती रहे इसका प्रयत्न किया जाय।

गायत्री परिवार द्वारा जितना बल होम यज्ञ पर है, उतना ही, वरन् उससे भी कहीं अधिक बल ज्ञान यज्ञ पर दिया जाता है। जिस प्रकार सुन्दर खाद्य पदार्थ प्राप्त करने की, उन्हें खरीदने की इच्छा करते हैं उसी प्रकार सत् साहित्य पढ़ने की इच्छा हर व्यक्ति के मन में उठे और वह उसे पूरा करने के लिए प्रयत्न करे। यह प्रवृत्ति पैदा करना एक पुनीत सत्कर्म माना गया है। ज्ञान की भूख पैदा करना और बौद्धिक भोजन जुटाना यही ज्ञान यज्ञ है। ज्ञान यज्ञ की प्रक्रिया गायत्री परिवार के क्षेत्र में ही नहीं उससे बाहर भी तेजी से चले यह प्रयत्न पूरी शक्ति के साथ करने का कार्यक्रम बनाया गया है।

आवश्यक खर्चों की लिस्ट में आत्मिक आहार के लिए कुछ खर्च करने का बजट हर किसी को बनाना चाहिए। जिस प्रकार शरीर को रोटी आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा को नित्य सद्विचारों की योजना आवश्यक है। इस तथ्य को हर विचारशील व्यक्ति को अनुभव करने का अवसर मिलना चाहिए। संस्था का प्रयत्न यह होगा कि अध्ययन के प्रति लोगों में जो उपेक्षा एवं आलस्य है उसे दूर किया जाय। जनजीवन में भारी हेर-फेर करने के लिए जिन प्रौढ़ विचारों की आवश्यकता है उन्हें उत्पन्न करने के लिए सत्साहित्य का प्रमुख स्थान है। ज्ञान यज्ञ द्वारा ही जनसाधारण को उचित दिशा में सोचने और उचित गतिविधि बनाने की प्रेरणा देना सम्भव हो सकता है।

बुद्धि की देवी गायत्री के उपासकों के लिए स्वाध्यायशील होना ही नहीं, सद्विचारों का प्रचारक होना भी आवश्यक है। इस संस्था के हर सदस्य पर यह जिम्मेदारी डाली गई है कि वह धार्मिक क्रान्ति के लिए, सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए विचारशीलता का क्षेत्र तैयार करें। अपना कुछ समय नियमित रूप से दूसरों को सद्विचार देने में लगाया करें। अपनी आजीविका में से कुछ अंश, चाहे वह एक पाई या एक मुट्ठी अन्न ही क्यों न हो नित्य ज्ञान यज्ञ के लिए निकाला करें। इस बचाये हुए पैसे से सत् साहित्य खरीदकर अपने घर में स्थापित ज्ञान मन्दिर की अभिवृद्धि करते रहना और उसका लाभ अपने कुटुम्बियों, पड़ौसियों, मित्रों, परिचितों को प्राप्त कराने के लिए प्रयत्न करना, यह श्रेष्ठ ब्रह्मदान प्रत्येक गायत्री प्रेमी का पवित्र कर्तव्य है।

विदेशों में विभिन्न विचारधाराओं को फैलाने के लिए स्टडी सर्किल- अध्ययन क्षेत्र चलते हैं। यह बड़ी ही प्रभावशाली प्रक्रिया है। युग निर्माण योजना अपने कार्यकर्त्ताओं पर यह जोर देती है कि बौद्धिक-क्रान्ति के प्रमुख आधार इस ज्ञान यज्ञ को ये अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य समझें। अन्नदान से ब्रह्मदान का महत्व सौ गुना अधिक माना गया है। ब्राह्मण भोजन का तात्पर्य-सद्विचार फैलाने वाले व्यक्तियों-ब्राह्मणों का पोषण ही है। अब उस प्रकार के ब्राह्मण ढूँढे नहीं मिलते जिनका जीवन निरन्तर ज्ञान-प्रचार में ही लगा रहता हो। ऐसी दशा में सत्साहित्य का प्रचार, वितरण, ज्ञान ही ब्रह्मभोज की आवश्यकता को पूरा करता है। प्रत्येक शुभ कार्य के साथ, प्रत्येक पर्व, उत्सव या प्रसन्नता के अवसर पर हमें सस्ते सत्साहित्य का उपहार वितरण करना चाहिए। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए गायत्री तपोभूमि लागत से भी कम मूल्य में अत्यन्त सस्ता, नैतिक एवं सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न करने वाला साहित्य तैयार करने में संलग्न है। ईसाई मिशन जिस प्रकार अत्यन्त सस्ता साहित्य छापकर प्रसारित करके अपने विचारों को घर-घर तक पहुँचाने में, उनसे प्रभावित लोगों को ईसाई बनाने में समर्थ हुए उसी आधार को अपनाकर हम भी जनसाधारण की मनोदशा में परिवर्तन कर सकते हैं, कुमार्गगामी लोगों को सन्मार्ग पर ला सकते हैं, स्वार्थपरता दुष्प्रवृत्तियों से छुड़ाकर एक महान गौरवशाली राष्ट्र के सच्चरित्र नागरिकों के रूप में परिवर्तित कर सकते हैं। ज्ञान यज्ञ इसी उद्देश्य से आरम्भ किया गया है। जीवन को यज्ञमय बनाने, भावना के ज्ञान यज्ञ से प्रदीप्त करने के लिए संस्था के प्रचार कार्यक्रम बनाये गये हैं।

आत्मकल्याण की उपासना

हमारे देश का हर धार्मिक प्रकृति का व्यक्ति अपनी धार्मिक महत्वाकांक्षाएँ- स्वर्ग प्राप्ति, जीवन मुक्ति, ब्रह्म निर्वाण, ईश्वर प्राप्ति, ऋद्धि-सिद्धि आदि के रूप में व्यक्त करता है। धर्म कृत्यों में उसका लक्ष्य प्राय: यही सब होता

सांस्कृतिक पुनरुत्थान

यही भारतीय संस्कृति है। उसका पुनरुत्थान आवश्यक है। हमारे नैतिक आन्दोलन की यही आधारशिला हो सकती है। अज्ञानान्धकार के मध्य युग में जबकि प्रत्येक क्षेत्र में बुराइयाँ और विकृतियाँ घुसीं उसी समय हमारा सांस्कृतिक क्षेत्र भी दूषित हो गया। उसमें ऐसे विचार, ऐसे आचार घुस पड़े जिनके कारण हमारी महान् सांस्कृतिक परम्परा विकृत होकर ऐसी हो गई जिनके कारण आत्मिक स्तर का ऊँचा होना तो दूर उलटे अनेक प्रकार के अधःपतन उपलब्ध हुए।

जिस देश के लोग अपनी संस्कृति का सन्देश लेकर विश्व के कोने-कोने में जाते थे और वहाँ के भिन्न भाषा, वेश, भाव, आदर्श, आचार-विचार, धर्म के लोगों को प्रभावित करके अपनी संस्कृति में दीक्षित करते थे, वहाँ के लोगों की परम्पराएँ संकीर्णता में बँधकर इतनी हीन हो गईं कि चंद मुसलमानों ने आक्रमण करके हमारे ही करोड़ों भाई हमसे छीन लिए, उनके लाख विलाप करने पर भी हम उन्हें अपने धर्म में वापिस न ले सके, फलस्वरूप पाकिस्तान के रूप में उसका दंड हमें चुकाना पड़ा। संकीर्णता, विवेकहीनता की अनेक कुप्रथाएँ आज भी उसी प्रकार हमारे सामाजिक एवं बौद्धिक क्षेत्र में डेरा डाले बैठी हैं। इन अविवेकपूर्ण, अन्ध परम्पराओं से छुटकारा पाये बिना हमारी प्राचीन संस्कृति का रूप स्पष्ट नहीं हो सकता। आज तो हम दूसरे देशवासियों की दृष्टि में, विचारशील लोगों की दृष्टि में, कुरीतियों और संकीर्णताओं के पिटारे हैं। अपनी इन बुराइयों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सच्चा प्रयत्न करने की आवश्यकता है, तभी हमारा ऋषि युग को वापस लाने का सांस्कृतिक पुनरुत्थान का लक्ष्य पूरा होगा।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि गायत्री यज्ञ आंदोलन का लक्ष्य सत्‌विचारों और सत्‌आचारों का विस्तार करना है । यही भारतीय संस्कृति है। नैतिक पुनरुत्थान या विचार-क्रान्ति भी इसी को कहना चाहिए। हमारे देश की विचारधारा, भावना एवं परम्परा के अनुरूप राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण की जो रूपरेखा हो सकती है उसे सांस्कृतिक पुनरुत्थान नाम दिया जा सकता है। एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति और सच्चरित्रता एक ही वस्तु है। मानवता के सारा आदर्श उसमें सन्निहित है।

सुख-शान्ति की सारी संभावनाएँ इस बात पर निर्भर हैं कि हम लोग किस सीमा तक अपने विचारों को पवित्र रखते हैं, कितना एक-दूसरे के साथ सच्चाई, प्रेम एवं भलमनसाहत का व्यवहार करते हैं। मनुष्य जब एक दूसरे से सहयोग करता है। कठिनाइयों को घटाने एवं सुविधाओं को बढ़ाने में तत्पर होता है तो उसकी रचनात्मक शक्ति बढ़ जाती है, इस रचनात्मक शक्ति का लोकहित में उपयोग करने से प्रसन्नता, आनन्द, उल्लास का, सुख

साधनों की अभिवृद्धि का द्वार
विपरीत जब दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृ
छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष, पाप, पाप
आक्रमण का मार्ग अपनाता है तो
कलह की घटाएँ घुमड़ने लगती हैं।
को नीचा दिखाने, दुख देने के लिए
अधःपतन की सत्यानाशी संभावनाएँ स
हैं।

संसार में शान्ति का क्षेत्र बढ़े, प
सद्‌भावपूर्वक सब लोग जीवन-यापन क
आवश्यक है कि हर व्यक्ति के अन्तः
अनुरूप आदर्शों के प्रति गहरी निष्ठा
जीवन का गौरव और समाज को सुव्यव
निर्भर है कि हर व्यक्ति दूसरों के साथ
जैसा वह अपने लिए दूसरों से चाहता
दूसरों के दुर्व्यवहार से अपने को कष्ट हो
जब मन में यह अनुभूति होने लगे कि
दूसरों को भी कष्ट और असुविधा होती
बुराइयों से घृणा करने लगेगा। बुराइयों
सत्प्रवृत्तियों के प्रति श्रद्धा जब बढ़ती है
कि असुरता का विनाश और देवत्व का
है। यही वह स्थिति है जिसे उत्पन्न कर
स्वर्ग अवतरित करने के स्वप्नों को
सकता है।

राष्ट्र को उन्नतिशील बनाने के लिए
हैं उनकी सफलता के लिए प्रत्येक क्षेत्र
अभिवृद्धि होना आवश्यक है। नेता, स
व्यापारी, किसान, मजदूर, अध्यापक, चि
धर्मजीवी सभी यदि अपने-अपने कर्तव्
पालन करने लगें, ईश्वर को सर्व
ईमानदारी और सच्चाई पर आरूढ़ है
कार्य अब बहुत धन खर्च करने पर
उससे भी कहीं अधिक प्रगति कहीं
कम समय में पूरी हो सकती है।

विचार-क्रान्ति की ...जन

विचारों की शक्ति महान है
आवश्यकता उत्तम अन्न, स्वच्छ
सफाई, कपड़ा, मकान, परिश्रम
कहीं अधिक आवश्यकता उत्तम
मस्तिष्क विचार शून्य है,
डूबा रहता है उसे एक प्रकार का
केवल रोटी, वासना और तृष्णा
महान गौरव को कलंकित करने
कालिमा को छुड़ाने के
विवेकशीलता को बढ़ाने
आवश्यकता है। शिक्षा के

चारित्रिक संगठित प्रयत्न की रूपरेखा

भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए- नैतिक एवं चारित्रयक दृष्टि से युग निर्माण के लिए–सामाजिक एवं बौद्धिक क्रान्ति के लिए- आध्यात्मिकता, आस्तिकता एवं धार्मिकता की प्रतिष्ठापना के लिए भी संगठित प्रयत्न ही सफल हो सकते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए युग निर्माण योजना द्वारा गायत्री परिवार नामक संगठित प्रयत्न आरम्भ किया गया है। इस संगठन की अब देश भर में लाखों शाखाएँ तथा एक करोड़ से अधिक सदस्य हैं। सदस्यता का किसी से, किसी प्रकार का कोई चन्दा नहीं है पर प्रत्येक सदस्य के लिए अपनी नित्य उपासना के अतिरिक्त दूसरों को सद्विचार देने तथा सत्प्रवृत्तियों के बढ़ाने के लिए समय निकाल कर निरन्तर प्रयत्न करते रहना ही प्रधान शर्त है।

गायत्री परिवार का यह संगठन, भारतवर्ष की धार्मिक संस्थाओं में सदस्य संख्या ही नहीं, जीवन, उत्साह, सक्रियता, निष्ठा और सच्चे कार्यकर्ताओं की बहुलता की दृष्टि से भी प्रथम श्रेणी का संगठन है। जब नवम्बर, १९५८ में इस संस्था के सक्रिय कार्यकर्त्ताओं का एक कामकाजी सम्मेलन–आगामी कार्यक्रम करने के लिए बुलाया गया था। उसमें केवल ऐसे नैष्ठिक कार्यकर्त्ता ही सम्मिलित होने दिये गये थे जो एक वर्ष तक सवालक्ष गायत्री अनुष्ठान, ५२ उपवास, ब्रह्मचर्य, भूमिशयन, धर्मफेरी, ज्ञान-दान आदि कठोर परीक्षा प्रतिबन्धों को पूरा कर सके। इन कष्ट साध्य परीक्षा संकल्पों को पूरा करने देश के कोने-कोने से लगभग १ लाख प्रतिनिधि मथुरा आये थे। इस सम्मेलन में १००० कुण्डों की १०१ यज्ञशालाओं में २४ लाख आहुतियों का हवन भी था। यह यज्ञ सम्मेलन बहुत ही सफल रहा। प्रतिनिधियों के अतिरिक्त कई लाख जनता ने भी इसमें बडे उत्साहपूर्वक भाग लिया। आयोजन अत्यन्त विशाल एवम् खर्चीली योजना को इन व्रतधारी सक्रिय कार्यकर्ताओं ने आपसी श्रमदान तथा स्वेच्छा सहयोग के आधार पर ही पूरा कर लिया। इस यज्ञ की सफलता इस संगठन की मजबूती एवम् विस्तृता का प्रमाण मानी जा सकती है।

अब गायत्री परिवार द्वारा नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठापना एवम् प्रचलित सामाजिक बुराइयों को घटाने के लिए कार्य करना है। यह कार्य है भी धार्मिक संस्थाओं का ही। राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक संगठन अन्य कार्य कर सकते हैं परन्तु परमार्थिक श्रद्धा, सत् में निष्ठा, आस्तिकता को मनुष्य की अन्तरात्मा में गहराई तक प्रतिष्ठापित कर देने में सफलता प्राप्त करना उनके लिए कठिन है। सरकारी आदेश से लोग ब्रह्मचर्य से रहने या उपवास करने को तैयार नहीं हो सकते पर वही बातें यदि किसी प्रभावशाली धर्म केन्द्र से कही जायँ तो आसानी से बहुत कुछ हो सकता है।

गायत्री परिवार का आगामी कार्यक्रम यह है कि धर्म के दस लक्षणों, योग के प्रारम्भिक दस साधन यम-नियमों के आदर्शों के प्रति जनमानस में गहरी आस्था पैदा करने के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न किया जाय। (१) ईमानदारी पर दृढ़ रहना- सत्य (२) किसी को न सताना–अहिंसा (३) अनधिकृत वस्तुओं का उपयोग न करना–अस्तेय (४) इन्द्रियों का विलासिता की दृष्टि से नहीं उपयोगिता की दृष्टि से उपयोग करना- ब्रह्मचर्य (५) अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह न करना-अपरिग्रह (६) सर्वत्र स्वच्छता, पवित्रता- शौच (७) विभिन्न परिस्थितियों में उद्विग्न न होना-सन्तोष (८) कष्ट सहिष्णु, साहसी, श्रमशील और परोपकारी बनना-तप (९) स्वाध्यायशील, विवेकवान बनना- स्वाध्याय (१०) ईश्वर की सर्वज्ञता, न्यायशीलता और कर्मफल के परिणामों पर आस्था रखना-ईश्वर प्राणिधान । यह धर्म के दस लक्षण हैं जिन्हें महर्षि पातंजलि ने 'यम नियम' का नाम दिया।

इन दस आदर्शों में मानवता की सारी धर्म-संहिता सन्निहित है। इन सूत्रों के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के लिए यदि प्रभावशाली ढंग से जनता को प्रस्तुत किया जा सके तो निश्चय ही सच्चरित्रता एवं नीतिमत्ता की आशाजनक अभिवृद्धि हो सकती है और उसके साथ-साथ ही सुख-शान्ति का, सेवा और सहयोग का, प्रसन्नता और सम्पन्नता का क्षेत्र विस्तृत हो सकता है । यह संस्था इस प्रचार और प्रसार को अपने हाथ में लेकर अग्रसर होती जा रही है।

उन्मूलन करने योग्य बुराइयाँ

स्वार्थपरता, बेईमानी, शोषण, निष्ठुरता, विलासिता, लोभ, अनुदारता, आलस्य, अज्ञान, अहंकार आदि व्यक्तिगत दुर्गुण मनुष्य की अधार्मिकता के कारण उत्पन्न होते हैं। यह दुर्गुण जब अनेक लोगों में फैल जाते हैं तब वे धीरे-धीरे सामाजिक कुप्रथा का, रिवाज एवं परम्परा का, रूप धारण कर लेते हैं। एक के देखा- देखी दूसरा उन्हें अपनाता है। जन स्वभाव में वे बातें ऐसे शामिल हो जाती हैं कि उनमें कोई विशेष बुराई भी प्रतीत नहीं होती। इतना होते हुए भी वे कुप्रथाएँ अपना हानिकारक प्रभाव तो छोड़ती नहीं। लोग उनके कारण दिन-दिन तबाह होते जाते हैं। इन सामाजिक बुराइयों को प्रबल जनमत जाग्रत करके, किसी संगठित समाज द्वारा उनका असहयोग या विरोध आंदोलन खड़ा करने से ही अभ्यस्त लोकमानस में परिवर्तन कराया जा सकता है। गायत्री परिवार ऐसे आन्दोलन की भी तैयारी कर रहा है जिससे लोगों के स्वभाव में घुल गई कुरीतियों को हटाना सम्भव हो सके।

है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो पूजा-पाठ, तप-त्याग, दान-पुण्य, तीर्थयात्रा, देव आराधना, स्वाध्याय, सत्संग, व्रत-उपवास, कथा-वार्ता, कीर्तन-भजन, ब्रह्मभोज आदि की परम्पराएँ प्रचलित हैं। उनका रूप भी ऐसा विकृत हो गया है कि उनका लाभ पुरोहितवर्ग की आजीविका चलने या व्यक्तिगत मन, सन्तोष कर लेने के अतिरिक्त, सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से कुछ नहीं होता। वैसे धर्म कार्यों की खरी कसौटी यही है कि उनके फलस्वरूप जनसमाज का नैतिक एवं बौद्धिक स्तर ऊँचा उठना चाहिए। जो कर्मकाण्ड, धर्म-कर्म इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते, उनके खरेपन पर सहज ही संदेह किया जा सकता है।

गायत्री उपासना इस दृष्टि से खरी उपासना है । गायत्री मंत्र के २४ अक्षरों में से प्रत्येक में सद्‌विचारों की प्रेरणा है। गायत्री उपासक अपने प्रत्येक जप में जब मानव की सर्वोपरि आवश्यकता, सद्‌विचार, सद्‌विवेक के लिए बार-बार ईश्वर से प्रार्थना करता है तो आखिर उसके अन्तःकरण में इस महान तत्व की, सद्‌भाव की, सदाचार की श्रेष्ठता सुदृढ़ होने ही लगती है। मनुष्य जैसा सोचता है वैसा बनता है। आन्तरिक श्रेष्ठता की महत्ता एवं आवश्यकता के प्रति घंटों चित्त को एकाग्र करके साधन करने वाला साधक निश्चय ही मंद या तीव्र वेग में अपने लक्ष की ओर अग्रसर होता ही है। उसके नैतिक एवम् आत्मिक स्तर में श्रेष्ठता के तत्वों का विकास होता है।

आत्मा में सतोगुण और श्रेष्ठता बढ़ने से किसी भी मनुष्य का आन्तरिक एवम् भौतिक जीवन सुख-शान्तिमय बन सकता है, उसकी अनेक उलझनें एवं समस्याएँ सुलझ सकती हैं। गायत्री उपासना का महात्म्य बताने वाली अन्य पुस्तकों में यह बताया जा चुका है कि इस साधना से किस प्रकार भौतिक एवम् आध्यात्मिक ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जहाँ सद्‌विचार और सत्कार्यों के लिए जीवनक्रम में समुचित स्थान मिल गया तो सुख-शान्ति, उन्नति और समृद्धि का मार्ग प्रशस्त होने में संदेह की गुंजायश नहीं रहती ।

सद्‌बुद्धि की- गायत्री की उपासना- से प्राप्त हुए सदाचार के फलस्वरूप जो आत्मबल बढ़ता है उससे हमारी धार्मिक महत्वाकांक्षाओं की सहज ही पूर्ति हो सकती है। आत्मिक पवित्रता, आध्यात्मिक सुस्थिरता के फलस्वरूप स्वर्ग प्राप्ति, जीवन मुक्ति, ब्रह्म निर्वाण, ईश्वर प्राप्ति, ऋद्धि-सिद्धि आदि की उपलब्धि सम्भव है। अपनी आन्तरिक स्थिति में सुधार किये बिना केवल किसी मन्त्र विशेष, देवता विशेष या कर्म काण्ड विशेष का विधान पूरा कर लेने से उपरोक्त उद्देश्यों की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिए गायत्री उपासना ही सच्चे अर्थों में उन सब लाभों को प्राप्त कराने में समर्थ हो सकती है जिनकी हम लोग आमतौर से धर्म-कर्म करते हुए आकांक्षा किया करते हैं। इस आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर जैसे-जैसे हम अग्रसर होते हैं वैसे ही वैसे हमारी भौतिक उलझनें भी सुलझने लगती हैं।

अधिकांश आपत्तियों, चिन्ताओं, कठिनाइयों का कारण हमारी अपरिष्कृत विचारधारा होती है, मनुष्य की अपनी निज की अनेक बुरी आदतें, उलटी समझ, आलस्य, प्रमाद, ओछी मनोवृत्ति, अहंमन्यता, संकीर्णता, अनुदारता, शेखीखोरी, दोष दृष्टि, बेईमानी, कृतघ्नता, कंजूसी, कर्तव्यहीनता परिस्थिति से अधिक महत्वाकांक्षा कटुता आदि बुराइयाँ बहुत-सी कठिनाइयाँ एवं उलझनें पैदा करती रहती हैं। इन्हीं के कारण अनेक शत्रु उत्पन्न हो जाते हैं, दूसरों के सहयोग का अभाव भी इन्हीं कमजोरियों के कारण रहता है। जब यह दुर्बलताएँ दूर होने लगती हैं तो अनेक समस्याएँ भी सहज ही सुलझ जाती है। उदार दृष्टिकोण अपनाने से दूसरों का स्नेह, सद्‌भाव और सहयोग उपलब्ध होने लगता है, उन्नति का द्वार खुलता है और सुख-सम्पत्ति की अभिवृद्धि तेजी से होने लगती है । इस प्रकार गायत्री उपासना का महत्व समझने वाले उसकी तह तक पहुँचने वाले उसके सन्देश और आदर्श को हृदयंगम करने वाले, व्यक्ति का आध्यात्मिक और भौतिक जीवन दिन-दिन अधिक पवित्र एवं सुख शान्तिमय बनता चला जाता है।

गायत्री उपासना व्यक्तिगत रूप से मनुष्य की आध्यात्मिक और भौतिक सुख-शान्ति को बढ़ाने में बहुत सहायक होती है। व्यक्तियों का समूह ही समाज या राष्ट्र है। किसी समाज के यदि अधिकांश लोग सज्जन बन जायें तो वह सारा समाज या राष्ट्र प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा। जिस समय में अधिकांश व्यक्ति सन्मार्ग पर चलने वाले होते हैं वह समय सतयुग कहलाता है। गायत्री उपासना द्वारा व्यक्तिगत चरित्र निर्माण की प्रक्रिया अन्ततः राष्ट्रीय, सामाजिक, नैतिक एवम् सांस्कृतिक पुनरुत्थान का हेतु बनती है।

किसी न किसी रूप में नित्य गायत्री उपासना एवं सुविधानुसार यज्ञ-यजन करते रहना, गायत्री और यज्ञ में सन्निहित आदर्शों को हृदयंगम करते रहना, एक कल्याणकारी साधना है पर इसका स्वरूप यदि व्यक्तिगत पूजा तक ही सीमित रहे तो व्यापक क्षेत्र में युग निर्माण का लक्ष बहुत धीरे-धीरे पूरा होगा। प्रगति आशाजनक गति से हो इसके लिए इस कार्यक्रम को सुसंगठित रूप से सामाजिक उत्कर्ष के लिए सुव्यवस्थित रूप से चलाना होगा। संगठन ही शक्ति है। किसी विचारधारा एवं क्रियापद्धति को विस्तृत क्षेत्र में सुप्रतिष्ठित करने के लिए एकमात्र आधार सुसंगठित प्रयत्न ही हो सकते हैं। इतिहास साक्षी है कि जब भी जनमानस को बदलने की कोई प्रक्रिया सम्पन्न हुई तो उसके पीछे संगठित प्रयत्न अवश्य रहे हैं। आर्य धर्म, बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म के फैलने की सफलता के पीछे उनके प्रचारकों के प्रबल प्रयत्न ही प्रधान रूप में कार्य करते रहे हैं।

चारित्रिक संगठित प्रयत्न की रूपरेखा

भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए- नैतिक एवं चारित्र्यक दृष्टि से युग निर्माण के लिए-सामाजिक एवं बौद्धिक क्रान्ति के लिए- आध्यात्मिकता, आस्तिकता एवं धार्मिकता की प्रतिष्ठापना के लिए भी संगठित प्रयत्न ही सफल हो सकते हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए युग निर्माण योजना द्वारा गायत्री परिवार नामक संगठित प्रयत्न आरम्भ किया गया है। इस संगठन की अब देश भर में लाखों शाखाएँ तथा एक करोड़ से अधिक सदस्य हैं। सदस्यता का किसी से, किसी प्रकार का कोई चन्दा नहीं है पर प्रत्येक सदस्य के लिए अपनी नित्य उपासना के अतिरिक्त दूसरों को सद्विचार देने तथा सत्प्रवृत्तियों के बढ़ाने के लिए समय निकाल कर निरन्तर प्रयत्न करते रहना ही प्रधान शर्त है।

गायत्री परिवार का यह संगठन, भारतवर्ष की धार्मिक संस्थाओं में सदस्य संख्या ही नहीं, जीवन, उत्साह, सक्रियता, निष्ठा और सच्चे कार्यकर्ताओं की बहुलता की दृष्टि से भी प्रथम श्रेणी का संगठन है। जब नवम्बर, १९५८ में इस संस्था के सक्रिय कार्यकर्त्ताओं का एक कामकाजी सम्मेलन-आगामी कार्यक्रम करने के लिए बुलाया गया था। उसमें केवल ऐसे नैष्ठिक कार्यकर्त्ता ही सम्मिलित होने दिये गये थे जो एक वर्ष तक सवालक्ष गायत्री अनुष्ठान, ५२ उपवास, ब्रह्मचर्य, भूमिशयन, धर्मफेरी, ज्ञान-दान आदि कठोर परीक्षा प्रतिबन्धों को पूरा कर सके। इन कष्ट साध्य परीक्षा संकल्पों को पूरा करने देश के कोने-कोने से लगभग १ लाख प्रतिनिधि मथुरा आये थे। इस सम्मेलन में १००० कुण्डों की १०१ यज्ञशालाओं में २४ लाख आहुतियों का हवन भी था। यह यज्ञ सम्मेलन बहुत ही सफल रहा। प्रतिनिधियों के अतिरिक्त कई लाख जनता ने भी इसमें बड़े उत्साहपूर्वक भाग लिया। आयोजन अत्यन्त विशाल एवम् खर्चीली योजना को इन व्रतधारी सक्रिय कार्यकर्ताओं ने आपसी श्रमदान तथा स्वेच्छा सहयोग के आधार पर ही पूरा कर लिया। इस यज्ञ की सफलता इस संगठन की मजबूती एवम् विस्तृता का प्रमाण मानी जा सकती है।

अब गायत्री परिवार द्वारा नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठापना एवम् प्रचलित सामाजिक बुराइयों को घटाने के लिए कार्य करना है। यह कार्य है भी धार्मिक संस्थाओं का ही। राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक संगठन अन्य कार्य कर सकते हैं परन्तु परमार्थिक श्रद्धा, सत् में निष्ठा, आस्तिकता को मनुष्य की अन्तरात्मा में गहराई तक प्रतिष्ठापित कर देने में सफलता प्राप्त करना उनके लिए कठिन है। सरकारी आदेश से लोग ब्रह्मचर्य से रहने या उपवास करने को तैयार नहीं हो सकते पर वही बातें यदि किसी प्रभावशाली धर्म केन्द्र से कही जायँ तो आसानी से बहुत कुछ हो सकता है।

गायत्री परिवार का आगामी कार्यक्रम यह है कि धर्म के दस लक्षणों, योग के प्रारम्भिक दस साधन यम-नियमों के आदर्शों के प्रति जनमानस में गहरी आस्था पैदा करने के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न किया जाय। (१) ईमानदारी पर दृढ़ रहना- सत्य (२) किसी को न सताना-अहिंसा (३) अनधिकृत वस्तुओं का उपयोग न करना-अस्तेय (४) इन्द्रियों का विलासिता की दृष्टि से नहीं उपयोगिता की दृष्टि से उपयोग करना- ब्रह्मचर्य (५) अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह न करना-अपरिग्रह (६) सर्वत्र स्वच्छता, पवित्रता- शौच (७) विभिन्न परिस्थितियों में उद्विग्न न होना-सन्तोष (८) कष्ट सहिष्णु, साहसी, श्रमशील और परोपकारी बनना-तप (९) स्वाध्यायशील, विवेकवान बनना- स्वाध्याय (१०) ईश्वर की सर्वज्ञता, न्यायशीलता और कर्मफल के परिणामों पर आस्था रखना- ईश्वर प्राणिधान । यह धर्म के दस लक्षण हैं जिन्हें महर्षि पातंजलि ने 'यम नियम' का नाम दिया।

इन दस आदर्शों में मानवता की सारी धर्म-संहिता सन्निहित है। इन सूत्रों के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के लिए यदि प्रभावशाली ढंग से जनता को प्रस्तुत किया जा सके तो निश्चय ही सच्चरित्रता एवं नीतिमत्ता की आशाजनक अभिवृद्धि हो सकती है और उसके साथ-साथ ही सुख-शान्ति का, सेवा और सहयोग का, प्रसन्नता और सम्पन्नता का क्षेत्र विस्तृत हो सकता है । यह संस्था इस प्रचार और प्रसार को अपने हाथ में लेकर अग्रसर होती जा रही है।

उन्मूलन करने योग्य बुराइयाँ

स्वार्थपरता, बेईमानी, शोषण, निष्ठुरता, विलासिता, लोभ, अनुदारता, आलस्य, अज्ञान, अहंकार आदि व्यक्तिगत दुर्गुण मनुष्य की अधार्मिकता के कारण उत्पन्न होते हैं। यह दुर्गुण जब अनेक लोगों में फैल जाते हैं तब वे धीरे-धीरे सामाजिक कुप्रथा का, रिवाज एवं परम्परा का, रूप धारण कर लेते हैं। एक के देखा- देखी दूसरा उन्हें अपनाता है। जन स्वभाव में वे बातें ऐसे शामिल हो जाती हैं कि उनमें कोई विशेष बुराई भी प्रतीत नहीं होती। इतना होते हुए भी वे कुप्रथाएँ अपना हानिकारक प्रभाव तो छोड़ती नहीं। लोग उनके कारण दिन-दिन तबाह होते जाते हैं। इन सामाजिक बुराइयों को प्रबल जनमत जाग्रत करके, किसी संगठित समाज द्वारा उनका असहयोग या विरोध आंदोलन खड़ा करने से ही अभ्यस्त लोकमानस में परिवर्तन कराया जा सकता है। गायत्री परिवार ऐसे आन्दोलन की भी तैयारी कर रहा है जिससे लोगों के स्वभाव में घुल गई कुरीतियों को हटाना सम्भव हो सके।

माँसाहार, बीड़ी, हुक्का, भाँग, गाँजा, अफीम, चरस, शराब आदि खाने-पीने सम्बन्धी ऐसी कुरीतियाँ हैं जो सदाचार, स्वास्थ्य और धन को बर्बाद करती है।

जुआ, सट्टा, लाटरी, फीचर यह वे बुराइयाँ हैं जो बिना मेहनत किये धन प्राप्त करने के लालच से उत्पन्न होती हैं। दूध, घी, मसाले, दवाएँ आदि में मिलावट करके उससे अनुचित लाभ उठाना, चोरी, ठगी, उठाईगीरी, जेबकटी, धोखेबाजी, बेईमानी, लूट, डकैती आदि के दुस्साहस, कम नापना, कम तौलना, अधिक मुनाफा लेना. बढ़िया बताकर घटिया चीज देना, कम मेहनत करके अधिक वेतन लेना, टैक्स चुराना, रिश्वत देना और लेना आदि आर्थिक भ्रष्टाचार से समाज का आर्थिक ढाँचा लड़खड़ाने लगता है और इन बुराइयों में लगा हुआ व्यक्ति अन्य अनेकों बुराइयों की ओर अग्रसर होता है।

हिन्दू समाज की वैवाहिक व्यवस्था एक अभिशाप बन रही है। बाल विवाह, वृद्ध विवाह, अमनेल विवाह, दहेज, विवाह के समय सामर्थ्य से अधिक कीमती जेवर वस्त्र एवं दिखावे की चीजों की आवश्यकता, बारात चढ़ाने तथा प्रीति-भोज में अपव्यय आदि कारण ऐसे हैं जिनसे विवाह जैसा साधारण संस्कार हर हिन्दू के लिए एक सिर दर्द बना हुआ है। कितनी ही कन्याओं को इन्हीं कुरीतियों की वेदी पर बलिदान होना पड़ता है।

भूत-पलीतों के नाम पर फैला हुआ अज्ञान समाज के लिए कलंक हैं। देवी के आगे भैंसे, बकरे, मुर्गे, सुअर आदि की बलि देने की प्रथा अभी भी अनेक प्रान्तों में जारी है और नवरात्रि के दिनों हजारों निर्दोष पशु-पक्षियों का खून बहाया जाता है। भूत-पलीत के नाम पर 'सयाने दिवाने' नाना प्रकार के अनाचार फैलाते हैं। धर्म व्यवसायी पंडित पुरोहित्त परलोक में कई गुना मिलने का प्रलोभन देकर भोली जनता को ठगते रहते हैं। मृत्यु भोज की घृणित प्रथा के कारण जिस घर में मृत्यु हुई है उसी में कुछ ही दिन बाद लोग माल-मलाई उड़ाने को निस्संकोच तैयार हो जाते हैं। यह ऐसी प्रथाएँ हैं जिनका बन्द होना जरूरी है।

फैशनपरस्ती, शौकीनी, फिजूलखर्ची, शान-शौकत शेखीखोरी, विलासिता, ऐयाशी, सिनेमाबाजी, कामुकता, गन्दी तस्वीरें, गन्दी पुस्तकें, व्यभिचार, अमर्यादित काम सेवन, अप्राकृतिक व्यभिचार आदि बुराइयों के कारण हमारा शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य चौपट हुआ जा रहा है।

उद्दंडता, उच्छृंखलता, गुण्डागीरी, अवज्ञा, अशिष्टता, असहिष्णु, असंयम के उदाहरण घर-घर में मिल सकते हैं। नई पीढ़ी के लड़के और लड़कियों में यह प्रवृत्तियाँ और भी अधिक बढ़ रही हैं। मर्यादाओं पर रहना सबको बुरा लगता है। कृतज्ञता का स्थान कृतघ्नता लेती जा रही है।

महिलाओं की स्थिति भी दयनीय है। पर्दा प्रथा और सामाजिकहीनता के कारण वे शिक्षा तथा स्वावलम्बन से रहित बुरी स्थिति में पड़ी हुई हैं। गृह-व्यवस्था तथा शिशु-पालन भी उनके अज्ञान के कारण अस्त-व्यस्त हैं। राष्ट्र का आधा अंग इस प्रकार अपाहिज पड़ा हो तो यह भी प्रगति में एक बड़ी बाधा ही मानी जायगी।

यों हमारे समाज में अच्छाइयाँ भी बहुत हैं। अनेक देशों की अपेक्षा हमारा समाज एवं व्यक्तिगत चरित्र काफी ऊँचा है, फिर भी उपरोक्त बुराइयाँ कम महत्व की नहीं है. इन्हें दूर करने के लिए यदि कोई प्रयत्न नहीं किया गया तो जिस गति से प्रगति होनी चाहिए वह न हो सकेगी। आर्थिक दृष्टि से यदि हमारी उन्नति भी हुई हो वह सामाजिक/हीनावस्था के कारण कुछ विशेष उपयोगी साबित न हो सकेगी। सरकारी शिक्षा पद्धति धीमी और अपूर्ण हैं। उसे तेज करने एवं उससे छूटे हुए धार्मिक विषयों को पूरा करने के लिए गैर सरकारी प्रयत्न भी होने चाहिए।

इस प्रकार बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक क्रान्ति के लिए एक बहुत बड़ा कार्य क्षेत्र पड़ा हुआ है। गायत्री परिवार के धार्मिक संगठन ने अब इन्हीं गुत्थियों को सुलझाने में आगे बढ़कर काम करने का निश्चय किया है। धार्मिक वातावरण निर्माण करने का तात्पर्य सज्जनता, मानवता और कर्तव्यपरायणता की स्थापना करना ही है। ईश्वर उपासना का सबसे बड़ा चिन्ह यही है कि हम बुराइयों से डरें और भलाईयों की वृद्धि करते हुए ईश्वर को प्रसन्न करें।

हमारे अगले कदम

सद्विचारों का महत्व बताने और सत्कर्मों को बढ़ाने एवं बुराइयों को छोड़ने की जनसाधारण से प्रतिज्ञा कराने के लिए स्थान-स्थान पर छोटे-बड़े सामूहिक यज्ञ आयोजन करने का कार्यक्रम बनाया गया है। जिस प्रकार गंगाजली की शीशी हाथ पर रखकर कसम खाने का अवसर आने पर साधारण धर्मभीरू मनुष्य उस कसम को अधिक महत्वपूर्ण मानता है। जिस प्रकार विवाह संस्कार के समय अग्नि देवता को साक्षी देकर वर-वधू जो प्रतिज्ञाएँ करते हैं उनका महत्व मानते हैं, उसी प्रकार गायत्री जप करके, गायत्री यज्ञ में हवनकर्ता बन के, उपवास, ब्रह्मचर्य आदि नियम पालन के उपरान्त जो लोग उपरोक्त बुराइयों को छोड़ने की प्रतिज्ञा करेंगे उनमें से अधिकांश उन्हें निभायेंगे भी, ऐसा विश्वास है। इस प्रकार ये छोटे-बड़े यज्ञों के आयोजन, सन्मार्ग में जनता की प्रवृत्तियाँ बढ़ाने में बहुत सहायक होंगे।

प्रत्येक यज्ञ आयोजन के समय अधिकाधिक जनता को एकत्रित करने और उसे युग अनुरूप कई दिन तक प्रौढ़ विचार देने का कार्यक्रम चलाया जाय। इस प्रकार आध्यात्मिक उन्नति, वायु शुद्धि, आत्मिक और शारीरिक आरोग्य, देवपूजा आदि धर्म प्रयोजनों की पूर्ति के अतिरिक्त लोक-शिक्षण की एक महत्वपूर्ण शृंखला चल पड़ेगी।

विचारों के परिवर्तन के लिए लेखनी और वाणी दो ही प्रधान औजार हैं। गायत्री सम्मेलनों, पारिवारिक सत्संगों, विचार गोष्ठियों द्वारा नैतिक पुनरुत्थान के विचार वाणी की सहायता से सर्वत्र फैलाये जायेंगे।

लेखिनी के द्वारा भी यह कार्य होगा, संस्था अत्यन्त सस्ता, लागात से भी कम मूल्य पर बेचने एवं मुफ्त वितरण करने के लिए भारी संख्या में साहित्य तैयार करेगी और उसे घर-घर पहुँचाने का प्रयत्न करेगी। विचार परिवर्तन के लिए इस प्रकार का साहित्य बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। ईसाई संस्थाएँ इस माध्यम से बहुत कार्य करने में सफल भी हुई हैं। यह तरीका हमें भी अपनाना है। संस्था की ओर से 'अखण्ड ज्योति' एवं 'युग निर्माण योजना' मासिक पत्रिका कई वर्षों से निकल रही है।

सद्विचार प्रसार कार्य के लिए कर्मठ कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है जो योग्यता एवं पवित्रता की दृष्टि से इस कार्य के उपयुक्त हों। ऐसे कार्यकर्त्ता ढूँढ़ने और उन्हें निर्धारित लक्ष के लिए योग्य बनाने के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिया गया है। शांतिकुंज में तक्षशिला एवं नालन्दा स्तर के एक ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना की गई है जिससे लेखनी और वाणी द्वारा सद्विचार प्रसार का उद्देश्यपूर्ण करने के लिए वक्तृता, गायन, लेखन, साहित्य निर्माण की विधियत् शिक्षा दी जाती है। जो लोग अपने भावी जीवन में विचार-निर्माण का व्रत लेंगे वे ही इस विद्यालय में भर्ती किये जायेंगे और उन्हें मानव जाति की विभिन्न समस्याओं के संबंध में गहरा अध्ययन कराया जायगा, साथ ही लेखनी और वाणी तथा संगीत को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए व्यावहारिक एवं कलात्मक अभ्यास भी कराया जायेगा।

तपोभूमि में एक अच्छा प्रेस लगाया गया है जिसमें प्रेस कार्य की विभिन्न मशीनें हैं। इस विषय की शिक्षा पाना एक कुशल पत्रकार एवं साहित्यकार के लिए आवश्यक भी है अपना निज का प्रेस खोलने या प्रेस कर्मचारी बनकर आजीविका कमाकर स्वावलम्बी बनने के लिए भी यह शिक्षा आवश्यक है। इस प्रेस द्वारा अत्यन्त सस्ती विचारोत्तजक पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ, प्रचार-पत्रिका, पर्चे पोस्टर, आदर्श वाक्य, चित्र छापे जाते हैं और उन्हें लागात मूल्य पर या उदार लोगों द्वारा बिना मूल्य वितरण करा गायत्री परिवार की लाखों शाखाओं द्वारा अधिकाधिक जन समाज तक पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है।

संस्था के इस प्रचार विद्यालय में से निकले हुये छात्र यहाँ से जो भावनाएँ और विचारधाराएँ लेकर निकलते और अपने क्षेत्र में क्रियात्मक कार्यक्रमों द्वारा फैलाने का प्रयत्न करते हैं। इनकी प्रवृत्तियों के केन्द्र गायत्री ज्ञान मन्दिर एवं स्वाध्याय मण्डल कहलाते हैं पंचायती घरों की तरह, प्राइमरी स्कूलों की तरह, शिवालय, देवालयों की तरह ज्ञान मन्दिरों का जाल भी देशभर में पूरा किया जाय यह स्वप्न इस संस्था के हैं। श्रमदान एवं मुट्ठी-मुट्ठी आर्थिक सहयोग से छोटे-छोटे ज्ञान मन्दिर आसानी से बनाये जा सकते हैं। यह ज्ञान मन्दिर स्थानीय जनता को इकट्ठा होने, सामूहिक प्रार्थना एवं सत्संग करने धार्मिक कथाएँ एवं प्रौढ़ पाठशालाएँ चलाने, पुस्तकालय, वाचनालय, व्यायामशाला एवं थोड़ी दवा-दारू की व्यवस्था रखने से बड़ी उपयोगी सिद्ध होंगे। इन्हीं में क्षेत्रीय लोकसेवक के निवास की व्यवस्था होगी। मुट्ठी-मुट्ठी अन्न गायत्री परिवार का प्रत्येक सदस्य प्रतिदिन एक घड़े में डालते रहने की प्रक्रिया चलावेंगे जिससे इन ज्ञान मन्दिरों की अर्थव्यवस्था आसानी से चलती रहेगी। यह ज्ञान-केन्द्र राष्ट्र के बौद्धिक निर्माण में आशाजनक योग देंगे ऐसा विश्वास है।

प्रचार यात्रा

गायत्री परिवार के प्रमुख कार्यकर्ताओं ने देशव्यापी दौरा करने और स्थान-स्थान पर विचार गोष्ठियाँ आयोजित करने का कार्यक्रम बनाया है। इस संस्था के स्वयं सेवकों ने अपनी पारिवारिक तथा अन्यान्य जिम्मेदारियों से छुटकारा पाकर देशभर में विचारशील लोगों के छोटे-छोटे सम्मेलनों का आयोजन करके राष्ट्र के नैतिक निर्माण के लिए विचार-विनिमय करने तथा स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार इस लक्ष की पूर्ति करने वाले कुछ कार्य आरम्भ कराने का निश्चय किया है। यह धर्म प्रचार यात्रा बराबर जारी रहेगी और इस संस्था के प्रति, गायत्री और यज्ञ के प्रति या उसके संचालकों के प्रति जो अनुराग जनता में उत्पन्न हुआ है उसका पूरा उपयोग सद्विचारों के, सत्कार्यों के, बुराइयों से टक्कर लेने के क्षेत्र को विस्तृत करने में ही किया जायेगा।

इस समय संगठनात्मक एवं प्रचारात्मक दो ही कार्य हाथ में लिए गये हैं पर आगे चलकर कुछ ऐसे रचनात्मक एवं आन्दोलनात्मक कार्यक्रम हाथ में लेने का विचार है जिससे बुराइयों के प्रति घृणा फैले और सत्प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा हो। जहाँ सम्भव हो वहाँ बुराइयों के, कुरीतियों के विरुद्ध असहयोग, प्रतिरोध, संघर्ष एवं सत्याग्रह का उपयोग किया जाय। देवताओं के आगे पशुबलि जैसी कलंकपूर्ण धार्मिक प्रथाओं के विरुद्ध सत्याग्रह जैसे अस्त्रों को काम में लाया जा सकता है। मृत्युभोज का बहिष्कार हो सकता है। दहेज के विरुद्ध लड़के और लड़कियों से प्रतिज्ञा कराई जा सकती है कि यदि उनके अभिभावक ठहरौनी करें तो वे उस विवाह के लिए ही तैयार न हों। बाल विवाह के लिए शारदा कानून मौजूद है। ऐसे विवाहों को रोकने के लिए उस कानून का सहारा लिया जाय। जातीय पंचायतें करके अलग-अलग जातियों में प्रचलित भिन्न-भिन्न प्रकार की कुरीतियों को कम किया जाय। उन्हें बन्द न करने वालों को पंचायतों द्वारा सामाजिक बहिष्कार करने का या कोई और दण्ड देने की व्यवस्था हो। इस

प्रकार विभिन्न बुराइयों के विरुद्ध जनता में घृणा, विरोध और रोष पैदा करने तथा विभिन्न अच्छाइयों के प्रति आदर, प्रशंसा, प्रतिष्ठा एवं सामूहिक हर्ष, सम्मान प्रदर्शन करने के आयोजन कराये जायँ। धन की अपेक्षा यदि 'श्रेष्ठता' के प्रति लोकमानस में सम्मान उत्पन्न हो जाय तो प्रचलित बुराइयों में से अधिकांश अपने आप समाप्त हो सकती हैं।

गायत्री यज्ञ आन्दोलन नैतिक एवम् सांस्कृतिक पुनरुत्थान का ठोस प्रयत्न है। इसमें हमारी आध्यात्मिक एवम् भौतिक सुख-शान्ति तथा सफलता के सभी बीजांकुर मौजूद हैं। संस्था के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए प्रत्येक गायत्री प्रेमी को निम्न कार्यक्रमों में से जितना अधिक कार्यभार अपने ऊपर लेना सम्भव हो, उसके लिए सच्चे मन से प्रयत्न करना चाहिए।

(१) अपनी गायत्री उपासना को निष्ठापूर्वक चलावें उसे नियमित नियत संख्या में, नियत समय पर शान्तचित्त और विधिवत् करने का प्रयत्न करें।

(२) संगठित रूप से किया हुआ हर कार्य अधिक सफल होता है। एक-दूसरे से प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन मिलते रहने से लक्ष की ओर प्रगति और भी तीव्र गति से होती है। इसलिए आप इस साधना संगठन में सम्मिलित हों, गायत्री परिवार के सदस्य बनें।

(३) अपने यहाँ कम से कम १० गायत्री उपासक बना कर गायत्री परिवार की स्थापना करें। संगठन के द्वारा धर्म प्रचार के पुनीत कार्य को आगे बढ़ाने में बहुत सुविधा होती हैं।

(४) अपने घर में गायत्री उपासना को आरम्भ कीजिए। आपका इष्ट कुछ भी हो वेद माता गायत्री की स्थापना अवश्य रहे । घर के सब लोग भोजन से पूर्व गायत्री उपासना कर लिया करें ऐसा परम्परा डालनी चाहिए।

(५) उपासना के साथ-साथ स्वाध्याय के लिए भी नित्य समय निकालिए । घर में गायत्री ज्ञान मन्दिर स्थापित कीजिए, जिसमें सत्साहित्य मँगाने और उसे पढ़ने या दूसरों को पढ़ाने की व्यवस्था रहे।

(६) समय-समय पर सामूहिक उत्सवों, सत्संगों विचार गोष्ठियों का आयोजन किया करें। बड़े यज्ञ आयोजन भी यदा-कदा होते रहें। अधिक लोगों को अपने विचारों का बनाने का प्रयत्न कीजिये।

(७) शांतिकुंज में चलने वाले प्रशिक्षण सत्रों में अपने क्षेत्र से कुछ सुयोग्य व्यक्ति भेजिये जो वहाँ से लेखनी तथा वाणी के धनी होकर लौटें और सद्ज्ञान के विस्तार के लिए कुछ ठोस कार्य कर सकें।

सद्ज्ञान ही गायत्री है, सत्कर्म ही यज्ञ है। गायत्री और यज्ञ आन्दोलन में सहयोग देकर आप आध्यात्मिक क्रान्ति लक्ष को पूरा करने में सहायक हो सकते हैं।

विचार-क्रान्ति की बेला और मनीषा का दायित्व

क्रान्ति से सामान्यतया अर्थ कुछ और लगाया जाता है। वस्तुतः क्रान्ति को छोटे में समझाना हो तो कह सकते हैं- 'उपयोगी परिवर्तन' अनुपयुक्त को उपयुक्त में बदलने की प्रक्रिया ।

क्रान्ति के सम्बन्ध ने अरस्तू का मत है कि यह असमानता के कारण होती है। उनके अनुसार प्रजातन्त्र वादी यह मानते हैं कि यदि मनुष्य एक बात में समान है तो वे हर स्थिति में एक जैसे ही होंगे। कुलीन तन्त्रवादी यह कहते हैं कि जब मानव समुदाय में एक प्रकार की असमानता होगी यथा सम्पत्ति के सम्बन्ध में, तो वे प्रत्येक बात में असमान होंगे। दोनों ही परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं एवं सर्वमान्य नहीं हैं। क्रान्ति सामान्य लोगों की दृष्टि में चाहे शक्ति से सफल हुई हो अथवा छल-कपट से, वह तात्कालिक राजनैतिक संकट को सुलझाने का एक साधन होती है।

लेकिन इतिहास का विहंगावलोकन कुछ और ही बताता है। अमेरिकन क्रान्ति का जन्म मूलतः मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक मतभेदों के कारण हुआ था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा पहले बसे अमेरिकी लोगों का करों के अतिरिक्त विशेष प्रकार से शोषण भी किया जाता था। उनके इस उपनिवेश में सम्पन्नता पायी जाती थी। अमेरिकनों को सदैव यह भय रहा कि अन्य 'कॉलोनीज' की तरह शासक कहीं उन्हें भी न सताएँ, यह भी उन्हें असह्य था कि अपनी ही नसल एवं रंग वाले ब्रिटिशों की तुलना में उन्हें हल्का समझा जाय। जार्ज तृतीय की इस मान्यता को, कि परमात्मा ने कुछ थोड़े से ही लोगों पर कृपा कर उन्हें इस योग्य बनाया है कि उनके भार को अन्य सामान्य जन वहन करें; अमेरिकी स्वतन्त्रता संग्राम में तुकरा दिया गया। व्यापक स्तर पर राज्य-क्रान्ति की नींव यहीं से पड़ी। इस क्रान्ति का ध्येय मात्र यह था कि शक्ति के बल पर स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात एक नयी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जाय। राजा को शासन करने के अधिकार ईश्वर प्रदत्त हैं, इस मूढ़मान्यता में उनका विश्वास नहीं रह गया था।

अमेरिकी जनता को जो भी लाभ मिले हों, प्रत्यक्ष में इसे आदर्श मानकर प्रेरणा ग्रहण कर फ्रांस की जनता ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध क्रान्ति का बिगुल बजा दिया। १७८७ में जब संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान बना, दो वर्ष बाद ही फ्रांस की प्रसिद्ध राजक्रान्ति हो गयी। बाद के घटनाक्रम तो इसी की परिणति कहे जा सकते हैं।

हिटलर और मुसोलिनी जो कि अपनी विचार-धाराओं के कारण साम्यवाद को अपना प्रधान शत्रु मानते थे, अपने पीछे कोई स्थायी मूल्यवान वस्तु छोड़कर जाने में

असफल रहे। कटु घटनाओं की तानाशाही स्मृतियाँ मात्र ही उनके जाने के बाद शेष रही हैं फिर भी उनके कुछ कार्यकलाप, साम्यवादियों से मिलते-जुलते हैं। जैसे दोनों ने ही पुराने शासन का तख्ता उलट कर सत्ता प्राप्त की। मुसोलिनी ने प्रसिद्ध 'मार्च आनरोम' द्वारा राजतन्त्र को हटाकर सत्ता प्राप्त की थी और हिटलर ने वैधानिक पद्धति से सत्ता हस्तगत कर संविधान में इच्छानुसार परिवर्तन कर लिया। दोनों ने ही व्यापक स्तर पर ब्रेन वाशिंग का आश्रय लिया, उसके लिए सभी संभव साधन प्रयुक्त हुए। मार्क्स के पक्षधर हिटलर और मुसोलिनी को अपनी दृष्टि में क्रान्तिकारी नहीं मानते वरन् क्रान्ति विरोधी साम्राज्य वादी तानाशाह कहते हैं। क्योंकि उनके मतानुसार क्रान्ति तभी तक क्रान्ति है जब उसे श्रमजीवियों द्वारा किया जाकर सत्ता प्राप्त की जाय।

आज की परिस्थितियाँ नितान्त भिन्न हैं न कहीं राजा हैं न साम्राज्यवादी। फिर भी अपने देश को छोड़कर बहुसंख्य मुस्लिम अफ्रीकी एवं लेटिन अमेरिकी देशों में सत्ता पलटने की दुरभिसन्धियाँ बराबर रची जा रही हैं, उनकी बात छोड़ दें, मात्र राष्ट्रीय स्तर पर सोचें तो लगता है स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अलगाव, बिखराव, साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयवाद, भाषावाद बढ़ता ही जा रहा है। इसका मिटना राजनैतिक स्तर पर नहीं नैतिक, बौद्धिक स्तर पर ही संभव है। विचार-क्रान्ति आज की महती आवश्यकता है इसे मनीषी-बुद्धिजीवी समुदाय ही जन स्तर पर उतरकर सम्पन्न कर सकते हैं, शोषक वर्ग का हिमायती बनने से तो उसकी गरिमा गिर ही रही है। प्रस्तुत बेला ऐसे परिवर्तन की ही बेला है, जिसमें न चाहते हुए भी मनीषा को साथ देने आगे आना पड़ सकता है।

"हम बदलेंगे युग बदलेगा" सूत्र का शुभारम्भ

आज शारीरिक रुग्णता, मानसिक उद्विग्नता, आर्थिक तंगी, पारिवारिक विपन्नता, सामाजिक अवांछनीयता क्रमशः बढ़ती ही चली जा रही है। अभ्यस्तों को ही नशेबाजी का लानत और उठाईगीरी भी स्वाभाविक लगती है। कोढ़ी भी अपने समुदाय में दिन गुजारते रहते हैं पर सही और गलत का विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि हम सब ऐसी स्थिति में रह रहे हैं जिसे मानवी गरिमा से गई-गुजरी, सड़ी-गली ही कहा जा सकता है।

उत्थान-पतन के विवेचनकर्ता बताते रहे हैं कि परिस्थिति और कुछ नहीं मनःस्थिति की परिणति मात्र है। चिन्तन, चरित्र और व्यावहारिक समन्वय से व्यक्तित्व बनता है। वही है जो शक्तिशाली चुम्बक की तरह अपनी सजातीय परिस्थितियों को खींचता, घसीटता और इर्द-गिर्द जमा करता है। जो भीतर से जैसा है वह बाहर से भी उसी स्तर के वातावरण से घिरा रहता है।

समाज व्यक्तियों का समूह मात्र है। लोगों का स्तर जैसा भी भला-बुरा होता है, समाज का प्रचलन, स्वरूप एवं माहौल वैसा ही बनकर रहता है। व्यक्ति को महत्ता देनी हो तो उसकी मनःस्थिति को ही श्रेय या दोष देना चाहिए। गुण, कर्म, स्वभाव का स्तर ही मनुष्य का वास्तविक वैभव है उसी के अनुरूप मनुष्य उठते-गिरते और सुख-दुःख पाते रहते हैं। बहुमत जैसा होता है समाज का स्वरूप एवं ढाँचा भी तदनुरूप बनकर खड़ा हो जाता है। मानवी उत्थान-पतन के इस तत्वदर्शन को समझने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि परिस्थितियों में सुधार-परिवर्तन करना हो तो व्यक्ति के अन्तराल को कुरेदना चाहिए। मनुष्य के दृष्टिकोण, स्वभाव, चरित्र एवं व्यवहार में उत्कृष्टता का समावेश हो सके तो ही यह सम्भव है कि शान्ति, प्रगति और प्रसन्नता का आनन्द लेते हुए हँसती-हँसाती, खिलती-खिलाती जिन्दगी जियी जा सके। सभ्य सज्जनों का समुदाय ही समुन्नत समाज कहा और स्वर्ग सतयुग कहकर सराहा जाता है।

यदि वर्तमान स्थिति अनुपयुक्त लगती है और उसे सुधारने, बदलने का सचमुच ही मन है तो सड़ी नाली को तली तक साफ करना चाहिए। सड़ी कीचड़ भरी रहने पर दुर्गन्ध और विष कीटक से निपटने के छुटपुट उपायों से कोई स्थायी समाधान मिल नहीं सकेगा। समाजगत विभीषिकाओं और व्यक्तिगत व्यथाओं के नाम रूप कितने ही क्यों न हो– सबका आत्यंतिक समाधान एक ही है कि दृष्टिकोण की दिशाधारा बदली जाय। एक शब्द में इसी को युगक्रान्ति कहा जा सकता है। इसे नियोजित किये बिना और कोई गति नहीं। जहाँ तक उतर चुके उसके उपरान्त अब महाविनाश का, सामूहिक आत्महत्या का ही अन्तिम पड़ाव है।

'हम बदलेंगे युग बदलेगा' के उद्घोष में निदान और उपचार के दोनों ही पक्षों का समावेश है। परिस्थितियों को बदलने के लिए व्यक्ति के परिष्कार को अनिवार्य माना जाना चाहिए। हर व्यक्ति को इस तथ्य से अवगत, सहमत करना चाहिए कि इन दिनों लोकमानस की दिशाधारा में समान परिवर्तन की आवश्यकता है। इसके बिना उज्ज्वल भविष्य की संरचना तो दूर बढ़ती हुई विपत्तियों के त्रास से भी आत्मरक्षा सम्भव न हो सकेगी।

युग परिवर्तन के लिए व्यक्तिगत दृष्टिकोण और समाजगत प्रवाह प्रचलन को बदलने की बात कही जाती है। इसे समन्वित रूप से एक शब्द में कहा जाय तो प्रवृत्तियों का परिवर्तन भी कह सकते हैं। लोग आज जिस तरह सोचते, चाहते, मानते और करते हैं उसके उद्गम

केन्द्र में ऐसे हेरफेर की आवश्यकता है, जिसमें सड़े-गले ढर्रे का परित्याग और शालीनता का अवलम्बन सम्भव हो सके। इसके लिए क्या करना होगा? इसे भी संक्षेप में कहा जा सकता है। इसके लिए तीन सिद्धात सूत्रों को समझने, अपनाने भर से काम चल जायगा।

एक यह कि निर्वाह में संयमसादगी का इतना समावेश किया जाय जिसे औसत नागरिक स्तर और शरीर यात्रा के लिए अनिवार्य कहा जा सके।

दूसरा यह कि सादगी अपनाने के उपरान्त जो क्षमता सम्पदा बचती है उसे सत्प्रवृत्ति संवर्धन के लिए, नव निर्माण के लिए समयदान, अंशदान के रूप में अधिकाधिक उदार उत्साह के साथ समर्पित किया जाय।

तीसरा यह कि अन्तरंग और बहिरंग दुष्प्रवृत्तियों को उखाड़ फेंकने के लिए साहस, शौर्य, पराक्रम के साथ संघर्ष किया जाय।

इन तीनों सत्प्रवृत्तियों को प्रचलित दुष्प्रवृत्तियों का स्थानापन्न बनाया जा सके तो समझना चाहिए कि निकृष्टता के दलदल से उबरने और उज्ज्वल भविष्य का नवसृजन कर सकने वाला राजमार्ग हस्तगत हो गया।

भटकाव में भ्रमित और कुत्साओं से ग्रसित व्यक्ति ऐसी ललक-लिप्साओं में संलग्न रहता है जिन्हें दूरदर्शिता की कसौटी पर कसने से व्यर्थ, निरर्थक एवं अनर्थ की ही संज्ञा दी जा सकती है। पेट-प्रजनन इतना कठिन नहीं है जिसकी उचित आवश्यकता थोड़ा-सा समय लगाकर जुटाई न जा सके। सामर्थ्यों और साधनों की बर्बादी तो मूर्खता एवं धूर्तता जैसे प्रयोजन में ही नष्ट-भ्रष्ट होती रहती है। इसे जो जितनी बचा सकेगा उसे अपने पास सत्प्रयोजन में लगा सकने योग्य भण्डार उतनी ही मात्रा में भरापूरा दृष्टिगोचर होने लगेगा। बर्बादी से बचने और प्रगति पथ पर चढ़ दौड़ने की सुविधा प्राप्त करने का एक ही उपाय है- संयम। सादा जीवन उच्चविचार का आदर्श अपनाने पर ही व्यक्तित्व के अभ्युदय का शुभारम्भ होता है।

इन्द्रिय संयम, समय संयम, अर्थ संयम और विचार संयम के चतुर्विधि आत्मानुशासन को अध्यात्म की भाषा में तप-साधना कहा गया है और साधना से सिद्धि का तत्वदर्शन समझाते हुए कहा गया है कि संयमी के पास ही श्रेय खरीदने के लिए पूँजी जुटती है। जिनकी तृष्णाएँ, महत्वाकांक्षाएँ ही आकाश चूमती हैं जो संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति में ही चित्तवृत्तियों को केन्द्रित किये हुए हैं उन्हें विलास वैभव जुटाने की बात ही सोचते हुए जिन्दगी गुजारनी पड़ती है। परमार्थ की बात तो वे आत्म-प्रवंचन, एवं लोक-विडम्बना के लिए करते रहते हैं। वस्तुत: उनसे उस सन्दर्भ मे कोई कारगर कदम उठाते बन नहीं पड़ता। यही कारण है कि महानता और संयम साधना को पर्यायवाची-पूरक माना जाता है। औसत नागरिक का स्तर अपनाना- महत्वाकांक्षाएँ उसी परिधि में सीमित कर लेना ऐसा निर्धारण है जिसे अपनाते ही हर स्तर और हर स्थिति का व्यक्ति महान प्रयोजनों के लिए नियोजित कर सकने योग्य शारीरिक, मानसिक ही नहीं आर्थिक अनुदान की भी बचत कर सकता है।

अगले दिनों नवसृजन के लिए इतने अधिक प्रकार के, इतनी अधिक संख्या में कार्यक्रम अपनाने पड़ेंगे जो वर्तमान कुप्रचलनों का स्थान ग्रहण कर सकें। वर्तमान विनाश प्रयोजनों में असीम श्रम और धन लगा हुआ है। नशा एवं मास व्यवसाय, कुत्सित साहित्य, फिल्म कामुकता भड़काने वाले जुआ, लाटरी जैसे कृत्यों में न जाने कितनी बुद्धि, मेहनत और दौलत लगी हुई है। इसे हटाना तभी सम्भव है जब समानान्तर सत्प्रवृत्तियों में उस उत्साह को नियोजित किया जा सके। इसके लिए पूँजी भी उतनी चाहिए और श्रम समय भी उतना ही। वह कहाँ से जुटे? स्पष्ट है कि इतनी पूँजी जाग्रत आत्माओं द्वारा की गई बचत कटौती से ही बन पड़ेगी। शिक्षा, साहित्य, कला स्वास्थ्य, कुटीर उद्योग, बाल विकास जैसे कार्यों को इतने बड़े विशाल परिमाण में खड़ा करना होगा कि ५०० करोड़ मनुष्यों को इस दुनिया की पुरानी परम्पराओं को छोड़ने के साथ ही नया अपनाने के लिए ढाँचा खड़ा और सरंजाम जुटा देवें। स्पष्ट है कि इसके लिए समय, श्रम और धन की प्रचुर परिमाण में आवश्यकता पड़ेगी। उस असमंजस की बेला में सर्वसाधारण से ही उपलब्ध किया जा सकेगा। उसकी आरम्भिक पूर्ति युग चेतना के अग्रदूतों को ही करनी होगी। अनुकरण का प्रचलन तो बाद में प्रारम्भ होगा।

स्पष्ट है कि आजीविका का एक महत्वपूर्ण अनुपात अंशदान के रूप में सृजन कृत्यों के लिए नियोजित करने की आवश्यकता पड़ेगी, इतना ही नहीं श्रम, समय भी इसके साथ ही देना पड़ेगा। आरम्भ में महीने में एक दिन की आजीविका और हर दिन दो घण्टे का श्रम इस हेतु उन सभी को लगाना होगा जो प्रस्तुत विश्व संकट से उबारने की बात सोचते और उस निमित्त कुछ करने का साहस करते हैं।

योजनाएँ कैसी भी क्यों न हों। बुद्धिबल, श्रम तथा धन की माँग करती हैं। युग परिवर्तन अभियान भी इसका अपवाद नहीं है। 'जो कहे सो पानी को जाय' वाली उक्ति के अनुसार प्रतिपादनकर्ताओं को कथनी को करनी में प्रयुक्त करके दिखाना पड़ता है। विशेषतया आदर्शवादी प्रचलनों के सम्बन्ध में तो इसके बिना काम ही नहीं चलता।

तीसरा चरण अवांछनीयता उन्मूलन का है। नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रान्तियाँ सम्पन्न करने के लिए प्रज्ञा अभियान की लाल मशाल इसी निमित्त जलाई गई है। प्रश्न यह है कि दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध व्यापक संघर्ष का श्रीगणेश कहाँ से किया जाय। गान्धीजी ने सुगम उपाय नमक सत्याग्रह सोचा था और फिर सत्याग्रह आंदोलन को करो या मरो स्तर तक पहुँचाया था। उसी रणनीति की

अनुसरण हमें भी संव्याप्त दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध करना चाहिए।

इस तथ्य से सभी अवगत हैं कि खर्चीली शादियाँ हमें दरिद्र और बेईमान बनाती हैं। धूम-धाम देन-दहेज, की शादियों का वर्तमान प्रचलन देखने में हर्षोत्सव के साथ जुड़ा जैसा भले ही प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः उसकी भयंकरता उतनी हलकी है नहीं। इस कारण नर और नारी के बीच भयानक खाई खुदी हुई है। कन्या और पुत्र का अन्तर बढ़ा है। कन्या शिक्षा में कटौती हुई है। हत्याओं और आत्महत्याओं का सिलसिला चला है। सगे-सम्बन्धियों के बीच डकैतों जैसी दुष्टता की जड़ जमी है। दाम्पत्य जीवन की उत्कृष्टता को भयंकर चोट लगी है। देश की आर्थिक कमर टूटी है। समाज का ढाँचा बेतरह लड़खड़ाया है और भी न जाने क्या-क्या अनर्थ इस कारण हुआ है। समय की माँग और दूरदर्शिता का संकेत यह है कि सर्वप्रथम धूमधाम और देन-दहेज की शादियों के विरुद्ध व्यापक मोर्चा खड़ा किया जाय और प्रचण्ड संघर्ष छेड़ा जाय। इसमें कुछेक मदोन्मत्तों को छोड़कर सर्वसाधारण का समर्थन पूरी तरह मिलने की सम्भावना है।

इस सन्दर्भ में प्रथम उपाय प्रतिज्ञा पत्र अभियान के रूप में आरम्भ किया जाय। अभिभावक प्रतिज्ञा करें कि हम अपने बालकों के विवाह में धूमधाम एवं देन-दहेज स्वीकार न करेंगे। विवाह योग्य लड़की, लड़के प्रतिज्ञा करें कि वे नितान्त सादगी और बिना मोल-भाव का विवाह ही करेंगे। भले ही वैसा सुयोग न बनने पर आजीवन कुँआरा ही क्यों न रहना पड़े। प्रभावशाली लोग अपने सम्पर्क क्षेत्र में सादगी प्रधान विवाहों को प्रोत्साहन दें और खर्चीली शादियों का डटकर विरोध करें।

यही एक सर्वसाधारण द्वारा अपनाये जाने योग्य सरल सत्याग्रह है कि खर्चीली शादियों में सम्मिलित होने से स्पष्ट इन्कार कर दें भले ही वे अपने सम्बन्धियों, कुटुम्बियों के यहाँ ही क्यों न हो रही हैं। कुछ समय पूर्व यह असहयोग आन्दोलन प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत मृतक भोज न करने के सम्बन्ध में चलाया गया और पूरी तरह सफल रहा और अब खर्चीले विवाहों को भी इसी असहयोग आन्दोलन का अगला चरण माना जाय और एक-एक करके प्रचलित अवांछनीयताओं के विरुद्ध असहयोग, प्रतिरोध, संघर्ष कड़ा करते चला जाय।

'हम बदलेंगे युग बदलेगा' का उद्घोष इन्हीं दिनों विज्ञजनों को सच्चे मन से अपनाना और तत्काल चरितार्थ करना चाहिए। इसके तीन सिद्धान्त सूत्रों को बिना एक क्षण गँवाये अपनाया जाय। (१) औसत नागरिक स्तर का निर्वाह-चतुर्विध संयम-अनुशासन (२) समय दान-अंश दान। (३) दहेज धूमधाम वाली शादियों का विरोध, असहयोग। यह तीन आधार ऐसे हैं जिन्हें नवयुग के भव्य निर्माण हेतु अनिवार्य रूप से अपनाया जाना चाहिए।

हम यह करने को कटिबद्ध हों

विचार-क्रान्ति एवं भावनात्मक पुनरुत्थान पर यह निर्भर है कि जनता की गतिविधियों में आवश्यक परिष्कार उत्पन्न हो। इस परिष्कार से ही राष्ट्र को सर्वांगीण समर्थता एवं सशक्तता उपलब्ध होगी। विचार, कार्यों का मूल है। विचार का बीज ही कार्य रूप में परिणत होता है। उत्तम मार्ग पर वही चल सकता है, जिसके विचार ऊँचे हों। हमें जन-मानस में उत्कृष्ट विचारों का बीजारोपण करना होगा, ताकि वे उगें, पल्लवित हों और अपनी हरियाली से इस उद्यान को सुशोभित कर सकें। कुविचारों और कुसंस्कारों का मवाद जब तक हमारे विचारों और भावनाओं में भरा रहेगा, तब तक कष्टकर स्थिति बनी ही रहेगी। इस मवाद को हटाने पर ही घाव पुरेंगे। हमारे सड़े-गले विचार जब हटेंगे, तब सशक्तता उत्पन्न करने वाली परिस्थितियाँ विकसित होंगी। वर्तमान काल की आवश्यकता जन-मानस में भरी हुई सड़ाँध हटाने की है। भावनात्मक दृष्टि से परिष्कृत व्यक्तियों का व्यक्तित्व, समाज एवं राष्ट्र ही तो बलवान एवं सम्पन्न हो सकता है। विचार-क्रान्ति इस युग की वर्तमान काल की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए प्राणपण से जुट जाना ही कर्तव्य है।

हमारे साथ (१) अनैतिकता, (२) अनागरिकता, (३) दुर्व्यसन एवं (४) सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन का चतुर्विध विशाल कार्यक्रम फैला पड़ा है। बेईमानी, अपराध, अन्याय, उद्दण्डता जैसे अनैतिक कार्यों द्वारा आलस्य, फूहड़पन, अव्यवस्था, वचन न पालना जैसे अनागरिक स्वभावों द्वारा नशेबाजी, फैशनपरस्ती, शेखीखोरी, नाचरंग जैसे दुर्व्यसनों द्वारा - विवाहोन्माद नारी तिरस्कार, ऊँच-नीच जैसी सामाजिक अन्ध परम्पराओं द्वारा आज राष्ट्र बुरी तरह जर्जरित हो रहा है। इन चार दुष्प्रवृत्तियों में जितनी शक्ति कुण्ठित एवं नष्ट होती है, उसे यदि बचाया और उपयुक्त मार्ग में लगाया जा सके तो भारतीय समाज का काया-कल्प ही हो सकता है। जो प्रगति दूसरे देशों ने १०० वर्षों में की है, वह हम अपनी दार्शनिक महान् परम्पराओं एवं भारत माता के अतुलित साधनों द्वारा २५ वर्ष के भीतर ही ऐसे अच्छे ढंग से कर सकते हैं कि संसार में फिर अपना स्थान 'जगद्गुरु' का हो जाय।

उपरोक्त चार मोर्चों पर जूझने के लिए हमें, (१) प्रचार (२) संगठन एवं (३) आन्दोलन के त्रिविधि आयुधों का उपयोग करना होगा। लड़ाई में वायुयानों, जलयानों एवं पैदल सैनिकों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार नव-निर्माण के लिए यह त्रिविधि साधन

अनिवार्य रूप से अभीष्ट होंगे। जो लोग विचार-क्रान्ति के, भावनात्मक पुनरुत्थान के महान् अभियान को सफल बनाना चाहते हैं उन्हें इन त्रिविध कार्यक्रमों को अपनाने, परिपुष्ट करने एवं बढ़ाने के लिए कटिबद्ध होना ही होगा। नव-निर्माण अभियान में सम्मिलित होने के लिए जिन प्रबुद्ध आत्माओं का आह्वान किया गया है, उन्हें इस त्रिविध आधार पर विनिर्मित शतसूत्री योजना द्वारा युग-निर्माण के लिए अपने समय दान का प्रयोग करना होगा।

स्वार्थपरता एवं संकीर्णता के विचारों को उखाड़ कर उनके स्थान पर सर्वोपयोगी गतिविधियाँ अपनाने की विचार-क्रान्ति तभी सम्भव है, जब इन आदर्शों के उपयुक्त परिपक्व एवं प्रौढ़ विचार जन-साधारण को अधिकाधिक मात्रा में मिलें। इसके लिए लेखनी और वाणी दोनों ही माध्यम पूरी तरह अपनाने होंगे। पढ़-लिख सकने वाले लोगों तक उपयुक्त उद्देश्य की पूर्ति करने वाला साहित्य पहुँचाना होगा और बिना पढ़े लोगों को वे ही बातें सुनानी पड़ेंगी । यह कार्य व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों ही प्रकार से करना होगा। अपने सम्पर्क में जितने भी लोग हो, उन्हें प्रेरणाप्रद प्रकाशवान विचार देने के लिए सम्पर्क बनाने में तेजी लानी होगी। अपने परिचितों के पास जायँ, उन्हें आवश्यक साहित्य पढ़ने को दें, चर्चा करें और विचार विनिमय द्वारा उनकी मनोभूमि में आवश्यक परिवर्तन प्रस्तुत करें। यह व्यक्तिगत सम्पर्क की कार्य -पद्धति है।

सामूहिक प्रचार के लिए छोटी-बड़ी गोष्ठियों एवं उत्सव-आयोजनों, समारोहों का प्रबन्ध करना होगा। समय-समय पर लोग किसी न किसी निमित्त से एकत्रित किये जाएँ और निर्धारित लक्ष्य के अनुरूप भावनाएँ उत्पन्न करने वाले प्रवचन प्रस्तुत करके भावनात्मक परिष्कार का प्रयोजन पूरा करें। धार्मिक आधार पर इन प्रयोजनों की पूर्ति- (१) गीता के सप्ताह आयोजनों, (२) रामायण की व्याख्या में प्रस्तुत किये गये प्रवचनों (३) सत्य नारायण कथा की छोटी गोष्ठियों, (४) परिवारो के प्रशिक्षण के लिए आयोजित सोलह संस्कारो, (५) पर्व त्यौहारो के अवसर पर किए गये सामूहिक उत्सवों, (६) गायत्री यज्ञों के माध्यम से आमन्त्रित समारोहों में, यदि उपयुक्त प्रवचनों की व्यवस्था रहे तो भारत की धर्म-प्रिय जनता सहज ही विचार-क्रान्ति के उपयुक्त प्रकाश प्राप्त कर सकती है। इनके अतिरिक्त भी जो कार्य सामूहिक प्रचार के लिए सम्भव हों, वे अपनाने चाहिए। हममें से हर एक का कर्तव्य है-इस प्रकार के व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रचार साधनों को करने और कराने में पूरी-पूरी दिलचस्पी लें और उन्हें अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने के लिए साधन जुटाते रहें।

एक विचार के, एक उद्देश्य एवं एक लक्ष्य के लोगों का संगठन आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है। इस युग की सबसे बड़ी शक्ति संगठन ही है। युग-परिवर्तन जैसे महान् अभियान तो संगठन की शक्ति पर ही सफल बनाये जा सकते हैं। इसीलिए हमें उन लोगों को ढूँढ़ना और संगठित करना चाहिए, जो नव-निर्माण के उद्देश्य, आदर्श एवं कार्यक्रमों में आस्था रखते हों। ऐसे लोगों में 'अखण्ड ज्योति परिवार' के सदस्यों को अग्रिणी माना जा सकता है। १९४० से उन्हें यही शिक्षण मिलता रहा है। धर्म और अध्यात्म के नाम पर चलने वाली विडम्बना से घृणा करने और वास्तविकता को अपनाने का साहस और विवेक उनमें जाग्रत हुआ है। साथ ही कुछ काम करने के लिए भी निरन्तर प्रेरणा भरी जाती रही है, इसलिए वे दूसरों की तरह बातूनी न होकर कार्य-संलग्न भी रहते हैं। इन लोगों को सुसंगठित किया जा सके तो उस शक्ति का भी चमत्कार प्रस्तुत किया जा सकता है। यों इस क्षेत्र को विस्तृत करके देश-व्यापी ही नहीं, विश्व-व्यापी भी बनाना है । जो भी इस प्रकृति एवं प्रवृत्ति से व्यक्ति मिलें उन सबको एक सूत्र में संगठित करना है, पर अभी तात्कालिक आरम्भ 'अखण्ड ज्योति' के सदस्यों से किया जा सकता है।

जहाँ कहीं भी - जितने भी अखण्ड-ज्योति के सदस्य हों, उन सबको एक शाखा संगठन के रूप में संगठित हो जाना चाहिए। संगठन की एक पाँच व्यक्तियों की संचालक समिति बनाली जाय और वह यह प्रयत्न करती रहे कि वर्तमान सदस्यों का मिलन एवं विचार-विनिमय नियमित एवं क्रमबद्ध रूप से चलते रहने की व्यवस्था बन जाय। जन्म दिन मनाने की प्रथा इस कार्य में आश्चर्यजनक रूप से सहायक होती है। जिसका जब जन्मदिन हो, तब उसके यहाँ सब परिजन एकत्रित हों, हवन प्रवचन के अतिरिक्त पारस्परिक आत्मीयता सुदृढ़ करें। इसके अतिरिक्त समय-समय पर होती रहने वाली गोष्ठियों में निरन्तर यह विचार किया जाता रहे कि उस क्षेत्र में जन-जागरण उत्पन्न कर सकने वाली क्या प्रवृत्तियाँ चलाई जा सकती हैं। शतसूत्री कार्यक्रमों में से जहाँ जो सम्भव हो, वहाँ वह तुरन्त ही आरम्भ कर दिया जाना चाहिए। संगठन का क्षेत्र दिन-दिन अधिक विस्तृत एवं व्यापक बनाने का प्रयत्न पूरे उत्साह एवं धैर्य के साथ चलाते रहना चाहिए। इस प्रकार जो संघ शक्ति विकसित होगी, उसके द्वारा अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त कर सकने में कोई सन्देह न रह जायगा।

आन्दोलनात्मक रचनात्मक कार्यों में अनेक ऐसे हैं, जिन्हें अविलम्ब हर जगह आरम्भ कर देना चाहिए। नव-निर्माण की प्रेरणा भरने वाला एक पुस्तकालय हर जगह स्थापित हो जाना चाहिए । इसमें कूडा-करकट बिल्कुल भी न हो, केवल चुनी हुई वे पुस्तकें हों जो पढ़ने वाले के मस्तिष्क एवं हृदय को नवनिर्माण के लिए आवश्यक प्रेरणा एवं प्रकाश प्रदान कर सकें। पुस्तकें एवं

पत्र-पत्रिकाएँ मँगाने के लिए सदस्यगण आपस में मासिक चन्दा इकट्ठा कर लें। एक जगह पुस्तकें जमा कर देने से भी कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा। सदस्यगण उन्हें लोगों के घरों पर पहुँचाने और वापिस लाने का भी काम करें। पुस्तकें जमा न रहकर उस क्षेत्र में घूमती ही रहें तो समझना चाहिए कि पुस्तकालय की स्थापना सफल हो गई।

इस युग के देव-मन्दिर, सरस्वती-सदन, गायत्री देवालय, सद्विचारों से परिपूर्ण पुस्तकालय ही हो सकते हैं जहाँ इनकी स्थापना हो जाय, समझना चाहिए कि वहाँ का शाखा संगठन सजीव एवं जाग्रत है। जहाँ इतना भी न हो सके, समझना चाहिए, लोग उथले मन से लकीर पीटने मात्र की चिन्ह पूजा कर रहे हैं। युग निर्माण शाखाओं के लिए यह लज्जा की बात होगी कि वे ऐसा एक पुस्तकालय भी स्थापित एवं संचालित न कर सके। उस अभाव की पूर्ति तत्काल कर ली जानी चाहिए। विचार-क्रान्ति के उद्गम स्रोत यह युग निर्माण पुस्तकालय ही होंगे। हमारा रचनात्मक आन्दोलन -युग निर्माण पुस्तकालय आन्दोलन से ही आरम्भ होना चाहिए।

प्रौढ़ पाठशालाओं और व्यायामशालाओं की स्थापना भी ऐसे रचनात्मक कार्य हैं, जिनका ताना-बाना हर जगह बुना जाना चाहिए। साक्षरता-राष्ट्रीय जागरण का आवश्यक अंग है। देश में एक भी निरक्षर न रहने पावे, इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रौढ़ पुरुषों और महिलाओं के लिए उनकी सुविधा के समय पर पाठशालाएँ चलाई जानी चाहिए। व्यायाम का प्रचार घर-घर किया जाय। मुहल्ले-मुहल्ले और गाँव-गाँव व्यायामशालाएँ खुलें। खेलकूदों की प्रतियोगिताएँ होती रहें। लाठी, तलवार जैसे अस्त्र-शस्त्रों का चलाना सिखाया जाय। पुस्तकालयों के अतिरिक्त जहाँ सम्भव हो सके प्रौढ़ पाठशालएँ एवं व्यायामशालाएँ स्थापित करने का भी पूरी दिलचस्पी के साथ प्रयत्न किया जाय।

दीवारों पर आदर्श वाक्य लिखकर नगर को एक बोलती पुस्तक बनाना, दोहा, अन्त्याक्षरी, खेल-कूद, भाषण कला-कौशल, पशुपालन, स्वच्छता आदि की प्रतियोगिता प्रदर्शनी जैसे आयोजन जब-तब होते रह सकते हैं। संगीत, भजनों के प्रेरणाप्रद आयोजन चलते रहें। घरों में कथा-कहानियों द्वारा पारिवारिक शिक्षण होते रहें। टोलियाँ बनाकर सदस्यगण लोगों के पास जन-सम्पर्क के लिए जाया करें और उन्हें सामाजिक कुरीतियों, दुष्प्रवृत्तियों, अनैतिकताओं एवं व्यसनों की हानियों को समझाकर उनके परित्याग का साहस उत्पन्न किया करें तो यह टोलियाँ अपने क्षेत्र में बहुत बड़ा काम कर सकती हैं और आये हुए इलाके नये सिरे से नव-जीवन एवं नव जागरण कर नवप्रकाश उपलब्ध कर सकते हैं।

आजकल सप्ताह में एक समय अन्नाहार न करने एवं आध्यात्मिक आधार पर राष्ट्र में सर्वांगीण समर्थता उत्पन्न करने के लिए 'क्लीं' बीजयुक्त गायत्री महामन्त्र का जो शक्ति पुरश्चरण चल रहा है, उसमें कम से कम एक माला जप करने का नियम लेकर भागीदार बनने की प्रेरणा की जा सकती है। सुरक्षा कार्यों में धन रक्त, सैनिक देने तथा नागरिक रक्षा दलों की स्थापना करने जैसे कार्य भी बढ़ाये जा सकते हैं। करने के लिए अगणित काम पड़े हैं। युग-निर्माण योजना के शतसूत्री कार्यक्रमों में से जहाँ जो संभव हो सके, उन्हें करना एवं कराना चाहिए। रचनात्मक आन्दोलन द्वारा ही जन-मानस पर यह छाप डाली जा सकती है कि यह प्रवृत्तियाँ अब चल पड़ीं। लोग चलते हुए ढर्रे में सम्मिलित होते रहते हैं। सुनने का नहीं, देखने का ठोस प्रभाव पड़ता है। जो कार्य हमें जनता से कराने हैं,वे उसकी आँखों के आगे होने लगें, उसे दीखने लगें, यह व्यवस्था करना ही रचनात्मक आन्दोलन का मूल प्रयोजन है। दृश्य प्रेरणा से ही परिवर्तन की ठोस नींव रखी जा सकती है। इसलिए रचनात्मक आन्दोलन की व्यवस्था जहाँ कहीं भी संगठन स्थापित हो चुके हैं, वहाँ आरम्भ कर दी जानी चाहिए।

नव निर्माण के लिए हम में से हर एक को कुछ करना है। जिनकी आत्मा में जितना धर्म तत्व जाग्रत हो चुका है, उन्हें उतना ही अधिक करना है। कर्तृत्व ही वास्तविकता की कसौटी है। आज देश, धर्म, समाज एवं संस्कृति की पुनरुत्थान बेला प्रस्तुत है, इसमें अपना योग दान देने के लिए हमें हर बहाने और हर कारण को ठुकराते हुए, योगदान देने के लिए कटिबद्ध होना ही चाहिए। चतुर्विध मोर्चे को जीतने के लिए प्रचार, संगठन एवं आन्दोलन के त्रिविध शस्त्र हमें संभालने ही चाहिए।

कर्मठता की चुनौती और समर्थता की खोज

राष्ट्र का भावनात्मक नव-निर्माण करने के लिए प्रचार कार्य तो सर्वोपरि है ही साथ ही ऐसे रचनात्मक और संघर्षात्मक कार्य भी आरम्भ करने हैं जिनके आधार पर जन-साधारण को कुछ करने, होने तथा बदलने का प्रत्यक्षीकरण दिखाई पड़े। विचारों में परिपक्वता कार्यों से आती है क्रिया और भावनाओं से मिलकर ही वे संस्कार बनते हैं, जिन पर व्यक्तित्वों का स्तर निर्भर रहता है। इसलिए हम सदा प्रचार ही न करते रहेंगे। यह तो हमारा प्रथम चरण है। जैसे ही प्रचार के समुद्र मंथन से कुछ नर रत्न हाथ लगेंगे उन्हेंने रचनात्मक एवं संघर्षात्मक कार्यों में उनकी क्षमता, योग्यता एवं प्रतिभा के अनुरूप कार्य संलग्न होने की प्रेरणा करेंगे।

अर्जुन पूरे मन से महाभारत में प्रवृत्त होने को तत्पर नहीं हो रहा था। कृष्ण जानते थे कि अधूरे मन से बेगार

भुगतने की तरह जो भी काम किया जायगा वह अधूरा या असफल रह जायगा। भावनात्मक तत्परता के बिना समग्र शरीर संलग्नता सम्भव नहीं। इसलिए इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर जबकि तत्काल बाण वर्षा की आवश्यकता थी। कुछ विराम लिया और गीता सुनाने लगे। लोगों को चेतुका जरूर लगा कि जब एक क्षण गँवाये बिना ही तत्काल बाण वर्षा होनी चाहिए तब यह गीता प्रवचन की राम कहानी कहाँ से आ धमकी? कृष्ण जानते थे कि सही और पूरा काम कराने के लिए व्यक्ति को उस कार्य की उपयोगिता, आवश्यकता एवम् फलितार्थों को बताया जाना आवश्यक है। असन्तुष्ट और अन्यमनस्क अर्जुन उपेक्षा भाव से लड़ने भी लगा तो उसमें समुचित शौर्य एवं मनोयोग का समावेश न होगा और अन्ततः महाभारत का उद्देश्य ही निष्फल हो जायगा। अस्तु, गीता प्रवचन को प्राथमिक किंतु अति आवश्यक कर्त्तव्य समझकर भगवान् ने पहले उसे ही हाथ में लिया। इसके बाद ही महाभारत निर्माण का पुण्य-प्रयोजन पूरा किया जा सका।

अपने सामने भी दुर्बल, दिग्भ्रान्त, दरिद्र और तमसाच्छन्न, नगण्य एवं तुच्छ बने हुए भारत को समर्थ, समृद्ध और प्रबुद्ध महाभारत का निर्माण करना था। भारत चिर-अतीत से महान् रहा अब फिर उसे महाभारत ही बनना होगा। जन-शक्ति का अर्जुन अभी मोह और अवसादग्रस्त हो रहा है। उसका 'कार्पण्य' हटाया जाना शेष है। इसके लिए युग-गीता गानी पड़ेगी। युग निर्माण योजना की विचारक्रान्ति गीता गायन एवं पाँचजन्य का तुमुल नाद है। नव निर्माण का विकल्प केवल सर्वनाश है। दोनों में से एक को चुनना होगा। निश्चय ही हम सर्वनाश नहीं चुन सकते हैं। नव-निर्माण की जिम्मेदारी स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। सो इच्छा और अनिच्छा से इसी ओर चलना होगा। नियति हमें प्रबुद्धता सम्पन्न अन्तःकरण वालों को इसी दिशा में नियोजित करके रहेगी।

प्रस्तुत योजना के अनुसार हम आवेश और आवेग पूर्वक लोकमानस के जागरण की प्रक्रिया सम्पन्न करेंगे। सोते हुए कुम्भकरण को जगाने के लिए पौराणिक उपाख्यान के अनुसार भैंसों का झुण्ड उसकी छाती पर घुमाने पड़े थे। हम लोग भी सुषुप्त की स्थिति में पड़ी हुई राष्ट्र चेतना को कुम्भकर्णी निद्रा से जगाने का प्रयास करेंगे। यही हमारा प्रचार अभियान है। विश्वास है कि अगले दिन राष्ट्र जगेगा और अँगड़ाई लेता हुआ उठ खड़ा होगा। जिस दिन महादैत्य जगेगा उस दिन दशों दिशाएँ काँप जायेंगी। उसके पास अध्यात्म, तत्त्वज्ञान, शौर्य, साहस, विज्ञान एवम् सम्पन्नता की इतनी अधिक परम्परागत पूँजी विद्यमान है जिसके बल पर विश्व की अद्‌भुत अनुपम शक्ति बनकर रहेगा। सर्वश्रेष्ठता से परिपूर्ण हमारा प्राचीन इतिहास है। अब उज्ज्वल भविष्य भी ऐसा होने जा रहा है जिसमें कि हम प्रत्येक क्षेत्र में विश्व का नेतृत्व मार्गदर्शन एवम् सहयोग कर सकने में समर्थ हो सकें।

जिस महाभारत के निर्माण में युग-निर्माण योजना की सतत साधना संलग्न है, उसमें धरती पर स्वर्ग का अवतरण और मनुष्य में देवत्व का प्रदर्शन सन्निहित है। तब सर्वत्र स्नेह और सहयोग की गंगा-यमुना बह रही होगी और व्यक्तियों का परस्पर मिलन तीर्थराज प्रयाग बनकर सर्वतोमुखी सुख-शान्ति का सृजन कर रहा होगा। हम ऐसे ही स्वप्नों को साकार करने की साधना कर रहे हैं। ५८ वर्षों की एक-एक घड़ी इसी क्रम से बीत गई। बीस महीनों की शेष अवधि में इस क्रम को अधिक विस्तृत हुआ देखने का अपना मन है। इसी आकांक्षा और उत्कंठा से यह अनुरोध भरे विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं। प्रतिक्रिया न जाने क्या होगी पर परिजनों की आत्मीयता और प्रबुद्धता दोनों की ओर देखते हुए आशा यही है कि इसे उपेक्षा के गर्त में फेंक न दिया जायगा। लोगों की भावनाएँ अन्तःस्फुरणाएँ, नपुंसक, निर्वीर्य होकर न रह जायेंगी, ये अवश्य ही सक्रियता के रूप में परिणत होंगी।

अभी प्रचार तन्त्र को सक्षम बनाकर लोकमानस की विचार पद्धति एवम् भाव शृंखला को मोड़ा जा रहा है। इस दिशा में जितनी सफलता मिलेगी उसी अनुपात से सक्रियता का भी सृजन होगा। सच्ची भावनाएँ क्रिया रूप में परिणत हुए बिना रह ही नहीं सकतीं। श्रद्धा के साथ सेवा अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। यदि हम उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता के प्रति-धर्म एवम् अध्यात्म के प्रति-सच्ची आस्था जगा देते हैं तो वह सजग व्यक्ति मानवता की अति आवश्यक सेवाओं की उपेक्षा न कर सकेगा। उसे पेट और प्रजनन, तृष्णा और वासना के जाल-जंजाल में से कुछ तो शक्ति एवम् समय निकालने की अन्तःस्फुरणा मिलेगी ही और वह कुछ न करे, निष्क्रिय बैठा रहे तो उसकी अन्तरात्मा उसे नोंच खायगी और चैन से न बैठने देगी। इसलिए प्रथम चरण के समाप्त होते-होते नव-निर्माण का द्वितीय चरण हमारे सामने हैं जिसमें प्रवेश करते हुए कोटि-कोटि व्यक्ति सृजन प्रक्रिया में अटूट श्रद्धा और प्रचण्ड कर्मण्यता के साथ संलग्न दिखाई देंगे।

(१) रचनात्मक प्रक्रिया में हमारा सपना है कि देश में एक भी शिक्षा के उपयुक्त वय का व्यक्ति निरक्षर न बचे। इसके लिए क्यूबा का उदाहरण बड़ा प्रेरक है। वहाँ प्रत्येक शिक्षित ने हर साल पाँच निरक्षरों को साक्षर बनाने का व्रत लिया और उसे एक वर्ष में पूरा कर दिखाया। अपने देश में एक चौथाई शिक्षित और तीन चौथाई अशिक्षित हैं।

पाँच वर्ष में वर्तमान शिक्षितों की सेवा-भावना के लिए एक घण्टा रोज नियमित रूप से खर्च करते रहने की व्रतशीलता अगले पाँच वर्ष में सारे देश को साक्षर बना सकती है।

(२) सोचते हैं नशेबाजी को आग्रहपूर्वक रोका जाय। देश में केवल तम्बाकू दो करोड़ प्रतिदिन का पिया जाता है। साल में ७२० करोड़ का। इसमें जितनी जमीन घिरती है, उसमें अन्न उगाया जाने लगे तो विदेश से अन्न मँगाने की रत्तीभर भी जरूरत न पड़े वरन् और उलटा निर्यात करने लगें। यही बात अफीम के सम्बन्ध में है। इसने भी लाखों एकड़ जमीन घेर रखी है और केवल मनुष्य मारने वाले विष का उत्पादन होता है। तम्बाकू-उद्योग में जितनी जन शक्ति और जितना पैसा लगा है। यदि यह गौ-पालन में लग जाय तो देश में दूध, घी की नदियाँ बहने लगें। बड़े नशों में प्रधानतया शराब तथा गौण रूप से गाँजा, चरस, अफीम आदि पीते हैं। इनका प्रचार रुके तो अस्पतालों की-दवाओं की जरूरतें घट जायें और बीमारी के कारण नष्ट होने वाले धन एवम् समय की बचत होने से देश की गरीबी दूर होने में बड़ी सहायता मिले। कुल नशे मिलाकर भारत में ५ करोड़ रुपया प्रतिदिन धन का दुरुपयोग होता है अर्थात् साल में १८०० करोड़ रुपया। इतने पैसे से एक भावनात्मक नव-निर्माण की ऐसी सशक्त योजना बनाई, चलाई जा सकती है जो भारत ही नहीं सारे संसार का नक्शा बदल दे।

हम चाहते हैं कि जिन्हें घर-गृहस्थी से अवकाश मिल चुका है और जिन्हें शरीर सेवा में अभिरुचि है ऐसे लोग हर गाँव में एक व्यायामशाला चलाने, खेल-कूद की व्यवस्था बनाने, आसन और प्राणायाम की शस्त्र संचालन एवम् स्वास्थ्य रक्षा की शिक्षा दें। इस दिशा में अपने गाँव, मुहल्ले के लोगों में अभिरुचि उत्पन्न करें। जिससे राष्ट्रीय आरोग्य और बलिष्ठता की अभिवृद्धि हो।

(३)देव मन्दिरों की तरह हर गाँव में ऐसे पुस्तकालय खुलें जिनमें केवल जीवन-निर्माण, सामाजिक विकास, विचारोत्तेजक एवं ज्ञानवर्धक, स्वास्थ्य साहित्य ही रखें। जिसमें अवांछनीय साहित्य एक भी न हो। भले ही लायब्रेरी चाहे कितनी छोटी क्यों न हो पर कचरा मुफ्त में भी इकट्ठा न किया जाय। इच्छी पुस्तकों को घर-घर पहुँचाने, वापिस लाने की व्यवस्था के बिना ऐसे पुस्तकालय चल ही नहीं सकते। इसलिए कुछ सेवा-भावी सज्जन इस महत्वपूर्ण पुस्तकालय की सेवा करने को उद्यत किये जाय। विचार-क्रान्ति का प्रयोजन पूरा करने में यह युग-निर्माण पुस्तकालय ही असली शस्त्रागार, देव मन्दिर एवम् धर्ममठ सिद्ध होंगे। इसलिए इनकी स्थापना जगह-जगह की जाय और धनीमानियों को इस स्थापना का मूल्य मन्दिर, धर्मशाला, प्याऊ, तालाब बगीचा, अस्पताल स्कूल बनाने से भी उत्कृष्ट होने की बात समझाई जाय।

(४) हम चाहते हैं कि प्रौढ़ शिक्षा का आन्दोलन बड़े जोश-आवेश के साथ उठाया जाय। जो नर-नारी बड़ी आयु के हो चुके, स्कूल में पढ़ने की स्थिति जिनकी नहीं रही, उन महिलाओं को तीसरे पहर और पुरुषों को रात्रि में पढ़ाने के सत्र हर जगह चले। साक्षरता, जीवन-कला, समाज विज्ञान, गृह-उद्योगों की इन्हीं माध्यमों से शिक्षा दी जाय। विभिन्न दिशाओं में उपयोगी ज्ञान-वृद्धि तथा खाली समय में कुछ कमाने की विधि, व्यवस्था इसी प्रौढ़ प्रशिक्षण के साथ जुड़ी हो।

(५) हम चाहते हैं कि विवाहों में अनावश्यक धन व्यय होने की खर्चीली कुप्रथा तुरन्त बन्द हो। लड़के वाला दहेज न माँगे और लड़की वाला जेवर तथा कीमती वस्त्र स्वीकार न करे। लम्बी-चौड़ी बारात, गाजे-बाजे, धूम धमाके बिल्कुल अनावश्यक माने जायँ। विवाह केवल पारिवारिक उत्सव हो। दोनों परिवारों के व्यक्ति ही उसमें भाग लें। मित्रों का प्रीतिभोज करना हो तो वह विवाह के बाद में किया जाय। उत्सव में कुल खर्च की सीमा कुछ सैकड़ों रुपये खर्च करने तक सीमित रहे। ऐसे आदर्श विवाह किसी सामूहिक उत्सव के रूप में गायत्री तपोभूमि जैसे किसी देवस्थान पर भी किये जा सकते हैं।

विवाहों की वर्तमान खर्चीली प्रणाली अभिभावकों को अनीति की कमाई करने के लिए मजबूर करती हैं। गरीब कन्याओं को सुयोग्य होते हुए भी अच्छे घर-वर नहीं मिल पाते और परिवारों की आर्थिक स्थिति बेतरह नष्ट होती चली जा रही है। ईमानदारी की कमाई आर्थिक स्थिति में सुधार एवम् सुयोग्य जोड़े मिलने में खर्चीली विवाह प्रथा अत्यन्त घातक अवरोध है।

सादगीपूर्ण आदर्श विवाहों के प्रचलन के लिए समाज-सेवी लोगों का एक तन्त्र खड़ा किया जाय जो उस तरह का प्रचार करे। इस आदर्श से सहमत परिवारों एवम् वर कन्याओं की जानकारी संग्रहीत करें और उपयुक्त जोड़े मिलाने में इच्छुक व्यक्तियों की सहायता किया करें ऐसे विवाहों का प्रचार और प्रदर्शन इस अच्छाई से किया जाय कि यह एक प्रथा-परम्परा ही बन जाय।

(६) हम चाहते हैं कि जाति और लिंग के नाम पर बरती जाने वाली असमानता का कलंक अपने समाज से दूर हो जाय। जाति-तन्त्र के नाम पर किसी को ऊँचा-नीचा कहाने का अवसर न रहे। गुण, कर्म, स्वभाव की महानता ही किसी की श्रेष्ठता का आधार मानी जाय। पुरुष और स्त्री के कर्त्तव्य एवम् अधिकार समान हों। दोनों समान साझीदार एवम् एक दूसरे के पूरक होने का

अनुभव करें। कोई किसी का दास न बने वरन् प्रेम और कर्त्तव्य के बन्धन ही एक-दूसरे को बाँधे रखने के लिए पर्याप्त माने जायँ। पर्दे की प्रथा का अन्त हो। स्त्री-जाति को शिक्षित और स्वावलम्बी बनाने के लिए विशेष प्रयत्न किया जाय, उसके सदियों के पिछड़ेपन को दूर करना अति आवश्यक समझा जाय। कन्या और पुत्र में अन्तर न किया जाय। पुत्र से वंश चलता और मरने पर पिण्ड मिलता है जैसी मूढ़ मान्यताओं का अन्त किया जाय। जाति और लिंग का भेद किये बिना भारत के हर नागरिक को समान उत्कर्ष का अवसर मिले।

(७) क्षेत्र में प्रचलित विविध प्रकार की सामाजिक कुरीतियों एवम् मूढ़-मान्यताओं का उन्मूलन हो। मृत्युभोज, भूत-पूजा, पशुबलि, अलन-चलन, टोटका-टमना, ज्योतिषियों का जंजाल, निरर्थक की रस्म रिवाजें, धर्म के नाम पर ठगबाजी जैसे अनेक छिद्र हमारी मानसिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति में बड़ी दुर्बलता एवं बर्बादी प्रस्तुत करते हैं। इन्हें हटाने, मिटाने के लिए एक सुधारवादी प्रचण्ड-प्रक्रिया आरम्भ की जाय।

(८) भावनात्मक नव-निर्माण के लिए अभिनव साहित्य का सृजन और उसका व्यापक प्रसार करने वाला सुसंगठित तन्त्र बने जिसमें लेखक, प्रकाशक और विक्रेता सभी उच्च आदर्शों से प्रेरित होकर काम करें। हर वर्ग के व्यक्ति के लिए इस तन्त्र द्वारा विचारोत्तेजक साहित्य-सामग्री उत्पन्न की जाय और वह भारत की समस्त भाषाओं में ही नहीं, संसार की समस्त भाषाओं में प्रकाशित होकर घर-घर पहुँचाने वाले आयोग द्वारा व्यापक बनाई जाय। इसी आयोग द्वारा हर विषय की प्रबुद्ध पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन एवं संचालन किया जाय।

(९) मनोरंजन को स्वस्थ एवम् सृजनात्मक बनाने के लिए एक समर्थ तन्त्र बने, जो आदर्शवादिता एवं सुधार प्रक्रिया को उद्देश्य मानकर मनोरंजक सामग्री का सृजन करें। उत्कृष्ट भावनाओं से ओत-प्रोत फिल्में बनें ऐसे सिनेमाघर खुलें जो केवल उत्कृष्ट चित्र ही दिखायें। ऑडियो-टेप भारी संख्या में भावोत्तेजक स्तर के बनें और उन्हें सुनाने की तथा बेचने की व्यापक व्यवस्था हो। नाटकों एवम् अभिनयों का गठन इसी स्तर पर किया जाय। व्यक्तिगत एवं सामूहिक कार्यक्रमों में ऐसे ही संगीत को प्रवेश कराया जाय। ऐसे संगीत विद्यालय खुलें जो इस कला को व्यापक बनाने के साथ-साथ उसमें उत्कृष्टता का भी समावेश करें।

(१०) धर्म, शासन, व्यापार आदि क्षेत्रों में तथा व्यक्तिगत व्यवहार में भरे हुए व्यापक भ्रष्टाचार के उन्मूलन एवम् स्वस्थ परम्पराओं की स्थापना के लिए ऐसे सामाजिक दबाव प्रस्तुत किये जायँ जो अवांछनीयता को असम्भव बना दें। कानून, भंडाफोड़, प्रदर्शन, धरना, घिराव, बहिष्कार आदि जितने भी संघर्षात्मक तरीके सम्भव हों प्रयुक्त किए जायँ। ऐसी स्वयं सेवक सेनाएँ गठित हों जो इस प्रकार के कार्यों का विरोध करने में सम्भावित क्षति उठाने के लिए तैयार रहें। ऐसी सेना में स्त्री बच्चे भी बहुत काम कर सकते हैं। व्यापक उच्छृंखलता एवम् अनैतिकता के विरोध में ऐसे संघर्ष तन्त्र की स्थापना आवश्यक है।

यह तो थोड़े से संकेत मात्र हैं। अभी और अनेक काम इस स्तर के करने को पड़े हैं, जिनका सीधा प्रभाव मनुष्य की नैतिकता, विचारणा, भावना, मान्यता एवम् आकांक्षा में उत्कृष्टता का समावेश करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। आलस्य, अनियमितता और अस्वच्छता अपने समाज के दोष जैसे बन गये हैं। श्रम, नियमितता, अनुशासन एवम् स्वच्छता को जन स्वभाव का अंग बनाने के लिए अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। अपराधों, उद्दण्डताओं और गुण्डागीरी का तूफान सार्वजनिक शान्ति को नष्ट किये दे रहा है। लोग अपनी जान-माल को अब सुरक्षित नहीं समझते। हमारे देश में बेचारा कानून ऐसे बुरे मुहूर्त में जन्मा कि उसका बोझ, अपने आप में एक सार्वजनिक भार बना हुआ है। गरीब के लिए न्याय इतना महँगा है कि बेचारा शायद ही उसे खरीद सके- धूर्तों के लिए कानून इतना लचकदार है कि वे उसे आसानी से अपने अँगूठों तले दाबे रह सकते हैं। अपराधी मनोवृत्ति के लिए जन-सहयोग से ही कुछ ठोस कदम उठाये जाने की आशा की जा सकती है। न्यायालयों के इर्द-गिर्द घूमने वाले कानून का मुँह ताकते रहने भर से काम न चलेगा।

प्रजातन्त्र का मूल मतदाता की प्रबुद्धता है। आज का मतदाता जब जाति बिरादरी के नाम पर थोड़ी-सी खुशामद, दबाव अथवा लालच में आकर बिना पात्र-कुपात्र का विचार किये यों ही भाड़ में वोट डाल आता है तब जो पैसा पानी की तरह लुटा सकते हैं और हर स्तर का प्रचार कर सकते हैं वे ही चुनाव जीतेंगे। इन परिस्थितियों में किसी तपे-परखे व्यक्ति का बिना खर्च किये चुनाव जीतना असम्भव है फिर अच्छी सरकार कैसे बने? अच्छी सरकार बिना स्वच्छ प्रशासन कहाँ से आये? यह समस्याएँ हैं जो सिर चकरा देती हैं। यों अच्छे लोग सभी क्षेत्रों में हैं। सभी लोग बुरे कभी नहीं हो सकते। यहाँ किसी वर्ग की समग्र रूप से भर्त्सना नहीं की जा रही है। इसलिए किसी को चिढ़ने या बुरा मानने की जरूरत नहीं है। बात बहुमत की ही हो रही है। बहुतों को ही प्रायः सब कह दिया जाता है; इसी अर्थ में हमने उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखी हैं। आज का जन-मानस बहुत करके कुमार्गगामी

और दुर्भावनायुक्त हो रहा है इसलिए हर क्षेत्र में एक से एक घृणित और कष्टकारक दुष्प्रवृत्तियाँ पनपती दीखती हैं। उनका उपचार मानव जाति का समान रूप से बौद्धिक कायाकल्प करना ही है। इसके लिए पग-पग पर रचनात्मक सत्प्रवृत्तियाँ खड़ी करनी होंगी और ऐसे संघर्षात्मक मोर्चे खड़े करने पड़ेंगे जो अभ्यस्त अपराधियों एवं मूढ़-मान्यताओं से ग्रसित लोगों को अपनी कुचाल छोड़ने के लिए मजबूर कर सकें।

उपर्युक्त कार्यों के लिए एक ऐसी जनशक्ति का उदय होना चाहिए जो पेट और प्रजनन से कुछ ऊँचा उठकर सोच सके और वासना-तृष्णा के लिए मरते-खपते रहने से आगे बढ़ाकर देश, धर्म, समाज, संस्कृति के लिए कुछ सेवा-सहयोग की, त्याग-बलिदान की बात सोच सकें। कर्मठ लोकसेवियों की जन-शक्ति उदय हुए बिना सुधार की सारी विचारणाएँ मनोरंजक कल्पनाएँ मात्र बनकर रह जायेंगी, प्राण तो कर्मठता में रहता है। निर्माण तो पुरुषार्थ से होता है। इसलिए अपने चारों ओर बिखरे हुए नर- पशुओं में हमें मनुष्यता का प्रकाश, गर्व और शौर्य उत्पन्न करना है ताकि वह स्वार्थ संकीर्णता की परिधि से बाहर निकलकर कुछ ऐसा कर सकें जैसा कि प्रबुद्ध और सजग आत्माएँ अपने स्वरूप, तत्त्व एवं कर्तव्य का स्मरण करके प्रयत्न करती रहती है।

योजना के प्रथम चरण में हम घर-घर ऐसी ही प्रेरणा, विचारणा, जाग्रति एवं चुनौती लेकर फेरी लगाने वाले हैं। विज्ञप्तियों का वितरण उसी प्रयोजन के लिए है। झोला पुस्तकालय इसी उद्देश्य से चलाये जा रहे हैं। वाणी का उपयोग, जिसमें धर्म प्रवचनों से लेकर पर्व संस्कारों की विचार गोष्ठियाँ तक सम्मिलित हों इसी मन्तव्य को लेकर आरम्भ कर रहे हैं कि शायद कहीं से दबी-छिपी मानवीय श्रेष्ठता की चिनगारियाँ उभरें। निर्माण के लिए कर्मठता कहीं से जगे और शायद प्रसुप्त मानवीय गर्व-गौरव, शौर्य-साहस, विवेक-सौहार्द्र जागता मिल जाय। इसी ढूँढ़ खोज में से बीन-बीनकर महाकाल अगले दिनों युग निर्माताओं की एक जनशक्ति खड़ी करेगा और वे विश्वशान्ति के प्रहरी स्वयं कष्ट उठाकर लोक-मंगल के महान प्रयोजन को पूरा करेंगे ।

*****

बौद्धिक, नैतिक एवं सामाजिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि एवं रूपरेखा

सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक परिवर्तन

मनुष्य के पास श्रम, समय, चिन्तन, प्रभाव एवं साधनों की सीमित सामर्थ्य है। उसे वह जिस दिशा में लगा देता है उसी प्रकार के परिणाम सामने आते हैं। अपनी दुर्दशा का कारण मानवी क्षमता का सदुपयोग न बन पड़ना है। आलस्य और प्रमाद की आदतें मनुष्य को अपंग जैसा बना देती हैं। जो कर सकने की सुनिश्चित सम्भावना थी वह उसी अपवाद के कारण असम्भव बन जाती है। अशिक्षा, अस्वस्थता, बेकारी, फूट, फिसाद, द्वेष-दुर्भाव जैसे अभिशाप हमारी दुर्बलता के बड़े कारण हैं। यदि दुष्प्रवृत्तियों को हटाया जा सके तो क्षमताएँ सृजनात्मक सत्प्रयोजनों में लग सकती हैं और उनके स्वर्णिम सत्परिणाम सामने आ सकते हैं।

सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक इन तीन क्षेत्रों में जीवन बँटा हुआ है। पिछले दिनों इन तीनों में ही विकृतियों ने अपने पैर जमा लिए हैं। फलतः हमारे प्रयत्नों और साधनों का अपव्यय होता रहता है। सृजनात्मक प्रयोजनों के लिए शक्ति बचती नहीं। अवांछनीयताओं में उलझे रहने पर विपत्तियाँ ही उत्पन्न होती हैं। इस स्थिति को बदलना चाहिए। हमें सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक तीनों ही क्षेत्रों में अभीष्ट परिवर्तन करने चाहिए। अवगति को प्रगति में बदलना हो तो अनुचित के स्थान पर उचित की स्थापना करने का परिवर्तन लाये बिना काम नहीं चल सकेगा।

पिछड़ापन यों देश के हर वर्ग में छाया हुआ है, पर नारी वर्ग उसका विशेष रूप से शिकार हुआ है। शरीर के दुर्बल अवयवों में रोग-कीटाणु आसानी से अपनी जड़ें जमा लेते हैं। नारी की दुर्बल मनःस्थिति में भ्रान्तियाँ, रूढ़ियाँ भी अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में घुस पड़ी हैं। अस्तु, सुधार की बात सोचते समय भी नारी समाज को इन अवांछनीयता से छुड़ाने के लिए अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता होगी।

सामाजिक-नारी ने न जाने क्यों यह मान्यता स्वयं भी स्वीकार कर ली है कि वह नर की तुलना में घटिया होती है। पुरुष ऐसा कहते और मानते, तो इसे सामाजिक अन्याय की संज्ञा में लिया जाता। किन्तु दुःख की बात है कि नारी ने स्वयं के लिए भी ऐसी मान्यता दृढ़ कर ली है।

बहू के बेटी हुई है। दादी ! बहू के क्या हुआ ? पत्थर हुआ है। बारात आ गई है। लड़की हुई है ! यह है नारी का नारी के प्रति अनादर का भाव।

घर में मिठाई-फल आते हैं। माँ लड़कों को अधिक-अधिक देती है और लड़कियों को थोड़ा-सा देकर बहला देती है। लड़के के लिए दूध-फल व पौष्टिक आहार, लड़की घर के साधारण भोजन पर पलेगी। लड़कों को अच्छे कपड़े और सुविधाएँ-लड़की का साधारण घर के सिले कपड़ों में ही काम चल सकता है। लड़की की कौन-सी कमाई खानी है-पराये घर जाना है। स्त्री ने स्वयं ही नारी की अवहेलना करना स्वीकार कर लिया है। उसकी यह मान्यता हो गई है कि लड़का अच्छा होता है, लड़की खराब। स्त्री, पुरुष की जूती होती है।

नारी के ऊपर यह मान्यता घर कर चुकी है कि उसे परावलम्बी रहना चाहिए ? पिता के घर में वह पिता के अधीन रहे। विवाह होने पर पति के और पति के मर जाने पर पुत्र के अधीन रहे।

संरक्षण देना एक पृथक बात है और परावलम्बन-अधीनता में रहना अलग। संरक्षण का स्थान परावलम्बन ने ले लिया है और आश्चर्य यह है कि नारी ने स्वीकार भी कर लिया है।

उक्त उदाहरणों के अनुसार नारी ने स्वयं नारी के प्रति हेय मान्यता स्वीकार करली है। ये मान्यताएँ एक छोटे से विश्वास के साथ दूर हो सकती हैं कि नर-नारी को भगवान ने एक साथ पैदा किया है। दोनों में भगवान का अंश जीवात्मा अपने समस्त गुणों के साथ विद्यमान है। दोनों का रक्त एक-सा, दोनों की दैनिक आवश्यकताएँ एक सी हैं। नर-नारी दोनों एक से हैं। वे एक दूसरे के पूरक तो हो सकते हैं, छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे मानने का कोई औचित्य नहीं है।

पुरुष वर्ग नारी को हेय, छोटा, कमजोर और अपवित्र या पतित मानता, तो इसे सामाजिक अन्याय माना जाता किन्तु नारी ने जब स्वयं ही मान्यता इस प्रकार की बनाली तो उसे ही सबसे पहले अपना दृष्टिकोण बदलने का प्रयत्न करना पड़ेगा। बहू का पिता दहेज की रकम पूरी नहीं दे सका तो सास, बहू को डाँटती है, कोसती है, ताने मारती है, स्वयं जली-कटी कहती है, बेटा को भी भड़का देती और उससे भी डाँट दिलाती, मारती, पिटवाती है। दुर्भाग्य से कोई लड़की विधवा हो जाती है तो उसे ससुराल में कितनी ही यातना दी जाती है। उसको घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, अपमान किया जाता है, उसे किसी शुभ कार्य में सम्मिलित नहीं होने दिया जाता। उसे शुभ कार्यों, मांगलिक कर्मकाण्डों के समय उस स्थान से हटा दिया जाता है। इस विडम्बना में पुरुषों की अपेक्षा घर की

नारियों का ही हाथ अधिक रहता है। संसार का नियम है, कि अपनी जाति के पशु-पक्षी तक एक दूसरे की सहायता करते हैं, सद्भावना रखते हैं, फिर हम तो मानव श्रेणी में आते हैं।

पीड़ित वर्ग अपनी ही तरह अपने साथियों की व्यथा-वेदना अधिक अच्छी तरह से समझ सकता है। ऐसी दशा में नारी को अपने वर्ग की कठिनाइयों को अधिक अच्छी तरह समझना और पुरुषों की तुलना में अधिक सह-संवेदना का परिचय देना चाहिए था। पर होता उलटा है जिन पर उनका दाव चलता है उन्हें सताने में वे चूकती नहीं। सास-बहू को, जिठानी-देवरानी को, ननद-भाभी को सताने में, तिरस्कृत करने में प्राय: आगे ही रहती हैं। यों कभी-कभी तो छोटे पद वाली भी बड़ों के कान काटती देखी जाती हैं। स्थिति दोनों ही दशा में दु:खद है। शोभा तो सहानुभूति और सहकार में ही रह सकती है।

नर का पर्दा नारी करे-इसमें चरित्र-रक्षा जैसी कुछ लँगड़ी-लूली दलीलें भी दी जा सकती हैं, पर नारी को नारी से पर्दा करना चाहिए, इसका तो कोई तुक भी समझ में नहीं आता। यों बापतुल्य श्वसुर और ज्येष्ठ भ्राता तुल्य ज्येष्ठ से बहुओं का भी व्यवहार बेटियों तुल्य होना चाहिए और पर्दे की आवश्यकता अनुभव नहीं की जानी चाहिए, किन्तु जब सास से बहू को घूँघट निकालना पड़ता है तब तो बात और भी अटपटी हो जाती है। इस तथाकथित शील-संकोच से परस्पर विचार-विनिमय तक कठिन हो जाता है। विशेषतया बहुएँ तो अपने मन की बात-शिकायतें तथा आवश्यकताएँ तक व्यक्त नहीं कर पातीं।

पढ़ाई-लिखाई के विषय में तो इन रूढ़िवादी महिलाओं का एक ही उत्तर होता है कि हमें अपनी लड़की से कौन नौकरी कराना है, जो इसको शिक्षा दी जाय। घरेलू कामों में हाथ बँटाने की अपनी तनिक-सी सुविधा को प्रधानता देकर प्राय: पिछड़े वर्ग की माताएँ ही अपनी लड़कियों को पढ़ने नहीं जाने देतीं।

शिक्षा माने नौकरी नहीं है। अशिक्षित को अन्धा कहा गया है। अन्धा आँखों के बिना असमर्थ होता है। अशिक्षित तो आँखों वाला अन्धा है। आँखें होते हुए भी ज्ञान रहित, स्वार्थ और परमार्थ सब से विहीन रहता है। शिक्षा बिना नारी न तो कुशल गृहलक्ष्मी बन सकती है और न निर्मात्री माता।

शिक्षा के बिना कोई न नये मूल्यों को पहिचान सकेगी और न नवीनता ग्रहण कर सकेगी। अत: नारी शिक्षा के प्रचार के प्रयत्न बढ़ाये जाने चाहिए।

शिक्षा और स्वावलम्बन में नारी का उत्साह रहना ही चाहिए। ओछे वर्ग का पुरुष-समाज यह सोच सकता है कि शिक्षित और स्वावलम्बी होने पर नारी उसकी समानता करने लगेगी और पैर की जूती न रहेगी। यह अपढ़ पुरुषों को सताये तो बात किसी हद तक समझी भी जा सकती है ? पर नारी इस दिशा में स्वयं ही उपेक्षा बरतें, अपने अधीन तथा प्रभाव क्षेत्र की अन्य नारियों को वैसा करने से रोकें, तो उसका क्या औचित्य हो सकता है।

विलासी पुरुष नारी को अधिक आकर्षक एवं उत्तेजक बनाने के लिए उसे शृंगार एवं सजधज के लिए विवश करें, तो उसमें कोई कारण तो समझा जा सकता है, पर जब नारी अपने को हेय और हीन मानकर गुड़िया की तरह सजने का प्रयत्न करती है, तो लगता है उसने अपनी आत्मा पर से विश्वास खो दिया। अपनी गरिमा और क्षमता उसे विस्मृत हो गई। अब वह शृंगारिकता के आकर्षण का सहारा लेकर नर की आँखों में अपना महत्व बनाये रखने के लिए सहमत हो गई है। यह दु:ख और सन्ताप का विषय है कि नारी के व्यक्तित्व का वर्चस्व निरर्थक समझा जाय और उसकी मांसलता एवं सज्जा को महत्व दिया जाय। कम से कम नारी को स्वयं तो यह स्थिति स्वीकार नहीं ही करनी चाहिए। स्वच्छता और सुरुचि की दृष्टि से शरीर एवं वस्त्रों को सभ्यता के स्तर पर सही स्थिति में रखा जाय-किन्तु उत्तेजक वेश-विन्यास क्यों बनाया जाय ? भौंड़े फैशन किसलिए धारण किए जाएँ ? चेहरे की रंगाई-पुताई का क्या प्रयोजन होना चाहिए। लज्जाशील अंगों को उभारने का बचकानापन फैशन के नाम पर स्वीकार किसलिए किया जाना चाहिए। पेट और पीठ को, पिंडलियों को खुला दिखाने वाले वस्त्रों के प्रचलन का क्या उद्देश्य हो सकता है। इन बातों पर विचारशील और स्वाभिमानी नारी को हजार बार विचार करना चाहिए। उसे गुड़िया की तरह सजधज बनाकर पुरुष वर्ग की आँखों में जँचने की आवश्यकता को स्पष्ट रूप में अस्वीकृत करना चाहिए।

नाक-कानों के जेवर सौन्दर्य वृद्धि की दृष्टि से पहने जाते हैं। वस्तुत: यह सुरुचि का भौंड़ा प्रदर्शन भर है। सजधज के मान्य उपकरणों में सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उस तथाकथित साज-सज्जा के पीछे अश्लीलता झाँकती है और फिर गुण्डा तत्वों को उत्तेजित होकर छेड़खानी करने का अवसर मिलता है। यों दोष गुण्डों का ही अधिक है पर निर्दोष वे महिलाएँ भी नहीं हैं, जो भड़कीली सजधज अपनाकर वातावरण में विषाक्तता बिखेरती हैं।

कीमती वस्त्रों और जेवरों में जो पैसा बर्बाद होता है उसे बचाया जा सके तो वह नारी की भविष्य निधि का रूप ले सकती है। बचत योजना में वह पैसा जमा कर देने पर कुछ ही समय में कई गुना हो सकता है जबकि जेवरों में मूलधन छिजता, गलता ही चला जाता है। ईर्षा भड़कती है और चोर-उचक्कों के मन में उन्हें किसी प्रकार ले भागने का लालच उभरता है। चोरी, डकैतियों और हत्याओं में यह जेवर ही बहुत बड़ा कारण होते हैं। सभी जानते हैं कि जिन अंगों पर भारी जेवर लादे जाते हैं उनकी कोमलता नष्ट होती है, स्वेद छिद्र बन्द होते और कुरूपता बढ़ती है। सोना-चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुएँ विदेशों में वस्तु-विनिमय की तथा राष्ट्रीय स्थिर समृद्धि की निमित्त

हो सकती हैं उन्हें शरीरों पर धारण किये फिरने में वैयक्तिक और राष्ट्रीय दृष्टि से हानि ही हानि है। फिर भी मोहवश नारी समाज में उनके प्रति आकर्षण बना ही हुआ है। बहुमूल्य और भड़कीले वस्त्र पहनने में जहाँ परिवार की अर्थव्यवस्था पर दबाव पड़ता है, बक्सों में निरर्थक संचय बढ़ता है वहाँ उसे पहनने वाले का बचकानापन भी स्पष्ट होता है। शालीनता का चिन्ह सादगी है। सादा जीवन उच्च विचार की उक्ति विचारशील वर्ग में एक स्वर से स्वीकार की गई है। सजधज का ओछापन किसी की गरिमा बढ़ाता नहीं वरन् घटाता ही है। नारी समाज को इस प्रकार विचार परिवर्तन के लिए तैयार होना चाहिए।

देश में भिक्षा व्यवसाय बुरी तरह पनप रहा है। साठ लाख से अधिक व्यक्ति व्यवसाय के रूप में धर्म के नाम पर आजीविका कमाते हैं। यह किसी स्वाभिमानी समाज के लिए लज्जा की बात है। दान पर गुजारा करने का दो प्रकार के व्यक्तियों को ही नैतिक अधिकार है। एक तो वे जो सर्वथा अपंग, असमर्थ हैं, दूसरे वे जो सुयोग्य होने के साथ-साथ निरन्तर समाज सेवा में संलग्न रहकर न्यूनतम जीवन निर्वाह समाज से लेते हैं। इस वर्ग के लोग साधु, ब्राह्मण कहलाते हैं और लोकहित के महान प्रयोजन में अहिर्निशि संलग्न रहने के कारण जनता से गुजारा प्राप्त कर लेते थे। इस स्तर के लोग अभी भी यदि कहीं हों तो उन्हें निर्वाह प्राप्त करने का अधिकार है। अपंगों में केवल वे ही भिक्षा स्वीकार करें, जो किसी भी अंग-अवयवों से उपार्जन कर सकने में असमर्थ हैं। एकाध अंग विकृत हो जाने पर भी मनुष्य अन्य अवयवों से जब तक उपार्जन कर सके तब तक उसे भिक्षा के लिए हाथ नहीं पसारना चाहिए। आज की स्थिति में समाजसेवियों का निर्वाह प्रामाणिक संस्थाएँ अपने जिम्मे लें, इसी प्रकार अपंग असमर्थों के निर्वाह की समस्या का समाधान सरकारी या गैरसरकारी संगठित तन्त्रों द्वारा किया जाय। हट्टे-कट्टे लोगों को जिस-तिस बहाने भिक्षा को व्यवसाय रूप से अपनाने की छूट नहीं होनी चाहिए। निठल्ले व्यक्ति अपने उपार्जन के लिए अनेक आडम्बर खड़े करते हैं। जनता का ढेरों धन बर्बाद करने के बाद उसकी आड़ में अपने लाभांश कमाते हैं। अन्ध-विश्वासों और उनका क्षेत्रीय भ्रान्तियों का प्रसार भी इन्हीं लोगों द्वारा होता है।

भिक्षा व्यवसाय प्रधानता नारी समाज की धर्मभीरुता के कारण ही पनपता है। महिलाएँ धर्मनिष्ठ तो रहें पर अपनी उदारता का दुरुपयोग न होने दें। यह विवेक हर नारी में उभरना चाहिए।

जिस समाज में हम लोग रहे हैं, उसमें विवाह विकृति एक महान् दुःखदायक और समाज को खोखला कर देने वाली विकृति है। इससे कोई, चाहे वह लड़की वाला हो अथवा लड़के वाला, प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। धनी हो या गरीब सभी इसके शिकार होते हैं। दहेज के कारण तो लड़की वाले को जो परेशानी होती है, उससे सभी परिचित हैं। पर लड़के वाले भी कर्ज में फँसते हैं और विवाह में गिरह से खर्च करते हैं। उसका कारण केवल प्रचलित विवाह विकृतियाँ हैं। शादी में बैंड-बाजा, मोटर, बिजली, जोकर, आतिशबाजी तथा अन्य दिखावे के सामान में पैसा होली की तरह फूँका जाता है। बेश-कीमती चढ़ावे के कपड़े और जेवर में दहेज के रुपये ही खर्च नहीं हो जाते, कई बार तो कर्ज तक लेना पड़ता है।

लड़के वाले लड़की वाले से दहेज तो लेते ही हैं ऊपर से दरवाजे का स्वागत, बारात का सत्कार और ठहरने का प्रबन्ध तथा बड़ी-बड़ी दावतें लेकर उसका कचूमर निकाल देते हैं। लड़की वाले का कचूमर निकलता है तो यह भी गुस्सा के मारे जोर देता है कि हम से इतने पैसे लिए हैं, इतना इन्तजाम चाह रहे हैं तो हमारे मण्डप की शोभा रहनी चाहिए और बहुत ही अच्छे कपड़े और जेवर आने चाहिए। बारात शानदार रहनी चाहिए।

दोनों ही अविवेकपूर्वक धन का अपव्यय करने में अपनी शान समझ लेते हैं और 'प्रेस्टेजइशू' इसे बना लेते हैं। परिणाम पर कभी विचार नहीं करते।

खर्चीली शादियाँ हमें गरीब और बेईमान बनाती हैं यह तथ्य दर्पण की तरह स्पष्ट है। इन कुरीतियों का अब अन्त होना चाहिए। विवाह पूर्ण सादगी के साथ एक सामान्य से पारिवारिक उत्सव के रूप में मितव्ययितापूर्वक किये जाने चाहिए। पिता जो दहेज दे वह कन्या की भविष्य निधि रूप में-स्त्री धन माना जाय और बैंक में निरकाल के लिए जमा कर दिया जाय। ससुराल वाले भी इस अवसर पर नववधू के प्रति अपनी सद्भावना प्रकट करें और इस भविष्य राशि में अपनी ओर से भी कुछ जमा करें। विवाह में खर्च के ऐसे ही आधार होने चाहिए। सामान्य भोजन, वस्त्र, उपहार, आदि प्रतीकात्मक हों उनका आर्थिक भार दोनों में से किसी भी पक्ष में नहीं पड़ना चाहिए । तभी विवाहोत्सव को हँसी-खुशी का अवसर बनाया जा सकता है। आज की बर्बादी तो हर हालत में रुकनी चाहिए। विवाह-विकृतियाँ और उस सन्दर्भ में प्रचलित मूढ़मान्यताओं को विचारशील महिलाएँ योजनाबद्ध ढंग से दूर कर सकती हैं।

मृतक भोज-श्रद्धा शब्द से श्राद्ध की भावना ली गई है। माता-पिता-बुजुर्गों या मृत आत्मा के प्रति हमारी श्रद्धा रहे और हम उस श्रद्धा का प्रदर्शन कर सकें, इससे श्राद्ध का प्रचलन हुआ। इसका उद्देश्य तो यह था कि हम पुरुषार्थपूर्वक अपनी आजीविका कमायेंगे। पिता की, पूर्वजों की सम्पत्ति को समाज के, लोकमंगल के कार्यों के लिए भी खर्च कर देना चाहिए। इससे मृतात्मा को शान्ति मिलेगी, प्रसन्नता होगी और खर्च करने वाले को सन्तोष और उदारता के कारण प्रसन्नता होती है।

आज के तो प्रचलन ही विचित्र है। मृतक के घर वालों के अभी आँसू भी नहीं सूखे हैं और इस बात का भोज देना पड़ता है कि उसका पिता या घर का व्यक्ति मर गया है। प्रसन्नता के उपलक्ष में भोज देना न्यायसंगत माना भी जा सकता है पर घर में व्यक्ति के मरने के पश्चात्

मृतक के सम्बन्धियों की ओर से देना और समाज के व्यक्तियों द्वारा खाया जाना, दोनों स्वरूप ही बड़े भद्दे और भौंड़े दिखलाई देते हैं।

बाल विवाह ऐसी कुरीति है जिसकी बलिवेदी पर अल्पवयस्क लड़के और लड़कियाँ अपने शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को चौपट कर लेते हैं। खोखली काया पर दुर्बलता और रुग्णता ही आजीवन छाई रहती है। उनकी सन्तानें अविकसित रहती हैं और अल्पायु में बेमौत मरती हैं। शरीर का विकास होने की अवधि से पूर्व ही जिनका जीवन रस नष्ट होने लगा वे किस प्रकार नीरोग और बलिष्ठ रह सकते हैं। पिछले दिनों गुड्डे-गुड़ियों के विवाह जैसा तमाशा देखने के लिए अभिभावक लालायित रहते थे और अबोध बालकों की शादी करने में प्रसन्नता अनुभव करते थे। अब स्थिति सुधरी है। समझदारी के बाल-विवाह की हानियों से परिचित कराया भी तो उतावली अभी दूर नहीं हुई है। विवाह के योग्य शारीरिक और मानसिक स्थिति २० वर्ष से पूर्व न लड़कियों की होती है और न लड़कों की। कच्ची आयु के विवाह मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव डालते हैं और उनके कारण शिक्षा प्रगति में भारी अवरोध उत्पन्न होता है।

नैतिक:-कमाने वाले पुरुषों से यह पता लगाते रहना चाहिए कि अनीति का या बेईमानी का धन तो घर में नहीं आता। ऐसा पैसा आसानी से मिल जाता है यह सही है, पर इसे भी सत्य ही मानकर चलना चाहिए कि ऐसी कमाई से कभी किसी का हित साधन नहीं हुआ है और न वह पैसा कहीं देर तक ठहरा ही है। महिलाओं में इतना साहस होना चाहिए कि पुरुषों को समझा सकें कि मिलावट, रिश्वत, कम तौल, कम नाप, असली बताकर नकली देना, अनुचित मुनाफा लेने, तस्करी, चोरबाजारी नीति अपनाने से जो धन मिलता है वह दुर्व्यसनों में-ठाठ-बाठ, शान-शौकत जैसे अपव्ययों में चला जाता है। तस्करी, चोरी, राजदण्ड, दवादारू, मुकदमा जैसी विपत्तियों में प्राय: ऐसी ही कमाई की बर्बादी होती है। ईमानदारी से कमाया पैसा भले ही थोड़ा हो, चाहे उसके सहारे कठिनाई से गुजारा होता हो तो भी यह निश्चित है कि उतने से भी परिवार फलते-फूलते और सुखी रहते हैं।

आवारागर्दी, ताश, शतरंज-चौपड़ गपशप जैसे प्रसंगों में समय और शक्ति नष्ट होती है। उपार्जन एवं अन्य व्यवसायों में लगने वाला श्रम इन्हीं बेकार बातों में नष्ट हो जाता है। जुआ खेलने में लाभ तो कभी-कभी ही किसी को होता है। अधिकतर हारने, गँवाने के ही अवसर आते हैं। जुआरियों में से कदाचित् ही कोई ही लाभ कमाने का दावा करता है, अधिकतर तो इस दुर्व्यसन में अपनी आर्थिक बर्बादी का ही रोना रोते पाये जाते हैं। बिना परिश्रम के पाया कमाया पैसा भी अनैतिक है। जिन घरों में ईमानदारी की परिश्रम की कमाई पर गुजारा चलता है वे ही फलते-फूलते और सुखी रहते हैं। हराम की, अनीति की कमाई उपार्जनकर्ता को और उसके परिवार को रोने-रुलाने के गर्त में धकेलकर ही विदा होती है। उसके सहारे सुख पाने या चिरस्थायी प्रगति की सम्भावना कभी बनती ही नहीं है।

विचारशील नारी का कर्तव्य है कि नशे के दुष्परिणामों को समझें और जिन्हें उनकी लत पड़ गई है उनसे छुड़ाने या घटाने का अनुरोध बराबर करती रहें। जिन्हें इसकी लत पड़ी है, उन्हें पूर्व चेतावनी देकर बचाने का प्रयत्न करें। समर्थन तो कभी भी नहीं करना चाहिए। कोई भयंकर विग्रह हो तो उसे टालने के लिए कुछ समय प्रतीक्षा करने की नीति अपनाई जा सकती है, पर उनके उस कार्य में सहयोग करने लगने पर सहमत नहीं होना चाहिए। कड़क बने रहने पर ही बुरी आदतों के छूटने की आशा की जा सकती है। नशे के असर से प्रिय परिजनों के प्राण बच सकें, इसके लिए विवेकवान् महिलाएँ सदा प्रयत्नशील रहती हैं। नशेबाजों की सन्तानें तामसिक स्वभाव और दुर्गुणों में ग्रसित होती हैं, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए परिवार के प्रत्येक शुभचिन्तक को इस असुर को घर से बहिष्कृत करने में तत्परता दिखानी चाहिए।

नशेबाजी की आदत एक से दूसरे को छूत की तरह लगती है। बड़ों को बीड़ी-सिगरेट पीते देखकर छोटे चुपके-चुपके उसका चस्का लेते हैं और फिर धीरे-धीरे उसके आदी हो जाते हैं। आगन्तुकों के स्वागत में भी नशे पेश किये जाते हैं और उन्हें लेने के लिए आग्रह किया जाता है। बीड़ी-सिगरेट से लेकर शराब तक के सस्ते-महँगे सभी नशे जब आदत में सम्मिलित हो जाते हैं तो छूटते नहीं। लाभ तो उनसे इतना ही है कि तलब की बेचैनी-पीने पर कुछ समय के लिए शान्त हो जाती है। शेष हानि ही हानि है। शरीर दिन-दिन सूखता जाता है और क्षय, कैन्सर, दमा, जिगर की खराबी, अनिद्रा, आँतों की सूजन जैसे रोग अड्डा जमा लेते हैं। अनाप-शनाप पैसा खर्च होता है। स्मरण शक्ति से लेकर दूरदर्शी विवेकशीलता तक सभी मस्तिष्कीय विशेषताएँ कुण्ठित होती चली जाती हैं। रक्त में विषैले तत्व बढ़ जाने से स्फूर्ति, उत्साह, श्रम शक्ति का भारी ह्रास होता है। आदतें अर्द्ध-विक्षिप्तों जैसी बन जाती हैं।

बौद्धिक:- इस सृष्टि का स्रष्टा और नियन्ता एक है। उसी के द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड का सूत्र संचालन होता है। एक ही व्यक्ति को विभिन्न प्रकार के काम करते समय विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। वही व्यक्ति पिता के लिए पुत्र, भाई के लिए भाई, सास के लिए जमाता, पत्नी के लिए पति, मालिक के लिए नौकर, दुकानदार के लिए ग्राहक, डाक्टर के लिए मरीज होता है। विभिन्न कार्य करते समय उनकी क्रिया और प्रकृति भी अलग-अलग प्रकार की होती है। स्नान करते समय, झाड़ू लगाते समय भजन करते समय, खेलते समय, प्रवचन करते समय उसके रंग-ढंग भिन्न होते हैं। ईश्वर की अनेक क्रिया-प्रक्रिया देखते हुए उसके नाम भी अनेक रखे गये हैं और रूप भी अलग-

अलग कल्पित किये गये हैं। इतने पर भी वह वस्तुतः एक ही है। इस सृष्टि व्यवस्था में अन्य किसी की साझेदारी नहीं है।

इस तथ्य को समझ लेने पर 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का श्रुतिवचन भली प्रकार समझ में आ जाता है। कितने ही देव नामों से उसे ही पुकारा जा सकता है। अलग-अलग देवी-देवताओं का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। फिर भी भ्रमवश अपने समाज में अगणित देवी-देवता गढ़ लिए गये हैं। यहाँ तक कि जाति, वंश, क्षेत्र आदि के अलग-अलग कुल देवता, क्षेत्र देवता कल्पित कर लिए गये हैं। सोचा जाता है कि इनकी पूजा करेंगे तो प्रसन्न रहेंगे अन्यथा उपेक्षा देखकर रुष्ट होंगे और हानि पहुँचावेंगे। कल्पना की गई है कि इन देवी-देवताओं पर और कोई काम नहीं है, अपने यजमानों की पूजा बटोरने, उसी पर अपना गुजारा करने और किसी को वरदान, किसी को अभिशाप देने में लगे रहते हैं। इस बेतुकी मान्यता से तो उन कल्पित देवताओं का भी स्तर गिरता ही है। विशेषतया जब पशुबलि जैसे नृशंस उपहारों की आकांक्षा करते और बदले में उचित-अनुचित मनोकामनाओं की पूर्ति करते उन्हें बताया जाता है तब देवता तो कहना क्या, नैतिक मनुष्य मानना भी कठिन हो जाता है।

बहुदेववाद और पूजा के आधार पर मनोकामना पूर्ति की मान्यता धर्म और अध्यात्म के मूलभूत सिद्धान्तों से तनिक भी मेल नहीं खाती। फिर भी वह व्यापक अन्ध-विश्वास के रूप में प्रचलित है और उसके अधार पर ढेरों समय, श्रम, धन की बर्बादी होती रहती है। निहित स्वार्थ के लोग इन देवताओं के बहाने भोली-भाली जनता को लूटते खाते रहते हैं।

जिस प्रकार ईश्वर एक है, उसी प्रकार धर्म और अध्यात्म भी एक है। भारतीय धर्म का आदि रूप विश्व धर्म एवं मानव धर्म के रूप में ही था। पीछे निहित स्वार्थों ने अपनी-अपनी दुकानें अलग खोलीं। अनेकानेक सम्प्रदाय रचकर खड़े कर दिये। अपने हिन्दू धर्म में ही कितने मत-मतान्तर हैं। कितनी पूजा-उपासना विधियाँ हैं। इससे एकता में भारी बाधा उत्पन्न होती है। अनादिकाल की तरह यदि एक ही गायत्री मन्त्र उपासना में और एक ही यज्ञ विधान कर्मकाण्ड में प्रयुक्त होता तो एकता का कितना सुन्दर वातावरण बना रहता। तब फूट और बिखराव का आज जैसा हानिकारक विभेद क्या प्रस्तुत होता ?

विचारशील नारी को बहुदेववाद और मत-मतान्तरों के बिखराव से बचकर भारतीय धर्म-संस्कृति की एकता-एकरूपता का समर्थन करना चाहिए। बिखराव और प्रथकतावादी प्रवृत्तियों से बचा जा सके तो ही हम अपने देश, धर्म, समाज और संस्कृति की बलिष्ठता, तेजस्विता बनाये रह सकेंगे।

देवी-देवताओं के छुटभैये भूत-पलीत हैं। पिछड़े वर्ग में उनका डर भी बेतरह छाया रहता है। श्मशानों में, खण्डहरों में, पुराने पेड़ों पर उनके निवास की कल्पना की जाती है और सामान्य-सी अस्वस्थता हो जाने पर उन्हीं के प्रकोप की आशंका की जाती है । शारीरिक रोगों की तरह अपने लोगों में मानसिक रोगों की-नाड़ी संस्थान एवं स्नायु संस्थान के रोगों की भी कमी नहीं। उनके उभार सामान्यक्रम में अस्त-व्यस्तता उत्पन्न करते हैं। इसे आमतौर से भूत उपद्रव मान लिया जाता है। सामाजिक परिस्थिति, ससुराल का आतंक, पितृगृह का विद्रोह, परिस्थितियों के साथ ठीक तरह तालमेल न बैठना, मासिक धर्म की खराबी जैसे अनेक कारण कई तरह के मानसिक विक्षेप उत्पन्न करते हैं। उनके कारण, निवारण का बुद्धिसंगत उपाय ढूँढने के स्थान पर उसे भूत प्रकोप की संज्ञा दे दी जाती है और सयाने-दिवानों के ऐसे विचित्र उपचार प्रारम्भ कर दिये जाते हैं जिनसे भूत मान्यता और भी अधिक बल पकड़ लेती है। न केवल रोगी वरन् वह परिवार भी इसी भ्रान्ति को सुदृढ़ मान्यता के रूप में अपना लेता है तो समस्या और भी जटिल हो जाती है।

ग्रह-नक्षत्रों की गति गणना एक विधान है। उसका उपयोग भी है और औचित्य भी। किन्तु करोड़ मील दूर सर्वथा निर्जीव ग्रह-उपग्रह किसी व्यक्ति विशेष को कोई लाभ-हानि पहुँचाते हैं यह मान्यता गलत है। वे किस प्रकार, किसलिए, किसी व्यक्ति की सामान्य गतिविधियों में हस्तक्षेप करेंगे इसका कोई कारण नहीं है। फिर भी लोग अपने भविष्य और लाभ-हानि की बात इन जन्म कुण्डलियों के आधार पर सोचते हैं। ज्योतिषियों द्वारा बताये भविष्य कथन प्रायः अटकलों के आधार पर होते हैं, उनमें से बहुत कम बातों का तीर-तुक्का बैठता है शेष तो गलत ही निकलती हैं। ऐसी दशा में कुण्डली देखकर बताई गई बातों पर विश्वास करके लोग अपनी स्वतन्त्र बुद्धि को कुण्ठित करते हैं और निरर्थक भ्रान्तियों को अपनाकर ऐसे कदम उठा बैठते हैं जिनके लिए पीछे पश्चाताप ही करना पड़े। हमें इन ज्योतिषियों, हाथ देखने वाले, सयाने-दिवाने, ओझा-बाबाओं, जादूगर-बाजीगरों के कुचक्र में न फँसने की सतर्कता बरतनी चाहिए।

विवाह-शादियों के सन्दर्भ में तो यह कुण्डली मिलान और भी अधिक अभिशाप सिद्ध होता है। अनेक सुयोग्य सम्बन्ध इसलिए रद्द होते रहते हैं कि जन्म-कुण्डली नहीं मिलती। हिन्दू समाज के तीन-चौथाई लोग कुण्डली नहीं बनवाते और न उसका प्रयोग शादी-सम्बन्ध मिलाने में करते हैं। जो लोग बहुत मीन-मेख निकालते हैं उनके शोध सम्बन्ध भी दुःखद परिणामों से भरे रहते हैं। बेचारे ग्रहों को किसी के विवाहों को सफल-असफल बनाने में क्या दिलचस्पी हो सकती है, इस पर विचारशील व्यक्ति विवेक-बुद्धि के सहारे स्वयं निर्णय ले सकता है।

इस प्रकार की भ्रान्तियों का समर्थन और आग्रह प्रायः पिछड़े नारी वर्ग में अधिक पाया जाता है। इन्हें अपनाये रहने से लाभ किसी का कुछ नहीं हानि बहुत है। बात-बात में मुहूर्त देखने से समय पर उपयुक्त काम नहीं हो

पाते। यात्रा मुहूर्त न बनने के कारण समय पर जाना न हो सका तो अवसर चूकने के कारण भारी हानि उठानी पड़ती है। विवाह-शादियों के मुहूर्त न निकलने की भ्रान्ति में सुविधा का समय छोड़ना पड़ता है और असुविधा के दिनों में भारी झंझट उठाते हुए वह कार्य पूरे करने पड़ते हैं। एक ही दिन अनेक विवाह होने से वस्तु प्राप्त करने और व्यक्तियों को समय देने में कितनी असुविधा होती है वह किसी से छिपी नहीं है।

नजर-गुजर, टोना-टोटका की भ्रान्तियाँ अकारण मित्रों को शत्रु बनाती हैं। व्यर्थ ही निर्दोषों पर दोषारोपण का अवसर उत्पन्न करती हैं। बच्चा किसी कारणवश अस्वस्थ हुआ। चिकित्सा कराने के स्थान पर ऐसा सोचा जाता है कल अमुक महिला उसे गोदी में खिला रही थी या प्यार कर रही थी उसी की नजर लग गई या किसी ने टोना-टोटका कर दिया। ऐसा दोषारोपण किसी के ऊपर भी अकारण मढ़ने से द्वेष-दुर्भाव उत्पन्न करने की दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटनाएँ आये दिन उत्पन्न होती रहती हैं।

किसी वस्तु या व्यक्ति के घर में आने से शुभ या अशुभ होने की बात सोचना भी मूढ़मान्यता का ही एक अंग है। नया जानवर खरीदा या नई बहू आई, उन्हीं आने के दिनों में कोई लाभ-हानि हुई तो उसे ही उसका कारण मानकर श्रेय या द्वेष दिया जाने लगता है। नई बहू घर आई। उन्हीं दिनों कोई हानि हो गई तो कहा जाता है कि यह अभागी आई है। घर में आते ही यह अनिष्ट कर दिया। इसी प्रकार अनायास कोई लाभ हो जाने पर उसका श्रेय भी अकारण किसी पर थोप दिया जाता है। यह दोनों ही आरोपण सर्वथा असत्य हैं।

किसी के छींक देने, बिल्ली के रास्ता काट देने, कुत्तों के कान फड़फड़ा देने, छिपकली शरीर पर गिरने, कौआ मुँडेर पर बैठने, आँख फड़कने जैसी महत्वहीन बातों को अशुभ शकुनों में सम्मिलित कर लेने और उनके बुरे परिणामों की बात सोचने से निरर्थक आशंकाएँ मन में उठती हैं और चित्त को बेचैनी बढ़ती है। इस प्रकार के अपढ़ मनुष्य का मनोबल गिराने, चिन्ता बढ़ाने और सामान्य क्रिया-कलाप में अड़चन उत्पन्न करते हैं। स्वप्नों में से कदाचित् ही कोई सार्थक होता है। आये दिन के सपने तो ऐसे ही मनमौजी होते हैं। उनके अर्थ निकालने लगने पर बहुत करके अशुभ आशंकाओं की ही व्याख्या होने लगती है। फलतः कोई कारण न होने पर भी मन आशंका ग्रसित रहने लगता है, जिससे हर तरह अपनी ही हानि होती है।

भारतीय समाज में पिछड़ापन, मूढ़-मान्यताओं, अन्ध-विश्वासों एवं कुरीतियों के रूप में घुसा पड़ा है। विवेकशीलता और दूरदर्शिता के अभाव में भ्रान्तियाँ मस्तिष्क पर छा जाती हैं और निरर्थक सोचने तथा अनुचित करने के लिए प्रेरणा देती है। स्पष्ट है कि इस बौद्धिक पिछड़ेपन से पग-पग पर हानि ही हानि है। जो चिन्तन, श्रम एवं धन उपयोगी कार्यों में लगने पर लाभदायक सत्परिणाम उपस्थित करता, वह इन अनुपयुक्त विकृतियों में उलझा रहने पर पग-पग पर अड़चनें एवं विपत्तियाँ उत्पन्न करता है।

जीवन विकास के लिए अनेक उपयोगी कार्य करने की आवश्यकता होती है। उसके लिए शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक क्षमताएँ नियोजित करनी पड़ती हैं। यदि उन्हें अवांछनीय चिन्तन एवं अनुपयुक्त क्रिया-कलापों में बर्बाद करते रहा जाय, तो प्रगति का मूल्य चुकाने योग्य साधन बचेंगे ही कहाँ ? अस्तु, मान्यताओं का नये सिरे से पर्यवेक्षण करने की आवश्यकता है। विवेक की कसौटी पर हमें अपनी सभी मान्यताओं, परम्पराओं, आदतों, रुचियों और आकांक्षाओं पर नये सिरे से दृष्टि डालनी चाहिए। उनमें से जो औचित्य की कसौटी पर खरी उतरें उन्हें शिरोधार्य करना चाहिए । साथ ही यह साहस भी सँजोना चाहिए कि जो अनुपयुक्त हो उसे कूड़े-करकट की तरह बुहार कर फेंक दें। जो माना जाता रहा है, जो देखा है, जो होता रहा है, उसी का अनुकरण करने का दुराग्रह अनुचित है। जो विवेकयुक्त, तर्कसंगत उचित एवं दूरदर्शितापूर्ण है वही हमें ग्राह्य होना चाहिए। उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में सृजनात्मक प्रयास करने की अनिवार्य रूप से आवश्यकता पड़ेगी। इसके लिए भ्रान्तियों और विकृतियों में नष्ट होने वाली शक्ति को बचाने के लिए तत्परता बरतनी पड़ेगी, तभी सामर्थ्य का सदुपयोग सम्भव होगा और उसके सहारे नवयुग का आधार खड़ा किया जा सकेगा। नारी को पिछड़ेपन से अधिक जूझना है, इसलिए उसे परिवर्तन के लिए अग्रिम पंक्ति में खड़ा होना चाहिए।

सर्वतोमुखी सृजन के साथ जुड़ा हुआ प्रचण्ड महाभारत

यहाँ विचार क्रान्ति के सन्दर्भ में हमें यह जान लेना चाहिए कि-व्यक्ति की दृष्टि, आस्था और आकांक्षाओं का स्तर निकृष्ट हो जाने से ही उसका चिन्तन और कर्तृत्व विकृत हुआ। दुर्भावनाएँ और दुष्प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुईं। फलतः हर क्षेत्र में अवांछनीयता उमड़ पड़ी। यही वह कारण है जिसने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में असंख्य समस्याएँ और उलझनें उत्पन्न कर दी हैं। व्यक्तिगत गतिविधियाँ पतनोन्मुख होंगी तो समाज की संगठन शक्ति सुव्यवस्था, समर्थता और समृद्धि लड़खड़ाती ही चली जाएगी। इन दिनों यही हुआ है। हमें हर समस्या का ऊहापोह करने की आवश्यकता नहीं। इस एक ही गुत्थी को सुलझा लेने से और सब गाँठें खुल जाएँगी अन्यथा मूल कारण जहाँ का तहाँ बने रहने पर सुधार या विकास के उपाय कारगर न हो सकेंगे।

बुद्धि भ्रम ने हमें संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति में, सुख-सुविधा खोजने का अभ्यस्त कर दिया है। उच्छृंखलता,

अलग कल्पित किये गये हैं। इतने पर भी यह वस्तुतः एक ही है। इस सृष्टि व्यवस्था में अन्य किसी की साझेदारी नहीं है।

इस तथ्य को समझ लेने पर 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का श्रुतिवचन भली प्रकार समझ में आ जाता है। कितने ही देव नामों से उसे ही पुकारा जा सकता है। अलग-अलग देवी-देवताओं का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। फिर भी भ्रमवश अपने समाज में अगणित देवी-देवता गढ़ लिए गये हैं। यहाँ तक कि जाति, वंश, क्षेत्र आदि के अलग-अलग कुल देवता, क्षेत्र देवता कल्पित कर लिए गये हैं। सोचा जाता है कि इनकी पूजा करेंगे तो प्रसन्न रहेंगे अन्यथा उपेक्षा देखकर रुष्ट होंगे और हानि पहुँचावेंगे। कल्पना की गई है कि इन देवी-देवताओं पर और कोई काम नहीं है, अपने यजमानों की पूजा बटोरने, उसी पर अपना गुजारा करने और किसी को वरदान, किसी को अभिशाप देने में लगे रहते हैं। इस बेतुकी. मान्यता से तो उन कल्पित देवताओं का भी स्तर गिरता ही है। विशेषतया जब पशुबलि जैसे नृशंस उपहारों की आकांक्षा करते और बदले में उचित-अनुचित मनोकामनाओं की पूर्ति करते उन्हें बताया जाता है तब देवता तो कहना क्या, नैतिक मनुष्य मानना भी कठिन हो जाता है।

बहुदेववाद और पूजा के आधार पर मनोकामना पूर्ति की मान्यता धर्म और अध्यात्म के मूलभूत सिद्धान्तों से तनिक भी मेल नहीं खाती। फिर भी यह व्यापक अन्ध-विश्वास के रूप में प्रचलित है और उसके आधार पर ढेरों समय, श्रम, धन की बर्बादी होती रहती है। निहित स्वार्थ के लोग इन देवताओं के बहाने भोली-भाली जनता को लूटते खाते रहते हैं।

जिस प्रकार ईश्वर एक है, उसी प्रकार धर्म और अध्यात्म भी एक है। भारतीय धर्म का आदि रूप विश्व धर्म एवं मानव धर्म के रूप में ही था। पीछे निहित स्वार्थों ने अपनी-अपनी दुकानें अलग खोलीं। अनेकानेक सम्प्रदाय रचकर खड़े कर दिये। अपने हिन्दू धर्म में ही कितने मत-मतान्तर हैं। कितनी पूजा-उपासना विधियाँ हैं। इससे एकता में भारी बाधा उत्पन्न होती है। अनादिकाल की तरह यदि एक ही गायत्री मन्त्र उपासना में और एक ही यज्ञ विधान कर्मकाण्ड में प्रयुक्त होता तो एकता का कितना सुन्दर वातावरण बना रहता। तब फूट और बिखराव का आज जैसा हानिकारक विभेद क्या प्रस्तुत होता ?

विचारशील नारी को बहुदेववाद और मत-मतान्तरों के बिखराव से बचकर भारतीय धर्म-संस्कृति की एकता-एकरूपता का समर्थन करना चाहिए। बिखराव और प्रथकतावादी प्रवृत्तियों से बचा जा सके तो ही हम अपने देश, धर्म, समाज और संस्कृति की बलिष्ठता, तेजस्विता बनाये रह सकेंगे।

देवी-देवताओं के छुटभैये भूत-पलीत हैं। पिछड़े वर्ग में उनका डर भी बेतरह छाया रहता है। श्मशानों में, खण्डहरों में, पुराने पेड़ों पर उनके निवास की कल्पना की जाती है और सामान्य-सी अस्वस्थता हो जाने पर उन्हीं के प्रकोप की आशंका की जाती है । शारीरिक रोगों की तरह अपने लोगों में मानसिक रोगों को-नाड़ी संस्थान एवं स्नायु संस्थान के रोगों की भी कमी नहीं। उनके उभार सामान्यक्रम में अस्त-व्यस्तता उत्पन्न करते हैं। इसे आमतौर से भूत उपद्रव मान लिया जाता है। सामाजिक परिस्थिति, ससुराल का आतंक, पितृगृह का विद्रोह, परिस्थितियों के साथ ठीक तरह तालमेल न बैठना, मासिक धर्म की खराबी जैसे अनेक कारण कई तरह के मानसिक विद्रोह उत्पन्न करते हैं। उनके कारण, निवारण का बुद्धिसंगत उपाय ढूँढ़ने के स्थान पर उसे भूत प्रकोप की संज्ञा दे दी जाती है और सयाने-दिवानों के ऐसे विचित्र उपचार प्रारम्भ कर दिये जाते हैं जिनसे भूत मान्यता और भी अधिक बल पकड़ लेती है। न केवल रोगी वरन् वह परिवार भी इसी भ्रान्ति को सुदृढ़ मान्यता के रूप में अपना लेता है तो समस्या और भी जटिल हो जाती है।

ग्रह-नक्षत्रों की गति गणना एक विधान है। उसका उपयोग भी है और औचित्य भी। किन्तु करोड़ मील दूर सर्वथा निर्जीव ग्रह-उपग्रह किसी व्यक्ति विशेष को कोई लाभ-हानि पहुँचाते हैं यह मान्यता गलत है। वे किस प्रकार, किसलिए, किसी व्यक्ति की सामान्य गतिविधियों में हस्तक्षेप करेंगे इसका कोई कारण नहीं है। फिर भी लोग अपने भविष्य और लाभ-हानि की बात इन जन्म कुण्डलियों के आधार पर सोचते हैं। ज्योतिषियों द्वारा बताये भविष्य कथन प्रायः अटकलों के आधार पर होते हैं, उनमें से बहुत कम बातों का तीर-तुक्का बैठता है शेष तो गलत ही निकलती हैं। ऐसी दशा में कुण्डली देखकर बताई गई बातों पर विश्वास करके लोग अपनी स्वतन्त्र बुद्धि को कुण्ठित करते हैं और निरर्थक भ्रान्तियों को अपनाकर ऐसे कदम उठा बैठते हैं जिनके लिए पीछे पश्चाताप ही करना पड़े। हमें इन ज्योतिषियों, हाथ देखने वाले, सयाने-दिवाने, ओझा-बाबाओं, जादूगर-बाजीगरों के कुचक्र में न फँसने की सतर्कता बरतनी चाहिए।

विवाह-शादियों के सन्दर्भ में तो यह कुण्डली मिलान और भी अधिक अभिशाप सिद्ध होता है। अनेक सुयोग्य सम्बन्ध इसलिए रद्द होते रहते हैं कि जन्म-कुण्डली नहीं मिलती। हिन्दू समाज के तीन-चौथाई लोग कुण्डली नहीं बनवाते और न उसका प्रयोग शादी-सम्बन्ध मिलाने में करते हैं। जो लोग बहुत मीन-मेख निकालते हैं उनके शोध सम्बन्ध भी दुःखद परिणामों से भरे रहते हैं। बेचारे ग्रहों की किसी के विवाहों को सफल-असफल बनाने में क्या दिलचस्पी हो सकती है, इस पर विचारशील व्यक्ति विवेक-बुद्धि के सहारे स्वयं निर्णय ले सकता है।

इस प्रकार की भ्रान्तियों का समर्थन और आग्रह प्रायः पिछड़े नारी वर्ग में अधिक पाया जाता है। इन्हें अपनाये रहने से लाभ किसी का कुछ नहीं हानि बहुत है। बात-बात में मुहूर्त देखने से समय पर उपयुक्त काम नहीं हो

पाते। यात्रा मुहूर्त न बनने के कारण समय पर जाना न हो सका तो अवसर चूकने के कारण भारी हानि उठानी पड़ती है। विवाह-शादियों के मुहूर्त न निकलने की भ्रान्ति में सुविधा का समय छोड़ना पड़ता है और असुविधा के दिनों में भारी झंझट उठाते हुए यह कार्य पूरे करने पड़ते हैं। एक ही दिन अनेक विवाह होने से वस्तु प्राप्त करने और व्यक्तियों को समय देने में कितनी असुविधा होती है यह किसी से छिपी नहीं है।

नजर-गुजर, टोना-टोटका की भ्रान्तियाँ अकारण मित्रों को शत्रु बनाती हैं। व्यर्थ ही निर्दोषों पर दोषारोपण का अवसर उत्पन्न करती हैं। बच्चा किसी कारणवश अस्वस्थ हुआ। चिकित्सा कराने के स्थान पर ऐसा सोचा जाता है कल अमुक महिला उसे गोदी में खिला रही थी या प्यार कर रही थी उसी की नजर लग गई या किसी ने टोना-टोटका कर दिया। ऐसा दोषारोपण किसी के ऊपर भी अकारण मढ़ने से द्वेष-दुर्भाव उत्पन्न करने की दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटनाएँ आये दिन उत्पन्न होती रहती हैं।

किसी वस्तु या व्यक्ति के घर में आने से शुभ या अशुभ होने की बात सोचना भी मूढ़मान्यता का ही एक अंग है। नया जानवर खरीदा या नई बहू आई, उन्हीं आने के दिनों में कोई लाभ-हानि हुई तो उसे ही उसका कारण मानकर श्रेय या द्वेष दिया जाने लगता है। नई बहू घर आई। उन्हीं दिनों कोई हानि हो गई तो कहा जाता है कि यह अभागी आई है। घर में आते ही यह अनिष्ट कर दिया। इसी प्रकार अनायास कोई लाभ हो जाने पर उसका श्रेय भी अकारण किसी पर थोप दिया जाता है। यह दोनों ही आरोपण सर्वथा असत्य हैं।

किसी के छींक देने, बिल्ली के रास्ता काट देने, कुत्तों के कान फड़फड़ा देने, छिपकली शरीर पर गिरने, कौआ मुंडेर पर बैठने, आँख फड़कने जैसी महत्वहीन बातों को अशुभ शकुनों में सम्मिलित कर लेने और उनके बुरे परिणामों की बात सोचने से निरर्थक आशंकाएँ मन में उठती हैं और चित्त को बेचैनी बढ़ती है। इस प्रकार के अपढ़ मनुष्य का मनोबल गिराने, चिन्ता बढ़ाने और सामान्य क्रिया-कलाप में अड़चन उत्पन्न करते हैं। स्वप्नों में से कदाचित् ही कोई सार्थक होता है। आये दिन के सपने तो ऐसे ही मनमौजी होते हैं। उनके अर्थ निकालने लगने पर बहुत करके अशुभ आशंकाओं की ही व्याख्या होने लगती है। फलतः कोई कारण न होने पर भी मन आशंका ग्रसित रहने लगता है, जिससे हर तरह अपनी ही हानि होती है।

भारतीय समाज में पिछड़ापन, मूढ़-मान्यताओं, अन्ध-विश्वासों एवं कुरीतियों के रूप में घुसा पड़ा है। विवेकशीलता और दूरदर्शिता के अभाव में भ्रान्तियाँ मस्तिष्क पर छा जाती हैं और निरर्थक सोचने तथा अनुचित करने के लिए प्रेरणा देती है। स्पष्ट है कि इस बौद्धिक पिछड़ेपन से पग-पग पर हानि ही हानि है। जो चिन्तन, श्रम एवं धन उपयोगी कार्यों में लगने पर लाभदायक सत्परिणाम उपस्थित करता, वह इन अनुपयुक्त विकृतियों में उलझा रहने पर पग-पग पर अड़चनें एवं विपत्तियाँ उत्पन्न करता है।

जीवन विकास के लिए अनेक उपयोगी कार्य करने की आवश्यकता होती है। उसके लिए शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक क्षमताएँ नियोजित करनी पड़ती हैं। यदि उन्हें अवांछनीय चिन्तन एवं अनुपयुक्त क्रिया-कलापों मे बर्बाद करते रहा जाय, तो प्रगति का मूल्य चुकाने योग्य साधन बचेंगे ही कहाँ ? अस्तु, मान्यताओं का नये सिरे से पर्यवेक्षण करने की आवश्यकता है। विवेक की कसौटी पर हमें अपनी सभी मान्यताओं, परम्पराओं, आदतों, रुचियों और आकांक्षाओं पर नये सिरे से दृष्टि डालनी चाहिए। उनमें से जो औचित्य की कसौटी पर खरी उतरें उन्हें शिरोधार्य करना चाहिए । साथ ही यह साहस भी सँजोना चाहिए कि जो अनुपयुक्त हो उसे कूड़े-करकट की तरह बुहार कर फेंक दें। जो माना जाता रहा है, जो देखा है, जो होता रहा है, उसी का अनुकरण करने का दुराग्रह अनुचित है। जो विवेकयुक्त, तर्कसंगत उचित एवं दूरदर्शितापूर्ण है वही हमें ग्राह्य होना चाहिए। उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में सृजनात्मक प्रयास करने की अनिवार्य रूप से आवश्यकता पड़ेगी। इसके लिए भ्रान्तियों और विकृतियों में नष्ट होने वाली शक्ति को बचाने के लिए तत्परता बरतनी पड़ेगी, तभी सामर्थ्य का सदुपयोग सम्भव होगा और उसके सहारे नवयुग का आधार खड़ा किया जा सकेगा। नारी को पिछड़ेपन से अधिक जूझना है, इसलिए उसे परिवर्तन के लिए अग्रिम पंक्ति में खड़ा होना चाहिए।

सर्वतोमुखी सृजन के साथ जुड़ा हुआ प्रचण्ड महाभारत

यहाँ विचार क्रान्ति के सन्दर्भ में हमें यह जान लेना चाहिए कि-व्यक्ति की दृष्टि, आस्था और आकांक्षाओं का स्तर निकृष्ट हो जाने से ही उसका चिन्तन और कर्तृत्व विकृत हुआ। दुर्भावनाएँ और दुष्प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुईं। फलतः हर क्षेत्र में अवांछनीयता उमड़ पड़ी। यही वह कारण है जिसने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में असंख्य समस्याएँ और उलझनें उत्पन्न कर दी हैं। व्यक्तिगत गतिविधियाँ पतनोन्मुख होंगी तो समाज की संगठन शक्ति सुव्यवस्था, समर्थता और समृद्धि लड़खड़ाती ही चली जाएगी। इन दिनों यही हुआ है। हमें हर समस्या का ऊहापोह करने की आवश्यकता नहीं। इस एक ही गुत्थी को सुलझा लेने से और सब गाँठें खुल जाएँगी अन्यथा मूल कारण जहाँ का तहाँ बने रहने पर सुधार या विकास के उपाय कारगर न हो सकेंगे।

बुद्धि भ्रम ने हमें संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति में, सुख-सुविधा खोजने का अभ्यस्त कर दिया है। उच्छृंखलता,

भी जाय और विरोध करने में भी पीछे न रहा जाय। कानून से, व्यक्तिगत अथवा सामूहिक प्रतिरोध से अवांछनीय तत्वों का रास्ता बन्द किया जाय । भले ही इससे अपने को झंझट या कष्ट सहना पड़े।

एक व्यक्ति के साथ किया गया अन्याय, सारे समाज के प्रति किया गया अन्याय मानना चाहिए। दूसरों को सताया जाते देखकर व्यक्ति के मन में वैसे भाव उभरने चाहिए जैसे उसे स्वयं सताया जाता तब उभरते। हम मुसीबत में होते हैं तो यही चाहते हैं कि दूसरे लोग सहायता करने आवें, दूसरों को इस स्थिति में पड़ा देखकर भी हमारे मन में वैसे ही भाव उमड़ने चाहिए और अनाचार से लड़ने के लिए हर व्यक्ति को आक्रोश एवं शौर्य-साहस का प्रदर्शन करना चाहिए। ऐसा वातावरण बनाने में योगदान देना चाहिए जिनमें वैसी अनीति बरतना सम्भव न रह जाय। हर दुष्ट-दुरात्मा को हर ओर से निन्दा-भर्त्सना, असहयोग एवं विरोध, प्रतिरोध का सामना करना पड़े, ऐसे ही प्रयास आज की बहुमुखी दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन कर सकते हैं।

युग निर्माण परिवार के हर सदस्य को युग परिवर्तन की प्रक्रिया को एक धर्म युद्ध मानकर चलने के लिए कहा गया है। पाप और अनाचार से, दुष्टता और असुरता से लड़ना इस आपत्तिकाल में हर प्रबुद्ध एवं भावनाशील व्यक्ति के लिए अनिवार्य हो गया है। अज्ञान असुर से प्रचारात्मक मोर्चे पर, अभाव दैत्य से रचनात्मक मोर्चे पर और अनाचार दानव से संघर्ष मोर्चे पर लड़ा जाएगा तभी हर मस्तिष्क पर अधिकार किए हुए आज के हिरण्याक्ष लोभी दृष्टिकोण का अन्त किया जा सकेगा।

नवयुग के अवतरण में लगे हुए युग निर्माण परिवार के परिजनों को सृजन सेना के सैनिक कहा जाता है। धर्म युद्ध के तीनों मोर्चों पर उनको लड़ने के लिए कटिबद्ध रहना होता है और जो इस स्थिति में है, उसे उसी परिस्थिति में जितना सम्भव हो करना होता है। अपनी सृजन सेना की अन्य लोगों द्वारा निहित स्वार्थों एवं संकीर्ण उद्देश्यों के लिए खड़े किये दलों से तुलना नहीं की जा सकती। हम सर्वतोमुखी सृजन के हर मोर्चे पर लड़ने वाले सैनिक हैं और उस महान प्रयोजन के लिए उतना ही बड़ा त्याग-बलिदान प्रस्तुत करने की तैयारी कर रहे हैं, जितना कि शत्रु के आक्रमण से देश को बचाने के लिए सुरक्षा मोर्चे पर लड़ने वाले सशस्त्र सैनिक दिखाते हैं।

युग परिवर्तन के प्राचीन इतिहास के साथ एक महायुद्ध जुड़ा हुआ है। इस बार भी उनकी पुनरावृत्ति होगी। पर यह पूर्वकालीन शस्त्र युद्धों से भिन्न होगा, यह क्षेत्रीय नहीं व्यापक होगा। इसमें विचारों के अस्त्र प्रयुक्त होंगे और घर-घर में इसका मोर्चा खुला रहेगा। भाई-भाई से, मित्र-मित्र से और स्वजन-स्वजन से लड़ेगा। अपनी दुर्बलताओं से हर किसी को स्वयं लड़ना पड़ेगा। परिवार को सुधारने के लिए मन्त्रणाएँ, आग्रह यहाँ तक कि भूख हड़ताल, मौन धारण, असहयोग आदि का सहारा लेकर उन्हें सन्मार्ग अपनाने के लिए विवश करना होगा। समाज में फैली हुई दुष्प्रवृत्तियों से असहयोग, निरोध, संघर्ष के तीनों उपाय काम में लाने पड़ेंगे और समयानुसार अहिंसा से लेकर हिंसा तक आधार ग्रहण करने पड़ेंगे। इस प्रकार नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रान्ति के साथ जुड़ा हुआ एक अति प्रचण्ड एवं अति व्यापक किन्तु अनोखा महाभारत लड़ा जाएगा । इसकी व्यूह रचना अनोखे ढंग से की गई है जो समयानुसार सामने आती रहेगी।

उलटे को उलट कर सीधा करें

सुविधा-साधनों की दृष्टि से हम पूर्वजों की तुलना में कहीं आगे हैं। विज्ञान और बुद्धिवाद की संयुक्त प्रगति ने अनेकानेक साधन ऐसे प्रस्तुत किये हैं जिनकी सहायता से अपेक्षाकृत अधिक सुखी जीवन जी सकते हैं। पूर्वजों को शिक्षा, चिकित्सा, परिवहन, संचार, यातायात, बिजली, तार डाक, जहाज आदि अनेक ऐसे सुविधा-साधन उपलब्ध नहीं थे जैसे आज हैं। उन उपलब्धियों के आधार पर हमें अधिक सुखी होना चाहिए था, पर देखते हैं कि स्थिति और भी गई-गुजरी हो गई है। चिकित्सा और पौष्टिक खाद्यों की सुविधा वाले भी दिन-दिन दुर्बल और रुग्ण बनते जाते हैं। उच्च शिक्षित व्यक्ति भी सन्तुलन और विवेक से रहित चिन्तन करते और विक्षुब्ध रहते देखे जाते हैं। गरीबों का उठाईगीरी करना समझ में आ सकता है, पर जो सम्पन्न हैं वे क्यों अन्याय, अपहरण की नीति अपनाते हैं यह समझ सकना कठिन है।

जीवन का रस धीरे-धीरे घटता जा रहा है लगता है सर्वत्र निरर्थक जैसा ही कुछ भरा पड़ा है। बाहर से कई लोग अपने बड़प्पन की डींगें भी हाँकते देखे जाते हैं पर भीतर के क्षेत्र में उत्साहरहित एवं भारभूत अवसाद छाया दिखता है। प्राय: लोग उदास रहते और अपने को असहाय अनुभव करते देखे जाते हैं, दीनता और निराशा से ग्रसित, खीजते-झल्लाते लोगों का ही बाहुल्य है। हँसते-हँसाते, खिलते-खिलाते तो बहुत कम ही पाये जाते हैं। एकाकीपन की असहाय मन:स्थिति में ऐसा ही प्रतीत होता रहता है कि "कोई हमारा नहीं-हम किसी के नहीं।"

शिष्टाचार और आडम्बर तो बढ़ा है पर आत्मीयता और शालीनता की जड़ें खोखली होती जा रही हैं। चिन्तन और चरित्र के अवमूल्यन ने व्यक्ति और समाज के सामने असंख्य समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। उपलब्ध क्षमताओं का एवं साधनों के एक बड़े भाग का उपयोग आक्रमण करने तथा उससे बचने की योजना पर ही खर्च होता रहता है। रचनात्मक कार्यों में लग सकने वाले साधन समस्याओं के कारण उत्पन्न उद्विग्नता में ही खप जाते हैं, फिर भी कोई समाधान दीखता नहीं। एक उलझन सुलझने नहीं पाती कि दूसरी नई उठकर खड़ी हो जाती है। लोग चिन्तित, खिन्न एवं असंतुष्ट ही दीखते हैं। उन्हें अपने चारों ओर अशुभ सम्भावनाओं की ही आशंकाएँ काली घटाओं की तरह

२.७ सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?

असंयम, अहन्ता का प्रदर्शन, सम्पदाओं का संचय, विवेक का विसर्जन यही सब कारण हैं, जिनमें उलझकर मनुष्य ने अपना स्वरूप विस्मृत कर दिया और असुरता को अपना बैठा। कुत्साएँ और कुण्ठाएँ उसे साक्षात नारकीय स्थिति में डाले हुए हैं। युग निर्माण योजना का प्रारम्भिक प्रयास चिन्तन की अवांछनीयता के निवारण से आरम्भ होता है। बौद्धिक क्रान्ति का प्रयोजन यही है। इस भावनात्मक नव-निर्माण के प्रयास को हम लोग 'ज्ञान यज्ञ' कहते हैं ।

नैतिकता के लिए हमें जनसाधारण का रचनात्मक पथ प्रदर्शन करना होगा। प्रचार पृष्ठभूमि तैयार करना ही, सृजनात्मक प्रक्रिया का बीजारोपण है। एक दूसरे को उपदेश करता रहे तो काम नहीं चल सकता। सृजन जीवन का एक आवश्यक अंग है, उसे दैनिक नित्य कर्मों में सम्मिलित रखा जाना चाहिए। यह तथ्य जब तक जनसाधारण के मस्तिष्क के साथ ही अभ्यास में भी न उतरेगा तब तक उद्देश्य की पूर्ति न हो सकेगी। एक को देखकर दूसरे को उत्साह आता है। रचनात्मक प्रवृत्तियों को कार्यान्वित करने करने से राष्ट्र निर्माण की सम्भावनाएँ मूर्तिमान होती हैं। व्यक्ति और समाज की प्रगति का यही तरीका है। जिनमें थोड़ा अधिक उत्साह उत्पन्न हो चुका है, जिनकी भावनाओं में उभार आया है उन्हें एक घण्टा समय बीस पैसा जन-जागरण में लगाते रहने तक सीमित नहीं रखा जाता, वरन् कुछ अतिरिक्त सेवा कार्य करने के लिए नियोजित किया जाता है। कर्मठ कार्यकर्ता-प्रायः चार घण्टा समय नित्य और महीने में एक दिन की आमदनी उन प्रयोजनों में लगाते हैं। इस प्रकार पुस्तकालय, विद्यालय, गृह उद्योग, शिक्षा, सफाई, व्यायामशाला, पदयात्रा, वृक्षारोपण, सामूहिक श्रमदान, शिक्षण शिविर जैसे शतसूत्री योजना में वर्णित विविधि कार्यों में जुट जाते हैं। तदनुसार हर व्यक्ति के मन में यह उल्लास उत्पन्न होता है कि अपनी योग्यता और स्थिति के अनुरूप नवनिर्माण के लिए उसे भी कुछ न कुछ करना चाहिए। मिलजुल कर यह उल्लास क्रम इस प्रकार बढ़ता ही जाता है और जहाँ सामूहिकता, सेवा-भावना जैसी चर्चा भी नहीं थी, वहाँ अभिनव सृजनात्मक कार्यों में परस्पर प्रतिस्पर्धा लगी हुई दीखती है।

सामाजिक क्रान्ति को एक संघर्षात्मक प्रक्रिया द्वारा ही पूरा किया जा सकेगा। अवांछनीयता की दाढ़ में जब खून लग जाता है तब वह अपने निहित स्वार्थों को सहज ही छोड़ने के लिए तैयार नहीं होती। पशु प्रलोभन से आकर्षित होता है और दण्ड से डरता है। समझाने से हृदय बदलने के लिए जिसे तैयार नहीं किया जा सकता ऐसी पशुता भी कम नहीं है। उसे दण्ड और विरोध से ही नियन्त्रित रखा जा सकता है और निरस्त किया जा सकता है। कहा गया है कि धर्म की स्थापना के साथ-साथ धर्म के उन्मूलन को भी समान महत्त्व देना होगा। बगीचे की सिंचाई के साथ-साथ माली को गुड़ाई, निराई और छटाई भी करनी पड़ती है। माता बच्चों को प्यार करने के साथ चपत लगाने से भी नहीं चूकती।

व्यक्तियों में गुण, कर्म, स्वभाव की अगणित दुष्प्रवृत्तियाँ घुस पड़ी हैं। दृष्टिकोण में निकृष्टता के अनगिनत तत्त्वों ने जड़ जमा ली है। जीवन-क्रम घोर विकृतियों से भर गया है। कुत्साओं और कुण्ठाओं ने मनुष्य को पशु स्तर पर ला खड़ा किया है। अपराधी प्रवृत्ति बेहिसाब फल-फूल रही है। सामाजिक परम्पराओं में मूढ़मान्यताओं और अन्धविश्वासों की भरमार है। शोषण और उत्पीड़न नये-नये आवरण पहनकर आता है और भलाई की आड़ में बुराई के विष बीज बिखेरता है। 'मुख में राम बगल में छुरी' वाली उक्ति आज पग-पग पर चरितार्थ हो रही है। राजनैतिक क्षेत्रों में कथनी और करनी में कोई साम्य नहीं दिखता। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो हो रहा है, उससे मनुष्य जाति का भविष्य अन्धकार में गिरता ही दीखता है। विज्ञान और अज्ञान की जोड़ी मनुष्य जाति को सामूहिक आत्महत्या करने के लिए विवश करने में लगी हुई है। इन परिस्थितियों में विचारों को बदलने, दृष्टिकोण में उत्कृष्टता का समावेश और भावनात्मक नव-निर्माण का प्रयोजन पूरा करने के लिए प्रशिक्षण के साथ-साथ उन्मूलन की गतिविधियों में भी प्रखरता लानी पड़ेगी।

व्यक्तिगत दोष-दुर्गुणों में क्रोध, आलस्य, अनियमितता, असंयम, अपव्यय, नशेबाजी, अभक्ष्य भक्षण, चटोरापन, कृपणता, स्वार्थपरायणता, व्यसन, मद्यपान आदि हैं। सामाजिक दोषों में बेईमानी, शेखीखोरी, रिश्वत, चोरी, जुआ, उत्पीड़न, हराम की कमाई, व्यभिचार, उच्छृंखलता, छल जैसे दुष्कर्मों की गणना की जा सकती है। कुरीति, अन्धपरम्परा, मूढ़मान्यताएँ ऐसी हैं जिन्हें सामाजिक ही नहीं बौद्धिक विकृति भी कह सकते हैं। उनके उन्मूलन के लिए बहुत किया जाता है। स्वार्थी राजनेता, गुण्डे, अपराधी, असामाजिक तत्त्व, रिश्वतखोर अफसर, धर्म व्यवसायी, छली, प्रपंची, जमाखोर मुनाफाखोर व्यवसायी, कुरीतियों के पोषक, कला और साहित्य से अनाचार उभारने वाले कलाकार, मुफ्तखोर, हरामखोर, तस्करी आदि कुकर्म पोषक वर्ग इन दिनों बढ़ता ही चला जा रहा है। इसका प्रतिरोध न किया जा सका तो उनकी दुष्टता अनुनय-विनय मात्र से रुकने वाली नहीं है। जब तक इन वर्गों को यह विदित न हो जाय कि दुष्प्रवृत्तियों को अपनाये रहने से लाभ-हानि अधिक है तब तक वे सहज मानने वाले नहीं हैं ।

इसके लिए अनाचारी तत्त्वों के प्रति समाज में घृणा, असहयोग, विरोध, प्रतिरोध एवं संघर्ष की वृत्ति उत्पन्न करनी होगी। इन दिनों कुकर्मी लोगों को व्यवहारकुशल, भाग्यवान माना जाता है और जिन्हें उनका उत्पीड़न सहना पड़ा, उसके अतिरिक्त अन्य लोग न उनकी निन्दा करते हैं, न विरोध। कई बार तो उन सफलताओं और उपलब्धियों की प्रशंसा तक की जाती है जो स्पष्टतः अनीति से उपार्जित की गई थीं। दुष्प्रवृत्तियों के रोकने का कारगर उपाय यह है कि उनके विरुद्ध घोर घृणा उभरे। न कोई उसकी प्रशंसा करे, न सहयोग दे। उनसे साहसपूर्वक भिड़ा

भी जाय और विरोध करने में भी पीछे न रहा जाय। कानून से, व्यक्तिगत अथवा सामूहिक प्रतिरोध से अवांछनीय तत्वों का रास्ता बन्द किया जाय । भले ही इससे अपने को झंझट या कष्ट सहना पड़े।

एक व्यक्ति के साथ किया गया अन्याय, सारे समाज के प्रति किया गया अन्याय मानना चाहिए। दूसरों को सताया जाते देखकर व्यक्ति के मन में वैसे भाव उभरने चाहिए जैसे उसे स्वयं सताया जाता तब उभरते। हम मुसीबत में होते हैं तो यही चाहते हैं कि दूसरे लोग सहायता करने आवें, दूसरों को इस स्थिति में पड़ा देखकर भी हमारे मन में वैसे ही भाव उमड़ने चाहिए और अनाचार से लड़ने के लिए हर व्यक्ति को आक्रोश एवं शौर्य-साहस का प्रदर्शन करना चाहिए। ऐसा वातावरण बनाने में योगदान देना चाहिए जिनमें वैसी अनीति बरतना सम्भव न रह जाय। हर दुष्ट-दुरात्मा को हर ओर से निन्दा-भर्त्सना, असहयोग एवं विरोध, प्रतिरोध का सामना करना पड़े, ऐसे ही प्रयास आज की बहुमुखी दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन कर सकते हैं।

युग निर्माण परिवार के हर सदस्य को युग परिवर्तन की प्रक्रिया को एक धर्म युद्ध मानकर चलने के लिए कहा गया है। पाप और अनाचार से, दुष्टता और असुरता से लड़ना इस आपत्तिकाल में हर प्रबुद्ध एवं भावनाशील व्यक्ति के लिए अनिवार्य हो गया है। अज्ञान असुर से प्रचारात्मक मोर्चे पर, अभाव दैत्य से रचनात्मक मोर्चे पर और अनाचार दानव से संघर्ष मोर्चे पर लड़ा जाएगा तभी हर मस्तिष्क पर अधिकार किए हुए आज के हिरण्याक्ष लोभी दृष्टिकोण का अन्त किया जा सकेगा।

नवयुग के अवतरण में लगे हुए युग निर्माण परिवार के परिजनों को सृजन सेना के सैनिक कहा जाता है। धर्म युद्ध के तीनों मोर्चों पर उनको लड़ने के लिए कटिबद्ध रहना होता है और जो इस स्थिति में है, उसे उसी परिस्थिति में जितना सम्भव हो करना होता है। अपनी सृजन सेना की अन्य लोगों द्वारा निहित स्वार्थों एवं संकीर्ण उद्देश्यों के लिए खड़े किये दलों से तुलना नहीं की जा सकती। हम सर्वतोमुखी सृजन के हर मोर्चे पर लड़ने वाले सैनिक हैं और उस महान प्रयोजन के लिए उतना ही बड़ा त्याग-बलिदान प्रस्तुत करने की तैयारी कर रहे हैं, जितना कि शत्रु के आक्रमण से देश को बचाने के लिए सुरक्षा मोर्चे पर लड़ने वाले सशस्त्र सैनिक दिखाते हैं।

युग परिवर्तन के प्राचीन इतिहास के साथ एक महायुद्ध जुड़ा हुआ है। इस बार भी उनकी पुनरावृत्ति होगी। पर यह पूर्वकालीन शस्त्र युद्धों से भिन्न होगा, यह क्षेत्रीय नहीं व्यापक होगा। इसमें विचारों के अस्त्र प्रयुक्त होंगे और घर-घर में इसका मोर्चा खुला रहेगा। भाई-भाई से, मित्र-मित्र से और स्वजन-स्वजन से लड़ेगा। अपनी दुर्बलताओं से हर किसी को स्वयं लड़ना पड़ेगा। परिवार को सुधारने के लिए मन्त्रणाएँ, आग्रह यहाँ तक कि भूख हड़ताल, मौन धारण, असहयोग आदि का सहारा लेकर उन्हें सन्मार्ग अपनाने के लिए विवश करना होगा। समाज में फैली हुई दुष्प्रवृत्तियों से असहयोग, निरोध, संघर्ष के तीनों उपाय काम में लाने पड़ेंगे और समयानुसार अहिंसा से लेकर हिंसा तक आधार ग्रहण करने पड़ेंगे। इस प्रकार नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रान्ति के साथ जुड़ा हुआ एक अति प्रचण्ड एवं अति व्यापक किन्तु अनोखा महाभारत लड़ा जाएगा । इसकी व्यूह रचना अनोखे ढंग से की गई है जो समयानुसार सामने आती रहेगी।

उलटे को उलट कर सीधा करें

सुविधा-साधनों की दृष्टि से हम पूर्वजों की तुलना में कहीं आगे हैं। विज्ञान और बुद्धिवाद की संयुक्त प्रगति ने अनेकानेक साधन ऐसे प्रस्तुत किये हैं जिनकी सहायता से अपेक्षाकृत अधिक सुखी जीवन जी सकते हैं। पूर्वजों को शिक्षा, चिकित्सा, परिवहन, संचार, यातायात, बिजली, तार डाक, जहाज आदि अनेक ऐसे सुविधा-साधन उपलब्ध नहीं थे जैसे आज हैं। इन उपलब्धियों के आधार पर हमें अधिक सुखी होना चाहिए था, पर देखते हैं कि स्थिति और भी गई-गुजरी हो गई है। चिकित्सा और पौष्टिक खाद्यों की सुविधा वाले भी दिन-दिन दुर्बल और रुग्ण बनते जाते हैं। उच्च शिक्षित व्यक्ति भी सन्तुलन और विवेक से रहित चिन्तन करते और विक्षुब्ध रहते देखे जाते हैं। गरीबों का उठाईगीरी करना समझ में आ सकता है, पर जो सम्पन्न हैं वे क्यों अन्याय, अपहरण की नीति अपनाते हैं यह समझ सकना कठिन है।

जीवन का रस धीरे-धीरे घटता जा रहा है लगता है सर्वत्र निरर्थक जैसा ही कुछ भरा पड़ा है। बाहर से कई लोग अपने बड़प्पन की डींगें भी हाँकते देखे जाते हैं पर भीतर के क्षेत्र में उत्साहरहित एवं भारभूत अवसाद छाया दिखता है। प्रायः लोग उदास रहते और अपने को असहाय अनुभव करते देखे जाते हैं, दीनता और निराशा से ग्रसित, खीजते-झल्लाते लोगों का ही बाहुल्य है। हँसते-हँसाते, खिलते-खिलाते तो बहुत कम ही पाये जाते हैं। एकाकीपन की असहाय मनःस्थिति में ऐसा ही प्रतीत होता रहता है कि "कोई हमारा नहीं-हम किसी के नहीं। "

शिष्टाचार और आडम्बर तो बढ़ा है पर आत्मीयता और शालीनता की जड़ें खोखली होती जा रही हैं। चिन्तन और चरित्र के अवमूल्यन ने व्यक्ति और समाज के सामने असंख्य समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। उपलब्ध क्षमताओं का एवं साधनों के एक बड़े भाग का उपयोग आक्रमण करने तथा उससे बचने की योजना पर ही खर्च होता रहता है। रचनात्मक कार्यों में लग सकने वाले साधन समस्याओं के कारण उत्पन्न उद्विग्नता में ही खप जाते हैं, फिर भी कोई समाधान दीखता नहीं। एक उलझन सुलझने नहीं पाती कि दूसरी नई उठकर खडी हो जाती है। लोग चिन्तित, खिन्न एवं असंतुष्ट ही दीखते हैं। उन्हें अपने चारों ओर अशुभ सम्भावनाओं की ही आशंकाएँ काली घटाओं की तरह

घिरी हुई प्रतीत होती हैं। आत्मीयता और सद्भावना के तत्व बुरी तरह घट गये हैं। मैत्री के नाम पर फुसलाने और स्वार्थ सिद्ध करने की प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई है कि मैत्री के लिए एक हाथ बढ़ाते समय दूसरा विश्वासघात की आशंका से काँपने लगता है। आदमी अपनी ही दृष्टि में घिनौना बनता जा रहा है तो फिर दूसरों से श्रद्धा, सम्मान, सद्भाव एवं सहयोग की अपेक्षा कैसे की जाय ?

एक ओर सुविधा-साधनों की अभिवृद्धि, दूसरी ओर व्यक्तिगत जीवन में सर्वभक्षी अवसाद। इन विसंगतियो का कारण ढूँढ़ने पर पता चलता है कि दृष्टिकोण में बढ़ती हुई संकीर्ण स्वार्थपरता ही इन विपत्तियों की जड़ है। अनियन्त्रित वासना, तृष्णा और अहंता की ललकें जितनी ही तृप्त की जाती हैं, आग में घी पड़ने की तरह वे उतनी ही और भड़कती हैं। इनकी उग्रता, औचित्य और विवेक को तूफान की तरह उठाकर फेंक देती है। अपराधों की यह पृष्ठभूमि है। आतुर स्वार्थान्धता दूसरों का दुःख-दर्द समझने की कोमलता को समाप्त करा देती है और ऐसे कुकर्म करने के लिए विवश करती है जिन्हें चोरी, ठगी, हत्या, बेईमानी, बदमाशी आदि नामों से पुकारा जाता है।

दृष्टिकोण की विकृति, व्यवहार से उतरकर दुश्चरित्रता के रूप में प्रकट होती है। समाज में उसी की परिणति अनेकानेक भ्रष्टताओं, अवांछनीयताओं, दुष्प्रवृत्तियों का रूप धारण करती है। फलतः परस्पर विद्रोह का, शोषण-उत्पीड़न का कुचक्र चल पड़ता है। आक्रमण-प्रत्याक्रमण का, प्रतिशोध के घात-प्रतिघात की क्रिया-प्रक्रिया का दौर चलता है और विनाशकारी, आत्मघाती दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। दुर्बुद्धि का कुचक्र व्यक्ति और समाज को सर्वनाश के गर्त में गिराने के लिए बलपूर्वक घसीटे लिए जा रहा है। विश्व भर में आशंका और आतंक का वातावरण छाया हुआ है। अणु स्रोतों की अभिवृद्धि, अनियन्त्रित प्रजनन और अविश्वास का वातावरण एक दूसरे को गिराने के दाँव-घात इन सबकी प्रतिक्रिया विनाशकारी ही हो सकती है। लगता है दुनिया सामूहिक आत्महत्या करने की दिशा में बढ़ती जा रही है। जिन्दगी इतनी भारी होती जा रही है कि उसकी लाश ढोने में मनुष्य अपने आपको बेतरह थका हुआ अनुभव करता है। नींद की गोलियाँ और नशेबाजी की लत इसी तनाव से बचने के लिए प्रयुक्त होती हैं। उनकी अंधाधुन्ध बाढ़ आने पर भी राहत मिल नहीं रही है।

यह तो नहीं कहा जा सकता है कि मात्र अवांछनीयता ही सर्वत्र भरी पड़ी है, सज्जनता की परम्पराओं का अन्त हो गया; पर व्यापक परिस्थितियों पर दृष्टिपात करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि नीति-मर्यादा तेजी से घट रही है और अवांछनीयता का आधिपत्य बेतरह बढ़ रहा है। यही क्रम चलता रहा तो क्रमशः विपत्तियाँ बढ़ती जाएँगी। चरण रुके नहीं तो विनाश के ऐसे दलदल में जा फँसेंगे, जिसमें से लौटना कठिन हो जावेगा।

. . .

हम जैसा सोचते हैं वैसा करते हैं। क्रिया-कलाप के फलस्वरूप ही परिस्थितियों का निर्माण होता है। चेचक की फुन्सियों पर कहाँ तक पट्टियाँ बाँधी जाएँ ? काम तो रक्तशोधन से चलता है। हर कुम्हलाए पत्ते पर छिड़काव कैसे बन पड़ेगा ? उपचार तो जड़ में पानी देने से बन पड़ेगा। मच्छरों को क्यों कर पकड़ें और मारें ? बात तो गन्दगी साफ करने से बनेगी। विषम परिस्थितियों के मूल में काम करने वाली विकृत मनःस्थिति को ही सुधार पड़ेगा अन्यथा एक समस्या का उपचार होने से पूर्व ही न दस समस्याएँ और उठ खड़ी होंगी। कहते हैं कि रावण का एक सिर कटता था तो नया सिर उपज आता था। रक्तबीज राक्षस को मारने पर उसके रक्त के धरती पर पड़ते ही नया राक्षस पैदा होता था। अन्ततः रामचन्द्रजी को रावण की नाभि में भरा अमृत घट बेधना पड़ा था। हमें भी युग समस्याओं का आत्यन्तिक समाधान ढूँढ़ने के लिए उनकी जड़ तक जाना पड़ेगा और उसी स्रोत को बन्द करना पड़ेगा-जहाँ से यह विषधारा फूटती है और उसी क्षेत्र को विषाक्त करती है। आज की समस्याओं का हल एक ही है कि लोकमानस में जड़ जमाये हुई निकृष्ट स्वार्थपरता को निरस्त करके चरित्रनिष्ठा की उच्चस्तरीय आस्थाओं की जड़ें गहराई तक जमाई जाएँ।

समाजनिष्ठा भी चरित्रनिष्ठा का ही एक पक्ष है। व्यक्तिगत चिन्तन दृष्टिकोण की, गुण, कर्म, स्वभाव की चर्चा-विवेचना करते समय जो उत्कृष्टता चरित्रनिष्ठा कही जाती है उसी को दूसरों के साथ व्यवहार में आने पर समाजनिष्ठा का नाम दिया जाता है।

भ्रष्ट परम्पराएँ दुष्ट लोगों के दुस्साहस के कारण ही चल पड़ी हैं। शक्ति दुष्टता में नहीं सक्रियता और तत्परता में होती है। उसे दुष्टता के लिए प्रयुक्त किया और वातावरण बिगाड़ कर रख दिया। अब सज्जनता की बारी है। वह उठे, शालीनता के सम्वर्द्धन में अपने प्रयास को और भी अधिक प्रबल करे। संकल्प और प्रयत्न की सीमित शक्ति में वातावरण बनाने की प्रचण्ड सामर्थ्य मौजूद है। दुष्टता को वह सम्बल मिला तो वह विनाशकारी विभीषिकाओं का रूप धारण कर सकने में सफल हुई। सज्जनता को इस प्रतिस्पर्धा में पीछे नहीं रहना चाहिए। अन्धकार से जूझने और प्रकाश का विस्तार करने की दुहरी भूमिका निभानी चाहिए।

आज की परिस्थितियो का स्वरूप और तदनुसार कल की सम्भावनाओं का जो चित्र सामने है, उससे कोई सन्तुष्ट नहीं। सभी इसमें परिवर्तन चाहते हैं। अभावों के स्थान पर सम्पन्नता, अनिश्चितता के स्थान पर स्थिरता, आशंकाओं के स्थान पर आश्वासन अभीष्ट है। आये दिन की समस्याओं और विपत्तियों से घिरे रहने में किसी को प्रसन्नता नहीं। द्वेष का स्थान प्रेम को मिले, एक दूसरे को काटने के स्थान पर सहयोगपूर्वक आगे बढ़ायें तो कैसा अच्छा हो। प्रकृति की सम्पदाओं का सभी मिलजुलकर उपभोग करें, बाँटकर खायें तो सभी को चैन से निर्वाह

करने का अवसर मिले। साधन और भी अधिक बढ़ें यह अच्छी बात है पर जो हैं उनका सदुपयोग हो। यदि एक दूसरे की जड़ ही कट जाय और स्नेह-सहयोग के आधार उभरें। सुरक्षा के लिए जितना चिन्तित रहना पड़ता है, उसके लिए जितना प्रयत्न और प्रबन्ध करना पड़ता है उसकी कुछ भी आवश्यकता न रहे। ऐसे सुन्दर वातावरण की कल्पना करने भर से आँखें चमकने लगती हैं। सतयुग के, राम-राज का जब वर्णन पढ़ते हैं तो मन मचलता है और उत्कण्ठा उठती है कि ऐसे ही समय में जीवनयापन कर सकने का अवसर हमें भी मिल सका होता तो कितना आनन्द होता।

नव-निर्माण के लिए क्या करें ? कैसे करें ?

वर्तमान की अवांछनीयताओं से निपटने और भविष्य को उज्वल बनाने के दोनों ही उद्देश्य विचार क्रान्ति अभियान से सफल होंगे। लाल मशाल ने इसी का प्रकाश फैलाने, वातावरण बनाने और भ्रान्तियों की लंका को जलाने में हनुमान की जलती पूँछ बनने का निश्चय किया है।

अगले दिनों जनमानस में न्याय, विवेक, औचित्य एवं आदर्श की समन्वित दूरदर्शिता जाग्रत करनी है। इसके लिए तीन प्रकार के क्रिया-कलाप अपनाने की आवश्यकता पड़ेगी-(१) प्रचारात्मक, (२) रचनात्मक, (३) सुधारात्मक। तीनों के समन्वित प्रयत्न से ही अभीष्ट उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव हो सकेगी। इन्हें ही क्रमशः बौद्धिक क्रान्ति, नैतिक क्रान्ति एवं सामाजिक क्रान्ति के नाम से संबोधित किया गया है।

१. प्रचारात्मक अर्थात बौद्धिक क्रान्ति की रूपरेखा-

प्रचारात्मक उपाय वे होंगे जिनसे लोगों की विकृत भावनाओं से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों को समझने का अवसर मिले। इन दिनों एक भ्रान्ति बहुत गहराई तक जनमानस में जड़ जमाकर बैठ गई है कि-"व्यक्तिवादी स्वार्थपरता अपनाने में ही लाभ है। समूह हित की बात सोचने पर अपने को घाटा पड़ेगा। ऊँचे सिद्धान्त कहने सुनने भर के लिए हैं, उन्हें जीवन-क्रम में उतारना न तो व्यावहारिक है और न लाभदायक। व्यक्तिगत लाभ में निरत रहकर अधिक सुखी बना जा सकता है। समूह सुख की दिशा में बढ़ने से तो अपने आनन्द और वैभव में कमी पड़ने लगेगी।" बाहर से कोई कुछ भी कहता है अन्तरंग में यही आस्थाएँ जड़ जमाये बैठी रहती हैं। फलतः आदर्शवादी कल्पनाएँ तो कई व्यक्ति करते रहते हैं। वैसा कुछ कहते-सुनते भी रहते हैं, पर करने का साहस जुटा नहीं पाते। क्योंकि अन्तरंग की आस्थाएँ इस संदर्भ में अत्यन्त शिथिल होती हैं। स्वार्थ को ही जब आन्तरिक मान्यता मिली हुई है तो परमार्थ के लिए प्रवाह को उलट कर चलने वाला साहस कैसे उत्पन्न हो ? यही है वह कठिनाई जिसे मनोवैज्ञानिक, भावनात्मक, दार्शनिक अथवा जो भी नाम दिया जाय, प्रगति के पथ की सबसे बड़ी बाधा बनकर बैठी है।

युग प्रवाह बदलने जैसे परिवर्तनों के लिए ऐसे प्रखर लोकशिक्षण की आवश्यकता पड़ेगी जो आस्थाओं के मर्मस्थल तक पहुँचकर वहाँ अभीष्ट उथल-पुथल उत्पन्न कर सके। घिसी-पिटी सिद्धांतवादी चर्चा को तोतारटन्त की तरह दुहराते रहना व्यर्थ है। तर्क और तथ्यों को आधार मानकर हमें युग चिन्तन इस स्तर का देना होगा जो आज की विकृत आस्थाओं को उखाड़ फेंक सके और उसके स्थान पर उत्कृष्टता के लाभों को मान्यता दिला सके। यह कठिन नहीं सरल है। क्योंकि वास्तविकता यही है। यदि लोकशिक्षण की ऐसी पैनी व्यवस्था बन सके तो युग परिवर्तन का तीन-चौथाई उद्देश्य पूरा हुआ समझा जा सकता है। इस प्रशिक्षण से न केवल बुद्धि को वरन् भाव संवेदनाओं को हिला देने की शक्ति भी होनी चाहिए। आस्थाएँ, भावनाएँ एवं आकांक्षाएँ तीनों सहोदर सहेलियाँ हैं। जो इन तीनों को प्रभावित कर सके-समझना चाहिए उसी प्रशिक्षण से व्यक्ति और समाज का परिवर्तन सम्भव हो सकेगा और उसी के प्रभाव से युग परिवर्तन का आधार खड़ा होगा। युग मनीषियों का कर्तव्य है कि वे ऐसे लोक-शिक्षण की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करें, जो समय की विकृतियों से जूझते हुए लोकमानस को उत्कृष्टता की दिशा में घसीट ले चलने में पूरी तरह समर्थ हो।

इस प्रस्तुतीकरण को, युग संदेश को घर-घर में जन-जन तक पहुँचाने की आवश्यकता होगी। विशालकाय प्रचार तन्त्र इसी के लिए खड़ा करना होगा। इस तन्त्र के तीन आधार हो सकते हैं-(१) साहित्य, (२) कला, (३) धर्ममंच। इन तीनों की ही अपनी-अपनी शक्ति और मर्यादा है। तीनों के संयुक्त प्रयास से ही युग प्रवाह को उलट सकने वाली युगान्तरीय चेतना का आविर्भाव होगा। तीनों को ही समन्वित रूप से साथ लेकर जनमानस को दिशा देने के लिए अग्रसर होने की आवश्यकता पड़ेगी।

२. रचनात्मक अर्थात् नैतिक क्रान्ति

दूसरा उपाय है ऐसे रचनात्मक लोकसेवी प्रयासों का प्रचलन, जिसमें सर्वसाधारण को लगाने के लिए प्रोत्साहित करके सेवाधर्म में निरत होने का अभ्यास कराया जाय। पतनोन्मुख प्रवृत्तियाँ तो अनुरूप विचार देने मात्र से भड़क उठती हैं पर उत्कृष्टता की दिशा में कुसंस्कारी मन को घसीट ले जाना सरल नहीं है। ऐसे प्रसंगों में उसकी टालमटोल, उपेक्षा, बहानेबाजी देखते ही बनती है। पानी नीचे की ओर आसानी से बहने लगता है पर ऊँचा चढ़ाने के लिए शक्ति भी लगानी पड़ती है और बुद्धि भी। समर्थ प्रशिक्षण में सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही पक्ष जुड़े रहते हैं। प्रचारात्मक उपायों से जानकारी दी जा सकती है।

अधिक से अधिक सहमत होने की बात बनती है। पर मुख्य प्रश्न तो आदत बदलने का है। आदतें क्रिया से सम्बन्धित हैं। किसी कार्य को बार-बार करने का अभ्यास ही उसे आदत रूप में बदलता है। स्वभाव का अंग बन जाने पर ही स्थिरता आती है अन्यथा आज का जमाया गया आदर्शवाद कल ऐसे ही हवा में उड़ सकता है। स्कूली पढ़ाई से लेकर संगीत, कला, सेना परेड, जप-ध्यान तक में अमुक क्रियाओं को दुहराते रहने, स्वभाव का अंग बनाने की आवश्यकता समझी जाती है। क्रिया, क्रिया से अभ्यास, अभ्यास से स्वभाव संस्कार यही है चेतना को प्रशिक्षित एवं प्रवीण करने की पद्धति। परिष्कृत लोकचेतना का स्वप्न साकार करने के लिए प्रचार तन्त्र तो खड़ा करना ही होगा, उसके बिना तो गाड़ी आगे बढ़ेगी ही नहीं, पर साथ ही इतना और समझ लेना चाहिए कि उसको अभ्यास में उतारने के लिए ऐसे प्रचलनों का-रचनात्मक कार्यों का, ढाँचा खड़ा करना पड़ेगा, जिसमें लोगों को जुटाकर स्वभाव-संस्कार बनाने का अभ्यास कराया जा सके। प्रवृत्ति को मोड़ने की बात इससे कम में नहीं बन सकेगी।

युग परिवर्तन का वातावरण बनाने एवं आधार खड़ा करने के लिए अनेक रचनात्मक कार्य हो सकते हैं और उन सबके अपने-अपने ढंग के सत्परिणाम हो सकते हैं। सीमा बन्धन करते हुए हम पाँच रचनात्मक कार्यक्रम हाथ में लेकर चलते हैं। इनका व्यक्ति और समाज के नवनिर्माण पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडने की बात हर किसी की समझ में आ सकने योग्य है। इनसे प्रगति की सामयिक, भौतिक आवश्यकताएँ भी पूरी होती हैं और साथ ही उन प्रयासों में प्रवृत्त लोगों के स्वभाव में सुसंस्कारी तत्वों के प्रवेश कराने का उद्देश्य भी सधता है। जो उनमें लगेंगे वे अपना व्यक्तित्व परिष्कृत करने एवं आत्मसन्तोष पाने का लाभ लेंगे। दूसरे दर्शकों को भी इन हलचलों से अनायास ही दिशा-बोध होगा। सोचने का अवसर मिलेगा और वैसा कुछ करने के लिए मन मचलेगा। इस प्रकार इन रचनात्मक प्रवृत्तियों को अपनाकर हम कई प्रकार के अति महत्वपूर्ण प्रयोजनों को पूरा कर सकते हैं।

युग निर्माण योजना द्वारा प्रस्तुत रचनात्मक कार्यों में जिन पाँच को प्रमुखता और प्राथमिकता दी गई है वे हैं-(१) शिक्षा प्रसार, (२) कुटीर उद्योगों का विस्तार, (३) सहकारिता प्रचलन, (४) जीवन साधना, (५) हरीतिमा सम्बर्द्धन। पाँचों की अपनी उपयोगिता है। योग्यता, स्थिति एवं अभिरुचि के अनुरूप प्रायः हर स्तर का व्यक्ति अपने लिए इनमें से कोई न कोई कार्य चुन सकता है। इसमें उसे आत्मपरिष्कार और लोकनिर्माण के उभयपक्षीय सत्प्रयोजनों को सम्पन्न करने का श्रेय लाभ मिलेगा।

३. सुधारात्मक अर्थात् सामाजिक कुरीतिः-

अवांछनीयताएँ व्यक्ति के स्वभाव और समाज के व्यवहार में गहराई तक घुसकर बैठ गई हैं। अभ्यास में उतरते-उतरते आदत बन गई हैं और स्वाभाविक ही नहीं प्रिय भी लगती हैं। अभ्यस्त होने के कारण एक प्रकार से मस्तिष्क के पक्ष, समर्थन तक का उत्साह रहता है। जो प्रिय है उसका पक्षपात करने के लिए असंख्य प्रकार के ऐसे तर्क और कारण गढ़ लिए जाते हैं जिनमें न यथार्थता होती है और न औचित्य। भ्रान्तियों की दृष्टि से अगणित मूढ़मान्यताओं, अन्धविश्वासों ने मस्तिष्कों पर बेतरह कब्जा कर लिया है। अवांछनीयताओं में समाज विरोधी उच्छृंखलताओं की भरमार है। अवरोधों की श्रेणी में गिने जाने योग्य कार्य आये दिन होते रहते हैं। अनैतिकताओं में ही दुष्प्रवृत्तियाँ आती हैं जो व्यक्ति के निजी स्तर को अपनी और दूसरों की आँखों में गिराती हैं तथा पिछडी परिस्थितियों में खड़े रहने के लिए विवश करती हैं। वैयक्तिक अनैतिकताएँ-सामाजिक अवांछनीयताएँ और इस अनगढ़पने की निशानी मूढ़-मान्यताएँ इन दिनों चरम सीमा तक जा पहुँची हैं, इनको उखाड़ना भी एक बहुत बड़ा काम है। कई बार विषैले फोड़े इस बुरी तरह प्रकट होते हैं कि उनकी शल्य क्रिया कराने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं रह जाता। कठिनाई हलकी होती है तो सौम्य उपायों से भी काम चल जाता है, रक्त की कमी उपयुक्त आहार-विहार से पूरी की जा सकती है, सामान्य रक्त विकार दवा-दारू से ठीक हो जाते हैं, तो कैन्सर-कारबंकल जैसे भयंकर विष-व्रण आपरेशन के बिना और किसी उपाय से काबू में नहीं आते। खोखली दाढ़ जब बेतरह दर्द करती है तो उसे उखाड़ने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं। मोतियाबिंद पकने पर आँखों में जो अंधता छा जाती है, उसका निवारण भी डाक्टर के चाकू से ही सम्भव होता है। कुछ ऐसी विवशताएँ होती हैं जिनमें कटु उपायों के अतिरिक्त सुधार की और कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती। इस स्थिति में सुधारात्मक संघर्षों की अनिवार्यता को ही शिरोधार्य करना पड़ता है। यों सामान्य स्थिति में हर कोई शान्ति चाहता है और वह स्थिरता एवं प्रगति की दृष्टि से आवश्यक भी है, पर जब आक्रमणकारी तत्व जीवित रहना ही असंभव कर दे तो फिर उन्हें पीछे धकेलने के लिये संघर्ष जैसे कटु प्रसंगों को भी मान्यता देनी पड़ती है। भगवान् के अवतार समय-समय पर सृष्टि का सन्तुलन बनाने आते रहे हैं। इनमें से प्रत्येक को धर्म की स्थापना का दूसरा पक्ष अधर्म का उन्मूलन भी अपने क्रिया-कलाप में सम्मिलित रखना पड़ा है। सच तो यह है कि उनकी गतिविधियों में धर्म-स्थापना से भी अधिक भाग अधर्म-उन्मूलन का रहा है। जिन दिनों दुष्टता और भ्रष्टता अपनी चरम सीमा का स्पर्श कर रही हो उन दिनों तो अनीति-विरोधी तेजस्विता जगाने और अनीति से लड़ पड़ने के लिए उत्तेजना भी उत्पन्न करनी पड़ती है। आपात धर्म के रूप में वह कडुवी औषधि भी गले उतारनी पड़ती है। उद्दण्डता को धमकाये बिना वह काबू में भी नहीं आती।

भ्रान्तियों के निराकरण के लिए एवं सदाशयता के अभिवर्द्धन में लोक-शिक्षण के प्रचारात्मक आधार खड़े

करने होंगे। सज्जनता की सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव, अभ्यास में लाने के लिए-सामयिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए-रचनात्मक क्रिया-कलापों का प्रचलन करना होगा। इससे पिछड़ेपन की अनैतिकता दूर होगी। अवांछनीयता का उन्मूलन संघर्ष के बिना हो नहीं सकता। दुष्टता तभी अपनी मनमानी से हाथ सकोड़ती है जब उसे खतरे का प्रत्याक्रमण, प्रतिशोध का भय सामने खड़ा दिखाई देता है। लोकआक्रोश जब तक दुष्टता के विरुद्ध उभरेगा नहीं, तब तक उसकी विनाशलीला रुक नहीं सकती। अस्तु, युग परिवर्तन के लिए हमारी कार्यपद्धति में प्रचारात्मक, रचनात्मक और सुधारात्मक तीनों ही तत्वों को सम्मिलित करके चलना होगा। देखने भर को ही इन तीनों की प्रकृति भिन्न प्रतीत होती है पर ये तीनों एक दूसरे के पूरक हैं। इनके संयुक्त समन्वय से ही यह प्रखर लोक-शक्ति उत्पन्न होती है जिसके सहारे युग परिवर्तन जैसे महान लक्ष्य की उपलब्धि सम्भव हो सके।

प्रस्तुत पंक्तियें में पहले प्रचारात्मक और रचनात्मक पक्षों पर प्रकाश डाला जा रहा है। सुधारात्मक, संघर्षात्मक पक्ष की चर्चा आगे की गई है। इन तीनों को मिलाकर ही बौद्धिक, नैतिक एवं सामाजिक क्रान्ति की समग्र रूपरेखा बनती है।

आधार–लोकशक्ति का जागरण

युग निर्माण की उपरोक्त त्रिविध क्रियापद्धति को कार्यान्वित कैसे किया जाय। उसके साधन कैसे जुटाये जाएँ। इस सन्दर्भ में हमें लोकशक्ति को जगाने का कार्य हाथ में लेकर चलना होगा। जनसहयोग की स्वेच्छा प्रवृत्ति जगानी होगी। इसमें ही सामयिक समस्याओं का स्थिर समाधान है और भविष्य की निश्चिन्तता। प्रखर लोकशक्ति का निर्माण एवं जागरण अपने आप में इतना बड़ा काम है कि उसके सहारे न केवल अवांछनीयताओं का निराकरण होता है वरन् उज्वल भविष्य के लिए असंख्यों सत्प्रवृत्तियाँ चल पड़ने का मार्ग भी प्रशस्त होता है। अस्तु, भले ही लक्ष्य की पूर्ति में देर लगे पर हमें समाधान को ध्यान में रखते हुए लोकशक्ति को जगाने और उसे सत्प्रयोजनों में लगाने की नीति ही अपनानी चाहिए।

सरलता इसमें समझी जाती है कि राजतन्त्र की सहायता से परिवर्तन का प्रयोजन सरलतापूर्वक सम्पन्न हो सकता है तो उसी माध्यम से कार्य क्यों न किया जाय। सरकार के पास जो शक्ति है उसके सहारे अवांछनीयताओं को कड़े कानून बनाकर दबाया जा सकता है। इसी प्रकार व्यक्ति की निजी क्षमता पर शासकीय अंकुश लगाकर इतना विवश बनाया जा सकता है कि अनैतिक कार्यों के लिए अवसर ही शेष न रह जाय ? यह प्रयोग अधिनायकवादी शासन पद्धतियाँ कर भी रही हैं, इन प्रयत्नों से भय और आतंक के दबाव से मनुष्य विवशता अनुभव करके चुप बैठ सकता है। इससे दुष्प्रवृत्तियों पर तो अंकुश लगेगा पर इस लाभ की तुलना में और भी बड़ी हानि यह होगी कि मनुष्य की निजी उमंगों को, उत्कृष्टताओं को, प्रतिभाओं को-अपना चमत्कार दिखाने के लिए कोई स्वतन्त्र अवसर ही न रह जाएगा।

एक बात और भी है कि सरकार के द्वारा रचनात्मक कार्य एक सीमा तक ही पूरे किए जा सकते हैं, जितनी आवश्यकता है उसका समूचा भाग पूरा कर सकना उसके लिए सम्भव भी नहीं है। सरकार टैक्स वसूल करके ही तो कोई काम करेगी । टैक्स वसूल करने का तन्त्र ही प्रायः आधी कमाई खा जाता है। फिर जो लोग सेवा योजनाओं को कार्यान्वित करते हैं उनका पारिश्रमिक इतना महँगा होता है कि रचनात्मक कार्यों में प्रत्यक्ष लगने वाले धन का एक चौथाई उसी में चला जाता है। आधा टैक्स वसूली में-आधा कार्यान्वित करने वाले कर्मचारियों में चला गया तो अभीष्ट कार्य में लगाने के लिए एक चौथाई पूँजी ही शेष रह गई, उसमें ठेकेदारों, बिचौलियों और भ्रष्टाचारियों का हिस्सा है। इस प्रकार सरकार के माध्यम से जनता को जो सहयोग टैक्स के रूप में अनिवार्य दवाव के रूप में देना पड़ता है, उसकी तुलना में उस प्रयास से अत्यधिक लाभ जो स्वेच्छा सहयोग से सम्पन्न किया जाय। इसमें प्रायः पूरी पूँजी प्रत्यक्ष कार्यों में ही लगती है।

स्वेच्छा-सहयोग से श्रमदान वाला बहुत बड़ा भाग तो मुफ्त में ही मिल जाता है। साथ ही उसमें सेवा-भावना की उमंग जुड़ी रहने से काम में अच्छाई भी रहती है। सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि इस माध्यम से अधिकाधिक लोगों को समाज के प्रति उदात्त सेवा-साधना का परिचय देते बन पड़ा है। इस अन्तःश्रद्धा की अभिवृद्धि से इसे सेवा-सहयोगियों की आन्तरिक श्रेष्ठता विकसित करने का अवसर मिलता है। समाज निर्माण के साथ-साथ व्यक्ति निर्माण का इस प्रकार दुहरा लाभ मिलता है। इस प्रकार की परम्परा चल पड़ने से आज की समस्याओं के समाधान का तो लाभ है ही, उससे भविष्य के उज्वल बनाये रखने का स्वभाव और अभ्यास भी बनता है। इसलिए युग निर्माण के मात्र उसी के अंश की चर्चा इस पुस्तिका में की गई है जो जनस्तर पर स्वेच्छा-सहयोग से किये जा सकते हैं। सरकार के अपने साधन हैं। उसका अपना क्षेत्र है। वह अपने ढंग से अपना काम करे पर राज्याश्रय के भरोसे हाथ पर हाथ रखे बैठे रहने की आवश्यकता नहीं है। स्मरण रखा जाय जन समस्याएँ इतनी सुविस्तृत हैं कि उन सबको हाथ में लेकर चलना कम-से-कम लोकतन्त्री सरकारों के लिए तो किसी भी प्रकार संभव नहीं हो सकता। पूरी जनशक्ति अपने शिकंजे में कसे रखने वाली अधिनायकवादी सरकारें तक मात्र राजतन्त्र के सहारे समग्र समस्याओं का हल निकालने में असफल रह रही हैं, तो लोकतन्त्री सरकारें उतना सब कर लेंगी ऐसी आशा कैसे की जा सकती है। फिर सरकार भी तो अन्ततः जनता ही है। जनता सारे काम सरकार के माध्यम से ही कराये तो उसका वैयक्तिक उत्साह और पुरुषार्थ सजीव सक्रिय किस प्रकार रह सकेगा। अस्तु, अपनी योजना में जनसहयोग को

ही प्रधानता दी गयी है। इनमें कहीं कुछ सरकारी सहयोग मिलता हो तो उसका विरोध नहीं, वरन् स्वागत-समर्थन ही किया जाना चाहिए। दृष्टि यही रहनी चाहिए कि नवनिर्माण में स्वेच्छा-सहयोग को उभारने को ही प्रमुखता देकर चला जा रहा है।

नवनिर्माण का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसके लिए साधनों की प्रचुर परिमाण में आवश्यकता होगी। सरकार तन्त्र की तुलना में उसका विस्तार और उत्तरदायित्व कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा है। उसके साधन तो चाहिए ही। इन्हें जुटाने के लिए एक ही आधार है अंशदान व स्वेच्छा-सहयोग। इसके लिए सर्वसाधारण में उतना ही उत्साह उत्पन्न किया जाना चाहिए, जितना शरीर निर्वाह और परिवार और पोषण में रहता है। इसे मानवी गरिमा को सुस्थिर रखने एवं विकसित करने का मूल माना जाय किसी पर किया गया अहसान नहीं। इसे उदार अनुदान की जीवनचर्या का अंग बनाया जाय और उसे क्रियान्वित करना निर्वाह की सामान्य रीति-नीति में सम्मिलित रखा जाय। निजी परिवार की और समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना समान महत्व का समझा जाने लगे ऐसी व्यवस्था परम्परा का आरम्भ और विकास किया जाना चाहिए। तभी उतने साधन जुटेंगे जिनके सहारे नवनिर्माण की सुविस्तृत आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव हो सके।

जनमानस में यह विवेक जाग्रत करना है कि मनः-स्थिति से परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। अस्तु, श्रेष्ठ परिस्थिति प्राप्त करने के लिए आस्थाओं, विचारधाराओं और प्रवृत्तियों का परिष्कार आवश्यक है। जहाँ यह स्थापना हो चले वहाँ इसी का दूसरा पक्ष यह हृदयंगम कराया जाना चाहिए कि नवनिर्माण में बढ़कर योगदान देना प्रत्येक जाग्रत आत्मा का परम पवित्र कर्तव्य है। स्वार्थ को परमार्थ में विकसित करना ही जाग्रत आत्माओं का चिन्ह है। इसे कल्पना से क्रिया में उतारना होता है, लोकमंगल के लिए अपने अंशदान प्रस्तुत करने से उत्कृष्टता की वास्तविकता परखी जा सकती है। प्रत्येक जाग्रत आत्मा को इसके लिए झकझोरा जाय यदि वह आत्मोत्कर्ष और लोकहित के महत्व को समझ सके तो इसके लिए उदार अनुदान प्रस्तुत किये बिना किसी प्रकार काम नहीं चल सकता। कृपणता, निष्ठुरता, संकीर्णता और संग्रही मोह-ममता को आँच न आये और आदर्शवाद भी निभता रहे ऐसा पूर्व-पश्चिम का मेल सम्भव नहीं हो सकेगा। प्रतिद्वन्द्वी मान्यताओं की पटरी देर तक नहीं बैठ सकती। उच्चस्तरीय विवेक जागे तो श्रेष्ठता के संवर्द्धन में उदार अनुदान भी उभरें। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जिसमें जितनी अधिक उत्कृष्टता हो वह निजी महत्वाकांक्षाओं को उसी अनुपात से घटाये और कठोर श्रम एवं प्रखर मनोयोग से उत्पन्न उपलब्धियों को विश्व कल्याण के लिए प्रस्तुत करे। आदर्शवादियों की, साधु-ब्राह्मणों की यही परम्परा रही है कि उनने खाया न्यूनतम है और बाँटा अधिकतम है। देव समाज में इसी सत्प्रवृत्ति का बाहुल्य रहता है। यह परम्परा हम लोग अग्रिम पंक्ति में खड़े होकर इस प्रकार प्रस्तुत करें कि दूसरों में भी अनायास ही उसके अनुकरण-अनुसरण की भावना उमँगे। व्यक्ति और समाज की प्रस्तुत दुर्गति के लिए उत्तरदायी दुर्बुद्धि ने दुःखद परिस्थिति उत्पन्न करने में प्रचुर साधन जुटाकर तब सफलता पाई है। अश्लील साहित्य, सिनेमा, नशा और प्रपंच पाखण्डों में कितनी ही पूँजी, कितनी बुद्धि और कितनी जनशक्ति लगी हुई है, तब कहीं विनाश का वातावरण बन पाया है। तोड़ने की अपेक्षा बनाने में अधिक साधन लगते हैं। युग निर्माण इतना बड़ा निर्माण है जिसकी तुलना में पूरी शताब्दी के भौतिक निर्माणों का एकत्रीकरण भी हलका बैठेगा। इतने बड़े सृजन में स्वभावतः श्रम शक्ति, बुद्धि शक्ति, जनशक्ति एवं धन शक्ति की प्रचुर परिमाण में आवश्यकता पड़ेगी। यह आसमान टूटने से अथवा धरती फटने से अनायास ही टूट पड़ने वाली नहीं है। इसे बूँद-बूँद से घट भरने की नीति अपनाते हुए पूरा करना पड़ेगा। विवेकवान सहृदयता को इस प्रयोजन के लिए अग्रिम पंक्ति में खड़ा होना पड़ेगा।

सृजन सेनानियों को औसत भारतीय स्तर पर गुजारा करने का आर्थिक बजट रखना चाहिए। कठोर श्रम करने और व्यस्त रहने की आदत डालनी चाहिए। संग्रह की लिप्सा और प्रदर्शन की अहंता को निरस्त करना चाहिए। महत्वाकांक्षाएँ बड़प्पन से हटाकर महानता में नियोजित की जाएँ। परिवार बढ़ाया न जाय। जो है उतने को ही सुसंस्कृत और स्वावलम्बी बनाया जाय। उत्तराधिकार में सम्पत्ति नहीं सज्जनता एवं सुसंस्कृति की परम्परा प्रदान की जाये। अपने आपको इस ढाँचे में ढाल लिया तो हममें से हर विचारशील के पास ढेरों समय, साधन परमार्थ प्रयोजन के लिए बच सकते हैं। हमें अपने पर वह प्रयोग आरम्भ करना चाहिए और मिशन से परिचित, प्रभावित हर व्यक्ति से प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में यह अनुरोध करना चाहिए कि वह भी अपनी विचारशीलता को उदारता में परिणत करके उसकी यथार्थता और गहराई सिद्ध करे।

युग निर्माण परिवार में यह अंशदान परम्परा सदस्यता की शर्त बनाकर रखी गई थी। एक घण्टा समय और बीस पैसा नित्य ज्ञानयज्ञ के लिए लगाते रहने की निष्ठा प्रामाणिकता सिद्ध करने जैसी मानी गई थी। कई परिजन इस सन्दर्भ में उपेक्षा बरतते रहे हैं। अब हमें उस शर्त को अपनी सदस्यता की परीक्षा मानकर पालन करते रहना चाहिए। जिन पर मिशन के प्रभाव की कुछ छाप है उन्हें इस तनिक से साहस को जुटाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। आखिर सृजन बातों से तो नहीं हो जाएगा। उसके लिए आवश्यक साधन भी तो जुटाने ही होंगे और उसके लिए दूसरों को तैयार करने से पूर्व पहल अपने आपसे करनी होगी।

उक्त अंशदान युग निर्माण के साधनों में सबसे प्रमुख है। धन और समय दोनों ही शक्तियाँ इसी माध्यम से

जुटेंगी। धन संग्रह तो अन्यों से भी हो सकता है पर समय तो परिचितों और प्रभावितों से ही मिलेगा। बीस पैसा-एक घण्टा अंशदान प्रारम्भिक लोगों के लिए अनिवार्य शर्त के रूप में था। भावनाशील समय और धन का अंशदान अधिक मात्रा में करें। एक दिन की आमदनी देना भी किसी को भारी नहीं पड़ता। अपने निजी परिवार के वर्तमान सदस्यों में एक ज्ञान-यज्ञ को भी मान लिया जाय तो जितना खर्च परिवार के हर सदस्य पर आता है उतना इस पुण्य-प्रयोजन के लिए भी निकाला जाता रह सकता है। विवाह-शादियों में, सन्तान जन्म, जन्म दिन जैसे शुभ अवसरों पर-मृतक सम्बन्धियों की स्मृति में, वेतन वृद्धि होने पर, नई फसल आने पर यदि इन पुण्य-प्रयोजनों में दान करने की परम्परा चल पड़े तो उपयोगी कार्यों के लिए आवश्यक धन मिलता रह सकता है। व्यापारी लोग धर्मखाता निकालते हैं और अपने व्यवसाय में देवता की एक छोटी भागीदारी रखते हैं। वैसे प्रचलन अपने सृजन समुदाय में भी चल सकते हैं। पारिवारिक उत्तरदायित्व जितने हलके होते जाएँ उसी अनुपात में सेवा कार्यों में अधिक समय लगता रह सकता है। ढलती आयु में वानप्रस्थ लेने की धर्म परम्परा यदि फिर से चल पड़े तो निवृत्त लोग ठाली बैठने की अपेक्षा-सृजन सैनिकों की तरह जुट पड़ें तो अपने इस फालतू समय से अपना और समस्त समाज का भरसक हित साधन कर सकते हैं।

अंशदान के समतुल्य ही एक दूसरा कर्म है पूँजी का एकत्रीकरण। साहित्य, कला जैसे प्रयोजनों के लिए व्यवसाय स्तर के अनेक कार्य आरम्भ करने होंगे। उसके लिए विचारशील लोगों की पूँजी बैंकों की तरह जमा की जा सकती है। बड़े-बड़े मिल, कारखाने, बैंकें, व्यवसाय प्राय: लिमिटेड कंपनी प्रणाली, सहकारिता एवं बैंक पद्धति से पूँजी जमा करके अमुक व्यवसायों में लगाते हैं। हम लोग अपने जेवर आदि में रुकी हुई तथा जायदादों में फँसी हुई पूँजी को उधर से हटाकर इन सृजनात्मक व्यवसायों में लगाने के लिए अमानत जमा करा सकते हैं। इसमें ब्याज भी मिल जाएगी। ऐसे-ऐसे अनेक उपाय सोचे जा सकते हैं, जिसमें श्रम एवं धन को अंशदान के अथवा जमा धरोहर के रूप में प्राप्त करने की व्यवस्था बना सकें। केन्द्रीय एवं स्थानीय छोटे-बड़े नवनिर्माण के लिए आवश्यक क्रिया-कलापों के लिए अभीष्ट सामर्थ्य एवं साधन जुटा सकना इसी प्रकार सम्भव होगा।

विचार क्रान्ति के उपयुक्त साहित्य-

भावनात्मक नवनिर्माण का ही दूसरा नाम विचार क्रान्ति है, इसी ज्ञान यज्ञ के साथ नवयुग के अवतरण का पुण्य प्रयोजन सम्भव होगा। इसलिए हमें सर्वप्रथम विचार-परिवर्तन के लिए आवश्यक स्रोत माध्यमों का सहारा लेना पड़ेगा। इस उद्देश्य के लिए सर्वप्रथम युगान्तरीय चेतना उत्पन्न करने वाले साहित्य की आवश्यकता पडेगी। यों वाणी के माध्यम से भी एक सीमा तक काम हो सकता है। प्राचीनकाल में तो वही साधन प्रधान था। उन दिनों मुद्रण कला का विकास नहीं हुआ था। हाथ से लिखे ग्रन्थों का न तो बड़ी संख्या में सृजन हो सकता था और न उनका मूल्य ही सर्वसुलभ हो सकता था। उस स्थिति में वाणी ही प्रधान माध्यम थी। प्रवचनकर्ता प्रचार का प्रयोजन पूरा करने के लिए परिव्राजकों के रूप में परिभ्रमण करते थे। कथा, प्रवचन, सत्संग, गोष्ठियों आदि की विधि-व्यवस्था काम में लाई जाती थी। लाउडस्पीकरों का भी उन दिनों प्रचलन नहीं था। अस्तु, ऊँचे स्वर में बोलने पर भी थोड़े से ही लोग उन विचारगोष्ठियों का लाभ उठा पाते थे। प्राचीनकाल में तो वाणी ही एकमात्र विचार प्रसार का माध्यम थी। अब भी उसकी उपयोगिता तो है, पर मुद्रणकला ने इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए नया आधार प्रदान किया है। अब पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से यह कार्य अधिक सुविधापूर्वक सम्पन्न हो सकता है। अब सस्ते मूल्य में साहित्य छपता है और डाक, रेल के माध्यम से उसे दूर-दूर तक स्वल्प व्यय से पहुँचाया जा सकता है। यह अपने युग की बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसका उपयोग एक सर्वसुलभ प्रचलन है। युग परिवर्तन की पृष्ठभूमि बनाने के लिए भावनात्मक परिष्कार के पक्ष में वजनदार आधार प्रस्तुत करने के लिए तद्विषयक साहित्य को प्रधानता देनी होगी।

युग पविर्तन के लिए लोकमानस ढाल सकने वाली विशालकाय भट्ठी की आवश्यकता पूरी कर सकने वाले साहित्य सृजन का सारा सरंजाम नये सिरे से खड़ा करना पड़ेगा। जिस अवांछनीय परिस्थिति और मन:-स्थिति में होकर हम गुजर रहे हैं उसे बदलने के लिए ऐसे क्रान्तिकारी युग साहित्य की आवश्यकता, जो व्यक्ति और समाज की चेतना पर जमी हुई आसुरी सत्ता को निरस्त करने में जोरदार टक्कर ले सकने में समर्थ हो। साथ ही उसमें यह विशेषता भी हो कि उन्मूलन के उपरान्त रिक्तता उत्पन्न न होने दे और लगे हाथ अभिनव सृजन का बीजारोपण भी करता चले। कुशल डाक्टर एक क्षण में आपरेशन करता है और दूसरे ही क्षण घाव भरने के लिए टाँके लगाने से लेकर मरहम-पट्टी के समस्त उपचार उतनी ही सतर्कतापूर्वक करता है जितनी से कि चीर-फाड़ के औजारों का प्रयोग किया था। युग साहित्य में ध्वंस और सृजन की कुशल डाक्टर जैसी क्षमता होनी चाहिए।

अनीति के उन्मूलन और नीति के संस्थापन के कार्य को ईश्वर अवतार के समतुल्य कहा जा सकता है। ईश्वर अप्रत्यक्ष है। उसकी प्रत्यक्ष प्रतिमा आज के युग में युग साहित्य के रूप में भी विनिर्मित हो सकती है। इसके लिए वर्तमान प्रकाशकों पर निर्भर रहने से काम नहीं चलेगा। उनकी दृष्टि थक गई है। मुश्किल से ही ही अपने ढर्रे में थोड़ा-बहुत हेर-फेर कर पावेंगे। क्रान्तिकारी तत्व मौलिक होते हैं वे थोपे नहीं जा सकते हैं। जिन्होंने अपने व्यवसाय की नीति अधिक अर्थ-उपार्जन की, ग्राहकों की माँगें पूरी

करने की बना ली है ये उस लाभदायक सरलता को छोड़कर ऐसे झझट में क्यों पड़ेंगे जिसमें लाभ कम और सिरदर्द बहुत है।

युग साहित्य के सृजन विस्तार की योजना इतनी बड़ी होनी चाहिए कि उसे भयंकर अग्निकांड रोकने के लिए जुटाये गये शक्तिशाली 'फायर ब्रिगेडों' के समतुल्य आँका जा सके। समस्या तो विश्वव्यापी है पर फिलहाल अपने देश का ही लक्ष्य रखें तो उससे हर क्षेत्र में विचार पहुँचाने के लिए संविधान में मान्यता प्राप्त १४ भाषाओं को भी माध्यम बनाना ही होगा। यो अल्पशिक्षित जनता को क्षेत्रीय भाषाएँ ही अधिक अनुकूल पड़ती हैं। इन सब को मिलाया जाय तो उनकी संख्या दर्जनों हो जाती है। गद्य तो १४ भाषाओं में भी चल सकता है पर यदि जनगीतों की भी आवश्यकता समझी जाय तो उसके लिए इन सभी क्षेत्रीय भाषाओं मे गीत लिखे और छापे जाने चाहिए। अल्प-शिक्षित देहातों में रहने वाली जनता को प्रेरणा देने की दृष्टि से वस्तुतः गद्य से भी अधिक महत्वपूर्ण पद्य होता है। पद्य को हाथ में लेना हो तो दर्जनों क्षेत्रीय भाषाओं को ध्यान में रखना होगा। जहाँ एक भाषा हो वहाँ विचार-प्रसार सरल है। पूरे अमेरिका महाद्वीप में अँग्रेजी की प्रमुखता है। वहाँ साहित्य सृजन और विस्तार सरल है पर भारत जैसे भाषा विभाजित देश में प्रकाशन और लेखन तन्त्र के निर्माण में उतनी गुनी शक्ति खपानी पड़ेगी, जितनी कि भाषाएँ होंगी। विभाजित क्षेत्र छोटे होते हैं। अस्तु, उनमें छपने वाले साहित्य की मात्रा भी छोटी ही रखनी पड़ेगी। श्रम, व्यवस्था, साधन, ढाँचा लगभग एक जैसा लगा, पर उत्पादन थोड़ा हुआ तो वह भी एक कठिनाई ही रही। एक भाषा रही होती तो एकतन्त्र-एक स्थान की एक व्यवस्था और एक पूँजी के अन्तर्गत विशाल चक्र घुमाया जा सकता था। पर क्षेत्र बहुत होने से न्यूनाधिक मात्रा में उतने ही गुनी शक्ति का नियोजन करना पड़ेगा।

आज हमारी नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक स्थिति दयनीय है। शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, आर्थिक क्षेत्र भी बुरी तरह तमसाछन्न है। धर्म और अध्यात्म के नाम पर तो भ्रान्तियों और पाखण्डों का ही बोलबाला है। कुर्सी की राजनीति का बोलबाला और अब उस कूटनीति का खुला संबोधन मिल गया है। विकृतियों और भ्रान्तियों के बीच घोर उलझन भरी मनःस्थिति और परिस्थिति के बीच हम रह रहे हैं। इसका निराकरण छुटपुट सामयिक उपचार खोजने से हो नहीं सकेगा, आवश्यकता पूरे ढाँचे को बदलने की पड़ेगी। यह कार्य चिन्तन को नई दृष्टि दिए बिना और किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता। इस परिवर्तन परिष्कार को विचार क्रान्ति का नाम दिया जा सकता है। इसी की शाखा-प्रशाखाएँ व्यक्ति और समाज को प्रभावित करने वाले विभिन्न क्षेत्रों में ऐसी उथल-पुथल कर सकती हैं, जिसके सहारे बढ़ती हुई विभीषिकाओं पर नियंत्रण स्थापित किया जा सके। दुर्बुद्धि को सद्बुद्धि में बदलने वाला व्यापक ज्ञानयज्ञ ही युग परिवर्तन की पृष्ठभूमि बन सकता है। इसके लिए ऐसे साहित्य का सृजन करना होगा जो कैंची और गोंददानी के सहारे देशी-विदेशी नकलची की जूठन की तरह टोकरी में न भर लिया गया हो, वरन् जिसमें युग समस्याओं पर गहराई तक सूक्ष्म दृष्टि डाली गई हो और तात्त्विक समाधान खोजे गये हैं। इस प्रकार के निर्माण को युग साहित्य कह सकते हैं। यह हर वर्ग के व्यक्तियों की मनःस्थिति और परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए लिखा गया होना चाहिए। बच्चे, महिलाएँ, श्रमिक, व्यवसायी, छात्र, अध्यापक, कलाकार, रोगी, सेवानिवृत्त, धर्मजीवी जैसे सैकड़ों वर्ग देश में रहते हैं, उनकी दार्शनिक समस्याएँ एक होते हुए भी व्यावहारिक जीवन की परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं। वे अपनी स्थिति में क्या सोचें और क्या करें, इस प्रकार का-तर्क और तथ्यों से भरापूरा ऐसा मार्गदर्शन दें जो अपनी प्रखरता के कारण लोगों के गले उतरते-उतरते अन्तःकरण तक जा पहुँचे।

इस प्रयोजन के लिए एक विशालकाय प्रकाशन तन्त्र खड़ा करना है। इसके लिए केन्द्रीभूत या खण्ड-खण्डों मे विभक्त व्यवसाय संस्थान खड़े करने होंगे। मिलों और फैक्टरियों में लाखों-करोड़ों की पूँजी लगती है। कानपुर, अहमदाबाद, इन्दौर जैसे एक-एक नगर में ऐसे-ऐसे सैकड़ों-सैकड़ों मिल कारखाने हैं। इनकी पूँजी अरबों को पार कर खरबों तक पहुँचती होगी। अहमदाबाद नगर में जितना कपड़ा बुनता है, कम से कम इतनी पूँजी तो भारत की आवश्यकता पूरी करने के लिए चाहिए ही। छोटे-बड़े कल-कारखाने खोलने के लिए कितने ही धनपति स्थान और उद्योग तलाश करते रहते हैं। यदि किसी अर्थ क्षेत्र में काम करने वाली प्रतिभा का ध्यान इस ओर जा सके तो अन्य उद्योगों की तरह इस प्रयोजन के लिए भी कितने ही लिमिटेड संस्थान सत्साहित्य के प्रकाशन के लिए खड़े हो सकते हैं।

विचार विस्तार की दृष्टि में मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं का अपना महत्व है। इस पद्धति से निकलने वाले साहित्य का मूल्य अपेक्षाकृत सस्ता रहता है। विज्ञापन मिलते रहने, पेशगी, वार्षिक चन्दा मिलने तथा सुनिश्चित ग्राहक संख्या रहने के कारण प्रकाशकों को उसे सस्ते मूल्य पर दे सकना सम्भव होन है। पाठकों को अपनी अभिरुचि के अनुसार नियत सम पर सामिग्री मिलती रह सकती है। दैनिक समाचार पत्र भ यदि विचार क्रान्ति के उद्देश्य से निकलें तो उनकी भी बढ़ी-चढ़ी भूमिका हो सकती है। मासिक, साप्ताहिकों की पूँजी तथा व्यवस्था सरल पड़ती है इसलिए वे अपेक्षाकृत स्वल्प साधनों में निकल सकते हैं। सत्साहित्य प्रकाशन योजना में पुस्तकों की तरह ही पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी सम्मिलित रखा जाना है।

वर्तमान पत्र-पत्रिकाओं मे वैसा उभार फिर पैदा किया जाना चाहिए जैसा कि किसी समय अँग्रेजी सरकार के विरुद्ध वातावरण बनाने में और स्वतन्त्रता के पक्ष में

वातावरण बनाते हुए दिखाई पड़ा करता था। उन्हें यह सुझाया जा सकता है कि दृष्टिकोण परिवर्तन का काम राज्य परिवर्तन से भी बड़ा है। जो हो चुका उसकी तुलना में जो करना शेष है, वह अधिक है। अस्तु, धनुष पर से प्रत्यंचा उतार नहीं दी जानी चाहिए और कमर पर कसे तरकस खोल नहीं दिये जाने चाहिए। लोक-शिक्षण का बहुत बड़ा काम करना शेष है। विनोद-कौतूहल की विलासी सामग्री की नहीं अभी तो संजीवनी बूटी पिलाने की आवश्यकता है। प्रयत्न किया जाय तो वर्तमान पत्र प्रकाशकों और सम्पादकों में से अधिकांश को विचार क्रान्ति के पक्ष में अपने पृष्ठ खोल देने के लिए सहमत किया जा सकता है। इसी प्रकार ऐसे जटायु-सम्पाती लेखक भी किसी खोह कोतर में से ढूँढ़ निकाले जा सकते हैं, जो प्रखरता उत्पन्न करने की शपथ उठाकर भगवती लेखनी को धर्मयुद्ध में चलने वाली भवानी भुसुण्डी की तरह उपयोग करके सिर कट जाने पर भी रुण्ड की तरह उठाकर शत्रु से जूझते-जूझते दम तोड़ें ? पुरानी पीढ़ी थक गई हो। जवान पीढ़ी पर खुमारी छा गई हो तो नई पीढ़ी के लव-कुश ही इसके लिए सधवाये जा सकते हैं। गुरु गोविन्द सिंह के बच्चों वाली पौध लेखक वर्ग में उगाई और परिपुष्ट की जा सकती है। कुछ कर गुजरने का दर्द हो तो प्रस्तुत पत्रिकाएँ और लेखक वर्ग को कुछ तो करने के लिए सहमत किया ही जा सकता है। इतना बन पड़े तो भी एक बड़ी बात है। निराशा के अन्धकार में आशा की किरणें फूटती इतने से भी देखी जा सकती हैं।

एक भाषा में छपी पुस्तकें दूसरी भाषा में अनुवादित होकर सहज ही छपती रह सकती हैं। इस प्रकार भारत की चौदह भाषाओं में से किसी भाषा में जो अच्छी सामग्री छपे, उसका अनुवाद अन्य भाषाओं में कराते, छपाते रहना केन्द्रीय तन्त्र के लिए सरल है। इस प्रकार प्रकाशन सामग्री एक बार लिखी जाने पर मूल भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं की भी आवश्यकता पूर्ण करती रह सकती है।

पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशकों का केन्द्रीयकरण न हो तो भी उनके बीच ताल-मेल बिठाया जा सकता है और विचार क्रान्ति की असंख्य धाराओं में से अपनी-अपनी रुचि का विषय छाँटा, अपनाया जा सकता है। उनका संयुक्त प्रयास युगान्तरीय उद्देश्य की पूर्ति में महत्वपूर्ण सहायता कर सकता है।

चित्र प्रकाशन भी सत्साहित्य वर्ग का ही एक कार्य है। महापुरुषों की प्रेरणाप्रद घटनाओं के छोटे-बड़े चित्र छापे जा सकते हैं। आदर्श वाक्य, पोस्टर भी बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। कलैण्डर, विवाह-शादियों के निमन्त्रण-पत्र, नववर्ष की शुभकामनाओं जैसे चित्र प्रकाशन के अनेक प्रकार ऐसे हैं जो जन-जाग्रति के प्रयोजन भी पूरा करते रह सकते हैं।

छोटी-छोटी सहकारी समितियाँ, प्राइवेट लिमिटेड तथा व्यक्तिगत, फर्म लाखों के बारे-न्यारे करती हैं। अपने देश की मान्यता प्राप्त पंद्रह भाषाओं के लिए ऐसे १०० फर्म भी उठ खड़ी हों तो समय की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण माँग पूरी की जा सकती है। आज विक्रेता को जो आसानी से मिलता है वह बेचता है। ग्राहक जो माँगते हुए आता है वह रखता है कल जबकि युग साहित्य भी उपयुक्त मूल्य और सज्जा में मिलेगा तो उसे भी विक्रेता अपने यहाँ रखेंगे और बेचेंगे। विज्ञापनबाजी से आकर्षण उत्पन्न करके जब नशीले पदार्थों और बेसिर-पैर की दवाओं को खपाया जा सकता है तो कोई कारण नहीं कि युग साहित्य खरीदने की उत्तेजना जनसाधारण में पैदा न की जा सके। दुकानें लेकर बैठने वाले विक्रेताओं का अपना महत्व है। पुरानों का सहयोग लिया जा सकता है और नये उत्पन्न किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक बहुत बड़ा कार्य इस क्षेत्र में यह होना चाहिए कि चल पुस्तकालयों की एक विशेष शृंखला खड़ी की जाय। छोटी-बड़ी चलती-फिरती गाड़ियाँ इस प्रयोजन के लिए बन सकती हैं। साइकिल वाले, चार पहियों की धकेल गाड़ियाँ फेरी वाले गली-मुहल्लों और हाट-बाजारों में लिए फिरते हैं। इस प्रकार की खुली गाड़ी साहित्य समेत पाँच सौ में चल सकती है। सुसज्जित ढकी हुई बनानी हो और अधिक साहित्य रखना हो तो डेढ़ दो हजार की पूँजी पर्याप्त होनी चाहिए। इसे यदि घोड़े बैल से खींचने वाली, रिक्शे की तरह चलने वाली बनाया जा सके तो एक क्षेत्र से दूर-दूर तक छोटे-बड़े गाँवों में, हाट-बाजारों में ले जाया जा सकता है। कुशल फेरी वाले न जाने क्या अगड़म-बगड़म बेचकर अपने परिवार का मजे से गुजारा करते हैं, फिर कोई कारण नहीं है कि विक्रय कला की थोड़ी-सी भी ट्रेनिंग लेकर बेकार शिक्षितों में से असंख्य इस व्यवसाय को अपनाने के लिए सहर्ष तैयार न हो सकें। इस प्रकार घर-घर, जन-जन तक युग साहित्य पहुँचाया जा सकेगा।

गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले ऐसे पुस्तकालय, वाचनालय खोले जाएँ, जिनके माध्यम से बिना खरीदे ही स्वल्प-सा मासिक शुल्क देकर प्रेरणाप्रद साहित्य सर्वसुलभ हो सके। इसी प्रकार जगह-जगह ऐसे वाचन-गृह होने चाहिए जिन्हें सत्संग स्तर का महत्व मिल सके। इनमें कुशल वक्ता सत्साहित्य पढ़कर सुनाया करें। इससे अशिक्षितों को-अल्प शिक्षितों को-क्षीण नेत्रशक्ति वालों को सुविधापूर्वक उपयोगी प्रेरणाएँ प्राप्त करते रहने का अवसर मिलता रहे। अपने देश में प्रायः ७० प्रतिशत अशिक्षित हैं, युग प्रकाश तो उन तक भी पहुँचना चाहिए। यह नियमित रूप से क्रमबद्ध तभी मिलता रह सकता है जब सत्संग स्तर की वाचन व्यवस्था की जा सके। इसका महत्व अपने देश में-विशेषतया छोटे देहातों में पुस्तकालयों एवं वाचनालयों से किसी भी प्रकार कम महत्वपूर्ण नहीं है।

उत्पादन सस्ता कैसे पड़े-उसकी कलेवर सज्जा कैसे सुरुचिपूर्ण बने-पृष्ठसंख्या एवं मूल्य निश्चित करने में नीति क्या रहे-प्रकाशन और विक्रय संस्थानों के बीच तालमेल

देने वाला प्रचार विज्ञापन कैसे हो-मुद्रणतन्त्र किस स्तर का हो-पूँजी कैसे जुटाई जाय-व्यवस्था का ढाँचा किस प्रकार खड़ा किया जाय-लेखन के लिए किसी एक प्रखर मार्गदर्शन में उपयुक्त प्रतिभाओं से क्या लिखाया जाय-लेखन के लिए आवश्यक सामग्री कहाँ से जुटाई जाय ? जैसे अनेकों प्रश्न हैं जो सत्साहित्य प्रकाशन का ढाँचा खड़ा करते समय सामने होंगे। इनके उत्तर पूर्ण निश्चित नहीं हो सकते। परिस्थितियों और साधनों को ध्यान में रखते हुए इस विषय के अनुभवियों से परामर्श से ही वैसा कुछ निर्धारण संभव हो सकेगा। अस्तु, उन बारीकियों में यहाँ उतरने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

आज तो आवश्यकता इस बात की है कि बड़े या छोटे पैमाने पर ऐसे प्रकाशन तन्त्र खड़े किये जाएँ जो लेखन से लेकर विक्रय तक की समस्त समस्याओं को ध्यान में रखते हुए अपनी गतिविधियों को किसी प्रकार आरम्भ एवं अग्रसर कर सकें। छोटे आरम्भ भी भविष्य में चिनगारी से ज्वाला का रूप धारण कर सकते हैं। जिनके मस्तिष्क इस दिशा में काम करते हैं, जिनके पास इस दिशा में सहायक सिद्ध होने वाले अनुभव एवं साधन हों उनसे कुछ ऐसा करने का अनुरोध किया जाना चाहिए कि युग की इस महती आवश्यकता को पूरा करने के लिए उत्साह भरी गतिविधियों का शुभारम्भ-सूत्र संचालन सम्भव हो सके।

लोकरंजन और लोकमंगल का समन्वय

साहित्य के उपरान्त विचार परिवर्तन का दूसरा माध्यम है कला । उसके साथ मनोरंजन का आकर्षण जुड़ा रहने से सर्वसाधारण का रुझान उसकी ओर होता है । बाल-वृद्ध सभी की अनायास ही उसमें रुचि रहती है । शिक्षितों की तरह अशिक्षित भी इसमें लाभ उठा सकते हैं। साहित्य में विषयों की विवेचन-व्याख्या होती है उसे समझने के लिए पाठक की शिक्षा, मनःस्थिति एवं पूर्व जानकारी होनी चाहिए तब बात गले उतरेगी अन्यथा किसी पुस्तक या लेख को पढ़ लेने पर भी यही शिकायत बनी रहेगी कि बात समझ में नहीं आई या अरुचिकर लगी, भारी पड़ी । कला के सम्बन्ध में यह कठिनाई नहीं है । उसका लाभ हर घड़ी-हर जगह तो नहीं मिल सकता पर संगीत का माधुर्य, पात्रों का सौन्दर्य-कथानक का तारतम्य, दृश्यों का आकर्षण आदि आधारों का मिला जुला ऐसा बन जाता है जिसके लिए दूर-दूर तक भागते हैं, व्यस्तता में से भी समय निकालते और पैसा खर्च करते हैं ।

साहित्य और कला की तुलना करके किसी को वरिष्ठ, कनिष्ठ तो नहीं ठहराया जा सकता पर उन्हें एक दूसरे का पूरक तो निश्चित रूप से माना जा सकता है । नवयुग के अवतरण का प्रधान माध्यम विचार क्रान्ति है । इसलिए साहित्य की भाँति ही कला को भी महत्त्व देना पड़ेगा । लोक-चिन्तन बदलने के लिए इस माध्यम का सुनियोजित उपयोग होना चाहिए । इस सन्दर्भ में हमारी तैयारी व्यापक होनी चाहिए । संसार के चार सौ करोड़ मनुष्यों की मनः-स्थिति को सुधारने-उनका स्तर ऊँचा उठाना अपना लक्ष्य है । इसकी पूर्ति के लिए छुट-पुट प्रयत्न शुभारम्भ की दृष्टि से तो उत्साहवर्द्धक हो सकते हैं पर तैयारी सुविस्तृत क्षेत्र को ध्यान में रखकर करनी पड़ेगी। राजनैतिक क्षेत्र विभाजन की दृष्टि से देश-विदेश के नागरिकों के बीच आदान-प्रदान और सहयोग के आधार सीमित और प्रतिबन्धित हैं । किन्तु जहाँ तक व्यक्तित्व को परिष्कृत करने वाले तत्व दर्शन का सम्बन्ध है वहाँ तक बहुत ही कट्टर और संकीर्ण देशों को छोड़कर अन्यत्र कोई बहुत बड़े प्रतिबन्ध नहीं हैं । अस्तु, अपने भूलोक निवासी सभी मनुष्यों को प्रभावित करने वाली योजना भी ध्यान में रखी जा सकती है । इतना बन पड़े तो भी अपने साठ करोड़ देशवासियों की बात तो ध्यान में रखकर चलना ही है । यह संख्या भी समस्त विश्व का प्रायः छठा भाग है । इतने बड़े जनमानस को प्रकाश देने और प्रवाह को बदलने के लिए आरम्भ किये जाने वाले प्रयासों का लक्ष्य स्वरूप, तो स्पष्ट ही रहना चाहिए । आरम्भ भले ही छोटे क्षेत्र से या थोड़े परिमाण में किया जाय । कला को विचार क्रान्ति अभियान के साथ जोड़ने की बात सोचते समय हमारा चिन्तन उतना ही सुविस्तृत और दूरगामी परिणामों को ध्यान में रखते हुए चलना चाहिए ।

विचारों को प्रभावित करने में कला के संगीत और अभिनय क्षेत्र ही प्रमुख हैं । यों कहने को तो मूर्तिकला आदि को भी कला के अन्तर्गत माना जाता है । उनका उपयोग प्रमुखतया सौन्दर्य-सज्जा के काम ही आता है । विचारों पर छाप डालने की शक्ति उनमें स्वल्प ही होती है । इसलिए यहाँ उनके सम्बन्ध में विशेष चर्चा करने की आवश्यकता नहीं । हमें संगीत और अभिनय को प्रधानता देते हुए उन्हें लक्ष्यपूर्ति के लिए किस प्रकार नियोजित किया जा सकता है? इस समय इतना ही सोचना चाहिए ।

यह यान्त्रिक युग है । हर वस्तु का यन्त्रीकरण हो रहा है । विज्ञान और बुद्धिवाद ने मिलकर अब ऐसे माध्यम खड़े कर दिये हैं कि व्यक्ति के श्रम-कौशल को मशीनें हथियाती चली जा रही हैं । मनुष्य के हाथ में तो उसके आरम्भ करने तथा चलाने भर का अधिकार शेष रह जाएगा, ऐसा दीखता है । परिस्थिति के अनुरूप ही हमें सोचना होगा । यान्त्रिकी की सुविधा और सम्भावना इतनी अधिक है कि अब उसे हटाकर हस्त-कौशल तक सीमित रहने की बातसोचनी है । विशालकाय स्वसंचालित मिल-कारखानों से कुटीर उद्योगों के प्राण कैसे बचाये जाएँ, उन्हें जीवित कैसे रखा जाय इतना सोचना ही पर्याप्त है । अब बड़े यन्त्रों को निरस्त करने, उनका स्थान कुटीर उद्योगों को दिलाने की बात सोचने पर तो हम प्रतिद्वन्द्विता को एक विवशता के रूप में स्वीकार कर लेना ही युक्तियुक्त है ।

संगीत और अभिनय की प्रक्रिया को हम आँखों के सामने यन्त्रबद्ध स्थिति में देखते हैं। संगीत रिकार्डों के रूप में बजता है। ग्रामोफोन पर बजने वाले रिकार्ड और टेप रिकार्डरों के माध्यम से घर-आँगन में सुने जाने वाले टेप आज की गीत रुचि का बहुत बड़ा अंश पूरा करते हैं। हमें सोचना होगा कि किस प्रकार इन माध्यमों से जन जाग्रति के लिए आवश्यक आलोक घर-घर पहुँचना सम्भव हो सकता है।

साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि भारत छोटे देहातों में बिखरा हुआ ऐसा विस्तृत देश है जहाँ गरीबी और अशिक्षा का बोलबाला है, वहाँ क्रय शक्ति, यन्त्रों के उपयोग एवं सुधार का कौशल बहुत ही स्वल्प है। बिजली भी वहाँ नहीं पहुँच पाई है। सड़कों के अभाव में वहाँ सभ्यता के उपकरणों की पहुँच आसानी से नहीं हो पाती। इन दूरी और गहराई के ग्रामीण-क्षेत्रों में ही अपने देश की आधी से अधिक जनता रहती है। उनको यन्त्र संगीत का लाभ नहीं दिया जा सकता है। फिर, स्थानीय क्षेत्रीय भाषाएँ ही वहाँ लोकप्रिय हो सकती हैं। साहित्यिक भाषा के मर्म को समझ न सकने का बौद्धिक स्तर उन्हें यन्त्रबद्ध संगीत का वैसा लाभ नहीं लेने दे सकता जैसा कि शहरी और सुशिक्षित उठाते हैं। ऐसी दशा में उनके लिए परम्परागत संगीत और अभिनय के माध्यम जुटाने, उन्हें पुनर्जीवित करने की बात सोची जानी चाहिए।

रामलीला, रासलीला, नौटंकी, स्वाँग, भजन मण्डलियाँ, कीर्तन मण्डलियाँ, गीत, काव्य, नृत्य, सहगान जैसे विभिन्न स्तर के प्रचलन देश भर में पाये जाते हैं। उनके स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। शैली और प्रक्रिया में भी अन्तर है। पर वे जन-जीवन को कला के माध्यम से विचार देने की आवश्यकता निश्चित रूप से पूरी करते हैं। लोकरंजन तो वे करते ही हैं साथ ही उपस्थित लोगों पर निश्चित रूप से अपना प्रभाव भी छोड़ते हैं। पिछले दिनों इन कलामन्चों का उपयोग लोगों की माँग पूरी करने की दृष्टि से ही होता रहा है। सरलता भी उसी में है और माँग अधिक होने से लाभ भी। ऐसी दशा में इन कला प्रयोजनों में दो ही उद्देश्य झाँकते पाये जाते हैं। एक-कामुकता को भड़काने वाले प्रसंग दूसरे देवी-देवताओं के कौतूहलवर्द्धक एवं श्रद्धा को स्पष्ट करने वाले गीत-अभिनय। यहाँ यह समीक्षा करने का अवसर नहीं है कि उनका प्रभाव परिणाम कैसा हुआ। एक शब्द में इतना ही कह सकते हैं कि जिस दिशा में लोक-मानस को घसीट कर ले चलना चाहते हैं, उसमें योगदान प्रायः नहीं ही मिला। अब हमें नये सिरे से सोचना चाहिए और यह उनके पुनर्जीवन का प्रबन्ध करना चाहिए। इन परम्परागत कला प्रयोजनों ने सुसंचालन के अभाव में समय के अनुरूप स्तर न बदल पाने के कारण प्रायः दम तोड़ दिया है। सिनेमा की प्रतिद्वन्द्विता में उनकी उपेक्षा होने लगी और माँग घटी। ऐसी दशा में कुटीर उद्योगों की तरह उनका भी पराभव ही हो चला। इनको पुनर्जीवित और पुनर्गठन किया जाना चाहिए। उनका स्तर ऊँचा उठाने के लिए विधिवत् प्रशिक्षण विद्यालय चलने चाहिए। पूना में फिल्म कलाकारों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध हो सकता है तो परम्परागत संगीत अभिनय में आधुनिकता के समावेश का शिक्षा प्रबन्ध क्यों न किया जाय। यदि समुचित प्रशिक्षण सम्भव हो सकें तो यह कलामंच अपने ढंग से फिर निखर कर आ सकता है। जो क्षेत्र सिनेमा की प्रतिद्वन्द्विता से प्रभावित नहीं हुआ है, उसकी कला अभिलाषा की माँग सहज ही पूरी कर सकता है। अपनी ढपली अपना राग गाते फिरते-खुद ही बनाने, खुद ही बेचने की कठिनाई ने उपयोगी साधनों पर किस प्रकार, किन शर्तों पर भेजा जाय इसकी सुव्यवस्थित योजना बनाई जाय और उनके प्रति आकर्षण उत्पन्न करने वाला विज्ञापन किया जाय तो कोई कारण नहीं कि सिनेमा का ठीक प्रतिद्वन्द्वी लोकमंच पर पुनर्जीवित न किया जा सके। देहाती संगीत के लिए उन शैलियों की रक्षा करते हुए आधुनिकता का समावेश किया जा सके। इन विद्यालयों से स्थानीय एवं क्षेत्रीय ऐसे कलामंच का विकास हो सकता है जो व्यावसायिक उद्देश्य से नहीं, स्वान्तः सुखाय स्वयंसेवी एवं प्रतिभा प्रदर्शन की प्रेरणा से ऐसी मण्डलियाँ चलाने लगे। अभी भी स्थान-स्थान पर कीर्तन मंडलियाँ प्रायः इस प्रकार गठित होती और काम करती हैं।

कठपुतली, चित्रप्रदर्शनी, मैजिक लालटेन (स्लाइड प्रोजेक्टर) जैसे कितने ही अन्य माध्यम भी ऐसे हैं जिनमें आधा हस्त-कौशल है। रीछ-बन्दरों के तमाशे यों होते तो मनोरंजन के लिए हैं, पर उनके प्रदर्शनों में भी अवांछनीयता के उन्मूलन एवं आदर्शवादी स्थापना के तत्व जोड़े जा सकते है। जहाँ तक कि वह बाजीगर जैसे कौतूहल उत्पन्न करने वाले अभिनेता भी अपनी करामातों की व्याख्या इस तरह कर सकते हैं-उनका स्वरूप ऐसा रख सकते हैं जिनमें युग की प्रेरणाओं का समावेश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में होता रहे। क्षेत्रीय गीतों की सर्वत्र माँग है। घरेलू उत्सवों में महिलाओं को गाते-बजाते सर्वत्र ही देखा जा सकता है। उन्हें पीढ़ियों पुराने घिसे-पिटे गीतों से ही काम चलाना पड़ता है, यदि उन्हें युग के अनुरूप गीत उनकी क्षेत्रीय भाषाओं में उपलब्ध कराये जा सकें, तो उस आधार पर भी प्रवाह की एक उपयोगी धारा बहने लगती है। होली आदि के अवसरों पर, विवाह-शादियों में, पर्व-त्योहारों पर, मेले-ठेलों में पुरुषों के भी गीत-वाद्य नृत्य आदि चलते हैं, इनमें भी अभीष्ट प्रगतिशीलता का समावेश किया जा सके तो परम्परा को प्रगतिशीलता के सम्पर्क का लाभ मिल सकता है और उससे जनमानस के परिष्कार में भारी योगदान मिल सकता है।

युग की माँग को पूरा करने वाले ग्रामोफोन रिकार्डों की एक शृंखला-सी चल सकती है। विचारशील लोगों का सर्वथा अभाव नहीं है। उनकी भी अपनी रुचि और माँग है पर उसे पूरा करने वाले साधन कहाँ हैं ? ग्रामोफोन रिकार्ड इन दिनों लोकरुचि को ध्यान में रखते

हुए ही बनते हैं । पर लोकरुचि को सर्वथा घटिया ही क्यों मान लिया जाय । उसमें विचारशील वर्ग नहीं है और उसे उसकी रुचि के अनुरूप सामिग्री देने की आवश्यकता नहीं है ऐसा क्यों समझा जाय ? यदि प्रेरणाप्रद रिकार्ड बनें। उन्हें अपनाने वाला बहुत बड़ा वर्ग सामने आ खड़ा होगा । हर व्यक्ति अपनी कुरुचि को छिपकर पूरा करना चाहता है और सुरुचि का आवरण प्रदर्शन के लिए रखे रहने का इच्छुक है । फिल्म-क्षेत्र में भी यह डर बहुत दिन तक घुसा रहा । आदर्शवादी तस्वीरें चलेंगी नहीं । जनता उन्हें पसन्द न करेगी । पर जब कि अच्छी फिल्में बनीं और बुरी की तुलना में अधिक चलीं तब भय दूर हुआ और यह जाना गया कि आदर्शवादी माँग सर्वथा मृत नहीं है । उसने भी अपना क्षेत्र बना रखा है और वह इतना बड़ा है जिसमें कि इस दृष्टि से बनी वस्तुएँ उत्साहपूर्वक खपती रह सकती हैं । ग्रामोफोन रिकार्डों के बारे में भी यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि सुरुचिपूर्ण निर्माण के लिए इस क्षेत्र में भी बहुत गुंजाइश है और वह पूरी की जानी चाहिए ।

फिल्म निर्माण अपने आप में एक बहुत बड़ा काम है। इसे साहित्य-सृजन के समतुल्य ही महत्व मिलना चाहिए। यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि अपने देश में अखबार पढ़ने वाले पाठक जितने हैं उसकी तुलना में सिनेमा दर्शकों की संख्या कहीं अधिक है । समस्त पत्र-पत्रिकाओं में विचारोत्तेजक लेख छपने लगें और समस्त फिल्मों में प्रेरक तत्व घुस पड़ें तो दोनों की प्रतिस्पर्धा में सिनेमा का परिणाम कहीं अधिक रहेगा । संख्या की दृष्टि से ही नहीं प्रभाव की गहराई की दृष्टि से भी सिनेमा आगे रहता है । उसमें दृश्य, कथानक, शोभा, सौन्दर्य, संगीत, अभिनय और उनके तत्व मिले रहते हैं और भाव अभिव्यक्ति के लिए पूरा अवसर रहता है । इस सबका संयुक्त प्रभाव होना ही चाहिए । हम देखते हैं कि सिनेमा की प्रेरणाएँ नई पीढ़ी को भी कम प्रभावित नहीं करतीं । ऐसी दशा में साहित्य निर्माण योजना की तरह ही फिल्म निर्माण योजना को भी हाथ में लेकर चलना पड़ेगा अन्यथा उस क्षेत्र में घुसी विकृतियाँ साहित्य सृजन के सत्परिणामों को भी बर्बाद करती रहेंगी । बुरी फिल्मों की बुराई करते रहने भर से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । उनकी तुलना में अच्छी वस्तुएँ प्रस्तुत करनी पड़ेंगी । जब विवेक के सामने दो वस्तुएँ हों । तब ही उनमें से एक का चुनाव करना सम्भव होगा । जब एक ही पक्ष जमीन से आसमान तक छाया हुआ है तो आवश्यकता रहते हुए भी अभाव के कारण मन मारे चुप बैठा रहना पड़ेगा । फिल्म उद्योग काफी महँगा है । उसे आरम्भ करने मे बड़ी पूँजी लगती है यह ठीक है पर उद्योगपतियों की निजी अभिरुचि उस ओर तनिक-सी ढुलक पड़े तो अरबों-खरबों रुपयों की पूँजी से जिस प्रकार अन्य उद्योग चलाते हैं उसी प्रकार इसे भी हाथ में ले सकते हैं । अन्य उद्योगों की तुलना में लाभांश भी इसमें कम नहीं है । युग की माँग पूरी करने का श्रेय इसके अतिरिक्त है । जबकि अन्य उद्योगों में इसी प्रकार के की कोई गुंजाइश नहीं है । कई बार तो नशा-व्यवसाय जैसे कार्यों में जितना पैसा मिलता है उससे भी अधिक आत्मप्रताड़ना और लोकभर्त्सना की मार सहनी पड़ती है। यदि सुसम्पन्न व्यवसायी प्रतिभाओं को तथ्यों से अवगत कराया जा सके तो सम्भवतः निजी पूँजी इस प्रयोजन के लिए सहज ही प्राप्त हो सकती है । मिलों जैसे लिमिटेड संस्थान तो सहज ही बन सकते हैं और उनके शेयर भी हाथों हाथ बिक सकते हैं ।

यदि समृद्ध लोगों में अरुचि दिखाई पड़े तो जनस्तर पर भी यह कार्य हो सकता है। बड़ी प्रतिभाओं के अभाव में छोटी प्रतिभाएँ छोटे-छोटे संस्थान खड़े कर सकती हैं और पारस्परिक सहयोग से प्रगति क्रम तेजी से चल सकता है। प्रतिद्वन्द्विता की हानि और सहयोग के लाभ से हर कोई परिचित है ।

साहित्य-फिल्म क्षेत्रों में भी यदि छोटी प्रतिभाओं द्वारा छोटे-छोटे निर्माण संस्थान बनने लगें और वे परस्पर सहयोग की सुदृढ़ जंजीर से घनिष्टतापूर्वक मिले रहें तो उस संयुक्त शक्ति से विशाल परिमाण में विशाल उद्योग खड़े करने की कमी अखरेगी नहीं । इन छोटे-से संयुक्त प्रयास से भी लगभग ऐसी ही सम्भावना बन पड़ेगी जैसी कि बड़े लोगों के बड़े प्रयासों से होने की अपेक्षा की जाती है ।

संयुक्त प्रचार के केन्द्रीकरण से इस उद्योग के लिए कितनी ही आवश्यकताएँ सरलतापूर्वक और सस्ते मूल्य में जुटाई जा सकती हैं । निर्माण के लिए स्टूडियो केन्द्रीय प्रयास से बनें । कलाकारों को प्रशिक्षित कराने से लेकर स्थायी नियुक्ति तक कार्य का निर्माण केन्द्र करे । वही विभिन्न घटकों की आवश्यकता के अनुरूप कलाकारों की एवं निर्देशन की, कच्चे माल की, यन्त्रों की मरम्मत, साज-सज्जा आदि की व्यवस्था जुटाता रहे । ऐसी व्यवस्था बन जाने पर अब की अपेक्षा लागत आधी रह जाएगी । कौन क्या बनाये, किस क्षेत्र वर्ग की-क्या आवश्यकता पूरी करे इसकी नीति पहले ही निर्धारित कर ली जाय तो प्रतिस्पर्धा का कोई कारण नहीं रहेगा । प्राइवेट बसों और टैक्सियो वाले जब यूनियनें बनाकर सवारी ढोने का काम व्यवस्थापूर्वक चला सकते हैं और मुनाफे का बँटवारा करके, अनेक झंझटों और विद्वेषों से मुक्त रह सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि आदर्शवादी फिल्म उद्योग के छोटे घटकों को ऐसे केन्द्रीय गठन करते हुए चलने में कोई आपत्ति हो । यह नीति फिल्म और सहित्य दोनों उद्योगों में समान रूप से अपनाये जाने योग्य है । आवश्यकतानुसार फालतू पूँजी का भी एक घटक दूसरे घटक के साथ आदान-प्रदान करता रह सकता है । इस प्रकार इस केन्द्रीय संगठन की एक सहकारी बैंक भी पारस्परिक हितों की पूर्ति के लिए चलती रह सकती है । आयात-निर्यात के बड़े प्रयोजन भी इसके माध्यम से पूरे होते रह सकते हैं । उत्पादन के वितरण की व्यवस्था इस केन्द्र के साथ में देकर सभी घटक

प्रतिद्वन्द्विता से बचे रहकर निश्चिन्ततापूर्वक अपना काम चलाते रह सकते हैं ।

प्राचीन इतिहास-पुराणों के कथानकों के सथ आज की समस्याओं के समाधान का अभिनव आधार ऐसा है जिसमें चिरप्राचीन और चिरनवीन की संगति भली प्रकार बैठाई जा सकती है । इसमें संस्कृति की रक्षा भी है और प्राचीनता की गरिमामयी तेजस्विता का संरक्षण भी । फिल्में इसी आधार पर बनें जिसमें अपने गौरव भरे अतीत के प्रति श्रद्धा को अक्षुण्ण रखते हुए विकृतियों से जूझने और उत्कृष्टताओं के संस्थापन के लिए शौर्य, साहस भरा मार्गदर्शन मिल सके। अपने इतिहास-पुराणों में ऐसे असंख्य प्रसंग भरे पड़े हैं जिन्हें थोड़ा-सा रँग देकर आज के समाधानों में भली प्रकार 'फिट' किया जा सकता है । यह अथवा इससे मिलते-जुलते अन्य आदर्शवादी आधार कथानकों के लिए निर्धारित किये जा सकते हैं । इतिहास विशेषज्ञों एवं संस्कृति मर्मज्ञों का सहयोग इस प्रयोजन के लिए सहज ही संभव हो सकता है ।

प्रस्तुत फिल्म निर्माण के लिए किन क्रिया-प्रक्रियाओं का छोड़ा, अपनाया जाय, यह उस विषय के विशेषज्ञों के परामर्श से ही परिस्थितियों के अनुरूप निर्धारण किया जा सकता है । इन पंक्तियों में इतनी बारीकियों में जाने की आवश्यकता नहीं । अभी तो हमें रूपरेखा बनाने और उसके लिए साधन जुटाने की बात ही सोचनी चाहिए । अर्थ व्यवस्था वाला प्रकरण सर्वप्रथम है । दूसरे उन अनुभवी-प्रतिभाओं का सहयोग प्राप्त करने की बात है जो प्रचलित ढर्रे से आगे पीछे हटकर मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दे सकें । मितव्ययता के साथ-साथ उच्चस्तरीय कला-शालीनता का समन्वय कर सकना ही इस अभिनव प्रयास के लिए सुयोग्य होने का चिन्ह माना जाएगा । जमीन-आसमान का मोल माँगने वाले अभिनेता तथा साज-सज्जा पर होली की तरह जलाया जाने वाला धन इन नये प्रयासों में किसी भी प्रकार सहन नहीं किया जा सकता है, सादा जीवन उच्च विचार के सिद्धान्त इस विलासी व्यवसाय में किस हद तक समाविष्ट किये जा सकते हैं यही सिद्ध करना अपनी मौलिकता होनी चाहिए । स्वयंसेवी कलाकार और सौम्य सात्विक साज-सज्जा भी कला के गौरव को ऊँचा रखे रह सकते हैं, इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए नये युग के फिल्म निर्माताओं को आदि से अन्त तक परिष्कृत दृष्टिकोण का परिचय देना पड़ेगा । इस सन्दर्भ में पिछले पच्चीस वर्ष के अनुभवों में से मात्र यान्त्रिक अनुभव ही काम के हो सकते हैं । चालू ढर्रे को तो एक प्रकार से भुलाकर ही नये चिन्तन की आधारशिला पर खड़ा हो पाना बन पड़ेगा ।

देहातों के लिए चलते-फिरते सिनेमाघर इधर से उधर सरकसों की तरह खदेड़े-घसीटे जा सकते हैं । पैंतीस मिलीमीटर की भारी मशीनें और बड़े पर्दे छोटे क्षेत्रों के लिए बेकार हैं । सोलह मिलीमीटर के वे सिनेमा जो सरकारी प्रचार के लिए जो देहातों में भेजे जाते हैं, उपयुक्त हैं। उन्हें दो-सौ, पाँच-सौ व्यक्ति आसानी से देख सकते हैं। गाँव-कस्बों के लिए यही योजना अधिक व्यावहारिक है । ऐसे फिल्म बनाना सस्ता भी पड़ेगा । ढाई-तीन घन्टे की अपेक्षा इन कहानियों के लिए दो घन्टे का समय पर्याप्त है । फिल्म निर्माण के साथ-साथ यदि चलते-फिरते सिनेमाघर भी अपने ही बनाये जा सकें तो उसे दिखाने वाले सिनेमाघर-वितरणकर्त्ता (डिस्ट्रीब्यूटर) की अलग से आवश्यकता न रहेगी। मुनाफा कई जगह बँटने तथा आदर्शों, रुचियों की खींचतान होने की अपेक्षा पूरा तन्त्र एक नियन्त्रण में रहेगा तो निर्माण से लेकर प्रदर्शन तक की सारी गतिविधियाँ एक दिशा-धारा पर चलेंगी । साथ ही घाटा पड़ने जैसी कोई आशंका न रहेगी । सस्तेपन के कारण यह प्रदर्शन छोटे देहातों में, हाट-बाजारों में, मेले ठेले में भली प्रकार सफल हो सकते हैं । लागत कम होने से टिकट भी सस्ते ही रखे जाएँगे और वे अपने साथ जुड़े सदुद्देश्यों एवं प्रखर कलाकारों के कारण सफल भी अच्छी तरह होंगे ।

कला को विचार क्रान्ति के साथ जोड़ने के सन्दर्भ में यह कुछ थोड़े से सुझाव हैं । इन्हे पर्याप्त या अन्तिम नहीं कहा जा सकता। सोचने की यह एक दिशा है। इसे अपनाकर आगे की बात सोची, अपनायी और सुधारी जा सकती है। उपयोगिता और आवश्यकता को समझ लेने पर उनके योग्य पृष्ठभूमि बनाना कुछ बहुत कठिन नहीं रह जाता ।

श्रद्धा-सद्भावना का सम्वर्द्धन-धर्मतन्त्र के सहारे

जनमानस के परिष्कार के लिए विकृत चिन्तन की हानियाँ समझाया जाना आवश्यक है । साथ ही उसका पूरक पक्ष यह भी हृदयंगम कराया जाना है कि यदि हमारी विचार पद्धति में उत्कृष्टता के तत्वों का समावेश हो सके तो प्रस्तुत कठिनाइयों से किस प्रकार पीछा छुड़ाया और समस्याओं को सुलझाया जा सकता है । उलटे को उलट देने से वह सीधा हो जाता है । विचार क्रान्ति अभियान का तात्पर्य यही है कि इन दिनों संकीर्ण स्वार्थपरता, नैतिक मूल्यों की अवहेलना, मानवी मर्यादाओं के उल्लंघन की उच्छृंखलता, निष्ठुर दुष्टता, विलासी लोलुपता, उद्धत अहमन्यता का जो प्रवाह बह रहा है उसे उलट दिया जाय। अविवेक के अन्धकार में भटकते हुए लोग कुरीतियों, मूढ-मान्यताओं, अन्धविश्वासों के जाल-जंजाल में बेतरह उलझ गये हैं और परम्पराओं के नाम पर ऐसे प्रचलनों का अपनाये हुए हैं जिनकी न कोई उपयोगिता है और न आवश्यकता । इन भूल-भुलैयों में समय, शक्ति और साधनों का असीम अपव्यय होता है । फिर भी अभ्यस्त आदतें छोड़ते नहीं बनतीं । निरर्थकता सूझ तो पड़ती है, पर अवांछनीयताओं को बुहार फेंकने का साहस ही नहीं जुटता है । यथास्थिति बने रहने से शान्ति दीखती है ।

हुए ही बनते हैं । पर लोकरुचि को सर्वथा घटिया हो क्यों नान लिया जाय । उसमें विचारशील वर्ग नहीं है और उसे उसकी रुचि के अनुरूप सामिग्री देने की आवश्यकता नहीं है ऐसा क्यों समझा जाय ? यदि प्रेरणाप्रद रिकार्ड बनें। उन्हें अपनाने वाला बहुत बड़ा वर्ग सामने आ खड़ा होगा । हर व्यक्ति अपनी कुरुचि को छिपकर पूरा करना चाहता है और सुरुचि का आवरण प्रदर्शन के लिए रखे रहने का इच्छुक हे । फिल्म-क्षेत्र में भी यह डर बहुत दिन तक घुसा रहा । आदर्शवादी तस्वीरें चलेंगी नहीं । जनता उन्हें पसन्द न करेगी । पर जब कि अच्छी फिल्में बनीं और बुरी की तुलना में अधिक चलीं तब भय दूर हुआ और यह जाना गया कि आदर्शवादी माँग सर्वथा मृत नहीं है । उसने भी अपना क्षेत्र बना रखा है और वह इतना बड़ा है जिसमें कि इस दृष्टि से बनी वस्तुएँ उत्साहपूर्वक खपती रह सकती हैं । ग्रामोफोन रिकार्डों के बारे में भी यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि सुरुचिपूर्ण निर्माण के लिए इस क्षेत्र में भी बहुत गुंजाइश है और वह पूरी की जानी चाहिए ।

फिल्म निर्माण अपने आप में एक बहुत बड़ा काम है। इसे साहित्य-सृजन के समतुल्य हो महत्व मिलना चाहिए। गह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि अपने देश में अखबार पढ़ने वाले पाठक जितने हैं उसकी तुलना में सिनेमा दर्शकों की संख्या कहीं अधिक है । समस्त पत्र-पत्रिकाओं में विचारोत्तेजक लेख छपने लगें और समस्त फिल्मों में प्रेरक तत्व घुस पड़ें तो दोनों की प्रतिस्पर्धा में सिनेमा का परिणाम कहीं अधिक रहेगा । संख्या की दृष्टि से ही नहीं प्रभाव की गहराई की दृष्टि से भी सिनेमा आगे रहता है । उसमें दृश्य, कथानक, शोभा, सौन्दर्य, संगीत, अभिनय और उनके तत्व मिले रहते हैं और भाव अभिव्यक्ति के लिए पूरा अवसर रहता है । इस सबका संयुक्त प्रभाव होना ही चाहिए । हम देखते हैं कि सिनेमा की प्रेरणाएँ नई पीढ़ी को भी कम प्रभावित नहीं करतीं । ऐसी दशा में साहित्य निर्माण योजना की तरह ही फिल्म निर्माण योजना को भी हाथ में लेकर चलना पड़ेगा अन्यथा उस क्षेत्र में घुसी विकृतियाँ साहित्य सृजन के सत्परिणामों को भी बर्बाद करती रहेंगी । बुरी फिल्मों की बुराई करते रहने भर से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । उनकी तुलना में अच्छी वस्तुएँ प्रस्तुत करनी पडेंगी । जब विवेक के सामने दो वस्तुएँ हों । तब ही उनमें से एक का चुनाव करना सम्भव होगा । जब एक ही पक्ष जमीन से आसमान तक छाया हुआ है तो आवश्यकता रहते हुए भी अभाव के कारण मन मारे चुप बैठा रहना पड़ेगा । फिल्म उद्योग काफी महँगा है । उसे आरम्भ करने में बड़ी पूँजी लगती है यह ठीक है पर उद्योगपतियों की निजी अभिरुचि उस ओर तनिक-सी ढुलक पड़े तो अरबों-खरबों रुपयों की पूँजी से जिस प्रकार अन्य उद्योग चलाते हैं उसी प्रकार इसे भी हाथ में ले सकते हैं । अन्य उद्योगों की तुलना में लाभांश भी इसमें कम नहीं है । युग की माँग पूरी करने का श्रेय इसके अतिरिक्त है । जबकि अन्य उद्योगों में इसी प्रकार के यश की कोई गुंजाइश नहीं है । कई बार तो नशा-व्यवसाय जैसे कार्यों में जितना पैसा मिलता है उससे भी अधिक आत्मप्रताड़ना और लोकभर्त्सना की मार सहनी पड़ती है। यदि सुसम्पन्न व्यवसायी प्रतिभाओं को तथ्यों से अवगत कराया जा सके तो सम्भवतः निजी पूँजी इस प्रयोजन के लिए सहज ही प्राप्त हो सकती है । मिलों जैसे लिमिटेड संस्थान तो सहज ही बन सकते हैं और उनके शेयर भी हाथों हाथ बिक सकते हैं ।

यदि समृद्ध लोगों में अरुचि दिखाई पड़े तो जनस्तर पर भी यह कार्य हो सकता है। बड़ी प्रतिभाओं के अभाव में छोटी प्रतिभाएँ छोटे-छोटे संस्थान खड़े कर सकती हैं और पारस्परिक सहयोग से प्रगति क्रम तेजी से चल सकता है । प्रतिद्वन्द्विता की हानि और सहयोग के लाभ से हर कोई परिचित है ।

साहित्य-फिल्म क्षेत्रों में भी यदि छोटी प्रतिभाओं द्वारा छोटे-छोटे निर्माण संस्थान बनने लगें और वे परस्पर सहयोग की सुदृढ़ जंजीर से घनिष्टतापूर्वक मिले रहें तो उस संयुक्त शक्ति से विशाल परिमाण मे विशाल उद्योग खडे करने की कमी अखरेगी नहीं । इन छोटे-से संयुक्त प्रयास से भी लगभग ऐसी ही सम्भावना बन पड़ेगी जैसी कि ब लोगों के बड़े प्रयासों से होने की अपेक्षा की जाती है ।

संयुक्त प्रचार के केन्द्रीकरण से इस उद्योग के लिए कितनी ही आवश्यकताएँ सरलतापूर्वक और सस्ते मूल्य मे जुटाई जा सकती हैं । निर्माण के लिए स्टूडियो केन्द्रीय प्रयास से बनें । कलाकारों को प्रशिक्षित कराने से लेकर स्थायी नियुक्ति तक कार्य का निर्माण केन्द्र करे । वही विभिन्न घटकों की आवश्यकता के अनुरूप कलाकारो की एवं निर्देशन की, कच्चे माल की, यन्त्रों की मरम्मत, साज-सज्जा आदि की व्यवस्था जुटाता रहे । ऐसी व्यवस्था बन जाने पर अब की अपेक्षा लागत आधी रह जाएगी । कौन क्या बनाये, किस क्षेत्र वर्ग की-क्या आवश्यकता पूरी करे इसकी नीति पहले ही निर्धारित कर ली जाय तो प्रतिस्पर्धा का कोई कारण नहीं रहेगा । प्राइवेट बसो और टैक्सियों वाले जब यूनियनें बनाकर सवारी ढोने का काम व्यवस्थापूर्वक चला सकते है और मुनाफे का बँटवारा करके, अनेक झंझटों और विद्वेषों से मुक्त रह सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि आदर्शवादो फिल्म उद्योग के छोटे घटकों को ऐसे केन्द्रीय गठन करते हुए चलने में कोई आपत्ति हो । यह नीति फिल्म और सहित्य दोनों उद्योगों में समान रूप से अपनाये जाने योग है । आवश्यकतानुसार फालतू पूँजी का भी एक घटव दूसरे घटकके साथ आदान-प्रदान करता रह सकता है । इस प्रकार इस केन्द्रीय संगठन की एक सहकारी बैंक भी पारस्परिक हितों की पूर्ति के लिए चलती रह सकती है । आयात-निर्यात के बड़े प्रयोजन भी इसके माध्यम से पूरे होते रह सकते हैं । उत्पादन के वितरण की व्यवस्था इस केन्द्र के साथ में देकर सभी घटक

इतिहास के पन्ने पर अंकित हैं। वस्तुतः उस गौरव-गरिमा के पीछे उत्कृष्ट धर्म धारणा ही झाँकती देखी जा सकती हैं। मध्यकाल के अंधकार युग में समाज के हर क्षेत्र में विकृतियों का अंधाधुंध प्रवेश हुआ है। उन्होंने कोई क्षेत्र अधूरा नहीं छोड़ा। ऐसी दशा में धर्मक्षेत्र ही उससे प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकता है। आज उस क्षेत्र में प्रतिगामिता, मान्यता एवं धूर्तता का बोलबाला देखते हुए अश्रद्धा उत्पन्न होती है और अनुपयोगिता लगती है पर वस्तुतः वैसी बात नहीं। रोगी हो जाने पर तो अपना शरीर भी कैसा घिनौना और अशक्त बन जाता है। पर इतने से ही उसका परित्याग न कर रोग को मारने और रोगी को बचाने की नीति अपनाई जाती है। इसी प्रकार धर्मक्षेत्र में घुसी हुई विकृतियों को तो सिर के बालों में घुसे जुँओं की तरह खदेड़ना चाहिए। इसके लिए इतना अत्युत्साह निरर्थक है जिसमें जुँए मारने के उद्देश्य से सिर काट डाला जाय। धर्मक्षेत्र की विकृतियों को थोड़े साहस और प्रयास के साथ आसानी से भगाया जा सकता है। इसी प्रकार प्रयत्नशील पुरुषार्थ और दूरदर्शी विवेक के सहारे उसे प्राचीनकाल जैसी उच्च स्थिति में लाया जा सकता है, जिसमें सर्वतोमुखी विकास में उसका असाधारण योगदान मिलता रहे।

हम पिछले तीस वर्षों से इसी प्रयत्न में संलग्न रहे हैं। उलट-पुलटकर कितने ही प्रयोग-परीक्षण करते रहे हैं। उनकी भली-बुरी प्रतिक्रियाओं पर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण करते रहे हैं। इस अनुभव के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस बुद्धिवादी, विज्ञानवादी और प्रत्यक्षवादी युग में धर्म प्रक्रिया की गरिमा और उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं आया है। हाँ, उसकी क्रिया-प्रक्रिया का, उपयोग-सामयिक समाधानों को ध्यान में रखते हुए करने की दूरदर्शिता का समावेश उसमें अवश्य रखना पड़ेगा। इतना कर लेने पर उसका लाभ अशिक्षितों से लेकर सुशिक्षितों तक सभी भली प्रकार समान रूप से उठा सकेंगे।

लोकमानस में श्रद्धा-तत्व को जमाये रखा जाना चाहिए। उसी के आधार पर मनुष्य में ऋषि-जन्य भावनाएँ उभरती हैं और देवोपम गतिविधियाँ अपनाने की उमंगें उठती हैं। भावना, मानवी सत्ता का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। युग परिवर्तन के लिए जिन सद्विचारणाओं और सत्प्रकृतियों के अभिवर्द्धन की आवश्यकता है, उनको प्रतिष्ठापित कर सकना जीवन्त सद्भावना के लिए ही सम्भव है। सद्भावनाओं का, उच्चस्तरीय आस्थाओं का आरोपण और अभिवर्द्धन ही धर्म तत्व का एकमात्र लक्ष्य है। व्यक्ति का मूल्य इसी आधार पर बढ़ता और समाज में प्रगति का प्रवाह इसी मार्ग से बहता है। धर्म श्रद्धा शब्द यदि प्रस्तुत विकृतियों के कारण बदनाम हो गया हो और चिढ़ उत्पन्न करता हो तो उसके स्थान पर उत्कृष्ट आदर्शवादी आस्था कहा जा सकता है या कोई और नाम दिया जा सकता है। जो हो, जनमानस में उत्कृष्ट -सत्प्रवृत्तियों के उभरने की आशा की जा सकती है। अस्तु, नवयुग के निर्माण की बात सोचते समय हमें धर्मतत्व को जीवंत और सक्रिय रखने की आवश्यकता भली प्रकार समझ लेनी चाहिए। सामाजिक, राजनैतिक आधारों पर भी व्यक्ति के उत्कृष्ट बने रहने की बात कही जा सकती है पर वस्तुतः वे थोथी दलीलें हैं। अन्तरात्मा के मर्मस्थल तक-धर्म श्रद्धा स्तर की प्रगाढ़ आस्थाएँ यदि जमीं न रह सकीं तो मनुष्य श्रेष्ठता को नीति की तरह भले ही अपना ले, उसे आन्तरिक प्रेरणा जैसा प्रबल न बना सकेगा। इसके अभाव में कोई मनुष्य इस स्तर तक ऊँचा न उठ सकेगा कि महान कार्य कर सके। विवेकसम्मत सत्श्रद्धा को परिपुष्ट करना जितना सरल धर्मतन्त्र के सहारे हो सकता है उतना किसी प्रकार नहीं। इसे जनमानस की भावसम्पदा का उत्पादन और अभिवर्द्धन आधार मानकर चला जा सकता है।

हिन्दू धर्म के क्षेत्र में धर्ममंच से लोकशिक्षण का कार्य हम करते रहे हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अन्यान्य धर्मों में भी इसी आधार पर अपने-अपने ढंग से प्रयोग होने चाहिए। सबकी अपनी-अपनी भिन्नता, मौलिकता, विशेषता बनी रहे। धर्मतत्व-सार्वभौम, सर्वजनीन, सनातन एवं शाश्वत है। मात्र उसके कलेवरों में ही देशकाल के अनुरूप भिन्नता पाई जाती है। इन प्रथा-परम्पराओं में सदा से समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं और यह क्रम अनन्त काल तक चलता रहेगा। जो प्रथाएँ असामयिक, अनावश्यक हो गई उनकी उपेक्षा की जा सकती है। सर्वोपयोगी अंशों को उभारा जा सकता है और उसे भावनात्मक परिष्कार में भारी सहयोग लिया जा सकता है। संसार में अनेक धर्म हैं। उनमें से हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, यहूदी, पारसी आदि प्रमुख हैं। दो-तिहाई जनता पर इनका प्रभाव है। इस प्रभाव से प्रेरित होकर लोग समय, श्रम, मनोयोग और धन भी प्रचुर परिमाण में धर्म प्रयोजनों के लिए लगाते हैं इस प्रभाव को उत्कृष्टतावादी रचनात्मक दिशा देने के लिए प्रयत्न किया जा सके तो निश्चय ही उस नियोजन से मनुष्य जाति का भारी हित साधन हो सकता है।

धार्मिक प्रथा-परम्पराओं की, मान्यताओं की, कर्म-कांडों की, कथा-पुराणों की, धर्मशास्त्रों की व्याख्या-विवेचनाएँ प्रगतिशील आधार अपनाकर सहज ही की जा सकती हैं। पर्व-त्यौहारों का, क्रिया-कृत्यों और अनुष्ठानों का स्वरूप थोड़ा-सा मोड़ देने पर ऐसा उपयोगी बन सकता है कि उससे जनमानस के परिष्कार का आधार भली प्रकार बन सके। वे प्रयोग असफल रहे हैं जिनमें अन्य धर्मों को मिटाकर अपना एक ही धर्म विश्वव्यापी देखने की महत्वाकांक्षाओं ने बुरे से बुरे कुकृत्य कराये हैं। इस प्रयत्न में आतंक और प्रलोभन के सारे दबाव असफल हो गये। प्रचार के कथनोपकथन तो सफल होते ही कैसे ? दूसरे ये प्रयोग भी असफल रहे हैं जिनमें सर्वधर्म समन्वय की चेष्टा की गई है। विभिन्न आकार-प्रकार के जीव-जन्तुओं के अंग-प्रत्यंग जोड़ कर एक नया प्राणी बनाने का प्रयत्न जिस प्रकार उपहासास्पद रहता उसी प्रकार सब

२.२१ सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?

परिवर्तन के लिए जिस उथल-पुथल की आवश्यकता पड़ती है, उसमे अशान्ति दिखती है और डर लगता है। आत्महीनता का अवसाद अवांछनीयताओं और दानवी दुष्टता का अहंकार उद्दण्डताओं के रूप में ताण्डव नृत्य करते हुए देखा जा सकता है। यही है अपने युग की असंख्य उलझनों और विपत्तियों का एकमात्र कारण। विपत्तियो का स्वरूप तो बाहरी उलझनों के रूप में दीखता है, पर उसकी जड़ें चिन्तन की विकृति में घुसी हुई हैं। चिन्तन का परिमार्जन-परिष्कार किये बिना प्रगति का प्रयोजन हल नहीं हो सकेगा। विकृत दृष्टिकोण अपनाये रहने पर जीवन के हर क्षेत्र में, समाज के हर पक्ष में छाई हुई समस्याओ में से एक का भी स्थायी समाधान न हो सकेगा। सामूहिक उत्कर्ष की, उज्ज्वल भविष्य की, शान्ति और स्थिरता की आकांक्षा तब तक पूरी न हो सकेगी, जब तक विकृत चिन्तन के उन्मूलन के लिए परशुराम जैसा शिरच्छेद करने वाला विचार क्रान्ति का कुल्हाड़ा पूरी गति के साथ सक्रिय न किया जाय।

कहा जा चुका है कि इसके लिए प्रचारात्मक साधनों को गतिशील करने की सर्वप्रथम आवश्यकता है। साहित्य और कला के अस्त्र-शस्त्र इस प्रयोजन के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। आस्थाओ को, अभिरुचियों को, भावनाओं को स्पर्श करने की दिशा देने में मौलिक शक्ति उस तत्व-दर्शन में है जिसे धर्म एवं अध्यात्म कहते हैं। बोलचाल की भाषा में इन दोनों को सभ्यता एवं संस्कृति कहा जा सकता है। धर्म आचरण अध्यात्म चिंतन की पृष्ठभूमि बनाता है इसलिए इन माध्यमों को लोकमानस् के परिष्कार में शक्तिशाली उपाय के रूप में कार्यान्वित किया जा सकता है। प्राचीनकाल में इन्हीं माध्यमों को सर्वोपरि मान्यता मिली थी और मानवी व्यक्तित्वों को चरम उन्नति के स्तर तक पहुँचाया गया था। आज भी इनका अवलम्बन प्राचीनकाल की तरह किया जा सकता है, जैसा कि हमारे गौरव भरे अतीत के रूप में चिरकाल तक छाया रहा।

धर्ममंच से लोकशिक्षण की प्रक्रिया अपनी चिरप्राचीन और चिरनवीन संस्कृति का समन्वय करती है। भौतिक उपायों से उथल-पुथल करने से विद्रोही स्वर उभरते और आक्रोश भरे संघर्ष खड़े होते हैं। घृणा की आत्मा ही ऐसी उत्तेजना कर सकती है, जिसके सहारे क्रान्तिकारी उलट-पुलट सम्भव हो सके। यह इस सामयिक उपचार से हो जाती है। अवांछनीयता के उखाड़ने में तात्कालिक सफलता मिल जाती है पर उभरा हुआ आक्रोश अपनी मूल प्रकृति की गहरी छाप लोगों के स्वभाव में सम्मिलित कर जाता है। फलत: प्रकृति नये उपद्रव खड़े करती और नई समस्याएँ गढ़ती है। रोगों को मारने के लिए विषाणुनाशक औषधियाँ पाई जाती हैं। इस से रोग का उभार तो रुक जाता है पर वे मारक औषधियाँ शरीर में नये-नये उपद्रव खडे करती हैं। ठीक इसी प्रकार अवांछनीयताओं के विरुद्ध आक्रोश भरे संघर्ष मानवी प्रकृति में ऐसे तत्व भर देते हैं जो अभ्यास में आने पर शांति और व्यवस्था के लिए घातक सिद्ध होते हैं। लड़ाकू आदत को जब शत्रु नहीं मिलते तो मित्रों से ही झगड़ने लगती है। इस कठिनाई से बचने के लिए धर्मतन्त्र से लोकशिक्षण की पद्धति अधिक सुरुचिपूर्ण, अधिक सौम्य एवं अधिक सार्थक सिद्ध होती है। प्रकाश उत्पन्न करके अंधेरे को दूर करना अथवा अँधेरे की जड़ें उखाड़ने के लिए प्रकाश जलाना तत्वत: एक ही उद्देश्य पूरा करते हैं। अन्तर मात्र विधेयात्मक और निषेधात्मक दृष्टिकोण का है। धर्ममंच से लोकशिक्षण की प्रक्रिया जिस शालीनता को श्रद्धा-संवर्द्धन के साथ-साथ सुविकसित करती है उसी की प्राप्ति के लिए विद्रोही स्वर घृणा उभारते और संघर्ष खड़ा करते हैं। स्थिति असह्य हो जाने पर इस प्रकार के तीखे उपचार भी आवश्यक हो जाते हैं और उन्हें विवशता की स्थिति में, अपवाद की तरह अपनाना भी पड़ता है। फोड़ा बहुत कष्टकर हो तो आपरेशन की अनिवार्यता से भी इनकार नहीं किया जाता, पर सामान्य प्रक्रिया यही है कि रक्त को शुद्ध रखा जाय एवं रक्तशोधन का सौम्य उपचार अपनाया जाय। धर्ममंच का उपयोग शालीनता की स्थापना के लिए होता रहा है। इससे भी बहुत हद तक युग की विकृतियों का उन्मूलन और देव संस्कृति के संस्थापन में महत्वपूर्ण योगदान मिल सकता है।

युग निर्माण योजना द्वारा जनमानस के परिष्कार का समर्थ उपाय धर्मतंत्र से लोकशिक्षण अपनाया गया है। पिछले तीस वर्षों में इस प्रयोग-परीक्षण ने जो उत्साहवर्द्धक सफलता प्रदान की है, इससे यह विश्वास सुदृढ़ हुआ है कि इस उपाय का यदि अधिक व्यापक और अधिक सुव्यवस्थित रीति से अवलम्बन किया जाय तो अभीष्ट परिवर्तन का उद्देश्य अधिक सरलता और अधिक सफलता के साथ सम्पन्न हो सकता है। प्रगति थोड़ी मन्द हो तो भी यह सोचकर धैर्य और सन्तोष किया जा सकता है कि इस आधार को अपनाये रहने पर मानवी गरिमा के लिए जीवन-प्राण जैसा आवश्यक श्रद्धा तत्व जीवित बना रहेगा। संघर्ष से आस्थाएँ उखड़ती हैं और फिर चेतना की आदत सर्वत्र अविश्वास करने, आशंका रखने और छिद्रान्वेषण करने की बन जाती है। ऐसी असन्तुष्ट मन:स्थिति में उच्चस्तरीय आदर्शों के प्रति वैसी सघन श्रद्धा जमना अति कठिन हो जाता है, जिसके सहारे सामान्य मनुष्य महामानव बनते और ऐतिहासिक भूमिका निभाने वाले त्याग-बलिदान भरे अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करते हैं। प्रकारान्तर से यह हानि भी लगभग उसी स्तर पर जा पहुँचती है जिससे कि अवांछनीयताओं के कारण कष्ट सहने पड रहे थे। धर्मतन्त्र से लोकशिक्षण की पद्धति में जोश-खरोश की उत्तेजना तो नहीं है पर उनमें उस सृजन के समस्त तत्व मौजूद है जिन्हें हम धरती पर स्वर्ग के अवतरण, रामराज्य, धर्मराज्य, सतयुग आदि के नाम से मूर्तिमान देखने की अभिलाषा सँजोये हुए हैं।

भारतीय समाज मे यह प्रयोग अतीत के लाखों वर्षों से सफलतापूर्वक चला है। उसके सत्परिणामों के साक्षी

इतिहास के पन्ने पर अंकित हैं। वस्तुतः उस गौरव-गरिमा के पीछे उत्कृष्ट धर्म धारणा ही झाँकती देखी जा सकती हैं। मध्यकाल के अंधकार युग में समाज के हर क्षेत्र में विकृतियों का अंधाधुंध प्रवेश हुआ है। उन्होंने कोई क्षेत्र अधूरा नहीं छोड़ा। ऐसी दशा में धर्मक्षेत्र ही उससे प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकता है। आज उस क्षेत्र में प्रतिगामिता, मान्यता एवं धूर्तता का बोलबाला देखते हुए अश्रद्धा उत्पन्न होती है और अनुपयोगिता लगती है पर वस्तुतः वैसी बात नहीं। रोगी हो जाने पर तो अपना शरीर भी कैसा घिनौना और अशक्त बन जाता है। पर इतने से ही उसका परित्याग न कर रोग को मारने और रोगी को बचाने की नीति अपनाई जाती है। इसी प्रकार धर्मक्षेत्र में घुसी हुई विकृतियों को तो सिर के बालों में घुसे जुँओं की तरह खदेड़ना चाहिए। इसके लिए इतना अत्युत्साह निरर्थक है जिसमें जुँए मारने के उद्देश्य से सिर काट डाला जाय। धर्मक्षेत्र की विकृतियों को थोड़े साहस और प्रयास के साथ आसानी से भगाया जा सकता है। इसी प्रकार प्रयत्नशील पुरुषार्थ और दूरदर्शी विवेक के सहारे उसे प्राचीनकाल जैसी उच्च स्थिति में लाया जा सकता है, जिसमें सर्वतोमुखी विकास में उसका असाधारण योगदान मिलता रहे।

हम पिछले तीस वर्षों से इसी प्रयत्न में संलग्न रहे हैं। उलट-पुलटकर कितने ही प्रयोग-परीक्षण करते रहे हैं। उनकी भली-बुरी प्रतिक्रियाओं पर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण करते रहे हैं। इस अनुभव के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस बुद्धिवादी, विज्ञानवादी और प्रत्यक्षवादी युग में धर्म प्रक्रिया की गरिमा और उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं आया है। हाँ, उसकी क्रिया-प्रक्रिया का, उपयोग-सामयिक समाधानों को ध्यान में रखते हुए करने की दूरदर्शिता का समावेश उसमें अवश्य रखना पड़ेगा। इतना कर लेने पर उसका लाभ अशिक्षितों से लेकर सुशिक्षितों तक सभी भली प्रकार समान रूप से उठा सकेंगे।

लोकमानस में श्रद्धा-तत्व को जमाये रखा जाना चाहिए। उसी के आधार पर मनुष्य में ऋषि-जन्य भावनाएँ उभरती हैं और देवोपम गतिविधियाँ अपनाने की उमंगें उठती हैं। भावना, मानवी सत्ता का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। युग परिवर्तन के लिए जिन सद्विचारणाओं और सत्प्रकृतियों के अभिवर्द्धन की आवश्यकता है, उनको प्रतिष्ठापित कर सकना जीवन्त सद्भावना के लिए ही सम्भव है। सद्भावनाओं का, उच्चस्तरीय आस्थाओं का आरोपण और अभिवर्द्धन ही धर्म तत्व का एकमात्र लक्ष्य है। व्यक्ति का मूल्य इसी आधार पर बढ़ता और समाज में प्रगति का प्रवाह इसी मार्ग से बहता है। धर्म श्रद्धा शब्द यदि प्रस्तुत विकृतियों के कारण बदनाम हो गया हो और चिढ़ उत्पन्न करता हो तो उसके स्थान पर उत्कृष्ट आदर्शवादी आस्था कहा जा सकता है या कोई और नाम दिया जा सकता है। जो हो, जनमानस में उत्कृष्ट सत्प्रवृत्तियो के उभरने की आशा की जा सकती है। अस्तु, नवयुग के निर्माण की बात सोचते समय हमें धर्मतत्व को जीवंत और सक्रिय रखने की आवश्यकता भली प्रकार समझ लेनी चाहिए। सामाजिक, राजनैतिक आधारों पर भी व्यक्ति के उत्कृष्ट बने रहने की बात कही जा सकती है पर वस्तुतः ये थोथी दलीलें हैं। अन्तरात्मा के मर्मस्थल तक-धर्म श्रद्धा स्तर की प्रगाढ़ आस्थाएँ यदि जमीं न रह सकीं तो मनुष्य श्रेष्ठता को नीति की तरह भले ही अपना ले, उसे आन्तरिक प्रेरणा जैसा प्रबल न बना सकेगा। इसके अभाव में कोई मनुष्य इस स्तर तक ऊँचा न उठ सकेगा कि महान कार्य कर सके। विवेकसम्मत सत्श्रद्धा को परिपुष्ट करना जितना सरल धर्मतन्त्र के सहारे हो सकता है उतना किसी प्रकार नहीं। इसे जनमानस की भावसम्पदा का उत्पादन और अभिवर्द्धन आधार मानकर चला जा सकता है।

हिन्दू धर्म के क्षेत्र में धर्ममंच से लोकशिक्षण का कार्य हम करते रहे हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अन्यान्य धर्मों में भी इसी आधार पर अपने-अपने ढंग से प्रयोग होने चाहिए। सबकी अपनी-अपनी भिन्नता, मौलिकता, विशेषता बनी रहे। धर्मतत्व-सार्वभौम, सर्वजनीन, सनातन एवं शाश्वत है। मात्र उसके कलेवरों में ही देशकाल के अनुरूप भिन्नता पाई जाती है। इन प्रथा-परम्पराओं में सदा से समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं और यह क्रम अनन्त काल तक चलता रहेगा। जो प्रथाएँ असामयिक, अनावश्यक हो गई उनकी उपेक्षा की जा सकती है। सर्वोपयोगी अंशों को उभारा जा सकता है और उसे भावनात्मक परिष्कार में भारी सहयोग लिया जा सकता है। संसार में अनेक धर्म हैं। उनमें से हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, यहूदी, पारसी आदि प्रमुख हैं। दो-तिहाई जनता पर इनका प्रभाव है। इस प्रभाव से प्रेरित होकर लोग समय, श्रम, मनोयोग और धन भी प्रचुर परिमाण में धर्म प्रयोजनों के लिए लगाते हैं इस प्रभाव को उत्कृष्टतावादी रचनात्मक दिशा देने के लिए प्रयत्न किया जा सके तो निश्चय ही उस नियोजन से मनुष्य जाति का भारी हित साधन हो सकता है।

धार्मिक प्रथा-परम्पराओं की, मान्यताओं की, कर्म-कांडों की, कथा-पुराणों की, धर्मशास्त्रों की व्याख्या-विवेचनाएँ प्रगतिशील आधार अपनाकर सहज ही की जा सकती हैं। पर्व-त्यौहारों का, क्रिया-कृत्यों और अनुष्ठानों का स्वरूप थोड़ा-सा मोड़ देने पर ऐसा उपयोगी बन सकता है कि उससे जनमानस के परिष्कार का आधार भली प्रकार बन सके। वे प्रयोग असफल रहे हैं जिनमें अन्य धर्मों को मिटाकर अपना एक ही धर्म विश्वव्यापी देखने की महत्वाकांक्षाओं ने बुरे से बुरे कुकृत्य कराये हैं। इस प्रयत्न में आतंक और प्रलोभन के सारे दबाव असफल हो गये। प्रचार के कथनोपकथन तो सफल होते ही कैसे ? दूसरे वे प्रयोग भी असफल रहे हैं जिनमें सर्वधर्म समन्वय की चेष्टा की गई है। विभिन्न आकार-प्रकार के जीव-जन्तुओं के अंग-प्रत्यंग जोड़ कर एक नया प्राणी बनाने का प्रयत्न जिस प्रकार उपाहासास्पद रहता उसी प्रकार सब

धर्मों का एक-एक टुकड़ा इकट्ठा करके एक नये धर्म का सृजन करना यह भी ऐसी कल्पना है जिसे पूरा करने के लिए अनेकों ने प्रयत्न किये और वे सभी निराश होकर बैठ गये। कारगर एक ही उपाय हो सकता है कि सब धर्म अपने-अपने स्थान पर कायम रहें। वे सभी अपने भीतर की विकृतियों की, अनुपयोगी मान्यताओं की उपेक्षा करना स्वयं ही आरम्भ कर दें। जहाँ कहीं परस्पर टकराने वाले तत्व हैं उन पर जोर न दें, एक दूसरे के पूरक और सहयोगी बनकर रहें। गुलदस्ते में कई तरह के फूल जब मिल-जुल कर शोभा-साधन बन सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि धर्मों का पारस्परिक सहयोग-सद्भाव मिल-जुलकर मानवी गरिमा को बढ़ाने वाली स्थापनाओं के लिए मिल-जुलकर कदम न बढ़ा सके।

युग निर्माण के छोटे से क्षेत्र में हिन्दू धर्म की परम्पराओं को युग के अनुरूप ढालने में जिस प्रकार प्रयत्न किया है उस प्रयोग, परीक्षण से अन्य धर्मावलम्बी भी लाभ उठा सकते हैं। इस प्रयास में से जिसके लिए जितना उपयोगी रहे वह उसमें से उतना प्रयोग में ला सकता है। यह कार्य ऐसा है जिसे उसी धर्म की मूर्धन्य प्रतिभाओं को अपने हाथ में लेना चाहिए। बाहर के लोगों पर हस्तक्षेप करने जैसे आक्षेप लगाये जा सकते हैं। शंकाशीलता को मानवी दुर्बलता को ध्यान मे रखते हुए उचित यही है कि हर क्षेत्र अपने आप ही-अपने लोगों द्वारा सुधार-परिष्कार की प्रक्रिया आरम्भ करें। स्वामी दयानन्द, मार्टिन लूथर, बहाउल्ला आदि अनेक सुधारकों ने अपने-अपने क्षेत्र में फैली विकृतियों की कटु आलोचना की और उनके सुधार में बहुत हद तक सफलता भी मिली। यही कार्य यदि अन्य धर्मावलम्बी एक दूसरे के धर्मों को सुधारने के लिए करते तो उलटी प्रतिक्रिया होती। अस्तु, समस्त मानव जाति में सद्भाव श्रद्धा के संवर्द्धन के लिए सभी धर्म क्षेत्रों में प्रयत्न आरम्भ किये जाने चाहिए। हिन्दू धर्म के क्षेत्र में जो कार्य युग निर्माण योजना करती रही है उसकी प्रारम्भिक रूप-रेखा अन्यान्य धर्मों के लिए भी प्रस्तुत करने का विचार है। यह प्रयास मात्र इसलिए होगा कि उस आधार पर उन-उन धर्मों के क्षेत्र में अधिक उत्साहपूर्वक अधिक तैयारी के साथ, अधिक स्पष्ट आधार सामने रखते हुए कार्य आरम्भ किया जा सके।

धर्मशक्ति का उपयोग जन-मानस के परिष्कार के लिए अत्यन्त सरलता और सफलतापूर्वक किया जा सकता है। सत्श्रद्धा और सद्भावना के सहारे ही नवयुग की सुखद सम्भावनाओं को मूर्तिमान किया जा सकेगा। इसके लिए नया तन्त्र खड़ा करने की अपेक्षा यही अधिक सुविधाजनक है कि वर्तमान धर्म-सम्प्रदायों की मूर्धन्य सत्ताओं को युग की आवश्यकता पूरी करने के लिए सहमत किया जाय अथवा ऐसे लोगों को धर्ममंच के सुसंचालन का उत्तरदायित्व सौंपा जाय, जो मानवी अन्त:करण को प्रभावित करने वाली-भाव सरिता की भागीरथी जन-मानस में बहाने की उपयोगिता समझते हैं और उस महती शक्ति के उचित उपयोग में अपनी कुशलता का परिचय दे सकें।

नवनिर्माण की पाँच प्रमुख संरचनाएँ

बौद्धिक प्रशिक्षण से जानकारियाँ मिलती हैं। जिधर ध्यान नहीं था उधर ध्यान जाता है। अभ्यास में आई हुई अवांछनीयताओं के दुष्परिणामों को अधिक अच्छी त हृदयंगम कराने और उन्हें छोड़ने की आतुरता उत्पन्न कर में प्रगतिशील विचारणा से बड़ी सहायता मिलती है। इ प्रकार जिन सद्गुणों को, सत्प्रवृत्तियों को अपनाने उत्साह नहीं उठ रहा था उनके प्रति आकुलता उत्प करने का प्रयोजन भी ज्ञान यज्ञ के आलोक में सम्भव सकता है। मस्तिष्क को दिशा देना, औचित्य के लाभ अ अनौचित्य के दुष्परिणामों को अच्छी तरह समझा जा स तो कुमार्ग एवं भटकाव को छोड़कर सन्मार्ग अपनाने क सहज इच्छा उत्पन्न होती है। इस इच्छा के साथ-साथ य संकल्पों की प्रखरता जुड़ सके तो उनके कार्यान्वित होने भी देर नहीं लगती। सत् प्रशिक्षण बीज है, जिसे यदि ठी तरह से बोया, सींचा, निराया, सँभाला और रखाया जा स तो समयानुसार उसके सत्परिणाम सामने आते हैं बीजारोपण की भाँति ही विचार-क्रान्ति को, ज्ञान यज्ञ को लोकशिक्षण के उज्वल भविष्य के सृजन करने का प्रयास में सर्वप्रथम और सर्वोपरि आवश्यकता माना गया है।

इतने पर भी यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि बीज बोने भर का कार्य पूरा करके सत्परिणाम के सम्बन्ध मे निश्चिंत नहीं हुआ जा सकता। अंकुरित होने से लेक फलित होने तक के मध्यवर्ती समय में किसी कुशल माली को क्या-क्या करना पड़ता है, उन गतिविधियो को भी ध्यान में रखकर चलना होगा। उन्हें अपनाया जाना भी बीजारोपण से कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रशिक्षण के प्रचारात्मक प्रयत्नों के साथ-साथ ऐसे रचनात्मक काम हाथ में लेने की आवश्यकता है, जिनसे लोकमंगल का प्रत्यक्ष लाभ तो मिले ही, साथ ही उन सत्प्रयत्नों में संलग्न व्यक्तियों का व्यक्तित्व भी सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों को अपना सकने में समर्थ बनता रहे। मान्य तथ्य है कि विचारों और कामों का समन्वय होने से व्यक्तित्व बनता है संस्कार जमते है और वह सस्कार ही किसी व्यक्ति का वास्तविक मूल्य एवं वजन समझे जा सकते हैं। मात्र सद्विचारों को सुन-समझ लेना और उन्हें याद करके दूसरों को सुनाने लगना कुछ कठिन काम नहीं है। यदि इतने से ही बात बनी होती तो वक्ताओं और लेखकों ने मिलकर अब तक अपनी मर्जी का संसार बहुत पहले ही बना लिया होता। विचार और कर्म के एकरूप और सुसम्बद्ध होने पर ही व्यक्तित्व की उत्कृष्टता का निर्माण होता है और उसी शक्ति के सहारे कोई

महत्वपूर्ण कार्य बन पड़ते हैं। ठोस कार्य होने की सम्भावना इसी समन्वय पर निर्भर रहती है।

नवनिर्माण के लिए हमें कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कार्य हाथ में लेने होंगे, जिनसे समाज की सामयिक आवश्यकता पूरी होती हो और जिनसे सेवा-बुद्धि से लगने वालों की आन्तरिक महानता बढ़ती हो। ऐसे कार्यों की शृंखला बहुत बड़ी है। उन सभी को उपयोगिता एवं आवश्यकता है। पर एक साथ सभी कार्य हाथ में नहीं लिए जा सकते। कुछ चुने हुए रचनात्मक कार्य ही अपने प्रथम चरण में अपनाये जाने चाहिए। उनमें सफलता मिले, उनमें यदि समुचित जनशक्ति और साधनशक्ति जुट सके तो फिर अन्य कार्यों को हाथ में लेते चलने में कोई हर्ज नहीं है। आरम्भ में ही बिखरे हुए अनेक काम हाथ में ले लिए जाएँ तो उनमें से ठीक तरह कोई भी पूरा न हो सकेगा। अधूरे कामों को छोड़ने में शक्ति का अपव्यय भी है और करने वालों की अप्रतिष्ठा भी।

कुछ रचनात्मक कार्य ऐसे भी हैं जिनकी आवश्यकता और गरिमा अनेक दृष्टियों से इस योग्य है कि उन्हें प्राथमिकता मिले। इनमें से (१) शिक्षा प्रसार, (२) कुटीर उद्योगों का विस्तार, (३) सहकारी प्रचलन, (४) जीवन साधना, (५) श्रम सेवा। यह पाँच काम ऐसे हैं जिन्हें बिना एक क्षण बर्बाद किए तत्काल हाथ में लिये जाने की आवश्यकता है। सेवा-भावना जगाकर सृजनात्मक प्रयोजनों के लिए जो समग्र श्रम एवं धन जुटाया जाय। वह प्रचार तन्त्र की आवश्यकता पूरी करते हुए इन कार्यों में भी लगना चाहिए। साहित्य, कला, धर्मतन्त्र जैसे कार्य तो एक सूत्र में बँधकर ही ठीक तरह चल सकते हैं, पर यह पाँचों रचनात्मक कार्य ऐसे हैं जिन्हें स्थानीय स्थिति के अनुरूप छोटे-छोटे आधार बनाकर कहीं भी आरम्भ किया जा सकता है।

१. शिक्षा प्रसार

अपने देश में मात्र तीस प्रतिशत शिक्षित हैं। शेष सत्तर प्रतिशत जनता निरक्षर है। अपढ़ को बौद्धिक दृष्टि से अन्धों में गिना गया है, उसकी जानकारी सुनने आधार तक ही सीमित रहती है। ज्ञान स्रोत तो सत्साहित्यिक आधार पर ही खुलते हैं। शिक्षा को रोटी के बाद दूसरा स्थान दिया जाता है। इस आवश्यकता की पूर्ति जनस्तर पर ही हो सकती है। सरकार के लिए तो स्कूली बच्चों के लिए स्थान और साधन जुटाना कठिन पड़ रहा है फिर इस सत्तर प्रतिशत को पढ़ाने के लिए उससे कितनी आशा की जाए ? अशिक्षा निवारण का उद्देश्य स्वेच्छा-सहयोग की सेवा, उदारता के आधार पर ही पूरा किया जा सकता है।

निरक्षरता निवारण अपने देश की सबसे बड़ी समस्या है। प्रौढ़ों में से प्राय: ऐसे हैं जिन्हें न लिखना आता है न पढ़ना। वृद्ध, अपंग, छोटे बालक इनके अतिरिक्त हैं। आधी जनसंख्या की आयु एवं स्थिति इस योग्य है कि यदि उनमें उत्साह भरा जा सके और साधन उपस्थित किये जा सकें तो एक साल के भीतर ही वे शिक्षितों की गणना में गिने जाने योग्य हो सकते हैं। यदि ऐसा हो सके तो समझना चाहिए कि आधे राष्ट्र की बौद्धिक अन्धता दूर कर दी गई। ज्ञान सम्पदा का द्वार खुलने से किसी के लिए सर्वतोमुखी प्रगति का पथ प्रशस्त होता है। कोई उस सुविधा का लाभ न उठाना चाहे यह दूसरी बात है। गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले प्रौढ़ पाठशालाएँ स्वयंसेवी आधार पर खुलनी चाहिए। हर शिक्षित को विद्या ऋण चुकाने और शिक्षा विस्तार के लिए कुछ समय नियमित रूप से देते रहने का अनुरोध किया जाना चाहिए। कितने ही लोग ऐसे मिलेंगे जो अपने बचे समय का इस प्रकार सदुपयोग करने में प्रसन्नता ही अनुभव करेंगे। उनके सामने कल्पना ही नहीं आई, किसी ने कहा नहीं, ऐसा कोई अवसर सामने नहीं था, उसी से वे इस दिशा में अब तक कुछ नहीं कर सके। अब जबकि अवसर सामने है और अनुरोध किया जा रहा है तो वे प्रसन्नतापूर्वक अपना समय दे सकते हैं। इस प्रकार अध्यापकों की आवश्यकता बिना किसी प्रकार का खर्च किए-सेवा भावना जगा देने से सहज पूरी हो सकती है।

प्रौढ़ों को तो पढ़ने में संकोच हो सकता है, व्यस्तता का तो बहाना है, वस्तुत: उसका कारण मनोवैज्ञानिक होता है। छोटे बच्चे जो कार्य करते हैं, जो पाठ पढ़ते हैं, उसी स्तर पर पहुँचने में उनके अहं को चोट पहुँचती है। इससे बचने के लिए वे इतनी आयु बीते जान पर, पढ़कर क्या करेंगे, फुरसत नहीं, नौकरी थोड़े ही करनी है, जैसे बहाने बनाते और टालमटोल करते हैं। शिक्षा प्रचारकों का काम है उनके मन की आँखें खोलें और बतायें कि धन कमाने की तरह विद्या प्राप्ति के लिए आयु का कोई बन्धन नहीं है। संसार के विज्ञ व्यक्ति मरते समय तक विद्यार्थी की मन:स्थिति में रहे हैं। प्रौढ़ पाठशाला के लिए स्थान, बिछावन, शिक्षण, उपकरण जैसी वस्तुएँ सेवाभावी लोग परस्पर मिल-जुलकर पूरी करते रह सकते हैं। विचारशील छात्र भी ऐसे साधन जुटाने में स्वेच्छा से ही योगदान करते रह सकते हैं। पुरुषों के लिए रात्रि पाठशालाएँ और स्त्रियों को तीसरे प्रहर की पाठशालाएँ उपयुक्त रहती हैं। स्थानीय सुविधा और आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए प्रौढ़ पाठशालाओं के लिए अलग-अलग ढंग के प्रबन्ध हो सकते हैं। यह प्रबन्ध होने पर जगह चाहिए और जहाँ कहीं अशिक्षा का अन्धकार फैला हो वहाँ से उसे भगाने के लिए व्यापक उत्साह जगाया जाना चाहिए।

पिछड़ी मन:स्थिति के लोग अपने बच्चों को भी स्थानीय स्कूलों में नहीं भेजते। छुटपुट काम करने के लोभ में शिक्षा से वंचित रहने देते हैं। इन अभिवावकों को समझा-बुझाकर पढ़ने योग्य बच्चों को स्कूल भिजवाने के लिए शिक्षा प्रसार टोलियों को घर-घर पहुँचना चाहिए। स्कूलों में जगह कम हो तो उनका विकास-विस्तार करने के लिए अधिकारियों से अनुरोध करना चाहिए। जहाँ छोटी कक्षाओं तक स्कूल हैं, वहाँ अगली कक्षा खुलवाई जाएँ-जहाँ नहीं हैं वहाँ पाठशाला खुले, इसके लिए सरकारी तंत्र से अनुरोध किया जाना चाहिए। जनस्तर पर अर्द्ध सरकारी ढंग से भी विद्यालयों की आवश्यकता पूरी करने वाले प्रयास चल सकते हैं।

शिक्षित वयस्क स्वभावतः आगे की शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं पर उनकी गृहस्थी की जिम्मेदारी सिर पर आने से स्कूली छात्रों जैसा समय निकाल नहीं पाते, इसके लिए उनकी सुविधा को देखते हुए रात्रि विद्यालयों का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। प्रगतिशील देशों में ऐसी व्यवस्था सामान्य स्कूलों से भी अधिक है। शनिवार का आधा और रविवार का पूरा दिन इस प्रकार सप्ताह में डेढ़ दिन चलने वाले स्कूल वर्ष में पूरी पढ़ाई पढ़ा देते हैं। वयस्क व्यक्ति अपनी प्रौढ़ बुद्धि से, अपने उपयोगी विचारों से इतने से ही काफी ज्ञान वृद्धि करते हुए क्रमिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़ते रहते हैं। प्रतिदिन रात्रि को प्रायः दो घन्टे चलने वाली पाठशालाएँ तो प्रौढ़ों को उतना ज्ञान दे देती हैं जितना कि सामान्य छात्रों को पूरे समय पढ़ने पर मिलता है। उपार्जन एवं गृह व्यवस्था का उत्तरदायित्व कन्धे पर आ जाने के कारण किसी की शिक्षा-अभिलाषा अपूर्ण न रहने पावे, इसके लिए व्यापक प्रबन्ध किये जाने चाहिए। साक्षरता के लिए चलाई जाने वाली आरम्भिक पाठशालाएँ इसलिए निःशुल्क रखनी होती हैं कि उसमें पढ़ने वालों का उत्साह नहीं होता। यह कठिनाई शिक्षित छात्रों के सामने नहीं होती है, वे विद्या का महत्त्व समझते हैं और बिना किसी कठिनाई के पढ़ाई की फीस प्रसन्नतापूर्वक देते हैं। अधिक निर्धनों को किसी प्रकार की छूट देना यह अपवाद है और मानवी उदारता के साथ जुड़ने से पूरी भी होते रहते हैं। सामान्यतः उच्चस्तरीय प्रौढ़-शिक्षा फीस के आधार पर मजे में चल सकती है, आवश्यकता उसके उत्साहपूर्वक गठन की है। ऐसे ढाँचे जहाँ भी खड़े कर दिये जाएँगे वहाँ प्रसन्नतापूर्वक चलने लगेंगे।

साक्षरता प्रसार की पाठ्य पुस्तकों में ऐसे विषय रखे जाएँ जो जीवनोपयोगी भी हों। व्यक्ति और समाज की समस्याओं तथा समाधानों पर प्रकाश डालते हों। भाषा ज्ञान के लिए आखिर कुछ तो पढ़ना-लिखना ही पढ़ता है इसमें यदि उपयोगी विषयों का समावेश बना रहे तो छात्रों को साक्षरता के साथ-साथ सद्ज्ञान का दुहरा लाभ मिलता रह सकता है। स्कूली छात्रों के लिए रात्रि पाठशालाएँ तथा छुट्टी के दिनों चलने वाले विशेष सत्र उनको स्कूली पढ़ाई में सहायता करने के अतिरिक्त महत्वपूर्ण विकास की प्रबल प्रेरणा देते रह सकते हैं। इस प्रकार की सहायक शिक्षा उस कमी की पूर्ति कर सकती है जिसका कि स्कूली पढ़ाई को दोष दिया जाता है।

२. कुटीर उद्योग

अपना देश छोटे देहातों में बिखरा हुआ है। निर्धन तथा अशिक्षित भी हैं। खेतों पर अधिकांश लोग गुजारा करते हैं। छोटी जोतें होने तथा साधनों का अभाव रहने से उससे भी स्वल्प उपार्जन होता है। मजदूरी भी प्रायः कृषि कार्य की ही मिलती है। बड़े कल-कारखाने शहरों में होते हैं और उनको सीमित श्रमजीवियों की ही आवश्यकता रहती है। हर साल लाखों छात्र शिक्षा प्राप्त करके निकलते हैं और वे सभी नौकरी चाहते हैं। छुट-पुट व्यवसाय और कला-कौशल भी जहाँ-तहाँ मौजूद हैं। फिर भी श्रम शक्ति प्रायः आधी खाली रहती है। नितान्त बेकारों की संख्या भी भयावह है फिर जिनका आधा तिहाई समय बेकार रहता है उनकी संख्या तो और भी बढ़ी हुई है। इन सबको काम मिल सके तो आर्थिक तंगी मिटे। बेकारी और गरीबी के सम्मिश्रण से जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं वे असंख्य प्रकार के संकट एवं उपद्रव खड़े करती हैं। आजीविका के स्रोत खोलना आवश्यक है। इसके बिना अशिक्षा के समतुल्य ही भयावह बेकारी से छुटकारा मिल नहीं सकेगा। अपने देश में यह दो बड़े अभिशाप हैं जिन्हें दूर करने के लिए सरकारी प्रयत्नों को कंधे से कंधा और कदम से कदम मिलाकर चलना चाहिए।

इस दिशा के प्रमुख उपाय कुटीर उद्योगों का ही हो सकता है। अर्थ व्यवस्था इसी आधार पर सुदृढ़ बनी हुई है। दहाँ घर-घर मे छोटी मशीनें हैं, उनमें किसी बड़े उद्योग का एक माल तैयार किया जाता है। टुकड़ों-टुकड़ों में वस्तुएँ बनती रहती हैं। उन्हें मिलाकर एक पूरी चीज बन जाती है। सभी निर्माताओं को सुविधा भी रहती है, कुशलता भी बढ़ती है और सरलता भी रहती है। ऐसे उत्पादन सस्ते पड़ते हैं, निर्यात होते हैं और देश की सम्पदा घटाते हैं।

अपने देश में भी अपने ढंग की आवश्यकताओं के अनुरूप कुटीर उद्योगों का प्रचलन होना चाहिए। विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न वस्तुओं का उत्पादन होने की सुविधा और खपत की आवश्यकता रहती है। साधनों के अनुरूप विभिन्न क्षेत्रों के लिए विभिन्न कुटीर उद्योग हो सकते हैं। साधारणतया भोजन के बाद दूसरा नम्बर वस्त्र का है। कृषि पशुपालन तो प्रायः एक साथ जुड़े हैं। दूसरे नम्बर का वस्त्र उद्योग है। कपास ओटने से लेकर कपड़े सीने, धोने तक की अनेक गतिविधियाँ इस उद्योग में वांछित हैं, जिससे करोड़ों को आजीविका मिल सकती है। छोटे-बड़े असंख्य ऐसे उद्योग हैं जो हाथ से अथवा छोटी-बड़ी मशीनों की सहायता से सर्वत्र चल सकते हैं। बिजली का उत्पादन जैसे-जैसे बढ़ेगा कुटीर उद्योगों का उपार्जन उसी अनुपात से अधिक मात्रा में तथा अधिक ऊँचे स्तर का बढ़ता चला जाएगा।

कुटीर उद्योगों की असफलता का एक बड़ा कारण यह है कि पूँजी लगाने, कच्चा माल खरीदने, उत्पादन तैयार करने और बेचने जाने के सारे कार्य उत्पादक को ही करने पड़ते हैं। इससे उनका लाभांश न्यूनतम रह जाता है और गुजारा न होने से उसे छोड़ना पड़ता है। कुटीर उद्योग पूर्णतः सहकारी समितियों के माध्यम से चलने चाहिए। पूँजी लगाने, कच्चा माल देने और तैयार को खरीदने का कार्य वे ही करें। उत्पादक निश्चिन्त होकर अपने काम में लगा रहेगा। थोक में कच्चा माल खरीदने और उपयुक्त मण्डी में बेचने की व्यवस्था बनने पर ही कुटीर उद्योग पनप सकते हैं। कारीगरों को अधिक उत्तम उत्पादन की शिक्षा, यन्त्रो को सुलभ करना, टूट-फूट की मरम्मत जैसे साधन आदि बने रहे तभी कुटीर उद्योग पनपेंगे।

जन-जन में स्वतन्त्रता आन्दोलन जैसी भावना का पुनर्जीवन अब इस प्रकार किया जाना चाहिए कि कुटीर उद्योग के उत्पादन का उपयोग देशभक्ति जैसा आदर्शवादी एवं सराहनीय कदम माना जाय। बड़ी मिलों का वही उत्पादन काम में तभी आये जो कुटीर उद्योग से बना हुआ न मिलता हो। स्वदेशी आन्दोलन इस भावना को जगाने की-आलस्य छोड़कर श्रम संलग्न होने की इन दिनों अतीव आवश्यकता है। गरीबी और बेकारी की मुहीम से जूझने का यह मोर्चा पूरी तत्परता के साथ सम्भाला जाना चाहिए। इसके लिए स्थान-स्थान पर सहयोग समितियाँ बनें और उनका संचालन कुशल एवं ईमानदार लोगों के हाथों में बना रहे। बड़े मिलों का क्षेत्र बाँट दिया जाये। कुटीर उद्योग इनकी प्रतिस्पर्धा में ठहर नहीं सकेंगे। ढेरों उत्पादन ऐसे हैं जिन्हें कुटीर उद्योग में नहीं बनाया जा सकता, उन्हें बड़े मिल बनाया करें। निर्यात करने के लिए वे चाहे जैसा माल बना सकें, पर देश की अधिकांश आवश्यकता, छोटे-छोटे उत्पादन घटक ही पूरी करते रहें। इस प्रकार शिक्षितों और अशिक्षितों में दिन-पर-दिन बढ़ने वाली बेकारी पर अंकुश किया जा सकेगा और आर्थिक प्रगति का एक सामर्थ्यवान आधार खड़ा हो सकेगा। इस उत्कर्ष में सरकार का परमुखापेक्षी होने के बजाय यही उचित है कि इस प्रयास को आगे बढ़ाने में लोक-सेवा की भावना से कटिबद्ध हुआ जाय। माना कि यह औद्योगिक प्रक्रिया है और इसमें प्रत्यक्षतः कोई परोपकार-परमार्थ जैसी बात नहीं दिखती, फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि इससे व्यक्ति और समाज को सुखी-समुन्नत होने की भावना मिलेगी और बेकारी से उत्पन्न होने वाली असंख्यों विकृतियों का निराकरण हो सकेगा। इस प्रक्रिया का प्रचलन और उसका ढाँचा खड़ा करना तो सेवाभावी प्रतिभाओं के आगे बढ़कर उत्साह दिखाने से ही सम्भव हो सकता है।

३. सहकारिता

मनुष्य-मनुष्य के बीच सामयिक एवं आत्मिक सघन सहयोग स्थापित करने के सभी सूत्रों को सजग करना होगा। विलगाव में असंख्य समस्याएँ उत्पन्न होती हैं और मिल-जुलकर काम करने की, मिल-बाँटकर खाने की उदार सहकारिता जब पनपेगी तब ही प्रस्तुत विपत्तियों और आशंकाओं का आत्यन्तिक निराकरण होगा। अस्तु, इस प्रवृत्ति को पनपने के लिए हमें जो भी, जहाँ भी आधार मिल सके उसे अपनाने मे उत्साह दिखाना चाहिए। अध्यात्म की भाषा में इसे आत्मविस्तार कहते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के महान आदर्श का प्रत्यक्ष रूप उदार सहकारिता के रूप में देखा जा सकता है। आत्मीयता के तत्व दर्शन का अभिवर्द्धन ऐसे ही प्रयासों से सम्भव होता है। राजनीति की भाषा में इसी को समाजवाद कहा जाता है। वस्तुतः इन सब प्रक्रियाओं के बीच पारिवारिक सहकारिता का सिद्धान्त ही काम करता है।

नवयुग में हर प्रवृत्ति को सहकारिता के आधार पर विकसित किया जाना है। इसके लिए सर्वप्रथम आर्थिक सहयोग को माध्यम बनाकर चला जाय तो तत्कालीन लाभ भी मिलेगा और आकर्षण एवं उत्साह भी उभरता दृष्टिगोचर होगा। सरकारी सहकारिता विभाग अपने ढंग से काम करता है। इसके प्रयास से जगह-जगह सहकारी समितियाँ गठित होती हैं और उनके माध्यम से क्रय-विक्रय के, उत्पादन-निर्माण के कार्य हाथ में लिए जाते हैं। ऋण दिये जाने और कई प्रकार के सुविधा-साधन मिलते हैं। हमें अपना पूरा-पूरा सहयोग इस विभाग को देना चाहिए। यहाँ इन पंक्तियों में यह उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है कि कहाँ किस तरह इसका आरम्भ किया जाय और किस तरह उन्हें बढ़ाया जाय। इस सन्दर्भ में स्थानीय सहकारिता विभाग से सम्पर्क स्थापित करके, स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार कई प्रकार के काम हाथ में लिए जा सकते हैं। इस आधार पर उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर अच्छी वस्तुएँ सुविधापूर्वक मिलने का अवसर मिलता है। लाभांश भी सदस्यों की सामूहिक सम्पत्ति रहती है और उससे अन्य प्रकार के सर्वोपयोगी कार्यों का विकास हो सकता है।

परिवार व्यवस्था वस्तुतः एक सहकारी समिति ही है। संयुक्त परिवार में रहने से छोटे-बड़े, समर्थ-असमर्थ किस प्रकार प्रेमपूर्वक निर्वाह और प्रगति करते हैं यह प्रत्यक्ष है। अधिकार, कर्त्तव्य, आचार-मर्यादाओं तथा नीति-नियम की विधि-व्यवस्था न रहने से आज के परिवार गड़बड़ाते और मनोमालिन्य के केन्द्र बनते हैं। औचित्य और विवेक का, आदर्श और अनुशासन का, अधिकार और कर्त्तव्य का समन्वय करते हुए यदि पारिवारिक नीति-नियम बन सके और उनके पालन करने का क्रम चल सके तो सहकारी संयुक्त परिवारों में रहने का आनन्द हर किसी को मिल सकता है। निकट भविष्य में काम के आधार पर बनने वाले आज के परिवार निकटवर्ती लोगों की सुविधा के लिए वृहत्तर परिवार बनेंगे। इन्हीं को युवा मनीषी 'लार्जर फैमिली' नाम देते हैं। एक मुहल्ले के लोग संयुक्त योजना का, संयुक्त रूप से बच्चों को खिलाने का, कपड़े धोने, आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदने का मिला-जुला प्रबंध करेंगे। इससे समय की भारी बचत होगी और इसका उपयोग ऐसे ही छुट-पुट कामों में दिन गुजारते रहने की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण कार्यों में किया जा सकेगा। सुयोग्य व्यक्ति अधिक मूल्यवान काम कर सकें और रसोई, बच्चे खिलाना, धुलाईसफाई जैसे सामान्य कार्यों में कम योग्यता वाले बेकारों को रोटी-रोजी का नया मार्ग मिल सकेगा।

पुस्तकालय, व्यायामशाला, सेवादल, कीर्तन मण्डलियों जैसी स्वयंसेवी संस्थाएँ भी सहकारी प्रयास ही हैं। सरकारी पंचायतों तथा बिरादरी की पंचायतों को भी सहकारी संगठन ही कहा जा सकता है। सत्प्रयोजनों के लिए अनेकों प्रयत्न संगठित रूप से चलते हैं या चल सकते हैं। इनसे

प्रत्यक्ष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सहकारिता की भावना का संवर्द्धन करते हैं।

समाजवादी एवं साम्यवादी देशों की कल्पना में सरकार की रूपरेखा एक बड़े कुटुम्ब जैसी है। जिसमें हर व्यक्ति अपनी सामर्थ्य भर श्रम करे और आवश्यकता भर प्राप्त करे। सम्पत्ति व्यक्ति के पास नहीं सरकार के पास संयुक्त सम्पदा के रूप में सुरक्षित रहे। मौत, बुढ़ापा, बीमारी, बच्चों की शिक्षा एवं आड़े वक्त के लिए लोग धन संग्रह करते हैं, जब उस उत्तरदायित्व को सरकार ही वहन करने के लिए तैयार हो तो पूँजी के संग्रह की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अनावश्यक संचय से दुर्व्यसन, चोरी, डकैती, शोषण, हरामखोरी, ईर्ष्या, द्वेष जैसी अनेकों अहंमन्यता, फिजूलखर्ची जैसी अनेकों दुष्प्रवृत्तियाँ फैलती हैं। इन्हें रोकने-पकड़ने में जो शक्ति खर्च होती है उसकी अब अनावश्यक संग्रह न होने से कोई आवश्यकता न रहेगी। जब अपराधों के लिए सबसे बड़ा कारण धन संचय न रहेगा तो आवेश-अपमान जैसे छुट-पुट कारण ही पारस्परिक विद्वेष के कारण रह जाएँगे। इनसे निपटना तो हँसी-खेल जैसा सरल बन जाएगा। सहकारी समाज की स्थापना में आज की तीन-चौथाई समस्याओं के समाधान मौजूद हैं। अस्तु, उसका अभ्यास मानवी स्वभाव का अंग बना लेने के लिए जो भी-जिस क्षेत्र में भी-नैतिक अवसर प्राप्त हों उन्हें अपनाने के लिए हर किसी को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। सामूहिक श्रमदान से, अंशदान से लोकोपयोगी कार्य करते रहने को एक उपयोगी मनोरंजन के रूप में विकसित किया जा सकता है। खेलकूद की टीमें उत्साहपूर्वक चलती रह सकती हैं तो कोई कारण नहीं कि लोकोपयोगी सेवाभावी सत्प्रवृत्तियाँ सहकारिता के आधार पर न चल सकें। संघशक्ति की गरिमा किसी से छिपी हुई नहीं है। सहकारिता और संघशक्ति प्रकारांतर से एक ही लक्ष्य के दो नाम हैं।

वर्ग, क्षेत्र उद्योग आदि में काम करने वाली सहयोग वृत्ति को क्रमशः विश्व एकता की दिशा मे आगे बढ़ाया जा सकता है। यदि दृष्टिकोण में से व्यक्तिवादी संकीर्ण स्वार्थपरता घट सके तो **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की व्यापक आत्मीयता के विकास, विस्तार में कोई कठिनाई न रह जाएगी। भाषा, संस्कृति एवं देशों की विभाजन रेखाएँ तोड़ी जा सकें तो संसार का स्वरूप ही बदल सकता है।

४. जीवन साधना

शिक्षा, उपार्जन, चिकित्सा, कुशलता, संघर्ष, विनोद, विज्ञान, दर्शन आदि विविध विषयों की जानकारियाँ विद्यालयों, परामर्शों एवं अनुभवों के आधार पर मिलती रहे, ऐसी व्यवस्था बहुत पहले से ही बनी हुई है और उसमें क्रमशः वृद्धि भी हो रही है। शासनतंत्र और अर्थतन्त्र मिल-जुलकर व्यक्ति और समाज की उन्नति के लिए अपने ढंग से सोचते और करते हैं। अपराध निवारण एवं न्याय संरक्षण के लिए भी प्रयत्न किये गये हैं। सुविधा सम्वर्द्धन के लिए संचार, परिवहन जैसे विद्युत उत्पादन त... के असंख्य उपाय काम में लाये जाते हैं। धर्म और अध्यात्म के नाम पर बहुत कुछ होता रहता है। प्रगति और सुविधा के लिए बरते जाने वाले इन असंख्य उपायों के रहते हुए भी एक कमी बुरी तरह खटकती है कि जीवन जीने की कला का न तो कोई विधिवत् तत्वदर्शन निर्धारित किया गया है और न इसमें आने वाले उतार-चढ़ावों के साथ ताल-मेल बिठाने की कोई क्रमबद्ध शिक्षा पद्धति बन सकी है। फलतः मनुष्य अपनी जीवन सम्पदा का स्वरूप, उत्तरदायित्व, उपयोग, सुसंचालन में से एक को भी ठीक तरह जान नहीं पाता है। अनगढ़ स्तर होने पर सोये हुए छोटे-छोटे कार्य तक जब पूरे नहीं हो सकते तो असीम सम्भावनाओं से भरे-पूरे मानव जीवन का सही उपयोग बन ही कैसे पड़ेगा। छोटे-छोटे कार्यों के लिए ट्रेनिंग की आवश्यकता पड़ती है अन्यथा कोई महत्वपूर्ण प्रतिभा सम्पन्न होने पर भी कपड़ा सींने जैसे सामान्य कार्य तक को कर सकने में असफल रहेगा। काम को हाथ में लेते समय उसके सन्दर्भ में आवश्यक जानकारी और कुशलता प्राप्त करने की आवश्यकता समझी जाती है किन्तु जीवन क्षेत्र का दुर्भाग्य ही है कि इतने बड़े तन्त्र संचालन का उत्तरदायित्व समझने के लिए अभी तक कोई विधिवत् व्यवस्था करने की बात सोची तक नहीं जा सकी। उस प्रशिक्षण का ढाँचा खड़ा करना तो हो ही कैसे सकता है।

मोटर चलाने के लिए ड्राइवरी सीखनी पड़ती है। अनाड़ी व्यक्ति चलाने लगेगा तो दुर्घटना ही करेगा। उस बहुमूल्य यन्त्र को तोड़कर रख देगा और अपने लिए संकट खड़ा करेगा। मोटर से जो लाभ उठाया जा सकता था उसे उठाने के स्थान पर हर प्रकार की हानि ही उठावेगा। किसी वस्तु का मिल जाना ही सौभाग्य नहीं, उसका सदुपयोग भी आना चाहिए अन्यथा दुरुपयोग होने पर तो माचिस की एक तीली तक समूचे घर, मुहल्ले को जला कर खाक कर देने की स्थिति खड़ा कर सकती है। जीवन सम्पदा के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। आज का मनुष्य अपने आप में अभावों, उलझनो और विपत्तियों का केन्द्र बनकर रह गया है। न सन्तोष है, न चैन, न उमंग, न उत्साह। नीरस, खिन्न और उद्विग्न मनः-स्थिति में रहते हुए लोग जिन्दगी की लाश ढोते और मौत के दिन पूरे करते पाये जाते हैं। उत्तम वस्तु भी सड़ने पर विषाक्त हो जाती है। जिन्दगी सड़ती है तो नारकीय दुर्गन्ध उत्पन्न करती है। मनुष्य जब अव्यवस्थित होता है तो पशु या पिशाच बनता है। उद्धत मनःस्थिति से की गई क्रिया कर्ता के लिए पग-पग पर संकट ही उत्पन्न करती रहती है। जीवन कला से अपरिचित व्यक्ति उसका संचालन करते हैं तो स्पष्ट ही अनाड़ी मोटर ड्राइवर के प्रयत्न से जिस प्रकार लाभ के स्थान पर हानि ही होती है उसी प्रकार मनुष्य जीवन, जीने वाले के लिए तथा उसके सम्पर्क मे आने वालों के लिए अभिशाप ही सिद्ध होता रहता है।

प्राचीनकाल में धर्म के आधार पर बाह्य जीवन में लोकव्यवहार की शिक्षा दी जाती थी और नैतिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का बोध कराया जाता था। इसे शिष्टाचार, सदाचार, सद्व्यवहार, कर्त्तव्यपालन आदि नाम दिये जा सकते हैं। सभ्यता नाम दिया जा सकता है। उन दिनों दृष्टिकोण के परिष्कार, आस्थाओं के निर्धारण एवं आशंकाओं के दिशा नियोजन का कार्य अध्यात्म के तत्वदर्शन द्वारा होता था। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग की तीनों धाराएँ मिलकर व्यक्ति के अन्त:क्षेत्र को उच्चस्तरीय बनाती थीं। इस प्रक्रिया को सम्पन्न करने के लिए योग एवं तप की आत्मसाधना की जाती थी। स्वाध्याय, सत्संग, मनन और मन्त्रणा के लिए सामग्री उपस्थित करने वाली ब्रह्म विद्या का विकास-विस्तार इसीलिए निर्मित होता था। इस अन्त:स्थिति की परिष्कृति को संस्कृति कहा जाता है। जिसे आज सभ्यता एवं संस्कृति कहा जाता है, इसी को प्राचीनकाल में धर्म एवं अध्यात्म का नाम दिया जाता था। आज यों कहने को तो धर्म के भी ढोल पिटते हैं और अध्यात्म की भी ध्वजा फहराती है, पर भीतर से सब कुछ खोखला हो गया है। जीवन में प्रखरता और उत्कृष्टता भर देने वाले तत्व उनमें प्राय: निकल ही गये हैं। कलेवर का ढकोसला कागज और खपच्चियों की सहायता से बने रामलीला का कौतूहल पूरा करने वाले रावण की तरह जनसाधारण के लिए एक अजूबा भर बना हुआ है। इससे बन कुछ नहीं सकता। धूर्तों को अधिक धूर्त और मूर्खों को अधिक मूर्ख बनाने के लिए इस ढकोसले की आड़ में प्रश्रयपोषण अवश्य मिल रहा है।

यह तो विवेचनात्मक चर्चा हुई। यह तो पर्यवेक्षण भर हुआ। इतने से काम नहीं चलेगा। बात तो आज की आवश्यकता पूरी करने की है। जीवन विद्या का एक स्वतन्त्र शास्त्र है, इसे अति महत्वपूर्ण विज्ञान कहा जा सकता है। इसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता इतनी बढ़ी है कि उसे हर जीवित रहने वाले मरणासन्न स्थिति के अनुरूप मिलती रहनी चाहिए। दर्शन के साथ विज्ञान का, चिन्तन के साथ क्रिया का समावेश होने से ही एक पूरी बात बनती है। जीवन-साधना की शिक्षा का ऐसा स्वरूप होना चाहिए, जो कथा श्रवण तक सीमित न रहकर उसे व्यवहार में उतारने की विधि-व्यवस्था का एक क्रमबद्ध स्वरूप प्रस्तुत करता हो। साथ ही अनगढ़पन का परिचय देने वाले को जो दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं उनकी जानकारी भी देता हो। इसी का एक पक्ष यह भी है कि शालीनता अपनाने पर अपनी और सम्बद्ध क्षेत्र की प्रगति एवं सुख, शान्ति का पथ कैसे प्रशस्त होता है यह सब गले उतारना घटना, श्रम के सहारे ही सम्भव हो सकता है। इसलिए स्पष्ट है कि जीवन-साधना का प्रशिक्षण, चिन्तन और व्यवहार की ऐसी विधि व्यवस्थाओं को साथ लेकर चलना होगा। उसमें श्रव्य और दृश्य दोनों ही मिले हुए हों। समझाने भर की ही बात हो तो भी उसमें उदाहरणों, घटनाओं, कथानकों और संस्मरणों की भरमार रहनी चाहिए। इनका स्तर हर व्यक्ति की आयु एवं स्थिति के अनुरूप बनाना पड़ेगा। हर किसी के लिए एक जैसी शिक्षा बना देने से बात बनेगी नहीं।

आज नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, नागरिकशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र के अनेक ग्रन्थ बाजार में मिलते हैं और उन विषयों के चर्चा प्रसंग भी चलते रहते हैं पर एक ही लाठी से सबको हाँका जाता है। यह ध्यान नहीं रखा जाता है कि किस वर्ग के व्यक्ति के लिए क्या उपयोगी है। इसलिए बहुत कुछ कहा लिखा जाने पर भी वह एक प्रकार से अधिकांश लोगों के लिए अरुचिकर एवम् अप्रासङ्गिक बनकर ही रह जाता है। जीवनशास्त्र आत्मिक और भौतिक विज्ञान का सबसे बड़ा शास्त्र है। इसका निर्माण-निर्धारण इस प्रकार होना चाहिए कि हर वर्ग का मनुष्य अपने लिए सोचने और करने के लिए सही धारा प्राप्त कर सके। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य इस जीवन शिक्षा से ही सम्भव हो सकता था पर दुर्भाग्य इस बात का है कि युग की मूर्धन्य विचारशीलता इस अति महत्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा करती चली आ रही है जबकि बौद्धिक क्षेत्र के सृजनात्मक उत्पादनों में सर्वप्रथम इसी लक्ष्य को ध्यान में रखा जाना चाहिए था। इस विषय पर जो पुस्तके बाजार में मिलती हैं इतनी कम और इतनी उथली हैं कि औसत भारतीय जनता की विशेष मन:स्थिति और परिस्थिति का उसके साथ कोई व्यवहारिक तालमेल नहीं बैठता। सिद्धान्तों की विवेचना मात्र से सन्तुष्ट हो जाने वालों को भले ही उनसे कुछ समाधान मिल सके। आज तो ऐसे जीवनशास्त्र की आवश्यकता है जो युग प्रवाह के साथ ताल-मेल बिठाने की आवश्यकता पूरी कर सके। दर्शन और व्यवहार की दोनों धाराओं में समाहित ज़ीवन शास्त्र का सृजन और प्रशिक्षण अपने समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है। युग परिवर्तन की दृष्टि से इस प्रयास को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

आरम्भ से इस प्रशिक्षण के चार सन्दर्भों को हाथ में लेकर चला जा सकता है। (१) स्वास्थ्य, (२) गृह परिवार, (३) लोक व्यवहार, (४) चिन्तन। यह ऐसे विषय हैं जिन्हें जीवन विद्या के अनिवार्य पक्ष कहा जा सकता है।

स्वास्थ्य शिक्षा के लिए मोटे तौर से व्यायाम, खेलकूद, प्राकृतिक चिकित्सा, आहार-विहार, फर्स्ट एड, परिचर्या, संयम जैसे विषयों की जानकारी देने एवं अभ्यास करने का प्रबन्ध रहना चाहिए।

परिवार में विवाह, दाम्पत्य जीवन, प्रजनन, शिशुपालन, स्वच्छता, व्यवस्था, श्रम विभाजन, सुविधा सहकार, अधिकार और कर्त्तव्य, पुरानी, मध्यवर्ती एवं भावी पीढ़ियों के बीच ताल-मेल, अर्थ सन्तुलन, शिष्टाचार, टूट-फूट की मरम्मत, उलझनों का समाधान, मनोभ्रान्तियों का निराकरण, भ्रमों का निवारण, स्नेह-सद्भाव का वातावरण, विकृतियों का परिमार्जन, आतिथ्य, अनुदान जैसे कितने ही महत्वपूर्ण विषयों का इस प्रसंग में समावेश

होना चाहिए। इन प्रयोजनों को कैसे, किस प्रकार अपनाकर उनका निर्वाह करना है, उसकी व्यावहारिक जानकारी उसे मिलनी चाहिए।

शालीन लोक-व्यवहार का आरम्भिक प्रशिक्षण घर की पाठशाला से ही शुरू होता है किन्तु उसका विस्तार नागरिक कर्त्तव्यों और सामाजिक उत्तरदायित्व के रूप में क्रमशः बढ़ता ही चला जाता है। दूसरों के सम्मान एवं अधिकार की रक्षा करते हुए अपना पक्ष कैसे प्रस्तुत करें, यह एक ऐसी कला है जिसके न जानने से ही गलतफहमियाँ उत्पन्न होती हैं और झंझट खड़े होते हैं। अपना पक्ष, दूसरों की गरिमा को बिना आघात पहुँचाये यदि प्रस्तुत किया जा सके तो इससे गुत्थियाँ उत्पन्न ही न होने पावेंगी, यदि होंगी भी तो सरलतापूर्वक निबट जावेंगी। ईमानदारी, समय का पालन, आवश्यकता की पूर्ति, उत्तरदायित्वों का निर्वाह, मानवीय मर्यादाओं की रक्षा जैसे तत्व ध्यान में रखते हुए यदि दूसरों के साथ व्यवहार करने की सन्तुलित नीति अपनाई जा सके तो उसका प्रभाव पारस्परिक सौजन्य की रक्षा ही नहीं, अभिवृद्धि में भी सहायक हो सकता है। मधुर वाणी से लेकर स्नेहसिक्त व्यवहार की अनेकों विशेषताएँ ऐसी हैं जिन्हें स्वभाव का अंग बना लेने पर स्वयं प्रसन्न रहने और दूसरों को प्रसन्न रखने के अवसर पग-पग पर प्राप्त होते रह सकते हैं। यह अभ्यास कैसे डाला और अनगढ़ मन को कैसे बहलाया जा सकता है, इसे जीवन-साधना का शिष्टाचार पक्ष कह सकते हैं।

चिन्तन में जीवन दर्शन के अध्यात्मवाद के सभी तथ्य सम्मिलित हैं, जिसमें जीवन की गरिमा, उसके साथ जुड़ी हुई ईश्वरीय इच्छा, पूर्णता प्राप्त करने का लक्ष्य, स्वर्ग, मुक्ति, सद्गति एवं दिशा प्राप्ति की सुनिश्चितता, मनःस्थिति के अनुरूप परिस्थितियाँ बनने का लक्ष्य, जैसे दार्शनिक सिद्धान्तों में दार्शनिकता का समावेश होता है। विकृत व्यक्तिवाद के सहारे लाभ को पाने की आशा में असीम क्षति उठाते रहने का भ्रम-जंजाल, परिष्कृत चिन्तन के सहारे ही अपने नंगे रूप में सामने आ सकता है अन्यथा जीवात्मा को एक संकीर्ण स्वार्थपरता के ताने-बाने से बुने गये बन्धनों में ही पिसते-सड़ते समय काटना पड़ता है। प्रसन्न, सन्तुष्ट, उल्लसित और आशान्वित रहने का आनन्द स्वस्थ चिन्तन के सहारे ही मिल सकता है। यदि वह जाना जा सके तो असीम मनोकामनाओं की अतृप्ति में भटकने वाला जीवात्मा हर घड़ी आनन्द पाता और उल्लास बाँटता देखा जा सकता है। चिन्तन का परिष्कार, उच्चस्तरीय दृष्टिकोण का निर्धारण इतना बड़ा आधार है कि उसे मिल जाने पर सर्वतोमुखी प्रगति का द्वार खुलता है और जीवन का हर क्षण स्वर्गीय सुख की अनुभूति में बीतता है। इसके लिए विचार-विज्ञान का उत्कृष्टतावादी पथ जन-मानस में गहराई तक प्रतिस्थापित कराया जाना चाहिए। तत्व दर्शन का व्यावहारिक पक्ष जीवन-साधना के चिन्तन पक्ष की आवश्यकताएँ पूर्ण करता है।

जीवन साधना की शिक्षा के यह चार पक्ष ऐसे ही हैं, जिनके लिए न केवल ज्ञान सम्पदा का उत्पादन होना चाहिए वरन् उसके प्रशिक्षण की स्कूली अथवा स्वेच्छा सेवा जैसी व्यवस्था व्यापक रूप से बननी चाहिए, जिसका लाभ हर किसी को हर कहीं मिलना सम्भव हो सके। मनुष्य को मानवी गरिमा के अनुरूप बनाना युग परिवर्तन का आधार है। इसके लिए जीवन साधना की शिक्षा को सुनियोजित किया जाना चाहिए।

४. श्रम सेवा

नवनिर्माण के रचनात्मक कार्यक्रमों में पाँचवाँ है श्रम सेवा। इसमें स्वच्छता संवर्द्धन और हरीतिमा उत्पादन के दो प्रयोजनों को प्राथमिकता दी जा सकती है। अपने देश में गरीबी और अशिक्षा के उपरान्त तीसरी लानत अस्वच्छता व्यापक रूप में देखी जा सकती है। कारण आलस्य-प्रमाद, पिछड़ापन आदि कुछ भी हों जिधर भी दृष्टि डाली जाए उधर ही अस्वच्छता का साम्राज्य छाया देखा जा सकता है। घरों में कपड़े, बर्तन, खाद्य पदार्थ, उपयोग के उपकरण आदि अस्तव्यस्तता कोने-कोने में कूड़े-कचरे का ढेर जैसा बनाये रहते हैं। नाली, स्नानघर, शौचालय तो एक प्रकार से नर्क ही बने रहते हैं। शरीर पर पहनने आदि के कपड़ों तक से स्वच्छता के अभाव में कुरूपता और दुर्गन्ध उभरती रहती है।

सार्वजनिक स्थानों पर जहाँ-तहाँ मल-मूत्र, पानी कीचड़, कूड़े-कचरे के ढेर सड़ते हुए देखे जा सकते हैं। स्वास्थ्य और सुमति दोनों ही दृष्टि से गंदगी का यह साम्राज्य हम सब के लिए कलंक की बात है। हम में से प्रत्येक को गन्दगी निवारण और स्वच्छता संवर्धन की दृष्टि रखनी चाहिए और जहाँ भी जाएँ वह व्यक्तिगत रूप से साथियों की सहायता से स्वच्छता बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे सामाजिक समृद्धि तो होती है, इस दिशा में सोचने और करने के लिए भी दूसरों को प्रकाश मिलता है। जहाँ सम्भव हो सामूहिक श्रमदान से गली-मुहल्ले, रास्ते एवं सार्वजनिक स्थानों की सफाई के लिए व्यापक कार्यक्रम बनाने चाहिए। इस प्रकार से स्वच्छता के पक्ष में लोकदृष्टि तो उत्पन्न होगी, लोक गन्दगी न करने एवं उसे हटाने की दृष्टि उत्पन्न होगी। यह दृष्टि सुरुचि संवर्द्धन के ऐसे बीजांकुर भी उत्पन्न करेगी जिससे सुमति की आधारभूत आवश्यकता, सुव्यवस्था के, उज्ज्वल भविष्य के परोक्ष निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए देखा जा सके।

शिक्षा धन हर किसी के पास हो या न हो, श्रम करने वाला शरीर तो हर किसी के पास होता है। स्वच्छता अभियान में श्रम साधन जुटाने भर से बहुत काम बन सकता है। गन्दगी निवारण निषेधात्मक पक्ष है। निषेधात्मक पक्ष के रूप में हरीतिमा संवर्द्धन इसी को कहा जा सकता है। सर्वविदित है कि पेड़-पौधे ही जीवन की तीन-चौथाई आवश्यकता पूरी कर सकते हैं। हरीतिमा घटाने से अन्न, जल एवं वायु की मात्रा एवं उत्कृष्टता घटती

है। इससे स्वास्थ्य संकट ही उत्पन्न नहीं होता, जीवन क्षेत्र का अवरोध भी उठ खड़ा होता है। हरीतिमा शोभा सुरुचि की दृष्टि से प्रकृति का सर्वोत्तम उपहार है। उसकी समीपता से सौन्दर्य का स्वाभाविक आनन्द मिलता है। आर्थिक और भौतिक लाभ तो उनसे अनेकों हैं।

जहाँ भी उपयुक्त स्थल हो फलों की, छाया की, लकड़ी की आवश्यकता पूरी करने वाले पेड़ लगाने का अवसर तलाश करते रहना चाहिए। घर-आँगन को फूल, बेल, घास की हरीतिमा से सुसज्जित रखने की आदत पड़नी चाहिए। पक्के घरों में भी टोकरियाँ, गमलों से लकड़ी की पेटियों, घड़ों के पैंदे आदि में शाक-भाजी बोई जा सकती है। इससे शिशुपालन, पशुपालन जैसा आनन्द मिलता और सृजन का स्वभाव पनपता है। अपने श्रम से उगाई हुई भाजी अपना अनोखा ही स्वाद और आनन्द प्रदान करती है। अपने देश की बढ़ती हुई आबादी में खाद्य संकट आये दिन खड़ा रहता है। प्रायः विदेशों से अन्न मँगाने का आवश्यकता पड़ती रहती है। अधिक खाद्य उत्पादन के लिए किसान से लेकर हर किसी की दृष्टि रहनी चाहिए। जोत की जमीन के अतिरिक्त निजी उपयोग में जहाँ जिसके पास जितनी भूमि हो उसका उपयोग खाद्य उत्पादन के लिए होना चाहिए। फूल-बेलों को तो शोभा-सज्जा में ही गिना जाएगा, पर फलदार वृक्षों से लेकर शाक-भाजी और अनाज तक सभी को खाद्य में गिना जा सकता है। इस दिशा में व्यक्तिगत प्रयत्नों से लेकर सामूहिक श्रमदान तक के जहाँ जो भी प्रयत्न बन पड़ें उनके लिए उत्साहपूर्वक प्रयत्न चलने चाहिए।

श्रमदान सर्वसुलभ और हर स्थिति के लिए सरल सम्भव है। सृजन की दृष्टि लेकर चलने पर हर मनुष्य को कुछ न कुछ करना ही होगा। अन्य प्रयत्नों में योग्यता, और साधनों आदि की कठिनाई आ सकती है पर श्रमदान तो अकेले ही करते रहा जा सकता है। कई मिलकर सामूहिक रूप से जुटा सकें तो सोने में सुगन्धि की उक्ति चरितार्थ हो सकती है। शोधन एवं अभिवर्द्धन की दृष्टि तथा प्रवृत्ति ही नवयुग की आधारशिला होगी। उसे श्रमदान जैसे छोटे कार्यों से आरम्भ किया जा सकता है और प्रगति के उच्च शिखर पर पहुँचा जा सकता है, जहाँ व्यक्ति को देवत्व से सुसज्जित और समाज को स्वर्गीय समृद्धि से सुसम्पन्न देखा जा सके।

अवांछनीयता के उन्मूलन की आवश्यकता

इस संसार में श्रेष्ठता और निकृष्टता के दोनों ही तत्व रात्रि और दिन की तरह देवत्व और असुरता के रूप में विद्यमान हैं। विवेकशीलता इसमें है कि देवत्व का परिपोषण और असुरत्व के उन्मूलन का उभयपक्षीय प्रयत्न किया जाय। आहार ग्रहण की तरह मल-विसर्जन भी आवश्यक है।

सतोगुणी तत्वों का संवर्द्धन सद्ज्ञान और सद्भाव प्रसार के रचनात्मक क्रिया-कलापों द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है, पर तमोगुण का तो निराकरण एवं प्रतिरोध ही करना पड़ेगा। माली जहाँ बगीचे को खाद-पानी का प्रबन्ध करता है, वह पौधे की काट-छाँट, खर-पतवार की उखाड़ और रखवाली की चौकसी में भी कमी नहीं रखता। औचित्य का परिपोषण जितना महत्वपूर्ण है उतना ही अनाचार का उन्मूलन भी आवश्यक समझा जाना चाहिए।

जीवन की प्रगति में जहाँ अन्य उपयोगी तत्वों का आत्मरक्षा में प्रखर जागरूकता और पराक्रमशीलता का परिचय देना भी नितान्त आवश्यक है। सज्जन रहना और सदाचरण का भाग अपनाना आवश्यक है, उतना ही यह अभीष्ट है कि उन्हें मूर्ख अथवा दुर्बल समझकर अनीति की असुरता कहीं-कहीं धर दबोचने के लिए टूट न पड़े। सज्जनता के साथ समर्थता जुड़ जाने से ही उसकी पूर्णता और उपयोगिता है। कायरता और असावधानी की हानि न समझने के कारण तथाकथित सज्जनों को पग-पग पर चोट खानी पड़ती है। समझा यह जाता है कि सज्जन सताये जाते हैं इसलिए उसे अपनाने में ही हानि है। जबकि समझा यह जाना चाहिए था कि सज्जनता के साथ-साथ आत्मरक्षा की समर्थता को भी सुदृढ़ बनाया जाय। एकाकी सज्जनता को ही पर्याप्त मान बैठने की भूल जब भी देवता करते रहे हैं पौराणिक साक्षी के अनुसार तभी उन्हें पराभव का मुख देखना पड़ा है। देवासुर संग्राम में देवताओं की हार और असुरों की जीत के पीछे यही कटु सत्य काम करता है। तत्वतः देवत्व अधिक समर्थ है। असुरता बाहर से घुड़की दिखाती है, भीतर से बिलकुल पोली-खोखली होती है। उसकी सफलता का यह रहस्य नहीं है कि उसमें श्रेष्ठता की तुलना में अधिक शक्ति होती है, वरन् कारण यह होता है कि सज्जनों में भोलेपन के रूप में पाई जाने वाली असावधानी दुष्टता को लिए सहज आकर्षण बन जाता है। प्रयोग और अनुभव से दुष्टता को अपने कौशल पर अधिक विश्वास बढ़ता जाता है और वह दिन-दिन अधिक आक्रमणकारी बनती और आतंक मचाती है। पौराणिक गाथाओं के अनुसार देवताओं ने अपनी भूल समझकर जब भी संगठित प्रत्याक्रमण साहस पूर्वक किया है तो परिस्थितियाँ उनके अनुकूल होती चली गई हैं। यहाँ तक कि भगवान को भी उनकी सहायता के लिए स्वयं आना पड़ा है। अन्ततः देवताओं की विजय होने के उपाख्यानों का सार तत्व इतनी ही है आक्रमणकारी तत्वों की ओर से आँखें मूँदकर बैठे रहना अपनी दुर्गति कराने का बहुत बड़ा कारण है। जब तक सज्जनता के नाम पर सुरक्षा में असावधानी बरती जाएगी तब तक यह शिकायत बनी ही रहेगी कि देवत्व को पराजित होने का खतरा है।

२.३१ सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?

हम किसी का बुरा नहीं चाहते तो कोई हमारा बुरा क्यों करेगा ? यह मान्यता भावुकता पर आधारित है। आक्रमणकारी को इस बात से कोई वास्ता नहीं कि आप उसका बुरा चाहते हैं या नहीं। उसे तो सिर्फ एक बात जानना ही पर्याप्त लगता है कि आपके ऊपर उसकी घात आसानी से चल सकती है या नहीं ? यदि वह इसमें अड़चन देखेगा तो कहेगा मैं सज्जन को क्यों सताऊँ ? जब देखेगा कि शिकार आसानी से चंगुल में फँस सकता है तो वही यह कहता है। हाथ आया अवसर क्यों गँवाऊँ ? असुरता के लिए न कोई नीति है न मर्यादा। यह सज्जन और दुर्बल का भेद नहीं करती। मात्र इतना देखती है कि प्रतिरोध का खतरा कितना कम या अधिक है। उसके चढ़-दौड़ने और हाथ रोकने में एक ही तत्व काम करता है कि घात के सफल होने की सम्भावना कम या कितनी अधिक है।

इस कटु तथ्य को ध्यान में रखते हुए ईश्वर ने हर किसी की अन्तरात्मा में जहाँ अनेक सत्प्रवृत्तियों का बीजारोपण किया है, वहाँ आत्मरक्षा के लिए सदा सतर्क रहने, सुरक्षात्मक किलाबन्दी करने और संकट के समय जूझ पड़ने की प्रखरता को सँजोये रखने की शक्ति भी दी है। सज्जनता, उदारता के दोनो ही तत्व उच्चस्तरीय और सराहनीय हैं, पर इतना भर सोचकर सन्तुष्ट रहना और इतने उत्पादन को पर्याप्त मान बैठना भूल है। इसमें एक तत्व सतर्क साहसिकता का और भी जोड़कर रखना होगा। यदि ऐसा नहीं होता तो बिना खतरे की सज्जनता उदारता में यश लाभ तो मिल जाता है किन्तु दुष्टता से जूझने में जिस पराक्रम को अपनाना पड़ता है उसमें झंझट और संकट दिखाई पड़ता है। आत्महीनता की स्थिति में उतना साहस जुट नहीं पाता कि अनीति से लड़ने में भी उच्चस्तरीय विजय और अधिक गहरा यश है। लोग सस्ता और सरल मार्ग ढूढ़ते हैं। महँगा और कडुआ गले उतरता नहीं। यदि वह आन्तरिक दुर्बलता मन:संस्थान पर छाई हुई न हो तो सज्जनता और उदारता की ब्राह्मण वृत्ति के समतुल्य ही, सतर्क संघर्ष की क्षात्रवृत्ति को भी उच्चस्तरीय गौरवास्पद मनाने में कोई कठिनाई न होगी। प्राचीनकाल में 'ब्रह्म क्षात्र' वर्ण का अस्तित्व था। ब्राह्मण और क्षत्रिय वृत्ति को समन्वित रखकर चला जाता था। परशुराम, द्रोणाचार्य, विश्वामित्र जैसे प्राय: सभी ऋषि-मनीषी ब्रह्मतेज को-ब्रह्मवर्चस् को धारण किये रहते थे। पीछे सुविधा की दृष्टि से दोनों वर्ण अलग से बन गये और अपना-अपना कार्य-क्षेत्र स्वतन्त्र रूप से कर लिया। तो भी एक दूसरे का समन्वय समर्थ घनिष्टतापूर्वक चलता रहा। राजगुरु का गौरव अति महत्वपूर्ण माना जाता रहा। ब्रह्म सत्ता को क्षात्र सुरक्षा मिली और क्षात्र शक्ति को ब्रह्म प्रेरणा का लाभ मिला। यह सघनता वशिष्ठ, चाणक्य, शंकराचार्य, समर्थ गुरु रामदास, बुद्ध आदि सभी महान व्यक्तित्वों का जीवन वृतान्त पढ़कर सहज ही देखी जा सकती है।

भगवान के समस्त अवतार एक नहीं दो प्रयोजन लेकर अवतरित हुए हैं। धर्म की स्थापना की भाँति ही अधर्म का विनाश भी उनके अवतरण का उद्देश्य रहा है। सन्तुलन ठीक करने के लिए इसके अतिरिक्त कोई और दूसरा चारा भी तो नहीं रहता। असन्तुलन का तात्पर्य ही-धर्म की तुलना में अधर्म की मात्रा का कहीं अधिक बढ़ जाना होता है। इस अवांछनीयता अभिवृद्धि को निरस्त किये बिना सन्तुलन कैसे बने ? गन्दगी को हटाये बिना स्वच्छता कैसे पनपे ? दुष्टता मिटे बिना सज्जनता की रक्षा कैसे हो। रोग कीटाणुओं का हनन किये बिना रोगी की प्राण रक्षा कैसे हो ? शान्त रक्षा के लिए अशान्ति उत्पन्न करने वाले आतंक को निरस्त करने के अतिरिक्त और किसी तरह बात बनती ही नहीं है। भगवान की अवतार लीलाओं में संघर्ष और उन्मूलन का बाहुल्य इसी कारण दिखाई पड़ता है। मार्ग के अवरोध हट जाने पर प्रगति का पथ सहज सरल हो जाता है। असुरता का वातावरण छट जाने पर रामराज्य की, धर्मराज्य की, सतयुगी परिस्थितियाँ उत्पन्न होने में देर कहाँ लगी। अनीति की आग बरसती रहे तो शान्ति और प्रगति की हरीतिमा का दर्शन कहाँ हो सकेगा।

यह विश्व-उद्यान बड़ा सुन्दर है, इसे अधिकाधिक सुन्दर-सुखद बनाने के अगणित साधन उपलब्ध हैं। किन्तु यदि अवांछनीयता के निवारण-अनीति के प्रतिरोध के सिद्धान्त की उपेक्षा कर दी जाय तो हर तरफ विप्लव और बर्बादी का सरंजाम जुटा हुआ दिखाई देने लगता है। सतर्कता और तेजस्विता के सिद्धान्त की उपेक्षा करने वालों को सजा देने के लिए आक्रमणकारी तत्व चारों ओर घात लगाये बैठे रहते हैं। हमें चैन न लेने देने के लिए खटमल पिस्सुओं से लेकर, विषाणु फैलाने के लिए सन्नद्ध मक्खियों तक की क्या कमी है। खाद्य पदार्थों को विषाक्त बनाने के लिए तत्पर छिपकली से लेकर उन्हें बर्बाद करने के लिए आतुर मूषको की सेना हर जगह तैयार है। शरीरगत ऊर्जा यदि जल मे मिले और वायु में घुले भयंकर विषाणुओं से निपटने को तैयार न हो तो हमारा दम घुटते देरी न लगे। बाहर से प्रवेश करने वाली विजातीय तत्वों की बात छोड़ दें तो अपने ही भीतर की कोशिकाएँ मरती, नष्ट होती रहती हैं। उनकी लाशें यदि तत्काल बाहर न हटाई जा सके तो विषाक्तता भरती और मृत्यु संकट खड़ा करती है। इन्हें हटाने वाली सामर्थ्य सर्तक न रहे तो आत्महत्या का अनुष्ठान भीतर ही भीतर सम्पन्न हो जाय। मल में पाये जाने वाले कीड़े पेट के भीतर पैदा होते हैं। हमारे प्रमाद के कारण हमारे द्वारा पैदा की गयी यह आसुरी संतान हमारे ही सर्वनाश का कारण बन सकती है।

संघर्षपरक सतर्कता की आवश्यकता जीवन के हर स्तर पर है। शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्तर पर भी इसकी आवश्यकता है। अपनी असावधानी से जिस प्रकार अपने अन्दर विषाणु पैदा होकर शारीरिक हानि पहुँचाते हैं उसी प्रकार कुविचार, दुर्भावनाएँ और

दुष्प्रकृतियाँ भी पनपती हैं। उन्हें यदि पनपने दिया जाय तो ये विषाणुओं की अपेक्षा अनेक गुनी भयंकर-विनाशक सिद्ध होती हैं। मनुष्य का वर्तमान जीवन ही नहीं भावी अनेक जीवन उनसे अन्धकारमय बन सकते हैं। शारीरिक विकृतियाँ एक व्यक्ति-अथवा उसके समीपस्थ थोड़े से व्यक्तियों भर को प्रभावित करती हैं। किन्तु यह विकृतियाँ तो व्यक्ति, परिवार से लेकर राष्ट्र एवं सारी मानवता भी संकट में डाल सकती हैं।

इन विकृतियों को न पनपने देने के लिए आध्यात्मिकता का समर्थ ढाँचा तत्वज्ञों द्वारा बनाया गया है। उसके लिए प्रतिरोध एवं संघर्ष का ही मार्ग अपनाना पड़ता है, उसे अध्यात्म क्षेत्र में साधना समर एवं आन्तरिक महाभारत जैसे नामों से जाना जाता है। अपने कुविचारों, दुर्भावनाओं एवं दुष्प्रवृत्तियों को उखाड़ने एवं निरस्त करने के लिए बड़ी सशक्त मोर्चाबन्दी करनी होती है। साधक को उसके लिए हर दर्जे की सावधानी एवं सतर्कता बरतनी पड़ती है। इसीलिए साधना को परम पुरुषार्थ कहा गया है।

अस्तु, अन्तर्जगत से लेकर बाह्य जगत तक संघर्षात्मक प्रखरता की आवश्यकता पड़ती है। उसका उपयोग करना पड़े-या न भी करना पड़े किन्तु उसका आभार नहीं होना चाहिए। जहाँ वह नहीं दिखेगी वहीं आंतरिक दुष्प्रवृत्तियों से लेकर प्रकृतिगत विषाणु एवं आस-पास विचरने वाले, सहज दृष्टि से न दिखने वाले हमारे ऊपर टूट पड़ेंगे। उनसे निपटने का साहस तथा उन्हें नष्ट, निरस्त करने की तत्परता हमारे अन्दर होनी चाहिए। उसे भी अपना आवश्यक धर्म मानकर चलना चाहिए।

धर्म एकाङ्गी नहीं है। धर्म का उद्देश्य, लौकिक अभ्युदय एवं आन्तरिक निःश्रेयस प्राप्त कराना है। जिससे समाज में अव्यवस्था एवं आन्तरिक हीनता बढ़े वह कोई भी क्रिया धर्म नहीं कहला सकती। इसी दृष्टि से भारतीय मनीषियों ने दया की तरह दण्ड को भी धर्म कहा है। श्रद्धा की तरह समीक्षा भी आवश्यक है। विवेक और साहस की उपयोगिता कम नहीं है।

पुण्य के प्रति जितनी श्रद्धा होनी चाहिए उतनी ही गहरी पाप के प्रति घृणा होनी चाहिए। जहाँ पाप के प्रति घृणा नहीं है वहाँ पुण्य के प्रति जीवन्त प्रेम भी नहीं हो सकता। प्रेम की तरह घृणा की भी उपयोगिता है। आग और पानी का अपने-अपने प्रयोग के लिए समान उपयोग है। सन्तुलित नीति के दोनों पहिए ठीक रहने पर ही जीवन-रथ ठीक प्रकार गतिशील रह सकता है। एकांगी उदारता एवं कृपणता का मनीषियों ने निषेध ही किया है। सज्जनोचित शालीनता के साथ-साथ दुष्टता के प्रति हमारा आक्रोश अग्निशिखा की तरह ज्वलन्त होना चाहिए। अनुदान और प्रहार की दोनों ही क्षमताएँ अर्जित की जानी चाहिए और कुशल डाक्टर की तरह चाकू और मरहम का यथा समय उपयोग करना चाहिए।

झंझट बचाने की रीति अपनाकर किसी प्रकार जान बचाने का प्रयास किया तो बहुत लोगों द्वारा जाता है, पर उससे भी कुछ काम चलता नहीं। जितना भर हो पाता है कि प्रत्येक झंझट से निबटने के प्रयास में उससे भी बड़ा परोक्ष संकट सिर पर लाद लिया जाय। इस प्रत्यक्ष या परोक्ष की आँख-मिचौनी में ही बहुत से लोग बच निकलते हैं। भाग चलने या छिप जाने का उपक्रम करते हैं। इसमें अधिक से अधिक इतना लाभ हो पाता है कि तत्काल कुछ राहत अनुभव होने लगे। किन्तु यह निश्चित है कि प्रतिरोध करने वाले की तुलना में, किसी भी कीमत पर जान बचाने की प्रेरणा देने वाली भीरुता अन्ततः अधिक हानिकारक सिद्ध होती है। आक्रमणकारियों की अपनी निजी शक्ति नगण्य होती है। ये डरकर ही सरलतापूर्वक शिकार बन जाने वाली दुर्बलता का लाभ उठाते हैं और इसी पर फलते-फूलते हैं। असुरता को पनपने का अवसर वहीं मिलता है जहाँ प्रतिरोध का खतरा नहीं हो। उनकी रणनीति यही होती है जहाँ कि कमजोरी पाई जाय वही चढ़ दौड़ा जाय। आक्रमणकारियों की सफलता का रहस्य इसी तथ्य के साथ जुड़ा रहता है।

प्रकृति ने दुर्बल प्राणियों की आत्मरक्षा के लिए यह सुरक्षा परिधान है कि वे अपने से अत्यधिक बलिष्ठ आक्रान्ता का सामना पड़ने पर भाग खड़े हों, यह बचने, भागने की नीति अत्यधिक असमानता की स्थिति में ही कार्यान्वित होती है, जहाँ असमानता और आक्रान्ता को हटा देने का साहस हो, वहाँ भगोड़े समझे जाने वाले प्राणी भी बराबर वाले के साथ मल्लयुद्ध करते देखे जाते हैं।

मनुष्य के लिए कोई चारा न रहने पर ऐसा सोचने की बात क्षम्य हो जाती है। पर जहाँ तक आत्मगौरव और पौरुष का प्रश्न है वहाँ भाग खड़े होने की नीति सदैव निन्दनीय ठहराई जाती रहेगी। नीतिशास्त्र में लोक-व्यवहार में। युद्ध में पीठ दिखाकर भागने वालों को भगौड़ा कहकर तिरस्कृत किया जाता है। शूरवीर इस भर्त्सना की अपेक्षा मरण को शिरोधार्य करते थे। राजस्थान में 'जौहर' प्रथा का प्रचलन था। जब प्रबल शत्रु की सेना से थोड़े-से योद्धा घिर जाते थे और बचने का कोई मार्ग न देखते थे तो शत्रु के हाथों आत्मसमर्पण करके दुर्गति कराने की अपेक्षा वे शत्रु की विशाल सेना के मध्य तलवार लेकर कूद पड़ते थे। अन्तिम साँस तक लड़ते-लड़ते प्राण दे देते थे। वे जानते थे कि प्राण इतना मूल्यवान नहीं है जिसे, आदर्शों की, आत्मगौरव की तुलना में परित्याग न कर सके। अनीति के आगे न सिर झुकाना, भले ही बीच में टूट जाना यह आदर्श युग-युग से सराहा जाता रहा है। इस मार्ग पर चलने वाले पराजितों को भी विजेताओं से अधिक सम्मान दिया है।

जटायु रावण से लड़कर विजयी न हो सका और न लड़ते समय उसने जीतने की ही आशा की थी फिर भी अनीति को आँखों से देखते रहने और संकट में न पड़ने के भय से चुप रहने की बात उसके गले न उतरी और कायरता और मृत्यु में से एक को चुनने का प्रसंग सामने आने पर, मृत्यु को रहने पर उसने युद्ध में ही मर मिटने की नीति को ही

अनाचार के अभिवर्द्धन की विभीषिकाएँ खड़ी कर दी हों। जीवन की स्थिरता तभी तक है, जब तक वह मरण से जूझने की तत्परता को बनाये रहता है। जहाँ प्रतिरोध ने हथियार डाले वहाँ न प्रगति सम्भव होती है-न शान्ति रहती है और न अस्तित्व की रक्षा होती है। ऐसी दशा में कायर की तरह बेमौत मरने की अपेक्षा जूझते हुए वीरगति पाने में ही अधिक लाभ है। दोनों प्रकार के मरणों में एक *आत्म-ग्लानि और अपयश से भरा है। दूसरे में आत्म-*गौरव भी है और लोकसम्मान भी। व्यक्तिगत और सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त यही है कि हम अपने भीतर और बाहर जड़ जमाकर बैठी हुई अवांछनीयताओं के विरुद्ध लोहा लेने की तैयारी करें। शान्ति और प्रगति की परिस्थितियाँ इससे कम मूल्य में उपलब्ध हो नहीं सकतीं। चाहे आन्तरिक-आत्मिक क्षेत्र हो चाहे बाह्य-सामाजिक, दोनों में ही जागरूकता, साहसिकता एवं प्रखरता अनिवार्य है।

युग परिवर्तन के लिए अनौचित्य का प्रतिरोध

अवांछनीयता का आसुरी तत्व है तो एक ही; पर उसका प्रवेश जिस क्षेत्र में होता वहाँ उसका नाम, रूप उसी आकार-प्रकार का बन जाता है। वर्गीकरण की सुविधा के लिए पाँच भागों में विभक्त किया गया है-(१) मूढ़ मान्यताएँ, (२) दुष्प्रवृत्तियाँ, (३) निष्ठुरता, (४) अनैतिकताएँ (५) कुरीतियाँ।

मूढ़मान्यताएँ मनुष्य की दूरदर्शिता, विवेकशीलता के अभाव में पनपती हैं। कई व्यक्ति व्यावसायिक कार्यों में तो बहुत कुशल होते हैं और लाभ-हानि का लेखा-जोखा लेते हुए फूँक-फूँककर कदम बढ़ाते हैं पर प्रचलनों की उपयोगिता के सम्बन्ध में उपेक्षा बरतते हैं। मानसिक आलस्य के कारण उधर ध्यान ही नहीं देते और जो कुछ भला-बुरा ढर्रा व्यवहार में आता रहता है उसी को अपनाये रहने में सरलता समझते हैं। नुक्ताचीनी, जाँच पड़ताल और विधि-निषेध के झगड़े पड़ते हैं तो साथी सम्बन्धियों की प्रतिगामिता आड़े आती है, झंझट खड़ा होता है। ऐसे लोग अवांछनीय मान्यताओ की व्यर्थता समझते हुए भी पुराने अभ्यास और साथियों के समर्थन में उसे छोड़ने की हिम्मत नहीं करते। जो समय, श्रम और धन की बर्बादी के अतिरिक्त लाभदायक किसी भी दृष्टि से नहीं है। कइयों का तो प्राचीनता का मोह कट्टरता के स्तर तक जा पहुँचता है और प्रचलित ढर्रे का जोरदार समर्थन करते हैं भले ही इसके लिए उनके पास तर्क और तथ्यों का आधार तनिक भी न हो। मूढ़मान्यताएँ हटाने के लिए बौद्धिक क्रान्ति का उद्घोष युग निर्माण योजना द्वारा किया गया है कि हर व्यक्ति विचारशील बने। प्रचलन चिरकाल से चला आ रहा है या नया आरम्भ किया जा रहा है इस पर विचार करना आवश्यक नहीं। आवश्यक यही है कि उचित-अनुचित का, हित-अनहित का विवेक रखा जाय और गुण-दोष पर विचार किया जाय। तुलनात्मक समीक्षा की दृष्टि से जो ग्राह्य हो उसी का स्वीकार किया जाय।

दुष्प्रवृत्तियों का अर्थ है बुरी आदतें। बुरी आदतें वे जो निकृष्ट योनियों में रहने तक तो जीवन के लिए उपयोगी थीं पर अब मनुष्य जीवन का उत्तरदायित्व सिर पर आते ही *अनुपयोगी हो गईं। छोटे बालक बिना लंगोटी के नंग-*धड़ंग बने रह सकते हैं पर वयस्क होने पर उस तरह रहना उचित नहीं रहता। छोटे बालक कहीं भी मल-मूत्र त्याग सकते हैं पर बड़े होने पर उन्हें मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है। पशुप्रवृत्तियों में नैतिक या सामाजिक बन्धन नहीं होते। मनमर्जी का आचरण करने की छूट रहती है पर मनुष्य पग-पग पर कर्तव्यों से बँधा है। वह ऐसा स्वेच्छाचार नहीं बरत सकता है, जिसमें वैयक्तिक मर्यादा और समाज व्यवस्था का उल्लघंन होता है और दूसरों के साथ सद्व्यवहार की सभ्यता। संस्कृति और सभ्यता की मर्यादाएँ सदाचार, शिष्टाचार कहलाती हैं। अपने गुण, कर्म, स्वभाव को मानवी सुव्यवस्था के अन्तर्गत ढालने का प्रयत्न करने से ही मानवी गरिमा की रक्षा होती है। इस दिशा में उपेक्षा बरतने और पशु स्वभाव की अनगढ़पन की आदतें बनाये रहना दुष्प्रवृत्तियाँ कहलाता है। इन्हें छोड़ने और पद के अनुरूप आचरण करने का अभ्यास ही जीवन-साधना है। इस दिशा में बरते जाने वाली उपेक्षा को दूर करने को दुष्प्रवृत्ति निवारण कह सकते हैं।

मूढ़मान्यता और दुष्प्रवत्तियों के पश्चात्-अवांछनीयताओं में तीसरी का नाम है निष्ठुरता। स्पष्ट है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। आदिमकाल से लेकर आज की सृष्टि का मुकटमणि कहलाने की स्थिति तक पहुँचने का श्रेय सहकारिता के आधार पर ही हुआ है और सुविधा-साधनों का उपार्जन सम्भव होने की स्थिति मिल-जुलकर रहने और आदान-प्रदान करने की सत्प्रवृत्ति से ही सम्भव हुई है। यह सहकारिता-एक दूसरे के दुःख-सुख को अपने जैसा अनुभव करने की भाव संवेदना से ही विकसित होती है अन्यथा झुण्ड में रहने भर से कोई बड़ी बात नहीं बनती। पारिवारिक स्नेह, सद्भाव, सौजन्य, सहयोग की प्रवृत्ति जिसमें जितनी है उसकी आत्मिक स्थिति उतनी ही मानी जाती है और वह उतना ही श्रद्धा सम्मान का पात्र बनता है। दूसरों के प्रति जिसे सहानुभूति नहीं मात्र अपने स्वार्थ में जो डूबा रहता है ऐसे मनुष्य रूखे, नीरस, कठोर, संकीर्ण एवं घिनौने समझे जाते हैं। अपने को दूसरों की चिन्ता नहीं तो दूसरे ही उदारता का व्यवहार क्यों करेंगे और क्यों सद्भाव रखेंगे। ऐसी दशा में अपने मतलब से मतलब रखने की नीति अपनाने वाले भौतिक क्षेत्र में सहयोग और आत्मिक क्षेत्र में शान्ति-सन्तोष पाने से वंचित ही बने रहते हैं। निष्ठुरता इसी स्तर की मनोवृत्ति को कहते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने साथियों तक के हित-साधन की उपेक्षा करके अपना ही स्वार्थ सिद्ध

स्वीकार किया । परिणाम वही हुआ जो होना था, दुर्बलता का पराजित होना आश्चर्यजनक नहीं । जटायु के पंख कट जाने पर वह धराशायी हो गया । राम ने उसके घावों को आँसुओं से धोया और गले से लगाया । शरीर से वीरगति पाते समय उसने अपने सौभाग्य को सराहा और मानसिक आदर्शों के लिए, लड़ने वाले के लिए विजय और पराजय समान रूप से सुखद श्रेष्ठ हैं । इतिहास में ऐसे असंख्य प्रसंग मौजूद हैं। जिनमें विजय की कोई आशा न होने पर भी लोगों ने धर्म युद्ध जारी रखे हैं और बड़े से बड़े संकटों का हँसते-मुस्कराते स्वागत किया है । ऐसे लोगों का बलिदान, सदा शहीदों के चरणों में चढ़ने वाली भावभरी श्रद्धान्जलियों से गौरवान्वित होता रहा है । ऐसी बलिदानी परम्पराएँ पूरे समाज के लिए जीवन देती हैं । जीवित रहकर वे जनसाधारण को जितना प्रकाश एवं लाभ देते रहते थे, इस प्रकार मरण से वे अपेक्षाकृत कहीं अधिक दे सकने में समर्थ होते हैं । भगतसिंह जैसे बलिदानी ने जीवन खोया जरूर, पर सारे देश के नवजीवन प्राण फूँक दिये । जान ऑफ आर्क के बलिदान ने फ्रांस के स्वाधीनता संग्राम को सफल बनाने में इतना योगदान दे दिया जितना कि प्रचुर सामान जुटाने पर भी संभव नहीं हो सकता था । ईसा ने शूली पर अपने प्राण दिये प्रत्यक्षतः वे पराजित ही कहे जा सकते हैं परन्तु उनके बलिदान ने केवल उन्हें ईश्वर का बेटा कहलाने का अवसर ही नहीं दिया वरन् उस को भी गगनचुम्बी सफलता तक पहुँचा दिया जिसके लिए जीवित रहकर वे छुट-पुट प्रयत्न करने में संलग्न थे । सिक्ख धर्म में प्रखरता भर देने का जितना श्रेय गुरुगोविन्द सिंह और उनके बच्चों के बलिदान को है। उतना उन प्रयत्नों को नहीं है जो धर्म प्रचार व कथाकीर्तन व अन्य उपायों द्वारा कार्यान्वित किये जाते हैं ।

आदर्श समाज की संरचना के लिए, सदा की तरह आज भी प्रचारात्मक, रचनात्मक एवं सुधारात्मक गतिविधियों के त्रिविध मोर्चे खड़े होंगे । प्रचारात्मक और रचनात्मक उपायों में सामान्यतः सौम्य तत्वों का ही समावेश हो सकता है, धर्म की स्थापना के लिए सद्भावना और सत्प्रवृत्तियों की महत्ता समझना और गरिमा को हृदयङ्गम करना आवश्यक है । किन्तु यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि इस दुनिया में सब कुछ ऐसा सौम्य-सात्विक ही नहीं है जिसे प्रेम और सद्भाव से समझाया, सुधारा जा सके । यहाँ ऐसा भी बहुत कुछ है जिसकी कठोरता का अन्त नहीं, उसके लिए वे उपकरण काम नहीं दे सकते जो सौम्य-सात्विकों की कोमलता को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं । पुष्पों का हार बाँधने का कार्य, पतली-सी सुई और हलका-सा धागा, उँगली की पोवरों के इशारे से भली प्रकार पूरा कर लेते हैं । किन्तु लोहे के चादर छेद करने के लिए वे साधन अपर्याप्त हैं जो हार बाँधने में काम दे जाते हैं । लोहे की प्रकृति दूसरी तरह की है-उसके लिए उन उपकरणों का कोई महत्व नहीं, जिनके सहारे ढेरों पुष्पों को बिना किसी अड़चन के हार बनने पर सहमत किया जाता रहा है । सज्जनता में कोमलता होती है और वह सद्भावनाओं की तनिक-सी गर्मी से मक्खन की तरह पिघल जाती है । किन्तु दुष्टता की कठोरता के लिए ऐसे उपकरण सँजोये गये हैं, जिनके बिना उसे नरम करना कदाचित् ही कभी सम्भव हुआ है । अवांछनीयता की प्रकृति ऐसी ही कठोर है जिसे बदलने, सुधारने के लिए प्रतिरोध के शस्त्र भी उतने ही कठोर रखने पड़ते हैं। चट्टानों में छेद करने के लिए लोहे की नोंक वाले वे बरमें काम नहीं करते जो लकड़ी में छेद करने की दृष्टि से पूर्ण सफल रहते हैं । चट्टानों में छेद करने के लिए उनसे भी कठोर हीरे की नोंक का बरमा प्रयुक्त करना पड़ता है । कठोरता को कठोरता ही झुकाती है । प्रेम से दुष्टता को बदलना अत्यन्त उच्चकोटि का प्रयोग है जो सामान्य लोगों के लिए नहीं, बुद्ध जैसी किन्हीं विशिष्ट महान आत्माओं के लिए सम्भव है, जो अंगुलिमाल, आम्रपाली जैसों को दृष्टिमात्र में बदल दें । सामान्यतया तो मल्ल-युद्ध की नीति ही काम में आती है । भगवान कृष्ण से कंस, शिशुपाल, दुर्योधन न सुधर सके और भगवान राम के लिए रावण, कुम्भकरण, खरदूषण, मारीच को सुधारना सम्भव न हुआ। प्रहलाद की सज्जनता से हिरण्यकश्यपु कहीं सुधरा ? भगवान नृसिंह को अपने पैने नाखूनों से उसे अनीति छोड़ने के लिए विवश करना पड़ा । समुद्र टिटहरी की प्रार्थना को अनसुनी करता रहा पर जब अगस्त्य मुनि ने उसे दबोचा तब कहीं भलमनसाहत बरतने और टिटहरी के अण्डे वापिस करने के लिए सहमत हुआ था । गाँधीजी जैसे अहिंसा के पुजारी ने काश्मीर के उपद्रव दबाने में सैन्य शक्ति के प्रयोग करने का समर्थन किया था । यह सब देखते हुए सामान्य व्यक्तियों के लिए सज्जनता से दुष्टता को बदलने के प्रयोग के सफल होने की आशा करना आकाश कुसुम तोड़ने, बालू से तेल निकालने की कल्पना जैसी निरर्थक मान्यता ही कही जाएगी ।

विकृतियाँ किसी भी क्षेत्र की क्यों न हों-हटाने से ही हटतीं और मिटाने से ही मिटती हैं । उनका अस्तित्व एक चुनौती है जिसे स्वीकार करने पर आत्मबल की पृष्ठभूमि बनती है, साहस भरा पुरुषार्थ जगता है और उसकी जाग्रति से प्रगति का पथ प्रशस्त होता है । इस चुनौती को स्वीकार न करने पर उससे भी बड़ा संकट उत्पन्न होता है जैसा कि अवांछनीयता से जूझने के समय उपस्थित झंझट के रूप में सामने रहता है । चैन से रहना मात्र इसी बात पर निर्भर नहीं है कि हम अपनी ओर से कोई उपद्रव न करें । हम चुप रहते हैं, शान्ति से रहना चाहते हैं । इतने भर से ही इस बात की निश्चिन्तता नहीं होती कि सामने वाले निहित स्वार्थ अपना उल्लू सीधा करने से रुके बैठे रहेंगे और जहाँ बिना प्रतिरोध के अपना दाँव सफल हो सकता है वहाँ से सरलतापूर्वक लाभ उठाने का लोभ संवरण किये रह सकेंगे।

आवश्यक है कि विकृतियों के विरुद्ध-प्रतिरोध का वातावरण बनाये रखा जाय । विशेषतया उन दिनों जबकि संकीर्ण स्वार्थपरता की अमर्यादित अभिवृद्धि ने हर क्षेत्र में

अनाचार के अभिवर्द्धन की विभीषिकाएँ खड़ी कर दी हों । जीवन की स्थिरता तभी तक है, जब तक वह मरण से जूझने की तत्परता को बनाये रहता है । जहाँ प्रतिरोध ने हथियार डाले वहाँ न प्रगति सम्भव होती है-न शान्ति रहती है और न अस्तित्व की रक्षा होती है । ऐसी दशा में कायर की तरह बेमौत मरने की अपेक्षा जूझते हुए वीरगति पाने में ही अधिक लाभ है । दोनों प्रकार के मरणों में एक आत्म-ग्लानि और अपयश से भरा है । दूसरे में आत्म-गौरव भी है और लोकसम्मान भी । व्यक्तिगत और सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त यही है कि हम अपने भीतर और बाहर जड़ जमाकर बैठी हुई अवांछनीयताओं के विरुद्ध लोहा लेने की तैयारी करें । शान्ति और प्रगति की परिस्थितियाँ इससे कम मूल्य में उपलब्ध हो नहीं सकतीं । चाहे आन्तरिक-आत्मिक क्षेत्र हो चाहे बाह्य-सामाजिक, दोनों में ही जागरूकता, साहसिकता एवं प्रखरता अनिवार्य है ।

युग परिवर्तन के लिए अनौचित्य का प्रतिरोध

अवांछनीयता का आसुरी तत्व है तो एक ही; पर उसका प्रवेश जिस क्षेत्र में होता वहाँ उसका नाम, रूप उसी आकार-प्रकार का बन जाता है । वर्गीकरण की सुविधा के लिए पाँच भागों में विभक्त किया गया है-(१) मूढ़ मान्यताएँ, (२) दुष्प्रवृत्तियाँ, (३) निष्ठुरता, (४) अनैतिकताएँ (५) कुरीतियाँ ।

मूढ़मान्यताएँ मनुष्य की दूरदर्शिता, विवेकशीलता के अभाव में पनपती हैं । कई व्यक्ति व्यावसायिक कार्यों में तो बहुत कुशल होते हैं और लाभ-हानि का लेखा-जोखा लेते हुए फूँक- फूँककर कदम बढ़ाते हैं पर प्रचलनों की उपयोगिता के सम्बन्ध में उपेक्षा बरतते हैं । मानसिक आलस्य के कारण उधर ध्यान ही नहीं देते और जो कुछ भला-बुरा ढर्रा व्यवहार में आता रहता है उसी को अपनाये रहने में सरलता समझते हैं । नुक्ताचीनी, जाँच पड़ताल और विधि-निषेध के झगड़े पड़ते हैं तो साथी सम्बन्धियों की प्रतिगामिता आड़े आती है, झंझट खड़ा होता है । ऐसे लोग अवांछनीय मान्यताओं की व्यर्थता समझते हुए भी पुराने अभ्यास और साथियों के समर्थन में उसे छोड़ने की हिम्मत नहीं करते। जो समय, श्रम और धन की बर्बादी के अतिरिक्त लाभदायक किसी भी दृष्टि से नहीं है । कइयों का तो प्राचीनता का मोह कट्टरता के स्तर तक जा पहुँचता है और प्रचलित ढर्रे का जोरदार समर्थन करते हैं भले ही इसके लिए उनके पास तर्क और तथ्यों का आधार तनिक भी न हो । मूढ़मान्यताएँ हटाने के लिए बौद्धिक क्रान्ति का उद्घोष युग निर्माण योजना द्वारा किया गया है कि हर व्यक्ति विचारशील बने । प्रचलन चिरकाल से चला आ रहा है या नया आरम्भ किया जा रहा है इस पर विचार करना आवश्यक नहीं । आवश्यक यही है कि उचित-अनुचित का, हित-अनहित का विवेक रखा जाय और गुण-दोष पर विचार किया जाय । तुलनात्मक समीक्षा की दृष्टि से जो ग्राह्य हो उसी का स्वीकार किया जाय ।

दुष्प्रवृत्तियों का अर्थ है बुरी आदतें । बुरी आदतें वे जो निकृष्ट योनियों में रहने तक तो जीवन के लिए उपयोगी थीं पर अब मनुष्य जीवन का उत्तरदायित्व सिर पर आते ही अनुपयोगी हो गईं । छोटे बालक बिना लंगोटी के नंग-धडंग बने रह सकते हैं पर वयस्क होने पर उस तरह रहना उचित नहीं रहता । छोटे बालक कहीं भी मल-मूत्र त्याग सकते हैं पर बड़े होने पर उन्हें मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है । पशुप्रवृत्तियों में नैतिक या सामाजिक बन्धन नहीं होते । मनमर्जी का आचरण करने की छूट रहती है पर मनुष्य पग-पग पर कर्तव्यों से बँधा है । वह ऐसा स्वेच्छाचार नहीं बरत सकता है, जिसमें वैयक्तिक मर्यादा और समाज व्यवस्था का उल्लघंन होता है और दूसरों के साथ सद्व्यवहार की सभ्यता । संस्कृति और सभ्यता की मर्यादाएँ सदाचार, शिष्टाचार कहलाती हैं । अपने गुण, कर्म, स्वभाव को मानवी सुव्यवस्था के अन्तर्गत ढालने का प्रयत्न करने से ही मानवी गरिमा की रक्षा होती है । इस दिशा में उपेक्षा बरतने और पशु स्वभाव की अनगढ़पन की आदतें बनाये रहना दुष्प्रवृत्तियाँ कहलाता है। इन्हें छोड़ने और पद के अनुरूप आचरण करने का अभ्यास ही जीवन-साधना है । इस दिशा में बरते जाने वाली उपेक्षा को दूर करने को दुष्प्रवृत्ति निवारण कह सकते हैं ।

मूढ़मान्यता और दुष्प्रवत्तियों के पश्चात्-अवांछनीयताओं में तीसरी का नाम है निष्ठुरता । स्पष्ट है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है । आदिमकाल से लेकर आज की सृष्टि का मुकटमणि कहलाने की स्थिति तक पहुँचने का श्रेय सहकारिता के आधार पर ही हुआ है और सुविधा-साधनों का उपार्जन सम्भव होने की स्थिति मिल-जुलकर रहने और आदान-प्रदान करने की सत्प्रवृत्ति से ही सम्भव हुई है । यह सहकारिता-एक दूसरे के दुःख-सुख को अपने जैसा अनुभव करने की भाव संवेदना से ही विकसित होती है अन्यथा झुण्ड में रहने भर से कोई बड़ी बात नहीं बनती । पारिवारिक स्नेह, सद्भाव, सौजन्य, सहयोग की प्रवृत्ति जिसमें जितनी है उसकी आत्मिक स्थिति उतनी ही मानी जाती है और वह उतना ही श्रद्धा सम्मान का पात्र बनता है। दूसरों के प्रति जिसे सहानुभूति नहीं मात्र अपने स्वार्थ में जो डूबा रहता है ऐसे मनुष्य रूखे, नीरस, कठोर, संकीर्ण एवं घिनौने समझे जाते हैं । अपने को दूसरों की चिन्ता नहीं तो दूसरे ही उदारता का व्यवहार क्यों करेंगे और क्यों सद्भाव रखेंगे । ऐसी दशा में अपने मतलब से मतलब रखने की नीति अपनाने वाले भौतिक क्षेत्र में सहयोग और आत्मिक क्षेत्र में शान्ति-सन्तोष पाने से वंचित ही बने रहते हैं । निष्ठुरता इसी स्तर की मनोवृत्ति को कहते हैं । ऐसे व्यक्ति अपने साथियों तक के हित-साधन की उपेक्षा करके अपना ही स्वार्थ सिद्ध

स्वीकार किया। परिणाम वही हुआ जो होना था, दुर्बलता का पराजित होना आश्चर्यजनक नहीं। जटायु के पंख कट जाने पर वह धराशायी हो गया। राम ने उसके घावों को आँसुओं से धोया और गले से लगाया। शरीर से वीरगति पाते समय उसने अपने सौभाग्य को सराहा और मानसिक आदर्शों के लिए, लड़ने वाले के लिए विजय और पराजय समान रूप से सुखद श्रेष्ठ हैं। इतिहास में ऐसे असंख्य प्रसंग मौजूद हैं। जिनमें विजय की कोई आशा न होने पर भी लोगों ने धर्म युद्ध जारी रखे हैं और बड़े से बड़े संकटों का हँसते-मुस्कराते स्वागत किया है। ऐसे लोगों का बलिदान, सदा शहीदों के चरणों में चढ़ने वाली भावभरी श्रद्धान्जलियों से गौरवान्वित होता रहा है। ऐसी बलिदानी परम्पराएँ पूरे समाज के लिए जीवन देती हैं। जीवित रहकर वे जनसाधारण को जितना प्रकाश एवं लाभ देते रहते थे, इस प्रकार मरण से वे अपेक्षाकृत कहीं अधिक दे सकने में समर्थ होते हैं। भगतसिंह जैसे बलिदानी ने जीवन खोया जरूर, पर सारे देश के नवजीवन प्राण फूँक दिये। जान ऑफ आर्क के बलिदान ने फ्रांस के स्वाधीनता संग्राम को सफल बनाने में इतना योगदान दे दिया जितना कि प्रचुर सामान जुटाने पर भी संभव नहीं हो सकता था। ईसा ने शूली पर अपने प्राण दिये प्रत्यक्षतः वे पराजित ही कहे जा सकते हैं परन्तु उनके बलिदान ने केवल उन्हें ईश्वर का बेटा कहलाने का अवसर ही नहीं दिया वरन् उस को भी गगनचुम्बी सफलता तक पहुँचा दिया जिसके लिए जीवित रहकर वे छुट-पुट प्रयत्न करने में संलग्न थे। सिक्ख धर्म में प्रखरता भर देने का जितना श्रेय गुरुगोविन्द सिंह और उनके बच्चों के बलिदान को है। उतना उन प्रयत्नों को नहीं है जो धर्म प्रचार व कथाकीर्तन व अन्य उपायों द्वारा कार्यान्वित किये जाते हैं।

आदर्श समाज की संरचना के लिए, सदा की तरह आज भी प्रचारात्मक, रचनात्मक एवं सुधारात्मक गतिविधियों के त्रिविध मोर्चे खड़े होंगे। प्रचारात्मक और रचनात्मक उपायों में सामान्यतः सौम्य तत्वों का ही समावेश हो सकता है, धर्म की स्थापना के लिए सद्भावना और सत्प्रवृत्तियों की महत्ता समझना और गरिमा को हृदयङ्गम करना आवश्यक है। किन्तु यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि इस दुनिया में सब कुछ ऐसा सौम्य-सात्विक ही नहीं है जिसे प्रेम और सद्भाव से समझाया, सुधारा जा सके। यहाँ ऐसा भी बहुत कुछ है जिसकी कठोरता का अन्त नहीं, उसके लिए वे उपकरण काम नहीं दे सकते जो सौम्य-सात्विकों की कोमलता को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं। पुष्पों का हार बाँधने का कार्य, पतली-सी सुई और हलका-सा धागा, उँगली की पोवरों के इशारे से भली प्रकार पूरा कर लेते हैं। किन्तु लोहे के चादर छेद करने के लिए वे साधन अपर्याप्त हैं जो हार बाँधने में काम दे जाते हैं। लोहे की प्रकृति दूसरी तरह की है-उसके लिए उन उपकरणों का कोई महत्व नहीं, जिनके सहारे ढेरों पुष्पों को बिना किसी अड़चन के

[illegible]ताचार के अभिवर्द्धन को [illegible] जीवन की स्थिरता तभी तक है, जब तक [illegible] जूझने की तत्परता को बनाये रहता है। जहाँ [illegible] हथियार डाले वहाँ न प्रगति सम्भव होती है, न [illegible] रहती है और न अस्तित्व की रक्षा होती है। [illegible] कायर की तरह बेमौत मरने को अपेक्षा जूझते हुए [illegible] पाने में ही अधिक लाभ है। दोनों प्रकार के मरणों में एक आत्म-ग्लानि और अपयश से भरा है। दूसरे में आत्म-गौरव भी है और लोकसम्मान भी। व्यक्तिगत और सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त यही है कि हम अपने भीतर और बाहर जड़ जमाकर बैठी हुई अवांछनीयताओं के विरुद्ध लोहा लेने की तैयारी करें। शान्ति और प्रगति की परिस्थितियाँ इससे कम मूल्य में उपलब्ध हो नहीं सकतीं। चाहे आन्तरिक-व्यक्तिगत क्षेत्र हो चाहे बाह्य-सामाजिक, दोनों में ही जागरूकता, साहसिकता एवं प्रखरता अनिवार्य है।

युग परिवर्तन के लिए अनौचित्य का प्रतिरोध

अवांछनीयता का आसुरी तत्व है तो एक ही; पर उसका प्रवेश जिस क्षेत्र में होता वहीं उसका नाम, रूप उसी आकार-प्रकार का बन जाता है। वर्गीकरण की सुविधा के लिए पाँच भागों में विभक्त किया गया है-(१) मूढ़ मान्यताएँ, (२) दुष्प्रवृत्तियाँ, (३) निष्ठुरता, (४) अनैतिकताएँ (५) कुरीतियाँ।

मूढ़मान्यताएँ मनुष्य की दूरदर्शिता, विवेकशीलता के अभाव में पनपती हैं। कई व्यक्ति व्यावसायिक कार्यों में तो बहुत कुशल होते हैं और लाभ-हानि का लेखा-जोखा लेते हुए फूँक- फूँककर कदम बढ़ाते हैं पर प्रचलनों की उपयोगिता के सम्बन्ध में उपेक्षा बरतते हैं। मानसिक आलस्य के कारण उधर ध्यान ही नहीं देते और जो कुछ भला-बुरा ढर्रा व्यवहार में आता रहता है उसी को अपनाये रहने में सरलता समझते हैं। नुक्ताचीनी, जाँच पड़ताल और विधि-निषेध के झगड़े पड़ते हैं तो साथी सम्बन्धियों की प्रतिगामिता आड़े आती है, झंझट खड़ा होता है। ऐसे लोग अवांछनीय मान्यताओं की व्यर्थता समझते हुए भी पुराने अभ्यास और साथियों के समर्थन में उसे छोड़ने की हिम्मत नहीं करते। जो समय, श्रम और धन की बर्बादी के अतिरिक्त लाभदायक किसी भी दृष्टि से नहीं है। कइयों का तो प्राचीनता का मोह कट्टरता के स्तर तक जा पहुँचता है और प्रचलित ढर्रे का जोरदार समर्थन करते हैं भले ही इसके लिए उनके पास तर्क और तथ्यों का आधार तनिक भी न हो। मूढ़मान्यताएँ हटाने के लिए बौद्धिक क्रान्ति का उद्घोष युग निर्माण योजना द्वारा किया गया है कि हर व्यक्ति विचारशील बने। प्रचलन चिरकाल से चला आ रहा है या नया आरम्भ किया जा रहा है [illegible]

[illegible]

मूढ़ मान्यता और कुरीतियों के [illegible] अवांछनीयताओं में सीधी मार [illegible] कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। [illegible] आज की स्थिति का सुदृढ़ [illegible] पहुँचने का श्रेय सहकारिता के [illegible] और सुविधा-साधनों का उपार्जन [illegible] मिल-जुलकर रहने और आदान-प्रदान करने की [illegible] से ही सम्भव हुई है। यह सहकारिता एक दूसरे के दुःख-सुख को अपने जैसा अनुभव करने की [illegible] विकसित होती है अन्यथा झुण्ड में रहने पर भी [illegible] बात नहीं बनती। पारिवारिक स्नेह, सद्भाव, [illegible] सहयोग की प्रवृत्ति जिसमें जितनी है उसकी [illegible] स्थिति उतनी ही ऊँची जाती है और वह उतना ही श्रद्धा सम्मान का पात्र बनता है। दूसरों के प्रति जिनमें सहानुभूति नहीं मात्र अपने स्वार्थ में जो डूबा रहता है, ऐसे मनुष्य रूखे, नीरस, कठोर, संकीर्ण एवं निष्ठुर समझे जाते हैं। अपने को दूसरों की चिन्ता नहीं तो दूसरे ही उदारता का व्यवहार क्यों करेंगे और क्यों सद्भाव रखेंगे। ऐसी दशा में अपने मतलब से मतलब रखने की नीति अपनाने वाले भौतिक क्षेत्र में सहयोग और आत्मिक क्षेत्र में शान्ति, सन्तोष पाने से वंचित ही बने रहते हैं। [illegible]

[illegible]रतों पर [illegible]रहता है। [illegible] शिक्षा, [illegible] तरसते [illegible] में है, [illegible]ता है। [illegible] देखा [illegible]

करने की बात सोचते हैं । दूसरों की पीड़ा, परेशानी की उन्हें तनिक भी चिन्ता नहीं होती । इस प्रवृत्ति को हेय माना गया है उसके दुष्परिणाम व्यक्ति और समाज दोनों को ही भुगतने पड़ते हैं अस्तु, इसे अवांछनीयताओं के वर्ग में ही गिना गया है ।

अनैतिकता उस दुष्टता का नाम है जिसमें मनुष्य पशुता से नीचे उतर कर पैशाचिकता के स्तर तक जा पहुँचता है। चोरी, उठाईगीरी, बेईमानी, शोषण, अपहरण, हत्या, लूट, डकैती, ठगी जैसे दुष्कर्म इसी श्रेणी में आते हैं । जब मनुष्य स्वार्थ, असहयोगी, स्वेच्छाचारी रहता है तब तक वह पशु कहा जाता है, पर जब आक्रमणकारी बन जाता है और दूसरों के अधिकारों का अपहरण के लिए जिसकी लाठी उसकी भैंस वाला जंगल का कानून हाथ में लेता है तो उसे अपराधी कहते हैं । छोटे अपराधों को अनैतिकता और बड़े अपराधों को दुष्टता कहते हैं, दोनों तत्वतः हैं एक ही, अन्तर उग्रता भर का है। पशु प्रवृत्तियाँ निन्दनीय मानी जाती हैं पर दुष्टताओं की रोकथाम के लिए तो सामाजिक एवं शासकीय दंड व्यवस्था भी बनी हुई है । अनैतिकताओं और दुष्टताओं से समाज में असुरक्षा और आतंक की स्थिति उत्पन्न होती है । अनीति में विक्षोभ उत्पन्न होते हैं । यदि उसे सहन किया जाए तो अशान्त, जन-जीवन में असुरक्षा की भावना से अस्त-व्यस्तता बढ़ती है और दुष्टता को खुला प्रोत्साहन मिलता है । इसलिए अनीति की जड़ें काटने और उसके प्रचलन के उन्मूलन के प्रयास आवश्यक माने गये हैं । निष्ठुरता और अनैतिकता के विरोध में युग निर्माण योजना की नैतिक क्रान्ति प्रक्रिया चलती है।

पाँचवीं अवांछनीयता है-कुरीतियाँ । मानवी गति का क्रम अनवरत रूप से चलता रहा है फलतः एक समय के रीति-रिवाज दूसरे समय की बदली हुई परिस्थितियों में बेकार होते रहे हैं । उनके स्थान पर नये प्रचलन आरम्भ करने पड़े हैं, यह हेर-फेर सदा से होता रहा है और सदा ही होता रहेगा । यह स्वाभाविक है और आवश्यक भी । बुद्धिमान लोग ऐसे परिवर्तन अपनी दूरदर्शिता के पहले ही कर लेते हैं । प्रतिगामिता इसमें बाधा डालती है, उसे प्राचीनता से मोह और नवीनता से चिढ़ जैसी होती है । समस्त भली-बुरी परम्पराएँ उन्हें धर्म लगती हैं और उन्हें अपनाये रहने के आग्रह में भूल जाते हैं कि बदली हुई परिस्थितियों में उस सड़े-गले, कूड़ा-करकट को जमा करने से क्या लाभ जो किसी समय उपयोगी भले ही रहा हो पर अन्दर तो वैसी स्थिति रह नहीं गई है ।

हर, समाज में अपने-अपने ढंग की कुरीतियाँ होती हैं और उन्हें हटाने के लिए बुद्धिमान लोग सदा प्रयत्न करते हैं। समाज सुधारकों के प्रयास ऐसे ही स्वच्छता कर्मचारियों में गिने जाते हैं जो पारिश्रमिक तो नहीं पाते । उल्टा प्रतिगामियों के रोष के पात्र बनते हैं और भर्त्सना से तरह-तरह के आघात-आक्रमण सहते हैं। अनैतिकता पर उतारू लोगों की रोक-थाम की जाती है । अपने ही छप्पर में आग लगाने के लिए या आत्महत्या के लिए उतारू मनुष्य को रोकना ही पड़ता है, भले ही वो रोके नहीं रुकता हो और मना करने वाले को शत्रु समझकर आक्रमण ही क्यों न करता हो । समाज सुधार ऐसे ही रोक-थाम करने वाले धैर्यवान और विवेकवान व्यक्तियों से होता है जो किसी समय के लिए उपयोगी भले ही रही होंगी पर अब तो विकृतियों से भर जाने के कारण मल और मलवे की तरह हटाये जाने योग्य ही रह गई हैं । जिस वर्ग में जिस स्तर की अनुपयोगी रीति-रिवाज चलती हैं वहाँ उन्हें हटाने के लिए उसी के अनुरूप आन्दोलन एवं प्रतिरोध खड़े करने के लिए योजना बनाई जानी चाहिए । युग निर्माण योजना द्वारा इस प्रकार के प्रयासों को सामाजिक-क्रान्ति का नाम दिया गया है ।

युग परिवर्तन का अर्थ है-हर बात की अवांछनीयता को हटाकर उसके स्थान पर उच्चस्तरीय प्रचलनों की प्रतिस्थापना करना । बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक क्रान्ति की युग-त्रिवेणी बहाने के लिए इस निमित भगीरथ प्रयत्न किये जा रहे हैं । बौद्धिक क्रान्ति के लिए मूढ़-मान्यताएँ, नैतिक क्रान्ति के लिए निष्ठुरताएँ और अनैतिकताएँ, सामाजिक क्रान्ति के लिए कुरीतियाँ उन्मूलन करने की योजनाएँ हैं । इन सभी को सुधार आन्दोलन एवं अनीति विरोधी संघर्ष के रूप में चलाये जाने की आवश्यकता है ।

उपरोक्त पाँचों अवांछनीयताओं के सम्बन्ध में उपयुक्त कदम उठाने के लिए जनमानस को इस प्रकार प्रशिक्षित एवं प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ।

(१) मूढ़मान्यताएँ-

मूढ़मान्यताएँ-अन्धविश्वास व्यक्तिगत स्तर की अवांछनीयता के अन्तर्गत हैं। बुद्धि विवेकयुक्त माने जाने वाले मनुष्य में इनका होना निश्चित रूप से लज्जास्पद एवं उपहासास्पद है । उनमें ऐसी मूढ़ता छिपी रहती है जो तथाकथित सुशिक्षितों को भी अपने चंगुल में जकड़े बैठी रहती हैं । समझदारी का दावा करने वाले व्यवसाय व्यवहार में पूरी चतुरता का परिचय देते हैं और क्या स्वीकार करें क्या न करें उसका निर्णय भली प्रकार करते रहते हैं । किन्तु इसे कुसंस्कार ही कहना चाहिए कि ऐसे लोग भी अन्धविश्वासों में पिछड़े लोगों की तरह ही जकड़े पाये जाते हैं । विश्वासों की अपनी सत्ता और महत्ता है । किन्तु वे सभी तथ्य पूर्ण होने चाहिए । यथार्थ की कसौटी पर कसे बिना, बेमतलब की मान्यताएँ अपने विश्वासों में सम्मिलित कर लेने पर मनुष्य अपनी हानि तो करता ही है, दूसरों को भी अपने उदाहरण [illegible] वैसे ही भ्रम-जंजाल में उलझने के लिए प्रभावित-[illegible] है ।

[illegible] का [illegible] भयानक मानसिक [illegible] पिछड़े [illegible] से फैला हुआ [illegible] । मों [illegible] लोग भी [illegible] सकते [illegible] में कुछ

समय के लिए सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व रहना पाया जाता है पर उस स्थिति का प्रचलित भूतोन्माद से किसी प्रकार तालमेल नहीं बैठता । भयभीत और सरल विश्वासी अचेतन मन के किसी कोने में आशंकाओं और संशयों के रूप में कल्पित भूत-पलीत अपना डेरा डालकर बैठ जाते हैं और विश्वास का प्रत्यक्षीकरण कैसा अद्भुत होता है कि चित्र-विचित्र दृश्य दिखाते हैं । यही है भूतवाद का आधार, जिसके प्रभाव से शारीरिक रोगों में अगणित व्यक्ति ग्रस्त पाये जाते हैं । यह मानसिक रोग अवास्तविक होते हुए भी लोगों को कितना त्रास देता और कितना भयभीत रखता है, उसे देखते हुए जहाँ भारी दुःख होता है वहाँ यह पता भी चलता है कि विश्वासों में सृजनात्मक शक्ति की तरह उनके विकृत होने पर कितनी अधिक हानि करते रहने की क्षमता है ।

उद्भिज देवी-देवता भी लगभग भूत-पलीतों की श्रेणी में आते हैं । कुलदेवियों, कुलदेवता, ग्रामदेवता, क्षेत्रदेवता आदि की चित्र-विचित्र आकृति-प्रकृति तलाश करने का प्रयत्न किया जाय तो प्रतीत होगा कि इन चिरस्थायी भूत-पलीतों की संख्या लाखों तक जा पहुँचेगी । ऐसे भी देवी-देवता हैं जिनका शास्त्र पुराण एवं अध्यात्म प्रसंग में कहीं कोई उल्लेख नहीं है । देवी-देवताओं का अध्यात्म विभाग के अन्तर्गत ब्राह्मी चेतना से विशिष्ट तरंगों के रूप में जिस प्रकार का वर्णन है, उससे उन्हें मानवी व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने वाली दिव्य क्षमताओं की संज्ञा दी जा सकती है । उनकी तुलना उन उद्भिज देवी-देवताओं के साथ किसी प्रकार नहीं बैठती जो किसी मन्दिर या क्षेत्र में बैठे रहते हैं और अपने वर्ग-सम्प्रदाय वालों को ही प्रभावित करते हैं । वे तरह-तरह की फरमाइशें पेश करते रहते हैं और न मिलने पर क्रुद्ध होकर अपने ही भक्तों को त्रास देते हैं । दर्शन करने या छुट-पुट भेंट-उपहार देने भर से वे प्रसन्न भी हो जाते हैं । एक विशेष प्रकार के बालकों जैसी प्रकृति इन तथाकथित कुल देवताओं या वर्ग देवताओं की प्रतिपादित की जाती है । इनके जहाँ-तहाँ मन्दिर खड़े किये जाते रहे हैं और उनके शाप-वरदान की किम्वदन्तियाँ गढ़-गढ़ कर सयाने-दिवाने लोग, भोले लोगों को भ्रम में फँसाने और अपना उल्लू सीधा करने में लगे रहते हैं ।

भाग्यवाद, भविष्य कथन, ग्रह विद्या और मुहूर्तवाद का जंजाल फलित ज्योतिष के नाम पर गढ़कर खड़ा किया गया और उसमें न जाने कितने शिक्षित और अशिक्षित लोग उलझे हुए देखे जा सकते हैं । ज्योतिष का अपना महत्त्व और विज्ञान है । पर वह ग्रह-नक्षत्रों की चाल एवं स्थिति समझने तक सीमित है । वह विशुद्ध गणित शास्त्र पर आधारित है । काल गणना की दृष्टि से उसका उपयोग है, अन्तरिक्ष की शोध में उसका महत्त्व है । अन्य ग्रहों का पृथ्वी पर क्या प्रभाव हो सकता है उसकी जानकारी के लिए भी ग्रह विद्या की उपयोगिता है । पर यह मान्यता विचित्र है कि करोड़ों मील दूर रहने वाले ग्रह-नक्षत्र भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को इस आधार पर प्रभावित करते हैं कि उनका जन्म किस दिन और किस समय हुआ था ।

ग्रह-नक्षत्र जड़ हैं, वे विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार से क्यों कर प्रभावित करेंगे ? ग्रह उन्हें किस कारण किस आधार पर लाभ-हानि पहुँचा सकेंगे । इसकी छान-बीन किये बिना ही लोग दूसरों की कही-सुनी बातों पर भरोसा करके यह मान बैठते हैं कि ग्रहों का प्रभाव मनुष्यों पर पड़ता है । फलित ज्योतिष के नाम पर चल रहे धन्धे में उसके व्यवसायी लोग लाभ उठाते हैं । यह ठीक है, पर खरीदारों के हाथ तो व्यर्थ का भ्रम जंजाल ही पल्ले बँधता है। इस भ्रम में फँसकर वे बहुत बार ऐसी मान्यताएँ गले बाँध लेते हैं, जिनसे उन्हें परेशानी के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता है । अमुक समय अपने ऊपर कुटुम्बियों के ऊपर विपत्ति आने वाली है-ऐसी आशंकाएँ ज्योतिष लोग आमतौर से पैदा कराते हैं और डरे हुए व्यक्ति से ग्रह पूजा कराने के नाम पर पैसा ऐंठते हैं ।

विवाह-शादियों में लड़की-लड़के की कुण्डली मिलाने के कुचक्र में कई बार बहुत ही अच्छे और उपयुक्त सम्बन्ध टूट जाते हैं और ऐसे जोड़े बँध जाते हैं जिनमें सदा असन्तोष एवं विग्रह ही बना रहे । गुण, कर्म, स्वभाव की शिक्षा, संस्कार आदि की दृष्टि से वर-वधू का जोड़ा मिलाने की बात समझ में आती है, पर कुण्डली में किसी का ग्रह कहाँ बैठा है और जोड़ीदार को किस प्रकार प्रभावित करेगा इसका कोई आधार नहीं दीखता । जो लोग कुण्डली मिलाकर विवाह करते हैं, उनकी तुलना में वे विवाह कहीं अधिक सफल रहते हैं जिनमें बुद्धि, विवेक की सहायता से उपयुक्त जोड़ी मिलाने का प्रयोग हुआ । किसी लड़की या लड़के को 'मंगली' घोषित करके उस बेचारे को एक प्रकार से सार्वजनिक रूप से अभागा या साथी के लिए संकट घोषित कर दिया जाता है । स्पष्ट है कि जिसके सम्बन्ध में अपने घर में ऐसी भयंकर मुनादी की जाती रहेगी उसके लिए उपयुक्त साथी कहाँ मिलेगा ? ऐसे मंगली-मंगले अपने जैसे किसी अन्य अभागे साथी की प्रतीक्षा में बैठे रहते हैं और विवाह के बाद भी शंका शंकित बने रहते हैं कि कहीं साथी का दुर्भाग्य अपने लिए प्राण-संकट खड़ा न कर दे ।

मूल नक्षत्रों में पैदा हुए बालकों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही मान्यता बना ली जाती है । वे अभागे उत्पन्न हुए हैं और अभिभावकों के लिए अथवा परिवार की शान्ति-सौभाग्य के लिए वे अभिशाप हैं, ऐसी मान्यता बन जाने पर भी उनका पालन-पोषण तो होता ही है पर भीतर से उनके प्रति स्नेह, सम्मान में भारी कमी हो जाती है । उन्हें आशंका की दृष्टि से देखा जाता रहता है । बड़े होने पर वे बालक स्वयं अपने बारे में वैसी ही हेय मान्यता स्वीकार कर लेते हैं । स्पष्ट है कि ऐसी ही हीन मान्यताएँ जिसे भीतर और बाहर से दबोचे हुए हों वह कभी विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न न बन सकेगा । हेय मान्यताएँ उसे भीतर ही भीतर खोखला करती रहेंगी और उसे ऐसी मनोवैज्ञानिक

परिस्थितियों में जकड़ देंगी, जिससे व्यक्तित्व के विकास का आधारभूत ढाँचा ही लड़खड़ाने लगे ।

भाग्य में ऐसा लिखा है-भविष्य में ऐसा होने वाला है, जैसी मान्यताएँ अवास्तविक होती हैं । यदि पूर्व विधान निश्चित रहे होते तो किसी को प्रयत्न, पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही न पड़ती । जब भाग्य सुनिश्चित ही है तो कर्म की भाग-दौड़ से भी क्या बनने-बिगड़ने वाला है । भविष्य कथन का भी निष्कर्ष यही निकलता है । पर देखा गया है कि दूसरों का भविष्य बताने वाले ज्योतिषी लोग स्वयं पैसा बनाने के लिए कितने ताने-बाने बुनते हैं । फिर इन भविष्य कथनों में से आधे-चौथाई भी सच नहीं बैठते हैं। गोल-मटोल शब्दों में दो अर्थ वाली भाषा का प्रयोग होता रहता है । कुछ भी अन्ट-सन्ट कहते रहा जाए तो भी कभी-कभी अनायास ही तीर-तुक्के बैठते रहते हैं । इतनी ही सफलता पर भविष्य कथन का धन्धा चलता रहता है ।

भगवान का बनाया हुआ हर दिन शुभ है । सत्कर्मों के लिए हर दिन मुहूर्त है और दुष्कर्मों के लिए हर दिन अशुभ है। यही मान्यता स्वीकार करने योग्य है । यात्रा में दिशाशूल योगिनी, काल राहु, चन्द्रमा आदि का आगा-पीछा देखते रहने के उपयुक्त समय की प्रतीक्षा में बहुत समय गुजारना पड़ता है और कोई सामयिक आवश्यक कार्य हुआ तो इस प्रतीक्षा में वह बिगड़ भी जाता है । विवाह-शादियों के मुहूर्त निकलने से तो कई बार वर्षों-महीनों उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है । इस जंजाल में कई बार तो निश्चित हुए विवाह भी छूट जाते हैं । पंचांगों में थोड़े से ही विवाह मुहूर्त होते हैं। उतने ही दिनों में उस वर्ष की विवाह-शादियाँ होती हैं । फलतः सवारी, बाजे, हलवाई, बिजली, सजावट आदि के सभी सामान उन दिनों बहुत महँगे भी हो जाते हैं और मिलने भी कठिन पड़ते हैं। कई बार तो विवाह मुहूर्त ऐसे दिनों निकलते हैं जिससे घर के पढ़ने वाले बच्चों का ध्यान बँटने से उनके डिवीजन बिगड़ने एवं फेल होने तक का खतरा खड़ा हो जाता है । अपने ही देश में-अपने ही समाज में ढेरों प्रकार के पंचांग हैं और विवाह मुहूर्तों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी सिद्धान्त प्रचलित है । इनमें से किनकी बात सही और किनकी गलत मानी जाय ? सुविधा के समय को ही विवाह का मुहूर्त मान लिया जाय तो उसमें किसी की क्या हानि हो सकती है ? मुहूर्त के लिए ही अड़े रहने वाले किस प्रकार क्या लाभ उठा लेते हैं इसकी खोज-बीन की जाय तो पता चलेगा कि इस भ्रम-जंजाल में न कोई तथ्य है-न तर्क, न लाभ । व्यर्थ ही लोग अपने सिर पर एक अनावश्यक बोझ लादते और समय की बर्बादी करते रहते हैं ।

इन्हीं भ्रम-जंजालों में शकुन देखकर व्यर्थ की शंका-कुशंका खड़ी करना भी आता है । कुत्ते का कान फड़फड़ा देना, बिल्ली का रास्ता काट जाना, छिपकली का किसी अंग पर गिर पड़ना, मुँडेर पर कौआ का बैठ जाना जैसी पशु-पक्षियों की सामान्य गतिविधियों का न जाने क्या-क्या अर्थ लगाया जाता रहता है । किसी के छींक देने से काम बिगड़ जाने का भय लगता है । अंग फड़कने के भी ऐसे ही अर्थ हैं, तेली का दर्शन, खाली घड़ा सामने आना अशुभ है । ऐसे ही कितने ही शुभ शकुन भी हैं । स्वप्नों के तरह-तरह के अर्थ लगाये जाते रहते हैं और इससे यह संकेत है, इससे ऐसी सम्भावना है-ऐसी व्याख्याएँ लाल बुझक्कड़ लोग तरह-तरह से करते हैं । बुढ़िया पुराण में कितनी चित्र-विचित्र परिभाषाएँ सुनने को मिलती हैं। रीति-रिवाजों की हर वर्ग में अपनी-अपनी प्रथा-परम्पराएँ हैं और ऐसी हैं जो अन्य वर्ग के पड़ोसी तक के साथ तालमेल नहीं खातीं । इतने तरह के अलन-चलन अपने यहाँ प्रचलित हैं जिनकी कोई शुमार नहीं । इनकी चिह्न-पूजा करना आवश्यक माना जाता है और न करने या किसी अशुभ अनिष्ट की आशंका की जाती है । देवी-देवताओं के नाम पर पशुबलि देना, अण्डे, मुर्गे आदि चढ़ाने का रिवाज, पिछड़े लोगों में अभी भी देखा जा सकता है । न करने पर देवता के रुष्ट होकर अनिष्ट करने का भय दिखाया जाता है । टोटका, टमला भी इसी प्रकार के हैं । नजर लगाने किसी के द्वारा अशुभ अनिष्ट करा दिये जाने की शंका करके व्यर्थ ही निर्दोषों पर दोष लगाये जाते हैं और मित्र, शत्रु बनाये जाते हैं । कई बार तो किसी निर्दोष महिला को जादूगरनी, डाकिन आदि कहकर उसे त्रास देते और मार डालने तक की लोमहर्षक घटनाएँ होती देखी गई हैं । देवताओं को प्रसन्न करने के लिए कई तो पशु बलि के स्थान पर अपने ही अंग काटकर चढ़ाने अथवा किसी बालक आदि की बलि देने का कुकृत्य करते देखे गये हैं।

घर में नई बहू या नया बच्चा या नया पशु आने पर लाभ हुआ या हानि-यह देखकर अनुमान लगाया जाता है कि यह भाग्यवान है या अभागा । ऐसी लाभ-हानि संयोगवश ही होती हैं उनसे किसी नवागन्तुक का कोई सम्बन्ध नहीं होता, फिर भी अकारण उसके सिर पर दोष या श्रेय थोप दिया जाता है । श्रेय मढ़ा गया तो गनीमत अन्यथा यदि उसे अभागा बना दिया गया तो उसका सदा तिरस्कार ही होता रहेगा ।

पिछड़े वर्गों में-शिक्षा, संस्कृति और विवेकशीलता से रहित लोगों में प्रायः अन्ध-विश्वासों का भरमार रहती है । वनवासी-आदिम परम्परा के लोगों के चित्र-विचित्र विश्वासों और रिवाजों के बारे में जब पढ़ने-सुनने को मिलता है तो कौतूहल के साथ-साथ यह सोचना पड़ता है कि बीसवीं सदी में भी क्यों मनुष्य में इतना पिछड़ापन छाया हुआ है । सभ्यता और शिक्षा के प्रकाश से दूर रहने वालों की ऐसी मानसिक अवगति समझ में आती है, पर उन्हें क्या कहा जाय जो नगर में रहते हैं-शिक्षित कहे जाते हैं-और सभ्य होने का भी दावा करते हैं, साथ ही ऐसी मूढ़-मान्यताएँ अपनाये बैठे हैं, जिन्हें पिछड़े आदिम लोगों के अन्ध-विश्वासों से अधिक और कुछ कहा ही नहीं जा सकता ।

(२) दुष्प्रवृत्तियाँ-

निजी जीवन को उपेक्षित, हेय, तिरस्कृत, विपन्न उद्विग्न बनाये रहने वाली आदतों को दुष्प्रवृत्तियाँ कह सकते हैं। जो क्रियाएँ एवं विचारणाएँ नित्य प्रयोग में आती रहती हैं वे स्वभाव का अंग बन जाती हैं। उनमें से जो हानिकारक होती हैं वे भी अभ्यास में आते रहने के कारण सहज ही नहीं हो जातीं, वरन् प्रिय भी लगने लगती हैं। छोड़ने की इच्छा भी उठती है पर संकल्प और आत्म-संघर्ष के अभाव में उनसे ढूँढ़ना भी कठिन हो जाता है। यह बुरी आदतें यदि जड़ जमाकर बैठ जाएँ तो घुन लगी लकड़ी की तरह व्यक्ति निरन्तर खोखला होता चला जाता है। हानि का क्रम धीरे-धीरे चलने से तत्काल कोई भयंकर विस्फोट नहीं होता किन्तु वह विनाश-क्रम मन्द गति से चलते रहने पर अन्ततः दुःखदाई परिणाम तो उत्पन्न करता ही है। बर्तन के पैंदे में छेद रहने पर उसमें भरा पदार्थ भी धीरे-धीरे रिसता रहता है और सारी जमा पूँजी गुम जाती है। प्रगति के उच्च शिखर तक पहुँचा देने में समग्र क्षमताएँ इन्हीं दुष्प्रवृत्तियों के गर्त में गिरकर नष्ट होती रहती हैं, फलतः साधन एवं अवसर रहने पर भी मनुष्य ऊँचा उठाना तो दूर निरन्तर नीचे गिरता जाता है। अन्य शत्रु बाहर रहने के कारण अपना आक्रमण कभी-कभी ही कर पाते हैं किन्तु भीतर बैठी हुई बुरी आदतें तो निरन्तर काटती रहती हैं। शरीर में घुसे विषाणुओं की तरह वे बेखबरी का निरन्तर लाभ उठाकर अपनी विनाश-लीला निर्बाध गति से चलाती रहती हैं। पता तब चलता है पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं रहता।

नशेबाजी की आदत ऐसी घातक है जिससे लाभ रत्ती भर भी नहीं हानि अपार है। किसी विलक्षण 'मजे' के लिए लोग उनको देखा-देखी आरम्भ करते हैं। मूर्खों की दुनिया में अपव्यय भी एक 'शान' है। उद्धत आचरण को भी आत्महीनता से ग्रसित व्यक्ति बहादुरी का चिह्न कहते हैं। ऐसी ही विसंगतियाँ मिल-जुलकर मनुष्य को नशेबाजी की आदत आरम्भ कराती हैं। इतने लोग सेवन करते हैं, तो कुछ बात ही होगी, हम भी क्यों न उसका जायका चखें। ऐसे कौतूहल से अथवा कुमार्गगामी मित्रों के आग्रह से नशा आरम्भ होता है। कुछ समय ऐसे ही आँख-मिचौनी चलती है, पीछे वह आवश्यकता बन जाती है और अन्ततः वह एक ऐसी जोंक बनकर चिपकती है कि सारा रक्त पीकर शरीर को निष्प्राण बनाकर ही छोड़ती है।

बड़े आदमी शराब और छोटे तम्बाकू के शिकार बनते हैं। बीच के मनचले लोग गाँजा, चरस, अफीम, भाँग आदि का जायका लेते हैं। अमीर या बेनकाब आदमी एल. एस. डी., कोकिन जैसे कीमती और गहरे नशों का सेवन करते हैं। सबकी प्रतिक्रिया एक-सी है, अन्तर विनाश लीला की गति मन्द या तीव्र होने का है। जो पैसा अपने और परिवार की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति में लग सकता था वह उन आश्रितों पर कुठाराघात करके नशे के पिशाच की भेंट चढ़ता रहता है। इसके अभाव में निरीह बच्चे अपनी खुराक, शिक्षा, चिकित्सा जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तरसते रहते हैं। अपनी कन्या और पत्नी भी इन्हीं निरीहों में हैं, जिन्हें अभाव-ग्रसित स्थिति में मन मारकर रहना पड़ता है। नशेबाजी की आदत आमतौर से बढ़ती और भड़कती है। यार-दोस्त मुफ्त में लाभ लेने के लिए पीछे लग लेते हैं। इस प्रकार बढ़ती हुई आर्थिक बर्बादी का नशेबाज के पूरे परिवार पर बुरा असर पड़ता है। वह फटे हाल देखा जाता है और प्रायः कर्जदार भी बना रहता है।

सभी नशे बुरे किस्म के विष हैं। विषों की मादक शक्ति सर्वविदित है। मन्द विष क्रम से मनुष्य का प्राण हरण करते हैं-इसीलिए उनकी हानि प्रत्यक्ष नहीं दीखती। पर इससे क्या-पूरा घड़ा एक बार लुढ़का देने या पैंदे में छेद करके बूँद-बूँद गुमा देने से मात्र समय का अन्तर पड़ता है, परिणाम तो एक ही होता है। नशों के कारण आमाशय, आँतें, जिगर, गुर्दे, फेफड़े, हृदय आदि महत्त्वपूर्ण अवयव गलते चले जाते हैं और अन्ततः दुर्बलता, रुग्णता के दिशा में बढ़ते हुए चरण अकाल मृत्यु के लक्ष्य तक जा पहुँचते हैं। ऐसे लोगों को आधि-व्याधियों के कायाकष्ट प्रायः घेरे रहते हैं।

नशेबाज को अदूरदर्शी और अप्रामाणिक माना जाता है। मस्तिष्क नशे की खुमारी के समय तक ही विक्षिप्त नहीं रहता पीछे भी उसका असर बना रहता है। समझदारी निश्चित रूप से घटती है। मूर्खता बढ़ती जाती है। मस्तिष्क संस्थान की संरचना बहुत ही कोमल है। नशेबाजी से उसे उत्तेजित, विक्षिप्त बनाया जाता रहे तो निश्चय ही वह बहुमूल्य यन्त्र अपनी विशेषता को खोता चला जाएगा। नशेबाजी से वह क्षमता नष्ट होती चली जाती है जिसके आधार पर सूझ-बूझ का परिचय दिया जाता है और महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये जाते हैं। ऐसे व्यक्ति विक्षिप्तता से अधिकाधिक ग्रसित होते और सम्पर्क क्षेत्र में विश्वास खोते चले जाते हैं। नशेबाजी बुरी आदत है उसे बच्चा-बच्चा जानता है। बुराई पर चलने वालों की इज्जत बुरे लोगों के बीच भी नहीं होती। पारस्परिक व्यर्थ के लिए ये गुटबन्दी करके कुछ समय तक ही एक जंजीर में बँधे भले ही रहें पर ऐसी दशा में भी नशेबाज पर सर्वत्र तिरस्कार ही बरसता है। मुँह सामने कोई भले ही कटु भर्त्सना न करे पर मन में तो अवमानना का भाव रखे ही रहेगा। अवसर मिलने पर निन्दा भी करेगा। पैसा खर्च करके-शरीर को गलाते हुए-यह निन्दा तिरस्कार मोल लिया जाय, सम्पर्क क्षेत्र में अपना मान गिराया जाय तो इसमें क्या समझदारी रही। मित्र-परिचित ही नहीं परिवार के लोग भी यह जानते हैं कि इस तरह विनाश-क्रम के चलते रहने के कारण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कितनी हानि सहनी पड़ी है। अस्तु, वे आयु और रिश्ते में छोटे हुए भी असम्मान का भाव ही रखते हैं और समय आने

पर उपेक्षा, अवज्ञा करके उसका प्रतिशोध भी लेते हैं । नशेबाजों की सन्तानें शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अविकसित रहती हैं यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है ।

पैसे की व्यर्थ बर्बादी और नागरिकों की कार्यक्षमता घटना किसी देश की राष्ट्रीय क्षति है । गये-गुजरे, गिरे-मरे व्यक्तित्व वाले प्रजाजन अपने देश का गौरव नहीं बढ़ा सकते । आत्मिक दृष्टि से मनुष्य को हेय बना देने की बात धर्म और अध्यात्म क्षेत्रों में सदा से कही जाती रही है । इस दुर्व्यसनों की गणना पाप कर्मों में की गई है और उसके परिणामों को लौकिक एवं पारलौकिक दुर्गति के रूप में बताया गया है । इस प्रतिपादन में शरीरशास्त्री, मनोविज्ञानी, अर्थ-विशेषज्ञ, समाज-शास्त्री और अध्यात्मवेत्ता समान रूप से सहमत हैं कि नशों का सेवन मनुष्य को उसके सम्पर्क क्षेत्र में विपत्ति में ही धकेलता है ।

इन तथ्यों के रहते हुए भी हम देखते हैं कि नशेबाजी की आदत बढ़ती ही जाती है । उसके उत्पादन और विक्रय से होने वाले लाभ का लोभ संवरण नहीं किया जा रहा है । सरकार भी इस मद से टैक्सों की भारी आमदनी करती है । बन्द करने का ढिंढोरा तो पिटता रहता है पर लोभवश कड़े कदम उठाना उससे भी बन नहीं पड़ता । यदि वह विनाश-क्रम चलता ही रहे तो उससे होने वाली हानि-विकास के लिए किये गये प्रयत्नों का एक बड़ा अंश ऐसे ही नष्ट करती रहेगी । स्वास्थ्य को बढ़ाने और बिगाड़ने वाले दोनों ही प्रयत्न साथ-साथ चलते रहें तो किन्हीं सत्परिणामों को देखने का अवसर कहाँ से आ सकेगा ? नशेबाजी के विरुद्ध वातावरण बनाने के लिए जनआन्दोलन खड़ा करने और इस दुष्प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिरोधक योजना बनाकर चलने के अतिरिक्त और कोई उपाय ऐसा नहीं है, जिससे मनुष्य जाति के उत्कृष्ट तत्व को नशेबाजी की दुष्प्रवृत्ति का ग्रास बनने से बचाया जा सके । सरकार, उत्पादक, विक्रेता एवं उपभोक्ता को समझाने से लेकर दबाव डालने तक के सौम्य और कड़ुए कदम यदि लोक पक्ष ने न उठाये तो अनैतिक अपराधी दुष्प्रवृत्तियों की तरह ही-हानि पहुँचाने वाले इस प्रचलन से पिण्ड छुड़ाया जा सकेगा । मानवी आदत की दृष्टि से इस महा विनाशकारी विभीषिका से किस तरह बचा जाय और किस तरह बचाया जा सकता है इसके लिए हमारे चित्त एवं प्रयास को अधिक प्रखर बनाने के लिए कटिबद्ध होने के अतिरिक्त और कोई चारा दीखता नहीं ।

नशेबाजी प्रकट और प्रत्यक्ष होने के कारण, देखने और समझ में आती है । किन्तु ऐसी भी अनेकों दुष्ट हानियाँ हैं जिनकी हानि अप्रत्यक्ष होने के कारण समझ में नहीं आती और उनसे बचने-बचाने का प्रयत्न नहीं किया जाता । शारीरिक आलस्य और मानसिक प्रमाद ऐसे दोष हैं जिनका कारण मनुष्य की समझदारी एवं मानसिक प्रखरता का एक प्रकार से सत्यानाश ही होता रहता है । मनुष्य का अधिकतर उपार्जन उसके कठोर एवं सुव्यवस्थित श्रम का ही प्रतिफल है । जो श्रम से जी चुराता है या उसे उपेक्षापूर्वक मंदगति से करता है उससे ढर्रे का काम किसी प्रकार पूरा कर लेने के अतिरिक्त ऐसा कुछ बन ही नहीं पड़ेगा, जिसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कह सकें। मनोयोग मानसिक श्रम है । किसी काम को दिलचस्पी से आशा, उल्लास और सूझ-बूझ का समुचित समावेश करते हुए प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर किया जाय तो उसकी सफलता एवं उत्कृष्टता में चार चाँद लग जाएँगे। उसी कार्य को अन्यमनस्क होकर, उपेक्षापूर्वक भार ढोने की तरह आधे-अधूरे मन से किया जाय तो काम का परिमाण भी स्वल्प रहेगा और स्तर भी गया-गुजरा लगेगा । प्रमादी व्यक्ति के हर काम में लापरवाही और गैर जिम्मेदारी टपकती है । उसी कार्य को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर, आशा और उमंगों के साथ किया जाय तो प्रतिफल दर्शनीय और सराहनीय रहेगा, किन्तु आधे मन और आधे श्रम से किये गये श्रम बेगार भुगताना कहलाते हैं और कहा जाता है कि ऐसे कुरूप, अस्त-व्यस्त काम करने अपेक्षा तो न करना अच्छा । न करने से श्रम भी बचा, समय भी नष्ट न हुआ और देखने वालों की भर्त्सना भी न सहनी पड़ी । काम करना हो तो पूरे मन से करना, यदि यह नीति अपनाई जाये और समय और श्रम की बर्बादी को व्यक्तिगत एवं सामाजिक अपराध समझा जाय तो इतने पर से अपने भौतिक एवं नैतिक उपार्जन का परिणाम एवं स्तर सैकड़ों गुना बढ़ जाता है । सम्पत्ति आसमान से नहीं टपकती वरन् श्रम और मनोयोग का प्रतिफल है । सम्पत्तिवान, सघन, सम्पन्न बनना हो तो इन दोनों अवरुद्ध स्रोतों से खोलना पड़ेगा, आलस्य और प्रमाद ही है जो मनुष्य को शारीरिक श्रम में थकाते हैं और मानसिक दृष्टि से अविकसित या विक्षिप्त की स्थिति में बनाये रहते हैं । दरिद्रता और कुछ नहीं आलस्य से आत्मा का अभिशाप भर है । निठल्लापन और कुछ नहीं प्रमाद की प्रतिक्रिया भर है । विचारशीलता अपनाने के लिए सचेष्ट कोई भी व्यक्ति मूर्धन्य बुद्धिमानों की श्रेणी में पहुँच सकता है, भले ही वह मस्तिष्क की संरचना की दृष्टि से कालिदास या वरदराजाचार्य की तरह मंदमति ही क्यों न रहा हो । श्रमशील व्यक्ति दुर्बल और रुग्ण हो तो भी शंकराचार्य, अष्टावक्र आदि की तरह इतना काम कर सकते हैं जिस पर बलिष्ठों को भी ईर्ष्या होने लगे । साधनों के अभाव से दरिद्रता और पिछड़ापन रहने की बात कही जाती है, पर तथ्य यह है कि शारीरिक पुरुषार्थ और मानसिक उत्साह के अभाव में ही लोग हीन मनःस्थिति और हेय परिस्थितियों का दण्ड भुगतते रहते हैं।

लकवा, गठिया, पोलियो जैसे अपंग बनाने वाली वनवासी, असभ्य, अशिक्षितों के समतुल्य रखने वाली दुर्दशा पर यदि चिन्ता की जा सकती है और उसके निवारण के लिए प्रयास किये जा सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि उनसे भी अधिक हानि पहुँचाने वाले आलस्य और प्रमाद के विरुद्ध मुहिम क्यों न खड़ी की जाय । यदि ऐसा बन पड़ा तो विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि गरीबी हटाने का

लक्ष्य, बिना सरकारी सहायता के जाग्रत व्यक्तित्व स्वयं ही सम्पन्न कर लेंगे। जागरूकता के अभाव में ही समस्याएँ उलझती और विपत्तियाँ गरजती हैं । यदि सजग रहा जाय तो विपन्नता की दस्यु मण्डली अपने समीप भी न फटक सकेगी। प्रगति के भौतिक साधन तो अनेकों जुटाने पड़ते हैं पर आत्मिक साधनों में दो ही पर्याप्त हैं । एक पुरुषार्थ दूसरा उत्साह, उनका उभार जितना ही उठता जाएगा उसी अनुपात में प्रगति के असंख्य साधन अनायास ही जुटते और बढ़ते चले जाएँगे । प्रगति से यदि सचमुच प्यार है, यदि उज्ज्वल भविष्य की वस्तुत: आकांक्षा हो और सुख-साधनों की अभिवृद्धि की तत्वत: आवश्यकता अनुभव की जाती हो तो मानवी अभ्यास में घुसे हुए आलस्य और प्रमाद को अर्द्धमूर्छित रखने वाली महासमस्याओं से छुटकारा पाने का उसी उत्साह से प्रयत्न किया जाना चाहिए जैसे कि कुछ समय पूर्व मलेरिया अभियान के अन्तर्गत मच्छर मारने की योजना बनाई एवं चलाई गई थी । गन्दगी को स्वच्छता में बदलने की तरह ही हमें शारीरिक, मानसिक शिथिलता के स्थान पर श्रमशीलता और उत्साह की तत्परता और तन्मयता को प्रतिष्ठा के उच्च सिंहासन पर बिठाने का प्रयत्न करना चाहिए । जब जहाँ इस संदर्भ में सफलता जितनी मात्रा में मिलेगी, उतनी ही मात्रा में अधिक प्रगति के आधार खड़े होते जाएँगे । श्रम के प्रति असमानता ने अपने देश में श्रमजीवियों को अछूत स्तर का ठहराया और निठल्ले लोग अपने को सौभाग्यवान, सवर्ण कहने लगे । इसी तिरस्कार का फल बहुमुखी अध:पतन के रूप में हमारे सिर पर चढ़ा है । जब तक प्रखर कार्यनिष्ठा जाग्रत न की जाएगी, शरीर और मन को और पुरुषार्थ के लिए प्रोत्साहित न किया जाएगा तब तक प्रगति के सारे स्वप्न एक कोने में ही धरे रह जाएँगे । मानवी दुष्प्रवृत्तियों में इस श्रम अवज्ञा के-उत्साह अभाव के विघातक तत्वों को नशेबाजी से भी अधिक मानकर उनके उन्मूलन का व्यक्तिगत सामूहिक प्रयत्न करना चाहिए ।

सट्टा, जुआ, लाटरी हल्के अपराधों में आते हैं । लाटरी तो कानूनी मान ली गयी है, पर नैतिक दृष्टि से इस प्रकार की हराम की कमाई उपयुक्त नहीं । जिस धन के कमाने में उपयुक्त श्रम नहीं लगता उसका प्राय: अपव्यय में एवं दुर्व्यसनों में उपपयोग होता है । नीति और न्याय की कमाई को खर्च करते समय उसके कष्टसाध्य उपार्जन का ध्यान रहता है और दुरुपयोग करने में दर्द लगता है । हराम की कमाई में जुआ खेलने, ठगी करने से लेकर डाका डालने तक के सभी तरीके अनुचित हैं । इनकी गणना दुष्प्रवृत्तियों से ही की जाती है । मनोरंजन के नाम पर नशेबाजी से लेकर तीतर लड़ाने तक, दिन भर ताश, शतरंज जमाये बैठे रहने जैसे समय और श्रम व्यय करने वाले विविध कार्य दुर्व्यसनों में ही गिने जा सकते हैं और न्यूनाधिक मात्रा में हानि ही पहुँचाते हैं ।

नियमित दिनचर्या बनाकर काम न करना, समय की पाबन्दी का ध्यान न रखना जैसी आदतें ऐसी हैं जिससे अस्तव्यस्तता के कारण अधिकांश काम अधूरे ही पड़े रह जाते हैं। गंदगी को हटाकर स्वच्छता स्थापित रखने में पूरा उत्साह न रखा गया तो हर जगह कचरा जमा होता जाएगा और मलीनता के पहाड़ जमा हो जाएँगे । वह आदत वस्तुओं की अस्तव्यस्तता और कुरूपता तक सीमित न रहकर प्राय: समस्त क्रिया-कलापों में और विचारों तक में जड़ें जमा लेगी । ये छोटी आदतें व्यक्तित्व को बनाने-बिगाड़ने के लिए उत्तरदायी हैं ।

अशिष्टता, कटुवचन, बात-बात में उत्तेजना, नम्रता का अभाव, अहम्मन्यता, शेखीखोरी की वाणी और व्यवहार में उद्धत प्रदर्शन, ऐसे दु:स्वभाव हैं, जिनकी बुराई अपने को प्रतीत नहीं होती, पर दूसरों पर बुरी छाप पड़ती है और वे भीतर कटते-हटते चले जाते हैं । मधुर व्यवहार, विनम्र संभाषण का स्वभाव बनाकर अपने मैत्री-क्षेत्र को सुविस्तृत किया जाता सकता है व अकारण असहयोगियों, उदासीनों और विरोधियों की संख्या कम की जा सकती है ।

कुछ व्यक्तियों को निन्दा-चुगली में बहुत रस आता है। उनके पेट में कोई बात पचती ही नहीं, किससे क्या बात कहनी चाहिए क्या नहीं ? कहने से क्या परिणाम निकलेगा, उसका उन्हें ज्ञान ही नहीं होता । सुधार के लिए समीक्षा करना, एक बात है और अपनी निन्दा में रस लेने की आदत को तृप्त करने के लिए हर किसी का उचित-अनुचित छिद्रान्वेषण करते रहना दूसरी । अपने को शुभचिन्तक सिद्ध करने के लिए अन्य लोगों को निन्दक, विरोधी या अहित चिन्तक की तरह प्रस्तुत किया जाता है। यदि ऐसी बात बिना विचारे स्वीकार कर ली गई तो उससे अनर्थ खड़ा हो जाता है । मंथरा ने दशरथ परिवार का सत्यानाश इसी निन्दा-चुगली की आदत से करके रख दिया था । आल्हा-ऊदल की लड़ाइयों में माहिल मामा की चुगली जैसी सहज कौतुक वाली आदत ने अनेकों छोटी-बड़ी लड़ाइयाँ करा दी थीं । दोनों ओर मिले रहने से दोनों पक्षों के धिक्कार सहने पड़ते हैं । निन्दा-चुगली की तरह ही चापलूसी की-मिथ्या प्रशंसा करने-हाँ में हाँ मिलाने-ठकुर सुहाती कहने की कितनों में ही आदत होती है। इससे लोगों का मिथ्या अहंकार बढ़ता है और वे काल्पनिक बड़प्पन की सनक में ऐसे काम कर गुजरते हैं, जो उनकी स्थिति में किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं कहे जा सकते । इस प्रवृत्ति को भाँडपन या चमचागीरी कहते हैं । उससे अपनी चाटुकारिता सिद्ध होती है और स्तर मिथ्या प्रशंसा करके जिसका अहंकार फुलाया गया है उसका तो अत्यधिक अहित होता ही है ।

दुष्प्रवृत्तियाँ वे हैं जो बुरी आदतें बनकर अपनी कार्य क्षमता घटाती हैं तथा दूसरों के दृष्टि में हेय बनाती हैं । सत्प्रवृत्तियाँ वे हैं जिन्हें सज्जनता के साथ जुड़े हुए सद्गुणों के रूप में देखा जा सकता है । चरित्रनिष्ठा का यह व्यावहारिक पक्ष है । अन्त:करण से दोषी भावना, तृष्णा, अहंता, उद्विग्नता आदि का उन्मूलन तथा सद्भावना आदर्शवादी आस्था, उदारता आत्मीयता का विस्तार जैसे उच्च अध्यात्म

गुणों की बात भी आगे चलकर इसी शृंखला में सम्मिलित होती है। आरम्भ में सत्प्रवृत्तियों को सभ्य सद्व्यवहार के रूप में अपनाया जा सकता है । इस अभाव के कारण भी हमारे व्यक्तित्व हेय और तुच्छ बने रहते हैं । नवयुग के अनुरूप सत्प्रवृत्तियों के संवर्द्धन का रचनात्मक प्रयास करते हुए दुष्प्रवृत्तियों को निरस्त करने के भी प्रबल प्रयास हो सकते हैं । इसे भारतीय संस्कृति का, मानवी शालीनता का संवर्द्धन समझा जाना चाहिए । सुधार प्रयासों में मानवी स्वभाव में घुसी हुई अनेकानेक दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन एक बड़ा काम है । इस सुधार की उपेक्षा किये रहने से भी प्रगति का पथ अवरुद्ध ही बना रहेगा ।

३. निष्ठुरताएँ-

निष्ठुरता को ऐसी दुष्टता कहते हैं जो भयानक तो उद्दण्ड उत्पीड़न की तरह ही होती है, पर उसके कारण उत्पन्न नहीं होने पाती । फलतः सर्वसाधारण का ध्यान उस ओर नहीं जाता और उसके विरुद्ध घृणा एवं विरोध का प्रचण्ड वातावरण नहीं बनता । निरीह स्तर के मनुष्य का प्राणी अपनी गई-गुजरी स्थिति में उत्पीड़कों का प्रतिरोध कर नहीं पाते । इसके लिए उनके पास पर्याप्त सामर्थ एवं साधन नहीं होते । फिर दुर्बल की सहायता भी कौन करे अब तो बदले में लाभ मिलने की बात को ध्यान में रखकर ही कोई किसी की सहायता करता है। दया प्रदर्शन में भी दर्शकों की प्रशंसा और सहायता पाने वालों की कृतकृत्यता का प्रत्यक्ष प्रतिफल मिलना चाहिए । जिसमें इस प्रकार का बदला न मिलता हो उस दया में भी किसी को उत्साह नहीं होता, भले ही पीड़ित कितना ही अधिक करुणा का पात्र क्यों न हो। ऐसी ही निष्ठुरता बरतते रहते हैं । इससे शोषितों का प्राण तो पिस जाता है पर रक्तपात होने, पुलिस, कचहरी या सामाजिक विग्रह उत्पन्न होने जैसी स्थिति खड़ी नहीं होने पाती, इसीलिए इस स्तर के अनाचारों का लेखा-जोखा रखा जाना कठिन है, तो भी यह मानकर चला जा सकता है कि इस स्तर का उत्पीड़न भी कम नहीं है ।

पशुओं में भी प्राण है और उन्हें भी सताये जाने पर उतना ही कष्ट होता है जितना मनुष्यों को । इसी धरती पर वे भी जन्मे हैं और आकाश ने उन्हें भी वैसा आँचल दिया है जैसा मनुष्य को । ठीक है, मनुष्य उन्हें प्यार और सहयोग दे जिनसे उसका स्वार्थ सधता है । किन्तु तनिक भी हानि न पहुँचाने वाले इन निरीह प्राणियों को भी ऐसा उत्पीड़न तो नहीं दिया जाना चाहिए, जिससे उन्हें तड़फते-बिलबिलाते प्राण देना पड़ता है । न्याय यदि मनुष्य समाज की माँग है तो उन प्राणियों के लिए क्यों उसका द्वार बन्द किया जाय, जो किसी प्रकार उसका अहित नहीं करते वरन् अनवरत सेवा सहायता में ही संलग्न रहते हैं ।

हिंस्र पशुओं की बात छोड़ देते हैं । हानिकारक जीव-जन्तुओं की बात भी यह कह कर छोड़ी जा सकती है कि उससे हमें अमुक प्रकार की हानि होती है । पर पालतू पशु तो अपने परिवार का अंश बनकर ही रहते हैं। अपने श्रम, बाल, दूध, गोबर आदि द्वारा जितना खाते हैं उसकी तुलना में अनेक गुना लाभ देते हैं । मरने पर चमड़ा व हड्डियाँ आदि के रूप में विदाई उपहार देकर भी जाते हैं। वे एक प्रकार से अपने कुटुम्बी ही हुए । साथ-साथ रहते-रहते परस्पर स्नेह-सहचरत्व भी पैदा हो जाता है और उपकार का लाभ मिलते रहने से उनके प्रति कृतज्ञता का भाव भी उदय होना स्वाभाविक है । ऐसी दशा में उनसे उतना ही श्रम लिया जा सकता है जितना उनके लिए संभव है। अति श्रम लेने के लिए प्रायः उन्हें बेतरह पीटा जाता है। अति मात्रा में भार ढोने से उनकी पीठ व गरदन में घाव हो जाते हैं । बजन से दबने पर गधों के पिछले पैर छितराते और आपस में रगड़ पड़ने से रक्त बहते देखे जाते हैं। ताँगों में चलने वाले घोड़े कितने पिटते हैं और किस प्रकार अस्थि पंजर रहकर मौत के मुँह में जाते हैं, इसे वे लोग भली प्रकार जानते हैं जो उनकी जीवनचर्या के समीप रहते हैं। बूढ़े होने पर दुधारू और श्रमशील पशुओं को कसाई की छुरी के नीचे जाना पड़ता है जबकि वे पेन्शन के रूप से कुछ दिन जीवित रहकर स्वाभाविक मौत पाने के अधिकारी हैं । मल-मूत्र के रूप में अपनी खुराक के मूल्य की बहुमूल्य खाद वे खाली रहने पर भी देते रह सकते हैं, किन्तु कृतज्ञता, प्रत्युपकार और कौटुम्बिकता की बात तो सूझ ही नहीं पड़ती। इतनी निष्ठुरता धारण करके मनुष्य पशुओं से भी गये-गुजरे स्तर पर चला जाता है।

माँस के लिए पशु-पक्षियों का नृशंस वध आहारशास्त्र की दृष्टि से लाभदायक हो सकता है, पर माँस प्राप्त करने में मानवी करुणा का सहअस्तित्व की कल्पना का तो अन्त ही हो जाता है । संभव है कि मनुष्य का माँस सजातीय होने के कारण मनुष्य के लिए अधिक स्वास्थ्य संवर्द्धक आहार सिद्ध हो जाय, ऐसी दशा में समर्थ मनुष्य दुर्बलों के बालकों को पकाकर खाने लगने में भी कुछ अनुचित न समझेंगे। यों आहार शास्त्र के दृष्टि से भी माँस मनुष्य के लिए हर दृष्टि से अखाद्य और हानिकारक है किन्तु एक क्षण के लिए उसे लाभदायक ही मान लिया जाय तो उसे प्राप्त करने में निरीह प्राणियों को जो चीत्कार के साथ प्राण त्यागना पड़ता है, उसे देखकर तो पाषाण हृदय ही उसे उदरस्थ कर सकते हैं। मानवी प्रवृत्ति का निर्माण इस प्रकार नहीं हुआ है जिससे स्वाद अथवा पुष्टई के बहाने पेट के निरीह प्राणियों का बूचरखाना या कब्रिस्तान बनाया जा सके।

देखते हैं कि माँसाहार का प्रचलन तेजी से बढ़ रहा है। पुष्टई पाने की भ्रान्ति का निवारण तो नवीनतम वैज्ञानिक शोधें प्रस्तुत करके, माँस की हानियाँ सिद्ध करके भी किया जा सकता है, पर उस निर्दयता की शान्ति कैसे हो, जो एक से एक स्वादिष्ट और लाभदायक फल, मेवे, दूध, घी आदि के रहते हुए भी उत्पीड़न के बिना तृप्त नहीं होना चाहती । माँसाहार में खाद्य-अखाद्य का प्रश्न उतना नहीं जितना कि मानवी-अमानवी रीति अपनाने का है । करुणा जैसी भाव संवेदनाओं का परित्याग करने के बाद मानवी गरिमा जीवित रह सकती है या नहीं यह एक विचारणीय प्रश्न है।

इतर प्राणियों के प्रति भी हमारा वैसा दृष्टिकोण रहना चाहिए जिससे मानवी शालीनता की आत्मा को जीवित रखा जा सके। केवल अपने ही वर्ग के स्वार्थों का ध्यान रखा जाय, मनुष्य मात्र मनुष्यों के साथ ही सज्जनता बरतें तो यह बात लगभग वैसी ही हुई जैसे कि गोरी जातियाँ अपने लोगों के स्वार्थों का महत्व देती हैं और काले लोगों के साथ दुर्व्यवहार करने में नहीं चूकतीं । सद्व्यवहार यदि अच्छी चीज है तो उसका लाभ उन प्राणियों को भी मिलना चाहिए। पशु-पक्षी उस लाभ से वंचित क्यों रहें? यहाँ एक सीमा का अन्तर रखा जा सकता है कि जो प्राणी अपने लिए संकट उत्पन्न करते हैं उनसे बचा या हटा जाय किन्तु जिनसे अपने किसी प्रकार की हानि नहीं उन्हें मात्र माँस प्राप्त करने जैसे तुच्छ प्रयोजन के लिए प्राणि वध जैसा कठोर उत्पीड़न न दिया जाय।

चमड़े का लोभ पशु वध का एक बहुत बड़ा कारण है । माँसाहार की तरह ही वध किये गये पशुओं के चमड़े की जरूरत पूरी करने वाली दूसरी वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में बनने लगी हैं, फिर क्यों न उन्हीं से काम चलाकर निरीह पशुओं को हत्या को घटाने में सहायता की जाय। रबड़ के, कपड़े के जूते, चप्पल अब बाजारों में अनेकों किस्म के मिलते हैं। ये सस्ते भी रहते हैं और सुविधाजनक भी । आखिर क्यों न उन्हीं से काम चला लिया जाय ? खूबसूरती के नाम पर क्यों चमडे के लिए ही आग्रह किया जाय ? अपना कुछ हर्ज न हो कोई असुविधा हो और दूसरी ओर पशुओं के प्राण बचते हैं तो चमड़े के उपयोग का ही आग्रह क्यों किया जाय? जूतों के अतिरिक्त और भी, पेटी आदि सभी चीजें दूसरी पदार्थों से बनी मिलती हैं और प्राय: वैसी ही लगती हैं जैसे चमड़े की। फिर उन्हीं का प्रयोग क्यों न किया जाय? जब स्वाभाविक मौत से पशु मरते थे तब उनके चमड़े का उपयोग निर्दोष माना जा सकता था । पर आज तो वे सभी वस्तुएँ हत्या किये बिना नहीं मिलती हैं, ऐसी दशा में पूजा-पाठ में इनके आसन बनाने की परम्परा अपनाने का कोई तुक नहीं रह जाता।

पशुओं की तरह ही पक्षियों का प्रश्न है । उनमें से भी कितने ही माँस के लिए पकड़े जाते और मारे जाते हैं। पिंजड़े में बन्द करके आजीवन कैद कर रखना भी फाँसी जितना ही दण्ड है । घर की सजावट के लिए, अपने मनोरंजन के लिए पक्षियों को इस प्रकार कैद रखने और उनकी आत्मा दुखाने में किसी सहृदय व्यक्ति को क्या आनन्द मिल सकता है? दाना डाल कर चुगाने के लिए ऐसे ही ढेरों पक्षी बुलाये जा सकते हैं । यदि उन्हें देखकर प्रसन्नता प्राप्त की जा सकती है तो फिर उन्हें कैदकर अपना मनोरंजन क्यों किया जाय?

रेशम जीवित कीड़ों को उबालकर प्राप्त किया जाता है। जब सूत, ऊन, प्लास्टर के धागे सहज ही मिल सकते हैं तो रेशम ही क्यों पहना जाय? फिर नकली रेशम भी तो मिलता है । बिना हत्या के रेशम जिसे 'कोसा' कहते हैं कुछ कम सुन्दर होता है पर शौकीन की मात्रा में थोड़ी कमी करके उससे भी काम चलाया जा सकता है । असली मोती भी सीप को मार कर ही मिलता है । नकली मोती से क्या शौकीनी पूरी नहीं हो सकती? कस्तूरी-चंबर जैसी वस्तुएँ प्राप्त करने में भी प्राणिवध के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। क्या उनके बिना काम नहीं चला सकते?

औषधियों के नाम पर-पुष्टई के नाम पर आजकल प्राणियों के जीवित शरीरों को निचोड़ा जाता है । इनके बिना मजे में काम चल सकता है। बिना हत्या के बनने वाली औषधियों की कमी नहीं जो गुण में किसी प्रकार कम नहीं। आहार और उपचार दोनों ही दृष्टि से जब बिना हत्या के अधिक श्रेष्ठ साधन मौजूद हैं तो अनावश्यक हिंसा का पाप सिर पर क्यों ओढ़ा जाय ।

ऐसी आवश्यक हिंसा से सहज ही बचा जा सकता है जिसके बिना हमारा कार्य भली प्रकार चला सकता है । सर्प, बिच्छू, व्याघ्र, भेड़िये जैसे आक्रमणकारी प्राणियों से निपटा जा सकता है । जुँए, खटमल, पिस्सू, मक्खी, मच्छर जैसे कृमि-कीटकों से आत्म-रक्षा के लिए उन्हें हटाना पड़ता है। रास्ता चलते, खेत सींचते समय, आग जलाते समय छोटे कृमि-कीटक मर सकते हैं । बस इतनी अनिवार्य हिंसा पर्याप्त है । जिसे किये बिना अपनी क्षति नहीं होती-कोई काम रुकता नहीं, उनसे तो थोड़ी-सी सहृदयता बढ़ाकर सहज ही बचा जा सकता है।

निष्ठुरता ऐसी दुष्प्रवृत्ति है जिससे मानवी श्रेष्ठता कलंकित होती है। मनुष्यों-मनुष्यों के साथ भी अपने थोड़े-से स्वार्थ के लिए निष्ठुर व्यवहार करने में नहीं चूकते। जरा-जरा सी बात पर लोग स्त्री-बच्चों को बुरी तरह मारते-पीटते और तिरस्कृत करते देखे गये हैं। तुच्छ-सी गलतियों पर लोग अपने आश्रितों का-स्त्री बच्चों का परित्याग करके उन्हें अनाथ जैसी दुर्दशा में धकेलते देखे गये हैं । थोड़ी-सी सहृदयता हो तो ऐसी घटनाएँ सहज ही टाली जा सकती हैं। समझाने-बुझाने से, विचार-विनिमय से, ताल-मेल बिठाने और सहन करने से ऐसे प्रसंग सहज ही टल सकते हैं, जिनसे आत्मीयजनों के प्रति भी निर्दय निष्ठुरता बरतने का क्रूर प्रदर्शन होता है ।

निष्ठुरता बाहर वालों के साथ ही नहीं-निकटवर्ती-सम्बन्धियों के साथ भी बरती देखी गई है । सास-बहू के बीच, पति-पत्नी के बीच सबल पक्ष और दुर्बल पक्ष के बीच, गाली-गलौज, मारपीट, लांछन, तिरस्कार, भेद-भाव, दुर्व्यवहार होते देखा जा सकता है । कई अभिभावक छोटे बच्चों के साथ निर्दयता से मार-पीट करते देखे गये हैं । बालक अपनी गलती को समझते तो हैं नहीं पिटने पर वे उत्पीड़क के प्रति भय या घृणा की धारणा मन में जमा लेते हैं और फिर समयानुसार उसकी प्रतिक्रिया अवज्ञा, विद्रोह एवं उद्धत आचरण के रूप में देखी जाती है । बड़ा भाई छोटे भाई बहिनों के साथ मार-पीट करते देखे जाते हैं । बचपन की आदतें कई बार तो बड़ी उग्र स्वभाव बनकर बनी रहती हैं और अपनी परितृप्ति के साथ निर्दयता बरतने में प्राय: ऐसे ही दुष्ट संस्कार चरितार्थ होते हैं।

दूसरों को आपत्तिग्रस्त देखकर मुँह मोड़ लेना-सहायता तो दूर सहानुभूति तक व्यक्त न करना ऐसे प्रसंग हैं जिनसे कोई कानूनी जुर्म तो नहीं बनता पर आत्मिक दृष्टि से ऐसी निष्ठुरता भी पाप है । मनुष्य की गरिमा के साथ दया, करुणा, उदारता, सेवा-संवेदना जैसे तत्व जुड़े हुए हैं । दुखियारों के प्रति सहानुभूति न उपजे। कष्ट पीड़ितों को मूर्तिवत् देखता रहा जाय, उनकी व्यथा हलकी करने का भाव न उमड़े तो समझना चाहिए मानवी काया में पत्थर का कलेजा फिट किया गया है । बहुत-से लोग अपने मतलब रखने की नीति में कुशल होते हैं । उनकी बुद्धि और उदारता थोड़े से सगे-सम्बन्धियों को ही सुखी बनाने तक सीमित रहती है । अन्य लोग तो पराये ठहरे । परायों की सहायता करके अपने समय-साधनों को क्यों खर्च किया जाय। उसके सोचने का तरीका ऐसी ही क्षुद्रता की परिधि में घूमता रहता है । उन्हें पड़ौसियों सम्पर्क क्षेत्र में आने वाले लोगों की विपत्ति तक में सहायक बनने तक की इच्छा नहीं है । फिर विशाल दृष्टिकोण अपनाकर देश, धर्म, समाज, संस्कृति के उत्कर्ष में कुछ योगदान दे सकना कैसे सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने और समाजनिष्ठा का विज्ञापन करने का अवसर ढूँढ़ते रहते हैं । सहृदयता के अभाव में कोई बड़ी सेवा-साधना उनसे बन नहीं पड़ती। उत्पीड़न को रोकने के लिए भी उनके हाथ नहीं उठते। दूसरे सताये जाते रहें तो अपना नैतिक समर्थन देने और अनाचार के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने जैसा सामान्य प्रतिरोध करना तो प्रत्येक नागरिक का पवित्र कर्तव्य है । पर निष्ठुरता तो झंझट में न पड़ने की क्षुद्रता अपनाये रहने में ही बुद्धिमता समझती है । इसके लिए ऐसे लोग न पीड़ितों की सहायता कर पाते हैं और न उत्पीड़न को रोकने के लिए कुछ साहस कर सकना ही उनसे बन पड़ता है।

(४) अनैतिकताएँ

मनुष्य ऐसे कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से बँधा हुआ है, जिससे उसके व्यक्तिगत चरित्र की प्रामाणिकता और दूसरों के साथ सद्व्यवहार की सदाशयता का परिचय मिलता हो। इन्हीं मर्यादाओं को जाति का धर्म कहा जाता है । उत्कृष्ट चरित्र की समर्थक मान्यताओं को संस्कृति कहा जाता है । पशुओं का स्वेच्छाचार क्षम्य है, पर मनुष्य का पूरा जीवन चक्र ही समाज सहयोग की धुरी पर घूमता है। उसे अपने दृष्टिकोण एवं क्रियाकलाप को इस प्रकार विनिर्मित, विकसित करना पड़ता है जिससे स्नेह, सद्भाव, सहयोग का वातावरण बने, असन्तोष-विग्रह एवं दण्ड की स्थिति न बने। इन उद्देश्यों की पूर्ति करने वाली आचार संहिता को नीति कहा जाता है। मानवता, धार्मिकता, सज्जनता, चरित्र निष्ठा आदि इसी के पर्यायवाची-समान अर्थ बोधक नाम हैं। समाजशास्त्री इसी को नागरिकता की जिम्मेदारी कहते हैं । आचार शास्त्र की विवेचना से किसी का नाम नैतिकता है । समाज के सदस्य होने के नाते हर व्यक्ति से यह उपेक्षा की जाती है कि वह अपने व्यक्तित्व को इस ढाँचे में ढाले जिससे सद्भावनाएँ पनपें और विश्वास एवं सहयोग का वातावरण बना रहे । यह नैतिकता ही व्यक्ति और समाज की सुख-शान्ति को सुरक्षित रखती और प्रगति के द्वार खोलती है। नैतिकता की रक्षा और विश्व शान्ति परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। चिरस्थायी प्रगति का पथ तब तक अवरुद्ध ही रहेगा जब तक लोगों में नीतिनिष्ठा परिपक्व न होगी । उज्ज्वल भविष्य की आशा इसी आधार पर की जा सकती है कि लोग नीतिवान बनने की आवश्यकता और महत्व सच्चे मन से स्वीकार करें । जब तक नीति-निष्ठा के प्रति आस्था दुर्बल रहेगी तब तक विग्रह पनपते और संकट उमड़ते ही रहेंगे। गुत्थियों का एक सिरा जब तक सुलझ नहीं पायेगा, तब तक दूसरा उलझकर नया सिर दर्द खड़ा करने लगेगा । शान्ति, स्थिरता और प्रगति के लिए भौतिक साधन, जो भी उपयुक्त समझे जाएँ, जुटाते रहना लोकनायकों का कर्तव्य है। पर यह तथ्य भली-भाँति समझ लिया जाना चाहिए कि मनुष्य की मूल सत्ता आस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । आस्थाओं में उत्कृष्टता बनी रहे तो ही मानवी घटकों का समूह-सुखद परिस्थितिओं में रह सकेगा । अस्तु, नीतिनिष्ठा को सुदृढ़ बनाना, शत्रु आक्रमण से सुरक्षा के लिए खड़ी की गई सैन्य-सज्जा से भी अधिक महत्वपूर्ण मानना चाहिए । इसके लिए जाग्रत आत्माओं को सामर्थ्यभर प्रयत्न करना चाहिए ।

हम देखते हैं कि जनमानस में नीतिनिष्ठा के प्रति उतना आदर और उत्साह नहीं है जितना कि होना चाहिए। इसका एक कारण तो मनुष्य में अपनी स्वार्थपरता, उच्छृंखलता और मानवी आदर्शों के प्रति उपेक्षा की वृत्ति का होना है । इसका कारण अनैतिकता का लाभ उठाते हुए कितने ही लोगों को देखकर यह सोचना भी है कि क्यों न हम भी इसी मार्ग पर चलें और सफलतापूर्वक अधिक लाभ उठायें। जो लोग सीधे अनीति पर उतारू होने का साहस नहीं जुटा पाते वे भी यह सोचते हैं कि अनीति अपनाकर बलिष्ठ बने व्यक्तियों के सहायक, समर्थक रहकर उनसे मैत्री रखी जाय। इस मित्रता का लाभ, अनीति मार्ग से कोई बना लेने अथवा विपक्षियों को नीचा दिखाने के रूप में उपलब्ध हो सकता है। अनीति का सहना एवं समर्थन करना भी एक प्रकार से अर्द्ध अनैतिकता अपना लेने के समतुल्य है। स्वयं न कर सकने पर दूसरों का समर्थन करने पर भी लगभग एक जैसे परिणाम उत्पन्न होते हैं । एक स्थिति यह भी होती है कि सहयोग समर्थन तो नहीं किया जाता पर विरोध में जवान नहीं खोली जाती । फलतः अनाचारी उस ओर से कोई खतरा उत्पन्न न होने के सम्बन्ध में निश्चिंत रहते हैं और अनीति बरतने का दुस्साहस यथावत् बनाये रहते हैं।

अनीति के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूप होते हैं । आर्थिक क्षेत्रों में व्यवसायी लोग कम तोलना, कम नापना, असली बताकर नकली माल भेड़ना, मुनाफाखोरी, जमाखोरी, कर-चोरी जैसे कुकर्म करते रहते हैं। सरकारी क्षेत्रों में अफसरों को प्रसन्न करने के लिए भेंट-रिश्वत के लिए कई तरीके काम लाये जाते रहते हैं । ठगों की दुनिया अलग ही है । लोगों की भलमनसाहत का किस तरह

अनुचित लाभ उठाया जा सकता है, विश्वास दिलाकर उसके मात की क्या-क्या तरकीब हो सकती हैं, उसके अनेक रास्ते वे सोचते और प्रयोग करते रहते हैं। सज्जनतावादी व्यक्ति की विश्वास की भावना को गुदगुदा कर किस तरह उसका शोषण किया जा सकता है, इसकी नित नई तरकीबें उनके उर्वर मस्तिष्क में उपजती रहती हैं और उन हथकण्डों के द्वारा वे अपना उल्लू सीधा करते हैं। धर्म के नाम पर ठगने वालों का एक विशेष वर्ग है। यह लोग नित नये सम्प्रदाय खड़े करते, देवी-देवता गढ़ते और सिद्ध चमत्कार बताते-दिखाते रहते हैं। कई तरह के प्रपंच रचते और उनमें भावुक लोगों को फँसाकर अपनी दुहरी सफलता पर गर्व करते रहते हैं। धन और सम्मान की दुहरी लूट करने और लोगों की दृष्टि में सन्त बने रहने का यह तरीका अन्य अनैतिकतावादियों की तुलना में और भी विचित्र है। अन्य दुरात्मा भेद खुलने पर दण्ड पाते हैं, पर इस वर्ग के लिए ऐसा भी कोई खतरा नहीं रहता ।

आतंकवादी, आततायी, दुष्टता के भी अनेक तरीके हैं । चोरी, लूट, डकैती, हत्या, अपहरण जैसी पैशाचिक प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए जिनके पास निष्ठुर मन और आसुरी बल होता है वे इस मार्ग को अपनाते हुए अपनी शूरवीरता का बखान करते हैं। लोगों को भयभीत करके उनसे कुछ भी करा लेने की सफलता पर गर्व करते और उद्धत अहंकार की पूर्ति पर मोद मनाते देखे गये हैं। शत्रुतावश प्रत्याक्रमण वालों का वर्ग इससे भिन्न है। लोभ, दर्प की पूर्ति के लिए ही अधिकांश आततायी अनाचार होते रहते हैं। बड़ी आक्रमणकारी घटनाएँ तो सर्वविदित रहती हैं जिनमें रेत- रेत कर हत्या की जाती है और बाहर से रक्त की बूँद भी टपकने नहीं दी जाती ।

जंगली कानून में समर्थ असमर्थ को दबोचता रहता है। बड़ी मछली छोटी को निगल जाती है। बड़ा पेड़ अपने समीपवर्ती छोटे पौधों की खुराक हड़पता रहता है और उन्हें अपने साये में पनपने देता। यही जंगली कानून मनुष्य समाज में भी चलता रहे, जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली नीति अपनाई जाती रहे तो न स्नेह-सौजन्यता के लिए कोई स्थान रहेगा न और न बड़ों के सहयोग से छोटों को अपने विकास में सहायता की आशा हो सकेगी । चीते और बाघ बलिष्ठ भर होते हैं, बुद्धिमान नहीं । मनुष्य की बुद्धिमत्ता आश्चर्यजनक है । यदि वह उसे शोषण-उत्पीड़न में लगाने लगे तो समझना चाहिए कि खतरनाक प्राणियों में सिंह-सर्प को नहीं वरन् मनुष्य एक दूसरे को देखकर भयभीत होता और भागता ही दिखाई देगा । तब बलिष्ठ के हाथ ही संसार का आधिपत्य रहेगा और निर्बल मात्र उनके लिए पालतू पशु बनकर ही जीवित रह सकेंगे । ऐसी स्थिति स्वीकार है तब तो अनैतिकता के बढ़ते हुए प्रवाह को यथावत् रहने दिया जा सकता है अन्यथा यदि इस धरती पर मानवी सौजन्य रखने का मन हो तब तो प्रस्तुत अनाचार से जूझना ही पड़ेगा। दुष्टता कितनी ही प्रबल क्यों न हो, सज्जनता की सामूहिक शक्ति के सामने उसके पैर टिक नहीं सकते, उसके प्रतिरोध में हमें एकजुट होकर क्रियाशील होने से ही मानवता की परम्पराओं का, नीतिमत्ता का जीवन्त रह सकना सम्भव होगा।

(५) कुरीतियाँ

कुरीतियाँ उन रीतिरिवाजों को कहते हैं जो प्रथा-परम्परा बन चली हैं, जिनके साथ पूर्वजों की प्रतिष्ठा जोड़ दी गई है और धर्म-धारण से किसी प्रकार गठबन्धन कर दिया गया है। तर्क और तथ्यों के अनुसार वे असामयिक और अनुपयोगी बन गई हैं। उन्हें अपनाये रहने से धन, समय और विवेक को भारी आघात लगता है फिर भी उन्हें इसलिए अपनाये रहा जाता है कि वे बहुत दिनों से चली आती हैं अथवा बहुत लोगों द्वारा अपनाई जा रही हैं। मानव प्रकृति की अनेक विलक्षणताओं में एक यह भी है कि जो देखते या करते रहा जाय वह स्वाभाविक सहज ही नहीं, अनिवार्य भी लगने लगता है । भले ही वह न्याय या औचित्य की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त ही क्यों न सिद्ध होती हो।

अपने समाज में जन्म-जाति के आधार पर मानी जाने वाली ऊँच-नीच और छुआछूत की भावना इसी प्रकार की है। स्त्रियों को दूसरे दर्जे की नागरिक भावना, उन पर पर्दा जैसे अनेकों ऐसे प्रतिबन्ध लगाना जिन्हें पुरुषों के लिए आवश्यक नहीं माना जाता, अनीतिमूलक कुरीति है । अभी भी लड़के और लड़कों के बीच भेदभाव करते हुए अभिभावकों को देखा जाता है। लड़की को दुर्भाग्य और लड़के को सौभाग्य माना जाता है । इस भेदभाव से पता चलता है कि दुष्ट मान्यताओं ने अभिभावकों और सन्तान के बीच रहने वाले सहज वात्सल्य तक को किस प्रकार विकृत कर दिया है । जाति भेद और लिंग भेद के आधार पर चल रही असमानता के कारण स्त्रियों और अछूतों को पिछड़ेपन के गर्त में गिरना पड़ा और उनकी मानवोचित प्रगति को भारी आघात पहुँचा । सरकार ने इस समानता को कानूनी रूप से समाप्त कर दिया है । पर व्यवहार में वे सामन्तवादी मान्यताएँ अभी भी मौजूद हैं । मानवी अधिकारों की पुनः प्रतिष्ठा के इस युग में जाति भेद और लिंग के आधार पर चल रहे अन्तर को अनीति वर्ग की कुरीति ही कहा जाएगा ।

धर्म के नाम पर अथवा समर्थ होते हुए किसी बहाने भिक्षा को व्यवसाय बनाकर आजीविका चलाना, मानवी गौरव और समाज व्यवस्था के प्रतिकूल है । लोकमंगल में लगे हुए जनसेवक ब्राह्मण कहे जाते थे । ऐसे लोगों को समाज से अपना निर्वाह प्राप्त करने का अधिकार है । पर वेश या वंश के नाम पर दान-दक्षिणा को अपना अधिकार माना जाय वह बुरी बात है । ऐसे लोगों पर धर्मभीरुता के आधार पर मोटी भेंट-पूजाएँ चढ़ाते रहना न तो दान है न पुण्य, इससे अकर्मण्यता और निठल्लेपन की पाखण्ड विडम्बना ही बढ़ती है । असमर्थों के निर्वाह का विवेकपूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए न कि भिक्षा को व्यवसाय का रूप दिया जाय। इससे बिना कमाऊ जनशक्ति देश के लिए दुष्प्रवृत्तियाँ को बढ़ावा मिलता है-समाज को भारी हानि पहुँचती है ।

व्यवसायों की सूची से भिक्षा शब्द को हटा देने से ही व्यक्ति और समाज का गौरव है। भिक्षा और दान की परम्परा जीवित तो रहनी चाहिए उसके पीछे करुणा और यज्ञीय ब्रह्म वृत्ति की दो पुनीत धाराएँ जुड़ी रहनी चाहिए। जो लोग अपने पुरुषार्थ बल से निर्वाह नहीं कर सकते उन्हें जीवित रहने के लिए सुविधा जुटाना समाज का कर्तव्य है। इनकी सहायता के लिए मानवी उदारता एवं करुणा को जीवित रहना चाहिए और उसके लिए दान तत्व जीवन्त रखा जाय। पर इसके लिए ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि असमर्थों को अपने लिए याचना करते हुए स्वाभिमान न गँवाना पड़े अन्यथा उन्हें निर्वाह तो मिलेगा पर उससे भी महँगी आत्महीनता गले बँध जाएगी। इसलिए अपंगों के निर्वाह एवं यथासंभव श्रम कराने का प्रबन्ध सेवाभावी संस्थाएँ करें। वे ही इस पुण्य प्रयोजन के लिए दान माँगें। इसके लिए अतिरिक्त सद्ज्ञान संवर्द्धन में संलग्न लोक सेवियों के और ब्रह्म-समाज के निर्वाह का कार्य भी समाज-का है। इसे ब्रह्मदान या यज्ञ परम्परा कहते हैं। ये ही प्रयोजन ऐसे हैं जिसके लिए उदार संगठनों को धन संग्रह करके विवेकवान सत्पात्रों के लिए उसका उपयोग करना चाहिए। भिक्षा व्यवसाय में ऐसा प्रतिबन्ध या परीक्षण नहीं है। इससे याचक दानी और समाज दोनों का ही अहित होता है। सामाजिक कुरीतियों में इस व्यवसाय का परिपोषण भी एक है।

विवाह-शादियों में होने वाली आवश्यक धूम-धाम में कितना धन होली की तरह जलता है इसे हम सब आँखों से देखते हैं। विवाह एक सामान्य सा पारिवारिक उत्सव है उसे भी तीज-त्योहारों की तरह अपनी सामर्थ्य के अनुरूप थोड़े से खर्च और समय में सादगी के साथ सम्पन्न किया जा सकता है। निरर्थक परम्परा ने उसे इतना भारी बना दिया है कि उसे उठाते हुए सामान्य परिवार की कमर ही टूट जाती है। प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाने से निर्धनों को भी इतना धन नष्ट करना पड़ता है जिससे परिवार को शिक्षा-चिकित्सा आदि की महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं।

दहेज माँगना तो और भी पैशाचिक है। लडकी मिलने का साथ-साथ धन देने के लिए भी दबाव डालना तो विवेक, न्याय और मानवी व्यवहार की सभी दृष्टियों से अनुचित है। इसके लिए विवशता की स्थिति पैदा होने में कन्या पक्ष को बेईमान बनाना और दरिद्र रहना पड़ता है। अपने समाज में यह प्रचलन अभी कायम है। इसे अपराध घोषित कर देने और कानून बनाने पर भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा है । इसमें प्रदर्शन भर रुका है । रिश्वत की तरह गुप-चुप लेन-देन अब भी चलता है । लड़के वाले की कीमती जेवर, कपड़े, बारात के प्रदर्शन आदि में वह अनीति की कमाई फिर स्वाहा करनी पड़ती है । बचता उसके पास भी कुछ नहीं। लड़की वाला तो डकैती पड़ने की तरह पूरी तरह लुट ही जाता है। हर साल विवाह-शादियों में खर्च होने वाली धन राशि इतनी बड़ी होती है कि उसकी बचत हो सके तो उतनी ही पूँजी से चलने वाले कुटीर उद्योगों में करोड़ों व्यक्तियों को गरीबी से छुटकारा मिल सकता है और समृद्धि-अभिवृद्धि का एक और नया स्रोत खुल सकता है। मृतक भोज समझदारी बढ़ने के साथ-साथ घटते तो जा रहे हैं पर पिछड़े समाजों में अभी भी उसकी धूमधाम, विवाह-शादियों जैसी ही देखी जाती है ।

विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की अनेकानेक कुरीतियाँ प्रचलित हैं। बाल विवाह, अनमेल विवाह, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा जैसी छोटी-बड़ी कितनी ही ऐसी कुरीतियाँ पाई जाती हैं जिनके पीछे औचित्य तनिक भी नहीं। उपयोगिता रत्ती भर भी नहीं पर वे चलती इसलिए हैं कि दूसरे लोग उन्हें अपनाये हुए हैं । जो उस प्रथा को तोड़ता है वह समीपवर्ती लोगों से तिरस्कृत होता है अथवा प्रचलन को अमान्य ठहराने का साहस नहीं जुटा पाता । समय आ गया है कि विवेक जाग्रत किया जाय और प्रचलनों को औचित्य की कसौटी पर कसा जाय। जो उनमें से उपयोगी हों उन्हें अपनाये रहा जाय किन्तु जिनसे हर प्रकार हानि और परेशानी के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, उन्हें हटाने के लिए प्रबल आन्दोलन करना चाहिए । टूटने का क्रम चल पड़े तो अनुचित का अन्त होने में भी देरी नहीं लगेगी।

प्रतिरोध एवं सतर्कता की सजीवता बरतें

सतर्कता के अभाव में उद्दंडता बढ़ती है, यह तथ्य भली-भाँति ध्यान में रखना चाहिए । विश्वास करना अच्छी बात है पर साथ ही यह भी ध्यान रखने योग्य है कि विश्वास के पीछे कहीं अविश्वसनीय तत्व नहीं पनप रहे हों। चोरी की घात तभी लगती है जब घर के लोग बेखबर और निश्चिन्त रहते हैं । सतर्कता का अर्थ अविश्वास या आक्षेप नहीं है वरन् यह है कि अपनी कुशलता जीवित रहे और सामने वालों पर किसी प्रकार का संदेह की गुंजायश न रहे । जहाँ देखभाल नहीं रहती या खतरे की आशंका नहीं की जाती, वहाँ भोलेपन का अनुचित लाभ उठाया जाता है । व्यवहारकुशल व्यक्ति आरम्भ से ही ऐसी व्यवस्था बनाते हैं जिसमें अनावश्यक विश्वास करने या अप्रत्याशित विश्वासघात होने की गुंजाइश ही न रहे । ऐसे सतर्क व्यक्ति स्वयं हानि उठाने में बच जाते हैं और दूसरों को पतन के गर्त में गिरने एवं बदनाम होने के निमित्त नहीं बनते।

रोग होने पर इलाज करने की उपेक्षा उसे होने के कारणों की रोकथाम करना अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण है । शत्रु जब दरवाजे पर ही आ पहुँचे, उसके बजाय उसे आक्रमण के लिए पैर बढ़ाने से रोक देना अधिक सरल है। दुष्टता को यदि यह जानकारी रहे कि घात चलाना न तो सरल है और न लाभदायक, तो उसकी आकांक्षा एवं तैयारी ही रुक सकती है । जब सतर्कता की कमी और प्रतिरोध में भीरुता दिखाई पड़ती है तो आक्रान्ता की हिम्मत बढ़ती है और वह अपने दावपेंच चलाने और ताने-बाने बुनने में लग जाता है।

सारी स्थिति विपरीत हो और उसे लगे कि अवरोध मौजूद है और प्रतिरोधों का सामना करना पड़ेगा तो फिर असुरता की हिम्मत टूटती है । दुष्टता वस्तुतः पहले दर्जे की कायरता का ही नाम है। उसमें जो आतंक दीखता है वह प्रतिरोध के अभाव से ही पनपता है, घर के बच्चे भी जाग पड़े तो बलवान चोर के पैर उखड़ते देर नहीं लगती । अनाचार पनपने न पाये इसके लिए आवश्यक है कि सर्वत्र सतर्कता का वातावरण बनाये रखा जाये और व्यक्तिगत साहस एवं सामूहिक सहयोग से इतनी प्रखरता, प्रबलता बनाये रखी जाय जो अनीति को देखते ही उबल पड़े ।

दुष्टता का प्रायः सारा महत्व छद्म पर खड़ा होता है । प्रत्यक्ष आक्रमण तो यह तभी करता है जब सफलता के सम्बन्ध में उसे पूरा भरोसा होता है अन्यथा जरा-सा खटका होते ही सिर पर पैर रखकर उसे भागते ही देखा जाता है। उसका सारा इन्द्रजाल तो छद्म पर ही खड़ा और गढ़ा होता है । भोले-भावुक लोगों को विरोध से विरक्त और रोकथाम में उदास रहने के लिए तरह-तरह के दार्शनिक प्रतिपादन प्रस्तुत किये जाते हैं । संत और परमहंस कितने उदार होते हैं और दुराचारियों पर भी कितनी दया करते और क्षमा दिखाते हैं। इसके लिए संत द्वारा पानी से बिच्छू निकालने, काटना, फिर बहने और फिर निकालने के उदाहरण को बार-बार दुहराते हैं। ईसा ने किसी दुराचारिणी को पत्थर मारने से इसलिए रोका था कि जिसने वैसा न किया हो वही पत्थर मारे । यह उच्चस्तर आदर्श उन्हीं महात्माओं की महिमा को बढ़ा सकते हैं , लोकनीति नहीं बन सकते । यदि वैसा होने लगे तो फिर अपराधियों को खुली छूट मिल जाएगी और वे क्षमा की दुहाई देकर दिन दुगुनी रात चौगुनी दुष्टता पर उतारू होते रहेंगे । इस ढाल के नीचे अपनी सुरक्षा करते हुए दूसरे के हाथ से निश्चिन्ततापूर्वक तलवार चलाते रहेंगे।

क्षमा एवं उदारता निस्संदेह श्रेष्ठ प्रवृत्तियाँ हैं किन्तु उन्हें भी अविवेकपूर्वक कहीं भी किसी भी स्तर पर प्रयोग में लाना गलत है । क्षमा इसलिए स्तुत्य है कि उसके कारण भूल से गलत मार्ग पर पड़े व्यक्ति को सुधार का अवसर मिल जाता है । व्यक्ति अज्ञानवश अनीति करने लगता है। जब उसे समझ आती है, तो यह उसे विरत होना चाहिए । इस स्थिति में समाज के रोष और कठोर दण्ड का भय नेक जीवन के क्षेत्र में प्रवेश से रोके रहता है। कभी-कभी मनुष्य जागरूक समाज व्यवस्था की प्रतिक्रिया से भयभीत होकर भी अनीति छोड़ना चाहता है । ऐसी स्थिति में उसे क्षमा करके नेक नागरिक बनने का अवसर देना युक्तिसंगत है । किन्तु क्षमा माँगने को कूटनीति बनाकर चलने वालों को क्षमा का अधिकारी मानना अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारने जैसा है । पृथ्वीराज चौहान से ऐसी ही भूल हुई थी । मौहम्मद गौरी द्वारा बार-बार क्षमा माँगने के बाद भी आक्रमण का क्रम न छोड़ने से उसकी नियत का पता स्पष्टता से लग गया था। उस स्थिति में वह क्षमा का नहीं आक्रमण करने का, सत्प्रवृत्तियों का दोहन करने के दोहरे अपराध के दण्ड का पात्र था । विवेक का उपयोग किये बिना अन्धाधुन्ध क्षमा करने का दुष्परिणाम पृथ्वीराज सहित सारे देश को भोगना पड़ा । क्षमा का दुरुपयोग करने वाले को ईश्वरीय दण्ड व्यवस्था में पकड़ कर दण्डित किया जाता है।

इसी प्रकार उदारता भी सापेक्ष है । निर्जन स्थान में साधु द्वारा अपने कष्ट की उपेक्षा करके बिच्छू को जलधारा से निकाल कर किनारे पर छोड़ देने की उदारता विवेकसंगत भी हो सकती है । किन्तु सामान्य स्थिति में तो शेख सादी की यह उक्ति ही ठीक है "बिच्छू पर दया करना बच्चों को मार डालने के समतुल्य है।"

महात्मा ईसा द्वारा कथित दुराचारिणी महिला के प्रति दया की बात भी व्यावहारिक थी । किसी प्रलोभन या अज्ञानवश भूल कर बैठी महिला अपने पतन एवं समाज की प्रतिक्रियाओं से आतंकित निरीह कातर दृष्टि से अपने उद्धार की याचना कर रही थी । उसे अवसर न देना हृदयहीनता होती। एक बार भूल करके जीवनक्रम सुधार कर प्रतिष्ठित नागरिक जीवन जीने वालों की समाज में कहीं कमी नहीं है। ईसा ने यह तथ्य स्मरण दिलाकर लोगों का रोष शान्त कर दिया और महिला को साध्वी बना लिया, तो बुरा नहीं किया । किन्तु जिसके अन्दर सुधार की इच्छा ही नहीं, दया के नाम पर छल जिसका उद्देश्य है उसको दया का पात्र मानना किसी भी पाप से कम नहीं कहा जा सकता । इसीलिए क्षमा एवं उदारता के पात्र की परीक्षा बड़ी सतर्कतापूर्वक करनी चाहिए । इस सन्दर्भ में किया गया प्रमाद भारी दुर्गति का कारण बन जाता है ।

दुष्ट लोग मनुष्य की भावनात्मक दुर्बलताओं का पूरा पूरा लाभ उठाने में सिद्धहस्त होते हैं । उसके लिए वे पूरी पूरी तैयारी करते हैं। वे जानते हैं कि यदि वे लोग प्रतिरोध के लिए खड़े हो गये तो उनकी एक भी न चलेगी। इसीलिए वे शोषण-अपहरण के लिए जितनी तैयारी करते हैं उसकी अपेक्षा कई गुना श्रम-प्रतिरोध न होने देने का ताना-बाना बुनने में लगाते हैं । जिन्हें वे डरपोक एवं स्वार्थी देखते हैं उन्हें व्यर्थ के झगड़े में न पड़ने, अपना समय न गँवाने, बुराई न लेने, हानि न उठाने की सलाह देते हैं । डरपोक व्यक्ति इतने सहम जाते हैं और विरोध-असन्तोष को मन ही मन दबाकर चुप बैठ जाते हैं । निर्दोषिता बताने में गिड़गिड़ाहट की जादूगरी दिखाते हैं, मानो सचमुच ही वे सताये गये और दया के पात्र हों। ऐसे मनोरंजक दृश्य देखे जा सकते हैं जब चोर-जेबकट रँगे हाथों पकड़े जाते हैं तो पिटने व जेल जाने से बचने के लिए ऐसे रोते-चिल्लाते हैं मानो इन्हीं की जेब कटी हो और इन्हीं के ऊपर अत्याचार बरसा हो । भावुक दर्शक न तो कारण की बात देखता और न निराकरण की दूरदर्शिता सोचते हैं । सस्ती दयालुता में चोर को छोड़ देते हैं । उसका साहस बढ़ा देते हैं और जब-जब पकड़ा जाता है तब तक इसी जादूगरी को अपनाकर पकड़ने या प्रतिरोध करने वालों को उल्लू बनाकर अपने दाँव को सफल बना लेता है ।

ऐसे लोग भी कम नहीं हैं जो जाति-विरादरी के नाम, धर्म-सम्प्रदाय, प्रान्त, क्षेत्रों के नाम पर दुरात्माओं द्वारा अपने पक्ष में कर लिए जाते हैं । उसको झूठे सब्जबाग दिखाकर, फँसाकर फुँसला लिया जाता है, उन्हें यह नकल करा दी जाती है कि विरोध करने पर सहयोग करने के बदले कोई भारी लाभ उसे मिल जाएगा। कम से कम शान्तिदूत होने की मिथ्या आत्मप्रवंचना करने का अवसर तो ऐसे लोगों को मिल ही जाता है । हमने झंझट निपटवा दिया-हम झगड़े में नहीं पड़े, जैसे वाक्य कहकर अपनी शान्त-प्रियता का ढिंढोरा पीटने वाले यह भूल जाते हैं कि यह शान्ति स्थापना प्रकारान्तर मे अनीति के परिपोषण में सहायक बनने के कारण अशान्ति से महँगी पड़ी । भविष्य में अशान्ति की जड़ नहीं कटी वरन् उसके प्रखर होने की संभावना इस क्षणिक शान्ति के कारण और भी बढ़ गई ।

नीति-अनीति के निराकरण का ध्यान रखना हो तो कठोरता की दण्ड नीति को प्रश्रय देना होगा, विरोध और प्रतिरोध के स्वर ऊँचे रखने होंगे । दुष्टता की हिम्मत न बढ़े और आक्रमण में उसे घाटा प्रतीत हो, ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी होगी। इस संदर्भ में बरती गई कठोरता को क्षात्र धर्म कह सकते हैं, जिसकी शास्त्रकारों और नीतिकारों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। शान्ति की स्थिरता और आक्रमण की सुरक्षा के लिए क्षात्र धर्म की प्रखरता जन-जन के मन में जीवित एवं जाग्रत रखी जानी चाहिए। फोड़ा चीरने के समय बालक को कुछ कष्ट सहना पड़ता है, यदि उस अवसर पर दया की जाय तो फोड़ा बढ़ेगा, अंग गलेगा और उसके दया के फलस्वरूप बच्चे को पहले की अपेक्षा अधिक ही संकट का सामना करना पड़ेगा। दुष्टता की जड़ कटनी चाहिए । दूसरों के सामने यह उदाहरण रहने चाहिए कि अमुक व्यक्ति ने अनीति अपनाई और दण्ड भुगता । इसमें दूसरे मनचलों के पैर ठिठक जाएँगे अन्यथा किसी भी दाँवपेच में या अनीति को उचित को उचित रहने और फलने-फूलने का अवसर मिलता रहा तो सर्वसाधारण का अहित और अनाचारी का पतन बढ़ता ही चला जाएगा। इसमें जितना दोष अनाचारी का है उससे अधिक उस भीरुता का है जिसके कारण प्रतिरोध की प्रखरता ठन्डी पड़ी रहती है और अनाचार को सफल होने का अवसर मिलता है । इस सफलता को देखकर अन्य अनेकों का मन चलता है और वे भी इसी मार्ग पर चलकर सस्ती सफलता पाने और आंतकवादी 'हीरो' कहलाने के लिए मैदान में कूद पड़ते हैं । यह स्थिति पैदा करने में प्रतिरोध का वह अभाव, जो सज्जनता एवं शान्तिप्रियता जैसा लगता है प्रमुख और जिम्मेदार होता है ।

समझाने-बुझाने, प्रेम से रास्ते पर लाने, सज्जनता के लाभ और दुर्जनता के दुष्परिणाम समझाने के लिए भरपूर प्रयत्न किया जाना आवश्यक है । उसकी उपयोगिता कम नहीं है। मनुष्य पत्थर से नहीं मिट्टी से बना है, उसे सद्ज्ञान का पानी डालकर गीली किया जा सकता है और सुन्दर खिलौने के रूप मे ढाला जा सकता है। यह संभावना सदा से बनी रही है और सदा बनी रहेगी । इसलिए इस प्रयास को छोड़ने की आवश्यकता नहीं है । मनुष्य के अन्तःकरण में कहीं न कहीं सद्भावना भी जीवित रहती है उसे उभारा और पोषा जा सके तो वह अनेक बार आशातीत सत्परिणाम उत्पन्न करती है । इसलिए दुष्टता के सुधार में इस प्रकार के प्रयत्नों को ही महत्व मिलना चाहिए और उसके लिए सामार्थ्य भर प्रयास करने चाहिए । रावण के पास अंगद शान्तिदूत के रूप में ही गये थे। मन्दोदरी और विभीषण ने यहाँ तक कि मारीच जैसे सगे-सम्बन्धियों ने समझाने-बुझाने का भरपूर प्रयत्न किया था । दुर्योधन को समझाने तो भगवान कृष्ण ने दूत भेजने की अपेक्षा स्वयं ही जाना उपयुक्त समझा था । ऐसे प्रयत्न सदा ही होने चाहिए । किन्तु बहुत बार ऐसा होता है कि परिपक्व दुष्टता किसी अन्य उपाय को स्वीकार नहीं करती । उसे उसकी भाषा में समझाना पड़ता है । शठ की समझ में कोई बात शठता की ही भाषा में आती है । ऐसी दशा में विवेक औचित्य का ध्यान रखते हुए, संतुलन बनाये रहकर, बदलने के लिए-पिघलने के आवश्यक गर्मी का प्रबन्ध किये बिना काम चल नहीं सकता । इसलिए पौरुष का ऐसा परिचय देना चाहिए जिसमें रोगी को बचा लेने और रोग को मार देने का उद्देश्य पूरा हो सके । उसके लिए कानून हाथ में लेने की जरूरत नहीं है। असहयोग, विरोध, प्रतिरोध एवं संघर्ष के सामूहिक प्रयत्नों से ही उद्देश्य की अधिकांश में पूर्ति हो सकती है । जहाँ आवश्यक हो वहाँ शासकीय सहयोग लेकर भी औचित्य के निराकरण का प्रयत्न करना चाहिए। न्याय की रक्षा के लिए सभी उचित उपायों का आश्रय लिया जाना चाहिए । औचित्य की रक्षा के लिए सेना गोली चलाती है-पुलिस पकड़-धकड़ करती है-जज फाँसी की सजा सुनाता और जल्लाद उसे कार्यान्वित करता है । डाक्टर को रोगों की चीड़-फाड़ में ऐसा ही काम करना पड़ता है, जिसे बाहर से देखने वाले निर्दयता कह सकते हैं। इतने पर भी दूरदर्शी विवेक सब इन उपायों का भी समर्थन करता रहा है। आज की परिस्थितियों में जब दुष्टता चरम सीमा पर पहुँचने के लिए बढ़ती और भागती चली जाती है तब इन अप्रिय प्रयोगों को भी विवशता समझकर प्रयुक्त करना पड़े तो बहुत असमंजस में पड़ने की जरूरत नहीं है। उस कटु उपाय से बचने की बात सोचने पर स्थिति नियंत्रण से बाहर होती चली जाती है ।

प्रत्येक विचारशील व्यक्ति की दृष्टि अनौचित्य के प्रति अत्यन्त कड़ी रहनी चाहिए । जहाँ भी वह पनपे, सिर उठाये, वहीं उसके असहयोग एवं विरोध प्रदर्शन से लेकर दबाव देने तक की प्रतिक्रिया उठ खड़ी होनी चाहिए । अनौचित्य के प्रति हममें से प्रत्येक रोष एवं आक्रोश भरा रहना चाहिए। इतनी जागरूकता के बिना दुष्प्रवृत्तियाँ रुक नहीं सकेंगी । छिपाने, समझौता कर लेने से सामयिक निन्दा से तो बचा जा सकता है, पर इससे सड़न का विष भीतर पनपता रहेगा और पूरे अंग को गलाकर नष्ट कर देगा । कई व्यक्ति ऐसे प्रसंगों पर उदारता बरतने, भूल जाने और छिपा लेने की वकालत

करते और अपने को अधिक सद्भाव सम्पन्न सिद्ध करते देखे गये हैं । ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि पाप सहन करते रहने की नीति ने ही संसार में अधर्म को बढ़ाया है। इससे अनीति की रक्षा होती है और उसे खाद-पानी पाकर और भी अधिक परिपुष्ट होने का अवसर मिलता है । बात को गई-गुजरी कर देना प्रकारान्तर से उसका समर्थन, परिपोषण और अभिवर्द्धन करने के समान है । इसमें हानि ही हानि है ।

वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में छद्मवेषों में छिपे हुए भ्रष्टाचार का अन्त तब तक नहीं हो सकता, जब तक उनके प्रति जनआक्रोश न जगाया जाय । आज तो ऐसी स्थिति हो गई है कि उचित-अनुचित का भेद तक करना लोग भूलते जाते हैं और किसके साथ सहयोग करना, किसके साथ न करना इस विवेक को खोते जाते हैं। जिसके साथ जिसकी मित्रता है, वह उसके पाप-अनाचार का भी चित्र-विचित्र तर्कों से समर्थन करता है । नैतिक दृष्टि से यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है । मित्रता के प्रमुख लक्षणों में रामायणकार ने 'कुपथ निवार सुपंथ चलावा' का सूत्र दिया है। सच्चा मित्र वह है जो मीठे, कड़ुए उपायों से उसकी अनैतिक प्रवृत्तियों को सुधारे, गलत मार्ग पर चलने से रोके और सन्मार्ग की दिशा में प्रवृत्त करे। जो उसमें उपेक्षा बरतता अथवा समर्थन, सहयोग करता है, वह प्रकारान्तर से अपने मित्र को अधिक भ्रष्ट करने में-अधिक पतित, निन्दित एवं दुःखों के गर्त में डुबोने के लिए प्रवृत्त है। ऐसा व्यक्ति मित्र होने का दावा करते हुए भी असल में पक्का दुश्मन है। सुधार प्रक्रिया में यह समर्थन ही सबसे बड़ी बाधा है । ऐसे मित्र नामधारी व्यक्ति अपने मित्र के साथ ही अपना भी लोक-परलोक बिगाड़ते हैं ।

अनीति को देखते हुए भी चुप बैठे रहना, उपेक्षा करना, आँखों पर पर्दा डाल लेना जीवित-मृतक का चिन्ह है, जो उसका समर्थन करते हैं, वे प्रकारान्तर से स्वयं ही दुष्कर्मकर्त्ता है । स्वयं न करना किन्तु दूसरों के दुष्टकर्मों में सहायता, समर्थन, प्रोत्साहन, पथ प्रदर्शन करना एक प्रकार से पाप करना है । इन दोनों ही तरीकों से दुष्टता का अभिवर्द्धन होता है।

मानवी साहसिकता और धर्मनिष्ठा का तकाजा है कि जहाँ भी अनीति पनपती देखें वहाँ उसके उन्मूलन का प्रयत्न करें। यह न सोचें कि जब अपने ऊपर सीधी विपत्ति आवेगी तब देखा जाएगा । आग अपने छप्पर में लगे तभी उसे बुझाया जाय, इसकी अपेक्षा यह अधिक उत्तम कि जहाँ भी कहीं आग लगी है वहाँ बुझाने को आत्मरक्षा का अग्रिम मोर्चा मानकर तुरन्त विनाश से लड़ पड़ा जाय। यदि सीधे टकराने की सामर्थ्य अथवा स्थिति न हो तो कम से कम असहयोग एवं विरोध की दृष्टि से जितना कुछ बन पड़े उतना ही करना चाहिए । असुरता को निरस्त करने और देवत्व को बलिष्ठ बनाने के लिए अपना अनीति विरोधी रुख तो अपनाये ही रखना चाहिए ।

अवांछनीयताओं से जूझने की रणनीति

सामन्तकारी युग में आक्रान्ताओं के अत्याचारों से पीड़ित जनता का आक्रोश न भड़कने देने के लिए भाग्यवादी दर्शन गढ़ा गया था । पीड़ितों को समझाया जाता था कि तुम्हारे भाग्य में वैसा ही वदा था, ईश्वर की इच्छा ऐसी ही थी, भवितव्यता होकर रहती है, इसलिए जो हो गया सो हो गया, उसे भूल जाने में ही लाभ है । वे बेचारे इसी दार्शनिक अफीम से अपना गम गलत कर लेते थे और सामन्तों को अपने अनाचार जारी रखने में छूट जारी रखने में छूट मिली रहती थी । इसी से मिलता-जुलता प्रयास यह है जिसमें कि दुष्टता सज्जनता के नाम पर सहन करने के लिए कहा जाता है। दुष्टता को निरस्त करने के प्रयासों को क्षमाशीलता की आड़ लेकर शान्त कर दिया जाता है। अपने युग के सबसे बड़े अहिंसा समर्थक महात्मा गाँधी ने इस प्रकार कायरता आवरण में लिपटी हुए अनीति पोषक अहिंसा की भर्त्सना की है और उससे हिंसा को कहीं अधिक अच्छा बताया है ।

दुष्टता को सुधारना आवश्यक है । यदि वह सज्जनता से सुधर सके तो अच्छी बात है और वस्तुतः हृदय परिवर्तन हो, अपने दोषों को खुलेआम स्वीकार और भविष्य में वैसा न करने की प्रतिज्ञा करके अपनी सच्चाई का वास्तविक परिचय दिया गया हो तो समाज को पहुँची क्षति का प्रायश्चित करके भरपाई कराई जा सकती है । इतना कर लेने पर उदार जनमानस सहज ही अपराधी को क्षमा कर देता है। वाल्मीकि, अंगुलिमाल, सदन कसाई विल्वमंगल आदि के ऐसे प्रसंग हैं जिनमें उन लोगों ने अपने समस्त पातकों को जनसाधारण के समक्ष प्रकट कर दिया था और समाज को पहुँची क्षति की भरपाई भी की थी । इस दो कदमों से उनकी भविष्य में वैसा न करने की प्रतिज्ञा पर विश्वास कर लिया था और क्षमा कर दिया था। परिवर्तित जीवनक्रम ही प्रायश्चित का सच्चा प्रमाण है । दुरात्माओं के पास अपने बचाव के लिए अनेक हथकन्डे होते हैं, हमारा उद्देश्य दुष्टता को सुधार तक पहुँचाने के लिए समझाने से लेकर दबाव देने तक के जो भी उपाय जिस स्थिति में काम देते दिखाई पड़ते हों, उन्हें भावुकता के आधार पर नहीं, दूरदर्शिता और यथार्थता को ध्यान में रखते हुए अपनाना चाहिए।

आवश्यक नहीं कि हाथ के बदले हाथ और पैर के बदले पैर काटने की बर्बरता अपनाई जाय । पर उतना तो होना ही चाहिए कि अभ्यस्त दुष्टता को यह विश्वास करा दिया जाय कि आगे भी उसी मार्ग पर चलते रहने में खैर नहीं है । इसके लिए दण्ड भय से कम और कोई उपाय नहीं होता । समझाने से भी कई लोग बदलते हैं पर वह परिवर्तन होता तभी है जब उस मार्ग पर चलने से भविष्य में होने वाली भयंकर हानि की बात स्वेच्छा चिंतन से

अथवा बाहरी दबाव से पूरी तरह अन्तःप्रेरणा अथवा किन्हीं महामानवों के विशिष्ट प्रभाव से भी होते देखे गये हैं पर वे अपवाद हैं। उन्हें लोकनीति मानकर नहीं चला जा सकता । उस उपाय से व्यापक अनाचार के उन्मूलन की आशा करना, अपना समय गँवाना और अवांछनीयता को निर्बाध गति से बढ़ते चलने का अवसर देना भर है । सज्जनता का शिक्षण और सुधार का प्रयास जारी रखने में हर्ज नहीं पर यह ध्यान रखना चाहिए कि उसकी सफलता भी इसी आधार पर निर्भर रहेगी कि दुष्टता को अपने सामने प्रचण्ड प्रतिरोध का खतरा दिखाई पड़ने लगे।

बहुत बार शक्ति के प्रदर्शन से भी इतना काम चल जाता है कि शक्ति के उपयोग की आवश्यकता ही न पड़े। वह कथा स्मरण रखने योग्य है कि नारद जी के उपदेश का ठीक अर्थ न समझकर एक सर्प ने सर्वथा अहिंसा व्रत ले लिया था । तब छोटे बच्चे तक उसे सताने और दुर्गति बनाने लगे थे। दुबारा लौटने पर नारदजी ने सर्प को जड़ अहिंसा अपनाने के कारण दुःखी देखा तो उसकी भूल सुधारी कि फुँफकारते रहना नहीं छोड़ना चाहिए अन्यथा लोग इसे दुर्बलता का चिन्ह मानकर दूने उत्साह से अनाचार बरतने लगेंगे ।

अन्तरङ्ग अथवा बहिरङ्ग, वैयक्तिक अथवा सामाजिक अनाचार के विरुद्ध हमें सुधारात्मक एवं संघर्षात्मक प्रयास सदा ही जारी रखने चाहिए। एक बार सफलता मिली तो यह सोचकर निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिए कि खतरा टल गया । धर्म की तरह अधर्म भी शाश्वत है, पर लुकाछिपी की आँख-मिचौनी खेलता रहता है और अवसर पाते ही फिर उभर कर खड़ा हो जाता है । गर्मी में लगता है कि घास पूरी तरह से सूख गई है पर वर्षा आते ही वह फिर हरी घास हो जाती है। शीत ऋतु में मक्खी, मच्छर मर जाते हैं फिर गर्मी आते ही वे न जाने कहाँ से उपज पड़ते हैं। एक बार शत्रु सेना को खदेड़ देने पर भी कोई देश यह सोच कर निश्चिन्त नहीं हो जाता कि अब आक्रमण का खतरा सदा के लिए समाप्त हो गया। इसी से हर देश अपनी सेना को सदा सतर्क और सुसज्जित रखता है और समझता है कि सुरक्षा प्रयत्न शिथिल होते ही शत्रुओं के मन में आक्रमण का उत्साह उमड़ पड़ेगा और वे अशक्त पर चढ़ दौड़ने से जो लाभ अनायास ही मिल जाता है, उसका लोभ संवरण न कर सकेंगे । सतर्कता सदा ही रखी जानी चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि अवांछनीयताएँ कभी भी उभर सकती हैं। एक समय एक तरह से जिसका समाधान हुआ था वह समस्या फिर उसी से मिलते-जुलते किसी भी रूप में फिर उभर सकती है। भले ही वैसा अवसर न आने पावे, पर सतर्कता तो बनी ही रहनी चाहिए । रोग उत्पन्न होने पर इलाज करने से यह अच्छा है कि उसे आक्रमण करने का अवसर मिलने से पूर्व ही मोर्चाबन्दी करके रखी जाय।

सतर्कता के अभाव में चोर-उठाईगीरों की बन आती है। सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध पहले से ही रखा जाय और यह जाँच करते रहा जाय कि चोरों का प्रवेश किस रास्ते किस प्रकार हो सकता है, तो उन छिद्रों को पहले से ही रोका जा सकेगा जहाँ से कि विकृतियाँ प्रवेश करती और अपना अधिकार जमाती हैं । आन्तरिक दुर्बलताओं और वैयक्तिक दुष्प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यह नीति पाली जाय कि उन्हें खदेड़ने का प्रबल प्रयत्न जारी रखा जाय और थोड़ी सफलता मिलने पर भी अभ्यस्त आदतों के पुनः उभरने की सम्भावना को ध्यान में रखकर प्रतिरोधी प्रखरता को जीवन्त रखा जाय। दुष्ट-दुरात्माओं के सम्बन्ध में भी ऐसी ही सतर्कता आवश्यक है । जिनकी दाढ़ में अनीति का खून लग जाता है वे अवसर न मिलने पर तो शान्त बने रहते हैं पर जब देखते हैं कि प्रतिरोध का खतरा कम है और सतर्कता घट गई तो वे फिर सक्रिय हो जाते हैं।

समझाने-बुझाने का प्रयत्न जारी रखना आवश्यक है। भीतरी और बाहरी शत्रुओं को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न जारी रखना चाहिए। हृदय परिवर्तन भी एक तथ्य है। सद्ज्ञान की ज्योति से अन्धकार मिटता है । सज्जनोचित समाधान की नीति का भी उपयोग निरन्तर होते रहना चाहिए । किन्तु ध्यान रखने की बात इतनी है कि इतने भर से समग्र समाधान की आशा नहीं की जा सकती । सद्ज्ञान को सब कुछ मानकर प्रतिरोध की प्रखरता समाप्त नहीं की जा सकती । जहाँ भी धर्म धारणा की शक्ति के सम्बन्ध में अनावश्यक उत्साह दिखाया जाएगा वहाँ उस एकांगी प्रयोग का प्रतिफल निराशाजनक ही सामने आवेगा सार्थकता उभयपक्षीय प्रयत्नों की है । इसलिए एक आँख प्यार की दूसरी सुधार की रखने की शाश्वत एवं संतुलित गति को ही श्रेयस्कर एवं व्यावहारिक मानकर चलना चाहिए । इतने भर से अनौचित्य के आक्रमण की बहुत कुछ रोकथाम हो सकती है । किसी पर भी अविश्वास न किया जाय पर इतना अवसर किसी को भी न दिया जाय जिससे अप्रामाणिकता के पनपने का अवसर मिलता हो। पैसे का हिसाब आत्मीयजनों से भी लिया जाता रहे और सदाचार, दुराचार की मर्यादाओं की लक्ष्मण रेखा मात्र नीति के परिपालन का ध्यान रखते हुए खींची जाय तो आमतौर से जो आर्थिक एवं सामाजिक भ्रष्टाचार पनपते रहते हैं उनमें भारी कमी हो सकती है। विश्वास की अति दिखाने से सतर्कता के तत्व घटते हैं और फिर वही अतिवादी सज्जनता विपत्ति बनकर ऊपर टूटती है । इस संदर्भ में मित्रों से भी नीति-मर्यादा पालन कराना चाहिए ताकि मैत्री चिरकाल तक अक्षुण्ण बनी रहे और उसमें दुर्बुद्धि के प्रवेश करने एवं विश्वासघात के अप्रिय प्रसंग के खड़े होने का अवसर ही न आवें। अति विश्वासी और अनियंत्रित मित्रता बहुधा कुछ दिन आगे चलकर शत्रुओं में परिणित होती देखी गई है। शत्रुओं से उतना खतरा नहीं रहता जितना मित्रों से। किसी जमाने में शत्रु सामने से हमला करते थे । अब युद्ध कला में भारी परिवर्तन हो गया है। अब मित्रता का आवरण ओढ़ कर बगल में छुरी घोंपने का प्रचलन है। साँपों को बिल में बैठे रहने की अपेक्षा

आस्तीन में जा घुसने का तरीका अधिक आधुनिक और सम्पन्न लगता है । इसीलिए तथाकथित मित्रों से जितनी हानि होती है उतनी शत्रुओं से नहीं। शत्रुता के इरादों का पता चल जाता है और उससे बच निकलने के कितने ही उपाय ढूंढ़ लिए जाते हैं, किन्तु मित्रों के सम्बन्ध में तो इतना भी नहीं बन पड़ता और सहज ही विश्वासघात का शिकार बनना पड़ता है। मित्रता की उपयोगिता, आवश्यकता तो बहुत है पर छद्म मैत्री की हानि शत्रुता बढ़ाने में कम नहीं अधिक ही हानिकारक है। कच्ची आयु के लड़के, लड़की इसी मित्रता के चक्कर में ही अपना भविष्य अन्धकारमय बनाते देखे गये हैं। उन्हें सावधान रखने और सावधान रहने की आवश्यकता है।

दृष्टिकोण, व्यवहार और प्रचलन के तीनों क्षेत्रों में घुसी अवांछनीयता बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक क्रान्ति की अपेक्षा करती है । इन सभी विकृतियों के मूल में मूढ़ता, अनीति और अनौचित्य को स्वीकार करने वाली भीरुता और अदूरदर्शिता ही काम करती है। यदि विवेक, नीति और न्याय को कसौटी मानकर चला जाय और खोटे को फेंकने तथा खरे को स्वीकार करने की परख सजग रहकर की जाय, तो न अज्ञानान्धकार में भटकना पड़ेगा, न अनीति अपनाकर विपत्ति उत्पन्न करने का प्रसंग आवेगा।

सुधार और संघर्ष के स्वच्छता उपकरण सँजोये रहा जाय तो भीतरी और बाहरी क्षेत्र में गन्दगी सड़ने और दुर्गन्ध से वातावरण विषाक्त होने का अवसर ही उत्पन्न होने न पावेगा।

बुराइयों के प्रति न केवल सतर्कता वरन् तीखी घृणा भी रहनी चाहिए। श्रद्धा की गहराई से सत्प्रवृत्तियों का विकास होता है । इसके ठीक विपरीत दुष्प्रवृत्तियों से जितनी गहरी घृणा होगी उतना ही उनसे बचना और निपटना संभव हो सकेगा । प्रेम की शक्ति सर्वविदित है। उसके आधार पर लोग आत्मीयजनों के प्रति-मान्य आदर्शों के प्रति बढ़े-चढ़े बलिदान प्रस्तुत कर सकते हैं । प्रेम की तरह द्वेष की भी शक्ति है। निकृष्टता के प्रति उदासीनता बनी रहे-आक्रोश न उभरे तो समझना चाहिए कि उसका जड़ जमाये बैठे रहना और धीरे-धीरे परिपुष्ट होते रहना सुनिश्चित है। अनीति से समझौता नहीं किया जाना चाहिए। क्रोध और रोष की संरचना ही इसलिए हुई है कि उसका प्रयोग दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध होता ही रहे। यदि पाप और पुण्य के प्रति समदर्शिता बरती गई, भले और बुरे को समान मानकर सहयोग दिया जाता रहा, तो समझना चाहिए कि पाप घटेगा और पुण्य बढ़ेगा।

अवांछनीयताओं की हानि और विनाशकारी प्रतिक्रिया की यदि सुविस्तृत विवेचना की जा सके तो उन्हें हटाने-मिटाने की आवश्यकता अनुभव होगी । इसके लिए शक्ति चाहिए। शक्ति के दो ही स्रोत हैं, एक प्रेम दूसरा द्वेष। इनमें से जिसकी जितनी गहराई होगी वहीं उतनी ही शक्ति प्रादुर्भूत होगी। श्रेष्ठता का समर्थन अभीष्ट हो तो लाभों का अत्यधिक चिन्तन किया जाय, श्रद्धा और मित्रता बढ़ाई जाय। निष्कृष्टता का उन्मूलन उचित लगता हो तो उनकी हानियों की विभीषका को मनःक्षेत्र पर भली प्रकार चित्रित किया जाय और अनीति के प्रति गहरी घृणा सँजोई जाय। युद्धकाल की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सैनिकों में देशभक्ति की भावना कितनी प्रबल है और शत्रु की दुष्टता के प्रति कितना रोष-आक्रोश भड़का हुआ है। ऐसी मनःस्थिति होने पर ही वे अपने सैन्य कर्तव्य ठीक तरह पालन कर सकेंगे। शक्ति के बिना तो छुट-पुट परिवर्तन भी नहीं हो सकते। फिर युग परिवर्तन के लिए जिस प्रचण्ड शक्ति की आवश्यकता है, वह देवत्व के प्रति प्रगाढ़ प्रेम और असुरता के प्रति और घृणा उत्पन्न किये बिना उपलब्ध ही नहीं हो सकती । चेतना की शक्ति इन्हीं दो उपायों में उत्पन्न होती है।

अनीति के विरोध में मुँह बन्द नहीं रखा जाना चाहिए। उसकी हानि समझने और भर्त्सना करने का क्रम जारी रखा जाय। बड़े पैमाने पर और सार्वजनिक रूप में विरोध करने में असह्य हानि होने की आशंका हो तो छोटा रूप इतना तो रखा ही जा सकता है कि अपने निजी लोगों से उस अनीति की चर्चा करते रहा जाय। इसमें वे वस्तु-स्थिति से अवगत रह सकेंगे और यथासम्भव असहयोग विधि की भूमिका भी निभा सकेंगे। अनजान न रहने के कारण बहुधा सहयोगी प्रसंग भी बन पड़ते हैं। जिन अनजानों को जानकार कर लिया गया है, यदि विशेष सम्बन्ध नहीं तो वे सहयोग समर्थन से हाथ भी खींच सकते हैं। यदि सीधा सम्बन्ध न भी हो तो इस प्रकार की अनीति सामने आने पर क्या सोचना या क्या करना चाहिए, इससे अवगत रह सकते हैं । अनाचार के विरोध में निन्दा का वातवरण बनाना छोटा होते हुए भी विरोध, प्रतिरोध के लिए हल्के शस्त्र का काम दे सकता है। हमें अपने मतलब की बात सोचकर अनाचार के विरुद्ध मुँह न खोलना तो व्यक्ति के कायर और असामाजिक होने का लक्षण है। यह स्तर किसी भी न्यायप्रिय को नहीं अपनाना चाहिए।

अधिक प्रखरता का प्रदर्शन सम्भव हो तो वाणी, लेखनी या जिस भर उपाय से जहाँ जैसी सुविधा हो विरोध व्यक्त करने की साहसिकता का परिचय देना चाहिए । जिसकी शिकायत है उसे एकान्त में समझाने और अवांछनीयता छोड़ने का आग्रह ऐसे लोगों द्वारा कराया जाना चाहिए उस पर प्रभाव या दबाव पड़ता हो । यह उपाय कारगर न हो तो खुलेआम विरोध करने के लिए मीटिंग-प्रस्ताव-अखबार-विज्ञापन जैसे सामान्य उपाय काम में लाये जाएँ और अनीति की निन्दा का वातावरण बनाया जाए। स्वभावतः हर व्यक्ति निन्दा से बचना चाहता है और डरता भी है । सामाजिक दबाव का यह शस्त्र यदि खुलेआम सामने लाया जाय तो उसका प्रभाव हुए बिना नहीं रह सकता।

अनाचार प्रतिरोधी दल हर जगह बन सकते हैं। वे स्थानीय क्षेत्र में फैली हुई अवांछनीयताओं के विरुद्ध पर्चे

पोस्टर छापकर-प्रदर्शन करके अथवा अन्य उपायों से जन साधारण को सचेत करते रह सकते हैं। बिना नाम लिए भी अपने क्षेत्र की दुष्प्रवृत्तियों का और उनके द्वारा होने वाली हानि की चर्चा की जा सकती है। उसे रोकने पर क्या और कितना लोकहित हो सकता है उसकी जिम्मेदारी ली जा सकती है। इस प्रकार जन-साधारण को सजग रहना भी प्रतिरोध का एक बहुत बड़ा उपाय है । इससे अनाचारियों की पोल खुलने, झगड़ा खड़ा होने का भय होता है ये अपनी गतिविधियाँ उनमें खुलेआम नहीं करते जैसे कि प्रतिरोध की संभावना न देखकर निश्चिन्तता और निर्भयतापूर्वक करते थे।

इसी प्रकार जनता के ऊपर बरसने वाली कठिनाइयों का या तो ज्ञान ही नहीं होता, होता है तो उपेक्षा में उसके प्रति आक्रोश नहीं उभर सकता । पीड़ितों और शोषितों में से हर व्यक्ति यही सोचता है कि मैं अकेला, दुर्बल और असहाय हूँ। प्रतिपक्षी सबल, संगठित, साधन सम्पन्न और संख्या में बहुत हैं। इस प्रकार बल तौलने पर लगता है कि अपना पक्ष कमजोर है सामने वाले की शक्ति भारी पड़ती है। इस मूल्यांकन में शोषितों की हिम्मत टूटती है और मन मारकर चुप बैठ जाते हैं। सोचते हैं कि प्रतिरोध करने पर तो प्रतिपक्षी क्रुद्ध होकर अधिक हानि पहुँचायेगा। इस भय से कितने ही लोग अनीति के विरुद्ध मुँह नहीं खोलते। यहाँ तक कि आँखों देखी अनीति का विवरण बताने तक के लिए तैयार नहीं होते। गुण्डागर्दी के विरुद्ध चलाये गये अनेकों मुकदमे इसी आधार पर खारिज हो जाते हैं कि उपयुक्त गवाहियाँ नहीं मिलतीं । अनाचार में दुष्टता का जितना दोष होता है उसमें दो और भी जिम्मेदार हैं-एक ये सताये जाने पर भी मुँह खोलने की हिम्मत नहीं करते दूसरे ये जो दूसरों के झंझट में न पड़ने-अपने काम से काम करने की नीति अपनाकर प्रतिरोध में सहायक हो सकने योग्य होते हुए भी चुप बैठे रहते हैं।

अनाचार के प्रति रोष-आक्रोष जीवन्त रखा जाय। मूढ़-मान्यताओं, दुष्प्रवृत्तियों, निष्ठुरताओं, अनैतिकताओं और कुरीतियों से होने वाली हानियों से सर्व साधारण को परिचित कराया जाय, उनके उन्मूलन का आक्रोश एवं परित्याग का उत्साह उभारा जाय। अनौचित्य से असहयोग करना तो हर विवेकशील अपना न्यूनतम मानवीय कर्तव्य समझे। विरोध में हमारे मुँह खुलने और हाथ उठने चाहिए। प्रतिरोध मोर्चे का ऐसा गठन होना चाहिए जो लोकशक्ति को अपने साथ लेकर संगठित शक्ति से अनाचार की जड़ पर कुठाराघात कर सके। औचित्य के समर्थन और अनौचित्य के प्रतिरोध में जनशक्ति को संगठित और प्रखर बनाकर अनाचार से जूझने के लिए खड़ा किया जा सके तो इतने भर से अवांछनीयता के उन्मूलन का बहुत बड़ा अंश अनायास ही पूरा हो सकता है। शक्ति का प्रदर्शन होता रहे तो शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता कदाचित ही कभी पड़ती है। हमें जागते रहने की नीति अपनानी चाहिए और उसके अनुगमन की प्रेरणा हर किसी में भरनी चाहिए।

***

बौद्धिक क्रान्ति हेतु प्रेरक प्रयास

विचार क्रान्ति हेतु कुछ प्रेरक प्रयास

वार्तालाप-परामर्श के अतिरिक्त यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि किसी तथ्य को समझने और वस्तुस्थिति को स्वीकार करने के लिए युग निर्माण साहित्य का गहरा अध्ययन करने का पर्याप्त अवसर दिया जाय। इसके बिना अनभ्यस्त प्रतिपादनों को लोगों के गले उतारना कठिन पड़ेगा। साहित्य की अपनी शक्ति है, इसे स्वीकार करना ही चाहिए। कार्ल मार्क्स, ऐन्जिल आदि दार्शनिकों द्वारा विनिर्मित साम्यवादी ग्रन्थों का प्रतिपादन ही आज संसार की आधी दुनिया के मस्तिष्क पर छाया हुआ है। अमेरिका में दास प्रथा का अन्त कराने में 'टामकाका की कुटिया' पुस्तक ने अभूतपूर्व भूमिका निवाही। दार्शनिक रूसो के ग्रन्थ ने प्रजातन्त्र पद्धति को जन्म दिया। ईसाई धर्म के विस्तार में क्रिश्चियन मिशन द्वारा संसार की समस्त भाषाओं में हर वर्ष अरबों रुपये की लागत का साहित्य छापा जाना और वितरित किया जाना एक बहुत बड़ा कारण है।

युग निर्माण साहित्य के प्रचार, विक्रय, पठन-पाठन, स्थापन को किसी माल की बिक्री जैसे छोटे पैमाने से नहीं नापना चाहिए। यह लोक-मानस के परिष्कार की अचूक प्रक्रिया है। चूँकि पुस्तकें छापने में कागज, छपाई और लागत लगती है इसलिए उसका सन्तुलन बनाने के लिए विक्रय का प्रबन्ध करना पड़ता है अन्यथा इस प्रकार के अन्न दान, वस्त्र दान, गौदान, स्वर्ण दान आदि हर परमार्थ समझे जाने वाले कार्य से इसे हजार गुना अधिक महत्व दिया जा सकता है। युग निर्माण साहित्य के प्रचार को हमें इसी दृष्टि से देखना चाहिए और उन लोगों के गले उतारने की अनिवार्य आवश्यकता का ध्यान रखते हुए संकोच छोड़कर यह प्रयत्न करना चाहिए कि यह हर सम्भव उपाय से लोगों के पास पहुँचाया जाय और उन्हें उसे पढ़ने के लिए विवश किया जाय।

उसमें विक्रय वाली बात जुड़ी रहने से ऐसा संकोच लगता है कि कोई यह समझेगा कि यह अपने व्यक्तिगत आर्थिक लाभ के लिये किया जा रहा है। इसमें यदि हेटी और बेइज्जती प्रतीत होती हो तो उसे भी सहन करते हुए इस प्रसार कार्य में उत्साह दिखाना चाहिए। लोग क्या कहते हैं इसकी ओर से हमें आँख और कान बन्द करके ही चलना चाहिए। लोगों को क्या कहना चाहिए हमें इसी के लिए प्रयत्न करना चाहिए। लोगों में ही निष्कर्ष निकालने की शक्ति होती तो फिर हमें इतनी माथापच्ची ही क्यों करनी पड़ती। बीमार के रुष्ट होने, बड़बड़ाने और आरोप-आक्षेप लगाने पर भी कड़वी दवा पिलाने का प्रयत्न शान्तिचित्त से, बिना उसकी बातों पर ध्यान करके करना ही चाहिए।

युग परिवर्तन का प्रयोजन पूरा करने में नवनिर्माण साहित्य की अनुपम भूमिका रहेगी। अब तक इस अभियान को जो सफलता मिली, जो संगठन बना, जो कार्य हुआ है उसके मूल में इस साहित्य की शक्ति ने ही काम किया है। जितने भी व्यक्ति निखर कर, उभर कर कार्यक्षेत्र में आये हैं, उन्हें यह साहित्य ही घसीट कर लाया है।

युग निर्माण परिवार के प्रतिभाशाली सदस्यों को यह कार्य अपने हाथ में लेना चाहिए और जहाँ भी इसके लिए द्वार खुलने की सम्भावना हो, वहीं अनुरोध-आग्रह करने के लिए पहुँचना चाहिए। गाँधीजी ने खादी सप्ताह मनाने की-खादी हुण्डी बेचने की-खादी ढकेलें सजाकर प्रभावशाली लोगों द्वारा उन्हें विक्रय के लिए घर-घर लिये फिरने की योजना दी थी। युग निर्माण साहित्य के प्रसार-विस्तार की बात इसी ढंग से सोचना पड़ेगी। इस सन्दर्भ में निम्न उपाय किये जाने चाहिए।

(१) अन्य वस्तुएँ बेचने वाले दुकानदारों से यह आग्रह किया जाय कि वे जिस तरह अनेक किस्म की कई चीजें विक्रय के लिए दुकान में रखते हैं उसी तरह इस साहित्य के लिए भी एक स्थान निश्चित, निर्धारित रखें। अन्य वस्तुएँ लोगों के पूछने-माँगने पर दी जाती, दिखाई जाती हैं, पर उसे अपनी ओर से दिखाया, बताया जाया करे। प्रश्न लाभ का नहीं, लोकमानस के निर्माण का है। इतना पारमार्थिक उद्देश्य भी अपने व्यवसाय के साथ जोड़ लिया जाये तो एक पन्थ दो काज की कहावत चरितार्थ होगी।

(२) स्थानीय पुस्तकालयों से सम्पर्क किया जाय, उन्हें पुस्तकें दिखाई जायें और ऐसे उपयोगी साहित्य को भी उस लोकमंगल की संस्था में स्थान मिलने की प्रार्थना की जाय।

(३) स्कूल-कॉलेजों की लायब्रेरियों के लिए प्रधानाध्यापकों से, अधिकारियों से मिलकर उनके लिए यह साहित्य खरीदे जाने के लिए आग्रह किया जाय।

(४) विचारशील वर्ग के घरों में यह साहित्य लेकर प्रभावशाली लोग जायें और उनसे इसे अपनाने का आग्रह करें।

(५) धनी लोगों से पोस्टर चिपकवाने, विज्ञप्तियाँ बँटवाने, कम मूल्य पर विद्यार्थी वर्ग में या अन्य सम्बन्धित वर्गों में उस साहित्य की पहुँच कराने के लिए दान देने की उपयोगिता समझाई जाय।

(६) बुकसेलरों से विशेष रूप से अनुरोध किया जाय कि वे अन्य पुस्तकें खरीदने वालों को इस साहित्य का परिचय व्यक्तिगत रूप से जोर देकर प्रभावशाली ढंग से समझाते रहने की सेवा स्वीकार करें और अन्य पुस्तकों के साथ इसे भी विक्रयार्थ रखें।

(७) मेले, ठेले, प्रदर्शनी, टूर्नामेंट किसी संस्था का वार्षिकोत्सव, भण्डारा आदि जहाँ भी बड़े आयोजन हों वहाँ अपना साहित्य स्टाल लगाना।

(८) फेरी वाले तैयार करना, जो घर-घर जाकर पुस्तकें दिखावें और बेचें। हाट-बाजार में वे ही समय-समय पर अपनी दुकान लगा लिया करें।

ऐसे ही कुछ अन्य उपाय सोचे जा सकते हैं जिनके आधार पर अधिकाधिक लोग इस प्रेरणाप्रद साहित्य से प्रकाशित-आलोकित होकर नव-निर्माण की भूमिका निर्वाह कर सकने वाले बन सकें।

इस सन्दर्भ में 'अखण्ड ज्योति' मासिक पत्रिका विचार क्रान्ति के सारे ढाँचे प्रस्तुत करती रहती है और 'युग निर्माण योजना' मासिक एवं 'प्रज्ञा अभियान' पाक्षिक के द्वारा उन विचारों को कार्यान्वित किये जाने का व्यावहारिक मार्गदर्शन होता रहता है। सिद्धान्त और कार्यक्रम, थ्यौरी और प्रेक्टिस का प्रयोजन यह दोनों पत्रिकाएँ जिस सुन्दर ढंग से पूर्ण कर रही हैं उससे लाखों व्यक्ति चमत्कृत, प्रभावित, उत्साहित और कर्मरत हुए हैं। इन्हें नियमित रूप से पढ़ने वाले ही योजना के सदस्य होते हैं। इन दो उपकरणों के माध्यम से उनका व्यक्तित्व एवं मानसिक स्तर इतना ऊँचा उठा है कि उसे देखते हुए हमें प्रस्तुत योजना बना डालने और उसे उसकी सफलता पर पूर्ण विश्वास करने का साहस हो सकता है। नव-निर्माण की दिशा में यह दो माध्यम ऐतिहासिक भूमिका उपस्थित कर रहे हैं। एक शब्द में यों भी कहा जा सकता है कि योजना शरीर के अन्तर्गत श्वास-प्रश्वास की क्रिया इन्हीं दो नासारंध्रों से होती है। इन्हें ही उसका जीवन प्राण एवं मेरुदण्ड कहना चाहिए। इन्हीं से पाठकों का यह परिवार बना है। उन्हीं को सदस्य मानकर शाखा संगठनों को आगे बढ़ाया जा रहा है।

भारतीय संस्कृति के अनुरूप विशुद्ध अध्यात्मदर्शन की रूप-रेखा प्रस्तुत करने के लिये आर्ष ग्रन्थों को सर्वसुलभ बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई। उसकी पूर्ति के लिये चारों वेदों का सायण भाष्य के आधार पर हिन्दी अनुवाद किया गया और उसे सर्व सुलभ मूल्य पर छापा गया। उसी प्रकार १०८ उपनिषदों का भाष्य तीन बड़ी जिल्दों में और छहों दर्शनों का विस्तृत भाष्य छह जिल्दों में प्रस्तुत करके उसे प्रकाशित कराया गया। इसी में एक और नयी कड़ी जुड़ गयी है प्रज्ञा पुराण, जिसके अब तक चार खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। अब गीता का एक विश्वकोष तैयार किया जा रहा है जो १८ बड़ी-बड़ी जिल्दों में प्रकाशित होगा। इसमें संसारभर के समस्त गीता भाष्यों का समावेश तथा उनमें दीखने वाली उलझनों का विस्तृत समाधान होगा। यह ग्रन्थ इस दृष्टि से इन पंक्तियों के लेखक ने विगत कई वर्षों के निरन्तर श्रम से प्रस्तुत किया है ताकि बौद्धिक क्रान्ति तथा सामाजिक क्रान्ति की अपनी योजना को भारतीय संस्कृति का पुनरुद्धार मात्र सिद्ध किया जा सके।

युग निर्माण विचारधारा को स्थायी साहित्य का रूप देने के लिये सर्वसाधारण के उपयुक्त विचार क्रान्ति पुस्तक माला प्रकाशित की गयी है। इस तरह की प्रकाशित पुस्तकों का मूल्य बहुत ही कम रखा गया है। आगे और भी प्रयत्नपूर्वक बौद्धिक क्रान्ति का प्रयोजन पूर्ण करने वाला साहित्य छपता रहेगा। प्रयत्न यह किया जा रहा है कि उठते हुए राष्ट्र की बौद्धिक भूख बुझाने के लिए अनेक संस्थानों द्वारा अनेक भाषाओं में अनेक प्रकार का प्रकाशन बहुत बड़े पैमाने पर होने लगे।

हर शाखा में युग निर्माण पुस्तकालय स्थापित किए जा रहे हैं। जहाँ से निःशुल्क घर-घर पुस्तकें पहुँचाने और वापिस लाने की प्रक्रिया आरम्भ करके जनमानस को अभीष्ट दिशा में ढाला जा सके।

बौद्धिक क्रान्ति, नैतिक क्रान्ति, सामाजिक क्रान्ति के सर्वतोमुखी परिवर्तन का लक्ष्य लेकर अपना ज्ञानयज्ञ अभियान चल रहा है। उसकी प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक प्रवृत्तियों में हम सब को उत्साहपूर्वक भाग लेना चाहिए। यह कार्य संगठित रूप से ही अधिक अच्छी तरह हो सकते है। हमें इसी दिशा में बढ़ना चाहिए और व्यापक स्तर पर आलोक वितरण का, जनमानस के परिष्कार का कार्यक्रम हाथ में लेना चाहिए। प्रस्तुत युग की यह सबसे बड़ी क्रान्ति है।

हम ज्ञान यज्ञ और विचार क्रान्ति में संलग्न हों

साहस मनुष्य जीवन की अमूल्य निधि है। कायर रोते-कलपते ही रहेंगे भले ही वे सुयोग्य हों। बहादुर बाजी जीतेंगे भले ही वे अयोग्य हों। योग्यता की महत्ता बहुत है, पर वह साहस से बढ़कर नहीं हो सकती। कुमार्गगामी होते हुए भी साहसी अपने उस निन्दनीय क्षेत्र में भी कुछ कर दिखाते हैं जबकि भीरु, संकोची और काम प्रकृति के लोग वन्दनीय सत्पथ का अनुसरण करते हुए भी कोई महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। कुमार्गगामी सफल होते हैं और सन्मार्गगामी असफल ऐसा सोचना अनुपयुक्त है। वास्तविकता यह है कि हिम्मत से रहित व्यक्ति भले या बुरे किसी भी मार्ग पर चलें, उसी में उन्हें असफलता मिलेगी। साहसी जो भी मंजिल पकड़ेंगे उसी को पार करके रहेंगे। वाल्मीकि, अम्बपाली, अजामिल, तुलसीदास, सूरदास आदि के आरम्भिक जीवन कलुषित थे जब वे कुमार्गगामी थे तब भी उनका दबदबा था और जब सन्मार्गगामी बने तो उनने

उस क्षेत्र में भी कीर्तिमान स्थापित किया । जीतता साहस है। विजयश्री हिम्मतवालों के गले में पहनाई जाती है।

पिछले कई वर्षों से इस संदर्भ में हम अपने प्रिय परिजनों को साहसी बनने की शिक्षा दे रहे हैं। हमारे निज के जीवन में जो कुछ भी उपलब्धियाँ हैं उनमें बहुत कुछ श्रेय साहसिकता को है। स्वतन्त्रता आन्दोलन में, गोलियों की सनसनाहट की छाया में लम्बी अवधि काटी। कांग्रेस आन्दोलन में तीन वर्ष की जेल और कालकोठरी हँसी-खेल जैसी लगी, वन-पर्वतों के हिमाच्छादित और हिंस्र जन्तुओं से भरे प्रदेश में सुनसान को सहचर मानकर मुद्दतें गुजारी, सभी कुटुम्बी-सम्बन्धी भरी जवानी के दिनों में कुछ कमाने और तथाकथित उन्नति करने का आग्रह करते रहे पर अपने को पुरश्चरणों की बात जम गई सो उसी पर डटे रहे, जो मार्ग अपनाया उसे प्रियजनों ने पग-पग पर रोका, पर आत्मा की आवाज के सामने सबकी बात अनसुनी करते रहे, यज्ञ आन्दोलन और गायत्री प्रचार में रूढ़िवादियों से हमें कितना लोहा लेना पड़ा और कितना विरोध सहना पड़ा उसकी दिल दहलाने वाली कथा है। जीवन में हमने बहुत उतार-चढ़ाव भुगते और आघात-प्रत्याघात सहे हैं, पर हर परिस्थिति का डटकर मुकाबला किया। असफलता सामने आई तो बहुत, शान्तचित्त से उसका मुकाबला किया और अगले ही क्षण सफलता प्राप्त करने के लिए दूने चौगुने उत्साह से डट गये । निराशा को कभी अपने मन:क्षेत्र में एक कदम भी प्रवेश न करने दिया। असफलता पर कभी खिन्न नहीं हुए। अवरोध कभी डरा नहीं पाये। मन और शरीर को पीस-कूट कर ऐसी रसायन बनायी कि उससे विक्रमादित्य के पास रहने वाले तथाकथित दो बैतालों की तरह मनोवांछित काम ले लिया। जुट गये तो हटने का नाम नहीं। अड़ गये तो अंगद के पैर को कोई उखाड़ न सका। साहस का यही एक गुण अपने में प्रधान रूप से विकसित हुआ और इसी जहाज पर सवार होकर आँधी-तूफान और भँवरों को चुनौती देते हुए अब वहाँ आ पहुँचे हैं जहाँ से किनारा साफ दिखाई पड़ता है। हमारी बौद्धिक, आध्यात्मिक सामाजिक सेवाएँ एवं सफलताएँ यदि कुछ हैं तो उनका श्रेय हमारी हिम्मत, जिंदादिली और आशा भरी उमंगों को ही मिलना चाहिए।

जीवन के इस अन्तिम अध्याय में हम अपनी इस उपलब्धि को विरासत में अपने उत्तराधिकारियों को दे जाना चाहते हैं। निश्चित रूप से हिम्मत ही पारसमणि है। जिन्हें अपने को कुछ बनाना हो उन्हें साहस का अभ्यास करना चाहिए। जिसके पास हिम्मत है उसके असंख्य अभाव एवं अवरोधों का घिराव रहने पर भी प्रगति की राह मिलती रहेगी। पर जिसे विपन्नताओं के साथ आँख-मिचौनी करते हुए, नये मोड़-तोड़ और दावपेंच के साथ लड़ना नहीं आया वह खिन्न और उद्विग्न ही बना, रोता-कलपता बैठा रहेगा। प्राचीनकाल के महापुरुष अपने अनुचरों को सुविधाओं और सम्पदाओं का आशीर्वाद नहीं देते थे वरन् उन्हें असुविधाओं, कठिनाइयों और असफलताओं के बाड़े में धकेल देते थे, ताकि उनका साहस, सन्तुलन, धैर्य और शौर्य यथाक्रम विकसित हो सके। सुविधाएँ और सम्पदाएँ व्यक्ति को आलसी एवं विलासी बनाती हैं। सहज में मिली सफलता अथवा सम्पन्नता में किसी को सच्चा आनन्द नहीं मिलता, महापुरुषों की गौरव-गाथा उनके जीवन संघर्ष पर आधारित रहती है। जो विपत्तियों से नहीं लड़ा यह यशस्वी नहीं हो सकता। जो असफलता के बाद चौगुनी हिम्मत के साथ प्रयत्नशील होता है और आवश्यकतानुसार रीति-नीति में हेर-फेर करने की सूझ-बूझ प्रस्तुत करता है, सफलता को उसके आगे नतमस्तक होना पड़ता है। कठोर परिश्रम और धैर्य सन्तुलन की चुनौती लेकर विपन्नता ही आती है। किसी की आदर्शवादिता तभी परखी जाती है जब सामने प्रलोभन प्रस्तुत हों, किसी की उत्कृष्टता तभी प्रमाणित होती है जब हेय लालच को ठुकरा कर श्रेय के साथ जुड़ी हुई अभावग्रस्तता को स्वीकार किया जाय। सच्ची सम्पत्ति सद्गुण है। उन्हीं के आधार पर कोई व्यक्ति चिरस्थायी गौरव प्राप्त कर सकता है। इसलिए दूरदर्शी तत्वज्ञानी अपने अनुयायियों के सच्चे हितचिन्तक होने के कारण उन्हें सम्पन्नता भरे वरदान नहीं देते वरन् विपन्नताओं में जूझने का अवसर प्रदान करते हैं और इस बहाने शिष्य की हिम्मत बढ़ाकर उसे हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकने की प्रतिभा से सुसम्पन्न कर देते हैं।

हमारे गुरुदेव ने हमारे साथ वही नीति बरती। वे चाहते तो अपनी एक कृपा-कोर से अपने ऊपर सम्पन्नता और सफलताओं की सहज ही वर्षा कर सकते थे पर उन्होंने वैसा किया नहीं, क्योंकि इन उपलब्धियों के मिल जाने पर अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा, मनस्विता एवं साहसिकता के विकसित होने का अवसर ही न मिलता। ऐसी दशा में भारी घाटे में ही रहना पड़ता। क्योंकि समृद्धि की तुलना में साहस भरी प्रतिभा का मूल्य लाख गुना अधिक है। व्यक्तित्व ओछा, दुर्बल और निकृष्ट स्तर का लुंज-पुंज बना रहे तो सम्पन्नता से क्या लाभ? दुर्बल के पास आई सम्पन्नता उसके लिए असंख्य चिन्ताएँ, उलझनें और विभीषिकाएँ उत्पन्न कर देती है। समृद्धि का लाभ केवल वही उठा सकता है जो उसका संरक्षण और सदुपयोग कर सके और यह दोनों ही कर्तृत्व प्रचण्ड साहसिकता पर निर्भर रहते हैं। साहस के सहारे हम बड़े हैं। हमी क्यों संसार की हर प्रकाशवान प्रतिभा को अपनी न झुकने वाली हिम्मत का परिचय देना पड़ा है। जो इस कसौटी पर खरा उतरा उसके लिए सफलता का हर द्वार स्वागत और अभिनन्दन करने के लिए खुला पड़ा है।

हमारी अब तक की जीवनप्रक्रिया का यही निष्कर्ष है। हमें सीप माना जाय तो पेट में एक ही मोती मिलेगा

'साहस'। इसके बिना हमें प्रस्तुत उपलब्धियों में से एक भी न मिल सकी होती। तपश्चर्या और आत्म-बल की साधना अपने आप से जूझने पर अवलम्बित रहती है, सो हम डटकर अपने आप से लड़े हैं। मन सहज ही मानने वाला नहीं है वह ऐसा धूर्त है कि जरा भी बेखबर पाया कि धर भटकता है। उससे शत्रु की तरह सतर्क रहने और मित्र की तरह विनियोग करने की कला सीखनी पड़ती है। बाहर की उपलब्धियाँ लोगों को दीखती हैं पर हमें अपने अंतरंग जीवन संघर्ष का अनुभव है और उसी को महत्व देते हैं। असल में हमारी वास्तविक विशेषता यह हिम्मत है जिसके बलबूते पर किसी की भी परवाह न करते हुए अपना रास्ता आप चुना और अंतरंग एवं बहिरंग समस्त अवरोधों से लडते हुए अपने पैरों अपनी राह चलते रहे। न निन्दा से विचलित हुए, न प्रशंसा से मुस्कराये। अपना कर्त्तव्य ठीक तरह पालन किया जा रहा है या नहीं, अपने संतोष-असंतोष को पूरी तरह इसी केन्द्र-बिन्दु पर अवलम्बित करना और इसी तरह एक-एक कदम बढ़ाते हुए वहाँ आ पहुँचे जहाँ अपने शानदार भूत और उज्ज्वल भविष्य का दर्शन करते हुए सन्तोष की साँस ले सकते हैं।

जीवन के इस उत्तरार्द्ध में हमें बहुत उतावली इस बात की है कि अपनी इस महान उपलब्धि का उत्तराधिकार लेने को कोई अनुयायी सामने आये। सुविधा और सम्पन्नता का वरदान, आशीर्वाद-पैर छूने, माला पहनाने के मूल्य पर पाने के लिए भारी भीड़ लगी रहती है। उन्हें कुछ दे-दिलाकर टरकाते रहते हैं। पर इन तथाकथित 'शिष्यों' से हमें रत्ती भर भी सन्तोष नहीं। क्योंकि गुणों के अभाव में वे हमारे द्वारा दिये हुए अनुदान से भी कुछ सुख न उठा सकेंगे। तलाश ऐसे व्यक्तियों की थी जो हमारी ही तरह साहस का मूल्य समझें और उसे उपलब्ध करने का मूल्य कठिनाइयों के साथ संघर्ष करने के रूप में चुका सकें। हमें इसी मार्ग पर चलना पड़ा है। हम चाहते हैं इस मार्ग पर चल सकने वाली कुछ प्रतिभाएँ हमारे सम्पर्क में और आयें। जिन्हें पहलवान पट्ठा बनाकर हम अपने अखाड़े की यशस्विता एवं परम्परा को आगे भी जीवित रहते देख सकें।

इन दिनों अपनी दोनों पत्रिकाओं में पिछले दिनों की तरह उपदेश मात्र नहीं रहते वरन् कुछ करने की प्रेरणा रहती है। इसका प्रयोजन परिजनों में कर्मठता पैदा करना है। हम अपने काम आप कर सकते हैं। जो उत्तरदायित्व हमें सौंपे गये हैं उन्हें अपने बलबूते पर पूरा कर सकने की क्षमता हममें विद्यमान है। सहयोग न मिले तो भी परशुराम की तरह अकेले ही अपने एकमात्र कुल्हाड़े से बहुत कुछ कर सकते हैं। परिजनों से बार-बार अनुरोध इसलिए नहीं कर रहे हैं कि वे बताये गये राई रत्ती कार्यों को न करेंगे तो अपना खेल बिगड़ जाएगा। आग्रह का एकमात्र कारण परिजनों की प्रतिभा का विकास और सन्मार्ग पर चल सकने की साहसिकता का अभ्यास कराना मात्र है। प्रस्तुत कार्यक्रमों में जो थोड़ा समय और पैसा लगा सकेंगे तो देश, धर्म, समाज, संस्कृति की सेवा तो करेंगे ही- यस्तुतः असली हित साधन तो अपना करेंगे, क्योंकि आन्तरिक भीरुता, संकीर्णता, स्वार्थपरता, सत्कर्म करने की झिझक, सम्बन्धियों के उपहास से उत्पन्न होने वाला अवसर आदि दुर्गुणों से लड़ने का मौका मिलेगा। प्रस्तुत कार्यक्रमों को एक व्यायामशाला माना जाना चाहिए जिसमें प्रत्येक परिजन अपनी सन्मार्गगामी साहसिकता का अभिवर्द्धन कर सकता है।

युग बदल रहा है। महाकाल अपना काम तेजी से कर रहा है। महाकाली अपना रौद्र रूप धारण किये खड़ी है। ताण्डव नृत्य का डमरू बज चुका। अविवेक, अन्याय और अवसाद के तीनों असुर शुंभ-निशुंभ, मधुकैटभ और महिषासुर की तरह अब निरस्त किये ही जाने वाले हैं। नव-चेतना की ऊषा उदय हो गई। अब विवेक का सूर्य उदय होने ही वाला है। एकता, समता, ममता और शुचिता से भरापूरा नवयुग अब बिल्कुल समीप आ गया। मूढ़ता, लोलुपता और लिप्सा की दुष्प्रवृत्ति पूतना, ताड़का और सूपर्णखा की तरह अगले ही दिनों अपना अवसान देखेंगी। इस परिवर्तन को कोई रोक नहीं सकता। यह अपने ढंग से आँधी-तूफान की तरह बढ़ता हुआ, बिजली की तरह कड़कता हुआ, ज्वालामुखी की तरह उबलता हुआ, गतिशील हो रहा है। जिन्हें न दीखता हो वे कुछ क्षण प्रतीक्षा करें और देखें कि जो कहा जा रहा है वह अक्षरशः सत्य होता है या नहीं। आज की विडम्बनाएँ दिल दहलाती हैं पर अगली सम्भावनाओं में उज्ज्वल भविष्य की सान्त्वना मौजूद है। प्रस्तुत कार्यक्रम अपने परिजन पूरा न करें तो भी उनसे कुछ बिगड़ने वाला नहीं है। दैवी शक्तियाँ हजार रास्तों से अपना काम करेंगी। हमें तो अपने प्रियजनों की मोह-ममता खाये जाती है, जिसमें उनकी प्रतिभा एवं साहसिकता का विकास हो और इस विजय मोर्चे पर ऐतिहासिक भूमिका प्रस्तुत करने वाले महामानवों की अग्रगामी पंक्ति में उन्हें खड़ा देखने की ललक है।

इसलिए हर बार हम बिना उपहास एवं उपेक्षा का भय किये यह अनुरोध करते चले जा रहे हैं कि वे इ संधि बेला में हाथ पर हाथ रखकर न बैठें। कुछ तो क कोई सुने, चाहे न सुने हम बराबर यह कहते ही जाएँ ताकि हमारा यह न रहे कि समय रहते प्रिय परिजनों को उद्बोधन करने का कर्त्तव्य पालन नहीं किया था। जो निष्क्रिय बैठें रहेंगे, वे कुछ दिन बाद पश्चाताप करेंगे और एक अनुपम अवसर खो देंगे, सन्मार्ग की दिशा में साहसिकता का अभ्यास करने के लिए जैसा सुअवसर, मार्ग-दर्शन एवं सहयोग आज मिल रहा है कुछ दिन में वैसी स्थिति न रहेगी। अभी तो कंधे पर चढ़कर सैर की जा सकती है, पीछे अपने ही पैरों अपनी दिशा तलाश करते हुए आप चलना पडेगा। इसलिए कुछ कार्यक्रमो को सामने रखकर आशा यही की है कि युग निर्माण योजना

के सदस्य उपेक्षा न बरतेंगे वरन् उन्हें उत्साहपूर्वक कार्यान्वित करेंगे।

हमारा बौद्धिक क्रान्ति अभियान दो भागों में विभक्त है। (१) विचार पक्ष, (२) क्रिया पक्ष। विचार पक्ष को अभियान और क्रिया पक्ष को आन्दोलन भी कहा जा सकता है। विचार पक्ष की चर्चा पहले की जा चुकी है। क्रिया पक्ष पर अगले पृष्ठों पर प्रकाश डाला जा रहा है। गाड़ी के दो पहियों की तरह विचार और क्रिया दोनों के ही समन्वय से नव-निर्माण की महान् प्रक्रिया सुसम्पन्न हो सकेगी।

दोनों पक्षों के ७-७ कार्यक्रम हैं। यज्ञ में सात वृक्षों की समिधाएँ प्रयुक्त होती है, हवन में सबसे पहले सात आहुतियाँ घी की डाली जाती हैं, अग्नि की सात जिह्वा मानी गई हैं। महागायत्री में भू, भुव, स्व, तप: मह: जन: सत्यम् यह सात व्याहृतियाँ जुड़ी हैं। सविता देवता के रथ में सात अश्व हैं, ये सात रंगों की सात किरणें फेंकते हैं, महाकाल सात दिनों की परिधि में गतिशील हो रहा है, सप्त ऋषियों ने समस्त विश्व में सद्ज्ञान का अमृत बरसाया। अपने कार्यक्रम में भी सप्तसूची हैं। यों सप्तसूत्री युग निर्माण योजना का अति व्यापक क्षेत्र है और उसके अन्तर्गत हर योग्यता और हर परिस्थिति का व्यक्ति नव निर्माण के लिए कुछ न कुछ कर सकता है। यह सप्तसूत्री योजना अपने परिजनों के लिए है और इसलिए है कि इसे अगले कुछ वर्षों में ऐसा साकार सक्रिय बना दिया जाय कि पीछे वह अपने आप अपने ढंग से युग परिवर्तन का लक्ष्य पूरा होने तक गतिशील रह सके।

बौद्धिक क्रान्ति का विचार पक्ष सात कार्यक्रमों में विभक्त है और क्रिया पक्ष के भी सात ही विभाग रखे गये हैं। यह १४ कार्यक्रम समुद्र मंथन से निकले हुए १४ रत्नों की तरह हैं। उन्हें उपलब्ध करके मानव जाति देवताओं जैसा ऐश्वर्य प्राप्त कर सकने में समर्थ होगी। विचार पक्ष के अन्तर्गत (१) झोला पुस्तकालय, (२) विज्ञप्ति वितरण, (३) आत्म-निर्माण, (४) परिवार निर्माण (५) पर्व और त्यौहारों का पुनरुत्थान, जन्म दिवस एवं विवाह दिवसों का प्रचलन, (६) धर्म समारोह, कथा प्रवचन, सम्मेलन, यज्ञ और विचार गोष्ठियों के द्वारा जन-जागरण, (७) कला प्रयोजन-संगीत, साहित्य और कला की त्रिवेणी का नव-निर्माण में उपयोग है। उसी प्रकार क्रिया पक्ष को भी सात विभागों में बाँटा गया है। (१) आदर्श विवाह (२) कुरीति निवारण, (३) शिक्षा अभिवर्द्धन, (४) स्वास्थ्य संरक्षण, (५) जीव दया, (६) सहकारिता, (७) प्रेरक मनोरंजन।

हम सब मिलकर इन १४ प्रवृत्तियो को बड़ी आसानी से गतिशील कर सकते हैं। अपना परिवार बहुत बड़ा है। उसमें लाखों व्यक्ति सम्मिलित हैं। हम लोग किसी भी आन्दोलन का सृजन और नेतृत्व कर सकते हैं और अपनी गतिविधियों को यदि उत्साहपूर्वक कुछ दिन जारी रख सकें तो उन्हें लोकप्रथा का रूप सहज ही प्राप्त हो सकता है। अपने परिवार की संख्या, प्रतिभा, प्रबुद्धता एवम् कर्मठता इतनी विशाल एवं ठोस है कि उसमें स्थान प्राप्त कर लेने वाला कोई भी क्रिया-कलाप जन-साधारण के लिए सहज ही अनुकरणीय बन सकता है। उपरोक्त १४ कार्यक्रमों को हम लोग सच्चे मन से अपनालें और उन्हें तत्परतापूर्वक कार्यान्वित करने लगें तो कुछ ही दिनों में उन्हें असंख्य व्यक्तियों द्वारा अपनाया जाने लगेगा। इतना बड़ा समूह निश्चित रूप से समाज की गतिविधियों को मोड़ने में एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सकता है। इस तथ्य को समझते हुए हम इन दिनों अपने समस्त परिजनों पर बहुत जोर दे रहे हैं कि ये कुछ तो करेंगे ही। एक घन्टा समय और बीस पैसा रोज भी यदि नव-निर्माण के लिए खर्च करते रहा जा सके तो उतने मात्र से वह सम्मिलित प्रयत्न जादू जैसा अचरज उत्पन्न कर सकता है। जो असम्भव दीखता है वह सहज साध्य बन सकता है।

प्रसुप्त जन-मानस को एक बार जगा दिया जाय, उसे अवांछनीय अविवेक से उत्पन्न विभीषिकाओं का परिणाम समझा दिया जाय तो कोई कारण नहीं कि विचारशील मानव प्राणी अपने हित का परित्याग कर अनहित को ही अपनाये रहे। नव-निर्माण की विचारधारा को व्यापक बनाने के लिए अपना झोला पुस्तकालय आन्दोलन महत्वपूर्ण भूमिका सम्पादन कर रहा था अब उसमें विज्ञप्ति वितरण योजना ने चार चाँद लगा दिये हैं। अनेक भाषाओं का आश्रय लिया जा रहा है। अपना साहित्य भारत की सभी भाषाओं में अनुवादित, प्रकाशित और प्रसारित हो सके इसके लिए ठोस आधार तैयार कर लिया गया है और यह प्रक्रिया तेजी से चल पड़ी है। विज्ञप्ति वितरण का कार्य अब लाखों लोगों तक नया प्रकाश पहुँचाने में समर्थ होगा। ज्ञान यज्ञ की किरणें नवप्रभात जैसी ज्योति से अपने देश तक ही सीमित रहने वाली नहीं हैं, वे समस्त विश्व को आलोकित करेंगी।

जैसे-जैसे परिजनों का उत्साह बढ़ता जाएगा ज्ञान यज्ञ की छह अन्य धाराएँ और भी तीव्रगति से कार्य करने लगेंगी, यों उनके सम्बन्ध में प्रयास अब भी चल रहा है। योजना का दूसरा चरण परिवर्तन को कार्य रूप मे प्रस्तुत करने का है। बदले हुए विचारों की गहराई इसी आधार पर परखी जा सकती है कि वे कार्यरूप में परिणत होते हैं या नहीं। गाय का मूल्य उसके दूध को देखकर निर्धारित किया जाता है। उत्कृष्टता की विचारधारा किसने कितनी अपनाई, इसकी परख उसके आदर्शवादी कार्यों को देखकर ही की जा सकती है।

परिवर्तन के उपयुक्त अति आवश्यक सुधारों में सर्व प्रथम 'विवाहोन्माद का उन्मूलन' आता है। यह प्रकट तथ्य है कि विवाह-शादियों में होने वाले अपव्यय ने अपने समाज की नैतिक और आर्थिक कमर तोड़कर रख दी है और सामाजिकता के मूलभूत आधारों को भारी क्षति पहुँचाई है। अपने गरीब देश की औसत आमदनी

अति स्वल्प है इस बढ़ी हुई महँगाई और बढ़ी हुई आवश्यकताओं को देखते हुए अधिकांश लोगों के लिए गुजर करना ही मुश्किल हो रहा है। जो बहुत कमा सकते हैं और बचा सकते हैं ऐसे लोग उँगलियों पर गिनने लायक हैं। सर्वसाधारण के लिए निर्वाह चलाना ही मुश्किल है। इस पर भी जब बच्चों की शादियाँ हजारों रुपये का अतिरिक्त खर्च माँगने आती हैं तब ईमानदारी से दिन काटने वाले को दम घुटने और प्राण निकलने जैसी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। विवाह इतने खर्चीले हो गये हैं कि बड़े आदमियों के लिए लाखों की और छोटों के लिए हजारों की जरूरत पड़ती है। पढ़े-लिखे लोगों में गरीबों जैसा विवाह भी दस-पाँच हजार से कम नहीं बैठता। जिस घर में ४-५ सुशिक्षित बच्चियाँ विवाह योग्य हैं वह पच्चीस पचास-हजार रुपया कहाँ से लावें।

कुछ भी किया जाय पर वर्तमान रूढ़िवादिता के अनुसार पैसा तो चाहिए ही। बिना पैसे के विवाह नहीं हो सकता। ऐसी दशा में बेईमानी, रिश्वत, चोरी, छल शोषण, कर्ज आदि साधन ही शेष रह जाते हैं, जिनसे पैसा जुटाया जाय। आज अपने समाज में लगभग हर व्यक्ति को यही रास्ते अपनाने पड़ रहे हैं और नैतिकता का दिवाला निकला जा रहा है। परिस्थितियाँ किसी को ईमानदार रहने नहीं दे रही हैं। विवाह के लिए खर्च तो चाहिए ही। कन्याएँ कुमारी बिठा कर नहीं रखी जा सकतीं। ईमानदारी से निर्वाह में अधिक मिल नहीं सकता, बचत की गुंजायश कहाँ है? ऐसी दशा में हर व्यक्ति को मजबूरी विवश करती है कि वह बेईमानी करे और अनीति के रास्ते अपनाकर चरित्र-भ्रष्टता को एक स्वाभाविकता एवं आवश्यकता के रूप में अपनाये। परिस्थितियाँ हमें नैतिक दृष्टि से दिवालिया बनाये दे रही हैं। अपराधी मनोवृत्ति पनप रही है और सामाजिक शान्ति तथा सुव्यवस्था में पलीता लग रहा है।

खर्चीले विवाह हमारी नैतिकता एवं सामाजिकता की जड़ें खोखली किये दे रहे हैं और पतनोन्मुख नागरिक शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा बनते चले जा रहे हैं। धर्म और अध्यात्म अब केवल विडम्बना मात्र रह गये हैं। जब कमाई में अनीति का सम्मिश्रण आवश्यक हो गया तो गीता, रामायण, कथा-कीर्तन, पूजन-दर्शन की विडम्बनाएँ एक मखौल मात्र ही बनेंगी। धर्म और अध्यात्म का उद्देश्य है जन-साधारण को सदाचारी और कर्त्तव्य परायण बनाना। जब वह उद्देश्य खर्चीली शादियों ने असम्भव बना दिया तो फिर ढोंग दिखाने से क्या लाभ? यदि वस्तुतः हम धर्म, अध्यात्म, नैतिकता, सामाजिकता और मानवता का कुछ मूल्य समझते हों तो हमें इस विवाहोन्माद के दलदल में कंठ तक फँसे हुए समाज का उद्धार करना होगा। इस कुप्रथा को इस युग की महती असुरता कहा जा सकता है। इसे रावण, कुम्भकरण, कंस, हिरण्यकश्यपु, वृत्तासुर, महिषासुर आदि से कम भयावह नहीं समझा जाना चाहिए और उस विभीषिका के उन्मूलन का हर सम्भव उपाय किया जाना चाहिए।

निर्धन भी जब अमीरी का ढोंग बनाये और शादियों में अमीरी का भौंड़ा प्रदर्शन करें तो उन्हें वज्र मूर्ख ही कहना चाहिए। गरेबान में मुँह डालकर हर व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति से सामने वाले की तुलना कर सकता है। फिर खर्चीली शादियों के द्वारा किसके सामने अमीरी जताने का ढोंग किया जाता है? लोग अपने बर्तन, कपड़े, जेवर, मकान, खेत बेचकर किसी प्रकार यह पैसा जुटाते हैं और एकाध शादी के बाद ही इतने खोखले और कर्जदार बन जाते हैं कि शेष बच्चों के विवाह करना उनके लिए अतीव कष्टकारक हो जाता है। आर्थिक दृष्टि से खोखले गृहस्थ अपने परिवार को शिक्षा, चिकित्सा, पौष्टिक आहार जैसी आवश्यकताओं से भी वंचित रह जाते हैं और उस घर के अभाव एवं असुविधाओं से भरी दीन-हीन परिस्थितियों में जिन्दगी काटने के लिए विवश होना पड़ता है। २० हजार शादी का औसत माना जाय और ४ विवाह भी एक गृहस्थ को करने पड़े तो १ की पूँजी ऐसे ही बारूद की तरह उड़ जाती है। यदि यह पैसा शिक्षा, चिकित्सा, पौष्टिक आहार, व्यापार आदि में लग सका होता तो उस घर की आर्थिक स्थिति काफी सुधरी हुई होती और यह परिवार काफी समृद्ध, सुसंस्कृत और सुविकसित दीखता। पर किया क्या जाय हत्यारी खर्चीली शादियाँ जोंक की तरह हर परिवार का खून पी रही हैं। हड्डियाँ मात्र शेष रहती हैं। रक्त-माँस को तो विवाह ही चट कर जाते हैं। हमारी एक तिहाई कमाई शादियों में खर्च होती है। ऐसे दशा में आर्थिक स्थिरता और उन्नति के सपने कौन देखेगा? हमें अनन्त काल तक दरिद्रता के पाश में जकड़ा रहना पड़ेगा। खर्चीले विवाह हमें कभी चैन की रोटी न खाने देंगे।

यह परिस्थितियाँ आज की विवेकशीलता को चुनौती देती हैं कि वे इस हत्यारी कुप्रथा का उन्मूलन करने के लिए रोषपूर्वक उठ खड़े हों और इसको जड़-मूल से उखाड़ कर ही चैन लें। कन्या और पुत्रों के अन्तर, सुयोग्य कन्याओं का अयोग्य एवं वृद्धों के साथ गठबन्धन, कन्या विक्रय, आजीवन कुमारी रहना, व्यभिचार, गर्भपात, आत्महत्याएँ आदि न जाने कितनी-कितनी विडम्बनाएँ पैदा होती हैं। आये दिन ऐसी घटनाएँ सुनने में आती हैं कि एक वधू को मारकर दूसरी शादी में फिर दहेज पाने का व्यापार कितने ही शैतानों द्वारा चलाया जाता है। घृणा और द्वेष, शोषण और उत्पीड़न के साथ आरम्भ होने वाले विवाह सम्बन्धों के विष-बीज, खाई चौड़ी ही करते चले जाते हैं। कन्या के तथा उसके अभिभावकों के मन से यह घाव आजीवन नहीं पुरता कि उसके परिवार को निर्दयतापूर्वक निचोड़ा गया। जहाँ घृणा भरी हो वहाँ प्रेम, सम्मान एवं सद्भावना का दिखावटी प्रदर्शन ही हो सकता है। अन्तरंग में द्वेष एवं रोष ही भरा रहेगा।

समय आ गया है कि इस खर्चीली विवाह प्रणाली का आमूलचूल परिवर्तन किया जाय और उसके स्थान पर ऐसे आदर्श विवाहों का प्रचलन किया जाय जिनमें अनावश्यक रूप से एक पाई भी खर्च न हो। वरपक्ष वाले दहेज न माँगे और कन्या पक्ष जेवरों से इनकार करे। बारात बहुत थोड़ी कुटुम्बियों मात्र की हो। गाजे-बाजे की,धूमधाम की कोई जरूरत न रहे और वह उत्सव एवं धार्मिक कर्मकाण्ड तथा छोटे पारिवारिक समारोह की तरह बिलकुल सादगी के वातावरण में सम्पन्न हो जाएँ।

दहेज माँगने वाले वरपक्ष को समझाया जाना चाहिए कि इस कुचक्र में झूठी शेखी और शान के अतिरिक्त और कुछ हाथ लगने वाला नहीं है। बेकार का लंगड़ खंगड़, फर्नीचर, पलंग आदि जगह घेरते हैं। न बिकते हैं न उपयोग में आते हैं। उपयोग की आवश्यक चीजें पहले ही घर में मौजूद थीं- इन्हें खरीदने में बेटी वाले का प्राण निकल जाता है और बेटे वाले का घर घिरता है। जो कपड़े, मिठाई आदि मिले वे इधर-उधर बँट गये। जितना पैसा मिला जेवरकपड़ों में उड़ गया। बारात की सजावट, गाजे-बाजे, दावत, नेग-जोग, अलन-चलन के लिये घर से लगाना पड़ा। सच्चाई यह है कि हर बेटे वाले को दहेज से अधिक ही खर्च करना पड़ता है। कुछ न कुछ जेब से ही लगता है । दूसरे का दिवाला पिट गया, अपने हाथ भी कुछ लगा नहीं, कसाइयों में गिने गये सो अलग ऐसी झूठी शेखीखोरी से क्या लाभ? इसे छोड़ देने में क्या हर्ज? समझाया जाय तो हर बेटे वाला इस बुद्धिसंगत बात को मान सकता है।

कन्या पक्ष को समझाया जाना चाहिए कि जेवर, कपड़ा, बारात, गाजे-बाजे, दरवाजे की शोभा को प्रत्यक्ष परोक्ष माँग करके लड़के वाले को दिवालिया बनाने का जाल न रचे। इन चीजों की माँग की जाएगी तो बेचारा लड़के वाला भी उसे कहाँ से जुटाएगा? उसे दहेज की माँग करनी पड़ेगी और अन्ततः वह चोट अपने ही ऊपर आयेगी। लगता भर है कि धूमधाम और गाजे-बाजे का, जेवर और कीमती कपड़ों का खर्च लड़के वाला उठाता है वस्तुतः यह भार भी अपने ही ऊपर पड़ता है इसलिये क्यों तो उन्हें ऐसा खर्च करने के लिए मजबूर किया जाय और क्यों अपने सिर पर चोट सही जाय? कसूर दोनों का है। एक पक्ष जेवर और धूमधाम माँगता है दूसरा दहेज। दोष किसी का कम नहीं। तराजू के पलड़ों में इन दिनों दोनों ही बराबर बैठे हैं। जेवर प्रत्यक्ष रूप से पैसे की बर्बादी हैं। वह घर में रखा रहे तो भी कूड़े की तरह है। आधा पैसा तो मिलावट, नगीना, मीना और मजूरी में चला जाता है। आधी कीमत की जो चीज रह जाती है वह भी तुरन्त बेची नहीं जा सकती, जो पैसा कर्ज लेकर ब्याज देकर जेवर में फँसाया गया है वह थोड़े दिनों में डूब ही जाएगा। इधर जेवर की टूट-फूट होगी उधर ब्याज चढ़ेगा। दोनों में घटी होती जाएगी और कुछ दिन में मूल धन गुम जाएगा। जेवर लड़के वाले के घर रहें या लड़की वाले के । यदि अपना फालतू पैसा उनमें नहीं लगा है, काम रोककर या उधार लेकर उन्हें बनाया गया है, तो यह पैसे की प्रत्यक्ष बर्बादी है। इसी तरह टुन-पुन टुन-पुन नेग-जोग जिनमें मिठाई, मेवा-कपड़े उपहार इधर से उधर दौड़ाये जाते हैं। उनसे बनता किसी का कुछ नहीं बर्बादी प्रत्यक्ष है। इसलिए जब सफाई करनी है तो इन अलग-चलनों को भी झाड़-बुहारकर कूड़े के ढेर पर फेंक देना चाहिए।

सुधार एक ओर से नहीं दोनों ओर से होगा और साथ-साथ ही होगा। दहेज बन्द हो जाय और जेवर तथा धूमधाम का खर्च होता रहे यह नहीं हो सकता। इसी प्रकार दहेज मिलता रहे और लड़की वाले के दरवाजे पर अमीरी जताने का खर्चीला स्वाँग न करना पड़े यह भी न हो सकेगा। चलेंगी तो दोनों प्रथाएँ चलती ही रहेंगी। समाप्त होंगी तो दोनों एक साथ ही बन्द होंगी। अपनी आदर्श विवाहों की योजना में उभयपक्षीय सुधार जोड़कर रखा गया है। अलन-चलन बन्द। जिस दिन विवाह पक्का हो उस दिन एक रुपया दक्षिणा और थोड़ी मात्रा में फल-मिठाई। यही बात ज्यों की त्यों लड़के वाले की ओर से लड़की वाले के यहाँ पक्की की रस्म के रूप में। वर के लिए मध्य मूल्य के कपड़े और एक अँगूठी कन्या की ओर से । कन्या के लिए मध्य मूल्य के कपड़े और एक अँगूठी वर की ओर से। बारात में कुटुम्बी मात्र जिनकी संख्या बीस से अधिक न हो। गाजे-बाजे बन्द। अति सादगी से सभ्य अतिथियों की तरह बारात का आगमन। प्रेम-पूर्वक परस्पर परिचय, मिलन और हर्षोत्सव। शास्त्रोक्त विवाह संस्कार। लगभग इसी परिधि में आदर्श विवाहों की रूपरेखा रहेगी। बर्बादी दोनों ओर की बचेगी। किसी को भी अनावश्यक भार प्रतीत न होगा। विवाहों का प्रचलन इसी रूप में रहना चाहिए। परस्पर उपहारों का आदान-प्रदान होना हो तो वह विवाह के कई महीने बाद होना चाहिए और उसकी चर्चा अथवा प्रदर्शन का विषय बिलकुल भी न बनने देना चाहिए। सारी आग तो प्रदर्शन लगाता है। उसने यह दिया-उसने यह लिया, इसको जन-चर्चा और प्रदर्शन का विषय बनाया जाता है, तभी प्रतिस्पर्धा बढ़ती है और माँगें की जाने लगती हैं। यदि प्रदर्शन को सर्वथा अमान्य कर दिया जाए तो लालच के वशीभूत होकर दूसरे की बर्बादी पर तुले रहने का वर्तमान दुराग्रह सहज ही बन्द हो सकता है।

विचार-क्रान्ति आन्दोलन के सप्त-सूत्री कार्यक्रमों में सबसे पहला काम 'विवाहोन्माद का उन्मूलन और आदर्श विवाहों का प्रचलन' हाथ में लिया गया है। शरीर में कई रोग हों तो सबसे पहले प्राणघातक का इलाज कराया जाता है। छुट-पुट रोगों से पीछे भुगतते रहने की बात सोची जा सकती है। खर्चीले विवाहों की कुप्रथा अपने समाज की अति भयानक बीमारी है। उसने प्रत्येक सद्गृहस्थ को बुरी तरह आतंकित कर रखा है। छोड़ना

और तोड़ना उसे सभी चाहते हैं पर इस कुचक्र में से निकलने का रास्ता नहीं मिलता। अकेले आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं पड़ती। लोग क्या कहेंगे, घर-पड़ौस में निन्दा होगी, दकियानूसी स्त्रियाँ और बूढ़े जान को आ जाएँगे, यह सोचकर मनुष्य हिम्मत हार जाता है। दूसरा पक्ष भी सुधारवादी नही मिलता। चक्रव्यूह में फँसा हुआ व्यक्ति सुधार की बात सोचते हुए भी अभिमन्यु की तरह घिरा होता है और मूढ़ता के प्रतीक बने रूढ़िवादी सेनापतियों द्वारा बेचारा व्यक्ति और गरीब परिवार बुरी तरह मारा जाता है। लाठी, बरछों से लैस बधिक जिस प्रकार सुअर को घेरकर उस पर चारों ओर से प्रहार करते हुए मारते हैं और चीं-चीं चीत्कार करता हुआ निरीह जानवार जैसे अपने प्राण गँवाता है उसी प्रकार वर्तमान विवाहोन्माद में बेचारे गृहस्थ का कचूमर बनाया जाता है। बाहर से उत्सव भीतर से चीत्कार। कैसी घृणित और वीभत्स प्रथा काल पाश की तरह हमारे गले में लिपट गई है? सयानी लड़कियाँ इस बर्बादी का कारण अपने आपको देखती हैं तो उनकी आत्मा रो पड़ती है। बाप का घर बर्बाद करके विवाह करना उन्हें इतना भारी पड़ता है कि कुछ कह तो नहीं सकतीं पर भीतर ही भीतर सिसक-सिसक कर रोती हैं कि हे भगवान हमे इस हत्यारे हिन्दू समाज में पैदा करने की अपेक्षा ईसाई, मुसलमानों या किसी और देश में पैदा किया होता तो इस पिशाचपन के साथ तो विवाह का हर्षोत्सव जुड़ा न मिलता। सारी दुनिया में घूम आइये, सारे धर्म सम्प्रदायों को ढूँढ़ डालिए यह बर्बादी की प्रथा कहीं भी न मिलेगी। लगता है सारी मूढ़ता और सारा पिछड़ापन दुनिया भर से इकट्ठे होकर हमारे ही सिर पर जमा हो गये हैं। दुनिया हँसती है बातें तो धर्म, अध्यात्म, दर्शन और शानदार अतीत एवं इतिहास की करते हैं-बड़प्पन की डींगें तो बड़ी-बड़ी मारते हैं पर आचरण ऐसे घृणित करते हैं कि एक स्वर से धिक्कार ही जिन पर बरसाई जा सके। अपने मन से ही हम बड़े बनते हैं। कुप्रथा और कुरीतियों की मूढ़मान्यताओं ने वस्तुत: हमें सभ्य संसार के सामने धूर्त और ढोंगियों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया है।

समय आ गया है कि इस गलित कुष्ठ की चिकित्सा करने के लिए कुछ बड़े और साहसपूर्ण कदम उठाये जाएँ । यही किया भी जा रहा है। युग-निर्माण योजना परिवार के हर सदस्य का आह्वान किया जा रहा है कि वह विचार क्रान्ति के मोर्चे पर जूझने के लिए कमर कसकर सामने आये और विवाहोन्माद के असुर पर तीखे प्रहार करे। लड़के वालों को उसमें पहल करनी पड़ेगी। क्योंकि दोष भी अधिक उन्हीं का है और ज्यादा बदनामी भी उन्हीं की है। अपनी कालिमा पहले उन्हें भी धोनी चाहिए। जिसके लड़के विवाह योग्य है, उन्हें प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि हम युग निर्माण योजना की आदर्श विवाह पद्धति से ही विवाह करेंगे और इसकी सूचना अपन विवाह योग्य बच्चों को दे देनी चाहिए। इसी प्रकार जो लड़के विवाह योग्य हो गये हैं और जिनके अन्त:करण में विवेकशीलता एवं आदर्शवादिता सघन हो गई है उन्हें निश्चय करना चाहिए कि हमें केवल आदर्श विवाह पद्धति ही स्वीकार है। इसकी सूचना अपने अभिभावकों को दे देनी चाहिए और फिर अन्त तक उस पर दृढ़ रहना चाहिए । लड़की वालों को इसमें कुछ विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए। दहेज माँगने वालों को बर्बाद करने के लिये चिढ़कर ही वे जेवर, धूमधाम आदि की माँग करते हैं। 'अपनी नाक जब कटी तो सामने वाले की क्यों बचे' वाली कहावत के अनुसार ही वे बेटे वालों को वह मुफ्त का माल बर्बाद करने की माँग करते हैं। जब सज्जनता और सहानुभूति की भावभरी आधारशिला रखी जाने लगी तो बेटी वाले भी जेवर, कीमती कपड़े और धूमधाम की माँग क्यों करेंगे? वे भी बुद्धि रखते हैं, वस्तुस्थिति को समझते हैं। इसलिए उनको आदर्श विवाह पद्धति के स्वीकार करने में कोई कठिनाई न होनी चाहिए।

आलोक वितरण की विशाल योजना

कोई समय था जब वक्ताओं और गायकों के दर्शन जब कभी होते थे। उन्हें सुनने के लिए कौतूहलवश कहिए या धर्म-चेतना के साथ जुड़ी हुई पुण्य प्रक्रिया के कारण लोग दौड़ पड़ते थे। कथा-वार्ताओं में अच्छी भीड़ होती थी। कीर्तनों में ठठ्ठ जुड़ जाते थे। कर्म-काण्डों की विचित्रता देखने तथा दर्शन का पुण्य लूटने के उद्देश्य से ऐसे किसी भी आयोजन में अच्छी-खासी भीड़ होती थी।

पर अब वह जमाना पलट गया। गधे वाले ट्रांजिस्टरों को गधों की गरदन में लटकाकर उनकी पीठ पर बैठे हुए फिल्मी गानों का मजा लूटते हैं। उनका स्वर भी मीठा होता है और बाजों में भी बहुरंगी स्वर । न पैसा चढ़ाना पड़ता है न समय खर्च करना पड़ता है। कंधे पर थैले की तरह लटका हुआ ट्रांजिस्टर उठने से लेकर सोने तक एक से एक आकर्षक गायन और प्रवचन सुनाता रहता है। ऐसी दशा में ग्रामीण क्षेत्रों में कथावाचकों के प्रति वैसा आकर्षण नहीं रहा जैसा कभी रहता था। फिल्मी गानों के सामने रामधुन को कौन सुने? ऐसी दशा में एक बड़ी समस्या उस वर्ग के सामने भी आ उपस्थित हुई है जो विचारक्रान्ति को अपने समय की विकृतियों का एकमात्र उपचार मानते हैं।

अब मंच भरे रहने और पांडाल खाली रहने का समय आ गया है। नेता बहुत, श्रोता कम। सभा-सम्मेलनों के जिन्हें आयोजन करने हैं उनके लिए जनता को इकेट्ठा करने के पुराने तरीके अब बेकार हो गये। कभी लाउड स्पीकर पर एलान करा देने और पर्चे बाँट देने से जनता बड़ी-संख्या में एकत्र हो जाती थी। पर अब बीड़ी के,

दवाओं के विज्ञापन दिन पर दिन बढ़ते जा रहे हैं और लाउडस्पीकरों पर सिनेमा वालों के एलान गली, मुहल्लों में होते रहते हैं। इसलिए उनकी ओर कोई ध्यान भी नहीं देता फिर जनता की मनोवृत्ति ऐसी हो गई है कि जब तक कोई प्रख्यात वक्ता या गायक मंडल न आवे तब तक सुनने में वक्त बर्बाद करने के लिए कोई तैयार नहीं होता। आर्थिक तंगी की तरह समय की तंगी भी लोगों को कम नहीं है। घर में बैठकर रेडियो या टेलीविजन सुनने-देखने का अवसर मिल जाता है तो घर से बाहर रहकर काम-धंधे का हर्ज और परिवार वालों के आक्रोश का सामना कौन करे? ऐसी दशा में सामान्य स्तर के प्रचारकों द्वारा प्रज्ञा अभियान जैसे आदर्शवादी विषयों के लिए विचारशील श्रोता. कहाँ से जुटें? कैसे जुटें? यह एक असाधारण संकट उपस्थित हो गया है। कभी समय था, जब कांग्रेस के जुलूसों में हजारों की उपस्थिति साधारण सूचना पर हो जाती थी। पर अब तो रैलियों के लिए बेकारों की भीड़ जुटाने में भी १० से लेकर २० रुपये तक प्रति दर्शक खर्च करना पड़ता है। जो लोग सभा-सम्मेलन का प्रबंध करते रहते हैं, वे भी जानते हैं कि भव्य पंडाल बनाने, पर्चे, पोस्टर, बैनर, बोर्ड, होर्डिंग्स लगाने और ऐलान आदि की भरमार करने में हजारों की राशि खर्च होती है अन्यथा वक्ता आ विराजते हैं सुनने वालों की प्रतीक्षा ही रहती है। यह परिस्थिति अन्य प्रचारकों की भाँति प्रज्ञा अभियान की विचार क्रान्ति के संदर्भ में भी उपस्थित हो जाती है। यदि हम जब सम्पर्क नहीं साधते, वाणी का उपदेश नहीं करते तो अशिक्षित देश में मुट्ठी भर शिक्षितों तक ही मिशन के विचार सीमाबद्ध होकर रह जाते हैं। पढ़े लोगों में भी कम ही ऐसे होते हैं जिन्हें विचारणा और भावना से सम्बन्धित विषयों को पढ़ने में रुचि हो। अधिकांश लोग तो मनोरंजन और घटिया चीजें ही माँग-जाँचकर पढ़ लेते हैं या उनके लिए यदा-कदा थोड़ा-बहुत पैसा खर्च करते हैं। इन कठिनाइयों के बीच हमें मिशन का कार्य कैसे व्यापक बनाना चाहिए, यह एक बहुत ही पेचीदा प्रश्न है?

जहाँ तक मिशन के साहित्य का प्रश्न है वह असाधारण रूप से प्राणवान है। उसे शिक्षित समुदाय में पढ़ने और वापिस लेने का क्रम प्रत्येक परिजन को निजी रूप से चलाना चाहिए। यह झोला पुस्तकालय योजना है। मिशन का नाम लिखे झोलों में फोल्डर ट्रैक्ट या छोटी पुस्तकें विचारशील लोगों तक पहुँचाने और वापिस लेने का क्रम निरन्तर चलता ही रहना चाहिए। एक क्षेत्र का शिक्षित समुदाय समाप्त हो जाय तो दूसरा क्षेत्र हाथ में लेना चाहिए। इस प्रकार अपना श्रमदान देकर जन सम्पर्क साधना और अपने ज्ञानघट में प्रतिदिन बीस पैसे जमा करके उसके द्वारा नया साहित्य खरीदते रहने का क्रम चल सकता है। लोकरुचि ऐसी नहीं है जो इसे खरीदे। इसे थोपना, लादना और अपने व्यक्तिगत प्रभाव, आग्रह-अनुरोध का प्रयोग करना पड़ता है। तब झोला पुस्तकालय की प्रवृत्ति को सफलता मिलती है। लोग अपनी ओर से पूछेंगे या माँगेंगे, इसकी आशा करना समय को देखते हुए निरर्थक है।

जहाँ शाखा संगठन हैं, जहाँ प्रज्ञा पीठ हैं, जहाँ सुरुचि सम्पन्न लोग बसते हैं वहाँ ज्ञानरथ चल पुस्तकालय भी सफल हो जाते हैं। लोगों तक पढ़ने के लिए पहुँचाने और जो रुचि लें उन्हें बेच देने का क्रम चलता रहता है।

जहाँ धार्मिक मेले या सामाजिक आयोजन हों, विचारशीलों की उपस्थिति सम्भव दीखती हो वहाँ साहित्य का स्टाल भी लगाया जा सकता है। बेचने की शैली आती हो तो उपयुक्त व्यक्तियों को आकर्षित करके उनकी इच्छा से कहीं अधिक साहित्य भी बेचा जा सकता है।

अपने माल के साथ जो ग्राहकों को मिशन की सेवा करने की दृष्टि से इस साहित्य को अनिच्छा होने पर भी आग्रहपूर्वक बेचते रहें, ऐसे लोग भी विचार परिष्कार के महान उद्देश्य में भागीदार बन सकते हैं।

अब प्रवचन का, गायन का प्रश्न सामने आता है। मिशन के गीतों के एक से एक आकर्षक टैप बनाये गये हैं, उन्हें टैप रिकार्डरों के माध्यम से प्रातःकाल के शान्त वातावरण . में मंगल प्रभाती की तरह सुनाया जा सकता है। यह प्रणाली शान्तिकुञ्ज में प्रातःकाल चलती है। उसे दूर-दूर तक के लोग सुनते और प्रभावित होते हैं। किसी आयोजन के आरम्भ में जनता को बुलाने के लिए यह क्रम चलाया जाता है। दूसरे लोग ग्रामोफोन के फिल्मी रिकार्ड बजाकर अपनी दुकान की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करते रहते हैं। हम टैप रिकार्डर और लाउडस्पीकर के माध्यम से इस प्रणाली को विचार परिष्कार प्रयोजन के लिए प्रयोग कर सकते हैं। घरों पर जाकर भी-मुहल्लों के लोगों को एकत्रित करके भी इस गायन-वादन का सुगम तरीका काम में लाया जा सकता है। किसी ऊँचे स्थान पर शक्तिशाली चोंगे लगाकर लाउडस्पीकर कस दिया जाय व सीमित समय तक निश्चित रूप से बजाया जाय तो उसकी आवाज पूरे मुहल्ले या गाँव भर को भावोद्वेलित कर सकती है। किसी को यह कहने का अवसर भी न मिलेगा कि शोर मचाकर ध्वनि प्रदूषण किया जा रहा है।

टैपों के संगीत के अतिरिक्त प्रज्ञा पुराण की कथाओं के विभिन्न विषयों के प्रवचनों के कैसेट भी बनाये गये हैं। उन्हें यज्ञों के लिए, दीक्षा के लिए, गायत्री चालीसा, गायत्री स्तवन, आरती आदि के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इनके प्रयोगों के लिए आवश्यक नहीं कि जन समुदाय एकत्रित ही किया जाय। रास्ता चलते लोग भी थोड़ा रुककर इस सत्संग का लाभ ले सकते हैं।

अब नयी योजना के अनुसार सारे देश में-एक वर्ष में एक लाख यज्ञ आयोजन होने हैं। ये पर्वों पर व प्रज्ञा

आयोजनों पर भी होते रह सकते हैं एवं जन्मदिवस व साप्ताहिक गोष्ठियों में भी। साथ ही कैसेट के माध्यम से हमारे केन्द्र द्वारा उच्चारित संगीत मिश्रित २४ गायत्री मन्त्रों का सामूहिक उच्चारण नित्य हर घर में होने लगे, ऐसी योजना बनी है। वास्तविकता का वातावरण बनाने एवं आद्यशक्ति का सन्देश जन-जन तक पहुँचाने के लिए इसे एक महत्वपूर्ण कदम मानना चाहिए।

अब यंत्र मानव मनुष्यों जैसी स्थानापन्न भूमिका निभाने लगे हैं। इस संदर्भ में प्रज्ञा अभियान के दो निर्धारण हैं जिनमें से एक है स्लाइड प्रोजेक्टर, दूसरा है वीडियो के द्वारा दृश्य श्रव्य प्रदर्शन। प्रथम को प्रकाश चित्र यंत्र भी कहा जा सकता है। इसमें जीवन से संबंधित सभी पक्षों के प्रतिगामिता विरोधी और प्रगतिशीलता संबंधी समर्थ घटनापरक दृश्य सिनेमा की तरह दीख पड़ते हैं। वक्ता उनकी व्याख्या करता चलता है। इस प्रकार एक प्रकार से देहाती सिनेमा जैसा माहौल बन जाता है। मुहल्ला-पड़ौस के दर्शक इसे रात्रि के समय देखने के लिए सहज ही आ उपस्थित होते हैं। लोगों को सूचना भर दे देने से वे एकत्रित हो जाते हैं और प्रचार का सारा उद्देश्य एक ही पूरा कर देता है। इसका प्रकाश बल्ब वहाँ आसानी से जलने लगता है जहाँ बिजली पहुँच चुकी है।

अब वीडियो यंत्र बोलते रंगीन सिनेमा का काम आसानी से कर लेते हैं। अपने आस-पास से ही टेलीविजन और वी.सी.पी.का प्रबन्ध कर लिया जाय तो हरिद्वार से भेजे वीडियो कैसेट से हमारे व माताजी के प्रवचन, मनभावन संगीत तथा मिशन की व्यापक गतिविधियों और संभावनाओं की जानकारी भली प्रकार दी जा सकती है। इस दृश्य दर्शन से रंगीन बोलते सिनेमा का आनन्द कहीं भी उठाया जा सकता है। हरिद्वार से अभी कैसेट भेजने भर का प्रयत्न हो पाया है। जहाँ ये आयोजन हुए हैं, सब ने इस माध्यम को सराहा है।

प्रचार के दो माध्यम ऐसे हैं, जिनमें जन-साधारण को एकत्रित करने में अतीव सुविधा होती है। जन्म दिवसोत्सव मनाने की पद्धति अब एक प्रकार से अनिवार्य कर दी गई है। हर वरिष्ठ प्रज्ञा पुत्र को अपना जन्मदिन मनाना चाहिए। महिला मंडल की कोई वक्ता हो तो वह प्रचलन नारी समाज में भी चल सकता है और नारी समाज से सम्बन्धित समस्याओं पर प्रकाश डालने वाली परिपाटी को कार्यान्वित किया जा सकता है।

जन्मदिन मनाने की परिपाटी अत्यन्त सरल है। इस अवसर पर एक छोटा एक कुण्डीय गायत्री हवन कर लिया जाय। जिन पाँच तत्वों से शरीर बना है उन पाँचों की प्रतीक प्रतिमा चावलों की ढेरी से बनाई जा सकती है। हवन के उपरान्त वह व्यक्ति एक सद्गुण की मात्रा बढ़ाने का संकल्प करे। उपस्थित लोग आशीर्वाद की पुष्प वर्षा करें। प्रणाम-अभिवादन का क्रम चलें। हवन करने की विधि सभी परिजनों को सीख लेनी चाहिए और उसी के सहारे जन्मदिन से लेकर बालकों के, बड़ों के अन्य सब संस्कारों की समयानुसार विधा पूरी कर लेनी चाहिए। इस प्रकार मिल-जुलकर किये मंत्रोच्चारणों से आनन्द भी अधिक आता है और बार-बार के अभ्यास से उसकी प्रवीणता भी परिपक्व होती है। इसी अवसर पर २४ गायत्री मंत्रोच्चारण की सामूहिक प्रक्रिया भी अपनाई जा सकती है।

जन्मदिन या बालकों के जन्मदिन, नामकरण, अन्न-प्राशन, मुण्डन, विद्यारंभ, यज्ञोपवीत आदि कराने के लिए इसी पद्धति को काम में लाया जा सकता है। अपने मित्र-परिचितों, पड़ौसी-संबंधियों को एकत्रित कर लिये जाने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इस निमित्त उपस्थिति भी इतनी हो जाती है कि आँगन भर जाता है। उसी में स्थानीय प्रचार मण्डली भजन-कीर्तन आदि का उत्साहवर्द्धक माहौल बना सकती है। इस अवसर पर जीवन को प्रगतिशील बनाने वाले अनेक पक्षों को प्रकाश में लाया जा सकता है। आतिथ्य में पानी और सौंफ, सुपाड़ी के अतिरिक्त और कुछ प्रयोग न करने का प्रतिबन्ध पहले से ही लगा दिया है। जिससे किसी भी गरीब-अमीर की विषमता पैदा न हो और हर किसी के लिए घर-घर में परिवार गोष्ठियों की व्यवस्था कर सकता है। परिवार निर्माण की सभी समस्याओं को इन आयोजनों में अदलते-बदलते हुए उजागर किया जा सकता है। इसमें पुरानी सांस्कृतिक परम्परा का पुनर्जीवन भी है और जिसका संस्कार किया जाता है उस बालक को या उसके अभिभावकों को एक प्रकार से 'हीरो' बनने का अवसर मिलता है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक सामूहिक समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिए पर्व-त्योहार मनाने की विधा है। देश के विभिन्न भागों में अपने-अपने प्रचलनों के अनुसार त्योहार मनाने का महत्व है। जहाँ जिसे प्रमुखता दी जाती है, छुट्टी जैसी स्थिति रहती हो उस दिन उस पर्व को सामूहिक रूप से मनाया जाय। प्रत्येक त्योहार पर सब लोग परस्पर अभिवादन-अभिनन्दन करने के बहाने आपस में बार-बार मिलते-जुलते रहें। तो उससे आत्मीयता बढ़ती है और किसी कारणवश मनोमालिन्य हो गया हो तो उसकी गाँठ खुलने का अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त सामान्य विषयों पर सामाजिक समस्याओं पर इस माध्यम से प्रकाश डालने का अवसर भी मिलता है।

हिन्दू समुदाय में अनेक पर्व-त्योहारों का प्रचलन है। उनके पीछे उद्देश्यों का समावेश है। लोग उसे तो भूल गये हैं। केवल पक्वान्न-मिष्ठान्नों को पकाने-खाने, देवी-देवताओं की पूजा-पत्री कर देने भर का प्रचलन रह गया है। इस खर्चीली व्यवस्था का कम से कम इतना तो लाभ मिलना चाहिए कि उस दिन सभी ग्रामवासी अथवा मुहल्ले के लोग एकत्रित होकर कुछ ऐसा प्रबंध करें कि विचार क्रान्ति का प्रचलन इस माध्यम से चल पड़े और

प्रतिगामिता से पिण्ड छूटता चले। सामूहिक पर्वोत्सवों का प्रवाह चलते रहने से लोगों को प्रमुदित होने और अभीष्ट प्रेरणाएँ लेते रहने का दुहरा लाभ मिलता है। इस प्रयोग को गायत्री परिवार के संगठन अपने यहाँ से आरंभ कर दें तो उसका अनुकरण अन्यत्र भी होने लगेगा। इस प्रकार एक लाख यज्ञायोजनों का लक्ष्य इस माध्यम से सहज ही पूरा हो जाएगा।

प्रज्ञा प्रशिक्षण के दस विद्यार्थियों में से पाँच की एक मण्डली तो हर साल निकलती रह सकती है और उससे समीपवर्ती कई लोगों की आवश्यकता पूरी करती रह सकती है। हर वर्ष प्रशिक्षित होने वाली प्रचारक मंडलियों द्वारा प्रज्ञा प्रशिक्षण का संगठन अपने समीपवर्ती गाँवों में थोड़े-थोड़े पर्व संस्कार मनाते रहने की व्यवस्था बनाकर पूरे मण्डल का जनजागरण प्रयोजन पूरा कर सकता है और सच्चे अर्थों में 'मण्डलेश्वर' कहला सकता है। फिर यह नाम निरर्थक न रहकर सार्थक सिद्ध होने लगेगा।

प्रत्येक संस्कार और पर्व का अपना-अपना महत्व है। उन्हें जान लेने पर अपने ढंग से उनकी व्याख्या-विवेचना होती रह सकती है। संस्कारों के प्रकरण में समझा जाना चाहिए कि गर्भ स्थापना के तीसरे महीने पुंसवन संस्कार होता है। इस अवसर पर धार्मिक वातावरण में गर्भिणी का आहार-विहार और मानसिक उल्लास बनाये रहने के लिए समूचे परिवार को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। यह काम अकेली गर्भवती नहीं कर सकती । उसके आहार-विहार की व्यवस्था में परिवार के लोगों का सहयोग न मिले तो वह बेचारी अकेली क्या करे। गर्भकाल के समय मन, मस्तिष्क में उच्च विचारों का स्वाध्याय-सत्संग के माध्यम से प्रवेश होता रहे तो अभिमन्यु की तरह, सीता के लव-कुश की तरह उच्च विचारों का प्रभाव संतान पर पड़ना स्वाभाविक है।

नामकरण में ऐसा नाम रखा जाना चाहिए जो किसी महामानव से संगति खाता हो अथवा किसी गुण या घटना से, पुष्प से मिलता-जुलता रहना चाहिए, ताकि उसे प्रयोग में आते रहने पर आत्मिक महत्ता का, गरिमा का स्मरण आता रहे। दूसरे लोग उस नाम से उच्चारण करें तो भी उसका निरन्तर प्रभाव पड़ता रहे।

अन्नप्राशन संस्कार को छोटा बच्चा तो नहीं समझता पर उसके घर वाले तो समझते हैं। उन सब को बच्चे के आहार का स्तर एवं अनुपात का स्मरण कराया जाय। बड़ों के और छोटों के आहार में कितना अन्तर होना चाहिए और समय तथा मात्रा में क्या अन्तर रखा जाना चाहिए, इस अवसर पर न केवल आहार का वरन् वस्त्रों की स्वच्छता एवं अन्य आदतों के संबंध में बहुत कुछ बताया जाना चाहिए। हममें से बहुत कम लोग इस प्रसंग को सांगोपांग समझ पाते हैं। इस कमी को अन्नप्राशन संस्कार के समय पर दिये गये प्रशिक्षण द्वारा दिया जाता है।

मुण्डन संस्कार वस्तुतः शिखा स्थापना का संस्कार है। शिखा एक स्थापना है। शिखा सद्विचारों की – गायत्री के तत्वदर्शन की प्रतीक है। इस अवसर पर परिवार वालों को यह सिखाया जाना चाहिए कि बच्चा छोटी आयु में ही वातावरण के संस्कारों का प्रभाव ग्रहण करने लगता है। इसलिए उसे दुलार और सुधार के दोनों ही पक्षों से लाभ मिलता रहे, ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए। मुण्डन बहुत ही छोटी आयु में नहीं करना चाहिए क्योंकि बालों से मस्तिष्क की सर्दी-गर्मी आदि से रक्षा होती है। इसके लिए तीसरा वर्ष उत्तम है।

बच्चे के चार-पाँच वर्ष के होने पर उसका स्कूली विद्यारंभ संस्कार कराया जाना चाहिए। इससे पूर्व घर पर उसे वस्तुओं के, अंगों के, बर्तनों के, रिश्तों के परिचय कराते हुए भिन्नता बताते हुए बालस्तर का ज्ञान अभिवर्द्धन कराते रहना चाहिए।

स्कूली शिक्षा आरम्भ करते समय अबोध बालक को नहीं उसके परिवार को यह प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए कि पढ़ाई नौकरी को लक्ष्य रखकर नहीं कराई जानी चाहिए। बच्चा नौकरी करेगा, साहब बनेगा। कुर्सी-मेज पर बैठकर कलम घिसेगा और आये दिन के ट्रांसफरों में जगह-जगह चूल्हे काले करते फिरेगा। ऐसी दशा में यह उत्तम है कि पैतृक धंधे को ही बढ़ाया जाय या कुटीर उद्योगों में से किसी को अपनाया जाय। शहरों की ओर भागने की अपेक्षा ग्रामीण जीवन हजार दृष्टि से अच्छा है, भले ही वहाँ कम आमदनी में ही गुजारा क्यों न करना पड़े?

बाल संस्कारशालाओं के रूप में स्कूली शिक्षा के समानांतर दूसरी पढ़ाई भी चलनी चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि मात्र स्कूलों में भर्ती पर निश्चिन्त हो जाया जाय और जिन सद्गुणों का अभ्यास आरम्भ में ही कराया जाना आवश्यक है उनकी उपेक्षा की जाने लगे। बाल संस्कार शालाएँ हर आयु के बच्चों के लिए खुलनी चाहिए। उसकी व्यवस्था यदि परमार्थ बुद्धि से न हो सके तो इस स्तर के अध्यापकों का कुछ घंटे का समय, पैसा देकर खरीदना चाहिए। जिस प्रकार बालकों के अन्न, वस्त्र का प्रबंध किया जाता है उसी प्रकार आरंभ से ही उनमें सुसंस्कारिता का बीजारोपण करने के लिए भी प्रयत्न करना और खर्च उठाना चाहिए।

इसके बाद यज्ञोपवीत, विवाह और वानप्रस्थ संस्कार आते हैं। मरणोत्तर श्राद्ध की परम्परा है। यह तीनों संस्कार शान्तिकुंज जैसे गायत्री तीर्थ में कराए जाएँ तो उसमें अनावश्यक खर्च भी न पड़ेगा और उन संस्कारों के साथ जिस उत्कृष्टता एवं जिम्मेदारी की अन्तराल में स्थापना आवश्यक है, वह सुयोग भी मिल सकेगा। उन्हें भी स्थानीय क्षेत्र में कराना चाहें तो वह सभी संस्कार उच्चकोटि के हैं, जिनके साथ अनेक महत्वपूर्ण दायित्व जुड़ते हैं। उनकी व्याख्या, विवेचना एवं स्थापना का प्रबंध प्रभावशाली एवं भावभरे वातावरण में होना चाहिए।

पारिवारिक शिक्षण के लिए उपरोक्त सभी संस्कारों के साथ भावभरा प्रशिक्षण जुड़ा हुआ है। इन्हें चिह्न-पूजा की तरह नहीं निपटा दिया जाना चाहिए वरन् यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह प्रशिक्षण मात्र परिवार वालों को ही नहीं वरन् उपस्थित सभी लोगों को प्रभावित करे और वे भी अपने घरों में उन कर्त्तव्यों के पालन की प्रेरणा प्राप्त करें।

अब पर्व-त्योहारों की बात आती है। उनकी चिह्न पूजा नहीं होनी चाहिए वरन् स्थानीय लोगों में से जितने अधिक लोगों को एकत्रित कर सकना संभव हो उनसे मिल-जुल कर व्यक्तिगत रूप से सम्मिलित होने का आमंत्रण देना चाहिए। अब व्यक्तिगत अनुरोध ही सामूहिक आयोजनों में सम्मिलित करने का एकमात्र उपाय रह गया है। लोग अनायास ही प्रवचन सुनने आने लगें, अब इसका समय एक प्रकार से गुजर ही चुका है। टोलियाँ बनाकर कार्यकर्ता गाँव या नगर को खण्डों में विभाजित करके निमंत्रण हेतु वहाँ पहुँचें और आग्रहपूर्वक सम्मिलित होने का आमंत्रण दें। वह छपा हुआ हो या मौखिक, यह अपनी स्थिति पर निर्भर है।

दिवाली लक्ष्मी-पूजन का पर्व है। उस दिन दो तथ्यों पर प्रकाश डाला जाय कि ईमानदारी और मेहनत के साथ कमाया जाय और नितान्त आवश्यकता के लिए ही उसे खर्च किया जाय। यह तथ्य हर किसी के गले उतरे कि फिजूलखर्ची, फैशन, ठाटबाट, दुर्व्यसन, अहंकार प्रदर्शन में कुछ भी खर्चा न जाय, इस प्रसंग में विस्तारपूर्वक उपस्थितजनों को समझाया जाना चाहिए। लक्ष्मी का माता के समान सम्मान किया जाय। उसका दुरुपयोग न हो यह तथ्य हर किसी के गले उतारा जाय।

दिवाली के दूसरे दिन गोवर्धन पूजा होती है। गोधन को ही वास्तविक धन माना जाय। अन्य पशुओं की तुलना में गाय की विशेषता संबंधी जो तथ्य हैं उन्हें समझाया जाय। इसके बाद दौज को भाई-बहिन के टीके करने का त्योहार आता है। बहिन-बेटी पराये घर चली जाती है तो भी भाई को उसका समुचित ध्यान रखने, कठिन समय में साथ देने, आत्मीयता को शिथिल न होने देने की बात को मन में भी धारण किया जाय और वाणी से भी वैसा ही आश्वासन दिया जाय। प्रतीक रूप में जो व्यवहार प्रचलित है उतने भर से बात को समाप्त न किया जाय वरन् बहिन को भली प्रकार विश्वास दिलाया जाय कि विवाह के बाद उसे पितृगृह से निर्वासित नहीं किया गया, वरन् कठिन समय पर वह द्वार उसके लिए आजीवन खुला रहेगा।

देव उठनी एकादशी उन दिनों उत्साहपूर्वक मनाई जाती थी, जिन दिनों पुलों की, सड़कों की व्यवस्था नहीं थी और वर्षा के जल से सारे रास्ते बंद हो जाते थे। आवागमन रुक जाता था। देव उठनी एकादशी में मार्ग खुल जाते थे और लोग अपने आवश्यक कार्यों के लिए निकल पड़ते थे। अब वैसी कठिनाई नहीं रही। इसलिए उसकी उपयोगिता कम हो गई है। उससे तीन दिन पहले गोपाष्टमी होती है। सभी अपनी गौओं को सजाकर जुलूस रूप में निकालते थे और गाय की महत्ता का भाव जन-जन के मन में उठाते थे। शीत ऋतु सम्मेलनों, आयोजनों के लिए अधिक उपयुक्त मानी जाती है। इसलिए कार्तिकी पूर्णिमा पर गढ़ मुक्तेश्वर, बटेश्वर, हरिद्वार आदि में मेले लगते थे। अन्य नदी-सरोवरों के किनारे भी देश भर में ऐसे मेलों का प्रचलन है। इन्हें क्षेत्रीय धर्म सम्मेलनों की संज्ञा दी जा सकती है। लोग उस अवसर पर एकत्रित होकर सामयिक समस्याओं का, धर्म, समाज और सदाचार संबंधी उत्पन्न अड़चनों का निवारण करने के लिए अनेकानेक योजनाएँ बनाते थे। इन अवसरों पर बड़े सम्मेलन समारोह सफलतापूर्वक सम्पन्न भी हो जाते हैं।

मार्गशीर्ष सुदी एकादशी गीता जयन्ती है। उसी दिन भगवान ने अर्जुन को गीता के कर्मयोग का उपदेश दिया था। उस दिन कर्मयोग की महत्ता तथा गूढ़ता से जनमानस को प्रभावित किया जाय।

पौष को मलमास माना जाता है इसलिए उस महीने में कोई विशेष पर्व नहीं है। मकर संक्रान्ति किसी साल पौष में, किसी साल माघ में पड़ती है उस दिन लोक-सेवी साधु-ब्राह्मणों के लिए दाल-चावल निकाल कर देव स्थान में संग्रह किया जाता था। धर्म पुस्तकें दान करने की मकर संक्रान्ति के दिन पुरानी परिपाटी है।

माघ सुदी पंचमी को वसन्त पर्व है। यह सरस्वती का जन्म दिन है। सरस्वती शिक्षा और कला की देवी है। उसके एक हाथ में पुस्तक दूसरे में वीणा है। यह शिक्षा और कला के प्रतीक हैं। मयूर वाहन में चित्रकला का संकेत है। वसंत ऋतु का उस दिन से आरम्भ होता है इसलिए उसका नाम वसंत पंचमी रखा गया है। उस दिन कितने ही शिक्षापरक समारोह होते हैं।

गायत्री परिवार का वह जन्मदिन है। उसी पर्व से उसके प्रायः सभी महत्वपूर्ण कार्य आरम्भ हुए हैं इसलिए प्रज्ञा अभियान का यह वार्षिकोत्सव माना जाता है। उसी दिन अगले वर्ष के लिए प्रायः सभी प्रज्ञा परिजन अधिक अंशदान, अधिक समयदान का संकल्प करते हैं और मिशन के कार्यों को अधिक उत्साहपूर्वक करने के निमित्त नई योजनाएँ कार्यान्वित करते हैं।

फाल्गुन वदी चतुर्दशी को शिव चतुर्दशी माना जाता है। उस दिन रात्रि जागरण करके लोग भजन-कीर्तन में समय लगाते हैं। शिव आदर्शवादिता की प्रत्यक्ष प्रतिमा हैं। गले में मुण्डमाला और मरघट में निवास, भस्मधारण, यह तीनों ही प्रसंग इस बात का स्मरण दिलाते हैं कि मृत्यु को भूला न जाय। जीवन के महत्वपूर्ण अवसर को व्यर्थ में न गँवाया जाय। शिवजी के मस्तिष्क पर चन्द्र स्थापित है और सिर में से ज्ञान गंगा निकलती है। यह मानसिक श्रेष्ठता को बनाये रहने का उद्बोधन है हाथ में त्रिशूल का अर्थ है अभाव, अशान्ति और अज्ञान का विच्छेदन। कमर में व्याघ्र चर्म लपेटने का अर्थ है दुष्ट-दुरात्माओं की चमड़ी उधेड़ लेना।

शिवरात्रि के उपरान्त होली आती है इसके कई प्रयोजन हैं। एक तो वार्षिक नवान्न यज्ञ। कच्चे अन्न को होला कहते हैं। सभी लोग अपने खेतों से नवान्न लायें, मिल-जुल कर हवन करें और इस भावना को पुष्ट करें कि पहली कमाई यज्ञ के लिए, बचा हुआ अपने लिए। दूसरे होली के साथ प्रह्लाद की कथा जुड़ती है कि नीति और न्याय के लिए आयु या संबंधों की दृष्टि से बड़ों की भी उपेक्षा की जा सकती है। तीसरे मिल-जुलकर सफाई करना और कूड़ा-कचरा जला देना। स्वच्छता का पर्व भी होली को माना गया है।

चैत्र में नवीन संवत्सर से लेकर रामनवमी तक नवरात्रियाँ होती हैं। इस अवसर पर उपासक नवरात्रि अनुष्ठान करते हैं। विक्रमी संवत्सर और रामनवमी दोनों ही इसी बीच आ जाते हैं। राम जन्मोत्सव भी बहुत जगह धूमधाम से मनाया जाता है। चैत्र शुक्ल पक्ष पूर्णिमा हनुमान जयंती है। हनुमान भक्त इसको भी पर्व मानते हैं।

वैसाखी संक्रान्ति का पर्व पंजाब में विशेष रूप से मनाया जाता है। मकर संक्रान्ति को उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में बड़ा पर्व माना जाता है।

ज्येष्ठ सुदी दशमी को गंगा दशहरा भी है और गायत्री जयन्ती भी। उसी दिन गंगा का अवतरण हुआ। उसी दिन आदिशक्ति ज्ञान गंगा गायत्री जन्मी। इस पर्व पर सभी तटों पर भारी भीड़-भाड़ होती है। लोग श्रद्धापूर्वक सरिता में स्नान करते हैं।

आषाढ़ सुदी एकादशी को देवशयन होता है अर्थात् वर्षा आरंभ का यह पर्व माना जाता है। पूर्णिमा को व्यास पूर्णिमा या गुरु पूर्णिमा का त्यौहार है। व्यासजी ने साहित्य सृजा था। सत्संग अनुशासन के रूप में गुरु अपने शिष्यों को सन्मार्ग पर चलाते हैं। इसी दिन गुरु पूजन करने या गुरु दक्षिणा देने, गुरु के समक्ष संकल्प लेने का भी त्योहार है।

श्रावणी अमावस्या को हरियाली अमावस्या कहते हैं और शुक्ल पक्ष की तीज को हरियाली तीज। यह समय हरीतिमा संवर्द्धन का है, वृक्षारोपण का। इन दिनों वर्षा के कारण सर्वत्र हरियाली छाई रहती है। झूला झूलने के रूप में स्त्रियाँ गायनवादन करती हैं।

श्रावण शुक्लपक्ष की पूर्णिमा उपनयन पर्व है। उस दिन पुराना यज्ञोपवीत बदला और नया धारण किया जाता है। यज्ञोपवीत गायत्री का रूप है। उसकी तीन ग्रन्थियाँ भूः भुवः स्वः के रूप में व्याहृतियाँ हैं। गायत्री में तीन चरण और नौ शब्द हैं। यही गायत्री वेद माता है। इसलिए वेद पूजन या वेदारम्भ के लिए भी यही मुहूर्त है। गुरु शिष्यों की कलाई में रक्षा सूत्र बाँधते हैं और बहिनें भाइयों के हाथ में राखी बाँधती हैं। यह समर्थ का असमर्थ को आश्वासन है कि वह अपनी सामर्थ्य रहते दुर्बल पक्ष पर कोई अनीति न होने देगा।

श्रावणी पर्व पर श्राद्ध तर्पण का भी विधान है और हेमाद्रि संकल्प का भी। इस संकल्प का तात्पर्य है गत वर्ष बन पड़े दुष्कर्मों का प्रायश्चित्य और भविष्य में वैसा न होने देने का निश्चय।

भाद्रपद वदी अष्टमी कृष्ण जन्माष्टमी है। उस दिन कृष्ण जन्म हुआ था। इस दिन भी लोकाचार के अनुरूप कृष्ण प्रतिमा को झूला झुलाने एवं कृष्ण जीवन से ली जा सकने वाली शिक्षाओं से सर्वसाधारण को अवगत कराया जाता है।

आश्विन कृष्ण पक्ष के पन्द्रह दिन पितृपक्ष माने जाते हैं। जिन के पूर्वजों का देहावसान जिस तिथि को हुआ था उस दिन उसके निमित्त श्राद्ध-तर्पण किया जाता है। अमावस्या को भूले-बिछुड़े सभी पितृगणों का एक ही दिन श्राद्ध-तर्पण किया जाता है।

यह अमावस्या कृतज्ञता पर्व है। अभिभावकों, गुरुजनों एवं मित्र-सहयोगी जिनका भी कोई अहसान अपने ऊपर रहा है। उसके प्रति कृतज्ञता, श्रद्धा व्यक्त करने के लिए जलांजलि दी जाती है।

आश्विन प्रतिपदा से नवमी तक आश्विन नवरात्रि का पर्व है। इस अवधि में गायत्री महामंत्र के नौ दिवसीय चौबीस हजार के अनुष्ठान किये जाते हैं। अष्टमी को दुर्गा अष्टमी मानते हैं और दशमी को राम विजय का दशहरा। इसलिए अस्त्र-शस्त्रों की पूजा होती है। व्यायामशालाओं के जुलूस निकलते हैं। प्रतियोगिताएँ होती हैं। जिन दिनों राजा-सामन्तों की धूम थी, उन दिनों प्रजा और राजा का मिलन भी होता था। इस पर्व के साथ गुँथे हुए कई प्रसंगों की चर्चा हो सकती है। दुर्गा संघ शक्ति है। देवताओं की संयुक्त शक्ति से प्रजापति ने दुर्गा को सृजा था। उसने महिषासुर आदि दुर्गुणों के प्रतीक दुर्जनों का वध किया था। इन दिनों उपरोक्त सभी बातों पर प्रकाश डालने वाला उत्सव मनाया जा सकता है।

आश्विन सुदी पूर्णिमा को शरद पूर्णिमा कहते हैं। इस रात्रि को चन्द्रमा पूर्ण कलाओं के साथ खिलता है। आकाश स्वच्छ रहने से प्रकाश में तीव्रता और शीतलता बढ़ जाती है। इसे अन्य सब पूर्णिमाओं से बढ़कर आदर दिया जाता है।

कार्तिक वदी में त्रयोदशी को धन्वन्तरि जयन्ती, चतुर्दशी को छोटी दिवाली, अमावस्या को दिवाली कहते हैं। इस समय सूर्य और चन्द्र का अभाव हो जाने पर दीपकों ने मिलकर अमावस्या के सघन अन्धकार से लोहा लिया था। इसलिए इसे दीपकों का विजय पर्व भी कहते हैं। घर-घर दीपक जलाते हुए इस भावना को परिपक्व कर सकते हैं। प्रतिपदा को कृष्ण ने ग्वालवालों की सहायता से भारी पर्वत सरलतापूर्वक उठाकर दिखाया था। यह भी संयुक्त शक्ति की महत्ता का प्रतिपादन है।

यह उत्तर भारत में प्रचलित कुछ सर्वविदित प्रचलित पर्वों की चर्चा हुई। इसके अतिरिक्त देश के अन्यान्य भागों में अनेक धर्म-सम्प्रदायों में प्रचलित अनेक त्योहार हैं। उन्हें भी मिल-जुलकर मनाने से सामूहिक सद्भाव बढ़ता है और सर्व धर्म समन्वय की भावना को बल मिलता है।

अवतारों की, ऋषियों की, महामानवों की जन्म तिथियाँ मनाई जाती हैं। मरण दिन मनाने का प्रचलन नहीं है क्योंकि भारतीय धर्म की मान्यताओं के अनुरूप आत्मा की कभी मृत्यु नहीं होती। मात्र आवश्यकतानुसार नये वस्त्रों की तरह नया शरीर बदलता रहता है। यही कारण है कि पितृ पक्ष में श्राद्ध परम्परा के अतिरिक्त अन्य महामानवों के मरण दिन मनाये जाने की प्रथा नहीं है। व्रत-उपवास के भी अनेकों दिन हैं। ये विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार से मनाये जाते हैं। जैसे कार्तिक वदी चतुर्थी को स्त्रियाँ पति की मंगल कामना के लिए व्रत-उपवास करती हैं। ऐसे अवसरों पर पतियों को भी पत्नी के मंगल कामना के लिए साथ-साथ व्रत-उपवास करना चाहिए और पतिव्रत धर्म की तरह पत्नी व्रत धर्म के पालन हेतु भी व्रत संकल्प लेने चाहिए।

मृतक की अन्त्येष्टि के समय पर भी चिता को यज्ञ वेदी मानकर हवन-सामग्री, सुगंधित द्रव्य, घी आदि समेत गायत्री मंत्र के साथ अग्निहोत्र में शरीर को समर्पण करना चाहिए। हिन्दू धर्म की इस प्रथा का महत्व इसलिए भी है कि एक ही छोटे मरघट में पीढ़ी-दर-पीढ़ी सैकड़ों-हजारों का संस्कार उतनी ही जगह में हो जाता है। अन्य धर्मावलम्बियों की तरह हर मृतक के लिए अलग-अलग जगह नहीं घेरनी पड़ती। इससे उपजाऊ प्रयोजनों में काम आने वाली भूमि का अपव्यय नहीं होता।

श्राद्ध परम्परा का प्रचलन इसलिए है कि वयस्क एवं स्वावलम्बी सन्तान को पूर्वजों की छोड़ी हुई कमाई को उन्हीं की सद्‌गति के निमित्त किन्हीं पुण्य-परमार्थ कार्यों में लगा देना चाहिए। असमर्थों, आश्रितों को ही पूर्वजों की उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ी गई गई सम्पत्ति का उपयोग करने का अधिकार है। समर्थों को उसे हराम की कमाई समझकर लोकोपयोगी सत्कर्मों में ही देने का विधान है।

आवश्यक नहीं कि यह सभी पर्व समारोहपूर्वक मनाये जाएँ और लोकशिक्षण का, सामूहिक हवन आदि का प्रबन्ध किया जाये। हिन्दू धर्म में इतने व्रत-त्योहार हैं कि उन्हें खोजने पर पूरा वर्ष ही इन तिथियों से भरा हुआ मिलेगा। इनमें से गाँव विशेष के लिए यह तय कर लेना चाहिए कि कहाँ कौन से त्योहार को समारोहपूर्वक मनाया जाय? इस प्रकार बारी-बारी हर गाँव में कई-कई त्योहार मन जाया करेंगे। एक ही तिथि के लिए सब लोग अपने-अपने यहाँ के लिए आग्रह करें तो यह व्यवहारतः सम्भव न होगा। अच्छा यही है कि इनमें से मिल-जुल कर कोई किसी पर्व को समारोहपूर्वक मना लिया करें। घरेलू रीति से पकवान्न-मिष्ठान्न बनाने में और देवपूजा करके चिह्न पूजा कर लेने में तो कोई हर्ज है नहीं।

उपरोक्त सभी पर्व-त्योहार शुभ मुहूर्त माने गये हैं। उस दिन कोई भी शुभारम्भ किया जा सकता है। अनेक प्रयोजनों के लिए के लिए अलग-अलग मुहूर्त बनवाने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक ही तिथि में बहुत से विवाह होने से बाजे वाले, हलवाई, वाहन मिलने कठिन हो जाते हैं। रेल-मोटरों में भी भारी भीड़ हो जाती है। इसलिए जब जिन्हें जिस पर्व पर विवाह आदि संस्कार करने की सुविधा हो तभी मुहूर्त तय कर लेने चाहिए। यों भगवान के बनाये सभी दिन शुभ कर्मों के लिए शुभ हैं। फिर भी उपरोक्त पर्व-त्योहारों के दिन अधिक शुभ और उत्साहवर्द्धक माने गये हैं।

साल भर में एक बार शान्तिकुंज, हरिद्वार और शाखा संगठनों के मिलने की पृथक योजना है। इसके लिए पहले से किसी पर्व की तारीख नियत नहीं की जा सकती है क्योंकि आयोजन सम्बन्धी सभी सामान लाद कर जीप गाड़ियाँ चलती हैं; और उनका क्रम एक प्रवास चक्र के अनुसार बनाया जाता है ताकि एक कार्यक्रम से दूसरे की दूरी बहुत अधिक न हो।

क्रम इस प्रकार रहता है कि प्रातःकाल चलकर दोपहर तक गाड़ी अगले नियत कार्यक्रम पर पहुँच जाती है। भोजन, विश्राम के बाद कार्यकर्ता आपस में वार्तालाप करते हैं। साल भर के कार्यों की रिपोर्ट पूछते हैं। अगले दिन कार्य क्या किया जाना चाहिए ? इस पर चर्चा करते हैं। रात को सार्वजनिक कार्यक्रम होते हैं जिसमें चार गायकों का और एक वक्ता का जत्था होता है।

रात्रि को संगीत प्रवचन के अतिरिक्त ऐसा प्रबन्ध भी रहता है कि वीडियो कैसेट या स्लाइड प्रोजेक्टर दिखाये जा सकें। जहाँ बिजली का प्रबन्ध है और टी. वी. तथा वी.सी.पी. का इन्तजाम हो जाता है वहाँ वीडियो कैसेट दो दिन दिखाये जाते हैं। इनमें हमारे प्रवचन, संगीत तथा मिशन की गतिविधियों का, अब तक का तथा भावी योजनाओं का स्वरूप दिखाया जाता है।

जहाँ टी.वी. और वी. सी. पी. का स्थानीय प्रबंध नहीं हो पाता वहाँ नई किस्म के स्लाइड प्रोजेक्टर से ५ फुट चौड़े और ५ फुट लम्बे पर्दे पर प्रकाश चित्र दिखाने और टैप रिकार्डर पर प्रवचन गीत आदि सुनने का प्रबन्ध कर दिया जाता है।

दूसरे दिन प्रातःकाल यज्ञ, यज्ञोपवीत आदि संस्कार, दोपहर को सभी विशिष्ट परिजनों से भेंट-वार्ता, प्रश्नोत्तर का क्रम चलता रहता है। रात्रि को फिर पिछले रात की भाँति संगीत, प्रवचन, प्रकाश चित्र आदि का प्रबन्ध होता है। इस प्रकार जहाँ प्रज्ञा प्रशिक्षण चल रहे हैं। उनका निरीक्षण-जहाँ नहीं चले हैं वहाँ की स्थापना करते हुए वह दिन पूरा कर लिया जाता है। तीसरे दिन फिर प्रातः काल जीपगाड़ी अगले कार्यक्रम के लिए रवाना हो जाती है। इस प्रकार पूरे वर्ष प्रवास क्रम चलता रहता और वर्ष में एक बार सभी शाखाओं में मिशन का जत्था पहुँच सके और प्रत्यक्ष परामर्श से गतिविधियों का तारतम्य सही रीति से बन पड़े इसकी व्यवस्था हो जाती है।

एक दूसरा निर्धारण यह है कि देश के प्रत्येक गाँव में जीप गाड़ियों के प्रचारकों द्वारा सम्पूर्ण भारत की

परिक्रमा ही नहीं एकोएक गाँव तक सन्देश पहुँचाने का व्रत पूर्ण किया जाय। यह इतनी बड़ी धर्म प्रचार की तीर्थ यात्रा है जितनी अब तक कहीं भी, कभी भी सम्पन्न नहीं हुई। तीर्थयात्राओं की परिक्रमा से इतना भर होता रहा है कि लोग एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ तक सीधे मार्ग तक पहुँचें और बीच में दायें-बायें छूटते गाँवों की उपेक्षा करते गये। जबकि होना यह चाहिए कि तीर्थयात्रा प्रचलन की सुनियोजित प्रक्रिया के अन्तर्गत एक भी छोटा-बड़ा गाँव बचना नहीं चाहिए था। धर्मधारणा के विस्तार प्रचलन हेतु विस्तृत तीर्थयात्रा का क्रम ही होना चाहिए। फिर अब तो युग परिवर्तन का प्रश्न है। जन-जन के मन-मन तक युग चेतना का आलोक पहुँचाने का प्रश्न है। घर-घर अलग जगाने की योजना है। इसकी पूर्ति तभी हो सकती है जबकि वर्तमान शाखा संगठन अपने-अपने क्षेत्र में इस आलोक वितरण का उत्तरदायित्व सँभालें और अपने यहाँ के कार्यक्रम पूरा कराने के अतिरिक्त अपने क्षेत्र और हर गाँव में महाकाल का संदेश पहुँचाने के लिए प्रयत्न करें।

यह कार्य देखने में कठिन मालूम पड़ता है पर वस्तुतः वैसा दुरूह है नहीं। प्रज्ञा परिवार के अब तक २४ लाख परिजन हैं। १ लाख प्रज्ञापुत्र, २४०० प्रज्ञापीठ और १२ लाख स्वाध्याय मण्डल। यदि वे मृतक हैं तो यह भी विदित हो जाएगा कि इन अर्द्धमृतकों की दवादारू, उपचार प्रक्रिया और सेवा-सहायता की बात ही सोचनी चाहिए। यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उनसे कुछ अपेक्षा रखी जा सकती है। इनके माध्यम से कोई बड़ा काम बन सकता है। यदि हम सब अपंग या शिशु की स्थिति में रह रहे हैं तो भी तथ्यों का उजागर होना उचित है। मिथ्या आशा से निराशा अच्छी। यदि इनमें जीवन है तो यह कार्य कठिन नहीं होना चाहिए कि अपने समीपवर्ती क्षेत्रों में मिशन का - लाल मशाल का प्रकाश वितरण करने में जीवन्तों और भावनाशीलों जैसा योगदान दें। अपने क्षेत्र के निकटवर्ती गाँवों में से प्रत्येक में एक-एक सफल आयोजन सम्पन्न करके रहें। मस्तिष्क यदि इस प्रकार का ताना-बाना बुनने लगे तो ऐसे अनेकों उपाय सूझने लगेंगे, ऐसे अनेकों सहयोगी मिलने लगेंगे जो इस धर्म चेतना की तीर्थयात्रा को सफल बना कर रहें।

इस प्रयोजन के लिए गायकों, वादकों, वक्ताओं, ड्राइवरों, प्रकाश चित्र यन्त्र, स्लाइड, प्रोजेक्टरों की मरम्मत करने वाले, हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषा-भाषी ऐसे पुरुषों की आवश्यकता पड़ेगी जो अपनी प्रामाणिकता, श्रमशीलता और लगन से पुरातन काल के बौद्ध भिक्षुओं की तुलना कर सकें। आवश्यक नहीं कि ऐसे समयदानी अपना पूरा जीवन ही इस निमित्त लगा दें। न्यूनतम एक एक वर्ष का व्रत लेकर निकल पड़ने वाले समयदानियों से भी गाड़ी चलती रहती है और प्रचार कार्य में जो कठिनाइयाँ अभी दीखती हैं वे समय आने पर सभी सरल हो सकती हैं।

पुरुषों की भाँति यह प्रचार कार्य महिलाओं से भी होना है। इसके लिए ढलती आयु की शिक्षित और मुखर नारियाँ भी प्रज्ञा प्रशिक्षण की स्थापना और विचार गोष्ठियों के उद्‌बोधन से उस पिछड़े हुए वर्ग को आगे बढ़ा सकती हैं।

इतने बड़े देश को पिछड़ेपन से ऊँचा उठाकर प्रगति से संबंधित अनेकों कार्य करने हैं। उन्हें करने के लिए लोगों में परमार्थ भावना को नवजीवन देना आवश्यक है। यह कार्य धर्मधारणा को व्यापक बनाये बिना और किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता। अशिक्षा, बेकारी, गरीबी, कुरीति, पिछड़ापन, अस्वस्थता आदि को मिटाने के लिए हमें बहुत कुछ करना है और जिनमें जीवन तत्व मौजूद है, उनसे बहुत कुछ कराना है। यह प्रक्रिया प्राणवान जनसम्पर्क साधे बिना और किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकती।

कार्य बड़ा है। इतना बड़ा जिसकी सामान्य स्तर के लोग कल्पना तक नहीं कर सकते। बड़े व्यक्ति चाहिए, बड़ी लगन और बड़े साधन इनका जुटना अभी तो कठिन ही दीखता है। पर यह क्षुद्रता में लिप्त हेय लोगों के लिए कठिन है। जिन्होंने भगवान की कृपा और उसका चमत्कार देखा, सुना और जाना है उनके लिए हनुमान जैसे अशिक्षित और साधनविहीन के द्वारा पर्वत उठाने और समुद्र लांघने जैसे असंभव कार्यों पर अविश्वास नहीं होना चाहिए।

यह विश्व के इतिहास में अभूतपूर्व समय है। इसके सामने उपस्थित संकटों से निपटना और उसके स्थान पर सतयुग जैसे वातावरण का नया सृजन भी कठिन प्रतीत भर होना चाहिए। उस असंभव को संभव हो सकने में कुछ ऐसा नहीं है जिसे अतिरंजित कहा जा सके।

आशा की गई है युग तीर्थयात्रा के लिए जिन साधनों की कमी पड़ रही है वे भी असंभव न बने रहेंगे और ऋषि रक्त जिनमें मौजूद है उनमें ऐसे लोग भी निकलेंगे जो उपरोक्त महान कार्य का दायित्व सँभालते हुए अपनी महानता सिद्ध कर सकें। प्रवास पर जाने वालों के लिए एक महीने का प्रशिक्षण नितान्त आवश्यक है। जो उसमें उत्तीर्ण होंगे उन्हें ही इतना भारी काम सौंपा जाएगा। जीप गाड़ी का ड्राइवर, तेल, भेजे हुए सामान की टूट फूट तथा भेजे गये कार्यकर्त्ताओं का मार्ग व्यय आदि में खर्च तो ज्यादा पड़ जाता है पर व्यवस्था ऐसी बनाई गई है कि जहाँ भी जीप गाड़ियाँ पहुँचें वहाँ से कुछ मार्ग व्यय मिल जाय तो किसी प्रकार काम चल जाएगा, न मिशन को ही बहुत घाटा पड़ेगा और न देने वालों को आपस में मिल-जुलकर इतने पैसे का प्रबंध करने में भारी पड़ेगा।

आयोजन अधिक दिनों का करना हो तो स्थानीय वक्ताओं तथा गायकों का ही प्रबंध करना चाहिए। इस प्रकार वह आयोजन कई दिन भी चलाया जा सकता है। हरिद्वार से हर गाड़ी को दो दिन का कार्यक्रम ही दिया गया है जिसमें से यह आधा दिन प्रवास में लगाएगी और

अवतारों की, ऋषियों की, महामानवों की जन्म तिथियाँ मनाई जाती हैं। मरण दिन मनाने का प्रचलन नहीं है क्योंकि भारतीय धर्म की मान्यताओं के अनुरूप आत्मा की कभी मृत्यु नहीं होती। मात्र आवश्यकतानुसार नये वस्त्रों की तरह नया शरीर बदलता रहता है। यही कारण है कि पितृ पक्ष में श्राद्ध परम्परा के अतिरिक्त अन्य महामानवों के मरण दिन मनाये जाने की प्रथा नहीं है। व्रत-उपवास के भी अनेकों दिन हैं। वे विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार से मनाये जाते हैं। जैसे कार्तिक वदी चतुर्थी को स्त्रियाँ पति की मंगल कामना के लिए व्रत-उपवास करती हैं। ऐसे अवसरों पर पतियों को भी पत्नी के मंगल कामना के लिए साथ-साथ व्रत-उपवास करना चाहिए और पतिव्रत धर्म की तरह पत्नी व्रत धर्म के पालन हेतु भी व्रत संकल्प लेने चाहिए।

मृतक की अन्त्येष्टि के समय पर भी चिता को यज्ञ वेदी मानकर हवन-सामग्री, सुगंधित द्रव्य, घी आदि समेत गायत्री मंत्र के साथ अग्निहोत्र में शरीर को समर्पण करना चाहिए। हिन्दू धर्म की इस प्रथा का महत्व इसलिए भी है कि एक ही छोटे मरघट में पीढ़ी-दर-पीढ़ी सैकड़ों-हजारों का संस्कार उतनी ही जगह में हो जाता है। अन्य धर्मावलम्बियों की तरह हर मृतक के लिए अलग-अलग जगह नहीं घेरनी पड़ती। इससे उपजाऊ प्रयोजनों में काम आने वाली भूमि का अपव्यय नहीं होता।

श्राद्ध परम्परा का प्रचलन इसलिए है कि वयस्क एवं स्वावलम्बी सन्तान को पूर्वजों की छोड़ी हुई कमाई को उन्हीं की सद्गति के निमित्त किन्हीं पुण्य-परमार्थ कार्यों में लगा देना चाहिए। असमर्थों, आश्रितों को ही पूर्वजों की उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ी गई गई सम्पत्ति का उपयोग करने का अधिकार है। समर्थों को उसे हराम की कमाई समझकर लोकोपयोगी सत्कर्मों में ही देने का विधान है।

आवश्यक नहीं कि यह सभी पर्व समारोहपूर्वक मनाये जाएँ और लोकशिक्षण का, सामूहिक हवन आदि का प्रबन्ध किया जाये। हिन्दू धर्म में इतने व्रत-त्योहार हैं कि उन्हें खोजने पर पूरा वर्ष ही इन तिथियों से भरा हुआ मिलेगा। इनमें से गाँव विशेष के लिए यह तय कर लेना चाहिए कि कहाँ कौन से त्योहार को समारोहपूर्वक मनाया जाय? इस प्रकार बारी-बारी हर गाँव में कई-कई त्योहार मन जाया करेंगे। एक ही तिथि के लिए सब लोग अपने-अपने यहाँ के लिए आग्रह करें तो यह व्यवहारतः सम्भव न होगा। अच्छा यही है कि इनमें से मिल-जुल कर कोई किसी पर्व को समारोहपूर्वक मना लिया करें। घरेलू रीति से पकवान्न-मिष्ठान्न बनाने में और देवपूजा करके चिह्न पूजा कर लेने में तो कोई हर्ज है नहीं।

उपरोक्त सभी पर्व-त्योहार शुभ मुहूर्त माने गये हैं। उस दिन कोई भी शुभारम्भ किया जा सकता है। अनेक प्रयोजनों के लिए के लिए अलग-अलग मुहूर्त बनवाने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक ही तिथि में बहुत से विवाह होने से बाजे वाले, हलवाई, वाहन मिलने कठिन हो जाते हैं। रेल-मोटरों में भी भारी भीड़ हो जाती है। इसलिए जब जिन्हें जिस पर्व पर विवाह आदि संस्कार करने की सुविधा हो तभी मुहूर्त तय कर लेने चाहिए। यों भगवान के बनाये सभी दिन शुभ कर्मों के लिए शुभ हैं। फिर भी उपरोक्त पर्व-त्योहारों के दिन अधिक शुभ और उत्साहवर्द्धक माने गये हैं।

साल भर में एक बार शान्तिकुंज, हरिद्वार और शाखा संगठनों के मिलने की पृथक योजना है। इसके लिए पहले से किसी पर्व की तारीख नियत नहीं की जा सकती है क्योंकि आयोजन सम्बन्धी सभी सामान लाद कर जीप गाड़ियाँ चलती हैं; और उनका क्रम एक प्रवास चक्र के अनुसार बनाया जाता है ताकि एक कार्यक्रम से दूसरे की दूरी बहुत अधिक न हो।

क्रम इस प्रकार रहता है कि प्रातःकाल चलकर दोपहर तक गाड़ी अगले नियत कार्यक्रम पर पहुँच जाती है। भोजन, विश्राम के बाद कार्यकर्ता आपस में वार्तालाप करते हैं। साल भर के कार्यों की रिपोर्ट पूछते हैं। अगले दिन कार्य क्या किया जाना चाहिए ? इस पर चर्चा करते हैं। रात को सार्वजनिक कार्यक्रम होते हैं जिसमें चार गायकों का और एक वक्ता का जत्था होता है।

रात्रि को संगीत प्रवचन के अतिरिक्त ऐसा प्रबन्ध भी रहता है कि वीडियो कैसेट या स्लाइड प्रोजेक्टर दिखाये जा सकें। जहाँ बिजली का प्रबन्ध है और टी. वी. तथा वी.सी.पी. का इन्तजाम हो जाता है वहाँ वीडियो कैसेट दो दिन दिखाये जाते हैं। इनमें हमारे प्रवचन, संगीत तथा मिशन की गतिविधियों का, अब तक का तथा भावी योजनाओं का स्वरूप दिखाया जाता है।

जहाँ टी.वी. और वी. सी. पी. का स्थानीय प्रबंध नहीं हो पाता वहाँ नई किस्म के स्लाइड प्रोजेक्टर से ५ फुट चौड़े और ५ फुट लम्बे पर्दे पर प्रकाश चित्र दिखाने और टैप रिकार्डर पर प्रवचन गीत आदि सुनने का प्रबन्ध कर दिया जाता है।

दूसरे दिन प्रातःकाल यज्ञ, यज्ञोपवीत आदि संस्कार, दोपहर को सभी विशिष्ट परिजनों से भेंट-वार्ता, प्रश्नोत्तर का क्रम चलता रहता है। रात्रि को फिर पिछले रात की भाँति संगीत, प्रवचन, प्रकाश चित्र आदि का प्रबन्ध होता है। इस प्रकार जहाँ प्रज्ञा प्रशिक्षण चल रहे हैं। उनका निरीक्षण-जहाँ नहीं चले हैं वहाँ की स्थापना करते हुए वह दिन पूरा कर लिया जाता है। तीसरे दिन फिर प्रातःकाल जीपगाड़ी अगले कार्यक्रम के लिए रवाना हो जाती है। इस प्रकार पूरे वर्ष प्रवास क्रम चलता रहता और वर्ष में एक बार सभी शाखाओं में मिशन का जत्था पहुँच सके और प्रत्यक्ष परामर्श से गतिविधियों का तारतम्य सही रीति से बन पड़े इसकी व्यवस्था हो जाती है।

एक दूसरा निर्धारण यह है कि देश के प्रत्येक गाँव में जीप गाड़ियों के प्रचारकों द्वारा सम्पूर्ण भारत की

परिक्रमा ही नहीं एकोएक गाँव तक सन्देश पहुँचाने का व्रत पूर्ण किया जाय। यह इतनी बड़ी धर्म प्रचार की तीर्थ यात्रा है जितनी अब तक कहीं भी, कभी भी सम्पन्न नहीं हुई। तीर्थयात्राओं की परिक्रमा से इतना भर होता रहा है कि लोग एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ तक सीधे मार्ग तक पहुँचें और बीच में दायें-बायें छूटते गाँवों की उपेक्षा करते गये। जबकि होना यह चाहिए कि तीर्थयात्रा प्रचलन की सुनियोजित प्रक्रिया के अन्तर्गत एक भी छोटा-बड़ा गाँव बचना नहीं चाहिए था। धर्मधारणा के विस्तार प्रचलन हेतु विस्तृत तीर्थयात्रा का क्रम ही होना चाहिए। फिर अब तो युग परिवर्तन का प्रश्न है। जन-जन के मन-मन तक युग चेतना का आलोक पहुँचाने का प्रश्न है। घर-घर अलग जगाने की योजना है। इसकी पूर्ति तभी हो सकती है जबकि वर्तमान शाखा संगठन अपने-अपने क्षेत्र में इस आलोक वितरण का उत्तरदायित्व सँभालें और अपने यहाँ के कार्यक्रम पूरा कराने के अतिरिक्त अपने क्षेत्र और हर गाँव में महाकाल का संदेश पहुँचाने के लिए प्रयत्न करें।

यह कार्य देखने में कठिन मालूम पड़ता है पर वस्तुतः वैसा दुरूह है नहीं। प्रज्ञा परिवार के अब तक २४ लाख परिजन हैं। १ लाख प्रज्ञापुत्र, २४०० प्रज्ञापीठ और १२ लाख स्वाध्याय मण्डल। यदि ये मृतक हैं तो यह भी विदित हो जाएगा कि इन अर्द्धमृतकों की दवादारू, उपचार प्रक्रिया और सेवा-सहायता की बात ही सोचनी चाहिए। यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उनसे कुछ अपेक्षा रखी जा सकती है। इनके माध्यम से कोई बड़ा काम बन सकता है। यदि हम सब अपंग या शिशु की स्थिति में रह रहे हैं तो भी तथ्यों का उजागर होना उचित है। मिथ्या आशा से निराशा अच्छी। यदि इनमें जीवन है तो यह कार्य कठिन नहीं होना चाहिए कि अपने समीपवर्ती क्षेत्रों में मिशन का - लाल मशाल का प्रकाश वितरण करने में जीवन्तों और भावनाशीलों जैसा योगदान दें। अपने क्षेत्र के निकटवर्ती गाँवों में से प्रत्येक में एक-एक सफल आयोजन सम्पन्न करके रहें। मस्तिष्क यदि इस प्रकार का ताना-बाना बुनने लगे तो ऐसे अनेकों उपाय सूझने लगेंगे, ऐसे अनेकों सहयोगी मिलने लगेंगे जो इस धर्म चेतना की तीर्थयात्रा को सफल बना कर रहें।

इस प्रयोजन के लिए गायकों, वादकों, वक्ताओं, ड्राइवरों, प्रकाश चित्र यन्त्र, स्लाइड, प्रोजेक्टरों की मरम्मत करने वाले, हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषा-भाषी ऐसे पुरुषों की आवश्यकता पड़ेगी जो अपनी प्रामाणिकता, श्रमशीलता और लगन से पुरातन काल के बौद्ध भिक्षुओं की तुलना कर सकें। आवश्यक नहीं कि ऐसे समयदानी अपना पूरा जीवन ही इस निमित्त लगा दें। न्यूनतम एक एक वर्ष का व्रत लेकर निकल पड़ने वाले समयदानियों से भी गाड़ी चलती रहती है और प्रचार कार्य में जो कठिनाइयाँ अभी दीखती हैं वे समय आने पर सभी सरल हो सकती हैं।

पुरुषों की भाँति यह प्रचार कार्य महिलाओं से भी होना है। इसके लिए ढलती आयु की शिक्षित और मुखर नारियाँ भी प्रज्ञा प्रशिक्षण की स्थापना और विचार गोष्ठियों के उद्बोधन से उस पिछड़े हुए वर्ग को आगे बढ़ा सकती हैं।

इतने बड़े देश को पिछड़ेपन से ऊँचा उठाकर प्रगति से संबंधित अनेकों कार्य करने हैं। उन्हें करने के लिए लोगों में परमार्थ भावना को नवजीवन देना आवश्यक है। यह कार्य धर्मधारणा को व्यापक बनाये बिना और किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता। अशिक्षा, बेकारी, गरीबी, कुरीति, पिछड़ापन, अस्वस्थता आदि को मिटाने के लिए हमें बहुत कुछ करना है और जिनमें जीवन तत्व मौजूद है, उनसे बहुत कुछ कराना है। यह प्रक्रिया प्राणवान जनसम्पर्क साधे बिना और किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकती।

कार्य बड़ा है। इतना बड़ा जिसकी सामान्य स्तर के लोग कल्पना तक नहीं कर सकते। बड़े व्यक्ति चाहिए, बड़ी लगन और बड़े साधन इनका जुटना अभी तो कठिन ही दीखता है। पर यह क्षुद्रता में लिप्त हेय लोगों के लिए कठिन है। जिन्होंने भगवान की कृपा और उसका चमत्कार देखा, सुना और जाना है उनके लिए हनुमान जैसे अशिक्षित और साधनविहीन के द्वारा पर्वत उठाने और समुद्र लांघने जैसे असंभव कार्यों पर अविश्वास नहीं होना चाहिए।

यह विश्व के इतिहास में अभूतपूर्व समय है। इसके सामने उपस्थित संकटों से निपटना और उसके स्थान पर सतयुग जैसे वातावरण का नया सृजन भी कठिन प्रतीत भर होना चाहिए। उस असंभव को संभव हो सकने में कुछ ऐसा नहीं है जिसे अतिरंजित कहा जा सके।

आशा की गई है युग तीर्थयात्रा के लिए जिन साधनों की कमी पड़ रही है वे भी असंभव न बने रहेंगे और ऋषि रक्त जिनमें मौजूद है उनमें ऐसे लोग भी निकलेंगे जो उपरोक्त महान कार्य का दायित्व सँभालते हुए अपनी महानता सिद्ध कर सकें। प्रवास पर जाने वालों के लिए एक महीने का प्रशिक्षण नितान्त आवश्यक है। जो उसमें उत्तीर्ण होंगे उन्हें ही इतना भारी काम सौंपा जाएगा। जीप गाड़ी का ड्राइवर, तेल, भेजे हुए सामान की टूट फूट तथा भेजे गये कार्यकर्त्ताओं का मार्ग व्यय आदि में खर्च तो ज्यादा पड़ जाता है पर व्यवस्था ऐसी बनाई गई है कि जहाँ भी जीप गाड़ियाँ पहुँचें वहाँ से कुछ मार्ग व्यय मिल जाय तो किसी प्रकार काम चल जाएगा, न मिशन को ही बहुत घाटा पड़ेगा और न देने वालों को आपस में मिल-जुलकर इतने पैसे का प्रबंध करने में भारी पड़ेगा।

आयोजन अधिक दिनों का करना हो तो स्थानीय वक्ताओं तथा गायकों का ही प्रबंध करना चाहिए। इस प्रकार वह आयोजन कई दिन भी चलाया जा सकता है। हरिद्वार से हर गाड़ी को दो दिन का कार्यक्रम ही दिया गया है जिसमें से वह आधा दिन प्रवास में लगाएगी और

डेढ़ दिन निर्धारित कार्यक्रम में रहेगा। डेढ़ दिन में पारस्परिक वार्तालाप हो जाएगा और दो रातें सम्मेलन, आयोजन के लिए मिल जाएँगी। इस प्रकार अधिकांश समय प्रज्ञापीठ, प्रज्ञा पुस्तकालय, चल संस्थानों में भी पहुँचने का क्रम बन जाएगा और परस्पर मिलने-जुलने, विचार-विनिमय करने की व्यवस्था भी बन जाएगी।

व्यापक अन्धकार से जूझने के लिए दीपक जैसा स्नेह सँजोएँ

परमात्मा ने इच्छा की कि मैं एक से अनेक बन जाऊँ। इच्छा सकल्प में बदली, प्रयास आरम्भ हुआ और अन्ततः यह विराट् ब्रह्माण्ड उसी आधार पर बनकर खड़ा हो गया। बीज को अंकुरित और फलित होने की ललक अवसर मिलते ही पूर्ण होती है और उस आधार पर उपजे वृक्ष से हर वर्ष हजारों फल भी उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की वंश वृद्धि का क्या ठिकाना? सृजेता आदिम हव्वा रहे हों या स्वयंभू मनुशतरूपा। एक ही जोड़े से इस धरती पर इन दिनों पाँच सौ करोड़ मनुष्य निवास करते हैं। तब से अब तक जो जन्मे, मरे, उनका भी हिसाब जोड़ा जाय तो व्यवहार में आने वाला अंकगणित ही समाप्त हो जाएगा।

जो भी अपने संकल्प के प्रति सच्चा होगा और उसके प्रति निष्ठा, लगन, परिश्रम का परिचय देगा वह सीमाबद्ध होकर नहीं रह सकता। प्रबल प्रेरणा अपने सम्पर्क क्षेत्र को प्रभावित करती और अनुयायी बनाती रहती है। जब मन और कर्म का एकीकरण करने के उपरान्त चोर, लबार, व्यभिचारी, शराबी, जुआरी, दुर्व्यसनी अपना गिरोह बनाते और परम्परा चलाने में सफल होते रहते हैं, तो कोई कारण नहीं कि प्राणवान, निष्ठावान और संकल्पवानों को सीमाबद्ध होकर रहना पड़े। वंश वृद्धि की तरह विचार विस्तार का भी अपना क्षेत्र है और उसमें भी एक से अनेक होने की स्रष्टा के मूल संकल्प की तरह परिपूर्ण गुंजायश है।

प्रसंग विचार क्रान्ति का- प्रज्ञा अभियान का है-युग की इस महती आवश्यकता को इन्हीं दिनों पूरा किया जाना है। अनास्था संकट, दुर्भिक्ष से भी भयंकर है। मर्यादाएँ तोड़ डालने पर बाँध टूटने पर, जल-जंगल एक कर देने वाले संकट से भी अधिक विनाश होता है। संकीर्ण स्वार्थपरता का प्रवाह ऐसा है जिसकी बाढ़ में सब कुछ बहता चला जाता है। उच्छृंखलता का प्रचलन सब कुछ तोड़-मरोड़ कर रख देने वाले तूफान से अधिक भयावह है। महामारियों में मनुष्यों के शरीर मरते हैं पर निकृष्टता के प्रति बढ़ती अभिरुचि तो आत्मा को ही अर्द्ध मृतक बनाकर दिवंगतों से भी बुरी दशा में ला पटकती है। सामूहिक आत्महत्या और महाविनाश के पथ पर जिस प्रकार मनुष्य समुदाय इन दिनों उत्साहपूर्वक घुड़दौड़ लगा रहा है उसे देखते हुए रोमांच हो उठता है और लगता है कि भविष्य को अन्धकारमय बनाने वाले इ[...] प्रवाह को कोई दैवी चमत्कार ही रोक सकता है।

इस कठिन समय के व्यापक विनाश को आपत्ति काल समझने और ऐसे अवसरों पर प्राणवानों द्वारा 'समय धर्म' अपनाये जाने की आवश्यकता है। बाढ़, भूकम्प, दुर्भिक्ष, महामारी, अग्निकांड, अतिवृष्टि, आक्रमण, विग्रह, दुर्घटना आदि की आकस्मिक विपत्तियाँ आने पर भावनाशीलों में से प्रत्येक को अपना काम हर्ज करके भी उस विपत्ति से आक्रान्त लोगों की सहायता के लिए दौड़ना पड़ता है। मानवी अन्तरात्मा में जब तक सहृदयता, करुणा, आत्मभाव, सम्वेदना जैसे तत्व जीवित रहेंगे तब तक उदार सेवा-साधना भी समय-समय पर अपने अस्तित्व का परिचय देती रहेगी। यह सामयिक एवं स्थानीय विपत्तियों की चर्चा हुई। इन दिनों इन सब के समन्वय से भी अधिक भयावह विपत्ति वेला है। मानवी गरिमा के साथ दुष्ट चिन्तन और भ्रष्ट आचरण यदि जकड़ जाय तो समझना चाहिए कि उस शिकंजे से प्राण रक्षा करने के निमित्त असाधारण पराक्रम का परिचय देना होगा। कायर तो ऐसे अवसरों पर डरते, रोते, कलपते और मुँह छिपाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु शूर-साहसियों का पौरुष उन्हें अग्रिम मोर्चे पर ला खड़ा करता है और संकट से जूझने की चुनौती स्वीकारने के लिए विवश करता है।

इन दिनों की चित्र-विचित्र आकृति-प्रकृति वाली अनेकानेक समस्याओं, विपत्तियों, विभीषिकाओं का एक मात्र कारण आस्था संकट है। अदूरदर्शिता, स्वार्थपरता जैसी निकृष्टताएँ मिल-जुल कर आस्था संकट उत्पन्न करती है और जब जब वह दावानल भडकती है तो उसकी लपेट में गीले-सूखे सभी आते हैं। शिक्षित, अशिक्षित, धनी-निर्धन, समर्थ-असमर्थ सभी उस माहौल से सदी, गर्मी की तरह प्रभावित होते हैं। इन दिनों यही हो रहा है। मावनी गरिमा को अपनाये रहना तो दूर उसे अनुभव करना, स्वरूप और उत्तरदायित्व तक समझाना कठिन हो रहा है।

ऐसी दशा में अपने को, अपने प्रियजनों को, अपने समाज, विश्व को, संस्कृति को विनाश पथ से विरत करने का एक ही उपाय है कि, जनसाधारण को वस्तुस्थिति की जानकारी कराई जाय और परित्राण का उपाय भी ढोल पीट कर सुझाया जाय कि प्रचलित मान्यताओं, आकांक्षाओं, आदतों, परम्पराओं, क्रिया-कलापों में अधिकांश ऐसी है जिसमें औचित्य कम तथा अनौचित्य का अनुपात अधिक बढ़ गया है। भ्रान्तियों, विकृतियों और अवांछनीयताओं की इतनी अधिक मात्रा जीवन के, समाज के हर क्षेत्र में भर गई है कि उसे ऊपरी लीपा-पोती से नहीं सुधारा जा सकता है। इसके लिए कुछ बड़े कदम उठाने होंगे। बड़े का तात्पर्य है- गलाई-ढलाई जैसा उपक्रम। टूटे-फूटे धातु खण्डों के लिए यही नीति अपनानी पड़ती है। उन्हें हानिकारक कूड़े,

कचरे के रूप में जगह घेरने और ठोकरों के व्यवधान खड़े करने की स्थिति में नहीं रहने देना हो तो फिर एक ही उपाय शेष रह जाता है कि एक बार दुस्साहस सँजोया, उस कचरे को भट्टी में गलाकर, उपयुक्त साँचों में ढाला और ऐसे उपकरणों में बदला जाय जिन्हें उपयोगी, आवश्यक, महत्वपूर्ण, मूल्यवान कहा जा सके।

आज की चिन्तन चेतना का यही स्वरूप है। इसे यदि यथावत् रहने दिया जाय तो लगा हुआ घुन शहतीर को खोखला ही करेगा। विषाणुओं का परिकर यदि फेफड़े में छोटा-सा स्थान बना ले तो फिर देर-सवेर में सुडौल काया का भी अन्त होकर रहेगा। आज का चिन्तन-प्रवाह प्रायः इसी स्तर का है। उसके प्रभाव क्षेत्र में आने के उपरान्त शरीर, मन, परिवार, वैभव, समाज, सब कुछ विषाक्त होता चला जा रहा है। समृद्धि, शिक्षा, कला, सुविधा, सामिग्री की प्रस्तुत अभिवृद्धि को मानवी इतिहास में अद्भुत, असाधारण कहा जा सकता है। यदि चिन्तन भी मानवी गरिमा के अनुरूप रहा होता तो स्थिति-परिणति ऐसी रही होती जिस पर देवता ईर्ष्या करते और स्वर्ग को निछावर किया जा सकता।

अपने समय की एक ही भूल है– चिन्तन की उत्कृष्टता को महत्व न मिलना। व्यक्तित्व को सुसंस्कारी बनाने की आवश्यकता एवं परिणति की ओर ध्यान न जाना। सुविधा-साधनों की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता, पर यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि उसका प्रयोक्ता यदि हेय स्तर का रहा तो फिर जो कुछ भी हाथ लगेगा उसका दुरुपयोग ही बन पड़ेगा। आग की चपेट में जो भी सस्ती-महँगी वस्तु आयेगी वह भी मात्र ईंधन की तरह जलेगी। घटिया चिन्तन और ओछा व्यक्तित्व रहते, न तो उचित रीति से, उचित मात्रा में वैभव अर्जित हो सकेगा और यदि हुआ भी तो उसका उपयोग अपने लिए, दूसरों के लिए, मात्र संकट खड़े करने भर के लिए होता रहेगा। समृद्धि से तात्कालिक लिप्सा तो कोई भी पूरी कर सकता है किन्तु यदि उसका सत्परिणाम अभीष्ट हो तो फिर यह अनिवार्य होगा कि प्रयोक्ता का दृष्टिकोण एवं प्रयोग क्रम उच्चस्तरीय बने। यही है आज की समूची समस्या, आवश्यकता का पर्यवेक्षण। तथ्यों का अध्ययन और समाधान के लिए समुद्र मंथन करने पर एक ही निष्कर्ष निकलता है कि जन-मानस को शालीनता का पक्षधर बनाया जाय।

लोक-चिन्तन में दूरदर्शी विवेकशीलता का सघन समावेश किया जाय। इससे कम में बात बनती ही नहीं। यदि आदर्शवादिता की पक्षधर विचार क्रान्ति न हो सकी, यदि सर्वतोमुखी नवसृजन का आधारभूत उपचार-प्रज्ञा अभियान व्यापक न बन सका तो समझना चाहिए कि मानवी गरिमा ने पराजय स्वीकार कर ली और आत्म-रक्षा के निमित्त हस्तगत हुए अस्त्र, शस्त्रों को पटक कर पतन-पराभव की शरण में रहने की नीति अपना ली। यदि ऐसा हुआ तो समझना चाहिए कि संचित संस्कृति ने वापस, आदिम काल के वनमानुषों की बिरादरी में रहने का रास्ता जाने-अनजाने अपना लिया।

कार्य कठिन है पर उसका समाधान सरल है। व्यापक अंधकार को एक टिमटिमाता दीपक चुनौती दे सकता है। जाग्रत आत्माओं में से थोड़े-से भी संकल्पवान उभरें तो अग्रिम पंक्ति में खड़े होकर वह मोर्चा सँभाल सकते हैं जिसे अकेले हनुमान द्वारा समूची लंका उजाड़ देने की, अकेले अगस्त्य द्वारा समुद्र सोख लेने की, अकेले भगीरथ द्वारा गंगावतरण की उपमा दी जा सके। जो करने योग्य काम है वह एक ही है जनसमुदाय के प्रवाह को उलटा जाय। उलटे को उलटकर सीधा किया जाय वही जनमानस की परिष्कार प्रक्रिया के अन्तर्गत होगा। इस विशाल योजना का शुभारंभ कैसे हो? इसके लिए गाँधीजी द्वारा कुछेक को साथ लेकर नमक सत्याग्रह आरंभ किए जाने और फिर उस विद्रोह का विस्तार होते-होते 'करो या मरो' वाली महाक्रान्ति तक जा पहुँचने की अभी घटित हुई ऐतिहासिक प्रक्रिया का स्मरण किया जा सकता है।

प्रज्ञा परिवार के हर प्राणवान परिजन को एक 'स्वाध्याय मण्डल' गठित करने की नितान्त सरल, किन्तु अति महत्वपूर्ण प्रक्रिया को तत्काल आरम्भ करने के लिए आग्रह भरा अनुरोध किया गया है। देखने में यह साहित्य पठन जैसा एक मनोविनोद, समयक्षेप जैसा छोटा कार्य प्रयत्न होता है पर वस्तुतः वह वैसा है नहीं। स्वाध्याय का तात्पर्य कथा-पुराणों के पन्ने उलटते रहना या घिसी-पिटी अन्ध-परम्पराओं को घोंटते रहना भर होता तो ही उपरोक्त कथन सही हो सकता था कि यह पठन व्यसन की पूर्ति का एक नगण्य-सा सुगल है। पर वस्तुतः बात सर्वथा उलटी है। प्रज्ञा साहित्य के पठन पाठन को ही यहाँ युग स्वाध्याय की संज्ञा दी गई है । क्योंकि यह पठन सामिग्री एक ज्वलन्त क्रान्ति का प्रतिनिधित्व करती है। उसके पीछे युग मनीषा का समुद्र मंथन जैसा चिन्तन है। उसमें युग क्रान्ति के समस्त सूत्रों का समावेश है। उसे कलम की नोंक से नहीं जाज्वल्यमान आलोक और बिजली जैसी कड़क के समन्वय से लिखा गया है। जो उसे पढ़ेगा अनुप्राणित हुए बिना रह न सकेगा। इसीलिए इस प्रस्तुतीकरण को, युगान्तरीय चेतना की संज्ञा दी गई है। इसके पठन, श्रवण का सुव्यवस्थित प्रबंध बन पड़े तो समझना चाहिए कि पठन कर्त्ता के चिन्तन प्रवाह में परिवर्तन हुए बिना रहेगा नहीं।

प्रज्ञा परिवार के बीस लाख सदस्य इस बात के साक्षी हैं कि उन्हें युग साहित्य के माध्यम से मिलने वाली ऊर्जा ने कितना नरम-गरम किया है और बदलकर कहाँ से कहाँ ला टिकाया है? इतनी साक्षियों पर किसी को विश्वास हो सके तो उसे यह भी अनुभव करना चाहिए कि प्रज्ञा साहित्य के स्वाध्याय का प्रचलन यदि छोटे श्रीगणेश से आरंभ होकर क्रमशः अधिकाधिक व्यापक

और विस्तृत होता चला गया तो उसकी क्या परिणति हो सकती है। आरंभ में ही स्रष्टा के 'एकोहं बहुस्याम' संकल्प का स्मरण दिलाया गया है। वंश वृद्धि की सर्वत्र दीख पड़ने वाली प्रक्रिया विचार विस्तार पर भी लागू हुए बिना रह नहीं सकती। शर्त एक ही है कि उसके मूल में तथ्य एवं सत्य हो और ज्वलन्त करने के लिए प्राणवान ऊर्जा स्रोत व्यक्तित्व। स्वाध्याय मंडलों की छोटी स्थापना के पीछे यह सभी आधार विद्यमान हैं।

देर श्रीगणेश भर की है। देरी बिगुल बजाने वालों की है। समय की माँग, मानवी गरिमा की गुहार, एक सुसज्जित सेना की तरह कमर बाँधे खड़ी है। उसे प्रयाण का आदेश मिलने भर की देर है। चतुरंगिणी कहाँ से कहाँ जा पहुँचेगी और क्या से क्या कर गुजरेगी? इसे अपनी यही आँखें देख और उन दृश्यों को जादू-चमत्कार जैसा अनुभव कर सकती हैं। स्वाध्याय मडलों की स्थापना का छोटा काम इसी दृष्टि से प्रज्ञा परिजनों को सौंपा गया है कि इसे एक कल्पवृक्ष उद्यान को बीजारोपण मानकर उसे सरलतापूर्वक सम्पन्न कर सकें और नवसृजन में अपनी भागीदारी का एक ऐतिहासिक अध्याय पूरा कर सकें।

नवजागरण के लिए– युग साहित्य का स्वाध्याय

साधन-सुविधाओं की दृष्टि से अपना समय पूर्वजों की तुलना मे कहीं अधिक सुसम्पन्न है। वैज्ञानिक, आर्थिक और बौद्धिक प्रगति ने इन दिनों इतनी साधन-सामिग्री प्रस्तुत की है जिसकी कि पूर्वजों ने कभी कल्पना तक न की होगी। इतने पर भी जन-साधारण के स्वास्थ्य, सन्तोष, सन्तुलन के. क्षेत्रों में बेतरह गिरावट आ रही है। आर्थिक तंगी, परिवारों मे खींचतान और समाज में विसंगठन, अपराधों का प्रचलन निरन्तर बढ रहा है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो में इस कदर समस्याएँ बढ़ रही है कि किसी भी क्षण महाविनाश की घड़ी सामने आ सकती है। अपराध, बहुप्रजनन, दुर्व्यसन, विग्रह, आक्रमण का माहौल, भविष्य को अधिकाधिक अन्धकारमय बनाता जा रहा है। सरकारों द्वारा अपनाये जाने वाले सुधार-प्रयत्न सफल हो नहीं रहे हैं। साज-सँभाल की सीमा है किन्तु बढ़ती हुई अनैतिकता जैसी अराजकता उत्पन्न करती है उसकी रोकथाम बाहरी नियन्त्रण के आधार पर बन पड़ना कठिन है।

असंख्य समस्याओं, विपत्तियों और विभीषिकाओं का एकमात्र कारण है– मानवी दृष्टिकोण में आदर्शों के प्रति अनास्था की अभिवृद्धि, चिन्तन और चरित्रों में निकृष्टता का समावेश। यह क्रम यथावत् चलता रहा तो मात्र शासकीय या आर्थिक उपायों से समाधान हो नहीं सकेगा। बनाने की तुलना में बिगाड़ने का क्रम आगे रहे तो एक दिन सर्वनाशी गतिरोध प्रस्तुत होकर ही रहेगा।

सामयिक समस्याओं का समाधान और उज्वल भविष्य का निर्धारण इसी एक तथ्य पर आधारित है कि जितना प्रयास सुविधा-साधनों के सम्वर्द्धन के लिए किया जा रहा है उतना ही ध्यान लोकमानस को परिष्कृत करने, व्यक्तित्वों में उत्कृष्टता बढ़ाने पर दिया जाय। प्राचीनकाल में इसी पक्ष को समुन्नत बनाये रहने के लिए मूर्धन्यों के प्रबल प्रयास नियोजित रहते थे। फलतः यह देश नर रत्नों की खदान था। यहाँ देवता रहते थे और इस धरती पर स्वर्ग बिखरा पड़ा था। इस उक्ति का तात्पर्य इतना ही है कि सतयुगी वातावरण में व्यक्ति की आस्थाएँ, संवेदनाएँ, आकांक्षाएँ, विचारणाएँ और गतिविधियाँ उत्कृष्टता के साथ सुसंबद्ध थीं। फलतः व्यवहार में स्नेह-सहयोग की कमी नहीं थी। जो साधन उपलब्ध थे उन्हीं को मिल-बाँटकर खाते और हँसती-हँसाती, हलकी-फुलकी जिन्दगी जीते थे। जहाँ ऐसी मनःस्थिति और परिस्थिति रहेगी वहाँ स्रष्टा की सर्वोत्तम संरचना के रूप में प्रकट हुआ मनुष्य स्वयं सुखी रहेगा और सर्वत्र सुख-शान्ति की वर्षा करेगा।

इन दिनो प्रवाह उलट गया है। चिन्तन और चरित्र में निकृष्टता घुसी और व्यवहार प्रचलन पर दुष्टता, भ्रष्टता के तत्वों ने अपना आधिपत्य जमा लिया है। परिणति सामने है। हम असंख्य समस्याओं से उलझे हैं और सर्वनाश के दल-दल में क्रमशः अधिकाधिक गहरे धँसते चले जा रहे हैं। इन दिनों छाया अनास्था संकट, दुर्भिक्ष से भी भयंकर है। मर्यादाएँ तोड़ डालने पर बाँध टूटने पर जल जंगल एक कर देने वाले संकट से भी अधिक विनाश होता है। संकीर्ण स्वार्थपरता का प्रवाह ऐसा है जिसकी बाढ़ में सब कुछ बहता चला जाता है। उच्छृंखलता का प्रचलन सब कुछ तोड़-मरोड़ कर रख देने वाले तूफान से अधिक भयावह है। महामारियों में मनुष्यों के शरीर मरते हैं पर निकृष्टता के प्रति बढ़ती अभिरुचि तो आत्मा को ही अर्द्धमृतक बनाकर दिवंगतों से भी बुरी दशा मे ला पटकती है। सामूहिक आत्महत्या और महाविनाश के पथ पर जिस प्रकार मनुष्य इन दिनों उत्साहपूर्वक घुड़दौड़ लगा रहा है उसे देखते हुए रोमांच हो उठता है और लगता है कि भविष्य को अन्धकारमय बनाने वाले इस प्रवाह को कोई दैवी चमत्कार ही रोक सकता है।

लोकचिन्तन में उत्कृष्टता की, आदर्शवादिता की प्रतिष्ठापना के इस प्रयास पुरुषार्थ को संक्षेप में विचार क्रान्ति कहा जा सकता है। इसमें नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र की अवांछनीयताओं के उन्मूलन तथा सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन के द्विपक्षीय प्रयासों का समावेश है। अपने समय की यह सबसे बड़ी आवश्यकता है। उलटे को उलटकर ही सीधा किया जा सकता है। विचारों को विचार ही काटेंगे, काँटे से काँटा निकलेगा और विष का उपचार विष से ही होगा। अनुपयुक्त विचारणाओं को, प्रचलनों को निरस्त करने के लिए मानवी अन्तराल को सुसंस्कृत बनाने वाली उन विविध विभूतियों को अर्जित

करना होगा जिन्हें अध्यात्म की भाषा में श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा कहा जाता है। प्रज्ञा अभियान इसी प्रयोजन के लिए युगान्तरीय चेतना के रूप में इन दिनों प्रकट हुआ है। दूरदर्शी विवेकशीलता का पुनर्जीवन उसका लक्ष्य है। संक्षेप में इन प्रयासों को लोकमानस के परिष्कार के निमित्त अग्रगामी बनाये गए प्रचारात्मक, रचनात्मक और सुधारात्मक प्रयत्नों का समुच्चय कह सकते हैं। चिन्तन से चरित्र बनता है। मनःस्थिति परिस्थितियों की जन्मदात्री है। इस तथ्य को सर्वोपरि मान्यता देते हुए परिवर्तित प्रयत्नों की रूपरेखा खड़ी की गई है।

युग-परिवर्तन के इस पुण्य प्रयास का शुभारम्भ, श्रीगणेश चिन्तन और चरित्र में आदर्शवादिता का, दूरदर्शी विवेकशीलता का समावेश करने वाले स्वाध्याय उपक्रम को व्यापक बनाने की योजना के साथ किया गया है। निकृष्टता सहज साध्य है। पानी ढलान की ओर बहता है और वस्तुएँ ऊपर से नीचे गिरती हैं। मनुष्य के सम्बन्ध में भी यही बात है। पर यदि ऊँचा उठना-उठाना है तो समर्थ साधन जुटाने पड़ते हैं। जनमानस में उत्कृष्टता का अभिवर्द्धन भी ऐसे ही प्रबल प्रयासों की अपेक्षा रखता है। चिन्तन को प्रभावित करने वाले माध्यम हैं स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन और मनन। इन चारों में स्वाध्याय प्रमुख है। शेष तीनों की सुव्यवस्था इस प्रथम चरण के उपरान्त ही पूरी बन पड़ती है।

यों स्वाध्याय के नाम पर कथा-पुराणों के पठन, श्रवण का ढर्रा चलता रहता है और सत्संग के नाम पर-परलोक, देवलोक का उहापोह कहा, सुना जाता है। इससे इस पुण्य प्रक्रिया का वास्तविक उद्देश्य पूरा नहीं होता। युग धर्म की माँग है कि व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित व्यवहार में आये दिन काम आने वाली और समय, समाज को प्रभावित करने वाली तात्कालिक समस्याओं के कारणों और निवारणों का समाधान प्रस्तुत करने वाले तथ्यों पर आधारित यथार्थवादी विचारणा के साथ सम्पर्क सधे। स्वाध्याय की आवश्यकता इससे कम में पूरी होती ही नहीं। 'स्व' का अर्थ है अपना। 'अध्याय' का अर्थ है प्रसंग-अध्ययन। जिससे अपने व्यक्तित्व से सम्बन्धित उत्थान-पतन का निरूपण हो उसी साहित्यिक अध्ययन का नाम स्वाध्याय है।

इस उद्देश्य के लिए भटकाव में प्रकाश उत्पन्न करने वाला, व्यवहार में आ सकने वाला साहित्य आज एक प्रकार से अनुपलब्ध ही है। इस कमी को प्रज्ञा अभियान ने पूरा किया है और जितना बन पड़ा उतना साहित्य ऐसा छापा है जो संव्याप्त अन्धकार के बीच प्रकाश स्तम्भ की तरह सर्वसाधारण का मार्गदर्शन कर सके।

इन दिनों सत्संग की आवश्यकता भी स्वाध्याय ही पूरी करता है क्योंकि तत्वदर्शी, युगमनीषियों तक पहुँच सकना, उनके साथ यथेष्ट समय तक परामर्श करते रहना, बढ़ती हुई व्यस्तता के कारण सम्भव नहीं रहा। फिर मुद्रणकला का विकास होने के उपरान्त वैसी आवश्यकता भी नहीं रही। अब अपनी सुविधा के समय में, यथेष्ट मात्रा में, अभीष्ट विषयों पर उच्चस्तरीय युग मनीषियों का सत्संग लाभ ले सकना युग साहित्य के माध्यम से सरलतापूर्वक उपलब्ध है। सत्संग के नाम पर सिर-फिरे लोगों की सनकें सुनने और अपना समय तथा मस्तिष्क खराब करने की अपेक्षा यही उत्तम है कि प्रज्ञासाहित्य घर बैठे पढ़ा जाय और इस माध्यम से स्वाध्याय और सत्संग की उभयपक्षीय आवश्यकता एक साथ पूरी कर ली जाय।

लगता यह है कि कार्य असम्भव-सा है। इतने बड़े जनमानस को प्रभावित कर उन्हें सही दिशा देने का कार्य लगता तो कठिन है, पर उसका समाधान सरल है। व्यापक अन्धकार को एक टिमटिमाता दीपक चुनौती दे सकता है। जाग्रत आत्माओं में से थोड़े से भी संकल्पवान उभरें तो अग्रिम पंक्ति में खड़े होकर वह मोर्चा सँभाल सकते हैं जिसे अकेले हनुमान द्वारा समूची लंका उजाड़ देने की, अकेले अगस्त्य द्वारा समुद्र सोख लेने की, अकेले भगीरथ द्वारा गंगावतरण की उपमा दी जा सके। जो करने योग्य काम है वह एक ही है जन-समुदाय के प्रवाह को उलटा जाय। उलटे को उलटकर सीधा किया जाय। यही जनमानस की परिष्कार प्रक्रिया के अन्तर्गत होगा। इस विशाल योजना का शुभारम्भ कैसे हो? इसके लिए गाँधीजी द्वारा कुछेक को साथ लेकर नमक सत्याग्रह आरम्भ किए जाने और फिर उस विद्रोह का विस्तार होते-होते 'करो या मरो' वाली महाक्रान्ति तक जा पहुँचने की अभी अभी-अभी घटित हुई ऐतिहासिक प्रक्रिया का स्मरण किया जा सकता है।

युग चेतना को अग्रगामी बनाने का उत्तरदायित्व महाकाल ने प्रज्ञा परिवार की जाग्रत आत्माओं के कन्धों पर पटका है। उन्हें अग्रिम मोर्चे पर खड़ा किया है और लोकमानस के परिष्कार की प्राथमिक आवश्यकता पूरी करने के लिए जुट पड़ने के लिए प्रेरित एवं बाधित किया है। चुनौती को स्वीकार करते हुए प्रत्येक सृजन शिल्पी को अपना कार्यारम्भ इसी प्रकार करना चाहिए कि युग-चेतना को हृदयंगम कराने वाले प्रज्ञा साहित्य से जनजन को अवगत-अनुप्राणित करने का प्रयास करें। इसके लिए घर-घर अलख जगायें। स्वाध्याय मंडलों का गठन इसी दृष्टि से किया गया है। यह संगठन बिना किसी प्रकार काम हर्ज किए, क्षति उठाये या त्याग-बलिदान का साहस सँजोये, मात्र इतना प्राथमिक प्रयास करने भर से चल पड़ेगा कि अपने संपर्क क्षेत्र में जो भी विचारशील आते हों, उनमें से न्यूनतम पाँच को प्रज्ञा साहित्य नियमित रूप से पढ़ाने, वापिस लेने का व्रत लें और उसे निभायें। जो आधा घण्टा नित्य युग-चेतना को पढ़ें या सुनें वे सभी इस स्वाध्याय संगठन के सदस्य माना जाएँगे। इस प्रयास को जितने उत्साहपूर्वक जिस क्षेत्र में चलाया जाएगा उसमें उसी अनुपात से नव जागरण के चिन्ह प्रकट होंगे। कारण कि प्रज्ञा साहित्य जिस युग-मनीषा द्वारा सृजा गया

दिखने वाला- ''जनता द्वारा जनता पर स्वयं का शासन'' सिद्धान्त कार्यान्वित हुआ। यह एक जादुई सपने जैसा चमत्कार है। रूसो की लेखनी न उठी होती तो संभवत: आज भी प्रजातंत्र किन्हीं अन्यान्य तत्वदर्शनों में से एक होता और किन्हीं पुस्तकालयों में विराजता। जबकि आज राजमुकुटों के श्मशानों पर प्रजातंत्रीय व्यवस्था सुरम्य उद्यानों की तरह लहलहाती देखी जा सकती है। तीन चौथाई विश्व में आज प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था है। इसे विचार चेतना का प्रस्फुरण कह सकते हैं।

अमेरिका में दासप्रथा की गहराई तक घुसी जड़ों को उखाड़ने का श्रेय श्रीमती स्टो की एक पुस्तक 'टाम काका की कुटिया' को दिया जाता है। वह न लिखी गयी होती तो वहाँ इतना प्रचण्ड आन्दोलन न उभरा होता और लाखों निरीहों को न जाने कब तक उत्पीड़न सहते रहना पड़ा होता। योरोप को पोपवाद के अन्ध विश्वास से छुड़ाने में मार्टिन लूथर की भूमिका अनन्त काल तक स्मरण की जाती रहेगी। भारत में दयानन्द, विवेकानन्द, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, तिलक, अरविन्द आदि ने जो विचार जन-साधारण को प्रदान किये उनके लिये पीढ़ियाँ उनकी कृतज्ञ रहेंगी।

ईसाई धर्म के विस्तार में क्रिश्चियन मिशन द्वारा संसार की समस्त भाषाओं में किये गये विचार प्रसार का, साहित्य प्रकाशन का असाधारण महत्व है। किसी की विचारणा प्रभावित करके ही उसे अभ्यस्त ढर्रे से विरत करके उत्थान-पतन के असाधारण मार्ग पर चलाया जा सकता है। गीता, रामायण का भारतीय जन-मानस पर कितना गहरा प्रभाव है उसे देखते हुए सहज ही समझा जा सकता है कि साहित्य की कितनी क्षमता होती है। भारतीय संस्कृति के रूप में ऋषियों ने जो महान अनुदान दिये हैं उसका एकमात्र माध्यम् उनके द्वारा रचा गया शास्त्र साहित्य ही है, जो अनन्तकाल तक अपना दिव्य आलोक ज्योतिर्मय किये रहेगा। उसकी महत्ता प्रत्यक्ष एवम् सामयिक प्रवचनों से कहीं अधिक है।

उपरोक्त विवरणों से किसी भी विचारशील को यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि उच्चस्तरीय विचारों को जनजीवन में प्रवेश कराने के लिए आलोक भरे साहित्य का कितना अधिक प्रभाव है। अब तो सत्संग भी साहित्य में ही केन्द्रीभूत हो गया है। महान मनीषियों का सान्निध्य सदा उपलब्ध न होना और मुद्रण कला के आविष्कार से सत्साहित्य सरलतापूर्वक मिल सकना यह दोनों ही संयोग मिलकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामयिक विचारक्रान्ति के लिए युगान्तरीय चेतना को शिक्षित लोग पढ़ें और अशिक्षित सुने तो वह प्रयोजन पूरा हो सकता है जिसे 'लोकमानस का परिष्कार' कह सकते हैं। यदि यह प्रक्रिया सचमुच ही चल पड़े और यह प्रयास वस्तुत: व्यापक हो सके तो समझना चाहिए, प्रज्ञा अभियान के प्रतिपादन, जन-जन के मन-मन को युग चिन्तन के साथ जोड़ने और अवांछनीयता से विरत करके औचित्य का पक्षधर बनाने में सफलता मिल सकती है।

उथले व्यक्तियों के उथले प्रतिपादन तो ऐसे ही बेपर की उड़ानें बनकर छितराते, लातें खाते और उपहासास्पद बनते रहते हैं परन्तु युग ऋषियों द्वारा काल-मन्थन की प्रज्ञा साधना का आधार लेकर जो प्रतिपादन प्रस्तुत किये जाते हैं, उनके बारे में बात ऐसी नहीं है। विवेक समर्थित तथ्यों पर आधारित ऐसी युगान्तरीय चेतना तो सदा व्यापक बनती और सफल होती रही है। पहले उन्हें विज्ञजन अपनाते हैं बाद में जनसाधारण के गले उतारने योग्य भी बन जाती है। प्रभात किरणें सर्वप्रथम पर्वत शिखरों पर चमकती हैं। बाद में उनके आलोक से समूचा धरातल ज्योतिर्वान होने लगता है। ऋतु प्रभावों की क्षमता ऐसी होती है कि जड़-चेतन को उनकी क्षमता मानने और तदनुरूप अपनी गतिविधियाँ बदलने के लिए विवश होना पड़ता है। वर्षा में जल-जंगल एक होते और धरातल पर हरे कालीन बिछते देखे जा सकते हैं। शीत से सभी सिकुड़ते हैं, पेड़ तक अपने पत्ते गवाँ बैठते हैं। गर्मी में चक्रवात घूमते, अन्धड़ चलते और गर्मी से प्राणियों को हाँफते, मुँह छिपाने के लिए छाया ढूँढ़ते देखा जा सकता है। वसन्त आया नहीं कि वनस्पतियाँ फलों से लदती हैं, पशु-पक्षी कुदकते-फुदकते हैं और कोयलों, भौंरों के झुण्ड अपनी तान सुनाते फिरते हैं। यह ऋतु प्रभाव का चमत्कार है। प्रचण्ड विचारों के प्रवाह को भी ऐसे स्तर का समझा जा सकता है। वातावरण बना तो फिर अनुगमनकर्ताओं की कमी नहीं रहती। बुद्ध को लाखो परिव्राजक मिले। गाँधीजी को सत्याग्रहियों की कमी नहीं पड़ी। राम दल में न जाने कहाँ-कहाँ से रीछ-बानर आ घुसे। गोवर्धन उठाने वाले ग्वाल-बालों का संख्या बल, साहस और उत्साह देखते ही बनता था। इसी को कहते हैं ऋतु प्रभाव जैसा वातावरण ।

स्वाध्याय मण्डलों की स्थापना वाला प्रज्ञा अभियान का प्रस्तुत चरण ऐसा ही है, जिसके पीछे युगान्तरीय चेतना की अदृश्य प्रचण्ड प्रेरणा अपनी प्रखरता का परिचय देती हुई देखी जा सकती है। ऐसे प्रसंगों में विस्तार होते देर नहीं लगती। एक चिनगारी देखते-देखते दावानल बन सकती है और सुविस्तृत क्षेत्र को भस्मसात कर सकती है। ईसा, बुद्ध, गाँधी आदि के रूप में उत्कृष्टता की पक्षधर क्रान्तियाँ भी आँधी-तूफान की तरह उठीं और अपना प्रयोजन पूरा करने के उपरान्त ही रुकीं। इस महत् कार्य के लिए संकल्पवान परिजनों के उठ खड़े होने भर की देर है। संकल्प की शक्ति महान है। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि जो भी अपने संकल्प के प्रति सच्चा होगा और उसके प्रति निष्ठा, लगन, परिश्रम का परिचय देगा वह सीमाबद्ध होकर नहीं रह सकता। प्रबल प्रेरणा अपने सम्पर्क क्षेत्र को प्रभावित करती और अनुयायी बनाती रहती है। जब मन और कर्म का एकीकरण करने के उपरान्त चोर, लबार, व्यभिचारी, शराबी, जुआरी,

है उसकी ऊर्जा असाधारण है। जो पढ़ेगा, सुनेगा वह आलोक के क्षेत्र में प्रवेश करेगा और स्वयं को बदलने तथा समय को पलटने में सुनिश्चित रूप से संलग्न दृष्टिगोचर होगा।

भव्य संरचना का आरंभिक शिलान्यास

पिछले एक हजार वर्ष का समय चिन्तन क्षेत्र का, अज्ञानान्धकार युग कहा जा सकता है। उसमें भ्रान्तियों, विकृतियों और दुष्प्रवृत्तियों का इतना अधिक कूड़ा करकट घुसा है जिसकी सड़ाँध से सर्वत्र विपाक्तता ही भरी दीखती है। प्रस्तुत अगणित विपत्तियाँ और विपन्नताएँ उसी की देन हैं । चिन्तन चेतना के इसी स्वरूप को यदि यथावत रहने दिया जाय तो लगा हुआ घुन शहतीर को खोखला ही करेगा। विषाणुओं का परिकर यदि फेफड़े में छोटा-सा स्थान बना ले तो फिर देर-सबेर में सुडौल काया का भी अन्त होकर रहेगा। आज का चिन्तन-प्रवाह प्रायः इसी स्तर का है। उसके प्रभाव क्षेत्र में आने के उपरान्त शरीर, मन, परिवार, वैभव, समाज, सब कुछ विषाक्त होता चला जा रहा है। समृद्धि, शिक्षा, कला, सुविधा-सामग्री की प्रस्तुत अभिवृद्धि को मानवी इतिहास में अद्भुत, असाधारण कहा जा सकता है। यदि चिन्तन भी मानवी गरिमा के अनुरूप रहा होता तो स्थिति-परिणति ऐसी रही होती जिस पर देवता ईर्ष्या करते और स्वर्ग को निछावर किया जा सकता।

अपने समय की एक भूल है-- चिन्तन की उत्कृष्टता को महत्व न मिलना। व्यक्तित्व को सुसंस्कारी बनाने की आवश्यकता एवं परिणति की ओर ध्यान न जाना। सुविधा-साधनों की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता, पर यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि उसका प्रयोक्ता यदि हेय स्तर का रहा तो फिर जो कुछ भी हाथ लगेगा उसका दुरुपयोग ही बन पड़ेगा। आग की चपेट में जो भी सस्ती-महँगी वस्तु आयेगी वह भी मात्र ईंधन की तरह जलेगी। घटिया चिन्तन और ओछा व्यक्तित्व रहते, न तो उचित रीति से, उचित मात्रा मे वैभव अर्जित हो सकेगा और यदि हुआ भी तो उसका उपयोग अपने लिए, दूसरों के लिए, मात्र संकट खड़े करने भर के लिए होता रहेगा। समृद्धि से तात्कालिक लिप्सा तो कोई भी पूरी कर सकता है किन्तु यदि उसका सत्परिणाम अभीष्ट हो तो फिर यह अनिवार्य होगा कि प्रयोक्ता का दृष्टिकोण एवं प्रयोग क्रम उच्चस्तरीय बने।

चिन्तन की निकृष्टता के रूप में जो कूड़ा-कचरा जमा पड़ा है और जन-मानस को प्रभावित करता रहा है उसे बुहारने के लिए सामान्य बुहारी की नहीं वरन् तूफान जैसे अन्धड़ की आवश्यकता पड़ेगी । इन दिनो नियति की संतुलन व्यवस्था ने ऐसा ही प्रवाह उत्पन्न किया है, जिसे विचार क्रान्ति या प्रज्ञा अभियान कहा जा सकता है ।

इसके अन्तर्गत नवयुग की ऐसी विचारधारा का प्रस्तुतीकरण किया गया है जो प्रस्तुत मान्यताओं, आदतों और परम्पराओं का नए सिरे से पर्यवेक्षण और निर्धारण कर सके। युगान्तरीय चेतना के अन्तर्गत ऐसी ही सर्वांगपूर्ण विचार प्रक्रिया का निर्माण किया गया है और उसे प्रज्ञा साहित्य के रूप में जनसाधारण के लिए प्रस्तुत किया गया है। इस छोटे प्रयास से निकट भविष्य में आशातीत और आश्चर्यजनक परिवर्तन होने की अपेक्षा की जा सकती है।

इस नितान्त सस्ते, सर्वसुलभ किन्तु उच्चस्तरीय, सर्वथा व्यावहारिक तत्व-चिन्तन से भरे-पूरे साहित्य का अधिकाधिक लोगों द्वारा पढ़ा जाना वह उपाय है जिसके सहारे विचार क्रान्ति की व्यापक आवश्यकता को सामान्य प्रयत्नों से ही पूरा किया जा सकता है । इतना बन पड़ा तो व्यक्ति का दृष्टिकोण बदलेगा, चिन्तन बदलेगा और उसका सीधा प्रभाव चरित्र पर पड़ेगा। युग परिवर्तन का यही मार्ग है। व्यक्ति बदले तो युग बदले। हम सुधरेंगे तो युग सुधरेगा। यह सुधार परिवर्तन ही प्रस्तुत अगणित समस्याओं का एकमात्र हल है।

विचारों की शक्ति कितनी प्रबल-प्रचण्ड होती है इसे व्यक्तिगत जीवन में हुए महान परिवर्तनों पर दृष्टिपात करके सहज ही समझा जा सकता है। नारद के प्रखर परामर्श ने वाल्मीकि, ध्रुव, प्रह्लाद, पार्वती आदि असंख्यों की दिशाधारा बदल दी। बुद्ध के परामर्श से अंगुलिमाल, हर्षवर्द्धन, अशोक आदि ने अपने पूर्व प्रवाह का काया-कल्प ही कर डाला था। सूरदास, तुलसीदास आदि कितनों ने अपनी पुरानी केंचुल पूरी तरह बदल कर फेंक दी थी। संसार के महामानवों में से प्रत्येक की दिशाधारा मोड़ने-मरोड़ने में मात्र विचार शक्ति की ही भूमिका रही है, भले ही वह कहीं से भी प्राप्त क्यों न हुई हो? शंकराचार्य, तुकाराम, गाँधी आदि जन्म से ही वैसे नहीं थे जैसे उच्चस्तरीय विचारों के अवलम्बन से, उनके प्रयासों ने नया जामा पहना और नया कार्यक्रम अपनाया। यही प्रक्रिया हर छोटे-बड़े महामानव के व्यक्तिगत जीवन में किसी न किसी माध्यम से सम्पन्न हुई है।

व्यापक सामाजिक क्रान्तियों के मूल में यही प्रखर प्रेरणा काम करती दृष्टिगोचर होगी, भले ही बाद में उनका घटना क्रम किसी भी रूप में घटित क्यों न होता रहा हो। साम्यवाद की विचारधारा से आज संसार का आधे से अधिक जन-समुदाय पूरी तरह या आंशिक रूप से प्रभावित है। घटनाक्रम का पर्दा उठा कर देखा जाय तो उसके पीछे कार्लमार्क्स की लेखनी को डायनामाइट की विशालकाय सुरंग जैसी भूमिका निभाते देखा जा सकता है। उसी चिनगारी ने दावानल की तरह प्रकट होकर विश्व के अधिकांश भाग को अपनी लपेट में ले लिया है। प्रजातंत्र के जन्मदाता , रूसो की लेखनी किस प्रकार संसार भर की विवेक विचारणा को झकझोरने में समर्थ हुई ।किसी की समझ में न आने वाला, सर्वथा असंभव

दिखने वाला– ''जनता द्वारा जनता पर स्वयं का शासन'' सिद्धान्त कार्यान्वित हुआ। यह एक जादुई सपने जैसा चमत्कार है। रूसो की लेखनी न उठी होती तो संभवतः आज भी प्रजातंत्र किन्हीं अन्यान्य तत्वदर्शनों में से एक होता और किन्हीं पुस्तकालयों में विराजता। जबकि आज राजमुकुटों के श्मशानों पर प्रजातंत्रीय व्यवस्था सुरम्य उद्यानों की तरह लहलहाती देखी जा सकती है। तीन चौथाई विश्व में आज प्रजातंत्रीय शासन व्यवस्था है। इसे विचार चेतना का प्रस्फुरण कह सकते हैं।

अमेरिका में दासप्रथा की गहराई तक घुसी जड़ों को उखाड़ने का श्रेय श्रीमती स्टो की एक पुस्तक 'टाम काका की कुटिया' को दिया जाता है। वह न लिखी गयी होती तो वहाँ इतना प्रचण्ड आन्दोलन न उभरा होता और लाखों निरीहों को न जाने कब तक उत्पीड़न सहते रहना पड़ा होता। योरोप को पोपवाद के अन्ध विश्वास से छुड़ाने में मार्टिन लूथर की भूमिका अनन्त काल तक स्मरण की जाती रहेगी। भारत में दयानन्द, विवेकानन्द, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, तिलक, अरविन्द आदि ने जो विचार जन-साधारण को प्रदान किये उनके लिये पीढ़ियाँ उनकी कृतज्ञ रहेंगी।

ईसाई धर्म के विस्तार में क्रिश्चियन मिशन द्वारा संसार की समस्त भाषाओं में किये गये विचार प्रसार का, साहित्य प्रकाशन का असाधारण महत्व है। किसी की विचारणा प्रभावित करके ही उसे अभ्यस्त ढर्रे से विरत करके उत्थान-पतन के असाधारण मार्ग पर चलाया जा सकता है। गीता, रामायण का भारतीय जन-मानस पर कितना गहरा प्रभाव है उसे देखते हुए सहज ही समझा जा सकता है कि साहित्य की कितनी क्षमता होती है। भारतीय संस्कृति के रूप में ऋषियों ने जो महान अनुदान दिये हैं उसका एकमात्र माध्यम् उनके द्वारा रचा गया शास्त्र साहित्य ही है, जो अनन्तकाल तक अपना दिव्य आलोक ज्योतिर्मय किये रहेगा। उसकी महत्ता प्रत्यक्ष एवम् सामयिक प्रवचनों से कहीं अधिक है।

उपरोक्त विवरणों से किसी भी विचारशील को यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि उच्चस्तरीय विचारों को जनजीवन में प्रवेश कराने के लिए आलोक भरे साहित्य का कितना अधिक प्रभाव है। अब तो सत्संग भी साहित्य में ही केन्द्रीभूत हो गया है। महान मनीषियों का सान्निध्य सदा उपलब्ध न होना और मुद्रण कला के आविष्कार से सत्साहित्य सरलतापूर्वक मिल सकना यह दोनों ही संयोग मिलकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सामयिक विचारक्रान्ति के लिए युगान्तरीय चेतना को शिक्षित लोग पढें और अशिक्षित सुने तो वह प्रयोजन पूरा हो सकता है जिसे 'लोकमानस का परिष्कार' कह सकते हैं। यदि यह प्रक्रिया सचमुच ही चल पड़े और यह प्रयास वस्तुतः व्यापक हो सके तो समझना चाहिए प्रज्ञा अभियान के प्रतिपादन, जन-जन के मन-मन को युग चिन्तन के साथ जोड़ने और अवाछनीयता से विरत करके औचित्य का पक्षधर बनाने में सफलता मिल सकती है।

उथले व्यक्तियों के उथले प्रतिपादन तो ऐसे ही बेपर की उड़ानें बनकर छितराते, लातें खाते और उपहासास्पद बनते रहते हैं परन्तु युग ऋषियों द्वारा काल-मन्थन की प्रज्ञा साधना का आधार लेकर जो प्रतिपादन प्रस्तुत किये जाते हैं, उनके बारे में बात ऐसी नहीं है। विवेक समर्थित तथ्यों पर आधारित ऐसी युगान्तरीय चेतना तो सदा व्यापक बनती और सफल होती रही है। पहले उन्हें विज्ञजन अपनाते हैं बाद में जनसाधारण के गले उतारने योग्य भी बन जाती है। प्रभात किरणें सर्वप्रथम पर्वत शिखरों पर चमकती हैं। बाद में उनके आलोक से समूचा धरातल ज्योतिर्वान होने लगता है। ऋतु प्रभावों की क्षमता ऐसी होती है कि जड़-चेतन को उनकी क्षमता मानने और तदनुरूप अपनी गतिविधियाँ बदलने के लिए विवश होना पड़ता है। वर्षा में जल-जंगल एक होते और धरातल पर हरे कालीन बिछते देखे जा सकते हैं। शीत से सभी सिकुड़ते हैं, पेड़ तक अपने पत्ते गवाँ बैठते हैं। गर्मी में चक्रवात घूमते, अन्धड़ चलते और गर्मी से प्राणियों को हाँफते, मुँह छिपाने के लिए छाया ढूँढ़ते देखा जा सकता है। वसन्त आया नहीं कि वनस्पतियाँ फलों से लदती हैं, पशु-पक्षी कुदकते-फुदकते हैं और कोयलों; भौंरों के झुण्ड अपनी तान सुनाते फिरते हैं। यह ऋतु प्रभाव का चमत्कार है। प्रचण्ड विचारों के प्रवाह को भी ऐसे स्तर का समझा जा सकता है। वातावरण बना तो फिर अनुगमनकर्ताओं की कमी नहीं रहती। बुद्ध को लाखों परिव्राजक मिले। गाँधीजी को सत्याग्रहियों की कमी नहीं पडी। राम दल में न जाने कहाँ-कहाँ से रीछ-बानर आ घुसे। गोवर्धन उठाने वाले ग्वाल-बालों का संख्या बल, साहस और उत्साह देखते ही बनता था। इसी को कहते हैं ऋतु प्रभाव जैसा वातावरण।

स्वाध्याय मण्डलो की स्थापना वाला प्रज्ञा अभियान का प्रस्तुत चरण ऐसा ही है, जिसके पीछे युगान्तरीय चेतना की अदृश्य प्रचण्ड प्रेरणा अपनी प्रखरता का परिचय देती हुई देखी जा सकती है। ऐसे प्रसंगों में विस्तार होते देर नहीं लगती। एक चिनगारी देखते-देखते दावानल बन सकती है और सुविस्तृत क्षेत्र को भस्मसात कर सकती है। ईसा, बुद्ध, गाँधी आदि के रूप में उत्कृष्टता की पक्षधर क्रान्तियाँ भी आँधी-तूफान की तरह उठीं और अपना प्रयोजन पूरा करने के उपरान्त ही रुकीं। इस महत् कार्य के लिए संकल्पवान परिजनों के उठ खड़े होने भर की देर है। संकल्प की शक्ति महान है। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि जो भी अपने संकल्प के प्रति सच्चा होगा और उसके प्रति निष्ठा, लगन, परिश्रम का परिचय देगा वह सीमाबद्ध होकर नहीं रह सकता। प्रबल प्रेरणा अपने सम्पर्क क्षेत्र को प्रभावित करती और अनुयायी बनाती रहती है। जब मन और कर्म का एकीकरण करने के उपरान्त चोर, लबार, व्यभिचारी, शराबी, जुआरी,

दुर्व्यसनी अपना गिरोह बनाते और परम्परा चलाने में सफल होते रहते हैं तो कोई कारण नहीं कि प्राणवान, निष्ठावान और संकल्पवानों को सीमाबद्ध होकर रहना पड़े। वंश वृद्धि की तरह विचार-विस्तार का भी अपना क्षेत्र है और उसमें भी एक से अनेक होने की स्रष्टा के मूल संकल्प की तरह परिपूर्ण गुंजाइश है।

स्वाध्याय मण्डल प्रक्रिया के विस्तार की बात सोचनी हो तो उसके लिए पूरी-पूरी गुंजायश विद्यमान है। बीस लाख प्रज्ञा परिजनों में से सौ के पीछे एक भी प्रज्ञा पुत्र स्तर का हो और वह मात्र एक स्वाध्याय मण्डल बनाता चले तो बीस हजार मण्डल बन सकते हैं। प्रत्येक के तीस सदस्य होने पर यह उस पुण्य प्रयोजन में निरत व्यक्तियों की संख्या छह करोड़ हो जाती है। इतने व्यक्ति एक से पाँच वाली छलाँग मात्र तीन बार लगा दें तो उसकी लपेट में संसार भर में बसने वाले ४५० करोड़ मनुष्यों का समुदाय सरलतापूर्वक आबद्ध हो सकता है। स्वाध्याय एक व्यक्ति तक सीमित हो तो वह नगण्य हो सकता है पर यदि उसके साथ एक से पाँच के विस्तार वाली चक्रवृद्धि प्रक्रिया जुड़ जाती है तो समझना चाहिए कि अपनी उपयोगिता और वरीयता के कारण उसको विश्वव्यापी बनाने की पूरी-पूरी सम्भावना विद्यमान है। आरम्भ में ही प्रयास लड़खड़ा जाय और होली की आग बुझ जाय तो ही निराशा का अवसर आ सकता है।

स्मरण रहे, बात भजन-पूजन की तरह स्वाध्याय के रूप में पन्ने उलट देने की चिन्ह पूजा कर देने जैसी नहीं है। इसके पीछे, पढ़ने वाले को झकझोर डालने वाले और उठाकर खड़ा कर देने वाले प्रभातकाल जैसी ऊर्जा एवं प्रेरणा भरी पड़ी है। जो प्रज्ञा साहित्य नियमित रूप से पढ़ेगा वह कुछ नये ढंग से सोचेगा और अन्ततः "हम बदलेंगे के साथ-साथ युग बदलेगा" की भूमिका निभाते हुए भी दृष्टिगोचर होगा। उसी विचारणा को जीवन्त कहा जा सकता है जो कार्यरूप में विकसित हो। बीज वही सराहनीय है जो अंकुरित होने का समय आने पर अपने जीवन्त होने का प्रमाण प्रस्तुत करे। युगान्तरीय चेतना इस दृष्टि से प्राथमिक परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुकी है। एक बीज ने गलकर जिस वृक्ष के रूप में विकास किया है उससे उत्पन्न हुई फसल को बीस लाख दानों के रूप में उँगलियों पर गिना जा सकता है। प्रज्ञा परिवार के वर्तमान बीस लाख सदस्य इस बात के साक्षी हैं कि उन्हें युग साहित्य के माध्यम से मिलने वाली ऊर्जा ने कितना नरम गरम किया है और बदल कर कहाँ से कहाँ ला टिकाया है। इतनी साक्षियों पर किसी को विश्वास हो सके तो उसे यह भी अनुभव करना चाहिए कि प्रज्ञा साहित्य के स्वाध्याय का प्रचलन यदि छोटे श्रीगणेश से आरंभ होकर क्रमशः अधिकाधिक व्यापक और विस्तृत होता चला गया तो उसकी क्या परिणति हो सकती है। स्रष्टा के "**एकोऽहं बहुस्याम**" संकल्प की ही तरह वंश वृद्धि की सर्वत्र दीख पड़ने वाली प्रक्रिया विचार विस्तार पर भी लागू हुए बिना रह नहीं सकती। शर्त एक ही है कि उसके मूल में तथ्य एवं सत्य हों और ज्वलन्त करने के लिए प्राणवान ऊर्जा स्रोत व्यक्तित्व। स्वाध्याय मंडलों की छोटी स्थापना के पीछे यह सभी आधार विद्यमान हैं।

देर श्रीगणेश भर की है। देरी बिगुल बजाने वालों की है। समय की माँग, मानवी गरिमा की गुहार, एक सुसज्जित सेना की तरह कमर बाँधे खड़ी है। उसे प्रयाण का आदेश मिलने भर की देर है। चतुरंगिणी कहाँ से कहाँ जा पहुँचेगी और क्या से क्या कर गुजरेगी? इसे अपनी यही आँखें देख और उन दृश्यों को जादू-चमत्कार जैसा अनुभव कर सकती हैं। स्वाध्याय मंडलों का स्थापना का छोटा काम इसी दृष्टि से प्रज्ञा परिजनों को सौंपा गया है कि इसे एक कल्पवृक्ष उद्यान का बीजारोपण मानकर उसे सरलतापूर्वक सम्पन्न कर सकें और नवसृजन में अपनी भागीदारी का एक ऐतिहासिक अध्याय पूरा कर सकें।

बीजारोपण की सुविस्तृत परिणति

सद्ज्ञान की, स्वाध्याय की, प्रज्ञा प्रेरणा की गरिमा समझने वाले पाँच एवं पच्चीस अन्यों के मिलने से बना हुआ तीस का स्वाध्याय मण्डल अपना कार्यारम्भ तो प्रज्ञा साहित्य पढ़ने-पढ़ाने से करेगा, पर उस छोटी परिधि तक सीमित नहीं रहेगा। ज्ञान यदि जीवन्त है तो वह कर्म के रूप में विकसित होगा ही। सड़ता तो घुना बीज है। जिसमें जीवन मौजूद है उसके अंकुरित-पल्लवित होने में किसी व्यवधान की आशंका नहीं है।

विश्वास किया जाना चाहिए कि स्वाध्याय मंडल के सदस्य अपने चिन्तन और चरित्र में, स्वभाव और दृष्टिकोण में ऐसा उत्साहवर्द्धक परिवर्तन करेंगे, जिससे प्रज्ञा साहित्य की प्रखरता सिद्ध हो सके। यह पठन ऐसा है जो अन्तराल के मर्मस्थल तक पहुँचने के उपरान्त-कर्म क्षेत्र में उतरने की तड़पन उत्पन्न करता है। युग सन्धि जैसे ऐतिहासिक अवसर पर तो समय की चुनौती स्वीकार करने में जाग्रत आत्माओं का पौरुष उन्हें दबा-दबोच कर अग्रिम पंक्ति में खड़ा होने के लिए विवश करेगा। ऐसी उमंगें जिस भी अन्तःकरण में उठती हैं उसे सत्प्रयोजनों के लिए उदार अनुदान प्रस्तुत करने के लिए विवश करती हैं। आदर्शों से अनुप्राणित व्यक्ति मूकदर्शक बनकर नहीं बैठ सकते, उन्हें पठन-पाठन से एक कदम आगे बढ़ाकर समयदान और अंशदान की श्रद्धांजलि से युग देवता की झोली भरनी पड़ती है। आपत्तिकालीन आवश्यकता हर विचारशील को बेचैन करती है और विपत्ति से जूझने में पड़ने वाले घाटे को सहन करने का शौर्य-साहस उभारता है। स्वाध्याय मंडल के छोटे-बड़े सदस्य यदि सचमुच महाप्रज्ञा के प्रति निष्ठावान बन सकें तो समझना चाहिए कि उनमें से

प्रत्येक का कर्तृत्व हजारीबाग जिले को यशस्वी बनाने वाले अनगढ़ हजारी किसान की भूमिका निभाने में पीछे न रहने देगा। पिसनहारी यदि पुण्य-परमार्थ के क्षेत्र में यशस्वी हो सकती है तो कोई कारण नहीं कि प्रज्ञा पाठक मात्र वाचन व्यसन को ही गले बाँधे बैठे रहें। युग निमन्त्रण पर कान न धरें।

प्रज्ञा पाठकों की उमंग एक से बहुत बनने के रूप में उभरेगी। हर जीवन्त प्राणी से जब भी उभरेगी वह वंश वृद्धि में रस लेगा, उसका ताना-बाना बुनेगा, संयोग जुटायेगा और अन्ततः उस मार्ग पर कदम बढ़ाने के उपरान्त जो उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर आते हैं उन्हें खुशी-खुशी निभायेगा। जब वनस्पतियों से लेकर जीव-जन्तुओं की छोटी प्रजातियों तक में यह प्रकृति प्रेरणा अपना काम निर्वाध रूप से कर रही है तो कोई कारण नहीं कि प्रज्ञा प्रेरित आत्माएँ अपने साथी-सहयोगी बढ़ाने का प्रयत्न न करें। वंश में प्रजनन ही नहीं विचार शृंखला की पकड़ का विस्तार होना भी एक तथ्य है। गोत्र पूर्वजों से ही नहीं गुरु परम्परा से भी चलते हैं। प्रज्ञा साहित्य से जिन्हें नर-चेतना मिली है वे उसका कार्यक्षेत्र बढ़ाये बिना विस्तार किये बिना रह ही नहीं सकते। जब चोर-लवार अपने साथी बढ़ाते चलते हैं तो कोई कारण नहीं कि स्वाध्याय मंडल के सदस्यों, प्रज्ञा परिजनों को वैसा करने का उत्साह न उमँगे।

एक से पाँच का प्रजनन-विस्तार निरन्तर आगे बढ़ता रहेगा। यह महाकाल की प्रस्तुत प्रेरणा प्रवाह को देखते हुए एक प्रकार से निश्चित ही समझा जा सकता है। एक संस्थापक, जब पाँच साथी और पच्चीस सहयोगी ढूँढ़कर तीस की मण्डली देखत-देखते बना सकता है तो कोई कारण नहीं वह वंश वृद्धि आगे न चले। इतने पर ही समाप्त हो जाय।

प्रज्ञा अभियान के समर्थक, प्रशंसक तो आमतौर से सभी हैं। जो उसके प्रतिपादनों की व्यवहार में अवज्ञा करते हैं वे भी सिद्धान्ततः विरोध करने का साहस नहीं कर सकते। बात एक कदम आगे और बढ़ने को है जहाँ परिवार में प्रवेश करने और सहयोगी के रूप में कदम से कदम मिलाकर चलने, उत्तरदायित्वों से कन्धा लगाने का साहस दिखाना पड़ता है। मिशन के सदस्य या परिजन ऐसे ही लोग माने जाते हैं। उनके लिए अपने-अपने क्षेत्रों में सृजनात्मक सत्प्रवृत्तियों के सम्वर्द्धन में क्रियात्मक योगदान पड़ता है। इसके दो प्रकार हैं- (१) समयदान (२) अंशदान। यह दोनों ही प्रस्तुत करने पड़ते हैं।

जाग्रत आत्माओं को हर दिन दो घण्टा और बीस पैसा निकालने चाहिए। यही है वह पूँजी जिसके आधार पर लोकमानस के परिष्कार-सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन और अनुपयुक्त प्रचलनों का आमूलचूल परिवर्तन किया जाना है। हर काम श्रम और साधन माँगता है। ५०० करोड़ मनुष्यों की इस दुनिया को अब अवांछनीयता से उबारना और नव-सृजन के मोर्चे पर जुटाना है। १९६,९३८८०० वर्ग मील व्यास के पृथ्वी के इस धरातल की परिस्थितियों का कायाकल्प करना है, तो उसी परिमाण में श्रम और साधन लगेंगे।

यह कहीं से दबाव देकर मिलना नहीं है। भावनाशील जाग्रत आत्मा जहाँ अन्तःप्रेरणा का, युगचेतना का दबाव अनुभव करेंगे वहीं से ये दोनों अनुदान भी स्वेच्छापूर्वक उभरेंगे और समय की माँग पूरी करने के निमित्त कारण बनेंगे, अपना ही नहीं अपने प्रभाव क्षेत्र में आने वालों का सहयोग अर्जित करेंगे। स्वाध्याय मंडल की स्थापना में यही हो भी रहा है। संस्थापक एक, उसके घनिष्ठ साथी नैष्ठिक सदस्य पाँच। फिर उसके समर्थक पाँच-पाँच। इस प्रकार बीस की एक ऐसी मंडली का निर्माण जो युग धर्म के निर्वाह में या तो कटिबद्ध हो चली या होने वाली है। यह तीस गोबर के चोथ बने रहे, एक संस्थापक ही सदा सर्वदा कठपुतलियाँ नचाता रहे, ऐसा नहीं हो सकता। आशा की जानी चाहिए कि इनमें से भी अधिकांश लोग ऐसे निकलेंगे जो दूसरों के कन्धों पर चढ़े रहने से आगे बढ़ें। अपने पैरों आप चलें। दूसरों को अपने कन्धों पर बिठायें। इस प्रकार एक से पाँच की प्रक्रिया को स्वतन्त्रतापूर्वक चलाने वाले कर्मवीर भी क्रमशः निकलते ही चलेंगे। वंश वृद्धि सन्तानोत्पादन के क्षेत्र में ही रोकी जाती है। विचार क्रान्ति के क्षेत्र में ही एक-एक से पाँच का क्रम अपना सुनिश्चित रूप से चलना चाहिए।

[१] १ से ५ [२] ५ से २५ [३] २५ से १२५ [४] १२५से ७२५ [५] ७२५ से ३६२५ [६] ३६२५ से १८१२५ [७] १८१२५ से ९०६२५ [८] ९०६२५ से २७३१२५ [९] २७३१२५ से १३६५६२५ [१०] १३६५६२५ से ६८२८१२५ [११] ६८२८१२५ से ३४१४०६२५ [१२]३४१४०६२५ से १७०७०३१२५ [१३] १७०७०३१२५ से ८५३५१५६२५ [१४] ८५३५१५६२५ से ४२६८०६८१२५। चौदहवीं सीढ़ी पर पहुँचते-पहुँचते यह एक से पाँच का क्रम प्रायः उतना ही हो जाता है जितना कि संसार भर की जनसंख्या। वस्तुतः सुधारना-सँभालना तो इनमें से एक तिहाई को ही है। क्योंकि समर्थ, सक्षम तो प्रायः उतने ही हैं। दो तिहाई तो बच्चे-बूढ़े, अल्पवयस्क, रोगी, अपंग आदि होते हैं। इस प्रकार एक विचार पीढ़ी उत्पन्न होने में एक वर्ष से अधिक समय नहीं लगना चाहिए। स्वाध्याय मंडल के पाँच नैष्ठिक सदस्य यदि एक वर्ष में अपने-अपने स्वतन्त्र पाँच स्वाध्याय मण्डल बना लें तो इसमें किसी को कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिए। हर व्यक्ति की अपनी प्रतिभा है हर व्यक्ति का अपना सम्पर्क क्षेत्र है। बड़े आदमी, बड़े प्रभाव और बड़े साधनों से काम करें, उसका औचित्य है। पर उनके लिए रुका तो नहीं जा सकता। नौ मन तेल जुटने पर राधा का नाच होने की प्रतीक्षा में कब तक बैठे रहा जाय। जेब की माचिस जलाकर पैर में चुभे काँटे को तो तुरन्त निकालना पड़ता है। सुराही-गिलास ढूँढ़कर तुरन्त गला गीला करना

पड़ता है। इसके लिए माचिस की एक तीली का एवं एक गिलास पानी का आर्थिक दृष्टि से न सही उपयोगिता की दृष्टि से बहुत बड़ा मूल्य है।

साधनों की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि श्रम की। दो घण्टा रोज समय देने में एक व्यक्ति का श्रम वर्ष में ७२० घण्टे होते हैं। इसे प्राय: १०० पूरे दिन मान सकते हैं। यदि प्रज्ञा परिवार के १ लाख प्राणवान-प्रज्ञा पुत्र इतनी छोटी श्रद्धांजलि नियमित रूप से युग देवता के चरणों में अर्पित करने लगें तो ये वर्ष में १ करोड़ दिन होते हैं। इन्हें ३६० दिनों में विभाजित किया जाय तो प्रतिदिन प्राय: २० हजार लोक-सेवी प्रतिदिन सृजन प्रयोगों में जुटे रहने जैसी चमत्कारी शक्ति हाथ लग सकती है। यही बात २० पैसा प्रतिदिन के सम्बन्ध में भी है। एक लाख व्यक्ति हर दिन इतनी छोटी राशि निकालें तो उसका योग हर दिन २० हजार तथा महीने में ६ लाख रुपया होता है। यह राशि कम भी है और अधिक भी। कम इसलिए कि ५०० करोड़ को अगणित समस्याओं से उबारना है। अधिक इसलिए कि भावभरे अनुदान और उनका सर्वश्रेष्ठ उपयोग बन पडे तो इतने भर से नवसृजन का ऐसा तूफानी आन्दोलन खडा हो सकता है, जिसके प्रवाह में असंख्यों तिनके, पत्तों और धूल कण आकाश चूमते और घोडे की चाल दौड़ते दृष्टिगोचर होने लगें।

प्रज्ञा परिवार में एक लाख नहीं २४ लाख नाम हैं, पर उनमें से अधिकांश भावना शून्य हैं। इसलिए अनुदान का वचन तो देते हैं पर निभाते नहीं। इनकी प्रसुप्त भावनाओं को झकझोरने का काम प्रज्ञा साहित्य के नियमित स्वाध्याय से कम में और किसी प्रकार बन नहीं पड़ेगा। बात वर्तमान सूची की नहीं। उसमें यदि निष्क्रियों का बाहुल्य मान लिया जाय तो भी यह भावना की जा सकती है जिन स्वाध्याय मण्डलों के माध्यम से जो तीस-तीस की मण्डलियाँ बनें भी उनमें आधे-चौथाई अवश्य भावनाशील निकलेंगे और कम से कम न्यूनतम अनुदान प्रस्तुत करने की उदारता तो दिखायेंगे ही। फिर सभी इतने कृपण कहाँ होते हैं जो बीस पैसे से अधिक की उदारता न दिखा सकें। पारिवारिक उत्तरदायित्व से निवृत्त, आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी जिन पर उपार्जन की जिम्मेदारी लदी ही नहीं, ऐसे अगणित व्यक्ति हो सकते हैं, जो दो घण्टे की बात क्या, सोने-खाने के घण्टे छोडकर युग धर्म के निर्वाह में अंगद, हनुमान की तरह, भीम, अर्जुन की तरह अहिर्निश जुटे रह सकें। यह चर्चा मात्र एक लाख को जाग्रत आत्माओं की श्रेणी में मिला कर की जा रही है। यदि वह संख्या बीस गुनी हो सके। बीस लाख तक पहुँच सके तो अपना प्रज्ञा परिवार ही समूची मानवता को प्रस्तुत विभीषिकाओं से उबारने और उज्ज्वल भविष्य के सपने साकार करने में पूरी तरह सफल हो सकता है।

युग परिवर्तन कोई जादू नहीं है। वह न तो लकड़ी घुमाकर पिटारी में से निकलने वाला है और न देवता उसे पुष्प वर्षा की तरह धरती पर बिखरने वाले
उसके लिए जाग्रत आत्माओं को रीछ-बानरों की तर
कठोर समर्पित जीवन जीना और कठोर श्रम करन
पड़ेगा। व्यक्ति और समाज के समक्ष हजार समस्याएँ, विपत्तियाँ और विभीषिकाएँ प्रस्तुत हैं। उन्हें निरस्त करने के लिए अवांछनीयताओं के साथ जमकर लोहा लेना है। अशिक्षा, गरीबी, रुग्णता और हीनता से ग्रसित मानवता को उबारने का, सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन का गोवर्धन उठाना है। प्रवाह को बदलना है। प्रचलनों को उलटना है। चिन्तन का परिमार्जन और चरित्र व्यवहार में नये सिरे से शालीनता को प्रतिष्ठापित करना है। इस बहुमुखी सृजन प्रयोजन के लिए अगणित भावभरे युगशिल्पी चाहिए। उन्हीं को उगाने, सींचने और पकाने के लिए प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत स्वाध्याय मण्डलों को इन दिनों प्रमुखता दी जा रही है। युग निर्माण के साधकों को अपना चरम पुरुषार्थ इस केन्द्र-बिन्दु पर नियोजित करना चाहिए। अपने प्रभाव क्षेत्र में इन्हें अधिकाधिक संख्या में बनाने, उन्हें सुनियोजित ढंग से चलाने एवं इस निमित्त जिन साधकों की आवश्यकता है, उन्हें जुटाने के लिए भरपूर प्रयत्न करना चाहिए। इस उदार सेवा-साधना को अपनाकर वे भूत का प्रायश्चित, परिमार्जन तथा भविष्य निर्धारण के निमित्त आवश्यक पुण्य-परमार्थ का उत्साहवर्द्धक अर्जन कर सकेंगे।

प्रज्ञा आलोक के विस्तार की सरल प्रक्रिया

जन-जन को प्रज्ञा मिशन के प्रतिपादनों, समाधानों और निराकरणों से अवगत कराने का व्यापक अभियान इन्हीं दिनों चलाया जाना है। इसके बिना अपरिचितों को परिचित और परिचितों को सृजन प्रयोजनों में भागीदार बनाने का प्रयोजन पूरा हो नहीं सकेगा। इसलिए प्रज्ञा साहित्य के माध्यम से सर्वप्रथम उस विचार को लोकमानस में प्रतिष्ठित किया जाना है, जिसके सहारे प्रस्तुत दुष्प्रवृत्तियो का, भ्रांतियों का निराकरण सम्भव हो सके। यही है लोकशिक्षण की प्राथमिक आवश्यकता जिससे युगान्तरीय चेतना को अग्रगामी बनने का अवसर मिलता है।

स्वाध्याय मण्डल का संस्थापक एक व्यक्ति हो सकता है पर उसके संचालक अन्य चारों को मिलाने से पाँच पाण्डवों जैसे देवसमुदाय का गठन होता है। यह सभी सर्वप्रथम एक जैसे कार्य में प्रवृत्त होंगे। उनके सम्पर्क, परिचय, पड़ौस, सम्बन्ध एवं प्रभाव पहुँच के अन्तर्गत कितने ऐसे लोग आते हैं जिन्हे शिक्षित एवं विचारशील कहा जा सके। शिक्षितो मे भी कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें स्कूल छोड़ने के बाद पुस्तकों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। जो यदाकदा चिट्ठी लिखने-पढ़ने के लिए आँखों को कष्ट देते हैं। हिसाब लिखने या दैनिक व्यवहार के कए

आवश्यक कार्यों को ही नोट करते हैं। धोबी को कपड़े देने जैसी बातों के लिए ही कलम का उपयोग करते हैं। ऐसे लोगों के लिए अध्ययन एक भार है। पुस्तक निरर्थक है। इस शिक्षित वर्ग को विचारशीलों में नहीं गिना जा सकता। जहाँ विचार उठते होंगे वहाँ जानने- समझने की जिज्ञासा उठती है और उसके लिए उपयोगी साहित्य पढ़े बिना काम नहीं चलता। भले ही मनोरंजन के लिए सही। पर जिन्हें पढ़ने की आदत है, उन्हें विचारशील वर्ग में गिना जा सकता है। स्वाध्याय मण्डल के संस्थापकों, संचालकों को अपने परिचय क्षेत्र में ऐसे ही लोगों पर दृष्टि डालनी चाहिए और देखना चाहिए कि उनमें से किनके साथ सरलतापूर्वक सम्पर्क सध सकता है। इस नियमावली के शुभारम्भ की वेला में ही नोट कर लेना चाहिए और योजना बनानी चाहिए कि पाँच पाण्डवों में से कौन किनके, कितनों के साथ सम्पर्क साधने की स्थिति में है। इतने चिन्तन के उपरांत ही गाड़ी आगे चलती है।

यों हर पांडव को पाँच-पाँच व्यक्तियों से सम्पर्क साधने के लिए कहा गया है पर उसे न्यूनतम निर्धारण ही समझना चाहिए। अधिक का अधिक फल है। एक ही रास्ते में एक ही मुहल्ले में दस व्यक्ति मिलते या आस-पास रहते हैं तो क्यों पाँच तक सीमित रहा जाय और क्यों शेष पाँच को छोड़ दिया जाये। आवश्यक नहीं कि पाँच व्यक्ति पच्चीस से ही सम्पर्क साधें? पच्चीस या सौ का अवसर है तो उसकी इसलिए उपेक्षा करें कि पाँच के लिए ही कहा गया है। मर्यादा न्यूनतम की है, इससे कम न होनी चाहिए। अधिक पर कोई प्रतिबन्ध नहीं। कोई प्रधानाध्यापक अपने स्कूल के वयस्क छात्रों में से सौ चुन कर उनमें से प्रत्येक को एक पुस्तिका पढ़ाता रहे तो इसमें उसे रत्ती भर भी कोई कठिनाई न पड़ेगी, न अतिरिक्त श्रम करना पड़ेगा, न अधिक समय देना पड़ेगा।

दफ्तरों में ढेरों बाबू काम करते हैं। कारखानों में ढेरों श्रमिक और कारीगर काम करते हैं, चिकित्सकों के यहाँ ढेरों मरीज आते हैं। दुकानदारों के यहाँ परिचित ग्राहक आये दिन सौदा खरीदते रहते हैं। पोस्टमैनों को आये दिन सैकड़ों का द्वार खटखटाना पड़ता है। सामान्य प्रयोजनों के लिए चलने वाले सम्पर्क में तो अन्यत्र जाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती । घर या दफ्तर, कारखानों में ही ढेरों से मिलना-जुलना होता रहता है, आवागमन बना रहता है। इसी बीच एक काम प्रज्ञा साहित्य को देना और पढ लेने पर वापिस लेना भी चलता रहे तो कोई अतिरिक्त तैयारी करने, अलग से योजना बनाने की आवश्यकता न पड़ेगी। इसी सम्पर्क से यह देखते रहा जा सकता है कि सुरुचि कहाँ है? विचारशीलता किन में है। जिन्हें उपयुक्त पाया जाय, उन्हें प्रस्तुत साहित्य का गुणानुवाद गाया जाय, उसे पढ़ने का लाभ समझाया जाय इसके बाद यदि थोड़ी-सी उत्सुकता उठती दिखाई दे तो पुस्तकें देने, वापिस लेने का सिलसिला चलाया जाय। जहाँ सर्वथा अरुचि, उपेक्षा हो वहाँ जबरदस्ती सिर पर पटकने से पुस्तक भी हाथ से चली जाती हैं। ये इधर उधर फेंक देते हैं। ढूँढ़ते हैं तो मिलती नहीं। बाजार में बँटने वाले इश्तहार पर्चों की तरह जिसने इस साहित्य को भी थोपा हुआ अनुभव किया होगा उससे पढ़ने की तो आशा की ही नहीं जा सकती। दी हुई वस्तु वापिस लौट सके तो बहुत। जहाँ ऐसी अन्यमनस्कता दिखाई पड़ती हो, वहाँ संख्या बढ़ाने, बेगार भुगतने की दृष्टि से जबरदस्ती देने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

पढ़ने वालों में सबसे प्रथम अपने घर-परिवार के शिक्षित वयस्कों पर नजर डालनी चाहिए। चौदह-पन्द्रह वर्ष से अधिक आयु के बच्चे प्रायः समझदारी के क्षेत्र में प्रवेश करने लगते हैं। घरों में कई महिलाएँ भी शिक्षित होती है। पर काम-काज की व्यस्तता और पढ़ने-पढ़ाने का अवसर वातावरण न होने से उनका रुझान भी मुरझा जाता है। इन्हें उत्साहित किया जा सकता है। इसके लिएं इस साहित्य के प्रभाव प्रतिफल का महत्व समझना और उत्कण्ठा उत्पन्न करना प्रथम कार्य है। इसके बाद ही देने-लेने का सिलसिला चलाना ठीक पड़ता है अन्यथा बिना पढ़े वापिस लौटा देने या खरीदने पर खीज उत्पन्न होती है और कई बार तो अवज्ञा अनुभव होने पर मन-मुटाव तक चल पड़ता है।

हर घर-परिवार में कुछ-न-कुछ व्यक्ति शिक्षित होते हैं। उनमें प्रयास करना सबसे सरल पड़ता है। बिना अन्यत्र गये-आये भी पाठक मिल जाते हैं और लिया हुआ व्रत, किया हुआ संकल्प, ओढ़ा हुआ उत्तरदायित्व सहज सधने लगता है। अधिक घनिष्टों को पहले लेना चाहिए, उनसे कड़क कर भी कहा जा सकता है जबकि बाहर वालों से घुमा-फिराकर बात करनी पड़ती है। उनकी प्रकृति परखनी पड़ती है। यह ध्यान रखना पड़ता है कि इन दिनों किसी परेशानी में 'मूड' बिगड़ा हुआ तो नहीं है। लोगों को कुमार्ग पर चलने में, अश्लील, अपराधी, कुरुचिपूर्ण साहित्य पढ़ने में तो थोड़ी बहुत रुचि भी होती है किन्तु आदर्शवादी प्रतिपादनों को रूखा, नीरस समझा जाता है, इसलिए उसे गले उतारने के लिए कुनैन पर शक्कर चढ़ाने जैसा बानक बनाना पड़ता है।

आरम्भ में हर व्यक्ति से अलग-अलग मिलना और देना ही उपाय है। किन्तु बाद में यह भी हो सकता है कि एक घर के कई व्यक्तियों के लिए एक ही व्यक्ति कई पुस्तकें एक साथ ले जाय और पढ़ लेने पर सभी से समेट कर इकट्ठा ही वापिस कर जाय।

जब डाकखाने और सम्बन्धित गाँव दूर-दूर थे तब पोस्टमैन ऐसा ही करते थे एक गाँव की चिट्ठियाँ किसी एक व्यक्ति के हाथ में थमाकर यह प्रार्थना कर दी जाती कि वह उन सभी के घरों पर वे पत्र पहुँचा दें। उन दिनों यह कार्य सब लोग उत्साहपूर्वक कर भी देते थे। इस प्रकार पोस्टमैन को लम्बा रास्ता नापने से राहत मिल

जाती थी। बड़े गाँव में हाट लगती थीं। कुछ न कुछ खरीदने के लिए उसमें आस-पास के लोग आते थे चिट्ठियाँ उनके हाथ भी पहुँचा दी जाती थीं। इस प्रकार अन्य लोगों की सहायता से यह पुस्तकों का लेन-देन आसानी से चलता रह सकता है।

स्कूल के लड़के अपने परिवार के लोगों के लिए पुस्तिकाएँ ले जाने, वापिस ले आने के माध्यम बन सकते हैं और स्कूलों के अध्यापक न केवल छात्रों को वरन् उनके परिवार को प्रज्ञा साहित्य से लाभान्वित करने का सिलसिला चलाते रह सकते हैं। इसी प्रकार कुछ समय बाद ऐसा भी उपक्रम चलता रह सकता है, जिसमें अन्यान्य सहयोगी-सहायकों के माध्यम से स्वाध्याय मण्डल के द्वारा व्यापक बनाई जाने वाली युगान्तरीय चेतना के प्रकाश से एक ही केन्द्र द्वारा शताधिक व्यक्ति अनुप्राणित, प्रभावित, प्रशिक्षित होकर अपनी-अपनी स्वतंत्र भूमिका सम्पन्न करने लगें।

स्मरण रहे प्रज्ञा साहित्य की गणना सामान्य स्तर की पुस्तकों में नहीं की जा सकती। अन्यान्य विचारकों ने युग समस्याओं को प्रायः राजनैतिक, आर्थिक दृष्टि से देखा और उस स्तर का समाधान खोजा है। मात्र प्रज्ञा अभियान ही है जिसने समस्त समस्याओं के एकमात्र कारण आस्था संकट को गहराई से समझा और अनुरूप समाधान प्रस्तुत किया है। इसलिए इस प्रतिपादन को अन्य किसी भी प्रतिपादन के समकक्ष नहीं ठहराया जा सकता।

प्रज्ञा साहित्य का सृजन, युग-चेतना उभारने के लिए

मनोरंजन के अनेक प्रयोग-प्रसंगों में एक गणना 'पढ़ने' की भी होती है। बच्चों से लेकर बूढ़े तक मन बहलाने और समय काटने के लिए कुछ पढ़ने का प्रयत्न करते हैं। जो पढ़े नहीं हैं वे इस विद्या का लाभ सुनकर उठाते रहते हैं। जानकारियाँ बढ़ाने के लिए यह आवश्यक भी है। निजी अनुभव से तो मनुष्य बहुत कम जान-समझ पाता है इसलिए उसे दूसरी जानकारी की सहायता से अपनी ज्ञान-सम्पदा बढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है। मनोरंजन और ज्ञान संचय के उभयपक्षीय प्रयोजन अध्ययन द्वारा पूरे होते हैं, इसलिए शिक्षा और साहित्य की उपयोगिता समझी और व्यवस्था की जाती है। इन दिनों पुस्तक प्रकाशन उद्योग भी बढ़ोत्तरी पर है, पत्र-पत्रिकाओं की संख्या भी बढ़ती ही जाती है।

स्वाध्याय मण्डल के प्रयोग को इस सामान्य उपक्रम में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। उसके उद्देश्य, स्वरूप, कार्यक्रम एवं निर्धारण सामान्य पठन-पाठन की प्रक्रिया से बहुत आगे का, बहुत ऊँचा निर्धारण कहा जाय तो उसमें तनिक भी अत्युक्ति न होगी।

इस तथाकथित प्रगतिशील युग में जहाँ विचार-वैभव का विस्तार बढ़ा है, वहाँ एक दुर्भाग्यपूर्ण संयोग यह भी बैठा है कि जो पढ़ने को मिलता है, पढ़ाने को छपता है, उसमें विपाक्तताओं के समावेश का अनुपात दिन-दिन बढ़ता ही जा रहा है। वायु प्रदूषण के बारे में सभी जानते हैं कि कारखानों और वाहनों का धुआँ किस प्रकार घुटन पैदा कर रहा है। अणु विस्फोटों के कारण वातावरण में कितना रेडियोधर्मी विकिरण बढ़ा है, इस पर विज्ञ समाज में चिन्ता व्यक्त की जाती रहती है। नगरों के कारखानों की गन्दगी, नदी-नालों में बहते-बहते समुद्र तक पहुँचती है और जल प्रदूषण के कारण प्राणियों को प्राणसंकट खड़ा करती है। रासायनिक छिड़कावों से कृमि-कीटक मरते हैं या नहीं, यह पीछे की बात है पर उससे प्रभावित आहार को उदरस्थ करने वालों के लिए तो स्वास्थ्य संकट खड़ा होता ही है। इस विषाक्तता के अभिवर्द्धन में सबसे अधिक भयावह पक्ष ऐसे साहित्य का है, जो पिछड़े समय से चली आ रही भ्रान्तियों एवं विकृतियों का निराकरण करने के स्थान पर उसमें और भी अधिक उबाल-उत्तेजना उत्पन्न करता है। इसे पदार्थ प्रदूषण से भी अधिक भयंकर कहा जा सकता है, क्योंकि पदार्थों का प्रभाव शरीर तक सीमित रहता है, किन्तु विचारों की विषाक्तता तो उस चेतना को ही पतन-पराभव के गर्त में धकेल देती है, जिसे मानवी-सत्ता का अस्तित्व एवं प्राण ही कहा जा सकता है।

इन दिनों अनेक क्षेत्रों का परिशोधन-परिष्कार आवश्यक है। इन सबमें प्राथमिकता विचार शोधन को मिलनी चाहिए, क्योंकि उसी प्रवाह में मानवी व्यक्तित्व के स्तर का निर्माण होता है। उसी के आधार पर लोक व्यवहार चलता है। वातावरण बनता है और भविष्य का आधार खड़ा होता है। होना यह चाहिए था कि युग मनीषा समय की विभीषिकाओं का अनुमान लगाती है और विचारशीलता के समर्थ आधार खड़े करती है। चिन्तन क्षेत्र की अवांछनीयता अपने समय की सबसे बड़ी विपत्ति है। उसका निराकरण हर कीमत पर होना चाहिए। इस दिशा में बरती गई उपेक्षा, न केवल विज्ञ विचारशीलों पर कलंक-कालिमा थोपेगी वरन् समूचे समाज का सर्वनाश भी रुक नहीं सकेगा।

स्वाध्याय मण्डलों का काम दीखता तो छोटा-सा है, पर यदि उसकी गम्भीरता, उपयोगिता और परिवर्तन का अनुमान लगाया जा सके तो प्रतीत होगा कि अपने समय का यह एक ऐसा काम है, जिसे सर्वोपरि प्राथमिकता मिलनी चाहिए। यह कार्य बहुत पहले आरम्भ होना चाहिए था।

स्वाध्याय मण्डलों के माध्यम से मात्र प्रज्ञा साहित्य पढ़ाया जाएगा। कुछ भी पढ़ाते रहने और लोकरंजन का एक नया उपक्रम चला देने का उथलापन इसे छू भी नहीं गया है। प्रज्ञा साहित्य के अन्तर्गत केवल यह लिखा और प्रकाशित किया जा रहा है जो आज की व्यक्तिगत और समाजगत समस्याओं पर सीधा प्रकाश डालता और उनका यथार्थवादी कारगर समाधान प्रस्तुत करता है।

मानव जीवन अनेक क्षेत्रों में विभाजित है। शरीर, मन, अर्थ, परिवार, समाज प्रधान विषय हैं। इनमें से प्रत्येक में इन दिनों इतनी भ्रान्तियों एवं विकृतियों की घुसपैठ हुई है कि प्रवाह के यथावत् रहते इनमें से एक का भी सही रूप में स्थिर रहना, सुखद बन सकना सम्भव नहीं है। हमें उपरोक्त सभी प्रसंगों पर नये सिरे से सोचने का अभ्यास करना होगा। स्वतन्त्र चिन्तन का ऐसा अवलम्बन लेने से ही काम चलेगा, जो भूलों को बता सके, यथार्थता का दर्शन करा सके और विपत्तियों से निकल सकने का राजमार्ग बता सके। चिन्तन अनायास ही नहीं चल पड़ता, उसके पीछे सशक्त दर्शन काम करता है। आज का दर्शन असाधारण रूप से विषाक्त हो चला है, उसके पीछे सामन्तकाल के अन्धकार युग का अनाचार, विज्ञान और बुद्धिवाद का प्रतिपादन, अर्थ प्रपंच का निर्धारण ऐसा है जिसने जनसाधारण को सही सोच सकने की क्षमता का ही एक प्रकार से अपहरण कर लिया है। इसे वापिस लौटाने के लिए लगभग वैसे ही पराक्रम की आवश्यकता पड़ेगी जैसी कि कभी संस्कृति की सीता को वापिस लाने के लिए हनुमान-अंगद जैसों को करनी पड़ी थी।

यह कार्य कौन करे? इसके लिए सामान्य स्तर का निर्धारण-प्रतिपादन काम दे नहीं सकता। इसके लिए युग प्रज्ञा की उच्चस्तरीय भूमिका ही काम दे सकती है। सुयोग ही कहना चाहिए कि स्वाध्याय मण्डलों के माध्यम से इस महती आवश्यकता की पूर्ति बन रही है। युग साहित्य के रूप में जो कुछ प्रस्तुत किया जा रहा है, वह कतरनें, इकट्ठी करके कुछ भी लिख देने पर उतारू अनधिकारी लोगों का कौतुक-कौतूहल नहीं कहा जा सकता है। किसी समय ऐसे प्रतिपादनों को शास्त्र स्मृति या आप्त वचनों को संज्ञा दी जाती थी और उसके प्रतिपादन का उत्तरदायित्व ऋषि-मनीषियों द्वारा उठाया जाता था। स्रष्टा का अनुग्रह-अनुदान ही कहना चाहिए कि ऐसा सामयिक आलोक विचार-वैभव, जनसाधारण को मिल सकने का संयोग बन गया है।

उच्चस्तरीय प्रतिपादनों में उच्चस्तरीय आत्माओं की ही भूमिका काम करती है। महान व्यक्तित्व ही युग प्रवाह को बदल सकने में समर्थ होते हैं। बुद्ध, शंकराचार्य, गाँधी जैसे मनीषी ही अपने प्रतिपादनों में वह प्राण चेतना भरे रहते हैं, जो जन-साधारण के अन्तराल में गहराई तक उतरें और अपनी चमत्कारी परिणति उत्पन्न करें। यह काम मुंशी लोगों का नहीं है और न छपाई का धन्धा करने वाले मुद्रक-प्रकाशकों का। यह गीता-रामायण जैसे प्रतिपादन हैं जिनमें विचारों को मोड़ने-मरोड़ने और उछालने की प्रभावी ऊर्जा का प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है।

स्वाध्याय मण्डलों को एक प्रकार से प्राचीन-काल में अलख जगाने जैसी धर्म धारणा का आधुनिक संस्करण कहा जा सकता है। इसके पीछे महान उद्देश्यों का समावेश है। भ्रान्तियों और विकृतियों का चिन्तन क्षेत्र से उन्मूलन करने का लक्ष्य जिस सीमा तक पूरा हो सकेगा उसी अनुपात से व्यक्ति का आचरण, व्यवहार एवं प्रयास सुधरता-बदलता चला जाएगा। भ्रान्तियाँ और समस्याएँ एक ही बात है। विकृतियाँ और विपत्तियाँ अन्योन्याश्रित हैं, जहाँ एक है वहाँ दूसरी भी निश्चित रूप से रहेगी। समस्याओं को सुलझाने और विपत्तियों को मिटाने के लिए बाह्योपचार जो भी होते रहें, तात्कालिक मरहम-पट्टी कुछ भी चलती रहे, पर यदि चिरस्थायी और कारगर समाधान अपेक्षित हो तो मात्र लोकमानस के स्तर एवं प्रवाह में आदर्शवादी उत्कृष्टता का समावेश करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं।

स्वाध्याय मण्डलों के माध्यम से यही युग अनुष्ठान सँजोया जा रहा है। ज्ञान यज्ञ की इन वेदियों पर उन देव शक्तियों का आह्वान होना है, जो अतीत के स्वर्णिम सतयुग को इस बार पुनः इस धरातल पर अवतरण कर सकने में समर्थ हो सकें।

साहित्य नियत समय पर पहुँचे और नियमित रूप से पढ़ा जाय

हर महीने नया साहित्य मँगाना और नये उत्साह से नई चर्चा चलाते हुए निर्धारित सदस्यों को पढ़ाना, कितना ही सरल सामान्य क्यों न हो उसका सुसंचालन तभी निभ सकता है जब नियमितता और तत्परता को अक्षुण्ण बनाये रखा जाय। ढील-पोल हर कार्य की तीन-चौथाई सफलता समाप्त कर देती है। कठिन कार्य, कठिनाइयों के बीच सरल और सफल बनाये जा सकते हैं, शर्त एक ही है कि उत्साह ढीला न पड़े, नियमितता का क्रम न बिगड़े।

आधे-अधूरे मन से अस्त-व्यस्त ढंग से बेगार भुगतने की तरह किये गये हर काम की सफलता संदिग्ध ही बनी रहती है। पारमार्थिक कार्यों में तो यह अड़चन और भी अधिक है। स्वार्थ सिद्धि के कार्यों में लोभ-लालच का आश्रय रहता है। वह गाड़ी को आगे धकेलने वाला उत्साह बनाये रहता है पर परमार्थ प्रयोजनों में तात्कालिक प्रत्यक्ष लाभ नहीं दीखता। स्वार्थ सिद्धि जैसी बात भी बनती प्रतीत नहीं होती। ऐसी दशा में उपेक्षा, अन्यमनस्कता की मनःस्थिति का बनना अस्वाभाविक नहीं है। अन्तर की उदासी ही प्रकारान्तर से अनेकानेक कार्यवाहियों के रूप में प्रतिभाषित होती है अन्यथा उत्साह, साहस और संकल्प रहने पर लोग ऐवरेस्ट की चोटियों पर चढ़ते और दुस्तर नदी-समुद्रों को तैर कर पार करते देखे गये हैं।

स्वाध्याय मंडल का संस्थापन-संचालन हिमाच्छादित पर्वत शिखर पर चढ़ने और मगरमच्छों से भरे किसी नदी

प्रवाह को पार करने जैसा नहीं है। यह होली, दिवाली पर यार-दोस्तों से गले मिलने-निकलने जैसा सरल, सुखद और मनोरंजक कार्य है। इसमें न किसी मोर्चे पर जूझना होता है और न किन्हीं शत्रुओं से निपटने के लिए रण नीति बनाने की आवश्यकता पड़ती है। सीधे-सादे काम की जब इतनी अधिक उपयोगिता, महत्ता है तो फिर तथ्य समझने वाले भी उसे क्यों नहीं कर पाते, इसके उत्तर में अन्यमनस्कता, उपेक्षा, आलस्य, ढील-पोल जैसी किन्हीं छुटपुट अड़चनों को ही कारण बताया जा सकता है। यह स्वभावजन्य दुर्बलता ही है जो कभी कठिनाई, कभी चिंता, कभी व्यस्तता, कभी क्या, कभी क्या बनकर समाने आती और पर्वत लाँघने जैसे कठिन काम में अपने को असमर्थ रहने की विवशता व्यक्त करती है। यह कल्पित बहानेबाजी क्यों कर इतना व्यवधान उत्पन्न कर पाती है, इसके उत्तर में स्वभावजन्य दुर्बलता के अतिरिक्त तथ्यतः और किसी को दोष नहीं दिया जा सकता । समझने, समझाने के लिए कुछ भी कहा सुना जा सकता है। किन्तु इस संदर्भ मे प्रमुख बाधा मात्र उस आलस्य–अनुत्साह को ही ठहराया जा सकता है जो अस्त-व्यस्तता, ढील-पोल के रूप में सामने आता- अड़ता रहता है। तिल की ओट पहाड़ इसी को कहते हैं। खोदा पहाड़ निकली चुहिया जैसी उक्तियाँ ऐसे ही पर लागू होती हैं।

जिन्हें सचमुच ही यह उत्तरदायित्व निभाना हो उन्हें अपने आपको तनिक अधिक कसना होगा। अधिक नियमित और अधिक व्यवस्थित बनाना होगा। पढ़ाना उतना कठिन नहीं है जितना मँगाना। जब साहित्य मँगा लिया जाएगा तो उसे पढ़ाने का भी उत्साह उठेगा और तारतम्य बनेगा। जब मँगाया ही नहीं गया है तो पढ़ने वालों के माँगने पर भी मना करना पड़ेगा।

हर महीने नियत समय पर साहित्य मँगाने और उसे पढ़ाने की बात यदि क्रमबद्ध रूप से चलती रहे तो पाठकों को उसकी उत्सुकता रहेगी। माँगने और पढ़ने की आतुरता रहेगी। पर यदि अनियमितता बरती गयी। कभी समय सम्बन्धी उपेक्षा चलती रही तो उस ढील-पोल का परिणाम उत्साह ठंडा हो जाने के रूप में सामने आता है। देखा गया है कि जो पत्र-पत्रिकाएँ नियमित समय पर निकलते हैं, ठीक तारीख को पाठकों के हाथ पहुँचते हैं ये सामान्य स्तर के होने पर भी स्थिर एवं लोकप्रिय बने रहते हैं। पर जिनके निकलने-पहुँचने की तारीख का कोई निश्चय नहीं; देर से पहुँचते या संयुक्तांक निकाल कर पीछा छुड़ाते रहते हैं, इनकी ग्राहक संख्या घटती रहती है। तत्परता के बदले तत्परता मिलती है। मास्टर ही स्कूल में समय पर न पहुँचे तो विद्यार्थी भी आयें न आयें की आदत सीखते हैं और पूरा स्कूल लड़खड़ा जाता है। दफ्तरों में, कारखानों में सर्वत्र,यही दृश्य देखा जाता है। संचालकों की, मूर्धन्यों की अनिर्यमितता पूरे तंत्र को अव्यवस्थित कर देती है और लाभदायक क्रिया-कलाप भी घाटा देते और बर्बाद होते देखे गये हैं।

स्वाध्याय मंडलों के सम्बन्ध में भी यह बात पूरी तरह लागू होती है। उन्हें अपना मासिक साहित्य हर महीने नियमित रूप से मँगाना चाहिए और नये की प्रतीक्षा करने वालों के हाथों में उसे ठीक समय पर थमाना चाहिए। हर स्वाध्याय मंडल के पास अब तक का छपा पूरा साहित्य रहना चाहिए। यह सभी बहुमूल्य है। उसमें से एक भी पुस्तक ऐसी नहीं जो पुरानी या कम महत्व की कही जा सके। दैनिक अखबारों की बात दूसरी है जो दूसरे दिन पुराने होने पर रद्दी में फेंक दिये जाते हैं।

गीता, रामायण आदि ग्रंथ मुद्दतों से अपनी महत्ता यथावत बनाये हुए हैं वे न कभी पुराने पड़ते हैं, न उपेक्षित होते, न रद्दी में बिकते हैं। संस्थापकों ने उन्हें पहले पढ़ रखा है इसका अर्थ यह तो नहीं हुआ कि जिन अन्य तीसों को उसे पढ़ाया जाना है, उनने भी उसे पढ़ लिया। मास्टर किसी पुस्तक को पढ़ चुका, किसी विषय को जान गया हो इसका यह अर्थ कहाँ होता है कि उसे नये विद्यार्थी भी व्यर्थ समझें। उन्हें भी न पढ़ाया जाय। मास्टर के लिए जो बात पुरानी, जानी-मानी हो गयी वह विद्यार्थी के लिए तो सर्वथा नयी है।

प्रज्ञा साहित्य के बारे में छपने की तारीखों के हिसाब से उसका मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए। अखण्ड ज्योति सन् १९४० से निकल रही है। उसका एक-एक अंक लोगों ने छाती से लगा रखा है, उनकी जिल्दें बनाई और घरों में वेद शास्त्रों की तरह सजाई है यही बात मिशन के सूत्र-संचालक द्वारा लिखी हर छोटी-बड़ी पुस्तकों के सम्बन्ध में लागू होती है। उन्हें एक बार पढ़ कर कोने में नहीं रख देना चाहिए, वरन् धर्मशास्त्रों की तरह उनका नित्य मनन-मंथन, अध्ययन होना चाहिए।

प्रज्ञा साहित्य का अब तक का छपा समूचा साहित्य हर स्वाध्याय मंडल के पुस्तकालय, संग्रहालय में आद्योपान्त रहना, सँजोया जाना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि अठारह रुपये का पुस्तक साहित्य और बारह रुपये के फोल्डर हर महीने मँगाने का क्रम चलाते हुए तीस रुपया मासिक का बजट पूरा किया जाना चाहिए। युग निर्माण योजना मथुरा द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की संख्या लगभग तीन हजार है। उसमें से अधिकांश उपलब्ध हैं। जिन्हें मँगाया जा सकता है।

प्रज्ञा साहित्य पढ़ायें– सृजन शिल्पी ढूँढ़ निकालें

आज की असंख्य समस्याओं, विकृतियों और विभीषिकाओं का एकमात्र कारण है– संव्याप्त बुद्धिभ्रम, आस्था संकट। उसी ने जनसाधारण के चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में भ्रान्तियों, विकृतियों और अवांछनीयताओं का समावेश किया है। सही निदान के उपरान्त सही

उपचार एक ही रह जाता है कि लोक-मानस के परिष्कार को प्रमुखता दी जाय और इसके लिए रामबाण औषधि का काम करने वाले प्रज्ञा साहित्य को शिक्षितों को पढ़ाने और अशिक्षितों को सुनाने का व्यापक प्रबन्ध किया जाय। झोला पुस्तकालयों और ज्ञानरथों की योजना को इसी निमित्त प्राथमिकता दी गई है कि उस आधार पर प्रस्तुत आदर्शों के प्रति उपेक्षा वाले माहौल में भी सर्वसाधारण को नवचिन्तन का अवसर मिले। दीखने में सरल लगने वाला यह कार्य वस्तुतः उतना सुगम नहीं है, क्योंकि जिसका महत्व ही प्रतीत न हो, इस कार्य में ध्यान देने और समय लगाने के लिए कोई क्यों तैयार हो? कड़ुई गोली हितकर होने पर भी बच्चे उसे निगलने को कहाँ तैयार होते हैं? उन्हें चतुरतापूर्वक समझा-बुझा कर और चीनी की परत चढ़ाकर ही किसी प्रकार गले उतारने के लिए रजामन्द किया जाता है। लोकरुचि और प्रज्ञा साहित्य की सीधी संगति नहीं बैठती तो हमें प्रयत्नपूर्वक उसे करना तो होगा ही। इसके बिना कोई चारा भी तो नहीं।

झोला पुस्तकालय या ज्ञानरथ- प्रज्ञा संस्थान बना लेने पर भी एक कठिनाई और बनी रहती है कि इस दिशा में अपनाई जाने वाली उपेक्षा पर कैसे काबू पाया जाय? प्रज्ञा साहित्य को लोकप्रिय कैसे बनाया जाय? इस सफलता के उपरान्त जन-समर्थन और जनसहयोग का यह द्वार खुलता है, जिसमें प्रवेश पाने के उपरान्त ही नवसृजन का बहुमुखी क्रिया-कलाप चल पड़ना सम्भव होता है।

इस हेतु सर्वप्रथम अपने सम्पर्क क्षेत्र में विचारवान भावनाशीलों की एक सूची निजी जानकारी तथा जानकारों के सहयोग से बनानी चाहिए और सर्वप्रथम समय निकाल कर उनके साथ सम्पर्क साधने, प्रज्ञा साहित्य पढ़ाने का शुभारम्भ करना चाहिए। यों इस संकीर्ण स्वार्थपरता और कुरुचि के माहौल में आदर्शवादिता के पक्षधर लोगों को ढूँढ़ निकालना है तो कठिन प्रयत्न करने पर उस कठिनाई का भी समाधान निकलता है। प्रकृति को पहचानने में साधारण दुकानदार भी प्रवीण देखे जाते हैं और खरीदने की मनःस्थिति प्रतीत होने पर भी ग्राहक पर ध्यान देते और उसके साथ प्रयत्नपूर्वक सम्पर्क साधते, आकर्षक वार्तालाप करते हैं। प्रायः ऐसा ही प्रयत्न प्रज्ञा साहित्य को गले उतारने के लिए आरम्भ मे उपयुक्त व्यक्तियों की ढूँढ़-खोज करते समय अपनाया जाना चाहिए।

जिन्हें उपयुक्त समझा जाय, उन्हे प्रज्ञा साहित्य का वह भाग पढ़ाना चाहिए। जिसमें मिशन का उद्देश्य, स्वरूप और कार्यक्रम स्पष्ट होता है। अन्यान्य विषयों से पठन-पाठन आरम्भ करा देने से पढ़ने वाले को तद्‌विषयक जानकारी तो मिलती है पर मिशन का समग्र स्वरूप समझ में न आने से महत्व समझने और सहयोग देने जैसी स्थिति उत्पन्न नहीं होती। अस्तु, नया शुभारम्भ करने वालों को प्रथम चरण में ऐसी ही नामावली सम्पर्क साधने और मिशन का परिचय देने वाले साहित्य पढ़ाने के निमित्त बनानी चाहिए, जिनमें आदर्शों के प्रति देश, धर्म, समाज, संस्कृति के प्रति पहले से ही कुछ रुझान रहा हो। ऐसे लोग आमतौर से अध्ययनशील होते हैं, उन्हें अक्सर सत्साहित्य पढ़ते देखा जाता है। ऐसे लोगों के साथ साधा सम्पर्क प्रायः सफल होता है।

इसी चयन में वे लोग भी आते हैं जो सार्वजनिक सेवा कार्यों में रुचि लेते रहते हैं। संस्थाओं में सम्मिलित रहने वाले, रचनात्मक कार्यों में समय देने वाले आदर्शवादी चर्चाएँ करने वाले लोग भी इसी श्रेणी में आते हैं जिनके साथ प्रज्ञा अभियान का परिचय देने की उत्साहवर्द्धक प्रक्रिया होती है। जिन्हें पढ़ने में रुचि नहीं, जो निजी कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहते हैं, जिन्हें लोकमंगल के प्रति न कोई रुचि है और न उनमें कुछ सहयोग देते हैं ऐसे लोगों से सम्पर्क साधने की बात बाद में सोचनी चाहिए। भजन भाव वाले भी आमतौर से व्यक्तिवादी और संकीर्ण प्रकृति के होते हैं। उन्हें अपनी ही स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि, सद्‌गति, समृद्धि सूझती है। इसी स्तर के रंगीन सपने देखने वाले पण्डा-पुजारियों से तो जेब कटा लेते हैं पर लोकमंगल के लिए कुछ करने की बात सामने आने पर वे उसमें स्वार्थ सिद्धि नहीं देखते। ऐसे दशा में उन्हें भी लोकहित की दिशा में मोड़ने में कठिनाई तो अवश्य पड़ती है। किन्तु उनमें भावुकता और कल्पनाशीलता रहने से सर्वथा निष्ठुरों की अपेक्षा कुछ ऐसे होते हैं जिनके खेत में बीज बोते रहने पर कभी न कभी उगने की आशा बनी रहे। इस वर्ग के लोगों को भी अध्ययनशीलों, सेवाभावियों के बाद प्रथम सम्पर्क की गणना में रखा जा सकता है। नई पीढ़ी कालेज में पहुँचकर अनुपयुक्त वातावरण में रुचि लेने लगने पर तो गड़बड़ा जाती है, उच्छृंखलता अपनाने लगती है पर जिन पर वैसा रंग नहीं चढ़ा है, वे उत्साही किशोर भी इस मनोभूमि के होते हैं कि उन्हें आदर्शवाद और लोकहित की महत्ता समझाई जा सके। यही वर्ग है जो कि कम्युनिज्म, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ आदि के उत्साहवर्द्धक कार्यक्रमों में आगे बढ़कर भाग लेता है। आसाम, पंजाब, गुजरात, बिहार आदि में पिछले दिनों कितने ही सही- गलत आयोजन चले हैं, उनमें विद्यार्थियों की बड़ी भूमिका रही है। स्पष्ट है कि उनमें जो स्वाभाविक उत्साह होता है उसे दिशा दी जा सकती है। महिलाओं में भी शिक्षितों की संख्या कम होती है तो भी भाव प्रदान होने से वे प्रज्ञामिशन के प्रतिपादनों और कार्यक्रमो के प्रति सहज आकर्षित हो सकती हैं। हर वर्ग में हर स्तर के व्यक्ति होते हैं। किसी समुदाय के एक जैसी प्रकृति का मानना ठीक नहीं। विचारणा और भावना का अस्तित्व जहाँ भी दृष्टिगोचर हो उनके साथ सम्पर्क साधने की प्रमुखता देनी चाहिए।

यह इसलिए कहा जा रहा है कि अनगढ लोगों के साथ सम्पर्क साधने में उपेक्षा, अवज्ञा जैसा प्रत्युत्तर मिलने

की आशंका रहती है। इससे बनता-बिगड़ता तो कुछ नहीं पर सम्पर्क साधने वाले का हौंसला टूटता है। निराशा चढ़ती और असफलता दीखती है। यह नये सम्पर्क साधकों के लिए एक बड़ी अड़चन बनती और उत्साह ठण्डा करती, कार्य में शिथिलता लाती है। अभ्यस्त और मनोबल सम्पन्न लोगों पर तो उपेक्षा-असफलता का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे जानते हैं कि खेत में बोये सभी बीज नहीं उगते। सभी फूल नहीं फलते। याचकों को भी हर किसी से भिक्षा कहाँ मिलती है? गोताखोरों को हर डुबकी में मोती कहाँ मिलते हैं? जितनों ने जितना भी उत्साह दिखाया उसी में सन्तोष कर लेने वाले ही परिपक्व स्तर के युगशिल्पी कहे जाते हैं। गीता के 'स्थित प्रज्ञ' की तरह वे सफलता-असफलता की परवाह किये बिना अपने कर्त्तव्य पथ पर एकनिष्ठ भाव से चलते रहते हैं। रास्ते चलने वालों में से जिनका भी साथ मिल गया, सहयोग-सदभाव बन गया सो ठीक अन्यथा एकाकी चलते रहने में भी उन्हें कोई कठिनाई नहीं लगती। संकल्प और लक्ष्य तो अपना है इसलिए सहयोग न मिलने पर भी प्रयत्नरत तो रहना ही है। ऐसी परिपक्व मनः-स्थिति के तो सोच लेते हैं पर नौसिखियों को सफलता मिलने से उत्साह बढ़ता है और असफलता की स्थिति में न जाने क्या-क्या सोचने लगते हैं और हाथ-पैर फुला बैठते हैं। इस कठिनाई से बचने के लिए उचित यही है कि जनसम्पर्क का शुभारम्भ ऐसे लोगों से किया जा सके जिनके खेत में बोया बीज जल्दी उगने की सम्भावना है। बाद में तो युग सृजेताओं को बादलों की नीति अपनानी पड़ती है और उर्वर, ऊसर क्षेत्र का भेदभाव किये बिना, सर्वत्र बरसते रहने का उपक्रम चलाना पड़ता है।

मिशन के उद्देश्य, स्वरूप और कार्यक्रम का परिचय देने वाला साहित्य पढ़ाने के उपरान्त पाठक की रुचि टटोलते हुए व्यक्ति निर्माण का चिन्तन, चरित्र एवं व्यवहार को परिष्कृत करने वाला साहित्य दिया जाय। परिवार निर्माण इसके बाद और समाज निर्माण विषय उसके पीछे। यह क्रम इसलिए बनाना चाहिए कि मनुष्य की प्रकृति ही कुछ ऐसी है जिसमें निजी समस्याओं को सुलझाने और आवश्यकता पूरी करने को प्राथमिकता दी जाती है। देश, धर्म की बात लोग बहुत पीछे सोचते और उनमें अपेक्षाकृत कम रुचि लेते हैं। इसलिए आकर्षक विषयों को प्राथमिकता देते हुए पठन पाठन परक सम्पर्क साधना और एक के बाद दूसरा कदम बढ़ाना चाहिए।

दार्शनिक प्रकृति के लोग विज्ञान में रुचि लेते हैं। रहस्यवादियों का भी शिक्षितों में एक ऐसा वर्ग है जिन्हें सिद्धियों, चमत्कारों और कौतूहलों में विशेष रुचि होती है। अतीन्द्रिय क्षमताओं के चमत्कारी कौतूहलों को सुनने, पढ़ने की उनमें अधिक उत्कण्ठा पाई जाती है। यह प्रकृति बालकों से लेकर वृद्धों तक में आदि से अन्त तक बनी रहती है। बच्चे परियों की कहानियों को रुचिपूर्वक पढ़ते हैं। युवकों को तिलस्म और जासूसी चाहिए। वृद्धों को देवताओं और सिद्धपुरुषों के चमत्कार पढ़ने में उत्साह रहता है। पुराण गाथाएँ उन्हें उसी हेतु अधिक प्रिय लगती हैं। बाल फिल्मों में कार्टूनों को अधिक पसन्द किया जाता है। इस लोक मनोविज्ञान को ध्यान में रखते हुए अध्यात्म का रहस्यवादी पक्ष भी दार्शनिक प्रकृति के लोगों को बहुत सुहाता है। ब्रह्मवर्चस् शोध प्रयत्नों में इसी सन्दर्भ का साहित्य भी छपा है। जिनमें यह रुझान देखा जाय उन्हें उस स्तर का साहित्य उपलब्ध कराया जाय। इसके उपरान्त उनकी अभिरुचि को टटोलते हुए वैसा ही साहित्य को पढ़ने दिया जाय।

मिशन ने व्यक्ति, परिवार और समाज से सम्बन्धित ज्ञान और विज्ञान के हर प्रसंग पर अति महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। देखना यह है कि किसका आकर्षण कहाँ है? आरम्भ उसी क्रम से करने पर बात आगे बढ़ती जाती है। और चस्का पड़ने पर लोगों पर वह भी थोपा जा सकता है जो पूर्व मनोभूमि में उन्हें रुचिकर नहीं लगता था।

रुचि उत्पन्न करने के लिए यह भी आवश्यक है कि जो दिया जा रहा है उसके महत्व एवं माहात्म्य से परिचित कराने के लिए कुछ उत्साहवर्द्धक प्रसंग घटना क्रमों सहित तथ्य समझाये जाएँ। माहात्म्य सुनाकर ही जनसाधारण को किसी दिशा में आकर्षित और उत्साहित किया जाता है। कथा पुराणों के श्रवण का, तीर्थों के स्नान दर्शन का, व्रतों, कर्मकाण्डों का बढ़ा-चढ़ा माहात्म्य बता कर ही सामान्य मनोभूमि के लोगों को सरलतापूर्वक लाभ उठाने की बात कही जाती है। औषधि विक्रेताओं से लेकर अन्यान्य प्रकार के उत्पादक अपनी वस्तुओं के गुणगान करके लोगों को खरीदने के लिए उकसाते रहते हैं। विज्ञापन कला का समूचा आधार भी यही है। प्रज्ञा साहित्य के पढ़ाने में उस स्तर की विज्ञापनबाजी तो नहीं की जा सकती, जिसे बहुत लाभ देने वाले व्यवसायों में अपनाया जाता है। तो भी कम से कम इतना तो करना ही होगा कि मुफ्त में ही सही पढ़ने में समय लगाने वाले को भी उस प्रयास से मिलने वाले लाभों से अवगत कराया जाय। यह कार्य प्रज्ञा प्रचारकों का है कि वे किसी को साहित्य देने से पूर्व उसकी महत्ता समझायें, लेखक का स्तर और उद्देश्य बतायें। साथ ही उन प्रसंगों का भी उल्लेख करें जिसमें इस पठन-पाठन के सहारे सम्भव हुए परिवर्तनों और सत्परिणामों की जानकारी मिलती हो। इतना किये बिना, किसी पर भी, किसी भी स्तर की पुस्तक पढ़कर चल देने वाले से यह आशा नहीं करनी चाहिए कि इस प्रकार बेगार भुगतने से उपयुक्त परिणाम निकलेगा। हो सकता है कि लाभ न समझने पर कोई शिष्टाचारवश उसे ले तो ले, पर उपेक्षापूर्वक किसी कोने पटक कर गुमा दे और पीछे वापिस लौटाने में समर्थ न होने पर संबंधों में खिंचाव उत्पन्न करे।

प्रज्ञा साहित्य पठन में अभिरुचि लेने वालों के सम्बन्ध में यह मान्यता बनाई जा सकती है कि आगे चलकर उस आधार पर घोषित हुई सद्भावना के सहारे वे मिशन के कार्यक्रमों में सहयोगी भागीदार बन सकेंगे। जिनमें बीजांकुर ही नहीं, उनके वृक्ष बनने और छाया, फल प्रदान करने की आशा कौन करे? विचार ही चरित्र और व्यवहार में परिणत होता है। हमें प्रज्ञा साहित्य का बीजारोपण सुविस्तृत क्षेत्र में, किन्तु उर्वर क्षेत्र को प्रधानता देते हुए करना चाहिए ताकि उस उत्पादन के फलस्वरूप नवसृजन के लिए सक्रिय कार्यकर्ताओं का समुदाय उपलब्ध होता चले। महान योजना के लिए अगणित महत्वपूर्ण व्यक्ति खोजने और निखारने का यही तरीका है इसलिए इस प्रयास में हमारी परिपूर्ण तत्परता नियोजित रहनी चाहिए।

स्तरीय लोगों के बीच प्रज्ञा साहित्य का प्रवेश कराने में जहाँ जितनी सफलता उपलब्ध होगी वहाँ प्रज्ञा मिशन के समर्थकों और सहयोगियों की संख्या बढ़ती चलेगी। यही है सर्वतोमुखी प्रगति का यह उद्गम स्रोत जिसके खुल जाने पर कोई भी प्रज्ञा संगठन अपने क्षेत्र में प्रगति-समृद्धि और संस्कृति की अभिवृद्धि में आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता है।

ज्ञानरथ—बिना इमारत के चल-प्रज्ञा संस्थान

संकटों से उबरने, सँभलने, सुख-शान्ति की दिशा में अग्रसर होने का इन दिनों एक ही अवलम्बन है- लोक मानस का परिष्कार और सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन। इसके लिए सर्वविदित और सामान्य उपाय तीन ही हैं- युग साहित्य, युग उद्‌बोधन और संवेदनशील कला-कौशल। इनमें से सर्वप्रथम है युग साहित्य। पिछले दिनों इसी आधार पर महान क्रान्तियाँ सम्पन्न होती रही हैं। रूसो की लेखनी ने प्रजातन्त्र सिद्धान्त का ऐसा सशक्त प्रतिपादन किया कि चन्द दिनों में ही संसार के अधिकांश भाग में राजतन्त्र को निरस्त करके प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था चल पड़ी। साम्यवाद के प्रवर्तक कार्लमार्क्स की लौह लेखनी का चमत्कार सामने है। इन दिनों आधी दुनिया साम्यवादी शासन एवम् समर्थन अपना चुकी है। अमेरिका से दास प्रथा हटाने में हैरियट स्टो की लेखनी ने स्वार्थान्धता को खदेड़ने में मूर्धन्य भूमिका निभाई। लोकमान्य तिलक ने भारतीय जनता को स्वराज्य का जन्म सिद्ध अधिकार प्राप्त करने के लिए अपनी अभिव्यक्तियों के सहारे आकुल कर दिया। समय-समय पर नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक क्रान्तियाँ होती रही हैं और उनने प्रचलित प्रवाह को बदलने में युग साहित्य के माध्यम से चमत्कारी सफलताएँ प्रस्तुत की हैं।

सबसे मुख्य प्रश्न यह है कि साहित्य रूपी इस संजीवनी रसायन को उन तक पहुँचाया जाय जहाँ उसकी महती आवश्यकता पड़ रही है, उसके अभाव में जीवन-मरण की समस्या उत्पन्न हो रही है। युग साहित्य के सृजन से अधिक महत्व है उसके जन-जन तक पहुँचाये जाने का सुनियोजित प्रबन्ध। इसकी आवश्यकता प्रज्ञा परिजनों में से प्रत्येक को गम्भीरतापूर्वक अनुभव करनी चाहिए और इसकी पूर्ति में कुछ उठा न रखना चाहिए।

इस सन्दर्भ में पिछले दिनों कुछ प्रयास आरम्भ किये गये हैं और वे यथाविधि ठीक प्रकार चल भी रहे हैं। गत दिनों स्वाध्याय मण्डलों द्वारा फोल्डर पुस्तिकाएँ जो चालीस पैसा मूल्य की हैं, घर-घर पहुँचाने का क्रम चलाया गया था। वस्तुतः यह झोला पुस्तकालय, घरेलू लाइब्रेरी योजना का एक परिष्कृत रूप ही था। अनेक स्थानों पर मण्डल न बन पाने के कारण कहा गया कि अब सक्रिय परिजन एकाकी, प्रयत्नरत रहें एवम् अन्यान्य कार्यक्रमों के अतिरिक्त दो महत्वपूर्ण कदम और उठायें, ज्ञानरथों के निर्माण व प्रचलन का व्यक्तिगत प्रयास-पुरुषार्थ तथा इस हेतु आवश्यक पूँजी जुटाने हेतु-सम्पर्क क्षेत्र बढ़ाने हेतु 'स्मारिका' प्रकाशन।

ज्ञानरथों को दृश्यमान प्रज्ञा मन्दिर कहा जा सकता है। ये चल देवालय हैं। प्राचीनकाल में देवता को रथ में बिठाकर गाँव-गाँव ले जाया जाता था ताकि जो लोग देवालयों तक नहीं पहुँच सकते, वे घर बैठे देवदर्शन का लाभ उठा सकें। समय की विडम्बना ही है कि लोग देवालयों में ही मजेदारी देखकर उसी को प्रधानता देने लगे। अब भी चल देवालयों के ध्वंसावशेष रथ यात्राओं के रूप में जब-तब, जहाँ-तहाँ देखने को मिल जाते हैं। जगन्नाथजी की रथयात्रा इसी परम्परा की विस्मृति को कभी-कभी हरा कर देती है। वस्तुतः पिछड़े देशों और समाजों में उन देवालयों की ही प्रमुख आवश्यकता है।

आज की परिस्थितियों को देखते हुए सबसे श्रेष्ठ एवम् व्यावहारिक उपाय यही जान पड़ता है कि ज्ञान रथों का व्यापक प्रबन्ध किया जाय। यह कार्य एक महान पुण्य-परमार्थ समझा जाय। प्रज्ञापीठों के देवालय बनाने में जितनी राशि खर्चनी और जितनी दौड़-धूप करनी पड़ी है, उसकी तुलना में यह प्रयास नितान्त सरल है कि कोई व्यक्ति या मित्र मण्डली केवल अपने बलबूते इसे विनिर्मित करने के लिए आगे आये और उसे हँसते-हँसते तनिक से प्रयास से सम्पन्न कर दिखाये।

ज्ञानरथ कुछ समय पहले भी विनिर्मित हुए थे पर वे एक ही कारण से असफल होते रहे कि उन्हें चलाने के लिए एक पूरे समय के कार्यकर्त्ता की नियुक्ति न हो सकी। धकेल गाड़ी खड़ी कर देने और उस पर साहित्य सजा देना तो ऐसा ही है जैसे बिना संचालक का वाहन। ज्ञान

रथ अपने आप नहीं चल सकते, उनको नियमित चलाना है तो ड्राइवर भी स्थाई होना चाहिए। इन दिनों लोगों ने ज्ञानरथ बनाये तो सही, पर यह विचार न किया कि उन्हें चलाने की जिम्मेदारी कौन उठायेगा? उत्साह तो दिखाया पर पीछे व्यस्तता आदि के नाम पर अपने आलस्य और अनुत्साह का परिचय देने लगे। बस समाप्त हो गई उमंग और कूड़े-करकट के ढेर में जा गिरे ज्ञान रथ।

वह पहले वाली भूल अब नहीं होनी चाहिए। सेवा-पूजा के लिए पुजारी का निवास एवं खर्च का प्रबन्ध किये बिना मन्दिर खड़े कर देने वाले अत्युत्साही जिस तरह पीछे पछताते और उपहासास्पद बनते हैं उसी प्रकार ज्ञानरथों की गरिमा और आवश्यकता समझने वालों को भी यह सोचना होगा कि यदि इन्हें वस्तुतः चलना ही है तो एक पूरे समय का व्यक्ति इसके लिए नियुक्त करना होगा और उसकी व्यय व्यवस्था का प्रबन्ध किस प्रकार हो उसकी योजना बनानी पड़ेगी।

ज्ञान रथ हेतु न किसी बड़े संगठन की आवश्यकता है और न अधिक धन संचय की। कार्य इतना सरल और छोटा है कि कोई प्रतिभावान व्यक्ति एकाकी उत्साह के सहारे भी इसे सम्पन्न कर सकता है। प्रायः एक हजार रुपये की लागत से साइकिल के तीन पहियों वाला पूरा लोहे का बना, आकर्षक पेंटिंग किया हुआ ज्ञान रथ चल पुस्तकालय बन जाता है। प्रायः एक हजार का प्रज्ञा साहित्य रखने से व्यवस्था पूरी हो जाती है। इन दिनों चालीस पैसा मूल्य के अत्यन्त सुन्दर, सस्ते एवं प्राण ऊर्जा से भरे-पूरे फोल्डर छप रहे हैं। उनमें से हर एक ऐसा है जिसे आरंभ में बिना मूल्य पढ़ाते रहने पर उसे कुछ ही दिनों में खरीदने और घरेलू पुस्तकालय बनाने के लिए लालायित देखा जा सकता है। अस्तु, थोड़ा-सा भी मुखर व्यक्ति इनकी महत्ता समझाने में कुशलता प्राप्त कर ले तो किसी भी कस्बे पर उन्हें उत्साहपूर्वक संख्या में खपाता रह सकता है। इस निर्माण में ज्ञानरथ और प्रज्ञा साहित्य में लगने वाली कुल पूँजी दो हजार होती है। इतने भर से एक व्यक्ति का निर्वाह व्यय भली प्रकार निकलता रह सकता है।

प्रज्ञा साहित्य का थोक खरीददारों के लिए घोषित कमीशन पच्चीस प्रतिशत है। लागत में इतना ही जोड़ कर मूल्य निर्धारित किया जाता है। मँगाने का खर्चा रेल आदि के रूप में प्रायः पाँच प्रतिशत लग जाता है। इस प्रकार कमीशन प्रायः बीस प्रतिशत ही हाथ रहता है। किसी आते-जाते के हाथों मथुरा या हरिद्वार से इसे मँगा लिया जाया करे तो यह पाँच प्रतिशत खर्च भी बच जाता है और लाभांश पच्चीस प्रतिशत हाथ रहता है। कोई चाहे तो इस परमार्थ भरे व्यवसाय को अपनाकर निजी निर्वाह का भी 'गोरस बेचन-हरि मिलन, एक पंथ दो काज' जैसा सुयोग प्राप्त कर सकता है। प्रश्न यह आता है कि क्या दो हजार की पूँजी लगाकर एक व्यक्ति का गुजारे लायक खर्च निकल सकता है? इसका उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है और विश्वास रखा जा सकता है। इस माध्यम से कोई मुखर, परिश्रमी और मिलनसार प्रकृति का व्यक्ति छह घण्टे के परिश्रम में औसत दस रुपये रोज की आजीविका बिना किसी कठिनाई के उपलब्ध कर सकता है।

यह विशुद्ध एकाकी प्रयास की बात हुई। अब सामूहिक प्रयत्न की बात आरम्भ होती है। जहाँ यह कार्य मित्र-मण्डली के सहयोग से करना अभीष्ट हो वहाँ इस कार्य को चल देवालयों के रूप में क्रियान्वित किया जा सकता है। नियुक्त व्यक्ति को साथ-साथ वे कार्य भी सौंपे जा सकते हैं, जो पंचसूत्री योजना के नाम से सर्वविदित और बहुचर्चित हैं। रिटायर्ड अध्यापक, ग्राम सेवक, पटवारी जैसे जनसम्पर्क में रहने वाले व्यक्ति इस कार्य के लिए प्रसन्नतापूर्वक तत्पर हो सकते हैं। जिन्हें कुछ उपार्जन की आवश्यकता है, समझा गया है कि ऐसे लोग ३००) मासिक में मिल जाने चाहिए। उनसे दिन में छह घण्टे अथवा न्यूनाधिक ज्ञानरथ चलाने का और रात्रि में दो घण्टे सत्संग आयोजनों का काम कराया जा सकता है। जन्म दिवसोत्सव और स्लाइड प्रोजेक्टर प्रज्ञा सत्संग के दो बड़े प्रभावी और सरल सफल कार्यक्रम हैं। दोनों ही रात्रि के समय होते हैं। जिस दिन किसी का जन्म दिवसोत्सव हो उस दिन स्लाइड प्रोजेक्टर किसी मुहल्ले में दिखाने का क्रम रहे। इस प्रकार रात्रि के दो घण्टे नियमित सत्संग की आवश्यकता पूर्ति में लगते रहते हैं। दीवारों पर आदर्श वाक्य लेखन का कार्य स्टीकर चिपकाने के आधार पर होता रह सकता है। पाँचवीं बात कार्यकर्त्ता नियुक्ति की बात थी, सो यह कार्य उस योजना के साथ आरम्भ होती है तो समझना चाहिए कि निजी इमारतों वाली प्रज्ञापीठें, जिस उद्देश्य के लिए बनाई गई थीं उनकी पूर्ति इन कम पूँजी वाले स्वावलम्बी ज्ञानरथों द्वारा पूरी हो सकने की आशा बँध गई।

जहाँ तीन सौ रुपये भारी पड़ते हों वहाँ आठ घण्टे के स्थान पर चार घण्टे का आधे समय के लिए कोई व्यक्ति १५०) में भी ढूँढ़ा जा सकता है। सामान्यतया चार घण्टे ज्ञान रथ के लिए और दो घण्टे कभी जन्मदिन के लिए, कभी स्लाइड प्रोजेक्टर के लिए अदल-बदल कर लगाये जाते रह सकते हैं। यह आधा ज्ञानरथ भी छोटे स्थानों पर अथवा कम पूँजी व्यवस्था की स्थिति में चलता रह सकता है।

सार्वजनिक आधार पर जहाँ यह प्रबन्ध करना हो वहाँ परस्पर मिल-जुल कर उपरोक्त पूँजी एकत्रित कर लेने के अतिरिक्त दो और भी आधार हैं, जिनके सहारे यह राशि जनसाधारण से भी संग्रह की जा सकती है। एक यह कि इस वर्ष जहाँ प्रज्ञा आयोजन हो रहे हैं, वहाँ प्रयत्नपूर्वक दौड़-धूप करके इस निमित्त कुछ अधिक चन्दा कर लिया जाय, खर्च किफायत से चलाया जाय और चार हजार की बचत करके चल प्रज्ञा मन्दिर पाँचों उपकरणों समेत बना लिया जाय- ज्ञानरथ, साहित्य मे

लगी पूँजी, स्लाइड प्रोजेक्टर, लाउडस्पीकर, टेपरिकार्डर। इन पाँचों की संयुक्त लागत चार हजार बैठती है। इस सरंजाम को एक प्राणवान प्रज्ञा संस्थान के रूप में करते हुए देखा जा सकता है। जब लाखों की लागत वाली प्रज्ञा पीठ सामान्य जनों के अग्रगामी उत्साह से बनकर खड़ी हो गई तो कोई कारण नहीं कि चार हजार की पूँजी देने का कार्य कोई एक दो उदारचेता अपनी जेब से ही न कर सकें। ऐसा न बन पड़े तो कोई भी प्रतिभावान अपने सम्पर्क क्षेत्र के विचारशीलों से कह-सुनकर इतनी जुगाड़ बिठा लेने में निश्चय ही सफल हो सकता है।

दूसरा अन्य नया उपाय जिससे उपरोक्त चार हजार की पूँजी भी जुट सकती है- स्मारिका प्रकाशन है। हर समर्थ प्रज्ञा परिवार अपने अपने यहाँ एक स्मारिका प्रकाशित करें। उसके लिए व्यवसायी लोगों से विज्ञापन एकत्रित करें। उस आधार पर मुट्ठी भर सम्पन्न लोगों से ही उपरोक्त राशि उपलब्ध हो सकती है। आमतौर से स्मारिकाओं से एक पृष्ठ का विज्ञापन रेट २००) पेज होता है। आधे का ११५) और चौथाई का ६०)। यह प्रयोजन थोड़े प्रभावशाली लोगों को साथ लेकर चल पड़ने पर पच्चीस पेज के विज्ञापन एकत्रित कर लेने का लक्ष्य लेकर पूरा हो सकता है । इस आधार पर पाँच हजार के विज्ञापन एकत्रित कर लेने में किसी भी कस्बे के प्रभावशाली व्यक्ति को तनिक-सा उत्साह अपना लेने पर सुनिश्चित सफलता मिल जानी चाहिए।

अखण्ड ज्योति संस्थान मथुरा ने इन स्मारिका प्रकाशकों के लिए विशेष सुविधा देने के लिए लागत से भी कम मूल्य में प्रकाशन कर देने की बात सोची है ऊपर मोटे-आर्ट पेपर पर रंगीन आकर्षक सचित्र कवर। भीतर एक रंगीन चित्र गायत्री माता का- चरणों में बैठे पू०गुरुदेव व माताजी तथा पीछे हिमालय सहित। आर्ट पेपर पर छपे दो रंगीन चित्रों के अतिरिक्त अखण्ड ज्योति साइज की स्मारिका में ३७ पेजों का अति महत्वपूर्ण मैटर और २७ पेजों के विज्ञापनों की बात सोची गई है। स्मारिका ६४ पेज की होगी। विज्ञापन कम पड़े तो उतनी पाठ्य सामग्री बढ़ सकेगी। सम्पादन, प्रकाशन, प्रूफ रीडिंग, मुद्रण आदि का पूरा भार मथुरा मे सम्भाल लिया जाएगा इसके लिए किसी को कुछ भी झंझट न करना पड़ेगा। नियत राशि और विज्ञापनों का मैटर दे देने पर भी उन्हें एक महीने के भीतर स्मारिका छापकर दे दी जाएगी।

अपेक्षा की गई है कि जिस प्रकार गत दो वर्षों में बड़े प्रयत्नों से बड़ी दौड़-धूप करके २४०० प्रज्ञापीठों का निर्माण हो गया, ठीक उसी उत्साह को अपनाकर छोटे संगठन थोड़ी दौड़-धूप और नगण्य-सी पूँजी के सहारे बन पडने वाले इस ज्ञानरथ व स्मारिका योजना को कार्यान्वित करके दिखायें। जनजागरण के लिए जनसम्पर्क, जनसम्पर्क से जनसमर्थन और जनसहयोग उपलब्ध कर लेने के उपरान्त यह समझा जा सकता है कि प्रज्ञा संगठनों में इतनी सामर्थ्य उत्पन्न हो गई कि ये अगली पंचसूत्री योजना के कार्यान्वयन में अपना आश्चर्यचकित कर देने वाला पराक्रम प्रस्तुत कर सकें।

प्रथम पंचसूत्री योजना इसी के साथ जुड़ जाती है। दूसरे चरण में शिक्षा प्रचार, स्वास्थ्य सम्बर्द्धन, हरीतिमा विस्तार श्रमदान से स्वच्छता और कुरीति उन्मूलन के बहुमुखी कार्यक्रमों की पंचसूत्री योजना है। जहाँ एक चरण उठेगा वहाँ दूसरा चरण न उठे, यह हो नहीं सकता।

जहाँ ज्ञान रथ चल पड़ेंगे वहाँ प्रज्ञा संस्थानों को प्राणवान निर्माण समझा जाएगा और वार्षिकोत्सव के रूप में हर वर्ष एक शानदार प्रज्ञा आयोजन भी सम्पन्न करने के लिए कहा जाएगा ताकि उस क्षेत्र में जाग्रति की एक नई लहर दौड़े और उस आधार पर विचारशील वर्ग को ढूँढ़ना, उभारना और नवसृजन में जुटाना सम्भव हो सके। ज्ञान रथों के माध्यम से बने प्रज्ञा संस्थान ही अगले दिनों इस आवश्यकता की पूर्ति भली प्रकार कर सकेंगे।

ज्ञान रथ(चल प्रज्ञा मन्दिर) सर्वत्र गतिशील हों

स्थिर वस्तु की अपेक्षा गतिशील को प्राणवान माना जाता है और उसका महत्व अधिक स्वीकारा जाता है। पवन, बादल, निर्झर गतिशील रहने के कारण ही अपेक्षाकृत अधिक महत्व प्राप्त कर सके हैं। निजी इमारतों वाली प्रज्ञा-पीठों का महत्व तभी है, जब लोग वहाँ पहुँचें। पर ज्ञान रथ रूपी प्रज्ञा-मन्दिर तो स्वयं चलकर जन-जन की भावना जगाते हैं। इसीलिए उनका लागत मूल्य भले ही कम हो, पर उसकी उपयोगिता एवं पुण्य वितरण प्रक्रिया निश्चय ही अधिक है।

अब तक हुआ भी यही है। जहाँ ज्ञानरथ चले हैं, वहाँ हर व्यक्ति को संस्था का परिचय प्राप्त करने, सम्बन्ध जोड़ने तथा प्रेरणा ग्रहण करने का अनवरत लाभ मिलता रहा है। ऐसे स्थान अन्यत्र की अपेक्षा अधिक जीवन्त, अधिक जाग्रत एवम् अधिक क्रियाशील पाए गये हैं।

स्थानीय आयोजनों का लाभ उनमें सम्मिलित होने वाले लोग ही उठा पाते हैं; किन्तु ज्ञान रथ हाट, बाजारों, जनसंकुल स्थानों, गली-मुहल्लों में स्वयं पहुँचते हैं। वे युग चेतना का आलोक वितरण करते हैं। ऊँचा उठने, आगे बढ़ने का संदेश सुनाने के लिए घर-घर अलख जगाते हैं।

परिणाम और प्रतिफल को देखते हुए किसी देवालय में पूजा करने की अपेक्षा महाप्रज्ञा का आलोक सर्वसाधारण को हृदयंगम कराने के लिए परिभ्रमण करना किसी भी प्रकार कम पुण्य फलदायक नहीं है। देवालयों की रथ यात्रा का माहात्म्य इसीलिए होता है। गंगाजल की काँवर उठा कर शिवलिंग तक पहुँचाने की परम्परा इसीलिए है कि मार्ग में जो भी मिले, उसे श्रद्धा संवर्द्धन

का अवसर मिले। ज्ञान रथ भी इसी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं।

प्रज्ञापीठें बहुत खर्च करके बनी हैं। उनकी सफेदी, मरम्मत, चौकीदारी आदि में भी खर्च पड़ता है। पुजारी की दैनिक सेवा अपेक्षित होती है; पर ज्ञानरथ में उसकी अपेक्षा खर्च नहीं के बराबर है,जबकि उपयोगिता के आधार पर पुण्यफल बढ़-चढ़ कर ही पाया जा सकता है।

इन्हीं कारणों को देखते हुए सभी प्रज्ञापीठों को कहा गया है कि वे ज्ञान रथ के रूप में अपने साथ चल संस्कार केन्द्र जुड़ा रखें। जो लोग प्रज्ञा देवालय बना सकने के लिए आर्थिक साधन नहीं जुटा सकते, उनके ज्ञान रथ के रूप में एक कम लागत वाला प्रज्ञा मन्दिर बना लेने का प्रयत्न करना चाहिए। इसकी लागत बहुत थोड़ी है। स्थान की अतिरिक्त आवश्यकता नहीं पड़ती। घर में कमरे के एक कोने में रखा जा सकता है। लागत इतनी कम है कि कोई उत्साही व्यक्ति अपने निजी मित्र परिजनों से एकत्रित कर सकता है या अपनी जेब से भी उस थोड़ी पूँजी को खर्च किया जा सकता है।

योजना बहुत ही महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है; पर पहले जिनने इसे बनाया, उनने यह कमी रखी कि उसे गुप-चुप बाजार में घुमा भर दिया। अब बिना बोले 'मूवी' फिल्मों का जमाना चला गया। बिना आवाज के शाक-भाजी तक नहीं बिकती। बिना एलान किए कोई सभा गोष्ठी नहीं जुड़ती। ऐसे जमाने में ज्ञान रथ को देखने लोग टूट पड़ेंगे और बिना कुछ बताये चुप-चाप इशारे से युग साहित्य खरीदने लगेंगे, यह आशा किसी को भी नहीं करनी चाहिए। दिन भर प्रवचन करते, गीत गाते और अपना प्रचार अभिप्राय समझाते रहने का कार्य कोई निरन्तर नहीं कर सकता। यह काम मशीनों के ही बलबूते का है। ज्ञान रथ के साथ लाउडस्पीकर, टेप रिकार्डर लगाकर उसे एक अच्छे-खासे गायक, वक्ता, प्रचारक का रूप दिया जा सकता है। इन यंत्रों की खुराक बिजली है। चलते-फिरते समय में यह कार्य मोटर वाली बैटरी से लिया जा सकता है। दिन भर प्रयोग में आने के उपरान्त उसकी शक्ति चुक जाती है, तो फिर 'चार्जर' के सहारे किसी बिजली वाले स्थान में लगाकर रात में उसे नयी शक्ति से भरा-पूरा बनाया जा सकता है। दूसरे दिन वह फिर पहले दिन की ही तरह दहाड़ने और संगीत की मन-मोहक ध्वनियाँ बजाने को तैयार मिलेगी। इतने साधन जुट जाने पर ज्ञान रथ को समग्र हुआ समझा जा सकता है अन्यथा उसे किसी व्यक्ति को सौंपकर यह आशा नहीं की जा सकती है कि उसके द्वारा प्रभावशाली स्तर का प्रचार कार्य हो सकेगा और युग चेतना का उत्साहवर्द्धक आलोक वितरण सम्भव हो सकेगा।

मात्र धकेल गाड़ी और थोड़े से पुराने साहित्य का प्रबंध कर लेने और कोई अपरिचित व्यक्ति उसे घुमाने के लिए भेज देने से, असफलता मिलना ही निश्चित है। आधे-अधूरे काम ऐसी ही निराशा उत्पन्न करते हैं। ज्ञानरथ बनाने वालों में से जिनने भी यह किया, उसे बन्द ही करना पड़ा है। जहाँ समग्रता जुटाई गई है वहाँ का अनुभव यह है कि यह चल प्रज्ञा मन्दिर, इमारत वाली प्रज्ञापीठों की तुलना में कहीं अधिक सफल रहे हैं। प्रज्ञापीठों में थोड़े से श्रद्धालु ही पहुँचते हैं, पर ज्ञानरथ हजारों अपरिचितों को झकझोरता, आकर्षित, उत्साहित करता है। पढ़ाने, वापिस लाने के साथ बोलते ज्ञान रथों में साहित्य की बिक्री भी अच्छी-खासी होती है।

ज्ञानरथ प्रज्ञा मन्दिरों को समग्र बनाने के लिए कुछ उपकरणों की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है। उनकी पूरी लागत लगभग ४००० रु० आती है। विवरण इस प्रकार है:-१. ज्ञान रथ १००० रु० २. साहित्य १००० रु. ३. टेप प्लेयर, एम्प्लीफायर, बैट्री एवं चार्जर लगभग २००० रु. इनमें से जो वस्तुएँ पहले से हैं, उन्हें फिर से ठीक करके काम में लाया जा सकता है। उतनी लागत घट जाएगी। इतनी लागत जनसहयोग से अथवा स्मारिका प्रकाशित करके उसकी बचत से एकत्रित की जा सकती है। इतने भर से प्राणवान प्रज्ञा मन्दिर बनकर तैयार हो जाते हैं। बनने पर उससे कई काम किए जा सकते हैं, यथा-(१) साप्ताहिक सत्संगों के अवसर पर उसका परिपूर्ण प्रयोग (२) प्रभात फेरी निकालने में थोड़ी-सी भीड़ होने पर भी गली-मुहल्लों में बोलता ज्ञानरथ घुमा देने से आशाजनक प्रचार कार्य हो जाता है। (३) हाट बाजारों, जनसंकुल स्थानों, मेले-ठेलों में, धर्म स्थानों में, पार्कों आदि में यह प्रचार का सबसे सस्ता और सर्वोत्तम उपकरण है (४) दीप यज्ञ जहाँ भी हों वहाँ यदि ज्ञानरथ पहुँच जाय तो व्यवस्था तथा सुविधा में बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है। (५) जहाँ पीठें विद्यमान हैं, वहाँ प्रातः-सायं की पूजा आरती का शानदार उपक्रम ज्ञानरथ के सहारे ही सम्पन्न हो जाता है। (६) 'नुक्कड़' सभाएँ करने के लिए ज्ञानरथ एक महत्वपूर्ण उपकरण है। जुलूसों में उसकी उपस्थिति से चार चाँद लग जाते हैं। (७) ज्ञानरथ में लगा पैसा सुरक्षित पूँजी की तरह सदा अपने हाथ के नीचे रहता है। यदि कभी उसे बेचना हो लागत से कुछ ही कम में वह आसानी से निकल जाता है। (८) नये डिजाइन के बने ज्ञान रथ मंदिरनुमा हैं। उनमें गायत्री माता का चित्र भी सुसज्जित रखकर प्रज्ञा मन्दिर का दर्शनीय रूप दिया जा सकता है। इससे 'श्रद्धाभक्ति' बढ़ाने का प्रयोजन भी पूरा होता है।

जिनके ज्ञान रथ अधूरे होने के कारण बन्द पड़े हैं। उन्हें चाहिए कि नए सिरे से नया साहित्य और स्टीकर मँगा लें। साथ ही उन उपकरणों की भी व्यवस्था करें जो उसे बोलता, गाता बना दे। ज्ञान-रथ कौन से गीत गाये, साहित्य और स्वाध्याय के सम्बन्ध में क्या कहे? उसके कैसेट बना दिए गए हैं। वह शान्तिकुंज से प्राप्त किये जा सकते हैं। सभी समर्थ शाखा संगठन, सभी प्रज्ञा मण्डल, महिला मण्डल, अपने-अपने यहाँ चल प्रज्ञा मन्दिर के

रूप में ज्ञान रथ की व्यवस्था करें। इससे उनके क्रिया-कलापों में निश्चय ही नवचेतना का संचार होगा।

एकाकी प्रयत्न से चल पड़ने वाले प्रज्ञा मंदिर

प्रज्ञा अभियान को अग्रगामी बनाने के लिए प्रज्ञा संस्थानों की स्थापना एवं संचालन के तीव्र प्रयास इन दिनों चल रहे हैं। यह प्रचलित निर्जीव मंदिरों से भिन्न हैं। जाग्रति केन्द्रों के रूप में इनकी प्राण-प्रतिष्ठा हो रही है। हर प्रज्ञा पुत्र को इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में अपना भावभरा सक्रिय योगदान देना चाहिए।

प्रज्ञासंस्थानों के अन्तर्गत सबसे छोटी स्थापना प्रज्ञा मन्दिर की है। इस माध्यम से उन कार्यक्रमों को छोटे रूप में क्रियान्वित किया जा सकता है, जो प्रज्ञापीठों में बड़े रूप में सम्पन्न किए जाते हैं। यह स्थापना, अपने रहने के मकान के एक कमरे में भी की जा सकती है। अपना एक कमरा खाली न हो तो किसी मित्र का मन्दिर, धर्मशाला का या किराये का कमरा प्राप्त किया जाय। उसमें दो चौकियाँ ऊपर नीचे रखकर पूजा मंच बनाया जाय। इस पर बड़े साइज का गायत्री चित्र स्थापित किया जाय। नित्य का पूजा-उपचार तथा आरती सहगान का प्रबन्ध किया जाय।

इसी कमरे की दो अलमारियों में प्रज्ञा पुस्तकालय की स्थापना हो। उसे घर पर पहुँचाने और वापिस लाने के लिए झोला पुस्तकालय की नियमित व्यवस्था बनाई जाय। यह कार्य स्वयं ही दो घण्टे निकालने पर अत्यन्त सरलता एवं सफलता के साथ चलता रह सकता है। जहाँ सुविधा हो वहाँ इस पुण्य प्रक्रिया को नियमित रखने के लिए दो या अधिक घण्टों के लिए कोई पार्ट टाइम विद्यार्थी वेतन पर भी रखा जा सकता है। उस क्षेत्र के शिक्षित लोगों में सम्पर्क साधा जाय और नियमित रूप से पढ़ने के लिए सहमत किया जाय। जो उत्साह दिखायें, उनके पास सप्ताह में एक या दो बार युग साहित्य पहुँचाने और वापिस लेने का क्रम बिठाया जाय। जिनके पास यह पुस्तकें पहुँचा करें वे अपने परिवार के अन्य सदस्यों को भी पढ़ाया या सुनाया करें। ऐसी प्रेरणा भी उन्हें देनी चाहिए। विद्यार्थी अपनी कक्षा एवं पाठशाला के सहपाठियों को युग साहित्य की छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ अदल-बदल कर पढ़ाते रह सकते हैं। अध्यापकों, अध्यापिकाओं के लिए अपने छात्रों को, घर ले जाकर इन पुस्तकों को पढ़ने की प्रेरणा देना और भी सरल है। चिकित्सक, दुकानदार, दफ्तर के बाबू, अधिकारी अपने सम्पर्क वालों में यह पढ़ाने वापिस लेने की प्रक्रिया अत्यन्त सरलतापूर्वक चलाते रह सकते हैं। प्रज्ञा मन्दिर संस्थापकों को इनसे सम्पर्क साधना चाहिए और अपने प्रज्ञा पुस्तकालय की पुस्तकें इन क्षेत्रों में भी प्रसारित करने का प्रयत्न करना चाहिए । अपना निजी परिवार-पड़ौस एवं मित्र-परिचितों का क्षेत्र तो इस प्रक्रिया से लाभान्वित होता ही रह सकता है।

प्रज्ञापीठों को अपना कार्यक्षेत्र सात गाँवों का रखना होता है। प्रज्ञा मन्दिर छोटे होने के कारण अपना कार्य क्षेत्र अपने नगर तक भी सीमित रख सकते हैं और उसे ६ हिस्सों में बाँटकर दो घण्टे की अवधि में पुस्तकें देने और वापस लेने का क्रम चला सकते हैं। छोटा क्षेत्र हो-पढ़ने वाले कम हों तो यह क्रम सप्ताह में दो बार का भी चल सकता है।

सातवाँ दिन छुट्टी का दिन साप्ताहिक सत्संग का रखा जाये। सामूहिक जप, संक्षिप्त हवन एवं सहगान के तीन उपासनात्मक कार्यक्रम और एक घण्टे का विचार-विनिमय चलने लगे तो समझना चाहिए कि प्रज्ञापीठों में चलने वाले ज्ञान यज्ञ की संक्षिप्त विधि-व्यवस्था क्रियान्वित होने लगी। छोटे कमरे में हवन की व्यवस्था ठीक से न बन पड़े और धुएँ या गर्मी के कारण सत्संग में व्यवधान पड़े तो अगरबत्ती के रूप में हवन और दीपक के रूप घृत की आहुति की भावना करके चौबीस बार के गायत्री मन्त्र पाठ से भी संक्षिप्त हवन की आवश्यकता पूर्ण कर सकते हैं। संगीत समेत सहगान कीर्तन हो या बिना संगीत के, यह स्थानीय सुविधा व्यवस्था पर निर्भर करता है। साप्ताहिक सत्संग में विचार-विनिमय का विषय यह होना चाहिए कि उपस्थित लोग अपनी वर्तमान परिस्थिति में अपने सीमित क्षेत्र में प्रज्ञा अभियान को अग्रगामी बनाने के लिए क्या कुछ कर सकते हैं? प्रज्ञा परिजनों के लिए न्यूनतम कार्यक्रम उसी दृष्टि से बना है कि उसे कोई भावनाशील व्यक्ति व्यस्त या व्यग्र परिस्थितियों में भी अत्यन्त सरलतापूर्वक निभाता रह सके। सत्संग में उपस्थित लोगों को प्रेरणा दी जाये कि वे युग संधि के (न्यूनतम) कार्यक्रम को अपनायें, जिनका यह क्रम चल पड़ा है उनसे उस सन्दर्भ में पूछ-ताछ की जाये और कठिनाइयों का समाधान बताया जाये।

प्रज्ञा मन्दिर में आने वालों तथा युग साहित्य पढ़ने वालों को स्थानीय 'प्रज्ञा परिवार' मान लिया जाये और उनमें से जो-जो सहमत होते चलें उन-उन के जन्मदिन मनाने की व्यवस्था बनाते रहा जाये। प्रज्ञा मन्दिर के संचालक या सहयोगी सरलतापूर्वक इतने जन्म दिवसोत्सवों का प्रबन्ध कर सकते हैं। नये लोगों को इस नई व्यवस्था की जानकारी नहीं होती। अतएव उनका मार्गदर्शन ही नहीं सहयोग भी करना होता है। इन उत्सवों की पद्धति नितांत सरल और मात्र ५-७ रुपये खर्च जितनी है। इसे क्रियान्वित करने में कहीं कुछ भी कठिनाई नहीं पड़नी चाहिए। इसे आसानी से प्रज्ञा मन्दिर के संचालक सिखा सकते हैं और इस माध्यम से परिवार निर्माण अभियान का प्रवेश उन घरों में सफलतापूर्वक करा सकते हैं।

प्रज्ञा मन्दिरों की व्यवस्था कोई तेजस्वी व्यक्ति अकेले भी कर सकता है। पर अच्छा यह हो कि ४-५ की टोली

का अवसर मिले। ज्ञान रथ भी इसी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं।

प्रज्ञापीठें बहुत खर्च करके बनी हैं। उनकी सफेदी, मरम्मत, चौकीदारी आदि में भी खर्च पड़ता है। पुजारी की दैनिक सेवा अपेक्षित होती है; पर ज्ञानरथ में उसकी अपेक्षा खर्च नहीं के बराबर है,जबकि उपयोगिता के आधार पर पुण्यफल बढ़-चढ़ कर ही पाया जा सकता है।

इन्हीं कारणों को देखते हुए सभी प्रज्ञापीठों को कहा गया है कि वे ज्ञान रथ के रूप में अपने साथ चल संस्कार केन्द्र जुड़ा रखें। जो लोग प्रज्ञा देवालय बना सकने के लिए आर्थिक साधन नहीं जुटा सकते, उनके ज्ञान रथ के रूप में एक कम लागत वाला प्रज्ञा मन्दिर बना लेने का प्रयत्न करना चाहिए। इसकी लागत बहुत थोड़ी है। स्थान की अतिरिक्त आवश्यकता नहीं पड़ती। घर में कमरे के एक कोने में रखा जा सकता है। लागत इतनी कम है कि कोई उत्साही व्यक्ति अपने निजी मित्र परिजनों से एकत्रित कर सकता है या अपनी जेब से भी उस थोड़ी पूँजी को खर्च किया जा सकता है।

योजना बहुत ही महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है; पर पहले जिनने इसे बनाया, उनने यह कमी रखी कि उसे गुप-चुप बाजार में घुमा भर दिया। अब बिना बोले 'मूवी' फिल्मों का जमाना चला गया। बिना आवाज के शाक-भाजी तक नहीं बिकती। बिना एलान किए कोई सभा गोष्ठी नहीं जुड़ती। ऐसे जमाने में ज्ञान रथ को देखने लोग टूट पड़ेंगे और बिना कुछ बताये चुप-चाप इशारे से युग साहित्य खरीदने लगेंगे, यह आशा किसी को भी नहीं करनी चाहिए। दिन भर प्रवचन करते, गीत गाते और अपना प्रचार अभिप्राय समझाते रहने का कार्य कोई निरन्तर नहीं कर सकता। यह काम मशीनों के ही बलबूते का है। ज्ञान रथ के साथ लाउडस्पीकर, टेप रिकार्डर लगाकर उसे एक अच्छे-खासे गायक, वक्ता, प्रचारक का रूप दिया जा सकता है। इन यंत्रों की खुराक बिजली है। चलते-फिरते समय में यह कार्य मोटर वाली बैटरी से लिया जा सकता है। दिन भर प्रयोग में आने के उपरान्त उसकी शक्ति चुक जाती है, तो फिर 'चार्जर' के सहारे किसी बिजली वाले स्थान में लगाकर रात में उसे नयी शक्ति से भरा-पूरा बनाया जा सकता है। दूसरे दिन वह फिर पहले दिन की ही तरह दहाड़ने और संगीत की मन-मोहक ध्वनियाँ बजाने को तैयार मिलेगी। इतने साधन जुट जाने पर ज्ञान रथ को समग्र हुआ समझा जा सकता है अन्यथा उसे किसी व्यक्ति को सौंपकर यह आशा नहीं की जा सकती है कि उसके द्वारा प्रभावशाली स्तर का प्रचार कार्य हो सकेगा और युग चेतना का उत्साहवर्द्धक आलोक वितरण सम्भव हो सकेगा।

मात्र धकेल गाड़ी और थोड़े से पुराने साहित्य का प्रबंध कर लेने और कोई अपरिचित व्यक्ति उसे घुमाने के लिए भेज देने से, असफलता मिलना ही निश्चित है।

गतिविधियों के संचालन के लिए प्रज्ञा मन्दिरों की संचालक मण्डली के सदस्य स्वयं तो नियमित समयदान किया ही करें, प्रज्ञा परिवार के अन्य लोगों को भी इसके लिए प्रोत्साहित करें। हर दिन दो घण्टे एवं साप्ताहिक अवकाश का पूरा दिन देते रहने भर से इतना बड़ा काम हो सकता है कि उस गाँव-कस्बे में नवजागरण के चिन्ह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगें। यह समयदानी टोलियाँ बनाकर योजनाबद्ध ढंग से जनसम्पर्क के लिए निकलें और मिशन की गतिविधियों का परिचय कराने तथा सम्मिलित रहने के लिए प्रोत्साहित करते रहें, तो सहज ही सहयोगियों की संख्या बढ़ती रहेगी और वे सभी कार्य क्रम क्षेत्र में चल पड़ेंगे जो अपेक्षित हैं।

'प्रज्ञा मन्दिर' ऐसी छोटी प्रज्ञापीठ है, जिसकी स्थापना तत्काल एवं एकाकी प्रयास से भी संभव हो सकती है। आगे चलकर सहयोगियों की सहायता से अपना भवन बनाने की योजना बन पड़े तो इसके लिए जनसहयोग में भी कमी न पड़ेगी। बड़ी स्थापनाओं के लिए देर तक प्रतीक्षा करने के स्थान पर यही उत्तम है कि प्रज्ञा अभियान को व्यापक बनाने के लिए छोटा शुभारम्भ कर दिया जाय। इस दृष्टि से प्रज्ञा मन्दिरों की उपयोगिता समझी और समझाई जा सकती है।

प्रज्ञा संस्थानों का प्रारम्भिक ढाँचा खड़ा होने पर उन्हें समर्थ और विकसित माना जाएगा और उन्हें वे अगले महत्वपूर्ण काम सौंपे जाएँगे जिनसे प्रस्तुत विभीषिकाओं का निराकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का निर्धारण सुनिश्चित रूप से संभव हो सके।

सत्संग मंडलों का अभिनव गठन

बड़े परिवारों में सभी स्तर के लोग होते हैं। कुछ वयोवृद्ध, कुछ बीमार, कुछ बालक, कुछ अयोग्य, असमर्थ। उन सब का साथ-साथ निर्वाह होता है; किन्तु उस परिकर के लिए आवश्यक उपार्जन की, सुरक्षा-सुविधा एवं व्यवस्था की जिम्मेदारी कुछ एक समर्थ लोगों को ही उठानी पड़ती हैं। इंजन अपनी शक्ति-सामर्थ्य के बलबूते रेल के अनेक डिब्बों को अपने पीछे खींचता द्रुतगति से दौड़ता चला जाता है। सामान्य परिवारों की तरह गायत्री परिवार के सम्बन्ध में भी यही तथ्य लागू होता है। परिजनों में कितने ही ऐसे हैं, जो पूजा-पाठ में पठन-श्रवण में तो रुचि लेते हैं, पर नवसृजन के युग धर्म की पुकार सुनने और तदनुरूप कुछ बड़े कदम उठाने की न उनकी मन:स्थिति होती है, न योग्यता, न समर्थता। व्यस्तता, अभावग्रस्तता जैसे कारण बताकर भी कितने ही व्यक्ति अपनी असमर्थता व्यक्त करते रहते हैं। कितने ही स्थानों में गायत्री परिवार के सदस्यों की संख्या तो बड़ी होती है, पर लोकमानस के परिष्कार जैसी सामयिक आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए न उनके हाथ उठते हैं न पैर चलते हैं। बातें बनाने और नेतृत्व करने तक ही उनका व्यक्तित्व एवं बड़प्पन सीमित होकर रह जाता है। कुछ को निष्क्रिय देखकर अन्य भी उनका अनुकरण करते, पीछे रहते देखे जाते हैं।

युग संधि की इस ऐतिहासिक बेला में प्रज्ञापुत्रों को अग्रिम भूमिका निभानी है। जाग्रत होते हुए भी सोने का उपक्रम करने वालों को क्षमा नहीं किया जाता। यह दोष युगशिल्पी परिवार पर समग्र रूप से न लगे, इसलिए आवश्यक समझा गया कि सीप घोंघे से भरे समुद्र में से मूल्यवान मोती चुन लिए जाएँ। थोड़ी संख्या में होने पर भी उनका एक छोटा आभूषण बनाकर सक्रियता और सजीवता को अपना पौरुष दिखाने का, कर्त्तव्य निभाने का अवसर दिया जाये। दूध गरम करने पर मलाई ऊपर तैरती है। इसी प्रकार महाकाल के आह्वान पर युग धर्म की आपत्तिकालीन चुनौती स्वीकार करने के लिए कुछ प्रतिभाएँ तो निकालनी ही चाहिए। साधु-ब्राह्मणों की, परिव्राजक-पुरोहितों की परम्परा को सर्वथा लुप्त नहीं होने देना चाहिए। उसे छोटे रूप में, छोटे-छोटे घटकों द्वारा किसी प्रकार तो पूरा किया ही जाना चाहिए अन्यथा हम सब पर देव संस्कृति से विमुख होने का लांछन लगेगा।

यही है सत्संग मण्डलों के अभिनव जीवन का उद्देश्य और निर्धारण । अपेक्षा की गई है कि इतने बड़े परिवार में जीवन्त-जाग्रत प्रज्ञापुत्रों की भी स्थिति-उपस्थिति किसी न किसी रूप में होगी ही और वे सक्रिय कार्यकर्त्ताओं के रूप में स्वाध्याय मण्डलों की छत्र-छाया में एकत्रित-संगठित होंगे। नवसृजन के कार्य क्षेत्र में उतरेंगे। एक-दूसरे का मुँह ताकते रहें और परामर्श देते रहें तो काम चलने वाला नहीं है। जीवन्त-जाग्रत और प्राणवान भावनाशील प्रतिभाओं को अन्त:प्रेरणा से आगे आना चाहिए और उन प्रयोगों में जुट जाना चाहिए, जिन्हें आज ही गतिशील करना आवश्यक है। प्रथम प्रयास में ऐसे छोटे-छोटे सत्संग मण्डलों के गठन का कदम उठाना चाहिए, जो स्वाध्याय और सत्संग की व्यापक व्यवस्था कर सकें और जनजीवन में युगान्तरीय चेतना का आलोक पहुँचाने के सतत् प्रयास में लगे रह सकें।

प्रज्ञा परिवार के जिन भावनाशीलों की अन्तरात्मा में इस स्तर की उमंग उभरे, उन्हें अपने को आगे करके चार और उदारचेता तलाश करने चाहिए। ऐसे व्यक्ति तैयार न मिलें तो सम्पर्क क्षेत्र में ऐसे पुण्यात्मा ढूँढ़ने, प्रोत्साहन देने और प्रशिक्षण करने का प्रयास जारी रखना चाहिए। विश्वास रखा जाये कि ऐसे प्रयत्नों को दैवी सहयोग मिलते हैं और वे सफल होकर रहते हैं। एक सृजन शिल्पी चार और अपने सहयोगी बनाकर एक सत्संग मंडल गढ़ने में आज नहीं तो कल परसों अवश्य ही सफल हो सकता है। इन मण्डलों का प्रधान कार्य है नवसृजन के अनुरूप स्वाध्याय और सत्संग का उपक्रम नियमित रूप से चलाते रहने का लक्ष्य सामने रहना। ऐसे

यह कार्य सँभाले। जीवन्त महिलाएँ भी मिल-जुलकर प्रज्ञा मन्दिर की गतिविधियाँ चला सकती हैं। सब प्रयास करें तो १५-२० घरों में ज्ञानघट तथा धर्मघट तो रखे ही जा सकते हैं। महिलाएँ धर्मघट में न्यूनतम एक मुट्ठी अन्न डालें। इतने से प्रज्ञामन्दिर में नियुक्त कार्यकर्ता का निर्वाह खर्च निकल सकता है। इसे ब्रह्मभोज के समकक्ष पुण्य माना जाना चाहिए। पुरुष ज्ञानघट में न्यूनतम १० पैसा प्रतिदिन ज्ञान यज्ञ के लिए डालें। माह में एक दिन की आय भी इस निमित्त निकाली जा सकती है। इससे प्रज्ञा मन्दिर के लिए साहित्य एवं आवश्यक उपकरण जुटाने की व्यवस्था रहेगी।

थोड़ा धन एकत्रित हो जाय तो फेरी वालों की धकेल जैसा, सादा-सस्ता ज्ञान रथ बनाया जा सकता है। उसके माध्यम से घर-घर पुस्तकें पहुँचाने, वापस लाने के अतिरिक्त बिक्री का सिलसिला भी जारी रखा जाय। बिक्री के कमीशन से नियुक्त कार्यकर्त्ता की आंशिक पूर्ति हो जाती है। जो कमी पड़े उसकी पूर्ति ज्ञानघटों वाली राशि में से कर दी जाय। नियुक्त कार्यकर्त्ता भोजन के उपरान्त नित्य ज्ञान रथ लेकर साहित्य पढ़ाने और बेचने निकलें। हाट-बाजारों से लेकर घरों, स्कूलों, कारखानों घाटों, मन्दिरों आदि जनसंकुल स्थानों पर पहुँचे। प्रचार बोर्ड एवं सजे ज्ञान रथ को लेकर दर्शकों का ध्यान आकर्षित करे। चलाने वाला वाकपटु हों तो रास्ता चलतों को रोककर प्रज्ञा अभियान की प्रस्तुत युग साहित्य की गरिमा से सर्वसाधारण को परिचित कराता रह सकता है। चटाई बिछाकर लोगों को बैठने और पढ़ने के लिए साहित्य देता रह सकता है। इस प्रकार बिक्री का सिलसिला भी चलता रहेगा और पढ़ाने-वापस लेने वाली प्रक्रिया भी भली प्रकार जारी रहेगी।

आरम्भ में मन्दिर का श्रीगणेश करते समय अखण्ड ज्योति, युग शक्ति, महिला जाग्रति पत्रिकाओं के पुराने अंक संग्रह करके, उन पर बाँसी कागज चिपका लिया जाय और उसे ही प्रारम्भिक पुस्तकालय मानकर काम चलाया जाये। इसके बाद ज्ञानघटों, धर्मघटों की राशि से प्रज्ञा मन्दिर के साहित्य एवं कार्यकर्त्ता के पारिश्रमिक की पूर्ति का कार्यक्रम चलता रह सकता है। चल पुस्तकालय के अतिरिक्त स्लाइड प्रोजेक्टर एवं टेप रेकार्डर के दो यन्त्र भी ऐसे ही हैं, जिनसे घर-घर युग चेतना को प्रवेश कराने का अवसर मिल सकता है। स्लाइड प्रोजेक्टर प्रवचन सहित मुफ्त का सिनेमा है। टेप रेकार्डर द्वारा शान्तिकुंज जा पहुँचने, देवकन्याओं के गीत तथा सूत्र-संचालक के प्रेरणाप्रद प्रवचन सुनने का अवसर मिलता रह सकता है। जो प्रज्ञा मन्दिर इतनी पूँजी जुटा सके वे इसके लिए भी उपाय खोजें।

जहाँ प्रज्ञा मन्दिरों के उपरोक्त सामान्य क्रियाकलाप चल पड़ें वहाँ प्रज्ञापीठों द्वारा चलाये जाने वाले रचनात्मक एवं सुधारात्मक प्रयास भी प्रारम्भ किये जा सकते हैं। युगसन्धि की प्रथम पंचवर्षीय योजना के लिये निर्धारित वह कार्यक्रम इस प्रकार है-

रचनात्मक- (१) शिक्षा का विस्तार, (२) स्वास्थ्य संवर्धन, (३) स्वच्छता श्रमदान, (४) गृह उद्योग प्रचलन, (५) हरीतिमा विस्तार।

सुधारात्मक- (१) नशा निवारण (२) विवाहों में अनीति एवं अपव्यय का विरोध, (३) हरामखोरी, कामचोरी का तिरस्कार, (४) फैशन-फिजूलखर्ची की रोक-थाम, (५) अवांछनीयताओं का उन्मूलन।

प्रयास किया जाना चाहिए कि प्रज्ञामन्दिर आगे चलकर प्रज्ञापीठ के रूप में विकसित हो जावें। उसके लिए छोटा मन्दिर तथा बहुउद्देशीय हॉल उपयुक्त स्थल पर बनाना होता है। हर प्रज्ञापीठ में बहुउद्देशीय हॉल का निर्माण इसीलिए किया जाता है कि दिन में दो-दो घण्टे की तीन-तीन पाठशालाएँ चलें। एक बच्चों की, दूसरी महिलाओं की तीसरी प्रौढ़ों की। एक कक्षा स्वास्थ्य संवर्द्धन की, आसन-प्राणायाम, खेलकूद, ड्रिल एवं आवश्यक प्रशिक्षण की चला करे। रात्रि को सामयिक समस्याओं के समाधान के निमित्त कथा-प्रवचन का सिलसिला चले। जगह कम पड़ती हो या लोगों के पहुँचने में असुविधा हो तो कथा के लिए कोई दूसरा सुविधाजनक स्थान भी चुना जा सकता है।

परमार्थ परायण जाग्रतात्माओं के लिए यह सब काम कठिन नहीं है। क्योंकि इस स्तर के व्यक्तियों की यह एक मौलिक विशेषता होती है- लक्ष्य को निजी स्वार्थ जितना ही महत्वपूर्ण मानना। सामान्य व्यक्ति परमार्थ कार्य को करते समय का मनोरंजन मात्र मानते हैं, जबकि मूर्धन्य के लिए वह प्रमुख ही नहीं सब कुछ बन जाता है चुनाव जीतने के लिए लोग कितना श्रम, कितना व्यय, कितना चातुर्य नियोजित करते हैं इसे देखने से प्रतीत होता है कि लगन गहरी होने पर मनुष्य की कार्यक्षमता किस प्रकार सैकड़ों गुनी अधिक हो जाती है। उन दिनों खाने-सोने तक की बात भुला दी जाती है। उदासीनों और शत्रुओं तक से मदद की याचना की जाती है। कर्ज लेकर या सामान बेचकर भी चुनाव की व्यय राशि जुटाई जाती है। चुनाव जीतने जितनी लगन एवं उमंग यदि नवसृजन के लिए उभर सके तो समझना चाहिए सामान्य परिस्थितियों का व्यक्ति भी उसी स्तर के पराक्रम करने लगेगा जिसकी तुलना पवन पुत्र से की जा सके और उसे प्रज्ञा पुत्र कहा जा सके।

इन दिनों ऐसे प्राणवानों की ही पुकार महाकाल ने की है। उन्हीं को युग देवता ने बुलाया है। मानवता की परान्मुख अन्तरात्मा ने ऐसे ही महामानवों पर अपनी आशा भरी दृष्टि केन्द्रित की है। आवश्यकता नहीं है कि ऐसे लोग धनी, प्रतिभाशाली, साधन सम्पन्न भी हो। इन सभी साधनों से रहित होते हुए हजारी किसान और शालीकलाँ के डेमन्या भील की तरह ऐसे अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किए जा सकते हैं। जिन्हें देखकर मृतकों के भी प्राण छटपटाने लगें।

गतिविधियों के संचालन के लिए प्रज्ञा मन्दिरों की संचालक मण्डली के सदस्य स्वयं तो नियमित समयदान किया ही करें, प्रज्ञा परिवार के अन्य लोगों को भी इसके लिए प्रोत्साहित करें। हर दिन दो घण्टे एवं साप्ताहिक अवकाश का पूरा दिन देते रहने भर से इतना बड़ा काम हो सकता है कि उस गाँव-कस्बे में नवजागरण के चिन्ह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगें। यह समयदानी टोलियाँ बनाकर योजनाबद्ध ढंग से जनसम्पर्क के लिए निकलें और मिशन की गतिविधियों का परिचय कराने तथा सम्मिलित रहने के लिए प्रोत्साहित करते रहे, तो सहज ही सहयोगियों की संख्या बढ़ती रहेगी और वे सभी कार्य क्रम क्षेत्र में चल पड़ेंगे जो अपेक्षित हैं।

'प्रज्ञा मन्दिर' ऐसी छोटी प्रज्ञापीठ है, जिसकी स्थापना तत्काल एवं एकाकी प्रयास से भी संभव हो सकती है। आगे चलकर सहयोगियों की सहायता से अपना भवन बनाने की योजना बन पड़े तो इसके लिए जनसहयोग में भी कमी न पड़ेगी। बड़ी स्थापनाओं के लिए देर तक प्रतीक्षा करने के स्थान पर यही उत्तम है कि प्रज्ञा अभियान को व्यापक बनाने के लिए छोटा शुभारम्भ कर दिया जाय। इस दृष्टि से प्रज्ञा मन्दिरों की उपयोगिता समझी और समझाई जा सकती है।

प्रज्ञा संस्थानों का प्रारम्भिक ढाँचा खड़ा होने पर उन्हें समर्थ और विकसित माना जाएगा और उन्हें वे अगले महत्वपूर्ण काम सौंपे जाएँगे जिनसे प्रस्तुत विभीषकाओं का निराकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का निर्धारण सुनिश्चित रूप से संभव हो सके।

सत्संग मंडलों का अभिनव गठन

बड़े परिवारों में सभी स्तर के लोग होते हैं। कुछ वयोवृद्ध, कुछ बीमार, कुछ बालक, कुछ अयोग्य, असमर्थ। उन सब का साथ-साथ निर्वाह होता है; किन्तु उस परिकर के लिए आवश्यक उपार्जन की, सुरक्षा-सुविधा एवं व्यवस्था की जिम्मेदारी कुछ एक समर्थ लोगों को ही उठानी पड़ती हैं। इंजन अपनी शक्ति-सामर्थ्य के बलबूते रेल के अनेक डिब्बों को अपने पीछे खींचता द्रुतगति से दौड़ता चला जाता है। सामान्य परिवारों की तरह गायत्री परिवार के सम्बन्ध में भी यही तथ्य लागू होता है। परिजनों में कितने ही ऐसे हैं, जो पूजा-पाठ में पठन-श्रवण में तो रुचि लेते हैं, पर नवसृजन के युग धर्म की पुकार सुनने और तदनुरूप कुछ बड़े कदम उठाने की न उनकी मन:स्थिति होती है, न योग्यता, न समर्थता। व्यस्तता, अभावग्रस्तता जैसे कारण बताकर भी कितने ही व्यक्ति अपनी असमर्थता व्यक्त करते रहते हैं। कितने ही स्थानों मे गायत्री परिवार के सदस्यों की संख्या तो बड़ी होती है, पर लोकमानस के परिष्कार जैसी सामयिक आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए न उनके हाथ उठते हैं न पैर चलते हैं। बातें बनाने और नेतृत्व करने तक ही उनका व्यक्तित्व एवं बड़प्पन सीमित होकर रह जाता है। कुछ को निष्क्रिय देखकर अन्य भी उनका अनुकरण करते, पीछे रहते देखे जाते हैं।

युग संधि की इस ऐतिहासिक वेला में प्रज्ञापुत्रों को अग्रिम भूमिका निभानी है। जाग्रत होते हुए भी सोने का उपक्रम करने वालों को क्षमा नहीं किया जाता। यह दोष युगशिल्पी परिवार पर समग्र रूप से न लगे, इसलिए आवश्यक समझा गया कि सीप घोंघे से भरे समुद्र में से मूल्यवान मोती चुन लिए जाएँ। थोड़ी संख्या में होने पर भी उनका एक छोटा आभूषण बनाकर सक्रियता और सजीवता को अपना पौरुष दिखाने का, कर्त्तव्य निभाने का अवसर दिया जाये। दूध गरम करने पर मलाई ऊपर तैरती है। इसी प्रकार महाकाल के आह्वान पर युग धर्म की आपत्तिकालीन चुनौती स्वीकार करने के लिए कुछ प्रतिभाएँ तो निकालनी ही चाहिए। साधु-ब्राह्मणों की, परिव्राजक-पुरोहितों की परम्परा को सर्वथा लुप्त नहीं होने देना चाहिए। उसे छोटे रूप में, छोटे-छोटे घटकों द्वारा किसी प्रकार तो पूरा किया ही जाना चाहिए अन्यथा हम सब पर देव संस्कृति से विमुख होने का लांछन लगेगा।

यही है सत्संग मण्डलों के अभिनव जीवन का उद्देश्य और निर्धारण । अपेक्षा की गई है कि इतने बड़े परिवार में जीवन्त-जाग्रत प्रज्ञापुत्रों की भी स्थिति-उपस्थिति किसी न किसी रूप में होगी ही और वे सक्रिय कार्यकर्त्ताओं के रूप में स्वाध्याय मण्डलों की छत्र-छाया में एकत्रित-संगठित होंगे। नवसृजन के कार्य क्षेत्र में उतरेंगे। एक-दूसरे का मुँह ताकते रहें और परामर्श देते रहें तो काम चलने वाला नहीं है। जीवन्त-जाग्रत और प्राणवान भावनाशील प्रतिभाओं को अन्त:प्रेरणा से आगे आना चाहिए और उन प्रयोगों में जुट जाना चाहिए, जिन्हें आज ही गतिशील करना आवश्यक है। प्रथम प्रयास में ऐसे छोटे-छोटे सत्संग मण्डलों के गठन का कदम उठाना चाहिए, जो स्वाध्याय और सत्संग की व्यापक व्यवस्था कर सकें और जनजीवन में युगान्तरीय चेतना का आलोक पहुँचाने के सतत् प्रयास में लगे रह सकें।

प्रज्ञा परिवार के जिन भावनाशीलों की अन्तरात्मा में इस स्तर की उमंग उभरे, उन्हें अपने को आगे करके चार और उदारचेता तलाश करने चाहिए। ऐसे व्यक्ति तैयार न मिलें तो सम्पर्क क्षेत्र में ऐसे पुण्यात्मा ढूँढ़ने, प्रोत्साहन देने और प्रशिक्षण करने का प्रयास जारी रखना चाहिए। विश्वास रखा जाये कि ऐसे प्रयत्नों को दैवी सहयोग मिलते हैं और वे सफल होकर रहते हैं। एक सृजन शिल्पी चार और अपने सहयोगी बनाकर एक सत्संग मंडल गढ़ने में आज नहीं तो कल परसों अवश्य ही सफल हो सकता है। इन मण्डलों का प्रधान कार्य है नवसृजन के अनुरूप स्वाध्याय और सत्संग का उपक्रम नियमित रूप से चलाते रहने का लक्ष्य सामने रहना। ऐसे

समय-'हम पाँच-हमारे पच्चीस' की चक्रवृद्धि गति से बढ़कर सुविस्तृत सृजन परिकर के रूप में विकसित हो सकते हैं।

प्रथम चरण में संगठित पाँच प्रज्ञा पुत्रों में से प्रत्येक को अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए यथासंभव अधिक से अधिक समयदान और अंशदान का संकल्प करना चाहिए। वह दैनिक चले, अन्यथा साप्ताहिक तो चलना ही चाहिए। अनुदान के प्रण को निष्ठापूर्वक निभाया जाये, उसे पानी के बबूले की तरह क्षणभंगुर न बनने दिया जाये, नवगठित सत्संग मंडल इसी आधार पर कुछ ठोस कार्य कर सकेंगे और चिरस्थाई रह सकेंगे। स्वाध्याय और सत्संग के क्षेत्र का अधिकाधिक विस्तार इन सत्संग मण्डलों का प्रमुख कार्यक्रम होना चाहिए। इसके उपरान्त सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के अन्यान्य कार्यों को भी हाथ में लिया और आगे बढ़ाया जा सकता है। विचार क्रान्ति का आधार जम जाने पर उग आये हुए बटवृक्ष पर अनेकानेक फल-फूल, पल्लव लद सकते हैं। उसकी छत्र छाया में अनेक प्राणियों को प्रश्रय मिल सकता है। नवसृजन की अनेक गतिविधियों का प्राथमिक संगठन सही रीति से हो जाने पर उज्वल भविष्य की संभावना का विस्तार हो सकता है।

क्रिया-कलाप में अनिवार्य निर्धारण है साप्ताहिक सत्संग। इसमें पाँचों पंच देवों को उपस्थित होना ही चाहिए। प्रयत्न यह करना चाहिए कि सभी अन्य विचारशीलों को भी घसीटकर साथ लाया करें और प्रत्येक साप्ताहिक अधिवेशन में अधिक उपस्थिति को सम्भव बनाया करें। यह सत्संग किसी एक निश्चित स्थान पर भी होते रह सकते हैं और यह भी हो सकता है कि निमंत्रण देने वालों के यहाँ पारी-पारी से उनका क्रम चला करे। साप्ताहिक छुट्टी के दिन यह सत्संग रहे तो अच्छा, क्योंकि इससे स्कूली बच्चे, अध्यापक आदि भी सम्मिलित हो सकते हैं। सत्संग का प्रारम्भ ईश्वर उपासना के साथ किया जाना चाहिए। इसके लिए प्रज्ञा परिजन पाँच दीपकों का-पाँच अगरबत्तियों का प्रज्वलन और चौबीस बार गायत्री मंत्र का सामूहिक पाठ करें तो ठीक है। इसके उपरान्त युगसंगीत को संकीर्तन के रूप में गाया, दोहराया जाये । तदोपरान्त किसी सामयिक कार्यक्रम पर चर्चा हो। बन पड़े तो एक लेख अखंड ज्योति, युग निर्माण योजना से या किसी पुस्तक से इस स्तर का चुनकर सुनाया जा सकता है जो उपस्थित लोगों की रुचि का भी हो, बोधगम्य हो और उद्देश्यपूर्ण भी। समापन शान्ति पाठ से हो।

इसी अवसर पर झोला-पुस्तकालय का विस्तार क्रम चलते रहना चाहिए। स्वाध्याय प्रेमियों को पुस्तकें पढ़ने देने और वापस लेने का कार्य भी साप्ताहिक सत्संग के साथ जुड़ा रहे तो ठीक है। सम्मिलित होने वाले अपने-अपने पड़ौस सम्पर्क के लोगों को युग साहित्य पढ़ाने और वापिस लेने का उत्तरदायित्व निबाहें। इस प्रकार सहज ही कितने ही लोग स्वाध्याय मण्डल के सदस्य होने का भी लाभ उठाते रह सकते हैं। सत्संग मण्डल ही स्वाध्याय मण्डल का प्रयोजन पूरा करें। विचारक्रान्ति के लिए यह दोनों ही पक्ष समग्र रूप से महत्वपूर्ण हैं।

सत्संग आयोजनों की उपरोक्त निर्धारित परिपाटी तो चले ही, यह भी विचार-विनिमय चले कि उपस्थित जन आत्म-निर्माण, परिवार-निर्माण, समाज-निर्माण के लिए क्या कुछ कर सकते हैं? यह विचार-विनिमय इस अधिवेशन का महत्वपूर्ण अंग रहना चाहिए; ताकि सृजनात्मक सत्प्रवृत्तियों को अधिकाधिक कार्यान्वित एवं सुविस्तृत होने का अवसर मिलता रहे। उस क्षेत्र में युगान्तरीय चेतना का आलोक अधिकाधिक मात्रा में प्रकाशवान बन सके।

पुरुषों की तरह ही महिलाओं के भी पृथक 'महिला सत्संग मण्डल' गठित होने चाहिए। प्रज्ञापुत्रों को अपने-अपने घर, परिवार, सम्पर्क की उत्साही महिलाओं को आगे करके इस संगठन एवं संचालन में परोक्ष रूप से पूरी-पूरी सहायता करनी चाहिए। आगे उन्हीं को रखा जाना चाहिए। श्रेय उन्हीं को दिया जाना चाहिए। महिला मण्डलों के साप्ताहिक सत्संग भी उसी प्रकार चलें जैसे कि पुरुष वर्ग के चलते हैं। पाँच से पच्चीस बनने का उनमें भी समुचित उत्साह रहे। उपयुक्त साहित्य, पुस्तक या मिशन की पत्रिकाओं के लेखों के रूप में चुनकर स्वाध्याय सत्संग श्रृंखला चलाने का क्रम चले।

अंशदान से इन दोनों संगठनों के साथ जुड़ने वाले खर्च चलते हैं। समयदान को सम्पर्क एवं प्रचार कार्य में लगाया जाय। साधनों के बिना कोई महत्वपूर्ण योजना ठीक तरह नहीं चल सकती। पिछली पुस्तकें पढ़ लेने पर नई पुस्तकें चाहिए; ताकि पढ़ने वालों को निरन्तर नयी प्रेरणाएँ मिलती रहें और संगठनों के अपने पुस्तकालय का भण्डार बढ़ता रहे। साहित्य मथुरा-हरिद्वार केन्द्रों से मँगाया जा सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि समीप मे कोई विक्रय केन्द्र हो तो उससे ही पुस्तकालय के लिए पुस्तकें खरीदते रहा जाय।

साप्ताहिक सत्संगों के अतिरिक्त इन मण्डलों को स्वाध्याय के माध्यम से युग चिन्तन के साथ जन-जन को जोड़ने का कार्य भी करना है। पर्व-त्योहारों या विशिष्ट समारोहों में, बड़े दीप यज्ञों की व्यवस्था भी बनानी है। घरों में, दुकानों में, दफ्तरों में आदर्श वाक्यों के स्टीकर चिपकाने का भी प्रबन्ध करना है। यहाँ सत्संग शब्द को मात्र मिलन-भजन के अर्थ में नहीं लिया जाना चाहिए, वरन् समझा जाना चाहिए, युगान्तरीय चेतना का आलोक व्यापक बनने वाले हर पक्ष को सँभालना सभी नवनिर्मित मण्डलों का दायित्व है। उनके सदस्य अपने समयदान-अंशदान का उपयोग सम्मिलित रूप से स्थानीय जनजाग्रति के लिए अनवरत किया करेंगे। अधिक सहयोगी बढ़ने पर अनेक अन्य कार्य भी वे सम्पन्न कर सकेंगे। प्रचार का स्तर और क्षेत्र दोनों ही निरन्तर बढ़ाते चलेंगे।

झोला-पुस्तकालय, ज्ञानरथ, संगीत उपकरण, दीप यज्ञों में प्रयुक्त होने वाले साधन, टैपरिकार्डर, लाउडस्पीकर, स्लाइड प्रोजेक्टर जैसे प्रचार प्रयोजनों में काम आने वाले साधनों की व्यवस्था बनाने में भी यह मण्डल अधिकाधिक रुचि लेंगे और उनके साधन जुटाने में कुछ उठा न रखेंगे। नये समर्थक, सहयोगी उत्पन्न करने के लिए, जन-सम्पर्क के लिए निकलना अति महत्त्वपूर्ण कार्य है। सत्संग मण्डलों के सदस्य इसके लिए दो-दो की टोलियाँ बनाकर निकला करेंगे। मिशन के उद्देश्यों एवं कार्यक्रमों से परिचित करने के लिए घर-घर जाने और जन-जन से सम्पर्क साधने के लिए स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप जो संभव होगा वह अधिकाधिक उत्साह के साथ सम्पन्न करेंगे।

आगे चलकर शिक्षा संवर्द्धन, स्वास्थ्य संरक्षण, वृक्षारोपण, कुरीति उन्मूलन, नशा निवारण, स्वच्छता अभियान, नारी जागरण जैसे रचनात्मक कार्यों में भी मण्डलों की बढ़ी-चढ़ी भूमिका रहेगी। सदस्यों को युग गायन और सामयिक मार्गदर्शन के लिए भाषण कला का भी अभ्यास करना होगा। अपनी आवश्यकता एवं दिनचर्या को सुव्यवस्थित करना होगा; ताकि लोकमानस परिष्कार का युग धर्म निबाहने के लिए अधिक समय मिल सके और अपने साधनों के इस प्रयोजन में लगा सकना सम्भव हो सके। अपना निज का आदर्श उपस्थित करने पर ही दूसरे लोग उसका अनुकरण करने के लिए तत्पर हो सकते हैं। यदि अपना उदाहरण प्रस्तुत न किया जा सके, दूसरों को ही परमार्थ की शिक्षा दी जाती रहे, तो उसका परिपालन तो कोई करेगा ही नहीं, उलटा उपहास ही होता रहेगा।

सत्संग मण्डलों के जिन वरिष्ठ सदस्यों के निष्ठापूर्वक निश्चय हों, उन्हें अपने दायित्व को निबाहने और क्रियाकलापों में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए शान्तिकुंज में निरन्तर चलने वाली सत्र श्रृंखला में सम्मिलित होना चाहिए। जिन्हें अवकाश हो वे एक महीने इस प्रशिक्षण का लाभ उठा सकते हैं। जिन्हें व्यस्तता है वे दस दिन में भी उस शिक्षा के सार-संक्षेप का लाभ उठा सकते हैं। इन दोनों ही सत्रों में अभीष्ट आत्मबल बढ़ाने के लिए पुरश्चरणपरक साधना तो किसी न किसी रूप में करनी ही होती है।

सत्संग मण्डल के सदस्य अपने स्थानीय प्रयोजनों के लिए आवश्यक साधन-सामग्री जुटा सकें, इसी दृष्टि से शान्तिकुंज ने नया कार्यक्रम निर्धारण किया है कि प्रचार टोलियाँ या गाड़ियाँ जहाँ भी जाएँगी, वहाँ से मात्र मार्ग व्यय ही स्वीकार करेंगी दक्षिणा, अनुदान आदि स्वीकार न करेंगी। इसका कारण यह नहीं है कि केन्द्र को उसकी आवश्यकता नहीं है, वरन् यह है कि आयोजन के समय यदि कुछ बचत होती है, तो उसे स्थानीय स्तर पर स्वाध्याय मण्डलों के लिए प्रचार साधनों में प्रयुक्त होने की सुविधा उपलब्ध हो सके।

सत्संग प्रयोजन के तीन उपकरण

यह विज्ञान का युग है। आविष्कारों ने इन दिनों अनेकानेक सुविधा-साधन उपलब्ध कराये हैं। इनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो लोकमानस को प्रशिक्षित करने के काम आते हैं। प्रेस के आविष्कार ने प्रशिक्षण स्वाध्याय सरल बना दिया है। इसी प्रकार सत्संग, परामर्श की आवश्यकता स्लाइड प्रोजेक्टर, टैपरिकार्डर और लाउडस्पीकर का त्रिगुट मिलकर सरलतापूर्वक सम्पन्न कर लेता है। प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत लोकमानस के परिष्कार और सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन का जो व्यापक कार्यक्रम चल रहा है उसके लिए इन तीनों की आवश्यकता है। स्वाध्याय के लिए जिस प्रकार प्रज्ञा साहित्य का, झोला पुस्तकालय एवं ज्ञान रथ का प्रयोग होता है, ठीक उसी प्रकार सत्संग का प्रयोजन पूरा करने के लिए इन तीनों को खरीदने और उपयोग करने की व्यवस्था होनी चाहिए।

इन तीनों का संयुक्त मूल्य दो हजार के लगभग रहे, ऐसा प्रबन्ध निर्माताओ पर दबाव डालकर कराया गया है। उनने लोकमंगल की बात को ध्यान में रखते हुए नाम मात्र के मुनाफे पर प्रज्ञा संगठनों को उपलब्ध कराने की उदारता दिखाई है।

प्रज्ञा अभियान ने क्यों स्लाइड प्रोजेक्टर को महत्व दिया और उसे अपनी प्रचार प्रक्रिया के प्रमुख माध्यमों में एक माना यह विशेष रूप से विचारणीय है। इसकी तुलना सिनेमा से की जाय तो ही उसे महत्वहीन माना जाएगा किन्तु यदि यह देखा जाय कि यह सचित्र लोकशिक्षण है, तो उसकी उपयोगिता किसी भी प्रकार कम नहीं आँकी जा सकती। इसे वस्तुतः चित्र प्रदर्शनी के स्तर का एक हल्का और सस्ता रूप कहा जा सकता है। सिनेमा के साथ उसकी तुलना करना, संगति जोड़ना सर्वथा निरर्थक है। दोनों के स्वरूप और कलेवर में मौलिक भिन्नता है। सिनेमा में टिकट लेना और इन्तजार करना पड़ता है। टेलीविजन लगाने के लिए भी ढेरों पैसा, बिजली खर्च आदि की आवश्यकता पड़ती है। जबकि स्लाइड प्रोजेक्टर से घरों में, गली-मुहल्लों में प्रज्ञा प्रचारकों द्वारा दिखाने का प्रबन्ध अपनी ओर से ही कर दिया जाता है। कौतूहल तो कौतूहल जो ठहरा। जब रीछ, बन्दर, साँप, बाजीगरी के तमाशे देखने के लिए बिना किसी पूर्व सूचना या योजना के ठठ्ठ के ठठ्ठ जुड़ जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि स्लाइड प्रोजेक्टर के तमाशे की बात सुनकर गली-मुहल्लों की जनता सहज ही एकत्रित न होती रहे। अनुभव ने बताया है कि प्रदर्शन की एक घण्टे पूर्व भी सूचना मिल सके तो पास-पड़ौस के सौ दो सौ लोग सहज ही हर जगह इकट्ठे हो जाते हैं।

इसके माध्यम से जो चित्र दिखाये जाते हैं उनके आगे-पीछे कुछ कथा-प्रसंग भी जुड़ा रहता है। प्रदर्शन कर्ता उसे सुनाता चलता हैं फलतः कहानी सुनने की तथा प्रत्यक्ष दृश्य साथ-साथ देखने की दुहरी आवश्यकता एक साथ पूरी होती रहती है। अधिक उपस्थिति होने पर छोटे लाउडस्पीकर का भी प्रयोग किया जा सकता है, फलतः अधिक लोग अधिक अच्छी तरह प्रवचनकर्त्ता की व्याख्या-विवेचना सुन सकते हैं। इस प्रकार सत्संग के लिए जनसमुदाय एकत्रित करने जैसी सहज व्यवस्था बन जाती है।

कुछ दिन पुस्तकों के आधार पर व्याख्या प्रवचन करने का अभ्यास घर पर कर लेने के उपरान्त वह योग्यता उपलब्ध हो जाती है, जिसके सहारे धड़ल्ले के साथ बिना पुस्तिका के सहारे भी व्याख्या समेत प्रदर्शन सम्भव हो सके।

देश में अनेक भाषाएँ हैं। प्रमुख भाषाओं को छोड़ कर क्षेत्रीय भाषाएँ हैं जिनकी लिपियाँ भिन्न होने पर भी कथन में बहुत अन्तर एवम् उतार-चढ़ाव रहता है। व्याख्याकार को चाहिए कि यदि शुद्ध हिन्दी में छपी व्याख्या पुस्तक से काम न चले तो क्षेत्रीय भाषा में उसका अनुवाद करके तदनुरूप अभ्यास करलें । इस प्रकार एक ही प्रोजेक्टर विभिन्न भाषाई क्षेत्रों के लिए समान रूप से उपयोगी रह सकता है। अब इनके ९ दिन के ४५ मिनट के टेप भी बना दिये गए हैं। इससे समझाने में और भी सुविधा रहेगी।

इसी प्रकार लाउडस्पीकर हर प्रज्ञा संस्थान के लिए एक प्राथमिक आवश्यकता है उन्हें आये दिन लोक शिक्षण के लिए छोटे-बड़े सत्संग आयोजन करने पड़ते हैं। मिशन की लोकप्रियता बढ़ते जाने से सहज ही उनमें उपस्थिति क्रमशः अधिक बढ़ती जा रही है। ऐसी दशा में लाउडस्पीकर का प्रबन्ध किये बिना प्रवक्ताओं की वाणी अधिक लोगों तक स्पष्टतया पहुँच सकना संभव नहीं। इस प्रयोजन के लिए एक निर्माता कम्पनी से कह कर बिजली और बैटरी से चलने वाला मध्यवर्ती साइज का फोल्डिंग कम लागत का लाउडस्पीकर बनवा दिया गया है।

स्लाइड प्रोजेक्टर और लाउडस्पीकर के अतिरिक्त तीसरा उपकरण है- टैपरिकार्डर। इसमें संगीत एवम् प्रवचन टैप कर लिये जाते हैं और आवश्यकतानुसार उन्हें उपस्थिति समुदाय को सुना दिया जाता है। सत्संग की यह प्रक्रिया भी अपने स्थान पर अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अब तक इस माध्यम से शान्तिकुंज की देव कन्याओं के युगगायन और सूत्र-संचालक के कुछेक अति महत्वपूर्ण प्रवचन ही टैप करने और सुनाये जाने का प्रबन्ध हो सका है। लेकिन अब मिशन द्वारा टैप योजना को अगले दिनों अधिक व्यापक बनाने की तैयारी की जा रही है उनमें अनेक अवसरों पर प्रयुक्त होने वाले अनेक स्तर के संगीत, मूर्धन्य प्रवक्ता और विशेषतया मिशन के सूत्र संचालकों के वक्तव्य तथा छोटे बच्चों से लेकर किशोरों, युवकों, अधेड़, वृद्धों में से प्रत्येक की रुचि एवम् आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए प्रज्ञा पुराण की कथाएँ टेप की जा रही हैं।

रामायण की नवान्ह पारायण कथा मोहल्लों गोष्ठियों में पर्व-आयोजनों की तरह लोकप्रिय हैं। प्रज्ञा पुराण की मर्मस्पर्शी कथाओं के पैंतालीस मिनट के नौ व्याख्यान इन्हीं दिनों तैयार किये गये हैं, जिन्हें बारी-बारी से परिजनों, नये सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को सुनाते रहने का क्रम चलता रह सकेगा। कथाओं के माध्यम से न केवल बच्चों को वरन् विचारशील युवकों, प्रौढ़ों महिलाओं को भी सत्संग का वह लाभ दे सकना सम्भव है जो स्वाध्याय प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न किया जाता है। विभिन्न गुणों पर आधारित इन हृदयस्पर्शी प्रसंगों से न केवल सत्प्रवृत्तियों का बीजारोपण होता है वरन् दुष्प्रवृत्तियों से जूझने हेतु मन्यु भी उभरता है। टेपरिकार्डर के लोकप्रिय आधार को धुरी मानते हुए अगले दिनों नवरात्रि आयोजनों, नौ दिवसीय क्षेत्रीय सत्रों, पारिवारिक गोष्ठियाँ, जन्मदिन एवं विशिष्ट पर्वों पर प्रातःकाल का कथा सुनने का क्रम चल निकलेगा। सायंकाल स्लाइड प्रोजेक्टर द्वारा नौ दिन तक ३६ स्लाइडों के नौ सेट दिखाने पर दृश्य, श्रव्य साधना का यह युग्म ठीक बैठ जाता है।

परिजनों को यह तथ्य भली-भाँति समझना चाहिए कि परिवार में प्रवेश करने एवं मिशन की प्रेरणाओं को फैलाने के लिए मात्र वैयक्तिक सम्पर्क ही काफी नहीं। जनरुचि को ध्यान में रखते हुए ऐसे साधनों की महती उपयोगिता है, जिनके माध्यम से माहात्म्य पक्ष को किन्हीं प्रसंगों के माध्यम से उभारा-समझाया गया हो। हरिश्चन्द्र के नाटक ने बालक मोहनदास के हृदय पर सत्य की जो अमिट छाप डाली उसी की परिणति थी कि उनके अन्दर का महामानव पक्ष विकसित हुआ, सत्य का पल्ला उन्होंने अन्त तक नहीं छोड़ा। नाटकों की तरह स्लाइडों व कथा प्रसंगों की भी अपनी जगह महत्ता है। आज लोकरंजन के नाम पर जिस घटिया मनोरंजन को चारों ओर छाया हम देखते हैं उसे निरस्त करने के लिए उतना ही सशक्त सत्प्रवृत्ति विस्तार का माहौल बनाना जरूरी है, उपरोक्त माध्यम उसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं।

जाग्रत आत्माओं को युग धर्म की चुनौती

संचित पशु प्रवृत्तियों, अभ्यस्त कुसंस्कारों और हेय प्रचलनों के प्रवाह में जीवनक्रम एक ऐसे ढर्रे पर घूमने लगता है, जिसकी कोल्हू के बैल से तुलना की जा सके। इस चक्रव्यूह से निकलने के लिए एकान्त चिन्तन की कुसंस्कारों का उन्मूलन करने वाले तप-साधन की तथा

उज्वल भविष्य के लिए योजनाबद्ध निर्धारण की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रक्रिया को प्रकारान्तर से 'महान परिवर्तन' 'कायाकल्प' आदि नामों से पुकारा जाता है। द्विजत्व भी इसी को कहा गया है। इस प्रक्रिया को सम्पन्न करने के लिए शास्त्रकारों ने तीर्थों के प्राणवान वातावरण में कुछ समय निवास करने की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया है। तथ्यत: तीर्थसेवन सेनीटोरियम में भर्ती होकर रुग्णता का उपचार और आरोग्य संवर्द्धन का का दुहरा लाभ लेने जैसा निर्धारण है। शान्तिकुंज की सत्र साधनाएँ अपने समय की सर्वोपरि तीर्थ साधना है।

साधना का एक महत्वपूर्ण पक्ष है अन्त:मन्थन और भविष्य निर्धारण। तीर्थ-सेवन की अवधि में यह प्रक्रिया परिपूर्ण भाव श्रद्धा के साथ चलनी चाहिए। अभ्यस्त ढर्रे में इतना हेर-फेर किया जाना चाहिए और सोचा जाना चाहिए कि जीवन नीति में मात्र स्वार्थ ही स्वार्थ सब कुछ न रहे वरन् परमार्थ को भी स्थान मिले। हर किसी को भगवान ने समय और विचार की दो शक्तियाँ समान रूप से प्रदान की हैं। इस दृष्टि से कोई भी निर्धन नहीं। धन अपने निजी पुरुषार्थ का प्रतिफल है। वह न्यूनाधिक हो सकता है फिर भी इतनी गुंजायश तो रहती है कि अपनी रोटी में से एक टुकड़ा ईश्वरीय प्रयोजनों के निमित्त, अंशदान के रूप में निकाला जा सके। इस प्रकार की सन्तुलित उदारता अपनाने में मात्र अनुदारिता एवं कृपणता ही बाधक होती है। अन्त:करण को तनिक अधिक चौड़ा किया जा सके तो उसमें परमार्थ के भगवान को भी बिराजने की गुंजायश बिना किसी कठिनाई के निकल सकती है और कुछ न सही आधे से अधिक आलस्य, प्रमाद में जाने वाले समय का एक छोटा अंश उस प्रयोजन की पूर्ति में लग सकता है, जिसके लिए स्रष्टा ने अपनी समूची कला सँजोयी और बड़ी आशा लेकर मनुष्य को जीवन सम्पदा की धरोहर सौंपी है।

इन दिनों आस्था संकट से जूझना ही आपतिकालीन युग धर्म है। विचारों की निकृष्टता ने ही लोकमानस को विकृत और प्रयास प्रवाह को पथभ्रष्ट किया है। व्यक्ति और समाज के सम्मुख अनेकानेक संकट इसी कारण उपस्थित हैं और महाविनाश के बादल गरज रहे हैं। यों लोकमानस का परिष्कार सदा ही सर्वोच्च स्तर का पुण्य परमार्थ माना जाता रहा है और साधु-ब्राह्मण वर्ग के महामानव अपनी क्षमता का अधिकतम भाग इसी एक प्रयोजन के लिए नियोजित रखते रहे हैं। पर आज तो उस आवश्यकता की पूर्ति को जीवन-मरण की समस्या माना जा-सकता है। महाकाल ने अपेक्षा की है कि जाग्रत आत्माएँ इन दिनों अपने लोभ-मोह पर अंकुश लगायें और जितना अधिक बन पड़े अपना श्रम, समय, मनोयोग ही नहीं साधनों का भी महत्वपूर्ण अंश लोकचिन्तन में आदर्शवादिता का समावेश करने के लिए भावभरी श्रद्धांजलि के रूप में प्रस्तुत करें।

रोज कुँआ खोदने रोज पानी पीने वाले भी आठ घण्टा कमाने के लिए, सात घण्टा सोने के लिए, पाँच घण्टा अन्यान्य कार्यों के लिए लगाकर उपार्जन और परिवार का उत्तरदायित्व भली प्रकार निर्वाह कर सकते हैं। बीस घण्टा शरीर के लिए लगाने से यदि सन्तोष हो सके तो चार घण्टा युगान्तरीय चेतना का आलोक वितरण करने के लिए बिना किसी प्रकार के असमंजस में पड़े भली प्रकार निकालते रह सकते हैं। यह बात व्यस्त, निर्धन समझे जाने वाले, परिवार निर्वाह के भारी उत्तरदायित्व वाले लोगों के लिए कही गई है। जिनके पास जमीन-जायदाद, जेवर-नकदी आदि की कुछ जमा पूँजी है, जिनके घर में कोई अन्य लोग कमाने योग्य हैं वे उस आधार पर गुजारे का ढर्रा चलाने की बात सोचें और अपना बहुमूल्य समय अलभ्य जीवन लोभ-मोह की न पूरी हो सकने वाली खाई में ढकेलते रहने की अपेक्षा, उच्च प्रयोजन में लगायें जिससे आत्मकल्याण, विश्व कल्याण के स्थायी और युग परिवर्तन के सामयिक उद्देश्यों की एक साथ पूर्ति हो सकती है।

जिम्मेदारियों से लदे हुए व्यस्त लोगों के लिए परिव्राजक स्तर का समयदान करना चाहिए। वे अपने समय में से जितना अधिक निकाल सकें अपने समीपवर्ती क्षेत्र में भी उसे सेवा-साधना के लिए नियोजित रखे रह सकते हैं। जिनके उपार्जन उत्तरदायित्व हलके हैं ऐसे लोगों को वानप्रस्थ स्तर अपनाना चाहिए और अपने समय को युगान्तरीय चेतना का आलोक बिखेरने के लिए जहाँ तक पहुँच और परिचय हो वहाँ की धर्म प्रचार यात्रा पर प्रव्रज्या के लिए निकालना चाहिए। यों वानप्रस्थ आधी आयु के पश्चात् लेने की परम्परा है, प्राचीन काल में सौ वर्ष तक जीते थे तब पचास वर्ष इसकी आयु निर्धारित थी, पर अब तो आयु घटकर सत्तर-अस्सी से भी कम रह गई है ऐसी दशा मे पैंतीस-चालीस की आयु को भी पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध में बाँटा जा सकता है। बात आयु की नहीं, जिम्मेदारियों से निवृत्त होने की है। इसके लिए कौन क्या योजना बनाता है, किस प्रकार का ताना-बाना बुनता है। बात बहुत कुछ इसी पर निर्भर है। आकांक्षा हो तो परिवार का ढर्रा यथाक्रम चलते रहने के हजार रास्ते बन सकते हैं, पर यदि मन व्यामोह के कीचड़ में ही फँसे रहने का हो तो फिर हजार बहाने गढ़े जा सकते हैं। समस्याओं में से अधिकांश वास्तविक नहीं होतीं। वे गढ़ी जाती हैं। आदमी अपने ढंग से सोचता और चाहता है। परिस्थितियाँ इच्छित स्तर की बनें, तब वह अपने को हलका अनुभव करे यह सोचना असंगत है। वस्तुत: मन:-स्थिति को सुधारना-सम्हालना पड़ता है। उसे एक केन्द्र से हटाकर दूसरे के साथ जोड़ा जा सके तो प्रतीत होगा कि जिस प्रकार सोचा जाता रहा है वही एकमात्र उपाय नहीं है, उसके अतिरिक्त भी ढेरों रास्ते हैं जिनके अनुसार आज की परिस्थितियों में भी थोड़ा-सा उलट-पुलट करने भर से वैसा उपाय निकल सकता है, जिसमें काल्पनिक

पर्वत को राई के समान हल्का किया जा सके और परमार्थ पथ पर चला जा सके। ऐसे प्रसंगों में शंकराचार्य, समर्थ रामदास, विवेकानन्द, ज्ञानेश्वर, कबीर, बुद्ध आदि का उदाहरण स्मरण किया जा सकता है, जिनको उनकी पारिवारिक व्यवस्था ने भी कोई चोट नहीं पहुँचाई। वे लोग भी सुखपूर्वक जिये और इन महामानवों को कृतकृत्य होने का अवसर भी मिल गया।

देव युग, प्रज्ञा युग आना है तो उसकी उदीयमान किरणें सर्वप्रथम जाग्रत आत्माओं का अन्तःकरण मथेंगी और अग्रगामियों को उन पंक्तियों में खड़ा करेंगी जिनके साहस एवं मार्गदर्शन का सामान्यजन अनुकरण करते हैं। उषाकाल का माहौल बनते ही पक्षी चहचहाने, पशु विचरने, फूल खिलने, उलूक छिपने और सर्वसाधारण को बिस्तर समेटते देखा जाता है। कुक्कुट के बाँग लगते ही उनींदों को ध्यान आता है कि सवेरा हो गया। जाग्रत आत्माओं के आदर्शों की दिशा में उठते कदम अनेकानेकों को अनुगमन का आमंत्रण देते हैं और यदि प्रेरणा मन, वचन, कर्म से युक्त है तो उसमें वह शक्ति भी रहेगी कि असंख्यों को अनुकरण करने के लिए पदचिन्हों पर चलना पड़े। हनुमान आगे चले तो रीछ-वानर भी पीछे न रहे। बुद्ध ने साहस किया तो परिव्राजकों की संख्या लाखों तक पहुँच गई। गाँधी ने कदम बढ़ाया तो सत्याग्रही आश्चर्यजनक संख्या में पीछे चलने लगे। धर्म सम्प्रदायों में भी यही होता रहा है। मनस्वी लोगों ने एकाकी अपनी योजना बनाई, बात कही और उसे पूरा करने में जुट गये। इतना जो कोई भी कर सके यह प्रमाण भी मिलेगा कि वह एकाकी चला तो, पर कुछ ही समय उपरान्त साथी-सहयोगियों की, समर्थकों, प्रशंसकों की कमी नहीं रही। शर्त एक ही है कि लक्ष्य ऊँचा, विश्वास अडिग और प्रयास में प्रखर-पुरुषार्थ भरा रहना चाहिए। पुरातन काल में वानप्रस्थ, लोकसेवा का व्रत धारण करते थे तो समूचा समाज ही उनके चरणों पर नतमस्तक होता था और श्रद्धापूर्वक उनके मार्गदर्शन अनुशासन को अपनाकर कृत-कृत्य होता था।

संसार में कुछ समय पूर्व तक बुद्ध धर्म की एकमात्र सरकार कम्बोडिया में थी। वहाँ प्रचलन था कि हर प्रजाजन जीवन में एक वर्ष का वानप्रस्थ ले। बौद्ध बिहार में रहे। साधना और सेवा का कार्यक्रम अपनाये। उस योजना के अनुसार उस देश में उन दिनों हर स्तर के हजारों सुयोग्य लोकसेवी विना वेतन के मिलते थे। वे देश में अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति में निरन्तर संलग्न रहते थे । अपनी उपासना को लोकसाधना के तबे में पकाकर परिपक्व करते थे। इस उदारमना लोकसेवियों का आदेश जनता श्रद्धापूर्वक पालन करती थी फलतः वहाँ अपराधों की प्रवृत्ति ही समाप्त हो गई थी। सभी लोग मिल-जुल कर कमाते-खाते, हँसते-हँसाते और सज्जनोचित सादगी अपनाकर कठोर श्रम में लगे रहते थे। इस आधार पर उस देश की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति ऐसी सुदृढ़ और समुन्नत रही कि सर्वत्र उसे आदर्श माना और सराहा जाता था। प्राचीनकाल की भारतीय वानप्रस्थ परम्परा का यह एक आधुनिक संस्करण था। समय ने उसे भी लड़खड़ा तो दिया है पर हर भावनाशील के सामने यह तथ्य प्रस्तुत है कि वे अनावश्यक व्यामोह में बँधना यदि थोड़े ढीले कर सकें और लोकमंगल की, युग की पुकार की ओर ध्यान दे सकें तो सर्वतोमुखी श्रेयसाधन की पृष्ठभूमि बनते देर नहीं लगेगी। इसमें उनका स्वार्थ भी सधेगा और परिवार भी सुखी रहेगा। बात मात्र दूरदर्शिता अपनाने और संकीर्ण स्वार्थपरता से जकड़े रहने भर की है। इसे विवेक, साहस, सौजन्य अपनाकर हल किया जा सके तो समझना चाहिए अपने पार होने, औरों को पार करने तथा महाकाल के साथी-सहचर की भूमिका निभाते हुए कृत-कृत्य होने का सुयोग-सौभाग्य आकाश से बरस पड़ा और जीवन धन्य हो गया।

प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत अनेकानेक कार्यक्रम सामने हैं। बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक क्रान्ति के अन्तर्गत व्यक्ति, परिवार और समाज निर्माण योजना के अन्तर्गत अनेकानेक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये हैं। उनमें से अपनी योग्यता और रुचि का कार्य कोई भी चुन सकता है। स्वाध्याय, सत्संग और संगठन की बौद्ध काल जैसी अनिवार्य आवश्यकताएँ अभी भी पूरी करने को पड़ी हैं और उनके लिए ज्ञान रथ, स्लाइड प्रोजेक्टर, जन्म दिवसोत्सव, आदर्श वाक्य लेखन आदि ढेरों काम तत्काल हाथ में लिए जाने हैं ताकि सेवा-साधना के माध्यम से जनसम्पर्क सधे और बदले में समर्थन, सहयोग बरसे। इतनी सफलता मिलते ही सहयोगी जनशक्ति के सहारे निरक्षरता, निर्धनता, पिछड़ापन, रुग्णता, अन्धपरम्परा, अवांछनीयता, अनैतिकता, उद्दण्डता जैसी अनेकों दुष्प्रवृत्तियों से जूझ पड़ना, उखाड़ फेंकना सम्भव हो सका है। साथ ही सहकारिता, स्वच्छता, सुव्यवस्था, सज्जनता, श्रमशीलता, दूरदर्शिता जैसी सत्प्रवृत्तियों का जीवन में समावेश करने के लिए साहित्य, कला, शिक्षा जैसे प्रक्षिशणपरक और उपयोगी उद्योगों के रूप में रचनात्मक और दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन के लिए संघर्षात्मक कदम उठाये जा सकते हैं। अधिक समय देने वाले वानप्रस्थों की तरह, कम समय देने वाले परिव्राजक भी अपनी छोटी-बड़ी श्रद्धांजलियाँ प्रस्तुत कर सकते हैं। समय दानियों के निर्वाह, शिक्षण व मार्गव्यय आदि में भी अगले दिनों ढेरों खर्च बढ़ने वाला है। समय के बदले या साथ-साथ अंशदान देकर भी नवसृजन के यज्ञ में उदारचेता अपनी-अपनी श्रद्धांजलियाँ दे सकते हैं। किस परिस्थिति में कहाँ, किस प्रकार क्या कर सकते हैं? इस सन्दर्भ में शान्तिकुंज हरिद्वार से सम्पर्क साधा जा सकता है इस परामर्श से कार्य-क्षेत्र चुनने और दिशाधारा अपनाने, व्यावहारिक मार्गदर्शन मिलने से और भी अधिक सरलता पड़ेगी।

प्रेरणाप्रद पद्धति से पर्व मनाना एक अति महत्वपूर्ण अभियान

पर्व और त्योहार मनाने की प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित करके जन-जागरण का भारतीय धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान का जो अति महत्वपूर्ण कदम युग निर्माण परिवार ने उठाया है, उससे कितने ही प्रयोजन सिद्ध होते दीखते हैं।

इन पर्वों को प्रेरणाप्रद पद्धति से मनाने की प्रक्रिया ने लोकप्रिय शिक्षण का ऐसा आधार प्रस्तुत किया है जिसे प्रचार जगत का अनुपम और अभूतपूर्व प्रयोग कहा जा सकता है। वर्तमान चार हजार शाखाएँ- श्रावणी छोड़कर वर्ष में निर्धारित पाँच पर्व मनायेंगी। प्रत्येक पर्व पर यदि पाँच सौ व्यक्ति भी इकट्ठे हों तो ४०००x५००=२०००००० (बीस लाख) व्यक्ति अपने विचार सुनते हैं। यह एक पर्व की बात कही जा रही है। ऐसे पाँच पर्व मनाये जायें तो उनमें कितनी जनता लाभान्वित होगी इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

प्रचार विज्ञान के ज्ञाताओं का आकलन है कि जनता को एकत्रित करने के प्रयासों में आदि से अन्त तक आने वाले खर्च का ब्यौरा तैयार किया जाय तो औसतन एक रुपया प्रति व्यक्ति खर्चा आता है। सभा, सम्मेलन जिन्हें करने पड़ते हैं और उन पर आने वाले खर्च का हिसाब जो लोग तैयार करते हैं वे यह सहज ही स्वीकार करेंगे कि जनता को एकत्रित करने में आने वाला खर्च एक रुपया प्रति व्यक्ति तो न्यूनतम है, अक्सर इससे अधिक ही खर्च पड़ता है। इस प्रकार २० लाख व्यक्तियों को बुलाकर उन्हें अपनी बात सुनाने के लिए बीस लाख रुपया खर्च होना चाहिए। अपने गायत्री यज्ञों-युग निर्माण सम्मेलनों का भी औसत लगभग यही बल्कि कुछ कम ही रहा है। जन जाग्रति के लिए यह प्रक्रिया नितान्त आवश्यक थी। अस्तु, उतना खर्च करना भी अनिवार्य था। भले ही वह किसी भी प्रकार कहीं से भी जुटाया जाय।

वर्ष में पाँच बार पर्व मनाये जायें, उनमें २०-२० लाख जनता एकत्रित होती चले और पड़ने वाले प्रभाव का अनुमान लगाने के साथ-साथ खर्च की बात सोची जाय तो एक करोड़ रुपया प्रचार में खर्च करने की आवश्यकता इस पर्व प्रक्रिया अपनाने से सहज ही पूरी होती है।

प्रभाव कितना व्यापक हो सकता है इसकी झाँकी हम सब बसन्त पर्व पर देख चुके है। उस अवसर पर परिजनों की श्रद्धा-भावना उमड़ पड़ी और मिशन के प्रयोजन पूर्ण करने में इतना उत्साह आया कि दस वर्ष में इतना कार्य होने की संभावना थी उतना इस एक ही समय में पूरा हो गया। यदि हर वर्ष ऐसे ही पाँच पर्व मनाये जाते रहें तो निस्सन्देह पाँच वर्ष का संभावित कार्य एक ही वर्ष में होता रहेगा और श्रद्धा एवं उत्साह की लहरें किसी महासागर की तरह निरन्तर हिलोरें लेती रहेंगी।

भारतीय धर्म और संस्कृति की गरिमा इस दृष्टि से ही नहीं है कि उससे इस देश की भावनात्मक और सामाजिक परिस्थितियों को समुन्नत बनाये रखने की सामर्थ है वरन् इसलिए है कि विश्व का भावी एकीकरण उसी आधार पर सम्भव होगा। अगले दिनों समस्त विश्व एकता, समता और शुचिता के चार आधारों को लेकर एकता के सूत्र में बँधने वाला है। अब कुछ ही समय शेष है जबकि विभेद की, विषमता की, संकीर्णता की, दुष्टता की समस्त दीवारें गिरकर चूर-चूर होंगी और विश्वराष्ट्र, विश्व समाज, विश्व भाषा, विश्व बंधुत्व के आधारों पर खड़ा विश्व मानव इस धरती को स्वर्गादपि गरीयसी की स्थिति में बना देगा। ऐसे अभिनव विश्व की संरचना में ही हम सब जुटे हैं। युग परिवर्तन का रहस्य यही है। युग निर्माण योजना का समस्त क्रिया-कलाप इसी धुरी के इर्द-गिर्द घूम रहा है।

नवीन विश्व का परिष्कृत मानव का दिशा निर्धारण जिस तत्व ज्ञान और आचरण के आधार पर होना है उसके समस्त सूत्र भारतीय संस्कृति में से ही लिए जाने हैं। समन्वय और एकीकरण की दृष्टि से उन्हें शास्त्र वचनों के अतिरिक्त दूसरी शैली में कहा जा सकता है पर उसकी आधारशिला वही होगी जिसे भारतीय धर्म या संस्कृति कह सकते हैं। इसे भारतीय इसीलिए कहते हैं कि वह भारत में उत्पन्न हुई अन्यथा यह सच्चे अर्थों में विश्व धर्म और विश्व संस्कृति है। यदि उसे ठीक ढंग से आज की समस्याओं के समाधान के रूप में बुद्धिजीवी वर्ग को समझाया जा सका होता तो असंदिग्ध रूप से कार्लमार्क्स नहीं चाणक्य विश्व राजनीति का दिशा निर्देशक होता। समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, जीवविज्ञान के समस्त सिद्धान्त भारतीय तत्वदर्शन से निकले हुए माने जाते और आज की उलझी परिस्थितियों का समाधान इसी महान चिन्तन और प्रतिपादन से प्रभावित होते।

ईसाई मिशनरियों ने बाइबिल की व्याख्या इस ढंग से की है कि उसे विश्व की एक तिहाई जनता ने माना और चिन्तन में श्रद्धास्पद स्थान दिया और उसी दिशा दर्शन के अनुयायी बन गये। रूसो का प्रजातन्त्रवाद, कार्लमार्क्स का साम्यवाद भविष्य में काफी त्रुटिपूर्ण सिद्ध हुए और उनमें पीछे वालों को काफी सुधार करके उन्हें व्यावहारिक बनाना पड़ा। इन दर्शनों से विश्व का हर शिक्षित नागरिक इसलिए परिचित है कि उन्हें समझाने की प्रक्रिया प्रखर स्तर पर चलती रही। यदि उस चिन्तन को भी उपेक्षा के गर्त में डाल दिया गया होता तो वहाँ निस्सन्देह उपरोक्त प्रतिपादन भी कहीं पुस्तकालयों की शोभा बढ़ा रहे होते और शोध छात्रों के रुचि का विषय बनकर रह जाते। जहाँ उपरोक्त दोनों दर्शन सारगर्भित हैं वहाँ उनमें चार चाँद लगा देने का श्रेय उन लोगों को भी है

जिन्होंने उन्हें समस्त शिक्षित वर्ग तक पहुँचाने, परिचित कराने का प्रयास किया।

भारतीय धर्म और संस्कृति को यदि पंडा-पुजारियों की बपौती-साधु-बाबाओं की धन्धेखोरी से निकाल कर उसे सर्वसाधारण तक बुद्धिसंगत। ढंग से बताने का प्रयास किया गया होता तो उसमें इतना प्रखर प्राण विद्यमान है कि समस्त विश्व ने उसे मानवी जीवन का दर्शन का आधार माना होता और विचारशीलता ने उसे सार्वभौम श्रेयसाधन स्वीकार किया होता।

जो न किया जा सका उसे अब करना होगा। हमें भारतीय जनता को बताना होगा कि उसकी ऐतिहासिक गौरव गरिमा का मर्म जिस तत्व दर्शन में सन्निहित रहा है उसका आधार और स्वरूप वस्तुतः है क्या? धन्धेखोरों ने उसे जिस तरह विकृत किया है वही विकृति उसे वस्तुतः सर्वत्र उपहासास्पद और घृणास्पद बनाती । वह वैसा है नहीं। यदि उसे यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया जा सके तो लगेगा कि मानव तत्त्व से सम्बन्धित अब तक के विश्व चिन्तन का भटकाव भारतीय तत्वज्ञान से ही दूर होगा। भारतीय उत्कर्ष की दृष्टि से ही नहीं विश्व कल्याण की भी दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्तों का यथार्थ स्वरूप और आधुनिक परिस्थितियों के साथ ताल-मेल बिठाते हुए समझायें। यों यह समझाने की प्रक्रिया विश्वव्यापी बनानी पड़ेगी पर उसका आरम्भ उस देश में तो होना ही चाहिए जहाँ से उसका उद्गम हुआ है। गंगा को कम से कम गोमुख-गंगोत्री पर तो सर्वथा निर्मल निर्दोष रहना चाहिए। भारत को यदि भावी विश्व का सांस्कृतिक नेतृत्व करना है तो कम से कम भारतीय जनता को तो उसके स्वरूप से परिचित व प्रयोग का अभ्यस्त होना ही चाहिए। आज हमारे धर्म का जो स्वरूप है उसे दुर्भाग्य पूर्ण और मूल दर्शन से आधारभूत चिन्तन से सर्वथा विपरीत नहीं तो कम से कम भटका हुआ तो माना ही जाएगा।

इन परिस्थितियो में भारतीय जनता को अपने धर्म और संस्कृति के सिद्धान्तों, स्वरूपों और आचरणों से तो परिचित कराने का कार्य तत्काल हाथ मे लेना चाहिए यह कार्य रीति-रिवाजों और प्रथा-परम्पराओं की लकीर पीट लेने का दकियानूसी ढर्रा नहीं है। इसकी गरिमा असाधारण है और प्रतिक्रिया की सम्भावना असामान्य है उसे कार्यान्वित किया जा सके तो उसके दूरगामी परिणाम होंगे यह प्रत्यक्ष हो जाएगा कि इस निरर्थक जैसे दीखने वाले कार्य ने लोकशिक्षण की दिशा में कितना बड़ा कार्य कर दिया।

साधारणतया जल्दी-जल्दी प्रचार सम्मेलन किये जाएँ तो उसमें जनता को अरुचि हो जाएगी और उसका खर्च उठाने तथा भाग लेने में लोग आनाकानी करने लगेंगे पर पर्व आयोजनों के बारे में यह बात लागू नहीं होती। सांस्कृतिक प्रेम और प्रथा-परम्पराओं का पालन जन्म जात रूप मे किसी न किसी ढंग से बना ही रहता है। स्वभाव और अभ्यास में भी उनके लिए गहरा स्थान होता है। हर वर्ष उन्हें मनाये जाने की परम्परा चिरकाल से चली आ रही है इसके कारण उनमें रुचि भी रहती है और अभ्यास भी। उसके लिए समय और पैसा देने में लोगों को अटपटा नहीं लगता-रुचता ही है।

इसमें खर्च की भी कोई बड़ी बात नहीं है। यज्ञ मंडप आदि के कुछ ही साधन संग्रह करने पड़ते हैं। वे भी पहले वाले ही रँगाई-धुलाई करके फिर से नये बनाये जा सकते हैं। यदि एक बार लाउडस्पीकर, संगीत उपकरण, बिछावट, छाया मंडप, यज्ञ पात्र आदि साधन इकट्ठे कर लिए जायें तो फिर हर पर्व पर हवन पूजा का ही खर्च रह जाता है जो यदि बहुत बड़ा न किया जाय तो ५) में भी हो सकता है। प्रसाद वितरण महँगा पड़ता हो तो पंचामृत से भी काम चल सकता है। एक दो बार अथाह कर लिया जाय और कार्यक्रम को सुरुचिपूर्ण बना लिया जाय। तो लोगों को त्योहार का दिन, आयोजन का समय अनायास ही याद रहता है और उसमें सम्मिलित होने के लिए स्वयं ही जा पहुँचते हैं। होली-दिवाली आदि के निर्धारित समय को तो लोग स्वयं ही याद रखते हैं। किसी दूसरे को उनकी तिथि बताने या याद दिलाने के लिए जाना नहीं पड़ता। मेले-ठेले आदि नियत समय और स्थान पर एक ढर्रे के अनुसार ही पूरे हो जाते हैं उसके लिए सूचना, आमंत्रण देने का अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ता। यही बात एकाध साल के बाद अपने क्षेत्र की जनता के तथा कार्यकर्त्ताओं के स्वभाव में आ जाने से गाड़ी अपने ढर्रे पर लुढ़कने लगेगी जो कार्य आरम्भ में कठिन और अटपटा लगता है वही बाद में सरल हो जाता है।

गायत्री यज्ञ आयोजन और युग निर्माण सम्मेलनों की शृंखला पिछले वर्षों में चलाते हुए कितना भारी प्रयत्न और श्रम करना पड़ा है तथा बहुत पैसा खर्च हुआ है। अब उस ढर्रे को देर तक नहीं चलाया जा सकता है। जनजागरण की प्रक्रिया का भारतीय जनता के लिए धर्मानुष्ठानों से युक्त प्रशिक्षण ही सर्वश्रेष्ठ है, यह भली प्रकार समझ लिया गया। अब उसका प्रयोग इस तरह करना है कि पैसा भी कम खर्च हो, अतिरिक्त प्रयत्न भी न करना पड़े बार-बार ही प्रक्रिया दुहराने में उत्पन्न अरुचि का भी सामना न करना पड़े। इसलिए अब हमें इसी का सहारा लेना पड़ेगा।

यज्ञाचार्य, ब्रह्मा, पुरोहित आदि के नाम पर रँगे सियार यज्ञों की आढ़ में अपना उल्लू सीधा करने लगे थे। गुरु दीक्षा के बहाने पैर पुजाने के साथ-साथ भोले लोगों को मूँढ़ने का भी धन्धा चला रहे थे। उस विष के मिलने से अपनी अति महत्वपूर्ण प्रक्रिया चल पड़ने पर अब इन धन्धे-खोरों की पतंग कट जाएँगी और हर नागरिक उस धर्मानुष्ठानों का क्रिया-कलाप सहज ही सम्पन्न कर लिया करेगा। इसमें केवल धर्म व्यवसायियों को ही क्षति होगी-धर्म-प्रक्रिया का विस्तार तो हजारों गुना अधिक हो जाएगा।

इसी प्रकार थोड़ी-सी बकवास करने में कुशल लोग धर्म विषयों पर उलटी-पुलटी मनगढंत बकते रहते हैं और

मन्दिर-आश्रम आदि बनाने के बहाने प्रभावित लोगों की जेबें काटते हैं। यज्ञ आयोजनों की आड़ में इन लोगों की भी घात लगने लगी थी और भय होने लगा था कि इतने महान अभियान पर यदि इन धर्म व्यवसायियों को अन्धविश्वास और गुरुडम फैला कर अपना उल्लू सीधा करने का अवसर मिला तो मिशन के मूल प्रयोजन का सत्यानाश ही हो जाएगा। पर्व और त्योहारों की प्रक्रिया ने जहाँ जनजागरण की प्रक्रिया को सरलतम बनाया है, जहाँ स्थानीय वक्ता पैदा किये हैं,वहाँ धर्म का धन्धा अपनाकर गुलछर्रे उड़ाने वालों की तिकड़म भी काट दी है। अब इन खटमलों के पनपने की गुंजाइश लगभग समाप्त ही हो गई। छोटे सम्मेलनों में अधिक धन लाभ न होने के कारण उनकी गिद्ध दृष्टि भी उन पर नहीं पड़ती।

दूसरे यह प्रतिबन्ध भी अपने आयोजन पर लगा दिया गया है कि युग निर्माण परिवार से बाहर केलोगों को अपने मंच पर न चढ़ने दिया जाय। इससे आजकल रंग-बिरंगे वेष और रूप बनाकर विचरण करने वाले बहुरुपियों के लिए भी अपना द्वार बन्द हो जाएगा। प्रवचन कुशल लोगों के स्थान पर जब अपनों में से ही प्रशिक्षित उद्‌बोधक तैयार कर लिये गये तो उनकी अब जरूरत भी क्या रही? जहाँ वे अपना छत्ता जमाना चाहते हैं वहाँ सतर्क कार्यकर्त्ता उसे पहले ही उखाड़ देते हैं। यह एक बड़े ही सन्तोष की बात है। ख्याति प्राप्त वक्ता अपने मंचों पर न आने से जनता को आकर्षित न किया जा सकेगा यह भ्रम सर्वथा निर्बल है। जनता जो चाहती है उसी पर हमें नहीं चलना है। वरन् जिस राह पर जनता को चलाया जाना चाहिए उसी के लिए प्रयास करना अपना कर्त्तव्य है। हमें लोकरंजन का नहीं लोकमंगल का लक्ष्य लेकर चलना है। इस प्रयोजन की पूर्ति जितनी सरलतापूर्वक पर्व आयोजनों से ही सकती है उतनी और किसी प्रकार नहीं।

सम्मेलनों, आयोजनों की जन जाग्रति के लिए इन दिनों नितान्त आवश्यकता लेखनी का प्रयास पत्रिकाओं, पुस्तकों, झोला पुस्तकालयों, विज्ञप्ति वितरण, चल पुस्तकालय आदि के माध्यम से चल रहा है पर उसका लाभ केवल सुरुचि सम्पन्न शिक्षित वर्ग ही उठा रहा है। अपने देश में-२३ प्रतिशत ही शिक्षित हैं। शेष ९७ प्रतिशत जनता तक दिव्य संस्कृति का संदेश पहुँचाने के लिये पर्वों की यह प्रक्रिया अद्वितीय सिद्ध होगी।

सत्कार्यों का अभिनन्दन किया जाये

प्राचीनकाल में राजा सिन्धुराज के राज्य में बम्भुआर नामक कुख्यात दस्यु हुआ है। उसने अपने जीवन के २५ वर्ष लोगों को लूटने, मारने, काटने, घरों में आग लगाने में बिताये। उसने अपने साथियों की एक सेना भी इकट्ठी कर ली थी और किसी प्रकार पकड़ में नहीं आता था। अन्त में उसे पकड़ने के लिए सिन्धुराज को स्वयं ही सेना समेत जाना पड़ा। बम्भुआर पकड़कर लाया गया और मृत्युदण्ड की सजा सुनाई गई। मृत्यु से एक दिन पूर्व उसकी माँ उससे मिलने गई। किन्तु बम्भुआर ने उससे मिलने के लिए इन्कार कर दिया। राजा बड़ा विचारवान था उसने बम्भुआर को राज दरबार में बुलाकर इसका कारण पूछा। उसने कहा- राजन् ! मैंने जब पहले दिन अपने पड़ोसी की स्वर्ण मुद्रा चोरी करके अपनी माँ को दी तो इसने मुझे उस दिन सबसे अधिक प्यार और प्रतिष्ठा दी। फलस्वरूप मुझे चोरी बड़ी प्रिय लगी। हाथ लम्बे किये तो बड़ी-बड़ी चोरियाँ, डकैतियाँ, लूट-पाट करने लगा, उतना ही मुझे घरवालों से प्रतिष्ठा और प्रोत्साहन मिला, उसी का परिणाम है जो आज मुझे मृत्यु के योग्य ठहराया है।

सिन्धुराज उस रात काफी देर तक विचारमग्न रहे। देश में लगभग ७ खूँख्वार दस्यु दल और १००० से अधिक उनके साथी थे। अन्त में उन्हें एक उपाय सूझा। उसने बम्भुआर को अपनी सेना की एक टुकड़ी का नायक बना दिया, इससे बम्भुआर कुशल राजभक्त बन गया और वह अच्छे कार्य करने लगा। यह देखकर अन्य दस्युओं ने भी सन्धि-पत्र भेजे। इसी प्रकार अन्य को भी सिन्धुराज ने अच्छी पदवियाँ दीं, धीरे-धीरे सभी दस्यु सिन्धुराज की सेना के सच्चे देशभक्त सिपाही बन गए। बम्भुआर अन्त में प्रधान सेनापति के पद तक पहुँचा।

जिस कार्य से प्रतिष्ठा मिलती है, प्रशंसा होती है, उसी काम को करने के लिए, उसी मार्ग पर चलने के लिए लोगों को प्रोत्साहन मिलता है। किसी समय विवाह-शादियों में धन खर्च करना प्रतिष्ठा का कारण समझा जाता था, तो आज उनकी वह अवस्था है कि जिनके घर में गुजर-बसर के साधन भी नहीं होते, वे भी विवाह में हजारों रुपये खर्च करने को तैयार रहते हैं और उसके लिए कर्ज लेते हैं, मकान-जमीन गिरवी रखते हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये लोगों को अपने बड़प्पन को तृप्त करने के लिए ही होता है। अतः कहना न होगा कि प्रतिष्ठा और प्रशंसा मनुष्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के मुख्य साधन हैं, इनसे एक दशा में अग्रसर होने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

हम प्रशंसा और निन्दा करने में, सम्मान और तिरस्कार करने में थोड़ी सावधानी बरतें तो लोगों को कुमार्ग पर चलने और सत्पथ अपनाने में बहुत हद तक प्रेरणा दे सकते हैं। आमतौर से उनकी प्रशंसा की जाती है, जिनने विशेष सफलता, योग्यता, सम्पदा एवं विभूति एकत्रित कर ली है। 'चमत्कार को नमस्कार' करने की गलत परम्परा हमारे समाज में प्रचलित है। विभूति को लोग सुख-सुविधा के लिए ही एकत्रित नहीं करते वरन् प्रतिष्ठा प्राप्त करना भी उसका एक उद्देश्य होता है।

सुशिक्षितों का समाज से सम्मान होता है। इसलिये सभी लोग चाहते है कि उनके बच्चों को भी अधिक से

अधिक शिक्षा मिले। सरकारी नौकरी अपेक्षाकृत कम वेतन में भी मिल जाये और उससे कुछ अधिक वेतन की कोई महाजनी नौकरी मिलती हो तो भी लोग सरकारी पद ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि उसमें प्रतिष्ठा और प्रशंसा की अधिक गुंजाइश रहती है और तो और साधुओं की संख्या बढ़ने का कारण भी प्रशंसा और प्रतिष्ठा ही है, भले ही उसमें उनकी ठग विद्या और चचकाना बुद्धि के लोगों ने देखा कि साधुओं को खूब सम्मान मिलता है तो थोड़े-थोड़े घरेलू लड़ाई-झगड़े के कारणों या हानि, शोक, असफलता, अपमान से क्षुब्ध होने पर भी लोग साधु बाबा बनते गए और उनकी एक आन्तरिक स्थिति का भी ख्याल नहीं रहता। यह केवल अन्तःकरण से अलग समस्या ही उठ खड़ी हुई।

धन, वैभव वालों को समाज में प्रतिष्ठा मिलती है तो मान का भूखा मनुष्य किसी भी कीमत पर उसे प्राप्त करने के लिये आतुर हो उठता है। अनीति और अपराधों की बढ़ोत्तरी का एक प्रमुख कारण यह है कि अन्धी जनता हर असफलता को तिरस्कार की दृष्टि से देखती है और सफलता की प्रशंसा करती है। धन के प्रति, धनी के प्रति, आदर बुद्धि तभी रहनी चाहिए, जब वह नीति और सदाचारपूर्वक कमाया गया है। यदि वे अधर्म और अनीति से उपार्जित धन द्वारा धनी बने हुए व्यक्ति के प्रति आदर बुद्धि रखते हैं तो इससे उस प्रकार के अपराध करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन ही मिलता है और इस दृष्टि से अपराध की वृद्धि में आदर करने वाले लोग भी भागीदार बनते हैं।

सफलता बनाम असफलता

लोगों की दृष्टि में सफलता का ही मूल्य अधिक है। जो सफल हो गया उसी की प्रशंसा की जाती है। देखने वाले यह नहीं देखते कि सफलता नीतिपूर्वक प्राप्त की गई है या अनीतिपूर्वक। धन कमाने में अमुक व्यक्ति ने कितना झूठ बोला है, कितनी मिलावट की है, कितने गरीबों का पेट काटा, कम मजदूरी दी, कम तोला, दूध में पानी और घी में वेजीटेबिल मिलाया है यह कोई नहीं देखता। पर चूँकि आज उसने पैसा इकट्ठा कर लिया है, इसलिए लोग उसकी सफलता को सिर झुकाते और उसकी प्रशंसा करते हैं। समाज की यह अन्धप्रवृत्ति ही बुराइयों को प्रोत्साहन देती है और उससे अनैतिक तत्वों की अभिवृद्धि, विकास और प्रसार होता है।

झूठे, बेईमान, दगाबाज, लुटेरे, चोर बहुत धन कमा सकते हैं। रिश्वत देकर अथवा चालाकी से कोई बड़ा पद या गौरव भी प्राप्त कर सकते हैं। लोग तो केवल उस कमाई और विभूति मात्र को देखकर उसकी प्रशंसा करने लगते है और समर्थन भी। पर सोचना चाहिए क्या यह तरीका उचित है? क्या इससे बुराइयों की जड़ मजबूत नहीं होती। व्यभिचारी को प्रोत्साहन मिलेगा तो क्या वह पराई बहू-बेटियों पर कुदृष्टि फेंकने से बाज आ जाएगा? बुराइयों के द्वारा प्राप्त सफलता के प्रशंसकों को यह जानना चाहिए कि वे स्वयं भी या तो उसके शिकार हैं या हो सकते हैं फिर क्यों न सफलता के स्थान पर नीति की प्रशंसा की जाय, योग्यता की अपेक्षा सदाचरण की प्रतिष्ठा की जाये।

सफलता की अपेक्षा नीति श्रेष्ठ है। अपने आपको भी यदि नीति पर चलते हुए परिस्थितिवश असफलता मिलती है तो वह कम गौरव की बात नहीं है। सफलता न मिलने से भौतिक जीवन के उत्कर्ष में थोड़ी-सी असुविधा रह सकती है, पर नीति का परित्याग कर देने पर तो लोक-परलोक, आत्म-सन्तोष, चरित्र, धर्म-कर्त्तव्य और लोकहित सभी कुछ नष्ट हो जाता है। अनीति से प्राप्त सफलता अन्ततः मनुष्य के पतन का ही कारण बनती है। कहते हैं जब बुराई का भण्डा फूटता है तो कोई साथ नहीं देता। रावण ने, कंस और दुर्योधन ने अधर्मपूर्वक बड़ी-बड़ी सफलताएँ पाई थीं पर वे अन्ततः उनके सर्वनाश का ही करण सिद्ध हुई हैं।

नीति का परित्याग न करने वालों को सम्भव है, पूर्व में कुछ असफलताओं का सामना करना पड़ा हो, उनकी सीधी-सच्ची बात लोग सरलता से न समझ पाये हों और इस कारण उन्हें दण्ड भी मिलता हो तो उस असफलता के बावजूद भी आन्तरिक कर्तव्य निष्ठा से जाग्रत होने वाला आत्म-सन्तोष किसी भी सुख की अपेक्षा आनन्द और तुष्टिदायक होता है, उससे अन्तकरण में स्वर्गीय सुख उपलब्ध होता है।

शिवाजी, राणाप्रताप, बन्दा बैरागी, गुरु गोविन्द सिंह लक्ष्मी बाई, सुभाषचन्द्र बोस आदि को पराजय का मुँह देखना पड़ा पर उनकी वह पराजय भी विजय से अधिक महत्वपूर्ण थी। धर्म और सदाचार पर दृढ़ रहने वाले व्यक्ति सफलता में नहीं, कर्त्तव्यपालन में प्रसन्नता अनुभव करते हैं और इसी दृढ़ता को स्थिर रख सकने में एक बड़ी भारी सफलता मानते हैं। हमारी संस्कृति का आधार ही इस प्रकार की निष्ठा है। ईश्वर प्राप्ति की पात्रता, अध्यात्म ज्ञान की पात्रता और आत्म-साक्षात्कार का सुख केवल उन्हें ही मिल पाता है जो निष्ठावान् होते हैं। प्राचीनकाल में लोगों को निष्ठा की परीक्षा देनी पड़ती थी तभी गुरुजन उनकी पात्रता का अनुमान कर पाते थे। राजा दिलीप को कसौटी पर कसा गया था, राजा होते हुए भी अपनी रानी समेत नंगे पाँवों जंगल घूमने की घोर तपश्चर्या उन्होंने की और वशिष्ठ के समक्ष यह सिद्ध किया कि उनकी ब्रह्म पर पूर्ण निष्ठा है। ब्रह्म विद्या उन्हें मिलनी चाहिए।

उपमन्यु और आरुणी की गुरु-निष्ठा, सत्य हरिश्चन्द्र और महाराज मोरध्वज की सत्य-निष्ठा, कर्ण और बलि की दान-निष्ठा, परोपकारी दधीचि की सेवा-निष्ठा जैसी हजारों गौरव गाथाएँ हमारे इतिहास में विद्यमान् हैं और हर क्षण इस बात की प्रेरणा देती रहती हैं कि जो मनुष्य जितनी अधिक देर कष्ट और कठिनाइयों को सहन करते

हुए भी धर्म और नीति के पथ से विचलित नहीं होता वह अन्त में उतना ही महान्, खरा और सफल व्यक्ति सिद्ध होता है।

हमारे पूर्वजों के दृष्टान्त यह सिखाते हैं कि अनीति और असफलता में से यदि एक को चुनना पड़े तो असफलता को ही पसन्द करना चाहिए और कुछ नहीं तो उससे सत्य की परीक्षा तो होगी ही। पर जल्दी सफलता प्राप्त करने के लोभ में अनीति के मार्ग पर चल पड़ना ऐसी बड़ी भूल है, जिसके लिए सदा पश्चात्ताप ही करना पड़ता है।

सहयोग और प्रोत्साहन

मनुष्य का अनीति पर न चलना प्रत्यक्षतः अपनी समाज, देश और संसार की महान सेवा ही मानी जाएगी, क्योंकि उससे स्वयं को तो आत्म-सन्तोष होगा ही साथ ही दूसरों को भी सन्मार्ग की प्रेरणा मिलेगी। उसी प्रकार दूसरों को सन्मार्ग पर चलने का और कुमार्ग की ओर से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन हमारे पास मौजूद है आदर और अनादर। छोटे बच्चों में कई प्रकार की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ होती हैं, पर प्रारम्भ में उसे जिसमें प्रतिष्ठा और प्रोत्साहन मिलता है वह उसके जीवन के मुख्य अंग बन जाते हैं, शेष अपने आप में ही समाप्त हो जाती है। बड़े व्यक्तियों में जिनके स्वभाव परिपक्व हो गये होते हैं, उन्हें भी प्रशंसा और प्रोत्साहन की बदौलत बदला जा सकता है- यह एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

जिस प्रकार वोट देना एक छोटी घटना मात्र है, पर उसका परिणाम दूरगामी होता है उसी प्रकार आदर के प्रकटीकरण का भी दूरगामी परिणाम सम्भव है। थोड़े-से वोट चुनाव सन्तुलन को उधर से उधर कर सकते हैं, थोड़े से वोट व्यापक क्षेत्र में अपना प्रभाव दिखा सकते हैं और अनहोनी सम्भावनाएँ साकार कर सकते हैं। उसी प्रकार हमारी आदर बुद्धि यदि विवेक पूर्ण भूमिका प्रस्तुत करे तो कुमार्ग पर चलने वाले कितने ही कदमों को रोककर उन्हें एक नई दिशा दी जा सकती है। बहुत से लोग सन्मार्ग की ओर चलने की इच्छा रखते है पर प्रारम्भ में उन्हें झिझक होती है। यदि उन्हें प्रेरणा और प्रोत्साहन मिले तो वे तत्परतापूर्वक उस मार्ग पर चल सकते हैं।

सद्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नहीं मिलता तो उनके उगते हुए अंकुर प्रारम्भ में नष्ट हो जाते हैं। लोग धर्म, कर्म, जप, तप, यज्ञ, अनुष्ठान आदि शुभ कर्म प्रारम्भ करते हैं, तो दूसरे बुरे लोग उन्हें सन्त-महन्त होने का मखौल बनाते हैं, इस पर कच्ची बुद्धि के लोग उपहास के भय से उसे जल्दी ही छोड़ देते है। सेवा और परोपकार में कुछ लोग रुचि व्यक्त करते है, तो घरवालों की डाँट सुननी पड़ती है, इससे उनका उत्साह ठण्डा पड़ जाता है। कुछ लोग जीवन भर सेवा व्रत, परोपकार, ईमानदारी आदि के कार्य करते रहते हैं तो भी उन्हें कोई सम्मान नहीं देता। बुराइयों में सहमति, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग बुराइयों को बढ़ाता है वहाँ एक बात यह भी है कि सत्प्रवृत्तियों को समुचित प्रोत्साहन नहीं मिलता फलतः सामाजिक जीवन में उनका विकास भी अवरुद्ध हुआ पड़ा है।

जिन लोगों ने बाधाओं को सहते हुए जीवन में कुछ आदर्श उपस्थित किये हैं उनका सार्वजनिक सम्मान होना चाहिए। जो लोग निन्दनीय मार्गों द्वारा उन्नति कर रहे हैं, उनकी किसी भी रूप में प्रशंसा या सहयोग नहीं करना चाहिए। अवांछनीय कार्यों में सम्मिलित होना भी एक प्रकार से उन्हें प्रोत्साहन देना ही है। उचित-अनुचित कार्यों में हमारा प्रत्यक्ष और परोक्ष समर्थन उन्हें बढ़ाने वाला ही सिद्ध होता है अतः हमें केवल उचित कार्यों का समर्थन करना चाहिए, उन्हें ही सहयोग और प्रोत्साहन प्रदान करना चाहिए। भले कार्यों और भले लोगों को प्रतिष्ठा और प्रशंसा मिले तो लोग भलाई की दिशा में भी तेजी से अग्रसर हों इसमें शक की कोई बात नहीं है।

मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी

युग-निर्माण सत्संकल्प के अनुच्छेद २ की चौथी और पाँचवीं धारा- ''अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा नीति पर चलते हुए असफलता को शिरोधार्य करूँगा। मनुष्य के मूल्यांकन की कसौटी उसकी सफलताओं, योग्यताओं एवं विभूतियों को नहीं उसके सद्विचारों और सत्कर्मों को मानूँगा।'' का हिसाब लोग सामूहिक पाठ किया करते हैं, वस्तुतः वह पाठ की नहीं आचरण की बातें हैं। इस अनुच्छेद में हमें जो दो बातें बताई गई हैं। उन पर चलने का साहस पैदा करना ही युग-निर्माण योजना की सफलता का मुख्य आधार है। (१) हमें असफलता भले ही मिले पर नीति का परित्याग न करें अर्थात् अच्छाइयों के प्रति हमारी गहरी निष्ठा हो। विचार और आचरण से भी नेक बनना अपना उद्देश्य हो, भले ही इसमें लौकिक दृष्टि से कुछ असफलता मिले। (२) प्रशंसा, प्रतिष्ठा और प्रोत्साहन केवल सत्कार्यों और सत्प्रवृत्तियों को ही दें। इन दोनों बातों से अच्छे वातावरण का निर्माण होता है।

इसके लिए हमें मनुष्य का मूल्यांकन उसकी सफलताओं एवं विभूतियों से नहीं वरन् उस नीति और गतिविधि के आधार पर करना चाहिए, जिसके आधार पर वह सफलता प्राप्त की गई है। बेइमानी से करोड़पति बना व्यक्ति भी हमारी दृष्टि में तिरस्कृत होना चाहिए और वह असफल एवं गरीब व्यक्ति जिसने विभिन्न परिस्थितियों में जीवन के उच्च आदर्शों की रक्षा की उसे प्रशंसा, प्रतिष्ठा, श्रद्धा, सम्मान और सहयोग सभी कुछ प्रदान करना चाहिए। यह याद रखने की बात है कि जब तक हम निन्दा-प्रशंसा का, अश्रद्धा, सम्मान और आदर-तिरस्कार का मापदण्ड नहीं बदलेंगे तब तक गुण्डे,

बदमाश, शोषक, आततायी मूँछों पर ताब देकर अपनी सफलता पर गर्व करते हुए दिन-दिन अधिक उच्छृंखल होते चलेंगे और सदाचार के कारण सीमित सफलता या असफलता प्राप्त करने वाले खिन्न और निराश रहकर सत्पथ से विचलित होने लगेंगे।

प्राचीन कलियुग बनाम वर्तमान सतयुग

गीता, रामायण, महाभारत पढ़ने से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सतयुग, द्वापर और त्रेता किसी भी युग में बुरे आदमियों की कमी नहीं रही, वरन् वे भी और आज की अपेक्षा शक्तिशाली हुए हैं किन्तु प्राचीनकाल में जनमत अच्छे कर्म और अच्छी प्रवृत्तियों का समर्थक तथा दुष्प्रवृत्तियों का घोर विरोधी रहा है। आज की स्थिति ठीक उससे विपरीत है। अब जनमत बुराइयों की प्रशंसा और प्रतिष्ठा अधिक करता है। इसलिये उन्हीं का संरक्षण और विकास हो रहा है, जबकि अभी भी इस पृथ्वी पर सत्प्रवृत्तियों का अभाव नहीं हुआ है।

वोट का प्रत्यक्ष महत्व हम सब जानते हैं। युग-निर्माण के लिये सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने के लिये भी जनमत की आवश्यकता होगी और उसे सत्कार्यों के समर्थक के रूप में ही होना चाहिए। यदि लोग प्रशंसा और प्रोत्साहन दें तो अच्छे काम करने वाले ईमानदार लोगों की अभी भी कमी नहीं है। उसके सैकड़ों उदाहरण हमें प्रत्येक दिन देखने को मिलते हैं। जिनसे पता चलता है कि भलाई की आत्मा अभी भी जीवित है जिसे प्रतिष्ठा और प्रशंसा की, खाद और पानी देकर हरी-भरी फसल के रूप में विकसित किया जा सकता है। यह ठीक है कि आज कतिपय कारणों से अनीति और गुण्डागर्दी, दुष्प्रवृत्तियाँ एक चिन्ताजनक मात्रा में मौजूद हैं और भीतर ही भीतर बढ़ती और फैलती जाती हैं पर यह नहीं सोच लेना चाहिए कि सच्चाई, सेवा, महानता, उदारता, दया, सेवा एवं सदाचार जैसी सत्प्रवृत्तियाँ और धैर्य, साहस, पुरुषार्थ एवं शौर्य जैसी सद्गुणों की सर्वथा कमी है। मनुष्य की आत्मा में जो श्रेष्ठता है वह कभी मर नहीं सकती, जो प्रकाश है वह कभी बुझ नहीं सकता, यह दूसरी बात है कि उन्हें प्रेरणा, प्रशंसा व प्रोत्साहन न मिले और वे छिपे हुए खजाने की भाँति बुराइयों के ढेर में दबी हुई पड़ी रहें।

ऐसी सत्प्रवृत्तियों को ढूँढ़ने और उन्हें बराबर सार्वजनिक जीवन में लाने का एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व हमें पूरा करना पड़ेगा। इसके बिना न तो दूसरों को अच्छाइयों का मूल्यांकन करने का अवसर मिलेगा और न सत्प्रवृत्तियों को ही विकसित किया जा सकेगा। जिस प्रकार आज लोग विभूति को प्रणाम करते और सफलता को शीश झुकाते हैं, आगे सद्विचारों और सत्कार्यों का अभिनन्दन करना होगा, ताकि सामाजिक जीवन में एक नई लहर, नई जाग्रति और अभिनव चेतना का विकास हो सके।

मनुष्य जाति में फैली हुई दुष्प्रवृत्तियों के प्र सावधान रहना चाहिए और उनका उन्मूलन करने के लि सतत् प्रयत्न करना चाहिए। पर इससे अधिक महत्व की बात यह है कि जहाँ सत्प्रवृत्तियों के अंकुर जम रहे हैं उन्हें सींचने, खाद लगाने एवं रखवाली करने का प्रयत्न करना चाहिए। दैवी और आसुरी दोनों ही प्रवृत्तियाँ मनुष्य में रहती हैं, उनमें से यदि असुरता बढ़ जाती है तो सर्वत्र अशान्ति एवं आपत्ति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और यदि देवत्व पनपने लगे तो इसी भूमि पर सुख-शान्ति का ऐसा वातावरण उत्पन्न हो जाता है कि स्वर्ग जैसी आनन्ददायक स्थिति हमारी आँखों के सामने उपस्थित हो जाती है। आज बुराई बढ़ रही और अच्छाई मुरझा रही है इसलिए सब तरफ नारकीय वातावरण बन रहा है। इसे बदलने का प्रयत्न किया जाय, बढ़ी हुई असुरता को मिटाने का कार्य तो किया ही जाय; पर बीज रूप से सर्वत्र प्रस्तुत अच्छाई को सींचने का प्रयत्न होगा तो युग ही बदल सकता है। हमें इस पर विचार करना है और आगे यही सब करने के लिये प्रस्तुत होना है। नवयुग के अवतरण के लिए सत्कार्यों का अभिनन्दन किया जाना आज की सबसे मुख्य आवश्यकता है।

दृष्टिकोण बदलें

उच्च पद प्रतिष्ठित व्यक्ति धनवान् अथवा किसी आतंकवादी व्यक्ति की प्रशंसा-प्रतिष्ठा करेंगे तो उससे लाभ होगा ऐसी धारणा नितान्त भ्रामक है। उससे समाज में नैतिक तत्वों का सन्तुलन बिगड़ता है, यह तो परोक्ष रूप से बुराइयों में हाथ बँटाना ही हुआ। इस मिथ्या भ्रम से आज सारा मनुष्य समाज ग्रसित है, यही कारण है कि सामाजिक जीवन में धार्मिक और नैतिक तत्वों का अभाव होता जा रहा है। इस विकृति को रोकने के लिए निश्चित ही हमें दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता होगी।

हमें उन तत्वों को प्रोत्साहन देना है, जिनसे समाज का कुछ भला हो और जन-जीवन में प्रेरणाएँ जाग्रत होती हों। सत्कार्यों का अभिनन्दन जब भी, जहाँ भी हुआ है वहाँ वैसी प्रवृत्तियाँ तेजी से विकसित हुई हैं। राजस्थान के कुछ इलाकों में पुष्करण जाति के ब्राह्मणों में सामूहिक विवाहों की परम्परा है तो उन क्षेत्रों में बहुत से लोग इनमें सम्मिलित हो जाते हैं। पिछले दिनों वहाँ ६०० सामूहिक विवाह सम्पन्न हुए। गाँव-गाँव में गायत्री-यज्ञों का प्रचार और प्रसार हुआ है। इनके पीछे लोगों की सत्कार्यों को प्रतिष्ठित दृष्टि से देखने की भावना ही प्रमुख है। अच्छे कार्यों में लोगों को सम्मान मिलता है तो दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा मिलती है। इस धारणा को अब व्यापक बनाने की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन में अच्छाइयों के अभिवर्द्धन के लिये जहाँ भी नेक, ईमानदारी, सदाचारी, श्रमिक, साहसी, सेवाभावी, पुरुषार्थी रूढ़िवादिता का प्रतिरोध करने वाले व्यक्ति मिलें, उनका सार्वजनिक सम्मान किया जाना चाहिए इससे सत्प्रवृत्तियाँ

विकसित होंगी और युग-निर्माण की सफलता की सम्भावनाएँ बढ़ेंगी।

मानपत्र भेंट करना

अपने मुहल्ले, नगर, गाँव अथवा क्षेत्र में ऐसे व्यक्तियों की तलाश की जाये जिनका जीवन त्यागमय रहा हो, कष्ट सहे हों पर ईमानदारी का परित्याग न किया हो। अपनी सम्पति और समय का अधिकांश भाग संस्कृति, साहित्य, समाज अथवा राष्ट्र की सेवा में लगाया हो। अग्नि लगने, आकस्मिक दुर्घटना, बाढ़ भूकम्प, बीमारी, युद्ध आदि के अवसरों पर अपने जानमाल की परवाह न करके दूसरों को बचाया हो। चोर, अत्याचारी, दुष्टों, गुण्डों का साहसपूर्वक मुकाबला किया हो और जोखिम उठाई हो। विषम परिस्थितियों में भी अपने पुरुषार्थ के बल पर ऐसे उत्कर्ष किया हो, जिससे उन तरह के दूसरे अपंग, अपाहिज, अन्धे, बीमार, कष्ट पीड़ित लोगों को भी परिस्थितियों से लड़ने की प्रेरणा मिलती हो। ऐसा व्यक्ति जहाँ भी चाहे जिस वर्ग या जाति का क्यों न हो वह अभिनन्दनीय है। उनकी सेवाओं, साहस या पुरुषार्थ के प्रति आदर भावना प्रकट करने के लिये यह आवश्यक है कि उनका सार्वजनिक सम्मान किया जाय। जिस प्रकार विवाह शादियों, पर्वों और त्योहारों पर विचार गोष्टियाँ और सम्मेलन आयोजित करते हैं, वैसे ही समय-समय पर ऐसे अभिनन्दन समारोह चलाये जाने चाहिए। युग-निर्माण शाखाएँ इनका संचालन कर सकती हैं और दूसरे लोग भी समितियों के माध्यम से ऐसा कर सकते हैं।

इनके लिए ऐसा समय निकालना चाहिए जो स्थानीय लोगों को सुविधानुकूल हो, अवकाश का दिन अथवा कोई त्योहार या पर्व का दिन हो। जिन लोगों ने दुर्घटनाओं में साहस जैसे कर्त्तव्य दिखाएँ हों उनका घटना के कुछ दिन बाद ही अभिनन्दन किया जाना चाहिए, पर जिन्होंने काफी लम्बे समय तक कोई बड़ी सेवा का कार्य किया हो उनकी जन्मतिथि पर अथवा किसी अन्य शुभ-दिन इस प्रकार का आयोजन रखना चाहिए। स्थान यथासम्भव इस तरह रखें जहाँ अनुमानित व्यक्ति भली प्रकार बैठ सकें। सार्वजनिक स्थान हो तो सबसे अच्छा अन्यथा किसी भी सुविधाजनक देवस्थान, धर्मशाला, स्कूल आदि में समारोह आयोजित किया जा सकता है।

प्रेरणा ग्रहण करने के लिये अधिक से अधिक व्यक्ति एकत्रित हों इसके लिये पहले से ही सामूहिक रूप से घोषणा कर दी जाये, शहरभर में घूमकर लाउडस्पीकर के द्वारा लोगों को आमन्त्रित किया जाय, पर्चे बाँटे जायें अथवा मुनादी करा दी जाए। ऐसा प्रयत्न किया जाना चाहिए जिससे अधिक से अधिक लोग एकत्रित हो सके पर समारोह में विचारशील लोग अधिक आयें इसके लिये आवश्यकता है कि उस क्षेत्र के विशिष्ट, विचारवान् व्यक्तियों को विशेष रूप से निमन्त्रण-पत्र भेजकर आमन्त्रित किया जाये।

एक ऊँचा मंच बनाकर उस पर उस विशिष्ट व्यक्ति या अधिक व्यक्तियों का एक साथ अभिनन्दन करना हो तो उन सभी व्यक्तियों को बैठाया जाये ताकि उपस्थित सभी व्यक्ति समझ सकें कि किस व्यक्ति का अभिनन्दन किया जाना है, ऐसे अवसरों पर आमतौर पर लोगों को उन्हें देखने की इच्छा होती है अत: जिसका अभिनन्दन होना है उनको अपेक्षाकृत उच्चासन ही दिया जाना चाहिए।

जहाँ पर प्रेम सम्बन्धी सुविधा उपलब्ध हो वहाँ अभिनन्दन-पत्र बढ़िया कपड़े या कागज पर छपवाकर उसे शीशे में मढ़ा लिया जाये। अभिनन्दन पत्र में उनके कार्यों का समीक्षात्मक वर्णन हो। जो कुछ उन्होंने किया हो उसका वर्णन हो पर साथ यह भी ध्यान रहे कि केवल व्यक्ति की समीक्षा ही न हो वरन् गुण को प्रधान माना जाय और ऐसे प्रेरक शब्द रखे जायें जिससे अतिथ्य का सम्मान भी हो और दूसरे लोगों को प्रेरणा भी मिले। घटनाओं का वर्णन ज्यों का त्यों किया जाये और अस्वाभाविकता या अति प्रशंसा न की जाये। मढ़े हुए अभिनन्दन पत्र के अतिरिक्त कुछ मान-पत्र अधिक संख्या में सम्भव हों तो पुस्तिका आकार में छपाकर रख लिये जाएँ। जहाँ प्रेस न हो, वहाँ अच्छे अच्छरों में हाथ से अभिनन्दन-पत्र तैयार किये जा सकते हैं।

सभा की कार्यवाही प्रारम्भ करने के पूर्व एक व्यक्ति समारोह के उद्देश्य से लोगों को अवगत कराये, इसके बाद अभिनन्दन पत्र पढ़ा जाए। पूरा मान-पत्र पढ़ जाये तो वह उसी व्यक्ति को समर्पित कर दिया जाये, शेष सभी उपस्थित लोगों में बाँट दिये जायें, मान-पत्र भेंट करने के साथ रोली, तिलक और पुष्पमाला से उनका सत्कार किया जाय। थोड़े लोग हों तो सभी उन्हें मालाएँ पहनाएँ पर अधिक लोग उपस्थित हों तो केवल संस्थाओं की ओर से मालाएँ भेट की जाएँ। इसके बाद कुछ विशिष्ट व्यक्ति उनके कृतित्व पर भाषण दें और लोगों को उन गुणों से प्रभावित और प्रेरित करने का प्रयत्न करें जिसके कारण समारोह का आयोजन किया गया हो। उनके लिये आशीर्वाद, शुभकामनाएँ दीर्घजीवन की प्रार्थनाएँ भी की जाएँ।

जहाँ पर सम्भव हो वहाँ चाँदी या सोने के शील्ड, पदक, ट्राफी आदि कोई मानजनक वस्तु उन्हें भेंट की जाय। छोटा आयोजन हो ते जलपान की भी व्यवस्था रखी जा सकती है। इस प्रकार के छोटे-बड़े अभिनन्दन-आयोजनों का प्रचलन हमें व्यापक रूप से करना चाहिए।

जयन्ती और जन्म दिवसोत्सव

सत्प्रवृत्तियों को प्रेरणा और प्रोत्साहन देने का कार्य दिवंगत महापुरुषों और महात्माओं की जयन्तियों के द्वारा भी किया जाना चाहिए। यह प्रथा संसार के सभी देशों में है। हमारे यहाँ कृष्ण-जन्माष्टमी, रामनवमी, श्रावणी, पितृ

अमावस्या आदि का आयोजन उन महापुरुषों के सत्कार्यों का स्मरण और उन्हें अपने जीवन में ओत-प्रोत करने की भावना से किया जाता है। दुर्भाग्य से ऐसे पर्वोत्सव मनाये तो जाते हैं पर उनसे वास्तविक उद्देश्य हल नहीं होता। अब यह आयोजन ऐसे रूप में सम्पन्न किये जाने चाहिए जिससे लोगों को प्रेरणा भी मिले।

ऐसे महापुरुषों के नाम और उनकी जन्मतिथियों की जानकारी नोट रहनी चाहिए और उस दिन अभिनन्दन समारोह मनाना चाहिए। यह समारोह बड़े रूप में सार्वजनिक और छोटे रूप में भी मनाये जाने चाहिए। इनके साथ यज्ञ इत्यादि धार्मिक आयोजन भी जोड़े जा सकते हैं।

इन जयन्तियों से सम्बन्धित महापुरुष के चित्रों की झाँकी उनके जीवन से सम्बन्धित आदर्श वाक्य सजाकर प्रभातफेरियाँ निकाली जायें। अभिनन्दन के समय आसन पर उनके चित्र स्थापित कर उनका पूजन, तिलक और पुष्प मालाएँ चढ़ाने का कार्य किया जाय। भाषण आदि के शेष कार्य मानपत्र भेंट करने के समारोहों जैसे ही रहें। अभिनन्दन-पत्र बाँटने के स्थान पर उनके जीवन और कार्यों के ट्रैक्ट प्रकाशित कर वितरित किये जा सकते हैं। ऐसे ट्रैक्ट अखण्ड-ज्योति में प्रकाशित किये गये हैं। यहाँ से भी उन्हें मँगाकर उक्त समारोहों में वितरित किया या बेचा जा सकता है। लोग स्वयं भी लिख सकते हैं पर यह ध्यान रखना चाहिए कि उनमें व्यक्ति की कम, गुणों की अधिक प्रशंसा हो। उनके भाषण में भी यही बात मुख्य रहे। कविताएँ सुनाई जाएँ तो उनमें भी घटनाओं के साथ-साथ गुणों की व्याख्या भरी हुई होनी चाहिए।

समाचार लेख और कविताएँ

अभी तक अखबारों में बुरे कार्यों और घटनाओं के समाचार अधिक आते हैं इनसे बुराइयों की जानकारी बढ़ती है यह तो ठीक है पर साथ ही यह भी असंदिग्ध है कि बुरे विचारों को पढ़ने से लोगों में वैसी मनोवृत्ति भी जाग्रत होती है। लोगों को नये-नये बुराइयों के हथकण्डे मालूम पड़ते हैं। निषेधात्मक समाचारों को हटाने के लिये रचनात्मक समाचार आवश्यक हैं। अच्छे कार्य न होते हों सो बात नहीं पर चूँकि वे प्रकाश में नहीं आते इसलिये न तो दूसरे लोग उनका महत्व समझ पाते हैं और न ही अच्छे कार्यों की प्रेरणा ही मिलती है अतः यह आवश्यक है कि जहाँ भी लोगों की दृष्टि में अच्छे अभिनन्दनीय कार्य हुए या हो रहे हों उनको समाचार अखबारों में छापने के लिये भेजना चाहिए। अब तक जो बुरे समाचारों की अधिकता है उनका स्थान अच्छा समाचार ले लें उससे मनोदिशाओं का रुझान सत्कार्यों की ओर भी किया जा सकता है।

समाचार ही इसके लिये पर्याप्त न होंगे। ऐसे लोगों के लेख भी लिखे और छपाये जाने चाहिए। 'अखण्ड-ज्योति' तथा 'युग निर्माण योजना' के प्रत्येक अंक में ऐसे दो चार जीवन चरित्र दिये जाते हैं। इसी तरह के सन्मार्ग और सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने वाले लोगों के छोटे और बड़े जीवन-चरित्र प्रकाशित करने चाहिए। यह कार्य लेखकों और प्रकाशकों को सामूहिक सहयोग द्वारा करना होगा।

समाचार और लेखों की तरह ऐसे व्यक्तियों पर कविताएँ भी लिखी और प्रकाशित कराई जानी चाहिए।

चित्र लगाना

घरों में बैठक, विद्यालयों, लाइब्रेरियों आदि में किन्हीं सन्त-महापुरुषों के चित्र लगाने की प्रथा है। इसमें उस स्थान की शोभा बढ़ने का भाव दूसरे नम्बर पर आता है। मुख्य उद्देश्य यह है कि वह स्थान अव्यक्त रूप से चित्रों के माध्यम से जनमानस में अच्छी प्रेरणाएँ भरता रहे। यह उद्देश्य प्राचीनकाल के महापुरुषों के चित्र लगाने से भी हो सकता है और आज के सन्मार्ग प्रेरक जीवन और विचार स्तर के लोगों के भी हो सकते हैं। पूर्वजों के प्रति चूँकि हमारी श्रद्धा काफी समय से चली आ रही है अतः उनके चित्र तो रहें ही, पर इस युग की सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने के लिये अच्छे व्यक्तियों के चित्र लगाना भी बहुत आवश्यक है। उनके चित्र लेखों के साथ पत्र-पत्रिकाओं में भी छपाये जा सकते हैं।

जिन्होंने लोकहित के कार्यों में विशेष श्रम, त्याग या पुरुषार्थ दिखाया हो, जिनका जीवन आदर्शमय रहा हो उनके चित्र घरों में लगाना चाहिए। चित्र प्रकाशकों का यह कर्त्तव्य है कि वे ऐसे महापुरुषों के चित्र बड़ी मात्रा में प्रकाशित करें और उन्हें अधिक से अधिक प्रसारित करने का प्रयत्न करें। आजकल लोग सिनेमा अभिनेता-अभिनेत्रियों के चित्र लगाते हैं तो वैसी ही प्रेरणाएँ, हाव-भाव और अश्लील बातें भी वे सीखते हैं जैसी अभिनेताओं में आम पाई जाती है। इनके स्थान पर भगवान कृष्ण, राम, राणाप्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह, लक्ष्मीबाई, लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, बुद्ध, ईसा तथा वर्तमान परिस्थितियों में ही साहस, शूरता दिखाने वाले लोगों के चित्र जैसे अब्दुल हमीद, लेफ्टिनेन्ट करनल तारापोर जनरलों के चित्र विनोबा आदि सन्त-महात्माओं के चित्र टाँगने चाहिए। इनमे स्थानीय लोगों के चित्र जिन्होंने कोई आदर्श अनुकरणीय कार्य किया हो उन्हें सबसे बीच में लगाया जाय। सम्भव हो तो चित्र के नीचे उनकी किसी घटना अथवा आदर्श जीवन का संक्षिप्त वर्णन भी हो। ऐसे चित्र सार्वजनिक स्थानों को अपनी ओर से भेंट किये जाने चाहिए और उन्हें लगाया गया है यह निश्चित करना चाहिए। उनकी जयन्तियाँ मनाई जाएँ, स्मरण किया जाय, चित्रों को फूल-मालाएँ पहनाकर अपनी श्रद्धा भावना प्रकट की जाये।

चरण-स्पर्श और शिष्टाचार

पहले ब्राह्मणों का जीवन आदर्श जीवन होता था, वे समाज और लोक-सेवा की भावना के साथ विद्वता में भी पारंगत होते थे और ऐसे कार्य करते थे जिससे सर्वसाधारण का कल्याण होता था। उनके प्रति तात्कालिक सम्मान और आदर भाव प्रकट करने के लिये ये जब भी मिलते थे लोग उनके चरण स्पर्श करते थे, हाथ-जोड़कर नमस्ते करते थे, कभी अतिथि के रूप में आ जाने पर उनका स्वागत-सत्कार अपेक्षाकृत अधिक होता, उन्हें शीर्षस्थ स्थान मिलता था। अच्छे व्यक्तियों के प्रति लोग विनीत होते थे और श्रद्धा भाव रखते थे इसलिये और लोग भी अच्छे कार्यों की ओर प्रोत्साहित होते थे। यह प्रथाएँ अभी भी गाँवों में हैं पर अब गुण नहीं जाति की श्रेष्ठता और अहंकार को पूजा जाता है। इससे कोई उद्देश्यपूर्ण नहीं होता। हमें श्रेष्ठ, सज्जन एवं सेवाभावी व्यक्तियों का विशेष रूप में विनय-अभिवादन करना चाहिए। शिष्टाचार की विधियों को भी समयानुकूल मोड़ना चाहिए। चरण स्पर्श केवल उन्हें किया जाय जिनकी भावनाएँ, विचार और कार्य श्रेष्ठ हों। ऊँचा स्थान उन्हें मिले जो समाजसेवी हों, जिन्होंने समाज-कल्याण के लिये कोई विशेष कार्य किया हो। शिलान्यास, उद्घाटन भी ऐसे ही लोगों से कराये जाने चाहिए। सभापति, प्रधान, सरपंच आदि के चुनावों में उन्हें गाँववासियों की ओर से सर्वसम्मति से चुना जाना चाहिए। अच्छाइयों की प्रतिष्ठा बढ़ेगी तो उससे अच्छाई ही फले-फूलेगी और उसका लाभ सारे समाज को मिलेगा।

श्रम का सम्मान

आजकल लोगों में एक बुरी भावना यह आ गई है कि जो लोग जितना अधिक शारीरिक श्रम करते हैं वे उतने ही अधिक निम्न वर्ग के माने जाते हैं। कम श्रम, अधिक आराम सुकुलीनता का द्योतक माना जाता है। जबसे इस धारणा का प्रसार हुआ, लोगों के स्वास्थ्य बुरी तरह चौपट होने लगे, उत्पादन की दर घटी तो समृद्धि की सम्भावनाएँ समाप्त होने लगीं। देश में पर्याप्त जमीन है, साधन है तो भी अन्न का सदैव अभाव बना रहता है ऐसा केवल इसलिये है कि श्रम के प्रति लोगों में आदर-भाव की कमी है इसे सामाजिक पतन का एक मुख्य कारण ही मानना चाहिए।

महाराज जनक ने हल चलाकर किसान को प्रतिष्ठा दी थी, सीताजी उन्हें इसी से उपलब्ध हुई थीं, ऐसा करके उन्होंने यह उदाहरण प्रस्तुत किया था कि बड़े से बड़े व्यक्ति को भी श्रम करना चाहिए और उससे आत्महीनता का अनुभव नहीं होना चाहिए। नासिरुद्दीन टोपियाँ सींकर स्वयं का गुजारा चलाता था, कबीर अन्त तक जुलाहे का कार्य करते रहे, रैदास आजीवन चमड़े का काम करते रहे, इससे स्पष्ट है कि लोग अपने सामान्य व्यवसाय करते हुए भी हजारों को प्रेरणा और प्रकाश दे सकते हैं। महानता लाने के लिये यह आवश्यक नहीं कि श्रम को छोड़ दिया जाय। श्रम मनुष्य-जीवन का देवता है यह जिस मनुष्य के पास रहता है उसमें श्रेष्ठताएँ ही विकसित करता है।

रूस आदि कम्युनिस्ट देशों में श्रमिकों को सर्वोच्च सम्मान दिया जाता है, उनके चित्र लगाये जाते हैं, उनके नाम पर पार्क, सड़कें, गाँव और नगर बसाये जाते हैं फलस्वरूप वहाँ के लोग काफी समृद्ध भी हैं, आत्म-सम्मान और स्वाभिमान की रक्षा के लिये भी श्रम का, श्रमिकों का इन देशों के समान ही सत्कार किया जाना चाहिए।

ऐसे उदाहरण अभी भी बहुत हैं पर उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। मथुरा के पास 'पिसनहारी का कुआँ' नामक एक कुआँ है इसे एक बाल-विधवा ने आजीवन चक्की पीस कर उससे बचाये हुए पैसे से बनवाया था। इसमें उसके अन्तःकरण में समाज-सेवा की कितनी उत्कृष्ट भावना रही होगी इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। खजुहा (फतेहपुर) में कई विधवाओं ने मिलकर एक बड़े तालाब का निर्माण कराया, अलीगढ़ जिले के एक २२ वर्षीय किसान ने जिले में सबसे अच्छी कृषि का इनाम पाया है। इस प्रकार उदाहरण प्रस्तुत करने वालों का सार्वजनिक अभिनन्दन किया जाय ताकि समाज श्रम का मूल्य समझ सके और उसे अपने आप में धारण करने में भी उसे कोई संकोच न हो।

सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन

जिस प्रकार आजकल दुष्ट-दुर्गुणो और दुष्प्रवृत्तियों की ही पूजा और प्रतिष्ठा होती है इसलिये बुराइयाँ ही अधिक बढ़ रही हैं, उसी प्रकार हर मनुष्य में सत्प्रवृत्तियाँ भी पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं, यदि उन्हें विकसित करने का अवसर मिले तो सामान्य व्यक्ति भी श्रेष्ठ कार्यों का सम्पादन कर सकते है। साहसी, वीर, त्यागी, सदाचारी, उन्नतिशील एवं महापुरुष की भूमिका प्रस्तुत कर सकते हैं। आज यह सत्प्रवृत्तियाँ मानव समाज में सोई-सी प्रतीत होती हैं पर जगाने से वे जग भी सकती हैं और बढ़ाने से बढ़ भी सकती हैं। सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाने और जगाने के लिये यह आवश्यकता है कि मनुष्य की भावनाएँ बड़ी हों, उनके दिल और दिमाग चौड़े हों तभी वे जनमानस में प्रेरणा भरने योग्य प्रकाश उत्पन्न कर सकते हैं, पर वहाँ यह भी आवश्यक है कि जहाँ भी ऐसे बीज अंकुरित हो रहे हों उन्हें संरक्षण दिया जाय और विकास के लिये पर्याप्त बल प्रदान किया जाय। हमें अनीति का नहीं नीति का समर्थन करना चाहिए। जो लोग अच्छे कार्य करें, उनका अभिनन्दन करना चाहिए ताकि दूसरे लोग भी उनका अनुकरण कर सकें।

सामूहिक शक्ति का विकास सम्मेलनों से

एक विचार के लोगों का एक स्थान पर मिलन होने से उनकी प्राण-चेतना का समन्वय होता है और सभी में उनकी प्रकृति के अनुरूप उत्साह उत्पन्न होता है। इस उत्साह से अनायास ही क्रियाशीलता की उमंगें उठने लगती हैं। एकाकी मनुष्य अपने आप को अशक्त समझता है किन्तु जब एक साथ एक मन के लोग मिलते हैं तो अपने विस्तार-वैभव का भान होता है। हम अकेले नहीं है। अनेकों हमारे साथ हैं इस कल्पना मात्र से मनुष्य में उमंगें उठने लगती है। एकाकीपन में जो भीरुता और दुर्बलता छाई रहती है उसका समूह में पहुँचने से निराकरण हो जाता है यह मिलन यदि अधिक महत्वपूर्ण प्रयोजनों के लिये हो, कारणवश घनिष्टता उत्पन्न कर दे तो फिर उसका स्वरूप संगठन का बन जाता है। संगठन की शक्ति सर्वविदित है।

वन्य पशु समूह बनाकर रहते हैं। झुण्ड में रहने से उन्हें प्रसन्नता, सुविधा और सुरक्षा का लाभ मिलता है, भले ही वे एक दूसरे से अधिक सहयोग न कर पाते हैं। पक्षी एक साथ चहचहाते, उड़ते और लम्बी यात्राओं पर निकलते देखे जाते हैं। चींटी, दीमक, टिड्डी, मधुमक्खियाँ जैसे स्वल्प बुद्धि वाले प्राणी तक सहमिलन का, सहचरत्व का लाभ जानते हैं। उनकी अन्तःचेतना सूक्ष्म रूप से यह बोध कराती रहती है कि एकाकी रहने से नहीं समान प्रकृति के प्राणियों के साथ रहने मे मिल-जुलकर चलने में लाभ है। यह नियमित संदेश मनुष्य की अन्तरात्मा को भी विदित है। परिवार, गाँव, नगर इसी आधार पर बनते और बसते हैं। जाति और वर्ग इसी अन्तःप्रेरणा से विकसित हुए हैं। यायावरों के कबीले, सभ्यता से दूर रहते हुए भी अपने समूह समुदाय में निवास करते है। डाकुओं के गिरोहों से लेकर सन्तों की जमात बनने तक मे यही प्रकृति प्रेरणा काम करती है।

समान सद्विचारों के व्यक्ति बार-बार मिलें और एक दूसरे के निकट आकर अपने उत्साह एवं कर्तृत्व को बढ़ाते हुए अधिक सामर्थ्य प्राप्त करें- लक्ष्य की ओर अधिक द्रुतगति से अग्रसर हों, इस उद्देश्य के लिये तत्वदर्शी, महामनीषियों ने सम्मेलनो की परम्परा को बहुत प्रोत्साहन दिया है। समाज समूह का ही नाम है। मिल-जुलकर रहने की विधि-व्यवस्था को ही सामाजिक मर्यादा और राजकीय अनुशासन कहते हैं। यह मानवी प्रगति के लिये नितान्त उपयोगी आवश्यकताएँ हैं। श्रेष्ठता की दिशा में अग्रसर होने के लिये भी इसी सामूहिकता की आवश्यकता हैं। इसका प्रथम चरण मिलन है। इससे परिचय होता, साहस बढ़ता और प्रोत्साहन मिलता है । क्रमशः यही मिलन अधिक सघन होने पर संगठित बन जाता है। मनुष्य जाति की प्रगति का इतिहास उसके संगठित प्रयत्नों का ही प्रतिफल है। धर्म और अध्यात्म-नीति और सदाचार जैसे उच्च प्रयोजनों के लिये तो इन प्रयत्नों की और भी अधिक आवश्यकता है। यों भौतिक प्रगति और सुरक्षा भी इसी में है। कल-कारखानों में श्रमिकों की सामूहिक क्षमता काम करती है- सेना में यही जनबल सुव्यवस्थित रहता है- हाटबाजारों में, मेले ठेलों में आर्थिक तथा दूसरी तरह के अनेकों लाभ मिलते हैं। धर्म क्षेत्र में भी तीर्थों-पर्वों की, धार्मिक मेलों व कुम्भ पर्व जैसे- विशिष्ट आयोजनों की परम्परा है। कथा कीर्तन, सत्संग आदि में अन्य लाभों के साथ-साथ एक बड़ा यह भी है कि एक-एक प्रकृति के लोग एक स्थान पर एकत्रित होकर एक प्रकार की गतिविधियों में संलग्न हों। ऐसे प्रयत्न थोड़े समय के लिये होने पर भी समाहित लोगों में नव-चेतना उत्पन्न करते है।

सोमवती अमावस्या पर गंगा स्नान के प्रमुख घाटों पर धार्मिक प्रकृति के लोग जिस पुण्य लाभ को पाने के लिये जाते हैं उसमें एक बड़ा निमित्त धर्म प्रेमियों को परस्पर मिलजुलकर अपने स्वभाव के अन्य लोगों से परिचय प्राप्त करना और घनिष्टता स्थापित करना और आदान-प्रदान का द्वार भी खोलना भी है। अनेकानेक तीर्थ-स्थानो में भिन्न-भिन्न कारणों एवं इतिहासों को लेकर वार्षिक मेले होते रहते हैं। कुम्भ पर्वों को अखिल भारतीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का रूप प्राप्त है। इस एकत्रीकरण में एकीकरण के महत्वपूर्ण तत्त्व भरे रहते हैं। एकता की शक्ति से कौन परिचित नहीं है। कच्चे सूत के धागे मिलकर हाथी बाँधने में समर्थ मजबूत रस्सा बनते हैं और अति दुर्बल सींकें मिलकर बुहारी के रूप में कूड़ा-करकट बुहार कर फेंकने योग्य बनती हैं। ईंटों के मिलन से ही इमारत खड़ी होती है और कोशिकाओं के छोटे घटक मिलकर काया का ढाँचा खड़ा करते हैं। सदुद्देश्य के लिये सज्जनों का सम्मेलन इतने अधिक सत्परिणाम उत्पन्न करता है, जिसकी सहज कल्पना भी कठिन है।

पर्वों मे से अनेक ऐसे हैं जो सामूहिक रूप में ही मनाये जाते हैं। बसंत पंचमी, होली, श्रावणी, विजयादशमी, शिवरात्रि, रामनवमी, जन्माष्टमी, मकर संक्रान्ति, गणेश चतुर्थी जैसे पर्व विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न प्रकार से सामूहिक आयोजन के रूप में ही मनाये जाते है। स्त्रियों के अपने प्रथक-शीतला अष्टमी, हरितालिका व्रत, गणगौर आदि के आयोजन होते हैं। इन दिनों तो यह उत्सव मात्र मनोविनोद के तथा प्राचीन परिपाटियों की चिन्ह पूजा मात्र के समान हो गये है, पर प्राचीनकाल में इनके साथ-साथ लोकशिक्षण के आधार भी जुड़े रहते थे। इन उत्सवों में एकत्रित जनसमुदाय को विद्वान मनीषियों द्वारा प्रेरणाप्रद उद्बोधन दिये जाते थे। असल में पर्वों की परम्परा स्थापित करते का उद्देश्य ही यह था कि इन अवसरों पर जनसाधारण की बड़ी उपस्थिति बिना विशेष निमन्त्रण आयोजनों के अनायास ही नियत समय पर हो

जाया करे और उन लोगों को कर्तव्य पालन का मार्गदर्शन मिलता रहे। हर पर्व के साथ अपनी-अपनी प्रेरणाएँ जुड़ी हुई थीं। व्यक्ति और समाज की अगणित समस्याएँ हैं। उनके अनेक स्वरूप हैं और समयानुसार उनके समाधान भी अनेक प्रकार के हैं। सामयिक मार्गदर्शन के लिए बार-बार एकत्रित होना- विचार-विनिमय करना आवश्यक है। पर्वों को मनाने की प्रथा मूलत: इसी प्रयोजन की पूर्ति करती है। ऐतिहासिक स्मृतियों का बनाये रहना और सत्परम्पराओं के प्रति पुनः-पुनः आस्था उत्पन्न करना तथा उत्साह-उल्लास की उमंगों से मन: संस्थान को अधिक समर्थ बनाना भी इन पर्व-समारोहों का अतिरिक्त उद्देश्य रहता था।

यज्ञ के अन्यान्य अनेकों लाभ हैं। उन्हीं में एक लाभ यह भी है कि वह एक उपासनात्मक सहप्रयास है। उसकी सारी व्यवस्था सामूहिकता के द्वारा परस्पर सहयोग के आधार पर सम्पन्न होती है। इसमें मात्र मिलन ही नहीं सहकृत्य भी होता है। रीतियों की भाँति इस धर्मानुष्ठानों में भी सहकृत्य से सर्वश्रेष्ठ उमंगें उठती हैं और उनमें सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों को ही नहीं पूरे वातावरण में उपयोगी प्रवाह झरने का भी लाभ मिलता है। सहगान में जो आनन्द आता है वह एकाकी गुनगुनाने में कहाँ आता है? सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सहनृत्य, सह अभिनय होते हैं और उनसे कर्त्ताओं और दर्शकों को भरपूर लाभ मिलता है। विभिन्न क्षेत्रों में अपने-अपने ढंग से सहनृत्य-सहगान प्रचलित हैं। उनकी व्यवस्था लोग उत्साह के साथ सम्पन्न करते है। गुजरात का गरबा, पंजाब का भाँगड़ा, ब्रज के होली रसिया, हिमालय के पाण्डव नृत्य आदि देखते ही बनते हैं। इस सम्बन्ध मे जन-जातियों में नृत्यगान की अपनी-अपनी परम्पराएँ हैं। इन प्रयोजनों को निरर्थक उछल-कूद या सस्ता मनोविनोद मात्र नहीं माना जाना चाहिए। इनका भावनात्मक परिणाम उत्पन्न होता है। उसके प्रभाव से सभी उपस्थित लोग लाभान्वित होते हैं। यह आयोजन जैसे भले-बुरे उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किये गये होंगे उसी के अनुरूप उत्कृष्ट या निकृष्ट परिणाम भी उत्पन्न होंगे। मिलन से भाव शक्ति का उत्पन्न होना निश्चित है वह किस स्तर का है, किस निमित्त उत्पन्न किया गया और उसे किस प्रयोजन में लगाया गया यह बात अलग है।

शोभायात्राएँ

जुलूस भी एक प्रकार से सैन्य प्रदर्शन की भाँति है। सेना का, पुलिस का गश्त लगता है, परेट निकलती है और आतंकित, उपद्रव ग्रस्त लोगों को तत्काल सान्त्वना मिलती है और वे सुरक्षात्मक संरक्षण का अनुभव करते हैं। यह समूह शक्ति का प्रभाव है। जुलूसों का उद्देश्य भी यही होता है। उनमें चलने वाले लोग अपने समर्थन एवं संगठन में सम्मिलित जनशक्ति का परिचय सर्वसाधारण को देते हैं। पंक्ति में चलने वाले लोगों का मनोबल बढ़ता है, वे अपने साथ बड़ी जन-शक्ति होने का आश्वासन और सहायता अनुभव करते हैं। संकोच छूटता है और उत्साह बढ़ता है। जुलूस में सम्मिलित होकर घूमने वाले उस शोभा यात्रा के उद्देश्यों के प्रति अधिक परिपक्वता विकसित कर लेते हैं। दूसरों के उस प्रदर्शन में प्रदर्शित तथ्यों के उद्देश्य का परिचय और जन-शक्ति का आनन्द मिलता है। सामर्थ्य को देखकर प्रभावित होना एक मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक तथ्य है। जन-मानस को प्रभावित एवं आकर्षित करने के लिए भी अनेक संस्थाएँ अपनी रैलियाँ करती हैं। मोटी दृष्टि से इनमें लगा हुआ धन और श्रम निरर्थक गया लगता है, पर बात ऐसी है नहीं। जितने बड़े प्रदर्शन होते हैं उतना ही अधिक प्रभाव उत्पन्न होता और वातावरण बनता है। इस प्रभाव से प्रदर्शनकर्त्ता अपने उद्देश्य को पूरा कर सकने की क्षमता की जानकारी देते हैं, इससे जिन्हे डराना होता है, वे डरते हैं। जिन्हें सजग करना है वे सावधान होते हैं। जिन्हें आश्वासन देना होता है वे आश्वासित होते हैं, जिन्हें आकर्षित करना होता है वे आकर्षित होते हैं। सामूहिक प्रदर्शनों से वातावरण में जो प्रभाव विद्युत उत्पन्न होती है, उससे प्रदर्शनकारियों को अपना उद्देश्य पूरा करने में प्रत्यक्ष और परोक्ष आधार मिलते हैं। यदि ऐसे न होता तो विज्ञ लोग इस प्रकार के आयोजनों की व्यवस्था करने में समय और धन की बरबादी न करते।

लोग अपने घरों पर छोटे-छोटे प्रसन्नता के अवसरों पर मित्र-सम्बन्धियों को प्रीति-भोज देते, मित्रों की चाय पार्टियाँ करते देखे गये हैं। विवाह-शादी जैसे बड़े उत्सवों पर तो यह धूम और भी बढ़ जाती है। बारातियों और घरातियों की भीड़ घर में नहीं समाती। यहाँ तक कि कई बार तो मृतक भोजों तक में दावत-जाफत जैसे दृश्य दीखने लगते हैं। कोई बड़ा कारण नहीं होता तो लोग सत्यनारायण कथा से लेकर तीर्थ-यात्रा से वापस लौटने तक में ऐसा ही प्रीतिभोज-ब्रह्मभोज करते हैं। कई तो अपने मरने से पूर्व ही अपना श्राद्ध, तर्पण और ब्रह्मभोज कराते हुए पीछे के लिए निश्चिंत हो जाते हैं। इस प्रकार के सभी आयोजनों के पीछे पुण्य और यश की मान्यता भी हो सकती है, पर प्रमुख कारण वह प्रवृत्ति है जो सज्जनों के साथ मिलकर बैठने-उन्हें एकत्रित देखने और आमोद-प्रमोद मनाने की आकांक्षा करती और सन्तोष पाती है। मरते समय अन्तिम इच्छा पूछने पर प्राय: मरणासन्न व्यक्ति अपने किन्हीं प्रियजनों को देखने की इच्छा करते हैं। यह वही मिलन आकांक्षा है जो मनुष्य को बल, साहस और संतोष प्रदान करती है। यह प्रवृत्ति हर किसी में पायी जाती है, यहाँ तक कि एकान्त गुफाओं में रहने वाले भी वन प्रदेश के किन्हीं पशु-पक्षियों से अपना रिश्ता बना लेते हैं और उनकी समीपता मे समय काटते और मोद मनाते हैं।

इन तथ्यों पर विचार करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि सदुद्देश्य की पूर्ति के लिये किसी भी

सामूहिकता, सामुदायिकता का उपयोग किया जाना आवश्यक है। भौतिक जीवन में तो इसके बिना एक कदम आगे बढ़ना सम्भव नहीं होता। विद्यार्थी स्कूलों के सम्मिलित उत्साह में ही ठीक तरह पढ़ते हैं। अमीर लोग घर में ट्यूशन नौकर रखकर भी पढ़ा सकते हैं पर ऐसे छात्र, स्कूल में पढ़ने वालों की तुलना में सदा पीछे ही रहते हैं। दुकानदार का काम ग्राहकों से घनिष्ठता बढाये बिना चलता ही नहीं। ''प्रगति के लिये अधिक लोगों का अधिक सहयोग'' इस तथ्य से मनुष्य जाति चिरपरिचित है और मैत्री के विभिन्न रूपों का विभिन्न प्रकार से विकास उपयोग किया जाता है। आत्मिक जीवन में भी गुरु-शिष्य परम्परा चलती है। गुरुकुलों, आरण्यकों, सत्रों, शिविरों तथा सत्संगों की क्रम व्यवस्था बनती है। शिक्षण चाहे सांसारिक हो अथवा आध्यात्मिक दोनों में ही समान रूप से सामूहिकता का समावेश उपयोगी सिद्ध होता है। एकाकीपन का दबाव कोई सिद्ध योगी या अविकसित कृमि-कीटक ही सहन कर सकते हैं। सर्व साधारण के लिए वह कठिन भी है और हानिकारक भी। लखनऊ मेडीकल कालेज में मुद्दतों तक सुधारा गया रामू नर बालक भेड़िये की आदतों को छोड़ ही न सका। उसका पालन तीन साल तक मादा भेड़िये ने अपनी माँद में किया था। सभी वनवासी जानते हैं कि समूह छोड़कर एकाकी विचरण करने वाले वन्य प्राणी कितने निर्भय और उद्दण्ड होते हैं। इक्कड़-अकेला रहने वाला सुअर, हिरन, हाथी और जो भी हो अकारण उस क्षेत्र के निवासी मनुष्यों तथा पशुओं पर आक्रमण करता है। इक्कड़ को निरस्त करके ही वनवासी दम लेते हैं। मनुष्यों के साथ रहकर कुत्ता सभ्य बन गया है, अन्यथा जब वह जंगली होता है तो भेड़ियों को मात देता है। पालतू और वन्य पशुओं में यह सभ्यता, असभ्यता का जो अन्तर देखा जाता है। उसमें मानवी सम्पर्क का लाभ मिलने, न मिलने की बात ही प्रधान होती है। जिधर भी दृष्टि डाली जाय हम सामूहिकता के लाभ देखते हैं। आत्मिक प्रगति के लिये व्यक्तित्व के परिष्कार के लिये भी सत्प्रवृत्ति के लोगों का सदुद्देश्य के लिये, मिलन-सम्मेलन होते रहना आवश्यक है।

व्यक्ति-निर्माण, परिवार निर्माण और समाज-निर्माण, अपने मिशन का उद्देश्य है। नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रान्ति अपने समय की सबसे बड़ी माँग है। अवगति को उलटकर प्रगति की ओर चल सकना ऐसे ही परिवर्तन से सम्भव हो सकता है। मनुष्य में देवत्व का उदय करने के लिये हर व्यक्तित्व को परिष्कृत करने की आवश्यकता होगी। धरती पर स्वर्गिम परिस्थितियों का अवतरण कराने के लिए असीम सृजनात्मक साधन जुटाने होंगे और उसके लिए प्रबल पुरुषार्थ करना होगा। इस सुविस्तृत लक्ष्य की पूर्ति के लिये प्रथम चरण विचारशील लोगों का एकत्रीकरण और प्रशिक्षण आवश्यक होगा। यही श्री गणेश है। यही शुभारम्भ है। आरम्भ यहीं से हो सकता है। सद्भाव सम्पन्न लोग जब सत्प्रयोजन लेकर मिलेंगे तो उपयोगी हलचल आरम्भ होगी।

विचार-विनिमय क्रिया-कलाप में बदलेगा और सद् विचारणाएँ सत्प्रयत्नों में कार्यान्वित होती दीख पड़ेंगी। मात्र कल्पनाएँ करते रहने योजनाएँ बनाते रहने से कुछ बात नहीं बनती। काम तो आदमी करता है। आदमी की आदत पशु प्रयोजनों में लगे रहने की है। उसे पेट, प्रजनन के गोरखधन्धे से आगे की कोई बात सूझती ही नहीं पानी नीचे की ओर सहज ही बहता है, पर उसे ऊँचा उठाना हो तो रस्सी, बाल्टी, पम्प, चरस, ढेंकी आदि का प्रबन्ध करना पड़ता है। छत पर से कोई वस्तु गिरानी हो तो वह कार्य सहज ही पूरा हो जाएगा किन्तु ऊपर चढ़ने के लिये जीना, सीढ़ी आदि चाहिए। व्यक्ति और समाज को ऊँचा उठाने का लक्ष्य लेकर चलने वालों को सदा से विचारशील लोगों को एकत्रित करना पड़ा है, उनमें सदुद्देश्यों की पूर्ति के लिये उत्साह जगाना पड़ा है, उनकी सम्मिलित शक्ति को सत्प्रयोजनों में जुटाना है।

सहयोग के सहारे ही छोटी-बड़ी सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ विकसित और परिपुष्ट होती हैं। प्रगतिशील प्रयत्न इसी प्रकार बनते और बढ़ते हैं। युग परिवर्तन का संकल्प लेकर चलने वाले सृजन सैनिकों के लिये भी यही रास्ता है। हमें भी अपनी क्रिया-प्रणाली में सर्वप्रथम विचारशील जन-समुदाय को एकत्रित करने-उन्हें युग की आवश्यकताएँ समझाने-सृजन प्रयोजनों में सहयोग देने के लिये प्रशिक्षित करना होगा। इस पद्धति को अपनाये बिना कोई चारा नहीं। इसकी उपेक्षा करके प्रगति के पथ पर एक कदम बढ़ाना भी सम्भव न होगा। साहित्य-सृजन तो एक प्रकार का आहार है। आहार का लाभ तभी है जब उसे खाया, पचाया जाय, खाने वाले लोग ही न हों तो भोजन क्या करेगा? लेखनी और वाणी का प्रभाव व्यक्ति पर होना चाहिए, व्यक्ति की हलचलें ही सृजन प्रयोजन पूरा करती हैं।

एकाकी शिक्षण तो साहित्य पढ़कर या रेडियो सुनकर भी हो सकता है पर इतने से काम कहाँ बनता है? आवश्यकता तो जीवित मनुष्यों के सजग सहयोग की है और वह बिना सम्मिलित प्रयास के हो ही नहीं सकता। सम्मेलनों की इसी दृष्टि से आवश्यकता है। युगान्तरीय चेतना उत्पन्न करने के लिये हमें छोटे-बड़े सम्मेलनों में विचारगोष्ठियों की योजना बनाकर ही चलना होगा। आरम्भ यहाँ से किया जाता है, इस तथ्य को समझने और कार्यान्वित करने में तनिक भी विलम्ब नहीं किया जाना चाहिए।

आयोजनों की पृष्ठभूमि और तैयारी

सड़क-चौराहों पर अनेकों शक्लें दीखती हैं। रेलों और बसों में ढेरों के साथ मिलना-जुलना होता है। दफ्तर, कारखानों, सिनेमाघरों, स्टेशनों में एक साथ

टिड्डीदल की तरह व्यक्ति घुसते और निकलते हैं। मेले-ठेलों की भीड़-भाड़ का तो कहना ही क्या । मनुष्यों का मनुष्यों से यह मिलना-जुलना निष्प्रयोजन है, इसलिए उससे लाभ नहीं, असुविधा ही होती है। रेल में बैठने के लिये उस डिब्बे को तलाश करते हैं जिसमें भीड़ कम हो । होटल, धर्मशालाओं में भी वही पसन्द किया जाता है जहाँ मनुष्य का कोलाहल कम हो। बाड़े में भेड़ें और जेलों में कैदी भरे रहते हैं पर इससे उनमें से किसी को कोई प्रसन्नता या सुविधा नहीं होती। जिस सम्मेलन का महत्व बताया गया है वह विचारशील व्यक्तियों का सदुद्देश्य के लिये एकत्रीकरण है। ऐसे तो भीड़ जमा करने में मदारी भी प्रवीण होते हैं। वे गली-चौराहों पर सड़क, फुटपाथों पर चाहें तब अपने बुद्धि कौशल से रास्ते चलते लोगों को खड़ा कर लेते हैं। छोटी-मोटी अजूबा या सामान्य घटना हो जाने पर फालतू लोग ऐसे ही खड़े हो जाते हैं। नाच-तमाशे का सरंजाम हो तो ऐसे ही बेकार लोग समय काटने और मुफ्त का मनोरंजन करने के लिये जमा हो जाते हैं। ऐसे समूह को सम्मेलन की संज्ञा नहीं दी जा सकती। उपयोगिता जिस जनसमुदाय की मानी जाती है उसकी दो शर्तें हैं। एकत्रित लोग विचारशील हों। मूढ़, अनगढ़, बेतुकी भीड़ जमा न हो गई हो उपस्थित लोग इस स्तर के हों जिनमें कुछ समझने की क्षमता हो, जिन्हें विचारों का महत्व मालूम हो, उनमें दिलचस्पी हो। कुछ लोग ऐसे अनपढ़ होते हैं कि उन्हें विचारों में कोई रुचि नहीं होती। जिन्हें पेट भरने या मौज करने के अतिरिक्त और सब बातें बेकार लगती हैं।

ऐसे लोग एक तो किन्हीं विचारगोष्ठियों में आते ही नहीं, आते हैं तो ऊँघते हैं, आपस में कानाफूँसी करते हैं या उचक-मचक करके दूसरों का ध्यान बँटाते हैं। बार-बार घड़ी देखते हैं और बीच में से ही उठकर चल देते हैं। ऐसे लोगों को जमा कर लेने से सम्मेलन का उद्देश्य पूरा नहीं होता। तमाशे के नाम पर अक्सर भीड़ जमा की जाती है। उद्देश्य पूर्ण सम्मेलनों में उपस्थित लोगों को कुछ दिशा प्रकाश देने का लक्ष्य रहता है और इस संदर्भ में उन्हें पहले से जानकारी रहती है। जो उसमें रुचि ले आयें। जिन्हें अरुचि हो उन्हें दावत का मनोरंजन का-न आने पर बुरा मानने का-लालच देना व्यर्थ है। घसीट-बटोर कर जमा करने से उपस्थित अधिक दीखने पर भी प्रयोजन कुछ सधता नहीं। सम्मेलनों की सफलता अधिक उपस्थित के आधार पर आँकी जाती है, यह गलत है। उपस्थित लोगों की मनःस्थिति, सम्मेलन का लक्ष्य, उसमें दी गई प्रेरणा एवं उसे ध्यानपूर्वक सुने जाने का पर्यवेक्षण करके ही यह अनुमान लगाया जाना चाहिए कि सम्मिलित व्यवस्था में किया गया श्रम सार्थक हुआ या नहीं।

नवयुग का संदेश जनमानस में उतारने के लिये छोटी गोष्ठियों या बड़े आयोजनों की व्यवस्था करते समय उनमें सम्मिलित होने के लिए विचारशील व्यक्ति आ सकें इसके लिये विशेष प्रयत्न करने होंगे। व्यक्तिगत निमंत्रण पत्र, सम्पर्क साधन-आग्रहपूर्वक बुलाना जैसे उपायों को अपनाने की आवश्यकता होती है। उद्बोधनकर्त्ता चरित्र और ज्ञान की दृष्टि से परिपक्व होने चाहिए तथा प्रवचन शैली में प्रौढ़ता रहनी चाहिए। बैठक का स्थान सुरुचि पूर्ण रहे अन्यथा आमंत्रित लोग अश्रद्धा लेकर लौटेंगे और उन्हें दुबारा फिर कभी आयोजन में बुला सकना कठिन हो जाएगा। इतनी बातों को ध्यान में रखकर चला जाय तो समझना चाहिए कि जो मिलन व्यवस्था बनाई गई है वह सफल सिद्ध होगी, भले ही उसमें उपस्थित कम ही क्यों न हो? लोकरंजन के लिए ध्यान रखा जा सकता है। संगीत स्वभावतः सबको रुचिकर होता है उसका भी आदि अन्त में ध्यान रखा जा सकता है। यदि गाने-बजाने तथा दूसरे मनोरंजनों में ही समय बीत गया और तथ्यपूर्ण चर्चा न हो सकी, हलकी-फुलकी बातें ही चलती रहीं तो, समझना चाहिए कि विनोद व्यवस्था ही बनी। रंगारंग कार्यक्रम हुआ। नवयुग के अवतरण के लिये मानस में जो प्राण संचार अभीष्ट था उसकी पूर्ति के लिये सम्मेलन किस हद तक किस प्रकार सफल हो सकते हैं, उसका ध्यान आयोजनकर्ताओं को आदि से अन्त तक बना रहना चाहिए। अनेक वक्ता अनेक ढंग से अनेक बातें एक मंच से बोलें तो सुनने वालों का कौतूहल तो बढ़ता पर उपस्थित लोगों के पल्ले कुछ नहीं पड़ता, वरन् वे यह असमंजस लेकर जाते हैं कि वक्ताओं में से अनेकों ने जो अनेक बातें कहीं, उनमें से किसे स्वीकार किया जाय किसे नहीं। मात्र विद्वान्, ज्ञानी, महात्मा, प्रतिष्ठित आदि की बात सोचकर किसी को भी कुछ भी कहने के लिये मंच पर बिठा देना भारी भूल है। इससे जनता की कुसेवा होती है। वक्ता का सही चुनाव या सही विषय का निर्धारण न करके कुछ भी प्रवचन आरम्भ करा देना उपस्थित लोगों का समय और आयोजनकर्त्ताओं का श्रम बर्बाद करना है। पाँच हजार जनता के सामने प्रवचन करने के लिए कोई बेतुका आदमी बिठा दिया और वह एक घंटे बेसिलसिले की बातें करता रहा तो पाँच हजार घंटे नष्ट हुए। अब सात घण्टे का एक पूरा श्रम दिन माना जाता है। पाँच हजार घंटे में ७११ श्रम दिन हुए। हर दिन की कीमत १५) मानी जाय तो यह राशि ७११x१५=१०६६५) हुई जनता का इतना समय और श्रम बर्बाद करना सरासर अन्याय है।

किसी मोटे आदमी को बकवास करने का अवसर देकर उस एक आदमी को प्रसन्न भले ही किया जा सकता है। हँसी-दिल्लगी की बातें कहलाकर लोगों का मनोरंजन भले ही कर लिया जाय, पर आयोजन के मूल उद्देश्य की इससे तनिक भी पूर्ति न होगी। सम्मेलन में चरित्रवान और विद्वान वक्ता बहुत सोच-विचार कर निश्चित करने चाहिए। जो निश्चित हों उन्हें भी कई दिन पूर्व मिशन के अनुसार विषय चुनकर देना चाहिए। वे उस विषय पर तैयारी कर सकें, इसलिए आवश्यक जानकारी

देने वाला साहित्य उन्हें समय से पूर्व ही दे देना चाहिए। कोई विषय तैयार करने के लिए हर कुशल वक्ता को काफी पढ़ना, ढूँढ़ना-सोचना और नोट करना होता है। हर प्रोफेसर यही करता है। केवल वज्रमूर्ख या ब्रह्मा जैसे पारंगत ही इस प्रकार के दावे कर सकते हैं कि उन्हें बोलने से पूर्व सोचने या निश्चय करने की आवश्यकता नहीं होती।

सम्मेलनों के आयोजन ढाई से तीन घंटे के होने चाहिए। आरम्भ में या अन्त में संगीत। परिचय प्रस्तावना का आरम्भ और धन्यवाद समापन का अन्त पन्द्रह-पन्द्रह मिनिट। कुल आधा घण्टा। संगीत आधा घण्टा। एक प्रवचन डेढ़ घण्टा। इस प्रकार ढाई घण्टा पूरा हो जाता है। सामान्यतया एक दिन के लिये एक वक्ता पर्याप्त होना चाहिए। पर यदि अधिक उपस्थित हों और कइयों को बुलवाने की आवश्मकता हो तो आधा घण्टा से कम समय किसी को भी नहीं देना चाहिए। अधिकतम दो तीन वक्ता ही पर्याप्त हैं। सभी मिशन की विचारधारा व्यक्त करें और उसके लिये मिशन के साहित्य के आधार पर बोलने की तैयारी करके आयें। यह बड़े सम्मेलनों की बात है। एक डेढ घण्टे की गोष्ठियों में एक वक्ता ही पर्याप्त हैं।

उपस्थित लोगों के बड़े को भेड़ों की तरह नहीं वरन् पंक्तिबद्ध बिठाने के लिये स्वयं सेवकों की पूर्व व्यवस्था होनी चाहिए। स्त्रियों की प्रथम पंक्ति हो। बच्चे अक्सर आगे आ बैठते हैं और गड़बड़ी फैलाते रहते हैं। उन्हें पीछे या एक कोने में बिठाना चाहिए। उन पर एक व्यक्ति अलग से नियुक्त करना चाहिए। क्योंकि वे महत्वपूर्ण प्रवचन समझ तो पाते नहीं, चंचल स्वभाव होने से आपस में बात करके, झगड़ते, भागते हैं तथा दूसरी तरह की गड़बड़ियाँ पैदा करके सम्मेलन का वातावरण बिगाड़ते हैं। अच्छा तो यह है कि उन्हें प्रथक ही रखा जाय। यदि बिठाना हो तो उन पर विशेष रूप से नियंत्रण रखा जाय।

जूते, चप्पल या तो लोग पहने ही रहें या फिर उनकी रखवाली का प्रबंध वैसा ही रहे जैसा कि साइकिल स्टैण्ड पर। यह सुव्यवस्था मंदिरों में रहती है। ऐसा न करने से जूते-चप्पल चोरी जाते और बदलते हैं। इससे जिनकी चीजें खोती हैं वे दुःख पाते हैं।

सम्मेलन स्थान की स्वच्छता, खुलापन, सज्जा, बिछावन, आच्छादन, मंचन, लाउडस्पीकर, रोशनी आदि सब कुछ पहले से ही सुन्दर नयनाभिराम बनाया जाय। सादगी के साथ सज्जा का मिला देना ही कला है। सम्मेलन स्थल कलात्मक बनाने से सुरुचि, तत्परता एवं दिलचस्पी का परिचय दिया जाना चाहिए। मंच पर वे ही लोग बैठे जिन्हें बोलना है। जिन्हें बोलना नहीं है ऐसे लोग भी अपनी मूर्खता अथवा शान दिखाने के लिये बिना आग्रह के ही मचक कर मंच पर जा बैठते हैं। ऐसे लोग अहंकार एवं उपहास्पद न बनने पायें इसलिये उनकी हरकत उसी समय टोक देनी चाहिए जब ये आरम्भ कर रहे हों।

जिस-तिस बहाने बेकार लोगों का जमघट इकट्ठा करके विचार क्रान्ति के उद्देश्य से किये जाने वाले सम्मेलनों का स्तर न गिराने की नीति अपनाई जानी चाहिए और प्रयत्न भी किया जाना चाहिए कि उसमें समझदार वर्ग के लोग अधिकाधिक संख्या में उपस्थित हों। इसके लिए उस वर्ग को अपने उद्देश्य और कार्यक्रम से भी परिचित कराने की आवश्यकता होगी। विज्ञ लोग व्यस्त रहते हैं। समय का मूल्य समझने के कारण वे ऐसे ही किसी सभा-सम्मेलन की सूचना पाते ही दौड़ नहीं पड़ते। उन्हें यह विदित कराना पड़ता है कि वहाँ जाने की क्या उपयोगिता है। अब सभा-सम्मेलनों में शामिल होने का शौक भी घट गया है। क्योंकि ऐसे आयोजन मनचले लोगों द्वारा ऐसे ही सस्ती वाहवाही लूटने-नेतागिरी कमाने-नाम छपाने और चंदा चाटने की ओछी दृष्टि से किये जाते रहते हैं।

वहाँ पहुँचने पर उथली उछल-कूद के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। इस असमंजस में विचारशील लोग तभी किन्हीं आयोजनों में सम्मिलित होने का निश्चय करते हैं, जब उन्हें उस प्रयास के द्वारा कोई ठोस जनहित होने की सम्भावना प्रतीत होती है। इस तथ्य का ध्यान न रखते हुए हमें आयोजनों की सूचना पर्चे, पोस्टर, लाउडस्पीकर आदि से जनता को देते समय एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि मिशन के उद्देश्यों, योजनाओं एवं गतिविधियों से सर्वसाधारण को अधिकाधिक परिचित कराया जाय। इसके लिए सम्मेलनों में उपस्थित होने के लिये जिन्हें आमन्त्रित करना है उनकी प्रयत्नपूर्वक लम्बी सूची बनाई जाये।

भिन्न-भिन्न मुहल्लों के लोगों से पूछकर इस तरह की लिस्ट पहले ही तैयार करली जाय। इनमें न बहुत बडे अमीर, विद्वान, अफसर व्यस्त व्यक्ति हों और न रुग्ण, वृद्ध, अशक्त, असमर्थ, अस्त-व्यस्त लोग हों। मध्यम श्रेणी के लोग ही काम के हो सकते हैं, इसको नोट करके रखा जाय। ऐसे लोगों के पास जाने, सम्पर्क साधने एवं आमन्त्रित करने के लिए दो-दो की ऐसी टोलियाँ बना दी जाएँ जो उनके स्थान, समय शक्ल एवं स्वभाव से परिचित हों। स्मरण रहे ऐसे लोगों की उपस्थित बिना व्यक्तिगत निमन्त्रण के और किसी प्रकार नहीं हो सकती।

इस आमन्त्रण सम्पर्क में छपे निमन्त्रण पत्र आवश्यक हैं। साथ ही मिशन का परिचय एवं सम्मेलन का उद्देश्य बताने वाले पत्रक भी अवश्य हों। ऐसे पत्रक मथुरा से सस्ते मूल्य पर मिलते हैं। आमन्त्रण की सूची बड़ी भी रखी जाय, कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जिनके उपस्थित होने की आशा नहीं की जा सकती। किन्तु उन्हें मान देने, सहानुभूति पाने एवं मिशन का परिचय कराने की दृष्टि से भी आमन्त्रण देने में हर्ज नहीं है। प्रचार परिचय भी तो अपना एक उद्देश्य है। जो न आ सकें वे कम से कम इन महान् प्रयासों से तो परिचित रहने ही चाहिए। इस सम्पर्क प्रयत्न को पूरा महत्व मिलना चाहिए।

प्रचार आमन्त्रण पर पैसा और समय खर्च करने में कंजूसी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि यह भी सम्मेलन का उद्देश्य पूरा करने वाला उसका परोक्ष भाग है। इससे भी उपस्थित लोगों को प्रभावित करने की तरह ही न्यूनाधिक मात्रा में लाभ मिलता ही है।

बड़े पोस्टर गलियों के मध्य टाँगी जाने वाली कपड़े पर लिखी सूचनाएँ दीवारों पर लेख- जैसे प्रयत्नों से सर्व साधारण को आयोजन की सूचनाएँ दी जानी चाहिए। प्रभात फेरियाँ निकलनी चाहिए। लाउडस्पीकर से सूचना प्रसारण होते रहना चाहिए। छोटे साइज के पत्रक बड़ी संख्या में बँटते रहने चाहिए। इस प्रकार के अन्यान्य प्रयत्न जो जनता को आयोजन की अधिकाधिक सामाजिक जानकारी देते रह सके, पहले से ही चलते रहने चाहिए।

आयोजनों में निमंत्रित करने के लिये लम्बी सूची बनाने और उनसे आमंत्रण देने के बहाने मिलने जाने को प्रकारन्तर से एक परोक्ष सम्मेलन ही माना जाय। उनने अपने यहाँ आकर मिशन की विचारधारा का परिचय प्राप्त किया अथवा संयोजकों ने उन्हें घर जाकर परिचय कराया दोनों ही दृष्टि से एक ही उद्देश्य की पूर्ति होती है। अस्तु, इसे प्रचार अभियान का अति महत्वपूर्ण पक्ष माना जाय और उसे करने योग्य आवश्यक कार्यों में ही सम्मिलित रखा जाय। सुविधा हो तो एक बार निमंत्रण देने के लिये दूसरी बार फिर स्मरण दिलाने और आग्रह करने के लिये भी जाया जा सकता है। यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि दोनों बार कुछ न कुछ प्रचार साहित्य उन तक पहुँचाने की बात को स्मरण रखा जाय। एक बार में एक पत्रक से एक सम्पर्क से जो बात नहीं बनी थी वह दो बार सम्पर्क साधने दो प्रचार पत्रक पहुँचाते दो बार चर्चा करने से अधिक अच्छी तरह हो सकती है। अस्तु, निमंत्रण दो किश्तों में देने की योजना बनाई जाय। एक को अनुरोध कहा जाय दूसरे को आग्रह।

आगन्तुकों के आगमन के समय संयोजनकर्ताओं में से कुछ प्रमुखों को स्वागत द्वार पर रहना चाहिए । आने वाले का अभिवादन, आने की प्रसन्नता, अभिव्यक्ति, कृतज्ञता को प्रकट करने वाले कुछ शब्द, यथा स्थान बिठाना जैसे कार्यों के लिये कितने ही सुयोग्य संयोजकों को संलग्न रहना चाहिए। स्टेज आदि की व्यवस्था सामान्य बुद्धि से सामान्य स्वयं सेवक सँभाल सकते हैं। निमंत्रण देने जाना और आने पर स्वागत करना बड़ा काम है। यह कार्य प्रमुख व्यक्तियों को स्वयं ही सम्पन्न करना चाहिए।

पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में भगवान कृष्ण ने आगन्तुकों के पैर धोने का काम स्वयं अपने जिम्मे लिया था। इसमें उनकी नम्र विनयशीलता भी थी और साथ ही दूरदर्शिता भी। आगन्तुकों का उपस्थित होना एक अनुग्रह माना जाय और उनके प्रति उसी स्तर की विनम्र अभिव्यक्ति की जाय तो समझना चाहिए कि उन्हें अपना बना लिया गया। इस प्रकार अनुकूल मन:स्थितियों में बना कर उपस्थित लोगों को आयोजन में दी गई प्रेरणाओं से अधिक प्रभावित किया जा सकता है। यह अनुकूलन ही भविष्य के जनसमर्थन का द्वार खोलता है और सार्वजनिक प्रयोजनों में जनसहयोग से ही कोई प्रयत्न सफल होते हैं।

सार्वजनिक आयोजनों का एक उद्देश्य जन-समुदाय को एकत्रित करके उन्हें प्रेरणाप्रद विचारों से प्रभावित करना है। हर व्यक्ति से मिलने और अलग-अलग बातें करने में बहुत समय नष्ट करके थोड़ा-सा लाभ प्राप्त हो सकेगा। सम्मेलन में एक जगह एकत्रित हुई जनता को एक ही समय में विचार देने से कम समय में अधिक काम होता है इसलिये जन जाग्रति के लिये उनकी उपयोगिता असंदिग्ध है। इसलिये छोटे-बड़े जहाँ जैसी योजना बनाई गई हो वहाँ *इस प्रकार के सम्मेलन किए जाने चाहिए।* लोक-शिक्षण से जन-मानस को अनुकूल बनाया जाता है। इस अनुकूलता से समर्थन, समर्थन से सहयोग, सहयोग से अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति होती है। सम्मेलनों का प्रबन्ध एक प्रकार से बीजारोपण है, जिससे उपयोगी फसल काटी जा सकती है।

सम्मेलनों का एक उद्देश्य यह है कि आयोजनों के ढाँचे खड़े करने और व्यवस्था सँभालने के लिए कुशल कार्यकर्त्ता प्रशिक्षित किए जाएँ। यह कार्य भी साथ-साथ ही चलना चाहिए। उनकी व्यवस्था में हाथ बँटाने वाले कार्यकर्त्ताओं की, स्वयं सेवकों की संख्या किस प्रकार बढ सकती हैं और उनसे न्यूनाधिक मात्रा में किस प्रकार श्रम सहयोग लिया जा सकता है, उन्हें क्या उत्तरदायित्व सौंपा जा सकता है, यह लम्बी तैयारी आयोजनकर्त्ताओं के मस्तिष्क में रहनी चाहिए । यों पैसा खर्च करके नौकरों से कुछ भी कराया जा सकता है। फिर सम्मेलनों की व्यवस्था पैसा देकर क्यों नहीं कराई जा सकेगी? परन्तु इससे भावनाशील लोगों का श्रमदान संग्रह करने से जो दूरगामी परिणाम होते हैं वे न हो सकेंगे।

माना कि अनुभवहीनता के कारण नये लोग उतना अच्छी तरह काम नहीं कर सकते हैं जैसा कुशल मजदूर कर लेते हैं। इस कमी को दूर करने के लिये या तो उनके साथ स्वयं लगकर उन्हें काम सिखाना चाहिए अथवा उन्हें सहायक मजदूर देकर सुविधा पैदा करनी चाहिए। हर हालत में अधिक कार्यकर्त्ताओं का आधार श्रमदान लेने- उनमें सहयोग करने का उत्साह पैदा करने एवं भविष्य में अधिक सुयोग्य सिद्ध होने के लाभों को देखते हुए इस श्रमदान संचय को पूरा महत्त्व दिया जाना चाहिए, और इसे धन दान से कम मूल्य का नहीं समझना चाहिए। धन के बिना काम रुके नहीं रहते, उसकी व्यवस्था तो कर्ज लेकर या घर बेचकर एक आदमी भी पूरी कर सकता है। किन्तु श्रम सहयोग के बिना कोई [illegible] गतिशील हो ही नहीं सकता। इसके लिये आयोजनकर्ताओं की एक कुशल टीम का होना हर दृष्टि से आवश्यक है। हर बार के या आयोजन में नये-नये

सहयोगी, श्रमदानी ढूँढ़े जाने चाहिए और उनमें प्रत्येक के लिये काम ढूँढ़ने और देने के लिये गम्भीरतापूर्वक सोचा जाना चाहिए। निमंत्रण देने-प्रचार में संलग्न रहने-उत्सव के समय व्यवस्था में हाथ बँटाने के लिये स्वयं सेवक को ड्यूटी देने-पंडाल यज्ञशाला आदि श्रमदानपूर्वक बनाने, सजाने जैसे अनेक काम सहयोगी कार्यकर्त्ताओं के लिये सोचे और दिये जा सकते हैं। इसलिये जितने अधिक श्रम सहयोगी मिल सके उन्हें ढूँढ़ने के लिए उतनी ही सूझ-बूझ का परिचय देना चाहिए। जितना कि धन सहयोग प्राप्त करने पर दिया जाता है।

प्रचुर साधन इस प्रकार जुटेंगे

जनमानस का भावनात्मक परिष्कार ही युग परिवर्तन का प्रधान आधार है। उसके लिये गोष्ठियों से लेकर सम्मेलनों तक के अनेकानेक कार्यक्रम बनाने पड़ेंगे। वर्ष में एक बार का वार्षिकोत्सव तो हर शाखा को करना ही होता है। इसके अतिरिक्त बसन्तपर्व, गायत्री जयन्ती, गुरु पूर्णिमा पर एक-एक दिन के और दोनों नवरात्रियों में नौ-नौ दिन के सत्र आयोजन करने होते हैं। इतना आयोजन कार्य तो हर जीवन्त शाखा को स्थानीय ही करने होते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ जीवट है वहाँ अपने घर से बाहर निकल कर पड़ौस में भी प्रकाश फैलाये बिना नहीं रह सकते। नई शाखाएँ स्थापित करने का प्रयास नई पीढ़ी बनाने के समान है। केला अपनी जड़ों में से नये-नये सजातीय पौधे उगाता रहता है। पेड़ के तने में से शाखा फूटती है और शाखाओं में से उपशाखाएँ निकलने का सिलसिला चलता है। सभी जीवित प्राणी अपनी वंश वृद्धि करते हैं। जीवन का चिह्न विकास है। इसे शाखा प्रसार भी कह सकते हैं। युग निर्माण परिवार का जहाँ जीवित संगठन होगा, वहाँ उसका विकास-विस्तार पड़ौस के क्षेत्र में हुए बिना रह ही नहीं सकता। इन नई स्थापनाओं से पहले भी उस क्षेत्र में सम्मेलन आयोजन करने होते है और जब वहाँ एकत्रीकरण संगठन का शुभारम्भ होता है, तो उसका रहने तक संरक्षण, सहयोग भी देना होता है। इसका तात्पर्य है वहाँ भी काफी समय तक सम्मेलन आयोजनों की व्यवस्था उन्हीं जीवन्त शाखाओं को करनी होती है, जिसने कि वह स्थापना करने का उत्साह दिखाया था। इसके अतिरिक्त जहाँ संगठन नहीं है, वहाँ भी प्रचार कार्य करना आवश्यक है अन्यथा जहाँ शाखाएँ नहीं हैं वहाँ अन्धकार ही पड़ा रहेगा। तब तो कुछ थोड़े से स्थानों में ही यह प्रकाश सीमित होकर रह जाएगा। आगे प्रसार विस्तार की परिपाटी तो चल ही नहीं सकेगी। प्रकाश का विस्तार हमारा लक्ष्य है और उसके लिये निरन्तर प्रयत्नरत रहना आवश्यक है।

इस क्षेत्रीय प्रसार विस्तार के सिलसिले में आरम्भिक खर्च तो समर्थ शाखाओं को ही करना होता है। पीछे तो स्थानीय सहयोग भी मिलने लगता है और वह नये क्षेत्र भी स्वावलम्बी बन जाते हैं। पर आरम्भ में ही वैसा नहीं बन पड़ता। स्पष्ट है कि हर छोटे-बड़े सम्मेलन के लिये कुछ तो खर्च चाहिए ही। यह प्रारम्भिक मूलधन जुटाने का उत्तरदायित्व उन्हीं के कंधों पर आता है जिन्हें इस विकास-विस्तार में अभिरुचि है। ऐसी उदीयमान शाखाओं को अपने क्षेत्र में जन-जीवन का नव-जाग्रति का नवयुग का संदेश सुनाने के लिये व्यापक कार्यक्रम बनाने होंगे और उनके लिये अर्थ व्यवस्था जुटानी होगी। हर आयोजन के लिए हर जगह हर बार चंदा किया जाय तो माँगने वालों का स्तर गिर जाता है। लोग उन्हें याचक वर्ग का मान लेते हैं और सम्पर्क में आने से कतराने लगते हैं। सर्वसाधारण से चंदा माँगना हो तो वह वार्षिक रूप में ही ले सकते हैं। वर्ष में एक बार वार्षिकोत्सव के या किसी दूसरे अवसर पर चंदा कर लेना उचित है। लोग उसे वार्षिक अनुदान के रूप में स्वीकार भी कर लेते हैं और अन्य टैक्सों की तरह उसे भी बिना किसी कठिनाई के देते रहते हैं। बार-बार माँगने और बार-बार देने से उस क्षेत्र में भी उपेक्षा और अवमानना आरम्भ हो जाता है। अस्तु, ज्ञान यज्ञ का प्रसार-विस्तार करने के लिये अर्थ साधन जुटाने वाले कुछ स्थायी स्रोत होने चाहिए।

यह कार्य एक ही प्रकार हो सकता है कि सक्रिय सदस्य इस अनुदान की व्यवस्था अपने घर में अपने आप से आरम्भ करें और उसका अनुकरण करने के लिये अन्य लोगों को प्रोत्साहित करें। स्वयं कृपणता धारण किये रहने वाले दूसरों को प्रभावित नहीं कर सकते। त्याग और बलिदान की दृष्टि से अपना आदर्श उपस्थित करने वाले ही दूसरों से वैसा करा सकने में सफल होते हैं। जो अपनी चमड़ी बचाते रहते हैं और दूसरों को आदेश देते रहते हैं उनकी वाणी विदूषकों, अभिनेताओं जैसी हो जाती है। मुँह सामने लोग भले ही न करें पर पीठ पीछे मजाक बनाते हैं और कहते हैं "खैरात घर से आरम्भ की जाती है।" स्वयं आगे बढ़ने वालों के पीछे ही अनुयायियों की कतार चलती है। यदि सचमुच स्वेच्छा-सहयोग एकत्रित करना हो तो इसके लिये पहले समर्थ शाखा के सदस्यों को उसका शुभारम्भ अपनों से ही करना चाहिए। अंश दान को पूजा-उपासना, स्वाध्याय, तप-साधन की तरह ही पवित्र धर्मकृत्य माना जाना चाहिए। अंश दान में श्रम समय का एक भाग लगाते रहना तो अनिवार्य है ही। आर्थिक अनुदान को भी आवश्यक माना गया है। युग निर्माण मिशन के हर सच्चे सदस्य को एक घण्टा समय और दस पैसा नित्य ज्ञान यज्ञ के लिये लगाते रहने की शर्त कर दी गई है। इस शर्त के पालन करने से ही यह जाना और माना जा सकता है कि निष्ठा में गहराई और सच्चाई है अन्यथा जीभ के वकबास करते रहने में तो तोता भी प्रवीण होता है। "पर उपदेश कुशल" तो कोई उचक्का भी हो सकता है। युग निर्माण परिवार के सदस्य इस श्रेणी के नहीं हो सकते।

उन्हें अपनी आस्था का न्यूनतम परिचय ज्ञान घट स्थापित करने और सम्पर्क क्षेत्र में थैला पुस्तकालय चलाने के रूप में देना ही होता है।

समर्थ शाखाएँ अपने सभी सदस्यों को ज्ञानघट स्थापित करते रहने के लिये बाध्य करें और उन्हें बतायें कि यह सदस्यता की अनिवार्य शर्त है । इसके बिना मिशन की सदस्यता अधूरी ही मानी जाती है। जो इतना नगण्य-सा त्याग-अनुदान प्रस्तुत न कर सकें उनकी उदार आदर्शवादिता, सजीव तत्परता का लाभ नव-निर्माण आन्दोलन को मिल ही नहीं सकेगा। मौखिक सहानुभूति से क्या काम चलेगा? बातों के बताशे खाकर किस प्रकार पेट भरेगा। सदस्यों में से जो शिथिलता दिखा रहे हों उन्हें उस उपेक्षा से उबारना चाहिए। ज्ञान घट हर सदस्य के घर में रहना चाहिए।

इन दिनों सभी जीवन्त शाखाओं ने यह नीति निर्धारित कर ली है कि ज्ञान घटों की राशि का आधा पैसा प्रचार साहित्य के रूप में वापस लौटा दिया जाता है ताकि उसके सहारे वह थैला पुस्तकालय चलता रहे। इस प्रयोजन के लिये सस्ती प्रचार सामिग्री इन्हीं दिनों छपी है। पत्रिकाएँ भी झोला पुस्तकालय के रूप में पढ़ाई जा सकती है। इसके लिये ज्ञानघट स्थापनकर्त्ता को अपनी तीन रुपया मासिक की राशि में से आधा धन प्रचार साहित्य के रूप में वापिस मिल जाता है और वह उसके सहारे अपने सम्पर्क क्षेत्र में झोला पुस्तकालय चलाता रहता है। शेष आधी राशि शाखा संगठन द्वारा व्यापक क्षेत्र में ज्ञान प्रसार के काम आती है। इसका सर्वप्रथम उपयोग चल पुस्तकालय के लिये होता है। यह ज्ञान रथ हर जगह आवश्यक है। जहाँ यह चलते रहेंगे वहाँ जन जाग्रति और सक्रियता बनी रहेगी और नये सहयोगी मिलते रहेंगे। जहाँ चल पुस्तकालय नहीं चलते वहाँ देर-सबेर से शिथिलता आती और निष्क्रियता होनी निश्चित है। व्यक्तिगत रूप से झोला पुस्तकालय और सामूहिक रूप से चल पुस्तकालयों का चलना यह प्रथम चरण है जिनके सहारे की सक्रियता बनी रहने और बढ़ती रहने की आशा की जा सकती है। जिसके लिये आवश्यक है कि एक सेवाभावी कार्यकर्त्ता स्थायी रूप से नियुक्त किया जाय। उसके पारितोषिक की राशि इन ज्ञानघटों की आधी बचत से शाखा द्वारा पूरी की जाय। कुछ कमी पड़ती होगी तो उसकी पूर्ति पुस्तक विक्रय के कमीशन से भी होती रह सकती है।

दोपहर से शाम तक चार घण्टे नित्य चलता रहे तो भी काम चल सकता है। इसके लिए पारितोषिक भी थोड़ा ही देना पड़ेगा। जहाँ अर्थ-व्यवस्था ठीक हो वहाँ पूरे समय का ऐसा कार्यकर्त्ता रखा जाय जो प्रातः दो घण्टे सदस्यों से सम्पर्क साधने, जन्म दिन मनाने जैसे कार्य करता कराता रहे। रात को स्लाइड प्रोजेक्टर के माध्यम से अथवा घरों में कथा कहकर जन जाग्रति का कार्य करता रहे। स्थानीय प्रचार के लिये ज्ञान घटों की पूँजी काम करती रह सकती है। इसमें से कुछ बचता हो तो उससे शाखा के लिये ऐसे उपकरण खरीदे जाने चाहिए जो समीपवर्ती क्षेत्र में भी प्रचार प्रयोजन के लिए आवश्यक हों।

ऐसे साधनों में (१) स्लाइड प्रोजेक्टर (२) लाउडस्पीकर (३) टेप रिकार्डर-इन तीन उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। यह तीनों प्रायः दो हजार की पूँजी से खरीदे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञ कृत्य में काम आने वाले आच्छादन, पात्र उपकरण बनाने की आवश्यकता होती है, जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सके। उन्हें बार-बार न खरीदना पड़े। आयोजनों में हर जगह यह वस्तुएँ खरीदी जाएँ तो पैसा भी लगता है और बाद में वे वस्तुएँ निरर्थक हो जाती हैं। यदि यह उपकरण किराये पर मिल जाएँ तो किसी भी आयोजन का खर्चा प्रायः आधा बच जाता है और जगह-जगह आयोजन बड़ी आसानी से कम खर्च में सम्पन्न होते रह सकते हैं। इसके लिए छाया मण्डप, बिछावन, सामग्री, घी होमने की तश्तरियाँ, काष्ठपात्र, पंचपात्र, पूजा की चौकी सजाने के चित्र आदि, आरती उपकरण जैसे साधन जुटाने की आवश्यकता पड़ती है।

नौ कुण्डों के लिये उपर्युक्त साधन एक हजार से भी कम पूँजी में बन सकते हैं। पाँच कुण्डों के लायक साधन तो किफायत करने पर पाँच सौ के लगभग भी बन सकते हैं। इसी प्रकार स्थानीय चल पुस्तकालय की स्थापना में प्रायः एक हजार की पूँजी लगानी पड़ती है। दो हजार के यंत्र-उपकरण एक हजार के यज्ञ साधन, एक हजार का चल पुस्तकालय- यह चार हजार की पूँजी तो हर शाखा के पास होनी ही चाहिए। इसके लिए एक बार साहस करके यह सारे साधन जुटा लेने चाहिए। अपने वार्षिकोत्सव के अवसर पर इसके लिए अधिक दौड़-धूप करके चन्दा वसूली की कुछ बड़ी योजना बनाई जा सकती है। धनीमानी लोगों में से जो मिशन के उद्देश्यों और क्रियाकलापों से परिचित हों उनसे एक-एक वस्तु खरीद देने के लिये कहा जा सकता है।

बड़ा कदम यह है कि हम लोग दस पैसे का ज्ञान घट रखकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री न मान लें । इसमें अधिक उदारता दिखाएँ। महीने में एक-एक दिन की आजीविका देने की बात सदस्यों की प्रौढ़ता का चिह्न है। इससे अधिक अनुदान में परिपक्वता की झाँकी मिलती है। दस पैसा रोज तो टोकन (प्रतीक) मात्र है। यह राशि इतनी छोटी है कि इस घोर महँगाई के जमाने में उसे उपहासास्पद ही कहा जा सकता है । इस राशि से कुछ खरीदने जाया जाय तो उसके बदले में बच्चों को बहलाने जैसी ही कुछ वस्तु मिल सकेगी। अच्छी चाय का प्याला इन दिनों ४० पैसे का मिलता है। दस पैसे में चौथाई कप अर्थात् इतनी चाय मिलेगी जिसे एक घूँट में पिया जा सके। सस्ती रोटी पच्चीस पैसे में मिलती है। एक तिहाई रोटी का टुकड़ा पाकर तो कुत्ते को भी संतोष

नहीं होता। भिखारी भी अब पच्चीस पैसे से कम नहीं माँगते। दस पैसे देने पर इस तरह आकृति बनाते हैं मानो उनकी माँग नहीं सुनी गई और ऐसे ही बहकाकर भगाया गया हो। दस पैसे के छोले चने, टाफी, लेमचूस लेकर बच्चे मन भले ही बहला लें। जलपान उनका भी नहीं होता।

इतनी छोटी राशि सदस्यता की शर्त में इसलिए जोड़ी गई है कि वह निर्धन-से-निर्धन के लिए भी सरल रह सके। एक घंटा समय इसलिए है कि उसे भावनाशील व्यक्ति व्यस्त-से-व्यस्त स्थिति में रहते हुए भी बिना किसी अड़चन के निकाल सके। यह न्यूनतम अंशदान है। इतने भर को ही यदि अधिकतम - अन्तिम मान लिया गया हो तो समझना चाहिए कि प्रगति का मार्ग समाप्त हो ही गया। इतने न्यूननतम जल सिंचन से तो मिशन को जीवित भले ही रखा जा सके उसका विकास नहीं हो सकता ।

यदि वस्तुतः युग निर्माण का महत्व समझा गया हो और उसमें अपना योगदान करने की उमंग उठी हो तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि भावनाशील कर्मनिष्ठ कार्यकर्त्ता अपने अंश दान की मात्रा बढ़ाएँ। समय भी एक घण्टे से अधिक दें और पैसे की राशि दस पैसे से बढ़ाकर महीने में एक दिन की आमदनी जितनी कर दें । जहाँ इतना उदार साहस मिशन के कर्मनिष्ठ सदस्यों में उभरे वहाँ समझना चाहिए कि शैशव ने प्रौढ़ता के क्षेत्र में प्रवेश कर लिया। बच्चे तो बालविनोद करते रह सकते हैं। महत्वपूर्ण कार्यों की तो प्रौढ़ों से ही अपेक्षा की जा सकती है। समय और पैसे का अंशदान जहाँ प्रौढ़ता स्पर्श करने लगे वहाँ समझना चाहिए कि वस्तुतः उस क्षेत्र में प्रकाश-प्रसार के साधन जुट रहे हैं। वहाँ अर्थ व्यवस्था से लेकर अन्य आवश्यकताएँ सहज ही पूरी होती रहेंगी।

समय का विभाजन यदि स्वार्थ-परमार्थ के साझीदारी से किया जाय तो उसमें परमार्थ हिस्से में अब की अपेक्षा कहीं अधिक आ सकता है। आठ घण्टा कमाने के लिए, सात घण्टे सोने के लिये- पाँच घण्टा नित्य कर्म एवं अन्य कार्यों के लिये लगाते रहा जाय तो यह बीस घण्टा शरीर एवं परिवार के निर्वाह के लिए पर्याप्त होना चाहिए। शेष चार घंटा वे लोग परमार्थ के लिए बड़ी आसानी से निकाल सकते हैं, जो उसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता सच्चे मन से अनुभव करते हैं । शरीर निर्वाह एवं परिवार पोषण का अपना महत्व है। उसके लिए २० घंटे नित्य का समय पर्याप्त माना जाना चाहिए । जो शरीर और आत्मा दोनों का अस्तित्व अपने में मानते हैं और शरीर की तरह आत्मा की भी कुछ आवश्यकताएँ अनुभव करते हैं, उनके लिए परमार्थ के लिए, मानव जीवन की गरिमा बनाए रखने के लिए इतना अनुदान किसी भी प्रकार कठिन न पड़ेगा। वे अपना समय संतुलन भली प्रकार बिठा सकते हैं।

इसी प्रकार तीस दिन में २९ दिन की आमदनी से शरीर परिवार पोषण की व्यवस्था बनाकर एक दिन की आजीविका देश, धर्म, समाज और संस्कृति की महती आवश्यकता को पूरा करने में लगा सकते हैं। कठिनाई और कुछ नहीं एक ही है कि सच्चे मन से 'युग की माँग और अपने-अपने योगदान की आवश्यकता' को गंभीर पूर्वक समझा गया या नहीं। यदि नहीं तो फुरसत न मिलने से लेकर आर्थिक कठिनाई और याद न रहने जैसे अनेकों बहाने मौजूद हैं। किन्तु यदि वस्तुस्थिति गंभीरतापूर्वक समझी गई हो तो हर भावनाशील व्यक्ति एक घंटा समय और दस पैसा नित्य के प्रतीक से कहीं अधिक आगे बढ़ सकता है और अपनी उदारता के अनुरूप अंशदान के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है जो दूसरों के लिए भी अनुकरणीय हो सकें।

कुछ कहने लायक काम यदि सचमुच ही करना हो तो अग्रिम पंक्ति में खड़े होने वाले युग निर्माण मिशन के कर्मठ कार्यकर्त्ताओं को अपना अंशदान बढ़ाने के प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक सोचना चाहिए और उसका समाधान उदार महामानवों जैसी साहसिकता अपनाकर खोजना चाहिए। यदि इस सन्दर्भ में अच्छी सदाशयता काम कर रही होगी तो अपने आवश्यक संग्रह में से एक बार भी इतना कुछ दे सकना सुगम दिखाई पड़ेगा, जिसको पाकर मिशन को अपना कार्यक्षेत्र अनेक गुना फैला सकना सम्भव हो सके। परिवार के प्रति अपना मोह यदि विश्व परिवार के प्रेम में विकसित हो सके तो कुटुम्बियों के हित में अपना समस्त संचय गँवा देने की अपेक्षा यही अधिक उपयुक्त लगेगा कि घर-कुटुम्ब को स्वावलम्बन पूर्वक अपना निर्वाह करने दिया जाय और उत्तराधिकार में जो अतिरिक्त लाभ उन्हें देने की बात सोची गई थी वह मानवीय भविष्य को उज्ज्वल बनाने वाले महान प्रयोजन के लिए अर्पित किया जाय। इस मार्ग में वे लोग उतने बाधक नहीं होंगे जिन्हें मुफ्त का माल मिलने में कुछ कमी पड़ती दिखाई देती है।

मूल बाधा तो अपनी ही कृपण अनुदारता की है यदि वह किसी प्रकार घट सके तो अपने लोगों मे से ह इतना समय और इतना धन प्राप्त हो सकता है जिससे मिशन के प्रसार, विस्तार में समय और श्रम की जो पूँजी कम पड़ती है उसकी पूर्ति अति सरलतापूर्वक सम्पन्न हो सके।

नवनिर्माण की आवश्यकताएँ अत्यधिक बढ़ी-चढ़ी हैं। ध्वंस और पतन के आधार खड़े करने में मनुष्य जाति की कितनी अधिक प्रतिभा, सम्पदा, कुशलता, मेहनत का उपयोग हुआ है, तब कहीं मानवीय गरिमा को पतन के वर्तमान स्तर तक गिराने में सफलता मिली है। यदि पुनर्निर्माण करना हो तो ध्यान में रखना होगा कि ध्वंस सरल है- पतन सुगम है। उत्थान एवं निर्माण में उसकी अपेक्षा अधिक साधनों की आवश्यकता पड़ेगी। व्यक्ति, परिवार और समाज के नवनिर्माण का विश्वव्यापी क्रिया-कलाप सम्पन्न करने के लिये अपेक्षाकृत अधिक साधनों की ही आवश्यकता पड़ेगी। उन्हें जुटाने की बात

हमें गंभीरतापूर्वक सोचनी होगी और उसके लिये प्रबल प्रयत्न अपेक्षित होंगे। इन साधनों का संग्रह करने के लिए प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों को सामर्थ्यवान क्षेत्रों में उदारता दिखाने के लिए सहमत करना होगा।

साहित्य, कला, शासन, शिक्षा, विज्ञान, धर्म- जैसे सभी क्षेत्रों के सहयोग, अनुदान बड़ी मात्रा में आमंत्रित करने और जुटाने पड़ेंगे। इसके लिए प्रथम चरण हमारा अपना ही होना चाहिए। दूसरों को उदार अनुदान देने के लिए मात्र उपदेश देते रहने से भी कुछ तो काम बनता है, पर कोई बड़ा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जानकारी तो वाणी से भी दी जा सकती है, पर आदर्शों के लिए त्याग बलिदान की उदारता अपनाने के लिये अपना उदाहरण प्रस्तुत करने से कम में काम नहीं चलता। महामानवों की उदार परम्पराएँ इसी आधार पर बनी और चली हैं, उनने पहले अपने को होमा है तब उनके पीछे चलने को अन्य लोग उद्यत हुए हैं। इसका और कोई विकल्प नहीं है। यदि युग निर्माण अभियान के सदस्यगण इस तथ्य पर विचार कर सकें और उदार अनुदान का शुभारम्भ अपने आप से कर सकें तो वे देखेंगे कि बाहर से भी सहयोग की वर्षा होती है।

विचार क्रान्ति के लिए लोकशिक्षण की, लोकशिक्षण के लिए सम्मेलन आयोजनों की आवश्यकता रहेगी। इसके लिए टैपरिकार्डरों के माध्यम से विभिन्न वर्ग के लोगों को मिशन का संदेश सुनाने से लेकर पर्व-संस्कार, सत्र शिविर, गोष्ठी, सम्मेलन, आयोजन, संगीत, अभिनय, कथा, कीर्तन आदि का कोई भी स्वरूप क्यों न दिया जाय लोगों को इकट्ठा करने और उन्हें सामूहिक उद्बोधन देने की आवश्यकता बनी ही रहेगी। इस कार्य में प्रतिभाओं की एवं साधनों की व्यवस्था किसी न किसी प्रकार जुटानी ही होगी। यह कार्य एक व्यक्ति नहीं कर सकता। जनसहयोग ही इसका एकमात्र आधार है। जन सहयोग स्वेच्छा एवं सरलतापूर्वक बड़े परिमाण में मिल सके इसके लिए सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि उद्बोधनकर्ता को उस आदर्श पर विश्वास है या नहीं, जिसके लिए वह दूसरों को उकसा रहा है। जन साधारण के भावभरे सहयोग के लिये इस तथ्य को प्रमाणों की कसौटी पर खरा सिद्ध करना होगा कि अनुदान माँगने वाले वस्तुतः प्रामाणिक हैं। इसके लिए यदि कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त करनी अभीष्ट हों तो मिशन के प्रत्येक कार्यकर्त्ता को अपना आपा इस कसौटी पर कसे जाने और खरे सिद्ध होने के लिए प्रस्तुत करना चाहिए। हमारे अनुदान, समय और धन की दृष्टि से यदि अनुकरणीय बन सकें तो प्रचार-प्रसार के लिये किये जाने वाले आयोजनों के लिए ही नहीं- अगले दिनों आरम्भ होने वाले सुविस्तृत रचनात्मक कार्यों के लिए साधन सहज ही जुटते रहेंगे, उनमें कमी न पड़ेगी।

एक स्थान पर एकत्रित लोगों के लिए मन्दिर, चित्र प्रदर्शनी, यज्ञ आयोजन के दृश्य उपयोगी उद्बोधन प्रदान करते हैं। दूसरा उपाय यह भी है कि उत्सव स्थानों की शोभा-सज्जा के लिये बड़े साइज के आदर्श वाक्यों का उपयोग किया जाय। प्रेरणाप्रद चित्र भी इस प्रयोजन को पूरा करते हैं।

विभिन्न उत्सवों के उपयुक्त प्रेरणाप्रद वाक्य चुने और बड़े साइज में चित्रवत् बनाये जा सकते हैं। उन्हें उपयुक्त स्थान पर सुसज्जित रीति से टाँगा जाय तो न केवल उत्सव स्थान की शोभा बढ़ती है वरन् वहाँ उपस्थित होने वाले सभी लोग इन वाक्यों से चिन्तन की दिशाधारा एवं प्रेरणा लेकर जाते हैं। विवाह-शादियों, गायत्री यज्ञों, युग निर्माण सम्मेलनों , नवरात्रियों जैसे आयोजनों में उनकी प्रवृत्ति के अनुरूप चित्रों और वाक्यों की सज्जा की जा सकती है। जुलूसों में खाली हाथों एवं झुण्ड की तरह निकल जाना एक बात है और आदर्श वाक्यों के कपड़े पर लिखे 'बैनर' हाथ में लेकर चलना दूसरी । रास्ता चलते लोगों और उस क्षेत्र के निवासियों, दुकानदारों को यह पता चलता है कि यह समूह किस प्रयोजन के लिए अपना जुलूस-प्रदर्शन निकाल रहा है।

दीवारों पर आदर्श वाक्य लेखन से भी यही उद्देश्य पूरा होता है। उस रास्ते निकलने वाले अनेकों व्यक्ति उन्हें पढ़ते जाते हैं। इस प्रकार एक उपयुक्त स्थान पर चित्र, आदर्श वाक्य अपने एक वर्ष के जीवनकाल में भी हजारों-लाखों को अपनी मूक प्रेरणा देता रहता है और एक अच्छे-खासे वक्ता की भूमिका निभाता है। टीन पर स्टेन्सिल काटकर इस प्रकार का लेखन कार्य बेकार लोगों से भी कराया जा सकता है। उन्हें थोड़ी आजीविका मिल सकती है और मिशन का उपयोगी प्रचार कार्य होता रह सकता है।

लिफाफे, कार्ड, लैटर पैड आदि पर आदर्श वाक्य छप सकते हैं। रबड़ की मुहरें भी इधर से उधर आने जाने वाले कागजों के सहारे अपना प्रभाव अनेकों पर छोड़ सकती हैं। गोंद लगे 'स्टीकर' मेज, कुर्सी, आलमारी किवाड़, हैण्डबैग आदि पर चिपके रहें तो उन पर लिखी प्रेरणाएँ भी उधर देखने वाले लोगों को अभीष्ट उद्देश्यों का परिचय दे सकती हैं।

सम्मेलनों की आवश्यकता पूरी करने के लिये इस प्रकार के अन्य उपाय हैं जो जन-साधारण का ध्यान उत्कृष्ट चिन्तन एवं आदर्श कर्तृत्व के लिए बहते हुए युग प्रवाह की ओर आकर्षित कर सकते हैं।

○○○

बौद्धिक क्रान्ति की दिशा में कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कदम

बौद्धिक क्रान्ति की जनसंपर्क प्रक्रिया

भारत में बड़े सात लाख गाँव हैं । नगले, छोटे कस्बे, मजरे जोड़कर वे बीस लाख हो जाते हैं । इन सभी गाँवों में युग चेतना की जानकारी पहुँचानी और उसके सिद्धान्त समझाने हैं । प्रज्ञायुग का अवतरण समीप है; उसमें दूरदर्शी विवेकशीलता का स्वरूप, उद्देश्य और व्यवहार जन-जन को समझाना है, साथ ही प्रस्तुत अवांछनीयता, अनैतिकता, मूढ़-मान्यता तथा कुरीतियों के कारण होने वाले अनर्थों से भी अवगत कराया जाना है । इससे अगले दिनों जिस समता, एकता, सहकारिता, सज्जनता की नीति को अपनाना है, उसके महत्त्व को भी हृदयंगम कराना है । प्रज्ञा युग के चार आधार होंगे-समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी । इन सब बातों के लिए मनों में गुंजाइश पैदा करनी है और प्रचलन के नाम पर जो अविवेक और,अनर्थ हर दिशा में छाया हुआ है, उसका उन्मूलन भी करना है । यह कृत्य ''हम बदलेंगे युग बदलेगा'' की नीति के अनुरूप चलेगा और ''नर और नारी एक समान; जाति देश सब एक समान'' का आदर्श हृदयंगम कराने पर ही सम्भव होगा ।

इन दिनों नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र में अनेक कुरीतियाँ प्रचलित हैं । उनके विरुद्ध जनमत और आक्रोश भी जाग्रत करना है । विषमता का हर क्षेत्र में बाहुल्य है । उसके स्थान पर एकता और समता के सिद्धान्तों को मान्यता मिल सके, ऐसा वातावरण बनाना है ।

इसके लिए जन-सम्पर्क साधने की आवश्यकता होगी । हर भाषा में सस्ता प्रचार साहित्य छपना है और दीवारों पर आदर्श वाक्य लेखन का प्रचलन इस स्तर पर करना है, जिसे शिक्षित पढ़ सकें और अशिक्षित, पढ़ों द्वारा सुन सकें । यह प्रचार कार्य परस्पर वार्तालाप द्वारा, छोटी गोष्ठियों द्वारा और बड़े सम्मेलनों द्वारा चल पड़ेगा तो एक व्यक्ति भी ऐसा न रहने पायेगा, जिसे युग परिवर्तन का आभास न मिले और आदर्शों को अपनाने का वातावरण न बने । इसके लिए जहाँ जैसा सुयोग बनेगा विचार विनिमय, प्रवचन एवं वक्ताओं द्वारा छोटे-बड़े समूहों को इस प्रकार समझाने का प्रयत्न चलेगा, जो लोगों के अन्तराल की गहराई तक प्रवेश करता चला जाए । अभीष्ट प्रयोजन के लिए लेखनी और वाणी द्वारा तो प्रचण्ड-प्रचार कार्य चलाया ही जायगा, साथ ही बरसाती हरीतिमा की तरह दिन दूने रात चौगुने वेग से बढ़ने वाली प्रज्ञा-परिज की हरीतिमा को इतना शौर्य-पराक्रम प्रस्तुत करने के लि भी कटिबद्ध किया जायगा कि वे अपने निज के क्रियाकलापों के द्वारा असंख्य के सामने अनुकरणीय आदर्श भी प्रस्तुत कर सकें । मनुष्य का स्वभाव अनुकरणशील है । इन दिनों दुष्प्रवृत्तियाँ और दुर्भावनाएँ भी एक से दूसरे ने सीखी हैं । तब यह भी असम्भव नहीं कि अग्रगामी व्रतशील जब सत्प्रयोजनों के लिए अपना आदर्श प्रस्तुत करें तो उसका अनुकरण दूसरे लोग न करें । जब दुर्बुद्धि की छूट एक से दूसरे को लगी है तो कोई कारण नहीं कि शक्तिशाली सदाशयता का प्रभाव एक दूसरे पर न पड़े । जब कुछ ही दिनों में ईसाई धर्म और साम्यवादी सिद्धान्तों ने अधिकांश जनसमुदाय को अपने अंचल में समेट लिया तो यह नितान्त असम्भव नहीं कि उत्कृष्ट चिन्तन, आदर्श चरित्र और सौम्य व्यवहार का प्रभाव एक-दूसरे पर न पड़े और आज की अवांछनीय परिस्थितियाँ बदली हुई मनःस्थिति के आधार पर उलट न सकें ।

यह है जन-सम्पर्क प्रक्रिया जिसे प्राचीनकाल के धर्म परायण व्यक्ति 'अलख जगाना' या आलोक वितरण कहते थे । कोई कारण नहीं कि एक समय जो सम्भव हो सका वह उन्हीं प्रयत्नों के आधार पर दूसरी बार सम्भव न हो सके । चिरकाल तक सतयुगी वातावरण इसी धरती पर रहा है तो कोई कारण नहीं कि उसकी वापिसी न हो सके । सूर्य अस्त होने के बाद जब दूसरे दिन फिर अरुणोदय के रूप में प्रकट हो सकता है तो सतयुग के अभिनव प्रज्ञा युग के रूप में पुनरावर्तन हो सकने में शंका क्यों अभिव्यक्त की जाए ?

ब्रह्म-परायण वर्ग सदा से धर्म-धारणा और भाव-संवेदना का संरक्षक रहा है तो कोई कारण नहीं कि नव-युग के सृजन शिल्पी उस परम्परा को पुनर्जीवित करके और स्वार्थ को ठुकरा कर विश्व मानव की हित साधना के लिए लोभ, मोह और अहंकार का परित्याग करके, राष्ट्र को जीवित और जाग्रत रख सकने वाले पुरोहितों के रूप में नये सिरे से प्रकट न हो सकें । दूब मरती नहीं, गर्मी में सूख जाती है किन्तु पहली वर्षा होते ही वह इतनी तेजी से उठती है कि धरातल पर मखमली फर्श बिछा देती है । क्षुद्र संकीर्णता से ऊँचे उठने वाली आत्माओं का बीज नाश नहीं हुआ है । युग चेतना की पावस आते ही वे लोक-प्रचलन का काया-कल्प कर सकेंगी । योजना ऐसी ही बनी है कि लगभग एक अरब भारतवासी देवमानवों का लोकमानस और उनके पराक्रम से संसार भर का वातावरण बदल सकें । प्राचीनकाल में भारत के देव

मानवों ने संसार भर को अजस्र अनुदान दिये हैं । अब वह परम्परा पुनर्जीवित न हो सके ऐसा कोई कारण नहीं । पिछले दिनों छोटे से प्रयत्नों से ७४ देशों में युग परिवर्तन की हवा फैल सकी तो अगले दिनों उस दिशा में सशक्त प्रयत्न किये जाने पर समस्त संसार को उस लपेट में न लिया जा सके, इसका कोई कारण नहीं ।

पिछले दिनों जन-जागरण के लिए, लोकमानस-परिष्कार के लिए जो सामान्य प्रयत्न हुए हैं, उन्होंने आश्चर्यचकित करने वाले परिणाम उत्पन्न किये हैं तो कोई कारण नहीं कि अगले दिनों ऐसा न हो सके जिसे अभूतपूर्व कहा जा सके ।

गत वर्षों की योजना यह रही है कि ३० जीप गाड़ियों के माध्यम से २४००० प्रज्ञापीठ और २४ हजार संस्थानों में प्रज्ञा आयोजन होते रहे हैं । जीपों में संगीत मण्डलियाँ जाती रही हैं और प्रज्ञा पुराण की कथाओं के संदर्भ देते हुए प्रवचन होते रहे हैं ।

अब अगले दिनों योजना यह है कि गाड़ियों की संख्या १०० कर दी जायेगी । जहाँ पहले आयोजन हो चुके हैं वे बार-बार अपने यहाँ की जनता तक ही सीमित न रहें वरन् यह उत्तरदायित्व उठावें कि समीपवर्ती कम से कम दो गाँवों में अपने जैसे प्रज्ञायोजनों की व्यवस्था करें । यह कार्य उनसे कह देने भर से न हो सकेगा वरन् स्वयं पूरे समय उन सम्मेलनों में साथ रहकर आदि से अन्त तक की व्यवस्था बनानी होगी । आयोजनों में अनेक प्रकार की व्यवस्था करनी पड़ती है । दो रात्रियों में जनसभाएँ होती हैं । एक दिन स्थानीय लोगों के साथ संपर्क में लगता है । एक दिन आने-जाने में लग जाता है । आगे से यह व्यवस्था भी चलेगी कि रास्ते में पड़ने वाले सभी गाँवों में जीप मंडली के लोग आदर्श वाक्य भी दीवारों पर लिखते चलेंगे, जिससे उधर से निकलने वालों को युग चेतना की विचारधारा से अवगत होने का अवसर मिले और यह प्रतीत हो कि इस क्षेत्र में युग परिवर्तन की हवा गुजरी है । यह प्रक्रिया लगभग गत वर्षों के कार्यक्रमों से मिलती-जुलती है । अन्तर इतना ही है कि हर वर्ष एक ही गाँव या क्षेत्र के कार्यक्रम होने की अपेक्षा उस प्रकाश को अब नये गाँवों में पहुँचाना होगा ।

गत वर्षों में मात्र संगीत गायन, लाउड-स्पीकर, टेप रिकार्डर आदि का ही प्रबन्ध था । कहीं-कहीं वीडियो कैसेट्स भी भेजे गये थे । अगले वर्षों में यह प्रबन्ध किया जा रहा है कि हमारे प्रकाश-चित्र एवं विशेष संदेश प्रवचन भी जीपों के साथ रहे । कहीं-कहीं बिजली नहीं होती ऐसी दशा में गाड़ी के साथ अपना जेनरेटर भी भेजा जायेगा ताकि बिजली के अभाव में कार्यक्रम ही रद्द न करना पड़े ।

पिछले कार्यक्रमों में यह विशेषता रही है कि प्रज्ञापीठों और प्रज्ञा संस्थानों ने हरिद्वार के भारी खर्च को देखते हुए जीप खर्च के अतिरिक्त भी कुछ आर्थिक सहायता दी है । अब की बार चूँकि अधिकांश नयी जगहें होंगी, उन्हें मिशन का विशेष परिचय भी नहीं होगा । इसलिए असली खर्चे से भी कहीं कम २०० ही लिया जाएगा । कहीं से अधिक मिले तो बात दूसरी है ।

जीपें अभी ३० हैं । नई योजना के हिसाब से यह १०० करनी पड़ेंगी, इसके लिए अर्थ प्रबन्ध की जरूरत पड़ेगी पर आशा की गयी है कि जिस भगवान ने राई को पर्वत बना दिया है वे किसी न किसी प्रकार इस व्यवस्था को भी पूरी करेंगे । इस लेख से तो उन सभी को प्रेरणा लेनी चाहिए जिनके यहाँ गत वर्षों में कोई आयोजन हो चुका है । वे अपना दायित्व समझें कि दो नये स्थानों पर उन्हें आयोजन कराने हैं और अनजानों को जानकारी देने के लिए दोनों आयोजनों में आदि से अन्त तक साथ रहते हुए यह मानना है कि यह आयोजन किन्हीं अन्यों द्वारा आमन्त्रित किया हुआ नहीं है वरन् उन्हीं के द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है । इसलिए उसकी सफलता-असफलता भी उन्हीं की मानी जायेगी ।

अगले वर्षों के लिए दूसरा कार्यक्रम है तीर्थों का जीर्णोद्धार । भारत में तीर्थयात्रा का सबसे अधिक पुण्यफल माना गया है । धर्म प्रचारक अपने-अपने क्षेत्रों में धर्म प्रचार की पद यात्रा करते थे । उस क्षेत्र में बने हुए देवालयों, धर्मशालाओं में प्रचार करते थे और स्थानीय जनता में धर्म प्रवचन भी करते थे । इसलिए अधिकांश गाँवों में देवालय बने हुए थे चाहे वे किसी भी धर्म के क्यों न हों । वे भी क्षेत्रीय तीर्थ माने जा सकते हैं । आज तो जहाँ भव्य मन्दिर है, रेल या बस की सुविधा है, वहीं तीर्थ रह गये हैं । लोग प्रतिमा झाँकते, जलाशय में डुबकी लगाते और चिन्ह-पूजा करके घुड़दौड़ की तरह यहाँ-वहाँ भागते रहते हैं पर प्राचीनकाल में ऐसा न था । हर गाँव का मन्दिर तक तीर्थ था । तीर्थाटन करने वाले छोटे प्रवासों की परिक्रमा करके वहाँ ठहरते, आयोजन करते और आगे बढ़ते थे । अब यह न तीर्थ यात्रा रही और न मन्दिरों का गौरवशाली स्वरूप । उद्देश्य भूलने और चिन्ह-पूजा निबाहने से मन्दिर के ध्वंसावशेष तो ढेरों बन गए हैं पर लगता है मानो इनमें से प्राण निकल गये हों । उद्देश्य पूर्ति के लिए कोई अर्थव्यवस्था होती नहीं । जो चढ़ावा आता है, यह पुजारी की जेब में चला जाता है । जिनके साथ कुछ स्थाई आजीविका लगी हुई है उनका तो दिया-बत्ती जल जाता है अथवा वर्षों बुहारी नहीं लगती । चमगादड़, अबाबील घोंसले बना लेती हैं । प्रतिमाओं पर कबूतर बीट करते रहते हैं । दीवारों में दरार पड़ती जाती हैं । फर्श उखड़ते टूटते-फूटते समाप्त हो जाते हैं ।

गणना के आधार पर जाना गया है कि ऐसे दुर्दशाग्रस्त मन्दिरों की संख्या १ लाख के लगभग है । इसमें आने-जाने वालों की संख्या भी नहीं के बराबर होती है । उन्हें कोई संभालते ही नहीं तो ऐसी स्थिति होना स्वाभाविक है । यह हिन्दू धर्म पर एक कलंक है । मन्दिर अपने नाम के लिए, देवता को प्रसन्न करके उसकी जेब काट लेने के लिए नये तो बनते जाते हैं पर यह नहीं देखते कि पुराने का

बौद्धिक क्रान्ति की दिशा में कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कदम

बौद्धिक क्रान्ति की जनसंपर्क प्रक्रिया

भारत में बड़े सात लाख गाँव हैं । नगले, छोटे कस्बे, मजरे जोड़कर वे बीस लाख हो जाते हैं । इन सभी गाँवों में युग चेतना की जानकारी पहुँचानी और उसके सिद्धान्त समझाने हैं । प्रज्ञायुग का अवतरण समीप है; उसमें दूरदर्शी विवेकशीलता का स्वरूप, उद्देश्य और व्यवहार जन-जन को समझाना है, साथ ही प्रस्तुत अवांछनीयता, अनैतिकता, मूढ़-मान्यता तथा कुरीतियों के कारण होने वाले अनर्थों से भी अवगत कराया जाना है । इससे अगले दिनों जिस समता, एकता, सहकारिता, सज्जनता की नीति को अपनाना है, उसके महत्त्व को भी हृदयंगम कराना है । प्रज्ञा युग के चार आधार होंगे-समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी । इन सब बातों के लिए मनों में गुंजाइश पैदा करनी है और प्रचलन के नाम पर जो अविवेक और अनर्थ हर दिशा में छाया हुआ है, उसका उन्मूलन भी करना है । यह कृत्य "हम बदलेंगे युग बदलेगा" की नीति के अनुरूप चलेगा और "नर और नारी एक समान; जाति देश सब एक समान" का आदर्श हृदयंगम कराने पर ही सम्भव होगा ।

इन दिनों नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र में अनेक कुरीतियाँ प्रचलित हैं । उनके विरुद्ध जनमत और आक्रोश भी जाग्रत करना है । विषमता का हर क्षेत्र में बाहुल्य है । उसके स्थान पर एकता और समता के सिद्धान्तों को मान्यता मिल सके, ऐसा वातावरण बनाना है ।

इसके लिए जन-सम्पर्क साधने की आवश्यकता होगी । हर भाषा में सस्ता प्रचार साहित्य छपना है और दीवारों पर आदर्श वाक्य लेखन का प्रचलन इस स्तर पर करना है, जिसे शिक्षित पढ़ सकें और अशिक्षित, पढ़ों द्वारा सुन सकें । यह प्रचार कार्य परस्पर वार्तालाप द्वारा, छोटी गोष्ठियों द्वारा और बड़े सम्मेलनों द्वारा चल पड़ेगा तो एक व्यक्ति भी ऐसा न रहने पायेगा, जिसे युग परिवर्तन का आभास न मिले और आदर्शों को अपनाने का वातावरण न बने । इसके लिए जहाँ जैसा सुयोग बनेगा विचार विनिमय, प्रवचन एवं वक्ताओं द्वारा छोटे-बड़े समूहों को इस प्रकार समझाने का प्रयत्न चलेगा, जो लोगों के अन्तराल की गहराई तक प्रवेश करता चला जाए । अभीष्ट प्रयोजन के लिए लेखनी और वाणी द्वारा तो प्रचण्ड-प्रचार कार्य चलाया ही जायगा, साथ ही बरसाती हरीतिमा की तरह दिन दूने रात चौगुने वेग से बढ़ने वाली प्रज्ञा-परिजनों की हरीतिमा को इतना शौर्य-पराक्रम प्रस्तुत करने के लिए भी कटिबद्ध किया जायगा कि वे अपने निज के क्रियाकलापों के द्वारा असंख्य के सामने अनुकरणीय आदर्श भी प्रस्तुत कर सकें । मनुष्य का स्वभाव अनुकरणशील है । इन दिनों दुष्प्रवृत्तियाँ और दुर्भावनाएँ भी एक से दूसरे ने सीखी हैं । तब यह भी असम्भव नहीं कि अग्रगामी व्रतशील जब सत्प्रयोजनों के लिए अपना आदर्श प्रस्तुत करें तो उसका अनुकरण दूसरे लोग न करें । जब दुर्बुद्धि की छूट एक से दूसरे को लगी है तो कोई कारण नहीं कि शक्तिशाली सदाशयता का प्रभाव एक दूसरे पर न पड़े । जब कुछ ही दिनों में ईसाई धर्म और साम्यवादी सिद्धान्तों ने अधिकांश जनसमुदाय को अपने अंचल में समेट लिया तो यह नितान्त असम्भव नहीं कि उत्कृष्ट चिन्तन, आदर्श चरित्र और सौम्य व्यवहार का प्रभाव एक-दूसरे पर न पड़े और आज की अवांछनीय परिस्थितियाँ बदली हुई मनःस्थिति के आधार पर उलट न सकें ।

यह है जन-सम्पर्क प्रक्रिया जिसे प्राचीनकाल के धर्म परायण व्यक्ति 'अलख जगाना' या आलोक वितरण कहते थे । कोई कारण नहीं कि एक समय जो सम्भव हो सका वह उन्हीं प्रयत्नों के आधार पर दूसरी बार सम्भव न हो सके । चिरकाल तक सतयुगी वातावरण इसी धरती पर रहा है तो कोई कारण नहीं कि उसकी वापिसी न हो सके । सूर्य अस्त होने के बाद जब दूसरे दिन फिर अरुणोदय के रूप में प्रकट हो सकता है तो सतयुग के अभिनव प्रज्ञा युग के रूप में पुनरावर्तन हो सकने में शंका क्यों अभिव्यक्त की जाए ?

ब्रह्म-परायण वर्ग सदा से धर्म-धारणा और भाव-संवेदना का संरक्षक रहा है तो कोई कारण नहीं कि नव-युग के सृजन शिल्पी उस परम्परा को पुनर्जीवित करके और स्वार्थ को ठुकरा कर विश्व मानव की हित साधना के लिए लोभ, मोह और अहंकार का परित्याग करके, राष्ट्र को जीवित और जाग्रत रख सकने वाले पुरोहितों के रूप में नये सिरे से प्रकट न हो सकें । दूब मरती नहीं, गर्मी में सूख जाती है किन्तु पहली वर्षा होते ही वह इतनी तेजी से उठती है कि धरातल पर मखमली फर्श बिछा देती है । क्षुद्र संकीर्णता से ऊँचे उठने वाली आत्माओं का बीज नाश नहीं हुआ है । युग चेतना की पावस आते ही वे लोक-प्रचलन का काया-कल्प कर सकेंगी । योजना ऐसी ही बनी है कि लगभग एक अरब भारतवासी देवमानवों का लोकमानस और उनके पराक्रम से संसार भर का वातावरण बदल सकें । प्राचीनकाल में भारत के देव

मानवों ने संसार भर को अजस्र अनुदान दिये हैं । अब वह परम्परा पुनर्जीवित न हो सके ऐसा कोई कारण नहीं । पिछले दिनों छोटे से प्रयत्नों से ७४ देशों में युग परिवर्तन की हवा फैल सकी तो अगले दिनों उस दिशा में सशक्त प्रयत्न किये जाने पर समस्त संसार को उस लपेट में न लिया जा सके, इसका कोई कारण नहीं ।

पिछले दिनों जन-जागरण के लिए, लोकमानस-परिष्कार के लिए जो सामान्य प्रयत्न हुए हैं, उन्होंने आश्चर्यचकित करने वाले परिणाम उत्पन्न किये हैं तो कोई कारण नहीं कि अगले दिनों ऐसा न हो सके जिसे अभूतपूर्व कहा जा सके ।

गत वर्षों की योजना यह रही है कि ३० जीप गाड़ियों के माध्यम से २४००० प्रज्ञापीठ और २४ हजार संस्थानों में प्रज्ञा आयोजन होते रहे हैं । जीपों में संगीत मण्डलियाँ जाती रही हैं और प्रज्ञा पुराण की कथाओं के संदर्भ देते हुए प्रवचन होते रहे हैं ।

अब अगले दिनों योजना यह है कि गाड़ियों की संख्या १०० कर दी जायेगी । जहाँ पहले आयोजन हो चुके हैं वे बार-बार अपने यहाँ की जनता तक ही सीमित न रहें वरन् यह उत्तरदायित्व उठावें कि समीपवर्ती कम से कम दो गाँवों में अपने जैसे प्रज्ञायोजनों की व्यवस्था करें । यह कार्य उनसे कह देने भर से न हो सकेगा वरन् स्वयं पूरे समय उन सम्मेलनों में साथ रहकर आदि से अन्त तक की व्यवस्था बनानी होगी । आयोजनों में अनेक प्रकार की व्यवस्था करनी पड़ती है । दो रात्रियों में जनसभाएँ होती हैं । एक दिन स्थानीय लोगों के साथ संपर्क में लगता है । एक दिन आने-जाने में लग जाता है । आगे से यह व्यवस्था भी चलेगी कि रास्ते में पड़ने वाले सभी गाँवों में जीप मंडली के लोग आदर्श वाक्य भी दीवारों पर लिखते चलेंगे, जिससे उधर से निकलने वालों को युग चेतना की विचारधारा से अवगत होने का अवसर मिले और यह प्रतीत हो कि इस क्षेत्र में युग परिवर्तन की हवा गुजरी है । यह प्रक्रिया लगभग गत वर्षों के कार्यक्रमों से मिलती-जुलती है । अन्तर इतना ही है कि हर वर्ष एक ही गाँव या क्षेत्र के कार्यक्रम होने की अपेक्षा उस प्रकाश को अब नये गाँवों में पहुँचाना होगा ।

गत वर्षों में मात्र संगीत गायन, लाउड-स्पीकर, टेप रिकार्डर आदि का ही प्रबन्ध था । कहीं-कहीं वीडियो कैसेट्स भी भेजे गये थे । अगले वर्षों में यह प्रबन्ध किया जा रहा है कि हमारे प्रकाश-चित्र एवं विशेष संदेश प्रवचन भी जीपों के साथ रहे । कहीं-कहीं बिजली नहीं होती ऐसी दशा में गाड़ी के साथ अपना जेनरेटर भी भेजा जायेगा ताकि बिजली के अभाव में कार्यक्रम ही रद्द न करना पड़े ।

पिछले कार्यक्रमों में यह विशेषता रही है कि प्रज्ञापीठों और प्रज्ञा संस्थानों ने हरिद्वार के भारी खर्च को देखते हुए जीप खर्च के अतिरिक्त भी कुछ आर्थिक सहायता दी है । अब की बार चूँकि अधिकांश नयी जगहें होंगी, उन्हें मिशन का विशेष परिचय भी नहीं होगा । इसलिए असली खर्चे से भी कहीं कम २०० ही लिया जाएगा । कहीं से अधिक मिले तो बात दूसरी है ।

जीपें अभी ३० हैं । नई योजना के हिसाब से यह १०० करनी पड़ेंगी, इसके लिए अर्थ प्रबन्ध की जरूरत पड़ेगी पर आशा की गयी है कि जिस भगवान ने राई को पर्वत बना दिया है वे किसी न किसी प्रकार इस व्यवस्था को भी पूरी करेंगे । इस लेख से तो उन सभी को प्रेरणा लेनी चाहिए जिनके यहाँ गत वर्षों में कोई आयोजन हो चुका है । वे अपना दायित्व समझें कि दो नये स्थानों पर उन्हें आयोजन कराने हैं और अनजानों को जानकारी देने के लिए दोनों आयोजनों में आदि से अन्त तक साथ रहते हुए यह मानना है कि यह आयोजन किन्हीं अन्यों द्वारा आमन्त्रित किया हुआ नहीं है वरन् उन्हीं के द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है । इसलिए उसकी सफलता-असफलता भी उन्हीं की मानी जायेगी ।

अगले वर्षों के लिए दूसरा कार्यक्रम है तीर्थों का जीर्णोद्धार । भारत में तीर्थयात्रा का सबसे अधिक पुण्यफल माना गया है । धर्म प्रचारक अपने-अपने क्षेत्रों में धर्म प्रचार की पद यात्रा करते थे । उस क्षेत्र में बने हुए देवालयों, धर्मशालाओं में प्रचार करते थे और स्थानीय जनता में धर्म प्रवचन भी करते थे । इसलिए अधिकांश गाँवों में देवालय बने हुए थे चाहे वे किसी भी धर्म के क्यों न हों । वे भी क्षेत्रीय तीर्थ माने जा सकते हैं । आज तो जहाँ भव्य मन्दिर है, रेल या बस की सुविधा है, वहीं तीर्थ रह गये हैं । लोग प्रतिमा झाँकते, जलाशय में डुबकी लगाते और चिन्ह-पूजा करके घुड़दौड़ की तरह यहाँ-वहाँ भागते रहते हैं पर प्राचीनकाल में ऐसा न था । हर गाँव का मन्दिर तक तीर्थ था । तीर्थाटन करने वाले छोटे प्रवासों की परिक्रमा करके यहाँ ठहरते, आयोजन करते और आगे बढ़ते थे । अब वह न तीर्थ यात्रा रही और न मन्दिरों का गौरवशाली स्वरूप । उद्देश्य भूलने और चिन्ह-पूजा निबाहने से मन्दिर के ध्वंसावशेष तो ढेरों बन गए हैं पर लगता है मानो इनमें से प्राण निकल गये हों । उद्देश्य पूर्ति के लिए कोई अर्थव्यवस्था होती नहीं । जो चढ़ावा आता है, वह पुजारी की जेब में चला जाता है । जिनके साथ कुछ स्थाई आजीविका लगी हुई है उनका तो दिया-बत्ती जल जाता है अथवा वर्षों बुहारी नहीं लगती । चमगादड़, अबाबील घोंसले बना लेती हैं । प्रतिमाओं पर कबूतर बीट करते रहते हैं । दीवारों में दरार पड़ती जाती हैं । फर्श उखड़ते टूटते-फूटते समाप्त हो जाते हैं ।

गणना के आधार पर जाना गया है कि ऐसे दुर्दशाग्रस्त मन्दिरों की संख्या १ लाख के लगभग है । इसमें आने-जाने वालों की संख्या भी नहीं के बराबर होती है । उन्हें कोई संभालते ही नहीं तो ऐसी स्थिति होना स्वाभाविक है । यह हिन्दू धर्म पर एक कलंक है । मन्दिर अपने नाम के लिए, देवता को प्रसन्न करके उसकी जेब काट लेने के लिए नये तो बनते जाते हैं पर यह नहीं देखते कि पुराने का

जीर्णोद्धार तक न होने से समूचे समाज की विशेषतया देव भक्ति का कितना भारी उपहास या अपमान हो रहा है ।

संसार में गिरजे, मस्जिद, गुरुद्वारे अनेकों हैं, पर जिन्होंने उन्हें बनाया है वे तथा उन धर्मों के अनुयायी उनकी समुचित देखभाल करते हैं जिससे उस धर्म स्थान की उपेक्षा, अवज्ञा न होने पावे । पर अपने देश में काने, कुबड़े, लंगड़े-लूले मन्दिर बनाने का तो शौक चर्राता है पर उनकी भावी देख-भाल का दायित्व सँभालने का किसी को ज्ञान नहीं है ।

नई-योजना के अनुसार ऐसे देवालयों के जीर्णोद्धार की व्यवस्था करना है जो गाँव के समीप हैं और जिनका कुछ सदुपयोग हो सकता है । समर्थ गुरु रामदास ने जितने ही ७०० के करीब महावीर मन्दिर बनवाये थे, उन सबके साथ व्यायामशाला और पाठशाला, सत्संग क्रम का प्रबन्ध किया था । वे सभी सोद्देश्य थे । उनका निर्माण ऐसे स्थानों पर हुआ था जहाँ लोग आसानी से पहुँच सकें, कथा सुन सकें, बच्चों को पढ़ा सकें और व्यायामशाला चला सकें । फलतः वे कम लागत के होने के कारण दीर्घजीवी तो न हो सके पर जब तक वे रहे तब तक उनकी उपयोगिता बराबर बनी रही ।

महामना मालवीय जी का विनिर्मित एक श्लोक है-

'ग्रामे-ग्रामे सभा कार्या, ग्रामे-ग्रामे कथा शुभा ।
पाठशाला, मल्लशाला, प्रतिपर्व महोत्सवा ॥'

इस श्लोक में उन्होंने रामदास की व्यायामशाला, पाठशाला, कथा प्रवचन की बात को यथावत् रखते हुए सभी संगठन एवं पर्वोत्सवों को जोड़ दिया है । अपनी योजना कुछ इसी प्रकार की है । हम चाहते हैं कि मालिकी एक की नहीं हो वरन् मन्दिरों के ट्रस्ट बनें । साथ ही हिन्दू धर्म में इतने पर्व और संस्कार होते हैं, उनके लिए भी वहाँ जाया जाए ताकि सबका अपनापन उनके साथ जुड़ा रहे और साथ ही श्रमदान और धनदान से उनकी मरम्मत, शोभा-सज्जा भी होती रहे; किन्तु अपना समाज भी विलक्षण है । शौक चर्रायेगा तो सभी अपना-अपना मन्दिर खड़ा कर देंगे और जब उपेक्षा होगी तो उनकी ओर कोई मुँह भी नहीं करेगा ।

इस स्थिति को बदलने का मिशन का मन है । जो मन्दिर उपयोगी है, गाँव के समीप है, जिनमें देवता की कालकोठरी के अतिरिक्त कोई सार्वजनिक कार्यक्रम चलाने की भी गुंजाइश है, उनकी मरम्मत कराने के लिए समस्त ग्रामवासियों को संगठित किया जाय । घरों में मुट्ठी फंड के घड़े रखवाये जायें अथवा जो सम्पन्न हैं उन्हें समझाया जाय कि नया मन्दिर बनाने की अपेक्षा शास्त्रकारों ने पुराने का जीर्णोद्धार करने का पुण्य सौ गुना अधिक बताया है । अपने इतने मन्दिर हैं कि यदि इन्हें उपयोगी बनाने का क्रम चल पड़े तो अनेक धर्म स्थान उसी उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं, जिनके लिए कि पूर्वजों ने उनका निर्माण किया था । इस प्रकार देवता, हिन्दू धर्म और उसके अनुयायियों को कलंक से बचने का अवसर मिलेगा । साथ ही उन्हें निरर्थक बने पड़े न रहने देकर ऐ उपयोग भी होने लगेगा, जिससे नवजीवन के चिन्ह प्रक हों और उपहास के स्थान पर उपयोग का क्रम चल पड़े,

दूसरा कार्यक्रम इसी उद्देश्य के लिए है । सात लाख गाँव और उनके २० लाख नगले-मजरों में से अधिकांश को तीर्थ के रूप में परिणित किया जाय । जिस देश का कभी प्रत्येक देवालय तीर्थ था, उनकी परिक्रमाओं के अपने-अपने क्षेत्र थे । उन परिक्रमाओं के आधार पर एक स्थान के लोग दूसरे स्थानों से सम्पर्क साधते थे । धर्म-चर्चा करते थे और जहाँ जो त्रुटि दिखायी पड़ती थी वहाँ उसे दूर करने की व्यवस्था बनाते थे । अब फिर वही क्रम चलना चाहिए । भव्य नगरों में बड़ी-बड़ी इमारतों वाले तीर्थों को ही नहीं, छोटे-छोटे क्षेत्रों के देवालयों को भी तीर्थ माना जाए और उनके मार्ग में पड़ने वाले तथा ग्रामों को धर्म प्रचार का एक प्रभाव क्षेत्र माना जाय । उनमें से जो केन्द्रिय स्थान हों, जहाँ जलाशय की अच्छी व्यवस्था हो, वहाँ धार्मिक मेले भरने, सभा-समारोह होने के भी ऐसे दिन निर्धारित किये जाएँ जो एक-दूसरे से टकराएँ नहीं । अलग-अलग महीनों या तिथियों में अलग-अल मेले हों और उनका उद्देश्य मात्र मनोरंजन न होकर धर्म सम्मेलन हो तो उस क्षेत्र से अन्ध परम्पराओं और रूढ़ियो का उन्मूलन हो सकता है । सत्प्रवृत्ति संवर्धन के लिए उत्साह जग सकता है । सामूहिक विवाह-शादियों के संस्कारों के आयोजन भी हो सकते हैं । पर्वों को मनाने की प्रथा जो सिमटकर घर में देवता के नाम पर पकवान बनाने-खाने तक सीमित रह गयी है । उसके पीछे छिपे हुए उद्देश्यों को जानने एवं क्रियान्वित करने का अवसर मिल सकता है ।

कभी इस देश में दस हजार तीर्थ और एक हजार सरिताएँ थीं, जिनके अपने-अपने महात्म्य थे । जिन सरिताओं को पवित्र माना जाता था, उन्हें लोग शुद्ध करते थे, गहरा करते थे और उनसे प्रभावित क्षेत्र में कृषि, शाक उत्पादन आदि की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाते थे; बाँध बाँधते और नहरें निकालते थे; पर अब तो वे नदियाँ-नाला मात्र रह गई हैं । उनके प्रति देव भावना की श्रद्धा रही और न उनके किनारे मेलों का, धर्म-सम्मेलनों का जो प्रचलन था, वह अब शेष रहा ।

देव संस्कृति के पुनर्जागरण की योजना को कार्यान्वित करने के लिए समीपवर्ती क्षेत्रों के प्रतिभाशाली लोगों को आमन्त्रित करके ऐसी योजनाएँ बन सकती हैं । क्षेत्रीय जलाशयों को गहरा एवं शुद्ध बनाने की बात सोची जा सकती है । इसके लिए अपने प्रज्ञा आयोजनों का अवसर समीपवर्ती लोगों को बुलाकर उपयोगी विचार-विनिमय करने की दृष्टि से बड़ा कारगर सिद्ध हो सकता है ।

'तीर्थ यात्रा' शब्द के साथ अभी भी बड़ी श्रद्धा जुड़ी हुई है पर वे देशभर में फैले हुए न रहकर बड़े-बड़े शहरों तक सीमित रह गये हैं । यहाँ कोई सत्प्रवृत्तियाँ नहीं चलतीं, न लोकोपयोगी कार्य होते हैं । यहाँ तक कि कहीं

एक स्थान पर जन-जीवन तथा सामाजिक विकृतियों के सम्बन्ध में विचार नहीं होते । देवपूजा के नाम पर कुछ लोग धन्धा भर चला लेते हैं पर तीर्थों में कोई साधना सत्र, धार्मिक समारोह, सामयिक समस्याओं के समाधानों के सम्बन्ध में कोई निर्धारण नहीं होते । बसों और रेलगाड़ियों को पर्यटकों की सवारियाँ भरने जैसी आर्थिक सुविधा भले ही मिल जाती हो । इसके स्थान पर भार-वाहन का स्थान साइकिल से लेकर समीपवर्ती क्षेत्रों की प्राय: एक-एक सप्ताह की धर्म-यात्राएँ बनायी जाएँ तो उनकी लपेट में देश का हर कोना आ सकता है और अपने देहात में बसे अशिक्षित तथा पिछड़े हुए देश में एक सामाजिक क्रान्ति हो सकती है ।

इसका सूत्रसंचालन अन्य किसी को असम्भव या कठिन प्रतीत हो सकता है; पर प्रज्ञा-परिवार के लिए यह सब तनिक भी कठिन नहीं होना चाहिए, क्योंकि परिजनों में धार्मिक विचारधारा एवं समाज-सुधार की भावना पहले से ही मनों में कूट-कूटकर भरी गयी हैं । जिसमें साधना, श्रद्धा, आत्मशोधन, लोकहित आदि का समावेश था ।

तीर्थयात्रा की शास्त्रकारों और आप्तजनों ने जो महिमा गायी है वह मिथ्या नहीं है । अन्तर केवल इतना भर है कि जिस आधार पर उसकी उपयोगिता और गरिमा थी, वह एक प्रकार से समाप्त हो गयी । लोकोपयोगी जिन क्रियाकृत्यों के साथ उनके अविच्छिन्न सम्बन्ध थे वे समाप्त हो गए और उनके स्थान पर भीड़ की धकापेल ने जेबकतरों की कारगुजारी को दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ने का अवसर दिया । अब वे पर्यटन केन्द्र मात्र रह गए हैं और उस प्रयोजन को सफाचट कर रहे हैं,

जिस मार्ग पर तीर्थों की दिशाधारा चल रही है यदि वही चलती रही तो लोग पिकनिक उपयुक्त स्थानों में ही पसंद करेंगे । जहाँ तीर्थों की गरिमा और पिकनिक की सुविधा दोनों न हों वहाँ जाकर लोग करेंगे क्या ? यही कारण है कि तीर्थों में जिन धार्मिक मेलों में भारी भीड़ रहती थी अब वहाँ आधी चौथाई मात्रा में अंधविश्वासी भर पहुँचते हैं ।

यह स्थिति दयनीय है । हमें इसे उबारना चाहिए और संस्कृति पुनर्जीवन की इस बेला में वह सुधार करना चाहिए जो आवश्यक है । इस दिशा में प्रज्ञा अभियान ने कदम उठाए । जीप टोलियाँ इस दृष्टि से सही कदम कहा जा सकता है । प्राचीनकाल में भी तीर्थयात्री टोली बना कर जाते थे और अपने साथ ले जाने के लिए बैलगाड़ी रखते थे ताकि सामान के अतिरिक्त किसी अस्वस्थ साथी को भी बिठाया जा सके । आज की परिस्थितियों में पुरानी जीपगाड़ी बैलगाड़ी से सस्ती पड़ती है । दो बैल दिनभर में जितना चारा खाते हैं प्राय: उतना ही जीप में तेल जलता है । फिर इन दिनों जो सामान ले जाया जा रहा है उसमें संगीत साधन, लाउडस्पीकर, बिस्तर, जेनेरेटर, स्टेज आदि वस्तुएँ उससे कहीं अधिक भारी हो जाती हैं जितनी कि बैलगाड़ी वहन करती है । फिर उसमें कार्यकर्त्ता के बैठ जाने की सुविधा भी होती है और ज्यादा दूरी तक भी द्रुतगामी गति से जाया जा सकता है । ऐसे अनेक कारणों का पर्यवेक्षण करने के उपरान्त पुरानी मोटरें ही मरम्मत कराने के उपरान्त काम में लाए जाने की बात अधिक सुविधाजनक पाई गई है । अस्तु समग्र योजना को पूरी करने के लिए जीपों एवं कारों की संख्या बढ़ा देने का ही निश्चय किया गया है ।

उनमें जाने वाले यात्री मात्र धर्म प्रचारक होंगे । उन्हें दुहरा पुण्य मिलेगा । एक तो वक्ता, गायक बनने का अवसर मिलेगा एवं मोटरों के सम्बन्ध में इतना ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे कि थोड़े और अभ्यास कर लेने के उपरान्त वे ड्राइवर बन सकें । दूसरे वे सच्ची तीर्थयात्रा का पुण्यफल प्राप्त करेंगे, जो अनेक अनुष्ठानों से बढ़कर है ।

इन तीर्थयात्रियों को तीन महीने के लिए बाहर भेजा जायगा । एक महीना ट्रेनिंग दी जायेगी । इस प्रकार घर से बाहर चार महीने ही रहना पड़ेगा । इस अवधि में वे प्राय: १०० सभाओं में उद्बोधन कर सकेंगे । रास्ते में पड़ने वाली प्राय: १०० सरिताओं का स्नान एवं मार्जन कर सकेंगे । टूटे-फूटे मन्दिरों की सफाई करने के अतिरिक्त उनके जीर्णोद्धार की योजना का श्रमदान भी कर सकेंगे ।

जिन स्थानों पर प्रज्ञा आयोजन होंगे वहाँ 'प्रज्ञा प्रशिक्षण' पाठशाला की स्थापना का उद्घाटन भी करना होगा । एक सम्मेलन पीछे एक समय का यज्ञ भी होगा । इस प्रकार उन्हें १०० यज्ञों के संचालन का अवसर भी मिलेगा ।

जीपें जिस रास्ते से जायेंगी वहाँ दीवारों पर आदर्श वाक्य लिखने का भी अवसर मिलेगा । नये क्षेत्रों की स्थिति और संस्कृति को देखने-समझने का अवसर मिलने से इसे 'देश-दर्शन' के रूप में भी समझा जायेगा । जिसे हम मातृभूमि "स्वर्गादपि गरियसी" कहते हैं, उसका वास्तविक स्वरूप देखने का अवसर मिले तो इसे क्या कम महत्त्व का काम समझा जा सकता है । कवीन्द्र रवीन्द्र ने बैलगाड़ी में देश की यात्रा की थी । गाँधी जी ने आन्दोलन शुरू करने से पूर्व मातृभूमि का प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक समझा था । यह प्रयास प्रतिमा दर्शन की अपेक्षा कहीं अधिक सार्थक है ।

इसके लिए प्रतिभावान प्रज्ञा परिजनों को ही चुना जायेगा । उपर्युक्त कार्यों के स्वरूप और श्रम का लेखा-जोखा लिया जाय तो वह इतना भारी हो जाता है, कि एक हट्टा-कट्टा मजदूर ही उन सब कामों को करने में समर्थ हो सकता है । फिर संगीत, प्रवचन और मशीनों की टूट-फूट को सँभालते चलने लायक गिरह की अक्ल भी तो चाहिए ।

इसलिए इन पंक्तियों द्वारा इस भ्रम को निकाल दिया है कि सैर-सपाटा करने हेतु बूढ़े, दुर्बल अशक्त इस तीर्थयात्रा में नहीं जायेंगे । तीर्थ-यात्रियों को प्राय: १२ घण्टे कड़ा परिश्रम करना पड़ेगा । इस अवधि में भोजन व्यय को जेब से तो नहीं खर्च करना पड़ेगा पर प्रतिभा में दस गुनी वृद्धि हो जाने के अतिरिक्त परोक्ष लाभ वास्तविक तीर्थयात्रा का

ही मिल सकेगा । इसे एक योगाभ्यास, तप-साधना एवं पुण्य-परमार्थ स्तर का ही समझा जा सकता है । जिन्हें अपने समय के बदले इतना ही पर्याप्त लगता हो, उन्हीं के लिए यह आमंत्रण लिखा जा रहा है । गाड़ी में जगह भी उतनी है कि उसमें ४-५ कार्यकर्त्ता मुश्किल से बैठ सकेंगे । शेष में तो आवश्यक सामान ही भरा रहेगा । इसलिए किसी को भी यह नहीं सोचना चाहिए कि तीर्थ यात्रा का नाम सुनकर अपनी दादी-नानी को भी साथ चलने के लिए कह दें । उन्हें तत्काल बैरंग वापिस लौटना पड़ेगा यह तीर्थयात्रा बलिष्ठ, शिक्षित, कर्मठ और गीत आदि में थोड़ी गति रखने वालों के काम की है ।

रास्ते भर तो दीवार लिखने, टूटे-फूटे मन्दिरों को साफ करने का काम तो है ही, रात को भी संगीत, प्रवचन आदि के काम में जुटे रहने के कारण रात को भी देर से ही सोने को मिलेगा । जहाँ-तहाँ, जैसा-तैसा भोजन मिलने पर भी जो संतोष कर सकें और पचा सकें, ऐसे ही लोगों को इस उपक्रम में लिया गया है ।

जन-जन को जो संदेश सुनाना है उसमें नैतिक क्रान्ति, बौद्धिक क्रान्ति और सामाजिक क्रान्ति का कार्य शेष पड़ा है । स्वराज्य मिल जाने से अभी केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता उपलब्ध हुई है । हमारे दैनिक जीवन में जो नैतिकता की दृष्टि होनी चाहिए, मान्यताओं को विवेचन की कसौटी पर जिस तरह कसा जाना चाहिए, समाज में जैसा न्यायपूर्ण प्रचलन होना चाहिए, वह अभी नहीं बन पाया है । जब तक यह सब सम्भव न हो तब तक समझना चाहिए कि अपूर्णता का एक बड़ा भाग बाकी है । संघर्ष की लड़ाई पिछली पीढ़ी ने लड़ी है । सृजन के लिए प्राणपण से संघर्ष हमें करना है । सरकारी उत्तरदायित्व यों गरीबी भगाने का है पर वह कार्य भी जन सहयोग के बिना सम्भव नहीं । कठोर श्रम और अपव्यय की रोकथाम के बिना न आर्थिक समस्याएँ हल हो सकती हैं और न गरीबी भगाओ का उद्देश्य पूरा हो सकेगा । एक क्रान्ति और भी बाकी है वह है स्वच्छता क्रान्ति । शरीर, वस्त्र, घर, गाँव और अन्ततोगत्वा मन की सफाई का आन्दोलन भी ऐसा है जिसके बिना हम न अपने को सभ्य कह सकते हैं, न सुसंस्कृत ।

गाँव-गाँव प्रज्ञा अभियान के जो छोटे-बड़े आन्दोलन चल रहे होंगे वे और भी द्रुतगति से चलेंगे । उनके साथ उपरोक्त पाँचों क्रान्तियों की पृष्ठभूमि भी बनानी है । विशेषतया कुछ स्थापनाएँ ऐसी हैं जिन्हें भले ही छोटे रूप में किया जाय पर आरम्भ इन्हीं दिनों करना है ।

सरकारी शिक्षा तन्त्र अधूरा है । उनके द्वारा बच्चों की शिक्षा का क्रम पूरा नहीं हो पा रहा है फिर ७० प्रतिशत अशिक्षितों को साक्षर किस प्रकार बना पावेंगे ? बच्चे तो बड़े होने पर अपने दायित्व सम्भालेंगे किन्तु आज की समस्याएँ तो प्रौढ़ों को ही सुलझानी हैं । स्पष्ट है कि गरीबी तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक कि सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन न होने लगे । यह कार्य शिक्षा का है कि हम लोगों को समझाए कि "खर्चीली शादियाँ हमें दरिद्र और बेईमान बनाती हैं ।" नशेबाजी, मुकदमेबाजी जैसे दुर्व्यसनों के रहते हम प्रगति-पथ पर दूर तक नहीं चल सकते । व्यक्तिगत गरीबी मिटाने का प्रश्न होता तब तो वह बेईमानी, चालाकी से भी हल किया जा सकता था । यदि समूचे समाज को समुन्नत बनाना हो तो उसके लिए सहकारिता को ही प्रश्रय देना होगा । सब हाथों को काम मिलने की पृष्ठभूमि सहकारी कुटीर उद्योगों से ही सम्भव है । यह हमारे समाज की ज्वलन्त समस्याएँ हैं इन्हें मात्र समझाने-बुझाने भर से ही हल नहीं किया जा सकता । ये रचनात्मक कार्यों द्वारा ही हल हो सकती हैं और उसके लिए नए सिरे से 'सर्वोदय' स्तर के आन्दोलन को खड़ा ही नहीं सफल भी करना पड़ेगा । इन सभी कार्यों को लेकर प्रज्ञा अभियान का जन-आन्दोलन चलेगा और उसे संकल्पपूर्वक पूरा करके रहेगा । इसके लिए ऐसे प्रचारक चाहिए जो वक्ता, गायक ही नहीं उपरोक्त रचनात्मक कार्यक्रम की भी गाँव-गाँव स्थापना करें । साथ ही उस स्थापना में खाद, पानी, निराई, गुड़ाई, रख-रखाव का दायित्व भी अपने कंधों पर संभालें । जनता के साथ प्राण-पण की एकता स्थापित करें और कदम से कदम, कंधे से कंधा मिलाकर चलने का सुयोग्य बनाकर पीछे रहें । अपने प्रचार अभियान के साथ संस्थापन और सृजन भी अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है ।

बुद्ध की धर्मचक्र प्रवर्तन महाक्रान्ति ने समूचे देश, महाद्वीप को ही नहीं, संसार भर को हिला दिया था । प्रज्ञा अभियान का लक्ष्य भी लगभग ऐसा ही है । मात्र हिन्दी भाषी क्षेत्रों तक सीमित न रहकर उसे देश की १७ मान्यता प्राप्त भाषाओं में और विश्व की अन्य भाषाओं में भी अपना प्रचार कार्यक्रम व्यापक करना होगा । इसके लिए बड़ी संख्या में प्रचारक और सृजन शिल्पी चाहिए ।

नालन्दा विश्वविद्यालय में ३० हजार छात्र पढ़ते थे । तक्षशिला में छात्रों समेत वे एक लाख हो गये थे । अपना लक्ष्य भी वैसा ही है । काम तो अधिकांश को अपने-अपने क्षेत्र में ही करना पड़ेगा । पर बाहर जाने और अछूते स्थानों को झकझोरने का कार्य भी प्रज्ञापुत्रों को ही करना है । उनकी संख्या एक लाख तक पहुँचा देने का निश्चय किया गया है । इन्हें एक महीने ट्रेनिंग और तीन महीने जीप प्रचार में भेजने के बाद ही यह समझा जा सकेगा कि उन्हें क्रियात्मक अनुभव उपलब्ध हो गया और समीपवर्ती क्षेत्र में आलोक वितरण का कार्य भविष्य में भी वे अपने निकटवर्ती क्षेत्र में करते रह सकेंगे । जो इनमें से विशेष प्रतिभावान होंगे उन्हें अधिक समय बाहर रहने के लिए भी आग्रह किया जा सकता है ।

इन पंक्तियों द्वारा प्रज्ञा परिजनों में से प्राणवानों को आह्वान किया गया है । उन्हें न्यूनतम एक वर्ष के लिए शान्तिकुञ्ज आने और ब्राह्मणोचित औसत नागरिक वृत्ति से निर्वाह करने के लिए तैयार रहना चाहिए । गाँधीजी के स्वतंत्रता आन्दोलन में लाखों ने वर्षों की जेल काटी, बुद्ध

के आन्दोलन में लाखों ने धर्मचक्र प्रवर्तन के कार्य में आजीवन लगे रहने का व्रत लिया व निभाया था। बिनोवा के सर्वोदय आन्दोलन में बड़ी संख्या में लोकसेवी लगे और खप गये। ईसाई पादरी जो आजीवन अपने व्रत का निर्वाह करते हैं, लाखों की संख्या में हैं। फिर कोई कारण नहीं कि धर्मप्राण कहे जाने वाले अपने देश में से मात्र एक लाख ऐसे न मिल सकें जो एक वर्ष शान्तिकुञ्ज के प्रशिक्षण एवं तीर्थयात्रा प्रवास हेतु न निकल सकें। इनके निर्वाह की, भोजन वस्त्र की व्यवस्था मिशन की ओर से की जायगी। उन्हें घर से कुछ मँगाना न पड़ेगा। इस श्रम साधना में वे जहाँ देश की सामयिक महती आवश्यकता को पूर्ण करेंगे वहाँ अपनी योग्यता और प्रतिभा को भी कई गुनी निखार लेंगे। जिन अनुशासनों के अन्तर्गत उन्हें सेवा कार्यों में निरत रहना पड़ेगा, उन्हें ध्यान-धारणा और जप-तप से किसी भी प्रकार कम नहीं माना जाना चाहिए। वे जैसा व्यक्तित्व लेकर यहाँ आवेंगे उससे कहीं अधिक उज्वल और प्रखर प्रतिभा लेकर लौटेंगे।

तीर्थयात्रा प्रचार प्रवास के समतुल्य ही दूसरा काम है प्रज्ञा पाठशालाओं का संचालन। जहाँ कहीं भी प्रज्ञापीठ है, प्रज्ञा संस्थान है, समर्थ शाखाएँ हैं, वहाँ सभी जगह तीन-तीन महीने की प्रज्ञा पाठशालाएँ खोली जा रही हैं। उनमें प्रशिक्षण करने के लिए भी बहुत बड़ी संख्या में अध्यापकों की आवश्यकता होगी। उस कार्य का महत्त्व प्रज्ञा प्रवास से किसी प्रकार कम नहीं, वरन् बढ़कर ही है। प्रज्ञा प्रवास में तो एक दिन और दो रातों ही एक स्थान पर ही ठहरने को मिलेगा किन्तु प्रशिक्षणशालाओं में तो तीन महीने एक ही स्थान पर रहना पड़ेगा।

इन पाठशालाओं में बड़े महत्त्वपूर्ण काम होंगे। (१) बाल संस्कारशाला स्कूली छात्रों को उनके बचे हुए समय में शिष्टता, स्वाध्याय, अनुशासन एवं नैतिक नागरिकता की शिक्षा देना। (२) पुरुषों की रात्रि पाठशालएँ चलाना। (३) युवकों की व्यायामशालाएँ चलाना। (४) प्रज्ञा पुराण की कथाओं से पूरे तीन महीने का एक कथा अनुष्ठान पूरा करना। (५) सुगम संगीत की शिक्षा देना। (६) गायत्री यज्ञ प्रक्रिया प्रशिक्षण। यह हर कार्य ऐसे हैं, जिन्हें सृजन शिल्पी स्वयं भी करेंगे और साथ ही स्थानीय लोगों में से जो प्रतिभावान दिखेंगे उन्हें सहयोगी के रूप में लेकर विद्यालय को इस योग्य बनावेंगे कि उसकी प्रक्रिया आगे भी चलती रहे। तीन महीने के शिक्षार्थियों में से अधिकांश शांतिकुञ्ज आकर रहने वालों की तरह इस योग्य हो जायँ कि छोटे शान्तिकुञ्ज कि तरह अपने गाँव में नव-निर्माण का वातावरण बना सकें। साथ ही अपने सम्पर्क क्षेत्र में आलोक वितरण का कार्य इस प्रकार चलाते रहें कि लाल मशाल बुझने न पाए।

पूर्व घोषणा के अनुसार सभी प्रज्ञा संस्थानों में एक वर्ष के लिए प्रज्ञा प्रशिक्षण चलाने का अनुरोध प्रकाशित किया गया था कि पाठशालाएँ न्यूनतम एक वर्ष चलें और उनमें पढ़ने वालों की एक वर्ष बाद परीक्षा हो एवं उत्तीर्णों को प्रमाण-पत्र दिए जायँ, किन्तु अब स्थिति बदलने के कारण परिवर्तन करना पड़ा है। आवेदन पत्र इतने अधिक आए हैं कि उन सबके लिए न तो शान्तिकुञ्ज में स्थान है, न गाड़ियाँ, न शिक्षण-व्यवस्था। इसलिए कोई और उपाय न देखकर वह एक वर्ष का समय घटाकर तीन महीने कर दिया गया है, ताकि जहाँ कहीं भी पाठशालाएँ चलें, वहाँ एक वर्ष की अवधि में तीन-तीन महीने के चार सत्र चल सकें और दस-दस छात्र एक बार में पढ़ें तो उनकी संख्या बढ़ कर ४० हो सके। अब स्थानीय पाठशालाएँ तीन महीने ही चला करेंगी। ५२ पुस्तकें छापी जा रही थीं। वह भी घटाकर ३६ कर दी गई। हर महीने शुल्क लेने की अपेक्षा यह एक बार में ही ले लिया जायगा और ३६ पुस्तकें एक साथ ही दे दी जायेंगी। इसी प्रकार संगीत पाठ्यक्रम भी तीन महीने का ही होगा। उतने समय में पूरे मन से, पूरे समय तक अभ्यास किया जाय तो सभी आवश्यक शिक्षण पूरा किया जा सकता है।

शाखाएँ अपने यहाँ से जो युगशिल्पी एक-एक महीने के लिए भेजती थीं और उनका भोजन व्यय स्वयं उठाती थीं वह कार्य तो पूर्ववत् ज्यों का त्यों चलेगा। एक महीने में कामचलाऊ इतनी योग्यता हो जाती है कि अपने यहाँ की स्थानीय पाठशाला को यथावत् चला सकें। किन्तु कम समय और कम अनुभव होने के कारण उनकी योग्यता सामान्य स्तर की ही हो पाती है। आठ घण्टा पढ़ने और पढ़ाने पर भी उपरोक्त सात विषयों की योग्यता सीमित ही हो पाती है। इसलिए उस शिक्षण को 'काम चलाऊ' ही कहा जाता है पर जिन्हें अपने को सचमुच प्रवीण बनाना हो, उन्हें एक वर्ष के लिए आना चाहिए ताकि यहाँ तीन महीने प्रशिक्षण देकर तीन-तीन महीने के लिए अन्यत्र उन्हें प्रज्ञा प्रशिक्षण पाठशालाओं में पढ़ाने के लिए भेजा जा सके।

जीप गाड़ियों के प्रवास में हर किसी को नहीं भेजा जायगा। जिनकी शारीरिक क्षमता, सूझ-बूझ और प्रतिभा बढ़ी-चढ़ी होगी, वे ही उस प्रवास तप के लिए छाँटे जायेंगे। शेष को देश-व्यापी प्रशिक्षण पाठशालाओं में पढ़ाने के लिए भेजा जायगा।

पिछले दिनों ऐसा भी होता रहा है कि अधपगले, अल्पशिक्षित और अनुशासनहीन अपनी स्थिति का पूर्ण विवरण दिए बिना अचानक चले आते रहे हैं और वे किसी काम के न होने के कारण वापिस लौटाने पड़ते थे। इसलिए सभी से कहा गया है कि दोनों ओर के किराये का प्रबन्ध करके ही घर से चलें। ताकि उनका स्तर यहाँ के कामों के लिए 'फिट' न बैठता हो तो उन्हें वापिस जाने में कठिनाई न हो।

कम्बोडिया कुछ दिनों तक बौद्ध देश था। वहाँ हर सुयोग्य व्यक्ति को एक वर्ष तक बौद्ध विहारों में रहकर शिक्षा, साधना तथा सेवा करनी पड़ती थी। वही प्रचलन इस देश में भी चलना चाहिए। उपरोक्त प्रयत्नों के लिए उन्हें एक वर्ष का समय लगाना चाहिए, ताकि वे यह

सन्तोष भी कर सकें कि हमने एक वर्ष की युग साधना में संलग्न रहकर अपनी प्रतिभा भी निखारी और देशसेवा के भी काम आ गए । इस एक वर्ष को ऐसा ही मानना चाहिए जैसा कि सत्याग्रह आन्दोलन में अनेक भावनाशील जेल गए थे । इसे एक वर्ष का संन्यास भी माना जा सकता है, जिसे सच्चे मन और परिपूर्ण निष्ठा के साथ समर्पणपूर्वक किया जाना चाहिए और पूरी तरह अनुशासन पालन करना चाहिए । इस स्तर से जो रह सकेंगे उन्हीं को व्रतधारी, सृजन शिल्पी माना जा सकेगा । अन्यथा अयोग्यता, अक्षमता और अनुशासनहीनता की दशा में तो उनका घर छोड़ना सर्वथा निरर्थक और समाज के लिए भारभूत होगा ।

पाठकों को स्मरण होगा कि पिछले दिनों शान्तिकुञ्ज से 'महिला जागृति' पत्रिका निकलती थी । उस समय महिला जागृति के उद्देश्य को लेकर शिक्षित और उत्साही महिलाओं ने अपने-अपने यहाँ महिला शाखाएँ बनायी थीं । वे तीसरे प्रहर चलती थीं । उनसे परिवार निर्माण की शिक्षा के लिए कहा गया था । वे ५०० के करीब थीं । पर अब मालूम नहीं कि कहाँ कितना कुछ काम हो रहा होगा । अब नए सिरे से उस कार्य को आरम्भ किया जा रहा है । उत्साही और शिक्षित महिलाओं से कहा जा रहा है कि वे अपना समय निकालें । तीसरे पहर दो घण्टे नित्य की पाठशालाएँ चलाएँ । वे तीन महीने तक अपना शिक्षण अपने स्थान पर चला सकती हैं और जो उत्तीर्ण हो जायें उसके लिए प्रमाणपत्र मँगा सकती हैं ।

युग परिवर्तन के इस पूर्वकाल में यों किसी न किसी रूप में २४ लाख व्यक्ति देश-विदेश में काम कर रहे हैं । उनका कुछ न कुछ कार्य किसी न किसी रूप में चलता ही रहता है पर इस बार जो समय दान की माँग की गई है, उसमें एक वर्ष का समय देने की बात इसलिए कही गई है कि निज की योग्यता बढ़ाने और सेवा कार्य में संलग्न रहने की तप-साधना कठोर अनुशासन के अन्तर्गत करते रहने का अवसर मिले ।

स्वतन्त्रता आन्दोलन में जेल गए सत्याग्रहियों में से अधिकांश को एक वर्ष जेल रहना पड़ा था । कठोर अनुशासन भी पालना पड़ा था । किन्तु निज की योग्यता बढ़ाने और देश की तपश्चर्या जैसे उपयोगी कार्य करने का अवसर नहीं मिल पाया था, जो हुक्म होता था वही करना पड़ता था । इस अनुरोध में एक वर्ष का समय तो इसी प्रकार का माँगा गया है किन्तु विशेषता यह है कि समय का एक-एक क्षण इस प्रकार का आनन्द देगा जिससे यह अनुभव होता रहे कि 'सार्थक तप' करते हुए आत्मसन्तोष से भरा-पूरा यह समय लगाया और ऐसा कुछ पाया जिसकी जीवनभर उत्साह भरे शब्दों में चर्चा अगली पीढ़ियों के सम्मुख की जाती रहे ।

प्रज्ञा परिवार के सदस्यों की संख्या अब बहुत बड़ी है । इनमें से अनेक ऐसे निष्ठा वाले हैं जिनकी आदर्शवादिता के सम्बन्ध में दो रायें नहीं हो सकतीं । पर इस बार तो एक विशेष परीक्षा का समय सामने आया है ।

महाकाल ने एक वर्ष के लिए घर छोड़कर शान्तिकुञ्ज की युग परिवर्तन योजना के लिए बुलाया है । इसे एक प्रकार का आपत्तिकाल समझकर इतना समय निकालने का साहस करना चाहिए । बीमारी, घरेलू उलझन, परीक्षा में फेल होने जैसे कारणों में अनेक बार एक वर्ष का समय ऐसे ही निरर्थक चला जाता है । समझना चाहिए कि एक महान कार्य के लिए यह एक वर्ष का समय विशेष रूप से दिया गया है ।

प्रज्ञा पुत्रों को इस संदर्भ में अपने मन्तव्य लिख भेजने चाहिए ताकि उनके लिए कार्यक्रमों का विभाजन किया जा सके और सोचा जा सके कि किन्हें प्रज्ञा प्रशिक्षण के लिए और किन्हें प्रज्ञा प्रवास के लिए तैयारी में कब से जुटाया जाना है ।

रामायण कथा और भागवत कथा के सप्ताह आयोजन

पिछले दिनों भागवत सप्ताह कथा का धार्मिक क्षेत्र में बहुत प्रचलन रहा है । सुन्दर, सुसज्जित मंच पर बैठकर भागवत कथा का प्रवचन, पंडितों द्वारा पुराण का पारायण, प्रतिदिन पूजा, आरती, अन्तिम कथा पूजन, ब्रह्मभोज, कथा पुस्तक पर दक्षिणा अर्पण जैसी प्रथा इन आयोजनों की रूपरेखा रही है । लोग इस कथा श्रवण का बहुत पुण्य मानते हैं । जनता का उत्साह, धर्मरुचि के अभिवर्धन, पुण्य फल की प्राप्ति, कथा वाचक का निर्वाह जैसे कई प्रयोजन जुड़े रहने से यह धर्मानुष्ठान अपने ढंग-ढर्रे पर चलते रहे हैं । इसी आधार पर रामायण कथाओं का भी प्रचलन कितनी ही जगह चला है और उसका भी उसी उत्साह में स्वागत हुआ है ।

युग निर्माण योजना के धर्म मंच से भगवान राम और भगवान कृष्ण के चरित्र का कथानक प्रेरणाप्रद पद्धति से प्रस्तुत करते रहने का साप्ताहिक धर्मानुष्ठान क्रम उसी आधार पर बनाया है, जिस पर कि पिछले दिनों भागवत रामायण कथा क्रम चलता रहा है ।

इसका स्वरूप यह है कि कहाँ, किस कथा का, कब से आरम्भ होगा इसकी जानकारी जनता को दी जाय और उसमें सम्मिलित रहने की प्रेरणा हर एक को दी जाय । प्रातःकाल सूर्य उदय होते ही उपस्थित लोगों द्वारा सामूहिक पारायण किया जाय । संगीत को साथ रखा जा सके तो उसकी व्यवस्था भी रखी जाय । पारायण के लिए पुस्तकें उपलब्ध हैं । तुलसीकृत रामचरितमानस का एक संक्षिप्त संस्करण इस प्रकार छापा गया है जिसमें घटनाक्रम भी चलता रहा है और उपदेशपरक सभी मार्मिक स्थल पूर्णतया सुरक्षित रखे गये हैं । इसे १२ विभागों में विभाजित कर दिया गया है । इस सप्ताह आयोजन में आरम्भ, भूमिका जैसा ही होता है । उसमें सामान्य कीर्तन काम में आते हैं । अन्तिम सातवें दिन दोपहर को एक ही सत्र होता है ।

दोपहर को ही पूर्णाहुति हो जाती है; बीच में सवेरे-शाम के कुल मिलाकर सामूहिक गायन पारायण के लिए १२ मीटिंग होती हैं । संक्षिप्त रामायण के बारह ही पारायण विराम रखे गये हैं ।

उपस्थित लोगों में से प्राय: सभी शिक्षितों को संक्षिप्त रामायण की पुस्तकें दे दी जाती हैं । सहगान के रूप में सभी एक साथ एक स्वर में एक प्रकरण का गायन-याचन करते हैं । इसके बाद उसी प्रकरण के कथानक में आये हुए प्रसंगों की व्याख्या कथावाचक इस प्रकार करते हैं जिससे मिशन के आदर्शों के साथ उस प्रकरण की संगति बिठाई जा सके ।

प्रवचन में तुलसीकृत रामचरितमानस के दोहा, चौपाइयों की व्याख्या के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण के श्लोक भी बीच-बीच में कहे बताये जाते रहते हैं । इससे उसका प्राचीन पण्डिताऊ ढर्रा भी बना रहता है और सुनने वाले धर्मप्रेमी लोग उसमें पुरातन कथा-प्रसंगों जैसा आनन्द लेते रहते हैं ।

कृष्ण चरित्र के बारे में भी यही किया गया है । यों भगवान कृष्ण की लीलाओं में कितने ही प्रसंग ऐसे भी हैं जिनकी चर्चा एवं व्याख्या अनावश्यक है । युग निर्माण योजना ने उस लीला सागर में से केवल प्रेरणास्पद प्रसंग ही चुने गये हैं और उन्हें रामायण की तर्ज पर दोहों चौपाइयों से बना दिया गया है । इस संक्षिप्त भागवत का भी रामायण सहगान की तरह एक घण्टा ही सहगान पारायण होता है ।

एक डेढ़ घण्टा कथा प्रवचन भी रामायण की तरह ही होता है और उसमें बीच-बीच में भागवत पुराण के श्लोक कहे बताये जाते रहते हैं । तुलसीकृत रामायण की दोहा, चौपाई और वाल्मीकि रामायण के श्लोकों मे जिस प्रकार रामायण कथा चलती थी, ठीक उसी प्रकार यह दोहा चौपाइयों की कृष्णायन कथा भागवत पुराण के श्लोकों के सन्दर्भ में उसी पुरातन शैली की बन जाती है पर उसके मूल आधार में जमीन-आसमान जैसा अन्तर होता है । पुरातन कथानकों में मात्र लीलाओं का वर्णन ही पर्याप्त माना जाता था । इसमें प्रेरणाएँ, शिक्षाएँ, दिशाएँ मुख्य हैं । नवनिर्माण अपना लक्ष्य है, उसकी प्रामाणिकता और महत्ता के रामायण और कृष्णायन में से जो योगदान मिला उसे ही प्रधानता दी गई है ।

इन सात दिनों में प्रात:-सायं एक-एक घण्टे का सद्ज्ञान डेढ़-डेढ़ घंटे का दोनों समय प्रवचन इस प्रकार ढाई-ढाई घण्टे के दोनों समय कथा कार्यक्रम जनता को भी सुविधाजनक रहते हैं । दफ्तर दुकानों पर जाने वाले लोग प्राय: दस बजे जाते हैं तब तक कथा प्रसंग पूरा हो जाता है । इसी प्रकार सायंकाल काम से लौटने पर ७ से ९।। इसी में कुछ आगे पीछे करके वह भी आसानी से बन जाता है, इसमें किसी का काम भी हर्ज नहीं होता और इस धर्मानुष्ठान में सम्मिलित रहने की बात भी बन जाती है । सात दिन लगातार क्रमबद्ध रूप से भगवान के लीला-प्रसंग सुनने के साथ-साथ भावनात्मक नव-निर्माण की क्रमबद्ध शिक्षा का चलते रहना एक सुयोग्य स्वार्थ ही कहा जा सकता है ।

प्रात:काल २।। घण्टे का कार्यक्रम समाप्त होने के बाद हर दिन एक संस्कार सामूहिक रूप से सम्पन्न किया जाय । उस संस्कार के कराने वाले जितने लोग हों वे सब इकट्ठे हो जायें और गायत्री यज्ञ के साथ-साथ वह कार्य भी ठीक तरह सम्पन्न कर दिया जाय । संस्कारों में (१) पुंसवन, (२) नामकरण, (३) अन्न प्राशन, (४) शिखा स्थापन, मुण्डन, (५) यज्ञोपवीत व (६) वानप्रस्थ किये जाने चाहिये ।

तीसरे प्रहर सहानुभूति रखने वाले सहायकों, सक्रिय सदस्यों, कर्मठ कार्यकर्त्ताओं में विचार-गोष्ठी चलाई जाये और मिशन के कार्य को स्थानीय परिस्थितियों में किस प्रकार अग्रगामी बनाया जा सकता है इसका प्रशिक्षण दिया जाय । कार्य करने की शैली का, अड़चनों के सुलझाने की रीति-नीति का विचार-विश्लेषण किया जाय । इस तरह कथा-अनुष्ठान के साथ चलने वाला यह 'सेमीनार' स्थानीय कार्यकर्त्ताओं में नवीन उत्साह का समावेश कर सकता है ।

अन्तिम दिन पूर्णाहुति में गायत्री यज्ञ, कन्या भोज, ग्रन्थ पूजा आदि की व्यवस्था कर ली जाये । अच्छा यह है कि सहगान प्रकरण में से उपयोगी व्याख्या करने वाले विद्वान, प्रगतिशील कुशल वक्ता, स्थानीय क्षेत्र में ही ढूँढ़ लिए जायें न मिलें तो गायत्री तपोभूमि से भी बुलाये जा सकते हैं । यह साप्ताहिक आयोजन यदि हर वर्ष चलते रहें तो उन्हें शाखा का वार्षिकोत्सव भी समझा जा सकता है और नियत समय पर उसे हर वर्ष सम्पन्न कराने का क्रम भी बनाया जा सकता है ।

स्थानीय एवं क्षेत्रीय नव-जागरण की दृष्टि से यह आयोजन हर दृष्टि से बहुत उपयोगी है । कथा की शैली, प्रवचन का क्रम उनमें बीच-बीच में जोड़े जाने वाले श्लोक तथा उपकथा, दृष्टान्त आदि का समावेश कैसे किया जाय यह इन थोड़ी पंक्तियों में तो नहीं बताया जा सकता पर तीन महीने के कार्यकर्त्ता शिक्षण-शिविरों में हरिद्वार आकर भली प्रकार सीखा जा सकता है ।

रामचरित्र और कृष्णचरित्र के माध्यम से धर्म और नीति के दोनों पहलू जन-मानस में अत्यन्त सरलता और कुशलतापूर्वक प्रतिष्ठापित किये जा सकते हैं । जीवन दर्शन के यह दोनों ही पक्ष अपने आप में अति महत्त्वपूर्ण हैं । दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । एक पक्षीय चिन्तन अपूर्ण और असन्तुलित रहता है । तत्वदर्शी, महामनीषियों ने भगवान राम और भगवान कृष्ण के चरित्र को इन्हीं दोनों तत्वों के व्यावहारिक रूप में प्रस्तुत किया है । यों तो, उन दिव्य चरित्रों में क्षेपकों का भी दु:खद सम्मिश्रण भी कम नहीं हुआ है और उनकी प्रखरता धूमिल भी कम नहीं हुई है तो भी उनके उज्ज्वल पक्ष इतने ओजस्वी हैं कि इतने से भी भारत की धर्मभीरू व अविकसित जनता को बहुत

कुछ सिखाया जा सकता है । संस्कृति के आकाश में चमकने वाले इन सूर्य, चन्द्र के धवल चरित्र पर लगाये गये ग्रहण को हटाये जाने और यथार्थता सम्मुख रखकर डगमगाती लोकश्रद्धा को यथास्थान रखना भी आवश्यक हो गया है ।

रामायण सप्ताह क्यों और कैसे ?

युग निर्माण योजना द्वारा जनमानस में नयी चेतना के जागरण के लिए धर्ममंच का सफल एवं प्रभावशाली प्रयोग किया जाता रहा है । उसके अन्तर्गत युग निर्माण सम्मेलनों के साथ जुड़े हुए गायत्री यज्ञों को ही मुख्य माध्यम बनाया जाता रहा है । अब उस क्रम के अतिरिक्त रामायण सप्ताह आयोजनों का एक व्यवस्थित अभियान भी चालू किया जा रहा है । यों तो, इस सम्बन्ध में पहले भी घोषणा की जा चुकी है किन्तु अब उसे प्रधानता देकर व्यवस्थित अभियान का रूप दिया जा रहा है । रामायण सप्ताह आयोजनों को प्रधानता देने के पीछे कुछ महत्त्वपूर्ण कारण हैं, जिन्हें समझ लेना क्षेत्रीय परिजनों के लिए उचित और उपयोगी होगा ।

अद्‌भुत प्रभावोत्पादक

'रामायण कथा सप्ताह' आयोजन प्रभाव की दृष्टि से यज्ञों की अपेक्षा कम महत्त्व नहीं रखते । प्रभाव का एक आधार है उसके प्रति जनसाधारण की गहन श्रद्धा व दूसरा है उसकी लोकशिक्षण की अद्‌भुत क्षमता

भगवान श्रीराम तथा रामचरितमानस के प्रति भारतीय जनता में वह ग्रामीण हो या शहरी, निरक्षर हो या विद्वान नर-नारी, बालक-वृद्ध सभी में बड़ी गहरी श्रद्धा भावना है । इस श्रद्धा भावना के कारण उसे सुनने, समझने एवं अपनाने के लिए उनके अन्दर एक सहज उत्साह बना रहता है । यह श्रद्धाजनित अपनत्व उत्साह लोकशिक्षण के लिए एक अतीव उपयोगी आधार है ।

दूसरा सबल आधार है रामकथा में सन्निहित व्यक्ति के विकास तथा परिवार एवं समाज के उत्कर्ष के उपयुक्त सूत्रों की बाहुल्यता । इन सूत्रों को विभिन्न पक्षों से विभिन्न रूपों में कुशल वक्ता उभार सकता है तथा श्रोता उससे अपने जीवन को दिशा और गति देने के लिए एक नई स्फुरणा का अनुभव कर सकते हैं ।

यह बात सही है कि समय के प्रभाव अथवा धर्माधीशों द्वारा अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा के कारण अन्य धार्मिक क्षेत्रों की तरह रामकथा के साथ भी विकारग्रस्त मान्यताएँ जुड़ गयी हैं । मात्र पाठ द्वारा पुण्य कमाने अथवा निरर्थक प्रसंगों पर शंका-समाधान चलाने का मनोरंजन जैसा निरर्थक क्रम उससे जुड़ गया है । लोगों की इस भूल के कारण रामकथा के ये प्रेरक तत्व नष्ट तो नहीं ही हुए, उन्हें उभारने तथा उनका लाभ उठाने का मार्ग अभी भी खुला पड़ा है । युग निर्माण अभियान के अन्तर्गत रामकथा के उन्हीं तत्वों को उभारने का क्रम अपनाया तथा उसी के अनुसार कथा एवं प्रवचन करने की-प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गयी है । कथा की-भगवान श्रीराम के लीला प्रसंगों की रोचकता बनाये रखते हुए उनमें सन्निहित महत्त्वपूर्ण प्रेरणाओं का तालमेल बिठाकर उसकी उपयोगिता में चार-चाँद लगा दिये गए हैं । अतः जनश्रद्धा, रोचकता तथा श्रेष्ठ तत्वों के समावेश का संगम अपने कथा आयोजनों में अद्‌भुत प्रभाव पैदा करने में समर्थ हैं ।

अपेक्षाकृत-सुविधाजनक

यह आयोजन प्रभावोत्पादक होने के साथ-साथ यज्ञायोजनों की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक हैं । यज्ञशाला निर्माण, हवन कुण्ड बनाना, हवन सामग्री, घृत, समिधा आदि की व्यवस्था, हवन पात्र, आसनी, पंचामृत, आचमनी आदि बड़ी संख्या में जुटाने आदि की इनमें कोई आवश्यकता नहीं पड़ती । यज्ञकर्त्ताओं की व्यवस्था, उनसे सही ढंग से कर्मकाण्ड कराने, अग्नि सुरक्षा, हवन सामग्री तथा समिधाओं को बराबर पहुँचाते रहने जैसे कार्यों के लिए कुशल स्वयंसेवकों को तैयार करने आदि की जरूरत भी इसमें नहीं पड़ती । यज्ञ पर अपना एकाधिकार मानने वाले पंडित वर्ग के विरोध का भी सामना इसमें नहीं करना पड़ता । इसलिए जहाँ यज्ञायोजनों की व्यवस्था कठिन है वहाँ भी इन्हें सुविधापूर्वक चलाया जाना संभव है ।

कम खर्चीले आयोजन

कथा-सप्ताह यज्ञों की अपेक्षा बहुत कम खर्चीले होते हैं । इनमें केवल वक्ता का मंच तैयार करना पड़ता है तथा अन्तिम दिन पूर्णाहुति तथा प्रसाद वितरण करना पर्याप्त होता है । इन्हें सार्वजनिक चन्दा किये बिना ही कुछ भावनाशील परिजन अथवा कोई एक भी सामान्य सुविधा-सम्पन्न व्यक्ति अकेले ही करा सकता है । केन्द्रीय प्रतिनिधियों की भोजन व्यवस्था घरेलू ढंग से किसी के भी घर हो सकती है । उन्हें मात्र मार्ग व्यय दे देना किसी के लिए कठिन नहीं । अधिक धन की व्यवस्था हो सके तो मिशन को स्वेच्छा-सहयोग तथा स्थानीय परिवार के लिए समर्थता के साधनों में उसे लगाया जा सकता है ।

नये क्षेत्रों में प्रवेश

कथा-सप्ताहों द्वारा उन क्षेत्रों में भी प्रवेश किया जा सकता है जिनमें अब तक मिशन का प्रकाश नहीं पहुँचाया जा सका है । इसका एक कारण तो इन आयोजनों का सुगम और कम खर्चीला होना ही है । जहाँ एक दो कार्यकर्त्ता भी है-वहाँ वे भी इन आयोजनों को करा कर नयी चेतना का सूत्रपात कर सकते हैं । अड़ोस-पड़ोस के क्षेत्र के भी कोई भावना सम्पन्न व्यक्ति उस स्थान में जाग्रति लाने के लिए अपनी ओर से इन आयोजनों को करा सकते हैं ।

इनके द्वारा नये क्षेत्र पकड़ने का एक और भी आधार है । समाज में अनेक प्रकार की मानसिक बनावट के व्यक्ति रहते हैं । यज्ञीय माध्यम से एक विशेष प्रकृति के व्यक्तियों को ही प्रभावित किया जा सकता है । कथा-कीर्तन, भजन-भक्ति में ढाँचे में ढला एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा भी है जो अन्य धार्मिक आयोजनों को देखकर नमस्कार कर लेने जैसी थोड़ी बहुत श्रद्धा दिखाकर ही रह जाता है, उसमें रुचि लेकर गम्भीरता से प्रवेश नहीं कर पाता । समाज के उच्च वर्ग के व्यक्तियों के लिए यह आयोजन अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे । जहाँ यज्ञायोजन होते रहे हैं वहाँ भी कथा आयोजन होने पर यह देखा जाता है कि बड़ी संख्या में नया वर्ग उसके माध्यम से मिशन के निकट सम्पर्क में आ जाते हैं । अस्तु, नये एवं पुराने सभी क्षेत्रों में इन आयोजनों द्वारा अधिक व्यक्तियों तक संदेश पहुँचाना सम्भव है ।

आयोजन की रूपरेखा

इन आयोजनों की रूपरेखा इस प्रकार रहेगी:-

जहाँ आयोजन किया जाना है वे अपने स्थान के उपयुक्त समय निश्चित करके उन तिथियों में प्रतिनिधि भेजे जाने की माँग शांतिकुंज भेज देंगे । उस आधार पर उन्हें स्वीकृति प्राप्त हो जायेगी तब वे आयोजन की सार्वजनिक घोषणा करेंगे ।

अच्छा यही है कि केवल अपने स्थान के आयोजन के लिए माँग करने की अपेक्षा निकटवर्ती क्षेत्रों के २-२ अन्य आयोजनों की शृंखला बनाकर पूरी शृंखला के लिए माँग की जाय । इससे प्रतिनिधि एक ही चक्र में अधिक स्थानों पर जा सकेंगे तथा आने-जाने के खर्च में बचत होगी ।

इन आयोजनों में प्रातःकाल आधा घण्टे रामायण कीर्तन तथा उसके बाद दो घंटे कथा का क्रम चलेगा । सायंकाल दो से तीन घंटे तक की सभा होगी । जिसमें संगीत, कीर्तन तथा प्रवचनों का क्रम चलेगा । दोपहर में केन्द्रीय प्रतिनिधि स्थानीय कार्यकर्त्ताओं के साथ मिलकर परामर्श, उनके शिक्षण, संगठन तथा विभिन्न रचनात्मक प्रवृत्तियों का संचालन करेंगे । महिला जागरण शाखाओं का गठन, उनका विकास तथा मार्गदर्शन भी इसमें शामिल रहेगा ।

इन आयोजनों के साथ प्रभातफेरियों तथा धर्मफेरियों का क्रम अनिवार्य रूप से जुड़ा रहेगा । इस कार्य में क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं के सहयोग तथा मार्गदर्शन के लिए केन्द्र से कथावाचक के साथ-साथ एक या दो स्वयं सेवक भी पहुँचेंगे । यह स्वयं सेवक प्रातःकाल स्थानीय प्रभातफेरी निकालेंगे । स्थानीय कार्यकर्त्ता तथा विद्यार्थी आदि इनका साथ देंगे । उसके यह स्वयंसेवक स्थानीय कार्यकर्त्ताओं के साथ कम से कम ५ की टोली बनाकर निकटवर्ती गाँव में जायेंगे । देहाती क्षेत्र में गाँव पास-पास होते हैं । एक मार्ग से जाने तथा दूसरे मार्ग से लौटने में जाते और आते समय दो-दो, कुल चार गाँवों में रोज सम्पर्क किया जा सकता है । इस प्रकार नित्य प्रातः चलकर चार गाँवों में धर्मफेरी लगाकर शाम तक वे वापिस आयेंगे । यह यात्रा पैदल अथवा साइकिलों पर की जा सकती है । स्थानीय कार्यकर्त्ताओं की बदल-बदल कर ड्यूटी लगायी जाती रह सकती है । जिन गाँवों में वे जायेंगे वहाँ नारे लगाकर, वाक्य लेखन करके, चौराहों पर खड़े होकर दस-पन्द्रह मिनट के प्रवचन संदेश देते हुए आयोजन का निमंत्रण भी देते चलेंगे । कुछ सस्ता प्रचार साहित्य भी वे साथ में रखेंगे ।

इस प्रकार छह दिन तक कथा प्रवचन, रचनात्मक कार्य, जन-सम्पर्क एवं प्रचार का कार्य चलता रहेगा । अन्तिम दिन (सातवें दिन) कथा समाप्ति के बाद गायत्री यज्ञ द्वारा पूर्णाहुति की जायेगी । उसके बाद कार्यक्रम समाप्त घोषित कर दिया जायगा ।

कार्यक्रम की समाप्ति के बाद केन्द्रीय कार्यकर्त्ताओं की टोली अगले कार्यक्रम के लिए प्रस्थान कर जायगी । यदि सार्वजनिक चन्दे से कार्यक्रम हुआ है तो उसका हिसाब- किताब तथा शेष राशि को मिशन के निर्देशों के अनुरूप खर्च करने का निर्णय केन्द्रीय प्रतिनिधि की उपस्थिति में ही ले लेना चाहिए । इससे बाद में स्थानीय व्यक्तियों द्वारा दबाव देकर शेष राशि को परम्परागत ढंग से निरर्थक कार्यों में खर्च कराने का भय नहीं रह जाता । स्थानीय प्रमुख कार्यकर्ता उसके उपयोग का निर्णय अपने विवेक से शाखा के हित में ही ले लें-केन्द्रीय प्रतिनिधि की उपस्थिति का लाभ तो यही है कि उसके मान-मर्यादा के नाम प्रभाव से दूसरे तत्वों को सक्रिय होने से रोका जा सकेगा ।

सारा कार्य पूरा होने पर प्रतिनिधियों को मार्ग व्यय और मिशन के लिए सहयोग यथाशक्ति दिया तो जाय, किन्तु ध्यान रहे कि किसी को भी व्यक्तिगत रूप से कुछ भी नहीं दिया जाना है । किराया तथा आवश्यक खर्च उन्हें उचित सीमा में केन्द्र से दिया जाता है अतः वे व्यक्तिगत रूप से कुछ भी भेंट स्वीकार नहीं करते, इसके लिए न तो क्षेत्रीय परिजन आग्रह करें और न ही उनके स्वीकार न करने का बुरा ही मानें । किराया तथा स्वेच्छा सहयोग के नाम पर जो भी राशि दी जाये वह केन्द्र(गायत्री तपोभूमि) में जमा होगी तथा उसकी रसीद शाखा को भेज दी जायगी ।

व्यवस्था प्रकरण

कथा सप्ताह आयोजन खर्च की दृष्टि से सस्ते किन्तु आकर्षक और प्रभावशाली बनाये जावें । इसके लिए इन बातों का ध्यान रखें ।

१-आयोजन ऐसे समय में किया जाय जबकि अपने क्षेत्र के व्यक्ति किसी कार्य में अधिक व्यस्त न हों । बड़े पर्व तथा फसल आदि के काम का-शादी ब्याहों के मुहूर्तों का समय बचाकर समय का निर्धारण किया जाना उचित है ।

२- स्थान का चुनाव इस दिशा में महत्त्वपूर्ण है। स्थान, नगर या गाँव के उन इलाके में न हो जहाँ स्वाभाविक रूप से शोरगुल अधिक होता रहता है। यह भी ध्यान रखा जाय कि वहाँ मंच बनाने, श्रोताओं को बिठाने तथा अन्तिम दिन पूर्णाहुति का यज्ञ करने के लिए पर्याप्त स्थान हो। इन सुविधाओं के साथ-साथ आवश्यक यह भी है कि वह स्थान इतनी दूर न हो कि जन-साधारण स्त्री-बच्चों को वहाँ पहुँचने में कठिनाई हो।

३-वक्ता का मंच ऊँचा तथा सुरुचिपूर्ण बनाया जाय। उसमें अधिक खर्च तो न किया जाय किन्तु श्रम एवं सूझ-बूझ से भी पर्याप्त सौन्दर्य पैदा किया जा सकता है। घरेलू कपड़े, चादरों, साड़ियाँ, झंडियों आदि से उसे आकर्षक बनाया जा सकता है। यदि हरियाली और फूलों का प्रयोग करे तो उन्हें प्रतिदिन या एक दिन के अन्तर से बदलते रहना चाहिए।

४- यदि हो सके तो वक्ता के मंच से ऊँचा तख्त लगाकर उसके पीछे अथवा बाजू में भगवान राम तथा लाल मशाल का चित्र, कलश एवं दीपक आदि की झाँकी बनायी जा सकती है। यह तभी करना चाहिए जब कथा प्रवचन के अतिरिक्त समय में भी वहाँ सुरक्षा की व्यवस्था की जा सकती हो।

५- रामायण कीर्तन के लिए कीर्तन पुस्तिका की अधिक प्रतियाँ रखकर पाठ के समय उन्हें वितरित करने तथा बाद में एकत्रित कर लेने का क्रम चलाया जा सकता है। कीर्तन के समय संचालक एक बार बोलें तथा सब लोग उसे दोहरायें। यदि इसमें कठिनाई हो तो कीर्तनकारों की पूरी टोली कीर्तन के लिए बैठे। एक या दो व्यक्ति पहले बोलें तथा ५-६ सधे हुये व्यक्ति उन्हें दोहराते चलें। सायंकाल प्रवचन के समय सहगानों का भी ऐसा ही क्रम बनाया जा सकता है।

६- कीर्तन कराने वालों, सहगान कराने वालों तथा साज बजाने वालों के लिए वक्ता के मंच के पास ही दूसरा स्थान बनाकर रखा जाय। मुख्य मंच पर ही उन्हें न बिठाया जाय। व्यास पीठ मर्यादा बनाये रखने से आयोजन की गरिमा और प्रभाव में वृद्धि होती है।

७- कीर्तन, सहगान कथा एवं प्रवचनों के लिए माइक की व्यवस्था रखी जाय। रात्रि में बिजली अथवा गैस बत्तियों के प्रकाश की भी समुचित व्यवस्था रहे।

८-श्रोताओं को व्यवस्थित रूप से बिठालने, उनके जूते उचित स्थान पर उतारने तथा उसकी सुरक्षा की व्यवस्था स्वयंसेवकों के माध्यम से बनायी जाय। महिलाओं तथा पुरुषों के लिए प्रथक-प्रथक स्थान निश्चित रहे। सभी पंक्तिबद्ध बिठाले जायें। ऋतु के अनुरूप छाया, पानी, पेशाबघर आदि की समुचित व्यवस्था की जाय।

९-धर्मफेरी के लिए नियुक्त स्वयंसेवकों तथा कार्यकर्त्ताओं को कथा आयोजन से मुक्त रखा जाय। वे अपने सम्पर्क अभियान में ही पूरी तन्मयता से लगें उनके लिए उचित साहित्य, वाक्य लेखन के लिए रंग, ब्रुश, कूची, झंडे, झोले, शंख आदि की व्यवस्था करके रखी जाय।

१०-कीर्तन कराते तथा सहगान एवं युग निर्माण संगीत के लिए पहले से तैयार व्यक्तियों को सुनिश्चित ही बिठाया जाय। उनके लिए गीतों आदि का निर्धारण भी पहले से रहे अन्यथा एन मौके पर कुछ का कुछ होने लगता है—सारा वातावरण ही बिगड़ने लगता है।

यज्ञीय प्रकरण

यज्ञ आयोजन के अन्तिम दिन पूर्णाहुति के रूप में किया जायगा। उसकी मर्यादाएँ नयी घोषित मर्यादाओं के अनुरूप ही रहें। संक्षेप में उसके सूत्र इस प्रकार हैं:-

(१) कुण्ड बनाने के झंझट में न पड़कर वेदियाँ ही बनाकर उन पर यज्ञ कर लिया जाय। पाँच वेदियाँ बना लेना भर पर्याप्त है। संख्या बढ़ाई न जाय।

(२) वेदियाँ ईंटों पर मिट्टी बिछाकर अथवा मिट्टी को ही तीन इंच ऊँचा जमाकर तैयार कर ली जाय। आकार २४ इन्च लम्बा-चौड़ा रहे। ढाई ईंट से यह आकार आ जाता है। समिधाएँ उसी हिसाब से छोटी-छोटी काट कर रखी जावें।

(३) आहुतियाँ एक ही पारी में करायी जावें तथा इसके लिये कन्याओं को ही नियुक्त किया जाय। आहुतियाँ २४ अथवा १०८ कराना ही पर्याप्त है। पूर्णाहुति में सबको अवसर दिया जा सकता है।

(४) हवन सामग्री में सुगन्धित औषधियाँ ही रहे-खाद्य पदार्थ नहीं। यदि चौबीस आहुतियाँ करनी हैं तो पूर्णाहुति सहित २ किलो तथा यदि १०८ आहुतियाँ करनी हैं तो ५ किलो हवन सामग्री सामान्य रूप से पर्याप्त होगी। यदि पूर्णाहुति में संख्या बहुत अधिक हो तो उस हिसाब से कुछ अधिक सामग्री भी लग सकती है।

(५) घी की आहुतियाँ प्रारम्भ में आज्याहुति तथा अन्त में स्विष्टकृत पूर्णाहुति तथा वसोधारा में ही पड़ेंगी। इसके लिए प्रतिकुण्ड १०० ग्राम कुल ५०० ग्राम घी पर्याप्त होगा।

(६) यज्ञ के बाद घृत आवघ्राण भस्म धारण आदि कृत्यों में सबको शामिल किया जाय।

(७ प्रसाद-वितरण के लिए केवल पंचामृत, चिरौंजीदाने अथवा बूँदी जैसे सुविधाजनक पदार्थ ही रखे जावें।

(८) अन्त में कम से कम ७ अथवा सुविधानुसार २४ तक कन्याओं का भोजन कराया जाय।

इस प्रकार यह श्रीराम कथा सप्ताह आयोजन हर क्षेत्र में नयी तरंग पैदा करते हुए सारे देश में तीव्रगति से विशाल पैमाने पर चालू किये जा सकते हैं। इनके माध्यम से लोक-

जागरण का महान कार्य बड़ी सुविधा और सुन्दरता से उल्लेखनीय प्रगति पा सकता है ।

गीता माध्यम से जन-जाग्रति की योजना

गीता के द्वारा भगवान कृष्ण ने कायरता और शोक-संताप से घिरे हुए किंकर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन को पुनः कर्त्तव्यरत बनाया था । इसी महान् ज्ञान को प्राप्त करके वह पांचजन्य बजाता हुआ, गांडीव को टंकारता हुआ कर्त्तव्य-धर्म के महाभारत में प्रविष्ट हुआ था । उसका सत्साहस देखकर भगवान स्वयं उसका जीवन रथ चलाने के लिए सारथी बने थे । आज हमारे व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक वातावरण की स्थिति मोहग्रस्त अर्जुन जैसी ही बनी हुई है । इसे वीरोचित कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर करने के लिए आज फिर गीता का सहारा उसी प्रकार आवश्यक हो गया है जैसा कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व उस महत्त्वपूर्ण युग परिवर्तन की सन्धि बेला में आवश्यक हुआ था । आज के अन्धकारमय वातावरण में गीता से हमें समुचित प्रकाश मिल सकता है । गायत्री उपासना द्वारा आत्म-बल और गीता द्वारा कर्त्तव्य-दर्शन प्राप्त करके हम आज की सभी समस्याओं को हल कर सकते हैं । गायत्री और गीता हमारे ज्ञान-योग और कर्म-योग को परिपूर्ण कर सकती हैं ताकि ईश्वर प्राप्ति की पुण्य-प्रक्रिया भक्ति का सच्चा मार्ग हमें मिल सके ।

यों ढाई रुपये वाली गीता का पाठ लाखों व्यक्ति रोज ही करते हैं । हजारों व्यक्ति ऐसे भी मिलेंगे जिन्हें गीता कण्ठाग्र याद होगी । यह पाठ-पूजा की प्रणाली भी उत्तम है पर इतने मात्र से कुछ विशेष प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है । गीता की उस तेजस्विता को हमें ढूँढ़ना पड़ेगा जिससे अकर्मण्य अर्जुन की भुजाएँ फड़कने लगी थीं और **'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'** उभय पक्षीय लाभ देखकर '**युद्धाय कृत निश्चयः**' के परिणाम पर पहुँच गया था । जो दीनता और हीनता का जीवन बिता रहे हैं वे गीता का नित्य पाठ भले ही करते रहें उसके प्रकाश से लाख कोस दूर पड़े हैं यही मानना पड़ेगा । जिस औषधि को खाकर अर्जुन कर्त्तव्यपरायण हुआ था उसे हम खावें तभी काम चलेगा । मीठा-मीठा रटने से मुँह मीठा नहीं हो सकता । मिठास का आनन्द तो उसे मिलेगा जो उसे खाने लगेगा । गीता पूजा-पाठ की पुस्तक नहीं, जीवन का मार्गदर्शन उसमें भरा पड़ा है । आवश्यकता इस बात की है कि हम ठीक तरह उसे समझें और जो समझ सकते हों वे उसे जीवन में उतारने की विधि बनायें । ऐसा ही तेजस्वी गीता परायण युग-निर्माण की पुण्य बेला में आज के अर्जुन को अभीष्ट है ।

गीता माध्यम से नव-जागरण की पूरी प्रक्रिया हमने अपनी 'गीता-कथा' नामक पुस्तक में विस्तारपूर्वक बता दिया है । गीता-सप्ताह में परायण और गायत्री यज्ञ का समन्वय होकर एक सुन्दर धर्मानुष्ठान किस प्रकार बन सकता है ? इन्हें प्रायोगिक रूप से शांतिकुंज के शिविरों में जीवन-निर्माण की, युग-निर्माण की प्रेरणाप्रद शिक्षा और कार्यपद्धति के प्रशिक्षण के साथ सीखा जा सकता है । उस तेजस्वी शिक्षण में सम्मिलित होने वाले व्यक्ति एक नया जीवन, नया प्रकाश, नया कार्यक्रम, नया उत्साह लेकर यहाँ से गये हैं और उनमें से अधिकांश की जीवन दिशा में नया मोड़ आया है । प्रयत्न यह है कि ऐसे ही तेजस्वी प्रशिक्षण की व्यवस्था गाँव-गाँव में होती रहे । दस दिन न सही सात दिन में भी काम चल सकता है । गीता-सप्ताह के माध्यम से धर्मानुष्ठान के वातावरण में जीवन-निर्माण की, युग-निर्माण की शिक्षा यदि जनता को मिले तो निस्सन्देह उसका परिणाम सब प्रकार श्रेयस्कर ही होगा और उससे अपने लक्ष्य की पूर्ति में भारी सहायता मिलेगी ।

जिस प्रकार पिछले दिनों जगह-जगह गायत्री यज्ञ हुआ करते थे और उनके माध्यम से नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावनाएँ प्रसारित की जाती थीं, उसी प्रकार अब आगे गीता सप्ताहों का कथा-अनुष्ठान जगह-जगह मिलेगा । हर शाखा इसी माध्यम से अपना वार्षिकोत्सव कर लिया करेंगी । सात दिन तक योजनाबद्ध प्रशिक्षण चलेगा । अन्तिम दिन ही गायत्री यज्ञ होगा । सीमन्त, नामकरण, अन्न-प्राशन, विद्यारम्भ, मुण्डन, यज्ञोपवीत आदि संस्कार भी जिनको कराने होंगे वे भी एक-एक दिन एक-एक संस्कार के लिए निर्धारित रहने से सात दिन में वे भी पूरे हो जायेंगे । गीता परायण को पद्यानुवाद के साथ सामूहिक गायन के माध्यम से चलाने पर यह भजन कीर्तन जैसा संगीतमय एवं आकर्षक बन जायगा । गीता के श्लोकों के साथ रामायण की चौपाइयों का समन्वय अपना एक अलग ही रस उत्पन्न करेगा, फिर प्रत्येक श्लोक की व्याख्या में अनेक पौराणिक कथाएँ, ऐतिहासिक गाथाएँ महापुरुषों के स्मरण तथा मनोरंजक दृष्टान्तों का समन्वय हो जाने से वह इतनी मधुर बन जायगी कि सुनने वालों को अधिक से अधिक देर उस प्रसंग को सुनने में अभिरुचि रहेगी । इस प्रकार का प्रशिक्षण-बाल-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित सभी के लिए प्रेरणाप्रद ही नहीं मनोरंजक भी रहेगा ।

इस प्रकार की गीता कथा कहने और षोडश संस्कार कराने की पद्धति द्वारा लोकशिक्षण एवं जन-जागरण के उद्देश्यों की पूर्ति होगी । इन सात दिनों में उस नगर में अनेक रचनात्मक प्रवृत्तियों को जन्म दिया और सुधारात्मक उत्साह को अग्रसर करने का प्रयत्न किया जा सकता है । इससे जिस शाखा में ऐसी कथाएँ होंगी वहाँ एक नया उत्साह और नया जीवन उत्पन्न होना स्वाभाविक है ।

गीता-सप्ताह के धर्मानुष्ठानों के अतिरिक्त प्रतिदिन सायंकाल को थोड़ी-थोड़ी गीता कथा कहने की नियमित व्यवस्था भी चल सकती है । सप्ताह में एक दिन सत्संग के

रूप में भी यह क्रम चल सकता है । पूरी गीता का सारांश लेकर दो-ढाई घण्टे का एक आयोजन सत्यनारायण व्रत कथा की तरह भी रखा जा सकता है । इस प्रकार कितने ही तरीकों से जहाँ जैसी सम्भावना हो वहाँ व्यवस्था बनाई जा सकती है । भगवान कृष्ण का सन्देश और गीता का तत्वज्ञान बिल्कुल वही है जो युग-निर्माण आन्दोलन का है । अस्तु, भगवान और उनकी वाणी गीता का आश्रय लेकर इस महान् विचारधारा को जन-साधारण तक आसानी से पहुँचाया जा सकता है । इस दृष्टि से गीता प्रचार पद्धति नये युग का सूत्रपात करने में बड़ी सहायक सिद्ध होगी ।

कथा प्रवचन प्रक्रिया का एक अभिनव प्रयोग

दैनिक व्यवहार में आवश्यक परामर्श वार्तालाप द्वारा चलते रहते हैं । किन्तु अनभ्यस्त प्रसंगों के लिए अतिरिक्त शिक्षण की आवश्यकता पड़ती है । स्कूलों में निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार यह प्रक्रिया चलती है । लोक शिक्षण के लिए सत्संगों की व्यवस्था चलती है । स्वाध्याय का लाभ शिक्षितों और सुरुचि सम्पन्नों को ही मिलता है । सर्वसाधारण के लिए सत्संग उपक्रम ही काम देता है । इसके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के आयोजन समारोह चलते रहते हैं । धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक सभाएँ, सम्मेलन प्रायः अभीष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आयोजित होते रहते हैं ।

इस सन्दर्भ में लोकरंजन और लोकमंगल के समन्वय की भी एक विधा है । इसमें नाटक, अभिनय, प्रदर्शनी, संगीत सम्मेलन, वाद-विवाद प्रतियोगिता जैसे उत्साहवर्धक आकर्षक कार्यक्रमों का भी उपयोग किया जाता है । सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन भी इसी उद्देश्य की एक सीमा तक पूर्ति करने लगे हैं । इनका उद्देश्य भी लोक-शिक्षण है । यह उपयोगी भी है और आवश्यक भी । बिना इसके जनसमुदाय की जानकारी एवं रुचि काम-काजी गतिविधियों तक सीमित होकर रह जाती है ।

मानव जीवन अनेकानेक सन्दर्भों एवं प्रसंगों के साथ जुड़ा हुआ है । मात्र पेट-प्रजनन ही सब कुछ नहीं है । इससे आगे की, बाहर की जानकारी भी उसे होनी चाहिए । अन्तरंग और बहिरंग जीवन से सम्बद्ध अनेक समस्याओं और समाधानों के सम्बन्ध में उसे अगले दिनों अधिक जानना पड़ेगा । इन दिनों जो कुछ सोचा-समझा जाना-माना जा रहा है उसमें भ्रान्तियों एवं विकृतियों का घटाटोप ही बेतरह घुसा हुआ प्रतीत होता है । यथार्थता से जन-जन को अवगत कराने के लिए अभी बहुत कुछ सीखने सिखाने की आवश्यकता है । शारीरिक-मानसिक पारिवारिक, आर्थिक सामाजिक क्षेत्रों में श्रेष्ठता, सदाशयता, प्रगतिशीलता एवं सुव्यवस्था की स्थापना के लिए अभी इतना कुछ करना शेष है जिसे एक प्रकार से अभिनव निर्धारण ही कह सकते हैं । लोकमानस के परिशोधन परिष्कार की इस आवश्यकता को विचार-क्रान्ति ज्ञानयज्ञ एवं प्रज्ञा अभियान का नाम दिया गया है । हम सबके लिए यही सर्वोपरि स्तर का कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व है ।

सद्ज्ञान संवर्धन की आवश्यकता पूरी करने के लिए प्रज्ञा अभियान की पाँच सूत्री योजना का परिचय सभी को है । इस शृंखला में एक कड़ी प्रज्ञा पुराण के आधार पर चलने वाले कथा प्रवचनों की और भी जुड़ती है । यह चिर परीक्षित प्रयोग है । इसे चिरकाल से विज्ञजनों ने अपनाया और हर कसौटी पर खरा पाया है ।

लोकरंजन की एक प्रक्रिया कथा-कहानी भी है । चारवेदों में मात्र २००० मंत्र हैं । जबकि अकेले महाभारत में एक लाख श्लोक । स्कन्द पुराण आदि का भी ऐसा ही विस्तार है । अठारह पुराण और अठारह उपपुराणों का विस्तार इतना बड़ा है कि उन्हें तराजू के एक पलड़े में रखा जाय तो अन्य सभी धर्मग्रन्थ मिलाकर दूसरे पलड़े पर रखे जाने पर हलके ही पड़ेंगे । अन्यान्य धर्मों में भी यही बात है । बुद्ध जातकों, जैन पुराणों का विस्तार भी कम नहीं है । इस्लाम और ईसाई धर्मों में भी पुराण गाथा का विस्तार उनके धर्म शास्त्रों से अधिक है ।

यह धार्मिक क्षेत्र की चर्चा हुई । साहित्य क्षेत्र में कथा-कहानियाँ, उपन्यास ही सबसे अधिक संख्या में छपते हैं । पत्रिकाओं में भी यही भरा रहता है । फिल्में मात्र कहानियाँ ही तो हैं । बाल साहित्य के रूप में जो कुछ उपलब्ध है उनका ९९ प्रतिशत भाग कहानियों के रूप में ही सामने है । घरों में लोक-शिक्षण का सर्वथा सफल और समर्थ प्रयोग कहानियाँ कहकर बच्चों तथा बड़ों की जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रचलन है । नानी की कहानी बच्चे बड़े चाव से सुनते हैं । समझदार माताएँ बालकों को ज्ञान वृद्धि के लिए विनोद, मनोरंजन के लिए प्रायः कहानियाँ सीखती और कहती रहती हैं ।

इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि संसार में इतना अधिक कथा-साहित्य सृजा गया है पर उसमें यथार्थता, उत्कृष्टता एवं व्यावहारिकता का प्राणवान शिक्षण दे सकने वाली कृतियाँ बहुत खोजने पर भी खोदा पहाड़ निकली चुहियाँ की उक्ति चरितार्थ करती दीखती है । इस सन्दर्भ में जो उपलब्ध है वह भ्रान्तियों एवं विकृतियों से अछूता नहीं है । फलतः जो उसे पढ़ते, सुनते हैं वे लाभ उठाने के स्थान पर घाटे में ही रहते हैं ।

लोकशिक्षण के लिए कथा साहित्य की अत्यधिक उपयोगिता, आवश्यकता अनुभव करते हुए युगान्तरीय

चेतना के सूत्र-संचालकों ने लोक-मानस के परिष्कार को ध्यान में रखते हुए 'प्रज्ञा पुराण' की अभिनव संरचना की है । इसमें धार्मिक ऐतिहासिक दृष्टान्तपरक उन्हीं कथानकों का संकलन समावेश किया गया है । जो आज की स्थिति एवं आवश्यकता के अनुरूप प्रभाव छोड़ने में समर्थ हैं । जिनमें उत्कृष्टता, आदर्शवादिता का समुचित समावेश है । जो व्यक्ति और समाज को प्रस्तुत उलझनों से निकाल कर-यथार्थता एवं प्रगतिशीतला की दिशा में अग्रसर कर सकने में समर्थ हैं । इसे गहरे समुद्र में डुबकी लगाकर मणि-मुक्तक तलाश करने और उनका हीरक हार बनाये जाने की उपमा दी जा सकती है । युग देवता के वक्ष स्थल को सुशोभित करने में इस अनुपम आभूषण की भूरि-भूरि प्रशंसा ही की जा सकती है ।

सामयिक लोक-शिक्षण के लिए प्रज्ञा-पुराण की कथा-वार्ता का प्रचलन सर्वत्र परिपूर्ण उत्साह के साथ होना चाहिए । घर परिवारों में उसे एक नित्य नियम की तरह कार्यान्वित किया जाय । नानी की कहानी से जिस लोकरंजन और लोकमंगल की आशा-अपेक्षा की जाती है उसका परिपूर्ण समावेश इसमें भली प्रकार उपलब्ध हो सकता है । बच्चों से लेकर बड़ों तक सभी के लिए इसका कथन प्रवचन मनोरंजन, प्रेरणाप्रद एवं उत्साहवर्धक सिद्ध हो सकता है ।

रात्रि को कथा कहने की पुरातन परम्परा का यह अभिनव संस्करण है । अपने प्रज्ञापीठों तथा प्रज्ञासंस्थानों में यह व्यवस्था होनी चाहिए कि नित्य नियमित रूप से यह कथा आरम्भ कर दी जाय । श्रीमद्भागवत रामायण आदि के साप्ताहिक कथापरायण धर्मानुष्ठान भी समय-समय पर सम्पन्न होते रहते हैं । वैसा ही प्रचलन अपने परिवार में प्रज्ञा पुराण का भी होना चाहिए । सात अध्याय इसी दृष्टि से रखे गये हैं कि एक दिन में एक अध्याय कहने का निर्धारण अपनाकर उसे एक धर्मानुष्ठान के रूप में सम्पन्न किया जा सके । जहाँ इतना अवसर न हो वहाँ एक दो दिन की भी कथा कही जा सकती है और जो अध्याय जिस समुदाय वातावरण में फिट बैठता है, उसका वहाँ प्रवचन किया जा सकता है ।

प्रज्ञा पुराण की कथाएँ ऐसी हैं, जिनका सामान्य प्रवचनों में भी समावेश करते हुए लम्बे समय तक अनेक प्रवचन करते रह सकने का आधार बन सकता है । जबकि विचार प्रधान भाषण में दो चार दिन के भीतर ही संचित विचार समाप्त करके वक्ताओं को छूँछ होते देखा गया है ।

पंचतंत्र हितोपदेश की कहानियाँ सुनकर राजकुमारों की अनगढ़ता दूर हो गई थी और वे सुयोग्य एवं बुद्धिमान बने थे । प्रज्ञा पुराण अपने समय को राजकुमार मानकर चलता है और उन्हें इस प्रकार प्रशिक्षित करता है जिसमें वे युग धर्म को ठीक प्रकार पहचान सकने में व्यवस्था का अभिनव निर्धारण कर सकने में भली प्रकार समर्थ हो सकें । जहाँ जिस प्रकार भी संभव हो हमें प्रज्ञापुराण की कथा-प्रवचन प्रक्रिया को उत्साहपूर्वक विस्तारपूर्वक प्रचलित करने का प्रयास करना चाहिए ।

प्रज्ञा पुराण का आलोक घर-घर पहुँचे

नवयुग में जाग्रत आत्माओं को अपने समग्र व्यक्तित्व को उत्कृष्ट एवं प्रखर बनाना होगा । अग्रगामी प्रतिभाएँ ही सामान्य जनसमुदाय को प्रभावित करती हैं और अपने आकर्षण से अनेक को पकड़ती, बाँधती, प्रगति पथ पर घसीट ले चलती हैं । अस्तु, युग संधि की वेला में प्रसुप्त प्रतिभाओं को जाग्रत करना और उन्हें आत्मनिर्माण के पुण्य-प्रयोजन में नियोजित कर देना, प्रमुखता एवं प्राथमिकता दिये जाने योग्य कार्य है । इसे अविलम्ब किया जाना चाहिए ।

आदर्शवादी तत्वदर्शन को जन-जन के मन में प्रवेश कराना-उसके प्रति आस्था उत्पन्न करके जीवन-क्रम में सम्मिलित करने की स्थिति तक पहुँचाना, सामयिक लोकशिक्षण की विशिष्टता होनी चाहिए । इसके लिए पुराण शैली ही जानी-पहचानी और जाँची-परखी शैली है । कथानकों के सहारे उच्चस्तरीय आस्थाओं की पृष्ठभूमि समझाना और हृदयगंम कराना कितना सरल और कितना प्रभावी सिद्ध होता है, इसे हजारों वर्षों से भली प्रकार समझा जाता रहा है । यही कारण है कि पुराण, उप पुराणों से लेकर कथा-साहित्य का विपुल भण्डार सृजा गया है । वेद, उपनिषद् जैसे श्रद्धा-दर्शन की तुलना में पौराणिक कथा-साहित्य की मात्रा सहस्रों गुनी अधिक है । वह लोकप्रिय भी है साथ ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल भी । रामायण गीता, भागवत जैसे पाठ-परायण के ग्रंथ, कथा साहित्य ही तो हैं ।

प्रज्ञायुग की अपनी आवश्यकताएँ हैं । परिस्थितियों के अनुरूप प्रतिपादन एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था करना युग धर्म है । भूतकाल में भी इसी आधार पर समय की माँग पूरा करने वाला साहित्य सृजा और उसे कथानकों के माध्यम से जन-साधारण को हृदयंगम कराया जाता रहा है । इन दिनों भी उसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होनी है । अस्तु, अभिनव प्रज्ञापुराण का सृजन किया गया है । इसमें पुरातन कथा प्रसंगों को इस प्रकार सँजोया जाता है कि जिससे नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक गुत्थियों का सामयिक समाधान उपलब्ध हो सके ।

प्रज्ञायुग में लोकमानस को विवेकशीलता एवं शालीनता की नीति-मर्यादा के अनुरूप ढाला जाना है ।

इसलिए प्रस्तुत अवांछनीय प्रचलनों, रुझानों को निरस्त भी किया जाना है । यही है अधर्म के नाश और धर्म के संस्थापन की ईश्वरीय प्रक्रिया का सूक्ष्म-प्रवाह । यह चल पड़े तो स्थूल परिवर्तनों की घटना घटित होते देर नहीं लगती । हवा में नमी लाने वाले मानसून आते ही गर्मी वाला सारा माहौल बदल जाता है । सर्वत्र पानी भरा दीखता है और हरीतिमा का देखते-देखते समूची धरती पर मखमली फर्श बिछ जाता है । विचारों का बीजारोपण ही कर्म का विशाल वृक्ष बनता है ।

धर्मधारणा की पृष्ठभूमि पर अवांछनीयता के उन्मूलन और शालीनता के संवर्धन को विचारधारा प्रभावित करने के लिए प्रज्ञा अभियान की युगान्तरीय चेतना इन दिनों सूक्ष्म जगत में अपने प्रखर अस्तित्व का पग-पग पर परिचय दे रही है । इसे सर्वसाधारण के मन:क्षेत्र में उतारने एवं हृदयंगम कराने के लिए कुछ सुनिश्चित आधार प्रस्तुत किये जा रहे है उज्वल भविष्य का निर्माण करने के लिए वर्तमान में उच्चस्तरीय पुरुषार्थ करने पड़ते हैं । इसके लिए भूतकाल के इतिहास के घटनाक्रम की साक्षी प्रस्तुत करनी पड़ती हैं । अन्यथा अभ्यस्त अवांछनीयता के दोषों को समझना और नये प्रयत्नों की सफलता में विश्वास उत्पन्न कर सकना ही कठिन हो जाता है । साक्षी के बिना अदालतें तक फैसला नहीं करतीं । आदर्शवादी रीति-नीति अपनाने के लिए वर्तमान प्रचलनों के प्रमाण उपलब्ध न हों तो भूतकालीन उदाहरण ही एकमात्र आधार रह जाते हैं, जिनके सहारे उत्कृष्टता अपनाने की उपयोगिता पर सर्व साधारण का विश्वास जमाया जा सके । प्रज्ञायुग में धर्म-धारणा के आधार पर ही श्रद्धा और शालीनता का पक्षधर लोकमानस बनता है । इसलिए स्वभावत: साक्षियाँ भी उसी क्षेत्र में ढूँढनी पड़ेंगी ।

नवयुग के निमित्त आवश्यक भाव चेतना उत्पन्न करने के लिए अतीत के गौरव भरे उदाहरणों का प्रस्तुतीकरण आवश्यक समझा गया है । इसके लिए आवश्यक सामग्री का संकलन करके प्रज्ञापुराण का अभिनव सृजन हुआ है । इसकी शैली अन्य पुराणों, उप पुराणों जैसी ही है । प्राचीनकाल के व्यास अपने-अपने समय के अनुरूप नये-नये पुराण रचते रहे हैं । मनीषियों ने स्मृतियों की नयी-नयी रचनाएँ अपने-अपने समय की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए लिखी हैं । प्रज्ञापुराण में स्मृतियों के प्रतिपादन तथा कथानकों के उदाहरण क्रम का समावेश किया गया है ।

प्रज्ञापुराण प्रत्येक खण्ड में श्लोक, मूल प्रतिपादन, भूतकालीन उद्धरण, दृष्टान्त आदि का ऐसा समावेश है जिसके आधार पर हर स्तर से स्रोता को कथा, कहानी की मनोरंजन शैली पर युगान्तरीय चेतना से अवगत एवं प्रभावित किया जा सके । यह प्रचलन इन दिनों उसी उत्साह से होना है जैसा कि पिछले दिनों भागवत कथा, रामायण कथा आदि का रहा है । इसके आयोजन चार दिवसीय होंगे और उसका स्वरूप पुराण कथा की धर्मानुष्ठान शैली पर होगा । श्रद्धा का वातावरण बनाने पर ही उच्चस्तरीय आदर्शों को हृदयंगम कराने वाली गम्भीरता बनती है । अस्तु, प्रचलित कथा-कीर्तन का समन्वय करते हुए प्रज्ञापुराण के ऐसे आयोजन की योजना बनी है जिनमें कुछ निष्ठावान उसे व्रतशील होकर नियमपूर्वक सुनें और साथ ही अपने प्रभाव क्षेत्र के अधिकाधिक लोगों को उस ज्ञान यज्ञ का लाभ लेने का आग्रहपूर्वक घसीट कर लायें । व्रतशील श्रोता चौबीस भी हों तो वे अपने साथ दस-दस, पाँच-पाँच लोगों को और भी ला सकते हैं । इस प्रकार कथा आयोजन में सहज ही दो ढाई सौ की उपस्थिति हो सकती है । यदि प्रचार और व्यवस्था का कुछ अच्छा रूप बना दिया जाय तो उपस्थिति सैकड़ों से लेकर हजारों तक की हो सकती है और इस शान्त, गम्भीर, धार्मिक एवं श्रद्धासिक्त ज्ञानयज्ञ का प्रभाव लोकमानस को परिष्कृत करने में, युगान्तरीय चेतना से अनुप्राणित करने में चमत्कारी परिणाम प्रस्तुत कर सकता है ।

एक-एक खण्ड का एक-एक आयोजन होते-होते दस बार में सम्पूर्ण प्रज्ञापुराण सुन सकने का विज्ञजनों को अवसर मिल जायगा । चार दिन के आयोजन में अन्तिम दिन आधे दिन की पूर्णाहुति ही होगी । इस प्रकार सात मीटिंगों में सात अध्याय सुनाये जाया करेंगे । अन्तिम दिन पाँच कुण्डी गायत्री यज्ञ होगा । जिसमें देव-दक्षिणा के रूप में नवनिर्माण के लिए कुछ व्रत लेकर जाग्रत आत्माएँ अपनी श्रद्धाञ्जलि प्रस्तुत किया करेंगी । आरम्भ के दिन प्रात:काल कथारम्भ का प्रज्ञापूजन उपक्रम होगा ।

यों यह पुराण कथा घर-परिवारों में भी सुनाये जाने योग्य है । संस्कृत श्लोकों को छोड़कर मात्र हिन्दी वाले कथा भाग को भी नियमित रूप से या साप्ताहिक रूप से इसे कहा जा सकता है । तो भी इस विचारधारा को भावनापूर्वक ग्रहण करने के लिए उसका स्वरूप सत्यनारायण कथा जैसा धर्म श्रद्धायुक्त बनाने और कथा कीर्तन की परम्परागत शैली का समन्वय उसमें होना चाहिए । मात्र कहानी कहने जैसी बाजारू प्रक्रिया इस प्रयोजन के माध्यम से उच्चस्तरीय उद्देश्य पूरा करने और अन्तराल को गहन परतों तक प्रस्तुत युगचेतना को पहुँचा सकने में समर्थ न हो सकेगी । अस्तु, प्रस्तुत प्रेरणाओं के अनुरूप ही उसके कथा श्रवण का रूप भी भावश्रद्धा से समन्वित रखने में ही दूरदर्शिता है ।

सामान्य भाषण और कथा-कीर्तन की समन्वित धर्म परम्परा में कुछ विशेष अन्तर है । साथ ही उसकी श्रोताओं के अनुरूप प्रसंगों को मोड़ने की बारीकियाँ भी । धार्मिक वातावरण बनाने के लिए कुछ उपचार उपक्रम भी हैं । उन सबका ज्ञान एवं अभ्यास कराने के लिए शान्ति-

कुञ्ज, हरिद्वार में समग्र व्यवस्था है, जिन्हें आना हो अपनी योग्यता का विवरण भेजते हुए जिस सत्र में सम्मिलित होना हो उसकी स्वीकृति मँगा लें ।

प्रज्ञापुराण कथा-उद्देश्य और स्वरूप

प्रगतिशील जीवन में वाणी का मुखर होना आवश्यक है। जिस प्रकार हाथ, पैर चलने से पेट भरता और जीवनक्रम का ढर्रा चलता है उसी प्रकार वाणी के मुखर होने से पारस्परिक सहयोग बढ़ता व समाज सम्पर्क बनता है और प्रगति का अवरुद्ध द्वार खुलता है । लोकसेवा में सबसे बड़ा परमार्थ किसी की दिशाधारा शालीनता की दिशा में मोड़ देना है । इसके लिए भी वाणी का मुखर होना आवश्यक है । न्याय पाने और न्याय दिलाने के लिए भी भाषण एवं संभाषण कला आनी चाहिए । वाणी प्रत्यक्ष सरस्वती है, जो उसकी आराधना करता है, वह स्नेह, सहयोग, वैभव, कौशल एवं पुण्य-परमार्थ अर्जित करता है । महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में मुखरता का मूर्धन्य स्थान है ।

शिल्प, संगीत, कृषि, उद्योग, विद्या आदि विभिन्न कलाकौशल जन्मजात रूप से या अनायास किसी को भी उपलब्ध नहीं होते । उनका अभ्यास करना पड़ता है । ठीक इसी प्रकार भाषण, संभाषण का भी प्रयत्न एवं मनोयोगपूर्वक अभ्यास करना पड़ता है । इस प्रयोजन के लिए कथा, कहानियाँ कहने की पद्धति का आश्रय लेना सबसे सरल है । भाषण में अपने विषय का अध्ययन करना पड़ता है और बोलने में प्रवाह का तारतम्य बिठाने के लिए उसका क्रमबद्ध ढाँचा बनाना पड़ता है । उदाहरण प्रमाण ढूँढ़ कर उन्हें जहाँ के तहाँ फिट करना पड़ता है । किन्तु कथा शैली में सब कुछ पका पकाया मिल जाता है । उसे व्यक्त भर करना पड़ता है । पूर्व परिसंगतियाँ बिठाने की आवश्यकता नहीं पड़ती । फिर कहानियाँ रोचक भी होती हैं । उन्हें बाल-वृद्ध, सभी रुचिपूर्वक सुनते हैं । मनोरंजन के साथ शिक्षण के सम्बन्ध का सरल मार्ग इसके अतिरिक्त दूसरा है नहीं ।

युग संधि की वेला में व्यक्ति, परिवार और समाज के नवनिर्माण की महती आवश्यकता है । इसके लिए जन मानस को परिष्कृत करने की अनिवार्य आवश्यकता है । चिन्तन और चरित्र में उत्कृष्टता का समावेश करने के लिए जिस लोकशिक्षण की आवश्यकता है । उसके लिए महामानवों के चरित्र का उदाहरण प्रस्तुत करने से सर्वसाधारण को यह समझाया जा सकता है कि आदर्शवादिता न तो कठिन है, न घाटे की । उसे थोड़ा-सा साहस अपनाने वाले सहज ही जीवन में उतारते और उपलब्धियों से लाभान्वित होते हैं ।

उपरोक्त सभी प्रयोजनों की एक साथ पूर्ति के लिए प्रज्ञापुराण कथा को नितान्त सामयिक, सरल और अभीष्ट प्रतिफल उत्पन्न कर सकने में समर्थ समझा जा सकता है उसमें देव संस्कृति का स्वरूप एवं गौरव समझने-समझाने का अवसर मिलता है । युग की समस्याओं का समाधान करने के लिए समय-समय पर तत्वदर्शी, मनीषियों ने परिस्थितियों के अनुरूप धर्मग्रन्थ रचे हैं । अपने समय की आवश्यकताओं का जैसा निराकरण, निर्धारण प्रज्ञापुराण में हुआ है वैसा अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता । इस आलोक को घर-घर, जन-जन तक पहुँचाकर हमें जन-जागरण की आवश्यकता पूर्ण करने का पुण्य भी अर्जित करना चाहिए ।

प्रज्ञापुराण में दिये गये कथानकों को कई-कई बार मनोयोगपूर्वक पढ़ना चाहिए । एक-एक कथा कई-कई प्रयोजनों की पूर्ति करती है । उसमें कई-कई प्रकार की शिक्षाएँ, प्रेरणायें व दिशाधारायें भरी होती हैं । अवसर के अनुसार उन कथाओं में से जिन्हें कहने की आवश्यकता है वे कहनी चाहिए । इतना ही नहीं यह भी देखना चाहिए कि किस कथा से, किस स्तर के श्रोताओं को ध्यान में रखते हुए क्या प्रेरणा उभारनी चाहिए । जो रुचिपूर्वक इस ग्रन्थ को पढ़ेंगे और ध्यानपूर्वक उन्हें खोजेंगे वे अपने काम आने वाले मणिमुक्तक बड़ी संख्या में सहज ही एकत्रित कर लेंगे । बालकों के लिए, वयस्कों के लिए, वृद्ध असमर्थों के लिए, सुधार प्रयोजनों के लिए, सत्प्रवृत्ति संवर्धन के लिए, प्रौढ़ों और प्रबुद्धों के लिए किस स्तर के उदाहरण एवं कथानक अभीष्ट हैं, इन्हें स्थानीय परिस्थिति एवं आवश्यकता को देखते हुए उपयुक्त सामग्री पर्याप्त मात्रा में एकत्रित की जा सकती है और यथा अवसर श्रोताओं का स्तर एवं रुझान देखते हुए तदनुरूप शैली में सुनाई जा सकती है । विषयों को अलग से छाँटना और समय के अनुरूप उन्हें प्रस्तुत कर सकना कुछ कठिन भी नहीं है । मनोयोगपूर्वक ढूँढ़-खोज करने से हर स्तर की सामग्री इस ग्रंथ में से प्रचुर परिमाण में एकत्रित हो सकती है । किन्तु जिनके लिए वह कठिन पड़े वे प्रज्ञा पुराण को ज्यों का त्यों भी अपनी छोटी टिप्पणियों के साथ सरस शैली में कहते रह सकते हैं । उसका लाभ भी कम नहीं है ।

प्रवचन, भाषण भी एक कला-कौशल है । जो अभ्यासपूर्वक कुछ ही दिनों में भली प्रकार सीखा जा सकता है । इसमें सबसे बड़ी कठिनाई है-अभ्यास न होने की झिझक, बहुत से लोगों के सामने ठीक तरह न कह पाने का डर-असमंजस । उसे निकाला जा सके और जिस प्रकार काम की बातें रोजमर्रा थोड़े या बहुत लोगों के सामने कही जाती रहती हैं उसी प्रकार बिना झिझक संकोच के अपनी बात मंच से कहने का अभ्यास कर लिया जाय तो समझना चाहिए तीन-चौथाई समस्या का समाधान हो गया । सभी की जीभें एक ही प्रकार की पदार्थों से बनी हैं, फिर कोई भाषण, संभाषण धाराप्रवाह करे, कोई झिझकता, सकुचाता कुछ कह ही न सके तो घबराने लगे । इस व्यथा असफलता का एक ही कारण

है-आत्महीनता, असमंजस व असफलता की आशंका यदि इस दुर्बलता को आत्मविश्वास जगाकर छोड़ा, खदेड़ा जा सके तो समझना चाहिए वक्ता बनने के मार्ग की सबसे बड़ी चट्टान हट गई ।

आरम्भिक अभ्यास के दो उपाय हैं । एक यह कि अकेले में, बन्द कमरे या जंगल में जाकर निधड़क होकर कथा कहना या प्रवचन करना आरम्भ किया जाय । कमरे में बिखरे सामान को, जंगल में उगे पेड़-पौधों को जनता मानकर उसके सामने बिना किसी डर-झिझक के ऊँचे स्वर में भाषण आरम्भ कर दिया जाय । विचार-प्रवाह न बने तो कोई पृष्ठ पढ़कर भी सुनाये जा सकते हैं । इसका उपाय है कि अपने से छोटे बालकों के सामने कथा कहना आरम्भ किया जाय । 'नानी की कहानी' वाली उक्ति प्रसिद्ध है । पिछले दिनों 'नानियाँ, प्राय: अशिक्षित ही होती थीं फिर भी वे ढेरों कहानियाँ याद ही नहीं रखतीं वरन् आकर्षक शैली में घंटों सुनाती भी रहती थीं । सभी उन्हें रुचिपूर्वक सुनते रहते थे । यह प्रयोग प्रज्ञापुराण का अवलम्बन लेकर किया जाय तो उसमें कठिनाई पड़ने जैसी आशंका करने का कोई कारण नहीं ।

प्रज्ञापुराण में हर स्तर का मार्गदर्शन करने योग्य सामग्री भरी पड़ी है । उसे हर वर्ग में सफलतापूर्वक कहा जा सकता है । फिर भी अच्छा यह है कि अभ्यास अपने घर से आरम्भ किया जाय और उसे बाल कथा के रूप में बिना किसी आडम्बर या अड़चन के आरम्भ कर दिया जाय । कथा शैली में रोचकता एवं प्रवाह अवश्य होना चाहिए । कर्कश, अस्त-व्यस्त, अनगढ़ ढंग से कहने पर ही अच्छे प्रतिपादन भी लड़खड़ाने लगते हैं और बेतुके प्रतीत होते हैं । घर में इन कथाओं को रात्रि में अवकाश के समय कहने का ढर्रा चल पड़े तो जहाँ अपना अभ्यास बढ़ेगा वहाँ मनोरंजन का उपक्रम, व्यक्तित्व को निखारने वाले मार्गदर्शन का भी दूरगामी सत्परिणाम उत्पन्न करने वाला समावेश रहेगा ।

साधारणतया: प्रज्ञापुराण सामूहिक लोकशिक्षण की दृष्टि से लिखा गया है । पारिवारिक शिक्षण, लघु गोष्ठियाँ तथा झिझक खोलने के अभ्यास प्रयोग भी इससे किये जा सकते हैं । किन्तु इसका बड़ा उपयोग तब है जब अधिक लोगों को, लम्बी अवधि तक इस आधार पर मानवी गरिमा के अनुरूप ढालने का उपक्रम जारी रखा जा सके । उपयुक्त वातावरण बनाने के लिए मंच की सात्त्विक किन्तु श्रद्धा उत्पन्न करने वाली सज्जा आवश्यक है । भागवत कथा, रामायण कथा, सत्यनारायण कथा आदि में मंच की सज्जा, आरम्भिक पूजा, अर्चा, आरती, मंगलाचरण आदि का समावेश रहने से धर्म श्रद्धा का उद्‌भव होता है और कथन, प्रतिपादन का महत्त्व कहीं अधिक बढ़ जाता है । इस प्रक्रिया का समावेश करने का जहाँ जैसा अवसर हो उसे हाथ से नहीं जाने देना चाहिए । इन दिनों लोकवादी प्रवचनों में लोकरुचि है नहीं । हमें प्रयत्नपूर्वक जन सम्पर्क साधना, व्यक्तिगत सम्पर्क बनाकर उत्साह उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए ताकि उस प्रयास परिश्रम का लाभ अधिक लोग, अधिक परिमाण में उपलब्ध कर सकें ।

प्रज्ञापुराण कथा के साथ कीर्तन का समावेश भी प्रारम्भ और अन्त में थोड़ा-थोड़ा रहना चाहिए । कथावाचक का स्वर मधुर हो तो वह भी करा सकता है अन्यथा किन्हीं मधुर कंठों की सहायता से प्रेरणाप्रद सहगानों का सिलसिला चलाया जा सकता है । वाद्य यंत्र साथ रहे तो और भी अच्छा है ।

कथा शैली और भाषण शैली का मौलिक अन्तर समझ लेना चाहिए । भाषणों में जोश, आवेश, आक्रोश व्यक्त करने वाले ऊँचे स्वर का भी प्रयोग हो सकता है, किन्तु कथा धर्म मंच से होती है इसलिए उसमें सौम्य, शान्त रस ही काम देता है । स्वर मध्यम, नपा-तुला, प्रवाहयुक्त रहना चाहिए । करुणा, स्नेह, सौजन्य, संयम, सेवा, सद्‌भाव जैसे भावों का प्रवाह कथा शैली में अधिक फिट बैठता है । महत्त्वपूर्ण अवसरों पर पीड़ित पक्ष के प्रति करुणा जगाकर अनीति के प्रति आक्रोश की प्रतिक्रिया उत्पन्न की जा सकती है । कड़ककर, झल्लाकर बोलने की गुंजाइश कथा में है नहीं । उसमें सहज सरलता एवं सरसता रहनी चाहिए तभी कथा शैली फबती है । उदाहरणों, घटनाओं का बहुत ही सार, संक्षेप प्रज्ञापुराण में लिखा गया है । इन पर रंग चढ़ाना, विस्तृत करना, वक्ता की अपनी सूझ-बूझ पर निर्भर है । सोने की डली बाजार से खरीदी जाती है । उससे विभिन्न आकृतियों वाले आभूषण गढ़ना, मीनाकारी करना, मोती गूँथना स्वर्णकार के हाथ है । प्रज्ञा पुराण को सोने की डली भर समझा जाय । उसे ज्यों का त्यों सुनाने का पाठ करने का पुण्य लाभ लेने की अपेक्षा प्रस्तुत प्रसंगों को सरस, आकर्षक, प्रेरणाप्रद बनाने की बात वक्ता की अपनी सूझ-बूझ पर निर्भर है ।

समस्त कथा आद्योपान्त कहने में तो महीनों का समय चाहिए । अपने को कितना समय मिला है, किस स्तर के लोग हैं, माहौल कैसा बना है, उसे देखते हुए प्रज्ञा पुराण के, कहीं से भी प्रसंग चुन लेने चाहिए और उन बिखरे प्रसंगों को एकत्रित करके एक प्रवचन बना लेना चाहिए । यही बात श्लोकों के सम्बन्ध में भी है । डेढ़-दो घंटे की गोष्ठी में १०-२० श्लोक कह देना पर्याप्त है । सारे श्लोकों को, सभी के अर्थों को सुनाने की आवश्यकता नहीं है । वे तो प्रज्ञा उपनिषद् के रूप में लिखे गए हैं । मनन के लिए तत्वदर्शन के रूप में उनका स्वाध्याय हो सकता है, साथ ही विज्ञजनों की उपस्थिति में उनका विवेचन सत्संग चल सकता है । पुराण कथा में तो अधिक महत्त्व के श्लोक ही

कहे जाते हैं उन पर निशान लगा रखा जाय और बार-बार दुहराकर गले में बैठा लिया जाय तो कथा के बीच-बीच श्लोक कहने की बात उतने भर से बन जाती है ।

प्रज्ञा पुराण आयोजन की तैयारी में देर न करें

सभी जीवन्त प्रज्ञा-संस्थानों, प्रज्ञा-संगठनों को अपने यहाँ मार्च से जुलाई के बीच प्रज्ञा पुराण आयोजन की तैयारी करनी चाहिए । यह समारोह होंगे तो स्थानीय स्तर के ही पर उनमें उपस्थित लोगों को युग चेतना से अवगत एवं प्रभावित करने का अधिक अवसर मिलेगा । खर्च भी कम पड़ेगा । मंच, रोशनी, लाउडस्पीकर का प्रबंध तो अनिवार्य है । जनता के बैठने के लिए पंडाल की आवश्यकता शोभा-सज्जा की दृष्टि से ही उपयुक्त लगती है, अन्यथा कार्यक्रम प्रातःकाल तथा रात्रिकाल रहने से सुनने वाले खुले में भी बैठ सकते हैं । पंक्तिबद्ध एवं व्यवस्था पूर्वक बिठाने का प्रबन्ध तो करना ही होगा । छोटे बच्चों वाली महिलाएँ सबसे अन्त में बैठें । उनके आसपास ही बड़े बच्चों के बैठने का प्रबंध हो अन्यथा वे अबोध अपने ढंग से अपनी हलचलें चलाते हैं और सत्संग के वातावरण को अस्त-व्यस्त करके रख देते हैं । खाँसी के मरीज, अधिक वृद्ध एवं अर्द्धविक्षिप्तों को भी पीछे इतनी ही दूर रखना चाहिए कि उनके कारण अन्यान्यों का ध्यान न बँटे । ऐसी ही छोटी-मोटी व्यवस्थापरक बातें हैं जिनका आयोजनकर्त्ताओं को पहले से ही ध्यान रखना होता है । शेष सब कार्य तो ऐसे ही मिल-जुलकर सरलतापूर्वक निपट जाते हैं । खर्च भी इतना नहीं पड़ता जिसके लिए सर्वसाधारण से चंदा माँगना पड़े । परिवार के लोग ही आपसी सहयोग से दो-पाँच सौ का प्रबंध कर सकते हैं । इतने भर से अन्तिम दिन के यज्ञ तथा वक्ता श्रोताओं के बैठने सुनने की व्यवस्था बन जाती है । जिन्हें आयोजनों का पूर्व अभ्यास है उनके लिए इस तैयारी में तनिक भी कठिनाई नहीं होनी चाहिए ।

प्रज्ञा पुराण आयोजन का महत्त्व हर दृष्टि से सामयिक एवं नितान्त उपयोगी है । लोकचेतना में सत्प्रवृत्तियों का समावेश, संवर्धन इन्हीं दिनों आवश्यक है । हर क्षेत्र में घुसी हुई दुष्प्रवृत्तियों के उन्मूलन का मोर्चा खोलने का भी ठीक यही समय है । अधर्म के नाश और धर्म के संस्थापन की अवतार प्रतिज्ञा का निर्वाह इन्हीं दो मोर्चों पर जूझने से होता है । भगवान प्रेरणा एवं शक्ति देते हैं । जाग्रत आत्माओं को अग्रिम पंक्ति में खड़े होकर उस प्रवाह को हृदयंगम करने तथा अग्रगामी बनाने के लिए रीछ-बानरों की तरह तत्पर होना होता है । उन्हीं में से कुछ अंगद, हनुमान, नल, नील, जामवन्त से लेकर गीध, गिलहरी जैसी अपने-अपने ढंग की भूमिकाएँ निभाने लगते हैं । इस प्रकार "एकोऽहं बहुस्याम" का निर्धारण अवतार काल में भी चलता है और अग्रगामी अग्रदूतों का उत्तरदायित्व सँभालते हुए अवतार का प्रयोजन पूरा करने में श्रेयाधिकारी बनते हैं, इस स्तर की आत्माओं की कमी नहीं । उन्हें जगाने, उभारने भर की आवश्यकता है । इस प्रयोजन की पूर्ति में प्रस्तुत प्रज्ञा-पुराण आयोजनों का असाधारण योगदान होगा । नव निर्मित प्रज्ञा पुराण को ज्वलंत चिनगारी या अंगार कह सकते हैं पर उसे विस्तृत करने के लिए ईंधन तो जुटाना ही होगा । प्रस्तुत आयोजनों से यह कार्य सहज ही पूरा हो सकेगा । जो सुनेंगे प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे, इस शुभारम्भ से सभी प्रज्ञा संस्थानों, संगठनों को तत्काल अपना भाग पूरा करना चाहिए ।

उपरोक्त पाँच महीनों में जहाँ जिन्हें सुविधा हो अपने लिए समय शान्तिकुंज, हरिद्वार से पत्र व्यवहार करके अभी से निर्धारित कर लें ताकि समय पर प्रशिक्षित वक्ता भेजने में कठिनाई न हो । देर से चेतने वालों को सदा असमंजस रहता है और कटौती करने कराने की उखाड़-पछाड़ का सिरदर्द उत्पन्न करना पड़ता है । इसलिए अच्छा यही है कि समय से पूर्व अपनी चार दिन की तिथियाँ निश्चित करा ली जायें ।

आयोजन का स्वरूप विशुद्ध धर्मानुष्ठान का है । इनकी तुलना भागवत सप्ताह आयोजन से करनी चाहिए । वे मात्र प्रवचन सत्संग नहीं होते वरन् उनमें कुछ लोग व्रतपूर्वक सम्मिलित होते और आदि से अन्त तक सम्मिलित रहते हैं । साथ ही उन दिनों आहार-विहार सम्बन्धी कुछ व्रतशीलता भी निभाते हैं । ठीक इसी प्रकार प्रज्ञा पुराण आयोजन को भी एक चार दिवसीय धर्मानुष्ठान माना जायेगा । उनमें प्रातः सूर्योदय से लेकर दो ढाई घंटे और रात्रि में दो ढाई घंटे लगाने वाले व्रतशीलों को आरम्भ में ही निमन्त्रित कर लेना चाहिए । इसके लिए समय रहते दौड़-धूप करने एवं संपर्क साधने की आवश्यकता पड़ेगी । इस प्रकार व्रतशील जितने अधिक हो सकें उतना ही अच्छा । इसमें किसी को कोई कठिनाई भी नहीं पड़ेगी । क्योंकि काम-धंधे पर जाने का समय प्रायः नौ दस बजे का ही होता है । दिन छिपे तक लोग घर लौट ही आते हैं । इसलिए बिना दैनिक कार्य में हर्ज किये कोई भी इस कथा अनुष्ठान में सम्मिलित हो सकता है । उन दिनों गर्मी का अवकाश समय भी प्रायः सभी को रहेगा । इसलिए व्रतशील श्रवण-कर्ताओं की संख्या कहीं भी कम नहीं पड़ेगी । प्रयत्न ही न किया जाय, सम्पर्क ही न साधा जाय तो बात दूसरी है ।

व्रतशीलों को चार दिन ब्रह्मचर्य, भूमिशयन एवं एक समय भोजन के तीन संयम-नियम भी निभाने होते हैं । स्वयं सम्मिलित रहने के अतिरिक्त यह प्रयत्न भी करना होता है कि परिचय सम्पर्क के अन्य लोगों को भी उसमें सम्मिलित करने के लिए अनुरोध आग्रह करें और घसीटकर साथ लायें । इस प्रकार विचारशील श्रवणकर्त्ता चार दिन इस आयोजन में सम्मिलित होंगे तो किसी न किसी अंश में प्रस्तुत युगान्तरीय चेतना से प्रभावित भी होंगे । कारण कि प्रज्ञा

पुराण का सृजन जिस ऋषि ज्योति से हुआ है वह सम्पर्क में आने वालों को प्रभावित किये बिना रह ही नहीं सकती।

प्रज्ञा पुराण कथा आयोजन को इस युग के अश्वमेध यज्ञ से रत्ती भर भी कम पुण्य फलदायक नहीं मानना चाहिए। भविष्य में अकेला यह एक ही पुराण प्रगति, परमार्थ और सद्गति का आधार बने तो इसमें आश्चर्य नहीं।

प्रज्ञा कथा की व्यवस्था एवं पूर्ण तैयारी

(१) प्रज्ञा पुराण आयोजनों को धर्मानुष्ठानों के वातावरण में सम्पन्न किया जाना चाहिए। भागवत कथा, रामायण कथा, सत्यनारायण कथा, देवी भागवत, शिव पुराण आदि के कथा आयोजन धर्मप्रेमी लोग समय-समय पर करते रहते हैं। उन सब की विशेषता एक ही होती है–श्रद्धा उत्पन्न करने वाला वातावरण। इसके बिना वे किस्सा-कहानी सुनाने जैसे बाजारू हो जाते हैं। सभा मंचों की तरह इन्हें प्रचारात्मक स्टेज भी नहीं बनाया जाना चाहिए। उपस्थित लोग वातावरण से भी सहज श्रद्धा उपलब्ध करें तभी प्रज्ञा पुराण के उत्कृष्ट प्रतिपादनों को कानों में उथलेपन में भी गहरा उतारकर अन्तःकरण के मर्मस्थल तक पहुँचाया जा सकेगा। इस तथ्य को आयोजनकर्ता महत्त्व दें और तद्नुरूप सज्जा व्यवस्था बनायें।

(२) कथा वेदी को व्यास पीठ की तरह सुसज्जित किया जाय। उपस्थिति का अनुमान लगाकर व्यास पीठ की ऊँचाई निर्धारित की जाय। उसे उपलब्ध साधनों से यथासंभव अधिक सुसज्जित किया जाय। वक्ता का, पुराण का, आयोजन का सम्मान, महत्त्व, इस प्रकार की मंच व्यवस्था से बनता है। पुस्तक रखने की एक छोटी विशेष सजी चौकी वक्ता के सामने रहे।

(३) स्थान चयन करते समय इस बात का अनुमान लगाना चाहिए कि उपस्थिति कितनी होने की संभावना है। अनुमानित लोग ठीक प्रकार आ सकें न जगह बहुत खाली पड़ी रहे न घिचपिच हो, इस बात का ध्यान रखा जाय। यदि उपयुक्त हाल है तो ठीक अन्यथा खुली जगह में कनात लगाकर अपनी आवश्यकता का स्थान बना लिया जाय।

(४) कथा प्रातः सूर्योदय से लेकर दो घंटा होगी। रात्रि को भी दो घण्टे का ही समय है। गर्मी के दिनों में ६.३० या ७.०० से इसे आरम्भ करना ठीक होगा ताकि उपस्थित लोग नित्य कर्म से निवृत्त होकर आ सकें।

(५) लाउडस्पीकर का प्रबन्ध रखा जाय। रात्रि में रोशनी भी चाहिए ही। वक्ता की पुस्तक पर प्रकाश पड़ता रहे ताकि उसे ग्रंथ वाचन में असुविधा न हो।

(६) उपस्थित लोगों को बिठाने की क्रम व्यवस्था इस आधार पर कराई जाय कि बीच-बीच में विक्षेप न हो। कथा के व्रतशील स्रोता अग्रिम पंक्ति में बैठें। इसके बाद पुरुष वर्ग को मञ्च के सामने रखा जाय। महिलाएँ एक ओर रहें। बच्चों को एवं बच्चे वाली महिलाओं को सबसे पीछे बिठाया जाय। बच्चे समझ नहीं पाते, साथ ही चंचल स्वभाव के कारण इधर-उधर मचकते, गड़बड़ी फैलाते हैं। छोटे बच्चे माँ की गोद में रोने लगते हैं। इस विक्षेप से कथा का वातावरण बिगड़ने न पाये इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उन्हें पीछे या बगल में बिठाना ही उचित है।

(७) आयोजन से पूर्व कथा सुनने के लिए विचारवान्, धर्मप्रेमी, मध्यम वर्ग के लोगों को घर-घर जाकर निमन्त्रित किया जाय। उन्हें इस कथा का महत्त्व समझाया जाय और चारों दिन उपस्थित व्रतशील रहकर कथा सुनने के लिए सहमत किया जाय। ऐसे बड़े आदमियों से आग्रह न किया जाय जो कौतूहल की दृष्टि से आवें और समय की कमी बताकर बीच से ही उठकर भागें। पैन्ट के कारण जिनके लिए कुर्सी का प्रबंध करना पड़े या बार-बार उकडू बैठे पैर बदलें, ऐसे लोगों को बुलाना ही व्यर्थ है। कथा का अद्योपान्त स्वरूप धर्मानुष्ठान जैसा रहना है। उसमें किसी बड़े को उद्घाटन के लिए, निरीक्षण के लिए बुलाने की आवश्यकता नहीं है जो भी आवें मात्र श्रवण-कर्त्ता बनकर आवें। इसी में आयोजन का गौरव है।

(८) आयोजन चार दिन के होंगे। प्रकारान्तर से उन्हें साढ़े तीन दिन के भी कहा जा सकता है। प्रथम दिन प्रातः काल कलश स्थापना, देव पूजन, स्वस्तिवाचन, चारों दिन कथा सुनने वालों, व्रतशीलों का वरण, तिलक आदि कृत्य होंगे और कथा का प्रथम अध्याय होगा। सायंकाल को मात्र कथा। साथ ही सहगान, कीर्तन, कथा के पश्चात् पन्द्रह मिनट होगा। दूसरे तीसरे दिन प्रातः सायं दो-दो घंटे की कथा के अन्त में पन्द्रह मिनट का सहगान कीर्तन च[illegible]करेगा।

(९) चौथे दिन पूर्णाहुति का पञ्च कुंडी हव[illegible] रहेगा। यज्ञशाला, बाँस-बल्ली कपड़े के आच्छादन [illegible] या पल्लवों से भी बन सकती है। कथा सर्वप्रथम होगी [illegible] इसके बाद यज्ञ। व्रतशील श्रवणकर्त्ताओं को ही यज्ञ में बिठाया जाय। अन्य लोगों को मात्र पूर्णाहुति की एक आहुति व परिक्रमा आदि में ही सम्मिलित किया जाय। समूची भीड़ के यज्ञ पर बिठाने की आवश्यकता नहीं है। अनगढ़ लोगों को बिठाने से अव्यवस्था फैलती है।

(१०) पूर्णाहुति में से उन लोगों को वरिष्ठता दी जाय जो देव दक्षिणा के निमित्त भविष्य में प्रज्ञा युग लाने के लिए कुछ व्रत ग्रहण करें। देव दक्षिणा के सम्बन्ध में कथा के चारों दिन उपस्थित लोगों को कुछ न कुछ समझाया जाता रहेगा। जो भावनाशील होंगे उन्हें उसका ज्ञातव्य पत्रक भी दिया जाता रहेगा। प्रयत्न यह होना चाहिए कि अधिक लोग-अधिक ऊँचे स्तर की देव-दक्षिणा प्रस्तुत करें। देव दक्षिणा में आत्मनिर्माण की समय-साधना तथा लोक निर्माण के लिए समय दान, अंश दान की आवश्यकता

समझी समझाई जानी चाहिए । यह कार्य कथा के साथ-साथ चलता रहेगा ।

(११) पूर्णाहुति के दिन कथा आधा घंटे की, देव दक्षिणा के अनुरोध पन्द्रह मिनट का और यज्ञ दो घंटे का होगा । इस प्रकार उस दिन प्रायः तीन घंटे लगेंगे ।

(१२) संभव हो तो अंतिम दिन अमृताशन का प्रीति-भोज भी रखा जाय । अमृताशन अर्थात् मात्र उबली हुई खाद्य सामग्री । जैसे चावल, दाल, खिचड़ी, दलिया आदि । इसमें सस्तापन सात्विकता तो है ही । साथ ही जन्म-जाति के आधार पर चलने वाली ऊँच-नीच की भावना का उन्मूलन भी होता है । पूड़ी पकवानों की प्रचलित परम्पराओं को हटाना ही समीचीन है ।

(१३) यह सारी व्यवस्थाएँ समय से पूर्व ही जुटा रखनी चाहिए । ताकि नियत समय पर दौड़-धूप करने की हैरानी न उठानी पड़े । यज्ञ, लाउडस्पीकर, रोशनी, बिछावट, सज्जा, प्रचार पत्रक, प्रीतिभोज, वक्ता का मार्ग व्यय आदि में खर्च तो पड़ता ही है । यह राशि पाँच सौ से हजार तक पहुँच सकती है । इसका प्रबन्ध आयोजनकर्त्ता मिल-जुलकर ही कर लें । सार्वजनिक चंदा न माँगें । आयोजन बड़ा हो और उसी समय कोई रचनात्मक कार्यक्रम शुरू करने हों तो सार्वजनिक चंदा करें ।

(१४) स्थानीय गायन, वादन में निपुण लोगों से कीर्तन मंडली का काम लें । कथा के बाद पन्द्रह मिनट का अवसर मिलेगा । पर वे गायन, वादन निर्धारित गीतों का ही करेंगे । वे गीत प्रज्ञा-गीत ही होंगे ।

जन-मानस को व्यापक रूप से प्रभावित करने वाली तीन क्रान्तिकारी योजनाएँ

शान्तिकुंज के स्थानीय प्रशिक्षण में पाँच प्रशिक्षण सत्रों की शृंखला मुख्य है, जिनकी चर्चा अगले पृष्ठों पर की जा रही है । प्रवृत्तियाँ इन्हीं दिनों ऐसी आरम्भ की जा रही हैं जो अभीष्ट लक्ष्य की ही पूर्ति करेंगी पर उनका कार्यक्षेत्र स्थानीय नहीं व्यापक होगा । उनका स्वरूपभर इस आश्रम में देखा जा सकेगा । प्रभाव की प्रतिक्रिया बाहर जाकर देखनी होगी । ऐसे प्रयासों में तीन प्रमुख हैं, जिन्हें अगले ही दिनों हाथ में लिया जा रहा है । यह प्रयास हैं-(१) टैप रिकॉर्डरों के माध्यम से युगान्तरकारी गीत एवं प्रवचनों को घर-घर तक, जन-जन तक पहुँचाया जाना । (२) जीवन विद्या की शिक्षा घर-घर तक, पहुँचाने वाले साहित्य का प्रकाशन । (३) फिल्म निर्माण द्वारा लोकरंजन और लोकमंगल का अद्भुत समन्वय ।

अखण्ड-ज्योति परिवार के कितने ही सदस्यों के पास अपने टैप रिकॉर्डर हैं । उन्हें प्रायः मनोरंजन के लिए काम में लाया जाता है, अब उनका उपयोग लोकमंगल के लिए भी होना चाहिए । युगनिर्माण शाखा संगठनों को इसके लिए प्रेरणा दी जाती रही है कि वे अपने टैप रिकॉर्डर खरीद लेने का प्रयास करें । सक्रिय शाखाओं के आवश्यक कर्त्तव्यों में इस उपकरण को मँगा लेना भी सम्मिलित है । बहुतों ने मँगा लिये हैं, अन्य मँगाने के प्रयत्न में है । इन सभी टैप रिकॉर्डरों का उपयोग अनवरत रूप से जन-जागरण के लिए होना चाहिए । कुछ लोग यह उपकरण व्यक्तिगत रूप से भी मँगा सकते हैं और उसका उपयोग उपरोक्त प्रयोजन के लिए स्वयं करने या दूसरों से कराने में कर सकते हैं । इस दिशा से व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से प्रयास किया जाना चाहिए कि नये टैप रिकॉर्डर खरीदे जायँ और जहाँ मौजूद है वहाँ उसका उपयोग किया जाय ।

शान्तिकुंज में वर्ष में दो बार जनवरी और जून में, छह-छह महीने पश्चात् छः-छः नये टैप भरे जाने की योजना है । इनमें एक संगीत का और पाँच प्रवचन के रहा करेंगे । वर्ष में दो टैप संगीत के और दस प्रवचनों के रहेंगे । इनमें २० गायन और २० प्रवचन होंगे । हर छमाई में अपने क्षेत्र में १० गीतों को १० प्रवचनों का सुनाया जाता रहे तो उतने से भी एक चेतना उत्पन्न हो सकती है ।

टैप सुनने के लिए विशेष रूप से गोष्ठियाँ बुलाई जा सकती हैं । शान्तिकुंज द्वारा निसृत युगान्तरीय संवेदना को लोग सुनना पसन्द करेंगे । इसके लिए अवकाश का समय वे खुशी-खुशी देंगे । इन विशेष रूप से आमन्त्रित गोष्ठियों के अतिरिक्त जहाँ भी समारोह होते हैं वहाँ भी इनका उपयोग हो सकता है । व्यक्ति निर्माण के लिए जन्मदिवस आयोजनों की, परिवार निर्माण के लिए षोडस संस्कारों की-समाज निर्माण के पर्वोत्सवों की-विशेष अवसरों पर गायत्री यज्ञों समेत युगनिर्माण सम्मेलनों के शिविर आयोजनों की शृंखला प्रायः चलती ही रहती है । इन अवसरों पर टैप रिकार्डरों की सहायता से इन गीतों एवं प्रवचनों को सुनाया जा सकता है । सामान्य स्तर के औंधे-सीधे प्रवचनों की अपेक्षा निश्चय ही लोग यह पसन्द करेंगे कि माताजी के संरक्षण में उनकी प्रशिक्षित कन्याओं द्वारा गाये गये गीतों और गुरुजी के प्रवचनों को सुना जाय । उनमें विचार और प्राण दोनों ही घुले रहने के कारण निस्सन्देह उन्हें उत्साहपूर्वक सुना जायगा और आशाजनक प्रभाव ग्रहण किया जायगा ।

यदा-कदा, छुटपुट रूप से अनिश्चित समय और टैपों की नकल कराने का झंझट नहीं उठाया जा सकता । इसमें तो एक टैकनीशियन सदा-सर्वदा के लिए ही घिरा बैठा रहेगा । नकल करने का एक निश्चित समय रहेगा । संभवतः वह दिसम्बर में रखा जाया करेगा, जिससे सभी टैप रिकॉर्डरों वाले आकर यह टेप यहाँ भेजकर शान्तिकुंज के टैपों की नकल करा लिया करेंगे । जो लोग आ नहीं सकें वे डाक से भेज और मँगा सकेंगे यों निर्धारित छमाही जनवरी और जुलाई हैं पर टेप इससे पूर्व ही तैयार कर लिए जाया करें ताकि घोषित तिथि पर नकल करना भर बाकी रह जाय । गीत और प्रवचनों के बोल-विषय

क्या हैं, इसकी सूचना डाक से दे दी जाया करेगी ताकि उनकी नकल कराने, न कराने की बात टेप रिकार्डरों वाले निश्चय कर सकें । जिन्हें नियमित रूप से इस योजना का सदस्य बनना है उन्हें अपने आपको शान्तिकुंज में पंजीकृत करा लेना चाहिए । उनका रजिस्टर रहेगा और उन्हें कब आना चाहिए । इसकी सूचना दी जाया करेगी । कारण कि हजारों टैप रिकॉडर पंजीकृत होंगे और एक साथ सभी को नकल करने का अवसर नहीं मिल सकता । थोड़े-थोड़े करके ही नकल क्रम चल सकता है, इसलिए समय भिन्न-भिन्न होंगे ।

शान्तिकुंज में ठहरने की व्यवस्था भी इतने लोगों को नहीं है । इस दृष्टि से भी समय भिन्न-भिन्न ही रखने पड़ेंगे । नकल कराने वालों की संख्या, उनके लिए प्रथक समयों का निर्धारण सदा विचारणीय रहेगा । इसलिए यह आवश्यक समझा गया कि इस योजना के सदस्यों को पंजीकृत किया जाय और पंजीकरण का शुल्क पाँच रुपया वार्षिक रखा जाय ताकि सदस्यता को चाहे जब भंग कर देने या चाहे जब चालू रखने की अव्यवस्था न फैले । जिनका सदस्य शुल्क जनवरी में न आयेगा उनका नाम काट दिया जायगा । इस नियन्त्रण से एक व्यवस्था बनी रहेगी और यह निश्चित रहेगा कि कितनों के लिए प्रबन्ध करना पड़ेगा । उसी हिसाब से टैक्नीशियन की संस्थान आदि की व्यवस्था बनाई जाया करेगी । पंजीकरण शुल्क प्राय: टैप प्रवचनों का छपा सूचना-पत्र तैयार कराने को डाक खर्च लगाने में और रजिस्टर आदि रखने में ही खर्च हो जायगा । उसे टैप तैयार कराने और उसकी नकल कराने का खर्च न माना जाय वह तो प्राय: हर टैप के पीछे दो-तीन रुपये तक आ सकता है । यह सब कुछ पूर्ण निःशुल्क है । इस कार्य के लिए एक महँगे टैक्नीशियन का जो खर्च पड़ता है वह इस योजना के सदस्यों पर बिल्कुल नहीं लादा गया है उसे तो मिशन ही वहन करेगा । पंजीकृत शुल्क, मात्र व्यवस्था, सतर्कता और नियमितता बनाये रहने के लिए है ।

आशा की जानी चाहिए-जितने टैप रिकार्डर अखण्ड-ज्योति परिवार के लोगों के पास व्यक्तिगत हैं तथा शाखाओं के हैं उन्हें जल्दी ही पंजीकृत करा लिया जायगा ताकि उन्हें कब बुलाया जाना है, यह निश्चय करके सूचना भेजी जा सके । जहाँ सम्भव हो वहाँ नये टैप रिकार्डर खरीदने की तैयारी की जानी चाहिए ।

शान्तिकुंज द्वारा दूसरी जो योजना हाथ में ली जा रही है वह जीवन साधना के सर्वांगीण प्रशिक्षण का साहित्य सृजन एवं प्रकाशन करने की है । व्यक्ति परिवार और समाज की त्रिविध दिव्य धाराओं का संगम जब गंगा, यमुना व सरस्वती का मिलन तीर्थराज प्रयाग की तरह होगा तो उसका पुण्य फल, सत्परिणाम देखते ही बनेगा । यह साहित्य एक निर्धारित पाठ्यक्रम का अंग होगा, जिसे स्थान-स्थान पर लोक शिक्षण की प्रक्रिया का अंग भी बनाया जा सकेगा ।

तीसरी योजना फिल्म निर्माण की है । यह एक तथ्य है कि भारत के समस्त समाचार और विचार पत्रों के जितने पाठक हैं उससे कहीं अधिक लोग हर दिन सिनेमा दे हैं । रेडियो प्रसारण सुनने वाले भी इन सिनेमा दर्शकों अपेक्षा कहीं कम हैं । प्रचार का सबसे प्रमुख और सब व्यापक साधन इन दिनों फिल्म मंच ही बना हुआ है । इ मंच से जो सिखाया गया है-सिखाया जा रहा है व दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जा सकता है, जिसे सराहा जा सके यह नगण्य है । ऐसी दशा में यही उचित समझा गया कि फिल्म निर्माण का एक समानान्तर मंच तैयार किया जाय जो अनुपयुक्त के मुकाबिले उपयुक्त को रखकर जनता को यह निर्णय करने का अवसर दे कि उसे क्या अपनाना और क्या छोड़ना है ? अभी तो अवांछनीयता का एकाधिकार है। दूसरा पक्ष है ही नहीं तो जनता को मनोरंजन की आवश्यकता पूरी करने के लिए उसी को अपनाना पड़ता है जो प्रस्तुत है । जब चुनाव के लिए दो चीजें दो स्तर की होंगी तो निश्चय ही विवेक को किसे चुनना, किसे छोड़ना यह निर्णय करने का अवसर मिलेगा ।

योजना यह है कि भारतीय संस्कृति के मूल स्वरूप को इस रूप में प्रस्तुत किया जाय कि वह आज की समस्याओं का समाधान करने में समर्थ हो सके और विश्व संस्कृति के रूप में-मानव संस्कृति के रूप में मान्यता प्राप्त कर सके । इसके लिए अपने गौरवास्पद, सांस्कृतिक इतिहास को कलात्मक किन्तु प्रेरक आदर्शवादी परम्पराओं के साथ प्रस्तुत करना पड़ेगा । इस प्रयोजन की पूर्ति करने वाले कथानकों से हमारा पुराण साहित्य एक विशालकाय समुद्र की तरह बिखरा पड़ा है, उसमें से मनचाहे मोती-कितनी ही बड़ी संख्या में बीने जा सकते हैं और उन आधारों को लेकर व्यक्ति और समाज को बदल देने वाले, भटकाव को दिशा निर्देश देने वाले अगणित ऐसे कथानक निकल सकते हैं जिनके आधार पर फिल्म बनाये जाते रहें और लोकरंजन के साथ-साथ लोक-मंगल का प्रयोजन बहुत सरलता और सफलता के साथ सम्पन किया जाता रहे ।

यों तो, पौराणिक एवं ऐतिहासिक प्रसंगों पर कितने ही फिल्म बने और चले हैं । धार्मिक, तीर्थयात्रा-परक कितने ही फिल्म सामने आये हैं पर उनमें निरुद्देश्य कथा-प्रसंग ही भरे पड़े हैं । दिशा और प्रेरणा मिलने की अपेक्षा उनसे चमत्कारवाद से अन्धविश्वास जैसी प्रतिगामी मान्यताएँ ही दर्शकों के मन पर जमती हैं । ऐसा कुछ भी उनमें नहीं होता जिससे दर्शक की अन्तरात्मा आदर्शवादी चेतना अपनाने के लिए हुलसे-उमँगे । अपने प्रयास इस क्षेत्र में सर्वथा अभिनव एवं अद्भुत ही होंगे, यह कहने की आवश्यकता नहीं पर प्राचीन को चिर नवीन के साथ जिस प्रकार हर क्षेत्र में संयुक्त किया गया है वही समन्वय इस फिल्म निर्माण प्रक्रिया में भी होगा । इसके द्वारा क्रान्तिकारी परिणाम उत्पन्न होने की आशा की जा सकती है ।

यदि पाँच फिल्में एकवारगी बन जायें तो उसी पैसे की उलट-पलट होती रह सकती है और नये-नये फिल्म बनते रह सकते हैं । पाँच फिल्मों में लगी पूँजी से यह कार्य अनवरत रूप से चलता रह सकता है और उससे एक सौ फिल्म बनाने जैसी असम्भव लगने वाली महत्त्वाकांक्षा पूरी की जा सकती है । नवीन किन्तु स्फूर्तिवान संगीतकार, अभिनेता, कलाकार उस नियमित कार्य के लिए उचित पारिश्रमिक देकर रखे जा सकते हैं । अपने गरीब प्रयास को अन्धाधुन्ध पैसा वसूल करने वाले प्रख्यात कलाकारों के लिए जाने की तनिक भी आवश्यकता नहीं । हम मिशनरी भावना से काम करने वाले लोग उचित निर्वाह देकर भी प्राप्त कर सकते हैं और उन्हें पूरे मन से पूरा श्रम करने के लिए रजामन्द कर सकते हैं । आखिर हर क्षेत्र में हमें सेवाभावी और आदर्शवादी लोग प्रचुर परिमाण में मिल रहे हैं तो इस क्षेत्र में ही क्यों निराश होना पड़ेगा ? हम उन सभी तथ्यों का उपयोग करेंगे जो फिल्म की लागत दूसरों की तुलना में कहीं अधिक सस्ती बना सके साथ ही इस निर्माण की उत्कृष्टता एवं आकर्षक लोकप्रियता को भी अक्षुण्ण बनाये रह सके ।

आश्चर्य की ही बात है कि इस प्रयोजन के लिए पूँजी के नाम पर एक पैसा भी हाथ में न होने पर भी यह विश्वास किया जा रहा है कि निकट भविष्य में यह मात्र कल्पना न रहेगी वरन् कोई न कोई ऐसा आधार बन जायगा, जिससे फिल्म निर्माण जैसी महँगी योजना को भी कार्यान्वित किया जा सके । हम सदा से असम्भव समझे जाने वाले कार्य हाथ में लेते रहे हैं और साधनविहीन स्थिति में भी दुस्साहसपूर्ण कदम उठाते रहे हैं । असफलता का मुख कदाचित् ही कभी देखना पड़ा हो । युग की पुकार यदि जनमानस को अवांछनीयता के चंगुल से छुड़ाकर वांछनीयता की दिशा में घसीट ले जाने के लिए है-फिल्म निर्माण के कार्य को आवश्यक समझ रही हो तो उसे भी इसलिए अपूर्ण न रहने दिया जायगा कि अपने हाथ खाली हैं और साधनों का सर्वथा अभाव है । आकांक्षा की प्रबलता यदि सदुद्देश्य की दिशा में चल रही हो तो उसकी पूर्ति के लिए दैवी साधन जुटते रहे हैं-जुटते रहेंगे ।

कुछ फिल्मों के कथानकों की बात इन दिनों मस्तिष्क में चल रही है । जैसे-

(१) भगवान के दस अवतारों की संयुक्त कथा, उनके द्वारा सामयिक अवांछनीयताओं का निराकरण करने के लिए-वांछनीयताओं की स्थापना करने के लिए-लोक उत्साह जगाने का नेतृत्व किया जाना । इस आधार पर आज की स्थिति में ईश्वरीय मार्गदर्शन का पुनः स्मरण कराया जाना और यह बताया जाना कि आज की स्थिति में वे प्रेरणाएँ किस प्रकार हमारा क्या मार्ग-दर्शन करती हैं ?

(२) सप्त ऋषियों द्वारा अपनाई गई सात अति महत्त्व पूर्ण लोक-निर्माण की सत्प्रवृत्तियों का संचालन व उनके क्रिया-कलापों और सत्परिणामों का चित्रण । आज की स्थिति में उन प्रवृत्तियों को अपनाकर युग की आवश्यकता पूरी करने की प्रेरणा । ऋषियों को जादूगर के रूप में प्रस्तुत न कर उन्हें लोक नेतृत्व के लिए अपने निज के जीवन का तथा क्रिया-कलापों का निर्धारण करना । आज के साधु-ब्राह्मणों के लिए तथा लोक-सेवियों के लिये लोकोपयोगी अभियानों के संचालन का सही मार्गदर्शन ।

(३) ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दुर्गा, गणेश आदि के रूप में भगवान का लोक-मंगल की अनेक प्रवृत्तियों का प्रस्तुतीकरण । अनीति को निरस्त करने और नीति धर्म को प्रोत्साहित करने वाली परोक्ष दैवी सहायताओं का सूत्र-संचालन । मनुष्य में देवत्व उदय करने की और धरती पर स्वर्गीय सतयुगी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने की अनवरत अभिरुचि तथा इसी आधार पर प्रस्तुत अनेक देवचरित्रों का समन्वयीकरण ।

(४) भारत के प्रमुख तीर्थस्थानों के निर्माण आरम्भ की वे आदर्शवादी कथायें जिनकी स्मृति में इन तीर्थस्थानों की आधारशिला रखी गई । प्राचीन काल में तीर्थस्थानों में महामनीषियों द्वारा संचालित लोकशिक्षण का स्वरूप । तीर्थयात्रियों की पदयात्रा से राष्ट्रीय एकता एवं धर्म चेतना का अभिवर्धन । तीर्थ स्थानों में जाकर यात्रियों का अपनी उलझनों के सुलझाव का हल प्राप्त करना तथा नई चेतना लेकर लौटना । तीर्थों का लोक-शिक्षा केन्द्रों के रूप में अतीव गरिमा सम्पन्न होना । यह सब कुछ तीर्थों, इतिहासों के कथानकों के आधार पर प्रस्तुत किया जायगा ।

(५) पुराण काल के महापुरुषों के आदर्श चरित्रों और उनके द्वारा जन-कल्याण के लिए कार्यों का चित्रण । हरिश्चन्द्र, दधीचि, शुनिशेप, प्रह्लाद, कर्ण, जनक, चरक, सुश्रुत आदि अगणित महामानवों के चिन्तन एवं कर्तृत्व का ऐसा निर्माण जो आज की स्थिति में ही हमें कुछ करने की प्रेरणा दे सके-रास्ता बता सके । इन महापुरुषों के अलग-अलग फिल्म न बनाकर उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं को एक ही शृंखला में आबद्ध किया जाय ताकि कार्यक्रमों की भिन्नता रहते हुए भी महामानवों का लक्ष्य एक ही रहने की बात स्पष्ट हो सके ।

(६) रामायण का-रामावतार का इस प्रकार चित्रण जिसमें प्रत्येक पात्र को आदर्शवादी परम्पराओं के विविध पक्षों का निर्वाह करते हुए दिखाया जाय । रामायण की गरिमा और रामचरित्र की महत्ता को इस आधार पर प्रस्तुत किया जाय उस संघ का प्रत्येक सदस्य तत्कालीन अवांछनीयताओं के विरुद्ध लोहा लेने के लिए उतारू था और अपने कर्तृत्व का उदाहरण प्रस्तुत करके जन-साधारण को अपनी जीवन-नीति निर्धारित करने की प्रेरणा दे रहा था । मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम का-उनके सम्पर्क परिकर के प्रत्येक सदस्य का कर्तृत्व मर्यादाओं की स्थापना में अनुपम योगदान । रामायण को भक्ति ध्यान तक सीमित न रखकर उसे जन-कल्याण का हर क्षेत्र प्रभावित करने वाले प्रबल प्रयास के रूप में प्रस्तुतीकरण ।

(७) कृष्णावतार एवं महाभारत के प्रमुख प्रसंगों का-पाण्डवों के महान संघर्ष का अमर इतिहास । तत्कालीन घटनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि उसमें बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक अवांछनीयताओं का उन्मूलन करने के लिए सर्वतोमुखी संघर्ष का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत किया जाय जो इस समय के लिए ही नहीं सदा-सर्वदा के लिए मार्गदर्शक कहा जा सके । वैयक्तिक और सामाजिक विकास के जिन अनेकानेक तथ्यों को महाभारत प्रकाश में लाना है उनका कुशलतापूर्वक चित्रण । श्रीकृष्ण चरित्र में योगेश्वर और क्रान्तिकारी तत्वों का अद्भुत समन्वय

(८) सन्त चरित्र तुलसी, सूर, कबीर, नानक, दादू, रैदास, चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, समर्थ गुरु रामदास, मीरा आदि सन्तों के चरित्र मात्र पूजा-पाठ तक ही सीमित नहीं थे, उन्होंने अपनी भक्ति को लोकशक्ति के रूप में किस प्रकार परिणत किया और धर्म एवं अध्यात्म को मानकर अपने समय की समस्याओं को हल करने में किस प्रकार नेतृत्व किया इसका अविज्ञात किन्तु वास्तविक चरित्र-चित्रण । एक कथा शृंखला में इन सभी सन्तों को कड़ियों के रूप में प्रस्तुत किया जाना ।

(९)भारत के ऐतिहासिक महापुरुषों और उनके क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन चाणक्य, चन्द्रगुप्त, शिवाजी, प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह, ताँत्याटोपे, भामाशाह, लक्ष्मीबाई, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर राममोहन राय, स्वामी दयानन्द आदि के प्रेरणाप्रद मध्यकालीन इतिहासों का क्रमबद्ध चित्रण और उनके स्मारकों के साथ जुड़ी हुई प्रेरणाओं का उभार ।

(१०) भारतीय नारियों और बालकों का मानवता वादी परम्पराओं के निर्वाह में अनुपम योगदान, कुन्ती, मदालसा, सीता, सावित्री, शकुन्तला, पन्ना धाय आदि की गौरव गाथाएँ । रोहिताश्व, प्रह्लाद, ध्रुव, गोरा, बादल, फतेहसिंह, जोरावर आदि बालकों के महान कर्तृत्वों का हृदयस्पर्शी चित्रण ।

एक फिल्म में कई कथानकों, घटनाओं या व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण सम्मिलित करना अटपटा नहीं लगेगा वरन् उससे उनका आकर्षण और भी अधिक बढ़ जायगा । मूल कथानक एक समूची सुव्यवस्थित कथा के रूप में होगा । भिन्न-भिन्न कथानक उसी सन्दर्भ में अलग-अलग कड़ियों के रूप में जुड़ते चले जायेंगे । इस प्रकार उसमें बिखरापन प्रतीत नहीं होगा वरन् एक ही माला में गुँथे हुए मोतियों की तरह अनेक सन्दर्भों का समावेश हो जाने में उसकी सुन्दरता, विविधता एवं संक्षेप में अनेक विषयों की जानकारी होने का एक नया प्रयोजन पूरा होगा । कथा का आदि और अन्त तो उसी क्रम से होगा जिस तरह अन्य साधारण कहानियों का होता है । बीच-बीच में आने वाले प्रसंग, अन्यान्य घटनाक्रमों एवं चरित्रों के महत्त्वपूर्ण भाग दिखाते चले जाया करेंगे । अपनी यह एक नई किन्तु अधिक उपयोगी और अधिक आकर्षक शैली होगी ।

पिछले पृष्ठों पर जिन दस कथानकों का चित्रण है । इनमें से दसों न सही पाँच भी प्रथम प्रयास में एक साथ बन सके तो फिर यह आशा की जा सकती है कि भारत की महान संस्कृति का स्वरूप समझाने वाले अनेक आधार एक से एक बढ़कर कथानकों के आधार पर प्रस्तुत किये जा सकेंगे और उसी पूँजी की उलट-पुलट होते रहने से सौ फिल्म बन जायेंगी यदि ऐसा सम्भव हुआ तो हम देखेंगे कि भारतीय जनता को अपनी गरिमामयी परम्पराओं से किस प्रकार परिचित, प्रशिक्षित किया जा सकता है और उनसे लोकमानस का काया-कल्प करने में कितनी महत्त्वपूर्ण सहायता मिल सकती है । साधन कब इस ओर कदम बढ़ाने की इजाजत देते हैं, प्रतीक्षा केवल इसी बात की है । आशा की जानी चाहिए आज भले ही इस सन्दर्भ में घोर अन्धकार ही सामने क्यों न हो पर कल कहीं न कहीं से, किसी न किसी प्रकार प्रकाश-किरणों का उदय होगा और युग की पुकार पूरी करने के लिए इस अति कठिन किन्तु अति आवश्यक कार्य को भी पूरा किया जा सकेगा ।

टेप रिकॉर्डरों की योजना कार्यान्वित कर दी गई है । फिल्मों के सम्बन्ध में आवश्यक खोज-बीन की जा रही है और वे सब तैयारियाँ करके रखी जा रही हैं जिनके हाथ में रहने से जब भी पूँजी का प्रबन्ध हो जाय तभी तत्काल कदम बढ़ाने में कोई कठिनाई न रहे ।

भाषण, संभाषण और संगीत से लोकशिक्षण

'विचार क्रान्ति अभियान' अपने समय का सबसे बड़ा आन्दोलन है । इसके सामने पिछले दिनों की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक सभी क्रान्तियाँ छोटी या फीकी पड़ती हैं । उन्होंने सीमित क्षेत्र की-सीमित समस्याओं के सीमित समाधान किये हैं, किन्तु विचार-क्रान्ति के अन्तर्गत प्रस्तुत चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में आमूलचूल स्तर का परिवर्तन करना है । इसके लिए मान्यताओं, भावनाओं, विचारणाओं, आदतों में आदर्शवाद का पक्षधर परिवर्तन करना होगा । विभिन्न वातावरणों में पले और चित्र-विचित्र आदतों में गुँथे ५०० करोड़ मनुष्यों को मानवी गरिमा के अनुरूप उत्कृष्टता एवं आत्मीयता अपनाने के लिए सहमत करना सचमुच ही बहुत बड़ा काम है । उसकी व्यापकता और आवश्यकता को देखते हुए यह अनिवार्य हो जाता है कि नवसृजन के लिए जाग्रतों और सुधारकों का बहुत बड़ा समुदाय कार्यक्षेत्र में उतारा जाय, उसे नवसृजन की युगान्तरीय चेतना जन-जन के गले में उतारने की कला में प्रवीण-पारंगत बनाया जाय । इस कार्य के लिए स्वाध्याय और सत्संग दोनों की ही समान रूप से आवश्यकता होती है । स्वाध्याय के लिए प्रज्ञा साहित्य लिखा और छापा जा रहा है । सत्संग के लिए उपयोगी तो

वाणी का होता है पर कब, कहाँ, क्या कहा जाय इसकी प्रकाश प्रेरणा प्रज्ञा साहित्य से ली जा सकती है ।

पारस्परिक वार्तालाप विचार-विनिमय को संभाषण कहते हैं । एकत्रित जनसमुदाय में सम्मुख क्रमबद्ध उद्बोधन प्रतिपादन का नाम भाषण है । इसके अतिरिक्त सुगम संगीत भी एक माध्यम है, जिसके द्वारा जनमानस को प्रभावित एवं तरंगित किया जा सकता है । यह सभी कौशल प्रत्येक युग शिल्पी को आना चाहिए । अभ्यास से इन्हें आसानी से सीखा जा सकता है ।

युग प्रवक्ताओं को उतारने के लिए भाषण कला के सामान्य नियमों को जानने और उसका कुछ दिनों लगन पूर्वक सतत अभ्यास करने से काम चल जाता है । यह कुछ अपवादों को छोड़कर सर्वसाधारण के लिए सरल है । जो साइकिल चलाना जानता है उसके लिए मोपेड चलाना कठिन नहीं होना चाहिए । साइकिल का बेलेन्स साधना भर उसे चलाने का रहस्य है । जो इतना कर सकेगा उसे तेज गति लम्बी यात्रा उस वाहन के सहारे सम्पन्न करने में कोई कठिनाई न होनी चाहिए । ठीक इसी प्रकार संभाषण या भाषण के मूलभूत नियमों को समझ लेने पर किसी के लिए यह कठिन न पड़ना चाहिए कि निर्भीकतापूर्वक विचार व्यक्त कर सके ।

आमतौर से लोग अधिक लोगों को सामने उपस्थित देखकर हड़बड़ा जाते हैं । सामने वालों को वरिष्ठ और अपने को हीन मान बैठने पर संकोची प्रकृति के लोग उसी तरह संतुलन खो बैठते हैं जैसे कि कमजोर मन:स्थिति के बच्चे सालभर तक अच्छी-खासी तैयारी करने और हर दृष्टि से सुयोग्य होने पर भी परीक्षा की मेज पर पहुँचते-पहुँचते भयभीत होकर संतुलन गँवा बैठते हैं जो याद था उसे भी भूल बैठते हैं । प्रश्न का सही स्वरूप और उत्तर का आधार निर्धारित किये बिना ही असंतुलित मन:स्थिति में कुछ की जगह कुछ लिखते और फेल होते देखे गये हैं । यही बात तब लागू होती है, जब कोई विचारशील व्यक्ति भी जनसमुदाय के सम्मुख बोलने में अटकता है और कथन-प्रतिपादन की सही धारा से हटकर कुछ का कुछ बोलता है या घबराकर गला रुँधने जैसी मन:स्थिति में जा पहुँचता है ।

भाषण-संभाषण न कर सकने में कारण योग्यता का अभाव नहीं वरन् रहस्य भरी मानसिक कमजोरी है, जिसका कोई प्रत्यक्ष कारण न होने पर परोक्ष रूप से अचेतन में घुसी रहती है और अवसर आने पर अनायास ही प्रकट होकर गुड़-गोबर एक कर देती है । निवारण का उपाय एकान्त कमरे में बिखरे सामान को जनसमुदाय मानकर निर्भीकतापूर्वक विचार व्यक्त करने के अभ्यास से चल सकता है । खेत, बगीचों में जाकर वहाँ भी पेड़-पौधों को श्रवणकर्त्ता मानकर वक्तृत्व का अभ्यास भय छोड़कर किया जा सकता है । घर में कहानियाँ सुनाने की पहल करने से भी अभ्यास निखरता है । स्कूलों में भाषण प्रतियोगिताएँ इसीलिए होती हैं । सांस्कृतिक कार्यक्रमों में स्टेज पर जाकर कुछ रटे-रटाये शब्द दुहरा देने भर से बच्चों में निर्भीकता उभरती है और झिझक खुलने के उपरान्त व अपने मन की बात भी भली प्रकार कहने लगते हैं । इसी उद्देश्य की मित्र मण्डली गठित की जाय और बारी-बारी बोलने, एक-दूसरे की समीक्षा करने से भी इस दिशा में प्रगति होती है । यह सब निजी प्रयास से न बन पड़े तो फिर एकमात्र उपाय यह है कि एक महीने के युग शिल्पी सत्र में शान्तिकुञ्ज में पहुँचा जाय और इस छोटी अवधि में ही अनवरत प्रयास एवं उचित मार्गदर्शन से इस कमी को पूरा किया जाय । इस प्रयोजन के लिए मिशन द्वारा प्रकाशित 'भाषण एवं संभाषण की दिव्य क्षमता' नामक पाँच रुपये मूल्य की पुस्तक भी अच्छा मार्गदर्शन करती है ।

विचार-विमर्श, वार्तालाप को संभाषण कहते हैं । इसके लिए इतना भर ध्यान रखना पड़ता है कि जिसके पास भी जाया जाय सभ्य शिक्षितों जैसे साफ-सुथरे कपड़े पहनकर जाया जाय । दूसरे की सुविधा एवं मन:स्थिति को ध्यान में रखते हुए वार्ताक्रम चलाया जाय । शिष्टाचार बरतने का स्वभाव बनाया जाय । वाणी में अपनी नम्रता तथा दूसरों को सम्मान देने की सभ्यता का समुचित समावेश रखा जाय । जहाँ सहमति न बन पा रही हो वहाँ अड़ने के स्थान पर बात को पीछे कभी के लिए टाल दिया जाय । जिन प्रसंगों में सहमति बन रही हो वहाँ उस विचारणा का श्रेय सामने वाले को दिया जाय । अधिक बताने के लिए उसे इस प्रकार प्रोत्साहित किया जाय मानो अपना ज्ञान कम हो और उनसे पूछकर जानकारी बढ़ाई जा रही हो । यह थोड़े से मनोवैज्ञानिक तथ्य हैं, जिनके आधार पर सैल्समैन ग्राहक पर ढेरों अनावश्यक सामान लाद देते हैं । कभी एजेन्ट अपना काम बनाते और प्रत्याशी चुनाव जीतते हैं । अपने उद्देश्य ऊँचे रहते हुए भी उस मानवी विज्ञान से परिचित रहना चाहिए जिसके अनुसार दूसरों का समर्थन, सहयोग प्राप्त किया जा सकता है । इसे एक शब्द में शिष्टाचार भी कह सकते हैं । विचार-क्रान्ति के परिवहनकर्त्ताओं को इससे अवगत होना चाहिए ।

गीता इसलिए वजनदार है कि उसे कृष्ण कथन माना जाता है । पुराण व्यास द्वारा सृजे गये । योगवाशिष्ठ के पीछे भी वशिष्ठ जी का व्यक्तित्व है । अन्यान्य धर्म ग्रन्थों का महत्त्व भी मात्र प्रतिपादनों के कारण नहीं वरन् उनके सृजेताओं की गरिमा के कारण प्रभावी बना है । युग परिवर्तन की विचारधारा जनमानस की गहराई में उतारने के लिए भी यही आवश्यक है कि उसके सूत्र-संचालन उद्गत की वरिष्ठता का उल्लेख किया जाय । इन प्रतिपादनों को वक्ता यदि निजी उद्देश्य की तरह व्यक्त करने लगेंगे तो उनका अहंकार भी उपहासास्पद बनेगा, साथ ही प्रयत्न का प्रभाव भी वैसा न पड़ेगा जैसा आवश्यक है ।

तथ्यों को ध्यान में रखते हुए प्रज्ञा मन्त्र से प्रतिपादन किये जाने वाले प्रवचनों का स्वरूप यह होना चाहिए कि वे प्रज्ञापुराण के आधार पर कहे जायँ । प्रज्ञापुराण इतने

विषयों का समावेश है कि किसी भी समस्या का समाधान
उनके सहारे भलीभाँति किया जा सके । प्रज्ञा साहित्य
फोल्डरों के रूप में प्रकाशित कर उपयुक्त अंश पढ़कर
सुना देने से भी काम चल जायेगा । इसके लिए इतना भर
अभ्यास करना होगा कि जो कहा जाना है उसे प्रवचन से
पूर्व अनेक बार पढ़कर इस सीमा तक हृदयगंम कर लिया
जाय कि वक्तृत्व के समय पूरी तरह आँखें छपे साहित्य पर
ही न गड़ी रहें । गरदन उठाकर जब तक जनता की ओर
इंगित करने का भी अवसर मिल सके । पूर्वाभ्यास न होने
पर तो अक्षर पढ़ने में ही इतना ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा
कि उच्चारण के साथ-साथ वाणी में जिस उतार-चढ़ाव
की भाषाभिव्यक्ति की आवश्यकता है वह न बन पड़ेगी ।
इसलिए न केवल प्रवचन प्रसंग को प्रज्ञा साहित्य से अनेक
बार पढ़कर मस्तिष्क में उतार लेना चाहिए वरन् इसकी
भी पूर्व तैयारी कर लेनी चाहिए कि कहाँ किन भावनाओं
की अभिव्यक्ति वाणी के उतार-चढ़ाव एवं उच्च संचालन
द्वारा की जा सकती है ।

इस प्रवचन पद्धति को अपनाने का सबसे बड़ा लाभ
यह है कि सामान्य स्तर का वक्ता भी अपने को मिशन का
मात्र संदेशवाहक रहकर उसे झंझट से बच जाता है
जिससे उसके निजी स्तर को मूर्धन्य सिद्ध करने का
असमंजस खड़ा होता है ।

जन्म दिवसोत्सव, पर्व-संस्कार, प्रज्ञा-आयोजन जैसे
अवसरों पर आये दिन भाषण-संभाषण करने की
आवश्यकता सभी प्रज्ञा पुत्रों को पड़ा करेगी । छोटी
बड़ी ज्ञान गोष्ठियों में उन्हें आये दिन लोकमानस के
परिष्कार और सत्प्रवृत्ति संवर्धन के संदर्भ में कुछ न कुछ
कहना पड़ेगा । इसके लिए वक्तृत्व कला में निष्णात होने
की तैयारी या परीक्षा आवश्यक नहीं । प्रज्ञा साहित्य
के उपयोगी अंश सुना देने की शैली का अभ्यास कर
लेने भर से अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति भली भाँति हो
सकती है ।

इसी प्रकार स्लाइड प्रोजेक्टर प्रदर्शन के साथ-साथ
चित्रों की व्याख्या-विवेचना करते रहने से भी कुछ ही
समय में अच्छा वक्ता बन सकता है । इसके लिए
विवेचनाएँ हर स्लाइड सेट के साथ उपलब्ध होती हैं ।

शान्तिकुञ्ज में एक महीने के युगशिल्पी सत्र हर
महीने चलते हैं जिनमें प्रवचन और सुगम संगीत की शिक्षा
सरलतापूर्वक उपलब्ध की जा सकती है ।

संगीत की गरिमा असीम है । उसे नाद ब्रह्म
शब्द-ब्रह्म कहकर भगवान के समतुल्य ठहराया गया है ।
उसके द्वारा उत्पन्न भाव विभोरता नृत्य बनकर प्रकट होती
देखी गई है । कीर्तन का भावातिरेक नर्तन बनकर भी
प्रकट होता है । मीरा तथा चैतन्य महाप्रभु की ऐसी ही
स्थिति थी । वे जब भाव संवेदनाओं से ओत-प्रोत होते थे,
तो फिर असामान्य स्तर तक पहुँचते और गायन-वादन के
साथ नर्तन भी करने लगते थे । देव अर्चना में एक यह भी
पूजा, उपचार गिना जाता रहा ।

भाषण के अतिरिक्त लोक-मानस के परिष्कार,
प्रयोजन में हमें गायन, वादन का भी प्रयोग करना होगा ।
उच्चस्तरीय भाषणों को समझने के लिए श्रोता की पूर्व
मनोभूमि होनी चाहिए अन्यथा मनीषियों के परिचर्चित
प्रतिपादन सुनने पर भी उनके पल्ले कुछ न पड़ेगा । इस
कठिनाई की पूर्ति कला के माध्यम से सहज सम्पन्न होती
है । गीत वाद्य सुनकर जब साँप, मृग, मोर तक भाव
विभोर होते और दीपक जलते, मेघ बरसते हैं तो कोई
कारण नहीं कि मनुष्य के मर्मस्थल का उस माध्यम
सहारे स्पर्श न किया जा सके । लोकरंजन में बाल-वृद्ध
सभी को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता है ।
लोरियाँ सुनाकर रोते बच्चों को भी चुप कराया और
सुलाया जाता है । संगीत के आधार पर गाय अधिक दूध
देती है, फसलों के उत्पादन में वृद्धि होती है और मनोरोग
चिकित्सा में उसकी चमत्कारी परिणति होती है, तो कोई
कारण नहीं कि जनसाधारण को इस आधार पर भाव
तरंगित करके आदर्शवादी परिवर्तन स्वीकार करने के लिए
सहमत न किया जा सके ।

प्रज्ञा अभियान द्वारा संगीत को प्रज्ञा प्रचार का माध्यम
बनाया गया है और कहा गया है कि जिन परिजनों में
संगीत के प्रति रुचि हो, जिनका गला साथ देता हो और
दिमाग स्वर भेद को पकड़ता हो, उन सभी को गायन-
वादन की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए । सरल उपकरणों में
ढपली-मजीरा इन दो का युग्म सुगम संगीत की दृष्टि
कामचलाऊ व्यवस्था बना देता है । ढोलक का छोटा रू
ढपली है । उसे आसानी से झोले में रखकर कहीं भी सा
जाया जा सकता है । उसमें खड़ताल जैसी झाँझ भी लगी
रहती है । बजाते समय कलाई में घुँघरू भी बाँधे जा सकते
हैं । मजीरा तो और भी छोटा होता है जिसे जेब में भी रख
सकते हैं । यह दोनों ताल वाद्य हैं । जो हारमोनियम,
सितार, बैंजो जैसे स्वर वाद्यों की तुलना में कहीं जल्दी
सीखे जा सकते हैं । इसलिए युग संगीत की सुगम संगीत
योजना में इन दो युग्म को ही मान्यता दी गयी है । दोनों
की कीमत अधिक नहीं है, जो हर किसी कि क्रय सीमा
के भीतर है । हारमोनियम, तबला आदि सीखने पर रोक
नहीं है पर वे समय साध्य भी हैं और महँगे भी । साथ ले
जाने की दृष्टि से भी वे भारी होते और जगह घेरते हैं ।

ढपली, मजीरा सिखाने के लिए युग शिल्पी की एव
महीना अवधि भी कामचलाऊ अभ्यास करा देती है । फिर
भी प्रबन्ध यह होना चाहिए कि सभी समर्थ शाखाएँ अपने
यहाँ रात्रि के समय और साप्ताहिक अवकाश के दिन
संगीत शिक्षा के लिए कक्षाएँ चलाने का प्रबन्ध करें । जिन्हें
उत्साह हो उन छात्रों को भर्ती करें । अध्यापक, समयदानी
भी हो सकते हैं । न मिले तो उन्हें रिआयती पारिश्रमिक
पर भी थोड़े समय तक नियुक्त रखा जा सकता है । पीछे तो
छात्रों में से ही जिन्हें अभ्यास हो चले, शिक्षक का
उत्तरदायित्व संभाल सकते हैं । ढपली, मजीरा सीखना और
सिखाना सरल भी है और स्वल्प समयसाध्य भी । पर जहाँ

हारमोनियम, तबला, नाल, बैन्जो, गिटार आदि का प्रबन्ध भी हो सकता हो और उतने के लिए उत्साह तथा समय भी हो तो उसके लिए भी कोई रोक नहीं । जितना गुड़ उतना मीठा की कहावत तो सर्वत्र लागू होती है । अधिक वाद्य यन्त्रों की मण्डली अधिक आकर्षक होती हो तो संगीत विद्यालय और शिक्षक मण्डली का महत्त्व एवं आकर्षण बढ़ेगा ही ।

युग संगीत की छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ मिशन की ओर से छपी हैं । उनमें अभी तो जीवट और विवेक उभारने वाले गीतों का ही संकलन है पर क्रमशः उनमें आदर्शवादिता के हर पक्ष को उभारने वाले विभिन्न अवसरों के अनुरूप, विभिन्न प्रकृति वालों के लिए रुचिकर गायनों का भंडार बढ़ता और छपता जाएगा । अभी खड़ी बोली में ही संगीत सृजन का काम आरम्भ हुआ है, पर इसी का भावानुवाद एवं छायानुवाद प्रान्तीय एवं क्षेत्रीय भाषाओं में भी होता जाएगा ताकि हर वर्ग, स्तर और क्षेत्र का जनसमुदाय इससे लाभान्वित होता रहे ।

सम्भाषण एवं संगीत जन-जागरण के प्रमुख माध्यम

प्रज्ञा परिजनों को अपनी वाणी मुखर करनी होगी विचार-क्रान्ति की पृष्ठ-भूमि विचार-विनिमय के बिना बनती ही नहीं । प्रज्ञा साहित्य का स्वाध्याय करने के लिए भी लोगों को सर्वप्रथम उसका महत्त्व और महात्म्य समझना पड़ता है अन्यथा इस अश्रद्धा और कुरुचि के माहौल के गंदे उपन्यास पढ़ने के अतिरिक्त कोई कुछ पढ़ता ही नहीं पढ़ना भी नहीं चाहता । सत्साहित्य में अभिरुचि उत्पन्न करना प्रथम चरण है । इसमें भी प्रभावी वार्ता के बिना गुजारा नहीं । इसके बाद तो नवसृजन की समस्त विधि-व्यवस्था सत्संगपरक हो जाती है और उसमें अपनों से, परायों से निरन्तर वार्तालाप ही करना होता है । भले ही वह परामर्श संभाषण के रूप में अथवा कथा प्रवचन, आयोजन, भाषणों के रूप में अधिक जन-समुदाय के सम्मुख प्रस्तुत करना पड़े ।

मन की बात प्रकट कर देने से जी की घुटन दूर होती है। अभ्यास से विचारों का प्रवाह, तारतम्य सुव्यवस्थित होता है, आत्मविश्वास बढ़ता है तथा लोगों की दृष्टि में अपना सम्मान महत्त्व बढ़ता है । दूसरों को प्रभावित आकर्षित करने में, मैत्री के संवर्धन में इस कला का बड़ा उपयोग है । जन नेतृत्व के लिए उसकी महती आवश्यकता है। युगान्तरीय चेतना उत्पन्न करने के लिए तो उसकी आवश्यकता पग-पग पर पड़ेगी, इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए वाणी को मुखर करने का अभ्यास हममें से प्रत्येक को करना चाहिए ।

अनभ्यस्तों के लिए हर नया काम कठिन होता है पर अभ्यास करने पर तो मनुष्य सरकस के अवाक् कर देने जैसे कार्य करने लगता है । समस्त कलाएँ अभ्यास से आती हैं, उन्हें साथ लेकर कोई नहीं जन्मता । कठिनाई केवल अपने डर की है झिझक, संकोच, आत्मविश्वास का अभाव ही किसी को वक्तृत्व कला में प्रवीणता प्राप्त करने से रोकते हैं । यदि इन्हें रास्ते से हटा दिया जाय और क्रमबद्ध बोलने का अभ्यास जारी रखा जाय तो समझना चाहिए कि इस क्षमता को विकसित करने की आधी मंजिल पार हो गई ।

जिन्हें अभ्यास करना हो उन्हें इसके लिए सर्वप्रथम एकान्त से शुभारम्भ करना चाहिए । बन्द कमरे में या अन्यत्र खेत, मैदान, सुनसान में जाकर वहाँ बिखरे हुए सामान पर नजर डालनी चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि जड़ पदार्थ एक विशेष प्रकार के मनुष्य ही विराजमान हैं । इनके सामने विचार व्यक्त करने में वैसी कठिनाई नहीं होनी चाहिए जैसी कि भीड़ को सामने देखकर घबड़ाहट होती है और भयभीत मनःस्थिति में वाणी के प्रवाह और विचारक्रम में अकारण ही गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है । यह कठिनाई एकान्त में बिखरे हुए सामान को जनसमुदाय मान लेने भर से सहज ही हल हो जाती है ।

होता यह है कि जब सामने बड़ा जनसमुदाय बैठा दीखता है तो लगता है कि इनमें जो समझदार होंगे वे वक्तृता को घटिया समझेंगे, उपहास करेंगे, ना समझ लोग कथन को समझेंगे नहीं और उठकर चलने लगेंगे । योग्यता की, अभ्यास की कमी से भी परेशानी उत्पन्न होती है । अनेक लोगों की दृष्टि एक ही चेहरे पर जमे तो भी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया होती है । इन सबसे बचने के लिए आरम्भिक अभ्यास के लिए पौधों, बर्तनों, पुस्तकों पत्थरों को ही मनुष्य मानकर उस संकोच से छुटकारा पा लिया जाय, जो उपस्थित समुदाय को देखकर घबराहट के रूप में उत्पन्न होता है । भय, संकोच, असमंजस हटे तो समझना चाहिए कि काम बन गया, प्रगति की राह खुल गई ।

दूसरी कठिनाई भाषण में यह होती है, कि क्या कहना है, किस क्रम से कहना है इसकी रूपरेखा पहले से न बनने पर प्रवाहक्रम टूटता जाता है अप्रसांगिक बातें मुँह से निकलती हैं और जो कहना चाहिए था वह विदित होने पर भी विस्मरण हो जाता है, इसलिए बिना तैयारी के मंच पर बैठने और कुछ भी अंट-शंट कहने की भूल नहीं करनी चाहिए, जो कहना है उसे क्रमबद्ध करके कागज पर नोट कर लिया जाय, निर्धारण विस्मृत न होने लगे इसके लिए अच्छा तरीका यह है कि एक बड़े कागज पर मोटे अक्षरों में प्वालाइन्टों को संकेत रूप में नोट कर लिया जाय । बोलते समय कागज सामने रखा जाय । कितने समय में कितना प्रसंग बोलना है उसके समयसूचक संकेत भी उसी कागज पर अंकित कर लेने चाहिए ।

कालेजों के प्रोफेसर यही करते हैं, वे अगले दिन का लेक्चर रात में तैयार करते हैं । उसे 'डाइस' पर रख लेते

हैं, खड़े होकर बोलते हैं और कागज पर नजर डालकर शिक्षण का तारतम्य ठीक से बनाये रखते हैं । महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के महत्त्वपूर्ण अवसरों पर जो महत्त्वपूर्ण भाषण होते हैं, उनमें भी यही किया जाता है, ऐसे भाषण आमतौर से छाप लिए जाते हैं और पढ़कर सुनाने के उपरान्त लोगों को बाँट दिये जाते हैं ।

छापना-बाँटना तो कठिन है पर प्वाइन्टों के संकेत नोट करने और अवधि विभाजन के समयसूचक चिन्ह लगाने की तैयारी तो करनी ही चाहिए घड़ी सामने रहनी भी आवश्यक है जो कहना है, उसे मात्र क्रमबद्ध करके नोट ही नहीं कर लेना चाहिए वरन् इसका कई-कई बार अभ्यास भी करना चाहिए । कहते हैं चलती का नाम गाड़ी है, बहुत दिन खड़ी रहने पर अथवा नई-नई गाड़ी चलाने पर गाड़ी भी अड़चन उत्पन्न करती है, उसे गतिशील रखना पड़ता है । गायक, वादक, नट, नर्तक, अभिनेता अपनी-अपनी पार्टी का पूर्ण रिहर्सल करते रहते हैं । 'रियाज' के बिना हाथ रुकता है । मिलिटरी के सैनिकों को रोज 'कवायद' करनी पड़ती है, ताकि अभ्यास में कमी न आने लगे । परीक्षा में जाने से पूर्व विद्यार्थी एकबार फिर से उस दिन के विषय पर सरसरी नजर डाल लेते हैं ।

भाषण की पूर्व तैयारी में भी वही करना पड़ता है । अन्यथा विद्वान भी सही एवं सर्वांगपूर्ण वक्तृता दे नहीं सकेगा । कुछ जोड़ेगा कुछ बहकेगा । विस्मृतजन्य कठिनाई में बगलें झाँकने और हिचकी, जमुहाई लेने लगेगा । आरम्भ में दो तीन भाषण ही अभ्यास में चुनने चाहिए । उनमें तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण समुचित मात्रा में भरने चाहिए ताकि सुनने वालों के गले आसानी से उतर सकें । मात्र सैद्धान्तिक विवेचन सर्वसाधारण के लिए भारी पड़ता है, इसलिए कथन को सरस और सुबोध बनाने के लिए उसमें घटनाक्रमों का समावेश करना चाहिए और तथ्यों को उदाहरणों के साथ जोड़ना चाहिए ।

एकान्त अभ्यास के उपरान्त छोटे एवं परिचित समुदाय के सम्मुख भाषण का अगला कदम उठाना चाहिए । इस दृष्टि से बच्चों में कहानियाँ कहना सबसे सरल पड़ता है । मित्र मंडली एक जगह बैठकर परस्पर भाषण देने-सुनने का अभ्यास चला सकती है । स्कूलों में बच्चों की भाषण प्रतियोगिताएँ इसी दृष्टि से होती है कि वक्तृत्व कला का अभ्यास कर सकें । प्रयत्न करने पर यह व्यवस्था भी बन सकती है । स्लाइड प्रोजेक्टर के चित्रों का परिचय प्रायः डेढ़-दो मिनट के भीतर ही पूरा करना पड़ता है, इसके लिए व्याख्या-पुस्तिकाएँ भी छपी हैं, उस आधार पर डेढ़-डेढ़ दो-दो मिनट का व्याख्यानों का अभ्यास भी बड़े भाषण दे सकने की योग्यता निखारने में बहुत सहायक सिद्ध होता है ।

प्रज्ञा पुराण के कथा प्रवचन इस प्रयोजन के लिए स्वतन्त्र भाषणों के ढलाव में कहीं अधिक सरल पड़ते हैं उनमें घटना प्रसंग भरे पड़े हैं । पन्ने उलटते हुए उन्हें धारा-प्रवाह रूप से कहते रहा जा सकता है । यह अभ्यास अपने घर-परिवार में प्रारम्भ करना चाहिए और जब गाड़ी चल पड़े तो फिर बड़े समुदायों के सम्मुख उसे प्रस्तुत करने के लिए बेधड़क निकल पड़ना चाहिए । हर हालत में अपना आत्मविश्वास तो बनाए ही रहना चाहिए । भय, संकोच झिझक को आड़े नहीं आने देना चाहिए ।

प्रज्ञा मंचों से प्रस्तुत किए जाने वाले विषय ऐसे हैं, जिनके सम्बन्ध में जन-साधारण को अपरिचित न सही अनभ्यस्त तो कहा ही जायेगा । ऐसी दशा में यदि शिक्षक और शिक्षार्थी जैसी मान्यता अभ्यास काल में कुछ देर के लिए बना ली जाय तो उसे न तो अत्युक्ति समझना चाहिए और न अहंकार । यह कल्पना, वास्तविकता से बहुत दूर भी नहीं है फिर आन्तरिक क्षणों के उपरान्त उसे हटा कर स्वाभाविक निरहंकारिता भी तो अपना ली जानी है । ऐसी दशा में अभिनव सज्जा की तरह अपनाया गया यह मान्यता प्रयोग अनुपयुक्त भी नहीं रह पाता ।

वक्तृता में विचारों से वक्ता स्वयं कितना प्रभावित हो रहा है, इसका परिचय पाकर सुनने वालों की भावना उमगती है । जो स्वयं प्रभावित नहीं है, वह दूसरों को भ नहीं कर सकता । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए वक्ता को अपने कथन, प्रतिपादन से स्वयं प्रभावित होना चाहिए और वैसा ही परिचय अंग-संचालन से देना चाहिए । थिरकन इसी को कहते हैं । नृत्य अभिनय में यह अंग संचालन ही दर्शकों को भाव-विभोर करता है । वक्ता की अपनी सीमा, मर्यादा एवं स्थिति है तो भी उसे पाषाण प्रतिमा की तरह जड़ बनकर नहीं बैठना चाहिए । हाथ, उँगलियाँ, कंधे, गरदन, होंठ, आँख आदि के सहारे यह परिचय देना चाहिए कि जो कहा जा रहा है उससे वक्ता स्वयं भी कम प्रभावित नहीं है ।

इसके लिए अभ्यास काल में दर्पण सामने रखकर अपनी आकृति देखते चलने से भी यह पता चलता है कि अपनी आकृति उपयुक्त स्तर की बन रही है या नहीं । वेषभूषा प्रभावोत्पादक है या नहीं । स्मरण रहे प्रज्ञा मंच ऋषि परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है । इसलिए उस स्थान पर बैठने वालों को अपने अनुरूप ही परिधान धारण करने चाहिए ।

वार्तालाप संभाषण के सम्बन्ध में सबसे ध्यान रखने योग्य बात यह है कि मिलन-भेंट के लिए निर्धारित शिष्टाचारों का पूरी तरह पालन करना चाहिए । दूसरे की सुविधा का ध्यान रखकर वार्ता का आरम्भ या अन्त किया जाय । जिस समय दूसरे को कुछ सुनने की सुविधा नहीं है, उस समय उसके ऊपर लदना नहीं चाहिए । किस समय, कितनी देर, किससे किस स्तर की बात की जाय, इसका ध्यान रखने पर ही किसी का परामर्श, उपदेश सुना जा सकता है । हर व्यक्ति अपनी सुविधा को प्रमुखता देता है इसलिए किसी को यह अनुभव नहीं होने देना चाहिए कि अवांछनीय अतिथि की तरह बेवक्त पहुँचा जाय और उसके अन्य कार्य के लिए निर्धारित समय का

व्यतिरेक किया जाय । अच्छा हो समय सम्बन्धी निर्धारण पहले ही कर लिया जाय अथवा अनायास पहुँचने पर उनसे सुविधा के समय वाली बात अब या फिर कभी के लिए कर ली जाय ।

दूसरे का सम्मान, अपनी विनय, इन दोनों का समुचित समन्वय वार्तालाप में रखने की आवश्यकता है । हर कोई अपनी प्रशंसा सुनना चाहता है । अच्छा हो जिसमें जो अच्छाइयाँ दृष्टिगोचर हों उनका जिक्र करते हुए, प्रसन्नता, अनुकूलता का वातावरण बना लिया जाय । मतभेदों का प्रसंग सबसे आगे नहीं रखना चाहिए । विवाद मतभेद पर कटु विवाद न करके उस दिशा में उँगली पकड़ने के बाद कलाई पकड़ने की नीति अपनानी चाहिए । विवादास्पद-विषयों को ही प्रारम्भ में ले लिया गया तो समझना चाहिए कि बातचीत में ही भंग कर देने का पूर्ण निश्चय करके शुरू की गई है ।

वार्ता का आरम्भ उस प्रसंग से किया जाय जो सामने वाले को प्रिय, रुचिकर एवं अभीष्ट हो । कठिनाइयों में सहानुभूति प्रकट करते हुए उसमें अपने मिशन के या परामर्श के कुछ आधार प्रस्तुत किये जा सकते हैं । मिशन की विचारधारा बहुमुखी है, उसमें हर क्षेत्र में बहुत कुछ कहने करने योग्य है । चर्चा ऐसे तालमेल वाले विषयों से आरम्भ करके क्रमशः वहाँ तक पहुँचाई जा सकती है, जो मिलन का तात्कालिक उद्देश्य है । अपरिचित, अरुचिकर विषयों पर अनायास चर्चा चल पड़ने से व्यक्ति ऊबने लगता है, शिष्टाचार का पालन न करने से मनुष्य खीझने लगता है ऊबा और खीझा हुआ व्यक्ति उस प्रसंगों का ही विरोध करने लगता है, जिनके कारण यह मिलन वार्ता आरम्भ हुई । वार्ता में मिठास, स्नेह-सौजन्य का जितना पुट रहेगा उतनी ही वह प्रभावी एवं सफल रहेगी । उत्तेजनापूर्ण कटु, कर्कश ढंग से किए गये प्रस्तुतीकरण सही और उपयोगी होते हुए भी मनों में दरार उत्पन्न कर देते हैं और सफलता की सम्भावना भी असफलता में बदल जाती है ऐसे ही सफल सम्भाषण के अन्यान्य 'गुर' भी हैं जिन्हें अनुभव से अथवा वार्ता में कुशल लोगों के सम्पर्क में रहकर जाना, सीखा और अपनाया जा सकता है ।

भाषण सम्भाषण की तरह ही संगीत का भी महत्व है । सैद्धान्तिक प्रतिपादनों को अपने अशिक्षित देहात में बिखरे अधिकांश जन-समुदाय के गले उतारना इस आधार पर जितनी अच्छी तरह सम्भव हो सकता है उतना अन्य किसी प्रकार नहीं । संगीत नर, नारी, बाल-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित सभी को प्रिय लगता है । लोकरंजन और लोकमंगल के सम्मिश्रण में संगीत की महती आवश्यकता हो सकती है । सुगम संगीत का अभ्यास आसानी से हो सकता है । ढपली, मंजीरा जैसे सरल वाद्य यन्त्रों को कहीं भी साथ लेकर जाया जा सकता है । स्ट्रीट सिंगर स्तर का गायन-वादन सीखकर युग संगीत के माध्यम से जन-जागरण की प्रक्रिया अधिक व्यापक बनाई जा सकती है ।

युग संगीत के जन-साधारण में प्रचलन हेतु प्रज्ञा अभियान की सत्परामर्श परम्परा की भाँति ही सरल गीतों को एकत्र कर एक से अधिक वाद्ययन्त्रों के माध्यम से दुष्प्रवृत्ति निवारण एवं सत्प्रवृत्ति संवर्धन की दिशा देने वाले गीतों के कैसेट्स बनाये जा रहे हैं दिशाविहीन गीत तो बाजार चौपालों पर नित्य बजते रहते हैं । परन्तु जनमानस का परिशोधन-परिष्कार का संकल्प लेकर चलने वाले इस मिशन ने सदैव भावनाओं को छू लेने वाले गीतों का सहारा लिया है । केन्द्र में तो यह प्रक्रिया चलती ही थी । अब यहाँ व्यापक प्रशिक्षण की व्यवस्था कर ली गयी है तथा भक्ति-संवेदना, प्रखरता-संघर्ष परायणता तथा आस्तिकता-सामाजिकता की दिशा देने वाले नये-नये गीत लिखे व वाद्ययंत्रों पर सेट किये गए हैं । इन्हें थोड़े से अभ्यास से ही सीखा व जन-जन में इनका प्रचलन किया जा सकता है । प्रज्ञा परिजनों को वाणी मुखर करने के लिए संभाषण एवं युग संगीत-इन दोनों ही कलाओं का अभ्यास करना ही चाहिए ।

लोकरंजन के साथ लोक-मंगल का समन्वय

संगीत सीधा हृदय को स्पर्श करता है । लेखनी, वाणी की उतनी सीधी पहुँच भाव केन्द्र तक नहीं जितनी संगीत की है । मस्तिष्क को प्रभावित करना हो तो तर्क और तथ्यों का सहारा लेना पड़ेगा पर भावनाओं को आन्दोलित करना एक विशिष्ट प्रक्रिया है जिसमें संगीत से अधिक और कोई प्रभावशाली माध्यम नहीं है । मीरा, सूर, तुलसी, कबीर जैसे भक्त सन्तों ने जनता के अन्तःकरण को सीधा स्पर्श किया था और उन दिनों के सूखे, नीरस, हताश, जन-मानस में पुनः रस की धारा बहाकर नवजीवन का संचार किया था । आगे चलकर वह सरसता, आत्म-चिन्तन और आत्म-निर्माण का कारण बनी । देश के पददलित गौरव को पुनः जीवित-जाग्रत करने में इस भक्ति रस की प्लावित भूमिका ने अपने ढंग से एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध किया था ।

छुआछूत मिटाने में मानवी एकता का प्रतिपादन करने में चैतन्य महाप्रभु, निमाई-निताई, जगद्बन्धु जैसे सन्तों की कीर्तन प्रक्रिया बड़ी प्रभावशाली सिद्ध हुई । समर्थ गुरु रामदास के दास बोध में संकलित अभंगों ने सारे महाराष्ट्र में अभिनव संचार किया ।

पिछले दिनों अन्धकार युग में प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण माध्यमों का दुरुपयोग हुआ है । धर्म और अध्यात्म की कैसी दुर्गति बनाई गई यह सामने है । शब्द और ब्रह्म को भी निकृष्ट स्तर पर लाकर पटक दिया गया । साधना श्रृंगारिकता की चेरी बनकर रह गई । जो गाया गया, गवाया गया, उसे केवल रूपसी, रमणी, कामिनी की मांसलता वर्णन करने, यौन लिप्सा के विविध हाव-भावों, क्रिया-कलापों से वर्णन करने के अतिरिक्त और कोई

विषय न मिला, काव्य का दूसरा अर्थ ही शृंगार, विलास, काम-कौतुक बनकर रह गया । ऐसे दुर्दिनों में यदि औरंगजेब ने अपने राज्य में से सारे गायकों को देश निकाला दे दिया था और सारे वाद्य यन्त्रों को नष्ट करवा दिया था तो उसका आक्रोश निरर्थक नहीं कहा जा सकता ।

पिछले दिनों जो अवांछनीय होता रहा है उसकी धारा उलटने का प्रयत्न युग निर्माण योजना कर रही है । इस संदर्भ में उसने स्वर साधना का-संगीत का पुनरुद्धार, पुनरुत्थान करने का निश्चय किया है । उसे विलासिता के प्रतिपादन से हटाकर उच्चस्तरीय देव भावनाओं के जागरण में प्रयुक्त किया जायेगा ।

भावनात्मक नवनिर्माण में अन्तःकरणों को स्पर्श किया जायेगा, इसके लिए संगीत विद्या का उपयोग होना ही है । अन्तर केवल इतना करना है कि गायन का विषय ऊर्ध्वगामी हो । वात्सल्य, करुणा, ममता, आत्मीयता, स्नेह, सौजन्य, सौहार्द, सद्‌भावनाओं आदि को तरंगित करने वाले गीत बनाये जायें, गाये जायें, और वाद्य यन्त्र की ध्वनि तरंग उसी उद्‌बोधन में रस सहयोग प्रदान करें । अगले दिनों गीत वाद्य का एकमात्र प्रयोग-प्रयोजन यही होगा ।

प्रेरणाप्रद उद्‌बोधक गीतों का आज लगभग अभाव है । गीतों के नाम पर काम-कौतुक से सम्बन्धित पद्य ही गायकों को याद हैं और गीत पुस्तकें भी लगभग इसी परिधि के इर्द-गिर्द घूमती हुई मिलेंगी । आवश्यकता ऐसे गायनों की है जो जन-मानस की आधुनिक पतनोन्मुख धारा को मोड़ सकें । ऐसे गीत लिखने या लिखाने पड़ेंगे । इस प्रकार के कुछ संकलन युग निर्माण योजना ने छापे भी हैं । प्रथम तो यह है कि निकृष्टता के प्रति आक्रोश और उत्कृष्टता के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने वाले गीतों की प्रचुर परिमाण में संरचना की जाय । उन्हें प्रान्तीय और क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवादित, प्रकाशित किया जाय ताकि शिक्षित, अशिक्षित सभी को उनकी सरस प्रेरणा से लाभान्वित होने का अवसर मिल जाय ।

गान विद्या से परिचित उस कला के अभ्यस्त लोगों को ऐसी कविताएँ उपलब्ध कराई जायें । उनसे अनुरोध किया जाय कि वे इन्हें याद करें, इनकी ध्वनियाँ निकालें और समय-समय पर उन्हें अलापते हुए सुनने वालों को प्रसन्नता ही नहीं प्रेरणा भी प्रदान करें । उन्हें इसमें आपत्ति ही क्या हो सकती है ? उन्होंने तो यही याद कर लिया है जो सहज उपलब्ध था । प्रेरणाप्रद गीत कहीं थे ही नहीं । जो थोड़े थे वे प्रचलित नहीं थे । ऐसी दशा में यदि गायक उन्हें प्रस्तुत कर सकने में असमर्थ रहे तो उनका दोष भी नहीं । अब जबकि उस तरह का गीत निर्माण और प्रकाशन आरम्भ हो गया है तो कोई कारण नहीं कि गायक बन्धु इस नवनिर्माण प्रयोजन में अपना योगदान न करें । संगीतज्ञों को प्रेरक गीत गाने की प्रेरणा देने के साथ ही उन्हें ऐसे मंच उपलब्ध कराना, जिस पर वे अपने उत्साह और सहयोग का प्रदर्शन कर सकें, यह भी हमारा कर्तव्य है ।

समय-समय पर हमें ऐसे संगीत आयोजन निर्धारित करने चाहिए और उन सहयोगी कलाकारों को उनमें आमन्त्रित करके अपनी निर्माण कला के प्रदर्शन का अवसर देना चाहिए । ऐसे संगीत सम्मेलन स्वतन्त्र रूप से पूरे समय के लिए भी रखे जा सकते हैं या किन्हीं अन्य सम्मेलनों के आदि व अन्त में थोड़े समय के लिए भी रखे जा सकते हैं ।

कविता सम्मेलनों की बिलकुल स्वतन्त्र शैली है, यह जितनी सरल है उतनी ही प्रभावोत्पादक भी । कवि सम्मेलनों में कवि लोग अपनी-अपनी कविताएँ ही सुनाते हैं, उनमें विषय का प्रतिबन्ध नहीं होता । कविता सम्मेलन इससे भिन्न स्तर का होगा पर उसका बाहरी स्वरूप कवि सम्मेलनों जैसा ही रहा करेगा । जिनके स्वर मीठे और तीखे हैं वे किसी की भी लिखी हुई कविता अपने स्वर में जमावेंगे और सम्मेलन में उसका पाठ करेंगे । वयस्क छात्र और छात्राओं को स्वभावतः इसमें अधिक रुचि होती है । बड़ी आयु वालों की अपेक्षा उनके स्वर भी अपेक्षाकृत अधिक कोमल, तीखे और मीठे होते हैं । इसलिए भविष्य के लिए उन्हें अधिक प्रोत्साहन देने की दृष्टि से आगे लाना चाहिए । अन्य बड़ी आयु के नर-नारी भी भाग ले सकते हैं । स्वर की मिठास और पढ़ने की शैली ही उनकी योग्यता होगी । कविताएँ मिशन को निर्धारित मर्यादाओं के अन्तर्गत ही होनी चाहिए । इस प्रकार यह कविता पाठ सम्मेलन अपने ढंग का अति महत्त्वपूर्ण आयोजन होगा ।

प्रचलित कवि सम्मेलनों की तुलना में उसका महत्व तीन दृष्टियों से बढ़ा-चढ़ा होगा । एक तो सभी गायक मधुर स्वर वाले होंगे जबकि कवि सम्मेलनों में वैसा नहीं होता । दूसरे विषय केवल आदर्शवादिता और उत्कृष्टता की मर्यादाओं के सीमित रहने के कारण जन-मानस को एक दिशा देंगे जबकि कवि सम्मेलन वैसा कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं करते । तीसरे बाहर से आने वाले कवियों के लिए ढेरों पैसे देने पड़ते हैं जबकि कविता सम्मेलनों में समीपवर्तीय लोग ही एकत्रित होकर बिना किसी खर्च के उस प्रयोजन को पूरा कर देते हैं ।

मिशन की आवश्यकता पूर्ति के लिए यह कविता सम्मेलन ही उपयुक्त रहेंगे । जिस कवि की कविता सुनाई जायेगी, जहाँ से वह ली गई होगी उसकी चर्चा कर दी जायगी । इस प्रकार कविता सम्मेलनों की हर जगह धूम मचाई जा सकती है ।

हर वर्ष छह प्रधान पर्वों पर युग निर्माण शाखाओं द्वारा आयोजन होते ही हैं । इनमें कविता पाठ व संगीत सम्मेलनों का भी कुछ समय निर्धारित रहना चाहिए । यदि आयोजन कई दिन का है तब तो एक दिन पूरा भी कविता सम्मेलन, संगीत सम्मेलन रह सकता है । इसके अतिरिक्त भी समय-समय पर समीपवर्ती क्षेत्रों में यह आयोजन सजधज के साथ सम्पन्न किये जा सकते हैं । संगीतज्ञों और कविता-पाठकर्त्ताओं को मिशन के अनुरूप अपनी शैली विकसित करने को शिक्षण शिविरों की व्यवस्था की जानी

चाहिए । इसके लिए जहाँ सम्भव हो स्वतन्त्र संगीत विद्यालय भी स्थापित किये जाने चाहिए, जिसमें गीत और वाद्य दोनों की शिक्षा दी जाय । भले ही विद्यालय रात्रिकालीन दो तीन घण्टे चलने वाले ही क्यों न हों ? हर जगह संगीत विद्यालय खोले जायें जिनमें अवकाश के समय संगीत सीखने का अवसर उस विषय में रुचि रखने वालों को मिल सके । प्रेरक गीत हर क्षेत्रीय भाषा में लिखे जाने चाहिए और प्रयास यह किया जाना चाहिए कि गीत वाद्य की दिशा लोकमंगल का प्रयोजन पूरा करने में जुट सके ।

सहगान कीर्तनों की आवश्यकता

पिछले दिनों लोग रसानुभूति दो प्रयोजनों में करते रहे हैं, १-शृंगारिकता २-भक्ति कल्पना । इन दो ही धाराओं में काव्य सरिता प्रवाहित होती रही है, इसी सन्दर्भ में गाया और बजाया गया । भावुकता और काल्पनिकता इन्हीं दोनों के इर्द-गिर्द उड़ती रही है । सबसे अधिक रसिकता इन्द्रिय लिप्सा के रूप में काम कौतुक में लगी है । नर-नारी संयोग को विविध रूप में देखने-सुनने और उसके नाम पर गान, नृत्य, अभिनय का सिलसिला चिरकाल से चलता रहा है ।

काव्यधारा का कुछ थोड़े से कलाकारों तक सीमित रहना पर्याप्त नहीं । जिनके स्वर-मधुर हैं, जो गान शैली से परिचित हैं, जिन्हें वाद्य यन्त्र बजाना आता है, वे ही इस भाव गंगा में स्नान कर सकें और शेष लोग मूक दर्शक मात्र बने रहें यह उचित न होगा । प्रयत्न यह किया जाना चाहिए कि सर्वसाधारण को भाव जागरण के इस क्रियाकलाप में-रसानुभूति के प्रवाह में व्यक्तिगत रूप से भी-सक्रिय रूप से भी सम्मिलित होने का भाग लेने का अवसर मिले । इसका एक ही तरीका हो सकता है-सहगान, पिछले दिनों कीर्तन की भी शैली यही रही है । हमें इसी शैली के कीर्तन का प्रचलन करना चाहिए ।

ऐसी सुन्दर कविताएँ इस सहगान कीर्तन की लिखी जानी चाहिए जिनमें ईश्वर विश्वास, धर्म आत्मा, श्रद्धा, सद्‌भावना, सेवा परमार्थ, विवेक, कर्त्तव्य पालन जैसे उच्च गुणों को उभारने की पर्याप्त सामिग्री हो । सम्बोधन आत्मा को, परमात्मा को, विश्व मानव को, विश्वात्मा को किया जा सकता है । प्रार्थना और आत्मनिवेदन के तत्व भी उसमें रह सकते हैं । शैली यह हो कि चार चरण प्रमुख गायक द्वारा मधुर स्वर में साज-सज्जा के साथ गाये जायें और जहाँ जितनी व्याख्या की जरूरत हो वहाँ उसे भी करते रहा जाय । मुख्य प्रवक्ता को ही इतना तो करना चाहिए । इसके बाद एक चौपदी के साथ जुड़ी हुई पदीय टेक और एक स्थाई टेक इन दो को जनता मिल-जुलकर गाये, दुहराये । संगीत का क्रम इसमें भी चलता रहे । यही है अपने सहगान कीर्तनों की पद्धति ।

इसमें एक बड़ा मनोवैज्ञानिक लाभ है कि जन-साधारण द्वारा जो टेक गाई, दुहराई गई है, उसे वे अपने द्वारा समर्थित और प्रतिपादित अनुभव करते हैं और अनायास ही मन स्तर से यह आस्था जमाते हैं कि उस तथ्य का समर्थन नहीं वरन प्रतिपादन वे स्वयं कर रहे हैं । अस्तु इस पद्य में व्यक्त अभिव्यंजनाओं के साथ उनका जिन का अहं जुड़ जाता है वे प्रकारान्तर से ऐसा अनुभव करते हैं मानो उन्होंने सहगान के साथ-साथ वैसा करने की प्रतिज्ञा की हो अथवा प्रवक्ता के स्थान पर बैठकर सर्वसाधारण को खुद ही वैसा मानने करने की प्रेरणा दी हो । इस छाप के कारण जनसाधारण को उस प्रवाह में अधिक आनन्दित होने का ही नहीं प्रभावित होने का भी अवसर मिलता है । वातावरण कुछ ऐसा बन जाता है, मानो एक विशाल जनसमूह ने इन मान्यताओं का-भावनाओं का सामूहिक समर्थन किया हो । बिना मन पर किसी प्रकार का भार दबाव पड़े-आनन्द और उत्साह की तरंगों में बहते हुए, झूमते गाते हुए अपनी मनोभूमि को एक दिशा विशेष में मोड़ने का और वातावरण में और उभार, उत्साह उत्पन्न करने का यह बहुत ही प्रभावशाली तरीका है । इसे अधिकाधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए और इस प्रकार के आयोजनों के लिए उत्साह भरी तैयारी में हमें जुटना चाहिए ।

इस प्रकार के पद्य लिखे जा रहे हैं जिनमें नवनिर्माण के सभी भाव तथ्यों को भली प्रकार व्यक्त किया गया हो । चारों लाइनें तुकान्त चरण की हों किन्तु कवियों को यह छूट दी गई है कि चारों पदों की तुकें बढ़िया न बनती हो और इसमें भाव भरने में कठिनाई पड़ती हो तो दो-दो पंक्तियों की भी तुकें बिठा सकते हैं । एक प्रत्येक पद के साथ जुड़ी रहने वाली पदीय टेक और एक स्थायी टेक जो पदीय टेक के साथ दुहराई जाती रहें ।

इसके बाद अभ्यास आरम्भ करने की आवश्यकता पड़ेगी । वाद्य यन्त्र साथ हों तो सोना और सुगन्ध अन्यथा एक मधुर स्वर वाला प्रवक्ता चार चरण गाये और उपस्थित लोग दोनों टेकों को दुहराएँ । यह कीर्तन क्रम हर जगह आरम्भ कर दिया जाये । सायंकाल भोजन आदि से निवृत्त होकर लोग इस प्रकार के प्रयास में सुविधापूर्वक सम्मिलित हो सकते हैं । समीपवर्ती जनता को आमन्त्रण, बुलाये जाने को टोली, मधुर स्वर वाला प्रवक्ता, सुविधाजनक स्थान एवं वाद्य यंत्रों का प्रबन्ध हो सके तो वह भी इतनी व्यवस्था जुटा लेने पर कहीं भी आरम्भिक अभ्यास प्रारम्भ किया जा सकता है । उसे दैनिक-साप्ताहिक, एक ही स्थान पर, स्थान बदलकर, जैसी भी जहाँ सुविधा हो वहाँ वैसा प्रयत्न करना चाहिए । अभ्यास परिपक्व होने पर इनमें से अधिक अभ्यस्त लोगों की मण्डलियाँ समीपवर्ती स्थानों में कभी-कभी इस आन्दोलन की जानकारी तथा शिक्षा देने अथवा प्रचार उद्देश्य से जा सकती हैं । ऐसी कीर्तन मण्डलियों के सम्मेलन, प्रतियोगिता आयोजन तथा पद यात्रा कार्यक्रम भी बन सकते हैं ।

प्रस्तुत भाव संस्थान का जागरण सद्भाव सम्पन्न लोगों का परस्पर सम्मिलन, एक दिशा और एक लक्ष्य के लिए उन्मुख प्रवाह रसानुभूति की दिशा जैसे कितने महत्त्वपूर्ण लाभ इस पद्धति के साथ जुड़े हुए हैं। इस दिशा में हमारे प्रयास अविलम्ब गतिशील होने चाहिए।

युग-संगीत उभरे और व्यापक बने

लोकमानस को भाव तरंगित करने में संगीत की शक्ति. उपयोगिता एवं आवश्यकता को स्वीकारना ही पड़ेगा यह दूसरी बात है कि उसका उपयोग कुत्सा भड़काने में किया जाता है अथवा श्रेष्ठता की पक्षधर सद्भावनाओं को उभारने में उसका प्रयोग होता है। समय आ गया कि शक्तिशाली साधनों को नवसृजन के लिए प्रयुक्त किया जाय। साहित्य के साथ-साथ संगीत और कला को भी सद्भाव संवर्द्धन में अपनी क्षमता, इच्छा या अनिच्छा से नियोजित करना पड़ेगा। महाकाल का यह निर्धारण इन्हीं दिनों कार्यान्वित भी हो रहा है। प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत संगीत को लोकरंजन के साथ लोकमंगल के संयुक्त कदम मिलाकर प्रगति पथ पर सही दिशा में चलने के लिए बाधित किया जा रहा है।

शिव का डमरू, नारद की वीणा, कृष्ण की वंशी, मीरा के मंजीरा, सूरदास का इकतारा, चैतन्य की करताल के संयुक्त समन्वय का अभिनव अवतरण इन्हीं दिनों युग संगीत के रूप में हुआ है। इसमें उन्हीं गायनों को मान्यता मिली है जो उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श वकृत्व का पक्ष समर्थन कर सकें। इस प्रयोजन के लिए नये गीत और पुरातन कथानकों को इस प्रकार लिखाया जा रहा है कि उनसे सामयिक समस्याओं के समाधान में समुचित योगदान मिल सके। यह गीत खड़ी बोली हिन्दी में लिखाये जा रहे हैं साथ ही यह प्रयत्न भी चल रहा है कि उनका अनुवाद देश की अन्यान्य भाषाओं तथा ग्रामीण क्षेत्रों की बोलियों में वहाँ प्रचलित लोकगीतों में कराया जाय ताकि युग चिन्तन को गीतों के माध्यम से घर-घर अलख जगाने के लिए प्रयुक्त किया जा सके। इसके लिए कुछेक ही छन्द मीटर निर्धारित किये गये हैं ताकि अनेकानेक मीटरों और ध्वनियों के जंजाल में कवियों, गायक, वादकों को अवांछनीय भटकाव का शिकार न होना पड़े। शक्ति का अनुपयुक्त अपव्यय न हो। ऐसे कवियों को विशेष रूप से तलाश किया जा रहा है जो लोकभाषा में प्रगतिशीलता का समावेश कर सकने में समर्थ हो सकें। खड़ी बोली में प्रान्तीय तथा क्षेत्रीय भाषा में गीत अनुवाद कर सकने की क्षमता भी इस प्रयोजन में मौलिक गीत रचना के समान ही आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है।

वाद्य यंत्रों में उन्हें मान्यता दी गई है जो सीखने में तथा बजाने में सरल हैं। हारमोनियम, ढोलक, तबला, मजीरा, घुंघरू इन्हीं का इन दिनों सर्वत्र प्रचलन है। युग निर्माण सम्मेलनों में, प्रज्ञा आयोजनों में आमतौर से इन्हीं को प्रयोग में लाया जाता है। जहाँ सुविधा है वहाँ इस प्रचलन को भी जारी रखा जायगा पर आवश्यकता घर-घर अलख जगाने और जन-जन तक युग चेतना पहुँचाने की है। उस प्रयोजन में भाषण-संभाषण की अपेक्षा संगीत कहीं अधिक सफल होता है। संतकाल के सभी धर्म प्रचारकों ने इसी पद्धति को अपनाया था। सूर, कबीर, दादू, रैदास, नानक, नामदेव, चैतन्य आदि की कविताएँ मात्र लिखी ही नहीं गई हैं वरन् गाई-बजाई भी गई हैं। महाराष्ट्र में ऐसे धर्म संगीतों का, पगोड़ों का खूब प्रचलन रहा है। दास बोध के अभंग उस क्षेत्र में बड़ी भावनापूर्वक गाये जाते हैं। मध्य भारत में रामायण की चौपाइयाँ मनोयोगपूर्वक गाई जाती हैं। मीरा के भजन भावनापूर्वक गाये जाते हैं। उनकी प्रचार-पद्धति में गीत-वाद्य का जो स्तर रहा है उसे साहित्य परम्परा के अनुसार दोषपूर्ण भी कहा जा सकता है फिर भी उद्देश्य की महानता को मान्यता देने वाले भावनाशीलों ने उनका पूरा-पूरा सम्मान किया और श्रद्धापूर्वक अपनाया है। जन-जागरण के लिए अपनाई गई उसी संत परिपाटी को प्रज्ञा-अभियान के अंतर्गत अपनाया गया है।

वाद्य यंत्रों में ढपली और मजीरा इन दो तालवाद्यों को प्रयोग में लिया जा रहा है। यह दोनों ही ऐसे हैं जिन्हें झोले में रखकर कहीं भी साथ ले जाया जा सकता है रास्ता चलते कहीं भी बैठकर अकेले या दो व्यक्तियों की टोली में मिल-जुलकर गाया-बजाया जा सकता है। रेल में, बस में, पार्क में, घाट पर, मंदिरों, कारखानों, दफ्तरों, सिनेमाघरों के आगे जहाँ भी थोड़े बहुत आदमी बैठे या चलते-फिरते दिखाई पड़ें वहीं "अपनी ढपली अपना राग" बिना किसी पूर्ण तैयारी के आरम्भ किया जा सकता है। ढपली में ही घुंघरू, मजीरा भी जुड़े रह सकते हैं और दो वाद्य यंत्रों को साथ-साथ बजाने का प्रयोजन एक ही गायक पूरा करता रह सकता है किन्तु अधिक उत्साहवर्द्धक बात तब बनती है जब दो की टोली ही मिल-जुलकर गाये बजाये।

सत्तर प्रतिशत देहातों में बसे हुए सत्तर प्रतिशत अशिक्षित भारत को नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक अवांछनीयताओं से छुड़ाने और युग मानवों की गरिमा अपना सकने योग्य बनाने के लिए जिस विचार-क्रान्ति की आवश्यकता है उसे उभारने में युग संगीत की अतिमहत्त्वपूर्ण भूमिका होगी। युग धर्म के अनुरूप गलाई-ढलाई की भूमिका बनाने वाले भाषण करना और समझना दोनों ही कठिन है। उनके लिए वक्ता को अध्ययनशील, प्राणवान शैली का अभ्यस्त होना चाहिए साथ ही सुनने

वालों की बौद्धिक पृष्ठभूमि भी उसे समझ सकने योग्य होनी चाहिए । इसके बिना उस सुयोग में न तो रस आता है और न कुछ प्रतिफल निकलता है । इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए भी वक्तृता में कथा-शैली का समावेश करके प्रज्ञा-पुराण प्रक्रिया को प्रश्रय दिया गया है । मुट्ठी भर शहरी सुशिक्षितों का कार्यक्षेत्र दूसरों के लिए छोड़कर प्रज्ञा अभियान ने अपने प्रयास पिछड़े लोगों को ध्यान में रखकर बनाये और बढ़ाये हैं तो स्वाभाविक था कि भाषण शैली की कथा पुराण-प्रक्रिया का समावेश करके युगान्तरीय चेतना को सर्वजनीन बनाने का चिरपुरातन किन्तु चिरनवीन प्रयास अपनाया जाय । ठीक वही बात युग संगीत के सम्बन्ध में भी है । उसे शास्त्रीय संगीत के गायन मंडली के, आर्केष्ट्रा के, जटिल-जंजाल से अलग निकालकर 'स्ट्रीट सिंगर' स्तर का बनाया गया है । युग गायकों की सद्भावनाओं, सत्प्रवृत्तियों को गायन के माध्यम से उछालना है तो संगीत को ऐसा स्वरूप देना होगा जो सामान्य व्यक्तियों द्वारा सामान्य साधनों से कार्यान्वित किया जा सके । बड़े लोगों का बड़ा संगीत अपनी जगह पर कायम रहे । मुट्ठी भर लोग उसका आनन्द उठाने के लिए महँगे साधन जुटाते रहें । इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है । इस सफेद हाथी को युग-क्रान्ति के लिए प्रयुक्त कर सकना संभव नहीं ।

प्रज्ञा युग के संदेशवाहकों को उपरोक्त छोटी किन्तु महती भूमिका निभाने की तैयारी करनी होगी । उन्हें 'सड़क गायक' की भूमिका निभाने के लिए उसी स्तर की सरल शिक्षा प्राप्त करनी होगी ।

गायक यों अकेला भी काम कर सकता है पर वादन के साथ उसकी शक्ति और भी कई गुनी बढ़ जाती है । एक और एक मिलकर ग्यारह बनने की युक्ति दो गायकों, वादकों की जोड़ी मिल जाने पर और भी अच्छी तरह निभने लगती है । ढपली, मजीरा का वादन इस प्रयोजन के लिए अपने आप में पूर्ण है । मजीरे के इन दिनों और भी कई स्वरूप निकले हैं । घुँघरू, तिकोन, चिमटा आदि भी उसके सहयोगी पर स्थानापन्न बन सकते हैं । महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तुकड़ो जी इन वाद्ययंत्रों के सहारे युग गायनों को आकर्षक एवं प्रभावी बनाने का सफल प्रयोग कर भी चुके हैं । उसी पद्धति को इन दिनों अपनाया जा रहा है । अनुभव और अभ्यास से इसमें क्रमशः अधिक सुधार एवं आकर्षण भी उत्पन्न किया जाता रहेगा ।

छोटे-बड़े प्रज्ञा आयोजनों की अगले दिनों धूम रहेगी । लोकमानस को प्रखर एवं परिष्कृत करने के लिए इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । अस्तु, उसमें जहाँ अभीष्ट प्रयोजनों की पूर्ति के लिए विचारों की अभिव्यक्ति आवश्यक होगी वहाँ साथ-साथ युग संगीत भी आवश्यक होगा । कथा-कीर्तन का जोड़ा है । जन्मदिवसोत्सव, पर्व संस्कारों के माध्यम से आये दिन ज्ञान-गोष्ठियाँ होती रहती हैं । अब प्रज्ञा आयोजनों की अधिक विस्तृत क्षेत्रीय सम्मेलनों के रूप में विकसित हुई है तो उनमें भाषण का सहयोगी गायन भी उतना ही आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण होगा । इनमें हारमोनियम, तबला वाले चिरकाल से अभ्यस्त बन जाने वाले गायकों की मंडली जुटाना है तो अच्छा-पर साथ ही यह 'बिल्ली का दूध' जुटाने की तरह है अन्ततः दुर्लभ और कष्टसाध्य । उस आवश्यकता की पूर्ति युग गायकों को थोड़ा शिक्षण देकर थोड़े समय में तैयारी कर देने पर भी सामयिक आवश्यकता की पूर्ति संभव हो सकेगी । इसी अभाव की पूर्ति शान्तिकुञ्ज में सुगम संगीत की अभिनव व्यवस्था करके पूरी की जा रही है । ऐसे ही संगीत विद्यालय अब हर प्रज्ञा संस्थान में, हर गाँव मुहल्ले में चलाने होंगे । जिनमें सीखने वाले अपना अभ्यास और सुनने वालों का उपयोगी मनोरंजन साथ-साथ चलाते रह सकें ।

इस शिक्षा में वादन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना कि गले को साधना । ऊँची आवाज और बँधे स्वर में बड़ी संख्या में उपस्थित लोगों को खड़े होकर प्रभावित करना । ढपली-मंजीरे का वादन अति सरल है उसे तनिक-सा ताल ज्ञान होने पर कोई भी सीख सकता है । महत्त्व गला साधने और आवाज उभारने का है । शिक्षार्थियों और अध्यापकों को इसी तथ्य पर अपना ध्यान एकत्रित करना चाहिए साथ ही एक और बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि गायन के साथ वादन ही नहीं अभिनय भी अनिवार्य रूप से आवश्यक है । इस तीसरे तथ्य की उपेक्षा कर देने पर मात्र गायन निष्प्राण हो जाता है । मात्र मशीन जैसी आवाज मुँह से निकले और गायक भावशून्य होकर जड़ प्रतिमा बना बैठा रहे तो समझना चाहिए शरीर-वस्त्र यथावत् रहने पर भी उसमें से प्राण निकल गया ।

अभिनय का तात्पर्य है गायक का अपने आप में, अपने प्रतिपादन में भाव-विभोर हो जाना । उस आवेश को अंग-संचालन की मुद्राओं द्वारा व्यक्त करना । नृत्य में यही होता है । 'एक्शन साँग' पद्धति यही है जिसमें गायक के प्राण उछलते हैं । हर गायक को इसका अभ्यास करना चाहिए । सुनने वालों को, दर्शकों को यह अनुभव करना चाहिए कि उसका व्यक्तित्व रस विभोर होकर उस प्रक्रिया में तन्मय हुआ जा रहा है । इसके लिए गरदन, कंधा, हाथ, ओंठ, आँखें भी गले की तरह ही अपनी भाव-विभोरता प्रकट करने लगती हैं । प्रभावी गायकों को इस अभिव्यक्ति मुद्रा को अपनाते हुए कहीं भी देखा और अनुकरण अभ्यास किया जा सकता है ।

अगले दिनों साइकिल यात्रा, पदयात्रा, तीर्थयात्रा की टोलियाँ युग-चेतना का प्रसार-विस्तार करने के लिए प्रव्रज्या पर निकलेंगी । उन्हें युग-संगीत का उपयोग एक

प्रकार से अनिवार्य ही होगा । अस्तु उस अभ्यास में हर युग शिल्पी को रस लेना और अभ्यास करना चाहिए ।

अभिनय की प्रभावशाली प्रक्रिया

लोकरंजन के साथ लोकमंगल की प्रक्रिया को जोड़ दिया जाना चाहिए । इसमें जन-साधारण की लोक रंजनात्मक प्रवृत्ति का पोषण होने से बाल-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित सभी में उस आयोजन में सम्मिलित होने का उत्साह उत्पन्न होगा । बिना आमन्त्रण अतिरिक्त प्रयास के ही जनता पर्याप्त संख्या में उस जगह एकत्रित होती रहेगी । दूसरा लाभ यह रहेगा कि लोकरंजन के साथ जुड़े हुए घटनाक्रम के आधार पर लोग किसी प्रवाह को ग्रहण करने और निष्कर्ष पर पहुँचने में सहज ही सफल होंगे ।

घटनाक्रम के आधार पर तथ्यों को उभारना जितना सरल पड़ता है उतना ही समझाना भी सुगम होता है । पुस्तक प्रकाशन और विक्रय का क्षेत्र देखिये उसमें कथा कहानी और उपन्यास की घटनापरक पुस्तक ही तीन चौथाई छपती और बिकती दिखाई देंगी । मासिक पत्रों में कथा साहित्य के पत्रों की ही प्रधानता संख्या और माँग अधिक है । बच्चे किस्सा-कहानी सुनने को आतुर रहते हैं और उसी तरह की पुस्तकें पढ़ते हैं । वेद चार ही बनकर रह गये किन्तु पुराण १८ बने और उनसे भी काम न चला तो १८ उपपुराण और बनाने पड़े । इसमें से कुछ पुराण तो इतने बड़े हैं कि चारों वेदों को सम्मिलित करने पर उसके पाँच गुने श्लोक एक ही पुराण में आ जाते हैं । ३६ पुराणों का विस्तार धर्म के मूल ग्रन्थ वेद की तुलना में इतना अधिक क्यों हो गया इसका एक ही उत्तर है जनता की मनोभूमि में घटनापरक विवरण को पढ़ने-सुनने की अभिरुचि । अखबार इसी भूख की पूर्ति करते हैं, जिनमें विभिन्न स्तर के घटनाक्रम ही भरे रहते हैं । इतने पर भी आवश्यकता की पूर्ति नहीं उस माँग को पूरा करने वाला साहित्य छपता ही चला जाता है ।

कथानकों को कहने-सुनने का भी एक ढंग है, दूसरा तरीका जिसमें लोकरंजन का अधिक आकर्षण जुड़ा हुआ है अभिनय कहा जाता है । नाटक, एकांकी, प्रहसन इसी वर्ग के अन्तर्गत हैं । रामलीला, रासलीला आदि का धार्मिक स्तर पर अभी भी बहुत प्रचलन है । सिनेमा तो बिल्कुल यही है । अभिनय कला का यन्त्रीकरण ही सिनेमा है । सिनेमा कितना लोकप्रिय हो चला यह किसी से छिपा नहीं है । जनता रस लेती है, व्यवसायी अपना लाभ कमाते हैं और अभिनेता अपने ढंग से ख्याति और सम्पत्ति कमाते हैं ।

नवनिर्माण की दिशा में लोकरंजन को लोकमंगल के साथ जोड़कर एक अति प्रभावशाली ढंग बनाया जा सकता है । उनमें वह कार्य भी हल हो जाता है कि उच्च स्तर के व्यक्ति ही उच्चस्तरीय तथ्यों का प्रशिक्षण, प्रतिपादन करें । नाटक में मूल प्रवक्ता तो वह महामानव, चरित्रनायक रहता है जिसका अभिनय किया जा रहा है । इसलिए उन पोस्टमैन से, अभिनयकर्ता से किसी की कोई शिकायत नहीं होती कि वह किस स्तर का है ।

अब तक लोकरंजन प्रायः जनता की पशु-प्रवृत्तियों को भड़काने अथवा परम्परागत मूढ़-मान्यताओं के परिपोषण भर के लिए किया जाता रहा है । लोकमंगल की दृष्टि से उस क्षेत्र पर कभी गम्भीर दृष्टिपात ही नहीं की गयी । यदि इस दिशा में कुछ सोचा, कुछ किया गया होता तो निस्सन्देह अब तक ऐसा तरीका निकल आया होता जिससे भारत जैसे पिछड़े हुए देश का पिछड़ापन दूर करने के लिये बहुत कुछ हो सकता था । यह समय आ गया है कि उस विषय में कुछ कारगर कदम उठाये जायें ।

ऐसे ऐतिहासिक घटनाक्रम नाटक अभिनय के रूप में तैयार किये जायें जिनमें आज की समस्याओं के समाधान समुचित रूप से विद्यमान हों इस प्रकार के नाटक तैयार करने में सुलझे हुए दृष्टिकोणों का गहरा समावेश करना पड़ेगा, ताकि ऐतिहासिक तथ्य भी विकृत न होने पाये और उनमें परिवर्तन के लिए आवश्यक तथ्यों का समुचित समावेश भी हो जाय । इन्हें खेलने के लिए छोटी-बड़ी अभिनय मण्डलियाँ हर जगह तैयार की जायें एवं उनका अभ्यास तथा ऐसा परिष्कृत प्रशिक्षण हो कि अपनी विशेषता के कारण उन्हें सर्वत्र समुचित सम्मान मिलने लगे ।

यह कार्य छोटे रूप में स्थानीय मनोरंजन एवं कलात्मक अभिरुचि अभिवर्धन के लिए किया जा सकता है और बड़े रूप में व्यवसाय बनाकर । स्कूलों, कालेजों में सांस्कृतिक कार्यक्रमों के अन्तर्गत कितने ही प्रकार की अभिनय पद्धतियों को अपनाया और काम में लाया जाता है । इस तरह की व्यवस्था स्कूलों से बाहर भी अन्य लोग भी कर सकते हैं । इसके लिए अभिनय क्लब खुल सकते हैं, जिनमें अभिनय एवं नृत्यों की आजकल अपनाये जाने वाली सैकड़ों पद्धतियों में से जो उपयोगी लगे उन्हें काम में लाया जाये ।

व्यवसाय रूप में भी इसे आगे बढ़ाये जाने की अभी काफी गुंजाइश है, यह नहीं सोच लेना चाहिए कि नाटकों का युग चला गया । सिनेमा का कब्जा हो गया । यह बात एक हद तक ही सही है और केवल शहरों में ही लागू होती है । देहात में सिनेमा कहाँ ? वहाँ बहुत खर्चीली बड़े स्तर की नाटक मंडलियों की तो गुंजाइश नहीं है पर छोटे स्तर के अभिनय मंच बड़ी सफलतापूर्वक चल सकते हैं । अभी से चल रहे हैं । रामलीला और रासलीला का सर्वेक्षण किया जाय तो प्रतीत होगा कि अभी उनकी देश व्यापी माँग है और विशाल क्षेत्र खाली पड़ा है ।

उनका ढर्रा पुराना है, घिसी-पिटी बातों को, घिसी-पिटी शैली में ही वे दुहराती रहती हैं । उनमें प्रगतिशीलता के समावेश की काफी गुंजायश है । नाटकों का प्रधान

विषय देवता अथवा ऐतिहासिक महामानव रह सकते हैं पर उनके चरित्र चित्रण और वार्तालाप में इतनी प्रेरणा भरी जा सकती है कि दर्शकों को केवल मनोरंजन का ही लाभ नहीं वरन् वे एक दिशा लेकर भी जायें ।

इस प्रकार के गीतमय छह नाटक युग निर्माण योजना से छप भी चुके हैं । (१) भगवान राम (२) भगवान श्री कृष्ण, (३) भगवान शिव शंकर, (४) गंगावतरण, (५) दहेज का दानव व(६) राजा हरिश्चन्द्र । इन नाटकों को छात्रों की सहायता से मंच पर खेला भी जा सकता है और यदि वैसा न हो सके तो उन कथानकों को आल्हखण्ड, ढोला मारू, हीर राँझा, लैला मँजनू जैसे ढंग से केवल साज-संगीत के साथ गाया भी जा सकता है । छुट-पुट कितने ही गीत गाने की अपेक्षा एक पूरा कथानक बीच-बीच में व्याख्याएँ करते हुए यदि कहा जा सके और उसमें जहाँ कहीं संभव हो थोड़ा अभिनय का पुट लगाया जा सके तो उसका आकर्षण और भी बढ़ सकता है । लोकरंजन को लोकमंगल के साथ जोड़कर भावनात्मक नवनिर्माण की अनेक शैलियाँ इस कला के अधिक जानकार सहज ही विकसित, विनिर्मित कर सकते हैं । उन्हें वैसा करना भी चाहिए ।

ब्रह्ममुहूर्त में उच्च भावनाओं का बीजारोपण

जनमानस में उच्च विचारधारा प्रवाहित करने, सुसंस्कारों की प्रतिष्ठापना के लिए भी प्रयुक्त करने से चूकना नहीं चाहिए । पिछले दिनों 'अलखनिरंजन' की आवाज लगाने के लिए कनफटे बाबा लोग निकलते थे । गाँव-गली में थोड़ी-थोड़ी दूर पर खड़े होकर अलखनिरंजन का घोष करते थे । इससे जन-साधारण को प्रातःकाल का समय सोने में न बिताने की जाग पड़ने, उठ पड़ने की प्रेरणा मिलती थी । साथ ही प्रभु स्मरण भी हो जाता था । विस्मृति को स्मृति में बदल देना भी एक बड़ा कार्य है ।

कई धार्मिक संस्थानों ने प्रभात फेरियों का क्रम चलाया था । एक टोली गली-मुहल्लों में भक्ति भाव से भरे गीत गाती हुई निकलती थी और उस माध्यम से आत्मबोध को एक झकझोर लगाती थी । कांग्रेस, आर्यसमाज जैसी सामाजिक संस्थाओं ने भी पीछे इस क्रम को अपनाया और समय-समय पर उन्होंने भी अपने कार्यक्रमों में प्रभातफेरी प्रक्रिया को सम्मिलित किया । युग निर्माण योजना के विभिन्न आयोजनों में भी प्रभातफेरी का कार्यक्रम उत्साहपूर्वक सम्मिलित रखा जाता है ।

आवश्यकता इस बात की है कि इस पुण्य-प्रक्रिया को नव-निर्माण अभियान का महत्त्वपूर्ण अंग बनाया जाय और इसे सर्वत्र नियमित रूप से चालू किया जाय । इसके लिए सरल उपाय यह है कि मधुर कण्ठ वाले कुछ लोग हर जगह इस कार्य के लिये समय दें । बालक, बालिकाएँ पुरुष एवं नारियाँ सभी इसमें भाग ले सकते हैं और अपने-अपने वर्ग की टोली बना सकते हैं । सूर्योदय से पूर्व-ब्रह्ममुहूर्त में यह प्रभात फेरी निकल सकती है, चलते-चलते गाते रहने से तो केवल लोगों को इतना पता चलता है कि कोई प्रचार मण्डली निकल रही है । उनके हाथ कुछ नहीं पड़ता । होना यह चाहिए कि रास्ता चुपचाप चल लिया जाय और एक स्थान पर खड़े होकर पूरा भजन या उसका कोई चरण टेक समेत गाया जाय और जब वह पूरा हो जाय तो थोड़ी दूर चलकर फिर पहले की तरह गाया जाय । यह अपनी इच्छा या स्थिति के ऊपर है कि उसी भजन को हर विराम स्थल पर खड़े होकर गाया जाय या उसे बदलते रहा जाय । ऐसा भी हो सकता है कि एक दिन एक भजन हर विराम स्थल पर गाया जाय और हर एक दिन एक नया भजन सुनाया जाता रहे । कुछ दिन बाद उसे फिर बदल दिया जाय । ऐसा भी हो सकता है कि हर विराम स्थल पर अलग-अलग गीत गाये जायें इसका कोई एक नियम बनाने की आवश्यकता नहीं, जहाँ जैसा उपयुक्त लगे वहाँ उस तरह का क्रम चल सकता है ।

(१) यदि मधुर स्वर वाले उत्साही लोग कम हों तो एक ही टोली निरन्तर यह प्रभात फेरी का क्रम हर दिन चलाती रह सकती है । (२) यदि संख्या अधिक हो तो उनकी ड्यूटियाँ अलग-अलग भी बँट सकती हैं । (३) अधिक लोगों की इकट्ठी मण्डली निकला करें यह भी हो सकता है । इन तीनों क्रमों में से जहाँ जो अनुकूलता प्रतीत हो वैसा किया जाना चाहिए । प्रयत्न होना चाहिए कि सेवा-भावी मधुर स्वर वाले नर-नारी इस पुण्य कार्य को करने के लिए निकल आवें । सूर्योदय से डेढ़ घण्टे पूर्व अपना कार्य आरम्भ करें और दिन निकलने से आधा घण्टा रहते अपना काम समाप्त कर लें । सबेरा हो जाने पर तो भगदड़ मच जाती है । लोग स्वतः अपने नित्य-कर्मों से निपटने के लिए इधर-उधर चलने-फिरने लगते हैं । शान्ति का समय, जिसमें आमतौर पर लोग उनींदे चारपाई पर पड़े रहते हैं वही समय है जिसे सूर्योदय से डेढ़ घन्टा पूर्व से लेकर आधा घण्टे पूर्व तक का ब्रह्ममुहूर्त कह सकते हैं । इस एक घण्टे को यदि जन-जागरण के लिए, भावनात्मक बीजारोपण के लिए लगाया जा सके तो यह बहुत ही उत्तम कार्य होगा । घर बैठे, हर किसी को प्रेरणा पहुँचाने का वह अनुदान देखने में छोटा भले ही लगे, उसका प्रभाव परिणाम निःसन्देह बड़ा है ।

चूँकि वह समय अन्धेरे का होता है, शक्लें किसी की किसी को दिखती नहीं, सब लोग अपने बिस्तरों में होते हैं । गलियाँ सूनी होती हैं । ऐसी दशा में घूँघट पर्दे वाली

महिलाएँ भी यदि निकल पड़ें और अपने मधुर स्वर का लाभ जनता को देने लगें तो उन्हें संकोच करने का भी कोई कारण नहीं रहेगा और सेवा कार्य भी बन पड़ेगा । कार्तिक स्नान, वैशाख स्नान आदि का व्रत लेने वाली महिलाएँ प्रातःकाल जल्दी जगकर अपनी स्नान प्रक्रिया तथा कथा वार्ता दिन निकलने से पहले ही कर लेती हैं । यदि उस प्रभात फेरी को उन व्रत उद्यापनों की श्रेणी में रखा जाय तो यह सर्वथा उपयुक्त ही हैं । इन व्रत नियमों में केवल अपनी ही शुद्धि होती है । किन्तु प्रभात फेरी की ज्ञान गंगा घर-घर बहाने से अनेक लोगों को आत्मिक स्नान करने का अवसर मिलता है । अपना ही नहीं इसमें दूसरों का भी कल्याण सम्मिलित है । इसलिए इसे उन व्रत स्नानों से कम नहीं अधिक महत्त्व दिया जा सकता है । इसके लिए यदि आवश्यक प्रेरणा दी जाय तो कितने ही मधुर स्वर वाले नर-नारी मिल सकते हैं और यह क्रिया-कलाप हर जगह चलता रह सकता है ।

इसका एक दूसरा यान्त्रिक विकल्प भी हो सकता है । ग्रामोफोन के रिकॉर्डों को लाउडस्पीकर के द्वारा बजाया जाना । इसके लिए एक रिकॉर्ड प्लेयर ग्रामोफोन तथा लाउडस्पीकर खरीदना चाहिए । लाउडस्पीकर चोंगे को किसी अधिक ऊँचे स्थान पर बाँध देना चाहिए । कई चोंगे होंगे तो कई दिशाओं में आवाज और भी अधिक दूर तक जायगी । चोंगे जितने ऊँचे बँधे होंगे आवाज उतनी ही दूर तक पहुँचेगी और साफ सुनाई देगी । नीचे स्थानों से उच्चरित आवाज दीवारों से टकराकर कटती है और इतनी साफ सुनाई नहीं देती ।

युग निर्माण मिशन से सम्बन्धित भाव भरे-मधुर स्वर में गाये गये तथा उच्चकोटि के आरकेस्ट्रा समेत ग्रामोफोन रिकॉर्ड मथुरा में बने हैं । इन संयन्त्रों का उपयोग करके भी प्रभात फेरी का उद्देश्य किसी हद तक पूरा किया जा सकता है । नित्य नियत समय पर लोग लगातार उच्च भाव प्रवाह का रसास्वादन करते रह सकते हैं । इस कार्यक्रम की एक विशेषता यह है कि उससे पूरे एक घण्टे लोगों को भाव विभोर रखा जा सकता है जबकि प्रभात फेरी वाली पद्धति से विराम स्थल के समीपवर्ती लोग कुछ मिनट ही उस आनन्द का लाभ ले सकेंगे ।

इस रिकॉर्ड संयन्त्र को सम्मेलनों में, विचार गोष्ठियों में, पर्वों पर तथा जनसंकुल अन्य स्थानों पर भी प्रयुक्त किया जाता रह सकता है । विवाह-शादियों में तथा अन्य व्यक्तिगत उत्सवों में इसे किराये पर भी दिया जा सकता है । दुकानदार लोग अपना विज्ञापन करने की दृष्टि से यह सैट अपनी दुकानों पर फिट कर सकते हैं । उचित अवसरों पर इसे किराये पर देने की बात भी सोची जा सकती है और उसकी आमदनी से चालू बिजली खर्च तथा नये रिकॉर्ड खरीदते रहने का क्रम चलाया जा सकता है । जहाँ बन पड़े वहाँ रिकॉर्ड संयन्त्र को भी प्रभात फेरी योजना के अन्तर्गत ही मानकर उसकी व्यवस्था बनानी चाहिए ।

चित्र प्रदर्शनियों से प्रेरणाप्रद स्मृतियाँ जगाएँ

सजीव घटनाओं को हृदय पटल पर अंकित करने के लिए चित्रों का बड़ा योगदान रहता है, इसलिए महत्वपूर्ण घटनाओं का प्रभाव मनोभूमि पर गहराई तक जमाने के लिए चित्रों का उपयोग किया जाता है । तथ्यों को वाणी या लेखनी के माध्यम से ग्रहण करने के लिए ग्रहणकर्त्ता की विकसित मनोभूमि चाहिए अन्यथा यह अप्रत्यक्ष घटनाओं का स्वरूप ठीक तरह समझ न सकेगा ।

बालकों की मनोभूमि अविकसित होती है । उन्हें वर्णमाला, गिनती तथा छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोजन, तारतम्य समझने में कठिनाई होती है, अस्तु उन्हें हर बात चित्र के माध्यम से समझानी पड़ती है । वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर ऐसे चित्र की सहायता से मस्तिष्क में जमाना पड़ता है, जिसका प्रथम अक्षर वर्णमाला का क्रम स्मरण दिला सके । शिल्प, विज्ञान, शरीरशास्त्र, भूगर्भ शास्त्र, खगोल विद्या आदि नित्य सामने न आने वाली वस्तुस्थिति को समझने-समझाने के लिए सचित्र पुस्तकें छापनी पड़ती हैं ।

घरों व कमरों को चित्रों से सजाने की प्रथा निरर्थक नहीं । वे चित्र ऐतिहासिक या आध्यात्मिक देव शक्ति, महापुरुष अथवा घटनाक्रम का स्मरण दिलाते हैं, ताकि उस स्मृति के सहारे हम अपनी मनोभूमि को सन्तोष अथवा प्रकाश दे सकें । लोग अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप भी चित्र टाँगते हैं । शिकार खेलने के, विलासिता के मारधाड़ के चित्रों में मनुष्य अपनी अन्तःप्रवृत्ति को मूर्तिमान देखकर प्रसन्नता अनुभव करता है । यदि चित्र संयोगवश नहीं टँग गये हैं, तो उन्हें देखते ही व्यक्ति की मनोभूमि एवं अभिरुचि के स्तर का परिचय प्राप्त किया जा सकता है ।

देवाराधन में मूर्तियों तथा चित्रों के माध्यम से ही इष्ट देव को ध्यान-धारणा में प्रतिष्ठापित किया जाता है । महामानवों के स्मारक उनके चित्रों अथवा प्रतिमाओं की स्थापना करके ही बनाये जाते हैं । उन्हें देखकर उन दिवंगत विभूतियों का व्यक्तित्व आँखों के सामने उभर आता है और विस्मृति बदलकर स्मृति के रूप में सामने आ खड़ी होती है । ऐतिहासिक महान घटनाओं के चित्र जहाँ-तहाँ भवनों में, महलों में, दीवारों पर चित्रित किये जाते हैं । कागजों पर हर साल करोड़ों रुपये के चित्र छपते बिकते हैं और उन्हें उत्साहपूर्वक टाँगा सजाया जाता है । दीवाली पर तो चित्र कलैण्डरों की धूम ही मच जाती है । इस प्रचलन पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि तथ्यों को अधिक स्पष्टतापूर्वक स्मृति पटल पर आलोकित करने के लिए चित्रों की अपनी उपयोगिता एवं महत्ता है ।

युग निर्माण मिशन की विचारधारा एवं क्रिया-कलाप को ठीक तरह समझाने के लिए चित्रों का उपयोग किया

ही जाना चाहिए । चित्र देखने का सहज आकर्षण लोगों को अपनी ओर खींचेगा और साथ ही उन्हें प्रस्तुत समस्याओं के स्वरूप तथा उनके समाधान की जानकारी भी देगा ।

चित्र द्वारा लोक शिक्षण के कितने ही माध्यम हो सकते हैं । उसमें से एक है प्रदर्शनी की पद्धति । देखा जाता है कि किन्हीं बड़े मेलों में सरकारी प्रदर्शनी का एक कक्ष होता है, उसमें सरकारी कार्यक्रमों की, योजनाओं की, सफलताओं की जानकारी चित्रों के माध्यम से दी जाती है । बड़े साइज के सुन्दर चित्र दिये जाते हैं और उनके नीचे थोड़ा विवरण लिखा भी रहता है । साथ ही एक व्यक्ति उस कक्ष में आने वाले दर्शकों को चित्रों का परिचय देते हुए तथ्यों को बताता भी जाता है । कई बार कुछ सरकारी विभाग अपने कार्यों की जानकारी जन-साधारण को देने के लिये-उपयोगी बातों से जनता को अवगत कराने के लिए स्वतन्त्र रूप से विभागीय प्रदर्शनी लगाते हैं । स्वास्थ्य विभाग की प्रदर्शनियाँ तो सर्वसाधारण को और भी अधिक रुचिकर होती हैं । परिवार नियोजन, छूत के रोग तथा दूसरे विषय भी इन प्रदर्शनियों के माध्यम से कम समय में ही इतने प्रभावपूर्ण ढंग से समझ में आ जाते हैं, जितने पुस्तक आदि से नहीं समझे जा सकते ।

इस दिशा में प्रारम्भिक कदम के रूप में युग निर्माण चित्रावली पुस्तक दो भागों में छापी गई है । उसमें ४८ तिरंगे चित्र हैं । बगल के पृष्ठ पर इनका विवरण दिया है । यह एक छोटा प्रयोग है जो हाथ में लेने वाले एक व्यक्ति द्वारा ही देखा-समझा जा सकता है । इन चित्रों को बड़े रूप में हाथ से किन्हीं चित्रकारों द्वारा कराया जा सकता है, उनके नीचे थोड़ा विवरण लिखा जा सकता है और दर्शकों को आमन्त्रित करके कोई व्यक्ति उनके आशय को समझा सकता है । इस प्रकार यह प्रदर्शनी एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाई और लगाई जा सकती है । इसके लिये छाया मंडप की जरूरत पड़ेगी । यदि उसकी व्यवस्था न हो सके तो किसी धर्मशाला आदि की उपयुक्त इमारत का प्रयोग किया जा सकता है ।

जहाँ-तहाँ से बड़े साइज के नक्शे जैसे कुछ प्रेरणाप्रद चित्र छपे हैं । इन्हें ढूँढ़ा और इकट्ठा किया जा रहा है । यह मिशन के अति महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों और आदर्शों को तो प्रस्तुत नहीं करते पर उसके सहायक विषयों पर प्रकाश अवश्य डालते हैं । इन बड़े साइज के नक्शे तथा चित्रों को भी इकट्ठा करके प्रदर्शनी की आरम्भिक आवश्यकता पूरी की जा सकती है ।

मेले में पुराने ढर्रे का 'बाइस्कोप' अभी भी स्टाल के रूप में लगाया जाता है, जिसमें बड़ा दिखाने वाले कितने ही शीशे लगे होते हैं, पीछे उनमें चित्र रहते हैं । चित्र घुमाये जाते रहते हैं और दर्शकों को वे छोटे साइज में बने हुए चित्र बड़े दीखते हैं । इस स्तर की चीजें अपने इन्हीं युग निर्माण चित्रावली वाले चित्रों को लेकर बनाई जा सकती हैं ।

कुछ समय पूर्व गाँवों में एक टीन के बक्से में उपरोक्त स्टाल का छोटा रूप देखने को मिलता था । मारवाड़ के किन्हीं प्रदेशों के लोग इन्हें सिर पर रखकर गाँव-गाँव घूमते थे । एक साथ पाँच व्यक्ति उन्हें देख सकते थे । उस तरह के बक्से अभी भी बन सकते हैं और वे देहाती क्षेत्र में मनोरंजन के अतिरिक्त विचार क्रान्ति की भूमिका भी बना सकते हैं । बच्चों के लिए बने फिल्म के टुकड़ों को बड़ा दिखाने वाले खिलौने भी काम दे सकते हैं । यदि उनमें दिखाने के लिए मिशन के अनुरूप फिल्मों के टुकड़े बनाये जा सकें । इन्हें घर-घर जाकर महिलाओं को, बच्चों को तथा अन्य लोगों को दिखाया जा सकता है और उनके सहारे उन्हें यह सब कुछ बताया जा सकता है जो बताया जाना आवश्यक है । कुछ दिन पूर्व कपड़े पर प्रिंट किये हुये स्वर्ग नरक के चित्र दिखाने वाले गाँव-गाँव में घूमते थे । इन्हें दिखाकर रोटी कमाते थे । वे चीजें अब घटती और समाप्त होती जाती हैं क्योंकि अब इस महँगाई के जमाने में उन माध्यमों में उतनी आजीविका नहीं होती । उनमें दिखाई जाने वाली तस्वीरें भी मनोरंजन मात्र ही करती थीं पर अपने सामने प्रश्न दूसरा है । हमारे लिए अपने देहाती, पिछड़े हुए अशिक्षित क्षेत्र में काम करने के लिए उपरोक्त स्तर के माध्यम भी बहुत काम के सिद्ध हो सकते हैं । चूँकि इनके द्वारा आजीविका तो कमानी नहीं है, इसलिए सम्मान घटने का भी कोई प्रश्न नहीं । इस सस्ते उपकरणों को हर शाखा आसानी से उपलब्ध भी कर सकती और कार्यकर्त्तागण अपने समय दान को लोक-शिक्षण के लिए अधिक अनुकूलता और सफलता के साथ प्रयुक्त कर सकते हैं ।

प्रकाश चित्र यंत्र—एक प्रभावशाली प्रचार उपकरण

प्रकाश चित्र यन्त्र (स्लाइड प्रोजेक्टर) देहाती क्षेत्र में लोकरंजन के साथ लोकमंगल की प्रक्रिया को साथ लेकर चलने का अभी भी महत्त्वपूर्ण माध्यम सिद्ध हो रहा है । यों यह अनुमान लगाया जाता है कि अब सिनेमा का प्रचलन बहुत हो गया, इसलिए अब पुराने ढंग के पिछड़े हुए तरीकों में लोगों की रुचि नहीं रही और वे निरर्थक हो गये ।

पर यह मान्यता आंशिक रूप में ही सही है । बड़े शहरों में जहाँ सिनेमा घर मौजूद हैं-जिन्हें पैसा देकर सिनेमा देखने की सुविधा है-जिन्हें केवल मनोरंजन का उद्देश्य पूरा करना और टिकट के पैसे की भरपाई करना है, उनके लिए निस्सन्देह स्लाइड प्रोजेक्टर जैसे माध्यम पुराने हो गये और अब उनमें आकर्षण नहीं रहा पर जहाँ उपरोक्त तीन बातों से आगे की बात है वहाँ न केवल स्लाइड प्रोजेक्टर वरन् अन्य पुराने माध्यम भी पिछले दिनों की तरह ही आकर्षण के केन्द्र बने हुए हैं ।

देहात में सिनेमा नहीं है फिर हर व्यक्ति को दूर शहर में इसी काम के लिए जाने का अवकाश नहीं है ।

अवकाश हो तो टिकिट खरीदने का पैसा भारी पड़ता है । साथ ही घर वाले इसे दुर्व्यसन की दृष्टि से देखते हैं और सिनेमाबाज की ओर टेढ़ी निगाह करते हैं । इसलिए बार-बार जल्दी-जल्दी उसे देखने की सुविधा भी नहीं मिलती । जिसने पैसा खर्च किया है वह नई तर्ज पुरानी तर्ज की मीनमेख निकालता है अन्यथा बिना मूल्य मनोरंजन का जैसा भी लाभ मिले उसे नापसन्द नहीं किया जाता । शहरों में बड़े-बड़े सरकस आते हैं पर रीछ-बन्दर का नाच, साँप का खेल, नट-बाजीगर का तमाशा अभी भी जीवित है । उसे लोग चाव से देखते हैं । जो लोग सरकस को पसन्द करते हैं वे भी उन पुरातन मनोरंजनों को हेय नहीं मानते । कठपुतली का खेल अभी भी लोकप्रिय है पर उन कार्यों में जितना श्रम करना पड़ता है, उसकी तुलना में लाभ कम है । इस महँगाई के जमाने में कम परिश्रम और अधिक लाभ की बात हर किसी के मन में है । इसलिए उपरोक्त स्तर के मनोरंजक माध्यम उन्हें दिखाने वालों की उदासीनता से ही घट रहे हैं, उनके प्रति जन आकर्षण अभी भी कम नहीं हुआ है ।

फिर अपने प्रयोगों में तो नई विशेषताएँ हैं । एक तो वे बिल्कुल बिना मूल्य हैं जबकि रीछ, बन्दर, साँप, कठपुतली, नट-बाजीगर आदि का तमाशा देखने वालों को कुछ देना पड़ता है । अपने प्रदर्शनों में ऐसी कोई बात नहीं है । उन खेलों को खड़े-खड़े या जमीन पर बैठकर देखना पड़ता है । अपने प्रदर्शनों में सम्मानपूर्वक बैठने की सुविधा होगी । साथ-साथ अपने कार्यक्रमों में विचोरोत्तेजक, प्रेरणाप्रद, उपयोगी प्रशिक्षण इतना अधिक भरा रहता है कि उसका लोकमंगल पक्ष ही अत्यधिक आकर्षक और हृदयग्राही बन जाता है । विचारशील उसे ध्यानपूर्वक सुनते हैं । फिर यदि थोड़ा मनोरंजन भी उसमें जुड़ा हुआ है तो और भी अधिक पसन्द किया जाना चाहिए । अपने अब तक के अनुभवों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि स्लाइड प्रोजेक्टर का माध्यम अभी बिल्कुल भी अनाकर्षक नहीं हुआ है ।

इस यन्त्र द्वारा दिखाये जाने वाले सभी चित्र रंगीन होते हैं । चलते-फिरते नहीं तो बड़े साइज में स्पष्ट और भावपूर्ण तो दीखते हैं । सबसे बड़ी बात है, उन चित्रों के बहाने किये जाने वाला मार्मिक लोकशिक्षण । दिखाने वालों को इस कला में पहले से ही निष्णात कर दिया जाता है । वे धाराप्रवाह रूप से लाउडस्पीकर पर ऐसी अच्छी तरह आज की परिस्थितियों का विश्लेषण और समाधान करते हैं कि सुनने वालों को अपना ज्ञान बढ़ता अनुभव होता है ।

सिनेमा से स्लाइड प्रोजेक्टर की कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है । दोनों अपने-अपने स्थान पर खड़े रह सकते हैं । पैसा खर्च करके कलात्मक फिल्में देखने की रुचि में स्लाइड प्रोजेक्टर कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाता । देहातों की तरह उसे शहरों में भी भरपूर पसन्द किया गया है । रात्रि का समय अवकाश का होता है, उसमें घर बैठे, बिना खर्च कुछ मनोरंजन का साधन मिलता है, साथ में वह समस्याओं के हल भी प्रस्तुत करता है, जहाँ तक संभव है कलात्मक भी उसे बनाया गया है, ऐसी दशा में हर कोई चाहेगा कि डेढ़ घण्टे के विनोद -उल्लास देने वाले इस निशुल्क आयोजन में अवश्य सम्मिलित रहा जाय ।

युग-निर्माण योजना के कार्यकर्त्ता जहाँ कहीं भी इसे लेकर गये हैं, वहीं उन्होंने देहातों, कस्बों और शहरों में समान रूप से दर्शकों का बाहुल्य पाया है । लोगों को समुचित सूचना समय पर न मिल सके अथवा स्थान सुविधाजनक न हो यही कारण दर्शकों की कमी के हो सकते हैं अन्यथा उनके माध्यम से इकट्ठी हुई जनसंख्या तथा उस पर पड़े हुए प्रभाव की दृष्टि से यह साधन असाधारण रूप से उपयोगी सिद्ध हो रहा है ।

पूर्व सूचना जनता को मिल चुकी है तो ठीक, अन्यथा सारा सामान उतारकर एक जगह रख दिया जाय और अपने साइकिल पर कसे हुए लाउडस्पीकर से अथवा घण्टा घड़ियाल बजाकर गली मुहल्ले का चक्कर लगाते हुए खुद भी ऐलान किया जा सकता है । जनता को इकट्ठा करने से लेकर स्थान का निर्धारण तथा प्रदर्शन आयोजन की व्यवस्था भी स्वयं ही बना सकता है । परिचित स्थानों में भी भ्रमण करता हुआ एक व्यक्ति अपने बलबूते पर हर दिन एक आयोजन करता रह सकता है । औसत चार सौ की भी उपस्थित होती रहे तो महीने में १२ हजार, साल में करीब एक डेढ़ लाख व्यक्तियों को नव निर्माण अभियान की रूपरेखा से परिचित किया जा सकता है । प्रचारक का खाने-पीने तथा बैटरी आदि का खर्च अत्यन्त सरलता पूर्वक हर जगह से निकलता रह सकता है ।

इन मशीनों को लेकर यदि एक हजार कार्यकर्त्ता निकल पड़े और वर्ष में एक-एक लाख व्यक्तियों को भी नव-जागरण का सन्देश सुनायें तो १० करोड़ व्यक्तियों तक अपनी आवाज पहुँचाई जा सकती है । सबसे बड़ी सुविधा इन यन्त्रों में यह है कि भाषा सम्बन्धी अड़चन उत्पन्न नहीं होती । फिल्मों में तो एक ही भाषा सीमित होती है । दूसरी भाषा वाले उससे लाभ नहीं उठा सकते हैं, पर इनमें तो जिस स्तर की जनता हो उसी स्तर की व्याख्या कुशल प्रदर्शक आसानी से बदल सकते हैं ।

चित्रों के साथ व्याख्या का ढाँचा हर कुशल व्यक्ति स्वयं ही बिठा सकता और दर्शकों के स्तर के अनुसार उसे बदलता भी रह सकता है । जिन्हें इसमें कुछ कठिनाई हो वे मथुरा आकर तीन महीने के प्रशिक्षण में मशीनों की साज-संभाल से लेकर भाषण देने तथा परिस्थितियों के अनुसार व्यवस्था जुटाने की व्यवहारकुशलता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ।

उपयोगिता को देखते हुए इनका खर्चा भी कुछ अधिक नहीं है । मशीन, स्लाइड़ें, लाउडस्पीकर, बैटरी इन चारों उपकरणों का सम्मिलित सैट लेने में लगभग १२ सौ तेरह सौ लागत पड़ती है । नई साइकिल में यह सब फिट

करना हो तो ढाई तीन सौ और भी खर्चा आ सकता है इस प्रकार प्रचार गाड़ी परिपूर्ण साधन सामग्री समेत लगभग डेढ़ हजार में तैयार हो सकती है ।

जन-जागरण की उपयोगिता समझने वालों को यह उपकरण जुटाना ही चाहिए और स्वयं जाकर अथवा किसी दूसरे को भेजकर इस माध्यम से अपने क्षेत्र में व्यक्ति और समाज के नवनिर्माण की विद्या समझानी चाहिए । इस उपयोगी कार्य के लिए इतना सरल और प्रभावी उपकरण निस्सन्देह बड़ा महत्वपूर्ण है । इसकी व्यवस्था हर जगह, हर शाखा को जुटानी ही चाहिए ।

पूँजी का जन-जागरण उद्योगों के लिए आह्वान

धन जहाँ संग्रहीत है वहाँ कम से कम इतना तो किया ही जाना चाहिए कि मनुष्य जाति को पतन के गर्त में धकेलने वाले कार्यों में लगाने की अपेक्षा उसे उन व्यवसायों में लगाया जाय, जिनसे उनके स्वामी को उचित लाभ भी मिलता रहे और लोक-मंगल का पथ भी प्रशस्त होता रहे ।

जिनके पास पूँजी है वे कम से कम इतना तो कर सकते हैं कि ऐसे कार्यों का व्यवसाय हाथ में लें जिनसे उन्हें भले ही अवांछनीय कार्यों की तुलना में कम लाभ मिले पर जनमानस को ऊँचा उठाने में, सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन में सहायता मिले । यदि इतना सत्साहस किया जा सके तो वह दान तो नहीं पर पूँजी का विनियोग सत्प्रवृत्तियों के विस्तार से किये जाने के कारण प्रशंसनीय अवश्य कहा जायगा ।

मानवी अधःपतन में कुविचारों को सबसे बड़ा कारण माना जा सकता है । कामुकता भड़काने वाला, अन्ध विश्वासों को परिपक्वता प्रदान करने वाला और चोरी, हत्या जैसे दुष्प्रवृत्तियों का रोचक वर्णन करके उन कुकर्मी की प्रकारान्तर से शिक्षा देने वाले साहित्य से आज बाजार पटा पड़ा है, वही लिखा, छापा, बेचा और पढ़ा जा रहा है । इसका प्रभाव बौद्धिक और नैतिक पतन के रूप में सामने आ रहा है । उपरोक्त तीनों वर्ग के कुकर्म तेजी के साथ बढ़ते चले जा रहे हैं ।

आवश्यकता इस बात की है कि सद्भावनाओं का पोषण करने वाला, उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्शवादी कर्तृत्व की-विवेक विचारणा की जड़ जमाने वाला साहित्य विनिर्मित हो और वह जनता तक पहुँचे । इस कार्य में यदि पूँजी लगाई जा सके तो उच्चकोटि का-सर्वांग सुन्दर और सस्ता साहित्य प्रचुर मात्रा में तैयार हो सकता है । जिस प्रकार कुत्सित साहित्य ने जनमानस को दूषित किया है इसी प्रकार यह सत्साहित्य लोकमानस में मनुष्य में देवत्व का उदय, अवतरण और अभिवर्धन करने में आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता है । भारत की १४ मान्य भाषाएँ हैं । ऐसे साहित्य की सभी भाषाओं में जरूरत है । हर भाषा में करोड़ों रुपये मूल्य की पुस्तकें इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये छपने और बिकने की गुंजाइश है । पत्र-पत्रिकाएँ तो हर विषय की अपेक्षित हैं । दिशा देने वाले समाचार पत्र और विचार पत्र दोनों के लिये वह क्षेत्र एक प्रकार से सूना ही पड़ा है ।

यदि उदार पूँजीपति-सीमित लाभ से सन्तुष्ट हो सकें तो इस व्यवसाय की देश में बड़े पैमाने पर आरम्भ किये जाने की गुंजाइश है । ईसाई मिशन ३७ अरब रुपये का साहित्य हर वर्ष-हर भाषा में छाप कर विश्व के कोने-कोने में पहुँचाता है । उतना और उतने बड़े परिमाण में न सही तो भी जितनी पूँजी मिले उतना यह व्यवसाय पनप सकता है और उससे मानव जाति के उत्थान में भारी योगदान मिल सकता है ।

चित्रों का क्षेत्र भी ठीक इसी प्रकार है । हर घर में चित्र टँगे होते हैं । ये शोभा ही नहीं बढ़ाते, प्रेरणा भी देते हैं । सत्प्रेरणाएँ दे सकने वाली घटनाएँ-लोकमंगल के लिए त्याग-बलिदान करने वाली विभूतियाँ आज चित्र प्रकाशन के क्षेत्र से बहिष्कृत हैं । कल्पित देवताओं के अन्ध विश्वास बढ़ाने वाले तथा नारी की शालीनता को नंगी करके उसे वैश्या रूप में चित्रित करने वाली तस्वीरें ही आज हर चित्र विक्रेता की दुकान पर मिलेंगी । हमें इस उपेक्षित पक्ष को हाथ में लेना चाहिए और ऐसे चित्र प्रकाशित करने चाहिए, जिनके आधार पर दर्शकों को आदर्शवाद का अनुकरण करने की प्रेरणा मिल सके । शिक्षाप्रधान आदर्श वाक्यों का प्रकाशन अपने आप में एक बड़ा उपयोगी पहलू है । इस प्रकार के उद्‌बोधक वाक्य यदि सुन्दर चित्रों के रूप में छपे और टँगे तो उनसे पढ़ने वाले के मन में एक हिलोर-झकझोर अवश्य उठेगी और प्रकारान्तर से यह चित्र प्रकाशन मानवी महत्ता के उन्नयन में भी सहायक होगा ।

ग्रामोफोन रिकार्ड बनाने का कार्य भी ऐसा ही उपयोगी है । आज सिनेमा के फूहड़ रिकोर्ड ही उत्सवों के अवसर पर लाउडस्पीकरों की सहायता से आकाश में गूँजते हैं । बच्चे उन्हें याद करते और गुनगुनाते हैं । रेडियो भी समय-समय पर उन्हीं को बजाता, दुहराता रहता है, इनका प्रभाव होता ही है । यदि प्रेरणाप्रद रिकॉर्ड बजने लगें तो उनसे सोचने को, गाने को और गुन-गुनाने को एक नया विषय मिल सकता है । उत्पादक अपना लाभ भी लेता रह सकता है और जनता को प्रेरणाप्रद दिशा भी मिलती रह सकती है ।

फिल्म उद्योग भी इसी प्रकार का है जिसका प्रभाव जनमानस को दिशा देने में असंदिग्ध है । अपने देश में ७ हजार से अधिक सिनेमागृह हैं । प्रायः ३० लाख व्यक्ति प्रतिदिन सिनेमा देखते हैं । हर फिल्म दर्शकों के मन पर गहरी छाप छोड़ती है और उन्हें निर्दिष्ट दिशा में सोचने के लिए विवश करती है । सिनेमा की प्रेरणा से तरह-तरह के अपराध किये जाने की घटनाएँ आये दिन अखबारों में छपती रहती हैं । कच्चे दिमाग व्यभिचार और अनाचार के विविध शिक्षण इन सिनेमा विद्यालयों में आये दिन प्राप्त

करते हैं और अपने विषय के पारंगत बनकर ऐसी गतिविधियाँ अपनाते हैं जिससे नारी की पवित्रता और दाम्पत्य जीवन की मर्यादाओं का अन्त होकर ही रहे ।

फिल्म उद्योग में अरबों रुपये की पूँजी लगी हुई है । निर्माताओं को विशेष लाभ प्राप्त होता है । अभिनेता और गायक तक उस क्षेत्र में इतना उपार्जन करते हैं, जितना कलेक्टरों, मिनिस्टरों को तो क्या बड़े-बड़े उद्योग पति और कारखानेदारों को नसीब नहीं होता ।

इस क्षेत्र में जनता पर पड़ने वाले प्रभाव को ध्यान में रखते हुए यदि विचारशील सम्पत्तिवान इस उद्योग में अपनी पूँजी लगाएँ और सत्प्रवृत्तियों के बीजारोपण का लक्ष्य रखें तो निस्सन्देह इस फिल्म उत्पादन से लोकमानस को स्वस्थ दिशा देने में भारी योगदान मिल सकता है ।

इन क्षेत्रों में कुरुचि का समावेश करने में निरत, एकाधिकारी वर्ग द्वारा-सदा यही कहा जाता रहा है कि आदर्शवादी उत्पादन की खपत नहीं है । उसमें हाथ डालने से पैसा डूब जायगा । यह प्रचार अपना एकाधिकार बनाये रखने के उद्देश्य से अनैतिक तत्व करते हैं । जिन्होंने जाँच के लिए कुछ प्रयोग किये हैं उन्हें सफलता ही मिली है । असफल तो अनुभवहीनता और अपरिपक्वता होती है । कुछ चीजें इन कारणों से असफल हुईं और दोष आदर्शवादिता के मत्थे मढ़ा गया ।

ऊपर वर्णित प्रचार साधन बहुत सफल और सरल सिद्ध हो चुके हैं । जनमानस पर एकमात्र कुरुचि ही हावी नहीं है । अब सुरुचि और शालीनता का भी विकास हुआ है । हमें सुरुचि की प्यास बुझाने के लिए आवश्यक उपकरण जुटाने ही चाहिए । जुटाने ही पड़ेंगे ।

पूँजी वालों को विश्वास दिलाया जाना चाहिए कि इन कार्यों में व्यावसायिक स्तर पर भी पर्याप्त लाभ उठाया जा सकता है । खपत के लिए विशाल क्षेत्र खाली पड़ा है ।

औद्योगिक प्रतिभाओं को आगे आना चाहिए । सहकारी समिति, प्राइवेट लिमिटेड, सार्वजनिक लिमिटेड, कम्पनी ट्रस्ट आदि के जो विधान उपयोगी हैं उनमें से किन्हीं को अपनाकर ऐसे अर्थ संस्थान खड़े किये जायें जिनके द्वारा प्रस्तावित उपरोक्त चारों उद्योगों को बड़े पैमाने पर चलाया जा सके ।

समझदारी से चलने पर यह कार्य आर्थिक लाभ तथा महत्त्वपूर्ण समाज सेवा दोनों उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हैं । ऐसे संस्थानों के शेयर विचारशील जनता खुशी-खुशी खरीद लेगी ।

टोलियाँ और पदयात्राएँ चल पड़ें

यों काम तो एकाकी भी किया जा सकता है, पर समूह के रूप में काम से मनोबल कई गुना बढ़ जाता है । उत्साह उमड़ता है और पारस्परिक सहयोग एवं विचार, विनिमय से सूझ-बूझ के नये अंकुर फूटते रहते हैं । जहाँ जाया जाय, जिससे मिला जाय वहाँ कई व्यक्तियों की मण्डली का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव पड़ता है, जिस प्रयोजन के लिए जाया गया था वह सफल होता है ।

टोली पद्धति का दोहरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव है मण्डली का अपना मनोबल बढ़ा-चढ़ा रहता है और जिससे मिला जाय उस पर समूह की इच्छाशक्ति का प्रभाव ही नहीं दबाव भी पड़ता है । पाँच व्यक्ति एक-एक करके पाँच जगह जायें, उसकी अपेक्षा पाँच व्यक्ति मिलकर एक जगह जायें तो निश्चित रूप से अधिक सफलता मिलेगी समझा तो पहले भी ऐसा ही गया था, पर बसन्त पर्व प इस प्रक्रिया का व्यापक प्रयोग जिस क्रमबद्ध रीति से हुआ और उसका जो आशातीत परिणाम निकला है, उसे देखते हुए अब किसी को सन्देह नहीं रह गया कि टोली पद्धति भावी कार्यक्रमों की सफलता के लिए अत्यधिक प्रभावी सिद्ध होगी ।

परिवार के सभी सदस्यों को नवनिर्माण के लिए एव घण्टा समय देना आवश्यक है । अब तक अधिकांश परिजन इस समय को झोला पुस्तकालय चलाने में ही लगाते रहे हैं । यह उचित भी था । अब इस व्यवस्था को एक कदम भी आगे बढ़ाया जाय । परिजन मिल-जुलकर अपने क्षेत्र और स्तर के साथियों को लेकर टोलियाँ बना लें ।

प्रत्येक टोली में कम से कम दो और अधिक से अधिक पाँच सदस्य होने चाहिए । दो से कम की तो टोली बन ही नहीं सकती, पाँच से अधिक से भीड़ हो जायेगी । जहाँ अधिक सदस्य हों अधिक टोलियाँ बनाई जा सकती हैं और क्षेत्र बाँट लिये जा सकते हैं अथवा क्षेत्र एक ही रखकर कार्यकर्त्ताओं के अनुसार कार्य विभाजन किया जा सकता है । यह अपनी सुविधा की बात है कि क्षेत्र बाँटकर एक ही टोली सभी कार्यक्रमों को लेकर चले अथवा एक ही क्षेत्र में अलग-अलग कार्यों के लिए अलग-अलग मण्डलियाँ सम्पर्क बनायें, यह प्रश्न तभी उठेगा जबकि परिवार बहुत बड़ा हो सदस्य अधिक हों और कई टोलियाँ बनाई गयी हों । कार्यक्रम क्षेत्र बड़ा और विस्तृत होने पर ही क्षेत्र विभाजन की आवश्यकता पड़ेगी छोटे क्षेत्र में तो एक ही टोली अपना काम करती रहेगी ।

शतसूत्री कार्यक्रमों में सभी एक से एक महत्त्वपूर्ण हैं सभी उपयोगी और आवश्यक हैं । समयानुसार स्थानी परिस्थितियों के अनुसार ये सभी कार्यान्वित करने होंगे प आरम्भ में कुछ कार्यक्रमों को प्राथमिकता देकर चलना होगा । कुछ कार्य ऐसे हैं जो अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं, उन्हें नव निर्माण भवन की नींव भरने जैसा कहा जायगा ।

ऐसे कार्यक्रमों में प्रमुख यह है:-(१) पत्रिकाओं के पाठकों की संख्या वृद्धि, (२) परिवार विस्तार ज्ञानघटों की स्थापना वाले सक्रिय सदस्यों की संख्या बढ़ाना, (३) शाखा कार्यालय पर साप्ताहिक सत्संग, नियमित पुस्तकालय, प्रशिक्षण आदि गतिविधियों का संचालन, (४) चल पुस्तकालय, (५) सद्वाक्य लेखन, (६) सत्प्रवृत्ति

संवर्धन एवं दुष्प्रवृत्ति निरोध का हस्ताक्षर आन्दोलन, (७) पुरुषों एवं महिलाओं के युग निर्माण विद्यालय, (८) कविता सम्मेलन, संगीत सम्मेलनों की मण्डलियों का गठन कला मंच विस्तार, (९) जन्म दिन, विवाह दिन संस्कारों पर्व त्यौहारों को सामूहिक रूप से मनाये जाने की व्यवस्था (१०) शाखा समर्थ स्तर की बनाना, शाखा भवन निर्माण तथा उसके लिए उपकरणों का संग्रह ।

यह दस कार्यक्रम ऐसे हैं जिन्हें किलेबन्दी या मोर्चाबन्दी कह सकते हैं । जहाँ इतनी नींव जम जायगी वहाँ यह आशा की जा सकेगी कि इस क्षेत्र के सजग, सक्रिय एवं अग्रगामी बनाने के लिए आवश्यक साधन जुट गये ।

हर जगह यह दस सूत्री कार्यक्रम कार्यान्वित किया जा सकता है । अन्तिम दसवाँ साधन शाखा निर्माण के साधन जुटाने में कुछ देर भी हो सकती है पर शेष आरम्भिक कार्य ऐसे हैं जिनकी पूर्ति के लिए प्रगति के लिए, छोटी-छोटी टोलियाँ ही बहुत कुछ कर सकती हैं और 'नैट' विमानों की तरह जौहर दिखा सकती हैं ।

जहाँ युग निर्माण शाखाएँ स्थापित हो चुकी हैं वहाँ अपने सदस्यों को एकत्रित कर उनका टोली विभाजन करके उनके कार्य तथा उत्तरदायित्व उन्हें सौंप दिये जाने चाहिए । जहाँ शाखा स्थापित नहीं हैं वहाँ सक्रिय सदस्यों की टोलियाँ बना लेनी चाहिए और कार्यक्षेत्र में उतर पड़ना चाहिए ? जहाँ केवल एक ही परिजन है वहाँ उसे कम से कम एक और साथी ढूँढ़ लेना चाहिए और दो की टोली में उपर्युक्त दस सूत्री कार्यक्रमों की पूर्ति के लिये जुट जाना चाहिये ।

टोलियों के निकलने का समय क्या रहे, यह स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर है । नौकरीपेशा लोग कार्यालयों से छुट्टी पाने के बाद या दफ्तर जाने के पहले या अन्य सुविधा का समय इस कार्य के लिये रख सकते हैं । रविवार एवं त्यौहारों की छुट्टियाँ होती हैं । दुकानदारों को बाजार बन्द होने का साप्ताहिक अवकाश सुविधाजनक रह सकता है । इसी प्रकार अन्य लोग अपने व्यवसाय के अनुसार सुविधा देखकर जितना अधिक समय निकाल सकें, उसे टोली प्रयोजन के लिए निकालना चाहिए । जिन्हें समय अधिक मिलता है वे कम समय वालों का बीच-बीच में साथ लेते, छोड़ते चलने का क्रम बना सकते हैं ।

तीर्थयात्रा—बनाम प्रचार यात्रा

पर्यटन का अपना महत्त्व है और अपना आनन्द । यह बहुत उत्कृष्ट स्तर का ज्ञानवर्धक मनोविनोद है । एक ही परिस्थिति में रहते-रहते मनुष्य ऊब जाता है । नवीनता उसे ताजगी प्रदान करती है । एक ही तरह की दाल खाते रहने से अरुचि होने लगती है और नये साग-दाल की तलाश करनी पड़ती है । तीज-त्यौहार भी इस एक ही ढर्रे पर चलते रहने की ऊब को दूर करके नवीनता का संचार करते हैं । इससे भावनात्मक थकान दूर होती है और नये साहस एवं उत्साह का संचार होता है । मनुष्य में यह प्रवृत्ति विद्यमान है । संन्यासी तो परिव्राजक ही होता है उसे तीन दिन से अधिक कहीं भी नहीं ठहरना चाहिए, ऐसी शास्त्र की मर्यादा भी है । सरकार ने इस आवश्यकता को समझा है और पर्यटन केन्द्र, पर्यटन विभाग ने बनाये हैं । यह प्रवृत्ति छात्र में आरम्भ करने के लिए हर वर्ष एक ज्ञानवर्धक दौरा करने के लिए विद्यालयों पर जोर दिया गया है और इस प्रकार की यात्राओं के लिए कुछ सुविधा अनुदान भी रखे हैं ।

हर साल से बहुत लोग लम्बी यात्राएँ करने निकलते हैं । उससे विभिन्न क्षेत्रों की परिस्थितियाँ, रीति-रिवाजों एवं गतिविधियाँ समझने में-मानसिक विकास में असाधारण योगदान मिलता है । आवागमन से विभिन्न क्षेत्रों के लोग परस्पर सम्पर्क में आते हैं और आर्थिक आदान-प्रदान से आर्थिक पहिया भी घूमता है । व्यापार की संभावनाएँ बढ़ती हैं । यात्री कुछ अतिरिक्त खरीदते हैं और इससे उन क्षेत्रों के व्यवसाय पनपते हैं । अनेक धार्मिक मेले इसी दृष्टि से इस देश में आरम्भ किये गये थे । विदेशों में भी अपने-अपने ढंग तथा उद्देश्य से यात्राओं का प्रचलन है ।

अपने देश में तीर्थयात्रा का बड़ा पुण्य माना गया है । यों अमुक मन्दिरों, सरोवरों के दर्शन स्नान के महात्म्य इस सन्दर्भ में जोड़कर रखे गये हैं पर वे मूल कारण नहीं है । भगवान तो एक ही हैं, किसी भी तीर्थ में जाया जाय नाम-रूपों की भिन्नता के साथ उसी भगवान की प्रतिमा ही मिलेगी, सर्वव्यापी होने से वह तीर्थ की ही भाँति अपने घर में भी रहता है । उसकी सत्ता न कहीं न्यून है न अधिक । इसलिए किसी मन्दिर का दर्शन मुख्य नहीं, मुख्य तो अपने आप में वह पर्यटन है जिसके साथ धर्म अभिवृद्धि का प्रयोजन भी जुड़ा हुआ हो । तीर्थयात्रा के पुण्य निश्चित रूप से इसी कारण है । प्राचीनकाल में तीर्थ यात्रा पैदल ही की जाती थी क्योंकि जनसम्पर्क अधिक धर्म विस्तार उसी के द्वारा सम्भव था । द्रुतगामी वाहनों में बैठकर तुर्त-फुर्त देव दर्शन करके घर लौट आना अब लकीर पीटना भर है, उसमें तीर्थयात्रा की पुण्य भावना कहाँ रही ! यह तो देश दर्शन ही हो गया ।

हमें प्राचीनकाल के धर्म आदर्शों के अनुरूप तीर्थ-यात्राओं की, पद-यात्राओं की पुण्य-प्रक्रिया को पुनः आरम्भ करना चाहिए । देशाटन के उपरोक्त लाभों के अतिरिक्त उसका प्रधान उद्देश्य होना चाहिए मार्ग में पड़ने वाले गाँव, नगरों में धर्म भावना को प्रोत्साहित करना । पुण्य का मुख्य साधन यही है । इससे समन्वित पदयात्रायें ही तीर्थयात्रा का पुण्य फल प्रदान कर सकती हैं ।

समान विचारों के लोगों की एक मंडली बनाकर पद यात्रा की तैयारी करनी चाहिए । कितने समय के लिए जाना है, हर दिन कितने मील पैदल चला जा सकता है

इस बात को ध्यान में रखकर किसी सुन्दर से तीर्थ को जाने की तैयारी करनी चाहिए । तीर्थ धार्मिक ही हो यह आवश्यक नहीं । देव दर्शन ही सब कुछ है ऐसा नहीं मानना चाहिए, वरन प्रेरणाप्रद घटनाओं एवं क्रिया-कलापों से सम्बन्धित प्रकृति का उल्लास प्रकट करने वाले किसी भी उत्साहवर्धक स्थान को इस सोद्देश्य तीर्थयात्रा का लक्ष्य बनाया जा सकता है ।

सामान रखने के लिए एक गाड़ी साथ चलनी चाहिए । बैलगाड़ी, ऊँटगाड़ी, घोड़ागाड़ी, मोटर, रिक्शा आदि कुछ भी ऐसा वाहन लिया जा सकता है जिसमें बिस्तर, कपड़े, खाने, पकाने के बर्तन तथा उपकरण रखे हुए हों । खर्च में किफायत की बात हो तो हलकी खिंचने वाली गाड़ी से भी काम चल सकता है । दिनभर की दिनचर्या रात को ठहरने का स्थान आदि का कार्यक्रम पहले से ही बना लेना चाहिए । समय हो तो एक आदमी ठहरने के स्थानो पर पहले से ही भोजन, विश्राम, प्रचार कार्यक्रम आदि का प्रबन्ध करने के लिए आगे भेजा जा सकता है । इस टोली की वेशभूषा एक सी हो, वस्त्र पीले रंगे हुए हों । हाथ में युग निर्माण के लाल मशाल चिन्ह सहित पीले चौकोर झण्डे हों तो जिधर भी निकलेंगे उधर ही उनके सम्बन्ध में पूछताछ होती रहेगी और उत्तर से उन्हें नवनिर्माण मिशन तथा उसके लिए समुन्नत मुक्तिवाहिनी सृजन सेना के प्रयासों का परिचय मिलता रहेगा ।

जिस गाँव में होकर वह दल निकले उसमें प्रभात फेरी की तरह एक जुलूस परिक्रमा में सृजन गीत गाते हुये निकले । गेरू के टुकड़ों से दीवारों पर आदर्श वाक्य लिखें । पढ़े-लिखे लोगों को मिशन के परिचय पत्रक बाँटें और विज्ञप्तियाँ वितरण करें । कुछ लोग तैयार हो जायें तो विज्ञप्तियाँ पोस्टर जैसी सस्ती चीजें बिक्री भी की जायें । इस प्रकार रास्ते में जो भी गाँव, नगर मिलें उनमें प्रचार करते हुए मार्ग में मौके की दीवारों पर गेरू के टुकड़े से वाक्य लिखते हुए चलते रहा जाय । रात्रि को जहाँ ठहरना हो वहाँ स्लाइड प्रोजेक्टर से प्रकाश चित्र दिखाये जायें । सहगान कीर्तन वाली पद्धति भी प्रचार की दृष्टि से उपयोगी है । सुविधानुसार उसे भी अपनाया जा सकता है या दोनों का मिला-जुला रूप रह सकता है आदि और अन्त में सहगान कीर्तन और बीच में प्रकाश चित्र प्रदर्शन का क्रम बैठ सकता है ।

मिल-जुल कर भोजन एक समय बनाया जाय, एक समय सत्तू आदि से गुजारा किया जाय । दोपहर को जहाँ विश्राम किया जाय, कपड़े धोकर सुखा लिये जायें । यह तीर्थयात्रा मंडली जिस रास्ते जाय उससे वापिस नहीं लौटे । वापस लौटने का दूसरा रास्ता होना चाहिए । जाते समय की भाँति ही लौटते समय मार्ग में दूसरे गाँव आयें और उनमें प्रचार कार्य होता चले ।

यों यह धर्म प्रचार यात्रा ही है । उसमें मिशन का परिचय देना, उसके लिए सहयोग का आमन्त्रण देना, साहित्य मँगाने और मानव जाति का भविष्य निर्माण करने वाले अभियान में सम्मिलित होने की प्रेरणा देना भी है । उसका तत्काल क्या प्रभाव पड़ा ऐसा कुछ लेखा-जोखा लेना नहीं है । फिर उस प्रयास से अनेक भावनाशील, विचारवान व्यक्ति प्रभावित होंगे और उन्हें पत्रिकाओं का ग्राहक तत्काल बनाया जा सकता है, प्रचार साहित्य खरीदने के लिए सहमत किया जा सकता है । इस प्रयास से स्थानीय समस्याओं के सम्बन्ध में परामर्श मार्गदर्शन दिये जाते रह सकते हैं और प्रभावित व्यक्तियों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें अपने किसी आयोजन में आमन्त्रित किया जा सकता है । इस प्रकार नये क्षेत्र में नये व्यक्ति अपने सम्पर्क में आवेंगे और मिशन का प्रभाव क्षेत्र एवं कार्यक्षेत्र बढ़ेगा ।

इस प्रकार की तीर्थयात्रा पदयात्रा टोलियाँ समय-समय पर आयोजित की जायें । गर्मी के दिन इसके लिए अधिक उपयुक्त रहते हैं । किसान खेती से निवृत्त हो जाते हैं; अध्यापक और शिक्षार्थी पढ़ाई से । कोर्ट-कचहरियों में उन दिनों छुट्टी रहती है । गर्मी की अधिकता जरूर रहती है पर मध्यान्ह में तपते सूर्य का समय लम्बे विश्राम के लिए रखा जाय और दो, तीन घण्टे सबेरे, दो तीन घण्टे शाम का क्रम बनाया जाय । दस मील से कम ही यात्रा का लक्ष्य रखा जाय तो हँसते-खेलते बिना लू-धूप का कष्ट उठाये बड़े आनन्दपूर्वक गर्मी के दिनों में भी यह यात्रा चल सकती है । वयस्क छात्र अपने उत्साही अध्यापकों के साथ इस प्रेरणापद यात्रा का लाभ उठा सकते हैं । इस यात्रा को एक शिक्षण शिविर न माना जाय । मध्यान्ह को किसी बगीचे में भोजन विश्राम के बाद विचार-गोष्ठी चले और यात्रा के समय रास्ते में नवनिर्माण क्रिया-कलाप का व्यावहारिक शिक्षण मिलता चले । इस प्रकार यात्रा पर निकली हुई मंडली जहाँ पर्यटन के साथ जुड़े हुए लाभो लाभान्वित होगी वहाँ लोक-मंगल की दिशा में उपयो योगदान भी करेगी । जनसेवा का व्यावहारिक प्रशिक्ष प्राप्त होगा सो अलग ।

गर्मी के अतिरिक्त जब भी छुट्टियाँ हों, अवकाश हो मंडली का विचार बन जाय तभी कम या अधिक समय के लिए इस प्रकार का कार्यक्रम बनाकर चला जा सकता है । इस यात्रा में लगाया गया समय, श्रम तथा धन कितना हर्षोल्लास प्रदान करता है उसे अनुभव करके ही जाना जा सकता है ।

सही और सशक्त तीर्थयात्रा

आज भी संस्कृति की सीता का अपने ढंग का अपहरण दुष्ट दशानन ने कर लिया है । त्रेता में ऐसी ही घटना होने पर, सुग्रीव के नेतृत्त्व में वानरों का समुदाय अपना घर-बार छोड़कर, उस खोज प्रयोजन के लिए लम्बी और कष्ट-साध्य यात्रा पर निकल पड़ा था । लक्ष्मण को शक्ति लगने पर प्राण-संकट जैसी स्थिति आ गयी थी । वैद्य ने संजीवनी बूटी लाने को कहा; वह कठिन काम

हनुमान के अतिरिक्त और किसी के बल-बूते का न था। वे गये और बूटी की सही पहचान न होने पर पर्वत को ही उखाड़ लाये। आज भी हमें युग सृजन में काम आ सकने वाले प्राणवान अग्रदूतों की आवश्यकता है। उन्हें घर-घर खोजने के लिए परिव्राजकों के रूप में प्रवास कर निकल पड़ने के अतिरिक्त और कोई चारा है नहीं।

आयुर्वेद चिकित्सकों को भी गुणकारी, ताजी, जड़ी-बूटियाँ ढूँढ़ने निकलना पड़ता है। उपयुक्त वस्तु मिल जाने पर ही वे रोगियों को प्राण संकट से बचा पाते हैं। पनडुब्बी समुद्र की गहराई में उतरकर सुविस्तृत क्षेत्र में खोज-बीन करते हैं, तब कहीं बहुमूल्य मोतियों को लेकर वापस लौटते हैं। साधु, ब्राह्मण वानप्रस्थ अपने-अपने निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करने के लिए परिव्रज्या पर निकलते थे। वे अपने ज्ञान की-अनुभव की वृद्धि भी करते थे तथा अपने ज्ञान से मार्ग में मिलने वाले लोगों की समस्याओं का समाधान भी निकालते थे। ऐसे ही उद्देश्यपूर्ण जन-सम्पर्क प्रयोजनों के साथ जुड़ी हुई पद-यात्राओं को प्राचीनकाल में तीर्थयात्रा कहा जाता था।

बादल परिव्राजक हैं। तभी उनकी अनुकम्पा से प्यासी धरती को हरियाली उगाने का सौभाग्य मिलता है। सूर्य और चन्द्रमा वस्तुतः अनवरत परिव्रज्या में संलग्न रहने वाले परिव्राजक हैं। यदि वे अपने कर्त्तव्य धर्म की उपेक्षा करें, तो प्रकाश के दर्शन न दिन में होंगे, न रात में। पवन भी परिव्राजक है, वह यदि निरन्तर न बहता रहे, तो विषैली घुटन से ही जीवन का अन्त हो जाय, किसी को भी प्राण-तत्व का अधिग्रहण करते न बन पड़े।

फल जब पक जाता है तो अपने घर पेड़ को छोड़ देता है और जिन्हें उसकी नितान्त आवश्यकता है, उनके पास जा पहुँचता है। यदि फल ऐसा न करे, तो फलों में रहने वाले बीजों को नये पौधों के रूप में विकसित होने का ही अवसर न मिले और वृक्ष का संसार ही समाप्त हो जाय। नदियाँ जीवन भर प्रव्रज्या करती हैं तभी क्षेत्रीय स्तर पर जल की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। यदि वे बहना बंद कर दें, तो किसी बड़े तालाब के रूप में वह पानी भरा रहे, कीचड़ या दलदल के रूप में अपने क्षेत्र की उपयोगिता समाप्त कर दे।

लोक-व्यवस्था का संतुलन बनाए रखने के लिए सदा ही धर्म-प्रचारकों की प्रव्रज्या जारी रहती है पर जब विशेष समय आता है, तो उसे आपत्ति-धर्म जैसा महत्त्व दिया जाता है। सीता की खोज में वानर ही नहीं निकले थे, वरन समय की विकृतियों को बुहारने के लिए अपने समय में भगवान् बुद्ध ने स्वयं भी प्रव्रज्या का ही सहारा लिया था। उन्होंने अपने सभी प्राण-प्रिय शिष्यों को देश-देशान्तरों में धर्म-चक्र प्रवर्तन की क्रिया सम्पन्न करने के लिए, युगधर्म की माँग पूरी करने के लिए स्थानीय साधना-विहार छोड़कर प्रव्रज्या कर निकल पड़ने का आदेश दिया था और उसका पूरी तरह पालन हुआ था।

कोलम्बस जैसे न जाने कितनों ने लम्बी जलयात्राओं पर निकल कर देशों और द्वीपों को खोज निकालने का ऐसा उद्देश्य पूरा किया था, जिसने मनुष्य समाज की परिस्थितियों में काया-कल्प जैसा सुयोग उपस्थित कर दिया।

उच्च उद्देश्यों के लिए प्रव्रज्या पर निकलना तीर्थ-यात्रा कहा गया है और उसके पुण्य-फल का माहात्म्य वर्णन शास्त्रकारों और आप्त-वचनों ने किया है। मात्र मनोरंजन के लिए किये जाने वाले सैर-सपाटों को वह श्रेय नहीं मिल सकता। घंटों में सैकड़ों मील की चाल से चलने वाले वाहनों में बैठकर कुछ प्रतिमाओं का दर्शन अथवा जलाशयों में डुबकी लगाने का वर्तमान प्रचलन, तीर्थ-यात्रा समझा तो जाता है, पर वस्तुतः है वह पर्यटन मात्र ही। जिस प्रवास का कोई उच्च-स्तरीय उद्देश्य न हो, उस भगदड़ को पुण्य-फलदायक किस आधार पर कहा जा सकेगा?

इन दिनों तीर्थ-यात्रा की प्रव्रज्या के लिए समय निकालना और प्रवास में आने वाली कठिनाइयों का सामना करना, यही है वह उद्देश्य जिससे जुड़े रहने पर आत्मपरिष्कार और लोक-मंगल की दुहरी आवश्यकता पूरी होती है। वरिष्ठजनों को युग प्रहरियों की तरह 'चरैवेति' का उद्बोधन अपनाना है और जहाँ कुछ गड़बड़ी है, वहाँ उड़नदस्ते की तरह बिना बुलाये ही जा पहुँचना है। देवर्षि नारद ने अन्य सब साधनाओं की अपेक्षा मात्र आलोक वितरण के लिए भ्रमण करते रहने की प्रक्रिया को प्राथमिकता दी और वे उसी आधार पर भगवान के दरबार में बिना रोक-टोक कभी भी जा पहुँचने की असाधारण छूट के अधिकारी बने।

युग संधि की इस बेला में दूरदर्शी प्राणवान परमार्थियों को, प्रव्रज्या को महाकाल की प्रमुख माँग के रूप में समझते हुए उस निमित्त उसी प्रकार तैयार होना चाहिए, जैसा कि बिगुल बजते ही सैनिक कमर कसकर कूच के लिए बिना समय गँवाये तैयार हो जाते हैं। प्रभातकाल आते ही पक्षी घोंसले छोड़कर उड़ानें भरने लगते हैं। ब्राह्ममुहूर्त, बिना सूर्योदय की प्रतीक्षा किये दिग्-दिगन्त को निकट भविष्य की सुखद संभावनाओं का आभास देता फिरता है।

प्रव्रज्या को युग-धर्म माना जाय। युग-परिवर्तन का पूर्वार्द्ध आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व बुद्धकालीन धर्मचक्र प्रवर्तन के रूप में गतिशील हुआ था। बुद्ध की, धर्म की, संघ की शरण में जाने वाले समर्पितों ने, अपने प्रेरणा-स्रोत से परिभ्रमण पर निकल पड़ने का संदेश पाया और उन्होंने भारत ही नहीं समूचे एशिया को कुछ ही समय में उस दार्शनिक क्रान्ति के आँचल में लपेट लिया। भारत के उत्तर प्रदेश, बिहार, मणिपुर, असम, अरुणाचल आदि प्रान्तों को उसी रंग में पूरी तरह रंग दिया। श्रावस्ती, सारनाथ, कपिलवस्तु, लुम्बनी, सकिसा, साँची से लेकर एलोरा-अजन्ता की गुफाएँ भी तत्कालीन युग-क्रान्ति की साक्षी देने के लिए अभी भी अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। निकटवर्ती

देशों में नेपाल, भूटान, तिब्बत, वर्मा, कम्बोडिया, मलेशिया, इण्डोनेशिया, लंका, जावा, सुमात्रा आदि में बौद्ध धर्म प्रायः राजधर्म जैसा बन गया । चीन, कोरिया, मंचूरिया, मंगोलिया, जापान आदि देशों में शासन तथा समाज ने उसी प्रेरणा प्रवाह को अंगीकृत कर लिया था । मध्य एशिया के अफगानिस्तान, ईरान, अरब, रूस आदि के भग्नावशेष अभी भी साक्षी हैं कि वहाँ कभी विशालकाय बौद्ध विहार थे ।

नालंदा और तक्षशिला के विश्वविद्यालय तो खण्डहर मात्र ही रह गये हैं पर उन्हें देखकर जाना जा सकता है कि वे अपने समय में सुयोग्य परिव्राजकों को, अष्ट-धातु से भी कड़ी मानसिकता और प्रतिभा से भरपूर बनाने में कितने सफल हुए थे । इतिहास के पृष्ठ उलटने पर यह सभी तथ्य-आँखों के सामने तैरने लगते हैं । इक्कीस मंजिल ऊँचा कम्बोडिया का 'अंगकोरवाट' खण्डहर मात्र रह जाने पर भी विश्व का प्रमुख पुरातत्व कौशल माना जाता है । इनसे पता लगता है कि उन दिनों सर्व-साधारण ने ही युगधर्म को अंगीकृत नहीं किया था, वरन शासक, कलाकार, धर्मध्वजी भी अपनी उफनती श्रद्धा का प्रमाण देने के लिए व्याकुल हो उठे थे । अशोक, हर्षवर्धन जैसों की कथागाथाएँ किसी से छिपी नहीं हैं । चीन देश में कुमारजीव ने और दक्षिण-पूर्व एशिया में मनस्वी कौडिन्य ने किस प्रकार दार्शनिक क्षेत्र में चक्रवर्ती स्तर की सफलताएँ अर्जित की थीं, यह भी सर्वविदित है ।

इन पंक्तियों में प्रव्रज्या की तीर्थयात्रा की ऐतिहासिक झलक-झाँकी दिखाई गई है । पुरातन काल में यहाँ के ऋषि-मनीषियों ने संसार के कोने-कोने में पहुँचकर किस प्रकार देश-संस्कृति का विस्तार किया था, यह भी रहस्य नहीं रहा है । भारत को ''स्वर्गादपि गरीयसी'' समझी जाने वाली देव भूमि का, यहाँ के निवासियों को 'देवमानव' होने का, प्रचारकों को 'जगद्गुरु' कहलाने का श्रेय प्राप्त हुआ था ।

इतिहास ने इन दिनों फिर नई करवट ली है । पुनर्जीवन एवं पुनरुत्थान स्तर का माहौल बना है । धर्मचक्र प्रवर्तन का उत्तरार्द्ध अब युग निर्माण आन्दोलन के रूप में नये सिरे से उदीयमान हुआ है । पूर्वार्द्ध में ढाई हजार साल पहले वाला छूटा हुआ काम, अब फिर उत्तरार्ध रूप में नये सिरे से, नयी योजनाओं के साथ प्रकट हुआ और प्रकाश में आया है ।

प्रज्ञा परिजनों की संख्या प्रायः एक चौथाई करोड़ है । बुद्ध के धर्म चक्र प्रवर्तन ने भी प्रायः इतने ही प्राणवानों को अनुप्राणित किया था । परिव्राजकों और परिव्राजिकाओं की संख्या उन दिनों प्रायः एक लाख थी । अपने मिशन ने भी यही संकल्प लिया है कि युग संधि की इस वेला में इक्कीसवीं सदी के आगमन से पूर्व, एक लाख सृजन शिल्पियों को कार्यक्षेत्र में उतार दिया जायेगा और उनके द्वारा जनमानस के परिष्कार एवं लोक-व्यवस्था में उच्चस्तरीय आदर्शवादिता का समावेश करने के लिए उन्हें अपनी समूची सामर्थ्य झोंक देने के लिए सहमत-उल्लसित किया जायेगा । इतनी कठिन साधना के लिए तत्पर होने वाले ही भगीरथ की तरह गंगा को स्वर्ग से धरती पर उतरने के लिए बाधित कर सकते हैं ।

युग बदलने में, अपने ढंग से-अपनी सामर्थ्य के अन्तर्गत, साम्यवाद और प्रजातंत्र की विचारधाराओं ने भी आश्चर्यजनक सफलताएँ पायी हैं । ईसाई मिशनों ने भी जो कुछ इन थोड़े ही दिनों में कर दिखाया है उसे नजर-अन्दाज नहीं किया जा सकता । युग निर्माण आन्दोलन के विगत कर्तृत्व पर दृष्टिपात करने वाले, उस प्रमाण-परिचय के आधार पर यह संभावना व्यक्त करते हैं कि इतना समर्थ तंत्र अगले दिनों उज्ज्वल भविष्य की संरचना वाले युग परिवर्तन में अपने ढंग की अनोखी भूमिका प्रस्तुत कर सके तो इसमें किसी को भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए ।

अभिनव कार्यक्रमों में युग सृजन आन्दोलन ने प्रव्रज्या को प्रमुखता दी है । प्रस्तुत प्रज्ञापुत्रों को अपने-अपने क्षेत्र में जनसम्पर्क के लिए पद-यात्राएँ छोटे या बड़े रूप में आरम्भ कर देनी चाहिए । आत्म-निर्माण, परिवार-निर्माण और समाज निर्माण के लिए इन्हीं दिनों क्या करना है उसका आलोक वितरण करने में किसी घर, मुहल्ले को उपेक्षित नहीं रहने देना चाहिए । घर-घर अलख जगाने का संकल्प अधूरा नहीं रहना चाहिए ।

यह कार्य 'दीपयज्ञों' को निमित्त-माध्यम मानकर किया जा रहा है । इन आयोजनों को युग चेतना का प्रतीक मानकर चला जा रहा है । इनमें उपस्थित होने वाले भावनाशीलों में से जो भी प्रतिभावान दीख पड़ें, उन्हें संगठित करने के लिए प्रज्ञा मंडलों का गठन कर देना चाहिए और उनके साप्ताहिक सत्संग-उपक्रम ठीक प्रकार चलते रहें, उसकी सुनियोजित व्यवस्था बना देनी चाहिए । इसी प्रकार इनके साथ अनेकों उन रचनात्मक क्रिया-कलापों को जोड़ दिया गया है, जो उज्ज्वल भविष्य की संरचना के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं । इन कार्यक्रमों में नारी जागरण का विशेष महत्त्व है; क्योंकि उससे विश्व की आधी जनसंख्या को अबला के स्तर से ऊँचा उठाकर शक्ति की अधिष्ठात्री के उच्च शिखर तक पहुँचाया जाना है ।

युग निर्माण मिशन के प्राणवान प्रज्ञा पुत्रों के जिम्मे यह कार्य सौंपा जा रहा है कि वे अपने प्रभाव क्षेत्र में उन गतिविधियों को चलाते रहें, जो अब तक चलती रही हैं और आगे भी चलाई जानी हैं । स्थानीय क्षेत्र में काम करने वालों के लिए पद-यात्रा के माध्यम से प्रभाव क्षेत्र के साथ सम्पर्क साधते रहने के लिए कहा गया है । झोला-पुस्तकालय और ज्ञानरथ घुमाते रहना इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत आते हैं ।

दायरा कुछ मील आगे तक बढ़ाना है । निकटवर्ती, दस-पाँच गाँवों में अलख जगाने का दायित्व वहन करने का साहस उभरे, तो फिर साइकिल प्रवास समय-समय पर नियोजित करते रह सकते हैं । दीवारों पर आदर्श वाक्य

लेखन, सहगान कीर्तन और युग साहित्य का प्रचार साइकिल यात्री करते रहें, तो इतने भर से देखने में छोटा, किन्तु परिणाम में बड़ा कार्य हो सकता है ।

शान्ति कुंज की प्रचारक टोलियाँ अब तक जीप-गाड़ियों द्वारा बड़े दीप यज्ञों में पहुँचती रही हैं । अब उस आवश्यकता की पूर्ति आस-पास के लोग ही मिल-जुलकर कर लिया करें, तो उनका परावलम्बन समाप्त होगा और स्वावलम्बन के सहारे नया साहस मिलेगा । नया अनुभव होगा और एक दर्जा ऊपर चढ़ जाने का सुयोग बनेगा ।

शान्तिकुंज की प्रचारक जीप-गाड़ियाँ भी सीमित क्षेत्र में ही घूमते रहने की अपेक्षा आगे कदम बढ़ायेंगी और नया क्षेत्र अपने प्रभाव-परिकर में सम्मिलित करेंगी । अब तक प्राय: हिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही प्रधान रूप से नव-निर्माण का कार्य होता रहा है । गुजरात को छोड़कर अन्य भाषाई क्षेत्रों में यह आलोक नाम-मात्र के लिए ही पहुँचा है । शेष १४ भाषाओं या दायरे वाला क्षेत्र अभी एक प्रकार से अछूता ही पड़ा है । फिर युग परिवर्तन की नवचेतना का विस्तार तो समस्त संसार में होना है । अपनी परम्परा "वसुधैव कुटुम्बकम्" की रही है, फिर संसार के अन्य क्षेत्रों को कैसे उपेक्षित छोड़ दिया जायेगा ? कुछ हलचलें प्रवासी हिन्दू भारतीयों में ही पिछले दिनो चलती रही हैं । अब भाषाओं, सम्प्रदायों और देशों की परिधि में युग चेतना को सीमित नहीं रखा जा सकता । उसे विश्वव्यापी बनाने की अपनी योजना प्राय: इस स्तर तक सोची जा चुकी है कि उसे कार्यरूप में परिणित करने में कठिनाइयाँ भले ही आवें, पर उसे असंभव मानने की निराशा कहीं भी किसी में भी दृष्टिगोचर न हो ।

नये निश्चय के अनुसार शान्ति-कुञ्ज की दस प्रचार टोलियाँ फिलहाल हरिद्वार से सभी दिशाओं में भेजना आरम्भ किया जा रहा है । सुविधाएँ जैसे-जैसे हस्तगत होती जायेंगी, वैसे-वैसे उन्हें अधिक संख्या में बनाया और अनेक देशों-सुदूर क्षेत्रों तक फैल जाने के लिए भेजा जाना आरम्भ हो जायेगा ।

यों हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में अधिकांश भाग ऐसा है, जहाँ युग-चेतना का उल्लास-उमँगना शेष है । प्रयत्न यह किया जाना है कि निकटवर्ती वर्तमान प्रभाव क्षेत्र की सम्पूर्ण परिधि में, नवसृजन के लिए आवश्यक जानकर पहुँचाने से लेकर उमंग उभारने तक का कार्य पूरा कर लिया जाय, जिस-तिस क्षेत्र मे जहाँ-तहाँ छुटपुट काम करने की अपेक्षा यह अच्छा है कि एक क्षेत्र को जाग्रत करते चला जाय, साथ ही अपरिचित क्षेत्रों में प्रवेश भी करते चला जाय ।

भारत को तो अगली शताब्दी में नेतृत्व करना है, इसलिए उसे तो इस स्थिति में होनी ही चाहिए कि अपना घर सँभालने के कार्य को प्रमुखता देते हुए, पड़ोस को साफ-सुथरा और समुन्नत बनाने के कार्य को भी हाथ में लिया जाता रहे । युग संधि के इस दूसरे वर्ष में प्रचारकों की टोलियाँ बुद्ध-परिव्राजकों का अनुसरण करते हुए सुदूर क्षेत्रों को प्रयाण करेंगी और जिस क्षेत्र में अब तक काम किया जाता रहा है, उसी तक सीमित न रहेंगी । अपने काम को इस अन्दाज से आगे बढ़ाया जाना है, जैसे कि वामन अवतार ने कुछ ही डगों में सारे संसार को नाप लिया था । मत्स्यावतार की कथा में भी एक छोटे कमण्डल में पैदा हुई मछली विस्तार करते-करते समूचे समुद्र पर छा गयी थी ।

इस सन्दर्भ में शान्ति-कुञ्ज का सुविस्तृत प्रव्रज्या कार्यक्रम, अभिनव योजनाओं के साथ हाथ में लिया जा रहा है और उसे बढ़ाते-बढ़ाते समूचे विश्व की परिधि में कैसे पहुँचा जाय, इस पर विचार-चिन्तन चल रहा है । कार्यक्रम बन रहा है और साधन जुटाने, माध्यम उभारने के लिए आवश्यक ताना-बाना बुना जा रहा है ।

इस वर्ष वर्तमान कार्यकर्त्ताओं को अपने-अपने समीपवर्ती कार्यक्षेत्र स्वयं सँभालने की तैयारी करनी चाहिए । इसके लिए दो कार्य ऐसे हैं, जिन्हें बिना समय गँवाये अभी से जारी रखना चाहिए । एक यह, कि जो प्रतिदिन समयदान का न्यूनतम दो घंटे जितना अनुदान नित्य दे सकने की स्थिति में हों, उन्हें ढूँढ़-ढूँढ़कर शान्ति-कुञ्ज के युगशिल्पी सत्रों में एक माह रहने के लिए भेजा जाय । जिनके पास समय कम हो, उनसे भी यह शिक्षण किसी प्रकार पूरा कराया जा सकता है । ऐसे प्रशिक्षित युग सृजेता जिन क्षेत्रों में बड़ी संख्या में होंगे, वहाँ आलोक वितरण के क्रिया-कलापों में शिथिलता न आने पायेगी ।

दूसरा कार्यक्रम यह है कि अब तक जो लोग मिशन के सम्पर्क में आ चुके हैं, उन्हें बैटरी चार्ज कराने के लिए नौ दिवसीय वर्तमान साधना सत्रों में नये सिरे से सम्मिलित होना चाहिए; ताकि वे युग संधि पुरश्चरण में सम्मिलित होने की एक शर्त पूरी करने के अतिरिक्त, इतनी चेतना नये सिरे से प्राप्त कर सकें कि इस महान मिशन के सच्चे सदस्य होने की कसौटी पर कसे जाने पर खरे सिद्ध हो सकें । शान्तिकुञ्ज में उपरोक्त दोनों सत्र नयी तैयारी के साथ आरम्भ किए गये हैं । इनमें सम्मिलित होने के लिए सभी क्षेत्रों से ऐसे व्यक्ति भेजने चाहिए, जिनसे कुछ पौरुष प्रदर्शित करने की आशा हो । बूढ़े, अनियन्त्रित, रोगी, छोटे बच्चों की ऐसी भीड़ को सत्रों में नहीं ठेल देना चाहिए, जिनकी रुचि मात्र सैरसपाटे में हो, जो यहाँ आकर अनुशासन बिगाड़ते और जिनके साथ आते हैं, उनके लिए भी कुछ सीख सकना असंभव कर देते हैं । मात्र चुने हुए शिविरार्थियों की ही आवश्यकता समझी जा रही है और आवश्यक भीड़ पर रोक-थाम अधिक कड़ाई से लगाई जा रही है ।

दीप यज्ञों का उपक्रम तो अनवरत रूप से आगामी दस वर्षों तक चलता रहेगा । उन्हें विशाल रूप न देकर ऐसे छोटे-छोटे खण्डों में सम्पन्न करना चाहिए, जिनमें उपस्थित १००-२०० से अधिक न हो । ऐसा सम्पर्क घनिष्टता बढ़ाता है, परिचय को सुदृढ़ करता है और ऐसे

प्रयत्न उत्पन्न करता है, जो आगे चलकर मिशन के कार्यों में काम आते हैं । बड़े कार्यक्रम में धूम-धाम भी होती है और उत्साह भी उभरता है । अनेक व्यक्तियों की बातें सुनने का अवसर भी मिलता है पर जैसे ही भीड़ें चली आती हैं, उसका परिणाम शून्य रह जाता है । इसलिए बड़े आयोजनों के फेर में पड़ने की अपेक्षा ईसाई मिशनरियों की रीति-नीति ही अपनानी चाहिए और घर-घर जाकर, सम्पर्क बनाने की सफल सिद्ध हुई प्रक्रिया को हस्तगत करना चाहिए ।

अच्छा हो, अब बड़े दीप यज्ञों अपवाद रूप में ही सम्पन्न हों और जहाँ तक हो सके, शान्तिकुञ्ज की प्रचार-टोलियों को व्यापक कार्यक्षेत्र में ही उस नये और दूरवर्ती क्षेत्र में प्रवेश करने देना चाहिए, जिनके लिए कि उन्हें तैयार किया गया है और जो अत्यन्त दूरगामी संभावनाओं से भरा-पूरा भी है ।

धर्म-प्रचार की पदयात्रा 'साईकिल तीर्थयात्रा'

तीर्थयात्रा से जब भी अर्थ लिया जाता है, उसे 'धर्म प्रचार की पदयात्रा' कहा जाता है । धर्म में यों अनेक विशेषताएँ हैं पर शास्त्रकारों ने उसे पंगु कहा है । यह अपने पैरों चल सकने में असमर्थ रहता है । इसीलिए उसे कंधों पर बिठाकर चलने का विधान है । श्रवणकुमार अपने माता-पिता को काँवर में बिठाकर, कंधों पर रखकर तीर्थयात्रा कराने ले गये थे । माता-पिता को यात्रा कराने से श्रवणकुमार को पुण्य-लाभ हुआ और माता-पिता की भी इच्छा पूर्ण हुई । धर्म के सम्बन्ध में यही बात है । साधु व ब्राह्मण को देव-संस्कृति में देव-मानव का स्थान दिया गया है, क्योंकि वे अपना श्रम और समय लगाकर धर्म-चेतना को गाँव-गाँव तक, व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचाने का पुण्य कार्य करते रहे हैं ।

भूसुर या मनुष्यों में देवता उन्हीं को कहा जाता रहा है, जो बिना बुलाये, बिना माँगे, सद्ज्ञान जैसी उच्चकोटि की सम्पदा वितरित करने के लिए घर-घर पहुँचते रहे हैं । तीर्थयात्रा को परमार्थ कहा गया है । इसमें लेने वाले की नहीं, देने वाले की महत्ता है । सद्ज्ञान से आगे बढ़कर सद्भावना का वितरण कर पिछड़ों को ऊँचा उठाया जा सके, तो इससे बड़ा कोई पुण्य नहीं ।

परमार्थपरायणता की भावना का बाहुल्य होने एवं तप-तितिक्षा करके स्वयं दुःखी, पीड़ितों, दलितों तक पहुँचने की साधु-ब्राह्मण परम्परा के जीवित होने के कारण ही पुरातन युग सतयुग कहा जाता था । जन-जन में अलख जगाने की प्रक्रिया जीवन्त होने के कारण धर्म-धारणा का व्यापक विस्तार था । यही कारण था कि उन दिनों सद्विचारों और सत्प्रवृत्तियों का बाहुल्य था । न कहीं मानसिक क्लेश, संताप, पारस्परिक विग्रह, कलह, अपराधी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती थीं, न कोई दुष्प्रवृत्तियों को अपनाता ही था । आज जन-जागरण की वह परम्परा ऋषियों, साधुओं, ब्राह्मणों के अभाव के कारण लुप्त हो गयी है । तीर्थयात्रा तो अब भी चलती है पर वह होती बसों से, रेलों से, विमानों से है तथा पिकनिक, विचित्र दृश्य देखने के मनोरंजन तक ही सीमित होकर रह गयी है ।

श्रुति के अनुसार तीर्थ व देवालय, भारतभूमि के चप्पे-चप्पे में विद्यमान हैं । श्री गोखले ने गाँधी जी को विशाल भारत की पदयात्रा कर, फिर अपनी स्वतन्त्रता संग्राम की राजनीति बनाने को कहा था । उन्होंने वही किया, दरिद्रता-अभाव की वस्तुस्थिति देखकर वैसा ही बाना पहना एवं ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने वाली नीति बनायी । स्वामी विवेकानन्द ने पूरे भारत की पैदल यात्रा कर, जब कन्याकुमारी की श्रीपाद शिला पर ध्यान लगाया, तब उनका भारतभूमि की विराट् आस्था से साक्षात्कार हुआ और मठ व संन्यासी-परिव्राजक परम्परा द्वारा जन-जन तक पहुँचने की व्यापक योजना बनकर सामने आयी ।

आज की परिस्थितियों में यदि भारत का नये सिरे से पुनर्निर्माण करना हो, संव्याप्त दुष्प्रवृत्तियों से जूझना हो, तो एक ही मार्ग रह जाता है पैदल यात्रा के परिष्कृत रूप-साइकिल यात्रा द्वारा बहुसंख्यक ग्रामीण भारत के हर भाग तक पहुँचा जाय तथा यह कार्य साधु-ब्राह्मण स्तर के परिव्राजकों द्वारा निःस्वार्थ भावना से धर्म-धारणा के विस्तार हेतु किया जाय । सतयुग को ऋषि-युग को इसी आधार पर पुनः लाया जा सकता है ।

यह जाना-माना तथ्य है कि साइकिल ही इक्कीसवीं सदी का एकमात्र वाहन होगा । ईंधन के चुकते संसाधनों के इस युग में, भीड़ से भरे, प्रदूषण भरे यातायात में मात्र साइकिलें ही जिन्दा रहेंगी । जापान व चीन की तरह 'पैडल पॉवर' की महत्ता समझते हुए हमें भी जन-जन तक पहुँचने के लिए साइकिलें ही प्रयुक्त करनी होंगी । यात्रा की दृष्टि से वे सुगम भी हैं तथा किसी ईंधन की माँग नहीं करतीं । साइकिल चलाने वालों का स्वास्थ्य भी औरों की अपेक्षा अधिक अच्छा रहता है ।

चैत्र नवरात्रि-पर्व से ही शान्तिकुञ्ज से १०० साइकिलों का एक जत्था विभिन्न ग्रामों का एक यात्रा चक्र बनाकर रवाना हो गया था । इसमें प्रशिक्षित परिव्राजक दोपहर बाद एक गाँव पहुँचकर, दिन भर वहाँ सद्वाक्य लेखन तथा नुक्कड़ सभाओं द्वारा अपने आने का उद्देश्य समझाकर, शाम को भजनोपदेशक-शैली में उद्बोधन देते हैं । एक साइकिल पर टेपरिकार्डर- एम्प्लीफायर-माइक आदि की व्यवस्था है, शेष चार पर सद्वाक्य लेखन का सामान, दीपयज्ञ आयोजन-पूजा आदि की सामग्री, पाँच व्यक्तियों के रहने, ओढ़ने, खाने, पहनने आदि का सामान है । कभी भोजन-व्यवस्था न होने पर वे स्वयं अपना भोजन (दाल-चावल की खिचड़ी) बना लेते हैं । अगले

दिन प्राय: शान्ति-कुञ्ज जैसी दिनचर्या में सभी ग्रामवासियों को भागीदार बनाकर दीपयज्ञ आयोजित करते हैं । इसमें बड़े उत्साह से भी ग्रामवासी भाग लेते हैं, देव-दक्षिणा में अपनी दुष्प्रवृत्तियाँ छोड़ते हैं । संक्षिप्त आयोजन के बाद पूरे गाँव की परिक्रमा होती है और फिर वे अगले गाँव की ओर बढ़ जाते हैं ।

इस परिक्रमा से ग्रामीण परिकर में बड़ा उत्साह आया है । धर्म-धारणा का, सत्प्रवृत्तियों का विस्तार हुआ है । नवसंवत्सर २७ मार्च, १९९० से आरम्भ हुए इन कार्यक्रमों को पहले तो १ दिन का ही रखा गया था परन्तु १ मई से ये डेढ़ से दो दिन के, स्थान विशेष की आवश्यकतानुसार कर दिये गये । आयोजनों की सुरुचिपूर्ण व्यवस्था तथा प्रभावोत्पादकता को देखते हुए स्थानीय ग्रामवासियों के अनुरोध पर कार्यक्रमों को थोड़ा लम्बा करना पड़ा है । पीली साइकिलों पर पीत वस्त्रधारी साधु-ब्राह्मणों की जयघोष लगाती टोली, जहाँ नजर आती है, सभी समझ जाते हैं कि ये शान्तिकुञ्ज के तीर्थयात्री हैं । पश्चिमी उत्तर प्रदेश को अपने रंग में रंगकर ये तीर्थयात्री अब क्रमश मध्य प्रदेश, गुजरात, राजस्थान व समूचे उत्तरप्रदेश में फैल गये । प्रारम्भ तो १०० साइकिलों से किया गया था, किन्तु अब हजार पीली साइकिलें ही फैक्ट्री से मँगाई गयी हैं । लक्ष्य एक लाख साइकिलों का है । दस दिन का सघन प्रशिक्षण देकर सभी समयदानियों, स्थानीय कार्यकर्त्ताओं का न्यूनतम चालीस दिन के लिए इस पुण्य-कार्य के लिए निकलने का आमंत्रण दिया गया है ।

शान्तिकुञ्ज से जुड़े, सूत्र-संचालक के सभी आत्मीय-घनिष्टों से, पत्रिकाओं के पाठकों तथा समयदानी परिजनों से यह अनुरोध किया गया है कि वे एक लाख साइकिलों द्वारा एक लाख गाँवों तक पहुँचने के युगऋषि के संकल्प को पूरा करने के लिए शीघ्र ही अपने योगदान की सूचना शान्तिकुञ्ज को दें । जिन्होंने कभी केन्द्र को अपना समयदान नोट कराया था, वे भी दस दिन का प्रशिक्षण लेकर, एक माह के लिए ग्रामीण अंचलों तक जाने के लिए तैयार रहें । इसके लिए प्रारम्भिक शिक्षण हेतु पहले शान्तिकुञ्ज आना होगा, भले ही उनका यात्रा क्षेत्र यहाँ से दूर कहीं और हो । चूँकि ये ग्रामीण जनता के लिए कार्यक्रम हैं, उन्हें मूलत: लोकसंगीत पर आधारित लोकवाद्यों के माध्यम से छोटी-छोटी धार्मिक सत्प्रेरणाओं को गूँथकर बनाया गया है । यह संभाषण कला तथा पौरोहित्य विद्या आदि का एक समूचा नया प्रशिक्षण है । जिसे किसी तरह दस दिन में ही पूरा किया जाने की व्यवस्था बनायी गयी है ।

महाकाल का, दैवी सत्ता का यह संकल्प है कि प्रस्तुत संधिबेला में विराट् स्तर पर पूरे भारतवर्ष में एक लक्ष्य दीपयज्ञ आयोजनों को सम्पन्न किया जाना है । ७८ प्रतिशत से अधिक जनता गाँवों में रहती है । नवयुग का संदेश यदि इन सभी तक पहुँच सका, तो यह समझना चाहिए कि पूरे भारत को जगा दिया गया । भारत एक महाशक्ति है, किन्तु इसे सोया हुआ देव कहा गया है । जब यह जाग पड़ेगा, तो इसकी शक्ति कितनी होगी और किस प्रकार धर्म-धारणा-सुसंस्कारिता पर आधारित यह महान राष्ट्र विश्व नेतृत्व में अपनी भूमिका अगले दिनों सम्पन्न करेगा, इस सम्बन्ध में कल्पना करते ही रोमांच हो उठता है ।

साइकिल तीर्थयात्रा से भारतभूमि की यात्रा का पुण्य तो अर्जित होगा ही, अहंकार गलकर नवयुग के अनुरूप- देव मानव बनने, युग-नेतृत्व में भागीदारी, साधु व ब्राह्मण बनने तथा स्वास्थ्य लाभ जैसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ भी इसके साथ जुड़ी हैं । ब्राह्मण की वाणी तभी फलित होती है, जब वाणी एवं रसना पर उसका नियंत्रण हो । जो बोले वह सोद्देश्य हो और जिह्वा का संयम इतना हो कि जो मिल जाय, उसी में संतोष कर ले । यही कठोर व्रत लेकर घर-घर अलख जगाने, शान्तिकुञ्ज के साइकिल तीर्थयात्री वासंती संकल्पों के साथ निकल पड़े हैं । ब्राह्मण से अर्थ है, वे सभी जिसमें पुण्य-परमार्थ की भावना जिन्दा हो, तितिक्षा का माद्दा हो तथा अपने समय के सुनियोजन की महत्ता, युग के अनुरूप आवश्यकताओं को पूरा करने में ही वे अपना उद्देश्य समझते हों । उन सभी से अनुरोध है कि युग देवता के आमंत्रण को स्वीकार करें एवं विशाल भारत की इस विराट् तीर्थयात्रा के भव्य आयोजन में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करें ।

वस्तुत: यह एक नया निर्धारण है कि प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत तीर्थ प्रव्रज्या की योजना में साइकिलों को भी भार वाहन के रूप में सम्मिलित रखा जाय । इसके लिए परिव्राजकों से कहा गया है कि पाँच-पाँच की टोलियों में पाँच साइकिलों पर निकलें । धर्म प्रचार के प्रयोजन से जन-जन को अवगत कराने वाले आच्छादन धारण करें । सभी के वस्त्र पीले रंगे हुए हों । प्रचार उपकरण साथ में रहें । प्रचार-कार्य में संगीत की प्रमुखता रहे । इन पाँच में कम से कम दो तो सामान्य संगीत जानते ही हों । सस्ता और हल्का वाद्य ढपली, मजीरा और करताल जैसे हो सकते हैं । यह साथ रखे जायें । उद्देश्य के अनुरूप भजनों का अभ्यास हो । प्रवचन प्रज्ञा पुराण कथा के रूप में हो । रात्रि को जहाँ विश्राम हो वहाँ कथा कीर्तन के, प्रज्ञा पुराण, युग संगीत के माध्यम से स्थानीय जनसमुदाय को युग चेतना से अवगत, अनुप्राणित किया जाय ।

• क्षेत्रीय तीर्थयात्रा के लिए पाँच प्राणवान प्रचारकों की एक मण्डली गठित की जाय । उनके लिए पाँच साइकिलों का प्रबन्ध किया जाय । वे निजी भी हो सकती हैं और माँगकर या किराये पर भी ली जा सकती हैं । न्यूनतम पन्द्रह दिन का प्रवास चक्र बने । सबेरे हवन करके आगे चला जाय । हवन सामग्री साथ हो । पाँचों प्रचारक स्वयं हवन करें । स्थानीय लोगों को दर्शक, सहयोगी के रूप में आस-पास बिठा लें । देव पूजन के आरम्भिक और पूर्णाहुति, परिक्रमा जैसे अन्तिम हवन कृत्यों में उन्हें सम्मिलित रखें । वेदिका मिट्टी की बना लें ।

४.४७ सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रांति कैसे ?

हवन के उपरान्त शीघ्र से शीघ्र निकला जाय । रात्रि को जहाँ पहुँचना है वहाँ के मार्ग में जितने गाँव आते हों उनमें रुकते-रुकते चला जाय । दीवारों पर आदर्श वाक्य लेखन स्टेन्सिलों या रंगीन चाक मिट्टी के सहारे किया जाता रहे । जहाँ कुछ व्यक्ति एकत्रित हों वहाँ दो चार भजन सुना दिये जायें और अपना अभिप्राय संक्षिप्त भाषण में सुना दिया जाय । इस प्रकार बीच के गाँवों को पार करते हुए विराम स्थान पर पहुँचा जाय । वहाँ नियत स्थान पर साइकिलों के साथ चलने वाली चित्र-प्रदर्शनी अपने ही लोगों में से एक के द्वारा लगाना प्रारम्भ कर दिया जाय । इस हेतु वहाँ चार बजे तक पहुँच जाना आवश्यक है, ताकि सूर्यास्त तक चित्र प्रदर्शनी दिखा लें । रात्रि को प्रज्ञा पुराण की कथा और संगीत कीर्तन हो । नित्य यही कार्यक्रम चलता रहे ।

प्रवास क्रम निर्धारित करने के उपरान्त गाँवों के निवासियों को टोलियों के पहुँचने की पूर्व सूचना भिजवा दी जाय । विराम स्थान पूर्व निर्धारित हो । स्थानीय लोग ऐसा प्रबंध कर रखें कि नियत स्थान एवं समय पर जनता एकत्रित हो सके । रात्रि विश्राम एवं स्थल के लिए उपयुक्त स्थान चाहिए । इसलिए उसका निर्धारण पहले से ही होना चाहिए और प्रयोजन में रस लेने सहयोग देने के लिए कुछ लोगों को पहले से ही प्रोत्साहित कर लेना चाहिए अन्यथा नये स्थान पर बिना पूर्व सूचना या स्थानीय सहयोग के जा पहुँचने पर सारी व्यवस्था टोली को ही बनानी पड़े तो बात बनेगी नहीं । सफलता संदिग्ध रह जायगी ।

योजना का प्रबंध स्वयं करने की तैयारी रखी जाय । खिचड़ी अमृताशन इसके लिए सुलभ पड़ता है । पाँच व्यक्तियों के लायक खिचड़ी पका सकने योग्य एक भगोनी साथ रखी जाय । चावल-दाल एक दिन के लायक साथ हो । अगले गाँव के लिए रास्ते में से फिर खरीदते चला जाय ताकि अनावश्यक बोझ न लादना पड़े । ईंधन, उपले तो रास्ते में से भी बीनते और थैले में भरकर ले चलने में कोई कठिनाई न पड़ेगी । यदि कहीं स्थानीय निवासी भोजन का प्रबंध श्रद्धापूर्वक कर दें तो उसे स्वीकार करने मे कोई आनाकानी भी न की जाय । वैसे दोनों समय के लिए व्यवस्था अपनी ही रखकर चलना चाहिए । आवश्यक कपड़े तथा बर्तन साथ रहें । साइकिलों के कैरियरों पर दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ, चित्र प्रदर्शनी, संगीत उपकरण, लाउडस्पीकर, हवन सामिग्री आदि लेकर चलने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए । इसके लिए उपयुक्त थैले ऐसे लिए जायें जिनमें उपयुक्त सामान आसानी से रखा जा सके और टूटने, गिरने का भय न रहे । फोल्डर, साहित्य, गायत्री के चित्र आदि विक्रय हेतु भी साथ रखे जाने चाहिए ।

इस तीर्थयात्रा प्रचलन को अग्रगामी बनाने के लिए तैयारी यह की जा रही है कि दो संगीत के जानकार परिव्राजक शान्तिकुञ्ज से भेजे जायें, तीन स्थानीय हों । एक केन्द्र बने । इर्द-गिर्द के तीस-तीस किलोमीटर का प्रवास चक्र बनाया जाय । चित्र प्रदर्शनी, लाउडस्पीकर भी हरिद्वार के प्रचारक साथ लेकर चलें । एक केन्द्र-क्षेत्र पूरा होने पर ये दूसरे केन्द्र में चले जायें । इस प्रकार वे क्रमशः पन्द्रह-पन्द्रह दिन या न्यूनाधिक दिनों में एक-एक दिनों में एक-एक क्षेत्र पार करते हुए आगे बढ़ते चलें । स्थानीय परिव्राजकों में से पाँच तो टोली में चलें और दो आगे-आगे व्यवस्था बनाने के लिए बढ़ते चलें । इस प्रकार पाँच स्थानीय और दो हरिद्वार के कुल मिलाकर सात की टोली रहेगी । प्रबन्ध इससे कम में नहीं बन पड़ेगा । सातों के पास साइकिलें तो सुनिश्चित होनी ही चाहिए ।

साइकिलों का प्रबन्ध शान्तिकुञ्ज से हो रहा है । नई या आधी पुरानी साइकिल खरीदने की योजना है । वैसे साइकिलें स्थानीय लोग अपनी इस्तेमाल करें तो अधिक सुविधा रहेगी । वर्षों में एक बार एक महीने की या दो बार पन्द्रह-पन्द्रह दिन के यह प्रवास चक्र बन सकते हैं, लम्बी यात्रा पर निकलना हो तो अपने यहाँ से शान्तिकुञ्ज एक रास्ते से पहुँचने और वापस दूसरे रास्ते से इसी उपक्रम के साथ लौटने की योजना बन सकती है ।

जिन उद्देश्यों और कार्यक्रमों से इस तीर्थयात्रा में कथा-कीर्तन के माध्यम से जन-जन को अवगत कराया जाना चाहिए वे यह हैं:-

(१) युग तीर्थ गायत्री तीर्थ में लोग पहुँचें । एक महीने के, नौ दिन के या चार दिन के सत्र में प्रवेश प्राप्त करें । इधर से गुजरने वाले कम से कम इस तीर्थ का दर्शन अवश्य करें और यह समझने का प्रयत्न करें कि तीर्थों का उद्देश्य और स्वरूप क्या हो सकता है ? और वे युग समस्याओं के समाधान में क्या योगदान व सकते हैं ?

(२) तीर्थयात्रा के लिए स्थानीय लोगों में उत्साह उत्पन्न करना । गायत्री तीर्थ में जाकर बालकों के नामकरण, अन्नप्राशन, मुंडन, विद्यारम्भ, दीक्षा, यज्ञोपवीत आदि संस्कार कराना । बड़ों के लिए जन्म दिवसोत्सव, विवाहदिवसोत्सव मनाने के लिए यहाँ पहुँचना श्रेयस्कर है । उत्तराखण्ड यात्री निर्विघ्न यात्रा के लिए आशीर्वाद लेकर जा सकते हैं ।

(३) स्वाध्याय मण्डलों की स्थापना उनके द्वारा प्रज्ञा साहित्य पढ़ाने, स्लाइड प्रोजेक्टर, टेप रिकॉर्डर के माध्यम से सत्संग क्रम चलाने आदि की पंचसूत्री योजना कार्यान्वित कराई जाय ।

(४) सूर्योदय के समय पाँच मिनट की मौन उपासना वाले महाअनुष्ठान से अधिकाधिक लोग भागीदार बनें । हर घर में गायत्री चित्र स्थापना तथा हर सदस्य द्वारा उसका नमन-वंदन करने की परम्परा चले । पञ्चशीलों की प्रतिष्ठापना का प्रयास रहे ।

(५) दीवारों पर आदर्श वाक्य लेखन तथा घरों में आदर्श वाक्य टाँगने, स्टीकर चिपकाने का प्रचलन बढ़े ।

(६) जन्म दिवसोत्सव के माध्यम से परिवार निर्माण गोष्ठियों का प्रचलन हो । नवरात्रि एवं अन्य पर्व मनाकर धर्मतंत्र से लोकशिक्षण का क्रम आगे बढ़े ।

(७) शिक्षा प्रसार के लिए पुरुषों की रात्रि पाठशालाएँ, महिलाओं का अपरान्हशालाएँ चलें । दो घंटे की बाल संस्कार पाठशाला निःशुल्क ट्यूशन पढ़ाने के रूप में चले । इनमें सुसंस्कारिता संवर्धन की शिक्षा अनिवार्य रूप से समाविष्ट रहे ।

(८) व्यायामशालाओं की स्थापना । खेलकूदों का प्रचलन । आसन, प्राणायाम वाले प्रज्ञा व्यायाम का प्रशिक्षण । सामूहिक श्रमदान से स्वच्छता अभियान ।

(९) हरीतिमा संवर्धन । तुलसी का थावला घर आँगन में लगाने का उपक्रम । घरेलू शाक-वाटिका एवं पुष्प-वाटिका उगाना ।

(१०) दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन । ऊँच-नीच, पर्दाप्रथा, भिक्षा व्यवसाय, मृतक भोज, नशा आदि कुप्रचलनों की हानियाँ समझाना और उन्हें छोड़ने के लिए सहमत करना । खर्चीली शादियाँ हमें दरिद्र और बेईमान बनाती हैं । इस तथ्य से जन-जन को अवगत कराना । जिनके लिए संभव हो उन्हें शान्तिकुञ्ज में ऐसे विवाह कराने के लिए प्रोत्साहित करना ।

उपरोक्त दसों सूत्रों को प्रज्ञा पुराण एवं युग संगीत के कथा-कीर्तन के माध्यम से कहते हुए उन्हीं में से उभारे जा सकते हैं । जहाँ इस तीर्थयात्रा प्रचलन के लिए उत्साह उभरे वहाँ के एक दो व्यक्ति एक महीने की कल्प साधना के साथ इसका भी शिक्षण प्राप्त कर लें ।

पापों के प्रायश्चित और पुण्य-परमार्थ का सञ्चय के दोनों ही प्रयोजन इस तीर्थयात्रा प्रक्रिया से सम्पन्न होते हैं । प्रज्ञा परिजनों को उपरोक्त धर्म प्रचार की पदयात्रा की व्यवस्था बनाने और अन्यान्यों को इनमें सम्मिलित करने के लिए परिपूर्ण उत्साह के साथ प्रयत्न करना चाहिए ।

* * *

शांतिकुंज की प्राणवान प्रशिक्षण प्रक्रिया

कार्यकर्त्ताओं का प्रशिक्षण

युद्ध मोर्चे पर सफलता प्राप्त करने के लिए देशभक्ति की भावना, स्वस्थ शरीर, मनोबल, शौर्य, साहस आदि सद्गुणों की आवश्यकता है पर उतने भर से कोई व्यक्ति सेनानायक नहीं बन सकता, इसके लिए उसे युद्ध विद्या की बारीकियाँ, उन गतिविधियों की व्यावहारिक जानकारी होनी चाहिए। कई वर्षों तक लगातार मनोयोगपूर्वक शिक्षा प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही उसे युद्ध मोर्चा सँभाल सकने का अधिकारी माना जाता है। डॉक्टर, इन्जीनियर, कलाकार आदि सभी वर्ग अपने-अपने विषय की, देर तक शिक्षा प्राप्त करते हैं इसके उपरान्त ही वे अपना व्यवसाय ठीक प्रकार सँभाल पाते हैं।

युग निर्माण अभियान के उमड़ते हुए प्रवाह को सँभालना और उसे दिशा देना अपने आप में एक बड़ा काम है। लोक-नेतृत्व एक जटिल कला है। उसमें निर्जीव मशीनों से नहीं वरन् सजीव मनुष्यों से पाला पड़ता है और विरोधी को भी सहयोगी बनाने का, मूर्छित को गतिवान बनाने का कार्य पूरा करना होता है। साधनों की जहाँ कोई व्यवस्था नहीं, वहाँ उन्हें उपलब्ध कराके कुछ से कुछ कर दिखाने का चमत्कार करना होता है। लोक नेतृत्व कर सकने वाले सुयोग्य और सुलझे हुए व्यक्ति हमें आज ही तैयार करने चाहिए ताकि कल की आवश्यकता को ठीक तरह पूरा किया जा सके।

यह कार्य बहुत पहले ही आरम्भ होना चाहिए था। मगर अब तो उस आवश्यकता की पूर्ति अनिवार्य हो गई है। संगठन की आवश्यकता और गतिविधियों की तीव्रता आँधी और तूफान की तरह बढ़ रही है। प्रवाह और उफान तो कोई दिव्य शक्ति ला रही है, उसकी चिन्ता नहीं करनी है चिन्ता इतनी भर करनी है कि विश्व इतिहास के इस सबसे महत्वपूर्ण अभियान को सँभालना, व्यवस्थित और नियंत्रित करना जिस प्रकार सम्भव हो उसका प्रबन्ध करना चाहिए। अभियान की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है-सुयोग्य और प्रशिक्षित अनुभवी और कुशल लोकनेताओं की जो इस अभियान के महामत्त गजराज को सही दिशा में चलाने की भूमिका कुशलतापूर्वक निभा सकें अन्यथा वह अव्यवस्थित और अनियंत्रित होकर अवांछनीय दिशा में फूट सकती है।

व्यक्तिनिर्माण, परिवारनिर्माण और समाजनिर्माण का कार्य बहुत बड़ा है। स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज की अभिनव रचना के लिए हर क्षेत्र में विशाल क्रिया-कलाप खड़े करने होंगे। बौद्धिक क्रान्ति, नैतिक क्रान्ति तथा सामाजिक क्रान्ति की दूरगामी विधि-व्यवस्था, चिनगारी से आरम्भ होकर दावानल का रूप धारण करने जा रही है उसे ठीक दिशा देनी पड़ेगी। व्यक्ति में देवत्व का उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण स्वप्न नहीं एक प्रत्यक्ष सत्य है जो अगले दिनों आँखों के सामने मूर्तिमान होने के लिए अनायास ही दौड़ा चला आ रहा है। इस युग-संध्या में प्रहरी और व्यवस्थापकों की जिम्मेदारी बहुत बढ़ गई है।

कार्य की विशालता और युग निर्माण की जिम्मेदारी को देखते हुए उसका बौद्धिक और व्यावहारिक शिक्षण डाक्टर और इन्जीनियरों की तरह पाँच वर्ष का तो होना चाहिए । इतना अवकाश न हो तो बच्चों को पढ़ाने वाले ट्रेन्ड मास्टरों के डिप्लोमा कोर्स की तरह वह पढ़ाई एक वर्ष तो होनी ही चाहिए थी पर देखते हैं काम रुक गया है। तात्कालिक आवश्यकता आ पड़ने पर आपत्तिकाल में तीन महीने की ट्रेनिंग देकर रंगरूटों को रायफल थमा दी जाती है और युद्ध मोर्चे पर भेज दिया जाता है। इन दिनों ऐसी ही आवश्यकता आ पड़ी है। पहले तो जो थे उन्हीं से काम चल रहा था पर अब तो लोक नेतृत्व करने में समर्थ सुयोग्य व्यक्तियों की एक बड़ी सेना तत्काल चाहिए।

कार्य की महत्ता को देखते हुए आपत्तिकालीन प्रशिक्षण की तरह शांतिकुंज, हरिद्वार में छोटे-छोटे शिविरों की शृंखला आरम्भ की गई है।

प्रशिक्षण शिविरों की व्यवस्था

युग निर्माण परिवार के प्रत्येक सक्रिय सदस्य को-कर्मठ कार्यकर्त्ता को, कर्मयोगी वानप्रस्थ को, समर्थ सहयोगी को विशेष रूप से प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये आमन्त्रित किया जाता है, इसे आवश्यक माना जाना चाहिए और अनिवार्य रूप से उनमें सम्मिलित होने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

यों लेखों से, पत्रिकाओं से नवनिर्माण का क्रिया-कलाप बहुत समय से बताया-समझाया जाता रहा है। पाक्षिक पत्रिका में छपने वाले समाचार, निर्देश, लेख आदि यह बताते, समझाते और अनुभव कराते रहते हैं कि नैतिक क्रान्ति की, बौद्धिक क्रान्ति की-सामाजिक क्रान्ति की बहुमुखी सृजन-प्रक्रिया को आगे बढ़ाये जाने के लिए बहुमुखी कार्य-पद्धति अपनानी पड़ती है। उसमें अनेक उतार-चढ़ाव आते हैं। पढ़ लेने से बहुत-सी जानकारी तो

होती है पर अनुभव एवं अभ्यास का अपना मूल महत्व है। कागजों पर बौद्धिक जानकारी पर्याप्त नहीं, उसके बल-बूते पर कोई बड़ा काम सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं किया जा सकता। व्यावहारिक शिक्षण का अभाव ऐसा है जिसकी पूर्ति अन्य किसी प्रकार से नहीं की जा सकती।

व्यक्तित्व का निर्माण एक समस्या है। ओछा-अधूरा और बचकाना व्यक्ति न स्वयं सुख-शान्ति से रहता है और न सम्बद्ध लोगों को चैन से बैठने देता है। भारभूत जिन्दगी जीता है और धरती का भार बनकर रहता है। आत्म विश्लेषण, चिन्तन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण, आत्म-विकास की चतुर्विधि प्रगति के आधार पर ही आत्म-बल बढ़ाया जाता है और महामानव बन सकने की दिशा में कदम बढ़ाया जाता है। यह व्यावहारिक शिक्षा इन तीन महीनों के शिविरों में रहेगी। आशा की जानी चाहिए कि इस प्रशिक्षण को प्राप्त करने के बाद विद्यार्थी अपनी जीवन व्यवस्था को इस स्तर की बना सकेंगे कि न केवल समुन्नत व्यक्तित्व की आधारशिला बनने वरन् नवनिर्माण आन्दोलन का सफल नेतृत्व कर सकने योग्य प्रतिभा भी विकसित कर सकेंगे।

प्रशिक्षण में परिवार को सुसंस्कृत, व्यवस्थित एवं समुन्नत बनाने के लिए जिस दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप का अपनाया जाना आवश्यक है उसकी रीति-नीति इसी प्रकार समझाई जाएगी जिसमें अड़चन या असमंजस की गुंजायश न रहेगी। आशा की जानी चाहिए कि पारिवारिक क्लेश में दु:खी लोग इस शिक्षा को प्राप्त करने के उपरान्त उन सूत्रों को प्राप्त करके जाएँगे जिनके आधार पर घर में तपोवन के सुखद दृश्य देखे जाते हैं और परिवार के मंगलमय उद्यान का आनन्द लिया जाता है।

नवनिर्माण आन्दोलन के त्रिविध कार्यक्रम हैं । (१) प्रचारात्मक (२) रचनात्मक (३) संघर्षात्मक। इनमें से प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत अनेकानेक गतिविधियों का समावेश है। स्थानीय स्थिति के अनुरूप साथी-सहयोगियों की क्षमता के आधार पर, स्थान-स्थान पर विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों का आरंभ और संचालन करना पड़ेगा। इसके लिए पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं, जानकारी व्यावहारिक होनी चाहिए। शिविरों की उपरोक्त शिक्षा प्रक्रिया में यह सब अभिनव पद्धति से सिखाया जाएगा। ड्रामा करने से पूर्व पात्रों को रिहर्सल करना पड़ता है। प्रशिक्षण शिविरों की शैली यही है । प्रत्येक प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक कार्यक्रम के रिहर्सल होते रहेंगे। दर्शक कोई भी नहीं रहेगा। हर विद्यार्थी को उस व्यवस्था में भाग लेना पड़ेगा और यह अनुभव प्राप्त करना पड़ेगा कि किस योजना को कार्यान्वित करने में किस कठिनाई का सामना करना पड़ता है और उसका समाधान कैसे होता है?

उस पुस्तक में स्थान-स्थान पर अनेक अवरोधों से जूझने और अनेक क्रिया-कलाप आरम्भ करने की चर्चा है उनको कहाँ, किस स्थिति में, किन लोगों द्वारा, कितनी मात्रा में, किस प्रकार आरम्भ, अभिवर्द्धन किया जा सकता है। इसकी बारीकियाँ यदि विदित होंगी तो फिर असफलता का कोई कारण न रह जाएगा। जिस कार्य में भी हाथ डाला जायगा, क्रमबद्ध रूप से सफल होता चला जाएगा।

जन नेतृत्व करने वाले के लिए अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने की कला आनी ही चाहिए। यह शिक्षण इन शिविरों में इस हद तक पूरा हो सकता है कि शिक्षार्थी बिना झेंप-झिझक के धाराप्रवाह रूप में अपनी बात कहता चला जाय। उस वक्तृत्व में इतने तथ्य हों कि सुनने वाले उसे स्वीकार कर सकें। प्रवचन ही नहीं मिशन की भावनात्मक कार्यपद्धति में संगीत का भी बहुत हद तक प्रयोग होगा। नये सहगान कीर्तन लिखाये गये हैं और उनमें उन सभी तथ्यों का समावेश किया है जिन्हें लेकर युग निर्माण योजना कार्यक्षेत्र में उतरी है। संगीत शिक्षा भी इस प्रशिक्षण में सम्मिलित है । जिनमें संगीत के उपयुक्त मानसिक बोध नहीं है उन्हें छोड़कर शेष उपयुक्तता की कसौटी पर सही उतरने वाले सभी शिक्षार्थियों को-सहगान कीर्तन के चौपाई, दोहों की तर्ज राधेश्याम की तथा कुछ और दो चार तर्जों के गाने-बजाने का अभ्यास करा दिया जाना संभव है। संगीत शास्त्र की दृष्टि से यह शिक्षा नगण्य भले ही हो पर मिशन के मंच से लोक शिक्षण के उद्देश्य की पूर्ति इतने भर से हो सकती है।

आगले दिनों हर सामान्य शाखा को समर्थ शाखा के रूप में विकसित होना होगा। शांतिकुंज का एक छोटा नमूना बनकर अपने समीपवर्ती क्षेत्र को संभालना होगा। जितना क्षेत्र अब तक संभाला, जगाया गया है उसे भी वर्तमान शाखाओं को ही सौंप दिया जायगा और मिशन इस क्षेत्र में कदम बढ़ायेगा जहाँ युग परिवर्तन की प्रकाश किरणें अभी तक नहीं पहुँची हैं हर समर्थ शाखा को अपने यहाँ चल पुस्तकालय, स्लाइड प्रोजेक्टर, लाउडस्पीकर, टेप रिकार्डर, संगीत सरंजाम, यज्ञ आयोजन आदि उपकरणों की आवश्यकता पड़ेगी और उस माध्यम से अनेक प्रवृत्तियों का आरम्भ, अभिवर्द्धन, संचालन करना पड़ेगा। इसकी साङ्गोपांग शिक्षा इन शिविरों की शिक्षण शृंखला में दी जा सकेगी।

लोक-शिक्षण के लिए अपनी विशिष्ट शैली में धर्म-तन्त्र को माध्यम बनाया गया है। षोड्स संस्कारों के माध्यम से परिवार शिक्षण, जन्मदिन के माध्यम से आत्मनिर्माण, विवाह दिन के सहारे दाम्पत्य जीवन का, सुदृढ़ीकरण, पर्व आयोजनों को लेकर सामाजिक पुनः निर्माण, सत्य नारायण कथा के माध्यम से नीति और सदाचार का व्रत धारण कराने की सफल योजना को आगे और भी अधिक गति दी जानी है। रामचरितमानस और कृष्णचरितमानस के साप्ताहिक धर्मानुष्ठान एक शिविर समारोह का रूप धारण करेंगे। सात दिन तक कार्यकर्त्ताओं का, सदस्यों का शिविर भी चलता रहे और जनसाधारण को कथा का आनन्द भी मिलता रहे तो लोकशिक्षण की सर्वाङ्गीण आवश्यकता का प्रयोजन पूरा होता रहेगा। इस पक्ष को अगले दिनों और भी अधिक विकसित किया जाना है। गायत्री यज्ञों के माध्यमों

से जिस प्रकार अब तक धर्म प्रवृत्तियों का उभार, सत्प्रवृत्ति सम्पन्न सेवाभावी लोगों का संगठन, देव-दक्षिणा में दुष्प्रवृत्तियों का परित्याग, युग समस्या पर सही मार्गदर्शन करने वाले लोकशिक्षण से यह चारों ही प्रयोजन भली प्रकार पूरे होते रहते हैं, आगे इस प्रयास में और भी उत्साह उत्पन्न होगा।

धर्मतन्त्र के माध्यम से लोकशिक्षण की, अपनी रीति-नीति अनोखी है। इसमें पंडा-पुजारियों की घात लगती नहीं इसलिए वे प्रायः रुष्ट और विरुद्ध रहते हैं। यह मंच हमीं लोगों को सँभालना होता है। अस्तु, उपरोक्त सभी कर्म-काण्ड की शिक्षा हमें स्वयं ही लेनी होती है। स्वयं ही इस विधि-व्यवस्था की जिम्मेदारी उठानी होती है। न केवल पुरोहित की भूमिका अपितु इन सारे क्रिया-कलापों की भूमिका बनाने से लेकर व्यवस्था बनाने तक का उत्तरदायित्व स्वयं ही उठाना पड़ता है। इसकी सांगोपांग शिक्षा इन्हीं कार्यकर्त्ता प्रशिक्षण शिविरों में सम्पन्न की जाती है।

मिशन की गतिविधियों को व्यापक कैसे बनाया जाय, संचालक कार्यक्रमों में प्रखरता कैसे लाई जाय, साथियों का साहस, उत्साह कैसे बढ़ाया जाय ? जैसे अनेक प्रश्नों की सार्थकता का समाधान इन प्रशिक्षण शिविरों में भली प्रकार मिल जाता है। अतिरिक्त अन्य ऐसी अनेक बातें हैं जो समय पर ही सामने आती रहती हैं और उनकी विवेचना तथा समाधान अपने सामने किया जाता रहता है।

इस प्रकार के शिविरों की सुनिश्चित तिथियों की पूर्व सूचना मिशन की पत्रिकाओं में प्रकाशित कर दी जाती है। पत्र व्यवहार से भी इस सम्बन्ध की जानकारी ली जा सकती है। इन शिविरों में आने वालों को समय से पूर्व केन्द्र से स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए क्योंकि एक समय में सीमित शिक्षार्थियों को ही व्यक्तिगत अभ्यास का अवसर मिल सकता है। अतएव उनकी संख्या एक सीमा में ही रखनी पड़ती है। जिन्हें निकटवर्ती शिविर में स्वीकृति न मिल सके उन्हें अगले सत्र के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

अब तक अनुभवों के आधार पर यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह प्रशिक्षणक्रम कार्यकर्त्ताओं के लिए अनुपम सिद्ध होता है। प्रशिक्षण शिविर से लौटे हुए कार्यकर्त्ता की दिशा में महत्वपूर्ण कार्यों का प्रारंभ और सफल संचालन सम्भव हो जाता है कि अगले दिनों के अनुभव के साथ प्रशिक्षणक्रम की प्रगतिशीलता और भी बढ़ती चलेगी।

छह मास की उद्योग शिक्षा

आजीविका का प्रश्न जटिल से जटिलतम होता चला जाता है। शिक्षा नौकरी का उद्देश्य सामने रखकर पढ़ी जाती है। जब कम संख्या में शिक्षित थे तब तक तो यह संभव रहा पर अब शिक्षा का विस्तार तेजी से हो रहा है। स्कूल-कालेजों में दाखिला मिलना तक कठिन होता जा रहा है फिर इन पढ़ाई पूरी करके निकलने वाले सभी शिक्षितों को नौकरी कहाँ से मिले। सरकार के पास पहले ही आवश्यकता से अधिक कर्मचारी भरे पड़े हैं, रिटायर होने वाले मरने वालों की जो थोड़ी-सी जगहें खाली होती है उनमें इन सब को कैसे खपाया जाय ? उत्तर सर्वत्र नकारात्मक ही मिलता है। पाँच जगहों की आवश्यकता निकलती है, पाँच हजार उम्मीदवार पहुँचते हैं, ऐसी दशा में शेष को निराश ही होना पड़ता है।

कृषि भारत में हर परिवार पीछे बहुत कम पड़ी है। इसमें भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी उनके बँटवारे होते चले जाते हैं, छोटी जोतें लाभदायक नहीं हानिकारक होती हैं, ऐसी दशा में तीसरा उपाय उद्योग ही रह जाता है। हमारे शिक्षितों को उद्योगों की ओर ध्यान देना चाहिए।

युग निर्माण परिवार के कार्यकर्त्ताओं के उपयुक्त एक छोटा किन्तु महत्वपूर्ण उद्योग है प्रेस व्यवसाय। कम्पोज, छपाई, प्रूफ रीडिंग, बाइंडिंग, रबड़ की मुहरें, यह पाँच विभाग छापेखाने से सम्बन्धित हैं। कागजों की पहचान, कलात्मक डिजायनों के ढाँचे, व्यवस्था, काम लेना, पैसा वसूल करना, कर्मचारियों का रख-रखाव यह पाँच विभाग प्रेस के हैं। जिन्हें इन दसों का ज्ञान है, वे कहीं भी, कभी भी नौकरी प्राप्त कर सकते हैं अथवा पूँजी की व्यवस्था करके अपना निजी प्रेस खड़ा कर सकते हैं।

शिक्षा विस्तार के साथ प्रेसों की आवश्यकता बढ़ रही है । आशा की जाती है कि अगले दस वर्षों में अब की अपेक्षा भारत का प्रेस व्यवसाय कम से कम दस गुना बढ़ जाएगा। उसमें नये लाखों व्यक्तियों को रोटी-रोजी मिलने की पूरा संभावना है। देहातों में भी प्रेस लगेंगे, चलेंगे और उन क्षेत्रों की आवश्यकता पूरी करेंगे। इन दिनों जहाँ अन्य उद्योगों में नयी भर्ती के लिए रास्ता रुका पड़ा है वहाँ प्रेस उद्योगों में कम्पोजीटरों, मशीनमैनों की भारी माँग है। इस दिशा का जानने वाला कोई कभी बेकार रहता नहीं देखा गया वरन् लोभ देकर एक प्रेस के कर्मचारी दूसरे प्रेस द्वारा तोड़े-फुसलाये जाने की ही खींचतान चलती है।

युग निर्माण परिवार के शिक्षितों, बेकारों को प्रेस व्यवस्था सीखने का परामर्श दिया गया है और इसी दृष्टि से गायत्री तपोभूमि में छह महीने के शिक्षण का प्रबन्ध किया गया है। इस थोड़ी-सी अवधि में पढ़ाई इस तत्परता से चलाई जाती है कि शिक्षार्थी प्रेस की फैक्ट्री विभाग के पाँच और व्यवस्था विभाग के पाँच, कुल दस विषयों की समुचित जानकारी प्राप्त करके अपने समीपवर्ती प्रेसों में आसानी से परिवार निर्वाह के लायक नौकरी प्राप्त करलें।

जिनके पास दस-बीस हजार की पूँजी की व्यवस्था है, वे एक छोटा अपना निजी प्रेस खोल सकते हैं । इसमें अपने घर-परिवार के सभी वयस्कों को काम दे सकते हैं। कुछ हजार की पूँजी के प्रेस में कम से कम चार कम्पोजीटर, एक मशीनमैन, एक बाइंडिंग वाला, एक प्रूफ रीडर, व्यवस्थापक इस प्रकार प्रकार कम से कम सात व्यक्ति खप सकते हैं। यदि किसी परिवार में थोड़े शिक्षित

सात व्यक्ति हों तो उन सभी को घर में रहकर काम मिलता रह सकता है तथा वे नौकरी की तलाश में इधर-उधर भटकने की अपेक्षा एक साथ संयुक्त परिवार की तरह रह सकते हैं। सातों का श्रम और मुनाफे का लाभांश एक हजार रुपया मासिक से ऊपर ही निकलता है। इतने में एक छोटा कुटुम्ब मिलजुल कर निर्वाह कर सकता है। इन सात में स्त्रियाँ भी हो सकती हैं क्योंकि छापने के एक काम को छोड़कर शेष छह का काम बहुत सीधा रह जाता है। यह कार्य अन्य उद्योग व्यवसायों की तुलना में निश्चित रूप से अधिक सम्मानास्पद और कम जोखिम का है। इसमें मशीनों के अतिरिक्त न तो कारोबार में पूँजी फँसानी पड़ती है और न मन्दी-तेजी के कारण हानि होने का खतरा रहता है। एक प्रकार से इसे सहकारी श्रमजीवी उपार्जन ही कह सकते हैं।

स्वयं प्रेस व्यवसाय की निश्चित आजीविकाओं में स्थिर होकर लगनशील व्यक्ति अपने क्षेत्र में अन्य उद्योगों का संस्थान, संचालन, अभिवर्द्धन का विस्तृत आन्दोलन भी चला सकता है। यह अनेक को बेकारी से बचाने एवं आजीविका बढ़ाने में योगदान दे सकता है। युग निर्माण परिवार रात्रि पाठशालाओं और अपरान्ह पाठशालाओं का विशाल कार्यक्रम लेकर चला है। उसमें प्रौढ़ पुरुषों और महिलाओं की ऐसी व्यापक योजना है जिसके आधार पर देश से अशिक्षा को सफलतापूर्वक उन्मूलन किया जा सके और गृह उद्योगों के लिए हर जगह उत्साह एवं कार्यक्षेत्र-उत्पन्न किया जा सकें।

युग निर्माण परिवार के सक्रिय सदस्यों, कर्मठ कार्यकर्त्ताओं एवं कर्मयोगी वानप्रस्थों के तीन महीने के प्रशिक्षण इस आधार पर दिये जा रहे हैं कि वे प्रचारात्मक, रचनात्मक एवं संघर्षात्मक कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने को बौद्धिक, नैतिक एवं सामाजिक क्रान्ति में योगदान दे सकें। यह छह महीने की शिक्षा-प्रक्रिया उन नवयुवकों के लिए है जो अपनी पढ़ाई पूरी कर चुके हैं और आजीविका की तलाश में हैं उन्हे प्रेस व्यवसाय मुख्य रूप से सिखाया जा रहा है ताकि सर्वप्रथम अपनी समस्या का हल कर सकें पर उनसे भी यह आशा की जाएगी कि वे नवनिर्माण आन्दोलन में भी भाग लेंगे यह अपना बचा हुआ समय इस पुण्य-प्रयोजन के लिए अर्पण करेंगे। अस्तु, उनके लायक इन सेवा कार्यों का शिक्षण भी सम्मिलित रखा गया है जिन्हें वे आसानी से करते हैं।

प्रेस उद्योग की शिक्षा प्राप्त करने वाले शिक्षार्थियों से आशा की गई है कि वे अपने क्षेत्र में निरक्षरता अभियान में भाग ले। प्रौढ़ पाठशालाओं का संचालन करें। साथ ही पारिवारिक आवश्यकताएँ पूरी करने वाले, मुहल्ले में सह उत्पादन की प्रवृत्ति पैदा करने वाले, सहयोग समितियों के आधार पर उद्योग व्यवसायों का विस्तार करने वाले क्रिया-कलापों की प्रतिष्ठापना का नेतृत्व करें। इसी पुस्तक में न्यूनतम शिक्षा योजना का वर्णन किया गया है। उसे पढ़ाने वाले अध्यापक की योग्यता इन्ही शिक्षार्थियों में पैदा करदी जाएगी जो प्रेस व्यवसाय सीखने आयेंगे। इसी प्रकार शाक-वाटिका, मधुमक्खी, बिस्कुट, लेमचूस, टॉफी बनाना, साबुन, मोमबत्ती, शरबत, सुगन्धित तेल, स्याहियों जैसे रसायनों का निर्माण, खिलौने बनाना जैसे उद्योगों की शिक्षा दे दी जाएगी जिसे वे अपने क्षेत्र में सिखाने तथा चलाने की जिम्मेदारी उठा सकें।

प्रेस व्यवसाय का आकर्षक एवं लाभदायक उद्योग छात्र अपने लिए तो सीखेंगे ही, साथ ही समाज सेवा की दृष्टि से शिक्षा विस्तार की-गृह उद्योगों के संस्थान की भी साथ-साथ अतिरिक्त योग्यता प्राप्त कर लेंगे। उन शिक्षार्थियों से यह आशा की जाएगी कि वे न केवल अपनी समस्या को हल करेंगे वरन् अपने क्षेत्र में इन उपयोगी-लोकोपयोगी क्रिया-कलापों के विस्तार में सहायका भी सिद्ध होंगे।

शान्तिकुंज की प्रगतिशील प्रशिक्षण प्रक्रिया

प्राचीनकाल में साधु-ब्राह्मण और वानप्रस्थ समुदाय शिक्षा एवं विद्या प्रचार कार्यों के लिए ही पूरी तरह समर्पित था। उनके आश्रमों में गुरुकुल आरण्यक चलते थे। जो व्यक्ति वहाँ नहीं पहुँच पाते थे, उन्हें ज्ञान लाभ देने के लिए वे उपाध्याय तीर्थयात्रा, पदयात्रा कार्यक्रम के अन्तर्गत गाँव-गाँव पहुँचते, घर-घर जाते और शाश्वत एवं समय धर्म के अनुरूप मार्गदर्शन करते थे। अब सद्ज्ञान प्रसार एवं सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन का वह तंत्र टूट गया। सर्वसाधारण को युगधर्म की शिक्षा मिलते रहने की दिव्यधारा भी सूख गई। यही कारण है कि लोकमानस में आदर्शवादी उत्कृष्टता का गहरा पुट बनाये रहने में भारी कमी पड़ गई। उस छूटे हुए प्रवचन को नये सिरे से आरम्भ कर पूरा करने के लिए कटिबद्ध युगनायक स्तर के व्यक्तियों को प्रशिक्षित करने का एक नया तंत्र खड़ा करने की भारी आवश्यकता थी। समय की इसी आवश्यकता को हरिद्वार के शान्तिकुंज आश्रम ने अपने स्तर पर पूरा करने का भागीरथी कार्य अपने हाथ में लिया है।

शान्तिकुंज, हरिद्वार में निम्नांकित प्रवृत्तियाँ चलती हैं-

(१) लोकसेवी कार्यकर्त्ताओं की आवश्यक शिक्षा और उन्हें कार्यक्षेत्र में उतारना।

(२) शिक्षा सम्वर्द्धन।

(३) स्वास्थ्य संरक्षण।

(४) कुरीति उन्मूलन।

(५) नारी-जागरण।

(६) सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन।

इन छहों प्रयोजनों की शिक्षा घुली-मिली चलती है। ऐसे सुयोग्य प्रशिक्षकों की व्यवस्था है, जो इन सभी की आवश्यकता पूर्ण कर सकें।

इन छहों की जानकारी इस प्रकार है-

५.५ सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?

लोकसेवी कार्यकर्ता प्रशिक्षण-

जिनमें लोकमंगल की सेवा-साधना केलिए उत्साह है, जो चरित्रवान्, अनुशासित जीने के लिए उद्धत हैं, उन्हें तीन महीने के उपर्युक्त शिक्षण पर बुलाया जाता है। ऐसे नर-नारी पच्चीस वर्ष से अधिक आयु के स्वस्थ, शिक्षित एवं अनुशासन निवाहने में प्रतिज्ञाबद्ध होने चाहिए।

उनके निवास, भोजन तथा प्रशिक्षण की नि:शुल्क व्यवस्था है। तीन महीने तक २५० विद्यार्थी उपर्युक्त अनेक लाभ उठाते रह सकें-ऐसी स्थिर व्यवस्था बना दी गई है। एक वर्ष में एक हजार लोकसेवी कार्यकर्ता तैयार करने और उन्हें कार्यक्षेत्र में भेजने की व्यवस्था है। निर्वाह वे कुटीर उद्योगों के सहारे करेंगे अथवा प्रज्ञा केन्द्र उनकी व्यवस्था मुट्ठी फण्ड के आधार पर कर देंगे। यह कार्यकर्ता जहाँ भी रहेंगे, वहाँ वैसा ही प्रशिक्षण स्वयं भी चलाने लगेंगे, जैसा कि उन्होंने शांतिकुंज में पाया है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत तीन महीने के चार सत्रों में एक हजार शिक्षार्थी शान्तिकुंज से प्रशिक्षित होकर निकलेंगे और वे यह उत्तरदायित्व स्वीकार करके अपने क्षेत्र में वापस लौटेंगे कि अपने को प्राप्त शिक्षा से न्यूनतम दस साथियों को प्रशिक्षित करेंगे। इस प्रकार हर साल एक हजार शान्तिकुंज में प्रशिक्षित हुए लोकसेवी शिक्षार्थी अपने-अपने क्षेत्रों में दस-दस और साथियों को प्रशिक्षित करके दस हजार की लोकसेवी शृंखला का गठन कर सकेंगे। आशा की गई है कि आगामी दस वर्षों में इस योजना के अन्तर्गत एक लाख लोकसेवी कार्य क्षेत्र में उतरेंगे। जन जीवन में प्रगतिशीलता का सर्वतोमुखी उत्साह उभारने में सफल हो सकेंगे। सभी अपने-अपने कार्यक्षेत्र बाँटेंगे और देश के कोने-कोने में छा जाने, युगचेतना का अलख जगाने में समर्थ होंगे।

लोकसेवी शिक्षार्थियों को निज की प्रचार योग्यता में निष्णात किया जाएगा। जिनमें तीन योग्यताएँ प्रमुख हैं-

(१) **भाषण कला**-बड़े आयोजनों में भाषण, छोटी गोष्ठियों में प्रवचन, व्यक्तिगत परामर्श में सद्‌भाव सम्वर्द्धन और आदर्शों के प्रति उत्साह का उभार।

(२) **सुगम संगीत**-लोकगायकों की प्रचलित लोक वाद्यों के सहारे अपने कार्यक्षेत्र में गीतवाद्य द्वारा भाव संवेदनाओं का उभार, दुष्प्रवृत्तिओं का उन्मूलन। संगीत को मूल धुरी बनाकर लोकशिक्षण का माध्यम अब उसे ही बनाया जा रहा है। उद्देश्य यह है कि लोकगीतों की शैली में कथानकों प्रगतिशील गीतों तथा प्रचलित वाद्यों के समन्वय से जन-जन तक युगचेतना का आलोक पहुँचाया जाय। इसके लिए परिव्राजक स्तर के प्रचारक, जो इस विद्या में पारंगत होंगे, यहाँ शिक्षित कर क्षेत्रों में भेजे जाएँगे, विभिन्न शक्तिपीठों में जाग्रति लायेंगे व घर-घर अलख जगाने का शंख फूँकेंगे। एक तरह से शांतिकुंज का वातावरण अब पूर्णत: संगीतमय बना दिया गया है।

(३) **धर्मतन्त्र से लोकशिक्षण**-कथाकीर्तन, दीप यज्ञ, पर्व संस्कार, हर्षोत्सव में धार्मिकता का पुट लगाते हुए युग चेतना के तत्वज्ञान में इस प्रकार गूँथना कि कर्म-काण्डों के माध्यम से लोकचेतना में प्रगतिशीलता का समावेश किया जा सके।

मौखिक प्रवचन के अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रचार माध्यम भी हैं, जिनके आधार पर और भी अच्छी तरह जनता को सरलतापूर्वक इकट्ठा किया जा सकता है और उन्हें युगधर्म के अनुरूप आवश्यक मार्गदर्शन किया जा सकता है इस सन्दर्भ में (१) स्लाइड प्रोजेक्टर-प्रकाश चित्र दर्शक, (२) टेपरिकार्डर-संगीत और प्रवचन सुनाने का माध्यम, (३) चित्र प्रदर्शनी, (४) वीडियो कैसिट-यह चार माध्यम ऐसे हैं, जिनके सहारे अधिक लोगों को कम समय में उपयोगी जानकारी दी जा सकती है। विचार क्रान्ति अभियान का, जनमानस परिष्कार का, सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन का कार्य इन माध्यमों से सरलता और सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

सेवा कार्यों की मुख्यत: चार धाराएँ हैं-

(१) शिक्षा संवर्द्धन, (२) स्वास्थ्य संरक्षण, (३) गरीबी उन्मूलन, (४) सत्प्रवृत्ति संवर्धन। ये सभी मूलत: सुसंस्कारिता स्वावलम्बन प्रधान हैं।

(१) **शिक्षा संवर्द्धन**-प्रौढ़ शिक्षा को प्राथमिकता दी गई है। पूरा कार्यक्रम इस विधा के अन्तर्गत इस प्रकार है-

(अ) अशिक्षित वयस्क नर-नारियों को पढ़ाने का प्रबन्ध एवं शिक्षार्थियों में उत्साह उत्पन्न करना।

(ब) शिक्षितों से विद्या ऋण चुकाने के लिए पढ़ाने हेतु समयदान प्राप्त करने का अभियान । हर भावनाशील शिक्षितों से पाँच अशिक्षितों को पढ़ाकर प्राथमिकशाला जितनी योग्यता अर्जित करा देने का आह्वान।

(स) स्कूली बच्चों के शेष समय में पाठ्यक्र[illegible] गृहकार्य अभ्यास।

(द) स्कूली बच्चों में स्काउटिंग, हरीतिमा संव[illegible] स्वच्छता आदि कार्यों में अभिरुचि का उत्पादन।

(य) ऐसे पुस्तकालयों की स्थापना जिन[illegible] जीवनोपयोगी प्रगतिशील समर्थक साहित्य घर-घर पहुँच[illegible] एवं वापस लाने की नि:शुल्क सेवा चलती रहे।

उपरोक्त कार्यों के लिए प्रौढ़ शिक्षाशालाओं की स्थापना, बाल संस्कारशालाओं को प्रारम्भ करना एवं पुस्तकालय तंत्र को घुमाने का प्रशिक्षण सिद्धान्त एवं व्यवहार रूप मे दिया जाएगा।

(२) **स्वास्थ्य संरक्षण**-इस विधा के अन्तर्गत निम्न पक्षो की जानकारी कराई जाती है।

(अ) स्वच्छता सम्बन्धी हर पक्ष की जानकारी।

(आ) संतुलित आहार का ज्ञान और प्रचलन।

(इ) प्राथमिक सहायता (फर्स्ट एड) के हर पक्ष की जानकारी व अभ्यास।

(ई) होम नर्सिंग का प्रशिक्षण।

(उ) स्काउटिंग का प्रशिक्षण।

(ऊ) घरेलू नुस्खों द्वारा, सर्वसुलभ जड़ी-बूटियों के सहारे सामान्य रोगों के उपचार का शिक्षण।

(ए) व्यायामशालाओं की स्थापना।

(ऐ) स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी समुचित ज्ञान।

(ओ) महिला कल्याण एवं शिशु-पालन पर विशेष रूप से ध्यान।

(औ) परिवार कल्याण की आवश्यकता का जन-जन को ज्ञान कराना।

(३) गरीबी उन्मूलन-देहात में बिखरे हुए अशिक्षित कृषिकर्मियों की ही अपने देश में बहुलता है। कृषि के लिए सीमित समय ही लगता है। शेष खाली पड़ा रहता है। इसका उपयोग कुटीर उद्योगों में किया जा सके तो खाली समय का उपयोग भी होगा और अपनाये गये उद्योगों द्वारा अतिरिक्त आजीविका भी मिलेगी। श्रम का सम्मान यदि अपने देशवासियों को करना आ जाये तो कई नये 'जापान' भारत में ही खड़े हो सकते हैं। स्वावलम्बन प्रधान शिक्षण का मूलभूत उद्देश्य यह है कि हम हर परिवार को श्रम परायण बनाकर इतनी आजीविका की व्यवस्था बना दें कि वे एक आदमी लोक-सेवा के निमित्त निकाल सकें। इस प्रकार यह शिक्षण बहुमुखी उपलब्धियों वाला है।

इस योजना का संचालन सूत्र हाथ में लेने वाले उद्योग कर्मियों के सम्पर्क में भी आते रहेंगे। इसमें दुहरा लाभ है।

कुटीर उद्योग भारत की परिस्थिति में ऐसे होने चाहिए जिनका उत्पादन स्थानीय क्षेत्र में ही खप सकें। उसे बेचने दूर-दराज के क्षेत्र में न जाना पड़े। इस प्रकार के लघु उद्योगों में 'खादी ग्रामोद्योग' विभाग द्वारा अपनाई गई अनेकों प्रक्रियाएँ शांतिकुंज के तीन मास वाले शिक्षण सत्रों में समाविष्ट की गई हैं।

इनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

(१) नव-निर्मित अधिक सूत्र कातने वाले चर्खों से सूत कातना।

(२) ऊन की कताई।

(३) करघों द्वारा कपड़ों, आसन, निवाड़ इत्यादि की बुनाई।

(४) सिलाई मशीनों द्वारा कपड़े सींना।

(५) कपड़ों की छपाई, रँगाई।

(६) स्वेटर व टोपे, मौजे इत्यादि बुनना।

(७) मशीन से चलने वाली तेल धानी से मूँगफली, तिलहन, सरसों आदि का तेल निकालना। अवशिष्ट से पोषक आहार बनाना।

(८) मधुमक्खी पालन।

(९) फोटोग्राफी।

(१०) स्क्रीन प्रिंटिंग के स्टीकर्स इत्यादि बनाना।

(११) छोटी मुद्रण प्रेस।

(१२) रबर की मुहरें बनाना।

(१३) साबुन, वाशिंग पाउडर बनाना।

(१४) मोमबत्ती, पेन्सिलें, चाक, स्याहियाँ बनाना।

(१५) चोकरयुक्त आटे की डबल रोटी व बिस्कुट बेकरी में बनाना।

(१६) फाउण्टेन पेन, वाल-पैन बनाना।

(१७) आलू चिप्स, लेमन ड्राप्स कन्फेक्शनरी की वस्तुओं का निर्माण।

(१८) हैन्डपम्प लगाने, सुलभ शौचालय विनिर्मित करने का शिक्षण।

(१९) अगरबत्तियाँ, धूपबत्तियाँ बनाना।

(२०) निर्धूम चूल्हों को बनाने का शिक्षण।

इतने उद्योग आरम्भ में चालू किए गये हैं। अगले दिनों इनमें और भी वृद्धि किए जाने की सम्भावना है। यह सभी ऐसे हैं जो कृषि कार्य के साथ-साथ आसानी से चलाये जा सकते हैं।

(४) दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन एवं सत्प्रवत्ति संवर्धन।

(१) नशा निषेध की योजना।

(२) बिना दहेज और धूम-धाम की शादियों का प्रचलन।

(३) फैशन, जेवर और ठाठ बाट आदि अपव्ययों में कटौती करके बचत योजनाओं में पूँजी लगाना।

(४) सहकारी आन्दोलनों का विस्तार।

(५) वृक्षारोपण, हरीतिमा संवर्धन।

(६) परिवार नियोजन की आवश्यकता की जानकारी।

(७) पर्दा प्रथा का समापन, नारी जागरण व बाल कल्याण।

(८) जातिगत ऊँच-नीच का समाप्ति।

(९) अन्धविश्वासों, अवांछनीयताओं, कुरीतियों, मूढ़मान्यताओं की समाप्ति।

ऊपर वर्णित शिक्षा संवर्द्धन, स्वास्थ्य संरक्षण, कुटीर उद्योगों का प्रचलन एवं कुरीति का उन्मूलन, इन चारों विधाओं को शांतिकुंज के तीन माह वाले सत्रों में इस प्रकार समाविष्ट किया गया है कि शिक्षार्थी पूरे समय कार्य में संलग्न रहकर इन सभी विषयों का कामचलाऊ अभ्यास कर सके और घर जाकर उन्हें कार्यान्वित करने हेतु जो प्रक्रिया अपनानी है, उसमें प्रवीण बन सकें।

इस शिक्षा का अगला चरण है-नारी जागरण। इसके लिए महिलाओं को आगे किया जाएगा। नर पीठ पीछे रहेंगे। वे आवश्यक वातवरण बनाएँगे, साधन जुटाएँगे, कार्यक्षेत्र तैयार करेंगे पर अग्रिम मोर्चे पर नारी को ही रखेगे, ताकि भारत में संवेदनशील व शंकालु मन:स्थिति में उँगली उठाने की गुंजायश न रहे।

प्रगतिशील नारियाँ टोली बनाकर घरों में जाएँगी, महिलाओं को जाग्रत और प्रगतिशील रीति-नीति अपनाने के लाभ बतायेंगी। उनमें से जितनी सहमत हो सकेंगी उनके लिए प्रौढ़ शिक्षा का-सिलाई, घरेलू शाकवाटिका, मधुमक्खी पालन, अगरबत्ती बनाने जैसे संभव उद्योगों की शृंखला चलायेंगी, स्वावलम्बन के लिए स्थानीय परिस्थिति के अनुसार जो सम्भव होगा नारी को अपने अधिकार, कर्तव्य और प्रगति आयोजनों के लिए किस प्रकार जागरूक एवं उद्यत किया जाय। इसकी योजना स्थानीय

लोकसेवी कार्यकर्ता प्रशिक्षण-

जिनमें लोकमंगल की सेवा-साधना केलिए उत्साह है, जो चरित्रवान्, अनुशासित जीने के लिए उद्धत हैं, उन्हें तीन महीने के उपर्युक्त शिक्षण पर बुलाया जाता है। ऐसे नर-नारी पच्चीस वर्ष से अधिक आयु के स्वस्थ, शिक्षित एवं अनुशासन निवाहने में प्रतिज्ञाबद्ध होने चाहिए।

उनके निवास, भोजन तथा प्रशिक्षण की निःशुल्क व्यवस्था है। तीन महीने तक २५० विद्यार्थी उपर्युक्त अनेक लाभ उठाते रह सकें-ऐसी स्थिर व्यवस्था बना दी गई है। एक वर्ष में एक हजार लोकसेवी कार्यकर्ता तैयार करने और उन्हें कार्यक्षेत्र में भेजने की व्यवस्था है। निर्वाह वे कुटीर उद्योगों के सहारे करेंगे अथवा प्रज्ञा केन्द्र उनकी व्यवस्था मुट्ठी फण्ड के आधार पर कर देंगे। यह कार्यकर्ता जहाँ भी रहेंगे, वहाँ वैसा ही प्रशिक्षण स्वयं भी चलाने लगेंगे, जैसा कि उन्होंने शांतिकुंज में पाया है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत तीन महीने के चार सत्रों में एक हजार शिक्षार्थी शान्तिकुंज से प्रशिक्षित होकर निकलेंगे और वे यह उत्तरदायित्व स्वीकार करके अपने क्षेत्र में वापस लौटेंगे कि अपने को प्राप्त शिक्षा से न्यूनतम दस साथियों को प्रशिक्षित करेंगे। इस प्रकार हर साल एक हजार शान्तिकुंज में प्रशिक्षित हुए लोकसेवी शिक्षार्थी अपने-अपने क्षेत्रों में दस-दस और साथियों को प्रशिक्षित करके दस हजार की लोकसेवी शृंखला का गठन कर सकेंगे। आशा की गई है कि आगामी दस वर्षों में इस योजना के अन्तर्गत एक लाख लोकसेवी कार्य क्षेत्र में उतरेंगे। जन जीवन में प्रगतिशीलता का सर्वतोमुखी उत्साह उभारने में सफल हो सकेंगे। सभी अपने-अपने कार्यक्षेत्र बाँटेंगे और देश के कोने-कोने में छा जाने, युगचेतना का अलख जगाने में समर्थ होंगे।

लोकसेवी शिक्षार्थियों को निज की प्रचार योग्यता में निष्णात किया जाएगा। जिनमें तीन योग्यताएँ प्रमुख हैं-

(१) **भाषण कला**-बड़े आयोजनों में भाषण, छोटी गोष्ठियों में प्रवचन, व्यक्तिगत परामर्श में सद्भाव सम्वर्द्धन और आदर्शों के प्रति उत्साह का उभार।

(२) सुगम संगीत-लोकगायकों की प्रचलित लोक वाद्यों के सहारे अपने कार्यक्षेत्र में गीतवाद्य द्वारा भाव संवेदनाओं का उभार, दुष्प्रवृत्तिओं का उन्मूलन। संगीत को मूल धुरी बनाकर लोकशिक्षण का माध्यम अब उसे ही बनाया जा रहा है। उद्देश्य यह है कि लोकगीतों की शैली में कथानकों प्रगतिशील गीतों तथा प्रचलित वाद्यों के समन्वय से जन-जन तक युगचेतना का आलोक पहुँचाया जाय। इसके लिए परिव्राजक स्तर के प्रचारक, जो इस विधा में पारंगत होंगे, यहाँ शिक्षित कर क्षेत्रों में भेजे जाएँगे, विभिन्न शक्तिपीठों में जाग्रति लायेंगे व घर-घर अलख जगाने का शंख फूँकेंगे। एक तरह से शांतिकुंज का वातावरण अब पूर्णतः संगीतमय बना दिया गया है।

(३) **धर्मतन्त्र से लोकशिक्षण**-कथाकीर्तन, दीप यज्ञ, पर्व संस्कार, हर्षोत्सव में धार्मिकता का पुट लगाते हुए युग चेतना के तत्त्वज्ञान में इस प्रकार गूँथना कि कर्म-काण्डों के माध्यम से लोकचेतना में प्रगतिशीलता का समावेश किया जा सके।

मौखिक प्रवचन के अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रचार माध्यम भी हैं, जिनके आधार पर और भी अच्छी तरह जनता को सरलतापूर्वक इकट्ठा किया जा सकता है और उन्हें युगधर्म के अनुरूप आवश्यक मार्गदर्शन किया जा सकता है इस सन्दर्भ में (१) स्लाइड प्रोजेक्टर-प्रकाश चित्र दर्शक, (२) टेपरिकार्डर-संगीत और प्रवचन सुनाने का माध्यम, (३) चित्र प्रदर्शनी, (४) वीडियो कैसिट-यह चार माध्यम ऐसे हैं, जिनके सहारे अधिक लोगों को कम समय में उपयोगी जानकारी दी जा सकती है। विचार क्रान्ति अभियान का, जनमानस परिष्कार का, सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन का कार्य इन माध्यमों से सरलता और सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

सेवा कार्यों की मुख्यतः चार धाराएँ हैं-

(१) शिक्षा संवर्द्धन, (२) स्वास्थ्य संरक्षण, (३) गरीबी उन्मूलन, (४) सत्प्रवृत्ति संवर्धन। ये सभी मूलतः सुसंस्कारिता स्वावलम्बन प्रधान हैं।

(१) शिक्षा संवर्द्धन-प्रौढ़ शिक्षा को प्राथमिकता दी गई है। पूरा कार्यक्रम इस विधा के अन्तर्गत इस प्रकार हैं-

(अ) अशिक्षित वयस्क नर-नारियों को पढाने का प्रबन्ध एवं शिक्षार्थियों में उत्साह उत्पन्न करना।

(ब) शिक्षितों से विद्या ऋण चुकाने के लिए पढ़ाने हेतु समयदान प्राप्त करने का अभियान । हर भावनाशील शिक्षितों से पाँच अशिक्षितो को पढ़ाकर प्राथमिकशाला जितनी योग्यता अर्जित करा देने का आह्वान।

(स) स्कूली बच्चों के शेष समय में पाठ्यक्रम का गृहकार्य अभ्यास।

(द) स्कूली बच्चों में स्काउटिंग, हरीतिमा संवर्द्धन, स्वच्छता आदि कार्यों में अभिरुचि का उत्पादन।

(य) ऐसे पुस्तकालयों की स्थापना जिनसे जीवनोपयोगी प्रगतिशील समर्थक साहित्य घर-घर पहुँचाने एवं वापस लाने की निःशुल्क सेवा चलती रहे।

उपरोक्त कार्यों के लिए प्रौढ़ शिक्षाशालाओं की स्थापना, बाल संस्कारशालाओं को प्रारम्भ करना एवं पुस्तकालय तंत्र को घुमाने का प्रशिक्षण सिद्धान्त एवं व्यवहार रूप मे दिया जाएगा।

(२) स्वास्थ्य संरक्षण-इस विधा के अन्तर्गत निम्न पक्षों की जानकारी कराई जाती है।

(अ) स्वच्छता सम्बन्धी हर पक्ष की जानकारी।

(आ) संतुलित आहार का ज्ञान और प्रचलन।

(इ) प्राथमिक सहायता (फर्स्ट एड) के हर पक्ष की जानकारी व अभ्यास।

(ई) होम नर्सिंग का प्रशिक्षण।

(उ) स्काउटिंग का प्रशिक्षण।

(ऊ) घरेलू नुस्खों द्वारा, सर्वसुलभ जड़ी-बूटियों के सहारे सामान्य रोगों के उपचार का शिक्षण।

बगलें दिखाते, जी चुराते नजर आते हैं । संव्याप्त दुष्प्रवृत्तियों से व्यापक स्तर पर जूझने एवं सत्प्रवत्तियों का विस्तार करने के लिए प्राणहीन भवनों एवं साधनों की नहीं, पुरुषार्थी लोकसेवियों की आवश्यकता है जो इस विधा में निपुण हों; यह निपुणता लम्बे समय तक केन्द्र में रहकर सूत्रसंचालकों के मार्गदर्शन में ही सम्भव है।

हीरे को खराद पर चढ़ाने के लिए उसे कोयले की खदान में पड़े रहने देकर उसी रीति को अपनाना होगा, जो जौहरी अपनाते हैं। परिजनों में प्रतिभा तो है पर उसे निखारने का अवसर ही कभी नहीं मिला। इसके अभाव में वह सहयोग दे पाने में असमर्थ हैं, जिनकी कि उनसे अपेक्षा की जाती है; अच्छा होता चार या छह वर्ष के लिए अपने गिने-चुने प्रज्ञापुत्र समय निकालते एवं उच्चस्तरीय शिक्षण प्राप्त कर लोकसेवा के क्षेत्र में उतरते। समय की माँग कुछ ऐसी है कि इतनी लम्बी अवधि की अब प्रतीक्षा नहीं की जा सकती; अत: प्रतिभावान लोकसेवियों के उच्चस्तरीय प्रशिक्षण के लिए चार-चार माह के शिक्षण पाठ्यक्रम का इसी बसंत से शुभारम्भ किया गया है।

चौबीस हजार प्रज्ञा संस्थान, चौबीस हजार से भी अधिक स्वाध्याय मण्डल, अनगिनत प्रज्ञापुत्र एवं अपने राष्ट्र से बाहर चौहत्तर से भी अधिक देशों में स्थित परिजनों को जाग्रत-जीवन्त बनाये रखने के लिए कितने अधिक प्राणवान लोक-शिक्षकों की आवश्यकता पड़ती है, इनकी कल्पना भर की जा सकती है। शांतिकुंज में शिक्षण हेतु दो सौ के लगभग व्यक्तियों के लिए समुचित स्थान व अध्यापन व्यवस्था है। यदि प्रस्तुत शिक्षण दस वर्ष तक चलता रह सके तो इनकी पूर्ति सम्भव है।

'कुछ नहीं से कुछ अच्छा' की नीति अपनाते हुए हम अपने आध्यात्मिक जन्मदिवस पर एक ही अपील करते हैं कि परिजन अपने बीच से अथवा सम्पर्क परिकर से युवा-जीवट से भरा-संतुलित मन:स्थिति का, विभिन्न जिम्मेदारियों से मुक्त एक व्यक्ति चार माह के लिए यहाँ भेजें जो लौटने पर अपने यहाँ एकाकी मार्गदर्शक की भूमिका निभाते हुए सारी गतिविधियाँ चलाता रह सके एवं आस-पास के क्षेत्रों में सहयोगियों के माध्यम से अलख जगाने में सफल हो। अपने ही झंझटों में उलझे, कई कार्यों में व्यस्त व्यक्ति अभी जन-जागरण के कार्यों को कर पाने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं, मन में दु:खी भी होते हैं और हमारे ही नहीं जनता के भी कोपभाजन बनते हैं; सबसे गया बीता, रोग ग्रस्त अपनी ही मनोकामना पूरी कराने आया व्यक्ति क्या तो सीखेगा और क्या लोकशिक्षण करेगा ?

प्रस्तुत शिक्षण से समाज का लाभ यह है कि प्रतिभावान लोकसेवियों की पूर्ति इससे होगी। ये अपने-अपने केन्द्रों पर जाकर स्वयं अध्यापक की भूमिका निभाते हुए कई अन्य सहयोगी लोकशिक्षक भी तैयार कर सकेंगे, इस शिक्षण साधना में परमार्थ के साथ-साथ स्वार्थ पूर्ति भी है। कल्पसाधना सत्र शांतिकुंज के तीर्थ परिसर में प्रतिमाह दस-दस दिन के पूर्वक्रमानुसार चलते रहेंगे। हर परिजन को अपनी बैटरी चार्ज कराने के लिए वर्ष में न्यूनतम एक बार इन सत्रों में आना ही चाहिए।

अब पूरे गायत्री तीर्थ का रूपान्तर एक अभिनव विश्व- विद्यालय के रूप में कर दिया है। कल्प साधना सत्र भी आत्मिक कायाकल्प के साथ-साथ जीवन साधना शिक्षण का समन्वय होने के कारण इसके अंग ही हैं। कार्यकर्त्ता शिक्षण इससे इतर नहीं, इसी की उच्चस्तरीय इकाई है।

जाग्रत प्रतिभाओं के लिए आरम्भ किये जा रहे इस शिक्षण की मुख्य शाखाएँ एवं उनका विस्तार इस प्रकार है।

(१) संगीत-अभिनय के माध्यम से लोक शिक्षण-

संगीत हमारे देश में ही नहीं, सारे विश्व में विचार सम्प्रेषण का महत्वपूर्ण माध्यम माना जाता है। रोमाँ जिप्सियों के, हिप्पी लोगों के, नीग्रो अमेरिकन्स के डांस, संगीत, डिस्को इत्यादि के, रिकार्डों की लोकप्रियता से एक अन्दाज लगाया जा सकता है कि जनसाधारण में संगीत का माध्यम क्यों इतना अधिक प्रचलित है। संगीत से हृदय के तारों में भावभरी झंकार उत्पन्न होती है जो भाव प्रधान अध्यात्म से लेकर पराक्रम प्रधान शौर्य के प्रसंगों तक में अपनी भूमिका निभाती देखी जाती है।

विचार-क्रांति का प्रयोजन कला के इस संगीत-अभिनय मिश्रित माध्यम से भली-भाँति पूरा हो सकता है क्योंकि मिशन की आदर्शवादी मान्यताएँ सीधे अन्त:करण के गहन मर्मस्थल से सम्बन्धित हैं। विचारणाओं, तर्कों और प्रमाणों से जुड़कर मानसिक चातुर्य की सिद्धि भर कर पाती है । उनका भाव-संवेदनाओं से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं। आदर्शवादी उमंगें उभारने, उदारता, त्याग, बलिदान हेतु प्रेरित करने के लिए संगीत से बढ़कर को कोई श्रेष्ठ माध्यम नहीं हो सकता।

संगीत की वादन, गायन, अभिनय विद्या को भगवान शंकर के ताण्डव, श्रीकृष्ण के महारास एवं मीरा-चैतन्य जैसे सन्तों के नृत्य सहित संकीर्तनों में अपनाया गया देखा जा सकता है। शांतिकुंज के संगीत शिक्षण में भी प्रज्ञा प्रसार का माध्यम इन तीनों के समुच्चय को अपनाया गया है। जिनका गला साथ दे वे गायन में तथा जो उपकरणों का प्रयोग करने में समर्थ हों वे हारमोनियम, बैंजो, बोंगो, तबला, ढपली, मंजीरा, बंगाली तम्बूरा, गिटार आदि के माध्यम से एक पूरी आर्केस्ट्रा मण्डली बनाकर संकीर्तन को और भी आकर्षक, हृदयस्पर्शी बना सकते हैं। कलामंच के यों तो विभिन्न रूप हैं पर अपने यहाँ 'एकरान साँग' पद्धति को अपनाया गया है।

परिस्थितियों के अनुसार इस आन्दोलन द्वारा किया जाता रहेगा। साप्ताहिक गोष्ठियों, छोटे-बड़े आयोजनों के अनुसार ऐसा वातावरण बनाया जाता रहेगा, जिनमें देश की आधी जनसंख्या पिछड़ेपन से ग्रसित न रह पाए। शिक्षा, स्वावलम्बन एवं उस साहस की दिशा में अग्रसर हो, जिसके आधार पर नारी भी नर के सम्मुख पहुँचकर सर्वतोमुखी प्रगति का अंग बन सके।

शांतिकुंज के क्रिया-कालप व प्रभावी वातावरण को देखकर शासन ने यह उचित समझा कि उसके कार्यकर्ताओं का शिक्षण यहाँ चलना चाहिए। अधिकारियों के व्यक्तित्व परिष्कार एवं कार्यकुशलता बढ़ाने वाली शिक्षण प्रक्रिया हेतु गत तीन वर्षों से यहाँ विभिन्न विभागों के सत्र आयोजित होते रहे हैं। इनमें प्रमुख हैं-

(१) शिक्षा विभाग के प्राध्यापकों के नैतिक शिक्षा प्रशिक्षण शिविर।

(२) शिक्षा विभाग के ही अधिकारियों के व्यक्तित्व परिष्कार सत्र।

(३) प्रौढ़ शिक्षा विभाग के जिला स्तर के अधिकारी, परियोजना अधिकारी एवं पर्यवेक्षण अधिकारियों के जीवन मूल्य सम्बन्धित प्रशिक्षण सत्र।

(४) खादी ग्रामोद्योग विभाग के अधिकारियों, प्रबंधकों के प्रशिक्षण सत्र।

(५) परिवहन एवं मद्यनिषेध विभाग के विभिन्न अधिकारियों के मानव संसाधन विकास से सम्बन्धित सत्र।

(६) स्काउटिंग विभाग सुनियोजित प्रशिक्षण सत्र।

इन सत्रों में सम्मिलित होने वाले अधिकारीगणों पर इस शिक्षण का क्या प्रभाव पड़ा ? उन्होने अपने-अपने सम्पर्क क्षेत्र में किस उत्साह से सुधार एवं प्रशिक्षण कार्य आरम्भ किया। उनकी व्यक्तिगत कार्य-क्षमता बढ़ी, इसकी जानकारी लेने पर ज्ञात हुआ है कि शिविरों से लौटने के उपरान्त उन्होंने अपने-अपने कार्यक्षेत्र में उत्साहवर्द्धक कार्य किया। कार्य की प्रगति में तेजी आयी एवं प्रकारान्तर से न केवल सुशिक्षित, अनुशासित अधिकारी तंत्र विनिर्मित करने, अपितु राष्ट्रीय प्रगति के कार्यक्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान इस प्रशिक्षण द्वारा सम्पन्न हुआ।

युग नेतृत्व अगले दिनों की महती आवश्यकता है। इसके लिए जिस प्रकार के संस्कारित वातावरण की आवश्यकता है वह शांतिकुंज में उपलब्ध कराया गया है। परिजन अपना आवेदन भेजकर इस सत्र शृंखला हेतु अपना स्थान आरक्षित करा सकते हैं।

प्रतिभावान लोकसेवियों का उच्चस्तरीय शिक्षण, पाठ्यक्रम एवं नियमावली

बड़े काम एकाकी प्रयासों से कर दिखाना मात्र एक ही शक्ति का काम है जिसे अवतार चेतना के रूप में जाना जा सकता है। वस्तुतः संगठित प्रयत्नों से ही वह पुरुषार्थ बन पड़ता है जिसकी परिणति युगपरिवर्तन के रूप में देखी जाती है। राम एवं कृष्ण मानव काया के रूप में जन्मे एवं उन्हें भी रीछ-वानरों, ग्वाल-वालों का सहयोग लेना पड़ा। बुद्ध एवं गाँधी को भी अपने समय में जनशक्ति के सहयोग की आवश्यकता पड़ी। इसके बिना तो वे उस श्रेय-सौभाग्य के अधिकारी नहीं बन ही पाते जिसके कारण वे युग प्रवर्तक महामानव के रूप में याद किये जाते हैं।

समय के तकाजे एवं महाकाल की प्रताड़ना ने अपने सभी परिजनों से व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ सीमित कर समयदान-अंशदान को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करने हेतु राजी ही नहीं किया अपितु ऐसे समुदाय की मात्रा बढ़ाई है जिसमें प्रज्ञावतार के आलोक के विस्तार को ही युगधर्म माना एवं अपना पूरा समय देना स्वीकार किया है। महात्मा गाँधी के आह्वान पर अपनी पढ़ाई, नौकरी प्रलोभन सभी कुछ छोड़कर सहस्रों व्यक्ति स्वतंत्रता संग्राम के युगयज्ञ में अपनी आहुति देने कूद पड़े थे। वे दूरदर्शी थे अथवा वे जो अँग्रेजों से डरकर 'सर' की उपाधि पाकर घर में दुबके बैठे रह गए, इसका मूल्यांकन इतिहास देखकर किया जा सकता है। लगभग जैसा ही समय अभी भी है जब चारों ओर अंधतमिस्रा ही छाई दिखाई पड़ती है एवं राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रत्यक्ष रूप में ही नहीं परोक्ष रूप में भी आसुरी विभीषिकाओं का बाहुल्य अपने चारों ओर नजर आता है। समाधान एक ही नजर आता है कि ऐसे प्रकाश स्तम्भ अपार संख्या में खड़े हों जो अंधकार को दूर भगा सकने में समर्थ हो सकें। सुयोग्य प्रतिभावान लोक-सेवियों द्वारा ही सेवा-साधना का यह पुरुषार्थ निभ सकता है।

प्रज्ञा संस्थानों एवं स्वाध्याय मण्डलों की स्थापना अपने युग का एक प्रचण्ड पुरुषार्थ था, जो दृश्यमान रूप में सामने उभर कर आया। इसके लिए किये गए प्रज्ञा पुत्रों के प्रयास को स्तुत्य मानकर उनकी पीठ थपथपाने को जी चाहता है, लेकिन अगला कदम न उठा पाने की उनकी विवशता को देखकर अपने अन्दर भी एक हूक-सी उठती है कि क्या कारण है कि जीवट भरे महाकाल के वरद पुत्र सौंपे गए उत्तरदायित्व को क्रियान्वित कर पाने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं; ढाँचा तो खड़ा हो गया, जनता का सहयोग भी प्रचुर मात्रा में मिला फिर वे सक्रिय गतिविधियाँ क्यों नहीं चल पा रहीं जिनके बिना ये सारे प्रज्ञा संस्थान, स्वाध्याय मण्डल, प्रज्ञापीठ शाखाएँ प्राणहीन हैं?

पिछले बसन्त पर्व पर अपने मार्गदर्शक-गुरुदेव के दिशा निर्देश पर केन्द्र में कुछ नयी प्रवृत्तियाँ हमने आरम्भ की हैं, जिनका लक्ष्य एक ही है-तेजस्वी प्रतिभावान कार्यकर्त्ताओं का उच्चस्तरीय शिक्षण। बुद्ध के संघारामों में लोकसेवा का एक निश्चित अवधि का शिक्षण पाकर ही पारिवारिक समाज क्षेत्र में प्रवेश करते थे। अपने कार्यकर्त्ता में भावना भी है, उमंग भी। पर जहाँ अधिक समय के लिए समाज परिकर में उतरने की बात आती है, बहुसंख्यक

बगलें दिखाते, जो चुराते नजर आते हैं । संव्यास दुष्प्रवृत्तियों से व्यापक स्तर पर जूझने एवं सत्प्रवत्तियों का विस्तार करने के लिए प्राणहीन भवनों एवं साधनों की नहीं, पुरुषार्थी लोकसेवियों की आवश्यकता है जो इस विधा में निपुण हों; यह निपुणता लम्बे समय तक केन्द्र में रहकर सूत्रसंचालकों के मार्गदर्शन में ही सम्भव है।

हीरे को खराद पर चढ़ाने के लिए उसे कोयले की खदान में पड़े रहने देकर उसी रीति को अपनाना होगा, जो जौहरी अपनाते हैं। परिजनों में प्रतिभा तो है पर उसे निखारने का अवसर ही कभी नहीं मिला। इसके अभाव में वह सहयोग दे पाने में असमर्थ हैं, जिनकी कि उनसे अपेक्षा की जाती है; अच्छा होता चार या छह वर्ष के लिए अपने गिने-चुने प्रज्ञापुत्र समय निकालते एवं उच्चस्तरीय शिक्षण प्राप्त कर लोकसेवा के क्षेत्र में उतरते। समय की माँग कुछ ऐसी है कि इतनी लम्बी अवधि की अब प्रतीक्षा नहीं की जा सकती; अतः प्रतिभावान लोकसेवियों के उच्चस्तरीय प्रशिक्षण के लिए चार-चार माह के शिक्षण पाठ्यक्रम का इसी बसंत से शुभारम्भ किया गया है।

चौबीस हजार प्रज्ञा संस्थान, चौबीस हजार से भी अधिक स्वाध्याय मण्डल, अनगिनत प्रज्ञापुत्र एवं अपने राष्ट्र से बाहर चौहत्तर से भी अधिक देशों में स्थित परिजनों को जाग्रत-जीवन्त बनाये रखने के लिए कितने अधिक प्राणवान लोक-शिक्षकों की आवश्यकता पड़ती है, इनकी कल्पना भर की जा सकती है। शांतिकुंज में शिक्षण हेतु दो सौ के लगभग व्यक्तियों के लिए समुचित स्थान व अध्यापन व्यवस्था है। यदि प्रस्तुत शिक्षण दस वर्ष तक चलता रह सके तो इनकी पूर्ति सम्भव है।

'कुछ नहीं से कुछ अच्छा' की नीति अपनाते हुए हम अपने आध्यात्मिक जन्मदिवस पर एक ही अपील करते हैं कि परिजन अपने बीच से अथवा सम्पर्क परिकर से युवा-जीवट से भरा-संतुलित मनःस्थिति का, विभिन्न जिम्मेदारियों से मुक्त एक व्यक्ति चार माह के लिए वहाँ भेजें जो लौटने पर अपने यहाँ एकाकी मार्गदर्शक की भूमिका निभाते हुए सारी गतिविधियाँ चलाता रह सके एवं आस-पास के क्षेत्रों में सहयोगियों के माध्यम से अलख जगाने में सफल हो। अपने ही झंझटों में उलझे, कई कार्यों में व्यस्त व्यक्ति अभी जन-जागरण के कार्यों को कर पाने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं, मन में दुःखी भी होते हैं और हमारे ही नहीं जनता के भी कोपभाजन बनते हैं; सबसे गया बीता, रोग ग्रस्त अपनी ही मनोकामना पूरी कराने आया व्यक्ति क्या तो सीखेगा और क्या लोकशिक्षण करेगा ?

प्रस्तुत शिक्षण से समाज का लाभ यह है कि प्रतिभावान लोकसेवियों की पूर्ति इससे होगी। ये अपने-अपने केन्द्रों पर जाकर स्वयं अध्यापक की भूमिका निभाते हुए कई अन्य सहयोगी लोकशिक्षक भी तैयार कर सकेंगे, इस शिक्षण साधना में परमार्थ के साथ-साथ स्वार्थ पूर्ति भी है। कल्पसाधना सत्र शांतिकुंज के तीर्थ परिसर में प्रतिमाह दस-दस दिन के पूर्वक्रमानुसार चलते रहेंगे। हर परिजन को अपनी बैटरी चार्ज कराने के लिए वर्ष में न्यूनतम एक बार इन सत्रों में आना ही चाहिए।

अब पूरे गायत्री तीर्थ का रूपान्तर एक अभिनव विश्व- विद्यालय के रूप में कर दिया है। कल्प साधना सत्र भी आत्मिक कायाकल्प के साथ-साथ जीवन साधना शिक्षण का समन्वय होने के कारण इसके अंग ही हैं। कार्यकर्त्ता शिक्षण इससे इतर नहीं, इसी की उच्चस्तरीय इकाई है।

जाग्रत प्रतिभाओं के लिए आरम्भ किये जा रहे इस शिक्षण की मुख्य शाखाएँ एवं उनका विस्तार इस प्रकार है।

(१) संगीत-अभिनय के माध्यम से लोक शिक्षण-

संगीत हमारे देश में ही नहीं, सारे विश्व में विचार सम्प्रेषण का महत्वपूर्ण माध्यम माना जाता है। रोमाँ जिप्सियों के, हिप्पी लोगों के, नीग्रो अमेरिकन्स के डांस, संगीत, डिस्को इत्यादि के, रिकार्डों की लोकप्रियता से एक अन्दाज लगाया जा सकता है कि जनसाधारण में संगीत का माध्यम क्यों इतना अधिक प्रचलित है। संगीत से हृदय के तारों में भावभरी झंकार उत्पन्न होती है जो भाव प्रधान अध्यात्म से लेकर पराक्रम प्रधान शौर्य के प्रसंगों तक में अपनी भूमिका निभाती देखी जाती है।

विचार-क्रांति का प्रयोजन कला के इस संगीत-अभिनय मिश्रित माध्यम से भली-भाँति पूरा हो सकता है क्योंकि मिशन की आदर्शवादी मान्यताएँ सीधे अन्तःकरण के गहन मर्मस्थल से सम्बन्धित हैं। विचारणाओं, तर्कों और प्रमाणों से जुड़कर मानसिक चातुर्य की सिद्धि भर कर पाती है । उनका भाव-संवेदनाओं से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं। आदर्शवादी उमंगें उभारने, उदारता, त्याग, बलिदान हेतु प्रेरित करने के लिए संगीत से बढ़कर को कोई श्रेष्ठ माध्यम नहीं हो सकता।

संगीत की वादन, गायन, अभिनय विद्या को भगवान शंकर के ताण्डव, श्रीकृष्ण के महारास एवं मीरा-चैतन्य जैसे सन्तों के नृत्य सहित संकीर्तनों में अपनाया गया देखा जा सकता है। शांतिकुंज के संगीत शिक्षण में भी प्रज्ञा प्रसार का माध्यम इन तीनों के समुच्चय को अपनाया गया है। जिनका गला साथ दे वे गायन में तथा जो उपकरणों का प्रयोग करने में समर्थ हों वे हारमोनियम, बैंजो, बोंगो, तबला, ढपली, मंजीरा, बंगाली तम्बूरा, गिटार आदि के माध्यम से एक पूरी आर्क्रेस्ट्रा मण्डली बनाकर संकीर्तन को और भी आकर्षक, हृदयस्पर्शी बना सकते हैं। कलामंच के यों तो विभिन्न रूप हैं पर अपने यहाँ 'एक्शन साँग' पद्धति को अपनाया गया है।

लोकनृत्यों में यही विशेषता होती है। अभिनय के साथ गायन सोने में सुहागे की तरह काम करता है। सांस्कृतिक कार्यक्रमों द्वारा जन-जग्रति का प्रयोजन पूरा करने के लिए शिविरार्थी को संगीत की इस विधा का शिक्षण इन सत्रों में समग्र रूप से कराया जाएगा।

(२) भाषण-संभाषण द्वारा लोक नेतृत्व का शिक्षण-

इस दूसरी महत्वपूर्ण विधा की आवश्यकता दूसरों को मिशन का स्वरूप समझाने, भाषण, पर्व गोष्ठियों, सम्मेलनों, जन्मदिवसोत्सव आयोजनों में पड़ती है। मंच पर बैठकर प्रवक्ता के नाते बोलना तो जल्दी आ भी जाता है लेकिन दूसरों से बातचीत करते समय किन मर्यादाओं का, विषय से संबद्ध मुद्दों का, शिष्टाचार का ध्यान रखना है, यह बहुतों को नहीं आता। यही सम्भाषण कला है। देवर्षि नारद एवं महात्मा बुद्ध ने सत्परामर्श द्वारा ही अनेक को आत्मिक प्रगति के पथ पर पहुँचाया। यही कार्य पुरातनकाल में ऋषि आरण्यकों, कुम्भ आदि पर्वों पर होता था। आज यह वाक् विलास भर बनकर रह गया है। युग प्रवक्ताओं को लोकनेतृत्व हेतु संकोच मिटाना, भाषा को सम्बद्ध और सुगढ़ बनाना होता है। किस समूह में, किस क्रम में कैसे किस बात को गले उतारा जाय, यह अपने आप में पूरी कला है। अपने एवं अन्यों के पूर्वाग्रहों को मिटाना एक समग्र शिक्षण है। सब कैसे किया जाय इसके लिए सुयोग्य, मुखर कहे जाने वाले कार्यकर्त्ताओं को भी यहाँ गायत्री तीर्थ के रूप में विराट की झाँकी अन्यों को कराने एवं वक्तृता में निपुण अध्यापकों द्वारा प्रज्ञा पुराण की कथा, जन्म दिवस गोष्ठी एवं अन्य माध्यमों से चार माह की अवधि में सिखाया जाना है।

(३) स्वास्थ्य संवर्धन एवं संरक्षण का, चिकित्सक एवं व्यायाम अध्यापक स्तर का शिक्षण-

यह अकेली अपने आप में समग्र विधा है, जिसके माध्यम से ग्रामीण प्रधान अपने राष्ट्र का औसत स्वास्थ्य स्तर उठाना, जन-सहानुभूति एवं सहयोग एकत्र कर सकना तथा उपचार द्वारा अनेक को राहत दे सकना सम्भव है। यह प्रत्यक्ष सेवा है जो लोकसेवी को श्रेय प्रदान करती है, प्रज्ञा प्रचार में सहायक भी होती है। संशोधित औषधियों का शुद्ध प्रचलन आयुर्वेद के पुनरुद्धार की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। जड़ी-बूटियों के उद्यान अपने-अपने स्थानों पर लगाने-उन्हें ताजे एवं शुष्क रूप में ग्रहण करने का अध्यापन एवं व्यावहारिक शिक्षण यहाँ कराया जाता है। इससे गाँव-गाँव जड़ी-बूटी केन्द्र खुल सकेंगे व रुग्ण जनता का स्वास्थ्य स्तर ऊँचा उठेगा। ईसाई चर्चों ने जिस माध्यम को अपनाया व अपने मिशन का विस्तार किया था, अपनी स्वास्थ्य संवर्द्धन की प्रक्रिया उससे कहीं अधिक समग्र व पूर्णतः भारतीय है। प्राथमिक सहायता (फर्स्ट एड), गृह परिचर्या (होम नर्सिंग) एवं स्काउटिंग, पी.टी. के विभिन्न संस्थाओं के उच्चस्तरीय पाठ्यक्रम के साथ-साथ व्यायाम, खेलकूद शिक्षण, आसनों से शारीरिक एवं प्राणायाम से मनोरोगों का निवारण, स्वच्छता (हाइजीन) एवं आहार विज्ञान, पाक विद्या का शिक्षण भी इसी पाठ्यक्रम में जुड़ा हुआ है। ग्रामीण खेल-कूदों का प्रचलन एवं दंगल प्रतियोगिताओं द्वारा जीवट स्फूर्ति जगाना, दुर्बलता मिटाना तथा रोगग्रस्तों को सर्वसुलभ साधनों द्वारा परामर्श देकर पीड़ा मुक्त करना सबसे बड़ी सेवा है। यह शिक्षण चार माह की अवधि में संभव न होने पर भी प्रत्येक के महत्वपूर्ण पक्षों का प्रारम्भिक एवं प्रायोगिक शिक्षण यहाँ कराया जाएगा ताकि समर्थ गुरुरामदास की व्यायामशालाओं की तरह स्थान-स्थान पर प्रज्ञापीठों, प्रज्ञासंस्थानों में ये गतिविधियाँ चल पड़ें। अधिक रुग्णालय खुले इससे अच्छा है भारत की परिस्थितियों के अनुरूप उपलब्ध सुविधाओं का प्रयोग कर जन स्वास्थ्य का स्तर ऊँचा उठे। इस दृष्टि से यह शिक्षण प्रशिक्षणार्थियों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण होगा।

(४) पत्रकारिता-मुद्रण-साहित्य सम्पादन का शिक्षण-

हर प्रज्ञा संस्थान, प्रज्ञापीठ, जाग्रत परिजनों से कहा गया है कि इस वर्ष वे एक स्मारिका प्रकाशित करें। समर्थों से सम्पर्क साधने एवं पूँजी जुटाने का यह सबसे उत्तम माध्यम है। स्मारिका में प्रकाशित साहित्य सामग्री भी जिस स्तर की है उसे देखकर कहा जा सकता है कि समझदार संपन्न वर्ग में ये लोकप्रिय होंगी, साथ ही शक्तिपीठ एवं स्थानीय परिजनों के क्रिया-कलापों की जानकारी भी सर्व साधारण को होगी। अब परिजनों को हर वर्ष एक वार्षिकी और सम्भव हो तो प्रतिमाह एक स्थानीय प्रगतिशील समाचार पक्ष निकालने के लिए कहा गया है। इसके लिए उन्हें समाचार सम्पादन, साहित्य सृजन, क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद, छपाई सज्जा, विज्ञापन जुटाने की विधा का शिक्षण यहीं पर कराया जाएगा। साहित्य प्रकाशन युग की महती आवश्यकता है। मिशन की पत्रिकाओं से यह कार्य सीमित स्तर तक हो पाता है। अतः छपाई, टाइपराइटर एवं साइक्लोस्टाइल के माध्यम से यह प्रयोजन पूरा कर सकने-अर्थतन्त्र की व्यवस्था बनाने आदि की शिक्षा भी इसी पाठ्यक्रम में समाविष्ट है।

(५) प्रज्ञाचक्र एवं शिक्षाचक्र घुमाने का परिपूर्ण शिक्षण-

प्रज्ञा संस्थानों एवं जाग्रत स्थानों की आवश्यकता पूरी करने के लिए चल देवालय रूपी ज्ञानरथ जुटाना व उसे स्वयं अथवा सहयोग से चलाना, प्रज्ञा साहित्य घर-घर पहुँचाना एवं जन्म दिवसोत्सव, पर्व आयोजनों के माध्यम

से परिवार गोष्ठी मनाना, इन कार्यक्रमों को अत्यधिक महत्ता दी गई है। हर कार्यकर्ता को पौरोहित्य कृत्य, साहित्य विक्रय एवं लोगों को एकत्र करने हेतु सभी पक्षों की बारीकियों से अवगत होना चाहिए; इसके अतिरिक्त अपने यहाँ बाल-संस्कारशालाएँ किस प्रकार चलायी जाएँ, स्लाइड प्रोजेक्टर एवं टेप रिकार्डर के युग्म का प्रयोग कर प्रज्ञा पुराण की टेप कथाओं द्वारा नवान्हपारायण आयोजन मोहल्ले-मोहल्ले करके जनसहयोग कैसे जुटाया जाय, मिशन की विचारधारा का विस्तार कैसे सम्भव हो सके? यह भी परिपूर्ण शिक्षण है। इन टेप कथाओं को इसी बसन्त से रिलीज किया जा रहा है।

इन पाँच विधाओं के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट शिक्षण भी इसी में शामिल हैं। मिशन की जीप टोलियाँ सतत प्रज्ञा आयोजन हेतु घूमती रहती हैं इनके लिए अपने कार्यकर्त्ताओं को ही जीप ड्राइविंग, रिपेयर सर्विसिंग का शिक्षण कराने की पूरी व्यवस्था यहाँ की गई है। विभिन्न भाषाओं एवं धर्मों का नालन्दा तक्षशिला विश्वविद्यालय का एक अभिनव संस्करण महाविद्यालय के रूप में यहाँ आरम्भ किया जा रहा है। अन्यान्य भाषाओं में अनुवाद, साहित्य सृजन आदि का शिक्षण भी स्थायी रूप से रह सकने वाले शिक्षार्थियों के लिए हैं। ये सभी स्थायी विधाएं हैं; अधिक समय लेकर आने वाले विद्यार्थियों पर भी यही बात लागू होती है।

इन सब कार्यों के लिए आयु सीमा बीस से पैंतालीस वर्ष है। अपवादस्वरूप कहीं शिथिल भी किया जा सकता है। लेकिन किशोर-वय के, उचटी मन:स्थिति के एवं वृद्ध, रोगी, गयी-गुजरी स्थिति के व्यक्ति इसमें न आएँ। प्रारम्भिक सत्र इसी कारण इन सबके लिए ९ दिवसीय अनुष्ठान शिविर इन्टरव्यू सत्र के रूप में रखा गया है। औसत निर्वाह की व्यवस्था उनकी यहाँ रहेगी; भोजन व्यय मासिक लगभग सौ रुपये होगा। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए शिक्षार्थी अपने आवेदन अलग प्रपत्र पर नियमावली के अनुसार भरकर भेज दें व अपने स्थान पूर्व से सुरक्षित करा लें। इसमें जिस शिविर में आना चाहते हैं। उसका एवं भर जाने की दशा में विकल्प का उल्लेख कर दें। पूरा नाम, पता, आयु, शिक्षा, व्यवसाय, जाति, मिशन की पत्रिकाओं, साहित्य एवं गतिविधियों से कब से सम्पर्क में है। इसका उल्लेख कर दें। अपनी शारीरिक स्थिति, किसी प्रकार की रुग्णता, मन:स्थिति एवं उद्वेगों का भी उल्लेख करें। अनुशासन पालन का सुनिश्चित आश्वासन आवेदन पत्र के साथ अवश्य लिख भेजें।

समग्र आत्मोत्कर्ष के जीवन साधना सत्र

मनुष्य जीवन कल्पवृक्ष है। उसमें वे सभी बीज रूप से विद्यमान हैं, जिनको विकसित करने पर वे सभी मनोरथ पूर्ण हो सकते हैं, जो मानवी प्रगति एवं सुख-शान्ति के लिए आवश्यक हैं। मानवी काया की संरचना विचित्र है। उसका प्रत्येक घटक इतना विचित्र है कि उसकी सामर्थ्य और विशिष्टता को देखकर बुद्धि को आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। जीवाणुओं के भीतर पाये जाने वाले गुणसूत्रों में पीढ़ियों के संस्कार एवं अनुदान संग्रहीत रहते हैं और ये उत्तराधिकार में सन्तान को मिलते हैं। हारमोन ग्रन्थियाँ, मानसिक दक्षता, सूत्र संस्थान की विद्युतधारा, चेतना की अतीन्द्रिय क्षमता आदि विशिष्टताओं को देखते हुए यह विश्वास करने में तनिक भी संदेह नहीं रहता कि यदि मनुष्य में अपना व्यक्तित्व विकसित करने की इच्छा शक्ति और चेष्टा जाग पड़े तो स्थिति सामान्य न रहकर हर दृष्टि से असामान्य ही बन पड़ती है।

विकास और वैभव के समस्त आधार मूल साधन अपने भीतर विद्यमान हैं। जो उन्हें जान लेते हैं वे सामर्थ्यवान बनते हैं और विकसित सामर्थ्य के मूल्य पर अभीष्ट सिद्धि, सफलताएँ उपलब्ध करते हैं। संसार के इतिहास में उच्चस्तरीय सफलतायें प्राप्त करने वाले अगणित महामानवों का उल्लेख है। उनके जीवनक्रम पर बारीकी से दृष्टि डालने से एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि साधन, सहयोग एवं परिस्थिति की अनुकूलता, बहुलता ने नहीं, वरन् वैयक्तिक सद्गुणों ने उन्हें ऊँचा उठाया और आगे बढ़ाया है। साधनों की बहुलता से प्रगति पथ पर सहायता मिलती है पर ऐसा नहीं है कि उन्हीं के आधार पर बड़ी सफलता मिल सके। व्यक्तित्व यदि ओछा हो, तो उपलब्ध साधनों का दुरुपयोग ही बन पड़ेगा; उससे विनाश के क्षण और भी निकट आ खड़े होंगे। गरीबी में जन्मे, अभावों में पले और कठिनाइयों से घिरे मनुष्यों में से कितने ही ऐसे लोग हैं जो उन घटाओं को चीरते हुए बिजली की तरह चमके और अपने प्रखर अस्तित्व का परिचय देने में समर्थ हुए। इसके विपरीत ऐसे लोगों की भी कमी नहीं जिनके ऊपर जन्मजात रूप से ही वैभव बरसा और सुविधा, सहयोग का अम्बार हाथ बाँधे खड़ा मिला। इतने पर भी वे आगे बढ़ना तो दूर उस उत्तराधिकार को भी संचित न रख सके। दुर्गुणों के कारण उसे गँवाते ही चले गये और कुछ ही समय में दीन-दरिद्र बन गये।

सद्गुणों का चुम्बकत्व संसार का सबसे बड़ा आकर्षण है। रूप, सौंदर्य, कला, कुशलता, विशेषता आदि विभूतियाँ अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं पर उनमें कोई भी ऐसा नहीं जो सज्जनता का सामना कर सके। विभूतियों को देखकर लोग चमत्कृत होते और प्रसंशा भी करते देखे गये हैं। किन्तु श्रद्धा एवं सद्भावना का संचय इतने भर से कोई भी नहीं कर सका है। साथियों का सच्चा सहयोग और सघन आत्मभाव प्राप्त करने पर ही निजी जीवन में प्रसन्नता-प्रफुल्लता रहती है और बाह्य जीवन में इसी आधार पर आगे बढ़ चलने में अनुकूलता उत्पन्न करने वाले साधन बनते हैं। लोगों के सहयोग न करने और सद्भाव न रखने

की शिकायत व्यर्थ है। जो दूसरों का सहयोग करते हैं पर हमारा नहीं करते; उनके मन को टटोलने पर ईर्ष्या, द्वेष, पक्षपात आदि का पुट पाया जा सकता है पर प्रधानतया कारण यही रहता है कि अपने व्यक्तित्व में यह तत्व अत्यन्त न्यून रहते हैं जो दूसरों को प्रभावित, आकर्षित कर सकने में समर्थ होते हैं। स्वार्थवश मनुष्य किसी का सामयिक समर्थन तो कर सकता है पर चिरस्थाई मित्रता मात्र सघन आत्मीयता के आधार पर विकसित और परिपक्व होती है। चिरस्थाई मित्रता नैतिक आधार अपनाये बिना और किसी अन्य उपाय से बन ही नहीं सकती। आन्तरिक सद्भाव का उपार्जन सद्गुणों से कम मूल्य पर हो ही नहीं सकता। सज्जनता मानव जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि है। उसे प्राप्त करने पर अदक्ष, अविकसित और अपंग मनुष्य भी सामान्य लोगों के बीच रहने पर भी सुख-शान्ति का जीवन जी सकता है।

विपत्तियों का आना अप्रत्याशित नहीं है, वे किसी पर आ सकती हैं। दुर्घटनाओं से कोई भी सुरक्षित नहीं है। आतातायी आक्रमणों की चपेट में कोई भी आ सकता है। उससे पूर्णतया सुरक्षित रहने की बात सोचना व्यर्थ है। उन्हें हलका बनाना, निरस्त करना, बच निकलना और ताल-मेल बिठा कर समय गुजार लेना सब सद्गुणों से आधार पर ही सम्भव होता है। हड़बड़ाये हुए व्यक्ति मामूली-सी, हँसते-हँसते टल सकने वाली कठिनाई में भी इतना उलझ जाते हैं कि उससे निकलना कठिन पड़ता है। विद्वेष प्रतिशोध का, आक्रमण-प्रत्याक्रमण का कुचक्र इतना महँगा पड़ता है कि उसी में कचूमर निकल जाता है। आग की शक्ति सीमित है। असीम तो ईंधन मिलने पर बनती है कठिनाइयों से उबरना संतुलित मन और परिष्कृत व्यक्तित्व के लिए सरल है किन्तु दुर्गुणी अपनी मूर्खता के कारण उस जंजाल में और भी अधिक फँसता-जकड़ता चला जाता है।

लोग परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के लिए दूसरों का सहयोग पाने और साधन बढ़ाने के लिए भी पूरा प्रयत्न करते हैं। इसके लिए नैतिक-अनैतिक सभी तरीके अपनाते हैं फिर भी पल्ले कुछ नहीं पड़ता। निराशा ही हाथ लगती है। उन प्रयत्नों के अतिरिक्त यदि आत्म-परिष्कार का एक और उपाय हाथ में लिया जा सके तो स्थिति कुछ दूसरी ही होगी। सद्गुणी व्यक्ति के प्रगति-प्रयास सफलतापूर्वक अग्रगामी होते और सफल बनते देखे जा सकते हैं। आत्म-परिष्कार की उपेक्षा की एक ही भूल इतनी बड़ी है कि उस गर्त में गिरकर प्रगति के लिए अनेक प्रयास ऐसे ही व्यर्थ बरबाद होते रहते हैं।

आत्मतत्त्व ज्ञान एवं साधना-विधान का एकमात्र उद्देश्य मनुष्य के दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप में उच्चस्तरीय सदाशयता की ऐसी अभिवृद्धि करना है जिसका परिचय गुण, कर्म, स्वभाव की विशिष्टता के रूप में परिलक्षित हो सके। यही है दैवी अनुग्रह एवं वरदान का स्वरूप। इसी को गुरु कृपा कहते हैं। यही साधना सिद्धि है; इतना मिल जाने पर अभीष्ट सफलता प्राप्त करने में तनिक भी कठिनाई नहीं रह जाती। श्रेष्ठ व्यक्तित्व एक बहुमूल्य हुण्डी है, जिसे किसी भी बाजार में, किसी भी दुकान पर, किसी भी समय भुनाया जा सकता है।

आज तो एक ही भयानक भूल जन-जन के मस्तिष्क पर छाई हुई है कि उपासना कोई जादूगरी है, जिससे देवताओं को फुसलाने और उचित-अनुचित मनोकामनाएँ पूरा करने का लाभ सस्ती पूजा-पत्री के मोल पर पाया जा सकता है। हमें तथ्यों को समझना चाहिए। व्यक्तित्व के समग्र विकास की विद्या का मूल्यांकन इसी दृष्टि से करना चाहिए कि इस आधार पर सद्गुणों की- सत्प्रवृत्तियों की- दिव्य विभूतियाँ प्राप्त होती हैं और उनके सहारे सर्वतोमुखी प्रगति का पथ प्रशस्त होता है; यही जीवन का लक्ष्य और यही सुख-शान्ति का सुनिश्चित अवलम्बन है; उपासना एवं साधना की प्रत्यक्ष सफलता इसी आधार पर परखी जा सकती है।

ऐसे समग्र अध्यात्म के प्रशिक्षण का व्यवस्थाक्रम बहुत दिनों से लुप्त प्रायः हो गया था। फलतः जादुई अभ्यर्थना का विस्तार होता चला गया। किम्वदन्तियों के रूप में फैलाई गई फलश्रुतियों ने जनमानस को उस भ्रम जंजाल में और अधिक फँसाया। अब परिस्थितियाँ बदली हैं। नवयुग अवतरण का पुण्य-प्रभात उग रहा है। अरुणोदय की इस पुण्य बेला में अध्यात्म की चेतना का संचार होना आवश्यक है। उसी आधार पर मनुष्य में देवत्व और धरती पर स्वर्ग के अवतरण का स्वप्न संभव हो सकेगा।

इस संदर्भ में महत्वपूर्ण कदम है सिद्धान्तों को व्यवहार में उतारने का अभ्यास आत्मनिरीक्षण की क्षमता न होने पर अपने दुर्गुणों का पता ही नहीं चलता साथ ही परिवर्तन या परिष्कार की विधि-व्यवस्था का अनुभव न रहने पर अभीष्ट परिवर्तन की आवश्यकता पूरी नहीं हो पाती। इसके लिए ऐसे प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना होगा, जिसमें परिष्कृत जीवन के सिद्धान्त ही न बताये जाएँ वरन् अभ्यास ही नहीं ऐसे अनुदान भी दिये जाएँ जिनके सहारे आत्मोत्कर्ष की दिशा में साहसिक यात्रा कर सकना संभव हो सके।

शांतिकुंज में चलने वाले इस दस दिवसीय जीवन साधना-सत्रों का गठन इसी स्तर का है। दिव्य वातावरण एवं प्रखर मार्गदर्शन एवं समर्थ संरक्षण में गायत्री साधना, प्रखर-प्रेरणा एवं विविध आध्यात्मिक प्रयोगों द्वारा सार्थक जीवन के अनुरूप तत्त्वों को जीवन में समाविष्ट, जाग्रत एवं विकसित करने की अद्भुत धाराओं का इनमें संयोग रहता है। पिछले दिनों इन शिविरों के जो सुपरिणाम सामने आये हैं, उसके कारण नये व्यक्ति ही नहीं, पुरानों को भी इन सत्रों में बार-बार सम्मिलित होने की आवश्यकता अनुभव होती है। अब उसके साथ ब्रह्मवर्चस् साधना-क्रम के समुचित समावेश से उसकी उपयोगिता तथा महत्ता और भी बढ़ गई। इच्छुक व्यक्ति पूर्व स्वीकृति लेकर घोषित

सत्रों में अपना सुरक्षित करने के बाद ही उनमें सम्मिलित होते हैं।

लोकनायक सत्रों का क्रम

नवनिर्माण अभियान का कलेवर बहुत विशाल तथा बहुत विस्तृत है। दिव्य प्रेरणा एवं सुदृढ़ निष्ठा के आधार पर नगण्य साधनों से ही छोटे रूप में प्रारम्भ करके क्रमशः विशाल-विशालतर रूप दिया जाता रहा है; उसकी सुनिश्चित प्रगति देखकर अब हर कोई सफलता के प्रति आश्वस्त हो चला है फिर उसका क्रम अपनी मर्यादित गति से ही आगे बढ़ेगा। विषम परिस्थितियों एवं व्यस्त क्रम में फँसे हुए व्यक्तियों को प्रामाणिक युग सैनिकों के परिवेश में लाना बड़ी कुशलता, धैर्य एवं संतुलन युक्त रीति-नीति के सहारे ही संभव होगा; उसे कई धाराओं में तथा कई चरणों में पूरा किया जा सकेगा।

किसी महत्वपूर्ण विषय का समग्र प्रशिक्षण एक बार में नहीं हो सकता। कक्षाओं में विभाजित क्रम के अनुसार ही विद्यार्थी अपनी शिक्षा आरम्भ करते हैं और एक-एक सीढ़ी पार करते हुए स्नातकोत्तर परीक्षा देने की स्थिति तक पहुँचाते हैं; रोग निवृत्ति की जितनी औषधि रोगी को दी जाती है। वह एक दिन में ही नहीं खिला दी जाती वरन् थोड़ी-थोड़ी मात्रा में हर दिन देकर उसको रक्त में सम्मिलित किया जाता है। पौष्टिक भोजन एक दिन ही बहुत करा दिया जाय और उससे तत्काल पहलवान बनने की अपेक्षा की जाय तो यह उपहासास्पद है। लम्बी मंजिलें छलाँग मारकर पूरी नहीं की जातीं वरन् क्रमिक गति से एक-एक चरण बढ़ाते हुए ही आगे बढ़ा जाता है। भोजन के ग्रास एक-एक करके ही गले उतरते और पेट में पहुँचते हैं। एकबारगी सारा भोजन पेट में पहुँच सका होता तो समय और श्रम की बचत होती, सुविधा रहती पर दृष्टि-क्रम कुछ ऐसा ही है कि बड़ी उपलब्धियाँ छलाँग मारकर मिल नहीं पाती। क्रमिक प्रगति का सिद्धान्त ही अपनी दुनिया में चलता है। युग-सृजेताओं के द्वारा प्रशिक्षण एवं शक्ति संवर्द्धन के अनुदान-उपचार भी क्रमशः ही मिलते आ रहे हैं और वे भविष्य में भी बहुत समय तक इसी प्रकार मिलते रहेंगे।

परिस्थितियाँ-नये उपाय खोजती हैं और सूझ-बूझ से नये कदम उठाये जाने का तकाजा करती हैं। बचपन की समस्याएँ तनिक-सी होती हैं। बच्चों की आवश्यकताएँ सहज ही जुटा दी जाती हैं पर किशोर और किशोरियों की, युवकों और युवतियों की आवश्यकता बचपन की तुलना में अनेक गुनी बढ़ जाती हैं। उनकी माँगें बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है। उच्च शिक्षा ,भोजन, वस्त्र, जेब खर्च, अलग कमरा, विवाह, आजीविका जैसी खर्चीली और कष्टसाध्य माँगें वे परोक्ष रूप से अभिभावकों के सामने प्रस्तुत करते हैं; अभिभावक इनकी पूर्ति से इन्कार नहीं करते। आवश्यक साधन जुटाने के लिए वे प्राणपण से प्रयत्न भी करते हैं।

युग चेतना उभर रही है। जनउत्साह में उफान आया है; जाग्रत आत्माओं की उमंग उठी हैं। नवसृजन के लिए अनुकूल वातावरण बना है। इसे शैशव का यौवन में प्रवेश कहा जा सकता है। स्पष्ट है कि बदली हुई स्थिति के अनुरूप हमें कुछ नया सोचना पड़ेगा और नये क़दम उठाने का साहस जुटाना पड़ेगा। इस प्रकार की चिन्ता और व्यवस्था अभिभावकों को ही करनी पड़ती है। समय की माँग को पूरा करने के लिए उन्हीं को अधिक चिन्तित और अधिक तत्पर होना पड़ता है। परिवार के मूर्धन्य व्यक्ति ही वे अभिभावक हैं जिन्हें युग चेतना के उभार के साथ नई-परिस्थिति का सामना करने के लिए-अभीष्ट साधन जुटाने के लिए नये सिरे से, नये प्रयास करने के लिए कटिबद्ध होना होगा।

इस दृष्टि से मिशन की पद्धति के प्रति आस्थावान हर व्यक्ति के लिए जहाँ १० दिवसीय जीवन-साधना सत्रों की शृंखला बनायी गयी है, उनके लिए विशेष साहस सँजोने वाले आगे बढ़कर कार्य करने वाले सृजन-सैनिकों की क्षमता तथा योग्यता को विकसित करते रहने के लिए, एक माह अवधि के लोकनायक सत्रों की व्यवस्था भी की गयी है। युग निर्माण परिवार की टोलियाँ, स्थानीय शाखा संगठनों में जो परिजन विशेष उत्तरदायित्व निभाना चाहते हैं उन्हें उसके लिए समुचित दिशा, प्रेरणा एवं शक्ति-अनुदान देना इन शिविरों का उद्देश्य है।

सामान्य जीवन जीने वालों तथा विशिष्ट व्यक्तियों में तात्विक दृष्टि से विशेष अन्तर शक्तिबीजों, सुप्त क्षमताओं को विकसित जाग्रत कर लेते हैं। यह जाग्रति ही उनकी विशेषता कहलाती है। निद्राग्रस्त बलवान मृतकवत हो जाता है। हममें से अनेक गाँधी, बिनोवा, बुद्ध, विवेकांनन्द, अर्जुन, हनुमान जैसी क्षमताओं से सुसम्पन्न है। कठिनाई एक ही है-"आंतरिक मूर्छना का निवारण करके अन्तः-करण प्रखर हो सके तो समझना चाहिए कि महामानवों के समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति अपने असली स्वरूप में प्रकट होता हुआ दृष्टिगोचर हो सकेगा। ऐसी आत्म-जाग्रति अपने परिवार के मूर्धन्य अभिभावकों में उत्पन्न हो सके तो समझना कि सच्चे अर्थों नवयुग का सौभाग्य सूर्य उदीयमान हो चला है।

शरीर का कोई अंग निष्क्रिय-सुप्त हो जाय तो उसके निकटस्थ सजीव चेतना भाग में औषधि का प्रवेश इन्जैक्शन द्वारा कराया जाता है। औषधि के प्रभाव से उस चेतना का संचार क्रमशः सारे शरीर में पुनः हो जाता है हर क्षेत्र में जो जीवन्त व्यक्तित्व उभरकर ऊपर आ रहे हैं उन्हें ही उस क्षेत्र में संचार का माध्यम बनाया जाना है। लोकनायक सत्रों में उन्हीं जीवन्त व्यक्तियों के सम्मिलित होने की अपेक्षा की जाती है।

इन सत्रों को कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। जानकारी का जहाँ तक सम्बन्ध है यह कार्य पत्रिकाओं में छपने वाली सूचनाएँ पढ़कर भी पूरा हो सकता है। जानकारी देने भर की बात होती तो उसके लिए किसी को भी आने की

आवश्यकता न पड़ती। पत्रिकाओं के पृष्ठ ही इस कार्य को भली प्रकार पूरा कर देते पर बात दूसरी ही है; प्रत्यक्ष रूप से सेनापति के स्वास्थ्य की परीक्षा-उसकी स्थिति के अनुरूप पद वृद्धि, नये उत्तरदायित्वों के अनुरूप मार्गदर्शन और साधनों की व्यवस्था, जैसे अनेक उद्देश्य हैं जो निकटस्थ उपस्थिति की अपेक्षा करते हैं। यह सब दूर रहते नहीं हो सकता। परामर्श तो पत्र व्यवहार से ही हो सकता है पर आदान-प्रदान के लिए निकटता की आवश्यकता पड़ती है। लोकनायक शिविरों का प्रबन्ध इसी दृष्टि से किया गया है। लोकनिर्माण के लिए हममें से कौन, किस प्रकार, किस स्तर की, क्या भूमिका निभा सकता है; किसे अपनी आज की स्थिति में क्या जिम्मेदारी वहन करनी चाहिए और उसकी पूर्ति के लिए किस प्रकार क्या व्यवस्था बनानी चाहिए । इसका निर्णय निर्धारण पारस्परिक विचार-विनिमय से ही सम्भव हो सकता है। हर व्यक्ति की मनःस्थिति और परिस्थिति पृथक होती है। उसको ध्यान में रखकर जो निश्चय किये जाते हैं वे ही सफल और सार्थक होते हैं। सबको एक लाठी से नहीं हाँका जा सकता। सबको एक जैसे कार्यों में नहीं जुटाया जा सकता। क्षमता, अभिरुचि और परिस्थिति का तालमेल बिठाते हुए सृजन-सैनिकों के लिए एक-एक वर्ष के कार्यक्रम पृथक-पृथक स्तर के बना देने से ही इन विशेष सत्रों का आयोजन किया गया है; इनके पीछे व्यक्तिगत परामर्श एवं मार्गदर्शन का उद्देश्य ही प्रधान है। इसी दृष्टि से उनकी उपयोगिता भी अधिक है।

एक-एक माह के यह सत्र इसलिए रखे गये है कि परामर्श के साथ-साथ अपने-अपने विषय की कार्यपद्धति की रूपरेखा समझ सकना, उसका यथासम्भव अभ्यास कर लेना, समयसाध्य है। इस प्रकार की ट्रेनिंग वस्तुतः अधिक दिनों की होनी चाहिए । डाक्टर, इन्जीनियर, वकील, स्नातक की पढ़ाई में समय लगता है। रेल, पुलिस, मेला आदि विभागों के महत्वपूर्ण काम सम्भालने के लिए काफी समय तक ट्रेनिंग लेनी पड़ती है। परामर्श तो जल्दी भी हो सकता है पर प्रशिक्षण एवं अभ्यास के लिए तो समय चाहिए ही।

नये समाज की संरचना के लिए सम्यक वातावरण एवं पृष्ठभूमि बनाने का कार्य जितना गौरवपूर्ण है उतनी ही तत्परता भी उसमें अपेक्षित है। इन सत्रों में शिक्षार्थियों को उससे सम्बन्धित हर धारा की बारीकियों की जानकारी देने से लेकर विभिन्न माध्यमों से मिशन के कार्यों को आगे बढ़ाने की रीति-नीति का अभ्यास कराया जाता है। इस कार्य को पूरा कर सकने योग्य आत्मबल जुटाने के लिए उनसे स्वयं साधना-तपश्चर्या कराने से लेकर विशिष्ट शक्ति संचार की भी प्रक्रिया का उसमें समावेश है। हर व्यक्ति अपनी-अपनी स्थिति के अनुरूप उसका लाभ प्राप्त करके अगले बड़े चरण बढ़ाने की स्थिति में पहुँच जाता है।

इन सत्रों की सूचना अन्य सत्रों की तरह समय से पूर्व ही मिशन की पत्रिकाओं में प्रकाशित कर दी जाती है। उसी के आधार पर उसके लिए आवेदन भेजा जाता है। मिशन के विस्तार के साथ-साथ नये-नये उत्तरदायित्व सामने आते-जाते हैं, उनके लिए नये-नये व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती रहती है; उनके लिए तो यह सत्र आवश्यक है ही। अनेक पुराने कार्यकर्ताओं को भी उसकी आवश्यकता पुनः-पुनः अनुभव होती है। क्षेत्रों में अपने कार्यों के दौरान उन्हें अपनी कमियों को दूर करने तथा नयी स्फूर्ति प्राप्त करने की आवश्यकता का अनुभव होता है; अस्तु, यह शिविर नये पुराने सभी सक्रिय परिजनों के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं।

महिला एवं कन्या सत्रों की अभिनव व्यवस्था

नवनिर्माण का अर्थ है-नये व्यक्ति के परिष्कृत व्यक्तित्व का निर्माण। इस सृजन में प्रधान शिल्पी का कार्य नारी ही कर सकती है। अस्तु, उपकरणों की ढलाई से पूर्व उस साँचे और कारखाने को संभालना पड़ेगा जहाँ से कि प्रखरता सम्पन्न विभूतियों व्यक्तित्वों का विनिर्मित और विकसित होना सम्भव है। नर रत्नों की खदान का समूचा परिवार नारी के समुन्नत और सुसंस्कृत होने पर ही निर्भर है। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए युग निर्माण योजना के महत्वपूर्ण अंग के रूप में महिला जागरण अभियान के आरम्भ और अभिवर्द्धन की प्रक्रिया चल रही है।

महिला जाग्रति अभियान के संगठनात्मक, प्रचारात्मक, रचनात्मक व सुधारात्मक कार्यक्रमों की गतिविधियों को बल देने वाली प्रक्रिया प्रशिक्षात्मक स्तर पर चलती रही है। अन्यान्य अनेक गतिविधियों का इस सन्दर्भ में जो देशव्यापी प्रयास किया गया है और इन थोड़े ही दिनों में उसे जो सफलता मिली है वह सर्वविदित है। इस प्रयास का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष वह है जो शांतिकुंज में कन्या शिक्षण और महिला प्रक्रिया के रूप में चल रहा है; विगत चार वर्षों से इस सन्दर्भ में आशाजनक प्रगति हुई है।

कन्या प्रशिक्षण सत्र

शांतिकुंज में एकवर्षीय कन्या प्रशिक्षण की जो प्रक्रिया गत चार वर्षों से चल रही है उसके सत्परिणाम अब सामने आते चले जा रहे हैं। आरम्भ में उसके दूरगामी प्रतिफल की बात बहुत थोड़े लोगों की ही समझ में आयी थी। इसे मात्र कन्या विद्यालय के स्तर का ही कोई प्रयास जाना गया था। बाहर से देखने में उसका स्वरूप लगभग उसी से मिलता-जुलता था। आँखों से तो प्रत्यक्ष वस्तु ही दिखाई देती है। उद्देश्य को सूक्ष्मदर्शी विवेक से ही देखते हैं और उसके दूरगामी परिणामों का अनुमान लगा सकना तो किन्हीं बिरले के लिए ही सम्भव होता है। कन्या शिक्षण सत्रों के सन्दर्भ में तो यह बात पूरी तरह लागू होती है।

मोटे दृष्टिकोण से कन्या सत्रों की एकवर्षीय अवधि में (१) २० महत्वपूर्ण गृह उद्योगों के आधार पर

स्वावलम्बन। (२) संगीत में उतनी प्रवीणता कई वर्षों के अभ्यास से भी सम्भव नहीं हो पाती है (३) वक्तृत्व कला का आश्चर्यजनक अभ्यास (४) व्यक्तियों के विकास एवं परिवार-निर्माण के सिद्धान्तों को हृदयंगम कराया जाना। (५) महिला जागरण अभियान को अपने क्षेत्रों में सुव्यवस्थित कर सकने की क्षमता का विकास। इन पाँचों पाठ्यक्रमों के आधार पर शिक्षा दी जाती है। छात्रों के स्वास्थ्य संवर्द्धन के लिए व्यायाम, ड्रिल, शस्त्र-संचालन शिक्षा का प्रबन्ध है। मानसिक स्वास्थ्य संवर्द्धन के लिए रेडियो, टेलीविजन, फिल्म, सांस्कृतिक कार्यक्रमों के हलके-फुलके माध्यमों का उपयोग किया जाता है। उच्चस्तरीय प्रवचनों, परामर्शों, गोष्ठियों का क्रम तो चलता ही रहता है। पहनाव-उढ़ाव, रहन-सहन, व्यवहार-शिष्टाचार का ऐसा प्रबन्ध है जैसे किन्हीं सुसंस्कृत परिवारों में हो सकता है।

मैट्रिक समकक्ष शिक्षा और पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु की लड़कियाँ ही ली जाती हैं। यहाँ की अच्छी और सस्ती भोजन व्यवस्था आदर्श मानी जाती है। भोजन व्यवस्था के अतिरिक्त और कोई खर्च छात्राओं को नहीं करना पड़ता। मोटेतौर से यही है शन्तिकुंज की एक वर्षीय सत्र की व्यवस्था का स्वरूप, जो वस्तुतः ११ महीने की ही होती है। १ जुलाई से आरंभ होकर ३० मई को यह हर वर्ष समाप्त होती है। हर साल नई छात्राएँ भर्ती होती हैं। लगभग १०० के लिए स्थान है। अतिरिक्त योग्यता प्राप्त करने की इच्छुक छात्राओं को अधिक समय रुकने की भी विशेष स्वीकृति मिल जाती है।

गत चार वर्षों में जो छात्राएँ पढ़कर गई हैं उन्होंने अपने घर में वापिस जाकर क्या किया इनकी जानकारी प्राप्त करने पर जो तथ्य सामने आये, वे हर दृष्टि से उत्साहवर्द्धक हैं। उन्होंने अपने-अपने सम्पर्क क्षेत्र को सुसंस्कारिता से प्रभावित किया है। पितृगृह में माता-पिता भाई-बहन, भावज-भतीजे और सभी छोटे-बड़ों ने यह अनुभव किया है कि लड़की जैसी गई थी वैसी नहीं वरन् बहुत बातों में कुछ बदल कर वापस लौटी है। उसके स्वास्थ्य, स्वभाव, दृष्टिकोण एवं व्यवहार में उत्साहवर्द्धक परिवर्तन हुआ है। सभी ने प्रसन्नता व्यक्त की कि बच्चा का एक वर्ष पूर्णतया सार्थक रहा। जो लोग पहले यह सोचते थे कि पढ़ाई में एक वर्ष का हर्ज होने से हानि होगी, उन्होंने अनुभव किया कि कालेज की उच्चशिक्षा का सारा लाभ तराजू के एक पलड़े पर और एक वर्ष के कन्या सत्र का परिणाम दूसरे पलड़े पर तौला जाय तो यह अल्पकालीन शिक्षण हर दृष्टि से महत्वपूर्ण होगा। इस प्रशिक्षण का लाभ लड़की सारे जीवन भर पाती और सुखी रहती है। गौरवान्वित होती देखी जा सकेगी, जबकि डिग्री पाने पर नौकरी मिलने पर ही उसकी कुछ सार्थकता बनती है।

दूसरे क्या सोचते और क्या करते हैं। इस आधार पर कुछ निष्कर्ष निकलना हो तो कन्याओं के लिए स्कूली पढ़ाई को अधिक महत्व दिया जाएगा। नौकरी लगने, बड़प्पन पाने और पढ़ा-लिखा दूल्हा मिलने जैसे कुछ लाभ डिग्री के साथ जुड़े हुए प्रतीत होंगे पर आज की बेकारी में नौकरी मिलने की कठिनाई, उच्च शिक्षित लड़कियों के सामान्य परिवारों में फिट न हो सकने की विभीषिका, यदि दृष्टि में रखी जाय तो किसी और ही निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा। लड़की ससुराल में रहती है। वहाँ उसके लिए सभी पराये बन जाते हैं। जन्म-मरण का साथी तो अपना व्यक्तित्व ही होता है। यदि वह परिष्कृत रहा तो पराये लोगों पर कब्जा कर लेना, उन्हें अपना सहायक बना लेना बायें हाथ का खेल रहेगा। पर यदि उसमें विकृतियाँ भर गईं तो समझना चाहिए कि पिता के घर में जो स्वास्थ्य-सौंदर्य शिक्षा, दहेज साथ लेकर आयी थी वह थोड़े दिनों में ही छिन जाता है और आक्रमणकारियों के बीच असहाय की तरह दुःखी जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

इस स्थिति से बचने की एक ही सुनिश्चित गारन्टी है कि लड़की के स्वभाव में सुसंस्कार की समुचित मात्रा भरी रहे। यह सम्पदा जिसके पास होगी तो कन्या अशिक्षित निर्धन परिवार की होते हुए भी बड़े से बड़े लोगों के बीच जाकर अपने व्यक्तित्व की विशिष्टता के कारण गृहलक्ष्मी, जैसा सत्कार प्राप्त करेगी और परिवार पर भाव भरा शासन करेगी। इस स्तर का व्यक्तित्व को उभारने वाला प्रशिक्षण शांतिकुंज के अतिरिक्त अन्य कहीं दीपक लेकर खोजने पर भी न मिल सकेगा, जो इस तरह सोच सकते हैं उनके लिए स्कूली पढ़ाई को एक वर्ष के लिए छोड़ कर भी अपनी बच्चियों को शान्तिकुंज के सत्र-प्रशिक्षण में भेजना हर दृष्टि से बुद्धिमत्तापूर्ण प्रतीत होता है। यही कारण है कि जितना स्थान अभी यहाँ बन सका है उसकी तुलना में कहीं अधिक माँग रहती है। देर से आवेदन पत्र भेजने वाली छात्राओं में से अधिकांश को अगले वर्ष विचार करने का आश्वासन देकर मना करना पड़ता है।

विवाह होने के उपरान्त शान्तिकुंज की प्रशिक्षित लड़कियाँ जहाँ भी गई हैं, वहाँ उन्होंने सच्चे अर्थों में गृहलक्ष्मी की भूमिका निवाही है। ससुराल वालों ने उन्हें पाकर अपने घर में देवी के प्रवेश जैसा सौभाग्य माना है। उन परिवारों में मुद्दतों से चले आ रहे मनोमालिन्य और कलह-द्वेष को उन्होंने अल्पसमय में ही धोकर साफ कर दिया है। पहले लगता था कि यह परिवार अब बिखरने ही वाले हैं। स्नेह, सौजन्य और सहकार के अभाव में स्वार्थों के बीच खींचतान चलती थी। विद्रोह और बिखराव की जहाँ दुःखद तैयारियाँ पूर्ण हो चुकी थीं, वह शांतिकुंज की प्रशिक्षित कन्याओं ने जाते-जाते जादू की छड़ी घुमाई और यह सिद्ध कर दिया कि सुसंस्कारी लड़कियाँ टूटे को जोड़ना ही नहीं, रूठे को मनाना भी जानती हैं।

अभाव और दारिद्रय के बीच घर को किस प्रकार स्वच्छ, सुसज्जित और सुव्यवस्थित रखा जा सकता है, यह एक अनोखी कला है, जिसे जादूगरी के समतुल्य समझा जा सकता है, रोते को हँसाना-हँसते को खिलखिलाना भी मानवीय सद्गुणों की शृंखला में अपने ढंग का अनोखा ही

है। फूल की तरह हँसते-हँसाने की प्रकृति एक ईश्वरीय वरदान है। वह जिनको भी मिलेगा वह पग-पग पर श्रेय-सम्मान प्राप्त करेगा और सहयोगियों की उसे कमी न रहेगी। नारी के स्वभाव में सुरम्यता, शोभा और सद्भाव की मात्रा प्रकृति ने अधिक प्रदान की है। इस पर भी यदि उसे सुसंस्कारिता के खराद पर चढ़ने और चमकने का अवसर मिल जाय तो उसे यथार्थता की दृष्टि से ही देवी कहा जा सकता है।

अकेले सज्जनता किस प्रकार समूचे वातावरण को बदलने और प्रभावित करने में समर्थ होती है? अकेले सुसंस्कार के आधार पर किस प्रकार विक्षोभ को सहयोग में बदला जा सकता है, इसे शांतिकुंज की प्रशिक्षित लड़कियों ने अपनी ससुराल में जाकर प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया है। जिन घरों में वे पहुँची हैं वहाँ के हर सदस्य ने उस नववधू के आगमन को अपने लिए व्यक्तिगत दैवी उपहार माना है।

एक विचित्र बात और देखने में आई है कि जिस परिवारों में शांतिकुंज की लड़कियाँ वधू रूप में पहुँची हैं, वहाँ के पड़ौसी, परिवार, सम्पर्क, रिश्तेदारी में होकर प्रशंसा की हवा उड़ी और दूर-दूर तक उसकी चर्चा हुई। बदनामी की तरह नेकनामी की भी हवा होती है और यह देखते-देखते दूर-दूर तक असंख्य को प्रभावित करती है। युग निर्माण परिवार के सदस्यों और उनके सम्पर्क क्षेत्र में जो लड़के विवाह योग्य हैं उनके लिए वधू तलाश करने के सिलसिले में अब ढूँढ-खोज का एक नया प्रयास जुड़ गया है कि जो लड़की शांतिकुंज में पढ़ी हो तो उसे प्राथमिकता देनी चाहिए। पहले रूप-सौन्दर्य, शिक्षा, कला, कौशल, दहेज इन बातों पर वधू पसन्द की जाती थी, अब नये क्षेत्र में शांतिकुंज में प्रशिक्षण को इन चारों की तुलना में बड़ा आधार माना जा रहा है। आये दिन सुयोग्य लड़कों के अभिभावक शांतिकुंज से यह पूछताछ करते रहते हैं कि क्या उन्हें शान्तिकुंज की पढ़ी लड़की पाने का सौभाग्य मिल सकता है। विवाहों में हस्तक्षेप न करने की नीति होने के कारण ऐसी पूछताछ के समय उन्हे लड़कियों के अभिभावकों के ही पते बता दिए जाते हैं।

कन्याएँ शांतिकुंज से जाते ही अपने अभिभावकों के सहयोग से पितृ एवं ससुराल के क्षेत्र में महिला जाग्रति के लिए कुछ न कुछ रचनात्मक कार्य आरम्भ कर देती हैं। वे प्रौढ़ शिक्षा, गृह उद्योग, संगठन, साप्ताहिक सत्संग जैसे कल्याणप्रद प्रयासों में उत्साहपूर्वक संलग्न देखी जाती हैं।

यहाँ एक कठिनाई अभी भी बनी हुई है और वह यह है कि वयस्क लड़कियों को अभियान की गतिविधि चलाने, बढ़ाने के लिए जन-सम्पर्क में आने की किन्हीं प्रगतिशील घरों में ही छूट मिल रही है। सामान्यतया उन्हें इसके लिए उपेक्षा ही सहनी पड़ती है और बहुत थोड़ा ही काम कर पाती हैं। विवाह के बाद तो एकाध साल के भीतर ही उनके कन्धों पर मातृत्व का बोझ आ पड़ता है। इन सब परिस्थितिओं को देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि जहाँ तक परिवार निर्माण का उद्देश्य है वहाँ तक शान्तिकुंज का प्रशिक्षण सफल हुआ है पर अभियान को आगे बढ़ाने के दृष्टि से उनके द्वारा जो हो सकता था, उसमें रूढ़िवादी कारण से वह प्रगति बन नहीं पा रही है। इतने पर भी कन्या प्रशिक्षण की उपयोगिता कम नहीं होती। ये जो कुछ कर रही हैं, कर सकती हैं, वह भी कम नहीं है। कुछ समय बाद जब वे अनुकूल स्थिति में पहुँचेंगी; प्रौढ़ बनकर घर-परिवार का नेतृत्व करेंगी तब वे महिला जागरण अभियान की बागडोर भी अपने हाथ में ले सकेंगी।

महिला सत्र व्यवस्था

स्पष्ट है कि महिला जाग्रति अभियान में प्रथम भूमिका नारी की ही हो सकती है। भारत की वर्तमान परम्पराओं में पुरुष वर्ग का नारी समाज से सीधा सम्पर्क बनाना कठिन है; नारी को नारी ही शिक्षित, समुन्नत, परिष्कृत एवं सुसंस्कृत बना सकती है। अपने घरों का नये सिरे से निर्माण करना ऐसा कार्य है जिसके लिए हर किसी का मन चलेगा, इस बात के लिए हर व्यक्ति में उमंगें उठेंगी कि हमारे परिवार में भी नारी परिष्कार की प्रक्रिया आरम्भ हो। अपने-अपने सम्पर्क क्षेत्र में विकसित नारियाँ ही ऐसा वातावरण बना सकती हैं जिससे अन्य महिलाएँ प्रभावित हो सकें और सुधारवादी प्रवृत्तियों को स्वीकार कर सकें।

इस मोर्चा पर प्रौढ़ महिलाएँ ही महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सकती हैं। कन्या प्रशिक्षण का दूरगामी महत्व है किन्तु तत्काल कुछ प्रगति अभीष्ट है तो प्रौढ़ नारी को ही उठाना और आगे लाना होगा। उसी की परिपक्वता से कुछ ठोस काम हो सकता है। महिला सत्रों का महत्व हर दृष्टि से अत्यधिक है। युग निर्माण परिवारों के कार्यकर्त्ता जब दूसरों के सामने मिशन के व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण और समाज निर्माण के सिद्धान्तों की चर्चा करते है तो प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अपने निज के क्षेत्रों की स्थिति को उन्हें स्पष्ट करना पड़ता है। परिवार निर्माण मे अपनी रुचि है तो उसे अपने यहाँ से आरम्भ और विकसित करना चाहिए था। उतना बन नहीं पाता, अपनी क्षमता घर की नारी को ढालने की होती नहीं। इस कार्य के लिए महिला सत्रों की व्यवस्था शांतिकुंज में पहले से ही रही हो पर उनमें बच्चों को लेकर पहुँचने की छूट नहीं थी। ऐसी दशा में अधिकांश सदस्य अपने घरों की महिलाओं को इन सत्रों में भेज नहीं पाते थे। अपने परिवार में परिष्कृत वातावरण बनाकर जो लाभ उठा सकते थे और दूसरों के सामने परिवार-निर्माण का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते थे, वह कर नहीं पाते थे। इस असमंजस को दूर करने के लिए एक नया महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया है। वह यह है कि बच्चो समेत भी महिलाओं का उपयुक्त प्रशिक्षण संभव हो सके। साथ ही बालक भी आवश्यक संस्कार पाने और अच्छी आदतें सीखने का लाभ ले सकें।

इसके लिए शांतिकुंज से बिलकुल सटा हुआ एक गायत्री नगर बसाया गया है, उसमें १०० कुटीर बनाने की

योजना है। इनमें आकर बच्चों समेत भी महिलाएँ ठहरने और शिक्षण प्राप्त करने की सुविधा प्राप्त कर सकती हैं। न्यूनतम पाठ्यक्रम दो महीने का ही है पर जो अधिक समय ठहरना चाहें, अधिक शिक्षण प्राप्त करना चाहें, उन्हें वैसी सुविधा भी मिल सकती है। हर कुटीर में दो कमरे, एक बरामदा-रसोई, स्टोर, स्नानघर एवं फ्लश का शौचालय हैं। पानी के लिए हैडपम्पों की व्यवस्था है। कुटीर के आस-पास इतनी जमीन है कि उसमे फूल-पौधे शाक-भाजी उगाये जा सकें। इन कुटीरों में शिक्षार्थी महिलाएँ अपना भोजन आप बना सकती हैं। इससे उन्हें किसी स्तर की सस्ती-मँहगी व्यवस्था रखने में भी कुछ कठिनाई नहीं उठानी पड़ती ।

गायत्री नगर में दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदने के लिए सहकारी दुकान, स्थाई चिकित्सालय एवं बच्चों को पढ़ाने की अलग व्यवस्था भी बनाई जा रही है। तीन चार महिलाएँ तक एक साथ अपने बच्चों समेत संयुक्त रूप से भी रह सकती हैं। भोजन, कपड़े धोना, सफाई आदि नित्यकर्म आसानी से मिल-जुलकर पूरे किये जा सकते हैं। सबके बच्चे भी साथ-साथ पढ़ते-खेलते रहें। इस सुविधा जनक वातावरण में महिलाओं का दो महीने तथा इससे भी अधिक समय तक शिक्षण प्राप्त कर सकना संभव हो सकता है। खर्च अपने खाने-पहनने का घर पर भी उठाती थी, यहाँ भी उतने से ही काम चल जाता है। शिक्षा, कुटीर, पानी, बिजली आदि सब कुछ बिना मूल्य है। अतिरिक्त खर्च आने-जाने के किराये भाड़े का ही रह जाता है। इस स्थिति में आर्थिक दृष्टि से यह प्रशिक्षण किसी को भी भारी नहीं पड़ता। चूँकि स्थान शांतिकुंज से बिलकुल सटा हुआ ही है। उसे एक प्रकार से पुराने आश्रम का विस्तार ही कह सकते हैं। गायत्री नगर उसका नामकरण इसलिए किया गया है कि उनके निवासियों पर दैनिक जीवन के शांतिकुंज जैसे प्रतिबन्ध नहीं है। उसमें घरेलू जीवन जैसी अभ्यस्त रहन-सहन, अपनाने की अपेक्षाकृत सुविधा है। यों नशेबाजी या दूसरी गड़बड़ियों की छूट तो वहाँ भी नहीं है। देखने में उसे शांतिकुंज का बढ़ा हुआ रूप ही कहा जायगा। अलग से किसी नये ग्राम, मुहल्ले आदि का आभास न होगा। नियंत्रण, शिक्षण, व्यवस्था आदि के सूत्र वही हैं जिन पर शांतिकुंज चलता है।

अभी तो महिला शिक्षण के दो-दो माह के सत्र ही चलाए जाते हैं उनकी घोषणा मिशन की पत्रिकाओं में कर दी जाती है। जब गायत्री नगर अपने स्वरूप में आ जाएगा तो सत्र व्यवस्था भी बदल दी जाएगी और पूरे साल तक लगातार दो-दो महिने के छह महिला सत्र चला करेंगे। यदि कोई शिक्षार्थी चाहेगी तो उसे एक से अधिक सत्रों में भी रुकने की विशेष अनुमत मिल सकेगी।

इस व्यवस्था के अन्तर्गत युग निर्माण परिवार की महिला सदस्याओं को यह अवसर मिलेगा कि वे अपने व्यक्तित्व को, परिवार को अपेक्षाकृत अधिक समुन्नत बना सकने की शिक्षा प्राप्त कर सकें और मिशन की उपयोगिता अपनी निज की प्रगति के आधार पर सिद्ध कर सकें । मिशन की उपयोगिता सिद्ध करने और उसे लोकप्रिय, व्यापक बनाने का इससे अच्छा तरीका दूसरा हो नहीं सकता। जो कार्य व्याख्यान प्रवचनों से सम्भव नहीं हो पाता वह अपना उदाहरण प्रस्तुत करने से सहज ही संभव हो जाता है।

हर कोई यह चाहता है कि हमारे घरों में श्रेष्ठ परम्पराएँ चलें और सुव्यवस्था बढ़ें। इस कार्य में जिनसे भी आशा होगी उनका घर में स्वागत होगा। निश्चित है कि महिला सत्र में प्रशिक्षित महिलाएँ अपने लिए, अपने सम्पर्क क्षेत्र में स्वागत और सम्मान प्राप्त करेंगी; उन्हें घर-घर में अपना प्रभाव छोड़ने और सुधार-सम्भव कराने के लिए आमंत्रित किया जाता रहेगा। आमतौर से बाहर की महिलाओं को अपने घरों में न आने देने का रिवाज है। डर रहता है कि कुसंस्कारी औरतें अपने घरों में उच्छृंखलता के बीज न बो जाएँ। ऐसा भय इसी दृष्टि से होता है। जब यह पता चलेगा कि इसके आगमन से हमारा घर सुधरने वाला है तो घर-घर उन्हें बुलाया जाएगा और देवता की तरह उनका स्वागत किया जाएगा। सद्शिक्षकों की सर्वत्र आवश्यकता है। इसकी सर्वत्र माँग है। महिला सत्रों से लौटी हुई छात्राएँ अपने व्यक्तित्व, परिवार को, सम्पर्क क्षेत्र को परिष्कृत बनाने में आशाजनक सफलता प्राप्त कर सकेंगी यह आशा सहज ही की जा सकती है।

इस प्रकार महिला जाग्रति अभियान आगे बढ़ेगा और युग निर्माण योजना का वह मूलभूत उद्देश्य पूरा होगा जिससे जनमानस के परिष्कार को, मनुष्य में देवत्व उदय और धरती पर स्वर्ग का वातावरण अवतरित होने की बात कही गई है। व्यक्ति निर्माण ही युग निर्माण है। कहा जा चुका है कि व्यक्ति का ५० प्रतिशत भाग नारी है। नारी का उत्कर्ष ही मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य की भूमिका सम्पन्न कर सकने में बहुत बड़ा आधार है। महिला सत्रों के लिए उपयुक्त व्यवस्था और सुविधा उत्पन्न हो जाने से निश्चय ही मिशन के महान प्रयोजन को पूरा करने के लिए एक नया द्वार खुलता है।

दो-दो महीने के महिला सत्रों में प्रशिक्षण के मोटे सिद्धान्त वही हैं जो कन्या प्रशिक्षण के एक वर्षीय पाठ्यक्रम के हैं। कन्याओं में संगीत प्रशिक्षण की विशेषता है और उनकी स्वाभाविक कुशाग्र बुद्धि पूरी सुविधा नई उम्र में निश्चिन्तता के कारण एक वर्ष में उतनी संगीत शिक्षा यहाँ प्राप्त करा दी जाती है जो अन्यत्र कई वर्षों में भी सम्भव नहीं। महिलाओं के लिए दो महीने में उतना कर सकना शक्य नहीं। भजन, कीर्तन आदि के अवसर पर गीत-वाद्य के लिए ताल, स्वर का जितना ज्ञान आवश्यक है वह करा दिया जाता है। ढोलक, मंजीरा, करताल, ढपली व इकतारा सीखे जा सकते हैं, संगीत इतना ही रखा गया है।

शिल्प उद्योग कन्याओं को अधिक सिखाये जाते हैं और उन्हें अभ्यास करने, प्रवीणता पाने के लिए भी पर्याप्त समय मिल जाता है। दो महीने में जितना अधिक सम्भव है वह उद्योग भी महिलाओं को सिखा देने की व्यवस्था बनाई गई

है। फूल की तरह हँसते-हँसाने की प्रकृति एक ईश्वरीय वरदान है। वह जिनको भी मिलेगा वह पग-पग पर श्रेय-सम्मान प्राप्त करेगा और सहयोगियों की उसे कमी न रहेगी। नारी के स्वभाव में सुरम्यता, शोभा और सद्भाव की मात्रा प्रकृति ने अधिक प्रदान की है। इस पर भी यदि उसे सुसंस्कारिता के खराद पर चढ़ने और चमकने का अवसर मिल जाय तो उसे यथार्थता की दृष्टि से ही देवी कहा जा सकता है।

अकेले सज्जनता किस प्रकार समूचे वातावरण को बदलने और प्रभावित करने में समर्थ होती है? अकेले सुसंस्कार के आधार पर किस प्रकार विक्षोभ को सहयोग में बदला जा सकता है, इसे शांतिकुंज की प्रशिक्षित लड़कियों ने अपनी ससुराल में जाकर प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया है। जिन घरों में वे पहुँची हैं वहाँ के हर सदस्य ने उस नववधू के आगमन को अपने लिए व्यक्तिगत दैवी उपहार माना है।

एक विचित्र बात और देखने में आई है कि जिस परिवारों में शांतिकुंज की लड़कियाँ वधू रूप में पहुँची हैं, वहाँ के पड़ौसी, परिवार, सम्पर्क, रिश्तेदारी में होकर प्रशंसा की हवा उड़ी और दूर-दूर तक उसकी चर्चा हुई। बदनामी की तरह नेकनामी की भी हवा होती है और यह देखते-देखते दूर-दूर तक असंख्य को प्रभावित करती है। युग निर्माण परिवार के सदस्यों और उनके सम्पर्क क्षेत्र में जो लड़के विवाह योग्य हैं उनके लिए वधू तलाश करने के सिलसिले में अब ढूँढ़-खोज का एक नया प्रयास जुड़ गया है कि जो लड़की शांतिकुंज में पढ़ी हो तो उसे प्राथमिकता देनी चाहिए। पहले रूप-सौन्दर्य, शिक्षा, कला, कौशल, दहेज इन बातों पर वधू पसन्द की जाती थी, अब नये क्षेत्र में शांतिकुंज में प्रशिक्षण को इन चारों की तुलना में बड़ा आधार माना जा रहा है। आये दिन सुयोग्य लड़कों के अभिभावक शांतिकुंज से यह पूछताछ करते रहते है कि क्या उन्हें शान्तिकुंज की पढ़ी लड़की पाने का सौभाग्य मिल सकता है। विवाहों में हस्तक्षेप न करने की नीति होने के कारण ऐसी पूछताछ के समय उन्हें लड़कियों के अभिभावकों के ही पते बता दिए जाते हैं।

कन्याएँ शांतिकुंज से जाते ही अपने अभिभावकों के सहयोग से पितृ एवं ससुराल के क्षेत्र में महिला जाग्रति के लिए कुछ न कुछ रचनात्मक कार्य आरम्भ कर देती हैं। वे प्रौढ़ शिक्षा, गृह उद्योग, संगठन, साप्ताहिक सत्संग जैसे कल्याणप्रद प्रयासों में उत्साहपूर्वक सलग्न देखी जाती हैं।

यहाँ एक कठिनाई अभी भी बनी हुई है और वह यह है कि वयस्क लड़कियों को अभियान की गतिविधि चलाने, बढ़ाने के लिए जन-सम्पर्क में आने की किन्हीं प्रगतिशील घरो में ही छूट मिल रही है। सामान्यतया उन्हें इसके लिए उपेक्षा ही सहनी पड़ती है और बहुत थोड़ा ही काम कर पाती हैं। विवाह के बाद तो एकाध साल के भीतर ही उनके कन्धों पर मातृत्व का बोझ आ पड़ता है। इन सब परिस्थितिओं को देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि जहाँ तक परिवार निर्माण का उ[illegible] है वहाँ तक शान्तिकुंज का प्रशिक्षण सफल हुआ है अभियान को आगे बढ़ाने के दृष्टि से उनके द्वारा जो सकता था, उसमें रूढ़िवादी कारण से वह प्रगति बन नहीं रही है। इतने पर भी कन्या प्रशिक्षण की उपयोगिता कम नह[illegible] होती। वे जो कुछ कर रही हैं, कर सकती हैं, वह भी कम नहीं है। कुछ समय बाद जब वे अनुकूल स्थिति में पहुँचेंगी; प्रौढ़ बनकर घर-परिवार का नेतृत्व करेंगी तब वे महिला जागरण अभियान की बागडोर भी अपने हाथ में ले सकेंगी।

महिला सत्र व्यवस्था

स्पष्ट है कि महिला जाग्रति अभियान में प्रथम भूमिका नारी की ही हो सकती है। भारत की वर्तमान परम्पराओ मे पुरुष वर्ग का नारी समाज से सीधा सम्पर्क बनाना कठिन है; नारी को नारी ही शिक्षित, समुन्नत, परिष्कृत ए[illegible] सुसंस्कृत बना सकती है। अपने घरों का नये सिरे से निर्मा[illegible] करना ऐसा कार्य है जिसके लिए हर किसी का मन चलेगा, इस बात के लिए हर व्यक्ति में उमंगें उठेगी कि हमारे परिवार में भी नारी परिष्कार की प्रक्रिया आरम्भ हो। अपने-अपने सम्पर्क क्षेत्र में विकसित नारियाँ ही ऐसा वातावरण बना सकती हैं जिससे अन्य महिलाएँ प्रभावित हो सकें और सुधारवादी प्रवृत्तियों को स्वीकार कर सके।

इस मोर्चा पर प्रौढ़ महिलाएँ ही महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सकती हैं। कन्या प्रशिक्षण का दूरगामी महत्व है किन्तु तत्काल कुछ प्रगति अभीष्ट है तो प्रौढ़ नारी को ही उठाना और आगे लाना होगा। उसी की परिपक्वता से कुछ ठोस काम हो सकता है। महिला सत्रों का महत्व हर दृष्टि से अत्यधिक है। युग निर्माण परिवारों के कार्यकर्ता जब दूसरों के सामने मिशन के व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण और समाज निर्माण के सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं तो प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अपने निज के क्षेत्रों की स्थिति को उन्हें स्पष्ट करना पड़ता है। परिवार निर्माण में अपनी रुचि है तो उसे अपने यहाँ से आरम्भ और विकसित करना चाहिए था। उतना बन नहीं पाता, अपनी क्षमता घर की नारी को ढालने की होती नहीं। इस कार्य के लिए महिला सत्रों की व्यवस्था शांतिकुंज में पहले से ही रही हो प[illegible] उनमें बच्चों को लेकर पहुँचने की छूट नहीं थी। ऐसी दशा में अधिकांश सदस्य अपने घरों की महिलाओं को इन सत्रों में भेज नहीं पाते थे। अपने परिवार में परिष्कृत वातावरण बनाकर जो लाभ उठा सकते थे और दूसरों के सामने परिवार-निर्माण का उदाहरण प्रस्तुत कर सकते थे, वह कर नहीं पाते थे। इस असमंजस को दूर करने के लिए एक नया महत्वपूर्ण कदम उठाया गया है। वह यह है कि बच्चों समेत भी महिलाओं का उपयुक्त प्रशिक्षण संभव हो सके। साथ ही बालक भी आवश्यक संस्कार पाने और अच्छी आदतें सीखने का लाभ ले सके।

इसके लिए शांतिकुंज से बिलकुल सटा हुआ एक गायत्री नगर बसाया गया है, उसमें १०० कुटीर बनाने की

है। युग निर्माण परिवार का मार्गदर्शन भी वहीं से होता है अस्तु, प्रतिदिन सैंकड़ों की संख्या में पत्रों के आदान-प्रदान का कार्य भी वहाँ से चलता है। युग निर्माण परिवार के संस्थापक के संदेशों को परिजनों तक और समस्याओं को उन तक पहुँचाने का आदान-प्रदान केन्द्र भी यही है। भावनाओं के आदान-प्रदान एवं प्राण प्रत्यावर्तन की वरिष्ठ प्रक्रिया भी-साधक वहीं जाकर पूरी करते हैं।

इसके अतिरिक्त शांतिकुंज में उस अखण्ड दीपक की स्थापना भी है, जिस पर बैठकर श्रद्धेय माता जी के अतिरिक्त युग निर्माण परिवार के संस्थापक ने अपनी २४ वर्ष की गायत्री महापुरश्चरण साधना सम्पन्न की थी। उस अखण्ड दीपक पर आरंभ से ही अखण्ड गायत्री जप चल रहा है। शांतिकुंज में भी यह पाँच वर्ष तक बराबर चलता रहा। इस प्रयोजन के लिए आरम्भ में ४-४ घन्टा जप कर सकने वाली कन्याएँ बुलाई गई थीं, उनके लिए नि:शुल्क भोजन का भी प्रबन्ध किया गया था पर बाद में उसमें यह सुधार कर दिया गया कि नारी जीवन की महत्वपूर्ण शिक्षाएँ प्राप्त करने के लिए ही कन्याएँ बुलाई जाएँ। वे दिन में केवल एक घन्टा ही जप करें शेष कार्यक्रमों की अतिरिक्त व्यवस्था बनाली गई।

यहाँ कन्याओं के भौतिक, शारीरिक, मानसिक तीनों ही क्षेत्रों में ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है जिसे प्राप्त करके स्वयं सुखी-समुन्नत जीवन जी सकें और अपने परिवार-पड़ोस में समुन्नत वातावरण उत्पन्न कर सकें। यह शिक्षा योजना एक वर्ष की है। १४ वर्ष से अधिक आयु की लड़कियों का ही इसमें प्रवेश किया जाता है। इसमें कम आयु की लडकियों को एक तो अपने अभिभावक छोड़ने की याद आती है, दूसरा उनका बौद्धिक विकास उतना नहीं हो पाता कि वे पाठशाला क्रम को सही रीति से हृदयंगम कर सकें। एक वर्ष की अवधि इसलिए रखी गई है ताकि परिवार की अधिक कन्याओं को इस प्रशिक्षण का लाभ मिल सके।

गणित, भूगोल, इतिहास, नागरिकशास्त्र, समाजशास्त्र, शरीरशास्त्र, गृहविज्ञान, साहित्य, मनोविज्ञान जैसे आवश्यक विषयों का उस सीमा तक समावेश किया गया है जितना कि प्रत्येक शिक्षित कहलाने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है और दैनिक जीवन में प्राय काम आता रहता है। निर्धारित न्यूनतम शिक्षा प्रणाली की पूरी तरह शिक्षा इस एक वर्ष की अवधि में कन्याओं को देदी जाती है। नारी जीवन की अतिरिक्त समस्याओं, दाम्पत्य जीवन की मधुरता-बालकों का स्वस्थ सुसंस्कृत निर्माण, परिवार में स्नेह-सौहार्द भरा हँसी-खुशी का वातवरण, सुन्दरता और सुव्यवस्था की हिलोरें उत्पन्न करने वाली रीति-नीति, बड़ों को सम्मान-सन्तोष देना, छोटों को स्नेह-सहयोग से प्रमुदित रखना, अपने शरीर और मन को स्वस्थ-समर्थ बनाये रहना यह सभी ऐसा शिक्षण है जिसके ऊपर नारी जीवन की सफलता बहुत कुछ निर्भर रहती है। वस्तुत: नारी शिक्षा का यही स्वरूप होना चाहिए था पर आज की शिक्षा व्यवस्था में फालतू बातों की तो भरमार है पर काम की बातें नहीं के बराबर पढ़ाई-लिखाई जाती हैं। इसी अभाव की पूर्ति के लिए माता भगवती देवी द्वारा कन्या शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण शिक्षण आरंभ किया गया।

इस एक वर्ष की अवधि में गृह शिक्षा के अतिरिक्त गृह शिल्प का भी आवश्यक प्रशिक्षण दे दिया जाता है। कपड़ों की धुलाई, रँगाई, छपाई, कढ़ाई, मरम्मत, प्रेस करना आदि को कला में सिलाई को भी समुचित स्थान दिया गया है। बनियान, कुर्ता, कमीज, बुशर्ट, जाकेट, नेकर, अण्डरवियर, पाजामा, पेटीकोट, सलवार, फिराक आदि की सिलाई इसी अवधि में सिखा दी जाती है। शाक वाटिका लगाकर घर के लिए आवश्यक शाक-भाजी उत्पन्न करके काफी आर्थिक बचत की जा सकती है। टूटी-फूटी वस्तुओं की मरम्मत, गृह सज्जा के अनेक प्रकार के खिलौने बनाने व स्वेटर, निवाड़ आदि बुनना जैसे कितने ही हस्त कला-कौशल सम्मिलित किये गये हैं।

मुख्य शिक्षण गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार, व्यक्तित्व का निखार तथा प्रतिभा का विकास है। जीवन जीने के कुछ आधार हैं और कुछ आदर्श। यदि उन्हें ठीक तरह से समझ लिया जाय तो अभाव और अड़चनों से भरी हुई परिस्थितियों में भी हँसते-खेलते जिया जा सकता है। इसके विपरीत सब सुविधा सम्पन्न परिस्थितियों में भी उसे दृष्टिकोण के व्यक्ति उद्विग्न रहते हैं और अपने साथ सम्बन्धित लोगों को खिन्न करते हैं। जीवन को असफलता-सफलता, प्रगति-अवनति जिन सूत्रों पर आधारित है उन्हें बताना-सिखाना ही नहीं, हृदयंगम कराना और अभ्यास में स्वभाव में उतारना भी सहशिक्षा का प्रयोजन है। संगीत और भाषण कराना जैसे कार्य तो हँसी-खेल के रूप में ही सिखा दिये जाते हैं ताकि अवसर आने पर अपनी बात दूसरों के साथ प्रखरतापूर्वक प्रस्तुत कर सकें।

अगले दिनों नारी को विश्व का नेतृत्व करना है, मानव जाति के भविष्य को उज्ज्वल बनाने में नारी को महत्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न करनी है, इसके लिए उनकी प्रसुप्त प्रतिभा का विकास आवश्यक है। प्रस्तुत प्रशिक्षण इसी आवश्यकता की पूर्ति करेगा। अभी तो कन्याओं की एक वर्ष की शिक्षा ही कार्यान्वित की गई है पर भविष्य में प्रौढ़ एवं गृहस्थ महिलाओं के लिए भी उपरोक्त शिक्षा का सार तीन महीने में सिखाने के लिए विशेष सत्र लगाये जाएँगे और विश्वव्यापी महिला संगठन एवं महिला जागरण के कितने ही क्रिया-कलाप शांतिकुंज में आरम्भ किये जाएँगे। जो सज्जन अपनी कन्याओं को भेजना चाहें उसके लिए आवेदन पत्र मँगालें, स्वीकृत होने पर उन्हें शांतिकुंज भेज दें।

है। (१) घरेलू शाक-वाटिका (२) टूट-फूट की मरम्मत (३) तरह-तरह के खिलौने बनाना (४) पुस्तकों की जिल्द-साजी (५) साबुन बनाना (६) धुलाई का पाउडर बनाना (७) मोमबत्ती (८) फाउण्टेन पैन-आदि की तरह-तरह की स्याहियाँ (९) कपड़ों की सिलाई (१०) डबल रोटी, बिस्कुट, लैमनचूस आदि बनाना (१२) सुगंधित तेल, फलों का शरबत, माथे की बिन्दी, दन्तमंजन आदि बनाना (१३) चटाई, पैरदान, थैले, कुर्सी आदि बुनना (१४) रबड़ की मुहरें-जैसे जितने अधिक उद्योग जो महिलाएँ अपनी प्रतिभा के अनुरूप सीख सकेंगी उसके लिए पूरी सुविधा और शिक्षा उपलब्ध रहेगी।

संगीत और उद्योग यह दो कार्य तो विचार-विस्तार एवं आर्थिक स्वावलम्बन की दृष्टि से आवश्यक हैं पर इससे भी महत्वपूर्ण शिक्षा है, अपने निज के स्वास्थ्य और स्वभाव को सुधारना। अपनी दिनचर्या, चिन्तन-पद्धति, व्यवहार एवं गतिविधियों का ढर्रा सुव्यवस्थित करना। महिला सत्र में ऐसे ही विषयों को प्रधानता दी जाती है। शिशुपालन नारी का महान कार्य है। दाम्पत्य-जीवन में सरसता, विश्वसनीय, घनिष्टता एवं प्रगतिशीलता उत्पन्न कर लेना नारी की सबसे बड़ी सफलता है।

घर की वस्तुओं को यथा स्थान स्वच्छता, सुसज्जित, सुरक्षित रखने से वे अधिक समय काम देती हैं और गृहलक्ष्मी की सुरुचि का परिचय देती हैं। यदि ढंग से घर चलाया जाय तो आर्थिक बचत इतनी हो सकती है जिसे एक आदमी की कमाई के समतुल्य कहा जा सके। उपार्जन का उत्तरदायित्व पुरुष का है और उपयोग नारी का यदि नर-नारी मिल कर दूरदर्शितापूर्ण अर्थनीति अपनायें, तो थोड़ी आमदनी में भी सुसम्पन्नों जैसा सुखी जीवन जिया जा सकता है।

पारिवारिक स्नेह, सौजन्य, सहकार बहुत बड़ी बात है इसी आधार पर जिस घर के सदस्य परस्पर शृंखला में बँधे हैं वहाँ मिल-जुलकर एक दूसरे की सहायता करने और प्रगति पथ पर बढ़ते चलने की परिस्थितियाँ बनी रहती हैं। इन सफलताओं में नर से भी अधिक नारी की भूमिका रहती है। परिवार रूपी एक देश का शासन संभालना, उसे समुन्नत, सुसंस्कृत बनाना किसी सुयोग्य नारी के लिए ही सम्भव हो सकता है। जिस घर में ऐसी सुविकसित नारी होती है समझना चाहिए वहाँ साक्षात लक्ष्मी का निवास है। मानना चाहिए कि उस घर में स्वयं सौभाग्य ही उदय हो गया है। महिला सत्रों में इसी स्तर का व्यक्तित्व और परिवार का सर्वतोमुखी सृजन कर सकने की क्षमता का विकास करना ही मूलभूत प्रशिक्षण आधार है। अपना पाठ्यक्रम इसी आधार पर बनाया गया है। शिक्षा पुस्तकीय कम व्यावहारिक अधिक है। महात्मा सुकरात की प्रश्नोत्तर शैली की शिक्षण-प्रक्रिया को ही प्रधानता दी गई है।

विचारों की अभिव्यक्ति मनुष्य की आवश्यक योग्यता है। इसके दबे रहने पर आत्महीनता घेरे रहती है और संकोच की घुटन में अपनों से भी मन की बातें कह सकना सम्भव नहीं होता। दूसरों को सन्मार्ग पर चलने का, कुचाल छोड़ने का परामर्श देने, तर्क एवं आग्रह करने का गुण हर किसी में होना चाहिए। महिला जाग्रति अभियान के प्रत्येक सदस्य में तो यह विशेषता मुख्य रूप से होनी चाहिए कि वह जीवन के हर क्षेत्र में घुसे हुए पिछड़ेपन को हटाने और प्रगतिशीलता की प्रतिष्ठापना के लिए जो आवश्यक है उसे समझ-बूझ सकने में समर्थ हो। पारस्परिक सम्भाषण और गोष्ठी में सर्वोपयोगी विचार व्यक्त कर सकने की योग्यता का विकास महिला सत्रों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित रखा गया है।

प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को यह अनुभव करना चाहिए कि नर की शिक्षा, स्वास्थ्य, कुशलता, प्रतिष्ठा एवं उपार्जन क्षमता कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो पर घर में सुविकसित एवं सुसंस्कृत नारी के अभाव में आन्तरिक सुख-शान्ति और बाह्य-जीवन में समृद्धि एवं प्रगति का आधार खड़ा रह ही नहीं सकेगा। इसके लिए उसे सुयोग्य सहयोगिनी की नितान्त आवश्यकता है। सौभाग्यवश वह अनायास ही मिल गई हो तब उसे अधिक प्रखरता सम्पन्न बनाने के लिए और यदि वैसा सुयोग्य नहीं बना हो तो उस अभाव की पूर्ति के लिए शांतिकुंज के महिला सत्रो से लाभ उठाया जाना चाहिए।

स्मरण रखा जाना चाहिए कि नारी को सुयोग्य बनाने के साथ-साथ गृहस्थ में स्वर्गीय वातावरण की प्रतिष्ठापना, नई पीढ़ी की सुसंस्कारिता, परिवारों में नररत्नों की खदान जैसे अनेक महान प्रयोजन सिद्ध होते हैं। सुयोग्य नारी परिवार की अर्थव्यवस्था, शोभा, स्वच्छता, शिष्टता, सज्जनता जैसी सत्प्रवृत्तियों में उत्साहजनक अभिवर्द्धन कर सकती है। परिवार में सुव्यवस्था और शालीनता की गतिविधियाँ चलाती है। अभावग्रस्त परिस्थितियों में भी वहाँ प्रगति एवं प्रसन्नता का वातावरण बना रहेगा। परिवार-निर्माण से व्यक्ति और समाज दोनों का निर्माण होता है। पारिवारिक परिष्कार सुयोग्य नारी का उत्तरदायित्व है। इसे ठीक तरह निभा सकें इसी दृष्टि से महिला सत्रों की व्यवस्था की गई है। यह कार्य व्यापक रूप से सम्पन्न हो सके इसी दृष्टि से गायत्री नगर का विकास किया जा रहा है।

महिला सत्रों में प्रवेश के आवेदन कभी भी किये जा सकते हैं। उन्हें ऐसे निकटतम शिविर की स्वीकृति दे दी जाती है, जिसमें स्थान खाली होता है। कन्या सत्रों के लिए अप्रेल में आवेदन ठीक रहता है। मई एवं जून में चुनाव करके स्वीकृति दे दी जाती है। आवेदन में विलम्ब हो जाने पर, स्थान भर जाने के कारण फिर निराशा ही हाथ लगती है।

एक वर्ष का कन्या प्रशिक्षण

वेद माता गायत्री ट्रस्ट के अन्तर्गत स्थापित शांतिकुंज, सप्त सरोवर, हरिद्वार ,मिशन के सूत्र-संचालक का निवास है। वहीं से 'अखंड ज्योति' तथा 'युग निर्माण' मासिक पत्रिकाओं का, पाक्षिक 'प्रज्ञा अभियान' का सम्पादन होता

है। युग निर्माण परिवार का मार्गदर्शन भी यहीं से होता है अस्तु, प्रतिदिन सैंकड़ों की संख्या में पत्रों के आदान-प्रदान का कार्य भी यहाँ से चलता है। युग निर्माण परिवार के संस्थापक के संदेशों को परिजनों तक और समस्याओं को उन तक पहुँचाने का आदान-प्रदान केन्द्र भी यही है। भावनाओं के आदान-प्रदान एवं प्राण प्रत्यावर्तन की वरिष्ठ प्रक्रिया भी-साधक वहीं जाकर पूरी करते हैं।

इसके अतिरिक्त शांतिकुंज में उस अखण्ड दीपक की स्थापना भी है, जिस पर बैठकर श्रद्धेय माता जी के अतिरिक्त युग निर्माण परिवार के संस्थापक ने अपनी २४ वर्ष की गायत्री महापुरश्चरण साधना सम्पन्न की थी। उस अखण्ड दीपक पर आरंभ से ही अखण्ड गायत्री जप चल रहा है। शांतिकुंज में भी यह पाँच वर्ष तक बराबर चलता रहा। इस प्रयोजन के लिए आरम्भ में ४-४ घन्टा जप कर सकने वाली कन्याएँ बुलाई गई थीं, उनके लिए निःशुल्क भोजन का भी प्रबन्ध किया गया था पर बाद में उसमें यह सुधार कर दिया गया कि नारी जीवन की महत्वपूर्ण शिक्षाएँ प्राप्त करने के लिए ही कन्याएँ बुलाई जाएँ। वे दिन में केवल एक घन्टा ही जप करें शेष कार्यक्रमों की अतिरिक्त व्यवस्था बनाली गई।

यहाँ कन्याओं के भौतिक, शारीरिक, मानसिक तीनों ही क्षेत्रों में ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है जिसे प्राप्त करके स्वयं सुखी-समुन्नत जीवन जी सकें और अपने परिवार-पड़ोस में समुन्नत वातावरण उत्पन्न कर सकें। यह शिक्षा योजना एक वर्ष की है। १४ वर्ष से अधिक आयु की लड़कियों का ही इसमें प्रवेश किया जाता है। इसमें कम आयु की लडकियों को एक तो अपने अभिभावक छोड़ने की याद आती है, दूसरा उनका बौद्धिक विकास उतना नहीं हो पाता कि वे पाठशाला क्रम को सही रीति से हृदयंगम कर सकें। एक वर्ष की अवधि इसलिए रखी गई है ताकि परिवार की अधिक कन्याओं को इस प्रशिक्षण का लाभ मिल सके।

गणित, भूगोल, इतिहास, नागरिकशास्त्र, समाजशास्त्र, शरीरशास्त्र, गृहविज्ञान, साहित्य, मनोविज्ञान जैसे आवश्यक विषयों का उस सीमा तक समावेश किया गया है जितना कि प्रत्येक शिक्षित कहलाने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है और दैनिक जीवन में प्राय काम आता रहता है। निर्धारित न्यूनतम शिक्षा प्रणाली की पूरी तरह शिक्षा इस एक वर्ष की अवधि में कन्याओं को देदी जाती है। नारी जीवन की अतिरिक्त समस्याओं, दाम्पत्य जीवन की मधुरता-बालकों का स्वस्थ सुसंस्कृत निर्माण, परिवार में स्नेह-सौहार्द भरा हँसी-खुशी का वातावरण, सुन्दरता और सुव्यवस्था की हिलोरें उत्पन्न करने वाली रीति-नीति, बड़ों को सम्मान-सन्तोष देना, छोटों को स्नेह-सहयोग से प्रमुदित रखना, अपने शरीर और मन को स्वस्थ-समर्थ बनाये रहना यह सभी ऐसा शिक्षण है जिसके ऊपर नारी जीवन की सफलता बहुत कुछ निर्भर रहती है। वस्तुतः नारी शिक्षा का यही स्वरूप होना चाहिए था पर आज की शिक्षा व्यवस्था में फालतू बातों की तो भरमार है पर काम की बातें नहीं के बराबर पढ़ाई-लिखाई जाती हैं। इसी अभाव की पूर्ति के लिए माता भगवती देवी द्वारा कन्या शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण शिक्षण आरंभ किया गया।

इस एक वर्ष की अवधि में गृह शिक्षा के अतिरिक्त गृह शिल्प का भी आवश्यक प्रशिक्षण दे दिया जाता है। कपड़ों की धुलाई, रँगाई, छपाई, कढ़ाई, मरम्मत, प्रेस करना आदि की कला में सिलाई को भी समुचित स्थान दिया गया है। बनियान, कुर्त्ता, कमीज, बुशर्ट, जाकेट, नेकर, अण्डरवियर, पाजामा, पेटीकोट, सलवार, फिराक आदि की सिलाई इसी अवधि में सिखा दी जाती है। शाक वाटिका लगाकर घर के लिए आवश्यक शाक-भाजी उत्पन्न करके काफी आर्थिक बचत की जा सकती है। टूटी-फूटी वस्तुओं की मरम्मत, गृह सज्जा के अनेक प्रकार के खिलौने बनाने व स्वेटर, निवाड़ आदि बुनना जैसे कितने ही हस्त कला-कौशल सम्मिलित किये गये हैं।

मुख्य शिक्षण गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार, व्यक्तित्व का निखार तथा प्रतिभा का विकास है। जीवन जीने के कुछ आधार हैं और कुछ आदर्श। यदि उन्हें ठीक तरह से समझ लिया जाय तो अभाव और अड़चनों से भरी हुई परिस्थितियों में भी हँसते-खेलते जिया जा सकता है। इसके विपरीत सब सुविधा सम्पन्न परिस्थितियों में भी उसे दृष्टिकोण के व्यक्ति उद्विग्न रहते हैं और अपने साथ सम्बन्धित लोगों को खिन्न करते हैं। जीवन को असफलता-सफलता, प्रगति-अवनति जिन सूत्रों पर आधारित है उन्हें बताना-सिखाना ही नहीं, हृदयंगम कराना और अभ्यास में स्वभाव में उतारना भी सहशिक्षा का प्रयोजन है। संगीत और भाषण कराना जैसे कार्य तो हँसी-खेल के रूप में ही सिखा दिये जाते हैं ताकि अवसर आने पर अपनी बात दूसरों के साथ प्रखरतापूर्वक प्रस्तुत कर सकें।

अगले दिनों नारी को विश्व का नेतृत्व करना है, मानव जाति के भविष्य को उज्ज्वल बनाने में नारी को महत्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न करनी है, इसके लिए उनकी प्रसुप्त प्रतिभा का विकास आवश्यक है। प्रस्तुत प्रशिक्षण इसी आवश्यकता की पूर्ति करेगा। अभी तो कन्याओं की एक वर्ष की शिक्षा ही कार्यान्वित की गई है पर भविष्य में प्रौढ़ एवं गृहस्थ महिलाओं के लिए भी उपरोक्त शिक्षा का सार तीन महीने में सिखाने के लिए विशेष सत्र लगाये जाएँगे और विश्वव्यापी महिला संगठन एवं महिला जागरण के कितने ही क्रिया-कलाप शांतिकुंज में आरम्भ किये जाएँगे। जो सज्जन अपनी कन्याओं को भेजना चाहें उसके लिए आवेदन पत्र मँगालें, स्वीकृत होने पर उन्हें शांतिकुंज भेज दें।

अशिक्षितों को शिक्षित बनाने की प्रतिज्ञा करे और उसे पूरी कर दिखाये।

स्कूल जाने वाले बच्चों के निर्धारित पाठ्यक्रम पूरा करने की तो छोटे-बड़े विद्यालयों में व्यवस्था है पर उन्हें सुसंस्कृत बनाने, उदात्त दृष्टिकोण अपना सकने की व्यावहारिक शिक्षा का वहाँ भी अभाव है। इस कमी को पूरा करने के लिए हर जगह स्कूलों में बचे समय में दो-तीन घंटे की बाल संस्कारशाला चलाने की व्यवस्था होनी चाहिए। स्थान-मंदिरों, धर्मशालाओं, चौपालों आदि में कुछ घंटे प्रयोग करने के लिए मिल सकता है।

बाल-संस्कारशालाओं में स्कूली पाठ पक्का कराने की व्यवस्था हो, ताकि वे अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण हो सकें। इसके अतिरिक्त उन्हें नागरिकता, सामाजिकता, शिष्टता, सज्जनता, सेवा-भावना, संयम जैसे सद्गुणों का महत्व और जीवन में उतारने की प्रक्रिया समझायी जानी चाहिए। इसी समय में स्वास्थ्य रक्षा, परिवार व्यवस्था, समाज सेवा दृष्टिकोण परिष्कार जैसे व्यावहारिक जीवन में काम आने वाली जीवनकला का शिक्षण दिया जाना चाहिए। इसकी व्यवस्था और शिक्षा वे लोग अपने कन्धों पर अवैतनिक रूप से लें, जिनमें मानवी गरिमा को जीवन्त रखने की ललक है। बाल संस्कारशालाओं का गठन हर जगह होना चाहिए।

उपरोक्त दोनों शिक्षा-संवर्द्धन प्रयोजन के लिए क्या किया जाना चाहिए तथा लक्ष्य को व्यवहार में परिणत करने के लिए क्या विधा अपनायी जानी चाहिए? इसका सांगोपांग शिक्षण शांतिकुंज की तीन महीने वाली शिक्षा में सम्मिलित है।

साक्षरता के उपरान्त जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालने वाली समस्याओं के समयानुसार व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करने वाला साहित्य जुटाया जाना चाहिए। यह कार्य पुस्तकालयों के माध्यम से ही हो सकता है। हर शिक्षित इतना अधिक खरीदते रहने की स्थिति में नहीं होता। इसलिए विद्यालयों की तरह सद्ज्ञान-संवर्द्धन कर सकने वाले पुस्तकालयों की स्थापना और उनकी संचालन की व्यवस्था होनी चाहिए। काम स्थिर पुस्तकालयों से भी नहीं चलता, क्योंकि लोगों में स्वाध्याय की अभिरुचि है ही नहीं। पढ़े-लिखे लोग भी मनोरंजक साहित्य पढ़ते हैं। सद्ज्ञान संवर्द्धन वाला साहित्य हर शिक्षित को घर बैठे बिना उपलब्ध हो, इसके लिए झोला पुस्तकालय जैसी चल-प्रक्रिया ही सार्थक सिद्ध हो सकती है। शिक्षा-संवर्द्धन के लिए, स्कूली छात्रों के लिए, बाल संस्कारशाला, प्रौढ़-पाठशाला, शिक्षितों के लिए चल पुस्तकालयों के संचालन की व्यवस्था होनी चाहिए। इसी आधार पर अशिक्षितों को शिक्षित और शिक्षितों को विचारशील बनाने की प्रक्रिया पूरी की जा
समग्र-पुनरुत्थान के लिए यह प्रथम सोपान है।
परिवार में, पड़ौस में, सुव्यवस्थित समाज में
कार्यान्वित किया जाय ? देर: मंच: का,

यह कार्य कौन किस प्रकार सम्पन्न करे? इसकी समग्र जानकारी तीन महीने वाले शांतिकुंज के प्रशिक्षण सत्रों में दी जाती है। इसे शिक्षा-संवर्द्धन की महान योजना माना जाना चाहिए।

लोकनायकों का अभिनव निर्माण

तीन महीने की शांतिकुंज की अभिनव शिक्षण व्यवस्था का प्रथम चरण है-शिक्षा संवर्द्धन, दूसरा सोपान है-विद्या का-सद्ज्ञान का उन्नयन। विद्या के बिना मात्र शिक्षा में उदरपूर्ति वाला कौशल भर हाथ आता है। व्यक्तित्व में मानवी-गरिमा का समावेश तो उन आधारों के सहारे पूरा होता है, जिन्हें सद्ज्ञान-संवर्द्धन कहते हैं। धर्म और अध्यात्म यही है। इसी के सहारे धर्मतन्त्र में लोक-शिक्षण की प्रक्रिया पूरी होती है। मानवी गरिमा के अनेकानेक पक्षों का उच्चस्तरीय समाधान इसी आधार पर बन पड़ता है। पर्व, संस्कार, धर्मानुष्ठान, सत्संग, तीर्थयात्रा आदि कार्यों को इसी निमित्त सम्पन्न किया जाता है।

प्राचीनकाल में यह कार्य साधु-ब्राह्मण अपना समूचा जीवन समर्पित करके पूरा किया करते थे पर वे दोनों ही वर्ण मात्र वेश और वंश तक सीमित रह गये हैं। उस महान दायित्व को अब विचारशील, सेवाभावी वर्ग ही अपने समय का कुछ अंश देकर पूरा कर सकेगा। इसी प्रक्रिया को अति सरलतापूर्वक किस प्रकार पूरा किया जा सकता है, इसकी शिक्षा तीन महीने वाले पाठ्यक्रम में समुचित रीति से समाविष्ट की गई है।

धर्म, अध्यात्म, अनेकानेक धर्मानुष्ठान मात्र मनुष्य के चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में शालीनता का अधिकाधिक समावेश करने के लिए हैं। दृष्टिकोण का परिष्कार, व्यक्तित्व का विकास और सामाजिक गतिविधियों का सुधार इसी आधार सुगम है कि दृष्टिकोण परिमार्जित किया जाये। मान्यताओं, आस्थाओं, विचारणाओं को इस स्तर का बनाया जाय कि व्यक्ति निजी जीवन में आदर्शवादी और सार्वजनिक जीवन में सेवाभावी बन सके। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि इन दिनों साम्प्रदायिक प्रचलनों और कर्मकाण्डों की तो धूम है। वे ही सब कुछ बने बैठे हैं। इन्हीं के सहारे स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि मिलने की कामना कर ली गई है। इस भ्रम-जंजाल में उलझे जाने के कारण जन-साधारण को न तो आत्मिक प्रगति हो पाती है, न ही लौकिक प्रयोजन सध पाते हैं। धर्म का प्रावधान इस
उद्देश्य
भ्रां किया गया था कि व्यक्ति और समाज को
से बचाकर उन्हें मानवी गरिमा के
और प्रस्तुत ओं,
का सुस्थिर निकाला
में
का यह

समय के अनुरूप इस प्रकार ढाला जाय जिसमें सामयिक समस्याओं का समाधान भी जुड़ा हुआ हो और व्यक्तित्व का निखार भी। आयोजन भी ऐसे हों, जिनमें कम-से-कम खर्च पड़े और अधिक-से-अधिक लोग उनमें सम्मिलित होकर उपयोगी मार्गदर्शन प्राप्त करें।

इस प्रयोजन के लिए दीपयज्ञ की योजना बहुत सही और सफल सिद्ध हुई है। अपनी थाली में, अपने घर में तीन-तीन के पाँच गुच्छक और एक दीप रखकर यज्ञकर्त्ता लाते हैं और सभी एक स्थान पर एकत्रित होकर उस देव यज्ञ के समक्ष गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते हैं। अन्त में देव-दक्षिणा के रूप में एक सत्प्रवृत्ति अपनाने की प्रतिज्ञा करते हैं। इन दिनों पाँच प्रौढ़ अशिक्षित व्यक्तियों को शिक्षित बनाना, अपने प्रभाव क्षेत्र में बिना धूमधाम, बिना दहेज की शादियाँ कराना, हरीतिमा-संवर्द्धन, वृक्षारोपण, नशा-निषेध जैसी प्रतिज्ञाओं को प्रमुखता दी जा रही है। यह आयोजन प्रवचन सम्भवतः प्रायः तीन घंटे में पूरे हो जाते हैं। उन्हें प्रातःकाल भी किया जा सकता है और रात को भी। इनके प्रति लोकप्रियता साधारण रूप से बढ़ी है और इस आयोजन को व्यापक बनाने का आशातीत सुयोग बना है।

तीन-तीन महीने वाले सत्रों में सम्मिलित होने वाले सभी शिक्षार्थियों को अपने क्षेत्र के सभी गाँवों, नगरों, मुहल्लों में इन बिना खर्च वाले आयोजनों की व्यवस्था कराने का ऐसा प्रशिक्षण दिया जाता है, जिससे उत्साह उत्पन्न करने व्यवस्था जुटाने और सफल बनाने के सभी पक्षों में से इस प्रकार का अभ्यास उन्हें करा दिया जाय कि वे अपने समीपवर्ती सभी क्षेत्र में इन आयोजनों की धूम मचा सकें और सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन के लिए एक नया द्वार खोल सकें।

इसके अतिरिक्त विद्या विस्तार के और भी कितने ही प्रयोजन हैं, जिनमें प्रज्ञा-पुराण की कथाओं का, रामायण-भागवत की कथाओं की तरह सुनियोजित विस्तार किया जा सकता है। युग-संकीर्तन भी ऐसे ही कृत्यों में से एक है। वाद्य यन्त्रों समेत सामूहिक सहगान की प्रक्रिया ही युग कीर्तन है, जिनमें भी भगवान का नाम लेने के अतिरिक्त अनेकानेक प्रेरणाएँ भरी रहती हैं, जिनके साथ बीच-बीच में टिप्पणी जोड़ते चलाने पर उन्हें लोक-शिक्षण का महत्वपूर्ण अंग बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त स्लाइड-प्रोजेक्टरों के सहारे घरों में, मुहल्लों में आसानी से ज्ञान-गोष्ठी की जा सकती हैं और जहाँ जिस स्तर के लोक-शिक्षण की आवश्यकता है, वहाँ उसके लिए उसी प्रकार की विवेचना जोड़ी जा सकती है।

सद्ज्ञान प्रचार के लिए भी दो बातों की महती आवश्यकता है-(१) भाषण कला (२) संगीत विद्या। इन दोनों को ही छह महीने के प्रशिक्षण का प्रमुख अंग माना गया है। अन्य विषय तो ऐसे हैं, जिन्हें एक दिन बीच में छोड़कर भी सीखने का विधान रखा गया है, पर वक्तृत्व कला और संगीत शिक्षा के दो पाठ्यक्रम ऐसे हैं, जो नित्य-नियमित रूप से चलेंगे। प्रयत्न यह किया जाय कि हर शिक्षार्थी कुशल वक्ता होकर निकले। वह बड़े आयोजन और छोटी ज्ञान-गोष्ठियों का भली प्रकार संचालन कर सके। घरों में जन्म-दिवस मनाने जैसे कार्यक्रमों के सहारे हर परिवार की विशेष स्थिति को समझाते हुए उसके अनुरूप स्पष्ट मार्गदर्शन कर सकें और सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन की प्रतिज्ञाएँ करा सकें। यह सब कार्य बिना वक्तृत्व कला का विकास हुए सम्भव नहीं। जन नेतृत्व के लिए यह एक अनिवार्य गुण है। उसकी क्षमता इन्हीं छह महीने वाले सत्र में विकसित कर दी जाती है।

संगीत का अपना महत्व है, उसके आकर्षण और प्रभाव से सभी परिचित हैं। लोगों को एकत्रित करने और देर तक बिठाये रहने, अभीष्ट मार्गदर्शन करते रहने का यह एक सरल उपाय है। देहातों में तो इसी माध्यम से छोटे-बड़े आयोजन सफलतापूर्वक किये जा सकते हैं।

तीन महीने में हारमोनियम कामचलाऊ ही बजाना आ सकता है। समग्र कुशलता हेतु तो घर लौटने पर ही अभ्यास करना होगा। जिन्हें तीन महीने के स्थान पर छह माह या एक वर्ष तक ठहरने की विशेष अनुमति मिल जाएगी वे हारमोनियम, बैंजो जैसे वाद्य यंत्रों को परिपूर्ण रूप में सीख सकेंगे। सिखाने की व्यवस्था तो सभी प्रकार की है पर जो कम समय में सीखे जा सकते हैं, जिनका समुचित अभ्यास किया जा सकता है, उन्हीं को प्रधानतः तीन महीने के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है। ढोलक, ताल, बंगाली तम्बूरा, खड़ताल, मंजीरा, घुँघरू, चिमटा, घड़ा जैसे सरलतापूर्वक सीखे जाने वाले, सुविधा पूर्वक हर जगह मिल सकने वाले वाद्य यंत्र इस पाठ्यक्रम में सम्मिलित किये गये हैं।

उपरोक्त समूची क्रिया-प्रक्रिया ऐसी है, जिसके सहारे सद्ज्ञान-संवर्द्धन का विद्या विस्तार का कार्य कोई भी लगनशील व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्र में भली प्रकार सुसंचालित कर सकता है।

इन सभी विद्यावर्द्धन के शिक्षणों के सहारे शिक्षार्थी इस योग्य बनता है कि अपने क्षेत्र में लोक नेतृत्व कर सकने में भली प्रकार सफल हो सकें। इसके लिए आरम्भिक रूप में धर्म प्रचार को माध्यम बनाया जा सकता है। पीछे आवश्यकतानुसार इस क्षमता का उपयोग सामाजिक, राजनीतिक, दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन जैसे अनेक क्षेत्र में इच्छानुसार किया जा सकता है। वस्तुतः इस समूचे प्रशिक्षण को लोकनायक युगसृजेता बनाने की उस योजना का अंग समझा जा सकता है, जिसके अनुसार युग बदलने की सफल भूमिका निभा सकने वाले युग-नायकों का नये सिरे से नव-निर्माण किया जाना है।

स्वास्थ्य-रक्षा की अति महत्वपूर्ण शिक्षा

शिक्षा और विद्या के व्यापक विस्तार का काम जहाँ भाव-संवेदना सम्पन्न प्रतिभाओं को अपने हाथ में लेना है,

अशिक्षितों को शिक्षित बनाने की प्रतिज्ञा करे और उसे पूरी कर दिखाये।

स्कूल जाने वाले बच्चों के निर्धारित पाठ्यक्रम पूरा करने की तो छोटे-बड़े विद्यालयों में व्यवस्था है पर उन्हें सुसंस्कृत बनाने, उदात्त दृष्टिकोण अपना सकने की व्यावहारिक शिक्षा का वहाँ भी अभाव है। इस कमी को पूरा करने के लिए हर जगह स्कूलों में बचे समय में दो-तीन घंटे की बाल संस्कारशाला चलाने की व्यवस्था होनी चाहिए। स्थान-मंदिरों, धर्मशालाओं, चौपालों आदि में कुछ घंटे प्रयोग करने के लिए मिल सकता है।

बाल-संस्कारशालाओं में स्कूली पाठ पक्का कराने की व्यवस्था हो, ताकि वे अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण हो सकें। इसके अतिरिक्त उन्हें नागरिकता, सामाजिकता, शिष्टता, सज्जनता, सेवा-भावना, संयम जैसे सद्गुणों का महत्व और जीवन में उतारने की प्रक्रिया समझायी जानी चाहिए। इसी समय में स्वास्थ्य रक्षा, परिवार व्यवस्था, समाज सेवा दृष्टिकोण परिष्कार जैसे व्यावहारिक जीवन में काम आने वाली जीवनकला का शिक्षण दिया जाना चाहिए। इसकी व्यवस्था और शिक्षा वे लोग अपने कन्धों पर अवैतनिक रूप से लें, जिनमे मानवी गरिमा को जीवन्त रखने की ललक है। बाल संस्कारशालाओं का गठन हर जगह होना चाहिए।

उपरोक्त दोनों शिक्षा-संवर्द्धन प्रयोजन के लिए क्या किया जाना चाहिए तथा लक्ष्य को व्यवहार में परिणत करने के लिए क्या विधा अपनायी जानी चाहिए? इसका सांगोपांग शिक्षण शांतिकुंज की तीन महीने वाली शिक्षा में सम्मिलित है।

साक्षरता के उपरान्त जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालने वाली समस्याओं के समयानुसार व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करने वाला साहित्य जुटाया जाना चाहिए। यह कार्य पुस्तकालयों के माध्यम से ही हो सकता है। हर शिक्षित इतना अधिक खरीदते रहने की स्थिति में नहीं होता। इसलिए विद्यालयों की तरह सद्ज्ञान-संवर्द्धन कर सकने वाले पुस्तकालयों की स्थापना और उनकी संचालन की व्यवस्था होनी चाहिए। काम स्थिर पुस्तकालयों से भी नहीं चलता, क्योंकि लोगों में स्वाध्याय की अभिरुचि है ही नहीं। पढ़े-लिखे लोग भी मनोरंजक साहित्य पढ़ते है। सद्ज्ञान संवर्द्धन वाला साहित्य हर शिक्षित को घर बैठे बिना उपलब्ध हो, इसके लिए झोला पुस्तकालय जैसी चल-प्रक्रिया ही सार्थक सिद्ध हो सकती है। शिक्षा-संवर्द्धन के लिए, स्कूली छात्रों के लिए, बाल संस्कारशाला, प्रौढ़-पाठशाला, शिक्षितों के लिए चल पुस्तकालयों के संचालन की व्यवस्था होनी चाहिए। इसी आधार पर अशिक्षितों को शिक्षित और शिक्षितों को विचारशील बनाने की प्रक्रिया पूरी की जा सकती है। समग्र-पुनरुत्थान के लिए यह प्रथम सोपान है। इसे अपने परिवार में, पड़ौस में, सुव्यवस्थित समाज में किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय ? देश सेवा का, आत्मसंतोष का

यह कार्य कौन किस प्रकार सम्पन्न करे? इसकी समग्र जानकारी तीन महीने वाले शांतिकुंज के प्रशिक्षण सत्रों में दी जाती है। इसे शिक्षा-संवर्द्धन की महान योजना माना जाना चाहिए।

लोकनायकों का अभिनव निर्माण

तीन महीने की शांतिकुंज की अभिनव शिक्षण व्यवस्था का प्रथम चरण है-शिक्षा संवर्द्धन, दूसरा सोपान है-विद्या का-सद्ज्ञान का उन्नयन। विद्या के बिना मात्र शिक्षा में उदरपूर्ति वाला कौशल भर हाथ आता है। व्यक्तित्व में मानवी-गरिमा का समावेश तो उन आधारों के सहारे पूरा होता है, जिन्हें सद्ज्ञान-संवर्द्धन कहते हैं। धर्म और अध्यात्म यही है। इसी के सहारे धर्मतन्त्र में लोक शिक्षण की प्रक्रिया पूरी होती है। मानवी गरिमा के अनेकानेक पक्षों का उच्चस्तरीय समाधान इसी आधार पर बन पड़ता है। पर्व, संस्कार, धर्मानुष्ठान, सत्संग, तीर्थयात्रा आदि कार्यों को इसी निमित्त सम्पन्न किया जाता है।

प्राचीनकाल में यह कार्य साधु-ब्राह्मण अपना समूचा जीवन समर्पित करके पूरा किया करते थे पर वे दोनों ही वर्ण मात्र वेश और वंश तक सीमित रह गये हैं। उस महान दायित्व को अब विचारशील, सेवाभावी वर्ग ही अपने समय का कुछ अंश देकर पूरा कर सकेगा। इसी प्रक्रिया को अति सरलतापूर्वक किस प्रकार पूरा किया जा सकता है, इसकी शिक्षा तीन महीने वाले पाठ्यक्रम में समुचित रीति से समाविष्ट की गई है।

धर्म, अध्यात्म, अनेकानेक धर्मानुष्ठान मात्र मनुष्य के चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में शालीनता का अधिकाधिक समावेश करने के लिए हैं। दृष्टिकोण का परिष्कार, व्यक्तित्व का विकास और सामाजिक गतिविधियों का सुधार इसी आधार सुगम है कि दृष्टिकोण परिमार्जित किया जाये। मान्यताओं, आस्थाओं, विचारणाओ को इस स्तर का बनाया जाय कि व्यक्ति निजी जीवन में आदर्शवादी और सार्वजनिक जीवन में सेवाभावी बन सके। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि इन दिनों साम्प्रदायिक प्रचलनों और कर्मकाण्डों की तो धूम है। वे ही सब कुछ बने बैठे हैं। इन्हीं के सहारे स्वर्ग, मुक्ति, सिद्धि मिलने की कामना कर ली गई है। इस भ्रम-जंजाल में उलझे जाने के कारण जन-साधारण की न तो आत्मिक प्रगति हो पाती है, न ही लौकिक प्रयोजन सध पाते हैं। धर्म का प्रावधान इस उद्देश्य के लिए किया गया था कि व्यक्ति और समाज को भ्रान्तियों, विकृतियों से बचाकर उन्हें मानवी गरिमा के अनुरूप ढाला जाय और प्रस्तुत असंख्य समस्याओं, उलझनों, संकटों, विग्रहों का सुस्थिर समाधान निकाला जाये। जीवन और समाज में छायी हुई अनेकानेक विकृतियों से जूझने, सुधारने का यह अति सरल और सर्वोत्तम मार्ग है कि पुरातन धार्मिक विधि-विधानों को

समय के अनुरूप इस प्रकार ढाला जाय जिसमें सामयिक समस्याओं का समाधान भी जुड़ा हुआ हो और व्यक्तित्व का निखार भी। आयोजन भी ऐसे हों, जिनमें कम-से-कम खर्च पड़े और अधिक-से-अधिक लोग उनमें सम्मिलित होकर उपयोगी मार्गदर्शन प्राप्त करें।

इस प्रयोजन के लिए दीपयज्ञ की योजना बहुत सही और सफल सिद्ध हुई है। अपनी थाली में, अपने घर में तीन-तीन के पाँच गुच्छक और एक दीप रखकर यज्ञकर्त्ता लाते हैं और सभी एक स्थान पर एकत्रित होकर उस देव यज्ञ के समक्ष गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते हैं। अन्त में देव-दक्षिणा के रूप में एक सत्प्रवृत्ति अपनाने की प्रतिज्ञा करते हैं। इन दिनों पाँच प्रौढ़ अशिक्षित व्यक्तियों को शिक्षित बनाना, अपने प्रभाव क्षेत्र में बिना धूमधाम, बिना दहेज की शादियाँ कराना, हरीतिमा-संवर्द्धन, वृक्षारोपण, नशा-निषेध जैसी प्रतिज्ञाओं को प्रमुखता दी जा रही है। यह आयोजन प्रवचन सम्भवत: प्राय: तीन घंटे में पूरे हो जाते हैं। उन्हें प्रातःकाल भी किया जा सकता है और रात को भी। इनके प्रति लोकप्रियता साधारण रूप से बढ़ी है और इस आयोजन को व्यापक बनाने का आशातीत सुयोग बना है।

तीन-तीन महीने वाले सत्रों में सम्मिलित होने वाले सभी शिक्षार्थियों को अपने क्षेत्र के सभी गाँवों, नगरों, मुहल्लों में इन बिना खर्च वाले आयोजनों की व्यवस्था कराने का ऐसा प्रशिक्षण दिया जाता है, जिससे उत्साह उत्पन्न करने व्यवस्था जुटाने और सफल बनाने के सभी पक्षों में से इस प्रकार का अभ्यास उन्हें करा दिया जाय कि वे अपने समीपवर्ती सभी क्षेत्र में इन आयोजनों की धूम मचा सकें और सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन के लिए एक नया द्वार खोल सकें।

इसके अतिरिक्त विद्या विस्तार के और भी कितने ही प्रयोजन हैं, जिनमें प्रज्ञा-पुराण की कथाओं का, रामायण-भागवत की कथाओं की तरह सुनियोजित विस्तार किया जा सकता है। युग-संकीर्तन भी ऐसे ही कृत्यों में से एक है। वाद्य यन्त्रों समेत सामूहिक सहगान की प्रक्रिया ही युग कीर्तन है, जिनमें भी भगवान का नाम लेने के अतिरिक्त अनेकानेक प्रेरणाएँ भरी रहती हैं, जिनके साथ बीच-बीच में टिप्पणी जोड़ते चलाने पर उन्हें लोक-शिक्षण का महत्वपूर्ण अंग बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त स्लाइड-प्रोजेक्टरों के सहारे घरों में, मुहल्लों में आसानी से ज्ञान-गोष्ठी की जा सकती हैं और जहाँ जिस स्तर के लोक-शिक्षण की आवश्यकता है, वहाँ उसके लिए उसी प्रकार की विवेचना जोड़ी जा सकती है।

सद्ज्ञान प्रचार के लिए भी दो बातों की महती आवश्यकता है-(१) भाषण कला (२) संगीत विद्या। इन दोनों को ही छह महीने के प्रशिक्षण का प्रमुख अंग माना गया है। अन्य विषय तो ऐसे हैं, जिन्हें एक दिन बीच में छोड़कर भी सीखने का विधान रखा गया है, पर वक्तृत्व कला और संगीत शिक्षा के दो पाठ्यक्रम ऐसे हैं, जो नित्य-नियमित रूप से चलेंगे। प्रयत्न यह किया जाय कि हर शिक्षार्थी कुशल वक्ता होकर निकले। वह बड़े आयोजन और छोटी ज्ञान-गोष्ठियों का भली प्रकार संचालन कर सके। घरों में जन्म-दिवस मनाने जैसे कार्यक्रमों के सहारे हर परिवार की विशेष स्थिति को समझाते हुए उसके अनुरूप स्पष्ट मार्गदर्शन कर सकें और सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन की प्रतिज्ञाएँ करा सकें। यह सब कार्य बिना वक्तृत्व कला का विकास हुए सम्भव नहीं। जन नेतृत्व के लिए यह एक अनिवार्य गुण है। उसकी क्षमता इन्हीं छह महीने वाले सत्र में विकसित कर दी जाती है।

संगीत का अपना महत्व है, उसके आकर्षण और प्रभाव से सभी परिचित हैं। लोगों को एकत्रित करने और देर तक बिठाये रहने, अभीष्ट मार्गदर्शन करते रहने का यह एक सरल उपाय है। देहातों में तो इसी माध्यम से छोटे-बड़े आयोजन सफलतापूर्वक किये जा सकते हैं।

तीन महीने में हारमोनियम कामचलाऊ ही बजाना आ सकता है। समग्र कुशलता हेतु तो घर लौटने पर ही अभ्यास करना होगा। जिन्हें तीन महीने के स्थान पर छह माह या एक वर्ष तक ठहरने की विशेष अनुमति मिल जाएगी वे हारमोनियम, बैंजो जैसे वाद्य यंत्रों को परिपूर्ण रूप में सीख सकेंगे। सिखाने की व्यवस्था तो सभी प्रकार की है पर जो कम समय में सीखे जा सकते हैं, जिनका समुचित अभ्यास किया जा सकता है, उन्हीं को प्रधानतः तीन महीने के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है। ढोलक, तबला, बंगाली तम्बूरा, खड़ताल, मंजीरा, घुँघरू, चिमटा, घड़ा जैसे सरलतापूर्वक सीखे जाने वाले, सुविधा पूर्वक हर जगह मिल सकने वाले वाद्य यंत्र इस पाठ्यक्रम में सम्मिलित किये गये हैं।

उपरोक्त समूची क्रिया-प्रक्रिया ऐसी है, जिसके सहारे सद्ज्ञान-संवर्द्धन का विद्या विस्तार का कार्य कोई भी लगनशील व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्र में भली प्रकार सुसंचालित कर सकता है।

इन सभी विद्यावर्द्धन के शिक्षणों के सहारे शिक्षार्थी इस योग्य बनता है कि अपने क्षेत्र में लोक नेतृत्व कर सकने में भली प्रकार सफल हो सकें। इसके लिए आरम्भिक रूप में धर्म प्रचार को माध्यम बनाया जा सकता है। पीछे आवश्यकतानुसार इस क्षमता का उपयोग सामाजिक, राजनीतिक, दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन जैसे अनेक क्षेत्र में इच्छानुसार किया जा सकता है। वस्तुतः इस समूचे प्रशिक्षण को लोकनायक युगसृजेता बनाने की उस योजना का अंग समझा जा सकता है, जिसके अनुसार युग बदलने की सफल भूमिका निभा सकने वाले युग-नायकों का नये सिरे से नव-निर्माण किया जाना है।

स्वास्थ्य-रक्षा की अति महत्वपूर्ण शिक्षा

शिक्षा और विद्या के व्यापक विस्तार का काम जहाँ भाव-संवेदना सम्पन्न प्रतिभाओं को अपने हाथ में लेना है,

वहाँ उन्हें भौतिक क्षेत्र की महती आवश्यकता 'स्वास्थ्य रक्षा' को भी अपने कार्यक्रमों का, अविच्छिन्न अंग मानकर चलना है।

अस्वस्थ रखने वाला व्यक्ति स्वयं कष्ट सहता है, घर वालों को अपनी सेवा-सहायता में जुटाये रहता है; उपार्जन कुछ कर नहीं पाता, उल्टे दवा-दारू, विशेष आहार आदि में अतिरिक्त धन खर्च कराता रहता है। ऐसे व्यक्ति आरम्भ में तो थोड़ी-बहुत सहानुभूति पाते भी हैं, पर अन्ततः वे अपने लिए और सबके लिए भार बन जाते हैं। समाज के लिए भी वे अनुत्पादक किन्तु व्यय भार बढ़ाने वाली निरर्थक इकाई समझे जाते हैं।

दुर्भाग्य से अपने देश में शारीरिक, मानसिक रोगियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। इसका कारण जहाँ आर्थिक सुविधाओं, पोषक आहार का उपलब्ध न होना एक है, वहाँ दूसरा यह है कि आहार, विहार, स्वच्छता, उपयुक्त श्रम, मानसिक संतुलन सही न रखना भी एक बड़ा कारण है। आदतों में घुसी गंदगी, अन्यमनस्कता, अस्तव्यस्तता भी रुग्णता और दुर्बलता का एक बड़ा कारण है। जब तक जीवनचर्या में आवश्यक परिवर्तन नहीं होते तब तक यह संभव नहीं कि कोई व्यक्ति आवश्यक सुविधाएँ रहने पर भी स्वस्थ रह सके। इस संदर्भ में बड़ी आयु वालों को भी, सुशिक्षितों को भी इसी प्रकार की समग्र शिक्षा देनी पड़ेगी जैसी कि अनगढ़ों और अनपढ़ों को देनी पड़ती है। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को अक्षुण्ण रखने की विधा से आम आदमी एक प्रकार से अपरिचित ही है। इस क्षेत्र में वैसे ही शिक्षण की आवश्यकता है जैसी कि नौसिखियों और बालकों को आरम्भिक शिक्षण से शुरूआत करनी पड़ती है। जानना एक बात है और मानना दूसरी। मानने के क्षेत्र में लोग इतने अधिक पिछड़े हुए हैं मानो उसमें उन्होंने कभी स्वस्थ रहने के मूलभूत आधारों पर ध्यान दिया हो और न उन्हें अभ्यास में उतारने की आवश्यकता समझी हो। स्वास्थ्य रक्षा को जन-जन का एक अतीव-आवश्यक विषय मानकर उस सन्दर्भ में उदारचेताओं को इस हेतु सुनिश्चित सेवा-साधना करते रहने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए।

स्वास्थ्य रक्षा के कुछ प्रमुख अंग हैं-(१) सात्विक, सुपाच्य और सीमित आहार (२) वस्त्र, मकान, उपकरण आदि में कहीं भी गंदगी न पनपने देना (३) शारीरिक श्रम उतना करना जिसमें न आलस्य पनपे और न थकान बढ़े (४) दिनचर्या को नियमित रखना (५) प्रकृति के समीप रहना और उसके निर्देशों के अनुरूप चलना (६) मनोविकारों को न पनपने देना, सदा प्रसन्नचित्त, निश्चिन्त और हलकी-फुलकी हँसती-हँसाती जिन्दगी जीना (७) असंयम न बरतना (८) रोग होने पर चिकित्सा हेतु तेज दवाइयाँ न लेकर जड़ी-बूटियों पर निर्भर रहना आदि।

उपरोक्त सभी बातों को जन-जन के मानस में बिठाने के लिए लोकसेवियों को स्वास्थ्य रक्षा के लिए हर स्थिति में, हर क्षेत्र में कुछ न कुछ करते ही रहना चाहिए। इसके लिए गाँव-गाँव आरोग्यशालाएँ बननी चाहिए, प्राचीनकाल की व्यायामशालाओं की तरह। उन दिनों व्यायामशालाओं में कसरत प्रधान थी पर अब उतने को ही पर्याप्त नहीं माना जाता, वरन् स्वास्थ्य रक्षा के हर पक्ष को हृदयंगम करने, व्यवहार में उतारने की योजना बनाकर चलना चाहिए और उनमें उपरोक्त विषयों की भी सांगोपांग शिक्षा मिलनी चाहिए।

तीन महीने में शांतिकुंज शिविरों में उपरोक्त सभी विषयों की इतनी जानकारी देने की व्यवस्था है जिसके आधार पर अपने-अपने परिवार के एवं सम्पर्क क्षेत्र के सभी जनों को स्वास्थ्य रक्षा के मार्ग पर चलाया जाता रहे। जिनके पास समय है, वे अपने यहाँ एक व्यायामशाला चलाने की भी व्यवस्था कर सकते हैं। यह कार्य अस्पताल खुलवाने की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। उसका पुण्य भी कम नहीं। विज्ञापन न होने पर भी इस आधार पर लोकसम्मान पाने और श्रद्धा भाजन बनने का अवसर मिलता है।

तीन महीने के सत्रों में उपरोक्त सभी स्वास्थ्य रक्षा के सिद्धान्तों का बौद्धिक तथा व्यावहारिक पक्ष पढ़ाया जाता है। कुछ कार्य ऐसे हैं जिन्हें व्यवहार की प्रत्यक्ष कार्यपद्धति में सम्मिलित किया गया है। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं।

(१) विभिन्न स्थिति के व्यक्तियों का आहार चयन, आहार की पोषण शक्ति को अक्षुण्ण रखने का शिक्षण और उसकी मात्रा निर्भर करते रहना। इसे एक प्रकार से आहार चिकित्सा भी कह सकते हैं।

(२) अस्वच्छता की आदतों की हानियाँ समझना। कृमि-कीटकों से निपटने, नाली-पाखाने को दुर्गन्ध रहित बनाना।

(३) वस्त्रों, मकानों और उपकरणों को इसी स्थिति में रखना जिससे स्वास्थ्य पर दबाव न पड़े। धूप और खुली हवा के सान्निध्य में रहने का विधान। ऐसी दिनचर्या का शिक्षण जिसे अपनाने पर स्वास्थ्य सही बना रहे।

(४) हर आयु और हर स्थिति के व्यक्तियों के लिए उनकी आवश्यकता एवं सामर्थ्य के अनुरूप व्यायामों का निर्धारण। अनेक प्रयोजनों के लिए अनेक खेलकूदों की व्यावहारिक शिक्षा। आसन और प्राणायाम के आधार पर अनेक रोगों एवं मनोविकारों का उपचार।

(५) रोगी परिचर्या, दुर्घटनाग्रस्तों की तात्कालिक चिकित्सा। स्काउटिंग। चुस्ती-फुर्ती का अर्जन। समाज सेवा, नागरिकता व कर्तव्य निर्वाहों की व्यावहारिक शिक्षा आदि।

स्वास्थ्य रक्षा के लिए कुछ यांत्रिक व्यवस्थाएँ यथा-

(१) घरों में निजी मुहल्ले में सामूहिक हैंड पम्प लगाने का शिक्षण ताकि बिना सफाई वाले कुओं का गंदा पानी पीने के लिए बाधित न होना पड़े।

(२) सुलभ शौचालय, जिसके आधार पर मानवी मल-मूत्र की गंदगी, बीमारी फैलाने से रोकथाम हो सके।

गंदगी न फैले। मल को सुनहरे खाद के रूप में परिणत करके आर्थिक लाभ उठाया जा सके। गाँव के इर्द-गिर्द गंदगी फैलाने के वर्तमान कुप्रचलन से छुटकारा पाया जा सके ।

(३) धूम्र रहित चूल्हे बनाना, जिनमें धुँआ बिल्कुल भी न निकले और ईंधन की खपत आधी रह जाय। साथ ही घरेलू एवं सामूहिक उपयोग सूर्य शक्ति एवं वैकल्पिक ऊर्जा के आधार पर पर्याप्त सामर्थ्य वाले उपकरणों को बनाने और चलाने की शिक्षा।

(४) घरेलू शाक-वाटिका लगाना, बढ़ाना और उनसे समुचित मात्रा में बिना मूल्य गुणकारी शाकभाजी उत्पन्न करके स्वास्थ्य सुधारना और आर्थिक बचत भी करना। शोभा-सज्जा के लिए घर में पुष्पोद्यान लगाने की पद्धति सीखना।

(५) जड़ी-बूटी लगाना। उनका घरेलू उपयोग करके सामान्य रोगों से अपनी चिकित्सा कर लेना । जिनके पास थोड़ी भी जमीन है, वे ऐसे जड़ी-बूटी उद्यान आसानी से लगा सकते हैं। निजी लाभ उठाने के अतिरिक्त उत्पादित जड़ी-बूटियों को बेचकर आर्थिक लाभ भी उठा सकते हैं। घर में काम आने वाले मसालों से सामान्य रुग्णता का उपचार कर सकने की अति महत्वपूर्ण जानकारी।

गर्भिणियों, रोगियों को उस विशेष स्थिति में भी संतुलित बनाये रहने की शिक्षा। छोटे बालकों के भरण-पोषण, आहार-विहार, मनोरंजन जैसी अनेक उपयोगी जानकारियाँ भी इस शिक्षण में दी जाएँगी।

यह है स्वास्थ्य रक्षा के संदर्भ में त्रैमासीय सत्रों में पढ़ाई जाने वाली विधि-व्यवस्था की दस सूत्रीय रूपरेखा। इसके आधार पर अपना स्वास्थ्य सुधारा जा सकता है और अपने परिवार, पड़ोस में स्वस्थता अक्षुण्ण रखने का वातावरण बनाया जा सकता है। यह शिक्षा आत्म-कल्याण और समाज-कल्याण दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

जीविका उपार्जन और गृह उद्योग

शहर, कस्बों के सुसम्पन्न व्यक्ति अपनी आजीविका के लिए बड़े उद्योग, व्यवसाय, फर्म, कारखाने लगा लेते हैं। सुशिक्षित सरकारी नौकरियों में खप जाते हैं। कला, साहित्य, शिल्प आदि के सहारे अपने लिए अच्छी आजीविका कमा लेते हैं पर यह वर्ग दस प्रतिशत से अधिक नहीं है। अधिकांश जनता देहातों में रहती है। उनके सामने कृषि, पशुपालन और मजदूरी के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। गृह उद्योगों का प्रचलन नाम मात्र का है, उसमें एक-दो प्रतिशत लोग ही लगे हैं, शेष का खेती से बचा हुआ समय प्रायः बेकार ही जाता है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि देहात में रहने वाले बहुसंख्यक समाज को गृह उद्योग में लगाया जाय। उनके उत्पादन को खपाने के लिए नये सिरे से स्वदेशी आन्दोलन जैसी नई लहर चलाई जाय। खादी को सैद्धान्तिक आधार पर ही लोकप्रिय बनाया गया था; अब स्वदेशी के प्रति जनसाधारण को वैसा ही उत्साहित किया जाय। मिल के सस्ते और आकर्षक उत्पादन की तुलना में देहाती कुटीर उद्योगों को प्रतिद्वन्द्विता से बचाने और उन्हें पनपने का अवसर इसी आधार पर मिलेगा। गरीबी और बेकारी से पिण्ड इसी प्रकार छूटेगा, बहुमत के लिए आजीविका उपार्जन में सहायता करने के लिए इसी प्रयास को नये उत्साह और नये संकल्प के साथ आरम्भ करना होगा।

तीन-तीन महीने के युगनायक सत्रों में इसी विषय की बौद्धिक जानकारी और व्यावहारिक अभ्यास का समावेश इसी निमित्त किया गया है। कुटीर उद्योगों की संख्या स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार हजारों प्रकार की हो सकती है। उन सभी के सिद्धान्त तो बताये जा सकते हैं पर व्यावहारिक अभ्यास कराने के लिए विशालकाय बहुमुखी प्रयोगशाला चाहिए, उसकी सम्भावना शांतिकुंज की वर्तमान स्थिति को देखते हुए है नहीं। बड़े के इन्तजार में देर तक रुके बैठने का अवसर नहीं। इसलिए जितना सम्भव हो सका, उतने कुटीर उद्योग सम्बन्धी सिद्धान्त और अभ्यास शिक्षण प्रक्रिया में समाविष्ट किया गया है। चूँकि समय तीन महीने जितना अल्प है, उसमें भी बुद्धिमत्ता और स्वास्थ्य रक्षा जैसे महत्वपूर्ण प्रकरण जुड़े हुए हैं; इतने पर भी कुटीर उद्योगों के प्रशिक्षण में जितना अधिक सम्भव था, समावेश किया गया है। सिद्धान्त तो पूरी तरह सिखा ही दिए जाएँगे। व्यवहार भी समय के अनुसार सभी का प्रयोग में लाने का अवसर मिलेगा पर पूर्णता और पारंगतता तो कार्य हाथ में मिलने पर लम्बे अभ्यास के उपरान्त ही मिल सकेगी।

जो कुटीर उद्योग ३ माह के सत्र की अवधि में जिस प्रकार सिखाये जाएँगे, उसका विवरण इस प्रकार है-

(१) सहकारिता और कुटीर उद्योगों का पारस्परिक सम्बन्ध, दोनों को साथ-साथ चलाने की प्रक्रिया।

(२) कृषि और पशुपालन के पुरातन तरीकों और अन्वेषणों को समझाते हुए उनमें सुधार करने की आवश्यकता व इस सन्दर्भ में अधिकाधिक जानकारियाँ उपलब्ध कराना। दीमक और कृमि-कीटकों से बचाव।

(३) वस्त्र उद्योग, कताई सम्बन्धी अभ्यास। इस सन्दर्भ में हुए नवीनतम सुधारों का प्रदर्शन और अभ्यास।

(४) कामचलाऊ सिलाई की मशीनों का प्रयोग।

(५) रसायन, साबुन तथा साबुन पाउडर बनाना, अगरबत्तियाँ बनाना, मोमबत्तियाँ बनाना।

(६) घरेलू प्रयोग में आ सकने वाली थोड़ी बिजली से चलने वाली आटा चक्की, धुलाई मशीन, तेल निकालने की घरेलू मशीन (कोल्हू) जो बिजली से चलेगी।

(७) टूट-फूट की मरम्मत।

(८) वृक्षारोपण आन्दोलन, सब्जियों से अधिक से अधिक लाभ लेने की विधि, पुष्पोद्यान, उनके बीज भण्डार चलाना और पौध उगाकर बेचना।

वहाँ उन्हें भौतिक क्षेत्र की महती आवश्यकता 'स्वास्थ्य रक्षा' को भी अपने कार्यक्रमों का, अविच्छिन्न अंग मानकर चलना है।

अस्वस्थ रखने वाला व्यक्ति स्वयं कष्ट सहता है, घर वालों को अपनी सेवा-सहायता में जुटाये रहता है; उपार्जन कुछ कर नहीं पाता, उल्टे दवा-दारू, विशेष आहार आदि में अतिरिक्त धन खर्च कराता रहता है। ऐसे व्यक्ति आरम्भ में तो थोड़ी-बहुत सहानुभूति पाते भी हैं, पर अन्ततः वे अपने लिए और सबके लिए भार बन जाते हैं। समाज के लिए भी वे अनुत्पादक किन्तु व्यय भार बढ़ाने वाली निरर्थक इकाई समझे जाते हैं।

दुर्भाग्य से अपने देश मे शारीरिक, मानसिक रोगियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। इसका कारण जहाँ आर्थिक सुविधाओं, पोषक आहार का उपलब्ध न होना एक है, वहाँ दूसरा यह है कि आहार, विहार, स्वच्छता, उपयुक्त श्रम, मानसिक संतुलन सही न रखना भी एक बड़ा कारण है। आदतों में घुसी गंदगी, अन्यमनस्कता, अस्तव्यस्तता भी रुग्णता और दुर्बलता का एक बडा कारण है। जब तक जीवनचर्या में आवश्यक परिवर्तन नहीं होते तब तक यह संभव नहीं कि कोई व्यक्ति आवश्यक सुविधाएँ रहने पर भी स्वस्थ रह सके। इस संदर्भ में बड़ी आयु वालों को भी, सुशिक्षितों को भी इसी प्रकार की समग्र शिक्षा देनी पड़ेगी जैसी कि अनगढ़ों और अनपढ़ों को देनी पड़ती है। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को अक्षुण्ण रखने की विधा से आम आदमी एक प्रकार से अपरिचित ही है। इस क्षेत्र में वैसे ही शिक्षण की आवश्यकता है जैसी कि नौसिखियों और बालकों को आरम्भिक शिक्षण से शुरूआत करनी पड़ती है। जानना एक बात है और मानना दूसरी। मानने के क्षेत्र में लोग इतने अधिक पिछड़े हुए हैं मानो उसमें उन्होंने कभी स्वस्थ रहने के मूलभूत आधारों पर ध्यान दिया हो और न उन्हें अभ्यास में उतारने की आवश्यकता समझी हो। स्वास्थ्य रक्षा को जन-जन का एक अतीव-आवश्यक विषय मानकर उस सन्दर्भ मे उदारचेताओं को इस हेतु सुनिश्चित सेवा-साधना करते रहने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए।

स्वास्थ्य रक्षा के कुछ प्रमुख अंग हैं-(१) सात्विक, सुपाच्य और सीमित आहार (२) वस्त्र, मकान, उपकरण आदि में कहीं भी गंदगी न पनपने देना (३) शारीरिक श्रम उतना करना जिसमें न आलस्य पनपे और न थकान बढ़े (४) दिनचर्या को नियमित रखना (५) प्रकृति के समीप रहना और उसके निर्देशों के अनुरूप चलना (६) मनोविकारों को न पनपने देना, सदा प्रसन्नचित्त, निश्चिन्त और हलकी-फुलकी हँसती-हँसाती जिन्दगी जीना (७) असंयम न बरतना (८) रोग होने पर चिकित्सा हेतु तेज दवाइयाँ न लेकर जड़ी-बूटियों पर निर्भर रहना आदि।

उपरोक्त सभी बातों को जन-जन के मानस में बिठाने हेतु लोकसेवियों को स्वास्थ्य रक्षा के लिए हर स्थिति में, हर क्षेत्र में कुछ न कुछ करते ही रहना चाहिए। इसके लिए गाँव-गाँव आरोग्यशालाएँ बननी चाहिए, प्राचीनकाल की व्यायामशालाओं की तरह। उन दिनों व्यायामशालाओं में कसरत प्रधान थी पर अब उतने को ही पर्याप्त नहीं माना जाता, वरन् स्वास्थ्य रक्षा के हर पक्ष को हृदयंगम करने, व्यवहार में उतारने की योजना बनाकर चलना चाहिए और उनमें उपरोक्त विषयों की भी सांगोपांग शिक्षा मिलनी चाहिए।

तीन महीने में शांतिकुंज शिविरों में उपरोक्त सभी विषयों की इतनी जानकारी देने की व्यवस्था है जिसके आधार पर अपने-अपने परिवार के एवं सम्पर्क क्षेत्र के सभी जनों को स्वास्थ्य रक्षा के मार्ग पर चलाया जाता रहे। जिनके पास समय है, वे अपने यहाँ एक व्यायामशाला चलाने की भी व्यवस्था कर सकते हैं। यह कार्य अस्पताल खुलवाने की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। उसका पुण्य भी कम नहीं। विज्ञापन न होने पर भी इस आधार पर लोकसम्मान पाने और श्रद्धा भाजन बनने का अवसर मिलता है।

तीन महीने के सत्रों में उपरोक्त सभी स्वास्थ्य रक्षा के सिद्धान्तों का बौद्धिक तथा व्यावहारिक पक्ष पढ़ाया जाता है। कुछ कार्य ऐसे हैं जिन्हें व्यवहार की प्रत्यक्ष कार्यपद्धति में सम्मिलित किया गया है। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं।

(१) विभिन्न स्थिति के व्यक्तियों का आहार चयन, आहार की पोषण शक्ति को अक्षुण्ण रखने का शिक्षण और उसकी मात्रा निर्धर करते रहना। इसे एक प्रकार मे आहार चिकित्सा भी कह सकते हैं।

(२) अस्वच्छता की आदतों की हानियाँ समझना। कृमि-कीटकों से निपटने, नाली-पाखाने को दुर्गन्ध रहित बनाना।

(३) वस्त्रों, मकानों और उपकरणों को इसी स्थिति में रखना जिससे स्वास्थ्य पर दबाव न पड़े। धूप और खुली हवा के सान्निध्य में रहने का विधान। ऐसी दिनचर्या का शिक्षण जिसे अपनाने पर स्वास्थ्य सही बना रहे।

(४) हर आयु और हर स्थिति के व्यक्तियों के लिए उनकी आवश्यकता एवं सामर्थ्य के अनुरूप व्यायामों का निर्धारण। अनेक प्रयोजनों के लिए अनेक खेलकूदों की व्यावहारिक शिक्षा। आसन और प्राणायाम के आधार पर अनेक रोगों एवं मनोविकारों का उपचार।

(५) रोगी परिचर्या, दुर्घटनाग्रस्तों की तात्कालिक चिकित्सा। स्काउटिंग। चुस्ती-फुर्ती का अर्जन। समाज सेवा, नागरिकता व कर्तव्य निर्वाहों की व्यावहारिक शिक्षा आदि।

स्वास्थ्य रक्षा के लिए कुछ यांत्रिक व्यवस्थाएँ यथा-

(१) घरों में निजी मुहल्ले में सामूहिक हैंड पम्प लगाने का शिक्षण ताकि बिना सफाई वाले कुओं का गंदा पानी पीने के लिए बाधित न होना पड़े।

(२) सुलभ शौचालय, जिसके आधार पर मानवी मल-मूत्र की गंदगी, बीमारी फैलाने से रोकथाम हो सके।

गंदगी न फैले। मल को सुनहरे खाद के रूप में परिणत करके आर्थिक लाभ उठाया जा सके। गाँव के इर्द-गिर्द गंदगी फैलाने के वर्तमान कुप्रचलन से छुटकारा पाया जा सके ।

(३) धूम्र रहित चूल्हे बनाना, जिनमें धुँआ बिल्कुल भी न निकले और ईंधन की खपत आधी रह जाय। साथ ही घरेलू एवं सामूहिक उपयोग सूर्य शक्ति एवं वैकल्पिक ऊर्जा के आधार पर पर्याप्त सामर्थ्य वाले उपकरणों को बनाने और चलाने की शिक्षा।

(४) घरेलू शाक-वाटिका लगाना, बढ़ाना और उनसे समुचित मात्रा में बिना मूल्य गुणकारी शाकभाजी उत्पन्न करके स्वास्थ्य सुधारना और आर्थिक बचत भी करना। शोभा-सज्जा के लिए घर में पुष्पोद्यान लगाने की पद्धति सीखना।

(५) जड़ी-बूटी लगाना। उनका घरेलू उपयोग करके सामान्य रोगों से अपनी चिकित्सा कर लेना । जिनके पास थोड़ी भी जमीन है, वे ऐसे जड़ी-बूटी उद्यान आसानी से लगा सकते हैं। निजी लाभ उठाने के अतिरिक्त उत्पादित जड़ी-बूटियों को बेचकर आर्थिक लाभ भी उठा सकते हैं। घर में काम आने वाले मसालों से सामान्य रुग्णता का उपचार कर सकने की अति महत्वपूर्ण जानकारी।

गर्भिणियों, रोगियों को उस विशेष स्थिति में भी संतुलित बनाये रहने की शिक्षा। छोटे बालकों के भरण-पोषण, आहार-विहार, मनोरंजन जैसी अनेक उपयोगी जानकारियाँ भी इस शिक्षण में दी जाएँगी।

यह है स्वास्थ्य रक्षा के संदर्भ में त्रैमासीय सत्रों में पढ़ाई जाने वाली विधि-व्यवस्था की दस सूत्रीय रूपरेखा। इसके आधार पर अपना स्वास्थ्य सुधारा जा सकता है और अपने परिवार, पड़ोस में स्वस्थता अक्षुण्ण रखने का वातावरण बनाया जा सकता है। यह शिक्षा आत्म-कल्याण और समाज-कल्याण दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

जीविका उपार्जन और गृह उद्योग

शहर, कस्बों के सुसम्पन्न व्यक्ति अपनी आजीविका के लिए बड़े उद्योग, व्यवसाय, फर्म, कारखाने लगा लेते हैं। सुशिक्षित सरकारी नौकरियों में खप जाते हैं। कला, साहित्य, शिल्प आदि के सहारे अपने लिए अच्छी आजीविका कमा लेते हैं पर यह वर्ग दस प्रतिशत से अधिक नहीं है। अधिकांश जनता देहातों मे रहती है। उनके सामने कृषि, पशुपालन और मजदूरी के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। गृह उद्योगों का प्रचलन नाम मात्र का है, उसमें एक-दो प्रतिशत लोग ही लगे हैं, शेष का खेती से बचा हुआ समय प्रायः बेकार ही जाता है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि देहात में रहने वाले बहुसंख्यक समाज को गृह उद्योग में लगाया जाय। उनके उत्पादन को खपाने के लिए नये सिरे से स्वदेशी आन्दोलन जैसी नई लहर चलाई जाय। खादी को सैद्धान्तिक आधार पर ही लोकप्रिय बनाया गया था; अब स्वदेशी के प्रति जनसाधारण को वैसा ही उत्साहित किया जाय। मिल के सस्ते और आकर्षक उत्पादन की तुलना में देहाती कुटीर उद्योगों को प्रतिद्वन्द्विता से बचाने और उन्हें पनपने का अवसर इसी आधार पर मिलेगा। गरीबी और बेकारी से पिण्ड इसी प्रकार छूटेगा, बहुमत के लिए आजीविका उपार्जन में सहायता करने के लिए इसी प्रयास को नये उत्साह और नये संकल्प के साथ आरम्भ करना होगा।

तीन-तीन महीने के युगनायक सत्रों में इसी विषय की बौद्धिक जानकारी और व्यावहारिक अभ्यास का समावेश इसी निमित्त किया गया है। कुटीर उद्योगों की संख्या स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार हजारों प्रकार की हो सकती है। उन सभी के सिद्धान्त तो बताये जा सकते हैं पर व्यावहारिक अभ्यास कराने के लिए विशालकाय बहुमुखी प्रयोगशाला चाहिए, उसकी सम्भावना शांतिकुंज की वर्तमान स्थिति को देखते हुए है नहीं। बड़े के इन्तजार में देर तक रुके बैठने का अवसर नहीं। इसलिए जितना सम्भव हो सका, उतने कुटीर उद्योग सम्बन्धी सिद्धान्त और अभ्यास शिक्षण प्रक्रिया में समाविष्ट किया गया है। चूँकि समय तीन महीने जितना अल्प है, उसमें भी बुद्धिमत्ता और स्वास्थ्य रक्षा जैसे महत्वपूर्ण प्रकरण जुड़े हुए हैं; इतने पर भी कुटीर उद्योगों के प्रशिक्षण में जितना अधिक सम्भव था, समावेश किया गया है। सिद्धान्त तो पूरी तरह सिखा ही दिए जाएँगे। व्यवहार भी समय के अनुसार सभी का प्रयोग में लाने का अवसर मिलेगा पर पूर्णता और पारंगतता तो कार्य हाथ में मिलने पर लम्बे अभ्यास के उपरान्त ही मिल सकेगी।

जो कुटीर उद्योग ३ माह के सत्र की अवधि में जिस प्रकार सिखाये जाएँगे, उसका विवरण इस प्रकार है-

(१) सहकारिता और कुटीर उद्योगों का पारस्परिक सम्बन्ध, दोनों को साथ-साथ चलाने की प्रक्रिया।

(२) कृषि और पशुपालन के पुरातन तरीकों और अन्वेषणों को समझाते हुए उनमें सुधार करने की आवश्यकता व इस सन्दर्भ में अधिकाधिक जानकारियाँ उपलब्ध कराना। दीमक और कृमि-कीटकों से बचाव।

(३) वस्त्र उद्योग, कताई सम्बन्धी अभ्यास। इस सन्दर्भ में हुए नवीनतम सुधारों का प्रदर्शन और अभ्यास।

(४) कामचलाऊ सिलाई की मशीनों का प्रयोग।

(५) रसायन, साबुन तथा साबुन पाउडर बनाना, अगरबत्तियाँ बनाना, मोमबत्तियाँ बनाना।

(६) घरेलू प्रयोग में आ सकने वाली थोड़ी बिजली से चलने वाली आटा चक्की, धुलाई मशीन, तेल निकालने की घरेलू मशीन (कोल्हू) जो बिजली से चलेगी।

(७) टूट-फूट की मरम्मत।

(८) वृक्षारोपण आन्दोलन, सब्जियों से अधिक से अधिक लाभ लेने की विधि, पुष्पोद्यान, उनके बीज भण्डार चलाना और पौध उगाकर बेचना।

(९) मधुमक्खी पालन एवं सामूहिक स्तर पर गोबर गैस प्लाण्ट लगाना।

(१०) स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार जो उद्योग पनप सकते हैं, उनकी सम्भावनाओं पर परामर्श।

उपरोक्त दस विषयों में सैद्धान्तिक एवं अभ्यास की यथासम्भव व्यवस्था है, इन्हें अपने क्षेत्र में प्रचलित किया जा सकता है और अनेक की बेकारी, गरीबी दूर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकना सम्भव हो सकता है। जो दूसरों की इस स्तर की सहायता करेंगे, उन्हें सिखाने और कराने में जुटेंगे, वे निश्चय ही अधिक लोकप्रिय बनेंगे। उनकी सेवा, साधना सर्वत्र सराही जाएगी। सेवा-साधना के आधार पर ही किसी को लोकनायक स्तर का सम्मान मिला है-इस तथ्य को भली प्रकार गाँठ बाँध रखना चाहिए।

इन उद्योगों के सीखने का एक लाभ यह है कि अपने क्षेत्र में इन प्रशिक्षणों में से जो सम्भव है, उनके प्रशिक्षण का केन्द्र चलाया जा सकता है। उस उत्पादन की खपत का सहकारी स्तर पर विक्रय विभाग चलाया जा सकता है। नई सहकारी समिति का प्रबन्ध सरकार के माध्यम से किया जा सकता है। इस प्रकार के निजी रूप में भी उन्हें किया जा सकता है और सहकारिता के आधार पर बड़े क्षेत्रों में भी और बड़े रूप में भी।

यदि निजी रूप में इनमें से कोई व्यवसाय करना हो तो, उसे घरेलू सुविधा का संवर्द्धन का आधार भी बनाया जा सकता है और यह भी हो सकता है कि उसे थोड़ा विस्तार देकर स्वयं ही नियोजित किया जाय। डेरी उद्योग के पनपने की हर जगह आवश्यकता है। मसाले पीसने, आटा पीसने, घर के कोल्हू पर शुद्ध तेल निकालने और जन-साधारण को उपलब्ध कराना ऐसे उद्योग है कि उसके सहारे अनेक की खाद्य पदार्थों में मिलावट से भारी हानि उठाने वालों की जीवन रक्षा की जा सकती है। साथ ही अपने लिए भी घर-गाँव में रहकर जितनी आजीविका अर्जित की जा सकती है, जिसके लिए नौकरी तलाश करने और आये दिन बदली का झंझट उठाने की विवशता रहती है। उस फेर में संयुक्त परिवार भी अस्त-व्यस्त हो जाता है। देहात छोड़कर लोग शहरों की गन्दगी में घुस पड़ने के लिए इसीलिए दौड़ते हैं कि ग्राम्य जीवन में कुटीर उद्योगों के आरम्भ करने और खपाने की, पूँजी जुटाने का कोई सुप्रबन्ध नहीं है। यदि कोई व्यवसाय बुद्धि का लोकसेवी इस क्षेत्र में प्रवेश करे, तो अपनी निजी आजीविका का प्रश्न तो स्थायी रूप से हल कर ही सकता है, साथ ही अपने प्रभाव क्षेत्र में घरेलू उद्योगों द्वारा आजीविका उपार्जन के नये आधार खड़े कर सकता है।

तीन महीने के सत्रों में इस विषय के जो पाठ्यक्रम हैं, उनको पूरी तरह अभ्यास कर सकना तो शायद न बन पड़े, पर इतना निश्चित है कि समुचित जानकारी इस स्तर की बन पड़ेगी कि लौटने पर जिन कार्यों को हाथ में लिया जाए उनकी प्रवीणता काम करने के साथ-साथ सम्पन्न कर ली जाय। यह भी हो सकता है कि इन विषयों के कारीगरों को नौकर रखकर अभ्यास को पूरा कराते रहा जाय।

कुटीर उद्योगों के लिए पूँजी की खपत का प्रबन्ध करने के लिए जहाँ सहकारी समितियों की स्थापना आवश्यक है, वहाँ यह भी जरूरी है कि 'स्वदेशी आन्दोलन' को एक प्रचण्ड आन्दोलन के रूप में गतिशील किया जाय, ताकि लोग बड़े कारखानों की बनी वस्तुएँ खरीदने के स्थान पर गृह उद्योगों से बने माल को अपनाने के लिए सहमत और प्रतिबद्ध हों।

निजी रूप से घरेलू शाक-वाटिका, टूट-फूट की मरम्मत जैसे कार्यों को घर-परिवार की आवश्यकता पूर्ति के लिए अपनाया जा सकता है पर अधिक लोगों को अधिक काम देते हुए आर्थिक क्षेत्र का लोकनेतृत्व करना हो, तो उस प्रक्रिया को व्यापक बनाने की बात सोचनी पड़ेगी। यही बात बुद्धिमत्ता और स्वास्थ्य रक्षा क्षेत्रों में भी लागू होती है, उन्हें भी सीमित न रहकर व्यापक बनाना पड़ेगा, तभी नेतृत्व का श्रेय समुचित रूप से मिल सकेगा।

प्रशिक्षण सम्बन्धी अन्य ज्ञातव्य

देश में गरीबी का एक बड़ा कारण है-धूमधाम वाली, देन-दहेज वाले खर्चीले विवाहों का प्रचलन। इस कारण-अधिक कमाने वाले भी सब कुछ इसी गर्त में गिरा कर खोखले बनते और बेईमानी के तरीके अपनाने के लिए विवश होते रहते हैं। यदि देश को समृद्ध और नैतिक बनाना है तो इस प्रकार की सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आन्दोलन चलाना पड़ेगा। अपव्यय की अन्य मदों को भी रोकना है। फैशन-परस्ती, ठाट-बाट, शृंगार, जेवर आदि में होने वाला खर्च यदि घटाया जा सके और उसे अल्पबचत योजनाओं में लगाया जा सके तो अपव्यय का द्वार बन्द होने पर समाज का आर्थिक सुधार तेजी से हो सकता है।

श्रम के प्रति अवज्ञा का भाव भी प्रगति मार्ग में भारी बाधा है। यहाँ आराम से बैठे दिन गुजारने वालों को भाग्यवान, अमीर, उच्च माना जाता है और श्रमजीवी कारीगर अभागे समझे जाते और उपहास की दृष्टि से देखे जाते हैं, श्रमजीवियों को नीच मानने की प्रथा इसी आधार पर चली है। आवश्यकता इस बात की है कि श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ाई जाय और आराम हराम है की मान्यता लोकमानस में नये सिरे से प्रतिष्ठित की जाय ताकि मात्र आजीविका ही न बढ़े वरन् स्वस्थता और बुद्धिमत्ता में भी चार चाँद लगें।

नशे में राष्ट्रीय धन की इतनी बड़ी राशि व्यय होती है कि उसे बचाकर शिक्षा एवं स्वास्थ्य का विकास हो सकता है, व्यक्तिगत रूप से इस आदत का शिकार व्यक्ति निर्धन, अस्वस्थ होता मूर्ख बनता है। परिवार की भयंकर

दुर्दशा बनाता है और समाज में अपने जैसे अनेक को कुटैवग्रस्त कर सर्वनाश के गर्त में धकेलता है। नशेबाजी छुड़ाने, इसमें नये लोगों को न फँसने देने के लिए जो भी प्रयत्न बन पड़े उनके लिए परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए आवश्यक ताना बुनना चाहिए।

अपनी देश की स्त्रियाँ घरों में कैद हैं। उन्हें न शिक्षा की सुविधा प्राप्त है न स्वावलम्बन की। अस्तु, नारी जागरण की योजना भी हाथ में लेने ही योग्य है, उन्हें शिक्षित, स्वावलम्बी तथा विचारशील प्रगतिशील बनाने के व्यापक प्रयत्न किये जाने चाहिए। इससे आजीविका स्वस्थता और बौद्धिक-संवर्द्धन की समस्या भी हल होती है।

आदिवासी, वनवासी स्तर के लोगों का पिछड़ा वर्ग अपनी मान्यताओं और परिस्थितियों के कारण हर दृष्टि से पिछड़ा रह गया है। उन्हें ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने और सभ्य समुदाय के साथ जोड़ने की आवश्यकता है। अपने देश में जाति-पाँति, ऊँच-नीच का भाव भी मिथ्या अहंकार पैदा करने और अकारण आत्महीनता उत्पन्न करने का एक बड़ा कारण है। सुधार इस सम्बन्ध में भी होना चाहिए।

व्यक्तिगत चरित्रनिष्ठा उत्पन्न करने के लिए नये सिरे से आन्दोलन करने की आवश्यकता है। धर्म और अध्यात्म को प्रगतिशीलता के साथ जोड़ा जाना चाहिए, उसे प्रतिगामिता और रूढ़िवादिता के केन्द्रबिन्दु नहीं बना रहने देना चाहिए; इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए धर्मतंत्र से लोकशिक्षण की योजना हर वर्ग के व्यक्तियों को व्यक्तित्व निखार की इस प्रक्रिया में भाग लेना और धर्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हर व्यक्ति तक अभिनव वितरण के रूप में पहुँचाना चाहिए। बाल संस्कारशाला जैसे कार्यक्रम इसीलिए हाथ में लिए गये हैं। झोला पुस्तकालय भी लोकशिक्षण का एक बहुत बड़ा माध्यम है। दीप यज्ञों के माध्यम से होने वाली छोटी-बड़ी विचारगोष्ठियाँ भी लोकचेतना को झकझोरने और उस युग धर्म का निर्वाह करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। लोकनायक सत्रों में सम्मिलित होने वाले इन प्रसंगों की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि समझेंगे और साथ ही इस सन्दर्भ में जो किया जाना है उसके लिए अपनाई जाने वाली विधि-व्यवस्था का भी परिचय प्राप्त करेंगे।

तात्पर्य यह है कि वर्तमान परिस्थितियों में जो कुछ व्यक्ति, परिवार और समाज के नवनिर्माण हेतु किया जाना आवश्यक है उससे शिक्षार्थी अवगत हो सकेंगे। प्रतिभा परिष्कार, परिवार का अभिनव निर्माण एवं समाज की उच्चस्तरीय संरचना के सभी पक्षों से शिक्षार्थी अवगत हो सकेंगे। नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रान्ति को अग्रगामी बनाने के लिए वह सब कुछ जान सकेंगे जो युग धर्म के अनुरूप जानने योग्य है। तीन महीने जैसी अल्प अवधि में इतने विषयों की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक जानकारियाँ प्राप्त कर सकना एक प्रकार से गागर में सागर भर देना भी कहा जा सकता है।

इस प्रशिक्षण के लिए गोबर गणेश, भजनानंद, थके-हारे, अर्द्धविक्षिप्त, बूढ़े व बीमार स्तर के ऐसे लोग नहीं चाहिए, जो शिक्षण की आड़ में हरिद्वार रहकर समय काटना चाहते हैं। इसके लिए तो ऐसी प्रतिभाएँ चाहिए जो अपनी नाव खे सकें और उनमें बिठाकर अन्यान्यों को पार लगा सकें। चिकनी मिट्टी से ही बढ़िया खिलौने बनते हैं। बालू से नहीं, बढ़िया लोहे से ही कारीगरी के औजार बनते हैं। प्रतिभा के धनी, शालीनता से सम्पन्न, परिश्रमी, प्रगतिशील ही लोकनायक की सफल भूमिका निभा सकते हैं। उन्हीं की तलाश है। इस कार्य में सभी अखण्ड ज्योति सदस्य सहायता करें और जिन्हें उपयुक्त समझें, उन्हें खोजें और प्रोत्साहित करके सत्र में सम्मिलित होने के लिए भेजें।

प्राचीनकाल की गुरुकुल पद्धति यह थी कि आश्रम संचालक सभी छात्रों के लिए भोजन, निवास, शिक्षण आदि की निशुल्क व्यवस्था करते थे ताकि सभी गरीब-अमीर उसका समान रूप से लाभ उठा सकें। जो सर्वथा निर्धन नहीं थे, वे दान के रूप में अपने ऊपर आने वाला आश्रम खर्च लौटाते रहते थे, ताकि निर्धन का हक न मारा जाय। यही पद्धति इस प्रशिक्षण में भी अपनाई गई है। जिन्हें स्वीकृति प्राप्त हो, वे तीन महीने के लिए उपयुक्त वस्त्र और बिस्तर अपने साथ लेकर चलें। उद्योगों में खेलकूदों में खाकी नेकर कमीज का उपयोग होता है। वे भी दो जोड़ी साथ लेकर चलना चाहिए। पुस्तकें वाद्य यंत्र जिनके निजी हों, वे ही उसकी व्यवस्था भी करके चलें। मार्ग व्यय सभी को अपना-अपना करना होगा। पहले सत्र का शुभारम्भ बसंत पर्व २३ जनवरी से किया गया है। दूसरा एक मई से चलेगा। शिक्षा न्यूनतम जूनियर हाईस्कूल स्तर तक की होनी चाहिए। आयु न्यूनतम २५ वर्ष। प्रथम सत्र की भर्ती फरवरी मध्य तक चलेगी।

प्रवेश पाने के इच्छुक (१) अपना पूरा नाम-पता (२) शिक्षा (३) व्यवसाय (४) आयु (५) जन्म-तिथि (६) मिशन की पत्रिकाओं के सदस्य होने का प्रमाण (७) शारीरिक-मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होने का आश्वासन तथा (८) आश्रम की मर्यादाओं का श्रद्धापूर्वक पालन करने का विश्वास। इन सभी बातों को सादे कागज पर लिखकर भेजना चाहिए और अब तक की अपने जीवन की गतिविधियों का विवरण भी लिखना चाहिए। यहाँ की पोशाक धोती-कुर्त्ता है, पाजामा व पैण्ट नहीं।

आवेदन पत्र आने पर छाँट की जाती है और जिन्हें प्रवेश मिलना है, उन्हें स्वीकृति दी जाती है। स्वीकृति पाने के बाद ही किसी को आने की तैयारी करनी चाहिए; अनावश्यक आ धमकने पर प्रवेश न मिल सकेगा। इच्छुकों की संख्या अधिक है और स्थान की कमी से शिक्षार्थी सीमित ही लिए जाते हैं। जगह भर जाने पर किसी अगले सत्र में प्रवेश मिलने की प्रतीक्षा भी की जा सकती है।

हर प्रशिक्षार्थी से यह आशा की गई है कि वे इस प्रशिक्षण से स्वयं तो लाभ उठावेंगे ही साथ ही इस आधार

को अपने क्षेत्र में विस्तृत करने एवं शिक्षण देने की भी यथासम्भव व्यवस्था करेंगे।

नौ दिवसीय जीवन-साधना सत्र

शांतिकुंज हरिद्वार में एक-एक महीने के युगशिल्पी सत्र यथावत् चल रहे हैं, नालन्दा विश्वविद्यालय स्तर की इस पढ़ाई में युग परिवर्तन में सफल नेतृत्व की भूमिका निभा सकने योग्य प्रखर प्रतिभाएँ विनिर्मित करना इस प्रशिक्षण का मूलभूत उद्देश्य है। आस्था संकट ने ही इन दिनो अनेकानेक प्रकार की समस्याएँ, उलझनें, कठिनाइयाँ खड़ी की हैं, इन सबका एकमात्र समाधान यही है कि लोकमानस का आद्योपान्त परिष्कार किया जाय। दूरदर्शी विवेकशीलता अपनाने और जो उचित है उसी को स्वीकार करने की व्यापक मनोभूमि विनिर्मित की जाय, इसके लिए भावनाशीलों को निजी जीवन में लोभ, मोह की कटौती करके लोकमंगल के लिए समयदान और अंशदान अर्पित करने की बढ़-चढ़ कर उदारता, साहसिकता दिखायी जाय; जो इतना कर सके उनके लिए यह प्रशिक्षण अमृतोपम है। अब तक हजारों की संख्या में प्राणवान सृजनशिल्पी प्रशिक्षित हुए और कार्यक्षेत्र में उतरे हैं। यह पुनीत प्रक्रिया आगे भी जारी रहेगी। गायत्री तीर्थ की खदान ऐसे मणि-मुक्तक विनिर्मित करने और उनके उत्खनन करने का कार्य सदा-सर्वदा जारी रखेगी। उसे दिव्य चेतना ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए निश्चित जो किया है।

अक्सर शिकायत मिलती है कि उपासनाएँ सफल नहीं होतीं, मनोकामनाएँ पूरी नहीं हो पातीं। अध्यात्म पर यह कलंक उन्होंने लगाया है जो खेत तैयार किए बिना ही बीज बोने और फसल काटने की जल्दबाजी करते हैं. आत्मशोधन की उपेक्षा और पूजा-पत्री को ही सब कुछ मान लेने से ऐसी स्थिति पैदा होती है। सही ढंग से चला जाय, तो अध्यात्म से वे सब लाभ आज भी उठाये जा सकते हैं, जो कभी पढे या सुने गये हैं। पूज्य गुरुदेव का निजी अनुभव भी हम सबके सामने हैं।

सोचा गया है कि प्रज्ञा-परिजनों में से किसी के मन में अध्यात्म विज्ञान के प्रति शिकायत न रहने पाये। अब तक अपनाये गये क्रम और उसकी असफलता की दुहाई देने की अपेक्षा समग्र-साधना का क्रम नये उत्साह के साथ, श्रद्धा विश्वासपूर्वक अपनायें। इन साधना सत्रों में निर्धारित साधनाओं का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त करें।

नौ दिवसीय जीवन-साधना सत्रों का कार्यक्रम अब और भी अधिक सघन एवं व्यस्त कर दिया गया है। किस प्रयोजन के लिए क्या आत्म-साधना करनी चाहिए ? इसका निर्णय करने से पूर्व शिक्षार्थी की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति की जाँच-पड़ताल बहुमूल्य वैज्ञानिक यंत्रों से की जाती है। अब तक के जीवन का विवरण, वर्तमान में अड़े हुए अवरोध एक उज्ज्वल भविष्य के लिए किस दिशा में चलने का विचार है यह विस्तारपूर्वक पूछा जाता है और तदनुसार साधना विषयक परामर्श दिया जाता है। साधारणतया गायत्री का एक लघु अनुष्ठान आवश्यक है। जिन्हें किसी अन्य साधना मार्ग पर विश्वास है उनका तदनुरूप निर्धारण कर दिया जाता है।

साधना का जप, ध्यान, हवन व संयम का स्थूल, सूक्ष्म और कारण का तीनों शरीरों पर प्रभाव पड़ता है, इसलिए सर्वतोमुखी प्रगति के लिए व्यक्तित्व के अन्तराल में उसे नये और पुराने संस्कारों का परिशोधन-परिष्कार करने के लिए यह साधना विद्या दूरगामी परिणाम उत्पन्न करती है, जो इन सत्रों में सम्मिलित होने वाले प्रत्येक व्यक्ति से कहीं उसकी शक्ति एवं स्थिति के अनुरूप कराई जाती है। सभी साधनाएँ ऐसी हैं जिन्हें सरलतार्पूक बिना किसी जोखिम के हर कोई आदमी अपना सके।

नवीन साधना क्रम नौ दिन में २४००० गायत्री जप के अनुष्ठान के साथ जोड़कर रखा गया है। यह प्रतिमाह १ से ९, ११से १९ तथा २१ से २९ तक चलेंगे। गायत्री जप के अनुष्ठान के साथ तीनों शरीरों से सम्बद्ध कमल-चक्रो का ध्यान-योगत्रयी के रूप में जुड़ा रहेगा। प्राणाकर्षण प्राणायाम तथा आत्मदेव की साधना भी अनिवार्य साधनाओं में रहेगी। प्रातःकाल शिव कुण्डलिनी योग का विशेष ध्यान भी कराया जाएगा। तप साधना में आश्रम अनुशासन, हव्यात्र तथा अमृतासन का एक बार आहार, गंगाजल पान, प्रातः मौन जैसे सुगम परन्तु प्रभावशाली क्रम अपनाने होंगे। लोक-मंगल के लिए किया जाने वाला सुनिश्चित पुरुपार्थ भी तप और प्रायश्चित्य इष्टापूर्ति का माध्यम बनेगा।

साधनाएँ घर पर भी की जा सकती हैं, की जाती हैं, परन्तु वातावरण की अनुकूलता का लाभ मिलने पर साधक का संकल्प अपनी पिछली आदतों को काबू करने में, ढर्रे को बदलने में अधिक सफल हो पाता है। गंगा की गोद, हिमालय की छाया, सप्त ऋषियों की तपस्थली, दिव्य -वातावरण, समर्थ संरक्षण, उपयुक्त परामर्श आदि की सुविधाएँ गायत्री तीर्थ में विशेष रूप से हैं; इसलिए जो परिजन समय निकाल सकें, उन्हें किसी साधना सत्र की स्वीकृति मँगा लेनी चाहिए । अपने परिचित, सम्बन्धियों, सत्पात्रों को भी इसकी जानकारी देनी चाहिए तथा जिनमें उमंग जगे, उनके भी आवेदन भिजवाकर स्वीकृति मँगा लेनी चाहिए।

प्रज्ञा परिवार बहुत बड़ा है। शांतिकुंज में स्थान सीमित है। एक बार में उतने ही व्यक्तियों को स्वीकृति दी जाएगी जितने की व्यवस्था ठीक से की जा सके। इसलिए परिजनों को क्रमशः अपनी पारी की प्रतीक्षा करनी ही पड़ेगी।

आवेदन पत्र हाथ से लिखकर भेजे जाएँगे। उसमें पूरा नाम, पूरा पता, जन्म-जाति, शिक्षा, व्यवसाय आदि लिखे जाएँगे। किस माह के किन सत्रो को प्राथमिकता देना

चाहते हैं? यदि उन सत्रों में स्थान होगा तो उन्हें निकटवर्ती किसी सत्र में स्वीकृति दी जाएगी। आवेदन के साथ सत्रों में अनुशासन पालने का आश्वासन होना चाहिए। कोई ऐसा रोग नहीं होना चाहिए जिसके कारण सत्र-साधना अथवा किन्हीं के साथ ठहरने में स्वयं को कठिनाई या दूसरों को ऐतराज हो। प्रत्येक का आवेदन अलग-अलग हों, एक आवेदन पर बहुतों के नाम लिखना ठीक नहीं। प्रत्येक व्यक्ति के विवरण की समीक्षा करके, उन्हें उपयुक्त पाये जाने पर ही स्वीकृति भेजी जाएगी। घुमक्कड़ मनोभूमि के व्यक्ति जो साधना-अनुशासन के प्रति गंभीर न हों, वे साधना का माहौल बिगाड़ते हैं, इसीलिए सुपात्रों के लिए ही स्वीकृति माँगी जाय। स्वीकृति देने में भी सावधानी बरती जाएगी।

भोजन, निवास आदि का प्रबंध आश्रम में है, वस्त्र अपने लेकर चलना चाहिए । कुर्त्ता-धोती सभी के लिए आवश्यक परिधान हैं; पेन्ट, लुंगी, अण्डरवियर पहन कर अनगढ़ पोशाक में रहना वर्जित है। नौ दिनों में एक गायत्री अनुष्ठान करना होता है। अन्य साधनाएँ आवश्यक समझी जा सकती हैं, बताई या कराई जाती हैं। दिनचर्या, प्रातः से सायंकाल तक ही व्यस्त है। उसमें जहाँ-तहाँ भटकने की न तो गुंजायश है और न आज्ञा। नौ दिनों के बीच में ही दो दिन आधे-आधे दिन के लिए पर्यटन की छुट्टी दी जाती है। जिसमें एक दिन हरिद्वार से सम्बन्धित और एक दिन में ऋषिकेश के समीपवर्ती स्थान देख लिए जाते हैं।

शिविरों में सत्संग-प्रवचन के विषय, व्यक्तित्व परिष्कार-निर्माण एवं समाजगत सद्व्यवहार का प्रचलन मुख्य विषय है। आध्यात्मिकता का पुट तो इन सभी प्रसंगों में आदि से अन्त तक रहता है। व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान सम्बन्धी परामर्श का भी उचित अवसर मिलता है। साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा, आत्मोत्कर्ष के यह चार प्रमुख सोपान हैं। इन्हें साधना काल में तथा घर वापस लौटने पर किस प्रकार निबाहा जाय, इसका हर व्यक्ति की मनःस्थिति एवं परिस्थिति के अनुरूप ऐसा निर्धारण किया जाता है जो बिना किसी कठिनाई के भविष्य में भी कार्यान्वित किया जा सके, जो बिना किसी कठिनाई के भविष्य में भी क्रियान्वित हो सकें।

एक मास के युग शिल्पी सत्र और नौ दिन के जीवन साधना सत्रों का अन्तर भलीभाँति समझा जाना चाहिए। किसमें आना है? इसका स्पष्ट उल्लेख करना चाहिए, युग शिल्पी सत्रों के प्रमुख विषय हैं। (१) सुगम संगीत (२)भाषण-सम्भाषण (३) पौरोहित्य के माध्यम से लोक-शिक्षण (४) जड़ी-बूटी उपचार (५) सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन एवं दुष्प्रवृत्ति त्यागने के लिए कार्यान्वित किये जाने वाले आवश्यक विधि-विधान और उनके बीच आने वाले व्यवधानों का समाधान।

जीवन साधना सत्रों में (१) आत्म-परिष्कार, व्यक्तित्व का निखार (२) परिवार निर्माण-इस छोटी दुनिया में सत्प्रवृत्तियों के संवर्द्धन का अभ्यास (३) वे लोक व्यवहार, समाज का पुनर्निमाण जैसे महत्वपूर्ण विषयों की जटिल गुत्थियों का सहज समाधान उपलब्ध कराया जाता है। शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, भावनात्मक परिस्थितियों में किस प्रकार सुधार किया जाय, संतुलन बिठाया जाय, जैसे विषयों का ऐसा मार्गदर्शन प्रस्तुत किया जाता है जिसका अनुसरण करना हर किसी के लिए संभव हो सके; इस प्रशिक्षण को उज्ज्वल भविष्य की संरचना का महत्वपूर्ण चरण समझा जा सकता है।

इन दिनों शांतिकुंज में जीवन-साधना के अतिरिक्त तीन मास की लोकनायक, युगनायक शिक्षा पद्धति भी चल रही है। (१) उसमें शिक्षा-संवर्द्धन (२) स्वस्थता-संरक्षण तथा (३) कुटीर उद्योगों के माध्यम से गरीबी उन्मूलन की अनेक विद्याएँ सिखाई जा रही हैं। भाषण कला एवं संगीत शिक्षा को प्रमुखता दी जा रही है, ताकि लोकमानस का परिष्कार करने के साथ-साथ अपनी प्रतिभा में भी चार-चाँद लगा सकें।

नौ दिवसीय सत्रों में आने वाले इन विषयों को इतने अल्प समय में सीख तो नहीं सकते पर देखने-समझने का अवसर उन्हें भी मिल जाता है। इस आधार पर नौ दिवसीय सत्रों में सम्मिलित होने वाले भी यह अनुमान लगा सकते हैं। इन विद्याओं में से अपनाने योग्य क्या हो सकती है; यहाँ देखे आधार पर वे जिन्हें उपयोगी समझें, उन्हें सीखने के लिए भविष्य में कभी यहाँ आने की और तीन महीने रहने की योजना बना सकते हैं।

इन नौ दिवसीय सत्रों में दो दिन का इतना अवकाश मिल जाता है, जिनमें ऋषिकेश, लक्ष्मणझूला, हरिद्वार कनखल के प्रमुख देवालयों के देखा जा सके और तीर्थ यात्रा या पर्यटन का उद्देश्य भी एक सीमा तक पूरा किया जा सके।

अब तक जितने शिक्षार्थी इन सत्रों में सम्मिलित होकर गये हैं, उनमें से अधिकांश ने ऐसी प्रेरणा प्राप्त की है जिसके सहारे पिछले जीवन की तुलना में भावी गतिविधियों में अति उपयोगी हो सका और उज्ज्वल भविष्य की संरचना का नया मार्ग खुल सका। उनमें उत्साहवर्द्धक परिवर्तन देखकर नये शिक्षार्थी के आने का उत्साह जगता रहता है और पिछले शिविरों की तुलना में अगले शिविरों की संख्या का काल तथा स्तर बढ़ता रहता है।

यह अनुमान सही नहीं है कि हरिद्वार में ठंड अधिक पड़ती है। सभी ऋतुये सहन करने योग्य स्तर पर रहने लगी हैं। हरिद्वार का मौसम भी लगभग वैसा ही रहता है जैसा अन्य समशीतोष्ण स्थानों का।

प्रज्ञामिशन के परिजनों में से जो कोई हरिद्वार आये हिमालय के लिए उधर से गुजरें व शांतिकुंज, ब्रह्मवर्चस् का दर्शन अवलोकन किये बिना न जायें। यह युग तीर्थ है। उसमें (१) ऋषि-परम्परा (२) साधना-परम्परा (३) पौरोहित्य -परम्परा (५) आरण्यक - परम्परा (६) आयुर्वेद-परम्परा तथा (७) ज्योतिर्विज्ञान-

परम्परा आदि अनेक परम्पराओं का ऐसा समन्वय मिलेगा जैसा कदाचित् ही कहीं अन्यत्र देखने को मिले। इस दर्शन से प्राचीनकाल का सतयुग अवधि का साधु, ब्राह्मण, वानप्रस्थी परिपाटी का प्रत्यक्ष दर्शन मिलता है और देखने वाला कृत-कृत्य होकर व अपनी यात्रा को सार्थक मान कर लौटता है।

किन्तु यह ध्यान रहे कि शांतिकुंज को प्रशिक्षण के निमित्त बनाया गया है, उसी उद्देश्य के लिए शिक्षार्थी यहाँ आते और ठहरते हैं। घुमक्कड़ों के लिए धर्मशालाओं में ठहरने की व्यवस्था यहाँ बिल्कुल भी नहीं है, इस प्रयोजन के लिए आने वाले अन्यत्र अपने ठहरने की व्यवस्था बनाने के उपरान्त ही यहाँ आवें। शिक्षार्थी का एक बड़ा वर्ग गर्मियों की छुट्टियों में आने का आग्रह करता है; इन दिनों सभी इच्छुकों को आने की स्वीकृति नहीं मिल सकती । अच्छा हो कि मई-जून छोड़कर अन्य महीनों में शिक्षा प्रयोजन के लिए आया जाय।

सुयोग्य प्रतिभाओं का उच्चस्तरीय शिक्षण हेतु आव्हान

देखा जाय तो मानव जीवन रूपी सुर-दुर्लभ काया उच्चस्तरीय उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त करने हेतु ही मिली है और विवेक का सम्बल लेने वाला उसे सदा से ही उस निमित्त नियोजित करता रहा है फिर भी कुछ विशिष्ट समय ऐसे होते हैं जिनमें महाकाल द्वारा भावनाशीलों को प्रमाद न बरतने एवं आपत्तिकालीन स्थिति में संकट से निपटने हेतु लगाई जाने वाली दौड़ हेतु चेतावनी देनी पड़ती है, प्रताड़ना के हण्टर बरसाने पड़ते हैं। प्रस्तुत बसन्त पर्व पर सारा मानव समुदाय युग-सन्धि के पाँचवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। यह समय वस्तुतः आपत्तिकाल की चरमावस्था का है। प्रज्ञा परिवार की जाग्रत आत्माओं-विभूतियों को इस प्रभात पर्व पर तन्द्रा छोड़ने और विवेकवानों जैसी जागरूकता अपनाने का आग्रह-अनुरोध किया गया है कि वे समय का महत्व समझें, अपनी विशिष्टता और गरिमा अनुभव करें।

यह बसन्त पर्व हमारा आध्यात्मिक जन्मदिवस तो है ही यह वर्ष की दृष्टियों से भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। हमने अपना जीवन ही अपने मार्ग-दर्शक के निर्देशानुसार जिया। जो-जो आदेश अनुबन्ध इस पर्व के साथ जुड़े हैं वे प्रज्ञा अभियान के कार्यक्रमों के रूप में फलीभूत हुए एवं हमारी कठोर गायत्री साधना से लेकर आज की स्थिति में आ पहुँचे जहाँ अपने चारों ओर प्रज्ञा परिवार का एक विशाल परिकर विचार-क्रान्ति के झण्डे तले नजर आता है। लेकिन प्रचार की इस गर्मी से समयदान का संकल्प ने वाले की मलाई को देखने भर से यह किसी को नहीं

विचारना चाहिए कि ब्रह्मभोज के पकवानों की व्यवस्था बन गई। समयदान की मात्रा पर नहीं गुणवत्ता पर निर्माण निर्भर है । मात्रा भले ही कितनी हो, मणिमुक्तकों की तरह मूल्यवान क्यों न हो, मात्र उन्हीं से हार नहीं बनता-उसके साथ स्वर्ण समावेश भी तो चाहिए। यही चिन्तन इन दिनों दैवी प्रेरणा के रूप में उभरा है कि हम अदृश्य को परिशोधित एवं शक्ति सम्पन्न बनाने के लिए तप-ऊर्जा का सम्बल लें। इस बसन्त से हम अपने कदम निवृत्ति की ओर मोड़ रहे हैं, स्वयं को सूक्ष्मीकृत करने जा रहे हैं। महायोगी अरविन्द ने अपनी साधना का उत्तरार्द्ध काल एकाकी तपश्चर्या में निरत किया था। इससे प्रत्यक्षतः उन्हें हानि नजर आई होगी जो चर्म-चक्षुओं से दर्शन को ही सब कुछ माने बैठे हैं लेकिन वातावरण को प्रचण्ड ऊर्जा से भर देने की परोक्ष भूमिका को विरले ही समझ पाए होंगे। जो यहाँ आयेंगे, उन्हें दर्शन-मनोकामना पूर्ति हेतु परामर्श तो नहीं मिल पायेगा लेकिन माताजी एवं हमारी ओर से दो प्रतीक प्राप्त होंगे, अब यही उनके व हमारे बीच सम्पर्क सूत्र होगा।

जहाँ अनेक नई प्रवृत्तियों का शुभारम्भ गायत्री तीर्थ में प्रस्तुत बसन्त से होने जा रहा है, वहाँ एक और महत्वपूर्ण कदम यह उठाया गया है कि प्रतिभावान कार्यकर्ताओं को उच्चस्तरीय शिक्षण देने का शुभारम्भ भी इन्हीं दिनों हो रहा है। ये प्रशिक्षण सत्र ४-४ मास के होंगे । इन्जीनियरिंग, चिकित्सा विज्ञान, बिजनेस मैनेजमेण्ट तथा चार्टर्ड एकाउण्टेन्सी के अध्ययन के लिए नियत अवधि तक ही पढ़ना होता है। इनका कोई छोटा कोर्स पास करके संबंधित विद्या का निष्णात कहलाया जा सके, ऐसा कोई प्रावधान नहीं है। प्रज्ञा अभियान का सृजन शिल्पी शिक्षण भी इस स्तर का है कि इसमें न्यूनतम ४ वर्ष का समय लोकसेवी दें। विभिन्न विधाओं का अध्यापन-शिक्षण ४ माह में सम्भव हो सके, इसकी समय व्यवस्था अब शांतिकुंज में बना दी गई है। प्रस्तुत बसन्त पर्व पर परिजनों से सबसे बड़ी अपील, आग्रह भरा अनुरोध करते हुए कहा जा रहा है कि वे प्रस्तुत शिक्षण हेतु एक जाग्रत, शिक्षित व प्रतिभावान कार्यकर्त्ता अपने-अपने स्थानों से चुनकर भेजें। शिक्षण की विधाएँ इतनी समग्र हैं कि यहाँ से जाने पर वह नैतिक, बौद्धिक क्रान्ति के सभी प्रयोजन पूरा करने योग्य, एक सक्षम लोकसेवी के रूप से ढलकर निकलेगा।

गायत्री परिवार की समस्त शाखाओं को तेजस्वी, एकनिष्ठ कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है। उनकी पूर्ति केन्द्र से हो, ऐसे अनुरोध तो ढेरों आते रहते हैं लेकिन कोई यह नहीं सोचता कि सही सामग्री भेजे बिना परिशोधित, संस्कारित बनी बनाई वस्तु कैसे प्राप्त की जा सकती है। क्षेत्रीय स्तर पर निगाह दौड़ाकर स्वयं ही प्रज्ञा संस्थानों को, स्वाध्याय मण्डलों को एवं प्रज्ञापुत्रों को अपने में से अथवा अपने आसपास उपलब्ध परिकर में से शिक्षण हेतु विद्यार्थी भेजने होंगे। उन्हें युगतीर्थ में हीरे की तरह खरादा-तराशा जाना है, बिना इतनी लम्बी प्रक्रिया से गुजरे वे अपेक्षाएँ

पूरी संभव नहीं हैं जो देश-देशान्तरों में फैले प्रज्ञा परिवार से की गई हैं। आने वाले विद्यार्थियों का स्वयं का लाभ तो यह है कि पहले की अपेक्षा और अधिक योग्य कई विधाओं में निष्णात हो सकेंगे। जबकि समाज का लाभ यह है कि उनके लिए पूर्ण समय दे सकने वाले प्रतिभावान लोक-सेवियों की पूर्ति हो सकेगी। अभी या तो पूजा-अर्चा भर करने वाले पुजारी विराजे हुए हैं अथवा कुछेक अपवादों को छोड़कर शेष स्थान पर घर-गृहस्थी, कार्यालय इत्यादि में व्यस्त बहुधन्धी परिजन मिल-जुलकर कुछ चिन्ह पूजा कर लेते हैं। कई कार्यों में लगे व्यक्ति मिल-जुल कर भी उस प्रयोजन की पूर्ति नहीं कर पाते जो कि अपेक्षित है, इस प्रकार ४-४ मास के तीन शिविर निम्नलिखित विधाओं के चलेंगे-

(१) गायन-वादन-अभिनय का क्रमबद्ध शिक्षण, (२) भाषण-सम्भाषण की विधा द्वारा युगनेतृत्व का शिक्षण (३) अपने-अपने क्षेत्रों में प्रगतिशील समाचार मासिक एवं स्मारिका (वार्षिकी) प्रकाशन करने के लिए छपाई, साहित्य सृजन-सम्पादन का शिक्षण (४) जन-सामान्य के शारीरिक, मानसिक, नैतिक स्वास्थ्य संवर्द्धन हेतु जड़ी-बूटी उपचार, घरेलू चिकित्सा, फर्स्ट-एड, नर्सिंग, खेलकूद, व्यायाम व अंग-संचालन का परिपूर्ण शिक्षण (५) शक्तिपीठों एवं शाखाओं की सामयिक माँग को पूरा करने के लिए बाल संस्कार शिक्षा, हरीतिमा संवर्द्धन एवं स्वच्छता अभियान इत्यादि का शिक्षण। इसके अतिरिक्त ज्ञानरथ संचालन, जन्म दिवोत्सव पर्व मनाने की पौरोहित्य एवं प्रज्ञापुराण कथाओं के टेप के माध्यम से दृश्य-श्रव्य साधनों द्वारा नौ दिवसीय कार्यक्रमों का स्थान-स्थान पर आयोजन । इनका विस्तार इस प्रकार है।

संगीत का जो अभिनव प्रशिक्षण आज शांतिकुंज में हो रहा है, उसे पूर्व की उपेक्षा आमूलचूल बदल दिया गया है। सैद्धान्तिक प्रतिपादनों का अन्तःकरण की गहराई तक उतारने का कार्य भाव-संवेदना उभारकर ही सम्भव है। आदर्शवादी मान्यताओं का सम्बन्ध अन्तःकरण के गहन मर्मस्थल से है। वही भक्ति-भावनाओं का केन्द्र है। मीरा, चैतन्य ने संकीर्तन को अपना माध्यम बनाया, इसी प्रकार लोकमानस के परिष्कार हेतु प्रज्ञा अभियान ने भी युग संगीत को नूतन विधाओं के साथ जोड़कर पुनर्जीवित किया है। सुगम संगीत का अभ्यास आसानी से हो सकता है। हारमोनियम के साथ ढपली, मंजीरा, खड़ताल, घुँघरू एवं बंगाली तम्बूरे के साथ अभिनय युक्त वादन का अभ्यास अब यहाँ कराया जाएगा। बैंजो, गिटार, इलैक्ट्रानिक म्यूजीटोन, तबला आदि को सीखना भी कठिन नहीं। ये सभी उपकरण यहाँ उपलब्ध हैं। प्रारम्भ तो क, ख, ग से ही करना होगा लेकिन चूँकि समय अब अधिक है, धीरे-धीरे समूहगान एक्शन सांग का इन सभी उपकरणों के सहारे अभ्यास सम्भव है। वीडियो का आकर्षण केन्द्रीय सत्र पर जुड़ जाने से अब इनकी सीरीज में फिल्में बनाकर देश-विदेश में दिखाने का क्रम भी आरम्भ होने जा रहा है।

विचार-क्रांति का दूसरा सशक्त माध्यम सम्भाषण है, युग साहित्य का सृजन तो दृष्टा स्तर के मनीषियों का ही काम है; वह हर किसी के वश की बात नहीं, किन्तु भाषण-संभाषण के माध्यम से लोकनेतृत्व का शिक्षण हरेक के लिए संभव है। इस विधा के मूलभूत नियमों को सीख लेने पर वह संकोची प्रवृत्ति एवं हीन भावना चली जाती है जिसके कारण लोगों की उपस्थिति में अपने विचार व्यक्त कर पाना संभव नहीं हो पाता। मिशन की विचारधारा से जन-जन को अवगत कराने के लिए वाणी-प्रवचनों, आपसी सम्पर्क, प्रज्ञा-पुराण कथा-सम्मेलन, जन्म दिवसायोजन एवं पर्वों के लिए आये दिन जो सम्भाषण की आवश्यकता पड़ेगी, उसका शिक्षण अब और अधिक प्रखर रूप से यहाँ होना है।

तीसरा शिक्षण है स्वास्थ्य संरक्षण स्तर का। ईसाई चर्चों द्वारा डिस्पेन्सरी के माध्यम से जन वर्गों एवं सुदूर क्षेत्रों में प्रवेश करना सेवा-भावना के माध्यम से ही संभव हो पाया है। औसत नागरिक के शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक स्वास्थ्य संवर्द्धन हेतु प्रज्ञा प्रचारकों को भी इसी स्तर पर आना होगा एवं समर्थ गुरु रामदास की व्यायामशाला की तरह स्थान-स्थान पर शिक्षण सत्र आयोजित करने होंगे। शांतिकुंज के शिक्षण में जड़ी-बूटी रोपण, ताजी एवं सूखी औषधि द्वारा रोगों के उपचार का, प्राथमिक सहायता, गृहपरिचर्या एवं स्काउटिंग-पीटी का भी समावेश है। ग्रामीण स्तर पर आज स्वास्थ्य की सुविधाएँ कहाँ उपलब्ध हैं ? यदि प्रचार-मण्डली स्वास्थ्य शिविर ही अपने क्षेत्र में स्थान-स्थान पर आयोजित करने लगे तो न केवल गाँव-गाँव में जड़ी-बूटी उद्यान होंगे अपितु सारे परिवार की सहज सहानुभूति इनके साथ होगी।

पाँचवाँ शिक्षण प्रशासक के सभी उपक्रमों के संचालन एवं शिक्षण चक्र से सम्बन्धित है। प्रज्ञा साधनों की वास्तविक प्राण-प्रतिष्ठा वहाँ बाल संस्कार शालाएँ चल पड़ने पर ही मानी जा सकती है। इससे सुसंस्कारिता का वातावरण बनना, हलचल बनी रहना सम्भव है। बालकों एवं अभिभावकों की सहायता से किस प्रकार ट्यूटोरियल कक्षा चलायी जाएँ, हरीतिमा संवर्द्धन एवं स्वच्छता आन्दोलन को कैसे न्यूनतम रूप में आरम्भ करें, इसका शिक्षण यहाँ होगा। ज्ञानरथ की धकेल गाड़ी को चल प्रज्ञा संस्थान के रूप में कैसे आकर्षक-उत्तेजक बनाकर उसे देवालय की तरह घुमाया जाय, इसकी व्यावहारिक शिक्षा यहीं सम्भव होगी। टेपरिकार्डर, स्लाइड प्रोजेक्टरों के माध्यम से प्रज्ञा पुराण की कथा का श्रव्य-दृश्य साधनों के माध्यम से जगह-जगह नौ दिवसीय आयोजन एवं बदल-बदल कर क्रम से प्रज्ञा संस्थान पर नवाह्नपरायण के रूप में सम्मेलन तथा जन्मदिन की घर-घर पर्व गोष्ठी मनाने का शिक्षण भी इसी क्रम में सम्मिलित है।

प्रस्तुत पाँचों उपक्रम उच्चस्तरीय शिक्षण की पाँच प्रमुख शाखाएँ हैं जिन्हें शिक्षार्थी की अभिरुचि, योग्यता एवं पकड़ को देखते हुए चार माह की अवधि में बाँट

दिया जाएगा। किसको पहले कौन-सा विषय पढ़ाया जाय एवं किस क्रम में इन्हें विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाय, इसके लिए शिविर के प्रारम्भ के नौ दिनों में पर्यवेक्षकों द्वारा उनकी योग्यता, मन:स्थिति का गम्भीर अध्ययन कर लिया जाएगा। यह नौ दिवसीय लघु अवधि साक्षात्कार की होगी एवं इसमें असफल पाए जाने पर उत्साहवश आए परिजनों को क्षेत्रीय दायित्व सौंप कर लौटाया भी जा सकता है। प्रि-मेडीकल, प्रि-इन्जीनियरिंग टेस्ट में हजारों विद्यार्थी प्रतिवर्ष बैठते है, जबकि स्थान चुने होते हैं उनमें सफल होने पर ही मेडीकल या इन्जीनियरिंग कॉलेज में प्रवेश मिलता है। प्रस्तुत प्रारम्भिक शिविर इसी स्तर का होगा।

इस पाठ्यक्रम की विशेषता यह है कि लेखनी और वाणी का, सेवा और स्वास्थ्य का, लोकनेतृत्व का समुच्चय इसमें है। सम्पूर्ण शिक्षण प्राप्त कर लेने पर उनका अपना स्वार्थ तो इसमें यह पूरा होगा कि लोकसेवा का, मिशनरी मन:स्थिति का इसमें विकास होगा। प्रशिक्षित व्यक्ति अपने बलबूते एकाकी प्रज्ञा संस्थान चला सकने की स्थिति में होंगे। बिजनेस मैनेजमेण्ट एवं आई. ए. एस. स्तर के शिक्षण में प्रशासन क्षमता लोक-व्यवहार की कला का ही विकास किया जाता है। यह सैद्धान्तिक स्तर का नहीं, व्यावहारिक शिक्षण है। समय की आवश्यकतानुसार अब ऐसे ही लोकसेवियों की जरूरत है जो अपनी पैनी बुद्धि एवं जीवट के सहारे नेतृत्व का बीड़ा उठा सकें। इस दृष्टि से शिक्षण क्रम हर उस कार्यकर्त्ता के लिए अभीष्ट है जो पहले यहाँ आकर एक माह समय काटकर जा चुके हैं, अभी तक पंचसूत्री योजना के नाम से एक कार्यकर्त्ता की नियुक्ति वेतन सहित करने की चर्चा की जाती है। अब यह माना जाय कि हमारे अपने परिजनों के बीच में से ही अथवा सम्पर्क क्षेत्र में से एक मॉनीटर चुना जाना है जो पूर्णत: प्रशिक्षित हो एवं स्थायी सेवाभावी कार्यकर्त्ता के रूप में खप सकता हो।

इन विशेष प्रशिक्षण सत्रों में केवल वे ही आएँ या भेजें जाएँ जिनकी मन:स्थिति एवं परिस्थिति ऐसी है कि वे लोकसेवा के क्षेत्र में उतर सकें । धन संग्रह या विलासी जीवन जीने, यहाँ से सीखकर घर जाकर उसका अपने लिए प्रयोग करने की जिनकी महत्वाकांक्षा हो, वे न आएँ। औसत भारतीय के निर्वाह स्तर में रह सकने की जिनकी स्थिति है, जो अनुशासन प्रिय हैं, वे ही आएँ। इन सत्रों में जो आएँ, उन्हें यह सोचना या ऊहापोह करने की जरूरत नहीं है कि वे कहाँ खपेंगे, चौबीस सौ स्थानों पर कई-कई कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है। कम समय में सुयोग्य शिक्षण द्वारा वे कहीं भी जाकर आत्म-संतोष, लोकसम्मान भरा जीवन जी सकते हैं। भगवान के-दैवी चेतना के सहचर बनने का तो सुयोग्य है ही।

प्रस्तुत शिक्षण स्वतन्त्रता संग्राम, आजाद हिन्द फौज की तरह एक आपात्कालीन भरती है। चार सौ रुपये मासिक में भोजन आदि का निर्वाह आसानी से हो जायगा। उपकरण, आवास आदि का प्रबन्ध यहीं से होगा। यदि भोजनालय में भी सहकारी स्तर पर प्रयोग सम्भव हो सके तो प्रकारान्तर से यह खर्च भी लौटकर अपने पास ही आ जायेगा।

उपरोक्त पाँच शिक्षण उपक्रमों के अतिरिक्त शांतिकुंज रहकर स्थाई काम करने वालों के लिए भी इसी बसन्त पर्व से कुछ नए शिक्षण उपक्रम आरम्भ किये जा रहे हैं। ये हैं नालन्दा स्तर का देश-विदेश की भाषाओं का शिक्षण करने वाला एक भाषा विद्यालय, तक्षशिला स्तर का विभिन्न संस्कृतियों का अध्यापन करने वाला धर्म विद्यालय एवं विभिन्न भाषाओं में अनुवाद, लेखन, तथ्य संकलन का प्रशिक्षण देने वाला साहित्य सृजन विद्यालय। विभिन्न प्रकार के ब्रह्मवर्चस् के शोध प्रयासों में सहयोग देने वालों का भी सामयिक शिक्षण साथ-साथ चलेगा। अन्यान्य शिक्षण के अलावा जीप ड्राइविंग का प्रशिक्षण भी इसी में शामिल है।

वीडियो, स्टूडियो, ज्योतिर्विज्ञान के आधार पर दृश्य विज्ञान, पंचाग तथा टेप कथाओं की कैसेट सीरिज का शुभारम्भ भी इसी बसन्त पर्व से हो रहा है। जिस प्रकार हर दृष्टि से यह पर्व अभिनव एवं विशिष्ट है। परिजनों को अब हमारे शरीर दर्शन का मोह छोड़कर जीवन दर्शन ग्रहण करना चाहिए। हमारे रास्ते पर चलकर निर्देशों का पालन कर परिजन ही सब कुछ पा सकेंगे जो हमने लम्बी मंजिल पार करते हुए पाया है। गोदी में खेलने का समय अब चला गया। हम अपने आप को सिकोड़कर अब स्वयं को अन्तमुर्खी तप साधना में नियोजित करेंगे। आपके लिए यही एकमात्र कार्यक्रम सौंप रहे हैं कि अपने यहाँ सक्रियता लाने अन्त:करण की प्रखरता को उभारने एवं दैवी सत्ता का अनुचर बनने के लिए उच्चस्तरीय प्रशिक्षण हेतु स्वयं को ४ माह के लिए जीवन व्यापार से निकालें अथवा स्वयं के स्थान पर एक प्रतिभाशाली व्यक्ति शिक्षण हेतु भेजें। यही बसन्त पर्व पर हमारे प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि होगी।

सृजन के लिए समयदान की याचना

अखण्ड ज्योति के प्रज्ञापुत्र इन दिनों ढाई लाख हैं। पिछले ५० वर्ष में वे ५०० प्रतियों से आरम्भ होने वाली इस पत्रिका के सदस्य ५०० गुने अधिक बढ़े हैं और वर्तमान स्थिति तक पहुँचे हैं। प्रगति के इस क्रम को देखते हुए १९८८ में उनकी संख्या पाँच लाख की परिधि तक जा पहुँची थी और अब वह दूनी हो गयी है हर पत्रिका को १० से कम व्यक्ति नहीं पढ़ते; इस प्रकार उनकी ग्राहकों और पाठकों की संख्या लाखों हो जाती है। यह बहुत बड़ा-अपने ढंग का अनोखा परिकर है।

इसकी थोड़ी-थोड़ी सामर्थ्य भी यदि रचनात्मक कामों में लग सके तो युग-सृजन के कार्य में चमत्कारी उपलब्धियाँ अर्जित की जा सकती हैं। विश्वास किया जाना

चाहिए कि यह संकल्प मूर्तिमान होकर ही रहेगा। देवताओं की संयुक्त शक्ति से दुर्गा का अवतरण हुआ था। रीछ-वानरों से समुद्र-सेतु बँधा था। ग्वाल-बालों के सहयोग से गोवर्धन उठा था। अखण्ड ज्योति के प्रज्ञा पुत्र भी कुछ दिखा कर ही रहेंगे, ऐसा कुछ जिसके लिए वह अनुकरणीय और अभूतपूर्व शब्दों के साथ स्मरण रखा जा सके।

विश्वास किया गया है कि अखण्ड ज्योति के प्रज्ञा पुत्र अब तक इतनी प्रेरणा प्राप्त कर चुके हैं कि वे व्यावहारिक रूप से कुछ करने के लिए कटिबद्ध होंगे ही, इसके लिए आज का दिन ही सबसे उत्तम शुभ मुहूर्त है।

अखण्ड ज्योति परिवार के सभी परिजनों को नवसृजन के लिए नित्य कुछ समय निकालना है। यह समयदान ही वह आधार है जिनकी ईंट मिलकर नवयुग का भव्य भवन खड़ा करेंगी।

पिछले दिनों बतायी जाती रही कार्यपद्धति में इस बार कुछ ठोस और महत्वपूर्ण परिवर्तन-अभिवर्द्धन किया गया है। बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक क्रान्ति को अब (१) विचार-क्रान्ति (२) आर्थिक-क्रान्ति (३) सामाजिक-क्रान्ति के रूप में समझा जा सकता है। बौद्धिक और नैतिक-क्रान्ति को विचार क्रान्ति के अन्तर्गत लिया गया है। आर्थिक क्रान्ति का नया आधार जोड़ा गया है। सामाजिक क्रान्ति अपने स्थान पर यथावत् है। इसे यदि संघर्ष की भाषा में निरूपित किया जाय तो (१) अशिक्षा (२) गरीबी तथा (३) संकीर्णता के विरुद्ध बोला गया जिहाद भी कहा जा सकता है। वस्तुत: यह तीन पिशाचिनी ऐसी हैं, जिन्होंने समूचे मानव समुदाय को अपने शिकंजे में कसकर सब प्रकार दीन-हीन बना दिया है। उन्हें सूर्पनखा, ताड़का और सुरसा की संज्ञा दी जा सकती है। इन्हें निरस्त करने में हममें से प्रत्येक को किसी न किसी रूप में भागीदार बनना है; इसी को यों भी कहा जा सकता है कि महाकाल के अन्त:करण की पुकार के अनुरूप अपने चिन्तन और क्रिया-कलाप में महत्वपूर्ण परिवर्तन करना पड़ेगा। चिन्तन तो बहुत कुछ पहले ही परिमार्जित हो चुका है। बात केवल समयदान की रह जाती है। वह भी संकीर्ण स्वार्थपरता में थोड़ी-सी कटौती कर लेने से सरलतापूर्वक हस्तगत हो सकता है, होगा भी। इस समयदान का उपयोग उपर्युक्त तीन प्रयोजनों में ही होगा।

अशिक्षा के विरुद्ध कुछ निर्धारित कदम पहले से भी उठ रहे थे, अब वे सुनिश्चित और व्यवस्थित रूप से उठेंगे। (१) प्रौढ़ शिक्षा (२) बाल-संस्कारशाला (३) युग साहित्य बिना मूल्य हर शिक्षित को घर बैठे उपलब्ध कराने की प्राचीन-प्रक्रिया में नये जोश-आवेश का समावेश करना है। बच्चों को स्कूल भेजने की बात तो अब प्रचलन मे जुड़ गयी है। उसके लिए चलती गाड़ी में और धक्के लगा देना जैसा कुछ करना पर्याप्त है, महत्वपूर्ण बात प्रौढ़ शिक्षा की है; यदि उनके लिए व्यवस्थित पाठशालाएँ न बन सकें, तो दो-दो, चार-चार घरों की महिलाओं को एकत्रित करके १ से ४ तक के समय में एक-एक घंटे की तीन प्रौढ़ पाठशालाएँ महिलाओं के लिए चल सकती हैं।

पुरुषों के लिए रात्रि पाठशालाएँ ही उपयुक्त पड़ती हैं। इस संदर्भ में व्यक्तिगत रूप में भी इतना हो सकता है कि हर शिक्षित व्यक्ति न्यूनतम पाँच अशिक्षितों को साक्षर बनाने की प्रतिज्ञा ले और उसे निबाहे। स्कूल जाने वाले बच्चों के अवकाश के समय उनकी पढ़ाई पूरी कराने के लिए उनमें सुसंस्कारिता का बीजारोपण करने के लिए, खेल-कूद के लिए रचनात्मक कामों में स्काउटिंग में प्रवृत्ति पैदा करने के लिए यह व्यवस्था की जा सकती है। पढाने के लिए खाली समय वाले शिक्षितों से समयदान माँगा जा सकता है।

जो पढ़े-लिखे हैं, उन्हें सत्संग, युग साहित्य पढ़ने का चस्का लगाने के लिए घर बैठे पुस्तकें पहुँचाने और लेने का सरल किन्तु अति महत्वपूर्ण कार्य किया जा सकता है। शिक्षा-संवर्द्धन के लिए यह उपयोगी प्रयास है। विचार क्रान्ति के लिए यह प्रारम्भिक प्रयास हर दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है साथ ही सरल भी।

सामाजिक-क्रान्ति के लिए विचार-क्रान्ति वाले तरीके अपनाने पड़ेंगे। लोक-शिक्षण के लिए विचार-गोष्ठियाँ ही कारगर उपाय हैं। लोगों को एकत्रित करने और उनकी भावश्रद्धा को झकझोरने के लिए 'दीपयज्ञ' आयोजन अत्यन्त सफल हो रहे हैं। इनमें नाममात्र का खर्च आता है। दो-तीन घंटे में ही समूचा कर्मकाण्ड और भावभरा लोक-शिक्षण पूरा हो जाता है। इन आयोजनों में सम्मिलित होने वालों को दुष्प्रवृत्तियों को छोड़ने और सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने की देव-दक्षिणा देनी पड़ती है। अग्नि देव की साक्षी में लिया हुआ यह व्रत-संकल्प अन्तराल की गहराई तक उतरता है, स्मरण रहता है और पूरा होकर भी रहता है।

प्रौढ़-शिक्षा को अपने आन्दोलन में प्रमुखता इसलिए दी गई है कि देश के अधिकांश प्रौढ़ नर-नारी अशिक्षित हैं। आज के समय में उन्हीं की प्रमुख भूमिका है, स्कूल तो वे जा नहीं पाते; उनके लिए पढ़ाई की विशेष व्यवस्था से ही समय की माँग पूरी हो सकेगी।

दुष्प्रवृत्तियों में खर्चीली, धूमधाम वाली, दहेज वाली शादियाँ अपने देश में एक आर्थिक अभिशाप हैं। इस प्रचलन को हटाने के लिए प्राणपण से प्रयत्न होना चाहिए। अभिभावक प्रतिज्ञा करें कि हम अपने बच्चों की शादियाँ बिना दहेज के ही करेंगे । वयस्क बालक प्रतिज्ञा करें-उनके विवाह नितान्त सादगी के साथ बिना दहेज के ही होंगे, अन्यथा वे आजीवन कुँवारे रहेंगे। ऐसे विवाहों का सुयोग्य यदि स्थानीय परिस्थितियों में न बन पड़े तो उनके लिए शान्तिकुंज में बिना खर्च की व्यवस्था है।

जाति-पाँति, ऊँच-नीच, मृतक-भोज, बाल-विवाह नशेबाजी आदि और भी ऐसे कुप्रचलन हैं जिनके छोड़ने-छुड़ाने, बचे रहने की प्रतिज्ञाएँ करनी चाहिए जहाँ वे हो

धर्मतन्त्र से लोकशिक्षण की प्रक्रिया अपने परिवार में बहुत समय से चल रही है। प्रज्ञापीठें इसी निमित्त बनी हैं। अब जीवन्त शाखा-संगठन को ही मान्यता दी गई है। जहाँ अखण्ड ज्योति, युगशक्ति व युगनिर्माण योजना के अधिक संख्या में ग्राहक-पाठक हैं। इन सभी केन्द्रों में ऐसे कार्यकर्त्ता रहते हैं। अगले दिनों और भी बढ़ेंगे, जो अपने नगर में तथा समीपवर्ती क्षेत्रों में युगान्तरीय चेतना का अलख जगाये और उलटे को उलट कर सीधा करें, ऊसर को अपनी श्रम साधना से हरीतिमा से भरी-पूरी उर्वरा भूमि बनायें।

विचार-क्रान्ति में और भी कई बातें जुड़ती हैं, जिनमें सर्वप्रथम है-संकीर्ण स्वार्थपरता। व्यक्तिवाद ही सबके ऊपर भूत की तरह सवार है। निजी सम्पन्नता अहंकार की पूर्ति विलासिता का अतिरिक्त चिन्तन आगे बढ़ता ही नहीं। समूह की-समाज की-परमार्थ की-लोकमंगल की बात कोई सोचता नहीं। सम्प्रदायवाद, जातिवाद, प्रान्तवाद तथा भाषावाद के नाम पर आये दिन दंगा-फिसाद होते हैं। राष्ट्रीय एकता-अखण्डता खतरे में पड़ती है। इन सभी समस्याओं का एकमात्र हल है-व्यक्तिवाद के स्थान पर समूहवाद की प्रतिष्ठापना। यही विचार-क्रान्ति का केन्द्र बिन्दु होना चाहिए। धर्म और अध्यात्म का समूचा कलेवर इसी एक प्रयोजन के लिए विनिर्मित हुआ है। उस तत्वदर्शन से जन-जन को अवगत कराया जाना चाहिए।

एक सर्वथा नया कार्यक्रम इस बार इसी क्रम में आरम्भ किया गया है। वह है-आर्थिक-क्रान्ति। गरीबी के स्तर नीचे जीवनयापन करने वालों को उपार्जन के साधन प्रदान करके स्वावलम्बी और खुशहाल बनाने के लिए कार्य करना है; यह कार्य कुटीर उद्योगों के संवर्द्धन से हो सकता है। कृषि और पशुपालन के समुन्नत तरीके अपना कर भी। यों, इन कार्यों को किसी प्रकार सरकार भी करती है। जहाँ कुछ हो रहा है वहाँ उनके कार्यों में सहायता तो देनी चाहिए पर साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि लाल फीताशाही और आरामतलबी के वातावरण में ये उतना कुछ कर पायेंगे जितना कि अभीष्ट है, तो इसकी आशा कम ही करनी चाहिए। इस क्षेत्र में अखण्ड ज्योति के परिजनों को अपने ढंग से प्रवेश करना चाहिए। अपने घर से आरम्भ करके उस प्रक्रिया को अपने सम्पर्क क्षेत्र में दूर-दूर तक पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए।

बचत के कई अन्य तरीके भी हैं, उन्हें अपनाया जाय तथा सुविधा संवर्द्धन की दृष्टि से जो आवश्यक हैं उन कामों को हाथ में लिया जाय। इस दिशा में एकाकी प्रयास तो अपने घर से ही आरम्भ किये जा सकते हैं, उनके अनुकरण का क्रम सहज ही आगे भी चल पड़ने की सम्भावना है।

बौद्धिक, नैतिक स्तर की विचार-क्रान्ति के लिए अखण्ड ज्योति मिशन द्वारा युग निर्माण योजना के नाम से पहले भी बहुत कुछ कहा और किया जाता रहा है पर आर्थिक-क्रान्ति को अभी इसी वर्ष से अपनी कार्यपद्धति में समाविष्ट किया गया है। इस निमित्त कितने ही नये कार्यक्रम हाथ में लिए गये हैं, जिन्हें प्रत्येक समयदानी अपने क्रिया-कलापों में किसी न किसी रूप में सम्मिलित करें। घर-परिवार में उनका प्रचलन करें और अपने सम्पर्क क्षेत्र में, प्रभाव क्षेत्र में उसका प्रचलन करें प्रचलन करने के लिए ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिए। मानो यह सब निजी लाभ कमाने के लिए किया जा रहा हो। परमार्थ भी एक प्रकार के उच्चकोटि का निजी लाभ ही है।

वस्तुत: उसमें निजी लाभ भी कितने ही हैं, एक तो इस बहाने अधिक से अधिक लोगों के साथ सम्पर्क साधने का अवसर मिलता है जो कभी भी किसी भी काम आ सकता है। दूसरा यह कि जो उद्योग दूसरों के लिए कहा जाता है उन्हीं में से किसी को यदि बड़े पैमाने पर व्यावसायिक स्तर पर स्वयं करने लग जाय तो अच्छी-खासी आमदनी का एक अतिरिक्त स्रोत खुल सकता है। तीसरा यह है कि जिस क्षेत्र में अपना सम्पर्क है उसमें यदि खुशहाली का, प्रगतिशीलता का कोई नया माहौल बनता है तो उसका श्रेय अपने को मिलेगा। यहाँ से आरम्भ किया गया लोकनेतृत्व, जनसहानुभूति अर्जित करने के उपरान्त किन्हीं बड़े कार्यों में हाथ डालने पर उनमें भी असाधारण सफलता मिलने की सम्भावना बनती है। इसके अतिरिक्त देश-सेवा का, जन-कल्याण का, पुण्य-परमार्थ तो प्रत्यक्ष है ही, जिसके कारण आत्मसंतोष, जनसहयोग और पुण्य-फल के आधार पर दैवी-अनुग्रह हस्तगत होने की प्रत्यक्ष सम्भावना रहती ही है।

आर्थिक-क्रान्ति का चूँकि इससे पहले कोई शिक्षण नहीं दिया गया, इसलिए नये सिरे से छह-छह महीने के सत्र इस निमित्त शान्तिकुंज में इसी बसन्त पंचमी से आरम्भ किये जा रहे हैं। शिक्षार्थियों के लिए भोजन व आवास की नि:शुल्क व्यवस्था रखी गई है। जो समर्थ हैं वे अपने भोजन व्यय का पूरा या आंशिक व्यय स्वेच्छापूर्वक संस्था में जमा कर भी सकते हैं।

परिजनों से आग्रह किया गया है कि वे अपने लोगों में से ही एक शिक्षार्थी छह महीने के लिए शान्तिकुंज भेजें। वह ऐसा प्रतिभावान होना चाहिए जो इस शिक्षा का अपने क्षेत्र में विस्तार कर सकने की क्षमता रखता है। जिनका मानस भी इस प्रकार का है इस छह मास की शिक्षा में २४ वर्ष से अधिक आयु के शिक्षार्थी ही लिये जायेंगे। पहला सत्र विगत बसन्त पंचमी (२३ जनवरी, १९८८) से आरम्भ हुआ था और बराबर चल रहा है। जिन्हें आना हो पत्र व्यवहार कर लें।

स्वार्थ और परमार्थ का शानदार समन्वय

अखण्ड ज्योति परिवार के सभी प्रज्ञापुत्रों को अब पठन-श्रवण तक सीमित न रहकर युग-सृजन के

रचनात्मक कार्यों के लिए अपना समयदान भी नियमित रूप से करना चाहिए। अपने नित्य कर्मों में उपार्जन-प्रयोजन में एक आवश्यक पक्ष इस प्रयोजन को भी मानकर चलना चाहिए।

अभिनय क्रिया-कलापों में कुछ संशोधन किये गये है। (१) विचार क्रान्ति, (२) आर्थिक क्रान्ति तथा (३) सामाजिक क्रान्ति की अभिनव योजना बनी है। बौद्धिक और नैतिक क्रान्ति की अभिनव योजना बनी है। बौद्धिक और नैतिक क्रान्ति का संयुक्त रूप-विचार-क्रान्ति कहा जाएगा। समाज सुधार और सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन की प्रक्रिया भी पूर्ववत रहेगी। नितान्त नया कार्यक्रम आर्थिक क्रान्ति का सम्मिलित किया गया है। विखरे देहातों में बसा हुआ अशिक्षित और गरीबी की रेखा से नीचे जीने वाला समुदाय ही असली भारत है। सम्पन्न वर्ग और मध्यम वर्ग तो ऊँची नौकरियों से, अच्छे कारोबार से अपना काम चला लेता है। विचार और प्रयास उसी वर्ग के लिए करना है जो प्रगति की इस दौड़ में पीछे रह गया है।

इस वर्ग के लिए आर्थिक प्रगति का माध्यम कृषि, पशुपालन के अतिरिक्त कुटीर उद्योग ही हो सकते हैं, इसका प्रशिक्षण करना एवं साधन जुटाना हर भावनाशील का कर्तव्य होना चाहिये। उनमें प्रगति की आकांक्षा जगाना और जिस भटकाव में वे फँस गये हैं, उससे उबारना भी उतना ही आवश्यक है इसी प्रयोजन के लिए समयदान लगाने का आग्रह किया जा रहा है इसके लिए आवश्यक प्रशिक्षण छह-छह मास का देते रहने की नई योजना बनी है।

नौ-नौ दिनों के व्यक्तित्व-निर्माण, परिवार-निर्माण तथा समाज-निर्माण के सत्र तो पूर्ववत चालू रहेंगे। हर महीने ता. १ से ९, ११ से १९ तथा २१ से २९ तक नव निर्धारण की नूतन प्रक्रिया से परिचित कराने और उस संदर्भ में आवश्यक मार्गदर्शन करने की बात भी अतिरिक्त रूप से शिक्षार्थी ही सम्मिलित किए जाएँगे। वे स्वस्थ, प्रतिभावान, शिक्षित, सहनशील, अनुशासनप्रिय, परिश्रमी एवं मिलनसार प्रकृति के होने चाहिए। बूढ़े, बीमार, आलसी, असमर्थ लोगों को स्थान न मिल सकेगा। जो स्वयं अपने लिए ही एक समस्या बने हुए हैं वे दूसरों के लिए क्या कुछ कर सकेंगे तथा पुनरुत्थान के क्षेत्र में क्या योगदान दे सकेंगे ?

शिक्षार्थियों की भोजन, आवास तथा शिक्षण-व्यवस्था निःशुल्क है। वस्त्र, पुस्तक, वाद्ययंत्र आदि का खर्च स्वयं वहन करना होगा। इस शिक्षण से उपलब्ध योग्यता द्वारा समाज कल्याण में तो योगदान मिला ही है। साथ में निजी लाभ भी है। जनसम्पर्क, जनसहयोग, सम्मान, आत्मसंतोष एवं भविष्य में नेतृत्व कर सकने की योग्यता का विकास होना निश्चित है। इन्हीं आधारों पर लोग ऊँचे उठते, आगे बढ़ते एवं सफल जीवन जीते हुए महापुरुष बनते रहे हैं। यह लाभ प्रस्तुत सेवा कार्यों के साथ जुड़े हुए हैं। साथ ही यह भी सम्भावना है कि जिस आधार पर दूसरों की आर्थिक प्रगति की जानी है, उन्हें यदि बड़े रूप में स्वयं भी करने लग जाय तो आर्थिक स्वावलम्बन का एक ऐसा स्रोत हाथ लगता है जिसके सहारे आजीविका भी चल सके और सेवा-साधना का सुयोग भी मिलता रहे। सभी प्रज्ञापीठों-स्वाध्याय मण्डलों के लिए यह आवश्यक है कि अपने क्षेत्रों से अनेक शिक्षार्थी प्रशिक्षण के लिए भेजें। ताकि वे लौटने पर उस क्षेत्र में नवजीवन का आलोक वितरण कर सकें। नवजाग्रति का, पुनरुत्थान का आधार खड़ा कर सकें।

ग्राम्य-जीवन के हर पक्ष को समुन्नत करने के लिए कोई भी व्यक्ति अपने समय का थोड़ा-थोड़ा भाग लोक-मंगल के लिए लगा सकता है। जिनके पास अधिक समय है, वे इस हेतु बड़ा कार्यक्षेत्र बना सकते हैं। इतना तो हर किसी से बन पड़ेगा कि अपने घर-परिवार में इन प्रवृत्तियों का समावेश करें और अपना तथा अपने परिवार का एक सीमा तक उत्कर्ष कर सकें। इस प्रशिक्षण को स्वार्थ और परमार्थ का समन्वय समझा जा सकता है।

भाषाओं एवं धर्मों का प्रशिक्षण विद्यालय

पारस्परिक आदान-प्रदान और विचार-विनिमय के द्वारा ही मानवी प्रगति संभव हुई है और सहकार की गाड़ी चल रही है। इस प्रयोजन में भाषा का प्रयोग होता है। मौखिक वार्तालाप में भी और पत्रिकाओं तथा साहित्य आदि द्वारा भी। इन सभी का संयुक्त स्वरूप भाषा होता है। वाणी और लेखनी के माध्यम से यह अभिव्यक्तियाँ प्रकट होती हुयीं एक से अनेक तक पहुँचती रहती हैं। भाषा न हो तो मनुष्य को भी अन्य प्राणियों की तरह गूँगा-बहरा रहना पड़े। फलतः पिछड़ेपन से किसी भी प्रकार छुटकारा न मिले। जब तक भाषा का आविर्भाव नहीं था तब मनुष्य को भी नर-वानर वर्ग में रहना पड़ा।

भाषा एक माध्यम है जिससे मनुष्यों के बीच परस्पर विचार-विनिमय चलता है। इस सीमा से बाहर होते ही फिर गूँगे-बहरे जैसी स्थिति बन जाती है। एक व्यक्ति बंगला बोलें और दूसरा तेलगू तो वे अपने-अपने ढंग के शब्दोच्चार करते रहने पर भी उनका अर्थ न समझ पाने के कारण विज्ञ-विद्वान होते हुए भी गूँगे-बहरे की स्थिति में रहेंगे और इशारों से जितना काम चल सकेगा उतना चला पावेंगे।

यह भाषा संबंधी कठिनाई ज्ञान-संवर्द्धन की दृष्टि से भारी अवरोध उत्पन्न करती है जो जिस या जिन भाषाओं को जानता है उसी परिधि में रहने वालों के साथ संबंध रखने, विचार-विनिमय करने में समर्थ रहता है। साथ ही उसी भाषा में लिखे या छपे साहित्य का लाभ उठा पाता है।

देशों के सीमा विभाजन में भी बड़ी कठिनाई यह है कि भापा विभाजन के कारण लोग अपने छोटे-छोटे भापाई क्षेत्रों में कैद रहे-और बाहर निकलते ही गूँगे-बहरे बन चले। अन्य देशों में जाने के लिए बीसा मिल जाता है किन्तु भापाई सीमा-बन्धन से बाहर निकल सकने की तो कहीं कोई गुंजाइश है ही नहीं।

जब दुनिया एक थी, सर्वत्र निर्बाध आवागमन की छूट रही होगी। कोई कहीं भी आ सकता होगा। कहीं बस या निर्वाह कर सकता होगा, तब संसार कितना सुखी रहा होगा। इस प्रकार जब संसार भर में एक संस्कृत भापा बोली और समझी जाती रही होगी तब भी लोग कितनी राहत, कितनी आत्मीयता अनुभव करते रहे होंगे।

आज विज्ञान ने प्रेस, अखबार, तार व रेडियो आदि की कितनी ज्ञानवर्द्धक सम्पर्क सुविधाएँ उत्पन्न कर दी हैं किन्तु भापाई सीमा बंधन के कारण वे सब भी निरर्थक हैं। दो भापा-भिन्नता वाले मूर्धन्य विद्वान भी परस्पर मिलने पर एक-दूसरे के साथ आदान-प्रदान नहीं कर सकते । वक्तृत्व-कला जानने पर भी नितान्त महत्व की आवश्यकता पड़ने पर भी वे इशारे भर करने के अतिरिक्त और कुछ कर सकने की स्थिति मे नहीं होते। एक भापा में छपा ग्रंथ कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, अन्य भापा वाले के लिए रद्दी के बराबर है। किसी भापा में प्रकाशित हुआ ज्ञान अपने ही क्षेत्र तक सीमित रहेगा। पड़ौस वाले भी इस विभेद के कारण तब तक कुछ लाभ न उठा सकेगे। जब तक वह अनूदित होकर उस भापा में प्रकाशित न हो। इसमें सैकड़ों वर्ष भी लग सकते हैं। ऐसी दशा में पास-पड़ौस मे रहने वालों को भी उन प्रतिपादनों का परिचय प्राप्त करने से वंचित ही बने रहना पड़ेगा।

भापाएँ घटने लगें तो मनुष्य के ज्ञान और सम्पर्क-क्षेत्र का उसी अनुपात में विस्तार होने लगेगा। एक विश्वभापा बन सके तो विश्व-परिवार बनने की सुखद-संभावनाओं के कार्यान्वयन में फिर कोई बड़ा अवरोध न रहेगा। इन दिनों सीमा बन्धन और विलगाव का प्रचलन सर्वत्र अनेकानेक संकट एवं विग्रह खड़े कर रहा है। विभेद की सभी दीवारें गिरनी चाहिए। विश्वराष्ट्र, विश्वभापा, विश्वसंस्कृति और विश्वव्यवस्था में एकता, एकरूपता होने की बात सोचनी चाहिए और उस दिशा में जितना कुछ कदम बढ़ सकना संभव हो उतना प्रयास वर्तमान परिस्थितियों में भी करना चाहिए।

अपने देश में संविधान में मान्यता प्राप्त भापाएँ १५ हैं। इसके अतिरिक्त उपभापाएँ, क्षेत्रीय भापाएँ, बोलियाँ इतनी अधिक हैं कि उनके कारण पारस्परिक विचार-विनिमय और आदान-प्रदान में भारी अड़चन उत्पन्न होती है। इस भापाई विलगाव में एक प्रकार की साम्प्रदायिकता का रूप धारण कर लिया है। विलगावजन्य कलह ने विपवृक्ष के रूप में पनपाना आरम्भ कर दिया है। विवाह-शादियाँ अपने-अपने भापाई क्षेत्रों में होती हैं। फलतः हमारी विशालता, सामाजिकता, राष्ट्रीयता सिकुड़-सिकुड़ कर छोटे-छोटे क्षेत्रों में सीमाबद्ध होती चली जा रही है विभेदों को एकता के सूत्र में बाँधना हो तो हमें भापायी एकता की दिशा में सोचना चाहिए और जो बन पड़े उसे अविलम्ब करने के लिए प्रयत्नरत होना चाहिए।

राष्ट्रभापा हिन्दी घोपित कर दी गई पर उस निर्धारण को मान्यता तभी मिलेगी जब भारतीय उसे सीखें, समझें और अपनायें। इसके लिए सभी भापायी क्षेत्रों के विज्ञजनों को चाहिए कि वे आरम्भिक बालशिक्षा मातृभापा में सम्पन्न करने के उपरान्त ऊँची शिक्षा भी राष्ट्रभापा में भी उपलब्ध करने की तैयारी करें। मातृभापा के साथ-साथ राष्ट्रभापा को भी रुझान, उत्साह और सम्मान के साथ चलते रहना आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में हिन्दी भापियों की भी विशेप जिम्मेदारी है कि वे अपनी ओर से कदम बढ़ायें और देश की प्रचलित भापाओं में से जितना अधिक सम्भव हो सके उतना सीखें। विशेपतया अपने प्रान्त में तथा लगे हुए प्रान्त में बोली जाने वाली भापाओं को सीखने का तो प्रयत्न करे ही। इससे उनका सम्पर्क क्षेत्र विस्तृत होगा और आदान-प्रदान एवं आत्मभाव का दायरा बढ़ेगा अन्य भापा-भापियों से जिस प्रकार यह अनुरोध एवं प्रयत्न भी चलना चाहिए कि हिन्दी भापी भी देश की अधिकाधिक भापा सीखने का प्रयत्न करें। दोनों ओर से प्रयत्न चलने पर दूरी कम करने में अधिक सहायता मिलेगी।

भापायी क्षेत्र में प्रवेश करने की तैयारी उन्हें तो करनी ही चाहिए जो नवसृजन का, नैतिक सांस्कृतिक पुनरुत्थान का स्वप्न साकार करने में प्रयत्नरत हैं। प्रज्ञा अभियान का शुभारंभ हिन्दी भापी क्षेत्रों से, हिन्दू धर्मालम्बियों से हुआ है। कारण कि आन्दोलन के संचालकों का निजी ज्ञान हिन्दी प्रधान है और उनका सम्पर्क प्रधानतया हिन्दू धर्मावलम्बियों के साथ रहा है। सुविधा एवं लाचारी की दृष्टि से श्रीगणेश छोटे रूप में या छोटे क्षेत्र में बन पडा इसमें हर्ज नहीं पर अब उसका विस्तार तो होना ही चाहिए अन्यथा कूप-मण्डूक की तरह अपनी गतिविधियाँ उतने ही क्षेत्र में सीमित होकर रह जाएँगी। जबकि आवश्यकता व्यापक क्षेत्र में प्रवेश करने की है। युगचेतना का आलोक वितरण यों विश्व के समस्त भापायी क्षेत्रों में होना चाहिए पर आरम्भ में उसका विस्तार अपने देश मे बोली जाने वाली भापाओं में तो चलना ही चाहिए।

ईसाई मिशनों ने समस्त संसार की प्राय: ६०० भापाओं में बाइबिल तथा बड़े ग्रन्थों तथा छोटी पुस्तिकाओं के प्रचार साहित्य का प्रकाशन किया है। यही कारण है कि उस धर्म का परिचय तथा प्रभाव संसार के कोने-कोने में पहुँचा है और एक सहस्राब्दी के भीतर संसार का एक तिहाई जनसमुदाय उस धर्म में दीक्षित हुआ है। प्रचारक पादरी संसार भर में भेजे जाते हैं। जिन्हें जिस देश में जाना होता है वहाँ की भापा पहले सीखनी पड़ती है।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व बौद्ध धर्म का प्रसार समस्त एशिया में हुआ था। इससे बाहर भी योरोप,

अफ्रीका में वह आलोक पहुँचा था। इसके लिए नालन्दा विश्वविद्यालय में भारतीय भाषाएँ तथा संस्कृति पढ़ाई जाती थीं। इस योग्यता को अर्जित करने के उपरान्त परिव्राजक प्रचारकों को उन-उन भाषाई क्षेत्रों में भेजा जाता था। देश से बाहर की भाषाओं को पढ़ाने का प्रबन्ध तक्षशिला विश्वविद्यालय में था। वहाँ एशिया, योरोप, अफ्रीका की भाषाएँ तथा संस्कृतियाँ पढ़ाई जाती थीं, इस अध्ययन के उपरान्त ही प्रचारक उन देशों में जाते थे।

इस प्रकार का प्रबन्ध किये बिना किसी मिशन को देश-देशान्तरों में व्यापक नहीं बनाया जा सकता है। प्रज्ञा अभियान को देशव्यापी, विश्वव्यापी बनाना है उसे भी देश की सभी प्रमुख भाषाओं का ज्ञान कराने की प्रशिक्षण व्यवस्था बनानी होगी। अन्य देशों में वह प्रकाश पहुँचाना है तो उन देशों की भाषाएँ भी पढ़ानी पड़ेंगी अन्यथा वहाँ के निवासियों से सम्पर्क साधना, आदान-प्रदान का उपक्रम बनाना संभव ही न हो सकेगा।

इस दिशा में कदम बढ़ाया गया है। शांतिकुंज विद्यालय की नींव रखी गई है। हिन्दी भाषी क्षेत्रों से लगी हुई भाषाएँ सबसे पहले ली गई हैं। बंगला, उड़िया, गुजराती, मराठी और पंजाबी यह पाँच भाषाएँ हिन्दी भाषी क्षेत्रों में मिलती हैं। इनके अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध किया गया है। यह पहला चरण पूरा होते ही दक्षिण भारत की चार भाषाएँ तमिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड़ को भी इस प्रशिक्षण में सम्मिलित किया जाएगा। इसके उपरान्त असमिया आदि भाषाओं का नम्बर आता है। उर्दू की तरह लिपी भर भिन्न है। भाषा तो उसकी भी हिन्दी ही है।

इन भाषाओं की जानकारी प्राप्त करके, उन क्षेत्रों की संस्कृति, प्रथा, परम्परा समझने के उपरान्त प्रज्ञा अभियान के कार्यकर्त्ता यहाँ पहुँचकर स्थानीय जनता के साथ भली प्रकार विचार-विनिमय कर सकेंगे और युगान्तरीय चेतना से उन क्षेत्रों को अवगत, अनुप्राणित कर सकेंगे।

इन भाषाओं में प्रज्ञा साहित्य तथा युग संगीत अनुवादित करके प्रकाशित करने की बड़ी योजना है जो आंशिक रूप से कई भारतीय भाषाओं में तथा अँग्रेजी में आरम्भ भी हो गई है। साधन जुटते ही इस प्रयास को तेजी से आगे बढ़ाया जाएगा।

स्पष्ट है कि प्रज्ञा अभियान व विचार-क्रान्ति योजना को हिन्दू धर्म से आरम्भ तो किया गया है पर इसी एक वर्ग तक उसे सीमित नहीं रखा जा सकता। लोकमानस के परिष्कार और सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन की योजना विश्वव्यापी है। उसे संसार भर के सभी देशो और धर्मों तक पहुँचाया जाना है।

सब धर्मों को एक मंच पर एकत्रित करने और न्यूनतम कार्यक्रम बनाकर साथ-साथ कदम उठाने की योजना का अनेक ने प्रयोग-परीक्षण किया है, वह सफल न हो सका। अन्य धर्मों को मिटाकर एकमात्र अपना ही धर्म रखने की महत्वाकांक्षा भी बुरी तरह असफल हो गई। दमन और प्रलोभन भी वह कार्य न कर सके, इसका इतिहास साक्षी है। अपना प्रयास यह है कि नवयुग अवतरण के समर्थक अपने-अपने समुदाय में काम करें। अभ्यस्त धर्म के कथा-पुराणों, शास्त्रों एवं प्रतिपादनों से वे तत्त्व ढूँढें जो एकता, समता और शुचिता की ओर लोकमानस को धकेलते हों समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी के गुण, कर्म व स्वभाव को उभारते हों। चिंतन, चरित्र और व्यवहार में शालीनता और आत्मीयता की अभिवृद्धि करते हों। ऐसे प्रतिपादनों से हर धर्म-सम्प्रदाय भरा पड़ा है। ध्यान उन्हीं पर देना है, खोजना उन्हीं को है, प्रचार-प्रसार उन्हीं का करना है यह कार्य सभी धर्मज्ञ-सम्प्रदाय के सृजन-शिल्पी अपने प्रयास संपर्क वाले क्षेत्र में अपने शास्त्र-पुराणों और परम्परा प्रचलनों के साथ संगति बिठाते हुए भली प्रकार करते रह सकते हैं।

इस हेतु प्रज्ञा पुराण का एक खण्ड भी प्रकाशित किया गया है। साहित्य भी इस प्रयोजन के लिए छापा जा रहा है ताकि उस आधार पर विभिन्न धर्मावलम्बी, विचारशील अपने लोगों के बीच इस स्तर का धर्म प्रचार आरम्भ कर सकें, जिसके सहारे एकता व आत्मीयता को लक्ष्य मानकर सभी अपनी-अपनी पगडंडियों का आश्रय लेते हुए चल पड़ें। उस स्थान पर पहुँचे जहाँ मनुष्यमात्र को एक परिवार के सदस्य बनकर रहने का सुनिश्चित निर्धारण करना है। एक-दूसरे के दुःख-दर्द में साथी-सहयोगी बनकर रहना है। हिलमिल कर रहना और मिल-बाँट कर खाना है। प्रज्ञायुग में विश्वपरिवार के सिद्धान्त को अपनाया जाता है। विश्व राष्ट्र, विश्वभाषा, विश्व धर्म एवं विश्व-व्यवस्था के अन्तर्गत सभी को विश्व नागरिक बनकर रहना है।

प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत अभी-अभी दो स्थापनाएँ की गई हैं। एक भाषा विद्यालय, दूसरा-धर्म-विद्यालय। भाषा विद्यालय में अँग्रेजी सहित अन्य भारतीय भाषाओं का प्रशिक्षण आरम्भ कर दिया है ताकि इस प्रशिक्षण को प्राप्त कर देश के किसी भाग में मिशन के प्रचारक पहुँच सकें और नवचेतना का संचार कर सकें।

धर्म-विद्यालय में भारत में प्रचलित प्रायः सभी धर्मों में से ऐसे तत्त्व खोजे और पढ़ाए जाते रहेंगे, जिनमें उनके अनुयायी अपनी मान्यताओं को अपनाए रहकर भी मानवी सद्भावना और एकता की दिशा में सोचने एवं बढ़ने लगें। इस स्तर का साहित्य प्रकाशित करने की योजना भी इन्हीं दिनों हाथ में ली जा रही है। इस विद्यालय में किसी भी धर्म के प्रशिक्षार्थी प्रवेश पा सकेंगे और अपने लोगों के बीच अपने ढंग से प्रचार-कार्य करते हुए एकात्मता के पथ पर अग्रसर कर सकेंगे।

भाषा-विद्यालय एवं धर्म विद्यालय का कार्यक्रम शान्तिकुंज में चल पड़ा है। शिक्षण क्रम आरम्भ हो गया है? अब क्रमशः उसका विस्तार होता चला जाएगा। इस प्रयास में रुचि लेने वाले परामर्श लेते और परामर्श साधते रहें।

प्राणवान प्रशिक्षण हेतु शान्तिकुंज आयें

उच्चस्तरीय प्रशिक्षण हर जगह नहीं हो सकते। उसके लिए उपयुक्त साधन, वातावरण एवं प्रशिक्षकों का स्तर भी

ऊँचा होना चाहिए। सेना के उच्च अफसर प्रशिक्षित कहाँ किये जाएँ, इसके लिए ऐसा स्थान तलाश करना पड़ता है, जहाँ से गोपनीय राजनीति के रहस्य फूट कर अनुपयुक्त लोगों तक न पहुँचें। सैनिकों के स्वास्थ्य से लेकर मनोभूमि बनाने की उपयुक्त स्थिति वहाँ है या नहीं? चूँकि प्रसंग देश की सुरक्षा से जुड़ा होने के कारण अत्यधिक महत्त्व का है। उसके लिए तीक्ष्ण बुद्धि वाले अनुभवी, बहुज्ञ और व्युत्पन्नमति वाले अध्यापक भी चाहिए, जो बहुत कठिनाई से थोड़ी ही मात्रा में मिल सकते हैं।

ऊँची क्वालिटी के पौधे जिन नर्सरियों में तैयार किये जाते हैं, वहाँ की भूमि में पाये जाने वाले रसायनों की विशेष रूप से देखभाल की जाती है। इसी प्रकार घटिया पौधे लगाने वाले मालियों की अपेक्षा इन विशिष्ट नर्सरियों को विकसित करने के लिए विशेषज्ञों का पता लगाना और उन्हें महँगे वेतन पर भी किसी प्रकार सहमत करने और नियुक्त करने की आवश्यकता पड़ती है।

वेधशालाएँ हर जगह नहीं बन सकतीं। जहाँ ग्रह-उपग्रह की कक्षाएँ सीधे कोण बनाती हैं, वहीं उनके लिए स्थान का चयन होता है; प्राचीनकाल का कोणार्क इसी स्तर का होने के कारण वहाँ सूर्य मन्दिर बना था। उज्जयनी की वेधशाला भी स्थान विशेष की महत्ता के कारण बनी थी। मिश्र के पिरामिड भी निर्माण की दृष्टि से अर्थात असुविधाजनक होते हुए भी इसी कारण एक विशेष स्थान पर बनाये गये थे। आधुनिक खगोलवेत्ताओं ने भी वेधशालाएँ जहाँ भी बनाई हैं, वहाँ अनेक तथ्यों और विशेषताओं की उपस्थिति का ध्यान रखा है। भले ही वहाँ का आवागमन कितना ही कष्टसाध्य क्यों न हो।

उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव जहाँ भी अवस्थित हैं, वहाँ से समस्त भूमण्डल असाधारण रूप से प्रभावित होता है। भूमध्य रेखा, कर्क रेखा, मकर रेखा आदि के अक्षांश अपने-अपने समीपवर्ती क्षेत्रों में वातावरण को असाधारण रूप से प्रभावित करते हैं।

सौर-मण्डल की, ग्रह-उपग्रहों की पृथ्वी के जिस क्षेत्र पर जिस स्तर की किरणें पहुँचती हैं, वहीं के लोगों के रंग, कद, स्वभाव, आकार-प्रकार भी उसी स्तर के बनते हैं। मोटे तौर पर समझा जाता है कि वंशपरम्परा के अनुरूप जीन्स संरचना इसका प्रमुख कारण है; पर वस्तुतः 'जीन्स' अन्तरिक्षीय अभिवर्द्धन की सूक्ष्मता के अनुरूप ही अपना ढाँचा खड़ा करते हैं।

प्राचीनकाल में महामानव ढालने वाले विशेषज्ञों ने भी अपने-अपने क्रिया-कलाप सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए उपयुक्त स्थानों का चयन किया था, भले ही वे आवागमन अथवा अन्य कठिनाइयों से घिरे हुए ही क्यों न रहे हों ? राम-लक्ष्मण की शिक्षा के लिए अन्य स्थान भी सुविधाजनक हो सकते थे पर दशरथ की असहमति होते हुए भी वशिष्ठ के दबाव से उन्हें विश्वामित्र के आश्रम में भेजा गया। भले ही उसकी तुलना में अन्य स्थान अधिक सुविधासम्पन्न ही क्यों न रहे हों ? कृष्ण की शिक्षा उज्जैन में संदीपनी ऋषि के आश्रम में ही बहुत कुछ सोच-समझकर की गयी। भले ही मथुरा के समीपवर्ती स्थानों ही अधिक सुविधा-सम्पन्न स्थान क्यों न रहे हों। क... आश्रम में चक्रवर्ती भरत का शिक्षण संयोगवश ही नहीं किन्हीं विशिष्ट कारणों पर आधारित था। लव-कुश के शिक्षण हेतु अन्य स्थान अधिक सुविधा-सम्पन्न ढूँढ़े जा सकते थे, पर वाल्मीक आश्रम अभीष्ट प्रयोजनों के लिए हर कसौटी पर खरा समझा गया था। बौद्धकाल में तक्षशिला एवं नालन्दा विश्वविद्यालयों में दूर देशों से छात्र वहाँ की विशेषताओं के कारण ही पहुँचते थे। इसमें छात्रों की अपनी प्रयत्नशीलता तो कारण रही ही होगी पर इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि उन स्थानों, शिक्षण-केन्द्रों एवं अध्यापकों का भी उन सफल छात्रों पर अतिरिक्त अनुदान बरसा होगा।

प्राचीनकाल में ऋषिकल्प अध्यात्मविज्ञानी अपनी आत्मशक्ति का प्रयोग और प्रयोगशालाओं के लिए स्थानों के चयन को प्राथमिकता देते थे; मात्र सुविधा के सहारे कहीं भी पसर नहीं जाते थे हिमालय की ऊबड़-खाबड़ जमीन और शीत की अधिकता आदि अनेक असुविधाओं के रहते हुए भी उन स्थानों का चयन अति गंभीरता के साथ, स्थान की सूक्ष्म विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए किया गया था। महाभारत के लिए कुरुक्षेत्र की भूमि का बहुत बातों को ध्यान में रखते हुए चयन किया गया था।

मैसूर का चन्दन, अरब के खजूर, नागपुर के सन्तरे, लखनऊ के आम, भुसावल के केले, बल्साड़ के चीकू अपनी-अपनी विशेषताएँ लिए हुए हैं। यों पौधे लगाने और सींचने आदि के कार्य अन्यत्र भी उसी प्रकार होते हैं पर स्थान की विशेषता अपना अतिरिक्त परिचय वहाँ के उत्पादनों में गहराई तक घुल कर देती है। तदनुरूप स्वाद तथा गुण-आकार आदि को अभी प्रभावित करती है।

प्राचीनकाल में हर दृष्टि से विशिष्ट गरिमा से भरे-पूरे क्षेत्रों में ही तीर्थ-स्थानों की स्थापना होती थी। वहाँ की प्रेरणा अनायास ही आगन्तुकों में अतिरिक्त शक्ति-संचार कर देती थी, उन्हीं स्थानों में गुरुकुल आश्रम आरण्यक एवं तपोवन स्थापित किये जाते थे। आज के समय में तो कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि सर्वत्र विकृतियों का प्रवेश और अवांछनीयताओं का अतिशय बाहुल्य हो जाने से तीर्थ भी वह प्रयोजन पूरा नहीं करते। अब तो ये पर्यटन-केन्द्र मात्र बनकर रह गये हैं।

इन दिनों युग परिवर्तन की पृष्ठभूमि बन रही है। इक्कीसवीं सदी का प्रारम्भ होने ही जा रहा है। इसके लिए कोई ऐसा ऊर्जा-स्रोत चाहिए, जहाँ से युगान्तरीय चेतना का आलोक उद्‌भूत हो और समस्त विश्व को अनुप्राणित करे। मत्स्यावतार की तरह इस छोटे से कमण्डल में पैदा होकर भी, विश्व-वसुधा को उस प्रभाव से अनुप्राणित करे जो इस सन्धि-काल में अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यह महाक्रान्ति की वेला है, पिछले दिनों छुट-पुट प्रयोजनों और क्षत्रिय समस्याओं में हेर-फेर करने के लिए सीमित स्तर की क्रान्तियाँ होती रही हैं, पर इस बार तो भौतिक

क्षेत्र को ही नहीं, आध्यात्मिक स्तर की समस्याओं को प्रभावित करने वाली समस्याओं से भी जूझना है और उनके द्वारा अपनायी गयी उलटी रीति-नीति को उलट कर सीधा किया जाना है। इसके लिए धरती पर ही हो एक ऐसा केन्द्र अभीष्ट था, जहाँ से उदय होता दिनमान समूचे विश्व को अपनी आभा से अनुप्राणित करे।

स्थान शान्तिकुंज के छोटे-से कार्यक्षेत्र के रूप में निर्धारित हुआ है। प्रत्यक्ष रूप से देखने पर यह गंगा की गोद-हिमालय की छाया, सप्तऋषियों की तपोभूमि के रूप में देखा-जाना जा सकता है पर इसके अतिरिक्त भी यहाँ बहुत कुछ है। जिस दैवी सत्ता ने महान परिवर्तन की रूपरेखा बनायी है, उसी ने इस भूमि का भी परिशोधन, निर्धारण और भूमि-पूजन किया है। अखण्ड-दीप, अखण्ड- जप, नित्य-नियमित रूप से नौ कुंण्ड यज्ञशाला में अग्निहोत्र की प्रक्रिया आरंभ करायी है। इतना ही नहीं एक प्रशिक्षण शैली का उपक्रम भी निर्धारित किया है। साथ ही बैटरी-चार्ज करने जैसी अतिरिक्त व्यवस्था भी बनायी है। जिसका विद्युत प्रवाह उन सभी को अनुप्राणित, उत्तेजित करते हैं जो उसके साथ भावनापूर्वक उच्च उद्देश्यों को साथ लेकर आते और जो कुछ यहाँ विद्यमान है, उसके अवगाहन में लग जाते हैं।

शान्तिकुंज में क्या पढ़ाया जाता है, इसके लिए पाठ्यक्रम उलटने-पुलटने की आवश्यकता नहीं है। एक ही बात देखी जानी चाहिए कि यहाँ का एक ही मन्तव्य है 'प्रतिभा-परिष्कार'। यह किसी के हाथ लग सके तो शरीर और बुद्धि तथा परिस्थितियों की दृष्टि से साधारण होते हुए भी व्यक्तित्व की दृष्टि से असाधारण बना जा सकता है। ऐसे कर्तृत्व प्रस्तुत हो सकते हैं, जैसा कि हनुमान, अंगद, नल-नील, जामवन्त जैसे साधारण दीख पड़ने वालों ने कर दिखाये। उन्होंने केवल अपने को उत्कृष्ट बनाया, वरन् अपने समय और वातावरण को भी परिष्कृत बनाने में ये समर्थ हो सके। तूफानी चक्रवात एवं प्रचण्ड धारा में दृष्टिगोचर होने वाली भँवरों के समतुल्य अपनी सत्ता व विशिष्टता का भी परिचय दे सके। समय की सबसे बड़ी आवश्यकता युग नेतृत्व की है। इसके साथ स्थानीय, क्षेत्रीय, वैयक्तिक, सामूहिक, राजनीतिक, आर्थिक, बौद्धिक, चारित्रिक एवं सृजन-संभावनाओं का सही रूप में समाधान कर सकने की क्षमता भी जुड़ती है। संक्षिप्त में शान्तिकुंज का प्रशिक्षण, शक्ति-अनुदान एवं वह असाधारण-कौशल उभारता है, जो बीज रूप में हर किसी के भीतर विद्यमान है।

शान्तिकुंज की ५ या ९ दिवसीय सत्र-साधना हर बीज को अंकुरित कर देने की सफलता उपलब्ध कराती है, यह प्रयत्न स्वयं का साहस और वातावरण जुटाने पर निर्भर है, कि बीज में उगे हुए अंकुर किस गति से ऊँचे उठ सके और किस स्तर की द्रुतगामिता अपनाकर अपने को देव-मानवों की, युग-पुरुषों की पंक्ति में खड़े करने में सफल हो सकें।

मिशन की पत्रिकाओं के पाठक, परिजनों को प्रथम आह्वान में आमंत्रित किया गया है कि यथासंभव जल्दी ही युग-सन्धि की बेला में एक सत्र-प्रशिक्षण शान्तिकुंज आकर सम्पन्न कर लें और बन पड़े तो हर साल एक बार आकर अपनी बैटरी को नए सिरे से चार्ज करा लिया करें।

शान्तिकुंज की भूमि एक प्रकार से अभिमंत्रित की गयी है। लक्ष्मण-रेखा भी इसी प्रकार अभिमंत्रित की गई थी, जिसकी मर्यादा में रहने पर सीता हर दृष्टि से सुरक्षित रहतीं। इसी प्रकार इस भूमि को लगभग वैसा बनाया गया है जैसे कि माता के गर्भ में भ्रूण सुरक्षित रहता है। साधना एवं शिक्षण की अवधि में छात्रों को अधिकांश समय इसी परिधि में रहने का निर्देश है। इसी परिधि में रहने का समुचित प्रबन्ध है। समुचित लाभ के लिए यह आवश्यक भी था। अनावश्यक लोगों को अशिक्षितों, वयोवृद्धों, बीमारों, बच्चों को साथ लेकर चलने की मनाही इसीलिए की है कि सैर-सपाटे के उत्सुकों और अति गंभीर अध्यात्म प्रसंगों पर दत्तचित्त होने वालों के बीच किसी प्रकार का तालमेल बन नहीं पाता, साथ ही आश्रम का अनुशासन भी भंग होता है।

जिस प्रकार इन दिनों पिता का नाम भी सरकारी कागजों में दर्ज किया जाता है उसी प्रकार पुरातन काल में उस गुरुकुल का भी उल्लेख रहता था, जिससे ज्ञात होता था कि प्रशिक्षण का अविच्छिन्न अंग समझी जाने वाली महत्ता एवं गरिमा कहाँ से प्राप्त की, जिस प्रकार राजा की संतानें राजकुमार कही जाती और अपेक्षाकृत ऊँचे स्तर पर सम्मानित होती थीं, उसी प्रकार अगले दिनों शान्तिकुंज के प्रशिक्षण के साथ अपने को जुड़ा हुआ होने के रूप में अपना परिचय देने वाले भी निश्चत रूप से गौरवान्वित होंगे। वेश-गोत्र के रूप में पूर्वजों के साथ जुड़ी परम्पराओं का उल्लेख चिरकाल तक होता रहता है। गुरुकुल एवं वंशकुल का सत्र प्राय: एक ही प्रकार की शृंखला के साथ जुड़ता है। इस प्रकार न केवल सत्र-शृंखला में सम्मिलित होने वाले अपनी ही पीढ़ियों को भी उस श्रेय से अभिभूत करने का सुयोग्य-सौभाग्य प्रदान करेंगे। हनुमान के वंशज समझे जाने वाले बन्दरों की अभी भी मंगलवार के दिन अभ्यर्थना होती है। बगीचा लगाने वाला स्वयं यशस्वी होता है, उसकी दूसरी-तीसरी पीढ़ियाँ भी लाभान्वित एवं यशस्वी होती हैं।

शान्तिकुंज का कोई प्रशिक्षण प्राप्त करना वाला अपने में कोई अतिरिक्त विशिष्टता उत्पन्न न करें, यह हो ही नहीं सकता। उस आधार पर कोई गौरव-गरिमा भरे काम करने में, जन-नेतृत्व में अग्रगामी होकर ही रहेगा। इस आधार पर उस यशस्वी-परम्परा की चर्चा भविष्य में भी होती है। अगले दिनों जब शान्तिकुंज से सम्बन्धित नवनिर्माण में योगदान करने वालों का इतिहास लिखा जाएगा तो हो सकता है कि उस प्रकाशन में मात्र पहली पीढ़ी का ही नहीं, वरन् उनके पद-चिन्हों पर चलने वाली दूसरी-तीसरी पीढ़ी भी अपने को गौरवान्वित अनुभव करे।

देवर्षि नारद कहीं कुछ समय ही ठहरते थे; संक्षेप में ही वार्तालाप करते थे, कभी-कभी तो उनका प्रयोग बैखरी

नैतिक क्रान्ति की दिशा-धारा

नैतिक पुनरुत्थान के पथ पर

धर्म भावनाओं की दृष्टि से आज इस गये-गुजरे जमाने में भी भारत का स्थान सारे संसार में ऊँचा है । परमात्मा के प्रति आस्था अब भी इस देशवासियों में इतनी है जितनी सारे संसार में कुल मिलाकर भी न होगी । दूसरे देशों ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बड़ी प्रगति की है, बौद्धिक, वैज्ञानिक, आर्थिक, सैनिक क्षेत्रों में दूसरे लोग काफी आगे बढ़ गये हैं और अपने उस पुरुषार्थ का समुचित लाभ भी उठा रहे हैं, भारत इन क्षेत्रों में काफी पीछे है, हजारों वर्षों की विदेशी गुलामी के जुये से जुता रहा है, उस अन्धकार युग में हमने बहुत कुछ खोया, धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में भी काफी विकृतियाँ, बुराइयाँ और दुष्प्रवृत्तियाँ घुसीं, इतने पर भी जो कुछ बचा-खुचा है इतना है कि उस पर गर्व किया जा सकता है ।

पाश्चात्य शिक्षा के साथ उस संस्कृति को भी हमने शिरोधार्य किया । तदनुसार इस संस्कृति का आदर्श भौतिकवाद भी हमें उपहार में मिला । सभ्य और सुशिक्षित लोग बहुत करके उसी प्रवाह में बह रहे हैं,जिसमे दुनिया के अन्य भौतिकवादी लोग मस्त हैं । इतना सब होते हुए भी प्रसन्नता की बात केवल इतनी ही है कि इस शिक्षा का आधिपत्य अभी केवल ३७ फीसदी लोगों तक ही सीमित है । शेष लोगों पर इनकी छाया पड़ रही है पर पूर्ण रूप से उस रंग में रंगा जाना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ है । धार्मिकता और आस्तिकता के लिए अभी हमारा आधार पर्याप्त मात्रा में मौजूद है ।

ऋषियों का रक्त जिन उच्च भावनाओं से ओत-प्रोत था, वह हमारी नाड़ियों में बहने वाले रक्त के साथ परम्परागत रूप से किसी मात्रा में अब भी जीवित है । इस पुण्यभूमि में लाखों-करोड़ों वर्षो तक जो तप-साधनाएँ और धर्म प्रक्रियाएँ होती रही हैं, उनके परमाणु अभी भी सक्रिय हैं । वे पुण्य तरंगें रह-रहकर आज भी हमारे मानस क्षेत्र को अनायास ही तरंगित करती रहती हैं । कोई साधारण सा निमित्त सामने आ जाने पर ही हमारी धर्मभावनाएँ जाग्रत होती हैं और उसी ओर चलने के लिए पाँव अपने आप उठने लगते हैं ।

यह बड़ी बहुमूल्य थाती है जिसे हमारे तत्वदर्शी पूर्वज हमें सौपकर गये हैं । इसकी कीमत, उपयोगिता और महत्ता इतनी बडी है कि आज के चकाचौंध युग में नकली चमक-दमक से चौंधियाई हुई आँखें कुछ ही दिन में अनुभव करेंगी मानव-जाति की सच्ची सम्पत्ति वह है जिसे भारतवासियों ने इतने दुर्दिनों के बीच भी किसी प्रकार अपनी छाती से लगाकर सुरक्षित रखा । मानव जाति का भविष्य एवं सुख-शान्ति का आधार इन धार्मिक भावनाओं पर ही निर्भर है, जिसे हमने आँधी और तूफानों से किसी रूप में आज भी बचाकर अपने पास रखा है ।

अब समय आ गया है कि इस अपनी अत्यन्त ही महान महत्ता को पुन: विकसित और प्रस्फुटित करने के लिए कुछ ठोस संगठित और सुव्यवस्थित प्रयत्न किया जाय । हिन्दू का परम्परागत जातीय गौरव अपनी इस श्रेष्ठता को सुरक्षित रखने में ही है । यदि हम यह मानते हैं कि हमारे पूर्वज वस्तुत: महान थे, उनकी मान्यताएँ और उपयोगी थीं तो हमें भी उनके चरण-चिन्हों पर चलने के लिए सच्चे उत्तराधिकारी की भाँति प्रयत्न करना चाहिए ।

हमारे मन:क्षेत्रों में उच्च आदर्शों के प्रति ऊँची श्रद्धा होनी चाहिए । उन्हें जीवन के आन्तरिक और व्यावहारिक क्षेत्रों में उतारने के लिए प्राणपण से प्रयत्न किया जाना चाहिए । धार्मिकता का पहला चिन्ह है-सदाचार, नैतिक मर्यादाओं का पालन । मनुष्य की मनुष्यता इसी में है वह नैतिक मर्यादाओं का न केवल अपने बाह्य जीवन में ठीक तरह पालन करे वरन् उनके प्रति अन्त:करण में भी अगाध निष्ठा रखें ।

जिस प्रकार चेहरे के ऊपर बनी हुई नाक उसके सौन्दर्य का प्रधान माध्यम है उसी प्रकार मनुष्य जीवन की शोभा इसी में है कि वह चरित्रवान, आदर्शवादी, सदाचारी, धर्मनिष्ठ और कर्त्तव्यपरायण हो । मानवता का प्रधान चिन्ह यही है । मानवोचित धर्म मर्यादाओं की रक्षा बड़े से बड़े प्रलोभन को ठोकर मारकर भी, बड़े से बड़े कष्ट सहकर भी की जानी चाहिए । धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं; उन दसों का उद्देश्य एक ही है, सच्चरित्रता ।

हम असत्य व्यवहार किसी के साथ न करें । सत्य में हमारी अटूट निष्ठा हो । झूठ, छल, दगा, फरेब, ढोंग, पाखण्ड के द्वारा दूसरों को जितना ठगा जा सकता है, उससे ज्यादा अपनी हानि होती है । झूठ का यह स्वाभाविक गुण है कि वह देर तक छिपा नहीं रहता, आज नहीं तो कल, वह खुलता ही है तब वह धोखेबाज मनुष्य अपनी सारी इज्जत खो बैठता है और फिर वह जीवनभर सच्चा व्यवहार करे तो भी विश्वासपात्र नहीं बन पाता; यह बहुत बड़ी हानि है । ईमानदारी, सच्चाई और नेकनीयती के मार्ग पर चलने से हो सकता है मनुष्य कम कमा सके, धीरे-धीरे तरक्की कर सके पर जो कुछ वह प्राप्त करता है देर तक ठहरने वाला और फलने-फूलने वाला होता है । दूसरों की सद्‌भावना कमा लेना, इतनी बड़ी कमाई है कि उसकी तुलना में अनीति उपार्जित कुबेर सम्पदा को भी तुच्छ गिना जावेगा ।

६.२ सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?

पैसे के सम्बन्ध में हमें पूर्ण ईमानदारी का व्यवहार करना चाहिए । अपनी आमदनी से अधिक खर्च न करने का पूरा-पूरा ध्यान रखना ही बेईमानी के पाप से बचने का एकमात्र उपाय है । अपने खर्च सीमित रखें । दूसरे लोग जिनकी हैसियत और कमाई अधिक है, उनकी देखा-देखी हम अमीरों का प्रदर्शन क्यों करें ? फैशनपरस्ती में क्यों पड़ें ? ठाठ-बाट के लिए क्यों ललचावें ? यदि इन बातों पर फिसलेंगे तो निश्चित रूप से हमें बेईमान बनना पड़ेगा । चाहे हम कर्ज लें, चोरी करें, रिश्वत लें, धोखा दें, शोषण करें, कोई न कोई तरकीब उस बढ़े हुए खर्चे को पूरा करने के लिए निकालनी पड़ेगी और बेईमान बनना पड़ेगा । दुनिया के हर भले आदमी को फिजूलखर्ची से बचना पड़ा है । हमारे लिए भी यह एक ही रास्ता है कि अपनी हर फिजूलखर्ची को पूरी तरह त्याग दें, अपनी गाढ़ी कमाई के एक-एक पैसे को दस बार सोच समझ कर केवल उपयोगी और आवश्यक कार्यों में ही खर्च करें । जिस दिन हमारा यह दृष्टिकोण बन जायगा उसी दिन आर्थिक तंगी के बहाने हमें बेईमानी करने की आवश्यकता न पड़ेगी और ईमानदारी का जीवनयापन करना सर्वथा सुलभ प्रतीत होगा ।

हमारा धार्मिक गौरव इस बात पर भी निर्भर है कि दूसरों की बहिन-बेटी को अपनी बहिन-बेटी के बराबर पवित्र आँखों से देखें । कामुकता और दुराचार का चिन्तन ही हमारी दम्पत्ति मर्यादाओं का उल्लंघन कराने को प्रेरित करता है । इन कुविचारों की जड़ मन में रहती है । गंदी पुस्तकें, गंदी तस्वीरें, गंदे गाने, गंदी फिल्में, गंदी चर्चाएँ, गंदी चेष्टाएँ हमें सदाचरण से पतित होने की प्रेरणा देती है । इन बातों को विष की तरह त्याग करने के लिए यदि मन में उत्साह पैदा हो जाय तो कोई भी आदमी बड़ी आसानी से संयम और सदाचार की मर्यादाओं का पालन करता हुआ धार्मिकता के एक प्रमुख अंग की रक्षा कर सकता है ।

दूसरों के कष्ट को अपना कष्ट मानना, दूसरों की भलाई में अपनी भलाई सोचना, परेशान और पीड़ित लोगों के साथ सेवा और दया का व्यवहार करना, सर्वसाधारण के प्रति विनम्रता, शिष्टता, मधुरता एवं उदारता का आचरण करना, व्यक्तिवाद एवं स्वार्थपरता के स्थान पर सामूहिकता, पारस्परिकता, सहायता एवं उदारता का व्यवहार करना मानवता के प्रमुख गुणों में से एक है । जब मनुष्य दूसरों को अपना आत्मीय मानने लगता है और उनके दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख मानता है तो निश्चय ही उसकी गणना सच्चे धार्मिकों में हो जाती है । ऐसे व्यक्ति से कोई पाप बन पड़ने की बात तो दूर उसके शरीर से निरन्तर सत्कर्म और शुभ-कर्म ही होते हैं जिसके मन में दया है वह पुण्य ही करेगा, जो दूसरों को प्रसन्न और सुखी देखने में हर्ष अनुभव करता है वह परमार्थ के अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकता ।

पराये पैसे को ठीकरी के समान समझना, पराई बहिन-बेटी को अपनी बहिन-बेटी मानना, पराये सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानना यह तीन आदर्श ऐसे हैं जिनका पालन करना मनुष्य को सच्चा मनुष्य, धर्मात्मा, आस्तिक और सफल बना सकता है । भावना क्षेत्र में इन तीन आदर्शों की स्थापना कर लेने पर हमारे जीवन का सामान्य क्रम ऐसा हो सकता है कि हम अपने आपको भारतीय संस्कृति का सच्चा उपासक एवं देव-ऋषियों का सच्चा उत्तराधिकारी व वंशज कह सकें ।

यह मान्यताएँ एवं भावनाएँ जन-जन के मन में जाग्रत करने के लिए हमें आस्तिकता एवं धार्मिकता का वातावरण उत्पन्न करना पड़ेगा । आस्तिकता के लिए ईश्वर उपासना के कार्यक्रमों को नियमित रूप से घर-घर में चलाया जाना, धार्मिक प्रतीकों एवं परम्पराओं के प्रति आस्था उत्पन्न करना आवश्यक है । हमारे घरों के वातावरण में धार्मिकता एवं आस्तिकता का समुचित पुट रहेगा तो ही नैतिक विचारधारा की अन्तःकरण में स्थापना एवं सुरक्षा सम्भव हो सकेगी । इसके बिना नैतिकता की बातें करना केवल एक ख्याल या ख्वाब हो सकता है उसके अनुकूल व्यावहारिक परिस्थिति न बन सकेंगी और लोग भावनात्मक रूप से उस दिशा में अधिक श्रद्धापूर्वक तत्पर न हो सकेंगे ।

प्रयत्न यह होना चाहिए कि किसी भी व्यक्ति का घर ऐसा न हो जिसमें एक छोटा देव मन्दिर न हो । धार्मिक वृत्ति के लिए घर के किसी आले में या चौकी पर छोटा मन्दिर स्थापित रखते भी हैं । इस प्रवृत्ति में जो शिथिलता उत्पन्न हो गई है उसे दूर करके पुनः यह पुनीत-परम्परा प्रोत्साहित की जानी चाहिए । राम, कृष्ण, शंकर, हनुमान आदि के चित्र भी उनमें स्थापित किये जा सकते हैं पर गायत्री माता का चित्र अनिवार्य रूप से होना चाहिए । भारतीय संस्कृति की आदि जननी वेद माता गायत्री की उपेक्षा तो होनी ही न चाहिए । जो लोग निराकार उपासक हैं, मूर्ति पूजा से मतभेद रखते हैं वे ॐ का या गायत्री मन्त्र के अक्षरों का चित्र रख सकते हैं । इस देव-मन्दिर के पास आसन, माला, पंचपात्र, धूपबत्ती, आरती का सामान आदि आवश्यक पूजा-उपकरण रखे रहें । घर का प्रत्येक सदस्य उस स्थान पर बैठकर कम से कम १५ मिनट पूजा अवश्य करे । पूजा विधि जो भी हो, मंत्र नाम जप चाहे जिस प्रकार का हो पर उसमें गायत्री महामंत्र की एक माला का जप हर एक के लिए अनिवार्य माना जाय । प्रातःकाल का जप, सायंकाल की आरती यह दोनों कृत्य नियमित रूप से चलते रहने चाहिए ।

भोजन करने से पूर्व उसका भोग भगवान को लगा लिया जाय । भगवान को समर्पण करने के बाद ही हम भोजन ग्रहण करें, यह व्यवस्था घरों की देवियाँ बड़ी आसानी से कर सकती हैं और साधारण अन्न को भगवान का प्रसाद बनाकर हमारे भावना क्षेत्र में धार्मिकता एवं आस्तिकता के शुभ संस्कारों को पल्लवित कर सकती हैं । पहली रोटी सिकने पर-चूल्हें में से थोड़ी-सी अग्नि निकालकर उस पर जरा-सा घी डालकर ज्योति प्रज्वलित

की जाय और घर में जितने व्यक्ति हों उतनी आहुतियाँ उस पहली सिकी हुई रोटी के टुकड़ों से गायत्री मन्त्र बोलते हुए दी जाय । इन छोटे ग्रासों के साथ थोड़ी शक्कर और घी भी मिला लिया जाय । इस प्रकार हो घर में अग्निहोत्र होने, गायत्री हवन होने की पुनीत परिपाटी जारी हो सकती है । इसमें न कुछ खर्च है, न समय लगता है । केवल अभ्यास डालने और नियम बनाने भर की बात है । सुलक्षिणी स्त्रियाँ अपने घर की सुख-शान्ति बढ़ाने के लिए इतना छोटा-सा धर्म कार्य खुशी-खुशी कर सकती हैं । जिन्हें पूरा गायत्री मन्त्र याद न हो वे 'ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा' इतने मन्त्र से आहुति दे सकती हैं । जिन घरों की स्त्रियाँ अधिक आलसी या ढीठ हों, यह करने को तत्पर न हों तो पुरुष भी इस दो मिनट के कार्य को अपना भोजन आरम्भ करने से पूर्व स्वयं कर सकते हैं । गायत्री जप के बिना पानी नहीं पीना, अग्निहोत्र के बिना भोजन न करना की धर्म-धारणा आज बड़ी कठिन मालूम पड़ती है पर है यह नितान्त सरल । उसमें कठिनाई केवल मनुष्य की निष्ठा और आदत पड़ने मात्र की है । यदि थोड़ी श्रद्धा और व्रतशीलता का परिचय दिया जाय तो हर घर में गायत्री जप और अग्निहोत्र की दैनिकी बड़ी आसानी से चल सकती हैं और व्यापक रूप से आस्तिकता का धार्मिक वातावरण विनिर्मित होने में भारी सफलता मिल सकती है ।

कुछ और भी छोटे-छोटे धर्म कार्य ऐसे हैं जिनकी ओर थोड़ा ध्यान दिया जाय तो बड़ी आसानी से वे प्रवृत्तियाँ घरों में विकसित हो सकती हैं । स्वाध्याय का शौक घर के प्रत्येक समझदार सदस्य को लगाया जाना चाहिए । जो पढ़ सकते हों वे पढ़ें जो पढ़ न सकते हों उन्हें सुनाया जाय । इस प्रकार स्वाध्याय और सत्संग की-जीवन का कायाकल्प करने वाली परम्परा घर-घर में जाग्रत हो सकती है । एक ही पुण्य या धर्मग्रन्थों को रोज-रोज पढ़ लेने का नाम स्वाध्याय नहीं है उसे पूजा-पाठ कहा जा सकता है । स्वाध्याय वह है जो जीवन की व्यावहारिक समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित करे और उन्हें सुलझाने का तर्कसंगत मार्ग सुझावे । इस प्रयोजन के लिए आधुनिक लेखकों की विचारपूर्ण पुस्तकें भी धर्मग्रन्थों के समान ही उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं । ऐसा स्वाध्याय साहित्य निर्माण करने के लिए अपना मिशन प्रयत्नशील भी है । 'अखण्ड ज्योति,' 'युग निर्माण योजना' एवं 'प्रज्ञा अभियान' पत्रिका इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हैं । अब तक प्रकाशित तीन हजार से अधिक ग्रन्थ एवं पुस्तिकाएँ इसी लिए हैं । संस्था द्वारा आगे इस सम्बन्ध में और भी अधिक प्रयत्न किया जा रहा है और अपने देश की मान्य सभी भाषाओं में प्रकाशन की तैयारी चल रही है । नैतिक-क्रान्ति के लिए हमें रचनात्मक कार्यक्रम का विशाल ढाँचा खड़ा करना और उसे चालू करना है ।

यों तो राष्ट्र की उन्नति के लिए भिन्न-भिन्न संस्थाएँ अपने-अपने ढंग से काम कर रही हैं और अनेक समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया जा रहा है, परन्तु उन सब में महत्त्वपूर्ण देश के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाना है क्योंकि समाज में फैली हुई अनैतिकता, कामुकता, अश्लीलता, नास्तिकता, अशिष्टता, स्वार्थपरता, निर्दयता, फैशनपरस्ती, लोभवृत्ति आदि बुराइयों से हम नीचे गिरते जा रहे हैं जिन आदर्शों के कारण हम जगद्गुरु कहलाते थे, वह आज केवल स्मृति मात्र रह गए हैं । उन पूर्व स्मृतियों को साकार करने का, नैतिक व सांस्कृतिक पुनरुत्थान का भार गायत्री परिवार ने अपने कन्धों पर उठाया है पिछले कई वर्षों में संस्था के द्वारा जो कार्य हुआ है, वह असाधारण है, इतिहास में उसकी कोई साक्षी ढूँढ़े से भी नहीं मिलता । कुछ ही वर्ष के अन्तराल में देश के कोने-कोने में बड़ी हलचल उत्पन्न हो गई है, जिस नवीन धार्मिक जाग्रति के दर्शन हो रहे हैं, वह अपने महान लक्ष्य की पूर्ति का आश्वासन दिला रहे हैं ।

पिछली पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता का मुख्य कारण परिजनों व परिवार के कार्यकर्त्ताओं का इस धार्मिक कार्य को घर में होने वाले विवाह आदि जैसा कार्य समझकर तन, मन, धन और निःस्वार्थ भावना से लग जाना है । गृहस्थ का भार वहन करते हुए भी जो उन्होंने कार्य किए हैं, वह सभी प्रकार से प्रशंसनीय हैं । उन्होंने नौकरी व व्यापार से अवकाश लिया, लोगों के तीर की तरह चुभने वाले तानों को सहन किया, घर वालों की घुड़कियाँ सुनीं, समय और धन का त्याग किया । उनके अथक परिश्रम के उदाहरण इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं । धूप, गर्मी, बरसात और शरीर को होने वाले कष्ट की बिलकुल परवाह न करते हुए वे धर्म प्रचार में लगे रहे । इन पवित्र भावनाओं के कारण ही यह अपने उद्देश्यों में सफल होते रहे हैं ।

वास्तव में सच्चे गायत्री उपासक-विवेकशील और विचारवान पुरुष वही हैं जो समय की पुकार सुनकर समाज के कल्याण के लिए अपने स्वार्थों की आहुति दे देते हैं अर्थात् जो अपनी हानि-लाभ को न देखते हुए कर्त्तव्य पालन के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर देते हैं, अपने स्वार्थ के साथ समाज के स्वार्थ को मिला लेते हैं । ऐसे व्यक्ति ही अपने मनुष्य जीवन को सफल कर पाते हैं । इन्हें ही सन्त, महात्मा, ऋषि और महर्षि कहते हैं, चाहे उनकी वेशभूषा भले ही साधुओं जैसी रंगी हुई न हो । ऐसे व्यक्ति परमात्मा की कृपा के अधिकारी होते हैं अर्थात् उसे ऐसे ही भक्त प्रिय होते हैं । परिजनों की लगन, परिश्रमशीलता और निःस्वार्थ भावना का ही परिणाम है कि थोड़े समय में हजारों गायत्री परिवार शाखाओं की स्थापना, २४ लाख सदस्यों को नियमित गायत्री उपासना में लगा देना, उनकी धार्मिक प्रवृत्तियों को उत्तेजित कर देना, एक हजार यज्ञीय सम्मेलन कर सद्बुद्धिरूपी गायत्री और त्यागमय प्रेम रूपी यज्ञ का व्यापक सन्देश पहुँचाने का असाधारण कार्य सम्पन्न हो गया । परन्तु वास्तव में देखा जाय तो अभी बहुत थोड़ा कार्य हुआ है । हमें प्रत्येक

व्यक्ति तक यह आवाज पहुँचानी होगी और जन-जन के मन-मानस में सद्विचारों की देवी गायत्री और सदाचार के देव यज्ञ की स्थापना करनी होगी । परन्तु इतना करने पर भी नैतिक पुनरुथान का महानतम कार्य पूरा न समझा जायेगा, जब तक कि समाज में फैली हुई कुप्रथाओं व कुरीतियों को उखाड़ न फेंका जाय । इसके लिए सब प्रकार के साधन जुटाने पड़ेंगे । अन्न उपजाने के लिए हल चलाना, बीज बोना, पानी देना, अनावश्यक घास उखाड़ना व धूप लगना जरूरी होता है । जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए विचार रूपी बीज का बोना आवश्यक है । विचार पर ही संसार के खेल चल रहे हैं । मनुष्य का कुमार्ग व सन्मार्ग पर चलना, चोर डाकू व सन्त-महात्मा बनना, स्वार्थी व परमार्थी बनना, संयमी, असंयमी, लोभी, त्यागी व क्षुद्र या महान बनना उसके विचारों पर ही निर्भर है । इसलिए हमारे पूर्वजों ने पशुवत जीवन को परिमार्जित करने के लिए ही अनेक साधनाओं, उपासनाओं, कर्मकाण्डों, संस्कारों, उत्सवों, पर्वों, व्रतों, कथाओं व धर्मग्रन्थों की रचना की है । इन सभी साधनों का परिणाम उत्तम विचारों को जन्म देना ही है ।

गायत्री परिवार ने समाज की इस आवश्यकता को अनुभव करते हुए नैतिक-क्रान्ति का आन्दोलन खड़ा किया है, जिसका उद्देश्य जनता के मस्तिष्क को एक नई दिशा देना है, उसके विचारों का कायाकल्प करना है । खेत में उत्पन्न हुई अनावश्यक घास जिस प्रकार से फसल के लिए हानिकारक होती है, उसी प्रकार से समाज में पनपे हुए सड़े-गले विचारों को समाज के हित के लिए उखाड़ देना होगा । इस कार्य की पूर्ति के लिए बहुत पहले गायत्री तपोभूमि, मथुरा से २० प्रकार के ट्रेक्ट छापे गए थे, जिनके नाम निम्नलिखित हैं ।

(१) नैतिक पुनरुत्थान के पथ पर (२) भारतीय संस्कृति की रक्षा कीजिए (३) कामुकता और अश्लीलता से बचिए (४) नशेबाजी के खतरे से सावधान (५) दहेज के दुष्परिणाम (६) जुआ एक सत्यानाशी विषवृक्ष, (७) पशुबलि मत कीजिए (८) मृतक भोज बन्द किया जाय (९) माँसाहार मानवता के विरुद्ध है (१०) चमड़े का उपयोग छोड़िए (११) गाली देने की गंदी आदत (१२) अन्न देवता का अपमान न हो (१३) हम असंयमी न बनें (१४) नारी का सम्मान व उत्थान किया जाय, (१५) चोटी जनेऊ की उपेक्षा न करें, (१६) सादा जीवन उच्च विचार (१७) जीवन को सेवामय बनाइए (१८) सभ्यता, शिष्टाचार में ही सन्निहित है (१९) मिल-जुलकर आगे बढ़िए (२०) स्वाध्याय नित्य करना ही चाहिए ।

उपरोक्त ट्रैक्टों के अतिरिक्त अनेक पुस्तकें छापी गयी हैं जिनमें निषेधात्मक व रचनात्मक, दोनों प्रकार के विषयों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है । यदि बुराई को छोड़ने के साथ-साथ अच्छाई को ग्रहण न किया जाय तो वह अधूरा काम होगा । इसलिए इनमें उन सिद्धान्तों के व्यापक प्रचार का प्रयत्न किया गया है, जिनसे मनुष्य का निर्माण होता हो । उपरोक्त विचारों का हमें व्यापक प्रसार करना है । इसी उद्देश्य के लिए इनका मूल्य लागात से भी सस्ता रखा गया है ताकि साधारण आर्थिक स्थिति का व्यक्ति भी यदि चाहे तो अपने क्षेत्र में हलचल मचा सकता है । उन्हें विवाह, जन्मदिन, मुण्डन, यज्ञोपवीत आदि संस्कारों, सामूहिक उत्सवों, पर्वों और गायत्री यज्ञों में इनको अधिक से अधिक संख्या में वितरण किया जाना चाहिए ताकि लोग इन विचारों को ग्रहण करके प्रगति पथ पर अग्रसर हों ।

ईसाई धर्म के विशाल रूप धारण करने का मुख्य कारण उनके अति सस्ती पुस्तकों का प्रकाशन है । लूका, यूहिन्ना आदि पुस्तकों को वह प्रचारार्थ वितरित करते हैं और मेलों आदि पर बहुत ही सस्ते मूल्य पर बेचते हैं । आश्चर्य की बात है कि अधिकारी वर्ग के ईसाइयों को भी घर-घर, घूम-घूम कर इन छोटी-छोटी पुस्तकों को बेचते और प्रचार करते देखा गया है । आज भी वह अपने देश से हजारों मील दूर धर्म प्रचार और ईसाई धर्म के विस्तार के लिए उन स्थानों पर अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, जहाँ उनको हर प्रकार की रहन-सहन की असुविधाएँ होती हैं । उनसे प्रेरणा प्राप्त करके हमें भी अहंकार को छोड़कर इस कार्य में लग जाना चाहिए और समाज को पतन की ओर ले जाने वाली कुप्रथाओं और रूढ़ियों को समाप्त करने के लिए और जनता को श्रेष्ठ मार्ग के पथ प्रदर्शन के लिए इन पुस्तकों व ट्रेक्टों को देश के हर व्यक्ति तक पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए । यज्ञों में तो इस काम को बहुत सरलता से किया जा सकता है । यज्ञों द्वारा निमित्त धार्मिक वातावरण में प्रसाद रूप में उत्तम विचारों का ज्ञानदान देने से उनके मन पर वह छाप जम जायगी ।

बीड़ी का प्रचार करने वाले, नाच-गाकर, टोलियाँ बनाकर बाजारों में घूमते हैं और अपने व्यापार का व्यापक प्रसार करने का प्रयत्न करते हैं । जब वह अपने स्वार्थ के लिए इतना उत्साह दिखाते हैं, तो क्या हम परमार्थ के लिए, धर्म भावनाओं के विस्तार के लिए, श्रेष्ठ विचारों के प्रचार के लिए घर में दुबके बैठे रहें ? हमें अपनी शर्म और हेठी छोड़कर गली-गली, बाजार-बाजार और दुकान-दुकान घूमना होगा और सस्ते मूल्य की यह पुस्तकें देकर उनके जीवन पथ को मोड़ना होगा । गायत्री प्रसार के लिए लेखक ने स्वयं इस कार्य को किया है । इसलिए उसे विश्वास है कि थोड़ी-सी झिझक हटने पर यह कार्य बहुत सरल हो जाता है क्योंकि जब वह कम पैसे की पुस्तिकाएँ बेचने वाले का रूप, रंग, वेशभूषा आदि देखते हैं और उन्हें विश्वास हो जाता है कि आपका इसमें केवल धर्म प्रचार के सिवा और कोई स्वार्थ नहीं है तो वह बहुत प्रभावित होते हैं ।

जिस अगम्य उत्साह और साहस के साथ गायत्री परिवार की पिछली योजनाएँ सफल हुई हैं, उसी साहस के साथ नैतिक पुनरुत्थान पथ पर हमारे कदम अब बढ़ने

चाहिए । 'हिम्मत ए मर्दा, मदद ए खुदा' जो अपनी सहायता आप करता है, भगवान भी उसकी सहायता करते हैं । जो परिजन इस पथ पर आगे बढ़ने का प्रयत्न करेंगे, उन्हें दैवी सहायता व सफलता अवश्य मिलेगी और वह अपने संकल्प में सफल होंगे ।

आदर्श निष्ठा—हमारे अतीत की गरिमा

भारत किसी समय उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ था । उसकी अपनी सीमाओं में सुख-शान्ति के भाण्डागार भरे पड़े थे । भौतिक साधनों की कमी न थी । शारीरिक बलिष्ठता और दीर्घजीवन का भरपूर आनन्द सबको उपलब्ध था । परिवार एक छोटे राष्ट्र के रूप में विकसित होते हुए-विकासमान पुष्प-पादपों से भरे हुए उद्यान की तरह शोभायमान थे । धन-सम्पदा की कमी न थी । अन्न के भण्डार भरे पड़े थे और दूध-दही-घी की नदियाँ बहती थीं । सोना-चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुएँ घरेलू बर्तनों के रूप में प्रयुक्त होती थीं । सामाजिक सुव्यवस्था पारस्परिक सघन सद्भाव, सहयोग की समुन्नत स्थिति में जा पहुँची थी । शालीनता और सज्जनता को हर व्यक्ति ने आवश्यक वस्त्रों की तरह धारण कर रखा था । राजा लोग गर्व करते थे कि उनके राज्य में कोई चोर, अपराधी व कुकर्मी नहीं है ।

उन सत्युगी परिस्थितियों में यह देश अपनी प्रगति, समृद्धि और सुख-शान्ति को अपनी ही सीमा तक सीमित रखने वाला न था, उसने उसे दोनों हाथों से समस्त संसार में बिखेरा । समृद्धि का सदुपयोग है भी इसी में कि उसका लाभ अपने शरीर, परिवार तक सीमित न रहे और उसका प्रभाव प्रकाशदीप की तरह सुदूर क्षेत्रों को आलोकित करता रहे ।

भारतवासी कुछ पाने, कमाने के लालच से नहीं, वरन् अपने उपार्जन से समस्त संसार को लाभान्वित करने के लिए सुदूर देशों में गये और धरती के कोने-कोने को संस्कृति और समृद्धि का अजस्र अनुदान देकर ऊँचा उठाया । इन प्रयासों के प्रमाणों से इतिहास के पृष्ठ स्वर्णाक्षरों में लिखे हुए परिस्थितियों में रहने वाले लोगों ने भारतवासियों से अपरिमित अनुदान पाये और सर्वतोमुखी प्रगति की दिशा में बढ़ चलने का पथ-प्रशस्त किया । यही रही है प्राचीनकाल के भारत की विश्व सेवा-साधना की पृष्ठभूमि, जिससे वह स्वयं गौरवान्वित हुआ और समस्त संसार को कृतकृत्य किया ।

लोगों द्वारा आदर्शवादिता की बात करने और बड़े-बड़े तर्क देने के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था-'तुम आदर्शों की बात करो और उसे व्यवहार में न उतारो तो तुमसे चोर, डाकू और लुटेरे अच्छे हैं क्योंकि उनके जीवन में कथनी और करनी का अन्तर तो नहीं रहता, इस उक्ति के सन्दर्भ में आज भी जाना जाय तो यह शत-प्रतिशत सही सिद्ध होगी । लोग आदर्शों तथा सिद्धान्तों का चिल्लाकर समर्थन करते हैं पर अपने सामान्य जीवन में उन आदर्शों को कहीं छूते तक नहीं ।

आदर्शवादिता की प्रवंचना करने वाले लोगों की कमी नहीं है । बल्कि कहा जाना चाहिए कि अधिक है । उदाहरण के लिए आज के समय में दहेज प्रथा का विरोध करने वालों को ही लिया जा सकता है । प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि इस प्रथा का अन्त किया जाना चाहिए, मानता और कहता भी है पर कितने लोग हैं जो इस कथनी को करनी में भी उतारते हैं । जब अवसर आता है तो मजबूरी कहकर या दूसरे पक्ष का दबाव बताकर अपने बचाव का रास्ता खोजते हैं । कन्या के सम्बन्ध में तो मजबूरी किसी प्रकार समझ में भी आती है पर पुत्र के विवाह में क्या मजबूरी आ जाती है । उस समय लोग कह देते हैं कि उसकी माँ ने दबाव डाला था या घर के अन्य दूसरे ने मजबूर कर दिया था ।

जो भी हो यह है प्रवंचनापूर्ण और न केवल दहेज के सम्बन्ध में वरन् व्यक्तिगत दोष-दुर्गुणों से लेकर सामाजिक कुरीतियों तक के आगे घुटने टेक देने में यह दोहरी नीति आदर्श और व्यवहार के बीच में खाई उत्पन्न कर देती है । उस तरह जैसे कहने की बात कोई दूसरी होती है और करने की दूसरी । जबकि आदर्श होते ही जीवन में उतारने के लिए है । कहा जा सकता है उनकी प्रतिष्ठा ही जीवन जीने के एक ढंग की तरह होती है । उनमें ही जीवन की सार्थकता खोजी जाती है और वे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन को सुख-शान्ति सम्पन्न बनाने के लिए ही स्थापित किये जाते हैं ।

लेकिन हम उनकी प्रवंचना इसलिए करते हैं कि हम समझते हैं आदर्श जीवन को बोझिल और क्लान्त बनाते हैं । जीवन को खुशहाल बनाने के लिए हम आदर्शों को एक कोने में डालकर, उस पुण्य-धाम में कूड़ा-कबाड़ा इकट्ठा करते रहते हैं । सत्य, न्याय, प्रेम, पवित्रता, उदारता, सहिष्णुता, करुणा, क्षमा जैसे आदर्शों से जीवन उदात्त और आनन्दमय बनता है । इन आदर्शों को अपनाने वाला व्यक्ति अपनी चेतना में आनन्द और शान्ति की ऐसी धारा प्रवाहित करता है जिसमें नहाकर अन्य लोग भी प्रफुल्लित हो उठते हैं । इनके विपरीत असत्य, अन्याय, स्वार्थ, रुक्षता, मलीनता, कृपणता, आवेश, क्रूरता और प्रतिहिंसा की भावनाएँ न जागते जीने देती हैं और न सोते चैन लेने देती हैं ।

आदर्शों के लिए हमारे मनीषियों ने एक अनूठा शब्द खोजा है-जीवन मूल्य अर्थात् जीवन ही जिसका मूल्य है । उनके महत्व की कल्पना या तुलना इससे कम में की ही नहीं जा सकती । मनुष्य को सबसे बढ़कर जीवन ही प्रिय है । चाहे करोड़ों रुपया हो पर जीवन संकट में पड़ा हो तो उसे बचाने के लिए सारी सम्पत्ति भी खोने को आदमी तैयार हो जाता है, धन सम्पत्ति ही नहीं, विद्या, अधिकार,

६.६ सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रांति कैसे ?

ज्ञान, परिवार, पत्नी, बच्चे, समाज सब कुछ जीवन की तुलना में गौण लगता है और यह विस्मय-विमुग्ध कर देने वाली बात है कि जिस जीवन की तुलना में सब कुछ तुच्छ है, वह जीवन आदर्शों के लिए बलि चढ़ा देना श्लाघनीय समझा गया है । यही है हमारी संस्कृति की धरोहर, आदर्शों की पराकाष्ठा ।

भारतीय संस्कृति के इतिहास के पन्ने इस प्रकार के उदाहरणों से भरे पड़े हैं, जिन लोगों ने जीवन के लिए की जाने वाली कुर्बानियों को आदर्शों के लिए कर दिया, उन्हें भी भारतीय-धर्म के अवतार कहकर सम्मानित किया भगवान राम ने अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए राजमहल में उपलब्ध होने वाली सुख-सुविधाओं का त्याग किया और जंगल में वनवासी बनकर रहे । लक्ष्मण ने अपने भाई के प्रति कर्त्तव्य पालन के लिए तमाम सुख-सुविधाओं को छोड़ दिया । भ्रातृप्रेम का इतना अनूठा उदाहरण संसार में कहीं नहीं मिलेगा । राम का सारा जीवन तो आदर्शों के पालन के लिए त्याग और उत्सर्ग का है । दुराचारी रावण का अन्त करने के लिए एकाकी रहते हुए भी उन्होने कितना बड़ा खतरा मोल ले लिया था ।

राम को तो हम भगवान मानते हैं और समझते हैं कि उनका जन्म ही इन आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिए हुआ था । भगवान होने के कारण उनके अनुकरण को हम अपनी सामर्थ्य से बाहर का भी समझें तो श्रवणकुमार का उदाहरण सामने है जिसने अपने माता-पिता की आकांक्षा पूरी करने के लिए उन्हें पूरे भारत में कन्धे पर रखकर घुमाया ।

अपने मनोविकारों पर विजय प्राप्त करने के भी अनूठे उदाहरण भारतीय इतिहास में मिलते हैं । किसी लेखक ने कामोद्दीप्त वातावरण में शुक की अचलता का चित्र इस प्रकार खींचा है-''वसन्त ऋतु अपना सारा उन्माद और वैभव वहाँ फैला देती है । कोकिल उत्कट प्रेम भावना से कुहू-कुहू करती है । फूलों से खुशबू निकल रही है । प्रसन्न हवा बह रही है । नये पल्लव और कोंपलें फूटी हुई हैं । मानो सारा वातावरण मादक हो रहा है और वहाँ अप्रतिम सुन्दरी रम्भा अनेक विलासी हाव-भाव बनाती हुई खड़ी है । उसके वस्त्र हवा के झोंकों में उड रहे हैं, जैसे सारी सृष्टि आसमान तक सुन्दरता से ओत-प्रोत हो रही है । रम्भा शुक को आलिंगन भी करती है पर शुक का एक रोम भी खड़ा नहीं होता ।''

शिवाजी द्वारा लूट में लायी गयी स्त्री को यह कहकर सादर वापस भेज देना कि-''काश मेरी माँ भी इतनी सुन्दर होती तो मैं भी सुन्दर होता!'' छत्रसाल से प्रणय प्रस्ताव करने वाली युवती को यह जवाब मिलना कि पता नहीं मुझ-सा सुन्दर पुत्र जन्म ले या न ले तो तुम मुझे ही अपना पुत्र क्यों नहीं मान लेतीं । ऐसे उदाहरण अब कहीं देखने को नहीं मिल सकते ।

सत्य के लिए अपना सारा जीवन होम देने वाले राजा हरिश्चन्द्र तब तक अमर रहेंगे जब तक लोगों को सत्य का नाम भी याद रहेगा । कहा जाता है कि वे केवल स्वप्न में ही अपना राजपाट दे बैठे थे और जागने पर भी उसका पालन अन्तिम क्षण तक किया । दान के बाद दक्षिणा माँगी तो हरिश्चन्द्र खजाने से देने लगे पर याचक ने यह कहकर रोक दिया कि राजपाट और कोष को तो तुम मुझे दान कर चुके । अब वहाँ तुम्हारा क्या रहा । हरिश्चन्द्र को जैसे अपनी भूल का ज्ञान हुआ और उन्होंने श्मशान में नौकरी कर दक्षिणा चुकायी । परीक्षा ने वहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा और पुत्र की मृत्यु का दारुण दृश्य अपने आँखों के सामने देखकर उसका हृदय दहल उठा होगा पर कर्त्तव्य यहाँ भी विस्मृत नहीं हुआ । जब तक उनकी पत्नी ने शव जलाने का कर चुका नहीं दिया, तब तक उन्होंने शव को यों ही पड़ा रहने दिया ।

महारथी कर्ण और राजा बलि ने दान-धर्म को पराकाष्ठा तक उसके आदर्श का स्पर्श किया । कर्ण जानते थे कि कवच-कुण्डल देने से वे मर भी सकते हैं पर इन्द्र जब याचक बनकर सामने खड़े हों और इन्द्र ही क्यों न हो देने का व्रत लेकर 'ना' कहना सीखें ही नहीं थे । कर्ण के पिता सूर्य ने जब इस षड्यन्त्र का भंडाफोड़ करते हुए कर्ण को सचेत किया तो उनका यही उत्तर था-मैं भी व्यावहारिकता का पालन कर रहा हूँ । आप जिसे व्यावहारिकता कह रहे हैं उसका अर्थ है थोड़ी चीज दे कर अधिक प्राप्त करना । यह नश्वर शरीर तो एक दिन नष्ट होगा ही । आज हो या कल-क्या फर्क पड़ता है और मैं इसके बदले अमर कीर्ति आदर्श की पराकाष्ठा प्राप्त कर रहा हूँ तो क्या घाटे की बात है । वामन ने तीन पग जमीन माँगी थी और बलि द्वारा वह दिये जाने पर उन्होंने दो पग में सारा संसार, भूलोक, अन्तरिक्ष नाप लिया । अब तीसरा पैर कहाँ रखें तो बलि ने अपना सिर आगे कर दिया और वामन ने बलि के सिर पर पैर रखकर उन्हें पाताल में पहुँचा दिया ।

नियम और अनुशासन की मर्यादा कायम करने के लिए राजा हंसध्वज ने अपने पुत्र को भी नहीं छोड़ा । जब स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न उठा तो उन्होंने राज्य के हर युवा व्यक्ति को समर में जाने की आज्ञा कर दी । सब लोग तो युद्ध में चले गये पर पता चला कि उनका पुत्र सुधन्वा अपनी पत्नी के साथ प्रणयलीला में मग्न है । राजपुत्र होने के साथ-साथ सुधन्वा नवविवाहित भी थे । हंसध्वज चाहते तो पुत्र को क्षमा कर सकते थे पर कर्तव्य नियम सो नियम, राजाज्ञा का उल्लंघन करने वालों को जो दण्ड दिया जाता था वही उन्होंने अपने पुत्र को भी दिया । उस समय अनुशासन भंग करने वालों को गरम तेल में डाल देने का दंड था । सो सुधन्वा को भी यही दंड मिला ।

शरणागत की रक्षा हमारे देश की बहुमूल्य परम्परा रही है । राजा शिवि को अपनी शरण आये पक्षी की रक्षा के लिए उसका शिकार कर रहे बाज को जाँघ का माँस काट कर देना पड़ा । मयूरध्वज ने अपने पुत्र का माँस

खिलाकर अभ्यागत की इच्छा पूरी की । इस तरह के प्रसंगों में वैचित्र्य के साथ-साथ अस्वभाविकता है पर जिन लोगों ने मृत्यु के आर-पार देखा है उनके लिए कुछ भी विचित्र नहीं है, जो भी कुछ है सो व्यावहारिक है जब जीवन क्षणभंगुर है और एक न एक दिन शरीर को मिटना है तो क्यों न आदर्शों के लिए ही मरें । नियतिगत मरण की अपेक्षा सोद्देश्य मृत्यु का नाम ही तो उत्सर्ग है और जब बिना कुछ गँवाये उत्सर्ग का श्रेय मिल रहा हो तो क्यों न लिया जाय ।

मृत्यु का रहस्य समझने वालों के लिए उत्सर्ग उसी प्रकार है जिस प्रकार सामान्य आदमी लाख रुपये की आशा में एक रुपये का लाटरी टिकट खरीद लेता है । लाटरी में तो लखपति बनने की सम्भावना नहीं के बराबर है पर आदर्शों के लिए उत्सर्ग करने वाला प्राप्तव्य के सम्बन्ध में शत-प्रतिशत निश्चित रहता है और निश्चिन्तता की सम्भावना धूमिल पड़ती भी नहीं । सिडनी जैसे लड़ते-लड़ते मर जाने वाले उन सैनिकों को आज कौन याद करता, जिन्होंने अपने सामने आया पानी दूसरे प्यासे के पास भिजवा दिया और अन्तिम समय में उभर कर आयी करुणा ने भी उन्हें अमर बना दिया ।

भारतीय इतिहास का एक-एक अध्याय उज्ज्वल आदर्शों से भरा पड़ा है । अशोक ने कहीं अपने शिला लेखों में लिखवाया है कि यदि रात्रि दिन की एक चौथाई रहती तो अच्छा था ताकि मैं और अधिक लोगों का दुःख-दर्द सुनता और दूर करता । राजा हर्ष प्रति पाँचवें वर्ष अपना सारा कोष जन-कल्याण के लिए खर्च कर दिया करते थे प्रताप चाहते तो अकबर की केवल अधीनता स्वीकार कर निर्बाध राजमहलों में सुखों का भोग कर सकते थे पर स्वतन्त्रता प्रेमी इस वीर ने जंगलों में रहकर कंद-मूल खाना बेहतर समझा, अपेक्षा केवल मौखिक रूप से ही अकबर को अपना संरक्षक मान लेने के ।

'पर द्रव्येषु लोष्ठवत्' की आदर्श मर्यादा भी यहाँ जैसी अन्यत्र दुर्लभ है । तेज भूख लगने के कारण दादाजी कोण्ड देव ने एक बार किसी बगीचे से फल तोड़ लिया था, पर अपने व्रत की जब याद आयी तो पश्चाताप स्वरूप उन्होंने अपने हाथ ही कटवा डाले । इस युग में भी एक से एक त्यागी और आदर्शनिष्ठ व्यक्ति हुए हैं । महात्मागाँधी, स्वामी दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महर्षि देवेन्द्र ठाकुर, स्वामी श्रद्धानंद, रविशंकर महाराज, रवीन्द्रनाथ टैगोर, निराला, प्रेमचन्द्र, माखन लाल चतुर्वेदी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, तिलक, गोखले, महामना मालवीय, सुभाषचन्द्र बोस, सरदार पटेल, श्री प्रकाश, लाला लाजपतराय, सम्पूर्णानन्द, सरोजिनी नायडू, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, राज गोपालाचारी, डॉ० राधाकृष्णन्, मौलाना आजाद, सर सैयद अहमद खाँ, मीराबेन, जवाहर लाल नेहरू आदि अगणित नाम हैं ।

स्मरणीय है कि आदर्श निष्ठा हमारी सांस्कृतिक धरोहर है, हम भी उसी ऋषि परम्परा की संतान हैं तथा यह हमारे लिए नितान्त अशोभनीय है कि आदर्शों के साथ प्रवंचना करें । आदर्शों की प्रवंचना अपने आपको छलने के सिवा और कुछ नहीं है । इस छलना से बचने के लिए आदर्शों का अनुसरण और व्यवहार में उतारने की दृढ़ता बरतकर ही हम अपनी सांस्कृतिक धरोहर सुरक्षित रख सकते हैं अन्यथा अपना जीवन बर्बाद करने के साथ-साथ अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर के नष्ट होने का खतरा उपस्थित है ।

हम बदलें तो युग बदले

युग-परिवर्तन का आरम्भ जन-साधारण का दृष्टिकोण परिवर्तन होने के साथ-साथ होता है । लोगों के विचार करने की शैली, आकांक्षा, अभिरुचि, प्रवृत्ति आदि निकृष्टता की ओर हों तो उसके फलस्वरूप व्यक्ति एवं समाज के सम्मुख अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ, चिन्ताएँ तथा व्यथाएँ उत्पन्न होती हैं और सब ओर नारकीय वातावरण विनिर्मित होता है । इसके विपरीत यदि लोगों की रुचि उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता अपनाने में हो, प्रसन्नता का लक्ष्यबिन्दु परमार्थ हो तो संसार में स्वर्गीय परिस्थितियों का जन्म होता है और हर व्यक्ति प्रचुर सुख-शान्ति का अनुभव करता है । यही वह तथ्य है जिसके ऊपर विश्व-शान्ति एवं सुख का सारा आधार है ।

युग-परिवर्तन की प्रक्रिया कहाँ से आरम्भ हुई ? इसका पता लगाना हो तो उसकी एक ही कसौटी है कि कहाँ स्वार्थ की उपेक्षा करके उसके स्थान पर परमार्थ को प्रतिष्ठित किया गया ? कहाँ तृष्णा और वासना को तिलांजलि देकर उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता को चरितार्थ करने का साहस किया गया ? जहाँ इस प्रकार की सत्प्रवृत्तियाँ पनप रही हों समझना चाहिए कि यहीं से युग-निर्माण का शुभारम्भ हो रहा है । भावी परिवर्तित युग में जन-साधारण को शरीर-निर्वाह के लिए सादगी से काम चला सकने जितनी स्वल्प आजीविका पर पूरा-पूरा सन्तोष करना होगा । भविष्य के लिए संग्रह करने की पद्धति किसी में न होगी । लोग परिवार सेवा का उत्तरदायित्व पूरी तरह निभायेंगे पर बेटे-पोतों के लिए सात पीढ़ी तक बैठे-बैठे खाने के लिए सारी कमाई छोड़ जाने की मोह-मूढ़ता एक अनैतिक एवं हेय प्रवृत्ति मानी जायगी ।

इस दृष्टि से समाजवाद और अध्यात्मवाद एक हैं । व्यक्ति को अपनी प्रतिभा, योग्यता एवं विभूतियों का एक अनिवार्य अंश ही अपने तथा अपने परिवार के लिए खर्च करना चाहिए और यह चेष्टा होनी चाहिए कि उसकी उपलब्धियों का अधिकाधिक लाभ समाज को मिले । यही दृष्टिकोण सतयुग का आधार है । रामराज्य की स्थापना इन्हीं सत्प्रवृत्तियों पर होगी । व्यक्ति जब तक अपने संकीर्ण स्वार्थों की कीचड़ में कीड़ों की तरह कुलबुलाता रहेगा तब तक वह दिव्य वातावरण एवं स्थिर सुख-शान्ति का दर्शन करने से वंचित ही बना रहेगा । युग-परिवर्तन की

नींव परमार्थ प्रवृत्ति पर निर्भर है । अतएव हमें उसी के लिए सारा ध्यान एकत्रित करना होगा और उसी प्रकार की घटनाओं की अभिवृद्धि करने का अभियान गतिशील करना होगा ।

अगला समय यह सुनिश्चित सम्भावना साथ लेकर आ रहा है कि सम्पत्ति पर व्यक्ति का नहीं समाज का स्वामित्व होगा । जिस प्रकार राजाओं के राज्य, जागीरदारों की जागीर, जमींदारों की जमींदारी देखते-देखते चली गई, उसी प्रकार अगले दिनों व्यक्तिगत सम्पत्तियों का भी राष्ट्रीयकरण होगा । व्यक्ति उसमें से उतना ही लाभ ले सकेगा जिससे उसको औसत दर्जे के भारतीय नागरिक के स्तर पर जीवित रहने की सुविधा मिल जाय । मनुष्य अपनी प्रतिभा के अनुरूप उपार्जन तो कर सकेंगे पर उसका लाभ उसी व्यक्ति के लिए सुरक्षित नहीं रहेगा वरन् समस्त मानव जाति अपने इस सदस्य की उपलब्धियों का लाभ उठाया करेगी । मनुष्य की प्रतिभाओं का विकास जिन परिस्थितियों पर निर्भर है, वे समस्त मानव जाति की चिरसंचित थाती हैं । शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के जिन साधनों के आधार पर कोई भी व्यक्ति आगे बढ़ सकता है, वे लाखों-करोड़ों लोगों के, लाखों-करोड़ों वर्ष के अनुदान से उत्पन्न हुए हैं । इसलिए समाज को पूरा-पूरा अधिकार है कि किसी व्यक्ति के पास यदि प्रतिभा, क्षमता एवं सम्पदा है तो उसका उपयोग और उपभोग करे ।

आज यह बातें अटपटी लगती हैं । क्योंकि चिरकाल से हमारी विचार-पद्धति एवं रीति-नीति संकीर्ण स्वार्थपरता से प्रभावित होती चली आ रही है । पर अब इसे बदलना ही होगा । साम्यवादी शासन के अन्तर्गत आज लगभग आधी मनुष्य जाति ने इसी रीति-नीति को स्वीकार कर लिया है और यह देख लिया है कि व्यक्ति और समाज का स्वस्थ विकास इसी पद्धति पर निर्भर है । यही मान्यता अध्यात्मवाद की भी है । प्राचीनकाल में दान का भारी महत्त्व था । व्यक्ति के पास जैसे ही कुछ पूँजी जमा हुई कि उसने लोकमंगल के लिए उसका उत्सर्ग करने की बात सोची । इसी में व्यक्ति को सन्तोष होता था और सम्मान मिलता था । स्वार्थी, संग्रहशील, कंजूस अपनी कमाई आप ही खाते रहने वाले संकीर्ण व्यक्ति यहाँ सदा से चोर, पापी, तस्कर, हत्यारे आदि नामों से तिरस्कृत किये जाते रहे हैं । भारतीय इतिहास का पन्ना-पन्ना इसी तथ्य का साक्षी है । सम्पत्ति का उपार्जन तो व्यक्ति करते थे पर उसका अधिकाधिक अंश लोकमंगल में ही खर्च होता था । लोग अपने बच्चों के सुसंस्कारों को बनाते थे पर उनके लिये दौलत छोड़ने जैसी दुश्मनी करने की बात नहीं सोचते थे । अध्यात्मवाद का यही सुनिश्चित दृष्टिकोण है । जहाँ भी यह दृष्टिकोण कार्यान्वित होगा वहाँ पाप, शोषण, अनीति, दुष्टता के लिए कोई गुंजाइश न रहेगी । लोभ और मोह ही सामाजिक अव्यवस्था, अपराध और असन्तोष उत्पन्न करते हैं । इन दोनों को जहाँ नियन्त्रण में ले लिया गया कि सुख-शान्ति की स्वर्गीय परिस्थितियाँ उत्पन्न होने में, विश्व-शान्ति की समस्या के हल होने में फिर कोई कठिनाई शेष न रह जायगी ।

युग-परिवर्तन मूलतः मनुष्य के भावनात्मक परिवर्तन ही है । आज हमारे व्यक्तिगत जीवन को वासना और तृष्णा ने बुरी तरह आच्छादित कर लिया है । मनुष्य की अधिकांश क्षमता इन्हीं दो दुष्प्रवृत्तियों की बलिवेदी पर चढ़ती रही है । शरीर को सजाने, रंगने, मौज-मजा का आस्वादन कराने के सरंजाम एकत्र करने में अपने बहुमूल्य जीवन का बहुत बड़ा भाग खर्च किया जा रहा है । इन लिप्सा-लालसाओं की पूर्ति एक छोटी सीमा तक सम्भव करने में भी जितना श्रम-समय लगता है उसका लेखा-जोखा यदि लिया जाय तो वह एक बहुत बड़ी राशि दिखाई देगी । यदि उतने समय को अपनी ज्ञान-सम्पत्ति एवं सद्गुणों की अभिवृद्धि में लगाया गया होता, परमार्थ प्रयोजनों में, लोकमंगल के लिए खर्च किया गया होता तो स्थिति कुछ दूसरी ही होती । संसार के महान पुरुषों की पंक्ति में हम अपने को बैठा देखते ।

महामानवों के जीवनों पर गम्भीर दृष्टिपात करने से हम एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्होंने व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं को, वासनाओं को और लालसाओं को-तिलाञ्जलि दी । सादगी से जीने का व्रत लिया । जो आसानी से मिल गया उतने रूखे-सूखे में ही सन्तोष करके शरीर-यात्रा का ढर्रा चलते रहना पर्याप्त माना । यह रीति-नीति अपनाते ही मस्तिष्क में जो असंख्य कामनाओं की आग मरघट की चिताओं जैसी जलती रहती थी वह शान्त हो गई, उद्विग्नता मिट गई । स्वर्गीय जीवन का यही चिन्ह है जिसके अन्तःकरण में भौतिक कामनाएँ कुहराम नहीं मचातीं वस्तुतः वही योगी, यती और ज्ञानी है । शरीर-यात्रा के जैसे-तैसे साधन जुट जाने पर जिसे तृप्ति हो गई, समझना चाहिए कि उसने अध्यात्मवाद का सारा-तत्व ज्ञान सार रूप से हृदयंगम कर लिया, भले ही बड़े-बडे ग्रन्थ न पढ़े हों ।

भौतिक कामनाएँ शान्त हो जाने पर ओछे लोगों के लिए एक खतरा यह आता रहता है कि वे पलायनवादी, निराश, उदासीन, निष्क्रिय हो जाते हैं । साधु बाबाओं के वर्ग में ऐसे ही 'जीवित मृत' व्यक्तियों की भरमार है । यह त्याग नहीं, सन्तोष नहीं, यह तो दरिद्रता और मुमूर्षा जैसी आत्मिक अवसाद की चिन्ताजनक व्याधि है । इससे हर विवेकवान और आत्मिक प्रकाश सम्पन्न व्यक्ति बड़ी आसानी से बचा रह सकता है । गीता के १८ अध्यायों और ७०० श्लोकों में जिस कर्मयोग का प्रतिपादन है, उसमें भौतिक वासनाएँ, निकृष्ट लालसाएँ छोड़ने की बात तो है पर साथ ही यह भी प्रतिपादित किया गया है कि ऐसा व्यक्ति अपनी इस श्रम, समय तथा चिन्तन की विभूतियों को बचाकर हजार गुनी तन्मयता और तत्परता के साथ परमार्थ प्रयोजन के लिए नियोजित कर देता है ।

तृष्णा के सम्बन्ध में भी वही बात है । व्यक्तिगत संग्रह न करने का-अपरिग्रह का-व्रत लेने का अर्थ यह नहीं कि

ऐसे लोग उपार्जन के लिए पुरुषार्थ करना बन्द कर देते हैं जो उपार्जन का पुरुषार्थ बन्द करेगा वह समाज का भार बनेगा और संसार में दरिद्रता की वृद्धि करेगा । विवेकवान अध्यात्मवादी ऐसा नहीं कर सकता । वह धन, ज्ञान, स्वास्थ्य, सद्‌गुण बहुत कुछ कमाता है; निरन्तर कमाता है पर इसका लाभ अपने लिए नहीं अपने आराध्य देव-विश्व मानव के लिए लोकमंगल के लिए समर्पित करता है । धीरे-धीरे उसके यह छोटे-छोटे अनुदान मिलकर लोकमंगल का एक यशस्वी मापदण्ड बना देते हैं और उसकी कृतियों को परखने वाले उसे असीम श्रद्धा के साथ 'नर नारायण' घोषित करते हैं । तृष्णा को, नारकीय अग्नि को यदि लोकमंगल की भट्टी में डाल दिया जाय तो उस पर एक से एक बढ़िया व्यंजन पक सकते हैं ।

कुँए में पानी के छोटे-छोटे स्रोत इधर-उधर से आकर गिरते हैं और उन्हीं नगण्य-सी इकाइयों के अनुदान से बना यशस्वी कुआँ असंख्य मनुष्यों, प्राणियों, वनस्पतियों की प्यास चिरकाल तक बुझाते रहने में समर्थ होता है । कुएँ का सारा यश उन जल-धमनियों के आतमदान का प्रतिफल है । यदि वे संकीर्ण होतीं, अपना बचाव सोचतीं, अपनी सम्पत्ति को मुफ्त में देने से कतरातीं तो इस संसार में एक भी कुआँ न बन सका होता और यहाँ सब कभी के प्यास से तड़पकर अपना अस्तित्व गँवा चुके होते ।

संसार की सुख-शान्ति, समृद्धि और सुन्दरता एक यशस्वी कुएँ की तरह है, जिसे सजीव रखने के लिए कुछ जल धमनियों का उत्कृष्ट आत्माओं का-निरन्तर अनुदान मिलते रहना आवश्यक है । इन दिनों भारी दुष्काल इसी सत्प्रवृत्ति का पड़ गया है । लोग अपनी व्यक्तिगत तृष्णाओं की पूर्ति में पाँव से सिर तक डूबे पड़े हैं । दान-पुण्य एवं पूजा-पाठ के नाम पर राई-रत्ती जैसे उपकरण इस आशा मे खर्च करते हैं कि अगले ही दिनों वह लाख-करोड़ गुना होकर उन्हें मिल जायगा । अविवेकी नर-पशु इस स्तर के हों तो एक बात समझ में भी आती है पर भक्ति, ज्ञान, अध्यात्म, वेदान्त, तत्वदर्शन जैसे विषयों पर भारी माथापच्ची कर सकने में समर्थ लोग भी जब इस कसौटी पर कसे जाते हैं कि उनका अनुदान समाज के लिए क्या है ? तो उत्तर निराशाजनक ही मिलता है । ऐसा सुख ब्रह्मज्ञान भला किसी का क्या हित साधन करेगा जिसने मनुष्य के हृदय में इतनी करुणा एवं श्रद्धा उत्पन्न की कि विश्व मानव को उसके अनुदान की महती आवश्यकता है और वह उसे देना ही चाहिए ।

लोकमंगल की सर्वकल्याणकारी सत्प्रवृत्तियों से ही किसी व्यक्ति, देश, धर्म, समाज तथा संस्कृति की उत्कृष्टता नापी जा सकती है । खरे-खोटे की पहिचान इसी आधार पर होती है । हमारे देश में लोगों ने यश और वर्चस्व लूटने के लिए लोकमंगल के तमाशे जहाँ-तहाँ खड़े कर रखे हैं पर यदि यह देखा जाय कि इसमें कितने व्यक्ति अपनी उपलब्धियों का कितना बड़ा अनुपात समर्पित कर रहे हैं, तो सब कुछ खोखला ही खोखला प्रतीत होता है । लोकमंगल के नाम पर खड़े किये गये यह डेरे-तम्बू आये दिन गढ़ते-उखड़ते रहते हैं । इनसे हम मनोरंजन अथवा आत्मप्रवंचना भले ही करते रहें, कोई ठोस काम न हो सकेगा । लोकमंगल की कोई प्रकाशित किरण कहीं उदय हो रही है, यह तलाश करना हो तो संस्थाओं में ऐसे लोग ढूँढ़ने पड़ेंगे जिन्होंने अपनी व्यक्तिगत उपलब्धियों का बड़े से बड़ा अनुपात जनता-जनार्दन के चरणों में अर्पित कर दिया हो । गरीब के पास पसीना, शिक्षित के पास मस्तिष्क और धनी के पास धन की जो बचत होती है, आत्मा का, परमात्मा का, एक ही तकाजा है कि वह उसे संकीर्णता के बन्धन तोड़कर परमार्थ प्रयोजन के लिए अर्पित करें ।

जो इस तथ्य को हृदयगंम कर लेते हैं और इसी आधार पर अपनी रीति-नीति का निर्धारण करते हैं वस्तुतः वे ही इस धरती के देवता हैं । देवताओं के द्वारा ही युग-परिवर्तन जैसे महान् कार्यों की भूमिका सम्पादित होती है । मुद्दतों से देव-परम्पराएँ अवरुद्ध हुई पड़ी हैं । अब हमें अपना सारा साहस समेटकर तृष्णा और वासना की कीचड़ से बाहर निकलना होगा और वाचलता एवं विडम्बना से नहीं अपनी कृतियों से अपनी उत्कृष्टता का प्रमाण देना होगा । हमारा उदाहरण ही दूसरे अनेक लोगों को अनुकरण का साहस प्रदान करेगा । वाणी और लेखनी के माध्यम से लोगों को किसी बात की, अध्यात्मवाद की भी, जानकारी कराई जा सकती है, इससे अधिक भाषणों का कोई उपयोग नहीं । दूसरों को यदि कुछ सिखाना हो तो उसका एकमात्र तरीका अपना उदाहरण प्रस्तुत करना है । यही ठोस, वास्तविक और प्रभावशाली पद्धति है । दूसरों को बदलना हो तो सबसे पहले हमें अपने को बदलना चाहिए । दूसरों को स्वार्थपरता से विरत होकर परमार्थ पथ पर चलने की चिरस्थाई प्रेरणा देनी हो तो उसका शुभारम्भ अपनी रीति-नीति को तृष्णा और वासना के जंजाल से ऊँची उठी हुई बनाकर ही करना चाहिए ।

युग-परिवर्तन, व्यक्ति-परिवर्तन से आरम्भ होता है । 'अखण्ड-ज्योति' के प्रबुद्ध परिजनों में से प्रत्येक को हर दिन, हर घड़ी यह प्रश्न करना चाहिए कि क्या इस प्रकार का प्रकाश और उत्साह अपने भीतर उत्पन्न होने लगा है । यदि हो तो समझना चाहिए कि अपनी गणना महाकाल के देव पार्षदों में होने की पूरी-पूरी सम्भावना है । तब हम अपना ही नहीं इस विश्व-वसुन्धरा की सुरक्षा और सुन्दरता बढ़ाने का शाश्वत् श्रेय प्राप्त करेंगे ।

भावी देवासुर संग्राम और उसकी भूमिका

आदिकाल से मनुष्य एक दुर्बल प्राणी है । जिस प्रकार अन्य पशु पेट पालते, प्रजनन करते और परिस्थिति का भला-बुरा प्रभाव भोगते हुए जीवनयापन करते हैं वैसे ही मनुष्य भी अपनी जिन्दगी के दिन गुजारता, पैदा होता,

बढ़ता और मरता है । इस स्तर के हर व्यक्ति को नर-पशु कहा जा सकता है । न उसके सामने कुछ लक्ष्य, न आदर्श, न उद्देश्य, न कर्त्तव्य जैसे बने वैसे दिन गुजारने भर की बात वह सोचता है और परिस्थितियों के जुए में जुता हुआ अन्य असंख्य मरणधर्मा प्राणियों की तरह मौत के मुख में चला जाता है । जनसंख्या में लगभग आधे इसी स्तर के पाये जाते हैं ।

नर-पशुओं के जीवन में जो थोड़ा-बहुत आकर्षण है वे उनके निजी स्वार्थ का है । वे अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति, आकांक्षाओं की तुष्टि सब अभावों की निवृत्ति के लिए यत्किंचित पुरुषार्थ करते हैं जिनके सामने यह आकर्षण भी नहीं होता वे भूख, अभाव, दंड, असहयोग, तिरस्कार आदि प्रताड़ना का भय मानकर ही थोड़ा बहुत पुरुषार्थ करते हैं अन्यथा यदि इस प्रकार की बाधाएँ न हों तो उन्हें जड़-जीवन बिताने में तनिक भी संकोच न हो । जिसने इस स्तर का जीवन बिताया उन्होंने अपने प्रति एक भारी अत्याचार किया-यही मानना होगा ।

यह स्वार्थपरता जब उद्धत, उच्छृंखल, दुष्ट एवं आक्रमणकारी हो जाती है और मनुष्य किसी को भी, किसी भी प्रकार सताकर अपना लाभ उठाने एवं अहंकार पूरा करने के लिए निर्लज्जतापूर्वक कटिबद्ध हो जाता है तब उसे नर-पिशाच कहते हैं । प्राय: मोटे तौर से हत्यारे, डाकू, कसाई, आततायी, झगड़ालू, गुण्डे, निर्दय, क्रूरकर्मी आदि लोगों के लिए नर-पिशाच शब्द का प्रयोग किया जाता है पर अब उसका परिष्कृत संस्करण तैयार हो गया है; उसमें ऐसी प्रत्यक्ष दुष्टता करने, कानून की पकड़ में आने और निन्दा का पात्र बनने की जरूरत नहीं पड़ती । लोग बाहर से सज्जनता का लबादा ओढ़े रहते हैं और भीतर ही भीतर ऐसी छुरी चलाते रहते हैं जिससे असंख्यों का सर्वनाश होता है । उदाहरण के लिए-मादक द्रव्यों के उत्पादन, प्रसार एवं व्यवसाय में लगे मनुष्य बाहर से सीधे-सादे से लगते हैं पर उनका मस्तिष्क, धन तथा पुरुषार्थ कितने लोगों का, किस बुरी तरह आर्थिक, नैतिक, शारीरिक नाश करता है, इसका कोई लेखा-जोखा तैयार किया जाय तो प्रतीत होगा कि उन्होंने लाखों मनुष्यों के जीवन में दुष्प्रवृत्तियों का बीज बोकर पतन के लिए जो व्यापक पथ प्रशस्त किया, उस हानि का विवरण कितना रोमांचकारी है । ऐसे-ऐसे उदाहरण संगठित एवं व्यक्तिगत प्रयासों के भरे पड़े हैं जिनसे प्रतीत होता है कि स्वार्थपरता यदि अनियन्त्रित हो तो वह कितनी भयंकर हो सकती है । चोरी, जेबकटी के पुराने, फूहड़, गन्दे तरीके अब गँवारों के हिस्से में चले गये हैं । शिक्षित लोगों ने ऐसी तरकीबें ढूँढ़ निकाली हैं, जिससे होता वही सब कुछ है पर पता किसी को नहीं चलता । रिश्वतें अब एक दस्तूर बन गई हैं । असली में नकली की मिलावट अब हेय नहीं मानी जाती वरन उसे 'व्यापार चातुर्य' कहा जाता है । व्यक्तिगत जीवन में लोग कितने नीरस, कितने स्वार्थी, कितने विश्वासघाती और कितने निर्लज्ज हैं, इसका परिचय बाहर से तो नहीं मिलता पर उनके दाम्पत्य जीवन की, पारिवारिक सौहार्द की अथवा सम्बन्धित व्यक्तियों की अनुभूतियों का पता लगाया जाय तो इन तथाकथित सफेदपोशों की कालिमा सामने आती है, इन्हें नरपिशाच नहीं तो और क्या कहा जा सकता है ।

जन-साधारण में असुर और देव के बारे में बड़ी भ्रांत धारणाएँ जड़ जमाये बैठी हैं । असुरों के बारे में माना जाता है कि उनका मुँह काला होता है, दाँत बड़े होते हैं, पशुओं की तरह सींग उगे होते हैं । देवताओं के बारे में मान्यता है कि वे गौरवर्ण, आनन्दधाम, स्वर्ग के निवासी, भक्तों की सहायता के लिए दौड़ आने वाले होते हैं । यह वर्णन अलंकारिक है । किसी अन्तरिक्ष लोक में इस प्रकार के प्राणी पाये जाने की सम्भावना नहीं । न इस पृथ्वी पर ही ऐसे जीवों का अस्तित्व देखा जाता है, न प्राचीनकाल में था । मनुष्य की आन्तरिक अवस्थाओं के आधार पर ही ये देवदानव चित्रण आलंकारिक रूप से किया गया है । मुँह काला अर्थात् कलंक कालिमा, अपयश, निन्दा से आच्छादित घृणित जीवन । बड़े दाँत, अर्थात् अधिक खाने, अधिक समेटने, अधिक भोगने की दुष्प्रवृत्ति । सींग अर्थात् दूसरे के साथ दुष्टता का बरताव करने की, सताने, टोंचने, मर्माहत करने की आदत । यह दुर्गुण जिस भी मनुष्य में हों, उसे असुर कहना चाहिए । भले ही वह रंग का गौरवर्ण, रूपवान ही क्यों न हो । इसी प्रकार जिनमें उदारता, संयम, परमार्थ जैसी सत्प्रवृत्ति बढ़ी-चढ़ी हों उन्हें देव कहना चाहिए । देव सदा पूजे जाते हैं उनका यश गाया जाता है, उनके सेवापूर्ण कर्तृत्व से असंख्य प्राणियों के शोक-सन्ताप में कमी होती है । यह विभाजन आज भी आत्म-निरीक्षण करने वाले को यह बता सकता है कि वह असुर है या देव । उनका समय, श्रम, धन, चिन्तन कितना स्वार्थ सँजोने में लगता है, कितना परमार्थ प्रयोजन में; इसका लेखा-जोखा हम स्वयं ही तैयार कर सकते हैं, क्योंकि बाहर वालों को असलियत मालूम नहीं होती । हमारी अन्तरंग स्थिति ही हमें देव अथवा असुर वर्ग की पंक्ति में बैठा सकती है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि परिवर्तन की भावी घड़ियों में हमें महाकाल के पैरों से कुचले जाने का दण्ड भोगना है अथवा ईश्वरीय प्रयोजन की पूर्ति में संलग्न पार्षदों की पंक्ति में खड़े होकर विजय का वरण करना होगा ।

नर-पशुओं और नर-पिशाचों का बाहुल्य जब कभी भी संसार में होगा तो विपत्तियाँ आयेंगी और अगणित प्रकार की विभीषिकाएँ उत्पन्न होंगी । यह अभिवृद्धि जब चिन्ताजनक स्तर तक पहुँच जाती है, तब ईश्वर की इस परमप्रिय सृष्टि के लिए सर्वनाश का खतरा उत्पन्न हो जाता है । इसी को बचाने के लिए उन्हें हस्तक्षेप करना पड़ता है-अवतार लेना पड़ता है । गीता में इसी तथ्य का भगवान ने स्पष्टीकरण किया है-"जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की अभिवृद्धि होती है तब साधुता का संरक्षण और दुष्टता का उन्मूलन करने के लिए मैं आत्मा का सृजन करता हूँ ।"

अनैतिकता की दुरभिसन्धि का उन्मूलन करने के लिए एक व्यक्ति नहीं वरन् एक वर्ग ही समर्थ हो सकता है । इसलिये इन विषम परिस्थितियों में सदा ही एक ऐसे वर्ग को सतेज होना पड़ता है, जिसे अध्यात्म भाषा में देव अथवा नर-नाराण और बोलचाल की भाषा में परमार्थपरायण, सज्जन, महापुरुष, नररत्न आदि कहते हैं । इस वर्ग का अस्तित्व सदा बना रहता है । पृथ्वी धर्मात्माओं, सज्जनों, परमार्थियों और ईश्वर-भक्तों से कभी रहित नहीं होती । पर देखा यह जाता है कि असुरता की बाढ़ में यह देवत्व शिथिल पड़ जाता है । ग्रीष्म के आतप से जैसे दूब-घास जल जाती है उसी प्रकार प्रोत्साहन न मिलने के कारण देवत्व की प्रवृत्ति भी सूख जाती है किन्तु जब भी सन्तुलन को स्थापित करने के लिए महाकाल का अभियान आरम्भ होता है तो यह विशृंखलित, मूर्छित एवं उपेक्षित देव-श्रद्धा वर्षा के जल से हरी दूब की तरह पुनः सजीव होकर अपना अस्तित्व सिद्ध करने लगती है ।

असुरता के अभिवर्द्धन को नियन्त्रित करने के लिए समय-समय पर देवत्व को सक्रिय एवं संघर्षरत होना पड़ा है । पौराणिक उपाख्यानों में इस तथ्य का पन्ने-पन्ने पर प्रतिपादन है । १८ पुराणों और १८ उपपुराणों में देवासुर संग्राम की सहस्रों कथाएँ विद्यमान हैं । छल-बल में असुर तगड़े पड़ते हैं , फिर भी ईश्वरीय सहायता देव-वर्ग को मिलती है और अन्ततः वही जीतता है । असुरता को हर इतिहास में पराजय का ही मुँह देखना पड़ा है । दुष्टता के पास छल-बल से एकत्रित साधन बहुत होते हैं इसलिए कुछ उसका आतंक ऐसा छाया रहता है कि सर्वसाधारण को प्रतिरोध का साहस नहीं होता । किन्तु यह स्थिति देर तक नहीं रहती, सृष्टि का सन्तुलन न बिगड़ने देने में सतर्क भगवान यथासमय देव-वर्ग को सजग करते हैं-उसमें प्राण फूँकते हैं और देखते-देखते सामान्य प्रतीत होने वाले मनुष्य असामान्य उत्कृष्टता की भूमिका प्रस्तुत करने लगते हैं; निराशा, आशा में बदल जाती है । इन दिनों भी यही सब कुछ होने जा रहा है, पौराणिक देवासुर संग्राम की महती शृंखला में एक कड़ी अब और भी जुड़ने वाली है । अगले ही दिनों एक ऐसा बवंडर सामने आने वाला है जिससे असुरता का उन्मूलन और देवत्व का अभिवर्द्धन जो आज असम्भव लगता है कल की बदली हुई परिस्थितियों में पूर्ण सम्भव दीखने लगेगा ।

नर-पशुओं को भी यों असुरों में ही गिना जाता है, क्योंकि वे उपद्रव की शक्ति न रखते हुए चलते अशिष्टता की राह पर हैं । मनुष्य-जीवन के कुछ कर्त्तव्य हैं और कुछ उत्तरदायित्व हैं, उन्हें पूरा न करके जानवरों की तरह पेट पालने और प्रजनन करने वाली नीति को अपनाये रहना मानवता को कलंकित करना है । नियन्त्रण के अभाव में पशुता के जितने कदम आगे बढ़ते हैं वे कुमार्ग की ओर ही होते हैं । इसलिए इस वर्ग की गणना भी धरती के बोझ-वर्ग में ही की जाती है ।

नर-पिशाच और नर-पशु दोनों मिलकर एक असुर-वर्ग बनता है और यही संसार में सब प्रकार के संकट उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी है, जिस प्रकार नगर भर की गन्दगी को स्वच्छ करने का पवित्र उत्तरदायित्व हरिजन वर्ग उठाता है उसी प्रकार असुरता के द्वारा उत्पन्न की गई समस्त विकृतियों और विपत्तियों के निराकरण करने का भार-देव वर्ग पर रहता है । इस कार्य को यों वे सदा ही करते रहते हैं, न करें तो पाप के पहाड़ जमा हो जायें और दस-बीस वर्ष में ही यह दुनिया रहने के लायक न रहे पर इस सफाई की भारी आवश्यकता तब युद्ध-स्तर पर करनी पड़ती है जब नगर में हैजा, प्लेग, चेचक, मलेरिया जैसे संक्रामक रोग फैलने का खतरा प्रस्तुत होता है । उन दिनों तो चौगुने-सौगुने उत्साह से यह सफाई का कार्य पूरा किया जाता है । सेना के प्रहरी यों सदा ही सतर्क रहते हैं पर जब कभी शत्रु के आक्रमण का खतरा सम्मुख होता है तब सीमा-रक्षक सैनिकों को चौगुनी-सौगुनी सतर्कता और जिम्मेदारी का परिचय देना पड़ता है । इन दिनों हैजा फैलने और शत्रु के आक्रमण से भी भयंकर खतरा मानव-समाज के सम्मुख उपस्थित है । असुरता के उपदेश की प्रतिक्रिया ने संसार के कोने-कोने में कुहराम उत्पन्न किया है । इस अवांछनीय स्थिति का निराकरण करने की जिम्मेदारी देव-वर्ग की ही है, उन्हें ही उठानी होगी । अनादि काल से यही होता चला आया है । असुरता के उपद्रवों का समाधान करने के लिए देवता सज-धज के साथ मैदान में आते रहे । इसी के फल से देवासुर संग्राम हुए हैं और अनन्तः ईश्वरीय संरक्षण में देवताओं की विजय के साथ "परित्राणाय साधूनां विनाशाया च दुष्कृताम्" का प्रयोजन पूर्ण ही हुआ है, यही सब फिर होने जा रहा है ।

असुरता तब बढ़ती है जब उसकी प्रतिरोधी दैवी प्रकृति शिथिल पड़ जाती है । रात्रि तब आती है जब सूर्य अस्त हो जाता है । जहाँ प्रकाश होगा वहाँ अन्धकार कहाँ टिक सकेगा । इसी प्रकार आदर्शवादी उत्कृष्ट भावनाएँ जब मनुष्यों के भीतर तीव्र लहरें उठाती रहती हैं तब असुरता को पैर टिकाने का अवसर नहीं मिलता । पशुता के लिए कोई अवसर नहीं रहता । देवत्व को प्रबल परिपुष्ट बनाने से वह वातावरण स्वतः तैयार होता है जो असुरता का उन्मूलन करके रख दे । इसमें संघर्ष के अवसर भी आते हैं । चींटी के मरते समय ही पर उगते हैं, तब वह दीपक को बुझाने के लिए उस पर आक्रमण करती है और इस दुष्प्रयत्न में स्वयं ही जल मरती है । देवत्व के प्रबल परिपुष्ट होने पर आसुरी तत्व भी ऐसे ही

यही रहा है कि प्रयत्नकर्त्ता यह भूलते रहे हैं कि जिस बात की जानकारी न हो उसे लेखनी, वाणी से जताया जा सकता है पर जिसे जानते तो हैं पर मानते नहीं उसे मनवाने के लिए कुछ अधिक ऊँचे एवं अधिक शक्तिशाली माध्यम अपनाने की आवश्यकता है । सर्वसाधारण को दया, धर्म, सदाचार, संयम, भक्ति आदि का महत्त्व-महात्म्य मालुम न हो या वे उसे अस्वीकार करते हों ऐसी बात नहीं । वे दूसरों को उपदेश भी इन बातों का देते हैं, पर कठिनाई यह है कि स्वयं उस पर चल नहीं पाते । यह असमर्थता और दुर्बलता उनके शरीर, मन आदि की नहीं वरन् अन्तःकरण की है, इसलिए उपचार भी उसी दुर्बल अंग का किया जाना चाहिए । गुर्दे की बीमारी पैरों में तेल लगाने से दूर नहीं हो सकती । जो व्यथित अंग हैं उस तक उपचार का प्रभाव पहुँचे तब कुछ काम चले । लेखनी और वाणी जो घिसे-पिटे शब्दों में पेशेवर लोगों द्वारा प्रस्तुत की जाती है, मस्तिष्क तक एक छोटी लहर पहुँचा कर वायुमंडल में तिरोहित हो जाती है । देखा जाता है कि घिसे-पिटे प्रचारात्मक प्रयत्न मानवीय अन्तःकरण को वासना, तृष्णा के आकर्षणों से विरतकर पवित्रता और परमार्थ की दिव्य-ज्योति उत्पन्न करने में प्रायः असफल ही रहते हैं ।

हममें से अनेक ने सद्भावनापूर्वक कितने ही सुधारात्मक प्रयत्न आरम्भ किये हैं पर उनका स्तर उथला था, साधन हलके थे, इसलिए थोड़ी-सी छटा दिखा करके वे और उनका प्रतिफल भी अन्तर्ध्यान होता रहा । समस्त मानव समाज में एक व्यापक और सशक्त हलचल उत्पन्न कर सकने की-पतन के प्रचण्ड-प्रवाह को पलट सकने की क्षमता केवल उच्चस्तरीय आध्यात्मिक प्रयोगों से ही होती है और उनका जब कभी भी ठीक तरह प्रयोग हुआ है, अभीष्ट परिणाम भी सामने आया है । इस स्तर के प्रयोग कभी असफल नहीं हो सकते ।

भारत के वर्चस्व का इतिहास उसके आत्मबल की सफलता का उद्बोधन है; चिरअतीत में हमारे महान ऋषि ही इस देश की महान परम्पराओं के निर्माता रहे हैं ।
...के पास भौतिक साधन कम थे पर आत्मबल इतना
था कि वे जनसमूह को अपने भावना-प्रवाह में
...समय में उसी प्रकार बहा ले चलते थे, जिस
...े बहती हुई नदियाँ तिनकों को अपने
...लिए विवश कर देती हैं । कीचड़ में
...कों की चेष्टा भी उबार नहीं
युक्तिपूर्वक मजबूत रस्सों की
...हैं । आन्तरिक दुर्बलता का
द्वारा ही पूरा किया जा
...। चूँकि वे स्वयं प्रकाश
... क्षेत्र को प्रकाशित
...स देश के निवासी जिन
भावनाओं से प्रभावित
। बिखरा पड़ा था, हर

मनुष्य के भीतर देवत्व झाँकता था और उस लाभ की लोभ-लालसा से समस्त विश्व के लोग भारतवासियों का मार्गदर्शन, सहयोग एवं प्रकाश पाने के लिए लालायित रहते थे । इन्हीं विशेषताओं के कारण, भारतीय संस्कृति समस्त विश्व का सर्वोपरि आकर्षण बनी हुई थी ।

प्रकाश स्तम्भों के बुझ जाने पर अन्धकार फैल जाना स्वाभाविक है । जैसे-जैसे उच्च आत्मबल सम्पन्न हस्तियाँ घटती गईं वैसे-वैसे जन-मानस की उत्कृष्टता भी गिरती गई । इस गिरावट को ओछे लोग, ओछे प्रचारात्मक साधनों से रोक नहीं सकते थे और वे रोक भी नहीं सके । हम अपने लम्बे इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो उस आत्मबल सम्पन्न आत्माओं के अवतरण अवसाद के साथ-साथ जन-मानस का उत्थान-पतन भी जुड़ा हुआ देखते हैं । जिन दिनों महापुरुष जन्मे उन दिनों कोई भी युग वर्त रहा हो सतयुग का वातावरण उत्पन्न हुआ है । भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, गाँधी आदि की धारा में कोटि-कोटि लोग प्रभावित और प्रवाहित हुए । समर्थ गुरु रामदास, गुरु गोविन्दसिंह आदि की प्रेरणा से लोगों ने एक-से एक बढ़े-चढ़े त्याग, बलिदान प्रस्तुत करने में प्रतिस्पर्धा उपस्थित कर दी । अभी कल-परसों गाँधी की आँधी में लाखों लोगों ने जिस आदर्शवादिता का परिचय दिया उससे यह मान्यता सार्थक सिद्ध हुई है कि उच्चस्तरीय, आत्म-बल सम्पन्न आत्माएँ ही जन-मानस की दिशा बदल देने में समर्थ हो सकती हैं, मामूली प्रचार साधन उपयोगी तो हैं पर उतने भर से इस दिशा में कोई प्रभावी परिणाम नहीं हो सकता ।

भावी नव-निर्माण में अध्यात्म को ही प्रमुख भूमिका सम्पन्न करनी पड़ेगी । प्रभातकाल की शुभ सूचना लाने वाली ऊषा के साथ-साथ और प्रयास आरम्भ भी हो गये हैं । श्री रामकृष्ण परमहंस और योगी अरविन्द की तपश्चर्या का यदि कोई रहस्योद्घाटन कर सके तो उसे लगेगा कि पिछली शताब्दी की सारी राजनैतिक और सुधारात्मक चेतनाओं का सूत्र-संचालन इन दो दिव्य आत्माओं ने किया, कठपुतली कितनी ही पर्दे पर आती जाती रहीं और उनके विभिन्न अभिनय लोगों में उत्साह उत्पन्न करते रहे पर उनके सूत्र इन आत्मबल के धनी महामानवों द्वारा ही संचालित होते रहे । भारत का हजार वर्ष की गुलामी से मुक्त होना और कतिपय सुधारात्मक चेतनाओं का उद्भव, अपने सामने इस शताब्दी की दो महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं । इनका प्रत्यक्ष श्रेय किनको मिला, किनको नहीं मिला, इस विवाद में पड़ने से बचकर हमें यह जान ही लेना चाहिए कि इस महान जागरण के पीछे कुछ विशिष्ट अविदित रहस्यमय आध्यात्मिक शक्तियाँ भी काम कर रही थीं । आगे जो महान कार्य फैला पड़ा है, नये युग का जो नया निर्माण होने वाला है उसमें भी अध्यात्म को, अध्यात्म-बल सम्पन्न उच्चस्तरीय महामानवों की प्रधान भूमिका होगी । प्रत्यक्ष श्रेय भले ही किन्हीं को इतिहासकार देते रहें ।

आक्रामक बनते हैं और अन्ततः अपनी कुचेष्टाओं के फलस्वरूप विनाश के गर्त में गिरकर नष्ट हो जाते हैं ।

देवत्व का जागरण और पोषण करने की तैयारी ही वह प्रयत्न है जिसके फलस्वरूप वर्तमान असुर-अन्धकार का निराकरण होगा । परिपुष्ट देवत्व से वह व्यापक प्रभाव उत्पन्न होगा जिससे प्रभावित होकर लोग पशुता और पिशाच वृत्ति का दुष्परिणाम समझ सकने योग्य विवेक एवं दुष्प्रवृत्तियों को त्याग सकने योग्य साहस कर सकें । देवत्व की बढ़ी हुई प्रखरता मानवीय मन पर आच्छादित समस्त कषाय-कल्मषों को धोकर रख देगी और यही आज नरक बनी हुई धरती कल स्वर्गीय सुख-शान्ति से सुसज्जित होगी ।

अगले दिनों देवासुर संग्राम होने वाला है उसमें मनुष्य और मनुष्य आपस में नहीं लड़ेंगे वरन् आसुरी और दैवी प्रवृत्तियों में जमकर अपने-अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष होगा । असुरता अपने पैर जमाये रहने के लिए और देवत्व अपनी स्वर्ग सम्भावनाएँ चरितार्थ करने के लिए भरसक चेष्टा करेंगे । इस विचार-संघर्ष में देवत्व के विजयी हो जाने पर वे परिस्थितियाँ उत्पन्न होंगी, जिनमें हर व्यक्ति को उचित न्याय, स्वातन्त्र्य, उल्लास, साधन और सन्तोष प्राप्त हो सके ।

असुरता इन दिनों अपने पूर्ण विकास पर है । देवत्व सुषुप्त और विशृंखलित पड़ा है । आवश्यकता इस बात की है कि देवत्व जगे, संगठित हो तो युग की आवश्यकता एवं ईश्वरीय आकांक्षा की पूर्ति के लिए कटिबद्ध हो । जिन आत्माओं में दैवी प्रकाश का आवश्यक अंश विद्यमान है उनकी अन्तरात्मा में युग की पुकार सुनने और अपने पुनीत कर्त्तव्य की दिशा में अग्रसर होने की अन्तःपुकार उठ रही है, पर अभी वह इतनी धीमी है कि प्रोत्साहन की आवश्यकता अनुभव की जा रही है । युग निर्माण योजना के अन्तर्गत यही कार्य पूरा किया जा रहा है ।

आशा करनी चाहिए कि वह दिन हम लोग अपनी इन्हीं आँखों में इसी जीवन में देखेंगे जबकि अगणित देव-प्रवृत्ति के व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थों को तिलाञ्जलि देकर विश्व के नवनिर्माण में ऐतिहासिक महापुरुषों की तरह प्रवृत्त होंगे और इन दिनों जिस पशुता एवं पैशाचिक-प्रवृत्ति ने लोक-मानस पर अपनी काली चादर बिछा रखी है, उसे तिरोहित करेंगे । अनाचार का अन्त होगा और हर व्यक्ति अपने चारों ओर प्रेम, सौजन्य, सद्भाव, सहयोग, न्याय, उल्लास, सुविधा एवं सज्जनता से भरा सुख-शांति पूर्ण वातावरण अनुभव करेगा ।

उस शुभ दिन को लाने का उत्तरदायित्व देव वर्ग का है; उसी को जगना है, उसी को संगठित होना है । उसी को अविवेक के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर होना है । वे जितने कम समय में अपना उत्तरदायित्व वहन करने को तत्पर हो सकें, उतना ही शीघ्र नवयुग का स्वर्णिम प्रभात उदय होते हुए हम देखेंगे और धन्य होंगे ।

भावनात्मक परिवर्तन का एकमात्र प्रयोग : साधन

मनुष्य शरीर में प्रसुप्त देवत्व का जागरण करना ही आज की सबसे बड़ी ईश्वर पूजा है । युग धर्म इसी के लिए प्रबुद्ध आत्माओं का आह्वान कर रहा है । नवयुग निर्माण की आधारशिला यही है । जिस असुरता की दुष्प्रवृत्तियों ने संसार को दुःख-दारिद्रय भरा नरक बनाया, जिस अविवेक ने परमात्मा के पुत्र आत्मा को निकृष्टतम कीड़े से गये-गुजरे स्तर पर ला पटका, उसका उन्मूलन देवत्व के अभिवर्द्धन से ही होना है । अन्धकार को मिटाने के लिए प्रकाश उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । मनुष्य की आन्तरिक संकीर्णता एवं अविवेकग्रस्त स्थिति का अन्त किये बिना उज्ज्वल भविष्य की आशा अन्य किसी प्रकार नहीं की जा सकती । धन वैभव बढ़ने से नहीं, सद्भाव बढ़ने से मानवीय गौरव का पुनरुत्थान सम्भव होगा ।

इस महान कार्य को भौतिक स्तर पर किये गये उथले क्रिया-कलापों द्वारा सम्पन्न नहीं किया जा सकता । इसके लिए अधिक गहराई में उतरना होगा और उस स्तर पर प्रयत्न करना होगा जहाँ से मानवीय अन्तःकरण को स्पर्श एवं प्रभावित किया जा सके । अध्यात्म ही वह आधार हो सकता है । मनुष्य की प्रकृति को बदलने और गतिविधियों को उलटने का कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तभी होगा जब उसका अन्तःकरण बदले और *अन्तःकरण* का परिवर्तन मात्र भौतिक साधनों एवं प्रयत्नों से सम्पन्न नहीं हो सकता । रक्त-वाहिनी नाड़ियों में कोई औषधि प्रवेश करने के लिए इन्जेक्शन की सुई ही उपयुक्त होती है, इसी प्रकार मानवीय अन्तःकरण को प्रभावित करने की प्रक्रिया आध्यात्मिक भावनाओं और साधनाओं के माध्यम से ही सम्पन्न की जाती है ।

यों चाहते सभी हैं कि समाज मे फैली हुई बुराइयाँ दूर हों और व्यक्ति अधिक ईमानदार बनें । इसके लिए वही दो मोटे उपकरण सूझ पड़ते हैं, जो आमतौर से अन्य जानकारियाँ बढ़ाने के लिए काम में लाये जाते हैं-लेखनी और वाणी । इन्हीं दो साधनों से स्कूलों में बच्चों को हिसाब, भूगोल, इतिहास आदि की शिक्षा दी जाती है । कृषि, शिल्प, स्वास्थ्य आदि विषयों की जानकारी भी आम-तौर से इन्हीं माध्यमों से मिलती है । नेता लोग कोई आन्दोलन भी इन्हीं साधनों से चलाते हैं । प्रचार आज का एक शक्तिशाली साधन माना जाता है । जन-साधारण को अभीष्ट दिशा में मोड़ने के लिए, विज्ञापनबाज व्यापारियों से लेकर धर्मोपदेशक और राज-नेताओं तक इन्हीं दो साधनों को काम में लाते हैं ।

पिछले बहुत दिनों से मानवीय प्रवृत्ति को पतन से उत्थान की ओर मोड़ने के लिए कुछ प्रयत्न छुट-पुट आन्दोलन के रूप में चलते रहे हैं । उनका थोड़ा बहुत प्रभाव भी देखा है पर वह या उतना ही नगण्य जिसके आधार पर कोई बड़ी आशा नहीं की जा सकती । कारण

यही रहा है कि प्रयत्नकर्त्ता यह भूलते रहे हैं कि जिस बात की जानकारी न हो उसे लेखनी, वाणी से जताया जा सकता है पर जिसे जानते तो हैं पर मानते नहीं उसे मनवाने के लिए कुछ अधिक ऊँचे एवं अधिक शक्तिशाली माध्यम अपनाने की आवश्यकता है । सर्वसाधारण को दया, धर्म, सदाचार, संयम, भक्ति आदि का महत्त्व-महात्म्य मालुम न हो या वे उसे अस्वीकार करते हों ऐसी बात नहीं । वे दूसरों को उपदेश भी इन बातों का देते हैं, पर कठिनाई यह है कि स्वयं उस पर चल नहीं पाते । यह असमर्थता और दुर्बलता उनके शरीर, मन आदि की नहीं वरन् अन्तःकरण की है, इसलिए उपचार भी उसी दुर्बल अंग का किया जाना चाहिए । गुर्दे की बीमारी पैरों में तेल लगाने से दूर नहीं हो सकती । जो व्यथित अंग हैं उस तक उपचार का प्रभाव पहुँचे तब कुछ काम चले । लेखनी और वाणी जो घिसे-पिटे शब्दों में पेशेवर लोगों द्वारा प्रस्तुत की जाती है, मस्तिष्क तक एक छोटी लहर पहुँचा कर वायुमंडल में तिरोहित हो जाती है । देखा जाता है कि घिसे-पिटे प्रचारात्मक प्रयत्न मानवीय अन्तःकरण को वासना, तृष्णा के आकर्षणों से विरतकर पवित्रता और परमार्थ की दिव्य-ज्योति उत्पन्न करने में प्रायः असफल ही रहते हैं ।

हममें से अनेक ने सद्भावनापूर्वक कितने ही सुधारात्मक प्रयत्न आरम्भ किये हैं पर उनका स्तर उथला था, साधन हलके थे, इसलिए थोड़ी-सी छटा दिखा करके वे और उनका प्रतिफल भी अन्तर्ध्यान होता रहा । समस्त मानव समाज में एक व्यापक और सशक्त हलचल उत्पन्न कर सकने की-पतन के प्रचण्ड-प्रवाह को पलट सकने की क्षमता केवल उच्चस्तरीय आध्यात्मिक प्रयोगों से ही होती है और उनका जब कभी भी ठीक तरह प्रयोग हुआ है, अभीष्ट परिणाम भी सामने आया है । इस स्तर के प्रयोग कभी असफल नहीं हो सकते ।

भारत के वर्चस्व का इतिहास उसके आत्मबल की सफलता का उद्बोधन है; चिरअतीत में हमारे महान ऋषि ही इस देश की महान परम्पराओं के निर्माता रहे हैं । उनके पास भौतिक साधन कम थे पर आत्मबल इतना प्रचण्ड था कि वे जनसमूह को अपने भावना-प्रवाह में एक निर्धारित समय में उसी प्रकार बहा ले चलते थे, जिस प्रकार प्रबल वेग से बहती हुई नदियाँ तिनकों को अपने साथ बहते चलने के लिए विवश कर देती हैं । कीचड़ में फँसे हाथी को सहस्रों मेंढकों की चेष्टा भी उबार नहीं पाती, उसे समर्थ हाथी ही युक्तिपूर्वक मजबूत रस्सों की सहायता से बाहर निकाल पाते हैं । आन्तरिक दुर्बलता का अभाव आत्मबल सम्पन्न लोगों द्वारा ही पूरा किया जा सकता है, ऋषियों ने यही किया । चूँकि वे स्वयं प्रकाशवान थे, इसलिए उन्होंने अपने समस्त क्षेत्र को प्रकाशित कर दिया । कहना न होगा कि इस देश के निवासी जिन दिनों आध्यात्मिक मान्यताओं और भावनाओं से प्रभावित थे, उन दिनों इस धरती पर स्वर्ग बिखरा पड़ा था, हर मनुष्य के भीतर देवत्व झाँकता था और उस लाभ की लोभ-लालसा से समस्त विश्व के लोग भारतवासियों का मार्गदर्शन, सहयोग एवं प्रकाश पाने के लिए लालायित रहते थे । इन्हीं विशेषताओं के कारण, भारतीय संस्कृति समस्त विश्व का सर्वोपरि आकर्षण बनी हुई थी ।

प्रकाश स्तम्भों के बुझ जाने पर अन्धकार फैल जाना स्वाभाविक है । जैसे-जैसे उच्च आत्मबल सम्पन्न हस्तियाँ घटती गईं वैसे-वैसे जन-मानस की उत्कृष्टता भी गिरती गई । इस गिरावट को ओछे लोग, ओछे प्रचारात्मक साधनों से रोक नहीं सकते थे और वे रोक भी नहीं सके । हम अपने लम्बे इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो उस आत्मबल सम्पन्न आत्माओं के अवतरण अवसाद के साथ-साथ जन-मानस का उत्थान-पतन भी जुड़ा हुआ देखते हैं । जिन दिनों महापुरुष जन्मे उन दिनों कोई भी युग वर्त रहा हो सतयुग का वातावरण उत्पन्न हुआ है । भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शंकराचार्य, गाँधी आदि की धारा में कोटि-कोटि लोग प्रभावित और प्रवाहित हुए । समर्थ गुरु रामदास, गुरु गोविन्दसिंह आदि की प्रेरणा से लोगों ने एक-से एक बढ़े-चढ़े त्याग, बलिदान प्रस्तुत करने में प्रतिस्पर्धा उपस्थित कर दी । अभी कल-परसों गाँधी की आँधी में लाखों लोगों ने जिस आदर्शवादिता का परिचय दिया उससे यह मान्यता सार्थक सिद्ध हुई है कि उच्चस्तरीय, आत्म-बल सम्पन्न आत्माएँ ही जन-मानस की दिशा बदल देने में समर्थ हो सकती हैं, मामूली प्रचार साधन उपयोगी तो हैं पर उतने भर से इस दिशा में कोई प्रभावी परिणाम नहीं हो सकता ।

भावी नव-निर्माण में अध्यात्म को ही प्रमुख भूमिका सम्पन्न करनी पड़ेगी । प्रभातकाल की शुभ सूचना लाने वाली ऊषा के साथ-साथ और प्रयास आरम्भ भी हो गये हैं । श्री रामकृष्ण परमहंस और योगी अरविन्द की तपश्चर्या का यदि कोई रहस्योद्घाटन कर सके तो उसे लगेगा कि पिछली शताब्दी की सारी राजनैतिक और सुधारात्मक चेतनाओं का सूत्र-संचालन इन दो दिव्य आत्माओं ने किया, कठपुतली कितनी ही पर्दे पर आती जाती रहीं और उनके विभिन्न अभिनय लोगों में उत्साह उत्पन्न करते रहे पर उनके सूत्र इन आत्मबल के धनी महामानवों द्वारा ही संचालित होते रहे । भारत का हजार वर्ष की गुलामी से मुक्त होना और कतिपय सुधारात्मक चेतनाओं का उद्भव, अपने सामने इस शताब्दी की दो महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं । इनका प्रत्यक्ष श्रेय किनको मिला, किनको नहीं मिला, इस विवाद में पड़ने से बचकर हमें यह जान ही लेना चाहिए कि इस महान जागरण के पीछे कुछ विशिष्ट अविदित रहस्यमय आध्यात्मिक शक्तियाँ भी काम कर रही थीं । आगे जो महान कार्य फैला पड़ा है, नये युग का जो नया निर्माण होने वाला है उसमें भी अध्यात्म को, अध्यात्म-बल सम्पन्न उच्चस्तरीय महामानवों की प्रधान भूमिका होगी । प्रत्यक्ष श्रेय भले ही किन्हीं को इतिहासकार देते रहें ।

विश्व का भावी नव-निर्माण मानवीय उत्कृष्टता के अभिवर्द्धन पर अवलम्बित होगा । इसके लिए प्रेरक केन्द्र कोई भी क्यों न हो, उसे सहस्रों सहयोगियों की आवश्यकता पड़ेगी । वे भले ही ऊँची योग्यताओं के न हों पर आत्मिक उत्कृष्टता की विशेषता तो अनिवार्य रूप से होनी ही चाहिए । इन दिनों उत्पादन को सबसे बड़ा कार्य माना जाना चाहिए ।

पूर्व जन्मों की अनुपम आत्मिक सम्पत्ति जिनके पास संग्रहीत है, ऐसी कितनी ही आत्माएँ इस समय मौजूद हैं; पिछले कुछ समय से अनुपयुक्त परिस्थितियों में पड़े रहने से इन फौलादी तलवारों पर जंग लग गई है, इस जंग को छुड़ाने की प्रक्रिया युग निर्माण योजना के प्रस्तुत कार्यक्रमों के अन्तर्गत चल रही है । आशा करनी चाहिए कि अगले तीन वर्षों में यह प्रयोजन पूर्ण कर लिया जायगा । इन दिनों जो व्यक्ति बिलकुल साधारण स्तर के दिखाई पड़ते हैं और जिनसे किसी बड़े काम की सम्भावना नहीं मानी जा सकती, ऐसे कितने ही व्यक्ति असाधारण प्रतिभा और क्षमता लेकर कार्यक्षेत्र में उतरेंगे और नव-निर्माण का महान् कार्य जो आज एक स्वप्न मात्र दिखाई पड़ता है, कल मूर्तिमान सच्चाई के रूप में प्रस्तुत करते परिलक्षित होंगे ।

मनुष्य के आवरण के भीतर प्रसुप्त स्थिति में एक प्रबल देवत्व विद्यमान है । इसे जगाया जा सके तो फिर असम्भव जैसी कोई बात शेष नहीं रहेगी । देवत्व के जागरण का हमारा वर्तमान अभियान संसार का भावनात्मक नवनिर्माण करने में सफल होकर रहेगा, क्योंकि उसका आधार उथले, ओछे प्रचार उपकरण नहीं वरन् आत्म-शक्ति के वही प्रयोग होंगे जो समय-समय पर असंख्य बार सफल होते रहे हैं ।

युग परिवर्तनकारी शिक्षा और उसकी रूपरेखा

व्यक्ति और समाज का भावनात्मक कायाकल्प करने के लिए हमें रचनात्मक और संघर्षात्मक मोर्चे खोलने पड़ेंगे । रचनात्मक कार्यों में शिक्षा और कला दो क्षेत्र ऐसे हैं जिन्हें विनाश की दिशा से मोड़कर विकास के लिए प्रयुक्त किया जाता है । हमें एक समान शिक्षा संगठन खड़ा करना है । जिसमें नौकरी दिलाने वाले प्रमाणपत्र ही न मिल सकेंगे पर इतनी प्रतिभा जरूर उत्पन्न कर दी जायगी जो दूसरे अनेक को नौकर रख सकें । जीवन जीने की कला और समाज के समग्र पुनरुत्थान की प्रक्रिया इस प्रशिक्षण की आधारशिला होगी । बिना आवश्यक भार ढोये हर शिक्षार्थी अपने काम आने वाली भौतिक जानकारियाँ प्राप्त कर ले और कृषि, पशुपालन, शिल्प आदि के माध्यम से अपनी आजीविका स्वयं कमा ले और इतना शिक्षण अनिवार्य रूप से दिया जायगा । साथ ही, यह भी ध्यान रखा जायगा कि समय उतना ही लिया जाय जितना नितान्त आवश्यक है । व्यर्थ के बड़े-बड़े पौधे कटाकर दिमाग की उपयोगी शक्ति को नष्ट होने से बचाया जाय और न्यूनतम समय में अधिक से अधिक सिखा देने का प्रयत्न किया जायगा । आरम्भिक बाल कक्षाओं से लेकर-वयोवृद्धों तक के-श्रमिक मजदूरों से लेकर वयस्क महिलाओं तक के लिए उनकी सुविधा के समय रात्रि पाठ शालाएँ, प्रौढ़ पाठशालाएँ, बाल-मन्दिर, स्वाध्याय मंडल, क्लब आदि के गठन की एक सुव्यवस्थित योजना हमारे दिमाग में है, इन दिनों उसकी झाँकी भर करा रहे हैं ।

अगले दिनों एक ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना करेंगे जो गैर सरकारी-जनस्तर का होते हुए भी उस अभाव की पूर्ति करेगा जो सरकार नहीं कर सके । सरकारी शिक्षा पद्धति बदली जाय यह गाते फिरने का अरण्यरोदन निरर्थक है । ये अपना काम अपनी अक्ल से, अपने ढंग से करेंगे । हम जनस्तर पर एक विशाल शिक्षा योजना खड़ी करेंगे और जन-सहयोग के आधार पर उसे इतनी ऊँची उठा देंगे कि सत्ता को उनका अनुकरण करना उचित एवं आवश्यक अनुभव होने लगे । यह शिक्षा नया व्यक्ति, नया समाज, नया युग विनिर्मित करने में अति महत्त्वपूर्ण भूमिका का सम्पादन करेगी ।

भौतिक मन पर सबसे अधिक प्रभाव इन दो आधारों से ही पड़ता है । शिक्षा का क्षेत्र केवल लेखन, वाचन, हिसाब, ज्यामिति, भूगोल, इतिहास आदि सामान्य जानकारियों तक ही सीमित नहीं है वरन् मानवीय कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठा एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को वहन करने की जिम्मेदारी भी उसी के साथ संलग्न विद्या भी जुड़ी हुई है । शिक्षा और विद्या मिलकर ही बौद्धिक समर्थता प्रदान करने का माध्यम बनती है । अकेली शिक्षा एक कला-कौशल मात्र है । प्रशिक्षण का क्रम ठीक हो तो १० वर्ष में बड़ा राष्ट्र बनकर खड़ा हो जाता है । आज जो बच्चे दस पन्द्रह वर्ष के हैं उन्हें ठीक तरह प्रशिक्षण मिल सके तो अगले दस वर्ष में जब वे २५-२५ वर्ष की आयु के होंगे । समर्थ बनकर हर क्षेत्र को प्रभावित करेंगे और उनके स्तर का राष्ट्र बनकर खड़ा हो जायगा, सभी जानते हैं कि पिछले दिनों जर्मनी, चीन, रूस आदि ने अपने देश को अभीष्ट स्तर का बनाने के लिए सबसे पहले शिक्षा पद्धति को हाथ में लिया था और विद्यालयों की टकसाल में बहुत सिक्के ढलते चले गये थे । प्राचीन भारत की महानता और गौरव-गरिमा के उद्गम अपने गुरुकुल ही थे । आगे कभी किसी राष्ट्र को किसी विशेष दिशा में ढालना हो तो उसे अपनी शिक्षा पद्धति का निर्माण एक दूरगामी एवं व्यवस्थित दृष्टिकोण लेकर ही करना होगा ।

शिक्षा को यहाँ दो भागों में बाँट सकते हैं । एक धर्मतत्व प्रधान दूसरी साक्षरता प्रधान । धर्मतत्व प्रधान में उन प्रवचन सम्मेलन, कथा, गोष्ठी आदि की गणना होगी जो किसी धार्मिक आयोजन के साथ जुड़े तो हों पर मूल प्रयोजन जन-मानस की विकृतियों का निराकरण और विवेकी दृष्टिकोण का सम्वर्द्धन हो । साक्षरता प्रधान में उन

स्कूल, कालेज, रात्रि पाठशाला, प्रौढ़ पाठशाला, शिल्प, कृषि, उद्योग आदि की गणना होगी । जिसमें व्यक्ति निर्माण की तथा स्वस्थ समाज संगठना कर सकने वाले तत्व पर्याप्त मात्रा में घुले हों । आज धार्मिक कथा, प्रवचन तो होते हैं पर उनका निष्कर्ष निकलने पर निरर्थकता, अलंकारिता, प्रतिगामिता, अवांछनीयता एवं भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले प्रशिक्षण की ही भरमार दीखती है । विवेकशीलता और उपयोगिता रहित धर्म शिक्षण, शक्ति का अपव्यय ही नहीं हानिकारक भी है । स्कूली शिक्षा में गणित, भूगोल, ज्यामित जैसी सामान्य जानकारियाँ भर हों तो उसे भी अपूर्ण ही कहा जायगा । व्यक्ति के कर्त्तव्य और स्वस्थ समाज के आधार गले उतरने वाले तत्व जिस शिक्षा में मिले न हों उसे पेट पालने में काम आने वाला एक उद्योग भर कहा जा सकता है ।

प्रतिगामिता को गाली देने, अवांछनीयता को कोसने से अमीर लोगों का क्षणिक आवेश भर शान्त हो सकता है पर उनसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । आवश्यकता इस बात की है कि बुरी वस्तु की तुलना में दूसरी अच्छी चीज सामने रखी जाय ताकि सार्वजनिक विवेक एक को छोड़ने तथा दूसरी को ग्रहण करने का निर्णय कर सके । यदि सामने एक ही वस्तु होगी तो जैसी भी कुछ है उसी से काम चलाया जाता रहेगा । धर्ममंच का प्रगतिशील स्वरूप यदि जन-साधारण के सामने प्रस्तुत किया जा सके तो निस्सन्देह उसे सराहा और स्वीकारा जायगा । अपव्यय को सदुपयोग की दिशा में मोड़ने के लिए प्रगतिशील कार्यक्रम के साथ प्रतिभाशाली और उत्कृष्टतासम्पन्न व्यक्तित्वों को आगे आकर कमान सँभालनी चाहिए; पिछले बीस वर्ष से हम यही प्रयत्न कर रहे हैं । रामायण, गीता, भागवत आदि की कक्षाओं के सहारे प्रगतिशील प्रशिक्षण की भी गुंजाइश है । धर्मसम्मेलनों द्वारा लोकरुचि को परिष्कृत करने की पूरी सम्भावना है ।

पर्व-त्यौहार यदि सामूहिक रूप से मनाये जाने लगें और उनके पीछे दिये हुए रहस्यों को समझाया जा सके तो समाज-निर्माण की चेतना उछल भी सकती है । संस्कारों के कर्मकाण्डी व्यक्ति और परिवार की अभिनव रचना का पूरा प्रशिक्षण हो सकता है । जन्मदिन मनाने की परम्परा में आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास की महती सम्भावना विद्यमान है । विवाह दिन मनाने की परिष्कृत प्रथा चल पड़े तो हमारा दाम्पत्य जीवन व परिवार नई हरियाली से सुशोभित हो सकता है । गायत्री महामन्त्र के तत्वज्ञानी समझाकर विवेकशीलता की समस्त धाराएँ प्रवाहित की जा सकती हैं । भावनात्मक नव-निर्माण का जैसा सुन्दर तत्वज्ञान इन चौबीस अक्षरों में भरा पड़ा है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा । इस महामंत्र को उपासना का माध्यम बनाकर विशृंखलित समाज का केन्द्रीयकरण किया जा सकता है । आत्मबल बढ़ाने की दिशा मिल सकती है और विचार-क्रान्ति की महान आधुनिक आवश्यकता को प्राचीनतम आधार के सहारे भली-भाँति पूरा किया जा सकता है । इसी प्रकार यज्ञीय कर्मकाण्ड से चिर-परिचित, चिर-अभ्यस्त भारतीय जनता यज्ञीय जीवन, यज्ञीय परम्पराओं का प्रकाश ग्रहण कर सकती है और व्यक्तिवाद को समूहवाद में-स्वार्थ को परमार्थ में बदलने की व्यापक भूमिका बन सकती है ।

धर्मतन्त्र के माध्यम से नव-निर्माण की संभावना को साकार करने की सुव्यवस्थित और सांगोपांग योजना हम बहुत पहले प्रस्तुत कर चुके हैं । आवश्यकता उसे क्रियान्वित कर सकने वाले समर्थ व्यक्तित्वों की है । यदि राजनीति जैसी दिलचस्पी प्रबुद्ध वर्ग इस दिशा में लेने लगे तो जो कार्य राजतन्त्र के द्वारा सौ वर्ष में नहीं हो सकता वह पाँच वर्ष में सम्भव हो जायगा । भारत जैसे ८० प्रतिशत अशिक्षित और गहन वेदान्त में फैले हुए देश के लिए जन-जागरण आधार 'धर्मतन्त्र' के अतिरिक्त दूसरा हो ही नहीं सकता । गाँधी जी इस मर्म को समझते थे और उन्होंने स्वयं आन्दोलन में इस तत्व का समावेश भी किया और आशाजनक सफलता भी पाई । आज भी ऐसे दूरदर्शी लोगों की जरूरत है जो गाँधी जी की तरह इस देश की वस्तुस्थिति को समझने का प्रयत्न करें और नव-निर्माण के लिए धर्मतन्त्र की विपुल क्षमता को प्रयुक्त करने के लिए योगदान दे सकें ।

धर्मतन्त्र के माध्यम से अपने हिन्दू समाज में उत्कृष्टता, आदर्शवादिता एवं प्रगतिशीलता उत्पन्न करने के लिए एक सर्वांग सुन्दर योजना हम बहुत दिनों से चला रहे हैं । आवश्यकता इस बात की है कि ऐसी ही योजनाएँ अन्य देशों के लिए, अन्य भाषा-भाषियों के लिए, अन्य धर्म सम्प्रदायों के लिए भी बनाई जायँ । आधार, उद्देश्य, प्रवाह तो सबका एक हो पर क्षेत्रीय एवं परम्परात्मक स्थिति को ध्यान में रखकर बाह्य कलेवर अलग-अलग ढंग से बना दिये जायँ । अपनी योजना हिन्दू समाज की परम्पराओं के आधार पर चल रही है । अब समय आ गया कि इसे बहुमुखी बनाया जाय । अपने देश में भी अभी जैन, बौद्ध, सिख, द्रविण तथा प्रान्त एवं सम्प्रदायों के हिसाब से बहुत भिन्नता है । इन भिन्नताओं को ध्यान में रखते हुए स्थानीय भाषाओं तथा परम्पराओं का सम्मिश्रण करते हुए अलग-अलग क्रिया-प्रक्रिया बन सकती है और बननी चाहिए । हिन्दू धर्म के बाहर का क्षेत्र भी अछूता नहीं छोड़ा जा सकता । मुसलमान, ईसा, यहूदी, पारसी आदि अनेक धर्म एवं संस्कृतियों का संसार में विस्तार है । उनके लिए भी उन्हीं वर्गों के लोग, उनकी रुचि एवं परम्परा मिश्रित योजनाएँ लेकर अग्रसर हो सकते हैं और अपने क्षेत्र तथा वर्ग को प्रभावित कर सकते हैं । अभी वह समय नहीं आया कि एक रीति-नीति को सब पर थोपा जा सके । यह प्रयत्न इतिहास में अनेक बार हो चुके हैं और हर बार असफल हुए हैं ।

एक धर्म या संस्कृति के नीचे सारे विश्व को लाने के लिए एक सर्वसम्मत धर्मतन्त्र की रचना करनी होगी । वर्तमान तन्त्रों में से कोई एक अपना प्रभुत्व सार्वभौम

के स्वाध्याय मण्डलों तक, युवकों की व्यायामशालाओं से लेकर महिलाओं के गृह-उद्योग शिक्षण तक, अनेक धाराओं में यह प्रक्रिया बन सकती है और उसका संचालन, कार्यकर्त्ताओं का प्रशिक्षण एक केन्द्रीय सूत्र के अन्तर्गत हो सकता है । धर्मतन्त्र के माध्यम से जन-जाग्रति पैदा करने वाले कार्यकर्त्ताओं का भी प्रशिक्षण केन्द्र बन सकता है । ऐसी रचना निस्सन्देह जन-जीवन का काया-कल्प प्रस्तुत कर सकती है ।

लोकमानस ढालने वाली शिक्षा

कुम्हार को जैसा खिलौना बनाना होता है, गीली मिट्टी को उसी साँचे में दाब देता है और इच्छानुकूल आकृति बना लेता है; टकसालों में यही होता है, जो सिक्के ढालने होते हैं । पिघली धातु को इन्हीं साँचों में ढालते चले जाते हैं । ढलाई से सम्बन्ध रखने वालों को पता है कि किसी वस्तु को आग या पानी से मुलायम बनाया जाय और पीछे उसे इच्छित साँचे में ढाल कर जिस प्रकार की आकृति अभीष्ट हो उसमें बदल दिया जाय । यही सिद्धान्त मनुष्य के ऊपर भी लागू होता है । उठती आयु गीली मिट्टी जैसी होती है—कोमल और मृदुल । इन्हें जिस भी स्तर का बनाना हो, उसके लिए वैसी शिक्षा पद्धति का गठन किया जाता है । उसी के अनुसार पीढ़ियाँ ढलती चली जाती हैं ।

हिटलर विश्व विजय के स्वप्न देखता था । उसने जर्मनी की पीढ़ियों में जातीय श्रेष्ठता और विश्व शासन के लिए उसकी विशेष योग्यता की मान्यता हर जर्मन नागरिक के मन में भरने की ठानी । यह प्रयोजन पूरा भी किया गया । उसे दोनों युद्धों में सफलता नहीं मिली यह युद्ध विद्या के दाँव-पेचों का प्रश्न है । जहाँ तक जन मनोवृत्ति और लोक-आकांक्षा का प्रश्न है उसे शत-प्रतिशत सफलता मिली, क्योंकि उसने नई पीढ़ी को पूरी तरह अपने साँचे में ढाल लिया । हिटलर की तरह ही जर्मन प्रजा भी उन दिनों विश्व-विजय के उन्माद में उड़ रही थी और अपने स्वप्न साकार करने के लिए आतुर हो रही थी । यह सफलता उसने अपनी शिक्षा पद्धति को एक विशेष प्रकार की विनिर्मित करके ही प्राप्त की थी ।

अन्य देशों में भी यही किया जा रहा है । साम्यवादी देश अपनी प्रजा को अभीष्ट मनोभूमि में ढालने के लिए शिक्षा पद्धति को ही उस प्रयोजन के अनुरूप बनाये हुए हैं । लड़का पढ़-लिखकर जब निकलता है तब उसका मस्तिष्क पूरी तरह उसी ढाँचे में ढला हुआ होता है, जैसा कि उस शिक्षा पद्धति के निर्माताओं ने चाहा था ।

भारत में भी यह प्रयोग पूर्णतया सफल हुआ । अँग्रेजों को काले अँग्रेजों की–बाबुओं की जरूरत पड़ी । लार्ड मैकाले ने शिक्षा पद्धति का आधार इसी आवश्यकता की पूर्ति कर सकने लायक व्यक्ति उत्पन्न करना बनाया । उसका ढाँचा इसी प्रकार का था, फलस्वरूप कॉलेजों से निकलने वाले अधिकांश छात्र तदनुरूप बनते-ढलते चले गये । लगभग वही शिक्षा पद्धति अपने देश में अभी चल रही है ।

यही कारण है कि हमें अपने बालकों में उच्छृंखलता, उद्दण्डता, अनुशासनहीनता की शिकायतें मिलती हैं । यह शिकायतें प्रकारान्तर से उन शिक्षा नीति-निर्धारकों की हैं जिन्होंने शिक्षा के मूलभूत प्रयोजन की ओर गम्भीरता से कभी ध्यान नहीं दिया । मैकाले से लेकर आद्यावधि-अन्धी नकल करने के अतिरिक्त कभी मौलिक सूझ-सूझी ही नहीं । नहीं तो उस कार्यान्वित शिक्षा को दिशा देना उसका आधार जनस्तर पर विकसित करना कुछ कठिन नहीं है । जनशक्ति की गरिमा अत्यन्त उच्चकोटि की है । ईश्वर के बाद उसे प्रत्यक्ष जगत की सबसे बड़ी शक्ति कहना चाहिए । शासन चलाने में उसके उपार्जन का एक प्रतिशत ही खर्च होता है, अन्य कामों को भी यदि वह उपयोगी समझे तो अपनी क्षमता को एक प्रतिशत भी उस ओर लगाते ही शासन तन्त्र जैसा ही कोई समर्थ शिक्षा तन्त्र या दूसरा तन्त्र देखते-देखते खड़ा हो सकता है ।

बहुत समय तक शिक्षा रही भी शासन से सर्वथा स्वतन्त्र ही है । प्राचीनकाल में ऋषि अपने आश्रमों में विशालकाय गुरुकुल स्वयं ही चलाते थे, जनसहयोग ही उसका आधार था । लाखों वर्षों तक वह शिक्षा पद्धति सफलतापूर्वक चलती रही । अँग्रेजी शासनकाल में भी देशभक्त उत्पन्न करने के लिए छोटी-बड़ी सैकड़ों शिक्षण संस्थाएँ बड़ी सफलतापूर्वक चली थीं, उन दिनों सरकारी सहयोग तो दूर उन पर शासन का पूरा कोप ही था । तब भी वह सब चलता रहा । फिर आज वैसा क्यों नहीं हो सकता ? इन दिनों कम से कम ऐसे प्रयत्नों में सरकार बाधक तो नहीं है । इस स्थिति में भी उससे कुछ न कुछ तो सहयोग लिया ही जा सकता है ।

समग्र शिक्षा की व्यवस्था जनस्तर पर किस प्रकार बन सकती है यहाँ इसी पर विचार किया जा रहा है । शिक्षा को तीन भागों में विभाजित करके उसका समन्वय किया जाना चाहिए । (१) साक्षरता के प्रथम चरण की पूर्ति एवं संसार की विभिन्न परिस्थितियों की जानकारी (२) आर्थिक शारीरिक एवं भौतिक जीवन को सरल सफल बनाने का उपयुक्त ज्ञान (३) मानसिक एवं भावनात्मक स्तर की वैयक्तिक सामाजिक गतिविधियों का बोध । इन्हें सांसारिक, वैयक्तिक एवं भावनात्मक वर्गों में भी विभक्त कर सकते हैं । परिपूर्ण शिक्षा इन तीनों में ही समन्वित हो सकती है । जो पढ़ाया जाय उसमें एकांगीपन न हो वरन ? इन तीनों तथ्यों को इस प्रकार गूंथा जाय कि शिक्षार्थी को सांसारिक ज्ञान भौतिक और आत्मिक प्रगति को–वैयक्तिक एवं सामाजिक सुख-शान्ति के मार्ग की समुचित जानकारी रह सके ।

इस संदर्भ में सबसे पहला चरण निरक्षरता दूर करने का है । साक्षरता के उपरान्त ही प्रश्न पैदा होता है कि दृष्टिकोण के परिष्कार के लिए स्तर और दिशा निर्धारण के

लिए क्या पढ़ाया, क्या सिखाया जाय । साक्षरता की स्थिति अपने देश में अति दयनीय है । भारत में २३ प्रतिशत साक्षर और ७७ प्रतिशत निरक्षर हैं । यहाँ की जनता ८० फीसदी छोटे देहातों में और २० प्रतिशत शहर कस्बों में रहती है । यहाँ जो कुछ राजनैतिक, सामाजिक हलचलें होती हैं, बड़े शिक्षा संस्थान, पत्र-पत्रिकाएँ सब इन्हीं बीस प्रतिशत बड़े नगर निवासी और शिक्षितों के इर्द-गिर्द घूमती हैं ।

युग निर्माण योजना ने अपना कार्यक्षेत्र आरम्भ से ही ८० प्रतिशत इसी पिछड़ी समझी जाने वाली जनता को बनाया है । हमें इसी साधन रहित और उपेक्षित वर्ग की बात को प्रधान रूप से ध्यान में रखकर अपनी कार्यपद्धति का निर्धारण करना होता है । बात सही भी है । ८० प्रतिशत जनता यदि शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ी रही तो अन्य चेतनाओं को समझ सकना, अपना सकना, उसके लिए आज की तरह आगे भी कठिन ही बना रहेगा । अपनी शिक्षा योजना को हमें देहाती निरक्षर जनता की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अग्रगामी बनाना पड़ेगा ।

निरक्षरता निवारण इस सन्दर्भ में अपना सबसे पहला आरम्भिक एवं अनिवार्य चरण है । जो बालक स्कूली शिक्षा के योग्य हैं, जो घर पर कुछ कमाऊ काम-काज नहीं करते और जिनके पढ़ने जाने से उनके घर वालों को कुछ आर्थिक अवरोध उत्पन्न नहीं होता, उनके लिए आरम्भिक शिक्षा व्यवस्था का प्रयत्न करना चाहिए । इसके लिए जहाँ आवश्यकता हो प्राथमिक और माध्यमिक स्कूल खुलवाने चाहिए । स्थापना का संचालन की व्यवस्था का ढर्रा जब अपने पाँवों खड़ा हो जाय तो उसे सरकार को सौंप देना चाहिए, जहाँ सरकार ऐसी स्थापना कर सकती है, वहाँ उसके कार्य में पूरा-पूरा योगदान करना चाहिए । क्षेत्र शिक्षा अधिकारियों से इस दिशा में सम्पर्क बनाये रहना चाहिए और उनकी सरकारी क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग जनता के पक्ष में हो सके, इसके लिए उन्हें यथोचित पूरा-पूरा सहयोग देना चाहिए ।

जहाँ प्राथमिक और माध्यमिक स्कूल हैं, किन्तु छात्रों की संख्या कम होने से उनका विकास रुका पड़ा है, वहाँ हमें टोलियाँ बनाकर घर-घर जाना चाहिए । निरक्षरता की हानि और साक्षरता की महत्ता बतानी चाहिए । यह वहम दूर करना चाहिए कि शिक्षा नौकरी के लिए ही होती है, नौकरी नहीं करानी तो पढ़ायें क्यों ? इस दलील को पूरी तरह निरस्त करना चाहिए और शिक्षा ज्ञान भूमिका में प्रवेश करने के लिए प्रथम द्वार के रूप में, मानव जीवन की प्राथमिक आवश्यकता के रूप में उन्हें हृदयगंम करानी चाहिए । अब इस सम्बन्ध में लोकमानस काफी उदार भी होने लगा है और शिक्षा की आवश्यकता समझी भी जाने लगी है । इसलिए यह कार्य अब भूतकाल जैसा कठिन नहीं है । हम जुट पड़ें, घर-घर जायें, पढ़ने के लायक बच्चों को स्कूल भेजने के लिए उनके अभिभावकों से सम्पर्क, विचार-विनिमय और अनुरोध करें तो उन सब बच्चों को स्कूल भिजवाया जा सकता है, जिन्हें अन्यमनस्कता के कारण पढ़ने नहीं भेजा जा रहा था पर जिनकी आयु पढ़ने लायक है ।

अनुमान है कि अभी देहातों में जितने बच्चे प्राथमिक स्कूलों में जाते हैं । कम से कम उतने ही ऐसे हैं, जो नहीं जाते । इन्हें स्कूल भिजवाने के लिए तैयार करना, प्रथम कार्य है । यह प्रयास युग निर्माण शाखाएँ सरलता एवं सफलतापूर्वक कर सकती हैं और प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने वालों की संख्या देखते-देखते दूनी हो सकती है । देहाती क्षेत्र में लड़कियों का पढ़ाना अभी भी बेकार माना जाता है । इस संकीर्णता को हमें बदलना चाहिए और लड़कों की तरह लड़कियों की शिक्षा भी आवश्यक समझ कर लड़कियों को स्कूल भिजवाना चाहिए । छोटी लड़कियाँ प्राथमिक शिक्षा तक साथ-साथ पढ़ें । इसके बाद माध्यमिक शालाएँ अलग खुलनी चाहिए ।

इसके बाद का प्रश्न होता है उन इच्छुकों की शिक्षा व्यवस्था का, इसके लिए वर्तमान अध्यापकों से, शिक्षा अधिकारियों से, उन क्षेत्र के राजनेताओं से अनुरोध किया जा सकता है कि वे अपने तरीकों से अधिक शिक्षार्थियों के लिए व्यवस्था उत्पन्न करें ।

मुख्य कठिनाई छोटे गाँव में आती है, जहाँ छोटे बालक निकटवर्ती बड़े गाँव में पढ़ने के लिए दूर चलकर जाने में असमर्थ रहते हैं । धूप, सर्दी, वर्षा में, अस्त-व्यस्त रास्तों में, जंगली जानवरों के अथवा नर-पिशाचों की आशंका से बच्चों को दूर का रोज आना-जाना कठिन पड़ता है । इसके लिए सवारी का प्रबन्ध होना, आदमी साथ भेजने और वापिस आये, इसका प्रबन्ध करना असम्भव तो नहीं है पर कठिन अवश्य है ।

इन छोटे गाँवों के शिक्षित, उदार वृत्ति के लोगों से स्थानीय पाठशाला चलाने के लिए समय देने का आग्रह किया जाना चाहिए । छोटे गाँव में भी पढ़े-लिखे लोग होते हैं । उनमें सेवा बुद्धि भी आसानी से जगाई जा सकती है और इस परमार्थ के लिए थोड़ा समय देते रहने के लिए सहमत एवं तत्पर किया जा सकता है । तीन-चार घण्टे की पाठशाला चलाने से काम चल सकता है । इतना समय देना तो परमार्थ की दृष्टि एवं कर्त्तव्य भावना से ही चाहिए और प्रथम प्रयास इसी दिशा में होना चाहिए, पर यदि सफलता न मिले तो उतने समय का पारिश्रमिक भी दिया जा सकता है । इसके लिए धर्मघटों की प्रत्येक घर में स्थापना ही सबसे उपयुक्त तरीका है । उसे पुरुषों की उपेक्षा होने पर भी केवल महिलाओं के सहयोग भर से चलाया जा सकता है । यदि महिलाओं को एक मुट्ठी अनाज ज्ञान-दान के लिए हर दिन घड़े में डालते रहने की बात समझाई जा सके और उसे हर सप्ताह इकट्ठा करने जाते समय उस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन करने वाले दो शब्द कहे जाते रहें तो निश्चय ही यह धर्मघट योजना हर जगह सफल हो सकती है । उसका अनाज इतना हो सकता है कि उससे उन तीन-तीन घण्टों का पारिश्रमिक आसानी से

जुटाया जा सके । इस प्रकार हर छोटे गाँव में भी प्राथमिक
शिक्षा की व्यवस्था सहज ही बनाई और कार्यान्वित की
जा सकती है ।

वैसे यदि हम अपने को परिश्रम के लिए और प्रौढ़
व्यक्तियों को भी अवकाश के समय पढ़ने के लिए सहमत
कर सकें तो और हर समर्थ व्यक्ति को साक्षर बनाने की
योजना को सफल बनाने में अपनी बौद्धिक क्षमता और
व्यवहार कुशलता को पूरी तरह दाँव पर लगा दें तो कोई
छोटा भी देहात ऐसा नहीं बचेगा जहाँ शिक्षा प्रसार को
स्वीकार न किया जाय । महिलाओं के पास तीसरे पहर
का प्रायः दो से पाँच तक तीन घण्टे का समय खाली
रहता है या हर परिवार पीछे एक वयस्क महिला को
इतने समय के लिए खाली किया जा सकता है । इन प्रौढ़
महिलाओं की अपरान्ह पाठशाला उनकी सुविधा के समय
लगा करें । पुरुषों को रात्रि के समय अवकाश रहता है
अतः उनके लिए प्रौढ़ों की रात्रि पाठशाला ७ से ९ तक
चलाई जाया करें । बच्चों को प्रातः से दोपहर तक तीन
घण्टे पढ़ाया जा सकता है । सुविधानुसार कुछ फेर-बदल
भी किये जा सकते हैं । इस प्रकार भिन्न-भिन्न समय रहने
के कारण एक ही अध्यापक तीनों पाठशालाएँ चलाता रह
सकता है ।

इस प्रयोजन के लिए छोटे गाँव में एक अध्यापक की
नियुक्ति हो सकती है । छोटे देहातों में भी औसत १५ बच्चे,
१५ पुरुष, १५ महिलाएँ तीनों को मिलाकर ४५ छात्र हो
सकते हैं । हर छात्र पीछे लगभग दो रुपया खर्च आता है ।
यदि इच्छा हो और महत्त्व समझा जाय तो इसकी पूर्ति भी
इस प्रकार हो सकती है । दो रुपया मासिक का अर्थ हुआ
७ नया पैसा प्रतिदिन । सात नया पैसा का अर्थ है—लगभग
एक छटांक अनाज । हर शिक्षा प्रेमी यदि चाहे तो एक
हलकी-सी रोटी अपनी खुराक में से कम करके भी इतना
अनाज बचा सकता है । फसल पर थोड़ा अनाज इकट्ठा
करके धर्मघट स्थापित करके अमावस्या पूर्णमासी पर
अध्यापक के लिए पेटिया (एक दिन की खुराक का
सामान) निकाल कर किसी भी तरीके से इस आवश्यकता
की पूर्ति की जा सकती है । नकद पैसा फीस के रूप में भी
दिया जा सकता है । यदि प्रयत्न किया जाय तो यह प्रबन्ध
निश्चित रूप से हर छोटी जगह में भी सम्भव हो सकता
है । इस प्रकार देश के ७ लाख गाँवों में से कम से कम
ऐसे १ लाख गाँवों में ऐसी पाठशालाएँ स्थापित की जा
सकती हैं और लगभग एक लाख अध्यापकों को काम
दिया जा सकता है ।

कहना न होगा कि यदि एक अध्यापक युग निर्माण
योजना के अनुरूप ढाले, सिखाये या बनाये जा सकें तो न
केवल शिक्षा योजना ही ठीक तरह चला सकते हैं वरन् वे
अपने छात्रों को, पुरुषों, महिलाओं और बच्चों को
प्रगतिशीलता के विविध पक्षों से भी परिचित एवं प्रभावित
कर सकते हैं । इस प्रकार शिक्षा के साथ दीक्षा का जुड़ा
हुआ क्रम अशिक्षित जनता में साक्षरता का ही नहीं वरन्
उनकी अन्तःचेतना में बहुमुखी प्रतिभा का विकास भी
किया जा सकता है । तीनों में से एक-दो या तीन जितनी
पाठशालाएँ जहाँ चल सकती हों वहाँ उतना आरम्भ भी
किया जा सकता है । बारह वर्ष तक के लड़के-लड़कियों
के लिए अलग-अलग शालाएँ आवश्यक नहीं ।

इस प्रकार सरकारी तथा गैर सरकारी प्रयास मिलकर
शिक्षा का प्राथमिक चरण सुविधा और उत्साह के साथ
पूरा कर सकते हैं । हमें इसके लिए विशेष तत्पर रहना
चाहिए ।

देश में एक भी निरक्षर न रहने पाये

शिक्षा समस्या मात्र बालकों और किशोरों तक सीमित
नहीं है वही बात प्रौढ़ों की है । उन्हें यह कहकर उपेक्षित
नहीं किया जा सकता कि उनकी पढ़ने की आयु चली
गयी । ऐसे अगणित उदाहरण मौजूद हैं । जिनमें साठ वर्ष
की आयु के बाद लोगों ने पढ़ना आरम्भ किया और वे
उच्चकोटि के विद्वान बनकर उस ज्ञान से समाज की महती
सेवा कर सकने में सफल हुए । सीखने की दृष्टि से तो उसे
आजीवन विद्यार्थी ही बनकर रहना चाहिए । इस दृष्टि से
निरक्षर बूढ़ों को भी साक्षर बनाने के लिए प्रयत्न किया जा
सकता है । फिर जिनकी उम्र अभी ३०-४० साल है, उन्हें
तो अभी कम से कम २०-३० साल काम करना है । सं
तो यह है कि इन्हें ही आज की समस्याओं से जूझना है ।

जो बच्चे अभी १५ साल के हैं वे अगले १५ वर्ष बाद
इस लायक होंगे कि समाज में अपना स्थान बना सकें और
अपनी परिपक्व बुद्धि से कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न
कर सकें । तथ्य यह है कि अगले २५-३० वर्षों में संसार
का एक प्रकार से कायाकल्प ही हो जायगा । प्रत्यक्ष और
परोक्ष जगत में जो हलचलें इन दिनों गतिशील हो रही हैं
वे इधर या उधर कुछ में कुछ निपटारा करने में इससे
अधिक समय नहीं लगने देंगी । संसार जिस तेजी से दौड़
जा रहा है उस क्रम से वह इस अवधि के भीतर ही अपने
जीवन-मरण का प्रश्न निपटा लेगा । अस्तु, जो कुछ
महत्त्वपूर्ण होना है—किया या कराया जाना है उसमें प्रधान
भूमिका उन लोगों की होगी जो आज हलचल में हैं, समर्थ
हैं । नई पीढ़ी को तो छोड़े हुए उत्तरदायित्वों का निर्वाह
भर शेष रह जायगा । उन्हें सुयोग्य इसी दृष्टि से बनाया
जाना है, परिवर्तन की घड़ियाँ इन दिनों इतनी उतावली में
हैं कि नई पीढ़ी के परिपक्व होने तक रुकी नहीं रह
सकतीं । स्थिति की विषमता में एक-एक पल भारी पड़
रहा है । इस आपत्ति धर्म को निबाहने के लिए जो कार्य
जहाँ है उसे वहीं से कार्य आरम्भ कर देना होगा ।
महामारी फैलने पर जिसमें जो भी योग्यता और साधन है
उसी के अनुरूप इस विपत्ति के निवारण में तत्पर होना
पड़ता है । आज की स्थिति से निपटने के लिए नई पीढ़ी
का इंतजार करते रहना उचित नहीं है ? प्रौढ़ शिक्षा को

आज की, तुरन्त की अनिवार्य आवश्यकता मानकर उसे सबसे अधिक आपत्तिकालीन समस्या की तरह हल करना चाहिए । क्योंकि इस शिक्षा का फल एक वर्ष में ही सामने आ सकता है, जबकि बालशिक्षा के सत्परिणाम प्रकट करने के लिए १५ वर्ष इन्तजार करना होगा ।

वयस्क, स्त्री-पुरुषों के लिए प्रौढ़ शिक्षा की योजना हमें तत्काल बनानी और कार्यान्वित करनी चाहिए । प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को समाज का विद्या ऋण चुकाने की आवश्यकता अनुभव करनी चाहिए और उसे अपने समीपवर्ती अशिक्षितों को इकट्ठा करके साक्षर बनाने का प्रयत्न आरम्भ कर देना चाहिए । अपनी सुविधा और पढ़ने वालों की सुविधा का समय क्या हो सकता है, स्थान कहाँ हो, रोशनी, बिछावट, पाठ्यपुस्तकों का प्रबन्ध कैसे हो, जैसी छोटी समस्याएँ आसानी से हल हो जाती हैं । जहाँ प्रबल उत्कण्ठा इस महान कार्य को करने की होती है वहाँ इस प्रकार की अड़चनें कभी आड़े नहीं आतीं ।

मूल प्रश्न इस तरह की मनःस्थिति पैदा करने का है । शिक्षितों को यह उद्‌बोधन किया जाना चाहिए कि हजार भूखों के बीच बैठकर मिष्ठान्न, पकवान का आँखें फेर कर आनन्द लेते रहना धिक्कार के योग्य है । इसी प्रकार ८० प्रतिशत ज्ञान भूख के बुभुक्षित लोगों के बीच रहकर अकेले ही विद्या का लाभ लेते रहना, निष्ठुरता का द्योतक है । रोटी मिल-बाँट कर खानी चाहिए और विद्या का भी वितरण करना चाहिए अन्यथा कंजूस धनवान को जिस प्रकार मरने के बाद धन के घड़े पर सर्प बनकर बैठना पड़ता है, इसी प्रकार विद्या दान में कृपणता बरतने वाले सुशिक्षित व्यक्ति ब्रह्म राक्षस बनते हैं और उन्हें आत्मा के दरबार में निष्ठुर ठहराया जाता है । इस कलंक से बचने के लिए विद्या ऋण से मुक्त होना चाहिए और अपना कुछ समय लगाकर देश में से निरक्षरता का कलंक दूर करने के लिए कुछ करना ही चाहिए । जो समय नहीं दे सकते वे पैसा दें और अपने बदले किसी अन्य अध्यापक को नियुक्त करके अशिक्षा निवारण के अभियान में अपना योगदान प्रस्तुत करें ।

अशिक्षितों को समझाया जाना चाहिए कि शिक्षा के बिना ज्ञान के नेत्र नहीं खुलते और निरक्षर व्यक्ति एक प्रकार के अन्धों में गिना जाता है । शिक्षा बुद्धि की आवश्यकता है । पेट भरने को मिल जाता है फिर पढ़ने से क्या फायदा ? जैसी दलीलें देने वालों के मन में यही भ्रम जमा होता है कि पढ़ने का अर्थ नौकरी करना है । हर मन से यह जड़ता उखाड़नी चाहिए और हर व्यक्ति को यह समझाया जाना चाहिए कि अन्तःचेतना को विकसित करने का प्रथम चरण शिक्षा है । संसार में विद्यमान अमृत जैसे बहुमूल्य ज्ञान का लाभ प्राप्त करने से निरक्षर को आजीवन वंचित ही रहना पड़ेगा । भौतिक सम्पदा से लाख गुनी मूल्यवान शिक्षा की सम्पत्ति है । जिस प्रकार बिना धोती पहने चलना-फिरना लज्जा की बात है, ठीक उसी प्रकार निरक्षर होकर रहना बौद्धिक नग्नता का प्रदर्शन करना है । इस हेय स्थिति से हर व्यक्ति को अपने जीवन काल में ही उबरना चाहिए, चाहे उसकी आयु कितनी अधिक क्यों न हो गई हो ।

यदि इस प्रकार की भावनाएँ शिक्षितों और अशिक्षितों में जगाई जा सकें तो प्रौढ़ शिक्षा पर हर किसी का ध्यान केन्द्रित हो सकता है; फिर दोनों पक्ष एक दूसरे को स्वतः ढूँढ लेंगे । हर दृष्टि से प्रौढ़ शिक्षा अभियान को गति मिलनी ही चाहिए और उसके लिए युद्धकालीन, आपत्तिकालीन स्तर पर हमें प्रयत्न करने चाहिए । अपने घर के प्रौढ़ लोगों को सबसे पहले हाथ में लिया जाय और मनोवैज्ञानिक कुशलता के साथ उन्हें पढ़ने के लिए उत्सुक एवं तत्पर किया जाय । तर्क से कायल होते हुए भी-औचित्य समझते हुए भी, वे संकोच, झिझक और लज्जा का अनुभव करते हुए आनाकानी कर सकते हैं; इस स्थिति से उनके सम्मान की रक्षा करते हुए अनुनय- विनय और प्रेम भरे आग्रह के साथ उन्हें घुमा-फिरा कर तैयार कर ही लेना चाहिए और निरक्षरता के कलंक से उन्हें मुक्ति दिलाने में सफलता प्राप्त करने तक आनाकानी सहते हुए भी पीछे लगा ही रहना चाहिए ।

अक्षर ज्ञान इतना तो हर किसी को होना चाहिए कि वह पुस्तकें आदि पढ़ सकें । इतना शब्द कोष तो उन्हें जान ही लेना चाहिए कि पत्रों, पुस्तकों में आते रहने वाले कठिन शब्दों का अर्थ समझने में कठिनाई न हो । शुद्ध लिख सके और सही पढ़ सके । इतना ज्ञान प्राप्त करने पर ही शिक्षित होने की परिभाषा पूरी होती है अन्यथा वर्ण और मात्राएँ तो एक महीने में ही सीखी जा सकती हैं, पर उतने से कुछ काम नहीं चल सकता । प्रौढ़ शिक्षा का पाठ्यक्रम एक वर्ष में ही पूरा हो सकता है पर यदि बहुत जल्दी हो तो इससे काट-फाँसकर छह महीने का भी बनाया जा सकता है ।

इसके लिए एक 'न्यूनतम पाठ्य-पद्धति' निर्धारित की गई है । इस लिखने-पढ़ने के लिए जो पुस्तकें रहें-उनके सहारे भाषा, शब्द कोष और व्याकरण का ज्ञान कराया जाय । उसके लिए निर्धारित पाठ्य पुस्तकों में ऐसे विषय रहें जो (१) संसार का सामान्य ज्ञान (२) आर्थिक तथा वैयक्तिक जीवन की भौतिक समस्याएँ (३) मानसिक, सामाजिक, भावनात्मक विषयों का दार्शनिक ज्ञान की तीनों शिक्षा-दिशाओं की आवश्यक जानकारी पूरी कराते हों, इससे दुहरा लाभ है । भाषा ज्ञान के साथ-साथ जीवन की आवश्यक समस्याओं का हल भी मिलता चलेगा । युग निर्माण योजना ने सुव्यवस्थित पाठ्यक्रम तैयार किया है । जिन्हें वयस्क व्यक्ति छह महीने में पूरा कर सकें । छोटे बच्चों को उनकी आयु के अनुसार एक वर्ष से अधिक समय भी लग सकता है ।

यों शिक्षा का क्षेत्र असीम और अनन्त है । आजीवन मनुष्य पढ़ता ही रहे तो भी ज्ञान सम्पदा न्यून ही मालूम पड़ेगी । अधिकतम की सीमा नहीं बाँधी जा सकती । लोगों की अपनी रुचि होती है, उसी दिशा में अधिक अध्ययन

जुटाया जा सके। इस प्रकार हर छोटे गाँव में भी प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था सहज ही बनाई और कार्यान्वित की जा सकती है।

वैसे यदि हम अपने को परिश्रम के लिए और प्रौढ़ व्यक्तियों को भी अवकाश के समय पढ़ने के लिए सहमत कर सकें तो और हर समर्थ व्यक्ति को साक्षर बनाने की योजना को सफल बनाने में अपनी बौद्धिक क्षमता और व्यवहार कुशलता को पूरी तरह दाँव पर लगा दें तो कोई छोटा भी देहात ऐसा नहीं बचेगा जहाँ शिक्षा प्रसार को स्वीकार न किया जाय। महिलाओं के पास तीसरे पहर का प्रायः दो से पाँच तक तीन घण्टे का समय खाली रहता है या हर परिवार पीछे एक वयस्क महिला को इतने समय के लिए खाली किया जा सकता है। इन प्रौढ़ महिलाओं की अपरान्ह पाठशाला उनकी सुविधा के समय लगा करें। पुरुषों को रात्रि के समय अवकाश रहता है अतः उनके लिए प्रौढ़ों की रात्रि पाठशाला ७ से ९ तक चलाई जाया करें। बच्चों को प्रातः से दोपहर तक तीन घण्टे पढ़ाया जा सकता है। सुविधानुसार कुछ फेर-बदल भी किये जा सकते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न समय रहने के कारण एक ही अध्यापक तीनों पाठशालाएँ चलाता रह सकता है।

इस प्रयोजन के लिए छोटे गाँव में एक अध्यापक की नियुक्ति हो सकती है। छोटे देहातों में भी औसत १५ बच्चे, १५ पुरुष, १५ महिलाएँ तीनों को मिलाकर ४५ छात्र हो सकते हैं। हर छात्र पीछे लगभग दो रुपया खर्च आता है। यदि इच्छा हो और महत्त्व समझा जाय तो इसकी पूर्ति भी इस प्रकार हो सकती है। दो रुपया मासिक का अर्थ हुआ ७ नया पैसा प्रतिदिन। सात नया पैसा का अर्थ है-लगभग एक छटांक अनाज। हर शिक्षा प्रेमी यदि चाहे तो एक हलकी-सी रोटी अपनी खुराक में से कम करके भी इतना अनाज बचा सकता है। फसल पर थोड़ा अनाज इकट्ठा करके धर्मघट स्थापित करके अमावस्या पूर्णमासी पर अध्यापक के लिए पेटिया (एक दिन की खुराक का सामान) निकाल कर किसी भी तरीके से इस आवश्यकता की पूर्ति की जा सकती है। नकद पैसा फीस के रूप में भी दिया जा सकता है। यदि प्रयत्न किया जाय तो यह प्रबन्ध निश्चित रूप से हर छोटी जगह में भी सम्भव हो सकता है। इस प्रकार देश के ७ लाख गाँवों में से कम से कम ऐसे १ लाख गाँवों में ऐसी पाठशालाएँ स्थापित की जा सकती हैं और लगभग एक लाख अध्यापकों को काम दिया जा सकता है।

कहना न होगा कि यदि एक अध्यापक युग निर्माण योजना के अनुरूप ढाले, सिखाये या बनाये जा सकें तो न केवल शिक्षा योजना ही ठीक तरह चला सकते हैं वरन् वे अपने छात्रों को, पुरुषों, महिलाओं और बच्चों को प्रगतिशीलता के विविध पक्षों से भी परिचित एवं प्रभावित कर सकते हैं। इस प्रकार शिक्षा के साथ दीक्षा का जुड़ा हुआ क्रम अशिक्षित जनता में साक्षरता का ही नहीं वरन् उनकी अन्तःचेतना में बहुमुखी प्रतिभा का विकास भी किया जा सकता है। तीनों में से एक-दो या तीन जितनी पाठशालाएँ जहाँ चल सकती हों वहाँ उतना आरम्भ भी किया जा सकता है। बारह वर्ष तक के लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग शालाएँ आवश्यक नहीं।

इस प्रकार सरकारी तथा गैर सरकारी प्रयास मिलकर शिक्षा का प्राथमिक चरण सुविधा और उत्साह के साथ पूरा कर सकते हैं। हमें इसके लिए विशेष तत्पर रहना चाहिए।

देश में एक भी निरक्षर न रहने पाये

शिक्षा समस्या मात्र बालकों और किशोरों तक सीमित नहीं है यही बात प्रौढ़ों की है। उन्हें यह कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता कि उनकी पढ़ने की आयु चली गयी। ऐसे अगणित उदाहरण मौजूद हैं। जिनमें साठ वर्ष की आयु के बाद लोगों ने पढ़ना आरम्भ किया और वे उच्चकोटि के विद्वान बनकर उस ज्ञान से समाज की महती सेवा कर सकने में सफल हुए। सीखने की दृष्टि से तो उसे आजीवन विद्यार्थी ही बनकर रहना चाहिए। इस दृष्टि से निरक्षर बूढ़ों को भी साक्षर बनाने के लिए प्रयत्न किया जा सकता है। फिर जिनकी उम्र अभी ३०-४० साल हैं, उन्हें तो अभी कम से कम २०-३० साल काम करना है। सच तो यह है कि इन्हें ही आज की समस्याओं से जूझना है।

जो बच्चे अभी १५ साल के हैं वे अगले १५ वर्ष बाद इस लायक होंगे कि समाज में अपना स्थान बना सकें और अपनी परिपक्व बुद्धि से कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न कर सकें। तथ्य यह है कि अगले २५-३० वर्षों में संसार का एक प्रकार से कायाकल्प ही हो जायगा। प्रत्यक्ष और परोक्ष जगत में जो हलचलें इन दिनों गतिशील हो रही हैं वे इधर या उधर कुछ में कुछ निपटारा करने में इससे अधिक समय नहीं लगने देंगी। संसार जिस तेजी से दौड़ा जा रहा है उस क्रम से वह इस अवधि के भीतर ही अपने जीवन-मरण का प्रश्न निपटा लेगा। अस्तु, जो कुछ महत्त्वपूर्ण होना है-किया या कराया जाना है उसमें प्रधान भूमिका उन लोगों की होगी जो आज हलचल में हैं, समर्थ हैं। नई पीढ़ी को तो छोड़े हुए उत्तरदायित्वों का निर्वाह भर शेष रह जायगा। उन्हें सुयोग्य इसी दृष्टि से बनाया जाना है, परिवर्तन की घड़ियाँ इन दिनों इतनी उतावली में हैं कि नई पीढ़ी के परिपक्व होने तक रुकी नहीं रह सकतीं। स्थिति की विषमता में एक-एक पल भारी पड़ रहा है। इस आपत्ति धर्म को निबाहने के लिए जो कार्य जहाँ है उसे वहीं से कार्य आरम्भ कर देना होगा। महामारी फैलने पर जिसमें जो भी योग्यता और साधन है उसी के अनुरूप इस विपत्ति के निवारण में तत्पर होना पड़ता है। आज की स्थिति से निपटने के लिए नई पीढ़ी का इंतजार करते रहना उचित नहीं है ? प्रौढ़ शिक्षा को

आज की, तुरन्त की अनिवार्य आवश्यकता मानकर उसे सबसे अधिक आपत्तिकालीन समस्या की तरह हल करना चाहिए । क्योंकि इस शिक्षा का फल एक वर्ष में ही सामने आ सकता है, जबकि बालशिक्षा के सत्परिणाम प्रकट करने के लिए १५ वर्ष इन्तजार करना होगा ।

वयस्क, स्त्री-पुरुषों के लिए प्रौढ़ शिक्षा की योजना हमें तत्काल बनानी और कार्यान्वित करनी चाहिए । प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को समाज का विद्या ऋण चुकाने की आवश्यकता अनुभव करनी चाहिए और उसे अपने समीपवर्ती अशिक्षितों को इकट्ठा करके साक्षर बनाने का प्रयत्न आरम्भ कर देना चाहिए । अपनी सुविधा और पढ़ने वालों की सुविधा का समय क्या हो सकता है, स्थान कहाँ हो, रोशनी, बिछावट, पाठ्यपुस्तकों का प्रबन्ध कैसे हो, जैसी छोटी समस्याएँ आसानी से हल हो जाती हैं । जहाँ प्रबल उत्कण्ठा इस महान कार्य को करने की होती है वहाँ इस प्रकार की अड़चनें कभी आड़े नहीं आतीं ।

मूल प्रश्न इस तरह की मन:स्थिति पैदा करने का है । शिक्षितों को यह उद्बोधन किया जाना चाहिए कि हजार भूखों के बीच बैठकर मिष्टान्न, पकवान का आँखें फेर कर आनन्द लेते रहना धिक्कार के योग्य है । इसी प्रकार ८० प्रतिशत ज्ञान भूख के बुभुक्षित लोगों के बीच रहकर अकेले ही विद्या का लाभ लेते रहना, निष्ठुरता का द्योतक है । रोटी मिल-बाँट कर खानी चाहिए और विद्या का भी वितरण करना चाहिए अन्यथा कंजूस धनवान को जिस प्रकार मरने के बाद धन के घड़े पर सर्प बनकर बैठना पड़ता है, इसी प्रकार विद्या दान में कृपणता बरतने वाले सुशिक्षित व्यक्ति ब्रह्म राक्षस बनते हैं और उन्हें आत्मा के दरबार में निष्ठुर ठहराया जाता है । इस कलंक से बचने के लिए विद्या ऋण से मुक्त होना चाहिए और अपना कुछ समय लगाकर देश में से निरक्षरता का कलंक दूर करने के लिए कुछ करना ही चाहिए । जो समय नहीं दे सकते वे पैसा दें और अपने बदले किसी अन्य अध्यापक को नियुक्त करके अशिक्षा निवारण के अभियान में अपना योगदान प्रस्तुत करें ।

अशिक्षितों को समझाया जाना चाहिए कि शिक्षा के बिना ज्ञान के नेत्र नहीं खुलते और निरक्षर व्यक्ति एक प्रकार के अन्धों में गिना जाता है । शिक्षा बुद्धि की आवश्यकता है । पेट भरने को मिल जाता है फिर पढ़ने से क्या फायदा ? जैसी दलीलें देने वालों के मन में यही भ्रम जमा होता है कि पढ़ने का अर्थ नौकरी करना है । हर मन से यह जड़ता उखाड़नी चाहिए और हर व्यक्ति को यह समझाया जाना चाहिए कि अन्त:चेतना को विकसित करने का प्रथम चरण शिक्षा है । संसार में विद्यमान अमृत जैसे बहुमूल्य ज्ञान का लाभ प्राप्त करने से निरक्षर को आजीवन वंचित ही रहना पड़ेगा । भौतिक सम्पदा से लाख गुनी मूल्यवान शिक्षा की सम्पत्ति है । जिस प्रकार बिना धोती पहने चलना-फिरना लज्जा की बात है, ठीक उसी प्रकार निरक्षर होकर रहना बौद्धिक नग्नता का प्रदर्शन करना है । इस हेय स्थिति से हर व्यक्ति को अपने जीवन काल में ही उबरना चाहिए, चाहे उसकी आयु कितनी अधिक क्यों न हो गई हो ।

यदि इस प्रकार की भावनाएँ शिक्षितों और अशिक्षितों में जगाई जा सकें तो प्रौढ़ शिक्षा पर हर किसी का ध्यान केन्द्रित हो सकता है; फिर दोनों पक्ष एक दूसरे को स्वत: ढूँढ़ लेंगे । हर दृष्टि से प्रौढ़ शिक्षा अभियान को गति मिलनी ही चाहिए और उसके लिए युद्धकालीन, आपत्ति कालीन स्तर पर हमें प्रयत्न करने चाहिए । अपने घर के प्रौढ़ लोगों को सबसे पहले हाथ में लिया जाय और मनोवैज्ञानिक कुशलता के साथ उन्हें पढ़ने के लिए उत्सुक एवं तत्पर किया जाय । तर्क से कायल होते हुए भी-औचित्य समझते हुए भी, वे संकोच, झिझक और लज्जा का अनुभव करते हुए आनाकानी कर सकते हैं; इस स्थिति से उनके सम्मान की रक्षा करते हुए अनुनय- विनय और प्रेम भरे आग्रह के साथ उन्हें घुमा-फिरा कर तैयार कर ही लेना चाहिए और निरक्षरता के कलंक से उन्हें मुक्ति दिलाने में सफलता प्राप्त करने तक आनाकानी सहते हुए भी पीछे लगा ही रहना चाहिए ।

अक्षर ज्ञान इतना तो हर किसी को होना चाहिए कि वह पुस्तकें आदि पढ़ सकें । इतना शब्द कोष तो उन्हें जान ही लेना चाहिए कि पत्रों, पुस्तकों में आते रहने वाले कठिन शब्दों का अर्थ समझने में कठिनाई न हो । शुद्ध लिख सके और सही पढ़ सके । इतना ज्ञान प्राप्त करने पर ही शिक्षित होने की परिभाषा पूरी होती है अन्यथा वर्ण और मात्राएँ तो एक महीने में ही सीखी जा सकती हैं, पर उतने से कुछ काम नहीं चल सकता । प्रौढ़ शिक्षा का पाठ्यक्रम एक वर्ष में ही पूरा हो सकता है पर यदि बहुत जल्दी हो तो इससे काट-फाँसकर छह महीने का भी बनाया जा सकता है ।

इसके लिए एक 'न्यूनतम पाठ्य-पद्धति' निर्धारित की गई है । इस लिखने-पढ़ने के लिए जो पुस्तकें रहें-उनके सहारे भाषा, शब्द कोष और व्याकरण का ज्ञान कराया जाय । उसके लिए निर्धारित पाठ्य पुस्तकों में ऐसे विषय रहें जो (१) संसार का सामान्य ज्ञान (२) आर्थिक तथा वैयक्तिक जीवन की भौतिक समस्याएँ (३) मानसिक, सामाजिक, भावनात्मक विषयों का दार्शनिक ज्ञान की तीनों शिक्षा-दिशाओं की आवश्यक जानकारी पूरी कराते हों, इससे दुहरा लाभ है । भाषा ज्ञान के साथ-साथ जीवन की आवश्यक समस्याओं का हल भी मिलता चलेगा । युग निर्माण योजना ने सुव्यवस्थित पाठ्यक्रम तैयार किया है । जिन्हें वयस्क व्यक्ति छह महीने में पूरा कर सकें । छोटे बच्चों को उनकी आयु के अनुसार एक वर्ष से अधिक समय भी लग सकता है ।

यों शिक्षा का क्षेत्र असीम और अनन्त है । आजीवन मनुष्य पढ़ता ही रहे तो भी ज्ञान सम्पदा न्यून ही मालूम पड़ेगी । अधिकतम की सीमा नहीं बाँधी जा सकती । लोगों की अपनी रुचि होती है, उसी दिशा में अधिक अध्ययन

कर उस विषय के अतिरिक्त योग्यता प्राप्त की जा सकती है । प्रश्न न्यूनतम का है, जितना जानना एक मनुष्य कहलाने वाले के लिए नितान्त आवश्यक है उसे न्यूनतम शिक्षा में सम्मिलित किया गया है ।

चीन में डाक्टरों की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए दो प्रकार के पाठ्यक्रम बनाये गये हैं । एक तो विशेषज्ञों का, जिसे पाँच वर्ष तक पढ़कर सर्जन तथा विशेषज्ञ बना जाता है । एक सामान्य एक वर्ष का कोर्स, जो दैनिक जीवन की हलकी-फुलकी बीमारियों का सामान्य इलाज कर सके । अधिकांश लोगों का अधिकांश काम इन छोटे डॉक्टरों से ही निकल जाता है । कोई बड़ी विपत्ति आने पर ही बड़े डॉक्टर काम में आते हैं; इस प्रकार उनके पास काम भी हलका रहता है और अपने कर्त्तव्य को अधिक तत्परता और सावधानी से कर लेते हैं । यह तरीका उचित है अतः शिक्षा के क्षेत्र में भी काम में लाया जाना चाहिए; जिन्हें किसी विषय का विशेषज्ञ बनना है उनके लिए पृथक और बड़े स्तर की शिक्षा व्यवस्था रहे । इसी प्रकार सरकारी नौकरियों में जितने लोगों को-जिस काम के लिए जरूरत पड़ती है, उसी अनुपात को ध्यान में रखकर नौकरियों वाली शिक्षा में छात्र भर्ती किये जायें, जिससे उन्हें पीछे भटकना न पड़े । बड़ी-बड़ी आशाएँ लगाने और उच्च पदों के सपने देखने वाले सुशिक्षित छात्रों को जब निराशा हाथ लगती है, तो उनका दिल टूट जाता है और वे एक प्रकार से विद्रोही बनकर उभरते हैं । आरम्भ से ही यदि ध्यान रखा जाय और नौकरियों के लिए पढ़ाई वाले पक्ष को अन्धेरे में न रखा जाय तो श्रम और धन की बर्बादी जिस निरर्थक शिक्षा के लिए हर छात्र को इन दिनों करनी पड़ती है उससे सहज ही बचत हो जाय ।

न्यूनतम शिक्षा से सम्बद्ध विषय

(१) गणित–भार, लम्बाई, सिक्का, आयतन आदि के हिसाब । दशमलव, योग, भाग, साधारण भिन्न, लघुत्तम समापवर्तक, एकिक नियम, औसत, प्रतिशत, लाभ-हानि, ब्याज, चक्रवृद्धि ब्याज, बहीखाता आदि ।

(२) भूगोल–ब्रह्माण्ड संरचना, आकाश गंगाएँ, अपनी निहारिका, नक्षत्र-पुच्छलतारे, सौर मण्डल । अपना सौर मण्डल उसके ग्रह-उपग्रह । पृथ्वी की बनावट, कटिबन्ध, ध्रुव, अक्षांश, देशांतर पृथ्वी की गतियाँ, दिन-रात का कारण, मौसम बदलने का कारण, सूर्य-चन्द्र का कारण, जल मण्डल, पाँच महासागर, जल धाराएँ, ज्वारभाटा । थल मण्डल-महाद्वीप और उनके देश, जलवायु, उपज, भू सम्पदा, उद्योग, शासन प्रणाली, भाषा संस्कृति । वायुमण्डल-तापमान का वितरण, वायु का दबाव तथा वितरण, प्रवाही वायु । वर्षा, चक्रवात, भारत का प्राकृतिक विभाजन, प्राकृतिक सम्पदा, वन सम्पदा, प्रादेशिक विभाजन, जलवायु, जनसंख्या, सिंचाई, कृषि उद्योग धन्धे, सुरक्षा, कुटीर उद्योग, यातायात भाषा, महत्त्वपूर्ण स्थल, सामाजिक स्थिति ।

(३) अर्थशास्त्र– उत्पादन, भूमि, जल, श्रम, पूँजी, संगठन, साहस के माध्यम, हरामखोरी के दुष्परिणाम, *मजदूरी-ब्याज -विनमय, राजस्व आदि ।*

(४) नागरिक शास्त्र– नागरिक के अधिकार और कर्त्तव्य । राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं मनोरंजन संस्थाएँ । भारतीय संविधान, कार्यपालिका, न्यायपालिका, प्रदेश, जिला, मण्डल, ग्राम आदि का शासकीय क्षेत्र विभाजन, केन्द्रीय, प्रान्तीय और क्षेत्रीय शासन सभाएँ । शासन सूत्र संचालन, अधिकार, कर्मचारी व शासन के प्रमुख विभाग आदि ।

(५) इतिहास– पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति, मानवीय विकास क्रम सभ्यता का क्रमिक विकास । धर्मों का इतिहास । राजकीय इतिहास । भारत का क्षेत्र विस्तार तथा संकोचन । अतीत का गौरव । विकृतियों का अभिवर्द्धन । हजार वर्ष की गुलामी । सामाजिक और धार्मिक उलट-पुलट । स्वतन्त्रता का आन्दोलन और लक्ष्य की प्राप्ति । भावी संरचना आदि ।

(६) शारीरिक–शरीर रचना, अवयवों का स्वरूप और क्रियाकलाप, आहार, रोगों का कारण और स्वरूप, परिचर्या, प्राथमिक चिकित्सा, घरेलू चिकित्सा, स्वच्छता, उपयुक्त दिनचर्या । इन्द्रिय संयम, दीर्घजीवन, अकाल मृत्यु, खेलकूद आदि ।

(७) मन:शास्त्र– मस्तिष्क की संरचना और कार्यपद्धति, विचारों का बल और प्रभाव । मनोविकारों के *दुष्परिणाम । मानसिक सन्तुलन के सिद्धान्त ।* धैर्य, साहस, विवेक और दृष्टि भावनाएँ और उनकी प्रतिक्रियाएँ, जीवन दर्शन के भेद और परिणाम । मनोबल एवं आत्मबल । सनक, सन्देह, अनास्था, अहंता, दीनता और एकांगी अर्द्ध विक्षिप्त स्थिति, हँसी-खुशी की हलकी जिन्दगी आदि ।

(८) परिवार–आवश्यकता और उपयोगिता, पारिवारिक कर्त्तव्य और अधिकार । अर्थ सन्तुलन, स्वच्छता और व्यवस्था, दाम्पत्य जीवन । शिशु पालन, संयुक्त परिवार प्रणाली के लाभ-हानि । पुरानी पीढ़ी, नई पीढ़ी । अनुत्पादक सदस्य, शिष्टाचार । सुसंस्कारी वातावरण । पारिवारिक शिक्षा प्रक्रिया । अतिथि सत्कार, सम्बन्धी और कुटुम्बी आदि ।

(९) *सामाजिक शास्त्र*– *व्यक्ति और समाज के* सम्बन्ध । सहकारिता लोकमंगल हर व्यक्ति का नैतिक दायित्व । सामाजिक कुरीतियों का दुष्परिणाम, सत्प्रवृत्तियाँ और दुष्प्रवृत्तियाँ । अपराध । संघ शक्ति की नई दिशा । अवांछनीयता का उन्मूलन । सत्प्रवृत्तियों का *अभिवर्द्धन* आदि ।

(१०) दर्शन– धर्म और अध्यात्म । आस्तिकता और उपासना । कर्मफल, पुनर्जन्म, आत्मबोध पाप और पुण्य । स्वर्ग और नरक । दण्ड और प्रायश्चित, *भारतीय संस्कृति,*

कर्मकाण्ड और धर्मानुष्ठान, योग साधना, जीवन मुक्ति, ईश्वर प्राप्ति, गायत्री और यज्ञ, संस्कार और पर्वविकृति, दर्शन का अभिशाप, धर्मशास्त्र दार्शनिक भूल-भूलैया, आत्मा-परमात्मा, युग परिवर्तन क्यों और कैसे ? सूक्ष्म और स्थूल आदि ।

(११) सामान्य ज्ञान–डाकतार । बैंक और बीमा । रेल, जहाज, मोटर यातायात । सामान्य कानूनी जानकारी, विश्व की वर्तमान परिस्थितियाँ, विज्ञान परिचय । दुर्घटनाएँ । आज की अन्तरिक्ष समस्या राष्ट्रसंघ की सम्भावनाएँ । युग परिवर्तन क्यों और कैसे ?

महिला उपयोगी शिक्षा

(१) वस्त्र व्यवस्था– कपड़ों की धुलाई करना, प्रेस छपाई, मरम्मत ।

सिलाई–बनियान, कुर्त्ता, कमीज, बुशशर्ट, जाकिट फ्राक, ब्लाउज, नेकर, अंडरवियर, पजामा, सलवार, काटना और सीना ।

कढ़ाई–कपड़ों पर फूल-पत्ती, बेल तथा आकृतियाँ हाथ से काढ़ना । मशीन से तरह-तरह की डिजाइनें बनाकर काढ़ना । बुनाई–स्वेटर कमरबन्द फीते, डोरी, आसन निवाड़ दरी आदि बुनना ।

(२) शाक वाटिका– घर आँगन, गमले, टोकरियों, पेटियों में खाली जमीन में ऋतु के अनुकूल शाक-भाजियाँ तथा फूल उगाना ।

(३) गृह उद्योग– बिस्कुट, नान खटाई, लेमनजूस, टॉफी जैसे जलपान बनाना । सुगन्धित शरबत और तेल बनाना । साबुन, मोमबत्ती, स्याहियाँ बनाना । बर्तन, फर्नीचर आदि की मरम्मत, पुस्तकों की जिल्द बनाना । कुर्सियाँ बुनना, खिलौने बनाना, बाँस की चिकें बनाना, टूटी चीजों को जोड़ना ।

(४) गृह सज्जा– मरम्मत-पुताई, फर्नीचर का रंग-रोगन, चौक पूरना, अल्पना बनाना, कागज के फूल बेलें बनाना ।

(५) विशेष–संगीत सामान्यतः जिनका स्वर और गला उपयुक्त हो उनके लिए सामान्य संगीत, भजन, रामायण, सहगान, कीर्तन जैसी आवश्यक तर्जों का गायन । हारमोनियम, ढोलक आदि बजाना । भाषण प्रतियोगिता, वक्तृत्व कला का अभ्यास । स्लाइड प्रोजेक्टर का उपयोग ।

शिक्षा संस्थानों का उद्देश्य और स्वरूप

जिस प्रकार सम्पत्ति बढ़ाने की चिन्ता रहती है और आवश्यकता अनुभव होती है, उसी प्रकार ज्ञान सम्पदा की अभिवृद्धि की योजना बनाने के लिए भी निरत रहना चाहिए । मनुष्य का वास्तविक धन तो विद्या ही है । पैसे के स्वामी नकली और विद्या के धनी असली धनी हैं । राष्ट्र सम्पदा और विश्व सम्पदा की वृद्धि के लिए हमें विद्या धन के उपार्जन में जन-साधारण की रुचि जाग्रत करनी ही होगी । आत्मिक स्तर पर यह प्रयास यथाअवसर अध्ययन के रूप में चल सकता है । अपनी बचत से या पुस्तकालयों से उपयुक्त पुस्तकें लेकर पढ़ी जा सकती हैं ।

भौतिक स्तर पर इस रुचि को प्रोत्साहित करने के लिए वैसी सुविधाएँ और परिस्थितियाँ उत्पन्न की जानी चाहिए । इसके लिए हर विषय के रात्रि विद्यालय स्थापित किये जाने चाहिए । जो लोग ज्ञान का, विद्या का महत्त्व समझ चुके हैं उनके लिए भोजन-वस्त्र उपार्जन के लिए भी पैसा खर्च करना कठिन नहीं होना चाहिए । जो लोग स्कूली पढ़ाई एक सीमा तक ही जारी रख सके, पीछे उपार्जन में लग जाना पड़ा, आगे पढ़ने के लिए उनके द्वार बन्द नहीं होने चाहिए । विदेशों में ऐसी पाठशालाएँ बड़े पैमाने पर चलती हैं, जहाँ श्रमजीवी, व्यापारी या दूसरे लोग अपनी सुविधा के समय पढ़ने जा सकें । ऐसी ही सुविधा अपने यहाँ भी होनी चाहिए ।

यह कार्य रात्रि पाठशालाएँ कर सकती हैं । ट्यूटोरियल स्कूलों का प्रचलन तीव्र गति से होना चाहिए; रिटायर अध्यापक इस कार्य को बड़ी खूबी से चला सकते हैं । इसमें उनके बचे हुए समय का उपयोग भी है और फीस से आजीविका भी । किन विषयों की अध्ययन सुविधा हो यह स्थानीय माँग और इस व्यवस्था को जुटाने वालों की योग्यता पर निर्भर है ।

जहाँ जैसी स्थिति हो वहाँ के अनुरूप यह प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए कि सरकारी परीक्षाओं के लिए, हिन्दी साहित्य सम्मेलन–महिला विद्यापीठ, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति आदि की परीक्षाओं के अनुरूप पढ़ाई आरम्भ कर दी जाय । वर्तमान स्थिति में अपने देश में शिक्षा को आजीविका का माध्यम मान लिया गया है । अधिक पढ़ना अर्थात् कोई अधिक अच्छी आजीविका कमा सकने का रास्ता खोजना । नौकरी में प्रमाण पत्रों की आवश्यकता पड़ती है । इस मान्यता के रहते, परीक्षाओं का महत्त्व स्वीकार करना पड़ेगा और निर्धारित कोर्स के अनुरूप पढ़ाई का ढंग बिठाना पड़ेगा । फिलहाल वही करना चाहिए । कुछ समय बाद शिक्षा को व्यक्तित्व की गरिमा बढ़ाने का आधार समझा जाने लगेगा । जब लोग वस्तुस्थिति समझने लगेंगे, तब उन प्रमाण-पत्रों की आवश्यकता न रहेगी जिनके लिए तीन-चौथाई कूड़ा-कबाड़ मस्तिष्क में ठूँसना पड़ता है और काम की बातों के पढ़ने, समझने की गुंजाइश ही नहीं रहती । इन दिनों जब कि शिक्षा की रुचि ही एक प्रकार से सुप्त या मृत स्थिति में जा पड़ी है तब इन परीक्षाओं के लिए छात्र तैयार करना भी बुरा नहीं है । उसके लिए भारी प्रयत्न करके अभिरुचि जगानी पड़ेगी और छात्रों के पास जा-जाकर ऐसा प्रचार करना पड़ेगा जैसा चुनावों में वोट प्राप्त करने या बीमा एजेन्ट द्वारा किसी को बीमा करने के लिए राजी करने के लिए करना पड़ता है, जो हो जिस प्रकार भी संभव हो

अविच्छिन्न अंग मानकर पढ़ा और पढ़ाया जाता आजीविका वाला पक्ष दूसरा रहता । अनुमानित श्रेणियों के स्थान के लिए लगभग उतने ही छात्र छाँट लिए जाते । एक प्रकार से आरम्भ में ही निश्चिन्तता हो जाती और जो उस प्रकाश में नहीं आ पाते वे अपना दूसरा रास्ता ढूँढ़ते ।

शिक्षितों की आजीविका के तो निजी क्षेत्र में भी अनेक काम हो सकते हैं । कृषि विद्या की यदि आधुनिक जानकारी हो तो प्रचलित आमदनी की ड्यौढ़ी-दूनी कमाई हो सकती है । पशुपालन का सही तरीका आता हो तो उसे व्यवस्थित ढंग से किया जा सकता है और आजीविका बढ़ सकती है । खेती के साथ फल, शाक, मधु एवं अन्य उपार्जन की सहायक प्रवृत्तियाँ चलती रह सकती हैं । लुहार, मिस्त्री, कुम्हार, दर्जी, रंगरेज, मोची, जुलाहा, नाई, धोबी आदि के छोटे समझे जाने वाले और अविकसित ढंग से चलने वाले धन्धे यदि कोई व्यक्ति सुधरे ढंग से करने लगे तो जहाँ लोगों को बात-बात में अपने कार्य हेतु शहर भागना पड़ता है वे पास ही पूरे हो जाया करते । कुटीर उद्योगों की अपने देश में भारी आवश्यकता है ।

जापान की उन्नति का श्रेय उसके कुटीर उद्योग को ही है । यहाँ घर-घर में छोटे कारखाने लगे हैं । बिजली से चलने वाली छोटी-छोटी मशीनें फिट हैं । अवकाश मिलते ही घर में उन्हें चालू कर लिया जाता है और निर्धारित वस्तु बनने लग जाती है । इन उद्योगों का एक संचालन विभाग होता है । कच्चा माल वही दे जाता है और तैयार ले जाता है । मशीनों की मरम्मत की [illegible] भी उन्हीं की होती है । सूचना पाते ही मिस्त्री [illegible] को ट्राली समेत आ पहँचता है और टूट-

व्यक्तिगत स्तर के भी बहुत-से उद्योग हो सकते हैं । कुएँ के पानी निकालने के स्थान पर हैण्डपम्प लगाने की अगले दिनों हर जगह आवश्यकता अनुभव की जायगी । उससे पानी ताजा मिलता है और कुएँ में गन्दगी, पत्ती आदि गिरने से, गन्दे डोल-बाल्टी पड़ने से जो अस्वच्छता होती है वह दूर हो सकेगी । इस कारीगरी को सीखने वाला अगले दिनों अच्छी आजीविका कमा सकेगा । इसी प्रकार भंगी मुक्त समाज में फ्लैश के, बिना गन्दगी वाले पाखाने हर जगह आवश्यक हो जायेंगे । इन्हें बनाना जानने वाले भी अच्छी आजीविका प्राप्त करेंगे । बिजली कुछ ही दिनों में हर गाँव में पहुँच जायेगी । बिजली का फिटिंग तथा टूट-फूट ठीक करने वाले कारीगरों की भी अगले दिनों सर्वत्र बड़े पैमाने पर आवश्यकता होगी ।

कुछ उद्योग होते तो बड़े लाभदायक हैं पर उनकी खपत एक क्षेत्र में बहुत ही कम होती है । उनके लिए अन्यत्र बाजार ढूँढ़ना, कम पूँजी और उत्पादन के लिए असम्भव है । भावावेश में कई लोग ऐसे आकर्षक उद्योग आरम्भ कर लेते हैं पर क्षेत्रीय खपत के अभाव में उन्हें जल्दी ही बन्द करना पड़ता है । ऐसे उद्योग निजी स्तर पर नहीं किसी ऐसे संघ के माध्यम से हो सकते हैं जो कहीं का उत्पादन कहीं खपा देने की जानकारी क्षमता से सम्पन्न हो । इस आधार पर तो क्षेत्र से बाहर की खपत को ध्यान में रखते हुए भी उत्पादन आरम्भ कराये जा सकते हैं ।

इस सन्दर्भ में एक सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि खरीददार बड़े कारखानों की चीजों को सस्ती और सुन्दर होने के लोभ में खरीदता है, फलस्वरूप गृह उद्योगों के विकास का रास्ता रुक जाता है, इस स्थिति का सामना यदि सरकारी स्तर पर किया जाता तो अधिक अच्छा होता । बड़े कारखाने उन्हीं वस्तुओं के लगने दिये जाते जो

किया जाना चाहिए । गाँधीजी के खादी प्रयास के पीछे जो

शिक्षा की रुचि तो जागानी ही होगी । उन्मुक्त स्वाध्याय के लिये पुस्तकालयों, वाचनालयों की, विचार गोष्ठियों की तथा परीक्षा अध्ययन के लिए रात्रि पाठशालाओं की व्यवस्था कर पड़ेगी । राष्ट्र को सुयोग्य, सुशिक्षित और समझदार बनाने के लिए इस प्रकार के प्रयत्नों का आरम्भ एवं अभिवर्द्धन किया ही जाना चाहिए ।

अध्ययन के इच्छुक एवं आर्थिक कठिनाइयों से ग्रस्त छात्रों के लिए पुस्तक बैंक स्थापित किये जाने चाहिए । उसमें कोर्स की पुस्तकों के कई सैट उपलब्ध रहें । छात्र वहाँ से पुस्तकें उधार लेकर अपनी पढ़ाई जारी रख सकने की सुविधा प्राप्त कर सकें । महिलाएँ जिन्हें उनके घर वाले निरुत्साहित ही करते रहते हैं, निजी पैसा न होने से पुस्तकें खरीद नहीं पातीं, उनकी इच्छा इस पराधीनता की चट्टान से टकराकर टूट जाती हैं । अन्य व्यक्ति भी ऐसी ही जटिल परिस्थितियों में फँसे हुए हो सकते हैं, उनके लिए यह पुस्तक बैंक योजना अतीव उपयोगी सिद्ध हो सकती है ।

यों कई सरकारी विश्वविद्यालयों ने पत्राचार शिक्षा योजना भी चलाई हैं, दृढ़ मनोभूमि के व्यक्ति इस आधार पर भी अपनी पढ़ाई आगे जारी रख सकते हैं पर जिनका उत्साह परिपक्व नहीं है, उनके लिए एक दूसरे की देखा-देखी मिल-जुलकर साथ-साथ पढ़ने वाला ढर्रा ऐसा है, जिसमें पड़ जाने से उत्साह ठण्डा नहीं पड़ता और वह बात एक क्रम, अभ्यास में सम्मिलित हो जाती है । कभी मन ढीला पड़ा तो साथी उसे उभार देते हैं । परीक्षा प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाती है उसमें फेल होना अपमानजनक होता है । प्रमाण-पत्र का लालच और उसके साथ-साथ गौरव की वृद्धि जैसी कई प्रत्यक्ष-परोक्ष बातें ऐसी जुड़ जाती हैं, जो आधे-अधूरे मन से आगे बढ़ने के इच्छुकों को भी खींच घसीट कर किनारे तक पहुँच देती हैं ।

फीस से-बिना फीस से-सेवा भाव से-किसी स्रोत से वेतन का प्रबन्ध बनने से-जहाँ जो भी तरीके सम्भव हों उनकी खोज की जानी चाहिए । जिस प्रकार छोटे बच्चों को स्कूल भिजवाने के लिए प्रयत्न करना पड़ेगा, उसी प्रकार इन रात्रि विद्यालयों के लिए भी शिक्षार्थियों में अभिरुचि उत्पन्न करने का प्रयास करना पड़ेगा । काम-धन्धे से लगे हुए लोगों से लेकर ट्यूशन पढ़ने की आवश्यकता अनुभव करने वाले, किन्तु इतनी महँगी ट्यूशन फीस चुका सकने में असमर्थ छात्रों तक के पास जाना पड़ेगा । इन दिनों स्कूली पढ़ाई में जो ढोल-पोल चल रही है उसमें छात्रों के लिए घर पर पढ़ने के अतिरिक्त ट्यूटर की भी आवश्यकता पड़ती है ।

अपने देश में विशेषतया देहात में लड़कियों की शादी छोटी उम्र में ही हो जाती है । १४-१५ से आगे पढ़ने का उत्साह अभी पिछड़े क्षेत्रों में उत्पन्न नहीं हुआ है; यह लड़कियाँ विवाह से पूर्व थोड़ा-सा ही पढ़ पाती हैं; पीछे तो स्कूल जाने का न तो उनके पास समय रहता है और न कोई प्रोत्साहित करता है । उनके लिए अपरान्ह विद्यालयों द्वारा आगे की पढ़ाई का क्रम जारी रखा जा सकता है । उपार्जन के लिए शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता कितनी ही महिलाएँ अनुभव करती हैं; उनके लिए तो ये विद्यालय वरदान सिद्ध हो सकते हैं । इनके प्रचलन का युग निर्माण परिवार द्वारा पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिए ।

जन-स्तर पर कार्यान्वित होने वाली शिक्षा पद्धति

लाखों छात्र हर वर्ष पढ़ाई पूरी करके निकलते हैं । उनमें से प्रत्येक की इच्छा अच्छी, आराम की, ऊँची तनुख्वाह की, इज्जत की नौकरी पाने की होती है । इन सब को काम कहाँ से मिले, कौन दे ? फलतः शिक्षितों की बेकारी की भयंकर समस्या सामने आती है । सामान्य व्यक्ति कहीं पर मेहनत-मजूरी करके अपना खर्च जुटा सकता है पर जिनके खर्च भी बढ़ गये और जिन्हें काम भी उनकी इच्छा के अनुरूप चाहिए, उनका क्या हो ? सारे रास्ते बन्द दिखाई पड़ते हैं । तो फिर यही लोग बागी जैसे बनते हैं, अशिक्षित बागी जितनी हानि पहुँचाता है, शिक्षित बुद्धि बल का उपयोग करके उससे कहीं अधिक हानि पहुँचा सकते हैं ।

घर की पूँजी पढ़ाई में चुक गई वह पास रही होती तो कुछ उद्योग-धन्धा भी किया जा सकता था । सीखने का अवसर भी चला गया । युवावस्था में एक-एक दिन भारी पड़ता है और घर वालों का दबाव यही रहता है जितनी जल्दी हो सके कुछ कमाया जाय । यदि पहले से ही स्थिति का आभास रहा होता तो कोई शिल्प उद्योग सीखा होता और पढ़ाई में जो समय लगा वह उसमें लगाया होता पर अब तो न उसके लिए समय रहा और न मन में उत्साह । ऐसी स्थिति में आज का शिक्षित बेकार युवक किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर सोचता है कि वह किस मुसीबत में फँस गया है ?

इस स्थिति का सामना करने के लिए शिक्षा प्रयोजन में लगे हुए हर व्यक्ति को अपना दृष्टिकोण साफ करना चाहिए । नौकरी अवश्य ही मिल जायगी, यह सपना जितनी जल्दी छोडा जा सके, उतना ही अच्छा । शिक्षा को विशुद्ध रूप से ज्ञान दृष्टि का, व्यक्तित्व के विकास की आवश्यकता पूरी करने का माध्यम माना जाना चाहिए । इस दृष्टिकोण को लेकर जितना पढ़ाया जा सके पढ़ना चाहिए । आजीविका और शिक्षा को एक-दूसरे से आज की स्थिति में जोड़ा नहीं जाना चाहिए । क्योंकि वर्तमान प्रमाण पत्र व्यावहारिक जीवन में स्वावलम्बी बनाने की दृष्टि से दो कौड़ी के हैं ।

होना यह चाहिए था कि हमारी शिक्षा पद्धति में दोनों तथ्यों का समान रूप से समन्वय होता । जीवनोपयोगी सामान्य ज्ञान जो बौद्धिक विकास की आवश्यकता पूरी करता। विशुद्ध रूप से व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का

अविच्छिन्न अंग मानकर पढ़ा और पढ़ाया जाता आजीविका वाला पक्ष दूसरा रहता । अनुमानित श्रेणियों के स्थान के लिए लगभग उतने ही छात्र छाँट लिए जाते । एक प्रकार से आरम्भ में ही निश्चिन्तता हो जाती और जो उस प्रकाश में नहीं आ पाते वे अपना दूसरा रास्ता ढूँढ़ते ।

शिक्षितों की आजीविका के तो निजी क्षेत्र में भी अनेक काम हो सकते हैं । कृषि विद्या की यदि आधुनिक जानकारी हो तो प्रचलित आमदनी की ड्यौढ़ी-दूनी कमाई हो सकती है । पशुपालन का सही तरीका आता हो तो उसे व्यवस्थित ढंग से किया जा सकता है और आजीविका बढ़ सकती है । खेती के साथ फल, शाक, मधु एवं अन्य उपार्जन की सहायक प्रवृत्तियाँ चलती रह सकती हैं । लुहार, मिस्त्री, कुम्हार, दर्जी, रंगरेज, मोची, जुलाहा, नाई, धोबी आदि के छोटे समझे जाने वाले और अविकसित ढंग से चलने वाले धन्धे यदि कोई व्यक्ति सुधरे ढंग से करने लगे तो जहाँ लोगों को बात-बात में अपने कार्य हेतु शहर भागना पड़ता है वे पास ही पूरे हो जाया करते । कुटीर उद्योगों की अपने देश में भारी आवश्यकता है ।

जापान की उन्नति का श्रेय उसके कुटीर उद्योग को ही है । वहाँ घर-घर में छोटे कारखाने लगे हैं । बिजली से चलने वाली छोटी-छोटी मशीनें फिट हैं । अवकाश मिलते ही घर में उन्हें चालू कर लिया जाता है और निर्धारित वस्तु बनने लग जाती है । इन उद्योगों का एक संचालन विभाग होता है । कच्चा माल वही दे जाता है और तैयार ले जाता है । मशीनों की मरम्मत की जिम्मेदारी भी उन्हीं की होती है । सूचना पाते ही मिस्त्री अपने औजारों की ट्राली समेत आ पहुँचता है और टूट-फूट को तुरन्त ठीक कर देता है । मजूरी के बिल घरों पर ही चुका दिये जाते हैं । मशीन चलाने वाले उत्पादकों का तो हर चिन्ता से निवृत्त केवल उत्पादन पर ही ध्यान एकत्रित रहता है । इस प्रकार वे अधिक मात्रा में और अच्छे स्तर का काम कर लेते हैं । उन अलग-अलग घरों में अलग-अलग प्रकार की वस्तुओं को इकट्ठी करके जोड़ने वाले कारखानों में पूरी वस्तु बनती चली जाती है । पूरी वस्तु बनाने के लिए अनेक प्रकार के उपकरण इकट्ठा करने और उनके लिए कच्चा माल तलाश करने, बिक्री के लिए दरवाजे-दरवाजे मारे-मारे फिरने, गरज पड़ने में आधे-चौथाई दाम में बेचने, प्रतिस्पर्धा में सस्ता बनाने के लिए स्तर गिराने में उलझनों की उन्हें जरूरत नहीं पड़ती ।

इसी स्तर पर अपने यहाँ का भी विकेन्द्रित औद्योगीकरण हो सकता था । गाँव-गाँव, घर-घर विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनने से जहाँ देश की आवश्यकता पूरी हो सकती थी वहाँ हर व्यक्ति को विशेषतया शिक्षितों को घर बैठे काम मिल सकता था । नौकरी के लिए घर और परिजनों से दूर न जाना पड़ता ।

व्यक्तिगत स्तर के भी बहुत-से उद्योग हो सकते हैं । कुएँ के पानी निकालने के स्थान पर हैण्डपम्प लगाने की अगले दिनों हर जगह आवश्यकता अनुभव की जायगी । उससे पानी ताजा मिलता है और कुएँ में गन्दगी, पत्ती आदि गिरने से, गन्दे डोल-बाल्टी पड़ने से जो अस्वच्छता होती है वह दूर हो सकेगी । इस कारीगरी को सीखने वाला अगले दिनों अच्छी आजीविका कमा सकेगा । इसी प्रकार भंगी मुक्त समाज में फ्लैश के, बिना गन्दगी वाले पाखाने हर जगह आवश्यक हो जायेंगे । इन्हें बनाना जानने वाले भी अच्छी आजीविका प्राप्त करेंगे । बिजली कुछ ही दिनों में हर गाँव में पहुँच जायेगी । बिजली का फिटिंग तथा टूट-फूट ठीक करने वाले कारीगरों की भी अगले दिनों सर्वत्र बड़े पैमाने पर आवश्यकता होगी ।

कुछ उद्योग होते तो बड़े लाभदायक हैं पर उनकी खपत एक क्षेत्र में बहुत ही कम होती है । उनके लिए अन्यत्र बाजार ढूँढ़ना, कम पूँजी और उत्पादन के लिए असम्भव है । भावावेश में कई लोग ऐसे आकर्षक उद्योग आरम्भ कर लेते हैं पर क्षेत्रीय खपत के अभाव में उन्हें जल्दी ही बन्द करना पड़ता है । ऐसे उद्योग निजी स्तर पर नहीं किसी ऐसे संघ के माध्यम से हो सकते हैं जो कहीं का उत्पादन कहीं खपा देने की जानकारी क्षमता से सम्पन्न हो । इस आधार पर तो क्षेत्र से बाहर की खपत को ध्यान में रखते हुए भी उत्पादन आरम्भ कराये जा सकते हैं ।

इस सन्दर्भ में एक सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि खरीददार बड़े कारखानों की चीजों को सस्ती और सुन्दर होने के लोभ में खरीदता है, फलस्वरूप गृह उद्योगों के विकास का रास्ता रुक जाता है, इस स्थिति का सामना यदि सरकारी स्तर पर किया जाता तो अधिक अच्छा होता । बड़े कारखाने उन्हीं वस्तुओं के लगने दिये जाते जो हाथ से गृह उद्योगों द्वारा नहीं बन सकतीं ।

एक कपड़े के उद्योग को ही लें । रुई धुनने से लेकर, कातने, बनने, रंगने, धोने के सारे काम गृह उद्योग को सौंप दिये जायें तो उस एक धंधे से ही आज की बेकारी की आधी समस्या हल हो सकती है । इसी प्रकार के अन्य अनेक उद्योग मिलों के हाथ से लेकर कुटीर उद्योग को दिये जा सकते थे । वे विदेशी निर्यात की अथवा रेल, मोटर आदि बड़े-बड़े अनुभव या साधन वाली वस्तुओं को बनाते तो दुहरा लाभ होता, जनता के हाथ में कुटीर उद्योग बने रहते, निर्यात बढ़ता, आयात कम होता और बेकारी, बेरोजगारी का बहुत-सा हल निकल आता ।

सरकार का मुँह ताकना छोड़कर हमें केवल जनस्तर पर ही सोचना है, क्योंकि मूल शक्ति जनता में केन्द्रित है । वह जनशक्ति का, जनचिन्तन का तथा जनकर्तृत्व का प्रभाव इतना प्रबल है कि वह सरकार को बनाता है-बना सकता है फिर बिना सरकारी सहयोग के अन्य कार्य जनचेतना द्वारा क्यों नहीं हो सकते ?

इस सन्दर्भ में स्वदेशी भावना को पुनः प्रोत्साहित किया जाना चाहिए । गाँधीजी के खादी प्रयास के पीछे जो

दर्शन, जो दृष्टिकोण था, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, मार्मिक और दूरगामी परिणाम उत्पन्न करने वाला था । हमें विदेशी वस्तुओं की तरह बड़े कारखानों में उत्पादित वस्तुओं के उपयोग को निरुत्साहित करना चाहिए । खादी आन्दोलन की तरह हमें कुटीर उद्योगों का समर्थन करने वाली मनोभूमि विकसित करनी चाहिए । उस प्रवृत्ति को बढ़ाने का घोर आन्दोलन करना चाहिए । साथ ही उनके उत्पादन और विक्रय के ऐसे तंत्र गठित करने चाहिए जो उत्पादकों को कच्चा माल और विनिर्मित वस्तुओं को खरीद कर उपयुक्त स्थान पर बेचने का प्रबंध करें । इसे स्वदेशी भावना, अभावग्रस्तों की सहायता, सादगी एवं मितव्ययता, प्रोत्साहन और जो भी नाम दिया सकता है बात नाम की नहीं काम की है ।

इस प्रकार का गृह उद्योगीकरण हजारों तरह की वस्तुओं की माँग प्रस्तुत करेगा और उन्हें बनाने के लिए शिक्षितों की एक बड़ी संख्या को खपाया जाना संभव होगा ।

बड़े कारखानों के कारण हवा और पानी बेतरह गन्दे होते जा रहे हैं । आज नहीं तो कल बड़े मीलों को हटाना या रोकना पड़ेगा, उनका स्थान छोटे कारखाने, कुटीर उद्योग लेंगे और वे छोटे-छोटे देहातों तक में फैलेंगे । बड़े शहर शोरगुल से लेकर विलासिता और अनैतिकता के अड्डे बनते जा रहे हैं । संत विनोबा भावे के अनुसार बड़े शहर भारत के शरीर में केन्सर के फोड़े हैं । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भी हमें देहातों में अनेक उद्योगों को पनपने की बात को ध्यान में रखना होगा ।

उपरोक्त कार्यों के लिए बड़े इन्जीनियरों की उतनी आवश्यकता नहीं जितने छोटे कारीगरों की, मिस्त्रियों की अनेक घरेलू धन्धों तथा उद्योगों के लिए प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं की बड़ी संख्या में आवश्यकता पड़ेगी जिस प्रकार शिक्षा में गणित, भूगोल, इतिहास आदि कितने ही विषय पढ़ते हैं, उसी प्रकार शिक्षा-प्रक्रिया के साथ-साथ उपरोक्त प्रशिक्षण भी चलते रहें, जो चलें वे चिन्ह पूजा की तरह न हों । बेसिक शिक्षा के सिलसिले में अध्यापक लोग मात्र खानापूरी पर उतर आते थे, ऐसी खानापूरी बेकार है । जो भी काम सिखाया जाय उसके लिए पर्याप्त साधन हों । खेती सिखानी हो तो पर्याप्त भूमि हो और उनके नोट्स कापियों में लिखकर ही नहीं हाथ से काम करके अनुभव में उतरने का भी अवसर मिलना चाहिए । इसी प्रकार अन्य जो भी कारीगरी सिखाई जाय उसके लिए सुयोग्य शिक्षक और आवश्यक साधन व उपकरण होने चाहिए, न केवल सिखाने भर वरन् उत्पादन की भी पूरी-पूरी सुविकसित व्यवस्था हो । इसी व्यवस्था के अन्तर्गत शिक्षार्थी अपने विषय के पारंगत हो सकेंगे और उनके द्वारा हाथ में लिए गये काम सफल हो सकेंगे ।

शिक्षा की बौद्धिक प्रक्रिया में वर्तमान स्थिति को देखते हुए आमूलचूल परिवर्तन होना चाहिए । व्यावहारिक जीवन में काम करने वाले विषयों में से एक भी छूटने न पाये और मस्तिष्क पर वजन डालने वाले निरर्थक विषयों को स्थान न मिल पाये । इस तथ्य का ध्यान रखा जाय तो वर्तमान पाठ्यक्रमों में ही से तीन चौथाई को हटाना पड़ेगा और लगभग उतना ही नया समाविष्ट करना पड़ेगा । जीवन व्यवहार में पग-पग पर काम आने वाली शिक्षा को प्राप्त करने वाला छात्र यह अनुभव कर सकेगा कि उसने जो सीखा, वह स्कूल छोड़ने के साथ पल्ला झाड़कर फेंक देने सरीखा नहीं वरन् कुछ काम का भी था और जिसके लिए उसने परिश्रम किया था वह बेकार नहीं गया ।

ऐसी सामान्य ज्ञान की न्यूनतम व्यावहारिक शिक्षा को जनस्तर पर चलाया जा सकता है । उसका न्यूनतम कोर्स एक वर्ष रखा जा सकता है और आवश्यकतानुसार उसे कम या अधिक समय में पूरा हो सकने योग्य बनाया जा सकता है । प्रश्न विषय निर्धारण का है वह पूरे हो जाते हैं तो समझना चाहिए कि नौकरी न लगने की कठिनाई रहते हुए भी शिक्षा सार्थक रही और आगे चलकर काम आयेगी ।

शिक्षा-पद्धति का उपरोक्त क्रम अपनाकर सरकार चाहे तो शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रान्ति उपस्थित कर सकती है और उससे छात्रों की शिक्षा समस्या का, शिक्षित बेकारों की उलझन का वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र की आर्थिक कठिनाइयों का समाधान भी मिल सकता है । 'गरीबी हटाओ' अभियान के लिए जिस कुशलता, श्रमशीलता, अनुभव और तत्परता की आवश्यकता है उसे हमारे विद्यालय चाहें तो आसानी से पूरा कर सकते हैं । शिक्षा क्रम के इस आधार पर पूरा होने से सारा दृश्य ही बदल सकता है ।

अपने समय के दो महान अभियान

सतयुग की वापसी का तात्पर्य है देव-संस्कृति को फिर से अपने गौरवास्पद स्थान पर प्रतिष्ठित करना । मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग के अवतरण वाली ऋषि परम्परा को अपने समय में नये सिरे से प्रचलन में उतारना । इसकी तुलना सीता की वापसी से की जा सकती है, जिसके लिए हनुमान, अंगद जैसे महाप्रतापियों ने, रीछ वानरों जैसे मनस्वियों की सहायता से संभव कर दिखाया था ।

आद्य शक्ति नारी है, उसी के कारण सृष्टि का सृजन सम्भव हुआ । स्वर्ग से गंगा धरती पर भगीरथ के तप से आयी थी । नारी शक्ति लम्बे समय से उपेक्षित स्थिति में पड़ी रहकर अपनी महत्ता एक प्रकार से गँवा ही चुकी है । उसे अतीत के स्वर्ग में ही खोजा जा सकता है । अब वह पुनः भागीरथी, प्रयत्नों द्वारा अपनी गरिमा को इस धरातल पर अवतरित करने जा रही है, इसे गंगा अवतरण के समतुल्य माना जा सकता है ।

अपने समय के यह दो महान अभियान हैं । प्राणवान प्रतिभाओं को खोज कर उन्हें लंका दहन और सेतु बंध जैसे युग परिवर्तन के प्रयोजनों में लगाये जाने का बड़ा काम आज की परिस्थितियों में, अपने ढंग से सम्पन्न होने जा रहा है । देवताओं की बिखरी क्षमता को एकत्रित करके महाशक्ति दुर्गा का प्राकट्य हुआ था । आज के प्राणवान युग प्रहरी संगठित प्रयत्नों द्वारा ऐसा अभियान खड़ा करने जा रहे हैं, जिसके द्वारा सतयुग की वापसी आद्यशक्ति का अभिनव अवतरण संभव हो सके ।

पुरातन के प्रत्यावर्तन के लिए जो महाप्रयत्न किए जा रहे हैं, उन्हीं को प्रस्तुत युग चेतना के रूप में अपनी ऊर्जा और आभा का परिचय दे सकने में समर्थ बनाया जा रहा है । प्रस्तुत दोनों आन्दोलन इसी की रूपरेखा हैं ।

आद्यशक्ति का पुनर्जागरण

विशालकाय भवन निर्माण के अवसर पर किसी एक स्थान पर, छोटे से पत्थर द्वारा शिलान्यास किया जाता है । बाद में इस कार्य में अनेक ईंट-पत्थर लगते चले जाते हैं । कुआँ खोदते समय भी ऐसा ही होता है । विद्यारम्भ में बालक से एक अक्षर लिखाया जाता है, फिर उसमें शिक्षा की अनेक विधाएँ शामिल हो जाती हैं । महाभारत के आरम्भ होने की घोषणा पाञ्चजन्य के उद्घोष और गाँधी के सत्याग्रह आन्दोलन की शुरूआत नमक सत्याग्रह से हुई थी । हर बड़े कार्य का प्रारम्भ ऐसा ही होता है ।

सतयुग की वापसी के निमित्त आरम्भ हुआ युग परिवर्तन यों तो सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन और दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन की दिशा, धाराओं के साथ जुड़ा हुआ है पर उनका श्रीगणेश एक ऐसे प्रत्यक्ष कार्यक्रम को लेकर किया गया है, जो हर किसी के लिए सरल व संभव है । उनके लिए भी, जो व्यस्तता या अभावग्रस्तता की दुहाई देकर लोकमंगल के क्रिया-कलापों से कतराते रहते हैं । इस कार्य का लाभ भी नकद धर्म की तरह हाथों-हाथ मिलने वाला है । इसे प्रगतिशीलता की दिशा में उठाया गया एक क्रान्तिकारी चरण कह सकते हैं । इसे पतनोन्मुख अभिशाप के विरुद्ध छेड़ा गया एक ऐसा धर्मयुद्ध कह सकते हैं, जिसकी सफलता सुनिश्चित है । इस दिशा में उभरते मानवी उत्साह और प्रकाश के पीछे महाकाल का सुनिश्चित निर्धारण भी झाँकता देखा जा सकता है ।

यह कदम है नारी पुनरुत्थान मनुष्य वर्ग में नर की अपेक्षा नारी हर दृष्टि से वरिष्ठ है । माता, पत्नी, बहिन, पुत्री के रूप में उसके अनेक अजस्र अनुदान हैं । उनके लिए नर को सदा कृतज्ञ रहना चाहिए और उसकी वरिष्ठता स्वीकार करते हुए ऋण मुक्त होने के लिए उसके समुचित सम्मान और विकास में किसी प्रकार की कंजूसी नहीं बरतनी चाहिए ।

इस देश में जब नारियों को पर्याप्त विकास का अवसर और सम्मान दिया जाता था, तब इसे देवभूमि कहलाने का गौरव प्राप्त रहा । सामंतवादी युग के आतंक ने नारी को मानवी अधिकारों से वंचित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी । उसे पशु और मनुष्य की बीच की, दूसरे दर्जे के नागरिक की स्थिति में रहना पड़ा । वह स्वास्थ्य, स्वावलम्बन और कौशल सभी से दूर होती चली गयी । कहीं उसे घर में प्रतिबंधित किया, तो कहीं मनोरंजन की गुड़िया बनना पड़ा । दूसरी स्थिति में उसे थोड़ी सुविधाएँ और छिछली प्रशंसा तो मिली, परन्तु दोनों ही स्थिति में उसकी अद्‌भुत क्षमताओं को विकसित या प्रयुक्त होने का अवसर न मिल सका । नारी उस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति को स्वीकार कर बैठी और पुरुष वर्ग भी झूठी मालिकी के अहंकार में उसकी उपेक्षा कर बैठा । इससे हानि दोनों पक्षों को उठानी पड़ी । नारी अधिकारों से वंचित रही तथा आधी अपंग जनसंख्या का भार पुरुष वर्ग को ही ढोना पड़ा। इस विडम्बना में दोनों पक्षों की प्रगति रुक गयी ।

स्थिति को बदलना आवश्यक है । नारी को नर के समतुल्य प्रतिभावान बनाने का संकल्प लेकर नवयुग का शुभारम्भ करना है । इस निर्धारण के पीछे आधी जनसंख्या को अपंग स्थित से उबारकर अपनी प्रतिभा का जौहर दिखा सकने योग्य समर्थता प्रदान करना है । इससे अनीति का उन्मूलन और सदाशयता का संस्थापन बन पड़ेगा । इसे अधर्म के नाश और धर्म की स्थापना की प्रक्रिया भी कह सकते हैं । यही दैवी इच्छा भी है । नारी वर्चस्व प्रधान इक्कीसवीं सदी के उज्ज्वल भविष्य का शुभारम्भ इसी प्रथम चरण को उठाने से बन पड़ता है ।

'नारी उत्थान' व्यापक आन्दोलन का शुभारम्भ है । उसकी प्रतिक्रिया अगले ही दिनों अनीति के अनेक पक्षों पर कुठाराघात करती हुई नवसृजन के अनेकानेक आधार खड़े करती दिखाई देगी । एक बीज समयानुसार विशाल वृक्ष बनता है और वैसे ही असंख्य बीजों का उत्पादन करके अनेकानेक उद्यानों का निर्माण करने में समर्थ होता है । नमक सत्याग्रह अनेक चरणों में आगे बढ़ा और दावानल बनकर उस साम्राज्य को परास्त करके रख दिया, जिसमें कभी भी सूर्य अस्त नहीं होता था । नारी उत्थान अभियान दावानल बनकर अन्यान्य कुरीतियों, मूढ़-मान्यताओं, अवांछनीयताओं को भी नष्ट करने में समर्थ हो जाय तो किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए । अनेक सृजनात्मक प्रवृत्तियों के संस्थापन की आवश्यकता इन्हीं दिनों प्रतीत होगी । नारी को नवजीवन देने वाला यह प्रवाह यदि बसन्त अवतरण की तरह सभी पेड़ पौधों को अभिनव शोभा-शृंगार से भर दे, तो इसे नियति का स्वभाविक क्रम ही समझा जायगा ।

अंधी भेड़ें एक के पीछे दूसरी चलकर खड्डे में गिरती हैं, यह उदाहरण सही है । परन्तु यह भी गलत नहीं कि प्रतिभावान आगे बढ़ते हैं, तो प्राणवान भी अनुसरण करते हैं । हनुमान के चल पड़ने पर रीछ-वानरों का विशाल समुदाय गतिशील हुआ था । बुद्ध और गाँधी की महान परम्परा असंख्य आदर्शवादियों को कार्यरत बनाने में सफल

हुई थी । नारी जागरण वास्तव में युग शक्ति का प्रज्वलन है । उसके प्रचण्ड प्रभाव से यदि अनेक परम्पराओं को धराशायी होते देखा जाय तो उसे प्रवाह का चमत्कार ही माना जायेगा । इसे कल्पना नहीं युग परिवर्तन के संदर्भ में एक सुनिश्चित संभावना मानना चाहिए ।

शान्तिकुञ्ज के युग सृजन आन्दोलन के हाथों में थमी लाल मशाल के आलोक में, नारी जागरण अभियान का व्यापक विस्तार देखते-देखते जिस प्रकार गगनचुम्बी बनने की सम्भावना है, वैसी आशा अन्य सुधार आन्दोलनों से नहीं की जा सकती । कारण यह है कि मिशन की पत्रिकाओं के पाँच लाख सदस्यों और पच्चीस लाख पाठकों, नैष्ठिक प्रज्ञा पुत्रों से भरा-पूरा परिवार ऐसा है, जिसने विचारों में ही नहीं, कार्यक्षेत्र से भी प्रगतिशीलता चरितार्थ करके दिखायी है । इतना बड़ा सृजन तंत्र इसी परिकर के बलबूते खड़ा हुआ है । उन्हीं से अनेकानेक क्षेत्रों में सत्प्रवृत्ति-सम्वर्द्धन और दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन के इतने अधिक कार्य किए हैं कि यदि विज्ञापनबाजी से बचने का स्वेच्छानुशासन न अपनाया गया होता, तो पर्यवेक्षकों ने उसे अपने समय का एक अद्‌भुत और अनुपम सृजन तंत्र के रूप में जाना और माना होता पर ख्याति से बचना भी क्या है ? काम अपने आप में सबसे बड़ी और सबसे स्थाई ख्याति है । सुर्खियों में आने की नीति वे नहीं अपनाते जिन्हें कर्मनिष्ठा, उत्कृष्टता और समर्पित तत्परता का विश्वास है ।

शान्तिकुञ्ज द्वारा इन्हीं दिनों अपने क्रिया-कलापों में नारी जागरण अभियान को प्रमुखता दी गयी है । अपने सभी सहयोगियों का आह्वान किया गया है कि वे युग सन्धि की वेला में अपनाये गये महान कार्य में सामर्थ्य भर योगदान करें । शुभारम्भ अपने घर से करें । साथ ही अपने प्रभाव क्षेत्र में युग-चेतना के इस आलोक को पहुँचाने का प्राणपण से प्रयास करें । इतना तो हर कोई, तथाकथित व्यस्त और अभावग्रस्त भी कर सकते हैं । भाव तरंग उभरे तो व्यक्ति अपने घर दीपक जलाने का कार्य तो बिना किसी कठिनाई के कर सकता है । एक दीपक प्रज्ज्वलित होते ही, पड़ोसियों के बुझे हुए दीपक भी जलने के लिए मचल उठते हैं । सृजनात्मक आन्दोलन सड़कों पर उतरने से सम्भव नहीं होते । उनके लिए स्वयं, अपने प्रभाव क्षेत्र को परिवर्तन के श्रीगणेश का केन्द्र बनना पड़ता है । हम पच्चीस लाख में से आधे-चौथाई भी यदि युग परिवर्तन के लिए नारी जागरण की आवश्यकता सच्चे मन से समझें और उसे क्रियान्वित करने के लिए कटिबद्ध हो जायें, तो अपने परिवर्तित वातावरण की उपलब्धियों को देखते हुए, अनेक देखने और सुनने वाले वैसा ही करने के लिए मचल उठेंगे । देखते-देखते प्रगति सम्भावना आकाश चूमने लगेगी ।

'नर और नारी एक समान' के उद्‌घोष को कार्यान्वित करना है । प्रत्येक परिजन इसे एक चुनौती समझें, सच्चे मन से उसमें लग पड़ें । हर परिजन इन मूढ़-मान्यताओं को तिलाञ्जलि दें कि नारी नर की तुलना में कनिष्ठ-हेय है, लड़की दुर्भाग्य और लड़का सौभाग्यसूचक है, नारी दासी और नर स्वामी है, नारी दुर्बल और नर समर्थ है आदि । समझना चाहिए कि दोनों ही पक्ष एक-दूसरे के समान, एक दूसरे के पूरक हैं । दोनों के बीच समता, एकता, सद्‌भावना और न्यायनिष्ठा के आधार पर सच्चा सहयोग उत्पन्न किया जा सकता है । उस सघन कलाकारिता के आधार पर ही नारी का व्यक्तित्व, पति को सहयोग, परिवार का अभिनव निर्माण और समाज के उत्थान में समुचित योगदान दे सकता है । चिन्तन और व्यवहार में उपरोक्त आदर्शों को स्थान मिलते ही उसके सत्परिणाम, सुख-शान्ति, प्रगति-समृद्धि, व्यवस्था और प्रसन्नता के रूप में हाथों-हाथ मिल सकते हैं । उन उपलब्धियों को देखकर हर व्यक्ति का मन उसी के अनुकरण के लिए ललचाने लग सकता है ।

कन्या का भरण-पोषण और विकास पितृगृह में आरम्भ होता है । विवाह के बाद उसी उपक्रम को लम्बे समय तक जारी रखने की जिम्मेदारी ससुराल वालों पर, विशेष रूप से पति पर आती है । पिता के घर जितनी योग्यता लड़की अर्जित कर सकी थी, उससे आगे का क्रम पूरा करने में ससुराल पक्ष पूरी तत्परता बरते । यह क्रिया तब तक चलनी चाहिए जब तक पत्नी पति के समकक्ष न बन जाय । ससुराल वालों द्वारा लड़की के उत्तरार्द्ध शिक्षण का कार्य जितना किया जा सके उतना ही उत्तम है । उसे प्रजनन के दायित्व से बचाकर रखा जाय ताकि वह ससुराल में रहते हुए भी अपनी योग्यता बढ़ाने में अड़चन अनुभव न करे । नारी शिक्षा के लिए पति गृह में भी व्यवस्था बने तभी नारी जागरण का लक्ष्य पूरी तरह प्राप्त हो सकेगा ।

लड़की और लड़के के बीच कहीं, किसी को, किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करना चाहिए । उन भ्रान्तियों को पूरी तरह त्याग देना चाहिए जिनके आधार पर लड़के को घर का दीपक, वंश चलाने वाला, पितरों को तारने वाला और लड़की को घर का कूड़ा समझा जाता है । समय की माँग है कि दोनों को एक ही गाड़ी के दो पहिए, एक ही शरीर के दो हाथ माना जाय । यह भावनात्मक क्षमता यथा समय कार्यरूप में परिणित होनी चाहिए ।

इस दिशा में पहला कदम यह होना चाहिए कि कपड़ों और सज्जा के क्षेत्र में लड़के-लड़कियों के बीच जो असाधारण अन्तर पड़े तो इतना करना ही चाहिए कि लड़कियों, महिलाओं को इतना न सजाया जाय कि वे उत्तेजक आकर्षण पैदा करें और जापानी गुड़िया जैसी लगें । उनका व्यक्तित्व एक समग्र मनुष्य जैसा परिलक्षित हो । रमणी, कामनी और भोग्या जैसा नहीं । आर्थिक दृष्टि से, स्वास्थ्य की दृष्टि से और नारी को एक सजावट उपकरण मात्र न बनने देने की दृष्टि से भी जेवरों की उपेक्षा की जानी चाहिए ।

सभी छोटी आयु की नारियों को साक्षर बनाया जाना चाहिए । स्वावलम्बन के लिए कुटीर उद्योगों के अभ्यास

होने चाहिए । संगीत इसलिए कि वे उस अभ्यास से अपनी घुटन बाहर निकाल सकें तथा घर में उमंग का वातावरण बना सकें । परिवार-व्यवस्था, आहार-विज्ञान, शिशु-पोषण, दाम्पत्य-जीवन, भावनात्मक निर्माण, सम्पर्क क्षेत्र में नारी जागरण की सेवा-साधना, कुरीति उन्मूलन, प्रतिभा सम्वर्द्धन जैसे अनेक विषय हैं जो नारी को ज्ञात होने ही चाहिए । नारी जागरण की दृष्टि से इस प्रकार के प्रशिक्षण को प्रगति का अनिवार्य अंग माना गया है ।

कोई जमाना था जब घर का एक व्यक्ति कमाता था और पूरा परिवार खाता था पर अब ऐसी स्थिति नहीं रही । बढ़ती हुई घोर महँगाई, बढ़ती आवश्यकताओं के कारण अब हर किसी को उपार्जनकर्त्ता तो होना ही चाहिए, उसका कौशल भी समाज के बीच अपने को सुरक्षित रख सके । इस दृष्टि से पुरुषों पर दुहरा दायित्व आता है-स्वयं भी उस स्तर पर आना तथा नारी वर्ग को भी वहाँ तक उठाना, पहुँचाना । नारी को समर्थ बनना दोनों दृष्टियों से आवश्यक है-(१) यदि नारी पर बच्चों के भरण-पोषण का दायित्व आ पड़े तो उसे कुशलता से निभा सके, (२) सहज स्थिति में अपनी प्रतिभा, योग्यता से परिवार और समाज निर्माण में बढ़-चढ़कर योगदान दे सके।

कहा जा चुका है कि नारी के विकास का लक्ष्य तभी पूर्ण हो सकेगा जब पूर्वार्द्ध में पिता लड़की को सुयोग्य बनाने पर पूर्ण ध्यान दे और उत्तरार्द्ध में पतिग्रह में भी इसकी समुचित व्यवस्था रहे । इस दृष्टि से बाल विवाह और जल्दी बच्चे पैदा करने की अनीति से भी नारी की रक्षा करनी होगी । इन विवशताओं के रहते नारी शिक्षा का लक्ष्य पूरा कैसे होगा ? नारी अभ्युदय आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिए इस औचित्य को समझना तथा उसके अनुरूप वातावरण एवं प्रचलन बनाना होगा ।

मनुष्य जीवन के तीन अवसर महत्त्वपूर्ण हैं:- (१) जन्म, (२) विवाह व (३) मृत्यु । इन तीनों को सफल बनाने के लिए हर विचारशील को समुचित प्रयत्न करने चाहिए । जन्म का दायित्व अभिभावकों पर आता है और मरण की पूर्ण तैयारी व्यक्ति को स्वयं करनी पड़ती है; परन्तु विवाह एक ऐसा कृत्य है जिससे समाज का सीधा सम्बन्ध है । हर विवाह का प्रभाव वर्तमान समाज और भावी पीढ़ी पर असाधारण रूप से पड़ता है इसलिए इसे हर दृष्टि से सार्थक बनाने के लिए समुचित मार्गदर्शन देना और वातावरण बनाना आवश्यक है । देखा यह गया है कि इस सम्बन्ध में न तो वर को समुचित जानकारी होती है और न कन्या को ही उन दायित्वों का पता होता है । यह प्रसंग विवाह के अवसर पर सम्बन्धियों की उपस्थिति में उजागर होना चाहिए । पुरोहित लोग कुछ पूजा-पत्री करके बात को समाप्त कर देते हैं । सम्मिलित होने वाले कुटुम्बी, सम्बन्धी नेग-जोग पूरे करने और धूमधाम में भाग लेने के बाद रास्ता नाप लेते हैं । मूल उद्देश्य विवाह को हृदयंगम करना, कराना और उनके परिपालन की घोषणा युक्त प्रतिज्ञाएँ करना होना चाहिए ।

विवाह-संस्कार में वैसा कुछ हो नहीं पाता । ऐसी स्थिति में हर समझदार को हर वर्ष अपना विवाह दिन मनाना चाहिए । वैसा न बन पड़े तो उपयुक्त अवसरों पर जीवन में कई बार विवाह के सतयुगी दायित्वों का निर्वाह स्मरण नये सिरे से किया कराया जाय । उस सन्दर्भ में उसी प्रकार के क्रिया-कृत्य संस्कार सम्पन्न किये जायें । इस प्रकार विवाह की लकीर पिट जाने के बाद भी विवाह दिवस समय-समय पर मनाये जाते रहते हैं । इन्हें जन्म दिवसोत्सवों की ही तरह महत्त्व मिलना चाहिए । इस आधार पर न केवल सम्बद्ध व्यक्तियों को, बल्कि उपस्थित जनों को भी नयी प्रेरणा मिलती है, नये सिरे से विचार करने का अवसर मिलता है ।

शान्तिकुञ्ज में इस प्रकार की व्यवस्था बनी है कि कोई भी पति-पत्नी, लकीर पिटने, चिन्ह-पूजा होने जैसे अपने विवाह के स्थान पर नये सिरे से विवाह दिवसोत्सव द्वारा दिव्य प्रेरणा से भरे-पूरे नये जीवन का आधार बना सकें । इसे विवाह का एक प्राणवान अभिनव संस्करण भी कहा जा सकता है । नियत तिथि पर हरिद्वार आना न हो सके तो कुछ आगे-पीछे उसी महीने में भी यह संस्कार कराया जा सकता है ।

स्थानीय प्रज्ञामण्डलों को भी अपने साप्ताहिक सत्संगों में जन्मदिवस और विवाहदिवस मनाने की परम्परा जोड़नी चाहिए । इससे मनुष्य जीवन के उज्ज्वल उद्देश्य और उपयोग का स्वरूप समझाने के अतिरिक्त विवाहों को एक महान धर्म अनुष्ठान मानने की लोकचेतना जाग सके ।

शान्तिकुञ्ज में दहेज, जेवर और धूमधाम से रहित विवाह-संस्कार कराने का भी प्रबंध है । दोनों पक्षों के पाँच-पाँच व्यक्ति वर एवं कन्या आश्रम में आ सकते हैं, और अपनी सुविधा के दिन उस महान कृत्य को भाव-भरे वातावरण में सम्पन्न करा सकते हैं । इसके लिए किसी पर किसी प्रकार का आर्थिक दबाव नहीं पड़ता । आश्रम की मर्यादा के अनुरूप साधन उन्हें उपलब्ध करा दिए जाते हैं । इसके लिए पूर्व स्वीकृति मँगा लेना आवश्यक है । स्वीकृति तभी मिलती है जब वर कन्या दोनों वयस्क हों, और दोनों पक्ष उपरोक्त आदर्शों के लिए सहमत हों । ऐसे विवाह स्थानीय समारोहों-यज्ञादि में भी किए जा सकते हैं । उत्साह भरे वातावरण में, ऐसे आदर्श विवाहों के प्रचलन को अब एक प्रचण्ड आन्दोलन का रूप देकर वातावरण को नये सिरे से जाग्रत और उल्लसित किया जाना चाहिए ।

विवाह अपने देश में एक भयंकर समस्या बने हुए हैं । उसमें होने वाली धूमधाम और दहेज, जेवर की भरमार ने समाज की अर्थ-व्यवस्था की कमर तोड़ कर रख दी है । वर-वधू के अन्तर्मन में ऐसी खाइयाँ खोद दी जाती हैं । जो जीवनभर न पट सकें । दोनों पक्ष के सम्बन्धी एक-दूसरे के प्रति शत्रुता स्तर के भाव लेकर लौटते है ।

आयोजन करते हुए एक महाक्रान्ति के लिए संकल्पित होकर कार्यक्षेत्र में उतर भर पड़ें, तो इस आन्दोलन की लहरें आकाश चूमने लगें । महाकाल की इच्छा भी यही है ।

शान्तिकुञ्ज के बढ़ते हुए सृजन प्रयासों में इन दिनों नारी जागरण आन्दोलन को प्रमुखता दी जा रही है । इसकी सफलता पर उज्ज्वल भविष्य की संरचना की संभावना को सुरक्षित माना जा सकता है । इन प्रयासों में एक ओर विवाह विकृतियों के विरुद्ध शंखनाद करते हुए अपने ढंग का अनोखा गाण्डीव उठाया गया है । दूसरी ओर नारी वर्ग की प्रतिभाओं को प्रशिक्षित एवं संगठित करके उन्हें नवसृजन के आन्दोलन में उतारने का निश्चय किया गया है । उन्हें अगले दिनों अपने परिवार और सम्पर्क क्षेत्र को महान परिवर्तन के लिए अग्रसर करते देखा जा सकेगा ।

इस दिशा में बहुमुखी प्रयास चल रहे हैं । शान्तिकुञ्ज की नारी प्रशिक्षण योजना प्रौढ़ता के स्तर पर पहुँचती जा रही है । आश्रम में प्रेरक विवाहदिवसोत्सव और आदर्श विवाह संस्कार मनाने की सटीक व्यवस्था बनायी गयी है । देशभर के प्राणवान व्रतधारी प्रज्ञापुत्रों को प्रेरित किया गया है कि अपने क्षेत्र में इन विधाओं को आगे बढ़ाते हुए विवाह विकृतियों के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करें । छोटे-बड़े आयोजनों के माध्यम से जन-आन्दोलन को गति दें । इस कार्य में सुविधा की दृष्टि से प्रगतिशील जाति विशेष के मेले लगाना भी उचित हो सकता है । युग-क्रान्ति की महती आवश्यकता पूरी करने के लिए विभिन्न स्वरूपों में एक ही उद्देश्य से संगठित प्रयत्नों का प्रचण्ड-प्रवाह खड़ा किया जाना है । सभी प्रज्ञा परिजन बिना दहेज, जेवर और अपव्यय के आदर्श विवाह करने की प्रतिज्ञाएँ करें । प्रतिज्ञा पत्रों का एक व्यापक आन्दोलन चल पड़े ।

दीप यज्ञों के रूप में चल रहे युग परिवर्तन प्रयासों में सतयुग की वापसी के साथ नारी शक्ति जागरण की आधारशिला भी रखी जा रही है । महिला मण्डल गठित हो रहे हैं । इनके द्वारा जो प्रवाह खड़ा होगा वह विवाह विकृतियों से जूझने तक ही सीमित नहीं रहेगा, वरन् दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन और सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन के साथ सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उपरान्त ही चैन लेगा ।

नारी जागरण की दूरगामी संभावनाएँ

भावनाशील प्रतिभाओं को खोजना, एक सूत्र में बाँधना और उन्हें मिल-जुलकर सृजन के लिए कुछ करने में जुटाना-सतयुग की वापसी का शिलान्यास है । इसी के उपरान्त नवयुग का, उज्ज्वल भविष्य का भव्य भवन खड़ा हो सकने का विश्वास किया जा सकता है । इसलिए इसे सम्पन्न करने के लिए इस आड़े समय में किसी भी प्राणवान को निजी कार्यों की व्यस्तता की आड़ लेकर बगलें नहीं झाँकनी चाहिए । युग धर्म की इस प्रारम्भिक माँग को हर हालत में, हर कीमत पर पूरा करना ही चाहिए ।

इन्हीं दिनों उठने वाला दूसरा चरण है *'आद्यशक्ति का अभिनव अवतरण' नारी जागरण । आज की स्थिति* में नारी-नर की तुलना में कितनी पिछड़ी हुई है । इसे हर कोई हर कहीं नजर पसारकर अपने इर्द-गिर्द ही देख सकता है । उसे रसोईदारिन, चौकीदारिन, धोबिन और बच्चे जनने की मशीन बनकर अपनी जिन्दगी गुजारनी पड़ती है । दासी की तरह जुटे रहने और अन्न व वस्त्र पाने के अतिरिक्त अन्य कोई महत्त्वाकांक्षा सँजोने के लिए उस पर कड़ा प्रतिबन्ध है । परम्परा निर्वाह के नाम पर उसे बाधित और प्रतिबंधित रहने के लिए कोई ऐसी भूमिका निभाने की गुंजाइश नहीं है जिससे उसे एक समग्र मनुष्य कहलाने की स्थिति तक पहुँचाने का अवसर मिले ।

संसार में आधी जनसंख्या नारी की है । इस वर्ग का पिछड़ी स्थिति में पड़े रहना समूची मनुष्य जाति के लिए एक अभिशाप है । इसे अर्द्धांग पक्षाघात पीड़ित जैसी स्थिति भी कहा जा सकता है । एक पहिया टूटा और दूसरा साबुत हो तो गाड़ी ठीक प्रकार चलने और लक्ष्य तक पहुँचने में कैसे समर्थ हो सकती है ? एक हाथ वाले, एक पैर वाले निर्वाह भर कर पाते हैं । समर्थों की तरह बड़े काम सफलतापूर्वक कर सकना उनसे कहाँ बन पड़ता है ? आधी जनसंख्या अनगढ़ स्थिति में रहे और दूसरा आधा भारत उसे गले के पत्थर की तरह लटकाए फिरे तो समझना चाहिए कि इस स्थिति में किस प्रकार समय को पूरा किया जा सकेगा ? किसी महत्त्वपूर्ण प्रगति की संभावना बन पड़ना तो दुष्कर ही रहेगा ।

पिछड़े वर्ग को ऊँचा उठाने की इन दिनों प्रबल माँग है । इसके लिए अनुसूचित जातियों, जनजातियों को समर्थ बनाने के प्रयत्न चल रहे हैं । इस औचित्य में एक कड़ी और जुड़नी चाहिए कि हर दृष्टि में हेय स्थिति में पड़ी हुई, दूसरे दर्जे के नागरिक जैसा जीवन जीने वाली अनेकानेक सामाजिक प्रतिबन्धों में जकड़ी हुई नारी को भी एकता और समता का लाभ मिले । इस ओर से आँखें बन्द किए रहना सम्भवतः प्रगति में चट्टान बनकर अड़ा ही रहेगा ।

अपंग स्तर का व्यक्ति स्वयं कुछ कर नहीं पाता, दूसरों की अनुकम्पा पर जीता है पर यदि उसकी स्थिति अन्य समर्थों जैसी हो जाय तो किसी के अनुग्रह पर रहने की अपेक्षा वह अपने परिकर को अपनी उपलब्धियों से लाद सकता है । जब लेने वाला देने वाले में बदल जाय तो समझना चाहिए कि खाई पटी और उस स्थान पर ऊँची

इस प्रकार के विवाहों से आरम्भ हुआ दाम्पत्य जीवन कभी स्नेह-सद्भाव से भरा-पूरा नहीं रह सकता । सन्तान पर भी उस बरती गयी अनुदारता की छाप पड़े बिना नहीं रह सकती । वे भी विकृत मानसिकता लेकर जन्मते हैं ।

नर और नारी के बीच अहमन्यता और दीनता भरी जो खाई इन दिनों दिखाई पड़ती है, उसके मूल में खर्चीली शादियाँ ही हैं । वे ही जन-साधारण को दरिद्र और बेईमान बनाती हैं । लड़के-लड़की के बीच अन्तर इसी कारण पैदा हुए हैं । विवाह के समय लड़का कमाऊ दिखाई देता है, जबकि लड़की के विवाह के लिए अभिभावकों को प्रारम्भ से ही साधन जुटाने की चिन्ता करनी पड़ती है । इसी कारण नर को सर्वाधिकारी और नारी को दासी बनकर रहने के लिए दबाव पड़ता है । इन अनर्थों के केन्द्र-बिन्दु में विकृत विवाहों की अवाञ्छनीय परम्परा ही है । यदि इन विकृतियों को हटाकर स्नेह, श्रद्धा, सहकार की पृष्ठभूमि पर विवाह किये जाने लगें, तो दोनों पक्षों के लिए प्रसन्नता और सारे समाज के उत्कर्ष के आधार बन सकते हैं । युवा दम्पत्ति एक दूसरे के समर्थ सहयोगी बनकर, एक-दूसरे को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने के प्रयत्न में जुटे, तो उसके प्रभाव से समूचे समाज में, सर्वतोमुखी प्रगति का प्राणवान वातावरण उभरे ।

यह सब कैसे संभव हो ? इसके थोड़े से सुगम सूत्र हैं । विवाहों को एक छोटे, पारिवारिक उत्सव की तरह, बिना किसी अपव्यय के नितान्त सादगी से सम्पन्न हो सकने वाला संस्कार-धर्मानुष्ठान बनाया जाय । पति-पत्नी दोनों ही समान योग्यता के हों और मिल-जुलकर दायित्वों का निर्वाह करें, रूप और धन को प्रधानता न देकर ऐसे समान प्रवृत्तियों वाले जोड़े खोजे जायें । विवाह आयोजन ऐसे प्रतिज्ञा समारोहों की तरह हों जिसमें एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्य पालन के लिए वचनबद्ध हों । स्नेही, सम्बन्धी जो भी विवाह समारोह में उपस्थित हों वे विवाह संस्कार का वातावरण भी बनायें तथा दोनों पक्षों द्वारा वचन-दायित्व निभाये जाने पर ध्यान रखें । जहाँ चूक हो वहाँ समझाने, प्रेरणा या दबाव देकर सही मार्ग पर चलाने का दायित्व भी निभाएँ । इस प्रकार दाम्पत्य जीवन को श्रेष्ठता, सफलता की ओर ले जाने का पुण्य कर्त्तव्य वस्तुतः सारे समाज का ही बनता है ।

इन दिनों एक भारी कठिनाई, उपयुक्त जोड़ों की खोजबीन की है । इस कठिनाई का कारण है खोज में लगे अनावश्यक प्रतिबन्ध । उपजातियों का छोटा दायरा, कुण्डली मिलाने का चक्कर, वर की आयु और शिक्षा, कन्या से अधिक होने का आग्रह आदि ऐसे कारण हैं, जिससे उपयुक्त जोड़े खोजना सम्भव नहीं होता । समान गुण के वर कन्या हों यह बात तो समझ में आती है, परन्तु गुणों का मिलाना व्यक्तित्व से नहीं कुण्डली से किया जाना एक भ्रम है । यह हमारी परम्परा भी नहीं है । सीता, द्रौपदी, दमयंती, सावित्री आदि के स्वयंवर में कुण्डली को नहीं प्रत्यक्ष व्यक्तित्वों को ही आधार बनाया गया था । इसी प्रकार आज के मानवतावादी युग में भी जातियों के दायरे से बाहर न निकला जा सके तो उपजातियों का तो औचित्य है ही नहीं । सीमित दायरे में उपयुक्त वर न मिलने से लड़की वालों को बराबर चक्कर काटने पड़ते हैं और दहेज की नीलामी की बोली बढ़ती जाती है ।

यों तो एक धर्म, एक संस्कृति होना ही विवाह सम्बन्ध के लिए पर्याप्त समझा जाना चाहिए । परन्तु प्रारम्भ में इतना साहस न बन पड़े, तो उपजातियों का बन्धन तोड़ने जितना प्रगतिशील साहस तो अपनाया ही जाना चाहिए । ब्राह्मण-ब्राह्मण, क्षत्रीय-क्षत्रीय, वैश्य-वैश्य आदि जातिगत व्यापक दायरे में सम्बन्ध करने की परम्परा तो डालनी ही चाहिए ।

वर कन्या की योग्यता और आयु का स्तर समान होना चाहिए । थोड़ा बहुत अन्तर रह सकता है, उसमें वर अधिक या कन्या इसका आग्रह न रखा जाय यही उचित है । इतना सद्साहस जगाया जा सके तो उपयुक्त जोड़े खोजने की समस्या का बहुत कुछ हल निकल आयेगा । गुण के आधार पर बनाये गये जोड़ों के विवाह में दहेज, जेवर, धूमधाम का आग्रह भी न रहे तो विवाह एक मुसीबत न रहकर एक सरल, सुलभ, हलका और उच्चस्तरीय प्रसन्नता देने वाला हर्षोत्सव बन जायगा ।

यह सब कैसे हो ? इसके लिए व्यक्तिगत स्तर पर दृढ़ मानस के साथ संगठित प्रयास भी करने होंगे । एक सामयिक कदम यह है कि प्रगतिशील जातीय संगठन बनाये जायें । उन संगठनों में निर्णय लेकर उपजातीय प्रतिबन्ध तोड़कर बड़े जातीय दायरे में विवाह सम्बन्ध करने के मार्ग प्रशस्त किए जायें जैसे प्रगतिशील ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य, कायस्थ, कुर्मी समाज आदि । प्रज्ञा अभियान की प्रखर विचारधारा के आधार पर ये ऊपर वर्णित सभी सुधार प्रयोगों को लागू करें । वर्ष में एक दो बार ऐसे मेले लगाये जा सकते हैं जिनमें अभिभावक वर-कन्याओं सहित पहुँचें और उपयुक्त जोड़ों का चुनाव कर लें । इससे निरर्थक भाग-दौड़, समय और धन का व्यय तो बचेगा ही, सुगमता से सुखी दाम्पत्य का आधार भी बन सकेगा । उन्हीं मेलों में पूर्व निर्धारित जोड़ों के सामूहिक विवाह भी रचाये जायें ।

प्राणवान, प्रगतिशील विचार के व्यक्ति ऐसे क्रम चला दें, तो उनसे इतना जोरदार प्रचार हो कि प्रचलित विवाह विकृतियों के विरुद्ध जन-मानस उबल पड़े । सम्मेलन प्रचलन, प्रदर्शनी, प्रकाश चित्र, संगीत आदि माध्यमों से इतने महान उद्देश्य के लिए उल्लास और साहस भरा सुधारवादी वातावरण बन सकता है । इस प्रकार के आयोजन स्थान-स्थान पर होने लगें तो प्रत्येक समुदाय के, हर वर्ग को श्रेष्ठ परम्परा अपनाने के लिए अभीष्ट प्रेरणा प्रदान की जा सकती है । इस प्रकार के प्रयास करने के इच्छुक सभी जातियों के प्राणवान कार्यकर्त्ताओं के मार्गदर्शन, प्रशिक्षण, सहयोग आदि की व्यवस्था शान्ति कुञ्ज में की गयी है । हर वर्ग के प्रतिभाशाली लोग ऐसे

आयोजन करते हुए एक महाक्रान्ति के लिए संकल्पित होकर कार्यक्षेत्र में उतर भर पड़ें, तो इस आन्दोलन की लहरें आकाश चूमने लगें। महाकाल की इच्छा भी यही है।

शान्तिकुञ्ज के बढ़ते हुए सृजन प्रयासों में इन दिनों नारी जागरण आन्दोलन को प्रमुखता दी जा रही है। इसकी सफलता पर उज्ज्वल भविष्य की संरचना की संभावना को सुरक्षित माना जा सकता है। इन प्रयासों में एक ओर विवाह विकृतियों के विरुद्ध शंखनाद करते हुए अपने ढंग का अनोखा गाण्डीव उठाया गया है। दूसरी ओर नारी वर्ग की प्रतिभाओं को प्रशिक्षित एवं संगठित करके उन्हें नवसृजन के आन्दोलन में उतारने का निश्चय किया गया है। उन्हें अगले दिनों अपने परिवार और सम्पर्क क्षेत्र को महान परिवर्तन के लिए अग्रसर करते देखा जा सकेगा।

इस दिशा में बहुमुखी प्रयास चल रहे हैं। शान्तिकुञ्ज की नारी प्रशिक्षण योजना प्रौढ़ता के स्तर पर पहुँचती जा रही है। आश्रम में प्रेरक विवाहदिवसोत्सव और आदर्श विवाह संस्कार मनाने की सटीक व्यवस्था बनायी गयी है। देशभर के प्राणवान व्रतधारी प्रज्ञापुत्रों को प्रेरित किया गया है कि अपने क्षेत्र में इन विधाओं को आगे बढ़ाते हुए विवाह विकृतियों के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करें। छोटे-बड़े आयोजनों के माध्यम से जन-आन्दोलन को गति दें। इस कार्य में सुविधा की दृष्टि से प्रगतिशील जाति विशेष के मेले लगाना भी उचित हो सकता है। युग-क्रान्ति की महती आवश्यकता पूरी करने के लिए विभिन्न स्वरूपों में एक ही उद्देश्य से संगठित प्रयत्नों का प्रचण्ड-प्रवाह खड़ा किया जाना है। सभी प्रज्ञा परिजन बिना दहेज, जेवर और अपव्यय के आदर्श विवाह करने की प्रतिज्ञाएँ करें। प्रतिज्ञा पत्रों का एक व्यापक आन्दोलन चल पड़े।

दीप यज्ञों के रूप में चल रहे युग परिवर्तन प्रयासों में सतयुग की वापसी के साथ नारी शक्ति जागरण की आधारशिला भी रखी जा रही है। महिला मण्डल गठित हो रहे हैं। इनके द्वारा जो प्रवाह खड़ा होगा वह विवाह विकृतियों से जूझने तक ही सीमित नहीं रहेगा, वरन् दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन और सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन के साथ सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उपरान्त ही चैन लेगा।

नारी जागरण की दूरगामी संभावनाएँ

भावनाशील प्रतिभाओं को खोजना, एक सूत्र में बाँधना और उन्हें मिल-जुलकर सृजन के लिए कुछ करने में जुटाना-सतयुग की वापसी का शिलान्यास है। इसी के उपरान्त नवयुग का, उज्ज्वल भविष्य का भव्य भवन खड़ा हो सकने का विश्वास किया जा सकता है। इसलिए इसे सम्पन्न करने के लिए इस आड़े समय में किसी भी प्राणवान को निजी कार्यों की व्यस्तता की आड़ लेकर बगलें नहीं झाँकनी चाहिए। युग धर्म की इस प्रारम्भिक माँग को हर हालत में, हर कीमत पर पूरा करना ही चाहिए।

इन्हीं दिनों उठने वाला दूसरा चरण है 'आद्यशक्ति का अभिनव अवतरण' नारी जागरण। आज की स्थिति में नारी-नर की तुलना में कितनी पिछड़ी हुई है। इसे हर कोई हर कहीं नजर पसारकर अपने इर्द-गिर्द ही देख सकता है। उसे रसोईदारिन, चौकीदारिन, धोबिन और बच्चे जनने की मशीन बनकर अपनी जिन्दगी गुजारनी पड़ती है। दासी की तरह जुटे रहने और अन्न व वस्त्र पाने के अतिरिक्त अन्य कोई महत्त्वाकांक्षा सँजोने के लिए उस पर कड़ा प्रतिबन्ध है। परम्परा निर्वाह के नाम पर उसे बाधित और प्रतिबंधित रहने के लिए कोई ऐसी भूमिका निभाने की गुंजाइश नहीं है जिससे उसे एक समग्र मनुष्य कहलाने की स्थिति तक पहुँचाने का अवसर मिले।

संसार में आधी जनसंख्या नारी की है। इस वर्ग का पिछड़ी स्थिति में पड़े रहना समूची मनुष्य जाति के लिए एक अभिशाप है। इसे अर्द्धांग पक्षाघात पीड़ित जैसी स्थिति भी कहा जा सकता है। एक पहिया टूटा और दूसरा साबुत हो तो गाड़ी ठीक प्रकार चलने और लक्ष्य तक पहुँचने में कैसे समर्थ हो सकती है ? एक हाथ वाले, एक पैर वाले निर्वाह भर कर पाते हैं। समर्थों की तरह बड़े काम सफलतापूर्वक कर सकना उनसे कहाँ बन पड़ता है ? आधी जनसंख्या अनगढ़ स्थिति में रहे और दूसरा आधा भारत उसे गले के पत्थर की तरह लटकाए फिरे तो समझना चाहिए कि इस स्थिति में किस प्रकार समय को पूरा किया जा सकेगा ? किसी महत्त्वपूर्ण प्रगति की संभावना बन पड़ना तो दुष्कर ही रहेगा।

पिछड़े वर्ग को ऊँचा उठाने की इन दिनों प्रबल माँग है। इसके लिए अनुसूचित जातियों, जनजातियों को समर्थ बनाने के प्रयत्न चल रहे हैं। इस औचित्य में एक कड़ी और जुड़नी चाहिए कि हर दृष्टि में हेय स्थिति में पड़ी हुई, दूसरे दर्जे के नागरिक जैसा जीवन जीने वाली अनेकानेक सामाजिक प्रतिबन्धों में जकड़ी हुई नारी को भी एकता और समता का लाभ मिले। इस ओर से आँखें बन्द किए रहना सम्भवतः प्रगति में चट्टान बनकर अड़ा ही रहेगा।

अपंग स्तर का व्यक्ति स्वयं कुछ कर नहीं पाता, दूसरों की अनुकम्पा पर जीता है पर यदि उसकी स्थिति अन्य समर्थों जैसी हो जाय तो किसी के अनुग्रह पर रहने की अपेक्षा वह अपने परिकर को अपनी उपलब्धियों से लाद सकता है। जब लेने वाला देने वाले में बदल जाय तो समझना चाहिए कि खाई पटी और उस स्थान पर ऊँची

मीनार खड़ी हो गई । आधी जनसंख्या तक स्वतन्त्रता का आलोक पहुँचाना और उसे अपने पैरों खड़ा हो सकने योग्य बनाना, उस पुरुष वर्ग का विशेष रूप से कर्त्तव्य बनता है, जिसने पिछले दिनों अपनी अहंमन्यता की पूर्ति के लिए ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न की । पाप का प्रायश्चित तो करना ही चाहिए । खोदी गई खाई को पाटकर समतल भूमि बननी ही चाहिए ताकि उसका उपयुक्त उपयोग हो सके ।

नारी जागरण आन्दोलन इसी पुण्य-प्रयास के लिए उभारा गया है । इसके लिए हैण्डबिल, साइनबोर्ड, मजलिस, भाषण, लेखन, उद्घाटन समारोह तो आए दिन होते रहते हैं पर उस प्रचार-प्रक्रिया भर से उतनी गहराई तक नहीं पहुँचा जा सकता जितनी कि इस बड़ी समस्या के समाधान हेतु आवश्यक है । इसके लिए व्यापक जनसम्पर्क साधने और प्रचलित मान्यताओं को बदलने की सर्वप्रथम आवश्यकता है । कारण कि बच्चे से लेकर बूढ़े तक के मन में यह मान्यता गहराई तक जड़ जमा चुकी है कि नारी का स्तर दासी स्तर का ही रहना चाहिए । यही परम्परा है, वही शास्त्र वचन । स्वयं नारी तक ने अपना मानस इसी ढाँचे में ढाल लिया है । चिरकाल तक अन्धेरे में बंद रहने वाले कैदियों की तरह उसके मन में भी प्रकाश के सम्पर्क में आने का साहस टूट गया है । आवश्यकता, प्रस्तुत समूचे वातावरण को बदलने की है ताकि सुधार प्रक्रिया की लीपा-पोती न करके उसकी जड़ तक पहुँचने और वहाँ अभीष्ट परिवर्तन कर सकना सम्भव हो सके ।

देखा गया है कि नारी उत्थान के नाम पर प्रौढ़ शिक्षा, कुटीर उद्योग, शिशुपालन, पाकविद्या, गृह व्यवस्था जैसी जानकारियाँ कराने में कर्त्तव्य की इतिश्री मान ली जाती है । यों यह सभी बातें भी आवश्यक हैं और किया इन्हें भी जाना चाहिए पर मूल प्रश्न उस मान्यता को बदलने का है जिसके आधार पर नारी को पिछड़ेपन में बाँधे रहने वाली व्यापक मान्यता में कारगर परिवर्तन सम्भव हो सके ।

नारी को भी मनुष्य माना जा सके । दोनों के बीच भेदभाव बरती जाने वाली सामन्तवादी अन्धकार युग की मान्यता को उलटकर सतयुग प्रचलन के साथ जोड़ा जा सके । आज तो लड़की-लड़के के सम्बन्ध में दृष्टिकोण का असाधारण अन्तर है । लड़की के जन्मते ही परिवार का मुँह लटक जाता है और लड़का होने पर बधावा बँटने और नगाड़े बजने लगते हैं । लड़का कुल का दीपक और लड़की पराए घर का कूड़ा समझी जाती है । वरपक्ष दहेज की लम्बी-चौड़ी माँगें करते हैं और लड़की के अभिभावक विवशता के आगे सिर झुकाकर लुट जाने के लिए आत्म-समर्पण करते हैं । पति के तनिक से अप्रसन्न होने पर उन्हें परित्यक्ता बना दिया जाता और रोते-कलपते जैसे-तैसे भला-बुरा जीवन जीने की घटनाएँ इतनी कम नहीं होती जिनको आजादी दी जा सके । दहेज के लिए यातनाएँ दिए जाने की कुछ घटनाएँ तो अखबारों तक में छप जाती हैं पर जो भीतर ही भीतर दबा दी जाती हैं, उनकी संख्या छपने वाली घटनाओं से अनेक गुनी अधिक है । पतिव्रत पालन के लिए लौह अंकुश रहता है पर पत्नीव्रत का कहीं अता-पता नहीं । विधुर प्रसन्नतापूर्वक विवाह करते हैं, पर विधवाओं को ऐसी छूट कहाँ ? नारियाँ सती होती हैं, पर नर वैसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं करते । नारियाँ घूँघट मारकर रहती हैं । नाक, कान छिदाकर सजधज से रहने के लिए उन्हें इसलिए बाधित किया जाता है कि वे अपना रमणी, कामनी, भोग्या और दासी होने की नियति का स्वेच्छापूर्वक, उत्साहवर्द्धक मानस बनाए रह सकें ।

लोकमानस का यह लौह आवरण हटे बिना नारी को नर के समतुल्य बनाने और उन्हें अपनी प्रतिभा का परिपूर्ण परिचय प्रगति पथ पर कंधे से कंधा मिलाकर चलते रहने का अवसर आखिर कैसे मिल सकता है ? आवश्यकता इस लौह आवरण के ऊपर लाखों-करोड़ों छैनी-हथौड़े चलाने की है ताकि निविड़ बंधनों ने आधी जनसंख्या की मुश्कें कसकर जिस प्रकार डाली हुई हैं, उनसे छुटकारा पाने के लिए उपयुक्त वातावरण बन सके । अपने मिशन का नारी जागरण अभियान इसी गहराई तक पहुँचने का प्रयास कर रहा है; उसका मन विष वृक्ष की जड़ काटने का है, पत्तों पर जमी धूलि पोंछकर चिह्न पूजा लेने से तो आत्मप्रवंचना और लोकविडम्बना भर बन पड़ती है ।

नारी जागरण अभियान के लिए जो महिला मंडल गठित किए जा रहे हैं । उनका शुभारम्भ, श्रीगणेश तो हलके-फुलके कार्यक्रम को हाथ में लेकर ही किया जा रहा है पर यह नवसृजन का भूमि पूजन मात्र है । वस्तु-स्थिति को अवगत कराने के लिए उस आन्दोलन को जन्म देना पड़ेगा जो मानवी स्वतंत्रता और समता का लक्ष्य पूरा करके ही विराम ले ।

कहा गया है कि 'अखण्ड-ज्योति' परिजन स्वयं पाँच-पाँच के मण्डलों में गठित हों और पाँच से पच्चीस बनकर मण्डल को पूर्णता तक पहुँचाएँ । साथ ही कहा गया है कि वे अपने परिवार तथा सम्पर्क क्षेत्र में से ढूँढ खोज कर पाँच प्रतिभाशाली महिलाओं की एक मण्डली बनाएँ; वे भी परस्पर सम्पर्क साधते हुए पाँच से पच्चीस बनने का लक्ष्य प्राप्त करें । साप्ताहिक सत्संग उनके लिए भी उसी प्रकार अनिवार्य किया गया है, इतना बन पड़ने पर ही यह माना जाएगा कि पुरुषों का एवं नारियों का सतयुग की वापसी के लिए खड़ा किया जाने वाला प्रथम प्रयास जड़ पकड़ गया ।

पुरुषों को नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक क्रान्ति की तैयारी करनी है । स्वस्थ शरीर, स्वच्छ मन और सभ्य समाज की संरचना की भी । व्यक्ति, परिवार और समाज के तीनों ही क्षेत्रों में सत्प्रवृत्ति सम्वर्द्धन और कुरीति उन्मूलन की बहुमुखी प्रवृत्तियों को जन्म देना और मार्गदर्शन करना है । इसके लिए कार्यकर्त्ताओं की योग्यता और परिस्थितियों की आवश्यकता से तालमेल बिठाते हुए अनेक प्रकार के छोटे-बड़े कार्यक्रम हाथ में लिए जाने हैं, जिनके लिए आवश्यकता हो तो शान्तिकुञ्ज के साथ विचार-विनिमय भी करते रहा जा सकता है ।

महिलाओं के लिए सामूहिक सत्संगों को सुनिश्चित बनाने के उपरान्त शिक्षा संवर्द्धन, आर्थिक स्वावलम्बन सम्बन्धित गृह उद्योग, संगीत अभ्यास से मुखर होने और अभिव्यक्तियों को प्रकट कर सकने का अभ्यास, कुरीति उन्मूलन के लिए छोटे-बड़े आयोजन तथा परिवार निर्माण की समुचित योग्यता प्राप्त करना सभी महिला मण्डलों के लिए समान कार्यक्रम बना है । इससे आगे उन्हें भी ऐसा कुछ कर दिखाना है जिससे मात्र व्यक्तिगत स्थिति ही न सुधरे वरन् व्यापक नारी समस्याओं के समाधान के लिए अभीष्ट तंत्र खड़े करने का सरंजाम जुट सके । असहाय महिलाओं को समर्थ बनाना और उन्हें लोकसेविका बनाने का कार्यक्रम भी इसी योजना को निकट भविष्य में कार्यान्वित किया जाने वाला बड़ा कदम है, जो अपने समय पर, अपने ढंग से निरन्तर उठते रहेंगे, गति पकड़ते रहेंगे ।

हर किसी को समझना और समझाया जाना है कि नारी आद्यशक्ति है; वही सृष्टि को उत्पन्न करने वाली, अपने स्तर के अनुरूप परिवार का तथा भावी पीढ़ी का सृजन करने में पूरी तरह समर्थ है, इक्कीसवीं सदी में उसी का वर्चस्व प्रधान रहने वाला है । नर ने अपनी कठोर प्रकृति के आधार पर पराक्रम भले ही कितना ही क्यों न किया हो पर उसी की अहंकारी उद्दण्डता ने अनाचार का माहौल बनाया है । स्रष्टा की इच्छा है कि स्नेह, सहयोग, सृजन, करुणा, सेवा और मैत्री जैसी विभूतियों को संसार पर बरसने का अवसर मिले ताकि युद्ध जैसी अनेकानेक दुष्टताओं का सदा-सर्वदा के लिए अन्त हो सके । इस भवितव्यता को स्वीकार करने के लिए लोकमानस को समझाया और दबाया जाना चाहिए कि वह नारी को समता से ही नहीं, वरिष्ठता से भी लाभान्वित करे ।

'सतयुग की वापसी' का शुभारम्भ करना वर्तमान जन-समुदाय का काम है । ढाँचा और तंत्र खड़ा करना, सरंजाम जुटाना और वातावरण बनाना उसी का काम है पर उन सभी उत्तरदायित्वों को अगली पीढ़ी के ही कन्धों को उठाना होगा । आज जो पौधे लगाए जा रहे हैं उनके द्वारा विकसित हुए वृक्षों की शोभा-सुषमा को सुरक्षित रखने का कार्य तो वे ही करेंगे, जो आज भले ही जन्मे हों, जन्मने जा रहे हों पर आवश्यकता के समय तक प्रौढ़ परिपक्व होकर रहेंगे ।

ऐसी समुन्नत पीढ़ी को जन्म दे सकना तथा सुसंस्कृत बनाना उन नारियों के लिए ही सम्भव हो सकेगा जो आज के महान अभ्युदय में भागीदार बनकर नवसृजन की महती भूमिका निभाने में किसी न किसी प्रकार अपनी विशिष्टता का परिचय देंगी । आज के नारी जागरण आन्दोलन को भविष्य में अतिशय प्रभावित करने वाला बनाना भी इसका एक महान उद्देश्य है ।

नारी उत्थान हेतु सुनियोजित २४ सूत्री कार्यक्रम

बड़ी समस्याओं का बड़े साधनों से ही समाधान हो सकता है । थोड़ा बोझ तो हाथों से या रस्सों से भी उठ सकता है पर विशालकाय वस्तुओं को उठाने के लिए बड़ी क्रेन चाहिए । नदी से थोड़े से लोगों को पार करने के लिए छोटी-सी नाव तो मल्लाह भी बना सकता है, पर नदी के कारण विभक्त दो इलाकों की एकता के लिए तो मजबूत पुल चाहिए । उसे बनाने के लिए बड़े दिमाग, बड़े श्रम, सहयोग एवं बड़े साधन जुटाये बिना काम नहीं चल सकता । घर-घर में आधिपत्य जमाये हुए, आधे जन-समूह को शोषित और आधे को शोषक बनाकर अनेकानेक संकट उत्पन्न करने वाली नारी समस्या को हल करने के लिए अनेक प्रकार के प्रचारात्मक, रचनात्मक एवं सुधारात्मक प्रयत्न उतने ही बड़े परिमाण में करने पड़ेंगे, जितनी बड़ी कठिनाई और उससे उत्पन्न विभीषिका है ।

इस सन्दर्भ में सबसे बड़ा और प्रधान कार्य जनमानस में प्रस्तुत अनाचार के प्रति आक्रोश उत्पन्न करना और उसे सुधारने के लिए आकुलता उत्पन्न करना है । इसके बिना प्रगति-प्रयासों को तीव्र करने और उसके लिए साधन जुटाने की उत्सुकता ही न होगी । उत्साह भी न उमड़ेगा और परिवर्तन के लिए जो किया जाना है, उसके आधार पर ही खड़े न हो सकेंगे । प्रबल आकांक्षा ही प्रगति का रास्ता बनाती है । उपेक्षा को आकुलता में बदलने वाली विचारणा उत्पन्न करने के लिए समस्या की गरिमा की ओर ध्यान खींचने वाले प्रबल-प्रचार की आवश्यकता है । प्राथमिकता उसी को मिलनी चाहिए, आकुलता उत्पन्न हो सके तो फिर साधन जुटाने का कार्य सहज ही सरल बन जायेगा । विकृतियों की हानि और सुधार की सुखद सम्भावना की ओर जन-साधारण का ध्यान जितनी अच्छी तरह खींचा जा सकेगा, उतनी ही सुविधा से परिवर्तन के आधार खड़े होते चले जायेंगे ।

परिवर्तन की पृष्ठभूमि बनाते हुए हमें प्रचार के मोर्चे को सँभालने के लिए सर्वप्रथम कटिबद्ध होना चाहिए । उसमें सफलता मिल गई तो अगले मोर्चे जीतने में अधिक कठिनाई न रहेगी । किले का फाटक टूट गया तो समझना चाहिए कि उसमें प्रवेश करने और जीतने का आधार बन

गया । जन-मानस एक अद्भुत महादैत्य है, वह जिधर भी मुड़ता है-उधर ही रास्ता साफ होता चला जाता है । संसार की समस्त क्रान्तियाँ उमँगते हुए जन-मानस द्वारा ही सम्भव हुई हैं; क्या राजनैतिक, क्या सामाजिक, क्या आर्थिक किसी भी स्तर के परिवर्तन क्यों न हों, वे उभरती हुई जन-आकांक्षा के आधार पर ही सम्पन्न हुए हैं । बीजारोपण किसी ने भी किया हो, परिवर्तन तो लोक-प्रवाह की समर्थ क्षमता से ही प्रस्तुत हो सकते हैं ।

आज की समस्याओं के समाधान के लिए, जन-मानस उभारने के लिए प्रबल-प्रचार तन्त्र को प्रथम मोर्चाबन्दी के रूप में प्रयुक्त किया जाना चाहिए । इसके लिए कितने ही साधन ऐसे हैं, जिन्हें तत्काल जुटाया जाना आवश्यक है यथा:-

(१) प्रगतिशील लेखक वर्ग से अनुरोध किया जाय कि वे नारी-समस्या के ऊपर लेख लिखना आरम्भ करें, उन्हें देश की सभी भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करायें ।

(२) इन दिनों नारी की भोग्या, रमणी और कामिनी के रूप में जो लेख, कहानियाँ, कविताएँ तथा तस्वीरें घटाटोप की तरह छपती हैं, उन्हें निरस्त करने के लिए जन आक्रोश उत्पन्न किया जाय ।

(३) प्रकाशकों से कहा जाय कि वे नारी-उत्कर्ष की आवश्यकता पूरी कर सकने वाला साहित्य छापने का साहस जुटायें । वह कम बिके और कम लाभ दे, तो भी इसे मानवता की एक महती आवश्यकता की पूर्ति समझकर उसमें उदारतापूर्वक पूँजी लगायें ।

(४) चित्र-प्रकाशक नारी को इस प्रकार चित्रित करें, जिससे उसके प्रति श्रद्धा, पवित्रता और शालीनता की दृष्टि उभरे । उत्तेजक और अश्लील-चित्रण से वे हाथ खींच लें, भले हो इसमें लाभ की दृष्टि से कुछ कमी रहने लगे ।

(५) पत्र-पत्रिकाओं के संचालकों, सम्पादकों से आग्रह किया जाय कि नारी के सामाजिक उत्कर्ष की आवश्यकता पर ध्यान दें और इसके लिए उपयोगी सामग्री नियमित रूप से प्रकाशित करें । यह कार्य सभी भाषाओं के सभी पत्र-पत्रिकाओं को पवित्र सामाजिक कर्त्तव्य की तरह हाथ में लेना चाहिए । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नई पत्रिकाएँ निकाली जायें अथवा पुरानी पत्रिकाओं की नीति बदलकर उन्हें इसी लक्ष्य को अपना लेने के लिए सहमत किया जाय ।

(६) भावनाएँ उभारने की दृष्टि से गीतों और कविताओं का अपना महत्त्व है । गीतकार ऐसे गायनों का सृजन करें, जो नारी-समस्याओं के विभिन्न पक्षों पर जन-साधारण का ध्यान आकर्षित कर सकें । ऐसे गीत क्षेत्रीय भाषाओं में विशेष रूप से लिखे और छापे जायें, उनमें स्थानीय रुचि की लोकध्वनियों को प्रमुखता दी जाय । नारी वर्ग की गायन अभिरुचि को इस आधार पर उपयोगी सामग्री मिल सकेगी ।

(७) फिल्म-निर्माताओं से अनुरोध किया जाय कि वे नारी की दुर्गति के प्रति करुणा, प्रतिबन्धों के प्रति आक्रोश और परिवर्तन का मार्गदर्शन कराने वाली कहानियाँ लिखायें और फिल्में बनायें । समय बदल रहा है । प्रगति और परिवर्तन के लिए उत्साह उमड़ा है । अगले दिनों नारी-समस्या का समाधान जैसे विषयों पर बनी फिल्मों का स्वागत होगा; उसमें लाभ भी रहेगा और निर्माताओं को मानवतावादी आदर्शों में योगदान देने का श्रेय भी मिलेगा । वर्तमान फिल्म-निर्माताओं तक यह युग की पुकार पहुँचाई जाय एवं प्रगतिशील फिल्म-निर्माण तन्त्र नये सिरे से खड़े किये जायें ।

(८) प्रचारार्थ दिखाई जाने वाली फिल्में १६ मि० मीटर अथवा ८ मि० मीटर की बन सकती हैं । टाकीज बनाने में खर्च अधिक आता हो तो वे मात्र मूवी भी रखी जा सकती हैं । आवाज का प्रयोजन साथ-साथ टेपरिकॉर्डर चलाकर पूरा किया जा सकता है । लाउडस्पीकर बोलते रहकर भी कथानक का परिचय कराया जाता रह सकता है ।

(९) छोटे देहातों के लिए, गली-मुहल्लों में प्रचार करने के लिए स्लाइड प्रोजक्टर बहुत सफल होते हैं । उन्हें आसानी से चलाया और सरलतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया भी जा सकता है । इस उपकरण के प्रचलन से लोकरंजन और लोकमंगल का समन्वय करते हुए गाँव-गाँव, घर-घर नारी उत्कर्ष का सन्देश पहुँचाया जा सकता है ।

(१०) चित्र-प्रदर्शनियों का सैट बनाया जाय । बड़े साइज के १०० रंगीन पोस्टर छाप लेने से यह प्रदर्शनी बड़ी सस्ती लागत में बन सकती है । इसे गाँव-गाँव, गली-मुहल्लों में, हाट-बाजारों में, मेले-ठेलों में, तीर्थ-स्थानों में, जन-मानस में उतारने का और उसका समाधान खोजने का उत्साह बढ़ेगा ।

(११) नारी समस्या पर ग्रामोफोन के रिकार्ड बनें । घरेलू रिकॉर्ड-प्लेयरों पर-लाउडस्पीकरों पर उन्हें समय-समय पर सुनाया जाता रहे । टेप रिकॉर्डों पर सुनाये जाने वाले संगीत टेप भी इस प्रयोजन की एक सीमा तक पूर्ति करते रह सकते हैं ।

(१२) अभिनय, नाटक, एकांकी, प्रहसन, गीत, नाटिकाएँ, नीति कथाएँ छाया नृत्य, कठपुतली आदि कितने ही छोटे-बड़े सांस्कृतिक कार्यक्रम समय-समय पर नियोजित किये जा सकते हैं । नारी समस्या का इनमें समावेश करके जन-मानस को दिशा देने में सहायता मिल सकती है ।

(१३) नारी शिक्षा पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए, कन्याओं को अधिक पढ़ाने के लिए अभिभावकों को समझाया जाय । कन्या विद्यालयों की संख्या बढ़े । महिलाओं की निरक्षरता दूर करने के लिए तीसरे पहर चलने वाली प्रौढ़ महिला पाठशालाओं की व्यवस्था गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले की जाय । कुछ घण्टे के लिए तीसरे

प्रहर व रात्रि को चलने वाले ऐसे महिला विद्यालयों का प्रबन्ध किया जाय जिनके सहारे काम-काजी महिलाएँ अपनी पढ़ाई आगे जारी रख सकें और प्राइवेट परीक्षाएँ देती रहकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकें ।

(१४) महिला समस्याओं पर परिवार संस्था के परिष्कार से सम्बन्धित अनेक विषयों पर उपयोगी प्रकाश डाल सकने वाली पुस्तकों के पुस्तकालय सर्वत्र स्थापित किये जायँ । ऐसी पुस्तकों की सूची बनाई जाय जिन्हें यह पुस्तकालय अपने यहाँ रखने की व्यवस्था कर सकें और उनके प्राप्ति स्थानों से परिचित हो सकें । महिला पुस्तकालयों को अचल न रहने देकर चल बनाया जाय । पुस्तकें घर-घर पहुँचाने और वापिस लाने का प्रबन्ध करने से ही इनका समुचित लाभ सम्भव हो सकेगा । बाल साहित्य भी इन पुस्तकालयों का अविच्छिन्न अंग माना जाय ।

(१५) गृह उद्योगों के प्रशिक्षण एवं संगठन के तंत्र जगह-जगह खड़े किये जायँ । इस कार्य को व्यक्तिगत रूप से, व्यावसायिक आधार पर भी चलाया जा सकता है पर उत्तम यही है कि उन्हें सामूहिक रूप से सहकारिता के आधार पर चलाया जाय । कच्चा माल देने, तैयार माल खरीदने और निर्माण में प्रवीणता बढ़ाने का प्रशिक्षण देने से ही गृह उद्योग पनप सकते हैं । नारी स्वावलम्बन की दृष्टि से इस प्रकार के प्रबन्ध जगह-जगह किये जायें ।

(१६) विशाल परिवार-लॉर्जर फैमिली-स्तर के प्रयोग यथासम्भव सर्वत्र किये जायें । अलग-अलग चूल्हे जलाने से व्यय होने वाली शक्ति की बर्बादी बचाई जा सकती है । यदि कई परिवारों का एक संयुक्त रसोईघर चले, इसी प्रकार बच्चों के सँभालने के लिए भी संयुक्त व्यवस्था की जा सकती है । इससे भोजन पकाने का एक नया उद्योग विकसित होगा । इससे कितनी ही बेकार महिलाओं को आजीविका मिलेगी । साथ ही सुयोग्य प्रतिभाओं को अधिक महत्त्वपूर्ण काम कर सकने की सुविधा मिल सकेगी ?

'कम्यून' संयुक्त व्यवस्था को ही कहते हैं । भारत में चल रही संयुक्त परिवार प्रथा के मूल में भी यही तथ्य काम करते हैं । इस पद्धति को अधिक उपयोगी एवं अधिक व्यावहारिक बनाने की प्रक्रिया का नाम 'लॉर्जर फैमिली' प्रक्रिया है ।

(१७) नारी शिक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत स्वास्थ्य-संरक्षण, वैज्ञानिक आहार शास्त्र, सुधरे हुए रसोईघर, ईंधन बचत, शिशु-पालन, टूट-फूट की मरम्मत, शाक-वाटिका, वस्त्रों की धुलाई-सिलाई तथा सुरक्षा, स्वच्छता, चूहे, दीमक आदि से बचाव, रोगी की परिचर्या, आमदनी और खर्च का सन्तुलित बजट, पारिवारिक शिष्टाचार का सद्व्यवहार, घरेलू विग्रहों का निपटारा, असन्तुलन और उद्योगों का निराकरण, परिवार में पनपती दुष्प्रवृत्तियों के प्रति सतर्कता, अनौचित्य से संघर्ष, माधुर्य का अभिवर्द्धन विनोद और उल्लास का वातावरण, स्नेह और सौजन्य से, अस्त्र की संचालन कला, घर को कलाकेन्द्र बनाने की प्रवीणता, दाम्पत्य जीवन की सरसता के साथ प्रजनन भार से न लादने का कौशल, अतिथि-सत्कार की मर्यादा, कुरीतियों के कुचक्र से होने वाली क्षति से आत्म-रक्षा, बड़े-बूढ़ों का तुष्टीकरण जैसी अनेक पारिवारिक विकास से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान बता सकने का तर्क-संगत, महत्त्वपूर्ण एवं व्यावहारिक मार्गदर्शन नारी को मिल सके, इसकी व्यवस्था अलग से उपलब्ध कराई जानी चाहिए ।

(१८) अपव्यय की रोकथाम पर ध्यान दिया और दिलाया जाय, फैशन के नाम पर चल रहे उद्धत बचकानेपन को निरस्त किया जाय । सादगी और शालीनता के परिधानों को सराहा जाय । सुरुचिपूर्ण गृह-व्यवस्था का अभ्यास कराया जाय ।

(१९) अनीति की कमाई का महिलाएँ विरोध करें । वे अपने मर्दों को समझाएँ कि नीति का धन ही फलता-फूलता है । कम खर्च में गुजारा करने के लिए वे तैयार हैं पर अनीति का धन स्वीकार न करेंगी । इस प्रकार नारी के विरोध से आर्थिक भ्रष्टाचार सरलतापूर्वक दूर हो सकता है ।

(२०) अन्न की बर्बादी रोकने के लिए विशेष रूप से ध्यान रखा जाय न तो अनावश्यक पकाया जाय और न अति आग्रहपूर्वक परोसा जाय । जूठन छोड़ने की आदत बच्चों से लेकर बड़ों तक में पनपने न पाये, इसका ध्यान रखा जाय । इस देश में अन्न की कमी है । सप्ताह में एक दिन मात्र शाकाहार का उपवास रखा जाय । भोजनालय में अन्न का उपयोग घटाने और शाक-भाजी की मात्रा बढ़ाने का प्रयास किया जाय ।

(२१) समाज में फैली दुष्टता और भ्रष्टता से जूझने का साहस महिलाओं में भी उभारा जाय । खाद्य-पदार्थों में मिलावट, कम तौल, कम नाप, मुनाफाखोरी, रिश्वतखोरी, करचोरी, जमाखोरी, रिश्वत आदि आर्थिक अनाचारों को रोकने और पकड़वाने के लिए प्रखरता बनाये रखी जाय ।

(२२) सरकारी प्रचार-तन्त्र बहुत समृद्ध और सम्पन्न है । रेडियो, टेलीविजन आदि के माध्यम से नारी समस्या की ओर ध्यान देने के लिए जन-मानस तैयार किया जा सकता है । सरकारी पत्र-पत्रिकाएँ विभिन्न भाषाओं में अनेक निकलती हैं । जिनकी पहुँच उन सूत्रों तक हो, उन्हें प्रयत्न करना चाहिए- इन माध्यमों का अधिकाधिक उपयोग नारी-उत्कर्ष का वातावरण बनाने के लिए हो सके ।

(२३) सरकारी एवं अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं में महिला-प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ सके, इसके लिए जहाँ सम्भावना हो, वहाँ उन्हें चुनाव के लिए खड़ा किया जाय । ताकि वे उस तन्त्र को महिला कल्याण के लिए अधिक प्रयुक्त कर सकें । इससे महिला वर्ग का साहस और अनुभव भी बढ़ेगा । सम्भव हो तो महिला प्रतिनिधियों की

संख्या का नियत अनुपात इन संस्थाओं में रखने का प्रयत्न किया जाय ।

(२४) प्रसूति गृहों की, प्रशिक्षित दाइयों की, महिला तथा शिशु चिकित्सालयों की सुविधाएँ अधिक बढ़ सकें, ऐसा प्रयत्न सरकारी तन्त्र के माध्यम से करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए । अधिक कन्या-विद्यालयों की स्थापना-निजी विद्यालयों को अनुदान सुविधा आदि के सम्बन्ध में भी सरकार बहुत कुछ कर सकती है । परित्यक्ताओं, अनाश्रितों, अवैध गर्भ धारण करने वाली महिलाओं को सरकारी आश्रय मिल सके ऐसे प्रयत्नों का अधिक विस्तार कराया जाय ।

उपरोक्त २४ सूत्री कार्यक्रम की तरफ दृष्टि दौड़ाने पर ऐसे अनेक कार्य सामने आ सकते हैं, जो नारी-उत्कर्ष में सहायक सिद्ध हो सकें । इन्हें कार्यान्वित करने के लिए पूँजी, प्रतिभा एवं साधनों की जरूरत पड़ेगी । सम्पन्न, समर्थ और प्रभावशाली लोग यदि उत्साह दिखायें और इन कार्यों को हाथ में लें तो निश्चय ही महिला-पुनरुत्थान की आवश्यकता जल्दी और अच्छी तरह पूर्ण हो सकती है ।

प्राणवान संगठनों की सुनियोजित प्रक्रिया प्रारम्भ हो

नारी पुनरुत्थान के प्रयास व्यक्तिगत रूप से अपने निजी परिवार से तो आरम्भ किये ही जाने चाहिए, पर उतने मात्र में सन्तोष न करके प्रयत्नों को सामूहिक रूप से व्यापक भी बनाया जाना चाहिए । नारी समस्या एक घर की नहीं, समस्त समाज की है । एक घर के समझदार लोग अपना सुधार कर लें तो उतने भर से काम नहीं चलेगा, समूचा वातावरण ही बदला जाना चाहिए । आलोक इतना व्यापक होना चाहिए कि किसी भी कोने में अन्धकार को आश्रय मिलने की गुञ्जाइश न रहे ।

महिला जागरण अभियान का संगठन-सूत्र युगान्तर चेतना शान्ति-कुञ्ज हरिद्वार से संचालित हो रही है, उसकी शाखाएँ उन सभी स्थानों पर स्थापित होनी चाहिए, जहाँ अखण्ड-ज्योति का प्रकाश पहुँचता है, जहाँ युग-निर्माण आन्दोलन के लिए उत्साह है । पहले अपने ही कार्यकर्ताओं का अपने घरों की महिलाओं को उस संगठन की सदस्या बनाकर पहल करनी चाहिए । सदस्यता के २५-२५ प्रतिज्ञा पत्रों और स्वीकृति के प्रमाण पत्रों की सदस्य पुस्तिकाएँ छपी हैं, उन्हें भरने पर प्रामाणिक सदस्या बन जाती हैं । संघ महिलाओं का है, उन्हीं के द्वारा उन्हीं से सम्बन्धित प्रवृत्तियों के संचालन के लिए है, इसलिए सदस्या तो वे ही बन सकती हैं पर सहायकों के रूप में पुरुषों के लिए भी उस संघ में सम्मिलित रहने की सुविधा रखी गई है । वे-सहायक सभ्य कहे जायेंगे । सहायक सभ्य महिला जागरण कार्यक्रमों की सहायक भूमिका निभायेंगे । इसके लिए पृष्ठभूमि बनाने और साधन जुटाने में अधिक से अधिक प्रयत्न करेंगे पर रहेंगे पीछे ही ।

संगठन का कलेवर बनायें

सदस्यता की कोई आर्थिक फीस नहीं है । श्रम, समय और मनोयोग का अधिकाधिक अनुदान देने में परस्पर प्रतिस्पर्धा करना ही सदस्यता शुल्क है । यों आवश्यकता तो पैसे की भी पड़ेगी पर वह अपनी-अपनी श्रद्धा और स्थिति के अनुरूप सभी सदस्य प्रस्तुत करेंगे, वह स्वेच्छा सहयोग होगा । इसके लिए दैनिक अनुदान की परम्परा बहुत ही उपयोगी है, उससे यह स्मरण रहता है कि अन्य नित्यकर्मों की तरह इस पुनीत कार्य के लिए भी हमें कुछ न कुछ नित्य ही करना है । एक डिब्बे में अनाज की एक मुट्ठी या दस-पाँच पैसा डालने जैसे छोटे अनुदान को भी यदि दैनिक अनुदान में सम्मिलित रखा जाय तो क्रम, समय, मनोयोग की भाँति ही इस नितान्त आवश्यक संगठन को सजीव रखने के लिए आवश्यक धन की भी कमी न रहेगी ।

आरम्भिक प्रयास में जितने भी सदस्य बन सकें उन्हीं से शाखा स्थापित कर लेनी चाहिए । सबसे उत्साही, लगनशील, प्रामाणिक तथा समय दे सकने वाली महिला को कार्यवाहक नियुक्त कर लेना चाहिए, उसका नियुक्ति पत्र हरिद्वार से मँगा लेना चाहिए । आवश्यकता हो तो एक दूसरी महिला कोषाध्यक्ष भी चुनी जा सकती है । बाकी प्रधान, उप-प्रधान, उपमन्त्री आदि पदाधिकारी नहीं चुनने चाहिए । पद लोलुपता का विष जहाँ भी घुसता है वहाँ संगठनों का अंत करके ही छोड़ता है । उनमें चढ़ा-ऊपरी तो इसी अहंमन्यता के आधार पर खड़ी हो जाती है । इसलिए अभियान का स्वरूप सर्वथा परिवार पद्धति के अनुरूप रखा गया है । इसमें नेता बनने का कोई प्रयत्न नहीं करता ।

संगठन का ढाँचा इस प्रकार खड़ा हो जाता है और उसके लिए अगले काम करने का द्वार खुल जाता है । सदस्यों की संख्या अधिकाधिक बढ़ाई जाती रहे । शाखा का कार्यालय यों किसी सार्वजनिक या सुविधाजनक स्थान पर भी रखा जा सकता है पर ठीक स्थान सम्बन्धी असुविधा न हो तो कार्यालय कार्यवाहक के घर पर रहना ठीक रहता है । एक अलमारी में सारा सामान सुरक्षित रहे । घर का एक कमरा इस प्रयोजन के लिए भी काम आता रहे तो इतने से भी बात बन जायगी । संगठन का ढाँचा खड़ा होते ही साप्ताहिक सत्संगों का क्रम चल पड़ना चाहिए । जीवित शाखा की यह अनिवार्य शर्त है कि उसके सत्संग नियमित रूप से चलते रहें । सामान्य तथा वे साप्ताहिक होने चाहिए । मर्दों की छुट्टी का दिन इसके लिए अधिक सुविधाजनक रहता है । वे उतने समय घर सँभाल सकते हैं और महिलाओं को सत्संग में जाने का अवकाश मिल सकता है । स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार कोई अन्य सुविधा का दिन भी रखा जा सकता है ।

शाखा के सदस्यों और सभ्यों की कार्यवाहक की नामावली तथा पता हरिद्वार भेजकर संगठन को सम्बद्ध व पंजीकृत करा लेना चाहिए । शाखा के लिए कुछ अत्यन्त उपयोगी साधन वहाँ तैयार करा लिए गये हैं, उन्हें आवश्यकतानुसार मँगा लेना चाहिए ।

संगठन के कलेवर में प्राण यों फूकें जायँ—

महिलाओं को सदस्य और पुरुषों के अभियान का सहायक सदस्य बन जाने से, कार्यवाहक नियुक्त हो जाने से, शाखा कार्यालय नियत हो जाने से शाखा संगठन का ढाँचा खड़ा हो जाता है । उसमें प्राण भरना साप्ताहिक सत्संगों के आधार पर सम्भव होता है । कागजी संस्थाएँ तो रोज बनती और रोज बिगड़ती हैं —संघ शक्ति विकास करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि संगठन के सभी सदस्य जल्दी-जल्दी मिलते रहें, घनिष्टता विकसित करें । मिल-जुलकर कदम बढ़ाने की योजना बनायें और एक-दूसरे को प्रोत्साहन, सहयोग देकर वैसा वातावरण बनायें जिसमें कुछ ठोस काम बन पड़ना सम्भव हो सके । यह तभी सम्भव है जब महिला जागरण शाखाएँ अपने साप्ताहिक सत्संग कार्यक्रम को यथावत् चालू रखने पर उसे अधिकाधिक समृद्ध, सुविस्तृत करने को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाएँ । इसके लिए प्राणपण से चेष्टा करें ।

शाखा सदस्याएँ तो साप्ताहिक सत्संग में सम्मिलित होना एक प्रकार से अपना अनिवार्य कर्त्तव्य ही मानें । कोई अत्यन्त ही आवश्यक और अपरिहार्य कारण आ जाय तो ही अनुपस्थित हों । सदस्याओं में से प्रत्येक का यह भी प्रयत्न होना चाहिए कि अपने घर, परिवार, पड़ौस, रिश्ते तथा परिचय क्षेत्र में से अधिक महिलाओं को साथ लाने के लिए छह दिनों में प्रयास करती रहें और जिस दिन सत्संग हो उस दिन प्रयत्न करके उन लोगों को साथ ले चलने की नये सिरे से दौड़-धूप करें । यदि यह प्रयास जारी रखा जा सका तो सत्संगों में उपस्थित घटने नहीं पायेगी, वरन् बढ़ती ही रहेगी । अधिक महिलाओं तक, अधिक मात्रा में, अधिक व्यवस्थित रूप से प्रकाश पहुँचाना और उत्साह भरना इसी प्रकार सम्भव हो सकता है । जो महिला इस दिशा में जितनी दौड़-धूप कर सके उसे उतनी ही प्रशंसा पात्र समझा जाना चाहिए ।

साप्ताहिक सत्संग एक ही स्थान पर होते रहें या बदल-बदल कर, यह स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर है । यदि संख्या कम रहती है तो उन्हें घरों पर चलाया जा सकता है पर यदि उपस्थिति बढ़े तो किसी बड़े सार्वजनिक स्थान को चुनना पड़ेगा ।

सत्संगों में चार कार्यक्रम रहेंगे-(१) गायत्री मन्त्र का सस्वर सामूहिक पाठ, यह पाठ चौबीस बार किया जाना चाहिए । (२) गायत्री यज्ञ इनमें भी चौबीस आहुतियाँ होनी चाहिए, आधा घण्टे में पूर्ण हो सकने वाले हवन की संक्षिप्त विधि नई बना दी गई है (३) सहगान सामूहिक कीर्तन, आधा घण्टा इसके लिए रामायण पारायण पुस्तक छपी है जिसमें चुनी हुई चौपाइयाँ हैं । सहगान कीर्तन पुस्तक में गीत भी इसी प्रयोजन के लिए छपे हैं । एक-एक पंक्ति दो महिलाएँ मिलकर बोलें और शेष सब उसे दुहरायें, सहकीर्तन की यही पद्धति है । इनमें हारमोनियम, तबला आदि का समावेश हो सके तो और भी उत्तम है (४) प्रवचन एक घण्टा । इसमें महिला समस्याओं के स्वरूप तथा उसके समाधान पर प्रवचन रहें । एक महिला बोले या कई, यह सब स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर है । बोलने के लिए मिशन के छपे साहित्य तथा महिला जागरण पत्रिका में छपे लेखों से सहारा लिया जा सकता है । प्रवचन अभ्यास की दृष्टि से थोड़ा-थोड़ा पर कई महिलाएँ बोला करें तो उसमें अभ्यास खुलने और विचार मिलने का दुहरा लाभ भी हो सकता है ।

गायत्री मन्त्र पाठ के साथ आरम्भ और शान्ति पाठ के साथ समाप्ति की जानी चाहिए । प्रयत्न करना चाहिए कि गायत्री मन्त्र और शान्ति पाठ के दो मन्त्र सभी को याद हों । यों हवन विधि के श्लोक, रामायण पारायण की चुनी हुई चौपाइयाँ, सहगान कीर्तन के गीत जिन्हें जितनी अधिक अच्छी तरह अभ्यास हो सके उतना ही अच्छा है । बार-बार पाठ करने से सब कुछ सरल हो जाता है । हवन विधि की जानकारी तथा प्रवीणता सभी को मिल सके इसलिए एक सत्संग में एक महिला को संचालक बनाया जाय तो उस बदलते हुए क्रम के आधार पर कितनों को अभ्यास हो जायगा, यही बात रामायण पारायण एवं कीर्तन के सम्बन्ध में भी हो सकती है ।

यदि सत्संगों के स्थान बदलते हैं तो उसकी सूचना भी अंत में दे देनी चाहिए । किन्हीं के घरों पर जन्मदिन, पुंसवन, नामकरण, अन्नप्राशन, विद्यारम्भ, मुण्डन संस्कार होने हैं तो उसकी सूचना भी इसी अवसर पर दे दी जानी चाहिए । यदि शाखा के पास पुस्तकालय है, तो पुरानी पुस्तकें जमा करने और नई लेने का कार्य भी इसी समय हो सकता है । शाखा सम्बन्धी यदि कोई कार्य आरम्भ करना हो, विचार-विनिमय अभीष्ट हो तो उसके लिए भी यह ही समय अधिक उपयुक्त है । कार्यवाहक अथवा अन्य कोई प्रभावशाली महिला इस प्रकार की जानकारियाँ देती रहे तो सदस्यों को संगठन के लिए क्या करना है यह जानने का अवसर मिलता रहेगा ।

यदि सम्भव हो तो सत्संग के अन्त में उपस्थित महिलाएँ जुलूस के रूप में सत्संग भवन से विदा हो सकती हैं और निर्धारित सड़क-गलियों में प्रेरणाप्रद गीत गाती हुई निकल सकती हैं । इससे मिशन के अस्तित्व, स्वरूप एवं कार्यक्रम की जानकारी अधिक लोगों को मिलेगी अथवा क्षेत्र विस्तृत होगा और अधिक जनसहयोग सम्पादित कर सकना सम्भव होगा । प्रचार का यह सुगम बिन्दु प्रभावशाली तरीका है । आगे-आगे महिला जागरण अभियान का कपड़े पर बना और दो बाँसों में लगा हुआ

बोर्ड रहे । बीच-बीच में अपने उद्घोष रहें, गीतों में मिशन का लक्ष्य बताया जाये तो इससे देखने और सुनने वाले इस अभियान की जानकारी एवं प्रेरणा प्राप्त कर सकने में समर्थ होंगे । मिशन के प्रख्यात नारे बहुत ही प्रेरक हैं-

(१) हम बदलेंगे युग बदलेगा, हम सुधरेंगे युग सुधरेगा ।

(२) नया समाज बनायेंगे-नया जमाना लायेंगे ।

(३) नर और नारी एक समान-जाति वंश सब एक समान ।

(४) अत्याचार का अंत हो, दहेज प्रथा बन्द हो ।

(५) लड़के-लड़की नहीं बिकेंगे, नहीं बिकेंगे, नहीं बिकेंगे ।

इन आदर्श वाक्यों को जुलूसों में ले चलने योग्य पोस्टरों पर अंकित किया जा सकता है और सुविधा अनुसार दीवारों पर भी लिखाया जा सकता है ।

प्रभातफेरी निकालने की जहाँ व्यवस्था बन सके, वहाँ उसके लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए । शिक्षित लड़कियाँ इस कार्य को अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं । सूर्योदय से एक घण्टा पूर्व से लेकर सूर्य निकलने के समय तक का समय इसके लिए अधिक उपयुक्त रहता है । लड़कियाँ, महिलाएँ भजन गाती हुई गली-मुहल्लों से होकर निकलें तो लोगों के कानों में मिशन का सन्देश पहुँचेगा ।

इन शाखाओं द्वारा वर्ष में एक बार दस दिवसीय शिविर कार्यक्रम सहित वार्षिकोत्सव रखा जाय । इसमें कार्यकर्त्ता महिलाओं को अभियान की भावी गतिविधियों के सम्बन्ध में प्रशिक्षित करने के लिए शान्तिकुञ्ज से दो कार्यकर्त्री भेजी जा सकती हैं । वे स्थानीय महिलाओं को यह सिखायेंगी कि अभियान को अधिक व्यवस्थित एवं गतिशील बनाने के लिए क्या किया जा सकता है । तुलसीकृत रामायण, बाल्मीकि रामायण, भागवत की सप्ताह कथा, कार्यक्रम चलाना इन कार्यकत्रियों को भली प्रकार आता है व कथा सप्ताह आयोजन, पाँच कुण्डीय गायत्री यज्ञ, बच्चों एवं महिलाओं के संस्कार तथा अन्यान्य कार्यक्रमों के साथ वार्षिकोत्सव आयोजन को भली प्रकार सम्पन्न करा सकती हैं । जिन शाखाओं की गतिविधियाँ ठीक चल रही होंगी, सत्संगों की प्रक्रिया विधिवत् चल रही होगी, उनके लिए यह शिविर आयोजनों समेत वार्षिकोत्सव कार्यक्रम चलाना भी कुछ कठिन न पड़ेगा ।

उपरोक्त सभी कार्यक्रम महिलाओं द्वारा ही चलेंगे पर इन सबका सूत्र-संचालन सहायक सदस्यों को करना होगा । अपने घर की महिलाओं को प्रोत्साहित करना, प्रशिक्षित करना, अवकाश देना और शाखा व्यवस्था के लिए आर्थिक साधन जुटाना तथा दूसरी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा कठिनाइयों का हल करना, सहायक सदस्यों का ही काम है । महिलाएँ आरम्भिक स्थिति में सामान्य भूमिकाएँ ही निभा सकती हैं । यदि पुरुष सूत्र संचालन न करेंगे और यह आशा करेंगे कि महिलाएँ स्वयं ही अपने आयोजनों का प्रबन्ध कर लें तो भी प्रगति की आशाजनक संभावना कम ही रहेगी । विश्वास किया जाना चाहिए कि विचारशील व्यक्ति इस प्रयास में उत्साह-वर्धक सहयोग देंगे और महिला जागरण अभियान अपने लक्ष्य की दिशा में द्रुतगति से अग्रसर होगा ।

शिक्षा संवर्द्धन की व्यावहारिक योजना

बुद्धिमत्ता ही वह विशेषता है, जिसके सहारे मनुष्य और पशु के बीच अन्तर बनता है । अनपढ़ रहने की स्थिति में कोई भरण पोषण की आवश्यकता भी कठिनाई से पूरी कर पाता है । शारीरिक श्रम भर की क्षमता वाले जिन्दगी के दिन ही किसी प्रकार गुजार पाते हैं, उन्हें सभ्य समुदाय की पंक्ति में बैठ सकने का सुयोग मिलता ही नहीं । इसलिए हर किसी के लिए आवश्यक है कि वह बुद्धिमान बनने का प्रयत्न करे । समाज के मूर्धन्य व्यक्तियों का कर्त्तव्य है कि वह जन-जन को बुद्धिमान बनाने के लिए सामर्थ्य भर प्रयत्न करे ।

इसके लिए दो अवलम्बन हैं-एक शिक्षा, दूसरा विद्या । शिक्षा, साक्षरता से आरम्भ होती है और विद्यालयों की उच्च कक्षाएँ उत्तीर्ण करने, शिल्प, व्यवसाय कला-कौशल आदि में प्रवीण होने तक चली जाती हैं । डॉक्टर, इन्जीनियर, वकील, अध्यापक, साहित्यकार, कलाकार आदि इसी समुदाय में आते हैं ।

विद्या का स्वरूप है-चिन्तन, चरित्र व्यवहार में आदर्शवादी उत्कृष्टता का समावेश । धर्म, अध्यात्म, तत्वदर्शन, नीति, कर्त्तव्य, परमार्थ आदि के द्वारा इसी आवश्यकता की पूर्ति होती है । "विद्ययाऽमृतमश्नुते" के सूत्र में "सा विद्या या विमुक्तये" के शास्त्र वचन में यही बताया गया है कि व्यक्तित्व का विकास, प्रखर प्रतिभा का निखार इसी आधार पर संभव होता है ।

शरीर के लिए जिस प्रकार आहार-आच्छादन की आवश्यकता है, उसी प्रकार आत्मा की भूख बुझाने के लिए शिक्षा और विद्या की आवश्यकता है । इन दोनों से वंचित किसी भी मनुष्य को नहीं रहना चाहिए । इन्हें अर्जित करने के लिए हर किसी को प्राणपण से प्रयत्न करना चाहिए । जिनमें उदारवादी सहृदयता है, जो आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण में अभिरुचि रखते हों, उनके लिए आवश्यक है कि शिक्षा और विद्या से जन-जन को लाभान्वित करने के लिए जो सम्भव हो, सो सब कुछ करें ।

विद्या से पूर्व शिक्षा की आवश्यकता है । इसके बिना दृष्टिकोण का उदार-उदात्त बन सकना कठिन है । कोई अपवाद ही ऐसे मिलते हैं जिनमें बिना शिक्षा के भी कोई सुविकसित-सुसंस्कृत बन सका हो ।

अपने देश का इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि अभी भी अधिकांश व्यक्ति अनपढ़ हैं । शिक्षितों की संख्या मुश्किल से ३० प्रतिशत है । इनमें से अधिकतर शहर-कस्बों में रहते हैं । देहातों में बच्चे तो स्कूल जाने लगे हैं पर प्रौढ़, नर-नारी जिनके हाथ में व्यवस्था है, वे अनपढ़ स्थिति में छोटे-छोटे देहातों में रहते हुए किसी प्रकार दिन गुजार रहे हैं । इसी वर्ग को शिक्षित बनाने के लिए विचारशीलों को प्रयत्न करना चाहिए, प्रौढ़ शिक्षा पर पूरी तरह ध्यान केन्द्रित होना चाहिए । इन दिनों जो बच्चे स्कूल में पढ़ रहे हैं, वे तो दस-पन्द्रह वर्ष बाद ही कुछ कर सकने योग्य बन पायेंगे, तब तक के लिए प्रतीक्षा में बैठा नहीं रहा जा सकता है । स्कूल नये बढ़ें, सो ठीक है पर यह तो वृक्षारोपण मात्र हुआ । आवश्यकता उन्हें शिक्षित बनाने की सबसे अधिक है, जो इन दिनों भारी उत्तरदायित्व कंधों पर उठाये हुए हैं ।

अशिक्षित प्रौढ़ों को कुछ ही दिनों में शिक्षित बनाने का कार्य सरकार पूरा नहीं कर सकती । उसकी शक्ति तो १० प्रतिशत की जनसंख्या वाले बालकों और किशोरों को पढ़ाने में ही खप जाती है । प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था तो जन-आन्दोलन के रूप में ही करनी होगी ।

पुरुषों के लिए रात्रि प्रौढ़-पाठशालाएँ सुविधाजनक रहती हैं । महिलाओं के पास मध्यान्होत्तर १ से ४ तक का समय ऐसा है जिसमें उन्हें थोड़ी फुरसत रहती है । इसी समय में दोनों की सुविधा के अनुरूप प्रौढ़-पाठशालाएँ चलनी चाहिए । इसके लिए अध्यापक वैतनिक नहीं रखे जा सकते हैं । भावनाशील शिक्षितों को विद्या ऋण चुकाने के लिए इस प्रयोजन के लिए समयदान करना चाहिए । लोकसेवी, भावनाशीलों को इसी की व्यवस्था स्थान-स्थान पर जुटाने का प्रयत्न करना चाहिए । व्यक्तिगत रूप से यह होना चाहिए कि प्रत्येक शिक्षित कम से कम पाँच अशिक्षितों को शिक्षित बनाने की प्रतिज्ञा करे और उसे पूरी कर दिखाये ।

स्कूल जाने वाले बच्चों के निर्धारित पाठ्यक्रम पूरा करने की तो छोटे-बड़े विद्यालयों में व्यवस्था है; पर उन्हें सुसंस्कृत बनाने, उदात्त दृष्टिकोण अपना सकने की व्यावहारिक शिक्षा का वहाँ भी अभाव है । इस कमी को तो पूरा करने के लिए हर जगह स्कूलों में बचे समय में दो-तीन घण्टे की बाल संस्कारशाला चलाने की व्यवस्था होनी चाहिए । स्थान मंदिरों, धर्मशालाओं, चौपालों आदि में कुछ घंटे प्रयोग करने के लिए मिल सकता है ।

बाल-संस्कारशालाओं में स्कूली पाठ पक्का कराने की व्यवस्था हो, ताकि वे अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण हो सकें । इसके अतिरिक्त उन्हें नागरिकता, सामाजिकता, शिष्टता, सज्जनता, सेवा-भावना, संयम जैसे सद्गुणों का महत्त्व और जीवन में उतारने की प्रक्रिया समझायी जानी चाहिए । इसी समय में स्वास्थ्य रक्षा, परिवार व्यवस्था, समाज सेवा, दृष्टिकोण परिष्कार जैसे व्यावहारिक जीवन में काम आने वाली जीवनकला का शिक्षण दिया जाना चाहिए । इसकी व्यवस्था और शिक्षा वे लोग अपने कन्धों पर अवैतनिक रूप से लें, जिनमें मानवी गरिमा को जीवन्त रखने की ललक है, बाल संस्कारशालाओं का गठन हर जगह होना चाहिए ।

उपरोक्त दोनों शिक्षा-संवर्द्धन प्रयोजनों के लिए क्या किया जाना चाहिए ? लक्ष्य को व्यवहार में परिणत करने के लिए क्या विधा अपनायी जानी चाहिए ? इसका सांगोपांग शिक्षण शान्तिकुञ्ज की तीन महीने वाली शिक्षा में सम्मिलित है ।

साक्षरता के उपरान्त जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालने वाले और समस्याओं के समयानुसार व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करने वाला साहित्य जुटाया जाना चाहिए । यह कार्य पुस्तकालयों के माध्यम से ही हो सकता है । हर शिक्षित इतना अधिक खरीदते रहने की स्थिति में नहीं होता । इसलिए विद्यालयों की तरह सद्ज्ञान-संवर्द्धन कर सकने वाले पुस्तकालयों की स्थापना और उनके संचालन की व्यवस्था होनी चाहिए । काम स्थिर पुस्तकालयों से भी नहीं चलता, क्योंकि लोगों में स्वाध्याय की अभिरुचि है ही नहीं । पढ़े-लिखे लोग भी मनोरंजक साहित्य पढ़ते हैं ।

सद्ज्ञान संवर्द्धन वाला साहित्य हर शिक्षित को घर बैठे बिना मूल्य उपलब्ध हो, इसके लिए झोला पुस्तकालय जैसी चल-प्रक्रिया ही सार्थक सिद्ध हो सकती है । शिक्षा-संवर्धन के लिए स्कूली छात्रों के लिए बाल संस्कारशाला, प्रौढ़ों के लिए प्रौढ़ पाठशाला, शिक्षितों के लिए चल पुस्तकालयों के संचालन की व्यवस्था होनी चाहिए । इसी आधार पर अशिक्षितों को शिक्षित और शिक्षितों को विचारशील बनाने की प्रक्रिया पूरी की जा सकती है । समग्र पुनर्रुत्थान के लिए यह प्रथम सोपान है । इसे अपने परिवार में, पड़ौस में, सुव्यवस्थित समाज में किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय ? देश सेवा का, आत्मसंतोष का यह कार्य कौन किस प्रकार सम्पन्न करे ? इसकी समग्र जानकारी तीन महीने वाले शान्तिकुञ्ज के प्रशिक्षण सत्रों में दी जाती है । इसे शिक्षा संवर्द्धन की महान योजना माना जाना चाहिए ।

पुराण कथाओं से आदर्शवादी शिक्षण

आत्मीयता के घनिष्ट सूत्रों में आबद्ध परिजन जहाँ एक-दूसरे को आदर की दृष्टि से देखते हों, परस्पर स्नेह-सौहार्द्र रखते हों, एक-दूसरे की भावनाओं का आदर करते व उनके स्वाभिमान की रक्षा करते हों, वहीं परिवार के वातावरण में सुख-शान्ति की स्थापना हो सकती है । परिवार अनेक सम्बन्ध सूत्रों का समुच्चय है । पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री, माता-पिता, भाई-भाई, भाई-बहिन, बहिन-बहिन, देवर-भाभी, देवरानी-जिठानी, ननद-भाभी

के सम्बन्धों में जहाँ मधुरता बरसती रहे, उसी परिवार में सुख-शान्ति बरसती रहती है और उस वातावरण में रहने वाले परिजन स्वर्गिक सुखों का उपभोग करते हैं । किन्हीं कारणों से इन सम्बन्धों में यदि कटुता उत्पन्न होती है और कलह-क्लेश मचता है तो उसी परिवार में नरक का सा वातावरण बन जाता है । इसलिए आवश्यक है कि परिवार में इस तरह कटुता उत्पन्न करने वाले कारण उत्पन्न ही न होने दिये जायें ।

यह कारण तभी उत्पन्न होते हैं जब परिजन दूसरों की भावनाओं, आकांक्षाओं और सम्मान का ध्यान रखे बिना अपनी ही इच्छा-आकांक्षा को महत्त्व देने लगें । दुर्भाग्य से अधिकांश परिवारों की स्थिति इन्हीं कारणों से नारकीय बनी रहती है । इन कारणों को दूर करने तथा पारिवारिक सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने के लिए परिवार का समुचित शिक्षण आवश्यक है और यह शिक्षण कथा-प्रसंगों, पौराणिक, ऐतिहासिक उदाहरणों द्वारा जितने अच्छे ढंग से किया जा सकता है उतना और किसी माध्यम से सम्भव नहीं है ।

परिवार का शिक्षण कथा-प्रसंगों के माध्यम से करने से पूर्व यह जान लेना उचित होगा कि पारिवारिक सम्बन्धों की सुदृढ़ता किसे कहते हैं ? पारिवारिक सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने और घर के वातावरण में सुख-शान्ति बनाये रखने के लिए अमूल्य सूत्र यह है कि माता-पिता और परिवार के अन्य बड़ों के प्रति पुत्र-पुत्री व बहू आदर और श्रद्धा का भाव रखें । परिवार के सभी सदस्य 'पहले आप' की नीति अपनाएँ और अपने से पहले परिवार के अन्य सदस्यों के सम्बन्ध में सोचें । आवश्यकताओं और माँगों की पूर्ति के सम्बन्ध में दूसरों को प्राथमिकता देने की नीति अपनाएँ । अपनी स्वार्थपरता के लिए दूसरों के अधिकारों का हनन न करें, बड़ा भाई छोटे भाई-बहिनों को पिता के अभाव में अपने ही पुत्र-पुत्री के समान समझे और उसकी पत्नी भी सबसे ऐसा ही व्यवहार करे । भाई-भाई अपने को परिवार का अभिन्न अंग माने और अपने स्वार्थ या हित को दूसरे सदस्यों से अलग न समझे, साथ-साथ रहे, साथ-साथ कार्य करें ।

इस तरह के कई उदाहरण भारतीय इतिहास और कथा-पुराणों में मिलते हैं । इन कथा-प्रसंगों के आधार पर आदर्शों की प्रेरणा बड़ी सरलता से दी जा सकती है और इस आधार पर शिक्षण का प्रयोजन बड़ी सरलतापूर्वक किया जा सकता है । पुराण-कथाओं के माध्यम से ऐसे आदर्श उदाहरण बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादित किये गये हैं । अपने देश में इस तरह के उदाहरण इतनी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं कि अन्य किसी देश के इतिहास में कदाचित् ही ऐसे प्रसंग देखने-सुनने को मिलते हों । यही कारण है कि इन उच्च सिद्धान्तों की, आदर्शों की व्याख्या और प्रतिपादन करने वाले भारतीय ग्रन्थों ने विश्वभर में ख्याति प्राप्त की है, विदेशियों ने भी इन ग्रन्थों को खोज कर अपनी भाषाओं में अनूदित किया है, उन पर टिप्पणियाँ लिखी गई हैं, विस्तृत लेख लिखे गये हैं । कारण स्पष्ट है कि पारिवारिक और वैयक्तिक जीवन की जटिल समस्याओं को बड़ी सरलता से सुलझाकर रख देना और आदर्शवादी प्रेरणाएँ देना इनकी प्रमुख विशेषता है । इन आदर्शों को यदि अपनाया जा सके तो कदाचित् ही किसी परिवार में कलह का कोई कारण उपस्थित हो ।

परन्तु आदर्शों को अपनाने से पूर्व आवश्यक है उनका शिक्षण और यह शिक्षण कथा-प्रसंगों के माध्यम से भली-भाँति दिया जाये । उदाहरण के लिए, दाम्पत्य जीवन को आदर्श और सुख सम्पन्न बनाना हो तो रामचरित मानस इसके लिए बहुत ही उपयुक्त है । राजमहलों में भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने वाली सीता अपने पति क कठिनाइयों को सरल करने के लिए घोर दुःखों को स्व निमन्त्रण देती है । पुराणों में जिस स्तर का उच्च आ आदर्शवादी दाम्पत्य जीवन देखने को मिलता है, उसकी पुनरावृत्ति अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलती है । गांधारी को जब पता चला कि उसके भावी पति धृतराष्ट्र नेत्रहीन है तो उसने भी अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली । उसने सोचा कि जब मेरे पतिदेव खुले नेत्रों से इस जगत को निहार नहीं सकते तो मुझे भी इसे देखने का कोई अधिकार नहीं । सावित्री को ज्ञान था कि वह एक वर्ष बाद विधवा हो जाएगी, परन्तु एक बार जब उसने अपने पति का वरण कर लिया तो जन्म-जन्मान्तरों के लिए उसे अपना आराध्य मान लिया । द्रौपदी का जीवन सुख और सौभाग्य से ओत-प्रोत था क्योंकि वह जानती थी कि किस प्रकार अपने पतियों को कुशल व्यवहार से सन्तुष्ट रखा जा सकता है ? महासती अनुसूया, शैव्या, दमयन्ती, सुकन्या आदि के जीवन आज भी आदर्श-दाम्पत्य जीवन की प्रेरणाएँ देने में सक्षम हैं ।

आज के युग में पत्नी समानाधिकार माँगती है और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहती है, किसी प्रकार का अंकुश उसे सहन नहीं होता । किन्तु प्राचीन कथा-प्रसंगों में पग-पग पर त्याग, बलिदान और उत्सर्ग, कष्ट, सहिष्णुता की प्रेरणा व शिक्षा मिलती है ।

राम, लक्ष्मण और भरत के रूप में भाई-भाई के जैसे आदर्श सम्बन्ध भारतीय पुराणों में मिलते हैं, वैसे अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं हैं । उनके चरित्र से यह प्रेरणा बड़ी सरलतापूर्वक उभारी जा सकती है कि एक-दूसरे के प्रति त्याग की भावना अपनाने से ही भ्रातृ प्रेम जग पाता है । कौरव सदैव से पाण्डवों के विरोधी रहे थे परन्तु जब यक्षों ने उन्हें बन्दी बनाया तो युधिष्ठिर ने ही उन्हें बन्धन मुक्त कराया । पुष्कर के दुर्व्यवहार को भुलाकर राजा नल ने अपने भाई को क्षमा कर दिया था । घर-घर में भाई-भाई के बीच जो वैमनस्य, कटुता दिखाई देते हैं, उसके बीज बचपन से ही पड़ते हैं । यदि बचपन में ही इस प्रकार के कथा-प्रसंगों द्वारा बच्चों में आदर्श प्रेम जाग्रत किया जा सके, तो न, आपसी सम्बन्धों में विच्छेद की स्थिति आ सकती है न ही उनके स्नेह-सम्बन्धों में कटुता पैदा होने की स्थिति आ सकती है ।

माता-पिता के प्रति पुत्र के कर्त्तव्यों का शिक्षण राम, श्रवण, भीष्म, नचिकेता आदि के उज्ज्वल उदाहरणों से भली प्रकार किया जा सकता है । राम ने पिता की आज्ञा को मानकर चौदह वर्ष तक जंगलों में भीषण कठिनाइयाँ सहीं, श्रवणकुमार ने अपने अन्धे माता-पिता को काँवर में बिठाकर तीर्थयात्रा कराई । भीष्म ने पिता की प्रसन्नता के लिए अपने पारिवारिक जीवन का बलिदान किया और अपने राज्याधिकार को तिलांजलि दी । पिता के दान करने पर नचिकेता प्रसन्नतापूर्वक यमलोक गये ।

पारिवारिक जीवन में सास और बहू के सम्बन्ध कैसे होने चाहिए ? इस सम्बन्ध में भी आदर्श उदाहरण मिलते हैं । सीता एक आदर्श बहू थी जिसने सास को अपनी माता समझकर उनकी हर आज्ञा का पालन किया । कौशल्या ने भी सीता को पुत्रीवत् समझकर उसे मातृवत स्नेह दिया । व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को आत्मज्ञानी बनाया और बड़े होने पर स्वयं शिक्षा देना उचित नहीं समझा तो उन्हें ब्रह्मज्ञानी राजा जनक के पास भेज दिया । इस प्रकार के ढेरों उदाहरण इतिहास-पुराणों में मिलते हैं जो वास्तव में पुराणकारों ने परिवार निर्माण को दृष्टिगत रखते हुए ही पुराणों की रचना की, यह मानने के पर्याप्त कारण हैं । उन्होंने पुराण ग्रन्थों में परिवार निर्माण के अमूल्य सूत्रों को माला की तरह इस प्रकार पिरो दिया है, तत्सम्बन्धी चरित्रों का चित्रण इस ढंग से किया है कि पाठक व श्रोता के मन में भाव तरंगें उछलने लगती हैं कि काश! मैं भी ऐसा उदाहरण प्रस्तुत कर सकूँ । पारिवारिक जीवन के आदर्शों को प्रेरित और प्रोत्साहित करने में पुराणकार बहुत अंशों तक सफल रहे हैं । इस कथा माध्यम का उपयोग कर परिवार शिक्षण की प्रक्रिया सरलतापूर्वक सम्पन्न की जा सकती है ।

उपार्जन तथा मितव्ययता का समावेश

अपने देश का अभी उत्पादन उतना नहीं बढ़ा है कि लोगों से यह कहना पड़े कि अधिक उपयोग करके चीजों को जल्दी-जल्दी नष्ट करो ताकि अधिक उत्पादन और अधिक खपत की गुंजायश बनी रहे । यह अर्थशास्त्र अमरीका के लिए ठीक हो सकता है, जहाँ पूरा महाद्वीप खाली पड़ा है जितनी गुंजाइश है उससे चौथाई लोग रहते हैं और प्रकृति सम्पदा का भरपूर उपयोग करने के कारण सम्पन्न होते चले गये हैं ।

हमारी स्थिति भिन्न है । एक तो वस्तुएँ कम मात्रा में उत्पन्न होती हैं, फिर उन्हें खरीदने को पैसा कहाँ है ? अल्प आजीविका से पेट भरना और तन ढकना ही मुश्किल पड़ता है फिर अपनी संस्कृति में लोकमंगल के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण अनुदान प्रस्तुत करने की भी परम्परा है । अगले दिनों नवनिर्माण के लिए भारत को जिस भूमिका का निर्वाह करना है, उसमें उसे अपने समय, श्रम तथा साधनों का अनुदान भी प्रस्तुत करना पड़ेगा । इन सब बातों को देखते हुए हमारे लिए मितव्ययता का, बचत का, संयम का, अर्थशास्त्र ही उपयुक्त हो सकता है यहाँ ऐय्याशी, फिजूलखर्ची का, खाने के बाद खुन्तारने का अर्थ शास्त्र ग्राह्य नहीं हो सकता । हमें उपार्जन बढ़ाना है, आजीविका के वर्तमान साधनों को समुन्नत करना है और नये स्रोत ढूँढ़ निकालने हैं, यहाँ मितव्ययता को भी अर्थ समस्या के समाधान का प्रमुख सिद्धान्त मानकर चलना है । यदि उपार्जन नहीं बढ़ाया जा सकता तो मितव्ययता के आधार पर खर्च में कमी तो की ही जा सकती है । उपार्जन प्रक्रिया तो मात्र इच्छा पर ही नहीं रहती, उसके लिए पूँजी, अनुभव, साधन, क्षेत्र, परिस्थितियाँ आदि अनेक बातों का तालमेल बिठाना पड़ता है, तब बात बनती है । पर खर्च घटाने में यह अड़चन नहीं है । उसमें थोड़ी व्यवहारकुशलता और परिष्कृत दृष्टि से काम लिया जाय, इसमें और थोड़ी सतर्कता बरती जाय तो बचत में बहुत कुछ सफलता मिल सकती है और उसके आधार पर भी डगमगाता हुआ आर्थिक सन्तुलन बहुत हद तक व्यवस्थित रखा जा सकता है ।

जिन कामों के लिए बाहर पैसा देना पड़ता है, उन्हें हाथ से कर लिया जाया करे, तो उस श्रम का हाथों हाथ परिणाम मिल सकता है । कपड़े धोने का श्रम अकेली स्त्री ही न करे । घर के पुरुष भी उसमें हाथ बँटाये तो थोड़े समय में वे सब बहुत अच्छी तरह साफ हो सकते हैं । घर में लोहा किया जा सकता है, कलफ लगाया जा सकता है । आवश्यकतानुसार रंगा भी जा सकता है । इसमें कुछ बड़े कला-कौशल की जरूरत नहीं है । किसी जानकार से इन कार्यों के मोटे-मोटे सिद्धान्त समझ लिये जायें तो एक घण्टा रोज लगाकर घर भर के कपड़े धोये जा सकते हैं । हर कोई चम-चम, जगमग, साफ-सुथरा रह सकता है । धोबी आजकल तेजाब से कपड़े धोते हैं । साबुन सोड़ा लगाने से खर्च ज्यादा पड़ता है, तेजाब सस्ता रहता है । तेज आग पर उबालने, पानी में तेजाब मिलाने तथा पत्थर पर बुरी तरह पीटने से कपड़ों की आधी जिन्दगी खत्म हो जाती है । जो कपड़ा घर धोने पर छह महीने चल सकता है वह धोबी के यहाँ धुलाने पर तीन महीने में ही चुक जायगा । धुलाई के पैसे ही नहीं, कपड़े की जिन्दगी भी बचा कर हम चाहें तो घर की आर्थिक स्थिति को थोड़ा मजबूत कर सकते हैं ।

कोट, पेन्ट की बात जाने भी दें तो छोटे कपड़े आसानी से घर में सिल सकते हैं । उनकी सिलाई में थोड़ा फर्क रह जाय तो भी काम चल सकता है । एक दो महीने में इतनी साधारण सिलाई सीखी जा सकती है । पुराने कपड़ों में से नये निकाल लेना एक विशेष कला है । पुराने बड़े कोट-पेन्टों में से बच्चों के छोटे कोट-पेन्ट आसानी से निकाल सकते हैं । खराब हिस्से हटाकर अच्छे वाले भाग को काम में लाया जाय । कुर्ते से बनियान, पेटीकोट में से

अन्डरवीयर, बनियान में से रूमाल निकाल सकते हैं । यह बचत देखने में छोटी मालूम पड़ती है पर उसका हिसाब जोड़ा जाय तो प्रतीत होगा कि कपड़ों के सम्बन्ध में थोड़ी सतर्कता अधिक बढ़ा देने का परिणाम कितना हुआ और उससे कितना पैसा बच गया ।

घरेलू शाकवाटिका का इस दृष्टि से अपना महत्व है । लोग उसे छोटी बात समझकर उपेक्षित करते हैं और प्रचलन न होने से आलस करते हैं पर यदि थोड़ा उत्साह दिखाया जाय तो घर-आँगन में, टोकरियों, पेटियों गमलों और नाँदों में इतनी शाक-भाजी उगाई जा सकती है जो कई रुपया रोज की बचत कर दे और अच्छी मन- चाही चीजें नित्य देकर रुचिकर और स्वास्थ्यप्रद भोजन की आवश्यकता पूर्ति को सरल बना दें । एक क्यारी या चार गमले फूल उगे हों तो मेजों पर गुलदस्ते पूजा के स्थान पर माला, बच्चों के कोट में, मुन्नी के बालों में फूल लगाये जा सकते हैं और यह घर-परिवार फूलों जैसा खिला हुआ दीख सकता है ।

टूटे-फूटे सामान की मरम्मत करना विकासोन्मुखी दृष्टिकोण का परिष्कार है । कहते हैं-जो टूटे को बनाना और रूठे को मनाना जानता है वह सब कुछ जानता है । बात बहुत हद तक सही है । घर का व्यक्ति रूठा, बैठा हो, उससे सामान्य कार्यक्रम में बाधा पड़ती है, मस्तिष्क असन्तुलित रहता है और उस विग्रह से बने काम बिगड़ते हैं । रूठे हुए को मना लेने में अपनी नम्रता, मधुरता, समझदारी, दूरदर्शिता आदि कितनी ही सत्प्रवृत्तियों के विकसित होने का, अभ्यास में आने का अवसर मिलता है । ठीक इसी प्रकार घर की टूटी हुई वस्तुएँ भी रूठे के समान ही हैं । उनकी उपयोगिता ज्यों की त्यों है, तनिक-सा खोट कहीं आ गया है, उतने कारण ही वह बेकार कूड़ा जैसी बन गई है । उसे सुधारने की कला जरा-सी आती हो तो वह कूड़ा सुधरकर नया खरीदने में खर्च होने वाले पैसे को बचाया जा सकता है ।

लालटैन और स्टोव जरा-सा कचरा रुक जाने, स्टार्ट की विधि न आने से बिलकुल बेकार हो जाते हैं । उनके अभाव में कष्ट उठाना पड़ता है । नया खरीदने की बात सोचनी पड़ती है । बिगड़ी चीजें घर घेरे हुए कुरूपता बढ़ाती रहती हैं । मरम्मत वाले की दुकान तलाश करते फिरने, फिर जल्दी बनाने के रोज-रोज तकाजे करने में जो समय नष्ट होता है उसमें झुँझलाहट ही आती है । यदि थोड़ी-सी जानकारी रही होती तो न केवल पैसे की बचत ही हो सकती थी वरन् एक सिर दर्द से भी बचा जा सकता था । जिसे घरेलू वस्तुओं की टूट-फूट सुधारनी आती है वह प्रस्तुत वस्तुओं से ही मुद्दतों काम चला लेता है, आये दिन नई चीजें खरीदने की उसे तनिक भी आवश्यकता नहीं पड़ती ।

बर्तनों में कभी-कभी छेद निकल आते हैं । गड्ढे, दचके पड़ जाते हैं, कलई छूट जाती है । इनका सुधार करना सीखने में कुछ भी लगता नहीं है । किसी जानकार से सीख लिया जाय तो बर्तनों पर कलई करने से लेकर छेदों को बन्द करना और दचके-पिचके को उभार लेना हँसी-खेल जैसा काम है ।

चारपाइयों की चूलें टूट जाती हैं और टेढ़ी हो जाती हैं । बीच में से दो चार रस्सी टूटकर निकल जाती हैं बस इतने भर से चालीस रुपये की चारपाई बेकार कूड़ा । जमीन पर सोया जाय, मरम्मत वाला तलाश करते फिरा जाय या नई खरीदी जाय । यदि चारपाई बुनना आता हो तो उन पुरानी रस्सियों के साथ कुछ नई रस्सियाँ और मिलाकर दो घण्टे में उसे नये सिरे से बुना जा सकता है । चूलें छीली, छाँटी जा सकती हैं और उनमें फाँसें, पट्टे, बक्से, डिब्बे आदि ठीक कर लेना तनिक-सी कुशलता और समझदारी की अपेक्षा करता है । किसी से सीख-समझ लिया भी जाय तो घर का फर्नीचर सदा सही बना रह सकता है और वार्निश करना आता हो तो वह सदा नया जैसा चमकता रह सकता है । टूट-फूट यदि आरम्भ के दिन ही सँभाल ली जाय तो वह तनिक-सी होती है पर यदि उसे उपेक्षा में पड़ा रहने दिया जाय तो वह बढ़ते-बढ़ते बड़ी हो जाती है और फिर सँभलने में नहीं आती ।

बच्चे अक्सर जल्दी-जल्दी पुस्तकें खराब करते हैं और फाड़ते हैं । घर की अन्य उपयोगी पुस्तकें भी जहाँ-तहाँ पड़ी रहने के कारण गन्दी, भद्दी हो जाती हैं और जहाँ-तहाँ से फटने लगती हैं । देखने में वे कुरूप हो जाती हैं और जहाँ भी रखो वहीं गन्दगी एवं कुरूपता का प्रदर्शन करती हैं । यदि जिल्दें बनाना और फटी जगह की मरम्मत करना आता हो तो हर पुस्तक अपनी शान और अदा दिखाती रह सकती है और जहाँ भी उसे रखा जाय, शोभा सुन्दरता बढ़ाती रह सकती हैं ।

बरसात के दिनों में मकानों की छत में दरार पड़ जाती है । वे चूने लगती हैं और नीचे रखा हुआ सामान भीगने लगता है । जरा से काम के लिए मिस्त्री बुलाने, जरा-जरा सी सामग्री इकट्ठी करना खर्च की दृष्टि से ही नहीं व्यवस्था जुटाने की दृष्टि से भी काफी उलझन भरा होता है । यह छोटा काम स्वयं ही करना आता हो तो कितनी सरलता रहे । अवकाश के दिन सफेदी कूँची लेकर जुट पड़े तो एक ही दिन में छोटा-सा घर पुत सकता है । उसमें जरा-सा नीला थोथा डाल दिया जाय तो न केवल दीवारें चमकने लगती हैं वरन् मक्खी, मच्छर, पिस्सू आदि से भी छुटकारा मिल जाता है । मकान भी वस्त्रों की तरह, एक देह है । उसे साफ, स्वच्छ, सुन्दर, सुरक्षित रखा जाय तो अपना जी प्रसन्न रहता है, आत्मगौरव अनुभव होता है, कलात्मक दृष्टिकोण निखरता है और आने, देखने वालों के मन पर भी अपनी सुरुचि का प्रभाव पड़ता है और वे भी वैसे ही अनुकरण का प्रयास करते हैं ।

नित्य नाई तलाश करते फिरने से यही अच्छा है कि अपनी हजामत आप बनाना सीख लिया जाय, जूतों पर पालिश और छोटी-मोटी मरम्मत कर लेना क्या मुश्किल है । जड़ी-बूटियों का दन्त मन्जन, खुशबूदार तेल, मेहमानों

के लिए रंगीन खुशबूदार शरबत जैसी चीजें एक दो दिन में किसी जानकार से सीखी जा सकती हैं और इन पर खर्च होने वाले पैसे में प्राय: आधी बचत हो सकती है । चीजें बढ़िया बन जाती हैं सो अलग । उत्सवों के अवसर पर चौक पूरना, महाराष्ट्र में बनने वाली चित्रकारी रंगोली बनाना, कागज की झण्डियाँ, बेलें व फूल बनाना आता हो तो घर ऐसा सजाया जा सकता है मानो देव मन्दिर हो ।

बच्चों का मन बहलाने के लिए कई तरह के खिलौने बनाये जा सकते हैं । साँचे बाजार में मँगा लिये जायें तो मिट्टी के मोम, रंग के खिलौने देखते-देखते बन सकते हैं । रद्दी काग़ज को गलाकर उसमें मुल्तानी मिट्टी मिला दार बनाई लुगदी के बने खिलौने देखते ही बनते हैं और चित्ताकर्षक होते हैं । कपड़े की गुड़िया, भूसी भरी हुई बिल्ली जैसे अनेक डिजायन और अनेक किस्म के खिलौने बनाकर घर के व पड़ौस के बच्चों को दिये जा सकते हैं । बस सारे मुहल्ले के बच्चे घेरे ही रहेंगे । उनकी, उनके घर वालों की सहानुभूति और प्रशंसा बरसती ही रहेगी । इनमें खर्च क्या पड़ता है थोड़ी-सी हाथ-पाँव की मेहनत ही करनी पड़ती है । जो अपनी विनोद की आवश्यकता भी सहज ही पूरी करती रहती है और मन को हर समय उस सृजनात्मक कार्य से रस भी मिलता रहता है ।

यह कार्य कुशल महिलाओं के लिए बायें हाथ का खेल है । उपरोक्त जितनी मरम्मत की-टूट-फूट सुधारने की चर्चा की गई है, उनके औजार उपकरण २०-३० रुपये से अधिक के नहीं हो सकते । धीरे-धीरे इन्हें मँगा लिया जाय तो न केवल खुद वरन् बच्चों को भी इस मरम्मत की कला में निष्णात् किया जा सकता है और उनमें चीजों को सम्भालने की, बिगड़ने न देने, बिगड़ जाय तो तुरन्त मरम्मत करने की प्रवृत्ति उत्पन्न की जा सकती है । आदत ऐसी सुधरी होनी चाहिए कि एक बटन टूट जाय तो उसे यथास्थान लगाए बिना चैन न पड़े ।

विद्यालयों में और कोई शिल्प सिखाया जाय चाहे न सिखाया जाय-मरम्मत वाला क्लास अनिवार्य रूप से रखा जाय । हर बाल-वृद्ध, नर-नारी में यह प्रवृत्ति उत्पन्न होनी चाहिए । इसका न केवल वैयक्तिक दक्षता और सुरुचि के विकास पर वरन् देश की आर्थिक स्थिति पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा । मरम्मत की कला हमारी शिक्षा में जुड़ी रहे और उसमें प्रवीण अध्यापकों को अधिक उत्साह से घर-घर जाकर यह शिक्षा देने के लिए आगे बढ़ना चाहिए ।

देश की आर्थिक उन्नति के लिए सरकारी और गैर सरकारी अनेक प्रयत्न चल रहे हैं । व्यक्तिगत रूप से भी हर व्यक्ति इसके लिए सचेष्ट है । इस तरह के प्रयासों को सफल बनाने के लिए आवश्यक प्रयत्न किए जाने चाहिए । युग निर्माण योजना का इस संदर्भ में यह सुझाव है कि मितव्ययता को भी उन अनेक प्रयासों में सम्मिलित किया जाना चाहिए । उत्पादन बढ़े, आमदनी बढ़े साथ-साथ पैसे को अनावश्यक कार्यों में खर्च होने से रोककर उसे उपयोगी कार्यों में सदुपयोग करने की प्रवृत्ति भी बढ़े ।

मितव्ययता के सन्दर्भ में ऊपर कुछ सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं । सबसे महत्त्वपूर्ण सुझाव यह है कि बड़े व्यवसायों और सामाजिक कुरीतियों को जड़-मूल से उखाड़कर रख दिया जाय । उनसे लाभ किसी का कुछ भी नहीं होता, हानि सब की असीम, अपरिमित होती है । विवाह-शादियों में होने वाला अन्धाधुन्ध खर्च देश में न केवल गरीबी ही बढ़ा रहा है वरन् बेईमानी की मजबूरी भी पैदा कर रहा है । रुपया ऐसी बुरी तरह खर्च हो जाता है, जिसमें दोनों पक्षों में से किसी का भी हित साधन नहीं होता । यह बर्बादी जब तक रुकेगी नहीं सारी कमाई इन्हीं छेदों में होकर टपकती चली जायगी और बर्तन खाली का खाली रह जायेगा ।

उत्पादन-उपार्जन की गाय जितना दूध देती है, वह सब सामाजिक कुरीतियों के फूटे पेंदे में होकर निकल जाता है । गाय को चारा खिलाने और दूध बढ़ाने के उपाय सोचने के साथ-साथ दुहने की फूटी बाल्टी की मरम्मत कराने वाले तथ्य को भूल नहीं जाना चाहिए । क्योंकि उपार्जन का तभी कुछ लाभ है, जब उसे अपव्यय में नष्ट होने से बचाकर उपयोगी कार्यों में लगाया जा सके ।

हर जगह ऐसे शिल्प विद्यालय स्थापित किये जाने चाहिए, जिनके आधार पर शिक्षित और अशिक्षित दोनों ही वर्गों के लोग कुछ कमाने की विधि सीख सकें । लिहाफ-गद्दे में पुरानी रुई अक्सर बेकार हो जाती है, उसका मोटा सूत कात लेना बहुत ही सुगम है । इस सूत की दरी तथा निवाड़ घरों में बुनी जा सकती है । इसके बुनने में कुछ भी असुविधा नहीं हो सकती । चारपाइयों के लिए निवाड़ और उन पर बिछौने के लिए दरी बनाकर घर में अच्छे पलंग, अच्छे बिस्तर सहज ही दीखने लग सकते हैं । इसी प्रकार के छोटे-बड़े पचासों शिल्प हर क्षेत्र में उपलब्ध सामग्री के आधार पर खड़े किये जा सकते हैं और उनसे हर व्यक्ति का दिमाग खाली न रहने और कुछ उपार्जन करने, बचाने की बात सोचने में लगा रह सकता है । जहाँ यह प्रवृत्ति पनपेगी वहाँ पर आर्थिक कठिनाई कभी भी स्थाई न रहेगी ।

अपंग, भिक्षुक, विधवाएँ, अनाथ, वृद्ध कमाकर गुजारा कर सकें, इसके लिए कुटीर उद्योगों के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । उन्हें सीखने-सिखाने के तन्त्र अपने केन्द्र पर रहें और गाँव-गाँव, घर-घर जाकर इस तरह की शिक्षा उपलब्ध करायें । अपने प्रयास इस स्तर के होने चाहिए ।

युग-निर्माण परिवारों द्वारा पूरे समय की तथा अल्प समय की ऐसी शिक्षण संस्थाएँ हर जगह खोलनी चाहिए, जिसमें हर आयु और स्थिति के व्यक्ति के लिए अपने बचे हुए सुविधा के समय में शिक्षा प्राप्त करते रहना सम्भव हो सके ।

इसके साथ-साथ गृह उद्योगों की कुटीर उद्योगों की शिक्षा व्यवस्था भी की जानी चाहिए । इतना ही नहीं वरन् यह प्रबन्ध भी किया जाना चाहिए कि वह उत्पादक खपाने के लिए एक सहकारी तन्त्र खड़ा कर सके, उत्पादन पर ही जब बिक्री करने का भी भार रहता है तो उसका बहुत-सा समय उसी झंझट में लग सकता है और उचित लाभ भी नहीं मिलता । अच्छा तरीका यह है कि कच्चा माल उत्पादन को देने व बना हुआ माल खरीदने के लिए एक सहकारी तन्त्र काम करे । एक जगह का उत्पादन दूसरी जगह बेचकर उपयुक्त मूल्य प्राप्त करने की बात इसी प्रकार सम्भव हो सकती है ।

जब तक वैसा प्रबन्ध हो मुहल्ले के लोग मिलकर आवश्यकता अनुसार साबुन, बिस्कुट, खिलौने जैसी चीजें बनाने और आपस में खपाते रह सकते हैं । सिलाई के लिए एक कर्मचारी नियुक्त करके मुहल्ले भर की सस्ती सिलाई उसी में हो सकती है । इस प्रकार के प्रचलन में न केवल गृह उद्योगों का विकास होता है, वरन् सहकारिता की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का भी विकास होता है । अगले दिनों आर्थिक प्रगति से बेकारी की समस्या का हल निकालने के लिए न केवल कुटीर उद्योगों का विस्तार करना पड़ेगा वरन् सहकारी आन्दोलन को भी गति देनी पड़ेगी । मिल-जुलकर काम करने से ही अन्तत: हमारी भौतिक समस्याओं का समाधान होगा । शिक्षा, उद्योग और सहकारिता की सम्मिलित त्रिवेणी में स्नान करने में ही हमारे भौतिक अभाव एवं दारिद्र्य का अन्त होगा ।

सहकारी प्रयासों का अभिवर्द्धन

सहयोग प्रवृत्ति का महत्त्व हमें समझना चाहिए और भविष्य में यदि उपलब्ध सुख-शान्ति को स्थिर रखना, उलझनें सुलझानी हों और प्रगति के पथ पर आगे बढ़ना हो तो इस बात के लिए तत्परता होनी चाहिए कि सहकारिता के प्रवाह को निरन्तर आगे बढ़ायें और उसे जीवन की प्रधान रीति-नीति में सम्मिलित करके रखें ।

आर्थिक उन्नति की दृष्टि से भी सहकारिता आवश्यक है । सहकारी समितियाँ बनाकर हम अनुचित शोषणों से सहज ही बच सकते हैं । मिल-जुलकर एक सहकारी भण्डार खोल लें उसमें दैनिक जीवन की आवश्यक सभी वस्तुएँ अच्छे स्तर और उचित मूल्य पर इकट्ठी मँगा कर रखें और उसमें से अपनी आवश्यकतानुसार खरीदते रहें तो चीज भी अच्छी मिलेगी, नाप-तौल भी सही होगी और मूल्य भी औचित्य की सीमा में ही देना पड़ेगा । खरीदने के लिए मोल भाव, देख-भाल, जाँच-परख करने में दुकान-दुकान ठोकर खानी पड़ती है उससे बचत होगी सो अलग । उससे भी बड़ा लाभ यह होगा कि उस सहकारी समिति के गठनकर्त्ताओं को इसी बहाने मिल-जुलकर सोचने, बैठने, विचार करने का अवसर मिलेगा और व्यक्तिगत घनिष्ठता की वृद्धि से अनेक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष लाभ प्राप्त करने का अवसर मिलेगा ।

छुटपुट अलग-अलग काम करने में लागत अधिक आती है और उत्पादन की खपत में अलग अधिक प्रयत्न करना पड़ता है । सब कपड़े बुनने वाले एक सहकारी समिति बना लें । थोक में वह समिति सूत खरीद ले, उत्पादन को यह समिति जमा कर ले और विक्रय के लिए बड़े व्यापारियों से सम्बन्ध बनाकर इकट्ठा बेचे । हर व्यक्ति को उसे खरीदने, बेचने के लिए जो आधा समय लगाना पड़ता था उसे बचाकर यदि यह पूरा ध्यान केवल निर्माण पर ही केन्द्रित करता है तो निश्चित रूप से वह नफे में रहेगा । जो बात बुनने वाले कारीगरों के बारे में कही गई है वह हर वर्ग के ऊपर लागू होती है । दस-दस बीघे अलग-अलग कृषि करने वाले किसान अलग-अलग हल बैल रखें, अलग-अलग सिंचाई, खलिहान आदि का प्रबन्ध करें, तो उसमें काफी शक्ति खर्च होगी । यदि वे दसों किसान मिल जायें और सौ बीघे का एक ही फार्म बना लें, सब लोग योजनाबद्ध काम करें तो साधन भी कम लगेंगे, श्रम भी कम पड़ेगा और मुनाफा भी अधिक होगा ।

बचत की अलग-अलग पड़ी हुई थोड़ी पूँजी को यदि इकट्ठा कर लिया जाय तो उससे सहकारिता के आधार पर कोई व्यापार उद्योग चलाया जाय, तो उससे कितनों को ही काम मिल सकता है । लोगों की कितनी ही आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं और पूँजी लगाने वालों को ब्याज-मुनाफा घर बैठे मिल सकता है । अलग-अलग पड़ा हुआ थोड़ा-थोड़ा धन, निरर्थक पड़ा रहने, अपव्यय, चोरी, ठगी द्वारा ग्रसा जाने की अपेक्षा इस प्रकार लाभकारी बने यह उचित है ।

विदेशों में अब कम पूँजी के छुट-पुट व्यापार नहीं चल पाते, हर दुकान, हर व्यापार बड़े पैमाने पर ही खोलना पड़ता है अन्यथा मजदूरी, दुकान भाड़ा आदि का खर्च ही छोटी दुकानें न जुटा सकें और कम साधनों के कम बिक्री वाले काम से उसे चलाने वाले का गुजारा ही न हो । इस कठिनाई का सामना करने के लिए वहाँ सहकारिता का ही आश्रय लेना पड़ता है । पूँजी वाले पूँजी एकत्रित करके व्यापार खोलते हैं, श्रमिक अपना संघ बनाकर कामों के ठेके लेते हैं । साधनहीन लोग उन्हीं संगठनों के माध्यम से मजदूरी प्राप्त करने का अवसर सुविधापूर्वक प्राप्त करते हैं । भोजन पकाने तक का प्रबन्ध सहकारिता के आधार पर किया जाता है । फलस्वरूप चार-छह व्यक्ति मिलकर सौ आदमियों की व्यवस्था कर लेते हैं । पहले इसी कार्य में अलग-अलग चौका जलाने पर पचास आदमियों का श्रम लगता था, जगह घिरती थी और लागत बढ़ती थी, अब सामूहिकता अपनाकर छह व्यक्ति सारा प्रबन्ध कर देते हैं । शेष ४४ को अवकाश मिलता है । वे दूसरे काम करते हैं ।

इस प्रवृत्ति को हर क्षेत्र में प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए । कृषि, व्यापार, उद्योग श्रम आदि इस कार्य को मिल-जुलकर करने की सम्भावना हो वहाँ उसके लिए कदम बढ़ाना चाहिये । सहकारी समितियों की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने की सहकारी नीति भी है । उसका सहयोग भी जहाँ जितना हो लेने का प्रयत्न करना चाहिए, इससे राष्ट्रीय सम्पदा की वृद्धि होती है और परस्पर मिल-जुलकर कार्य करने की मनोवृत्ति पनपती है जो हर दृष्टि से श्रेयस्कर ही है ।

वर्तमान परिस्थितियों में न तो स्वल्प पूँजी से कुछ काम चलने वाला है और न एकाकी श्रम से विविध प्रकार की प्रतिस्पर्धाएँ और समस्याएँ इस बात के लिए विवश करती हैं कि मिल-जुलकर काम करने की प्रवृत्ति पनपे और उसके आधार पर उपार्जित लाभ का हर व्यक्ति भागीदार बने ।

उपार्जन के हर क्षेत्र में अगले दिनों सहकारिता ही काम देगी । बड़े-बड़े मिल-कारखाने इन दिनों लिमिटेड कम्पनियों के रूप में ही चल रहे हैं । बड़े उद्योग ही नहीं अब छोटे उद्योग भी मिल-जुलकर ही चल सकेंगे । कृषि को ही लें । छोटी जोतें किसान के लिए भार मात्र हैं यदि छोटे-छोटे खेतों को मिलाकर एक बड़ा फार्म बना लिया जाय और ट्रैक्टर, पम्प आदि साधनों से उसे मिल-जुलकर चलाया जाय तो निस्सन्देह प्रत्येक भागीदार को उससे अधिक लाभ मिलेगा जितना कि अलग-अलग छोटे खेत करने से सम्भव न होता ।

सहकारी स्टोर बनाकर दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ अधिक अच्छी तथा अधिक सस्ती प्राप्त की जा सकती हैं । अन्न आदि के उपार्जन की सहकारी समिति बनाकर उपयुक्त समय तथा उपयुक्त स्थान पर बेचा जाय तो स्वभावतः उत्पादन को कहीं अधिक लाभ मिलेगा ।

यही बात सार्वजनिक जीवन के उत्कर्ष के बारे में है । एक व्यक्ति कितना ही योग्य या समर्थ क्यों न हो, वह व्यापक समस्याओं का सामना न कर सकेगा । आज की परिस्थितियों में संघ शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है । यों प्राचीनकाल में भी उसकी महत्ता कम नहीं थी । भगवान राम ने रावण वध के लिए वानरों की सेना गठित की । भगवान कृष्ण ने ग्वाल-वालों को साथ लेकर गोवर्धन पर्वत उठाया । बुद्ध ने बड़ी-सी शिष्य मण्डली साथ ली और गुरु गोविन्द सिंह ने इसी उद्देश्य से पंथ खड़ा किया । गाँधीजी ने साथियों की विशाल सेना सहित सत्याग्रह संग्राम छेड़ा । सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों का उन्मूलन कर सकना किसी भी एकाकी व्यक्ति के लिए संभव नहीं । इसी प्रकार लोक-मंगल की-समाज कल्याण की समस्याओं का समाधान भी संगठित प्रयत्नों से ही हो सकता है । एकाकी प्रयत्न इन संदर्भ में असफल रहेंगे ।

श्रम प्रतिष्ठा अभियान

शरीरबल और मनोबल बढ़ाने के लिए आहार-विहार की भाँति ही श्रम का भी महत्त्व है । उसके पीछे न केवल शरीर को सुदृढ़ बनाने की वरन् समग्र व्यक्तित्व को विकसित करने वाले आधार जुड़े हुए हैं । अस्तु, उनके लिए भरसक प्रयास करने चाहिए ।

सामाजिक दरिद्रता का एक बड़ा कारण है-आलस्य । यहाँ पिछले दिनों श्रम को, श्रमजीवी को असम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है । अछूत वे लोग कहलाये गये जो पसीने की रोटी कमाते थे । धोबी, चमार, जुलाहे, राज, मेमार आदि चूँकि कठोर श्रम करके अपनी रोटी कमाते थे अस्तु, उन्हें अछूत ठहरा दिया गया और जो बैठे-बैठे हराम की कमाई खाते थे, स्वयं श्रम करना तो दूर उलटे अपनी प्रारम्भिक आवश्यकता तक पूरा करने के लिए दूसरे की सहायता पर निर्भर रहते थे वे बड़े आदमी कहलाये गये । दुकान पर बैठे-बैठे तोंद फुलाने वाले, कपड़े पहनना तक के लिए नौकर रखने वाले, हाथ-पैर न हिलाने वाले लोगों को सौभाग्यशाली माना गया और सम्मानित किया गया । फलस्वरूप श्रम से जी चुराने को, मेहनत करने को दुर्भाग्य समझने की प्रवृत्ति अपने देश में पनपी और हरामखोरी बेहिसाब बढ़ी । आज जो गरीबी चारों ओर मुँह बाये खड़ी है, इसका एक बड़ा कारण श्रम की उपेक्षा ही है । ढलती आयु के लोग हरामखोरी अपना अधिकार मानते हैं; जैसे ही लड़के-बच्चे थोड़े बड़े हो गये कि बाप काम करने से कंधा डाल देता है और अपना अधिकार समझता है कि लड़कों के बड़े होते ही, काम करने से इनकार कर दे और मटरगश्ती में दिन बिताये, यही बात स्त्रियों में है । सास बन जाने के बाद वे बहुओं पर हुकुम चलाने के बाद पत्ता हिलाने में अपनी बेइज्जती समझती हैं । फल यह होता है कि श्रमशील न रहने से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सही रहने की सम्भावना नष्ट होती है, यह श्रम का लाभ जो परिवार एवं समाज को मिलना चाहिए उसके द्वार बन्द हो जाते हैं ।

यह स्थिति बदली जानी चाहिए अन्यथा हम आलसी और हरामखोर ही बनते रहेंगे और भारी शारीरिक, मानसिक क्षति उठाते रहेंगे । चूँकि लोहा निकम्मा पड़ा रहे तो उसे जंग खा जाता है, इसके मुकाबले में काम करते-करते घिसकर नष्ट होने वाला उस्तरा अधिक दिन जीता है, अधिक चमकता है और अधिक उपयोगी सिद्ध होता है इस प्रवृत्ति को निरन्तर पनपाने पर प्रगति की बहुत कुछ संभावना निर्भर है ।

यह आन्दोलन हमें व्यायाम के माध्यम से आगे बढ़ाना चाहिए । हर व्यक्ति को व्यायाम की उपयोगिता और आवश्यकता समझनी चाहिए । जो लोग दिमागी श्रम तो करते हैं पर शारीरिक मेहनत से बचते हैं, उन्हें व्यायाम द्वारा शरीर के प्रत्येक कल-पुर्जे को काम देकर उसे सशक्त

बनाने और नीरोग दीर्घजीवी रहने के तथ्य से परिचित कराया जाना चाहिए ।

मनोबल की दृष्टि का लाभ प्रत्यक्ष है । अपनी शारीरिक सुदृढ़ता के बारे में संशयग्रस्त व्यक्ति को हारा-थका और दीन-दुर्बल अनुभव करता रहता है पर जिसे अपनी शारीरिक सुदृढ़ता पर जितना विश्वास होता जाता है उसका मनोबल भी उतना ही बढ़ता चला जाता है । स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन निवास करता है यह उक्ति अक्षरशः सही है । प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति करने के लिए मनोबल की आवश्यकता पड़ती है और वही जितना अधिक मात्रा में होता है उतना ही प्रगति की सफलता का पथ प्रशस्त होता चला जाता है । व्यायाम प्रकारान्तर से प्रतिभा एवं व्यक्तित्व के विकास में असाधारण रूप से सहायक होता है ।

शिक्षा विस्तार और स्वास्थ्य संवर्द्धन आरम्भ करें

प्रज्ञा संस्थानों को नवनिर्माण के निमित्त अनेकानेक गतिविधियों को कार्यान्वित करना है । आरम्भ में जन-जागरण के लिए जनसम्पर्क की पंचसूत्री योजना का अनिवार्य एवं प्रमुख उत्तरदायित्व सँभालने के लिए कहा गया है ताकि जन-समर्थन और जनसहयोग का लाभ हाथों-हाथ मिल सके । इस पुरुषार्थ के लिए क्षमता चाहिए । नवसृजन में जनशक्ति ही प्रधान है । उसी का उपार्जन करने के लिए पंचसूत्री योजना में विचार-परिष्कार की सेवा-साधना को प्रत्यक्ष, सक्रिय बनाने के लिए यह निर्धारित किया गया है कि युगचेतना का आलोक सर्वत्र पहुँचाने के लिए घर-घर अलख जगाया जाय और जन-जन से सम्पर्क साधा जाय ।

जहाँ उस चरण को पूरा कर लिया गया वहाँ दूसरा कदम अन्य रचनात्मक कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिए उठाना चाहिए । अगले प्रयासों में दो प्रमुख हैं शिक्षा विस्तार और स्वास्थ्य संवर्द्धन; स्वास्थ्य से शरीर और शिक्षा से मन की प्रखरता निखरती है, यदि यह दोनों क्षेत्र गई-गुजरी स्थिति मे बनें तो व्यक्ति दीन-दुर्बल बना रहेगा । उस पर पिछड़ापन ही लदा रहेगा, अशिक्षा और दुर्बलता से छुटकारा पाने के बाद ही सम्पन्नता के स्वप्न देखे जा सकते हैं, हमें क्रमिक प्रगति की व्यावहारिकता अपनानी चाहिए ।

अपने देश की जनसंख्या में ७० प्रतिशत अशिक्षित हैं । शिक्षित बनाने की पूरी जिम्मेदारी सरकार पर नहीं छोड़ी जा सकती । उसके लिए बच्चों को पढ़ाना ही कठिन पड़ता है तब शेष ५० प्रतिशत प्रौढ़ निरक्षरों को शिक्षित बनाने के लिए विशालकाय तन्त्र खड़ा करना और उतना बड़ा व्यय भार उठाना उसके लिए असम्भव है । सम्भव होगा तो नये टैक्सों से दरिद्र जनता की रही-बची कमर भी टूट जायेगी यही संव्याप्त दुर्बलता और रुग्णता के सम्बन्ध में भी है । इस अभिशाप से तो ९० प्रतिशत लोग ग्रसित हैं; उनको पौष्टिक भोजन देने, व्यायाम व्यवस्था बनाने तथा अस्पताल खोलने की बात इतनी बड़ी है कि उसे सम्पन्न करने के लिए सरकार को समूचा बजट इसी एक काम के लिए नियोजित करना होगा, फिर भी यह आशा नहीं कि आन्तरिक सहयोग के बिना और बाहरी सहायता से कुछ कारगर हो भी सकेगी या नहीं ।

समर्थ गुरु रामदास ने अपने प्रभाव क्षेत्र के हर गाँव में महावीर मन्दिर बनाये थे । हनुमान की तरह साहसी बनने का लक्ष्य जन-जन के मन में निश्चित कराया था । इस हेतु हर महावीर मन्दिर के साथ एक व्यायामशाला भी अविच्छिन्न रखी थी । बच्चों के लिए शिक्षण और वयस्कों के लिए सत्संग की व्यवस्था की थी । महामना मालवीयजी ने अपने स्वरचित एक श्लोक में भी जन-जाग्रति के केन्द्रों की रूपरेखा बनाई थी । उसमें-"ग्रामे-ग्रामे-पाठशाला, मल्लशाला, प्रतिपर्व महोत्सवः" पाठशाला, व्यायामशाला और पर्व-त्यौहारों के आयोजन इन तीन को प्रमुखता दी थी ।

समर्थ गुरु रामदास और महामना मालवीय का अनुकरण करते हुए प्रज्ञा संस्थानों की स्थापना हुई तथा योजना बनी है तद्नुसार उन सभी कार्यक्रमों को क्रियापद्धति में सम्मिलित रखा गया है । पंचसूत्री योजना के अनुसार जन- सम्पर्क सधते ही-जनसमर्थन, जनसहयोग हस्तगत होते ही उन महत्त्वपूर्ण कामों में हाथ डालना चाहिए जिन पर लोकमानस का परिष्कार और सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के उभयपक्षीय प्रयोजन सिद्ध हो सकें ।

प्रौढ़ शिक्षा का, साक्षरता प्रसार का, शिक्षितों को अधिक शिक्षित बनाने का, कार्यक्रम ऐसी पाठशालाओं की स्थापना चाहता है जो कार्यरतों के अवकाश समय में उन्हें पढ़ाने की सुविधा प्रदान कर सके । निश्चित है कि इसके लिए अन्यमनस्कता हटाकर शिक्षा के लिए उत्साह उत्पन्न करना ही बहुत बड़ा मोर्चा है । वर्तमान परिस्थितियों में यह आशा नहीं की जा सकती कि शिक्षार्थी फीस देकर पढ़ेंगे और अध्यापक वेतन पर रखे जायेंगे तथा पाठशालाओं की निजी इमारतें बनेंगी या किराये पर ली जायेंगी । यह समूचा ढाँचा निशुल्क ही खड़ा करना होगा, अध्यापकों से २ घण्टे समय माँगा जायेगा । जो ऐसी मनोभूमि एवं परिस्थिति में हैं, उतने समय के लिए स्थान भी माँगे हो जायेंगे । धर्मशाला, देवालय, वृक्ष तले जहाँ भी जैसी सुविधा हो यह पाठशालाएँ चलेंगी । जन-जन से सम्पर्क साधकर बाल-वृद्ध, नर-नारी इसके लिए प्रोत्साहित किये जायेंगे जिससे कि वे पढ़ने का महत्त्व समझें । निरक्षर से साक्षर बनें और साक्षर आगे की पढ़ाई जारी रखें । आवश्यक नहीं कि यह प्रशिक्षण सरकारी पाठ्यक्रम के अनुरूप ही हो ।

आज की परिस्थितियों में जो सोचना एवं करना है उन सभी दैनिक जीवन से सम्बन्धित समस्याओं की जानकारी एवं प्रवीणता बढ़ाने वाली शिक्षण प्रक्रिया निर्धारित की जा सकती है । विदेशों में ऐसे सामयिक

स्कूलों की भरमार रहती है जिनमें व्यक्ति अपनी रुचि एवं आवश्यकता के अनुरूप अपनी योग्यता वृद्धि कर सकें। ऐसा ही तन्त्र प्रज्ञा संस्थानों को अपनी इमारतों में बिठाना पड़ेगा। लोगों की इच्छा, आवश्यकता तथा मिशन की योजना का सम्मिश्रण करते हुए एक आकर्षक एवं दूरदर्शितापूर्ण पाठ्यविधि का निर्धारण तनिक भी कठिन नहीं है। अगले दिनों यही करना भी है। फिर जहाँ सुविधा है वहाँ आज से ही उसका शुभारम्भ क्यों न किया जाय।

शिक्षा प्रसार के अतिरिक्त दूसरा कदम है स्वास्थ्य संवर्द्धन; इसके लिए ऐसे स्वास्थ्य-केन्द्र बनने चाहिए जहाँ आहार-विहार सम्बन्धी वर्तमान कुप्रचलनों की हानियाँ तथा उनमें जो सुधार बिना किसी कठिनाई के सम्भव है, उसकी उपयोगी प्रक्रिया समझाई जानी चाहिए। उन केन्द्रों में व्यायामशाला का एक पक्ष निश्चित रूप से जुड़ा रहे। इस प्रयास में न केवल स्वास्थ्य रक्षा वरन् साहसिकता और कौशल की अभिवृद्धि भी सम्मिलित है। लाठी, तलवार और शस्त्रों के चलाने का अभ्यास करने से आत्मविश्वास एवं शौर्य-साहस की प्रवृत्तियाँ परिपक्व होती हैं। भले ही उन्हें चलाने की आवश्यकता कभी भी न पड़े।

कुछ ही दिनों पूर्व गाँव-गाँव अखाड़े थे। खेलकूद का सभी को शौक था। दंगल और प्रतियोगिताएँ होती थीं, तब लोगों का स्वास्थ्य और मनोबल बढ़ा-चढ़ा रहता था। आज वह शौक सिमटता-उठता जा रहा है। टूर्नामेन्ट, एशियाड, ओलम्पिक आदि बड़े लोगों के शौक भारी खर्चीले होते हुए भी चलते रहते हैं पर जन-जीवन से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। गाँव-गाँव, खेलकूदों, व्यायामों, प्रतियोगिताओं के सहारे सर्व-साधारण की स्वास्थ्य रक्षा प्रवृत्तियों को बढ़ाया जा सकता है। इस दिशा में दूसरे लोग उपेक्षा बरतते हैं, बरतते रहें पर हमें तो प्रसुप्त और उपेक्षित सत्प्रवृत्तियों को नये सिरे से उभारना है।

प्रज्ञा अभियान ने व्यायाम आन्दोलन को न केवल शारीरिक श्रम अभ्यास के रूप में वरन् स्वास्थ्य रक्षा के सभी पक्षों को सम्मिलित रखते हुए आगे बढ़ाया है। शरीर संरचना की जानकारी, प्राथमिक चिकित्सा, परिचर्या, आहार-विहार सम्बन्धी सभी आवश्यक जानकारियाँ, खेलकूद, आसन, प्राणायाम, शस्त्र संचालन आदि सभी आवश्यक विषयों में सम्मिलित रखकर ही एक समग्र स्वास्थ्य आन्दोलन का स्वरूप बनता है। प्रज्ञा संस्थानों को अपने संरक्षण में इसी ढाँचे को खड़ा करना चाहिए। शिक्षा और स्वास्थ्य को समान महत्व देते हुए इन दोनों ही रचनात्मक कार्यक्रमों को अपने हाथ में लेना चाहिए। जहाँ भी छोटे-बड़े प्रज्ञा संस्थान बने हैं वहाँ अनिवार्य रूप से और जहाँ वैसा कुछ नहीं बन सका है वहाँ प्रज्ञा परिजनों द्वारा यह प्रक्रिया निजी रूप से कार्यान्वित की जानी चाहिए। कोई सार्वजनिक स्वरूप न बन पड़े तो कम से कम इतना तो होना ही चाहिए कि हर घर-परिवार में उपरोक्त दोनों ही रचनात्मक कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया जाय। परिवार भी एक छोटा-सा समुदाय है। उस क्षेत्र में इन दोनों प्रयोगों के लिए गुंजाइश रहती है। नियमित अध्ययन न बन पड़े तो स्वास्थ्य सत्संग की कोई न कोई परिपाटी रात्रि के अवकाश काल में चल सकती है। अतः नित्य कर्म से निवृत्ति होने के समय ही पन्द्रह मिनट से लेकर आधे घण्टे तक का एक कार्यक्रम सरल व्यायाम के रूप में आसन-प्राणायाम का भी रखा जा सकता है। जिन्हें बाहर मैदान में सामूहिक रूप में कुछ करने की सुविधा नहीं है, उनके लिए आँगन या छत पर भी इस प्रयोग में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। अड़चन मात्र एक ही है कि जिस प्रक्रिया का पूर्व अभ्यास नहीं है, उसे नये सिरे से किस प्रकार आरम्भ किया जाय; इसमें थोड़े-से साहस और उत्साह की आवश्यकता आरम्भ में तो पड़ेगी पर जहाँ एक सप्ताह यह ढर्रा चल पड़ा, समझना चाहिए कि वहाँ एक अत्यन्त उपयोगी परम्परा का प्रयत्न आरम्भ हो गया और उसके दूरगामी परिणाम निकट भविष्य में ही दृष्टिगोचर होने लगेंगे।

उपरोक्त दोनों बड़े कामों को बड़े रूप में आरम्भ करने से पूर्व यह अधिक सरल एवं सुविधाजनक रहेगा कि छोटे रूप में उनका भी श्रीगणेश किया जाय। उसमें अपेक्षाकृत सफलता भी अधिक रहेगी और सरलता की सम्भावना भी अधिक मात्रा में रहेगी।

शिक्षा और स्वास्थ्य सम्वर्द्धन की संयुक्त प्रक्रिया पाँचवीं कक्षा के बालकों से लेकर आठवीं कक्षा तक के बालकों से आरम्भ की जाय। उनके लिए ट्यूटोरिल कक्षाएँ चलाई जाय। सरकारी स्कूलों की पढ़ाई भर से आजकल काम नहीं चलता। ट्यूशन की मोटी राशि देकर मास्टरों को घर बुलाने की मनःस्थिति एवं परिस्थिति हर अभिभावक की नहीं होती। ऐसी दशा में बालकों को अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण हो सकना कठिन पड़ता है। अपने मन से अकेले पढ़ते रहें ऐसा उनका स्वभाव नहीं होता। फेल हो जाने या डिवीजन बिगड़ जाने पर उनका मनोबल टूट जाता है और कितने ही सदा के लिए पढ़ना छोड़ देते हैं। थर्ड डिवीजन पास होने पर भविष्य नहीं बनता। इन कठिनाइयों का समाधान यह है कि प्रज्ञा संस्थानों द्वारा बाल संस्कार पाठशालाएँ उनके स्कूली समय को छोड़कर चलाई जायँ, फीस कुछ भी न ली जाय। इस पाठशाला में अनेक छात्र आग्रहपूर्वक सम्मिलित होंगे, आम व्यक्ति भी खुशी-खुशी उन्हें भेजेंगे। इस दृष्टि से भी कि स्कूली समय से अवकाश मिलने पर दंगा मचाते, आवारागर्दी में घूमते और कुसंग में पड़कर भविष्य बिगाड़ते हैं। इस झंझट से बचने के लिए भी हित इसी में है कि बच्चे इन बाल-संस्कार के निमित्त बनाई गई प्रज्ञा पाठशालाओं में पढ़ने जाया करें। इसमें अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण होने और संस्कार प्राप्त करने का दुहरा लाभ है।

जिस प्रकार अन्य कामों के लिए विचारशील उदारचेताओं से समय माँगा जाता है, उसी प्रकार पाठशालाओं में पढ़ने के लिए बिना मूल्य पुरुषार्थियों से समय देते रहने के लिए आग्रह किया जा सकता है,

जिनका ऐसे कार्यों में उत्साह है । आवश्यक नहीं कि सेवानिवृत्त ही यह उत्साह दिखायें । व्यवसाय, नौकरी आदि रहते हुए भी इस हेतु समय दे सकने वाले और पाठशाला के समय पर पढ़ाने के के लिए पहुँचते रहने वाले लोग तलाश करने पर अवश्य ही मिल सकते हैं । एक बार समूचे गाँव के हर घर में टोली बनाकर पहुँचा जाय और उपरोक्त कक्षाओं के बारे में बच्चों के अभिभावकों को उसके लाभों से अवगत कराया जाय तो पहले दिन के प्रयास में ही शिक्षार्थियों की भर्ती उत्साहवर्द्धक संख्या में हो सकती है ।

स्थान की दृष्टि से प्रज्ञा संस्थानों का हॉल बरामदा या आँगन इस प्रयोजन के लिए सर्वोत्तम है । इससे उपयोगी सेवा-साधना में संलग्न होने से संस्थानों की गरिमा बढ़ती है और जन-जन की सहानुभूति अर्जित होती है । बच्चों से प्रयास आरम्भ करना इसलिए सरल है कि उसकी व्यवस्था बनाने में कहीं भी कठिनाई नहीं हो सकती । जबकि प्रौढ़ नर-नारियों को पढ़ना आरम्भ करने के लिए सहमत करना कठिन है । वे इसमें अपनी हेटी समझते हैं और संकोचवश आनाकानी करते हैं । बच्चों को समझाने पर उनमें से कितने ही समझ भी जाते हैं पर वह हमें आगे कभी के लिए छोड़ देना चाहिए । श्रीगणेश बालकों की पाठशाला से करना चाहिए ।

इस प्रयोजन के लिए ५-६-७ व ८ कक्षाओं के लिए एक प्रश्नोत्तरी बनायी जायगी, जिसमें हर कक्षा के बच्चों के दैनिक जीवन में आने वाले प्रसंगों में अध्यात्म दर्शन का समावेश करने वाले समाधान प्रस्तुत किये जायेंगे । यह चार प्रश्नोत्तरी ही उपरोक्त कक्षाओं की विशिष्ट पाठ्य-पुस्तक होगी । इसके अतिरिक्त सारा पाठ्यक्रम सरकारी रहेगा । जो स्कूलों में पढ़ाया जाना है, उसी को परिपक्व कराया जायेगा ताकि ट्यूशन पढ़ाने की आवश्यकता न रहे । साथ ही परीक्षा में उत्तीर्ण होने की सम्भावना सुनिश्चित रहे ।

व्यायाम आन्दोलन भी अगले दिनों किशोरों, युवकों एवं प्रौढ़ों को सम्मिलित करते हुए चलाया जाना है पर अभी इतना हो सकता है कि उपरोक्त चार कक्षाओं के जो बालक प्रज्ञा संस्थान की पाठशाला में पढ़ने आया करें उन्हीं को आधा घन्टे खेल-कूद, स्काउटिंग, ड्रिल, फस्ट एड, परिचर्या, आसन-प्राणायाम आदि का भी कार्यक्रम जुड़ा रखा जाय । इस प्रयोजन के लिए यह प्रक्रिया एक सुगम व्यायाम के रूप में प्रचलित की जा रही है, उसमें शरीर के प्रायः सभी अंग-अवयवों का व्यायाम हो जाता है । साथ ही श्वांस-प्रश्वास क्रिया से सम्बन्धित प्रयासों का भी ऐसा प्रभाव रहता है जो मनोबल एवं बुद्धि-वैभव बढ़ाने में उपयुक्त योगदान दे सकें । यह आसन व्यायाम क्रम ऐसा है जिसे न केवल पाठशाला में वरन् घर में बालकों, महिलाओं तथा वृद्धों को भी सिखाया, कराया जा सकता है । जो पाठशाला नहीं जा सकते उनके लिए भी यह आधा घन्टे की व्यायाम कक्षाएँ ऐसी हैं जो मुहल्ले-मुहल्ले सत्र व्यवस्था के अनुरूप लगाई जा सकती हैं ।

व्यायाम आन्दोलन में योग व्यायाम को अस्त्र शृंखला से अधिक सरल एवं सर्वोपयोगी माना गया है, इसे बाल, वृद्ध, नर, नारी सभी प्रसन्नतापूर्वक कर सकते हैं इसमें सभी प्रमुख अंगों का व्यायाम समुचित रूप से होता है फलतः उनकी दुर्बलता, अशक्तता जकड़ने का सहज ही सुधार परिवर्तन होता है । इनमें से प्रत्येक क्रिया ऐसी है जिसके साथ प्राणायाम स्तर की गहरी श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया का भी समावेश है । प्राणायाम मस्तिष्क के और आसन शरीर के आरोग्य का संरक्षण, अभिवर्द्धन करते हैं, योग साधना में इन दोनों का ही बड़ा महत्त्व है । प्रज्ञा व्यायाम में अनेक योग आसनों के उपयोगी अंशों का समावेश किया गया है, साथ ही स्काउटिंग में प्रयुक्त होने वाली कवायदों का भी समावेश किया गया है, इस आधार पर उसे ऐसी प्रक्रिया कह सकते हैं जिसे एक शब्द में सर्वोपयोगी कहा जा सके ।

प्रज्ञा अभियान का मूल उद्देश्य सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन एवं लोकमानस का परिष्कार है, इस प्रयोजन के लिए लोक-सेवियों को ही नहीं, सामान्य जनसमुदाय को भी अपनी प्रखरता सम्पादन की साधना करनी होगी । साधना, उपासना की बात बाद में आती है । पहले अपना शरीर व मन मजबूत बना लिया जाय तो दुष्प्रवृत्तियों से जूझना, समाज परिकर में रहते हुए हर अवांछनीयता से मोर्चा ले सकना संभव है । योग व्यायाम द्वारा शरीर स्वास्थ्य संवर्द्धन तथा प्राणायाम के माध्यम से मेधावर्धन का शिक्षण क्रम तो केन्द्र में चलता ही है, लाठी, स्काउट, ड्रिल, कैम्प, फायर, जिम्नाशियम के जनसुलभ प्रयोग प्रज्ञा संस्थानों में चलते रह सकते हैं । ब्रह्मदण्ड के माध्यम से ड्रिल-आत्मरक्षा भी एक ऐसा माध्यम है, जो जूडो-कराटे का विकल्प बन सकता है । उत्साह उभरने लगे तो क्रमशः व्यायामशाला की सुनियोजित व्यवस्था करनी चाहिए एवं वहाँ नियमित क्रम चलते रहना चाहिए । बच्चे, किशोर, बड़े-बूढ़े सबके लिए सुगम योग-व्यायाम तो कम से कम वहाँ किया ही जा सकता है । धीरे-धीरे अभ्यास बनने पर बड़े स्तर के प्रयोग भी हाथ में लिए जा सकते हैं । जीवनी शक्ति बढ़ाने के लिए इससे श्रेष्ठ उपक्रम कोई नहीं हो सकता ।

एशियाड, ओलम्पिक में छोटे-छोटे देशों के खिलाड़ी गजब की फुर्ती दिखाते देखे जाते हैं, हमारे यहाँ यह खदान-टकसाल अब मृतप्राय सी है; इसे फिर जीवन्त करना होगा, तभी स्वस्थ, सभ्य नागरिकों से भरा-पूरा समाज बन पड़ेगा, जिसकी कि हम सब धरती पर स्वर्ग के रूप में कल्पना करते आए हैं ।

व्यायाम आन्दोलन को व्यापक बनाया जाय

शारीरिक समर्थता संवर्द्धन के लिए व्यायाम का असाधारण महत्त्व है । जो खाया जाता है उसके पाचन हेतु परिश्रम की आवश्यकता को सभी समझते हैं । इसकी उपेक्षा करने पर अपच उत्पन्न होता है और उस कारण

पेट में बनने वाली सड़न अनेकानेक रोगों का निमित्त होती है । आहार कितना ही पौष्टिक या बहुमूल्य क्यों न हो, उसका लाभ पचने पर ही मिलता है अन्यथा बिना पचा अमृत भी विष बन जाता है, पाचन का एकमात्र माध्यम परिश्रम है । पशु-पक्षी भागते-दौड़ते एक-एक ग्रास बीनते हैं इस प्रकार उनका खाने और पचाने का सिलसिला साथ-साथ चलता रहता है । किन्तु मनुष्य का ढंग दूसरा है । वह एक-एक ग्रास दिन भर खाता पीता नहीं और न दिनभर दौड़-धूप करता है । उसे एकबारगी भरपेट खाने की आदत है इसलिए परिश्रम भी एक किस्त में करना चाहिए । पाचन तंत्र इसी प्रकार चलेगा । अन्न से रस, रस से रक्त, रक्त से माँस, माँस से अस्थि और अन्त में ओजस् बनने का क्रम तो है पर वह चलता तब है जब शारीरिक श्रम का तदनुरूप सिलसिला भी बना रहे अन्यथा पेट पर भार लदा रहने पर उलटा शक्तियों का क्षय होता है और खाया-पिया अंग नहीं लगता । अंग-अवयवों की आवश्यकता पूरी न होने पर वे दुर्बल बन जाते हैं और रोगों के चंगुल में फँस जाते हैं ।

अब कठोर श्रम का प्रचलन घट गया है, किसान मजदूर ही उपयुक्त श्रम करते हैं; अन्य व्यवसाय वाले, बाबू स्तर की नौकरी करने वाले प्रायः बैठे रहने वाले काम ही करते है । दिमाग से काम करने और एक हाथ से कुछ लिखने-पढ़ने वाले कमा तो भले ही अधिक लेते हों पर रोटी पचाने वाला कठोर शारीरिक श्रम नहीं करते, ऐसी दशा में स्वास्थ्य सन्तुलन बिगड़ता है । आराम-तलबी से आदमी फूलता भले ही जाता हो पर उस बोझ को ढोने की प्रक्रिया से नस-नाड़ियों पर उलटा दबाव पड़ता है । बढ़ी हुई चर्बी नीरोगिता का चिन्ह नहीं है । बहुधा बैठे-ठाले आदमी अपच के शिकार होते हैं और चूरन-चटनी के सहारे जैसे-तैसे काम चलाते हैं जबकि किसान, मजदूर, लुहार, बढ़ई, धोबी आदि कड़ी मेहनत करते रहने के कारण नीरोग भी रहते हैं और दीर्घजीवन भी जीते हैं ।

इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए व्यायाम को आहार जितना ही आवश्यक माना गया है, जिन्हें कठोर परिश्रम नहीं करना पड़ता उनके लिए तो वह अनिवार्य रूप से आवश्यक है पर जो काम करते हैं उनके लिए भी वह कम उपयोगी नहीं हैं । व्यायाम शब्द के साथ मनोबल जुड़ता है और उसकी महत्ता कई गुनी बढ़ जाती है और उत्साह, साहस, मनोबल जैसी विशेषताओं को भी बढ़ाती है । श्रम भारभूत होता है, उसके साथ विवशता जुड़ी रहती है किन्तु व्यायाम में उत्साह और उद्देश्य जुड़ा रहता है, इसलिए उसके द्वारा मनोबल भी बढ़ाने का दुहरा लाभ मिलता है ।

गाँधीजी, लिंकन जैसे महापुरुष प्रातःकाल नियमित रूप से टहलने जाया करते थे, इस आधार पर उन्होंने स्वास्थ्य संतुलन बनाये रखा । चिट्ठी बाँटने वाले पोस्टमैन दिनभर घूमते रहते हैं पर उन्हें संकल्पपूर्वक टहलने जैसा लाभ नहीं मिलता । दंड पेलने वाले पहलवान की अपेक्षा हाथों का श्रम हथौड़ा चलाने वाला लुहार का श्रम अधिक होता है तो भी वह पहलवान नहीं बन पाता; श्रम के साथ उत्साह और संकल्प जुड़ने से व्यायाम कहलाता है, उसके साथ नियमितता और अनुबन्ध, अनुशासन भी जुड़ा रहता है । अस्तु, उसका लाभ भी तदनुरूप अधिक मिलता है ।

व्यायाम का अर्थ पहलवानों द्वारा अपनाये जाने वाले कठोर दंड-बैठक जैसी प्रक्रिया ही नहीं है । उसमें नर-नारी, बाल-वृद्ध, यहाँ तक कि रोगियों द्वारा अपनाये जाने योग्य तरीके भी हैं । ये हलके होते हुए भी अंगों को सक्षम रखने के अतिरिक्त उत्साह एवं मनोबल बढ़ाने का भी काम देते हैं । आसन, प्राणायाम की अपनी महत्ता है । उनके कारण वे अवयव भी लाभान्वित होते हैं । जिन्हें प्रायः समुचित श्रम नहीं करना पड़ता । आम आदमी बैठे-ठाले रहने की स्थिति में उथली साँस लेता है । फेफड़ों में एक छोटे अंश को ही इससे श्रम करना पड़ता है और शेष निठल्ला पड़ा रहता है । उस भाग में क्षय आदि के रोगों के कीटाणु घुस पड़ते हैं और अपना घर मजबूत करते-करते फेफड़ों सम्बन्धी कितने ही रोग खड़े कर देते हैं । यदि गहरी साँस लेने के लिए प्राणायाम की विद्या अपनाई जाती रहे तो सीना मजबूत रहेगा और क्षय, दमा, खाँसी आदि रोगों की संभावना न रहेगी, इसी प्रकार आसनों के अभ्यास से उन अवयवों का परिश्रम हो जाता है जिनका करते समय अक्सर नहीं होता । बच्चों के लिए दौड़ना, कमजोरों के लिए तेज चाल से हाथ हिलाते हुए को गहरी साँस लेते हुए टहलना भी काम चलाऊ व्यायाम है । बुड्ढों के लिए अंग संचालन भी उपयुक्त रहता है । हाथों को कमर को, गरदन को, पेट को फैलाना और सिकोड़ना अंग संचालन है । इसे वयोवृद्ध भी अच्छी तरह कर सकते हैं । बीमार लोग चारपाई पर पड़े-पड़े अंग संचालन करते रह सकते हैं और लोट-पोट करते रहने का लाभ भी उठा सकते हैं ।

व्यायाम एक समूचा शास्त्र है । इसमें शारीरिक श्रम के अतिरिक्त उत्साह बढ़ाने का भी अवसर मिलता है और मनोरंजन भी होता है । हर स्थिति का, हर स्तर का व्यक्ति अपने लायक व्यायाम चुन सकता है । इसके लिए जानकारों से सलाह ली जा सकती है । सबेरे स्वच्छ हवा में टहलने जाना तो सभी के लिए उपयोगी है । उसमें सीना तना रहना चाहिए । साँस गहरी लें और हाथों को ड्रिल की तरह आगे-पीछे करते रहें ।

जन-साधारण की समर्थता बढ़ाने के लिए व्यायाम का चस्का हर किसी को लगाया जाना चाहिए और उसे एक संगठित आन्दोलन के रूप में सेवाभावी लोगों द्वारा चलाया जाना चाहिए । इसके लिए सब सदस्यों को एकत्रित होने के लिए एक उपयुक्त स्थान चुना जाना चाहिए, जिसे व्यायामशाला नाम दिया जाय । अखाड़े पुराने समय में गाँव-गाँव होते हैं । वे पेड़ों की सघन छाया में ऐसी जगह हो सकते हैं जहाँ सूर्य की प्रातःकालीन धूप भी आती रहे । चारों कोनों पर खम्बे खड़े कर ऊपर से दूसरी छत बना दी

जाय तो यह व्यायामशाला सर्दी, गर्मी, वर्षा, तीनों ऋतुओं में समान रूप से उपयोगी रह सकती है । वैसे जहाँ साधन न हों, खुले स्थानों में भी अखाड़े बनाये जा सकते हैं ।

कुछ समय पहले तक गाँव-गाँव अखाड़े थे । नवयुवक उनमें दंड-बैठक आदि के लिए जाते थे । कुश्तियाँ होती रहती थीं और उस्ताद लोग इसके अतिरिक्त नाल का पत्थर उठाने, गदका फरी (ढाल तलवार का स्थानापन्न चमड़े का उपयोग) आदि का अभ्यास कराते थे । हाई जम्प, लाँग जम्प (पैतरा छलाँग) आदि की प्रतियोगिताएँ होती रहती थीं और कबड्डी के खेल शरद के मौसम में गई रात तक चलते रहते थे । कोई अभागा गाँव ही ऐसा बचता होगा जहाँ पर उस्ताद लोग नवयुवकों को उत्साहित करके अखाड़े में नियमित रूप से आने के लिए प्रोत्साहित न करते रहे हों । समय पर दंगल होते रहते थे । जीतने वालों को इनाम बँटते थे । हनुमान चालीसा का सामूहिक पाठ होता था । जब तक वह प्रचलन रहा, हर गाँव में सशक्त पहलवानों का बाहुल्य बना रहा । ऐसे गाँवों में चोर-उचक्कों की हिम्मत नहीं पड़ती थी । वे कहीं घात लगाते तो उनकी हड्डी-पसली टूट जाती थी । थोड़े नौजवानों के पीछे समूचे गाँव का मनोबल बढ़ा रहता था ।

समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी को प्रोत्साहित करके स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए अग्रिम मोर्चे पर खड़ा किया तो इस बड़े कार्य के पृष्ठ-पोषण करने की जिम्मेदारी उठाई । समर्थ गुरु रामदास ने अपने प्रभावक्षेत्र के हर गाँव में हनुमान मन्दिर बनवाये । मन्दिर शब्द के कारण धार्मिक लोगों का भी रुझान उस ओर खिंचा । इन सभी हनुमान मन्दिरों के साथ व्यायामशाला और सत्संग योजनायें अनिवार्य रूप से जोड़ रखी गईं । फलतः सभी प्रकार के लोग उनमें आने लगे । जिनका उत्साह व्यायाम में लग सका उन्हें उनमें जुटाया । बड़े-बूढ़े, नर-नारी सत्संग कथा सुनने आते, इस प्रकार शरीर-बल बढ़ाने और मनोबल प्रखर करने की दोनों ही उपलब्धियाँ उन गाँवों के निवासियों को नियमित रूप से मिलतीं । इस स्थापना के माध्यम से शिवाजी को सैनिक, हथियार तथा रसद मिलने का सुयोग हस्तगत होता रहा और स्वतंत्रता संग्राम की जड़ें दिन-दिन अधिक गहरी होती गईं ।

इस उपयोगी प्रयास की सफलता को देखकर मराठों ने, पेशवाओं ने भी अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों में व्यायाम शाला आन्दोलन को बढ़ावा दिया । यह प्रयास शासकीय प्रभाव के अन्तर्गत पनपा और उसने गाँव-गाँव योद्धा तैयार किये । उत्साही प्रयत्नशील व्यक्ति कहीं भी सच्चे मन से इस आन्दोलन का भी श्री गणेश करें, तो उनको आशाजनक सफलता मिलना संभव है । बड़ौदा नरेश ने उन दिनों प्रो० माणिक राव के नेतृत्व में अनेक व्यायामशालओं की स्थापना कराई थी । झाँसी की अन्ना जी ने अपनी साधारण स्थिति में भी इस आन्दोलन को असाधारण रूप से व्यापक बनाया । उनकी स्थापित लक्ष्मी व्यायामशाला आज व्यायाम कॉलेज की भूमिका निभा रही है । अन्ना जी एक मध्यवर्ती सरकारी कर्मचारी थे । नौकरी छोड़कर इसी प्रयास में जुट गये इस प्रकार अनेक व्यायाम- शालाओं की स्थापना तथा प्रगति उनके संरक्षण में होती रही ।

भारत ग्राम प्रधान देश है । इसे शारीरिक और मानसिक दृष्टि से समर्थ गुरु रामदास बनाना हो तो व्यायामशाला, आन्दोलन उसी क्षेत्र में चलाने की ओर ध्यान देना होगा । आवश्यकता मनस्वी कर्मठ अग्रगामियों की है । इस देश में स्वतन्त्रता आन्दोलन, भूदान आन्दोलन, स्काउटिंग आदि समय-समय चलते और प्रगति के उच्च शिखर तक पहुँचे हैं, इन दिनों इस प्रकार के प्रयासों की जनमानस में प्यास है, अगर कुछ लोग आगे बढ़ चलें तो उनकी सफलता सुनिश्चित ही समझी जानी चाहिए । राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सफल प्रयोग ने यह सिद्ध कर के दिखा दिया कि कोई नेतृत्व सँभालने वाला हो तो प्रगतिशील प्रयासों में भाग लेने के लिए जनता में कम उत्साह नहीं है । कठोर परिश्रम करने वालों एवं न करने वालों के लिए व्यायाम समान रूप से आवश्यक है ।

इन दिनों बड़ों के पीछे लगने की आदत का बाहुल्य है । शहरों में क्रिकेट टीमों का जोर है; रेडियो, टेलीविजन पर उन्हीं का यशगान होता है, ओलम्पिक, एशियाड जैसे प्रयत्नों में ढेरों पैसा खर्च होता है । बड़ों के रोटरी क्लब, लायन्स क्लब आदि प्रधान नगरों में खुले हैं । गाँवों में भी यों ग्राम पंचायतें हैं, सरकारी स्कूल हैं पर इस दिशा में नहीं के बराबर ही उन लोगों ने ध्यान दिया है । आवश्यकता बड़े और व्यापक रूप से इस आन्दोलन को चलाने की है । इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि अपने समय की प्रतिभाएँ मात्र एम० एल० ए, एम० पी० बनने में रुचि लेते हैं और बड़प्पन का मूल्यांकन उन कुर्सियों पर बैठने में ही करते हैं । पुरानी पीढ़ी की ओर दृष्टिपात करके देखें तो अमृतलाल ठक्कर, रविशंकर महाराज, बाबा राघव दास, गोस्वामी गणेशदत्त, के० लक्षणय्या, बाबा साहेब आप्टे, विनोबा, हीरालाल शास्त्री जैसे अनेक प्रतिभाशाली लोकचेतना के क्षेत्र में कमाल करने वाले व्यक्तियों की तस्वीर आँखों के सामने घूम जाती है । खादी आन्दोलन के जमाने में भी पं० जवाहर लाल, डा० राजेन्द्र प्रसाद, लाल बहादुर शास्त्री सरीखे व्यक्ति काम करते रहे हैं । आज व्यायाम आन्दोलन की कितनी आवश्यकता है; यह समझना और समझाना किसी भी विचारशील के लिए कठिन नहीं होना चाहिए ।

एक शताब्दी से भी कम समय हुआ कि चाय वालों ने मुफ्त में कुल्हड़ पिलाकर एक पैसे का चाय पैकेट बेचना आरम्भ किया था । वह आन्दोलन आज इस सीमा तक पहुँचा है कि घरों में सबसे पहले चाय का चूल्हा जलता है और दुकानों पर खरीददारों की भीड़ लाइन लगाये खड़ी रहती है । आन्दोलनकारियों का उद्देश्य ऊँचा हो और लगन गहरी हो तो कोई कारण नहीं कि उसे सफलता न मिले ।

व्यायामशालाओं का उद्देश्य अब अपेक्षाकृत बड़ा होना चाहिए । उसके साथ शरीर विज्ञान, फर्स्ट एड, परिचर्या जैसे विषय भी जुड़ने चाहिए; खेलकूदों के अनेकानेक तरीके देश-विदेशों में चल रहे हैं, उनमें ढेरों ऐसे हैं जो देहाती वातावरण में फिट बैठते हैं । आवश्यकता नहीं कि योरोपीय बड़े लोग जिन खेलों को अपनाते हैं और सरकारें परस्पर नकल करके उसी के लिए पैसा पानी की तरह बहाती हैं, उन्हीं को देहातों में भी लाया जाय । भारतीय देहातों की अपनी संस्कृति और अपनी परम्परा रही है । व्यायाम और खेलों के क्षेत्र में भी फिर क्यों न हम अपनेपन को पुनर्जीवित करें ।

यदि सही ढंग से व्यायामशालाएँ चलाई जायें और उनके साथ आहार-विहार के, स्वास्थ्य रक्षा के सभी आवश्यक प्रसंग जोड़ दिये जायँ तो उनकी लोकप्रियता में किसी प्रकार की कमी न रहेगी । हमारे अनेक कार्यक्रम आये दिन जन्मते और अगले महीने मर जाते हैं, इसका एक ही कारण है कि संचालक लोग किसी बहाने सरकारी ग्रान्ट पाते हैं और उसे ऐसे ही खुर्द-बुर्द कर देने का ताना-बाना बुनते रहते हैं । जनता के साथ घनिष्टता नहीं जमाते और उन लोगों में नहीं घुलते जो इनमें सक्रिय रूप से भागीदार बनने जैसी चेतना रखते हैं । उन पर भी असर उनका पड़ता है जो किसी मिशन के प्रति समर्पित होते हैं । जिन्हें अपनी ही नेतागिरी बनानी है, जो अनुदानों को इधर-उधर करते रहने की कला में सिद्धहस्त हैं, उनकी वास्तविकता देर तक छिपी नहीं रहती । फलतः वे भी ऐसे ही उथले प्रयासों के रूप में अपना प्रत्युत्तर देते हैं ।

व्यायाम आन्दोलन को मात्र खेलकूद का मनोरंजन न माना जाय वरन् उसके पीछे उत्साह, साहस, शौर्य, पराक्रम, संयम, ब्रह्मचर्य स्थापन और उत्साहहीनता के विरुद्ध संघर्ष जैसे अनेक तथ्यों को जुड़ा हुआ समझा जाय । प्रकारान्तर से यह चरित्र निर्माण का आन्दोलन है क्योंकि शारीरिक क्रिया-कलापों के साथ-साथ उसमें बौद्धिक चिन्तन भी जोड़कर रखना होगा ।

अपने आन्दोलनों में एक भारी कमी यह है कि वे राजनैतिक प्रवाहों के साथ बहकर उनके माध्यम से स्वार्थ-साधन की बात सोचने लगते हैं । यदि इन जाल-जंजालों से इसे बचा कर रखा जाय और शारीरिक ही नहीं, मानसिक एवं चारित्रिक निर्माण का स्वच्छ आन्दोलन तक सीमित रखा जाय तो सर्वसाधारण का श्रद्धा सूत्रधारों के प्रति बराबर बनी रहेगी और वैसा ही सहयोग मिलता रहेगा जैसा कि मिलना चाहिए ।

'गरीबी हटाओ' की तरह 'दुर्बलता भगाओ' का नारा भी कम आकर्षक नहीं है । इसकी यह विशेषता भी है कि कार्यक्रम अपनाते ही हाथों-हाथ उसका सत्परिणाम देखने को मिलेगा जिस प्रकार मैले कपड़े पर साबुन और पानी लगाते ही वह स्वच्छ दीखने लगता है, उसी प्रकार बौद्धिक समेत व्यायाम आन्दोलन चलाया जाय और उसमें हर स्तर के छोटे-बड़े व्यक्ति की उनकी स्थिति एवं आवश्यकता के अनुरूप प्रशिक्षण दिया जाय तो वह मात्र पहलवान नौजवानों का ही नहीं सर्वसाधारण के लिए समान रूप से लाभदायक प्रयास बन जायगा । इसकी पाठ्यविधि सम्मिलित होने वालों के स्तर को देखते हुए बनायी जा सकती है ।

शहरी और अमीरों के लड़कों के खेल-कूद सरकारी अनुदानों के प्रश्रय में चल रहे हैं । उनकी समीक्षा किये बिना हमें देहातों के लिए, गरीबों के लिए, सर्व-साधारण के लिए, व्यायाम प्रयास आरम्भ करने के लिए जुटना चाहिए, ताकि हमारी पुरातन व्यायाम परम्परा कम से कम देहातों में तो बनी ही रहे । यहाँ स्मरण रखने योग्य एक ही बात है कि न केवल शारीरिक वरन् मानसिक एवं चारित्रिक समर्थता उत्पन्न करने वाले तथ्य भी इस प्रयास के साथ अनिवार्यतः जुड़े रहने चाहिए ।

हर जगह व्यायामशालाएँ

हमें शरीर की आवश्यकता को समझना होगा और उसे जुटाने के लिए प्रयास करने होंगे, इसके लिए परम उपयोगी प्रक्रिया है व्यायाम । व्यायाम और श्रम के अन्तर को हमें समझ लेना चाहिए, व्यायाम के साथ श्रम जुड़ा हुआ है पर मात्र श्रम व्यायाम नहीं है । लुहार दिनभर घन पीटता है, पोस्टमैन दिन भर घूमता है पर उसे वह लाभ नहीं मिलता जो नियमित व्यायाम करने वाले को उपलब्ध होता है । श्रम शरीरगत अंग-प्रत्यंगों की मजबूती के लिए, हर अवयव को समुचित काम दे करके अपने को बलिष्ठ बनाये रहने की दृष्टि से उपयोगी है । आरामतलबी जहाँ आर्थिक तंगी लाती है, मस्तिष्क को ठस्स करती है वहाँ शरीर को भी जड़ बनाती है; अवयव जकड़ जाते हैं और जंग लगे लोहे की तरह सड़ते-गलते, निकम्मे होते चले जाते हैं । इसलिए दैनिक जीवन में कठोर शारीरिक श्रम के लिए भी इतना स्थान तो होना ही चाहिए कि इसके दबाव से एक बार तो पसीना निकल ही जाया करे; इस प्रकार हर दिन रोम-कूपों से पसीना निकलना मलमूत्र त्यागने की तरह ही आवश्यक है । यों अपने आप भी कुछ तो पसीना निकलता ही रहता है पर श्रम के कारण भी यदि निकलता रहे तो शरीर शुद्धि में और भी अधिक सहायता मिलेगी ।

श्रम की आवश्यकता को तो व्यायाम पूरा करता ही है, सबसे बड़ी बात उनमें यह है कि स्वास्थ्य पर मनोयोग केन्द्रित करता है; स्वास्थ्य संरक्षण की, परिपुष्ट शरीर और दीर्घजीवन की उत्कृष्ट इच्छा का प्रतीक व्यायाम ही कहा जा सकता है । यह भावनात्मक सम्मिश्रण ही चमत्कार दिखाता है कि व्यायामशाला में जाने वाला व्यक्ति कुछ ही दिनों में पहलवान बन जाता है जबकि उससे भी अधिक परिश्रम करने वाला श्रमिक किसी प्रकार जिन्दगी के दिन ही पूरे करता है ।

शरीर को सुदृढ़ और सुरक्षित बनाने की उत्कण्ठा जगाना, उसकी आवश्यकता अनुभव करना, इस प्रयोजन पर मनोयोग केन्द्रित करना और उस संदर्भ में होती रहने वाली भूलों को सुधारना इतना क्रमबद्ध क्रिया-कलाप व्यायाम प्रक्रिया के साथ जुड़ा होता है । कहना न होगा कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निवास होता है, जो रुग्ण रहता उसका मनोबल गिरता चला जाता है । निराशा भरी खीज मन पर छाई हुई, बात-बात में चिड़चिड़ाहट, झुँझलाहट के रूप में फूटती रहती है, फलस्वरूप जीवन में और भी अधिक विग्रह-अवरोध उत्पन्न होते हैं ।

व्यायाम की आवश्यकता, उपयोगिता को हर व्यक्ति के मन में बिठाया जाय । बाल, वृद्ध, दुर्बल, रुग्ण भी अपनी स्थिति के अनुरूप हलके व्यायाम कर सकते हैं । सबसे सरल प्रातःकाल का टहलना आरम्भ कर सकते हैं । इस दिशा में कुछ तो हर एक को करना चाहिए । इसमें श्रमशीलता की आवश्यकता सिद्धान्त रूप से स्वीकार करने की तो निष्ठा जगेगी ही, साथ ही मन का रुझान इस ओर मुड़ेगा कि शरीर की सुख-सुविधा चाहने वाली प्रवृत्ति का नहीं, कष्ट उठाकर भी सुरक्षा एवं परिपुष्टि के लिए उचित आवश्यकताओं को पूर्ण करना चाहिए । चिन्तन का प्रवाह यदि किसी प्रकार उलट जाय, विलासिता एवं आरामतलबी से छुटकारा पाकर श्रम और संयम अपनाने के लिए तत्पर हुआ जाय तो समझना चाहिए कि इस दृष्टिकोण के परिवर्तन ने बिगड़े स्वास्थ्य को सँभालने को स्वास्थ्य की परिपुष्टि करने की समस्या का हल खोज लिया ।

इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कदम व्यायामशालाओं की स्थापना का है, उन्हें वैज्ञानिक और सर्वतोमुखी होना चाहिए । पिछले दिनों व्यायामशाला का मतलब पहलवानों का शौक पूरा करना मात्र समझा जाता था और वहाँ कुश्ती, दंड-बैठक जैसे कठोर कर्म होते ही देखकर यह समझा जाता रहा है कि यह कार्य केवल हट्टे-कट्टे नई उम्र के लड़कों का है । दूसरों का उससे कोई वास्ता नहीं हो सकता । यह मान्यता बदली जानी चाहिए और सर्व-साधारण को यह अनुभव करने देना चाहिए कि व्यायाम हर किसी को एक ऐसी अनिवार्य आवश्यकता है जिसकी पूर्ति अन्य आवश्यक समझे जाने वाले कार्यों को छोड़कर भी की जानी चाहिए ।

व्यायामशालाओं का मुख्य कार्य यह होना चाहिए कि हर शारीरिक स्थिति के व्यक्ति के लिए उपयोगी व्यायामों का निर्धारण और प्रशिक्षण करें । छोटे बालक, वृद्धजन, गर्भिणी नारियाँ, रोगग्रस्त भी ऐसे व्यायाम कर सकते हैं जो उन पर तनिक भी अनावश्यक भार डाले बिना उसी स्थिति में अंग संचालन की व्यवस्था बतायें । स्मरण रहे प्राणायाम भी व्यायाम का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है उसमें अतिरिक्त श्रम नहीं पड़ता पर लाभ परिपूर्ण व्यायाम जितना ही मिल जाता है ।

हमें इस समय इतना ही समझ लेना चाहिए कि *व्यायाम मानव शरीर की एक अनिवार्य आवश्यकता है ।* उसका स्वास्थ्य संरक्षण के साथ-साथ मनोबल की वृद्धि पर, शक्ति पर, संयम एवं आत्मनियन्त्रण की क्षमता पर भी भारी असर पड़ता है । वह छोटी-सी प्रक्रिया शरीर ही नहीं मन को भी मजबूत बनाती चलती है । नवनिर्माण के लिए स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन और सभ्य समाज की जिस संरचना के लिए प्रयास किया जा रहा है उसमें व्यायाम का महत्त्वपूर्ण योगदान रहेगा ।

इस प्रयोग की सिद्धि के लिए व्यायाम क्रम एक आन्दोलन के रूप में चलाया जाना चाहिए और उसके लिए व्यायामशालाओं की स्थापना, देव मन्दिरों की स्थापना के समतुल्य मानकर प्रयत्नशील होना चाहिए । जो लोग व्यायामशाला जा सकें, उनकी शारीरिक, मानसिक स्थिति देखकर तदनुकूल व्यायाम सिखाये जायें जो वहाँ नहीं पहुँच सकते उन्हें सिखाने के लिए व्यायाम शिक्षक घर-घर जाया करें । खेल-कूदों का प्रबन्ध इस आन्दोलन के अन्तर्गत रहे । खेलों की प्रतियोगिताओं में स्वस्थ शरीर वाले बालकों तथा वयस्कों को पुरस्कार जैसी व्यवस्थाएँ भी की जायें ।

शस्त्र संचालन को सिखाने का, परेड कराने का प्रशिक्षण भी यह व्यायामशालाएँ ही करें । लाठी चलाना और उससे बचाव करना हर नागरिक को आना चाहिए । इससे गुण्डागर्दी से निपटने के लिए साहस, मनोबल और शौर्य की अभिवृद्धि होती है । आत्म-विश्वास की भावना बढ़ती है । साथ ही गुण्डागर्दी का आतंक घटता है । जब असामाजिक तत्वों को यदि विदित होता है कि उनकी खबर लेने वाला वर्ग शक्तिशाली हो चला है तो उनकी हिम्मत टूट जाती है और फिर उन्हें उद्दण्डता करने से पूर्व हजार बार उसके परिणाम पर विचार करना पड़ता है ।

शारीरिक स्वास्थ्य के अतिरिक्त परोक्ष रूप से मनोबल की अभिवृद्धि और संयम-साधना भी व्यायाम के साथ घनिष्ट रूप से जुड़ी हुई है । जो सर्वांगीण शक्ति संवर्द्धन की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है ।

युग निर्माण शाखाओं को हर जगह व्यायामशालाएँ स्थापित करनी चाहिए । साथ ही इन व्यायामशालाओं को आसन, प्राणायाम, खेलकूद, परेड शस्त्र शिक्षा जैसी अनेक विशेषताओं का केन्द्र बनाना चाहिए ताकि हर स्थिति के, हर स्तर के नागरिक उससे लाभ उठा सकें ।

व्यायाम आन्दोलन व्यापक बनाने के लिए प्रत्येक को समाज सेवा का प्रयास करना चाहिए । व्यायामशालाओं को देवालयों जितना महत्त्व मिलना चाहिए; उनकी

स्थापना का कोई न कोई उपाय निकाल लेना चाहिए। व्यायाम शिक्षक हर जगह मिल सकते हैं, उन्हें आग्रहपूर्वक आगे लाना चाहिए और प्रशिक्षण देते रहने की सेवा स्वीकार करने के लिए रजामन्द करना चाहिए। घर-घर जाकर बच्चों से लेकर वृद्ध तक को व्यायाम संस्था से सम्बन्धित होने का अनुरोध करना चाहिए। जो वृद्ध, रोगी व्यायामशाला नहीं जा सकते, जिन महिलाओं के सामने पर्दा आदि के प्रतिबन्ध हैं उन्हें घर-घर जाकर शिक्षण दें। उनकी शारीरिक स्थिति के अनुरूप व्यायाम सिखाने का प्रबंध किया ही जाना चाहिए; मालिश को भी हलके व्यायामों में ही गिना गया है। वृद्ध, रुग्ण, दुर्बल व्यक्तियों, गर्भिणियों के चारपाई पर पड़े-पड़े अंग संचालन हलके व्यायाम सिखाये जा सकते हैं जिससे उन पर किसी प्रकार का दबाव भी न पड़े और स्वास्थ्य संवर्द्धन का लाभ भी मिलता रहे।

आवश्यक नहीं कि यह सारा शिक्षण व्यायामशालाओं में ही हो, घरों पर मुहल्लों में जाकर भी व्यायाम शिक्षक यह लाभ दे सकते हैं; मुहल्ले के लोग निकटवर्ती खुली जगह में एकत्रित होकर शिक्षण एवं अभ्यास की व्यवस्था बना सकते हैं।

खेलकूदों की प्रतियोगिताएँ इस दृष्टि से और भी अधिक उपयोगी हो सकती हैं। उनके आयोजन जगह-जगह किये जाने चाहिए और विजेताओं को बड़ी प्रतियोगिता में भाग लेने वालों को, दूसरों को छोटा-बड़ा पुरस्कार देने की परिपाटी चलानी चाहिए; इसमें तिरस्कृत और हताश होने का अवसर नहीं आता है। एक विजेता को उपहार देने से शेष प्रतियोगी अपने को असफल, तिरस्कृत अनुभव कर सकते हैं, हमें ऐसी परिपाटी नहीं डालनी चाहिए; छोटे-बड़े पुरस्कार उनकी प्रगति के आधार पर सभी को देने चाहिए।

व्यायामशालाओं में कसरत करने के विविध प्रकार के उपकरण रहने चाहिए ताकि विभिन्न रुचि के लोग अपनी इच्छानुसार व्यायामों का हेर-फेर करते रह सकें। इनमें न केवल व्यायाम ही सिखाया जाय वरन् आहार-विहार, संयम, ब्रह्मचर्य आदि की यह शिक्षा भी दी जाय, जो शारीरिक, मानसिक अस्वस्थता से मुक्ति दिला सके। इस प्रकार इन व्यायामशालाओं को परामर्श प्रदान करने वाले अस्पतालों की स्थिति तक भी पहुँचाना चाहिए। संभव हो तो वहाँ जड़ी-बूटियों का अथवा बहुप्रचलित और हानिरहित औषधियों की भी व्यवस्था रखी जा सकती है।

स्काउट, गर्ल गाइड, एन. सी. सी. जैसे पूर्व प्रचलित आन्दोलनों से इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश किया जा सकता है, इस तरह के प्रशिक्षित अध्यापक स्कूलों में भी मिल जाते हैं, उनसे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। फर्स्ट-एड जैसे कोर्स अपनी व्यायामशालाओं में रखे जा सकते हैं। सरकारी व्यायाम शिक्षकों का मार्गदर्शन जहाँ मिल सके वहाँ उसके लिए प्रयास करना चाहिए, इस संदर्भ में अधिक बारीकी से विचार करने पर मार्ग भी ऐसे मिल सकते हैं जो स्वास्थ्य संवर्द्धन आन्दोलन से सम्बन्धित व्यायाम जैसे क्रिया-कलापों को आगे बढ़ाने में और भी अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हों।

श्रमदान और अंशदान से सत्प्रेरणा

श्रम-सम्मान की दृष्टि से व्यायाम आन्दोलन को आगे बढ़ाया जाना चाहिए। साथ ही उस प्रवृत्ति को लोकमंगल की ओर भी मोड़ा जाना चाहिए। समाज कल्याण का प्रयोजन सरकारी अनुदानों से पूरा नहीं हो सकता आवश्यकता बहुत बड़ी है। अपने पिछड़े हुए राष्ट्र का पुनरुत्थान करने के लिए अत्यन्त विशाल परिमाण में श्रम करना पड़ेगा, इसे मूल्य देकर नहीं खरीदा जा सकता। यदि भारी टैक्स लगाकर सरकार श्रमिकों द्वारा रचनात्मक कार्य कराये तो प्रकारान्तर से जनता को ही वह भार वहन करना पड़ेगा; यदि ये क्रिया-कलाप उपेक्षित पड़े रहे तो उसकी हानि जनता को ही उठानी पड़ेगी।

उत्साहपूर्वक आगे बढ़कर यदि समाज की दृष्टि-लोकमंगल के परमार्थ प्रयोजन की भावना से लोग उस कार्य को करें तो तीन गुना लाभ होगा। बिना टैक्स, चंदा आदि के कितने ही महत्त्वपूर्ण कार्य श्रम सहयोग से बिना मूल्य ही पूरे हो जायेंगे; हर व्यक्ति को इस आन्दोलन में सम्मिलित होने पर सेवा-साधना का अवसर और आनन्द मिलेगा। परमार्थ परायणता की दिशा में मनोभूमि विकसित होगी और आत्मिक प्रगति का आनन्द मिलेगा, देशभक्ति, लोकसेवा व विश्व कल्याण के लिए हर किसी को अपने-अपने ढंग से योगदान करना ही चाहिए। शारीरिक श्रम का एक अंश दे सकना हर किसी के लिए, हर स्थिति के व्यक्ति के लिए सम्भव है, अस्तु, इसमें हर कोई सहज ही सम्मिलित हो सकता है तथा श्रम बिन्दुओं की परम पवित्र श्रद्धांजलि भगवान के चरणों पर अर्पित कर सकता है।

श्रमदान आन्दोलनों में सज्जनों के सहयोग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पद्धति पनपती है। आमतौर से दुष्ट, दुराचारी ही आपस में मिलकर षड्यन्त्र जैसी दुरभिसंधियाँ रचते रहते हैं। सज्जन लोग अपनी भावनात्मक उत्कृष्टता को ही पर्याप्त मान लेते हैं और सहयोगपरक क्रिया-कलापों की दृष्टि से उदासीन ही बने रहते हैं; यह एक असाधारण सामाजिक दुर्भाग्य है कि लोकसेवी आदर्शवादी लोगों की सक्रियता सामूहिकता विकसित न हो। वे मिल-जुलकर कुछ करने की योजना न बनायेंगे तो फिर आदर्शवादिता की परिधि कल्पना मात्र तक सीमित रह जायगी। श्रमदान आन्दोलन इस अभाव की पूर्ति करता है, इसमें सम्मिलित होकर सेवाभावी लोग जहाँ समाज को प्रत्यक्ष लाभ देते हैं वहाँ सामूहिकता की प्रवृत्ति का भी विकास होता है।

हर व्यक्ति लोकमंगल के लिए नित्य श्रमदान करते रहना आत्मा और परमात्मा के प्रति कर्त्तव्य माने और देश

धर्म, समाज व संस्कृति के पुनरुत्थान में योगदान देने का आवश्यक उत्तरदायित्व अनुभव करें तभी काम चलेगा। यदि प्रवृत्ति पैदा हो तो नवयुवक स्वयंसेवकों के रूप में गठित हो सकते हैं और स्वच्छता, शिक्षा, सुरक्षा आदि कितने ही काम अपने कन्धों पर ले सकते हैं। पुस्तकालय, व्यायामशाला पाठशाला जैसी कितनी ही रचनात्मक प्रवृत्तियाँ सहज ही चलने लग सकती हैं। वृक्षारोपण जैसे आन्दोलनों को हाथोंहाथ आगे बढ़ाया जा सकता है। रचनात्मक सत्प्रवृत्तियाँ अपनाकर यदि लोकमंगल के लिए उत्साहपूर्वक कुछ करने लग जायँ तो दूसरे अनेक लोग भी उत्साहपूर्वक उसमें भाग लेने के लिए आ मिलते हैं, आवश्यकता आगे बढ़ने और कार्य शुरू करने की है।

जिनमें कोई विशेष योग्यता नहीं हैं, वे भी शारीरिक श्रमदान तो आसानी से कर सकते हैं। एक गाँव के १०० समर्थ और वयस्क व्यक्ति एक घण्टा प्रतिदिन श्रमदान का, समय दान का व्रत ले लें तो एक महीने में ही सारा गाँव साफ-सुथरा, लिपा-पुता, झाड़ा-बुहारा और फूल-पत्तों से हरा-भरा दीखने लग सकता है। ऐसी स्थिति बन सकती है कि दर्शकों का मन वहीं रहने को लुभाने लगे।

निर्माण के कितने ही काम इस श्रमदान के बलबूते पर किये जा सकते हैं। रास्ते साफ करना, चौड़े करना, उनमें पड़े खाई-खड्डे बन्द करके गाड़ी आदि निकालने लायक बनाना ऐसा काम है जिससे हर किसी को सुविधा बढ़ती है। तालाब, पोखरों की सफाई, उन्हें गहरा करना, कुँओं के आस-पास बहने वाले पानी के लिए गड्ढे बनाना, संभव हो तो उस कीचड़ को सोखने के लिए केलों की क्यारी लगाना, ऐसे काम हैं जो श्रमदान से सहज ही हो सकते हैं। जहाँ-तहाँ पड़े हुए कूड़ों के ढेरों को व्यवस्थित रूप से गड्ढे बनाकर खाद के रूप में डाला जा सकता है; जिससे घूरे वाली जमीन साफ होगी, गन्दगी हटेगी और कीमती खाद मिलने लगेगी। जगह-जगह पेशाबघर बनाना और स्त्री-बच्चों के लिए उचित स्थान पर नाली वाले पाखाने बनाना ऐसे काम हैं, जिससे गाँव में सभ्यता के सूर्य का नवीन अरुणोदय हो सकता है; एक घण्टा समर्थ लोगों का श्रमदान देखते-देखते गाँव का काया-कल्प कर सकता है।

ईंटें थापने और जुड़ाई, चिनाई करने के लिए इतने लोग जुट पड़ें, बारी-बारी घण्टे बाँट लें। गाँव में पाठशाला, पुस्तकालय, व्यायामशाला, ज्ञान-मन्दिर की इमारतें पसीने के बल पर ही खड़ी हो सकती हैं; उनके लिए लकड़ी की पूर्ति भी किसान अपने पेड़ों से कर सकते हैं। लोहा आदि थोड़ी-सी ही चीजें और थोड़े काम के लिए ही बढ़ई, लुहार, राज आदि को मजूरी भर देनी पड़ेगी। ऐसे कितने ही उपयोगी निर्माण कहीं भी हो सकते हैं। किसे क्या करना चाहिए यह कार्य-विभाजन योग्यता और रुचि के अनुरूप किया जा सकता है, कठिनाई समय की कमी की नहीं-रचनात्मक प्रवृत्ति की है। लोग ढेरों समय यों ही गपशप और बेकार की बातों में खर्च करते रहते हैं। यदि भावना के बीजांकुर उग पड़ें तो हर व्यक्ति बिना अपना काम हर्ज किये श्रमदान यज्ञ में अपनी नियमित आहुतियाँ देता रह सकता है और उसका प्रभाव तत्काल उस क्षेत्र में उठते हुए विकास क्रम के रूप में देखा जा सकता है।

श्रमदान की भाँति ही धन दान की बात है, वह भी हर किसी को लोक-निर्माण के लिए नियमित रूप से देते रहना अपना धर्म मान लेना चाहिए; जिस प्रकार युग-निर्माण परिवार के सदस्य अपने यहाँ ज्ञानघट रखते हैं उसी प्रकार हर व्यक्ति यह अनुभव करे कि अपनी सारी कमाई उसे स्वयं ही नहीं खा जानी चाहिए, वरन् उनमें से एक अंश लोक-निर्माण के लिए भी लगाना चाहिए तो इस मान्यता का प्रतिफल एक विशाल अर्थशक्ति के रूप में सामने आ सकता है।

परिजनों के ज्ञानघटों की भाँति ही यदि हर नागरिक अपने यहाँ धर्मघट रखे और उसमें एक पाव अनाज भर डालने लगे तो यह किसी को भी भार प्रतीत न होगा; यदि समाज निर्माण को कोई सन्त-ब्राह्मण समझ लिया जाय तो एक पाव अन्न की रोटी उसे खिला देना किसी सामान्य गृहस्थ के लिए भी कठिन न पड़ेगा। बात छोटी-सी है पर इसकी प्रतिक्रिया अति विशाल है।

१०० घरों की एक छोटी-सी बस्ती में १०० धर्मघट रखे जा सकते हैं। एक पाव अन्न लगभग चार आने का होता है। सौ घरों में २५) प्रतिदिन इकट्ठे हुए। अर्थात् महीने में ७५० अर्थात् साल में नौ हजार, इस नौ हजार, वार्षिक की आमदनी से उस गाँव में स्कूल, हाईस्कूल, कन्या विद्यालय, गृह-उद्योग, व्यायामशालाएँ, पौधों की नर्सरी, सफाई, रोशनी आदि न जाने कितने उपयोगी कार्य आरम्भ किये जा सकते हैं और उस धन के साथ श्रमदान का उपयोग जुड़ा रहने से ३० हजार वार्षिक का काम हो सकता है, वह नियोजन कुछ ही दिनों में उस छोटे-से गाँव को अमेरिका के गाँवों से पिछड़ा हुआ नहीं आगे बढ़ा हुआ दिखा सकता है, बात जरा-सी है। एक मुट्ठी अनाज देने लगने की उदारता श्रद्धा उत्पन्न कर सकना भारत के धर्म परायण नागरिकों की अन्तःस्थिति देखते हुए कुछ भी कठिन नहीं है।

दान-पुण्य की मूढ़ताग्रस्त अन्ध परम्पराओं की जरा सी दिशा बदल दी जाय तो सृजनात्मक कामों के लिए पैसा इतना आ जाय जिसे खर्च करने के उपाय सोचने पड़ें। हर गृहस्थ में मृत्यु होती है और मृत्यु-भोजन करना पड़ता है। प्राचीनकाल में परम्परा यही थी कि उत्तराधिकारी अपने पूर्वजों की कमाई उन्हीं की आत्मा के कल्याण में लगा देते थे, स्वयं उससे परहेज करते थे। उन दिनों लोकसेवी ब्राह्मणों के भोजन निर्वाह की व्यवस्था सबसे बड़ा परमार्थ था सो मृतक भोज किये जाते थे। अब वैसे ब्राह्मण तो नहीं रहे जिन्हें खिलाने से किसी मृत या जीवित को कुछ पुण्य मिल सके पर असंख्य परमार्थ प्रयोजन अभी भी भूखे-

प्यासे पड़े हैं, मृतक भोज में खर्च किया जाने वाला धन यदि गाँव में कोई पाठशाला, व्यायामशाला, पुस्तकालय आदि बनाने में लगा दिया जाय तो निस्सन्देह स्वर्गस्थ आत्मा को उस पुण्यलाभ से सद्गति मिल सकती है और उत्तराधिकारियों की उदार सद्भावना की रक्षा भी हो सकती है ।

विवाह के अवसर पर लड़के वाले कन्यादान की उपलब्धि का सामाजिक ऋण चुकाने के लिए उसी समय ब्राह्मणों को, मन्दिरों को तथा अन्य प्रचलित परम्परागत कार्यों में खर्च करते हैं; इस दान की दिशा लोकमंगल की ओर मोड़ दी जाय तो निरर्थक अपव्यय रुकने के साथ-साथ रचनात्मक प्रवृत्तियों का पोषण हो सकता है । बच्चों के जन्म समय पर तथा दूसरे पुण्य, पर्वों पर, लोग दान पुण्य करते रहते हैं, यदि नव निर्माण को इस दान-पुण्य का सबसे बड़ा सुपात्र, साधु, ब्राह्मण, ऋषि, पुरोहित मान लिया जाय और उसी के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते रहने की प्रथा चल पड़े यह धन अपने-अपने क्षेत्रों में इतने चमत्कार खड़े कर सकता है, जिसकी सरकारी योजनाओं द्वारा सौ वर्षों में भी आशा नहीं की जा सकती ।

अपने निजी जीवनक्रम में सामाजिक कर्त्तव्यों को अविच्छिन्न रूप से जोड़ लिया जाय और जिस तरह अपने शरीर और अपने परिवार के लिए सारे दिन काम किया जाता है, सोचा जाता है और खर्च किया जाता है उसी प्रकार अपने समाज को भी अपना समझा जाय और उपलब्धियों में परिवार का एक सदस्य उसे भी मान कर सम्मिलित कर लिया जाय तो इतनी भर आस्था के परिवर्तन से उस अनुदारता का पहाड़ दूर ही हो सकता है, जिसके आधार पर समाज का काया-कल्प कर दिखाना, नितान्त सरल और सर्वथा सम्भव है । हमें अपने सदस्यों की शर्त की तरह ही सर्व-साधारण में भी यही उमंग उत्पन्न करनी चाहिए कि लोक-मंगल के लिए उसके समय एवं धन का एक भाग नियमित रूप से लगता रहे ।

प्रतिभाओं के समय-दान की आवश्यकता

मानव जाति की गरिमा, उपयोगिता और सार्थकता यदि किन्हीं भावनाशील लोगों को समझाई जा सके तो उन्हें परिवार-पोषण की सीमा से उठकर कुछ पुण्य-परमार्थ कमाते चलने के लिए भी सहमत किया जा सकता है । यह उपक्रम चल पड़े तो हवा बनती है और एक को देखकर दूसरे की इच्छा जागती है । काँग्रेस आन्दोलन में यही था एक सत्याग्रही के साहस दिखाने और कदम बढ़ाने से दूसरे अनेक में भी वैसी ही भावना उमड़ती थी और उस आधार पर सत्याग्रहियों की टोलियाँ आगे आतीं और जेल जाती रहती थीं । बुद्ध के धर्म चक्र प्रवर्तन आन्दोलन में भी यही हुआ था, एक के परिव्राजक दीक्षा लेते ही दूसरे अनेक को प्रेरणा मिलती थी; फलतः नई-नई टोलियाँ विनिर्मित होती, शिक्षण पाती और लोक-चेतना जगाने के लिए निकल पड़ती थीं ।

इस सन्दर्भ में इन दिनों सबसे बड़ी कठिनाई एक ही है कि ऐसे उदाहरण अपने इर्द-गिर्द दिखाई नहीं पड़ते जिनके द्वारा आदर्शवादी गतिविधियाँ अपनाई गई देखी जा सकें, इसके बिना उत्साह उभरता नहीं, साहस पड़ता नहीं । इन दिनों ऐसे जीवन दर्शन का प्रशिक्षण किया जाना चाहिए, ऐसा वातावरण बनना चाहिए जिसमें बुद्ध और गाँधी के युग की पुनरावृत्ति होने के लिए आवश्यक प्रेरणा और दिशाधारा मिलती हो ।

हर व्यक्ति अपने संतोष के लिए, उत्कर्ष के लिए कुछ न कुछ कार्य करता है, समय देता और साधन जुटाता है । प्रश्न इतना भर है कि वे कार्य क्या हों जो व्यक्ति को तो ऊँचा उठायें ही, साथ ही समाज को भी समुन्नत बनाने में योगदान दें, यदि इस तथ्य को समझने और समझाने वाला तत्वदर्शन हस्तगत हो सके तो औसत मनःस्थिति का व्यक्ति स्वार्थ और परमार्थ का, निर्वाह और युगधर्म का समन्वय कर सकता है; ऐसी योजना बना सकता है कि मध्यवर्ती जीवनयापन होता रहे और समय की पुकार भी अनसुनी न करनी पड़े ।

युग परिवर्तन प्रयोजन के लिए सबसे बड़ी और सबसे महत्वपूर्ण समस्या एक ही है कि लोकमानस के परिष्कार और नीतिमत्ता भरे प्रवचन को बढ़ावा देने वाले प्रभावी कार्यकर्त्ता बड़ी संख्या में मिलें । इसके बिना अन्य उपाय सर्वतोमुखी प्रगति हेतु आवश्यक परिवर्तन का और कोई भी नहीं है विचारशील, भावनाशील, संयमी और सेवाभावी कार्यकर्त्ता ही वह कार्य कर सकते हैं जिसकी आवश्यकता हर कोई अनुभव करता है पर ऐसा कुछ बन नहीं पड़ता जो सुनहरे स्वप्नों को साकार कर सके ।

स्मरण रहे कि किराये के नौकरों से युग परिवर्तन जैसे काम नहीं हो सकते, उनके परामर्श और प्रलोभनों को वैसा ही खोखला माना जाता है जैसा कि वे स्वयं जान पड़ते हैं । नौकर उतना ही करते हैं जिससे उनका उपार्जन चलता रहे । जो दूसरों की आदर्शवादी गतिविधियाँ अपनाने और अभ्यस्त दुष्प्रवृत्तियों से दूसरों को निरत कर सकें, ऐसे चमत्कार दिखा सकने वाले कार्य वे ही कर सकते हैं जिन्होंने अपने व्यक्तित्व को-जीवनक्रम की, उत्कृष्टता की कसौटी पर खरा सिद्ध कर दिखाया है । जनसमुदाय को वे ही प्रभावित कर सकते हैं और अपने आचरण द्वारा दूसरों को अनुकरण की प्रेरणा दे सकते हैं ।

महाकाल की याचना समयदान की है । यह समयदान उनका नहीं चाहिए जो गया-गुजरा चिन्तन, चरित्र और व्यवहार अपनाकर निज की तथा दूसरों को दृष्टि में हेय या हीन बन चुके हैं । परमार्थ की दिशा में कदम बढ़ाना या नवसृजन में हाथ डालना उन्हीं के लिए संभव है जो आत्म-संशोधन की प्रथम परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके

हैं तथा साथ ही स्वभाव में मिलनसारी, मधुरता, नम्रता, मुखरता जैसे सद्गुणों को अपने अभ्यास में उतारते हुए परिपक्व स्तर का बना चुके हैं । समय, श्रम और साधनों के बलबूते ही छोटे-बड़े काम सम्पन्न होते हैं । समय की महती आवश्यकता को पूरा करने के लिए व्यक्तित्ववानों के समयदान की ही आवश्यकता इन दिनों पड़ रही है ।

पशु पालन व वनस्पति संवर्द्धन

मनुष्य परिवार केवल स्त्री, बच्चों, माँ-बाप तक ही सीमित नहीं वरन् उसका दायरा कहीं बड़ा है, पशु और वनस्पति भी उसी सीमा में आते हैं; सच तो यह है कि इन्हें और भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए । गृहपति से परिवार को और परिवार से गृहपति को जो स्नेह-सहयोग मिलता है उससे कहीं अधिक सम्बन्ध मनुष्य का वनस्पति तथा पशुओं से है । उन्हें जीवन घट ही समझा जाना चाहिए ।

पशुओं के श्रम, दूध, चर्म, गोबर आदि से जो लाभ मिलता है वह समस्त मानवी उपार्जन का पाँचवाँ अंश है, वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि पशु द्वारा मिलने वाली उपलब्धियों से रहित होकर इन जीवनयापन की मूलभूत आवश्यकताओं से ही वंचित हो जाते हैं जिनके उपकार और सहयोग पर हमारी जीवन-प्रक्रिया इतनी अधिक निर्भर है कि उसके प्रति कृतज्ञता का भाव मन में रहना चाहिए । उनके साथ होने वाले दुर्व्यवहार को निरस्त किये ही जाना चाहिये । इतना ही नहीं उनकी सुख-सुविधाओं तथा अभिवृद्धि की दिशा में भी हमें प्रयत्नशील होना चाहिये ।

वृक्ष-वनस्पतियों पर तो हमारी निर्भरता और भी अधिक है । साँस के विषैले भाग को शुद्ध करके प्राणवान वायु प्रदान करने से लेकर छाया, फूल, लकड़ी आदि के अनेक प्रयोजन वृक्ष सिद्ध करते हैं । अन्न और शाकों पर हमारा जीवन ही निर्भर है; वनस्पति न रहने पर मनुष्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा, अतः हमें पशुओं की तरह वनस्पति के संवर्द्धन और संरक्षण पर भी ध्यान देना चाहिये । इसमें अपना लाभ भी सन्निहित है और कर्त्तव्य भी ।

युग निर्माण योजना के रचनात्मक कार्यक्रमों में पशु पालन और वनस्पति अभिवर्द्धन को महत्त्वपूर्ण स्थान इसी दृष्टि से दिया गया है ।

पशु-पक्षी भी हमारे कुटुम्बी हैं

ऊपर बताया जा चुका है कि पशु-पक्षी भी हमारे सुहृद हैं, उनके प्रति नृशंसता नहीं बरती जानी चाहिए। अनेक व्यक्ति अपने मौज-मजे, शौक, फैशन के लिए पशु-पक्षियों को अकारण त्रास देने के कारण बनते हैं ।

कई व्यक्ति अपने शौक के लिए पक्षियों को पिंजड़े में पालते हैं । उन्हें स्वयं तो ऐसा लगता है मानो उन्होंने कोई बोलता, चलता खिलौना खरीद लिया-उसके पालन-पोषण में समय और पैसा लगाने को उदारता भी मानते हैं पर यह भूल जाते हैं कि इसमें उस पक्षी को कितना कष्ट हो रहा होगा, उसकी स्थिति में अपने को रखकर सोचा जाय तो एक छोटी-सी काल-कोठरी में आजीवन कैद की सजा देकर बन्द रहने जैसी व्यथा अनुभव होगी । उचित यही है कि पिंजड़ों में कैद करने वाली प्रथा को दुष्टता घोषित किया जाय । पक्षी प्रेम हो तो चिड़ियों को दाना-पानी पहुँचाने जैसे प्रयत्नों के द्वारा उसे प्रकट किया जा सकता है; अपने सद्व्यवहार से उन्हें समीपता के लिए हिलाया जा सकता है पर बन्धन तो नहीं ही बाँधे जाने चाहिए यह अनावश्यक हिंसा अकारण ही होती है और थोड़े से विवेक के जागरण से रुक सकती है ।

रेशम का धागा जीवित प्राणियों को पानी में उबालने के बाद प्राप्त किया जाता है, उसके एक-एक तार में इन कीड़ों की कराह जुड़ी होती है । ऐसी निर्दयता बरतने पर किये जा सकने वाले शौक से क्या लाभ ? जब सूत पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है और उनके बने वस्त्रों से सहज ही निर्वाह हो सकता है फिर यह हत्याकाण्ड रचने पर ही मिल सकने वाली रेशम पहनने से क्या लाभ ?

औषधियों के नाम पर इन दिनों बेहिसाब हिंसा हो रही है । यह भूत-प्रेतों वाले अन्धविश्वास से कहीं अधिक गहरा विज्ञान के नाम पर बरता जाने वाला अन्ध-विश्वास है । प्राणियों को नृशंस यातनाएँ देकर उनके अंगों के स्वत्व निकालकर बनाई जाने वाली दवाओं का प्रचलन अब अन्धाधुन्ध बढ़ रहा है, इन्हें आवश्यक बताया जाता है और लोग प्रगति के नाम पर इन्हें चाव से खाते हैं । अब उसी विज्ञान के नवीनतम अन्वेषण इन कुकर्म से पीछे लौटने की बात प्रतिपादित कर रहे है । तत्काल इस प्रकार जितना लाभ ढूँढ़ा गया है, पीछे उसकी प्रतिक्रिया इतनी भयंकर होती है कि उन हिंसायुक्त औषधियों और टॉनिकों का लाभ अनेक गुने घाटे के रूप में सहना पड़ता है। मनुष्य का स्वाभाविक भोजन वनस्पतियाँ हैं । वनस्पतियों में इतने महत्त्वपूर्ण तत्व मौजूद हैं कि वे रोगी की चिकित्सा का उद्देश्य पूरा कर सकें । आयुर्वेद की जड़ी-बूटियाँ ही मुख्य हैं । हमें जड़ी-बूटियों की चिकित्सा को प्रश्रय देना चाहिए और विज्ञान के अन्ध भक्तों के इस प्रतिपादन को सर्वथा अस्वीकार कर देना चाहिए कि प्राणियों के अंगों का रस आरोग्य लाभ के लिए आवश्यक है ।

मोती पहनने का शौक भी ऐसा ही गर्हित है । जीवित सीपों को जिस तरह तेजाबों में गलाकर मारा जाता है और उनका पेट चीरकर जिस निष्ठुरतापूर्वक मोती निकाला जाता है उसे कोई प्रत्यक्ष देखे तो उस मोती निर्माण कर्म को बड़े बूचर खाने से कम न समझे । ऐसे मोती पहने बिना किस का क्या हर्ज होता है ? उस बर्बरता के प्रमाण-पत्र को गले में लटकाये फिरने से किस का क्या गौरव बढ़ता है ?

चमड़ा अब आमतौर से छुरी के घाट उतारे गये पशुओं का ही मिलता है । वह जमाना चला गया जब पशु अपनी मौत मरते थे । ऐसा अवसर तो देहातों में किसी उदार किसान के यहाँ किसी भाग्यवान पशु को ही मिलता है । लगभग ९७-९८ प्रतिशत पालतू जानवरों को आगे पीछे कसाई के यहाँ ही जाना पड़ता है । इस भारी जीव हिंसा में माँस की माँग की तरह चमड़े की बढ़ी हुई माँग भी है । माँस की भाँति ही चमड़े के प्रचलन से कसाई के धन्धे को बहुत लाभदायक बना लिया है । विशालकाय बूचर खाने खुलते चले जा रहे हैं । अधिक स्वादिष्ट माँस और अधिक मुलायम मजबूत चमड़ा प्राप्त करने के लिए बूचरखानों में जीवित पशुओं के शरीर से चमड़ा उखाड़ने, पीटकर चमड़े की रूई धुन देने जैसे नृशंस कृत्य किये जाते हैं । इससे उनके मरने का कष्ट और भी अधिक बढ़ जाता है । इससे केवल कसाई ही पाप का भागी नहीं, माँसाहारी की भाँति वे लोग भी हिस्सेदार हैं जो चमड़े का शौक से उपयोग करते हैं ।

अब चमड़े के विकल्प में ढेरों चीजें मौजूद हैं, जूते रबड़ के, प्लास्टिक के, कपड़े के सर्वत्र सुलभ हैं; वे चमड़े के जूतों से सस्ते भी पड़ते हैं । कमर में बाँधने की पेटियाँ, घड़ियों के पट्टे, सूटकेस, अटैचियाँ, बटुए जैसी चीजें अब चमड़े के स्थान पर दूसरी चीजों से बनने लगी हैं और वे अपेक्षाकृत कम में सर्वत्र उपलब्ध हैं । इतना होते हुए भी अपनी पसन्दगी चमड़े के साथ जोड़ने का कोई औचित्य नहीं । जिस हिंसा को सहज ही टाला जा सकता है और जिसके उपयुक्त विकल्प मौजूद हैं उन्हें भी अपनाना निष्ठुरता के प्रति पक्षपातपूर्ण दुराग्रह अपनाये रहना ही है ।

माँसाहार की प्रवृत्ति दिन-दिन बढ़ रही है । यह वहम सिर पर बेतरह चढ़ा है कि माँस में अच्छे प्रोटीन होते हैं इसलिए उसका खाया जाना स्वास्थ्य के हित में है । जिन्होंने इस वहम का विस्तार किया था अब उन्हीं के अन्वेषण छत पर चढ़कर चिल्ला रहे हैं कि पशुओं से पाई जाने वाली प्रोटीन मात्रा में भले ही अधिक हो पर उसमें हानिकारक तत्व भी अत्यधिक हैं । उसकी अपेक्षा दालों की तथा दूसरी वनस्पतिजन्य प्रोटीन अधिक अच्छी और हानिरहित है । स्वाद भी माँस में कहाँ ? मसालों का ही स्वाद उसमें होता है । महँगा सो अलग । यह सब होते हुए भी सबसे बड़ी बात है, दूसरे प्राणियों का प्राणहरण करने जैसे जघन्य कृत्य की । जिस समय बकरे आदि का वध किया जाता है और वे जिस तरह कातर चीत्कार करते हैं यदि उसे ध्यानपूर्वक देखा जा सके तो कोई सहृदय व्यक्ति किसी भी लाभ के लिए ऐसे पैशाचिक प्रयोजन में भागीदार बनना न चाहेगा । माँस के जो लाभ बताये जाते हैं यदि वे सही हों तो भी वह अपने तनिक से लाभ के लिए दूसरों के प्राणहरण का निमित्त न बनेगा ।

ताँगे, इक्के, बैलगाड़ी आदि में जोते जाने वाले और बैलों पर कई बार अत्यधिक बोझ लादा जाता है, सामर्थ्य से अधिक दौड़ाया जाता है, घायल होने पर भी परवाह नहीं की जाती । असमर्थता के कारण शिथिलता दिखाने पर उन्हें बेतरह पीटा जाता है । यह उन पशुपालकों की निष्ठुर प्रवृत्ति कसाइयों से भी बुरी है । कसाई थोड़ी देर में ही काम तमाम कर देता है पर यह लोग तिल-तिल करके, कोंच-कोंच कर, धीरे-धीरे प्राण लेते हैं; यों इस प्रकार की पशु निर्दयता बरतने के कानून बने हुए हैं पर उन पर अमल कौन करता है ? उन पर सवारी करने वाले या माल ढुलवाने वाले भी यह नहीं देखते कि उनके निमित्त प्रयुक्त होने वाले जानवर पर अत्याचार तो नहीं हो रहा और वे उसके निमित्त तो नहीं बन रहे हैं ।

धर्म के नाम पर की जाने वाली पशुबलि तो साबुन को ही कोलतार का बना लेने जैसा दुस्साहस है । धर्म आस्था का प्रचलन तो मनुष्य में दया, करुणा, उदारता, सहृदयता जैसे सद्‌गुणों के विकास के लिए किया गया था । धर्म और अध्यात्म का विशालकाय कलेवर और उसके निर्माताओं ने मानवी सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन और दुष्प्रवृत्ति के नियन्त्रण के लिए किया था । अनेक धर्म मान्यताओं का, प्रथा परम्पराओं का सृजन केवल इसी प्रयोजन के लिए किया गया है । उसी धर्म के नाम पर निरीह पशुओं के प्राणहरण किये जायें यह बिल्कुल विपरीत बात हुई । देवी-देवता, उच्चतम अनुभूतियों के प्रतीक हैं । उनकी दिव्य सत्ता को उच्च गुणों का प्रतिनिधि मानकर ही पूजा जाता है । ईश्वर और उसके परिवार में असीम करुणा और सद्‌भावना भरी पड़ी है । मनुष्य की तरह अन्य जीव भी उन्हें अपने विनिर्मित बच्चे जैसे प्रिय होते हैं । इस पर भी यदि देवताओं की प्रसन्नता के लिए, धर्म के नाम पर पशुओं की बलि दी जाय तो इस विडम्बना को धर्म और देववाद का सबसे बड़ा दुर्भाग्य, अभिशाप माना जायगा ।

देवता यदि होते हैं तो अवश्य ही उन्हें इस प्रकार कलंकित करने वालों को वे अभिशाप ही दे सकते हैं, उन पर कोप बरसा सकते हैं; यदि किसी की मनोकामना पूरी करने के लिए देवता लोग इस प्रकार की नृशंस रिश्वत स्वीकार करने लगें तो भी फिर हर कसौटी पर उन्हें हेय ठहराया जायगा और फिर देवता जैसा पवित्र शब्द उनके साथ नहीं जोड़ा जायगा । जो माँ अपने बच्चों को खाने लगे उसे देवी कैसे कहा जायेगा । देवी के लिए तो मनुष्य की तरह पशु भी अपने बच्चों की तरह प्रिय हो सकते हैं ।

पशुवध-माँसाहार जैसा ही उसे उसके वास्तविक रूप में ही रहने देना चाहिए ताकि स्वतन्त्र बुद्धि से उसके गुण-अवगुण पर मनुष्य विचार कर सकें । धर्म श्रद्धा के साथ जोड़ देने से तो वह परख भी हाथ से निकल जाती है और एक हेय कर्म को धर्म और देव समर्पित सिद्ध कर दिया जाता है । इससे तो उस दुष्कर्म के प्रति जो विरोध भाव था वह भी समाप्त हो जायगा । यह विकृत चिन्तन, माँसाहार से भी अधिक हानिकारक है । उससे प्राणहरण जैसा पाप भी पुण्य बनकर सामने आता है तो पाप और पुण्य की अपनी कसौटी क्या रह जायगी ।

जो धर्म अनीतिपूर्वक निरीह प्राणियों के साथ बर्बर व्यवहार करने को प्रेरित करता हो, जो देवता ऐसा करने को प्रोत्साहित करता हो-उसकी तो विवेक बुद्धि परित्याग ही करेगी । ऐसी धार्मिकता से तो विवेकपूर्ण अधार्मिकता अच्छी । ऐसी देव पूजा से तो उचित-अनुचित का भेद कर सकने वाले नास्तिक अच्छे । मूढ़ता के दुष्परिणाम दुष्टता से भी अधिक होते हैं ।

भगवान बुद्ध जब जन्मे तब उन्होंने सर्वत्र ऐसा ही हिंसा का ताण्डव देखा था जैसा आज है । हिंसा का ताण्डव उस युग से हजारों गुना बढ़ गया पर सब कुछ पर्दे के पीछे-विज्ञान के नाम पर होता है । अब कटे हुए प्राणी की लाश का इधर से उधर घसीटते रहने की जुगुप्सा में पड़ने की जरूरत नहीं । हजारों-लाखों मछलियों को पानी में उबालकर उनका निकाला हुआ तेल रंग-बिरंगी शीशियों में बन्द करके सामने आ जाता है । टॉनिकों के नाम पर सभी प्राणियों का रस बड़े सभ्य ढंग से खरीदा बेचा जाता है । सभ्यता के सफेदपोश आवरण से ढकी हुई हिंसा अपना ताण्डव नृत्य कर रही है और भविष्य के लिए और भी विशालकाय योजनाएँ बन रही हैं । चिकित्सा के नाम पर तो लगता है अगले दिनों प्राणिवध ही प्रमुख माध्यम बनेगा ।

इसका भावना विप्लव के दिनों में-भाव विभ्रान्ति के युग में हम में से प्रत्येक को बुद्ध, महावीर बनकर आगे आना चाहिए और जनमानस में वैसी भाव भरी विवेकशीलता उत्पन्न करनी चाहिए, जिससे निरीह प्राणियों पर तथाकथित बुद्धिमान मनुष्य द्वारा बरसाये जाने वाले 'कहर' की रोकथाम की जा सके ।

गौ वंश की रक्षा हर दृष्टि से आवश्यक

गौ रक्षा के प्रश्न पर भावनात्मक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से विचार करना होगा और उसका उचित समाधान निकालना होगा । भारतीय परम्परा में गौ की ब्राह्मण से तुलना की गई है । शास्त्रों में जगह-जगह गौ, ब्राह्मण का साथ-साथ एक युग्म के रूप में उल्लेख किया गया है । ब्राह्मण की उपयोगिता उसकी सेवा-साधना की उत्कृष्टता को दृष्टि में रखकर ही स्वीकार की गई है और उसे इसी आधार पर समाज में उच्च सम्मान प्रदान किया गया है । यही बात गाय के सम्बन्ध में भी है । उसे जो सम्मान प्रदान किया गया है वह अकारण नहीं है ।

गाय के दूध में जो स्वास्थ्य संवर्द्धक तत्व पाये जाते हैं वे अन्य पशु के दूध में नहीं हैं । चिकनाई भैंस के और भेड़ के दूध में अधिक होती है पर जो विटामिन, खनिज लवण गाय के दूध में हैं वे किसी और के में नहीं । चिकनाई स्वाद की दृष्टि से या चर्बी बढ़ाने की दृष्टि से ही उपयोगी हो सकती है, उसकी अधिकता अन्य दृष्टियों से हानिकारक ही है । चर्बी की भी मनुष्य को सीमित मात्रा में ही आवश्यकता है, उसका अनुदान बढ़ने से मुटापा, रक्तचाप, हृदय रोग आदि कई प्रकार की बीमारियाँ आ घेरती हैं । मात्र चिकनाई के लिए दूध-घी का झंझट पालने की भी जरूरत नहीं है, वह तो तेल से भी प्राप्त की जा सकती है । दूध तो उन उपयोगी जीवन तत्वों के लिए पिया जाता है, जिसे माता के बाद दूसरे स्रोत गाय से ही प्राप्त किया जा सकता है । यही कारण है कि समस्त संसार का विचारशील वर्ग दूध के लिए गाय का ही उपयोग करता है । भैंस तो अफ्रीका जैसे पिछड़े देशों में जहाँ-तहाँ ही पायी जाती हैं । भेड़-बकरियों का दूध एक तो मात्रा में भी स्वल्प होता है , दूसरे उनमें भी ये गुण नहीं हैं जो गाय के दूध में होते हैं ।

शारीरिक पोषण, आरोग्य और स्वास्थ्य संवर्धन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है गाय के दूध का सात्विकता संवर्द्धक गुण । हर पदार्थ में अपने सूक्ष्म गुण होते हैं । मिर्च-मसाले यद्यपि खाने में स्वादिष्ट होते हैं पर उनमें तमोगुणी प्रवृत्तियाँ भड़काने का जो दोष है उस हानि को देखते हुए उनकी निन्दा की गई है । नशों में, चाय, काफी, भाँग को एक हद तक स्वास्थ्य के लिए लाभदायक भी बताया जाता है, पर उनमें जो तामसी प्रकृति है उससे मानसिक और भावनात्मक स्तर में गिरावट आती है । यह हानि शारीरिक स्वास्थ्य की क्षति से भी अधिक भयंकर है । इसलिए विचारशील लोग इन नशों को हेय तथा हानिकारक ही मानते हैं ।

गाय का भावनात्मक-स्तर मनुष्येत्तर जीवों में सबसे अधिक विकसित है । उसके स्वभाव में करुणा, ममता, शालीनता, सन्तोष जैसी सत्प्रवृत्तियों का बाहुल्य रहता है । उत्साह, स्फूर्ति, बलिष्ठता और सहनशीलता अन्य पशुओं से अधिक है । मस्तिष्क भी अपेक्षाकृत अधिक विकसित होता है । यह सब गुण गाय के दूध में ही रहते हैं । उसे पीने वाले की मनःस्थिति एवं प्रवृत्ति भी उसी ढाँचे में ढलती है । भैंस का बच्चा मंद बुद्धि और आलसी होता है । गाय का बछड़ा स्वभावतः चुस्त और चंचल होता है । तत्वदर्शियों ने गाय को अनेक आत्मिक गुणों से सम्पन्न पाया और उसका सान्निध्य, सेवा उपक्रम एवं गौरस का सेवन भावनात्मक, बौद्धिक विकास क्रम को सात्विकता की ओर ले जाने योग्य बताया । व्रत, उपवास, पूजा, हवन शुद्धि, प्रायश्चित आदि प्रयोजनों में गोरस का उपयोग इसीलिए किया जाता है कि उसमें सन्निहित सात्विकता का लाभ मिले और आत्मिक प्रगति के पथ पर सफलता प्राप्त हो । इस लाभ को शारीरिक लाभ से भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हुए गाय को उसकी अन्तःस्थिति के अनुरूप ब्राह्मण का, देवता का दर्जा दिया गया ।

शारीरिक और मानसिक लाभ के अतिरिक्त तीसरा लाभ है-आर्थिक । भारत कृषि प्रधान देश है । जनसंख्या वृद्धि के कारण जोतें छोटी-छोटी हो गई हैं । यहाँ बड़े फार्म तो तभी चल सकते हैं जब कृषि का भी राष्ट्रीयकरण हो जाय । वर्तमान स्थिति में छोटी जोतों को ही कायम

रखना पड़ेगा । ऐसी दशा में उसमें प्रयुक्त होने वाली क्षति की पूर्ति बैल द्वारा ही की जा सकेगी । ट्रैक्टरों के लायक बड़े चक यहाँ बहुत कम हैं । फिर ट्रैक्टर की टूट-फूट, चलाने की प्रवीणता, बहुत बड़ी पूँजी, उस पूँजी की ब्याज और मशीनी की घिसावट, इन बातों का लेखा-जोखा यदि ठीक तरह लिया जाय तो वह बैल से महँगा पड़ता है । फिर बैल केवल खेत ही नहीं जोतता । सिंचाई के लिए कुँए से पानी निकालना, गाड़ी चलाना जैसे दूसरे काम भी करता है, जो छोटे रूप में हर कहीं कर सकना ट्रैक्टर के लिये सम्भव नहीं । फिर ट्रैक्टर गोबर भी तो नहीं करता । यदि बैल हटाकर ट्रैक्टर रखे जायें तो गोबर के उपयोगी खाद से वंचित रहना पड़ेगा और जमीन कमजोर होती चली जायेगी । रासायनिक खाद के उत्साह में अमेरिका अपनी लाखों एकड़ जमीन को बंजर बना चुका है । प्रधान खाद तो गोबर की ही हो सकती है ।

इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से भी गाय की उपयोगिता इस देश के लिए अति उच्च स्तर की है । अपने देश में दो तिहाई आय पशुपालन से ही होती है और उसमें सबसे बड़ा योगदान गाय का है । इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए गौ-पालन, गौ-सेवा, गौ-रक्षा हर दृष्टि से लाभदायक और आवश्यक हो जाती है । उसे ऊँची धर्म मान्यता भावावेश में नहीं वरन् उसकी उपयोगिता के आधार पर मिली है ।

गौ रक्षा के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कदम यह है कि गौ दुग्ध के उपयोग की महत्ता जन-साधारण को समझाई जाय और उसी का सेवन करने के लिए जोर दिया जाय । गौ दुग्ध की खपत बढ़ जाने से उसके पालन का, नस्ल सुधारने का आकर्षण अनायास ही बढ़ चलेगा और गायें अधिक संख्या में, अधिक मनोयोगपूर्वक पाली जाने लगेंगी, आज तो सबसे बड़ा दुर्भाग्य इस सम्बन्ध में यह है कि लोग गाय के दूध के गुणों पर ध्यान न देकर भैंस का दूध पसन्द करते हैं और खरीदते हैं । फलस्वरूप गौ-पालन का धन्धा बिना लाभ का बनता जा रहा है और हर साल उत्पन्न होने वाले गौ वंश को कसाई के यहाँ जाना पड़ता है । विदेशों में जहाँ गौ दुग्ध का प्रचलन है, माँस के लिए गायें नहीं मारी जातीं । गाय के दूध की उपेक्षा करना प्रकारान्तर से उसे अनुपयोगी सिद्ध करके कसाई के घर धकेलना ही कहा जायगा ।

यदि हमें पशुपालन के साथ अहिंसा का पालन करना है तो ऐसे पशुओं का पालन करना होगा जिनके बच्चे और बच्चियाँ दोनों ही समान रूप से उपयोगी हों । उस दृष्टि से केवल गाय ही खरी उतरती है । गौ दुग्ध की माँग बढ़ जाय, धार्मिक कार्यों में गौ घृत का उपयोग होने लगे तो स्वभावतः गौपालना लाभदायक हो जायगा, उसकी नस्ल सुधरेगी, लोग खुशी-खुशी उसे पालेंगे । ऐसी दशा में बछड़े से अधिक संख्या में अच्छी नस्ल के मिलेंगे, और उनके न मिलने या बहुत अधिक महँगे मिलने से कृषि कार्य में जो अड़चन आती है, वह दूर हो जायगी ।

पेन्शन, प्रोवीडेन्ट की तरह काम बन्द करने के बाद एक वर्ष घर बिठाकर खिलाने की लागत भी उसकी आजीवन कमाई में से घटा ली जाय तो भी गौ-पालन लाभदायक ही सिद्ध होगा । गाय, बैल आमतौर से दूध देने या काम करने के सर्वथा अयोग्य हो जाने के बाद एक वर्ष से अधिक नहीं जीते । इस अवधि में भी वे गोबर के रूप में कीमती खाद देते हैं और मरने पर माँस, हड्डी का खाद तथा कीमती चमड़ा देकर उस एक वर्ष तक बैठाकर खाने की क्षति पूर्ति कर जाते हैं । कुछ कमी भी पड़ती हो तो जिस प्रकार बूढ़े माँ-बाप को बिठा कर खिलाते हैं उसी प्रकार का व्यवहार गाय-बैलों से भी किया जा सकता है और गौ वंश को कसाई के यहाँ जाने से बचाया जा सकता है ।

गौ वंश की रक्षा के लिए हमें गौ दुग्ध सेवन की परम्परा नये सिरे से प्रचलित करनी चाहिए । दूध-भैंस का पीना-जय गाय की बोलना, यह दुरंगी चाल तो विडम्बना भर ही रहेगी और उससे मूल प्रश्न हल न होगा । गौ दुग्ध का प्रचलन बढ़ाने से भौतिक तथा भावनात्मक दोनों ही पक्षों का समाधान हो सकता है ।

वृक्षारोपण पशुपालन से कम उपयोगी नहीं

मनुष्यों और वृक्षों का जीवन परस्पर अति घनिष्टता के साथ जुड़ा है । मनुष्य श्वांस द्वारा जो गन्दी वायु बाहर निकालता है उसे वृक्ष पी जाते हैं और शुद्ध करके प्राण वायु के रूप में मनुष्य को प्रदान करते हैं । इस आदान-प्रदान पर वायुमण्डल की शुद्धि निर्भर है । यदि पेड़ न हों तो विषाक्त गैसों से हवा दूषित होती चली जाय और वह साँस लेने लायक भी न रहेगी ।

वृक्ष बादलों को आकर्षित करते हैं । जहाँ घने पेड़ होते हैं वहाँ वर्षा भी अधिक होती है । यदि पेड़ काट दिये जायें तो वर्षा का अनुपात कम हो जायगा और उसका कष्ट उस सारे क्षेत्र के प्राणियों को उठाना पड़ेगा । पेड़ों की जड़ें जमीन को वर्षा के पानी से बाढ़ों से कटने नहीं देतीं । जमीन में प्रवेश करके पेड़ों की जड़ें मिट्टी को मजबूती के साथ पकड़े रहती हैं और उसे बाढ़ वर्षा से कटने, बहने नहीं देती । पेड़ों की पत्तियाँ शीत ऋतु में गिरती हैं और वे खाद बनकर उस भूमि में उर्वरता बढ़ाती हैं ।

फल मनुष्य का सर्वोत्तम सुपाच्य, स्वादिष्ट और पोषक तत्वों से भरपूर प्राकृतिक भोजन है । रोगी-नीरोग, बाल-वृद्ध सभी को इस अमृत उपलब्धि से तृप्ति और पुष्टि मिलती है । नयनाभिराम पल्लव और पुष्प उदास मन को उल्लास से भर देते हैं । कुंजों की हरीतिमा, आँखों को शीतलता प्रदान करती है । मधु-मक्खियों के छत्ते वृक्षों पर ही लटके होते हैं ।

जलाऊ लकड़ी, कोयला, वृक्षों की ही देन है । ईंधन के लिए हम बहुत करके उन्हीं पर आश्रित रहते हैं ।

इमारती लकड़ी, किवाड़, फर्नीचर, पलंग, गाड़ी, रथ, चटाई, पंखा, झाड़ू, टोकरी आदि की आवश्यकताएँ उन्हीं से पूरी होती हैं । उनमें से बहुत से गुणकारी औषधियों के रूप में उपयुक्त होते हैं छाया में कितने प्राणी आश्रय पाते हैं । पक्षियों की दुनिया के नगर ग्राम तो इन पेड़ों पर ही बसे होते हैं । उनका आश्रय लेकर गर्मी में शीतलता और शीत में गर्मी प्राप्त की जाती है । मकानों में जितनों को आश्रय मिलता है उससे अधिक आश्रय इन पेड़ों की छाया में प्राप्त किया जाता है । अन्य पशुओं को तो आमतौर से उन्हीं की छाया और पत्तों से निर्वाह करना पड़ता है ।

योगी, वन्य प्रदेशों में ही शान्ति पाते और एकान्त तप-साधना पूरी करने के लिए वृक्षों का ही आश्रय लेते हैं । संसार की एक चौथाई सम्पत्ति वृक्ष-वनस्पतियों से ही उपार्जित होती है । ऐसे ही अगणित लाभों को देखते हुए वृक्षारोपण को एक उच्चकोटि का पुण्य माना गया है और अकारण वृक्ष काटने को जीवन हत्या की श्रेणी मे गिना गया है ।

इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि वन सम्पदा घटती चली जा रही है, वृक्ष कटते तो जाते हैं पर उनके स्थान पर नये नहीं लगाये जाते । फलस्वरूप उपरोक्त लाभों से वंचित होना पड़ता है और पेड़ काटकर जो लाभ उठाया गया था, उसकी तुलना में कहीं अधिक घाटा उठाना पड़ता है । इन वन की अन्धाधुन्ध बर्बादी की हमें पशु वध से तुलना करनी चाहिए और उसके दूरगामी दुष्परिणामों को देखते हुए समय रहते रोकथाम करनी चाहिए ।

कुछ समय पूर्व जब लोग गोबर का महत्त्व नहीं जानते थे तब उपले जलाने के काम आते थे । समझदारी बढ़ने से इसमें कमी आई और किसान उसे खाद के रूप में प्रयोग करने लगा है । यह तो अच्छा हुआ पर साथ ही ईंधन की पूर्ति के लिए लकड़ी जलाने की आवश्यकता बढ़ गई ? इससे न केवल पेड़ों का बड़े परिमाण में नाश हुआ वरन् लकड़ी महँगी भी हो गई । फलस्वरूप आर्थिक बोझ नये ढंग से बढ़ गया, यह घाटे का सौदा देर तक नहीं चलने दिया जा सकता । यदि यही क्रम चलता रहा तो वन सम्पदा दिन-दिन घटती ही चली जायगी और उसके कारण रुकी हुई जितनी जमीन मिलेगी, उस लाभ की तुलना में अनेक गुनी हानि उठानी पड़ेगी । समय रहते चेत जाना ही बुद्धिमानी की बात है ।

इस सन्दर्भ में हमें दो कदम उठाने चाहिए । एक तो वृक्षारोपण की दिशा में अधिक उत्साह दिखाया जाय, उन्हें सूख जाने पर या अनिवार्य आवश्यकता होने पर ही काटा जाय । साथ ही जलाऊ लकड़ी की खपत कम करने का उपाय सोचा जाय ।

गाँव में, घरों के आस-पास कुछ जगह खाली रहती है उसमें पेड़ लगें तो गाँव किसी बगीचे में बसा हुआ सुन्दर-शोभायमान प्रतीत हो । उनकी छाया का आनन्द मिले । बच्चे चढ़ने और झूलने का आनन्द लूटें । खेतों पर बीच-बीच में फलों के वृक्ष लगाये जायँ । ऐसे बहुत से पेड़ होते हैं जो जगह भी अधिक नहीं घेरते, उनके नीचे आस-पास खेती में कुछ अड़चन भी नहीं पड़ती, साथ ही फल शोभा, छाया का लाभ भी मिलता रहता है । जहाँ खाली जगह है, ऊसर बंजर है वहाँ भी जमीन के उपयुक्त वृक्ष लगाये जा सकते हैं । किस जमीन में कौन पेड़ लगता है इसकी जानकारी हो तो पहाड़ों पर भी वन सम्पदा उगाने का लाभ लिया जा सकता है । रास्तों के सहारे पेड़ तो हर जगह होने ही चाहिए ।

श्रावण की अमावस्या हरियाली अमावस्या कहलाती है, उस अवसर पर नये वृक्ष लगाने का पुण्य माना गया है । यों तो वृक्ष कड़ी सर्दी-गर्मी के दिन छोड़कर कभी भी लगाये जा सकते हैं पर वर्षा ऋतु पेड़ लगाने का उपयुक्त अवसर है । श्रावण की अमावस्या से लेकर श्रावण पूर्णिमा तक अधिक उत्साह के साथ इस बात के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए । कहाँ कितने पेड़ लगाये जा सकते हैं ? कौन इसमें क्या सहयोग कर सकता है, किससे कह-सुनकर उसे कहाँ-कहाँ पेड़ लगाने के लिए प्रोत्साहित और सहमत किया जा सकता है, इसी खोज-खबर में-योजना और व्यवस्था बनाने में कुछ लोग थोड़ा समय दे दिया करें तो उस क्षेत्र में कुछ ही समय में वृक्षावली लहलहाती दिखाई पड़ सकती है ।

पेड़ों की पौधें लगाने और बेचने की नर्सरी हर गाँव में होनी चाहिए । कोई कुशल व्यक्ति एकाध बीघा जमीन उसी काम के लिए सुरक्षित रखे और उसमें उस क्षेत्र की आवश्यकता को देखते हुए पेड़ों की पौध तैयार करता रहे तो उसकी बिक्री में खेती से कम नहीं, अधिक ही लाभ मिल सकता है, साथ ही उस क्षेत्र की एक महती आवश्यकता पूरी हो सकती है । दूर शहरों से अच्छे पौधे खरीदने जाने के झंझट से भी कई लोग अच्छे पेड़ लगाने की हिम्मत नहीं करते । कुछ लगाना हुआ तो ऐसे ही घटिया नस्ल के लगा देते हैं । यदि विकसित किस्म के कलमी पौध तैयार की जा सकें तो वे पौध जल्दी फलती है । और अधिक आमदनी देती है ।

हर किसान में यह प्रतिस्पर्धा चलनी चाहिए कि किसके पास बाग हैं किसके पास नहीं । बच्चों को बड़े आदमियों की तरह मिठाइयाँ तो गरीब नहीं खिला सकते पर अपने खेत की मेंड़ पर वृक्ष लगाकर अंजीर, अमरूद, केले, पपीते, शहतूत, जामुन जैसे फल तो दे ही सकते हैं । यह बच्चों के प्रति प्यार-दुलार की अच्छी अभिव्यक्ति है । बहुमूल्य आहार एवं पकवान न मिलने की जगह इन वन्य मिष्ठान्नों से अपने परिवार को कुछ प्रसन्नता भी दी जा सकती है और पोषण भी ।

पेड़ लगाने के बाद निश्चिन्त हो जाने से काम नहीं चलता, ऐसी लकीर सरकारी कर्मचारी पीटते रहते हैं; कई विभाग अपने बजट के अनुसार जहाँ-तहाँ पेड़ लगा देते हैं पर उनकी सिंचाई, रखवाली का प्रबन्ध नहीं होता, फलस्वरूप वे सर्दी-गर्मी से, पशुओं के चर जाने से नष्ट हो

जाते हैं । हमें वृक्षारोपण के प्रति जनसाधारण में उत्साह सम्पन्न करने के साथ उनके खाद, पानी, निराई, गुड़ाई, बाड़-रखवाली की साज-सँभाल करते रहने का भी मार्गदर्शन करना चाहिए । निरीक्षण करने तथा जहाँ जो ढील दिखाई पड़े उसके लिए कहने से काम न चले तो साथ ले चलकर कराने का भी प्रयत्न करना चाहिए ।

पशु-पालन की भाँति ही वृक्षारोपण भी अति महत्त्वपूर्ण है, इसलिए पशु-पालन की तरह वृक्षारोपण के लाभ से भी सर्वसाधारण को अवगत कराना चाहिए और उसके लिए आवश्यक उत्साह उत्पन्न करना चाहिए ।

वनस्पति अभिवर्द्धन एक महती आवश्यकता

बड़े वृक्षों की उपयोगिता अपने ढंग की है और छोटी वनस्पतियों की अपने ढंग की । केवल हथौड़ा ही महत्ता नहीं रखता, सुई की अपनी उपयोगिता है । वृक्ष अपना उद्देश्य पूरा करते हैं, वनस्पति अपना । वृक्षों की ही तरह अनेक वनस्पति भी ऐसी हैं जो मानव जीवन के लिए अपने ढंग से उतनी ही वरन् उनसे भी अधिक आवश्यक हैं । घास-पात खाकर पशु जीवित रहते हैं-मनुष्यों के लिए भी कुछ वनस्पतियाँ इतनी उपयोगी हैं कि उनका उत्पादन और विस्तार करने के लिए हमें सदैव सचेष्ट रहना चाहिए ।

मनुष्योपयोगी वनस्पतियों में शाक-भाजी का अपना स्थान है । केवल अन्न से ही पेट नहीं भरना चाहिए, वरन आरोग्य शास्त्र की दृष्टि से उसके साथ शाक भी रहना चाहिए । सूखे अन्नों में ही उतने जीवन तत्व नहीं रहते जितने हरे शाकों में । पेट की सफाई क्रिया की शुद्धि तथा पोषक पदार्थों की आवश्यकता पूर्ण कर सकने वाले तत्व उनमें इतने अधिक होते हैं, कि यदि वे न हों तो भोजन का उद्देश्य ही पूरा न हो । फल मनुष्य का स्वाभाविक और प्राकृतिक भोजन है पर यदि पेड़ों पर लगने वाले फल न मिलें तो उनसे कुछ घटिया दर्जे के फल बेलों पर लगते हैं । वे सस्ते भी होते हैं और उन्हें गरीब लोग भी खा सकते हैं ।

वृक्षों पर लगने वाले फलों की आवश्यकता पूरी करने वाली बेलों पर उगने वाले कई फल हैं-जिनमें खरबूजा, तरबूजा, सिंघाड़ा, खीरा प्रमुख हैं । उन्हें कच्चा भी खाया जाता है । इसके बाद उन शाकों का नम्बर आता है जिन्हें पकाकर रोटी के साथ खाया जाता है । लौकी, तोरई, चचेंडा, परवल, कद्दू, बैंगन, शलजम, चुकन्दर आदि इसी वर्ग के हैं । आलू, अरबी, शकरकन्द जैसे शाक अन्न स्तर के हैं, फिर भी उनका प्रचलन शाक की तरह ही है । टमाटर, केला, पपीता, मकोय, आडू जैसे मध्यम वर्ग के पौधे भी फलों का ही काम देते हैं, यों इनमें से कुछ को शाक की तरह भी प्रयोग किया जाता है ।

लोग दालों को स्वाद के कारण जितना महत्त्व देते हैं उतना शाक पर नहीं देते । जबकि सच बात यह है कि उनकी उपयोगिता अन्न से भी अधिक है । पोषक तत्वों की अधिकता, पेट और रक्त को शुद्ध करने के गुण के साथ-साथ वे आज की अन्न समस्या का भी समाधान करते हैं । अन्न की मात्रा घटाकर उसकी पूर्ति शाक से की जाय । यह स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उत्तम है । राष्ट्रीय खाद्य समस्या का हल भी निकलता है और आर्थिक लाभ भी है । किसान एक एकड़ में जितना अन्न उपजाते हैं उससे शाक दस गुना अधिक उपज सकता है । यदि परिश्रम, खाद पानी की ठीक व्यवस्था रखी जाय तो शाक उत्पादन में अन्न उपजाने की अपेक्षा कहीं अधिक लाभ मिल सकता है; उसमें उत्पादक और उपभोक्ता दोनों का आर्थिक लाभ प्रत्यक्ष है ।

शाक उत्पादन की ओर से लोग उपेक्षा बरतते हैं, उस उपेक्षा को उत्साह के रूप में बदला जाना चाहिए और उत्पादन तथा उपयोग दोनों ही दिशा में जन-साधारण की रुचि बढ़ायी जानी चाहिए । इसके लिए उत्पादकों के पास जाकर उन्हें कृषि भूमि में अपने निज के लिए और बेचने के लिए शाक उत्पादन की उपयोगिता समझानी चाहिए । देहातों का शाक बड़े नगरों में जल्दी पहुँच सके, ऐसी वाहन व्यवस्था यदि जुटाई जा सके तो इस लाभदायक कार्य को किसान पूरे उत्साह से कर सकते हैं । उसमें समाज के साथ-साथ उनका व्यक्तिगत लाभ भी तो जुड़ा हुआ है ।

इस संदर्भ में शाक-वाटिकाएँ लगाने की छोटी योजना और भी अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है । लकड़ी के बक्सों में, टोकरियों में, फूटे घड़ों के पेंदों में, घर-आँगन में छतों पर भी शाक-भाजी लगाई जा सकती है, जिनके पास घर के समीप थोड़ी खाली जगह है वे उसमें शाक- भाजी उगा सकते हैं । बच्चे और महिलाओं को थोड़ा उत्साह दिला दिया जाय और तरीका बता दिया जाय तो वे इस उपयोगी घरेलू उद्योग को सहज ही चलाते रह सकते हैं, घर के शाकों की आवश्यकता स्वयं सहज ही पूरा करते रह सकते हैं । सृजनात्मक-उत्पादक कार्यों में तत्परता उत्पन्न करना अपने आप में एक बड़ा काम है । समय और मन निरर्थक कामों में जाने की अपेक्षा एक उपयोगी दिशा में लगा रहे तो अच्छी-अच्छी आदतों का विकास होता है । साथ ही अपने घर में आये हुए टमाटरों का साग, अपने बोये धनिये, पोदीने, अदरक की चटनी बाजार से खरीद कर मँगाने की तुलना में बहुत स्वादिष्ट लगती है । उनमें अपनापन जो घुला रहता है । आत्मीयता और मनोयोग जुड़ा रहने के कारण उनका सूक्ष्म प्रभाव भी शरीर और मन पर बहुत अच्छा होता है ।

आर्थिक दृष्टि से यह छोटा कार्य बड़ा लाभदायक है । कई बार तो शाक-भाजी काफी कम होते हैं और उनके लिए काफी पैसा हर रोज खर्च करना पड़ता है, उसकी पूर्ति यदि घरेलू शाक-वाटिका के आधार पर कर ली

जाती है तो समझना चाहिए एक लाभदायक गृह उद्योग घर में चल पड़ा । इस उपयोगी प्रक्रिया को आरम्भ कराने-मार्गदर्शन करने, साधन जुटाने में यदि युग निर्माण परिवार के कार्यकर्त्ता अपने क्षेत्रों में निकल पड़ें तो नगण्य-सा दीखने वाला यह रचनात्मक काम जनता की आर्थिक, शारीरिक और मानसिक स्थिति में उपयोगी मोड़ ला सकने में समर्थ हो सकता है ।

फूलों के पौधे अपना निराला महत्त्व रखते हैं । वे खिलते हैं तो लगता है प्रकृति मुस्करा रही है, खिलखिला रही है यह प्रकृति के नन्हें-मुन्ने बालक अपनी सरल मुसकान से किसी भी भावुक हृदय की उदास और खिन्न मनःस्थिति को गुदगुदा सकते हैं । बालकों से खेलना और फूलों के साथ रहना उन्हें एक-सा लग सकता है, जिनके अन्तःकरण में भावुकता जीवित हो । फूलों की सुगन्ध, उत्कृष्ट प्राण वायु, शरीर का ही नहीं मस्तिष्क और अन्तःकरण का पोषण भी करती है । यों उन्हें बेचकर पैसा भी कमाया जा सकता है, वह न सही, मेजों पर गुलदस्ते, पूजा गृह में इष्ट देव को माला प्रियजनों को उपहार, घर की शोभा-सुसज्जा के लाभ ही क्या कम हैं ? इतना लाभ प्राप्त करने के लिए यदि घरों में, गमलों में, क्यारियों में कहीं भी आसानी से उग सकने वाले फूल बोये उगाये जा सकें तो अपना मन प्रसन्न होगा और उस सुरुचि सम्पन्नता का समीपवर्ती वातावरण पर भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा ।

तुलसी का पौधा धार्मिक दृष्टि से पवित्र और पूज्य माना जाता है, उसे देव संज्ञा में रखा गया है । आरोग्य शास्त्र की दृष्टि से तुलसी की वायु में मच्छरों को, सर्प-बिच्छू आदि हानिकारक जन्तुओं को दूर रखने का गुण है । अनुमान भेद में प्रायः सभी रोगों की यह घरेलू दवा है । तुलसी के पत्ते, फूल, बीज, छाल व लकड़ी, पाँचों ही अंग अपनी स्वास्थ्य संवर्द्धक और आध्यात्मिक विशेषताओं से भरे पड़े हैं । 'तुलसी के गुण' पुस्तक में विस्तारपूर्वक इसका उल्लेख कर दिया गया है । यहाँ तो हमें इतना ही समझ लेना चाहिए कि तुलसी के स्थूल गुण स्वास्थ्य संवर्द्धक हैं और उसका सूक्ष्म प्रभाव, सतोगुण की अभिवृद्धि के रूप में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । पंचद्रव्य में, प्रसाद में, प्रायश्चित में, देवराधन में तुलसी का समावेश उसकी सूक्ष्म विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही किया गया है ।

हमें घर-घर तुलसी की स्थापना करानी चाहिए और लोगों की धर्मश्रद्धा में उभार उत्पन्न करना चाहिए । यह वनस्पति जगत की ओर ध्यान आकर्षित करने वाला प्रथम चरण है । जड़ी-बूटियों के उत्पादन पर यदि ठीक प्रकार ध्यान दिया गया होता तो अपनी आयुर्वेद चिकित्सा संसार की सब पद्धतियों से आगे रही होती । लोग जड़ी-बूटियों के उत्पादन की उपेक्षा करते हैं । पंसारी कुछ की जगह कुछ सड़ी-गली, मुद्दतों की रखी हुई जड़ी-बूटियाँ बेचते हैं । वैद्य लोग उन्हीं से दवाएँ बनाते हैं, ऐसी स्थिति में वे लिखे हुए गुण कैसे दिखा सकती हैं । अन्न, शाक, फलों की तरह जड़ी-बूटियों की भी खेती की जानी चाहिए । तुलसी का आरोपण इस दिशा में प्रथम चरण है । हम ऐसे छोटे-छोटे रचनात्मक कार्यों को हाथ में लेकर अभिनव सृजन का प्रयोजन बूँद-बूँद करके घट भरने की उक्ति के अनुसार पूरा कर सकते हैं ।

वृक्ष सम्पदा को घटने न दें

वृक्ष-वनस्पतियों और पशु-पक्षियों समेत मनुष्य हरीतिमा के आधार पर जीवित रहते हैं । पशु घास खाते हैं और पेड़ों के पत्ते चरते हैं । मनुष्य का आहार अन्न के दाने, शाक, फल व वनस्पति है । यह खाने को न मिले तो जीवित रहना सम्भव नहीं । माँसाहारी भी-शाकाहारी प्राणियों का ही माँस खाते हैं । इस प्रकार जीवन की निर्भरता घास स्तर की तथा वृक्ष स्तर की वनस्पतियों पर ही निर्भर माना गया है । उसके उत्पादन और संरक्षण का पूरा ध्यान रखा जाय, तभी आवश्यकता की पूर्ति संभव है ।

वृक्ष दिन भर ऑक्सीजन उगलते रहते हैं और प्राणियों के साँस द्वारा छोड़ी हुई कार्बन-डाई-ऑक्साइड को निगलते हैं; इसलिए उन्हें नीलकंठ की उपमा दी गयी है । आग लगने तथा कारखानों से विषैली वायु निकालने का वायु प्रदूषण प्रायः वनस्पति द्वारा ही शोधित किया जाता है ।

वृक्षों का चुम्बकत्व आकाश से बादलों को खींचता है और बरसाने के लिए विवश करता है । जिन क्षेत्रों में वृक्ष कट जाते हैं, वहाँ वर्षा का अनुपात भी बहुत कम हो जाता है । लीबिया अब से १०० वर्ष पहले हरीतिमा से भरा हुआ था । तब वहाँ वर्षा भी खूब होती थी और घास के सहारे पशु भी पलते थे । इस बीच वहाँ के जंगल कट गये । कीमती लकड़ी योरोप चली गई । वीरान क्षेत्र में वर्षा बन्द हो गई और बहुत बड़ा इलाका रेगिस्तान बन गया । इस अभाव के कारण वहाँ कितनी दरिद्रता बढ़ी होगी, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है ।

वृक्षों की जड़ें जमीन में गहरी जाती हैं और वर्षा के प्रवाह में बह जाने से उसे रोके रहती हैं । वृक्ष न हों तो वर्षा का पानी न तो जमीन के भीतर रुकेगा और न पकड़ के अभाव में मिट्टी यथास्थान टिकी रहेगी, बहकर नदी-नालों में चली जायगी और भूमि की उपजाऊ ऊपर वाली परत न रहने पर न तो कृषि ठीक तरह फसल देगी और न जमीन घास-पात उगेगी । मिट्टी वर्षा के पानी के साथ बहकर जब नदी-नालों में जाती है, तो नदियों की सतह ऊपर उठती जाती है । गहराई कम होने पर पानी समतल भूमि में फैलता है और बाढ़ आने की स्थिति बन जाती है । इस बाढ़ में फसल बह जाती है और खेत कहीं से कहीं जा पहुँचते हैं, बालू-रेत से भर जाते हैं ।

यह हानियाँ साधारण नहीं, असाधारण हैं । इसके अतिरिक्त एक और भी बड़ी बात है कि हरीतिमा का मानसिक स्तर पर भी बड़ा प्रभाव पड़ता है । प्राचीनकाल

के ऋषि-तपस्वी अपनी भाव चेतना को उच्चस्तरीय बनाये रखने के लिए सघन वनों में रहते थे । वृक्षरहित क्षेत्रों में मनुष्यों की मनोवृत्ति नीरस और दुष्ट हो जाती है और वहाँ अपराध, विग्रह अपेक्षाकृत अधिक होने लगते हैं ।

वृक्षों की जड़ें नीचे जमीन में जाती हैं, तो अपनी पकड़ के कारण वर्षा का पानी उस भूमि में रोके रहती हैं, फलतः उस क्षेत्र में उगने वाले पेड़-पौधों को खुराक मिलती रहती है । यदि पेड़ न हों तो समतल भूमि का पानी सरटि से बहकर नदी-नालों में चला जाता है । जमीन एक-दो महीने में ही सूख जाती है । सर्दी के दिनों तथा गर्मी में पेड़-पौधों की जड़ें प्यासी रह सकती हैं फलतः वे सिंचाई का विशेष प्रबन्ध होने पर भी जीवित नहीं रहते हैं, अन्यथा प्राकृतिक रूप से उनका पालन-पोषण बन्द हो जाता है ।

कुओं का, झरनों का, तालाब-बावड़ियों का पानी तभी अधिक दिन टिकता है, जब पेड़ों की जड़ें ऊपर की सतह को गीली रखती हैं, अन्यथा कुएँ सूख जाते हैं, उनका पानी गहराई में उतर जाता है । इन कारणों से मनुष्य और पशुओं को पानी का त्रास सहना पड़ता है ।

वृक्षों के पत्ते तथा फूल ठंडक के दिनों में टूट-फूट कर जमीन पर गिरते हैं । वे सूखते और सड़ते रहते हैं, उनका खाद बनता रहता है । इस प्रकार जमीन को वृक्ष ऊपर से खाद बरसाते और जड़ों से दूर-दूर तक नमी रोके रहने के कारण पानी देते रहते हैं । हरीतिमा अपने आप बनी रहती है और नये पेड़-पौधे उगते-बढ़ते रहते हैं, किन्तु यदि वृक्षों को ईंधन या फर्नीचर के लिए बेहिसाब काटा जाने लगे और उनके स्थान पर नये पेड़ न उगें, तो उनके फलस्वरूप सारे क्षेत्र की भूमि ऊसर और खाली दीखने लगेगी । पुराने कटते चलें और नये उगाये न जायें, तो उस अभाव के कारण लकड़ी दिन-दिन कम होती चली जायेगी ।

पक्षी पेड़ों पर ही रहते हैं । वे कितने ही उपयोगी काम करते हैं । एक तो यह कि फसल को नष्ट करने वाले कीड़े-मकोड़े खाते रहते हैं और फसल की क्षति बचाते हैं । दूसरे यह कि अपने पंजों और पैरों के स्पर्श से जो पराग चिपका लेते हैं, उसे अन्य पेड़ पर बैठते समय मादा जाति के फूलों पर छिड़क देते हैं । फलस्वरूप उनको अच्छी तरह फलने का अवसर मिलता है । यदि पक्षी इस कार्य को न करें तो नर-पराग के अभाव में उनका फलना रुक जायगा । छोटे फूल-पौधों का पराग प्रत्यावर्तन मोरों, तितलियों, मधुमक्खियों द्वारा होता है । इसलिए फूलने के बाद वे फल और बीज भी देते हैं । यह कार्य पेड़ों के फूलने के समय पक्षी करते हैं । उनके फलने का बहुत कुछ श्रेय इन पक्षियों को ही है । पक्षी पेड़ों पर ही घोंसले बनाते हैं । वे दूर-दूर तक उड़ते हैं और अपनी बीट के साथ इन पर्वतीय एवं सुनसान क्षेत्रों में बीज गिरा देते हैं । फलतः उन क्षेत्रों में भी हरीतिमा उगने लगती है, जहाँ मनुष्य का आवागमन नहीं होता । समुद्री टापुओं में जो वृक्ष-वनस्पति पायी जाती है, उसे पक्षियों द्वारा बोया गया ही समझना चाहिए ।

अन्य पशु पेड़ों की छाया में ही सर्दी, गर्मी और वर्षा की भयंकरता से अपना बचाव करते हैं । इसलिए पेड़ न केवल पक्षियों के लिए वरन् पशुओं के लिए भी आश्रय-स्थल हैं । हिरन, लोमड़ी, खरगोश, सियार आदि जंगलों में ही खुराक एवं आश्रय प्राप्त करते हैं । उनके मल-मूत्र, हड्डी, चमड़ा आदि से वन-प्रदेश को कीमती खाद मिलती है और वह क्षेत्र सदा हरा-भरा रहता है । वन्य पशु जहाँ अपनी खुराक जंगलों से प्राप्त करते हैं, वहाँ बदले में उस क्षेत्र को कीमती खाद भी देते रहते हैं ।

सभी विचारशील देशों में प्रायः एक तिहाई जमीन वन लगाने के लिए छोड़ी जाती है । वे जानते हैं कि लकड़ी के लोभ में यदि उस क्षेत्र की सफाई कर डाली गयी और खेत बना लिये गये, तो इस छोटे लाभ के बदले जो हानि उठानी पड़ेगी वह कहीं अधिक होगी । जमीन की मिट्टी बह जायेगी और वहाँ खड्डे-खंदक पड़ जायेंगे । जिनमें चोर-डाकू मजे से आश्रय प्राप्त करते रहें । जमुना और चम्बल के इर्द-गिर्द पेड़ों को लगाने या बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया गया, फलतः किनारों के आस-पास ही लाखों एकड़ जमीन खड्ड-खंदक से भर गयी और उन इलाकों में छिपने की सुविधा होने के कारण डाकुओं की असाधारण बढ़ोत्तरी हो गई, उनके भय से खुशहाल किसान और व्यापारी जान बचाने के लिए शहरों में चले गये ।

दुधारू पशुओं को जंगल-चरागाह में चरने भेजते रहने की सुविधा होने पर एक ग्वाला बीसियों पशुओं को चरा लेता है और उनके लिए खुराक की अतिरिक्त व्यवस्था नहीं करनी पड़ती । जहाँ यह सुविधा नहीं है, वहाँ घर बाँध कर जानवर पालने पड़ते हैं और खरीदा हुआ चारा लेने पर वे बहुत महँगे पड़ते हैं । ठाली पशुओं एवं बच्चे जानवरों का परिपालन तो एक प्रकार से अति कठिन ही हो जाता है । फलतः वे कसाई के यहाँ चले जाते हैं । इस प्रकार पशु घटते जाने से बैल-गाय आदि सभी की कीमतें बढ़ती हैं और दूध-घी जैसे खाद्य पदार्थों के दाम आकाश चूमने लगते हैं । गरीबों के बच्चे इतना महँगा दूध न पा सकने के कारण अत्यन्त दुबले रह जाते हैं और अकाल मृत्यु का शिकार बनते हैं । यदि जंगल चरागाह बने रहते, तो पशुओं की इतनी कमी न पड़ती । दूध के अभाव में बच्चों को दुर्बलता, रुग्णता और अकाल मृत्यु का ग्रास न बनना पड़ता ।

कलकत्ता यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ एग्रीकल्चर के डॉ० टी० एम० दास वनस्पतिशास्त्र के विशेषज्ञ हैं, उनके अनुसार एक वृक्ष अपने ५० वर्ष के जीवनकाल में जितनी सेवा करता है, उसकी कीमत पैसे में जोड़ने पर पन्द्रह लाख से भी अधिक आती है । एक वृक्ष ५० वर्ष की अवधि में ढाई लाख रुपये की ऑक्सीजन देता है । भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने में ढाई लाख रुपये के बराबर की खाद जितनी सहायता करता है, प्रदूषण नियन्त्रण के रूप में

वायु प्रदूषक अवयवों की मुफ्त सफाई पाँच लाख रुपये के बराबर करता है । आर्द्रता रोकने, वर्षा करने तथा खाद्य प्रोटीनों की कीमत जोड़ने पर भी ५० वर्ष की अवधि में लगभग पाँच लाख रुपये की राशि आती है । १५ लाख रुपये के बराबर वृक्ष की परोक्ष सेवाओं का मूल्यांकन करके सामान्यतया लकड़ी एवं फलों से प्राप्त होने वाले कुछ सौ रुपये के रूप में उसकी कीमत आँकी जाती है ।

यह तो एक वृक्ष की बात हुई । प्रकृति प्रदत्त वृक्ष-सम्पदा से मिलने वाले कुछ भौतिक अनुदानों का लेखा-जोखा लेने पर ज्ञात होता है कि जितनी सेवा वे वृक्ष मुफ्त करते है, उतनी शायद मनुष्य भी न करता हो । प्राप्त आँकड़ों के अनुसार अपने देश में कुल भूभाग के २३ प्रतिशत क्षेत्र में वन हैं, जबकि पर्यावरण संतुलन एवं देश के आर्थिक विकास के लिए कुल क्षेत्रफल का एक-तिहाई भाग वनों से आच्छादित रहना आवश्यक है । भारत के वन-क्षेत्र २ लाख ७४ हजार वर्ग मील में फैले हुए हैं, जो ३८ खरब ७८ अरब ११ करोड़ २१ लाख ६० हजार वर्ग फीट के लगभग आता है । वर्ग फुटों में पेड़ों को गिना जाय, तो भारत के २३ प्रतिशत भूभाग में फैले हुए वृक्षों की संख्या १९ अरब ३९ करोड ५ लाख ६४ हजार ८ सौ होती है । एक वृक्ष ५० वर्ष की अवधि में ढाई लाख रुपये की ऑक्सीजन, ढाई लाख का उर्वरक, पाँच लाख रुपये के बराबर प्रदूषण निवारण तथा पाँच लाख रु० की वर्षा कराने जैसी उपलब्धियाँ प्रस्तुत करता है ।

पर्यावरण सन्तुलन के लिए कुल भूभाग के क्षेत्रफल का ३३ प्रतिशत वृक्ष-वनस्पतियों से ढँका होना चाहिए, कभी देश की ७० प्रतिशत भूमि वनों से आच्छादित थी । कटते-कटते वह मात्र २२ प्रतिशत शेष बची है । अनिवार्य-पर्यावरण सन्तुलन-सीमा से भी यह ११ प्रतिशत कम है । दूसरे प्रगतिशील देशो में कड़ाई के साथ वन-सम्पदा को नष्ट करने पर रोक लगा दी है । फिनलैण्ड में अब भी ६६ प्रतिशत भूमि में वन हैं । जापान जैसे औद्योगिक राष्ट्र जहाँ कि ईंधन की अधिक आवश्यकता उद्योगों के लिए पड़ती है, में भी ६२ प्रतिशत क्षेत्रफल पेड़-पौधों से हरा-भरा है । रूस के कुल क्षेत्रफल के ३४ प्रतिशत तथा अमेरिका में ३३ प्रतिशत भाग में वन हैं । सर्वाधिक अदूरदर्शिता का परिचय अपने देशवासियों ने दिया है । अन्धाधुन्ध वृक्षों की कटाई के कारण असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो गई । इस स्थिति को कड़ाई से रोकना होगा तथा संतुलन के लिए वृक्षारोपण जैसे पुनीत भौतिक और आध्यात्मिक लाभ देने वाले कार्य को अविलम्ब आरम्भ करना होगा ।

एक वृक्ष काटने से अधिक से अधिक एक हजार रुपये कीमत की जलाऊ तथा अन्य निर्माण योग्य लकड़ी प्राप्त होती है, किन्तु उसके बने रहने से प्रतिवर्ष ३० हजार की स्वच्छ ऑक्सीजन, उर्वरक, पानी और वायु प्रदूषण निवारण का लाभ प्राप्त होता है । कटाइ का अर्थ होगा लम्बे समय तक प्रतिवर्ष ३० हजार रुपये के लगभग का जो योगदान प्रकृति संतुलन के रूप में मिल सकता था, उससे वंचित रह जाना ।

वृक्षों की उपयोगिता और महत्त्वपूर्ण भूमिका का रहस्य उद्घाटन वैज्ञानिक विकास के समय हुआ । विश्व के मूर्धन्य वनस्पतिशास्त्री पर्यावरण विशेषज्ञ अब एक स्वर से स्वीकार कर रहे हैं कि वृक्ष सम्पदा पर समस्त मानव-जाति का अस्तित्व टिका हुआ है । ये प्रकृति के सर्वश्रेष्ठ प्रहरी हैं, जिनके न रहने से प्राणि-समुदाय का जीवन संकट में पड़ जायेगा । प्रगतिशील देशों ने इस तथ्य को समझा है तथा उन्होंने अपनी वन-सम्पदा को बचाने एवं बढ़ाने के लिए हर तरह के कारगर उपाय सरकारी एवं गैर-सरकारी स्तर पर आरम्भ कर दिये हैं ।

एक व्यक्ति के जिम्मे १२ वृक्ष आते हैं । एक तरीका यह भी हो सकता है कि हर परिवार अपनी पारिवारिक सदस्यों की संख्या के हिसाब से वृक्षारोपण का दायित्व उठावें । मात्र पौधा लगाने को ही इतिश्री न समझा जाय । इनमें पानी-खाद देने तथा वृक्ष के रूप में विकसित होने तक समुचित देख-रेख की जाय । देखरेख, सुरक्षा एवं परिपोषण की व्यवस्था न बन सकी, तो श्रम का अधिकांश भाग सरकारी प्रयासों की भाँति निरर्थक चला जायेगा और अन्तत: असफलता हाथ लगेगी । प्रत्येक परिवार अपने-अपने हिस्से का दायित्व सँभाल ले, वृक्ष लगाने और उं परिपक्व स्थिति तक पहुँचाने का काम चल पडे, तो कुछ ही वर्षों में अनिवार्य वृक्ष-सम्पदा को ३३% तक पहुँचाया जा सकता है ।

वैज्ञानिकों का एक और भी कथन है कि मौसम को सुव्यवस्थित रखने में वनों की महती भूमिका है । यदि पेड घटते जायेंगे, तो उस क्षेत्र का मौसम गड़बड़ाने लगेगा, वर्षा घट जायेगी और सर्दी-गर्मी अधिक पड़ने लगेगी, इसका मनुष्य के शारीरिक और मानसिक दोनों ही स्वास्थ्यों पर बुरा असर पड़ता है, पशु दुर्बल होते जाते हैं और उनकी श्रम शक्ति तथा दूध देने की क्षमता घट जाती है । दुर्बल और रोगी मनुष्य तथा बच्चे इस असंतुलन को बर्दाश्त नहीं कर पाते, फलत: उनके लिए जीवन संकट खड़ा हो जाता है । सर्दी से बचने के लिए ईंधन जलाने की आवश्यकता पड़ती है । इस प्रकार आर्थिक दबाव का एक कारण और भी बनता है ।

पूर्वजो की स्मृति में वृक्ष लगाना एक उच्चकोटि व श्राद्ध-तर्पण माना गया है । कोई माननीय व्यक्ति हमारे य आते हैं, तो उनके हाथों वृक्षारोपण की प्रथा है । इ प्रकार विवाह, पुत्र-जन्म, परीक्षा में उत्तीर्ण होने, कोई आर्थिक लाभ होने के उपलक्ष्य में वृक्ष लगाने का पुण्य कृत्य किया जाय, तो बहुत सराहनीय समझा जायेगा ।

औसत आवश्यकता के अनुसार ११ प्रतिशत वन क्षेत्र अपने देश में कम है, इसकी पूर्ति तब हो सकती है, जब हर आदमी १२ पेड़ लगाये; इसके लिए अपनी जमीन हो, तो सर्वोत्तम, न हो तो सरकारी सड़कों के सहारे, रेलवे लाइन के समीप जहाँ बेकार जमीन पड़ी हो, वहाँ अपने

श्रम से पेड़ लगाये जा सकते हैं, उनका स्वामित्व सरकारी रहे, तो भी हर्ज नहीं । ऊसर भूमि कितनी ही जगह पड़ी है । ग्राम-पंचायतों से पूछकर खाली जगह का इसके लिए प्रयोग किया जा सकता है । वन प्रदेशों में जहाँ लोगों ने पेड़ काट तो लिए हैं, पर फिर लगाये नहीं, वहाँ जाकर लगाने का प्रयत्न किया जाय और रखवाली के लिए बाड़ लगा दी जाय । गर्मी के दिनों में सिंचाई की एक-दो वर्ष आवश्यकता पड़ती है, फिर तो उनकी जड़ें गहरी चली जाती हैं और ये स्वावलम्बी हो जाते हैं ।

जो लोग स्वयं श्रम करके वृक्ष नहीं लगा सकते, वे पैसा देकर दूसरों का श्रम खरीद सकते हैं और यह कार्य दूसरों के माध्यम से करा सकते हैं; यों सरकार भी इस दिशा में कुछ काम कर रही है, पर उसी के भरोसे हाथ पर हाथ रखकर हमें नहीं बैठा रहना चाहिए, वरन् जन-स्तर पर भी जितना कुछ बन पड़े, अधिक से अधिक करने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए ।

ईंधन में खर्च होने वाली लकड़ी बचाई जाय

ईंधन की समस्या देखने में छोटी-सी चौका-चूल्हे से सम्बन्धित और महिलाओं से सम्बन्धित मालूम पड़ती है, पर वस्तुत: यह उतनी नगण्य नहीं है जिसे उपेक्षणीय ठहराया जा सके ।

जनसंख्या के साथ अन्न उत्पादन के लिए अधिकाधिक भूमि कृषि प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त की जा रही है । चारागाह, जंगल बंजर आदि कटते चले जा रहे हैं और उनमें उत्पन्न होने वाली जलाऊ लकड़ी का उत्पादन बराबर घट रहा है । दूसरी ओर इस लकड़ी की माँग बढ़ रही है, भोजन बनाने में अपने देश में लकड़ी ही काम आती है; जनसंख्या बढ़ेगी तो चूल्हे भी अधिक संख्या में और अधिक मात्रा में जलेंगे, फलस्वरूप जलाऊ लकड़ी का खर्च बढ़ना भी स्वाभाविक है । एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अब अपने देश की लकड़ी के उत्पादन में से आधा भाग जलाने के लिए लकड़ी एवं कोयले के रूप में ही खर्च हो रहा है; उत्पादन कम-खपत अधिक होने से जहाँ उसका भाव बढ़ता जाता है वहाँ देश वनश्री से रहित होता चला जा रहा है ।

यह अत्यन्त स्पष्ट है कि वन सम्पदा का विनाश-पशु हत्या और मनुष्य हत्या की तरह घातक है । कृषि, पशु, संरक्षण गृह उद्योगों की तरह अपने देश की सुख-समृद्धि के लिए वन सम्पदा की घटती को रोकना और वृद्धि के लिए हर सम्भव उपाय करना आवश्यक है पर इसमें सबसे बड़ी बाधा ईंधन में प्रयुक्त होने वाली लकड़ी की आवश्यकता ही सामने आती है ।

अन्य देशों ने इस खतरे को समझा है और उसकी रोकथाम के लिए कई उपाय निकाले हैं, हर घर में व्यक्ति का अलग-अलग चूल्हा जलाना ऐसा ही बेतुका समझा जाता है जैसे हर आदमी अपने लिए कपड़ा बनाने के लिए कपास बोने, सूत कातने, कपड़ा बुनने, सीने आदि का अपने लिए अलग-अलग प्रबन्ध करे । इसमें अन्धाधुन्ध शक्ति नष्ट होगी । यह सोचकर यह व्यवस्था बनाई गयी कि वस्त्र उत्पादन कारखाना, सिलाई का काम दर्जी और कपास उत्पत्ति किसान करे । इस प्रकार थोड़े लोगों के श्रम से अनेक लोगों की आवश्यकता पूरी होती रहेगी और उसके पास अन्य आवश्यक कार्यों के लिए समय बचता रहेगा; ठीक इसी दृष्टिकोण से इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ रहा है कि अलग चूल्हे न जलाकर एक जगह इकट्ठा ही बहुत लोगों को भोजन बना करे । इसमें अनेक लोगों का, अनेक बनाने वालों का समय बचता है और ईंधन की बचत तो स्पष्ट ही है ।

पंजाब में तन्दूरों की भट्टी मुहल्ले-मुहल्ले में लगी है । महिलाएँ घर से आटा ले जाती हैं और खड़े-खड़े उसकी रोटी बनवाकर ले आती हैं । विदेशों में भी ऐसा होता है । हर घर को धुएँ से काला करने की बात किसी के गले नहीं उतरती । कम्युनिस्ट देशों में इस प्रकार के सामूहिक भोजन प्रयोगों को 'कम्यून' कहा जाता है । बहुचर्चित, बहुप्रचलित शब्द 'कम्युनिस्ट' इसी सहकारी प्रवृत्ति की प्रधानता के कारण प्रकाश में आया है ।

दूसरे देशों में जलाऊ लकड़ी के स्थान पर दूसरे विकल्प बहुत दिन पहले से सोचे और खोजे गये हैं । पत्थर का कोयला, मिट्टी का तेल, गैस, बिजली, भाप जैसे अन्य माध्यमों से चूल्हा जलाकर लकड़ी के खर्च को रोका गया है; वन सम्पदा के विनाश को बचाया गया है । अपने देश में गोबर के उपले जलाकर बहुमूल्य खाद को बर्बाद करने की बात अभी थोड़ी-थोड़ी समझ में आने लगी है पर जलाऊ लकड़ी का विकल्प अभी नहीं सोचा गया है । सम्भवत: दूसरी चीजें महँगी पड़ती हों या मिलने में कठिनाई होती हो अथवा प्रयोग करना न आता हो । जो प्रचलन अभी इनका शहरी इलाके में ही जहाँ तहाँ है और उनका उत्पादन भी इतना अधिक नहीं है कि देहातों की भी आवश्यकता पूरी हो सके । अभी तो शहर में भी यह चीजें कम पड़ती हैं और राशन में कठिनाई के साथ मिलती हैं । स्थिति को देखते हुए इन विकल्पों का उपयोग बड़ी मात्रा में होने लगे और इसमें ईंधन में जलने वाली लकड़ी को बचाया जा सके यह कठिन प्रतीत होता है । गोबर से गैस बनाकर उससे भोजन बनाने, प्रकाश करने आदि का काम लिया जा सकता है और खाद ज्यों का त्यों बच सकती है । मनुष्य के मल से भी गैस बनाने की कई पद्धति निकल आई है । इनसे प्रचलित करके हमें ईंधन की बचत और वन-सम्पदा के लिए योगदान करना चाहिए ।

इस सन्दर्भ में अपने देश में उपयुक्त साधन ही सकता है-भाप । नये प्रेसर कुकर-पुराने स्टीम-कुकर जिन्होंने देखे, प्रयोग किये हैं वे जानते हैं कि इस तरीकों को अपनाकर कितने कम ईंधन में, कितना अधिक भोजन पक

सकता है । इस पद्धति का बहुत पहले से ही अपने देश में प्रचलन रहा है । जगन्नाथ धाम में चावल के बड़े-बड़े हण्डे (पात्र) एक के ऊपर एक पानी के साथ रख दिये जाते हैं । केवल एक बर्तन के नीचे आग जलती है और एक की भाप से दूसरा, दूसरे की तीसरा गरम होता रहता है और सभी हण्डे एक साथ पक जाते हैं । ऐसा ही प्रयोग अजमेर में ख्वाजा साहब की दरगाह में देखा जा सकता है; उर्स के दिनों में सैकड़ों मन चावल इसी प्रकार कम समय, कम स्थान और कम ईंधन में पकता है । यदि पकाने की इतनी बड़ी व्यवस्था प्रचलित ढर्रे के अनुसार अलग-अलग चूल्हों पर चलाई जाय तो वहाँ दस गुना ईंधन, समय, श्रम और स्थान खर्च करना पड़े ।

यह पद्धति बहुत सरल है । तेल वाले कनस्तर के पैंदे में थोड़ा पानी डालकर उसमें दाल, चावल, शाक आदि वस्तुएँ एक के ऊपर एक रखी जा सकती हैं और ऊपर से कनस्तर का ढक्कन बन्द किया जा सकता है, नीचे आग जला दी जाय । इसमें साज-सँभाल की भी जरूरत नहीं है, थोड़े ही समय में अपने ढंग से आप भोजन बनकर तैयार हो जायगा । भोजन बनाने वाली महिलाओं को लगातार चूल्हे पर बैठने की, आँखें फोड़ने और सिर गरम करने की आवश्यकता नहीं रहती । पकाने का तीन-चौथाई कार्य ऐसे ही सरलतापूर्वक एक चौथाई ईंधन में पूरा हो जाता है, केवल रोटी की समस्या रह जाती है । वैसे डबल रोटी की तरह, तन्दूर की तरह बड़ी भट्टी बनाकर बड़े तवे पर एक साथ कई रोटी बनाने की पद्धति से कम समय और कम ईंधन से अधिक लोगों की रोटियाँ बन सकती हैं पर छोटे परिवार के प्रथक निर्माण में शायद उससे काम न चले । अन्य वस्तुएँ पकाने में तो भाप की सहायता ली ही जा सकती है और यदि यह प्रचलन क्रियान्वित होने लगे तो जलाऊ लकड़ी का आधा खर्च कम हो सकता है । वन सम्पदा की रक्षा की दृष्टि से इतनी बचत इतने छोटे परिवर्तन से कम हो सके तो उसे नगण्य नहीं समझनी चाहिए, हर परिवार को इस प्रकार पैसे की बचत भी होगी ही ।

भाप के द्वारा भोजन बनाने में लकड़ी और समय की बचत से भी बढ़कर एक लाभ और यह है कि उसमें खाद्य पदार्थों के जीवन-तत्व नष्ट होने से बच जाते हैं । चूल्हे की वर्तमान क्रिया खाद्य पदार्थों की उपयोगिता को बेतरह नष्ट करती है, भाप से पकने पर यह भारी क्षति सहज ही बच जाती है । भाप से पकाने की पद्धति ईंधन की आर्थिक, वन-सम्पदा बचत व संरक्षण के साथ खाद्य पदार्थों के पोषक भाग की भी रक्षा करती हैं । अपने देश में इसका प्रचलन बढ़ाये जाने की इस दृष्टि से आवश्यकता है । पुराने ढर्रे के चूल्हों के स्थान पर सर्वोदय आन्दोलन द्वारा मगन चूल्हे का आविष्कार हुआ है, जिसमें प्रायः एक तिहाई ईंधन की बचत हो जाती है, हमें उसका बनाने और उपभोग करना सीखना चाहिए और घर-घर जाकर उसे सिखाना चाहिए ।

वे दो कदम जो इन्हीं दिनों उठें और बढ़ें

इन दिनों दो महान आन्दोलनों का जन्म हुआ है । वे मत्स्यावतार की तरह आरम्भ में बहुत छोटे प्रतीत होते हैं पर वह दिन दूर नहीं जब इनका असाधारण गति से विस्तार होगा, वे बीज से वृक्ष बनकर विकसित होंगे और रुकेंगे तब जब अपने महान लक्ष्य-'युग परिवर्तन' की अभीष्ट भूमिका पूरी तरह सम्पन्न कर लेंगे ।

इनमें से एक है-सतयुग की वापिसी अर्थात् प्राणवान प्रतिभाओं को खोजना, उभारना और नवसृजन के मोर्चे पर जुटा देना । बड़े काम उन्हीं प्राणवान प्रतिभाओं के द्वारा सम्पन्न हुए हैं जिनमें ओजस्, तेजस् और वर्चस की समुचित मात्रा विद्यमान है । जो परावलम्बी होकर नहीं जीते, जो संकीर्ण स्वार्थपरता से सम्बन्धित परिवार-पोषण जैसे तुच्छ कामों में ही सुरदुर्लभ मनुष्य जन्म गँवा नहीं देते, वरन् उनमें अपनी नाव खेने और दूसरों को उसमें बिठाकर पार उतारने की क्षमता होती है; ऐसे ही लोग देश, धर्म, समाज, संस्कृति जैसे उच्च स्तर पर विचार करते और उनमें अपनी क्षमताओं का नियोजन करते हैं । वे हैं तो अभी भी पर उन्हें खदानों में से खोजने का, मणि-मुक्तकों के स्तर का महान कार्य इन्हीं दिनों सम्पन्न हो रहा है । उन्हीं नर-रत्नों के द्वारा उन बहुमुखी क्रिया-कलापों का सूत्र-संचालन बन पड़ेगा जो समय की समस्याओं को हल करने के साथ-सार्थक कर्त्ता को नर से नारायण बन जाने जैसा श्रेय प्रदान कर सके । सतयुग की वापिसी का प्रथम चरण यही है ।

यों यह काम किसी रूप में चल तो बहुत समय से रहा था पर अब उसे पूर्ण व्यवस्थित बनाया जा रहा है । मिशन की पत्रिकाओं को निरंतर पढ़ने वाले लोगों में से अधिकांश का मानस इस स्तर का बन गया है कि उन्हें मात्र निर्वाह जुटाने तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, जो आत्मसंतोष, लोकसम्मान एवं दैवी-अनुग्रह की तीनों उपलब्धियों को हस्तगत करा सकें । ऐसे भावनाशीलों के राई-रत्ती समयदान, अंशदान भर के सहारे उतना कुछ बन पड़ेगा जिसमें बूँद-बूँद जोड़ने से घड़ा भरने की उक्ति पूरी तरह चरितार्थ हो सके । इस स्तर के लोगों को इन्हीं दिनों संगठित होने और परिस्थितियों के अनुरूप कुछ न कुछ निर्धारित क्रिया-कलापों में से करते रहने के लिए आमन्त्रित किया गया है । विचार-क्रान्ति से सम्बन्धित सभी प्रस्तुत क्रिया-कलाप ऐसे हैं जिन्हें व्यस्तता और अभावग्रस्तता की आड़ लेकर जी चुराने वाले भी सरलतापूर्वक सम्पन्न कर सकें । सामूहिक रूप से सामाजिक काम न बन पड़े तो अपने परिवार और मित्र परिवार की सहायता से भी उन्हें एक स्तर पर निरन्तर बिना किसी अवरोध के किया जाता रहा जा सकता है । जो अधिक उदार और अधिक साहसी हैं ये कुछ बड़े क्षेत्र

में भी युगचेतना का आलोक वितरण करने में संलग्न हो सकते हैं । सतयुग की वापिसी का प्रथम चरण यही है । आशा की गई है कि इस आह्वान पर हनुमानों, अंगदों, जामवंतों, जटायुओं से लेकर गोवर्धन उठाने में योगदान देने वाले ग्वाल-वालों का समुदाय एक छत्र-छाया के अन्तर्गत एकत्रित होगा । इसे दुराशा मात्र नहीं समझा जाना चाहिए कि रीछ-वानर फिर से संस्कृति की सीता को वापस लाने के लिए प्राण हथेली पर रखकर कार्यक्षेत्र में उतरें और वह सफलता प्रदान कर सकें जिसके सम्बन्ध में रावण काल के अनेकानेक समर्थ शासनाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष ही बगलें झाँकते और जान बचाते ही बैठे रहे ।

भावनाशील भले ही छोटे स्तर के हों पर वे निश्चित रूप से बड़े काम कर सकते हैं । बुद्ध के भिक्षुगण और गाँधी के सत्याग्रही पिछले ही दिनों असम्भव को सम्भव करके दिखा चुके हैं । इन प्रमाण उदाहरणों की साक्षी में यदि यह विश्वास किया जाये कि व्रतधारी प्रज्ञापुत्र इस बेतुके वातावरण को उलटकर रख देंगे तो इसमें किसी को भी कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिए ।

अभिनव योजना का दूसरा चरण है-अनीति उन्मूलन, यह भी उतना ही आवश्यक है जितना खेती से खर-पतवार उखाड़ना । उद्यान को चर जाने वालों से बचाना । निशाचरों से सजग रहना और आतंकवादी आक्रान्ताओं को परास्त करना । इन दिनों अनीति का हर क्षेत्र में बोलबाला है । लगता है उन सभी से एक साथ जूझ पड़ा जाये पर यह आवश्यक होते हुए भी व्यावहारिक नहीं है । व्यावहारिकता कहती है कि उलझी सूत की अन्टी का एक सिरा हाथ में लिया जाये और फिर उस खोलते चला जाये । गाँधीजी ने सर्वप्रथम अहिंसा सत्याग्रह हाथ में लिया था और उसका विस्तार होते-होते 'करो या मरो' की स्थिति तक पहुँचा गया था । हमें भी विरोध के लिए एक प्रथम अवलम्बन चाहिए और फिर उसका विस्तार करते-करते चिनगारी को दावानल बनाने की नीति अपनानी चाहिए ।

संव्याप्त अवांछनीयताओं में अत्यधिक विस्तृत और अत्यधिक भयावह है-आधी जनसंख्या की दुर्बलता, दुर्दशा, अवमानना । इसके कारण समूची मनुष्य जाति अर्द्धांग पक्षाघात रोगी की तरह अपंग बनी हुई है । आधा अंग मूर्च्छाग्रस्त और दूसरे अंग पर उसका भार वहन करने का दबाव यह स्थिति दोनों ही वर्गों के लिए नितान्त कष्टकारक और दुर्भाग्यपूर्ण है, उसे सुधारा और बदला जाना चाहिए । नारी अनादिकाल से मनुष्य वर्ग का वरिष्ठ पक्ष रही है, आदि शक्ति वही है; सृष्टि की रचयिता और पोषण प्रदान करने का श्रेय भी उसी को जाता है । व्यक्तित्वों का निर्माण उसी के साँचे में ढलकर होता है । परिवार के लिए सुख-समृद्धि का वरदान वही गृह लक्ष्मी के रूप में प्रदान करती है व साथी की अपूर्णता उसी के द्वारा पूर्ण की जाती है । अगली पीढ़ी किस स्तर की हो और क्या भूमिका सम्पन्न करे, इसका अधिकांश आधार जन्मदात्री तथा उसकी सहयोगी नारियों पर निर्भर है; पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक आदि अनेक पक्ष नारी जागरण के साथ जुड़ते हैं । प्रतिभावान वर्ग वर्तमान जनता में से ही उभर पड़े तो उसे देखते-देखते अनेक गुना वर्चस्व का जादू उत्पन्न हो जाने जैसा चमत्कार ही माना जायेगा । आज तो नारी वर्ग प्रायः सोने या लोहे की जंजीरों में ही जकड़ा हुआ है, इस उल्टी स्थिति को उलटकर सीधा कर देना नारी जागरण आन्दोलन को प्रभावी और प्रचण्ड बनाने से ही सम्भव है । इस तथ्य से सभी को अवगत होना और किया जाना चाहिए ।

प्रथम प्रयास में सतयुग की वापसी को कार्यान्वित करने के लिए पाँच-पाँच प्रज्ञापुत्रों के छोटे ट्रस्ट गठित किए जा रहे हैं ताकि वे टाँग-खिंचने के वर्तमान माहौल में अपने को बौना कर छोटे रूप में शान्तिपूर्वक कार्य कर सकें; अपने घनिष्ट परिकर के पाँच व्यक्तियों का गठन कर लेना किसी के लिए भी सम्भव हो सकता है । नवसृजन उनका लक्ष्य रहे और नियमित योगदान का क्रम चले तो समझना चाहिए कि पाँच से पच्चीस बनेंगे और पच्चीस को पाँच सौ या पच्चीस सौ तक विकसित होने का लम्बे समय तक प्रतीक्षा न करनी पड़ेगी । बीज और वृक्ष का उदाहरण यहाँ भी लागू होगा । इन मण्डलों को अभी भी यह काम सौंपा गया है । साप्ताहिक सत्संगों का क्रम चलाना भले ही वे नियमित स्थान पर होते रहें या बारी-बारी सदस्यों के घरों पर, किसने अब तक क्या किया है और भविष्य में कौन क्या करेगा ? इन प्रसंगों पर विस्तृत चर्चा इन सत्संगों में ही होती रहेगी और उभरे हुए उत्साह बिना साहस के सहारे इतना कुछ कर सकना सम्भव होगा जिसकी चर्चा करना इस अवसर पर किसी को दिवास्वप्न देखने जैसा भी प्रतीत हो सकता है ।

मिशन के साथ जुड़े हुए सभी परिजन इन्हीं दिनों पाँच-पाँच की मंडलियों में गठित हो जायें, संगठन का नाम प्रज्ञामंडल रखें; अच्छा हो यह पाँचों शान्तिकुञ्ज आकर अपनी घनिष्टता और सेवा-साधना की प्रतिभा सुनियोजित संस्कार के रूप में सम्पन्न करायें । महत्त्वपूर्ण व्रतों का धारण इसी प्रकार के वातावरण में सम्भव, सार्थक और सफल होता देखा गया है ।

दूसरा चरण नारी जागरण का है उसके लिए प्राणवानों को आगे बढ़कर अपने प्रभाव-क्षेत्र की प्रतिभाशाली पाँच महिलाओं को तलाशना, आन्दोलन से अवगत कराना और उत्साह देना और पाँच का महिला मण्डल गठित कर देना चाहिए । उन संगठनों को भी क्रियाशील रहने में साप्ताहिक सत्संगों के आयोजन की उसी प्रकार आवश्यकता पड़ेगी जैसी कि पुरुषों के प्रज्ञा मण्डलों के लिए अनिवार्य रखी गयी है । बीजारोपण ही पर्याप्त नहीं, अंकुरित पौधे को खाद-पानी भी मिलना चाहिए; संगठन को गति मान रखने के लिए उन्हें साप्ताहिक सत्संगों के माध्यम से ऊर्जा प्रदान करने वाली व्यवस्था चलानी चाहिए ।

यह संगठन क्रम हुआ, इसके अतिरिक्त एक क्रान्तिकारी आन्दोलन 'दहेज विरोधी अभियान' के रूप में इसी संगठन प्रयास के साथ आरम्भ किया गया है । सर्वविदित है कि दहेज, जेवर और धूमधाम वाली शादियाँ अपने समाज की आर्थिक कमर तोड़ कर रख दे रही हैं; जो कमाया जाता है शादियों के कुचक्र में फँसता रहता है, प्रत्यक्ष है कि खर्चीली शादियाँ हमें दरिद्र और बेईमान बनाती हैं । सुयोग्य कन्याओं का बिना विवाह के रह जाना, उत्पीड़न सहना और आग में जलाया जाना-जैसे अनाचार इस विवाहोन्माद की ही देन हैं । संगठित प्रज्ञा मण्डलों को मिल-जुलकर दहेज विरोधी आन्दोलन खड़ा करना चाहिए । उनका आरम्भ अपने घर-परिवार और प्रभाव क्षेत्रों में करना चाहिए । बाद में तो वह एक से अनेक होता हुआ वर्तमान भ्रष्ट परम्परा को रौंदते हुए एक आदर्श सुप्रचलन का रूप धारण करेगा ।

इस हेतु एक प्रतिज्ञा आन्दोलन चलाया जाना है, अभिभावक प्रतिज्ञा करें कि वे अपने पुत्रों का विवाह बिना दहेज-जेवर के नितान्त सादगी के साथ ही करेंगे, यही बात समझदार लड़की-लड़कों पर लागू होनी चाहिए । उन्हें भी इस प्रकार के प्रतिज्ञा पत्र भरने के लिए प्रभावित, प्रोत्साहित किया जाना चाहिए; इस प्रकार एक बड़ा परिवार जैसा बन जाये तो आदर्शवादिता को महत्त्व दे और इस कमर तोड़ दुष्टता का भरपूर विरोध करे । विरोध का एक आसान तरीका यह है कि धूमधाम वाली शादियों में सम्मिलित होने का बहिष्कार किया जाये । भले ही वे अपनी कुटुम्बियों, सम्बन्धियों के यहाँ ही क्यों न हो रही हों । यह विरोध भी चर्चा का विषय बनेगा और आगे चलकर लोगों को नये सिरे से सोचने के लिए विवश करेगा ।

इस संदर्भ में एक बात और भी सोची जा सकती है कि उपजातियों की कट्टरता को कम किया जाये और एक बड़ी जाति के अन्तर्गत शादियाँ करने की छूट पंचायत स्तर पर घोषित की जाये । यह पहला कदम आगे चलकर अपना दायरा और भी विस्तृत करेगा, अभी तो उपजातियों का बन्धन ही इतना बड़ा अवरोध बना हुआ है कि उस कारण योग्य लड़की-लड़कों को जोड़ा मिलना ही कठिन हो रहा है । उपजातियों की छोटी परिधि ही लड़कों की दहेज बोली बढ़ाने का एक बहुत बड़ा कारण है; यदि यही दायरा बढ़कर बड़ी जाति की सीमा में भी विस्तृत हो जाये तो भी लड़की-लड़कों की शादी-सम्बन्ध इतने कठिन न रहें जितने अब हैं ।

सतयुग की वापसी-विचारशील प्रतिभाओं का संगठन और उनका नवसृजन के लिए किसी स्तर का शुभारम्भ ।

नारी जागरण-अर्थात् नर-नारी के बीच समता और सहयोग के वातावरण का अभिनव निर्धारण जिसमें दोनों में से न किसी को दास माना जाये और न किसी को स्वामी । लड़की-लड़के के बीच भेदभाव न रहे । महिला वर्ग को शिक्षा, स्वावलम्बन, कौशल और स्तर की दृष्टि से पूर्ण मनुष्य बन सकने का आधार मिले । धूमधाम की शादियों का अन्त हो और वे नितान्त सादगी के वातावरण में बिना किसी खर्च के सम्पन्न हुआ करें, इस एक कुरीति पर एकजुट होकर प्रहार किया जाये तो इस आधार पर उभरा हुआ जनविवेक अन्य अनेकानेक कुरीतियों, मूढ़मान्यताओं, अवांछनीयताओं, अन्धविश्वासों तथा अनौचित्यों को भी अपनी चपेट में लेगा और एक-एक करके उन सभी को समाप्त करके रहेगा । अनीति विरोधी यह अग्नि प्रज्वलन विश्वव्यापी प्रभाव छोड़ेगा और ऐसा कुछ कर गुजरेगा, जिससे औचित्य का संस्थापन और अनौचित्य का उन्मूलन सम्भव होकर रहेगा तथा इसी प्रकार के कार्यों में देवत्व का उदय होगा और धरती पर स्वर्ग का वातावरण सम्भव हो सकेगा ।

प्रस्तुत शुभारम्भ के लिए युग सन्धि के पर्व काल में आज का दिन ही सर्वश्रेष्ठ मुहूर्त है; आरम्भ प्रज्ञा परिजनों से किया जाना चाहिए । वे एक से पाँच और पाँच से पच्चीस का क्रम अपनाते हुए समूचे देश और समूचे विश्व में अपना प्रभाव छोड़ेंगे । जहाँ जिस स्तर की अवांछनीयता है वहाँ उसी के अनुरूप कार्यक्रम बनाकर अपना कार्य आरम्भ करें । इस प्रयास का प्रतिफल कुछ ही दिनों में इस प्रकार देखा जा सकेगा कि हर क्षेत्र की मूर्धन्य प्रतिभाएँ युग परिवर्तन आन्दोलन में अपने साहस, साधन और कौशल का नियोजन करके इतने बड़े कार्य हाथ में लेंगी, जिनसे शुष्क वातावरण को नवसृजन के भव्य भवन में नये सिरे से खड़ा कर सकना सम्भव हो सकेगा ।

जिनके हाथ में भी मिशन की पत्रिकाएँ पहुँचती हैं, जो भी इन पत्रिकाओं को पढ़ते हैं, उन सभी से इस लिखने वाली लेखनी का अनुरोध है कि वे प्रस्तुत दोनों ही सामयिक क्रियाकलापों के सम्बन्ध में अपने विचार, प्रयास और सुझाव विस्तारपूर्वक शान्तिकुंज को लिख भेजें । इस आधार पर उन्हें केन्द्र से अधिक साहस, प्रकाश, मार्गदर्शन और सहयोग मिलेगा ।

नव संगठित प्रज्ञा-मण्डलों और महिला-मण्डलों को कहा गया है कि वे अपनी पाँच सदस्यों वाली मण्डली को शान्तिकुञ्ज पंजीकृत तो करायें ही । साथ ही वे अवसर मिलने पर हरिद्वार आकर विधिपूर्वक व्रत धारण भी करें और स्थिति के अनुरूप मार्गदर्शन भी प्राप्त करें ।

* * *

सामाजिक क्रान्ति क्यों और कैसे?

युग परिवर्तन का अन्तिम चरण-महासंघर्ष

सामाजिक प्रगति पर व्यक्ति की प्रगति निर्भर है। सामाजिक वातावरण यदि अच्छा होगा तो उसमें रहने वाले व्यक्तियों को भी टकसाल में ढलने वाले सिक्कों की तरह वैसा ही ढलते चलना पड़ेगा। बुरी रिवाजों और बुरी परिस्थितियों से भरे हुए समाज में, बुराइयों से भरे हुए निकृष्ट व्यक्ति ही उत्पन्न होते हैं। यदि वातावरण बदल दिया जाय तो उसकी छाप बचपन से ही पड़ना शुरू हो जाती है और उन्हीं संस्कारों में परिपोषित होते चलने के कारण मनुष्य का स्तर उन्हीं परम्पराओं के अनुरूप बन जाता है। नरभक्षी जंगली लोगों से लेकर, मल-त्याग कर जल शुद्धि न करने वाले भीलों तक, गाड़ियाँ लुहारों से लेकर जुर्म करके जिन्दगी बिताने वाले कंजड़ों तक जो अगणित प्रकार की अव्यवस्थाएँ फैली पड़ी हैं, उनका मूल कारण उस समाज की प्रचलित परम्पराएँ ही हैं।

यह ठीक है कि मनस्वी व्यक्ति अपने मनोबल से परिस्थितियों को बदलने और परम्पराओं को ठुकराकर नया मार्ग बनाने में समर्थ होते हैं पर ऐसे होते विरले ही हैं। सर्वसाधारण में न तो इतना मनोबल होता है और न विवेक। ये जिस वातावरण में रहते हैं, जो कुछ देखते, सुनते हैं उसे ही सर्वोत्तम मान लेते हैं और उसी का अनुकरण करने लगते हैं। ऐसी दशा में यह नितान्त आवश्यक है कि मनुष्यों में श्रेष्ठता एवं सज्जनता उत्पन्न करने योग्य सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाएँ। जब कभी यह परिस्थितियाँ बिगड़ जाती हैं तब उनका सुधारना आवश्यक होता है। आज वैसी अनिवार्य आवश्यकता सामने आ खड़ी हुई है। जिस समाज में हम रहते हैं उसे दो हजार वर्षों से अज्ञानान्धकार युग में भटकना पड़ा है। फलस्वरूप इतनी विकृतियाँ सामने आई हैं कि उनके कारण समाज का ढर्रा अनुपयुक्त मार्ग पर लुढ़कने लगा है। इसे सुधारा ही जाना चाहिए पर यह चंद व्यक्तियों को सुधार देने मात्र से संभव न होगा। इसके लिए सारा वातावरण ही बदलना पड़ेगा। समय-समय पर ऐसे परिवर्तन प्राचीनकाल में भी होते रहे हैं। आज भी वैसे ही समाज सुधार के, सामाजिक क्रान्ति के अभियान की आवश्यकता है। युग निर्माण योजना के माध्यम से वही किया जा रहा है।

नैतिक क्रान्ति व बौद्धिक क्रान्ति वैयक्तिक हैं, उनका दृश्य स्वरूप, बाह्य कलेवर, व्यावहारिक प्रयोग सामाजिक क्रान्ति के रूप में ही हो सकता है। उसकी पृष्ठभूमि में नैतिक एवं बौद्धिक परिवर्तन सन्निहित ही होगा, इनके बिना सामाजिक क्रान्ति संभव ही न होगी। अस्तु, यह मानना तो होगा कि सामाजिक क्रान्ति के माध्यम से हम नैतिक क्रान्ति एवं बौद्धिक क्रान्ति की आवश्यकता भी पूरी करते हैं। वर्तमान युग की यह सबसे बड़ी आवश्यकता है।

सभी जानते हैं कि पुरातन वस्तुएँ समय निकल जाने पर जीर्ण-शीर्ण और अनुपयुक्त हो जाती हैं तब उन्हें बदलना पड़ता है। शरीर को लीजिए-शैशव और प्रौढ़ता के दिनों में यह कितना सुन्दर लगता था पर वृद्ध होने पर न केवल कुरूप ही हो जाता है वरन् कष्ट भी देता है। तब भगवान् उस फटे-पुराने चोले को बदलकर नया वस्त्र प्रदान करते हैं। इमारतें पुरानी होने पर भी खोखली हो जाती हैं और गिरने-टूटने लगती हैं। तब उन्हें ढहा दिया जाता है और उसके स्थान पर नये भवन की नींव रखी जाती है। अनाज की फसल पक जाती है तब पौधे काटने ही पड़ते हैं। परिवर्तन ऐसा ही प्रकृति का सनातन नियम है। देह पर रोज मैल जमता है और रोज स्नान करना पड़ता है। कपड़े आये दिन मैले होते हैं और उनमें साबुन लगाना पड़ता है। दाँतों की सफाई रोज न करें तो उन पर चढ़ा हुआ मैल मुँह में बदबू उत्पन्न कर दे। कमरे में नित्य झाड़ू लगानी पड़ती है। माली अपने बगीचे के पौधों को काट-छाँटकर ही सुन्दर रख पाता है। किसान निराई न करे तो खरपतवार की बाढ़ ही अनाज के पौधों को न पनपने दे। काट-छाँट, परिष्कार और परिवर्तन की यह प्रक्रिया आध्यात्मिक भाषा में रुद्र कहलाती है। उत्पादन और अभिवर्द्धन के साथ, ब्रह्मा और विष्णु के साथ-यह काट-छाँट और विनाश की रुद्र प्रक्रिया भी अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। निर्माण के लिए कुछ विनाश भी करना पड़ता है। औचित्य की वृद्धि-अनौचित्य के विनाश के साथ सम्बद्ध है। सर्दी के कपड़े गर्मी में उपयुक्त नहीं रहते। समय बदल जाने पर कुछ तो प्रथा-परम्पराएँ ही आसामाजिक हो जाती हैं और कुछ क्रिया-कलापों से जीर्णता के कारण विकृतियाँ आ जाती हैं। सम्पर्क का क्रम निरन्तर जारी न रहे तो भी कूड़ा-करकट और सड़न का ढेर जमा हो जाता है। पिछले दिनों देर से सफाई नहीं हुई। हमारी विचार-पद्धति और जागरण-प्रक्रिया असामाजिक और जीर्ण-शीर्ण हो गई। विदेशी दासता और अवसाद भरी तमसाच्छन्न शताब्दियों ने हमें और भी अधिक पतनोन्मुख बना दिया। फलतः व्यक्ति और समाज की जो विकृतियों से भरी दशा इन दिनों हैं उसे परिवर्तित किये बिना काम नहीं चल

सकता। हम उस गति के कगार पर आ खड़े हुए हैं जहाँ से उलटे पैरों लौटने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं।

पतनोन्मुख प्रवाह को उलटना काफी कठिन होता है। पानी फैलाने पर वह नीचे की ओर अनायास चल पड़ता है। यदि ऊपर ऊँचा चढ़ाना हो तो इसके लिए अनेक कष्ट-साध्य उपकरण एकत्रित करने पड़ेंगे। गुलाब के उगाने में जितना श्रम पड़ता है, कँटीली झाड़ियों के साफ करने और उनकी गहरी जड़ें उखाड़ने में उससे अधिक ही प्रयत्न करना पड़ता है। जिनके मुँह हराम लग जाता है वे सहज ही अपनी आदत से बाज नहीं आते। जिनकी डाढ़ में खून का चस्का लग जाय, उसे समझा-बुझाकर आसानी से उससे विरत नहीं किया जा सकता। असुरता समझाने-बुझाने से नहीं मानती, उसे परास्त और निरस्त करने के लिए कुछ कड़े कदम उठाने पड़ते हैं। खटमल, पिस्सू, मच्छर और रोग-कीटाणुओं को अनुनय-विनय से नहीं सुधारा जा सकता। चोर, डाकू, हत्यारे, तस्कर और असुर भी बिना दंड भय के कब अपनी दुष्टता से रुकते हैं। इस संसार में असुरता की प्रवृत्तियाँ भी हैं ही। उनसे लड़कर शौर्य, साहस, पुरुषार्थ और पराक्रम का अभ्यास बनाये रहा जा सके इस दृष्टि से ईश्वर ने शायद कुछ उपयोगिता भी उनकी भी समझी होगी।

यहाँ सब कुछ ठीक-ठाक, सीधा-साधा, सरल-सुगम ही रहता तो सम्भव है लोग आलसी, अकर्मण्य, मन्दबुद्धि और हतप्रभ होकर ढीली-ढाली, नीरस जिन्दगी गुजारने के आदी हो जाते और व्यक्तित्वों में चमक, ऊष्मा तथा जागरूकता बनी रहने का आधार ही नष्ट हो जाता।

नवनिर्माण के पुण्य-प्रयोजन में अवांछनीयता के साथ संघर्ष करना ही पड़ेगा। सहज ही सब कुछ यहाँ कब हो जाता है। प्रगति पथ के अवरोधों के साथ पग-पग पर जूझते हुए ही लम्बी मंजिल पूरी कर सकना सम्भव होता है। व्यक्तिगत जीवन की विलासिता, दुर्बुद्धि, स्वार्थपरता और संकीर्णता से लेकर समाज के हर क्षेत्र में अनाचार, भ्रष्टाचार जड़ जमाये बैठे हैं, उन्हें बिना लड़े नहीं हटाया जा सकेगा। जहाँ सज्जनता के बीज मौजूद हैं वहाँ समझाने-बुझाने से, अनुनय-विनय से काम चल सकता है, पर जहाँ पशुता और असुरता ने गहराई तक जड़ें जमा ली हों वहाँ प्रतिरोध-संघर्ष के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। द्रोणाचार्य कन्धे पर धनुष-बाण और हाथ में धर्म-ग्रन्थ लेकर चल रहे थे। इन उपकरणों को धारण करने का कारण पूछा गया तो उन्होंने यही कहा सज्जनों के लिए शास्त्रों की और दुर्जनों के लिए शस्त्रों की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ ऋषि-मुनि और सन्त-ब्राह्मण सदा से धर्मोपदेश करके जनता को सन्मार्ग का दिग्दर्शन कराते रहे हैं, पर उन प्रयत्नों में एक सीमा तक एक वर्ग अथवा एक क्षेत्र में ही सफलता मिलती है। दूसरा एक बहुत बड़ा दुष्ट वर्ग ऐसा रह जाता है जो इस सतोगुणी माध्यम से प्रभावित नहीं होता उसे नियंत्रित करने के लिए प्रतिरोध अनिवार्य हो जाता है। भगवान के १० या १४ अवतारों की कथाओं से यही प्रकट होता है कि संघर्ष भी एक सच्चाई है जिसकी उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता। ऋषियों के धर्मोपदेश जिस क्षेत्र में अपना प्रयोजन पूरा करा नहीं पाते, वहाँ दण्ड की कठोर प्रक्रिया को सामने आना पड़ता है। सभी अवतारों ने उस असुरता से संघर्ष और उन्मूलन का क्रम अपनाया जो ऋषियों और सन्तों की पकड़-पहुँच से बहुत आगे बढ़ गई थी। इस स्थिति में जूझने और हराने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही शेष नहीं रह जाता।

नवनिर्माण योजना में ज्ञान और कर्म की, ब्रह्मा-विष्णु प्रयोजन की रीति-नीति पर पिछले पृष्ठों पर प्रकाश डाला जा चुका है। अब यह बताना शेष है कि इस प्रयोजन के लिए संघर्षात्मक रुद्र-प्रक्रिया का प्रयोग समन्वय कैसे किया जाना है। संघर्ष से डरने की जरूरत नहीं है। वह भी जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है। जहाँ से मनुष्य जन्म आरम्भ होता है वह गर्भाधान काल की रति-क्रिया एक प्रकार से संघर्ष रूप में ही सम्पन्न होती है। शिशु सहज ही धरती पर नहीं आ जाता। उसे प्रसव-काल में घोर संघर्ष करके ही बाहर आना पड़ता है। श्वास-प्रश्वास, अकुंचन-प्रकुंचन जैसी शरीर की सामान्य क्रियाओं को देखा जाय तो वे भी एक प्रकार से संघर्ष ही हैं। हृदय धड़कन को संघर्ष क्रिया के रूप में देखा जा सकता है, यह संघर्ष जिस क्षण बन्द हो जाय उसी समय मरण आ उपस्थित होता है। रोग-कीटकों से लड़ने की, उत्पन्न विषों से निष्कासन की क्षमता यदि शरीर खो बैठे तो उसका जीवित रह सकना सम्भव नहीं होगा। आक्रमणकारी शक्तियाँ संसार में उतनी अधिक हैं कि यदि उनसे आत्मरक्षा की प्रतिरोधात्मक व्यवस्था न की जाय तो कोई भी इस दुनिया में देर तक जीवित न रह सकेगा। राष्ट्रों को आत्म-रक्षा के लिए सशस्त्र सुरक्षा सेवा की व्यवस्था करनी पड़ती है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की सुरक्षा के लिए भी इसी प्रकार के प्रबन्ध करने पड़ते हैं। सीधी उँगली से घी कहाँ निकलता है। समुद्र ने तब तक रास्ता नहीं दिया जब तक लक्ष्मण जी ने सरोष धनुष नहीं ताना। चिड़ियों-कीड़ों और अन्य पशुओं से खेत को न बचाये रखा जाय तो किसान के घर में एक दाना भी न पहुँच पायेगा। प्रतिरोध भी एक अनिवार्य जीवन लक्ष्य है। उससे बचा नहीं जा सकता। डरने, भागने, बचने और घबराने से तो विपत्ति का दबाव और दूना हो जाता है। अनाचार के, अवांछनीयता के विरुद्ध सीना तानकर खड़े हो जाने और सन्तुलित मन रख कर न्यायपूर्ण संघर्ष के लिए हमें कटिबद्ध होना ही चाहिए। नव निर्माण जैसे प्रखर प्रयोजन के लिए तो इस प्रकार का साहस अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

वैयक्तिक जीवन में समाविष्ट कुत्साओं और कुण्ठाओं से जूझने के लिए हमें प्रायश्चित और आत्म-प्रताड़ना का शस्त्र काम में लाना चाहिए। आत्म-शोधन के लिए "हर दिन नया जन्म-हर रात नई मौत" का जो मन्त्र दिया गया

है यह अतिकारगर सिद्ध होता है। हमने स्वयं अपनी जीवन-साधना में इसी पद्धति का अवलम्ब किया और पवित्र से पवित्रतम बनते चले गये। अपनी अनुभूतियों के आधार पर ही आत्म-शोधन के इस साधन-क्रम को, हमने सबके सम्मुख प्रस्तुत किया था। दिनभर अपने शारीरिक एवं मानसिक क्रिया-कलाप पर दृष्टि रखनी चाहिए और देखना चाहिए कि उच्चस्तर से पैर कहाँ लड़खड़ाये। ओछे विचार और कार्य दोनों ही हेय समझे जाने चाहिए और बारीकी से सारे दिन आत्म-निरीक्षण करते रहना चाहिए कि कब, कहाँ, कैसे और क्या भूल हुई और क्यों अपना स्तर गिरा? ऐसा लेखा-जोखा नोट करते रहना चाहिए और रात को सोते समय दिन भर की भूलों का शारीरिक दण्डों के रूप में प्रायश्चित करना चाहिए। (१) कान पकड़ करउठना-बैठना (२) अपने आप चाँटे लगाना (३) अमुक समय तक खड़े रहना (४) सोने की अपेक्षा उतनी देर जागते रहना (५) भोजन में कुछ कटौती या उपवास, इस प्रकार आत्म-प्रताड़नाएँ अपने को देकर और अगले दिन वैसी भूलें न करने की चेतावनी देकर यह प्रायश्चित-प्रक्रिया हर रात को पूरी कर लेनी चाहिए। सवेरे उठते ही यह सोच लिया जाय कि आज का एक ही दिन जीवन है, रात सोने के साथ ही आज की मृत्यु हो जाएगी। इस एकदिवसीय जीवन को सर्वोत्कृष्ट रीति से जीने की दिनचर्या प्रातः ही बना ली जाय और दिनभर उसी क्रम से चलने में सावधानी बरती जाय तो निस्सन्देह वह दिन अधिक श्रेष्ठता के साथ बीत सकता है। न केवल नैतिक बुराइयों से बचने और अच्छाइयों के समावेश का क्रम दिनचर्या में जुड़ रहे वरन् निरन्तर व्यस्तता, निरालस्यता, कठोर परिश्रम, कार्यों का समय विभाजन आदि का भी इस तत्परता के साथ समावेश किया जाय कि एक क्षण भी आलस्य-प्रमाद में गुजरने न पावे, व्यस्त जीवन अनायास ही अनेक दुर्गुणों से बच जाता है। इस प्रकार शरीर को आलस्य-असंयम से, मन को दुर्बुद्धि और दुष्प्रवृत्तियों से बचाकर रखने की सतर्कता बरती जाय तो क्रमशः जीवन क्रम में उत्कृष्टता की मात्रा बढ़ती जाती है और महानता के पथ पर द्रुतगति से बढ़ चलने में सफलता मिलती जाती है। मन से, शरीर से उनकी बुरी आदतें छुड़ाने के लिए संघर्ष करना ऐसा पुरुषार्थ है, जिससे विजय प्राप्त करने के साथ प्रगति के प्रत्येक क्षेत्र में बढ़ चलना संभव हो जाता है।

परिवार निर्माण के लिए भी ऐसे ही संघर्ष की जरूरत पड़ती है। पत्नी-बच्चों को बड़े और छोटों को समुचित प्यार किया जाय और उनकी सुविधा का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय पर साथ ही कड़ी नजर इस बात पर रखी जाय कि परिवार का कोई सदस्य कुमार्गगामी, व्यसनी, दुर्गुणी एवं अनाचारी तो नहीं बन रहा है। यह छिद्र जहाँ दिखाई पड़े वहाँ रोकने और सुधारने का भी प्रयत्न करना चाहिए। स्नेह या सम्मान का मतलब यह नहीं कि मोहवश उन्हें उच्छृंखलता और अवांछनीयता अपनाने की खुली छूट दे दी जाय। यह पक्षपात आरम्भ में छोटा लगता है पर आगे चलकर जब बुरी आदतें परिपक्व हो जाती हैं तो सारे परिवार के लिए संकट उत्पन्न करती हैं। ये स्वयं दुःख पाते और समाज में अव्यवस्था फैलाते हैं। इसीलिए परिवार को सुखी और सन्तुष्ट रखने के साथ-साथ उसके हर सदस्य को सुसंस्कृत बनाने का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। बगीचे के लिए खाद-पानी जितना आवश्यक है उतनी ही उपयोगिता खरपतवार निराने तथा अस्त-व्यस्त टहनियों की काट-छाँट करते रहने की भी है। अपनी काया और मनोभूमि से लेकर घर-परिवार के सदस्यों तक हर क्षेत्र में श्रेष्ठता के अभिवर्द्धन और निकृष्टता के उन्मूलन के लिए जागरूकता और सतर्कता बरती जानी चाहिए। अनौचित्य जहाँ भी दीख पड़े उसे निराकरण का प्रयत्न किया जाना चाहिए। यह प्रयत्न चाहे प्रिय लगे चाहे अप्रिय, पर है आवश्यक। संघर्ष तो घर में भी होना चाहिए। गीता में भगवान के क्रूरकर्मा स्वजनों से भी झगड़ पड़ने की सलाह दी थी। विभीषण का भाई से असहयोग उचित ही माना गया। यह संघर्ष यथासम्भव मृदुल, सौम्य और स्नेहसिक्त रखा जाना चाहिए पर यदि अनिवार्य हो जाय तो असहयोग से लेकर सम्बन्ध-विच्छेद की सीमा तक जाया जा सकता है। अनीति के आगे सिर झुकाने अथवा अन्याय के साथ समझौता कर लेने की अपेक्षा तो इस प्रकार की कटुता भरा मार्ग अपना लेना भी बुरा नहीं है। हर हालत में औचित्य की रक्षा की जानी चाहिए और इसके लिए किसी को अप्रसन्न करना पड़ता हो तो इस विवशता को भी साहसपूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

रूढ़िवादिता और अनौचित्य के विरुद्ध संघर्ष बड़े-बूढ़ों से भी किया जा सकता है। बड़ों का आदर करना, उनकी सुविधाओं का ध्यान रखना तथा शारीरिक सेवा करना छोटों का कर्त्तव्य है और इस शिष्टाचार को हर हालत में निभाया जाना चाहिए। पर उनकी अनुचित इच्छाओं तथा आज्ञाओं से सहयोग करने से साहसपूर्वक इनकार भी कर देना चाहिए। बाल-विवाह के सम्बन्ध में अक्सर पुरातनपन्थी बहुत उत्सुक रहते हैं। गुड़ियों-गुड्डों जैसे बहू-बेटे उन्हें बहुत भाते हैं। अपनी रुचि के अनुरूप वे छोटी उम्र में बच्चों के विवाह रचाने लगते हैं। वे समझ नहीं पाते कि इसका क्या दुष्परिणाम इन विवाहित बालकों को भुगतना पड़ेगा और समाज पर उसका क्या बुरा प्रभाव पड़ेगा। ऐसी दशा में समझदार हों तो इन बालकों का अन्यथा कुटुम्बी, रिश्तेदारों और मित्रों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उस अनुचित कर्म को रोकें और बाल-विवाह को न होने देने में कुछ उठा न रखें। इसी कारण विरोध बँधता हो तो उसे प्रसन्नतापूर्वक सिर पर बाँध लेना चाहिए।

लालची अभिभावक अपने लड़कों पर लम्बी-चौड़ी दहेज की बोली चढ़ाते हैं। भले ही लड़की वाले को अपनी हड्डियाँ निचोड़ कर पैसा देना पड़े। इसी प्रकार कितने ही निर्लज्ज अभिभावक अपनी कन्याओं को पैसे लेकर बूढ़े अपंग अथवा कुपात्रों के हाथों ब्याह देते हैं। हर प्रकार के

वर-विक्रय और कन्या-विक्रय का पूरा विरोध किया जाना चाहिए। बालकों का माँस बेचने का यह व्यवसाय कसाईपन से भी घृणित ह। इसका डटकर विरोध होना चाहिए। ऐसे लड़के-लड़कियों को अपने अभिभावकों की बात मानने से दो टूक इनकार कर देना चाहिए। हर युवक को बिना दहेज का और पूर्ण सादगी तथा मितव्ययिता का विवाह करने पर ही आग्रहपूर्वक दृढ़ रहना चाहिए भले ही आजीवन कुँवारा रहना पड़े या अभिभावक असंतुष्ट हो जाएँ पर न्याय की रक्षा के लिए इस विरोध असन्तोष के लिए तैयार हो ही जाना चाहिए। अनीति पूर्ण आज्ञाओं का उल्लघंन एक विवशता है जिसमें उल्लघंनकर्त्ता को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। कैकयी की आज्ञा भरतजी ने नहीं मानी, हिरण्यकश्यपु की इच्छा प्रहलाद ने पूरी नहीं की। पाण्डवों को भाइयों तथा गुरुओं से लड़ना पड़ा। शंकराचार्य ने माता की इच्छानुसार गृहस्थ बनना स्वीकार नहीं किया, विभीषण का रावण से विमुख होना और राजा बलि द्वारा गुरु शुक्राचार्य के परामर्श की अवज्ञा कर देना यह बताता है कि अनुचित मार्ग पर चलने की बात यदि बड़े-बूढ़े कहें तो उसे स्वीकार करने से धर्म नीति और कर्त्तव्य पालन में तनिक भी हानि नहीं होती। माँस, शराब जैसे अभक्ष भोजन के लिए बड़े लोग दबावें तो भी उनके आदेश को नम्रतापूर्वक अस्वीकार करने की विवशता व्यक्त की जा सकती है। यही बात पति-पत्नी पर भी लागू होती है। आँखें बन्द कर किसी का भी आदेश शिरोधार्य नहीं किया जाना चाहिए। न्याय और औचित्य से रहित आज्ञा चाहे भगवान की भी क्यों न हो कर्त्तव्य धर्म का तकाजा है कि उसे अस्वीकार ही कर देना चाहिए। कोई उसे संघर्ष की संज्ञा दे तो कोई हानि नहीं। अपने-पराये का, छोटे-बड़े का भेद-भाव किये बिना हमें अनुचित को अस्वीकार करने की नीति ही अपनानी चाहिए। लाभ या भय से अनीति के साथ समझौता कर लेना मानवीय गरिमा को गिरा देना ही माना जाएगा। जिसे किसी बड़े पातक से कम नहीं गिना जाना चाहिए।

ऊँच-नीच, छूत, पर्दा, नारी-प्रतिबंध जैसी प्रथाएँ मनुष्यता को कलंकित करने वाली हैं। प्रश्न हिन्दू परम्पराओं का नहीं विश्व विवेक और मानवीय न्याय का है। किसी सम्प्रदाय या किसी देश में कोई अनुचित परम्परा चल पड़े इसका अर्थ तो यह नहीं होता कि वह बात उचित और न्यायसंगत भी ठहरा दी जाय। निष्पक्ष न्याय का तकाजा यही है कि प्रत्येक मनुष्य चाहे वह किसी भी देश जाति या लिंग में पैदा हुआ हो, मनुष्य ही गिना जाना चाहिए और उसके मूल अधिकार समान होने चाहिए। बुरा काम करने वाले को नीच और अच्छा काम करने वाले को ऊँचा माना जाय, इसकी तो कोई संगति है पर किसी वंश में या जाति में जन्म लेने के कारण कोई नीच या ऊँच हो सकता है यह सर्वथा असंगत बात है। इसी प्रकार स्त्री और पुरुष के बीच खड़ी की गयी दीवार सर्वथा अन्याययुक्त है। घूँघट, पर्दा, वैधव्य, पुनर्विवाह आदि के प्रति बंधन यदि उचित है तो नर-नारी दोनों पर समान रूप से लागू होने चाहिए, यदि अनुचित हैं तो दोनों पर से हटने चाहिए। इसी प्रकार कन्या और पुत्र के बीच बरता जाने वाला भेदभाव किसी भी दृष्टि से न्यायसंगत नहीं है। यह मूढ़-मान्यताएँ हिन्दू समाज में गहराई तक जड़ जमाये बैठी हैं, इन्हें उखाड़े बिना कोई राह नहीं। आधी जनसंख्या और एक तिहाई नागरिक अछूत बने हुए तिरस्कृत, बहिष्कृत द्वितीय श्रेणी के नागरिक बने रहें, यह देश के लिए आत्मघाती नीति है। यों कानून ने समानता प्रदान कर दी है पर इससे क्या बनता है। जब तक उसे व्यवहार में न लाया जाय तब तक बेचारा कानून क्या करेगा। कानून तो हर बुरी बात के विरुद्ध बना हुआ है। रिश्वत देने और लेने वाले दोनों ही कानून से दण्ड के भागी हो सकते हैं पर इससे क्या बना। रिश्वतखोरी ने इतनी गहरी जड़ें जमा ली हैं कि अब कोई साधारण-सा काम भी बिना रिश्वत दिये कराया नहीं जा सकता।

इन मूढ़-मान्यताओं के विरुद्ध एक गृह-युद्ध जैसा सामाजिक मोर्चा खड़ा करना होगा । एक ओर मूढ़-मान्यताओं के पोषक परम्परावादी होंगे। दूसरी ओर प्रगतिशील न्यायनिष्ठ। विवाह-शादियों में होने वाला उन्मादियों जैसा खर्च तथा दहेज मिटाने का प्रयत्न न किया गया तो देशव्यापी गरीबी, बेईमानी और बर्बादी को रोका न जा सकेगा। मृतक भोज के साथ केवल बर्बादी ही जुड़ी हुई है, पर उसे पंच चौधरियों के दबाव से करना सब को पड़ता है। इन कुरीतियों के विरुद्ध लेखों से काम न चलेगा वरन् रूढ़ियों से खुलकर टक्कर लेनी पड़ेगी। इस संदर्भ मे विरोध, बहिष्कार, असहयोग, सत्याग्रह, घिराव जैसे प्रतिरोधात्मक अस्त्र उपयोग में लाने पड़ेंगे। प्रत्येक जाति में उपजातियों का जो जाल बिछा पड़ा है उसे तोड़ने के लिए तो तत्काल कदम उठाये जाने चाहिए और प्रत्येक जाति को एक ऐसी प्रगतिशील सभा बनानी चाहिए, जो उपजातियाँ मिटाने के लिए प्रभावशाली तरीके से काम करना आरम्भ कर दें।

व्यावसायिक क्षेत्र में मिलावट, कम तोलना, कम नापना, बढ़िया बताकर घटिया चीज देना, कीमतों के बारे में मोलभाव करना, अधिक मुनाफा जैसी व्यापार की स्वाभाविक रीति-नीति बन गई है। इस अप्रमाणिकता को लेकर किसी देश का व्यापार पनप नहीं सकता और ग्राहक को पग-पग पर ठगे जाने और पछताने की प्रताड़ना सहनी पड़ती है।

सरकारी दफ्तरों में रिश्वत का बोलबाला ऐसा है कि बिना अंटी गरम किये समय बर्बाद करने और इधर-उधर टक्करें मारते फिरने की परेशानी ही पल्ले पड़ती है। धर्म-ध्वजी लोग मुफ्त का माल चरते रहना अपनी बपौती मानते हैं। समाज-सेवा की बात सुनते ही जूड़ी आती है, यह थोड़ा गहराई तक प्रवेश करके आसानी से जाना जा सकता है। यों हर वर्ग में भलेमानस भी होते हैं और अभी भी हैं पर उनकी संख्या नगण्य रहने से सर्वत्र अंधकार ही

अंधकार दीखता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी देश-देश के बीच, जाति-जाति के बीच यही स्वार्थ संघर्ष चल रहे हैं और विश्व शांति की गर्दन पर विश्व युद्ध की नंगी तलवार लटक रही है।

पुराने जमाने में राक्षस शरीरधारी होते थे और उनसे लड़ना सरल पड़ता था अब तो असुरता का पिशाच सर्वग्राही, सर्वव्यापी, सर्वभक्षी बनकर सर्वत्र समाविष्ट है। अनाचार के इस निराकार महादैत्य से जूझना है तो कठिन, पर लड़े बिना कोई मार्ग भी तो नहीं। नवयुग लाने के लिए इस सर्वव्यापी दानव से पग-पग पर लड़ना पड़ेगा।

अपने आप में, परिवार में, पड़ौस में, नगर-समाज, देश और विश्व में अनीति की जो बाढ़ आई हुई है उस पर बाँध बनाने के लिए गोवर्धन उठाने में सहायक ग्वाल-वालों की तरह हमें भी लाठी का सहारा देना होगा। संस्कृति की सीता को भौतिकता के महादैत्य से छुड़ाने के लिए हमें रीछ-वानरों की भूमिका प्रस्तुत करनी पड़ेगी। जहाँ व्यक्तिगत रूप से काम चले वहाँ एकाकी लड़ा जाय। समूह में उलझने के लिए संगठन शक्ति चाहिए सो उसके लिए युग सेना का संगठन करना चाहिए। अपराध और अनाचार के, अन्याय और अविवेक के, मूढ़ता और दुष्टता के हर मोर्चे पर लड़ने के लिए हर जगह ऐसे शूर, साहसी चाहिए जो असुर से टकराने में जो चोट लगती है उसे खुशी-खुशी सहने के लिए तैयार होकर आगे आयें। ऐसी संघर्ष टोलियाँ हर जगह होनी चाहिए।

प्रदर्शन, प्रतिरोध, बहिष्कार, असहयोग, धिक्कार, सत्याग्रह, घिराव, अनशन जैसे समस्त विश्व में लड़े जाने वाले भावी महाभारत के प्रमुख रूप से प्रयुक्त होंगे। कहाँ, किस मोर्चे पर किस शस्त्र का किस यात्रा में कैसे उपयोग किया जाय यह संघर्ष नायक की सूझ-बूझ तथा स्थिति के अनुरूप रण-कौशल पर निर्भर रहेगा, अभी से उसकी सुनिश्चित रूपरेखा अथवा संहिता नहीं बन सकती, पर तैयारी इसकी अभी से करनी चाहिए। अपने सामान्य काम-काज करते हुए स्थानीय अनाचार से लड़ने के लिए स्वल्प समय दे सकने वाले तथा छावनियों में रहकर पूरा समय लगाने और पूरी चोट खाने को प्रस्तुत पूरा समय देने वाले सत्याग्रही दोनों की ही आवश्यकता पड़ेगी। जिसकी भर्ती तथा व्यवस्था अभी आरंभ की जानी चाहिए।

राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए युद्ध पिछले दिनों प्रचारात्मक, रचनात्मक तथा संघर्षात्मक मोर्चों पर किस तरह लड़ा गया था, इसका विवरण जिन्हें ज्ञात हो उन्हें यह भी जानना चाहिए कि युग परिवर्तन का संघर्ष उससे अनेक गुना बड़ा होगा। पहले एक ही राजनैतिक क्रान्ति की तीन मोर्चों पर लड़े जाने की तैयारी है। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम केवल अपने ही देश तक सीमित था, यह अविवेक और अनाचार के विरुद्ध संघर्ष विश्वव्यापी होगा। इसीलिए इनका स्वरूप एवं विस्तार भी इसी अनुपात से बड़ा होगा। इस महाभारत का नेतृत्व भगवान करेंगे, आह्वान हम सबका भी किया जा रहा है। सो रीछ-वानरों की तरह योगदान देने के लिए साहस इकट्ठा करने और त्याग-बलिदान की भावनाओं को परिपक्व करना अभी से आरम्भ कर देना चाहिए।

भगवान् परशुराम ने प्रचंड तप करके शिवजी से परम् तेजस्वी ब्रह्म परशु प्राप्त किया था और उससे समस्त पृथ्वी के विकृत मस्तकों को काटकर धराशायी कर दिया था। लगता है उससे भी उग्र एक महाक्रान्ति फिर इस संसार में अवतरित होने जा रही है। यह दावानल अनेक क्षेत्रों में, अनेक रूपों में, अनेक नेतृत्वों में, अनेक नामों से अनेक प्रयोजन लेकर फूटेगा। स्वरूप उसके कुछ भी बनें। श्रेय उसका किसी को भी मिले पर निस्सन्देह भावी महाभारत होकर रहेगा और उसका स्वरूप क्रमशः बनता-निखरता चला आ रहा है। विश्व का यह अन्तिम युद्ध होगा। इसमें शस्त्रों की लड़ाई गौण और विचारों की प्रधान होगी, नव-निर्माण के विचार इतने प्रखर होंगे कि उनके आगे अवांछनीयता ठहर न सकेगी, भले ही वह आज कितनी ही विशाल और समर्थ क्यों न दिखाई पड़ रही हो। युग परिवर्तन की इस महान् सम्भावना में हमारा स्थान क्या हो, इसकी तैयारी में लग जाने का ठीक यही समय है। युग निर्माण योजना के इस अन्तिम संघर्ष चरण को पूरा करके ही मनुष्य में देवत्व के उदय और धरती पर स्वर्ग का अवतरण संभव हो सकेगा, सो उसकी पूर्ति के लिए हमें तैयार और तत्पर होना चाहिए।

सामाजिक क्रान्ति और उसका आधार

नारी के शरीर और मन का एक अंश लेकर बालक जन्मता है, इसीलिए उस पर अपनी माता की प्रायः सारी सूक्ष्म विशेषताएँ एवं आस्थाएँ आजीवन बनी रहती हैं। यों पिता की भी एक बूँद शिशु-जन्म का कारण होती है। पर गर्भस्थ बालक में सारा रक्त-माँस तो माता के शरीर से ही आता है। मनोविज्ञानशास्त्री जानते हैं कि पाँच वर्ष की आयु तक बच्चे अपनी आधी सांस्कृतिक पढ़ाई पूरी कर चुकते हैं। यह प्रशिक्षण माता की गोदी तथा समीपता में ही होता है। पिता द्वारा बच्चों के लिए शिक्षा, भरण-पोषण आदि की व्यवस्था जुटाई जाती है, पर ऐसा अवसर कभी कहीं ही आता है कि पिता सारे दिन बच्चों को साथ रखकर उन पर संस्कार डाले।

सुभद्रा ने गर्भकाल में ही अभिमन्यु को चक्रव्यूह विद्या से परिचित और प्रशिक्षित करा दिया था। मदालसा ने अपने बच्चों में से जिसे चाहा वैसे गुण, कर्म, स्वभाव का बनाया था। यह बात प्रत्येक माता के ऊपर समान रूप से लागू होती है। टकसाल की तरह यह अपने साँचे में ही बालकों की मनोभूमि को ढालती रहती है। इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि महापुरुषों की महत्ता का निर्णय करने में प्रधान श्रेय उनकी माताओं का ही था।

पिछले दिनों भारत की नारी को बड़ी दुर्गति का सामना करना पड़ा है। उसका स्तर रमणी, कामिनी, बन्दी एवं उपेक्षिता का रहा है, पग-पग पर उसे लांछन, तिरस्कार, प्रताड़ना, पराधीनता, असंतोष, घुटन एवं कुण्ठाओं का सामना करना पड़ा है। फलस्वरूप वह अपनी सारी आध्यात्मिक विशेषताएँ खो बैठी और मानव आकृति होते भी गये-गुजरे हीन प्राणी का जीवन बिताती रहीं। ऐसे उद्गम से उपजे हुए बालक उत्कृष्ट व्यक्तित्व के बन सकेंगे इसकी आशा भी कैसे की जा सकती है?

मैसूर का चंदन, पंजाब का गेहूँ, नागपुर का सन्तरा, बम्बई का केला, लखनऊ का खरबूजा प्रसिद्ध है। यह भूमि की विशेषता है, बीज की नहीं। इन्हीं वस्तुओं के बीज अन्य प्रदेशों में बोये जाएँ तो वैसे गुणवान् न होंगे। बालकों की शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक स्थिति में माता प्रधान कारण होती है। आज हमारा समाज गये-गुजरे व्यक्तियों से भरा पड़ा है। इसका कारण मातृ-शक्ति की दुर्दशा ही एक प्रमुख कारण माना जा सकता है।

मनुष्य को अधिक विकसित एवं सशक्त बनाने के अनेक प्रयत्न चल रहे हैं पर उनमें सफलता नहीं के बराबर ही मिल रही है। शिक्षा, धन, चातुर्य, कला, कौशल एवं प्रसाधन तेजी से बढ़ रहे हैं पर मनुष्य का अन्तःकरण अपेक्षाकृत अधिक गया-गुजरा ही बनता जाता है, गीता, रामायण आदि ग्रन्थ प्रेस की सुविधा से लाखों की संख्या में छपते हैं, इन्हें खरीदते और पढ़ते भी बहुत लोग हैं, धर्मोपदेशकों और नेताओं की बाढ़ आई हुई है। व्याख्यान और प्रवचनों के आयोजन होते ही रहते हैं। प्राचीनकाल में इतने साधन न थे तो भी लोग धर्मोपदेशों को जितना सुनते थे उतना ही ग्रहण भी करते थे। शास्त्रों और सन्तों की बात प्रमाण मानी जाती थी, पर आजकल तो यह सब मनोरंजन मात्र बनकर कहने सुनने की विडम्बना समझी जाती है। चिकने घड़े पर पानी की बूँद नहीं ठहरती इसी प्रकार हीन स्तर की मनोभूमि पर स्वाध्याय और सत्संग का भी बहुत थोड़ा प्रभाव पड़ता है। बाहर से बहुत धर्मात्मा दीखने वाले भी भीतर से खोखले ही बने रहते हैं। इसमें मूल कारण वह मिट्टी ही है। जिसके द्वारा उनके शरीर और मन का निर्माण हुआ होता है। इस स्थिति के रहते उत्कृष्ट व्यक्तियों के निर्माण और उनके द्वारा आदर्श परम्पराओं की स्थापना करने वाले सत्कर्मों की आशा न्यून ही बनी रहेगी। आज की सबसे बड़ी कठिनाई यही है।

मनु भगवान् का कथन अक्षरशः सत्य है कि जहाँ नारी की पूजा होती है। वहीं देवताओं का निवास होता है। हमें अपना समाज देव समाज बनाना है, इसलिए नारी पूजा की सनातन परम्पराओं को हमें पुनः प्रतिष्ठापित करना होगा। रेतीली मिट्टी से न तो अच्छे खिलौने बनते हैं न टिकाऊ बर्तन। उसके लिए सबसे पहले चिकनी मिट्टी की व्यवस्था करनी होती है। हमें भी नारी का गौरव जन मानस में स्थापित करने के लिए नई पीढ़ी को युग निर्माण योजनाओं के अनुसार अपने साथ चलने की क्षमता सम्पन्न विनिर्मित करना होगा। हमारी सामाजिक क्रान्ति की मूल यही प्रक्रिया होगी।

गायत्री उपासना में ईश्वर को नारी रूप में प्रतिष्ठित करके एक किशोर युवती की छवि में अपनी समस्त श्रद्धा उड़ेल देने की साधना-क्रम हम लोग अपनाये हुए हैं। इससे मूलतः नारी को ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप मानने की आध्यात्मिक प्रतिष्ठापना ही प्रमुख कारण है । माता का प्रेम ईश्वर के प्रेम का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप पृथ्वी पर देखा जा सकता है। पत्नी का त्याग एवं समर्पण, बहिन की ममता, पुत्री को कोमलता के रूप में अध्यात्म की उच्च अनुभूतियों का साक्षात् दर्शन किया जा सकता है। नर की अपेक्षा नारी में असंख्य गुना अध्यात्म तत्त्व है। इसलिए उपासना का माध्यम हमने नारी तत्व को माना है और ईश्वर की समीपता का, छवि का माध्यम नारी शरीर को माना है। गायत्री उपासना का वर्तमान स्वरूप एक सामाजिक क्रान्ति का ही द्योतक है। जबकि ईश्वर की प्रतिमा हर जगह पुरुष के रूप में दिखाई पड़ती है तब नारी का गौरव नर से अधिक सिद्ध करने के लिए नारी रूप गायत्री उपासना का महत्त्व निश्चय ही बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्राचीनतम काल में गायत्री उपासना ही मुख्य थी। नवीन को प्राचीन के अनुसार बनाने के लिए हमें भी यही करना पड़ रहा है।

नवरात्रियों के अनुष्ठानों के अन्त में कन्या पूजन, कन्या भोजन की परम्परा इसी आध्यात्मिक मान्यता को परिपुष्ट करती है कि नारी में उत्कृष्टता का तत्त्व नर की अपेक्षा अधिक मात्रा में विद्यमान है। अतएव उसके प्रति श्रद्धा और सद्भावना के नत-मस्तक रहने पर ही हमें आत्मिक प्रगति के लिए आवश्यक प्रकाश मिल सकेगा। अनुष्ठानों के दिनों में ब्रह्मचर्य से रहने की अनिवार्य शर्त का सूक्ष्म कारण यही है कि नारी की रमणी एवं कामिनी के कुत्सित स्वरूप में कल्पना तक न की जाय। इन भावनाओं को सजीव रखकर ही कोई अनुष्ठान या तप पूरा हो सकता है। गाँधीजी गृहस्थ जीवन की पवित्रता के दृष्टिकोण पर चलाने का प्रतिपादन बड़ी तीव्र भावनाओं के साथ करते थे। नारी के प्रति हमारा कुत्सित दृष्टिकोण न बदला, मन के प्रति हम लालची बने रहे तो महानता की ओर हमारे कदम कहाँ बढ़ पावेंगे? कंचन और कामिनी यह दो ही तो माया की विद्रूप विभीषिकाएँ हैं। इन ताड़का और पूतनाओं के रहते धर्म-राज्य या सतयुग की स्थापना कैसे संभव होगी? हमारी सामाजिक क्रान्ति में नारी के प्रति पूज्य भाव और धन के प्रति सामूहिक धरोहर का भाव रखकर ही चलना होगा।

पतिव्रत धर्म की ही भाँति पत्नी-व्रत का महत्व और माहात्म्य प्रतिपादित करना ही होगा। हमारी प्राचीन एवं सनातन मान्यता यही है। पतिव्रत धर्म पालन करने से नारी को जो-जो पुण्य और आध्यात्मिक लाभ मिल सकते हैं वे सभी लाभ पुरुष को पत्नी-व्रत धारण करने से मिलेंगे यह मान्यता हमें जन-मानस में गहराई तक प्रतिष्ठित करना है। जिस प्रकार अन्धे, बहरे, क्रोधी, दीन पति को भी देवता

के समान मानकर उसकी सेवा करने का शास्त्रों में विधान है, उसी प्रकार यह विधान भी मौजूद है कि अग्नि देवता को साक्षी देकर जिस पत्नी को अपनाया गया है उसे अर्धाङ्गनी मानकर आजीवन निवाहना चाहिए और उसमें जो भी कमियाँ हों उन्हें किसी प्रकार निवाहना चाहिए। लोगों ने आधी बात याद कर ली है आधी भूल गये हैं। पतिव्रत धर्म की महिमा गाई जाती है पर पत्नी-व्रत को दबा दिया गया है। हमारी सामाजिक क्रान्ति का स्वरूप यह है कि परिवार को स्वयं बनाने वाले इन दोनों ही आधारों को-पतिव्रत और पत्नी-व्रत को बिलकुल समान माना जाय और दोनों के लिए एक ही स्तर निर्धारित किया जाय।

कन्या और पुत्र के बीच का भेदभाव, नारी के प्रति हीन मान्यता का ही प्रतिफल है। हमें पुत्र और पुत्री के बीच का भेद हटाना होगा, कन्या जन्मे तो अप्रसन्नता और पुत्र जन्मे तो प्रसन्नता यह हमारे सामाजिक दृष्टिकोण का अत्यन्त पतित और घृणित स्वरूप है। हमारी सामाजिक क्रान्ति कन्या की निकृष्टता स्वीकार नहीं कर सकती । यदि पुत्र जन्म पर उत्सव मनाया जा सकता है तो कन्या के शक्ति अवतरण पर वैसा ही हर्षोत्सव क्यों प्रकट नहीं किया जाना चाहिए? जो बच्ची पुत्री के रूप में उल्लास, बहिन के रूप में ममता, पत्नी के रूप में आत्म-दान और माता के रूप में वात्सल्य प्रदान करते हुए जाति को कृत-कृत्य बनाने के लिए अवतरित हुई है, उसके जन्म दिन को सरस्वती जयन्ती को बसंत पंचमी, लक्ष्मी जयन्ती को दीपावली और दुर्गा जयन्ती को विजयादशमी के रूप में आनंद और उल्लास का संदेशवाहक क्यों न समझें? कन्या को दुर्भाग्य और पुत्र को सौभाग्य का प्रतीक मानने की दुर्बुद्धि को मिटाये बिना हम देव-समाज की रचना में सफलता प्राप्त कर ही कैसे सकेंगे?

दहेज का पिशाच, कन्याओं का रक्त-पान करनें वाला आज के युग का सबसे बड़ा घृणित अभिशाप है। इस कुत्सितता ने हिन्दू समाज का जितना पतन किया है उतना देश भर में फैली हुई अन्य समस्त विकृतियों ने मिलकर भी नहीं किया है। कन्या-विक्रय और वर-विक्रय के पीछे कितनी क्रूरता छिपी हुई है उसका विचार करते हुए भी भावनाशील व्यक्तियों की अन्तरात्मा काँपने लगती है। इस अमानवीय, अनैतिक प्रथा को जो समाज अपना गर्व और गौरव का आधार मान बैठे उसे हृदयहीन और अविवेकी ही कहा जा सकता है। हमारी सामाजिक क्रान्ति का आधार इस हत्यारी प्रथा के विरुद्ध सशक्त मोर्चा खड़ा करना है। प्रगतिशील जातीय संगठनों के माध्यम से हमने ऐसे विचारशील लोगों को आगे लाना होगा जो इस गंदी कीचड़ से बाहर निकलने का विवेक और साहस प्रदर्शित कर सकें। बिना खर्च के विवाहों का आदर्श स्थापित किए बिना-उसको जनसाधारण में एक स्वाभाविक प्रथा बनाये बिना-चैन नहीं लिया जा सके। ऐसी चेतना अत्यन्त प्रचंड रूप से जाग्रत करना हमारी सामाजिक क्रान्ति का आज एक प्रमुख कार्यक्रम होना चाहिए।

स्त्री-शिक्षा की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाय। बच्चियों की पढ़ाई को बच्चों की पढ़ाई से भी अधिक प्रमुखता दी जाय। घरों में साक्षरता का प्रसार किया जाय। जो नारियाँ अशिक्षित हैं उन्हें शिक्षित करने के लिए अनेक पालक तथा घर वाले पूरा-पूरा प्रयत्न करें। इसके लिए प्रौढ़ पाठशालाओं की, रात्रि पाठशालाओं की व्यापक व्यवस्था की जाय। शिक्षा-पद्धति में ऐसा सुधार किया जाय इससे पढ़ी-लिखी लड़कियाँ 'मेम' बनकर इतराती न फिरें वरन् समाज की अभिनव रचना में महत्वपूर्ण योगदान करने के अपने उत्तरदायित्व को उत्साहपूर्वक निभाने के लिए तत्परता प्रदर्शित कर सकें।

परिवार निर्माण हमारे युग निर्माण कार्यक्रम का प्रधान आधार है। परिवारों में रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न किये बिना समाज सुधार संभव नहीं। हर व्यक्ति अपने परिवार को सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न करे तो ही सभ्य समाज की रचना संभव होगी। इस निर्माणात्मक अभियान का नेतृत्व प्रत्येक गृह-पति को करना होगा और उसका प्रधान आधार होगा नारी को सम्मानित, संतुष्ट, सुविकसित एवं सुसंस्कृत बनाने का उदार दृष्टिकोण, साहसपूर्ण प्रयत्न।

इस मार्ग में रूढ़िवादिता से भारी संघर्ष करना पड़ेगा। संकीर्णतावादी विचारधाराओं से नम्रता किन्तु दृढ़ता के साथ निपटना पड़ेगा। नारी को पददलित, अशिक्षित और उपेक्षित बनाये रहने के हामी रूढ़िवादी तत्त्वों के साथ चतुरता के साथ इस प्रकार सुलझाना पड़ेगा ताकि अनावश्यक उद्वेग किये बिना नारी को समर्थ, सशक्त और सुसंस्कृत बनाया जा सके।

नये समाज की नयी रचना का आदर्श और आधार प्राचीन भारत की महान् सभ्यता को ही बनाया जाना है। हमारी क्रान्तियों का उद्देश्य विकृतियों को हटाकर उसके स्थान पर सनातन आदर्शों की स्थापना करना है। उसमें नारी की अध्यात्मवादी विशेषताओं को अग्रणी बनाना पड़ेगा। भारत माता का जय-घोष करते हुए स्वतंत्रता संग्राम लड़ा गया है। बौद्धिक और सामाजिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए हम गायत्री माता की जय बोलते हुए आगे बढ़ते रहेंगे।

समाज की अभिनव रचना-सद्विचारों से

सामाजिक सुख-शान्ति के लिए केवल राज-दण्ड अथवा राज-नियमों पर निर्भर नहीं रहा जा सकता और न उसकी स्थापना मात्र निन्दा करते रहने से ही सम्भव है। राजदण्ड, राजनियम और सामूहिक निन्दा भी आवश्यक है, उनकी उपयोगिता भी कम नहीं है, तथापि यह समाज

में व्याप्त पापों और अपराधों का पूर्ण उपचार नहीं है। इसके साथ निरपराध एवं निष्पाप समाज की रचना के लिए मनुष्यों के आन्तरिक स्तर का सद्विचारों से भरा-पूरा रहना भी आवश्यक है। मनुष्यों का अन्तर जब तक स्वयं ही उज्ज्वल व सदाशयतापूर्ण न होगा, निष्पाप समाज की रचना का स्वप्न अधूरा ही बना रहेगा। राज-नियमों के प्रति आदर, निन्दा के प्रति भय और समाज के प्रति निष्ठा भी तो ऐसे व्यक्तियों में ही होती है, जिनके हृदय उदार और उज्ज्वल होते हैं। मलीन और कलुषित हृदय वाले अपराधी लोग इन सबकी परवाह कब करते हैं।

संसार में सारे कष्टों की जड़ कुकर्म ही होते हैं। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। संसार में जिस परिमाण से कुकर्म बढ़ेंगे, दुःख-क्लेश भी उसी मात्रा में बढ़ते जायेंगे। यदि संसार में सुख-शान्ति की स्थापना वांछनीय है तो पहले कुकर्मों को हटाना होगा। कुकर्मों को घटाने, हटाने और मिटाने का एक ही उपाय है कि मनुष्य की विचार-धारा में आदर्शवाद का समावेश किया जाय। मस्तिष्क को घेरे रहने वाली अनैतिक एवं अवांछनीय विचारधारा ही कुकर्मों को जन्म दिया करती है। यदि विचार सही और शुद्ध हों तो मनुष्य से कुकर्म बन पड़ने की सम्भावना नहीं रहती।

विचारों की बुराई ही बुरे कर्मों के रूप में प्रकट होती है। जिस प्रकार हिमपात का कारण हवा में पानी का होना है, यदि हवा में पानी का अंश न हो तो बर्फ गिर ही नहीं सकती, पानी हो तो जमकर बर्फ बनती है। इसी प्रकार यदि विचारों में बुराई का अंश न हो तो अपकर्म न बन पड़ें। मनुष्य के कुकर्म उसके विचारों का ही स्थूल रूप होता है। अस्तु, कुकर्मों को नष्ट करने के लिए विचारों में व्याप्त मलीनता को नष्ट करना ही होगा।

मनुष्य के बिगड़े विचारों का सुधार राज-नियमों अथवा राज-दण्ड के भय से नहीं हो सकता। उसके लिए तो उसकी विरोधी विचारधारा को ही सामने लाना होगा। असद्विचारों का उपचार सद्विचारों के सिवाय और क्या हो सकता है। आये दिन लोग पाप करते रहते हैं और उसका दण्ड भी पाते रहते हैं। लेकिन उससे पार होकर फिर पाप में प्रवृत्त हो जाते हैं। दूषित विचार-धारा के कारण लोगों के सोचने, समझने का ढंग भी अजीब हो जाता है। दण्ड पाने के बाद भी चोर सोचता है-क्या हुआ कुछ दिनों को कष्ट मिल गया-उससे हमारी क्या विशेष हानि हो गई, चलो फिर कहीं हाथ मारेंगे। यदि गहरा हाथ लग गया, तब तो कचहरी अदालत से निपट ही लेंगे, नहीं तो फँस गए तो फिर कुछ दिनों की काट आयेंगे। अपने काम के लाभ का त्याग क्यों किया जाय? जुआरी सोचता है यदि आज हार गये तो क्या हुआ, कल जीत कर मालामाल हो जाएँगे। हानि-लाभ तो व्यापार-व्यवसाय में भी होता रहता है, उसका भी लाभ कब निश्चित है। जिस प्रकार पैसे का एक अन्धा खेल है, उसी प्रकार हमारा खेल भी पैसे का एक अन्धा खेल है। जीते तो पौ बारह, नहीं तो कुछ घाटा ही सही।

इसी प्रकार कोई व्यभिचारी भी सोच सकता है मैं जो कुछ करता हूँ, अपने लिए करता हूँ, उसकी हानि होगी तो हमको ही होगी। पैसा हमारा जाता, स्वास्थ्य हमारा बर्बाद होता, रोगी होंगे तो हम होंगे, गृह-कलह हमारे घर पैदा होगा, इससे समाज का क्या जाता है। न जाने हमारी व्यक्तिगत बातों की हिन्दी करता हुआ, व्यर्थ में क्यों गाल बजाया करता है? यह सब सोचना क्या है? दूषित विचारधारा का परिणाम है। समाज से अपने को पृथक मानकर चलना अथवा अपने व्यक्तिगत कर्मों का फल व्यक्तिगत मानना बुद्धि-हीनता के सिवाय और कुछ नहीं है। मनुष्य जो कुछ सोचता अथवा करता है, उसका सम्बन्ध किन्हीं दूसरों से अवश्य रहता है। यह बात भिन्न है कि वह सम्बन्ध निकट का हो अथवा दूर का, प्रत्यक्ष हो अथवा परोक्ष। समाज से अपने को अथवा समाज को अपने से पृथक मानकर चलना दूषित विचारधारा का प्रमाण है।

कुविचार के कारण प्रायः लोग यह नहीं समझ पाते कि अपकर्मों में जो तात्कालिक लाभ अथवा आनन्द दिखलाई देता है, वह भविष्य के बहुत से सुखों को नष्ट कर देता है। तात्कालिक लाभ के कारण लोग पाप के आकर्षण पर नियंत्रण नहीं रख पाते और उस ओर प्रेरित हो जाते हैं। सोच लेते हैं कि अभी जो आनन्द मिल रहा है, उसे तो ले ही लें, भविष्य में जो होगा देखा जाएगा। इस प्रकार से वर्तमान पर भविष्य को बलिदान करने वाले व्यक्ति बुद्धिमान नहीं माने जा सकते। बुद्धिमान वही होता है, जो वर्तमान की आधार-शिला पर अपने भविष्य का राजमहल खड़ा करता है। ऐसे ही विचारहीन वर्तमान के लोभी अपने लिए और अपने साथ समाज के लिए कष्टकर परिस्थितियाँ पैदा किया करते हैं। यदि ऐसे लोगों की विचारधारा में संशोधन करके समाजमुखी बनाया जा सके तो निष्पाप समाज की रचना बहुत कठिन न रह जाये।

मनुष्यों को कुमार्ग पर भटक जाने का एक कारण और भी है। सत्कर्मों का कोई तात्कालिक लाभ उतना शीघ्र नहीं मिलता, जितना शीघ्र असत्य अथवा बेईमानी आदि कुकर्मों का लाभ। फिर सत्कर्मों में कुछ त्याग भी रहता है, कुछ कष्ट भी। इस सरलता के धोखे में आकर लोग सन्मार्ग पर न चलकर कुमार्ग की ओर बढ़ जाते हैं। ऐसे लाभ के लोभी जल्दबाजों का सोचना चाहिए कि धीरज का फल मीठा होता है और देर तक आनन्द देने वाला भी। पहले कष्ट उठाकर पीछे सुख पाना अधिक आनन्ददायक है। बमुकाबले इसके कि पहले तो थोड़ा-सा मजा ले लिया जाय और फिर पीछे देर तक कष्ट भोग लिया जाय। ऐसे लोभी लोग ही अविवेक के कारण मजा लेने के लिए तमाम चीजें खाते रहते हैं। वे स्वाद के कारण पथ्य, अपथ्य अथवा भुक्ता-भुक्त का विचार नहीं करते और चार दिनों

के मजा के लिए महीनों बीमार होकर चारपाई पर पड़े-पड़े रोया करते हैं। ऐसे रोगियों और अदूरदर्शी व्यक्ति से समाज को कष्ट देने के सिवाय सुख की आशा किस प्रकार की जा सकती है?

पवित्र विचारधारा के लोग अपने कर्मों के दूरगामी और समाज सम्बन्धी हानि-लाभ पर विचार कर लेना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। ऐसे पावन मनुष्य ही संसार में सुख-शान्ति की वृद्धि में सहायक सिद्ध होते हैं। जो जीवन का कोई महत्त्व समझते हैं। जिनके जीने का कोई उद्देश्य होता है और जिनके मन-मस्तिष्क में पृथकता की संकीर्णता नहीं होती, जो अन्तःकरण में परमात्मा के निवास का विश्वास रखते हैं। उनसे अपकर्म बन पड़ना सम्भव नहीं होता। उन्हें लोक-परलोक, जीवन-मृत्यु के बनने-बिगड़ने का विचार रहता है।

ऐसे पवित्रात्मा-जन कष्टकर होने पर भी सत्कर्मों से विमुख नहीं होते। कुकर्मों द्वारा बड़े-बड़े लाभों की उपेक्षा करके सत्कर्मों के होने वाले लाभ में ही संतुष्ट हो जाते हैं। उन्हें पुण्य-परमार्थ, ईश्वरीय न्याय और समयानुसार सत्कर्मों के मंगलमय परिणाम में विश्वास रहता है, उनका यह विश्वास ही उन्हें कुकर्मों के चक्रों से बचाकर भवसागर से पार उतार ले जाता है। इस पुण्यपूर्ण विश्वास के अभाव में मनुष्य उसी प्रकार अवांछित दिशा में भटक जाता है, जिस प्रकार निराधार नाव कहीं-से-कहीं को चल देती है। जिसका मन मंगल भावनाओं से ओत-प्रोत नहीं, जिसका मस्तिष्क ठीक दिशा में सोचने का अभ्यस्त नहीं, उसे कुविचार और कुभावनाएँ घेरेंगी ही और उनके फलस्वरूप वह कुकर्म करके अपने और समाज दोनों के लिए दुःख का कारण बनेगा ही। विचारों के आधार पर ही मनुष्य सुखी और दुःखी होता है। इसलिए उन्हें ही समाज की अभिनव रचना और उसकी निरामयता का आधार मानकर चलना हमारा सबका परम् कर्त्तव्य है।

निष्पाप समाज की रचना का आधार सद्‌विचार है, किन्तु सद्‌विचारों की रचना का उपाय क्या है, इसको जाने बिना समस्या का पूरा समाधान नहीं होता। सद्‌विचारों की रचना का उपाय अध्यात्मवाद को माना गया है। ऐसे अध्यात्मवाद को जिसका आधार परमार्थ और परहित हो। जो जितना परमार्थवादी होगा, वह उसी गहराई से जन-जन में उसी आत्मा का दर्शन करेगा, जिसका निवास उसके स्वयं के अस्तित्व में है। परमार्थी व्यक्ति अपने में भिन्न किसी को नहीं देखता और जिस प्रकार वह अपने को कष्ट देना पसन्द नहीं करता, उसी प्रकार किसी दूसरे को कष्ट देने का विचार नहीं रखता। वह दूसरों की सेवा में अपनी ही सेवा समझकर तत्पर रहता है। परसेवा और परोपकार के पथिक के पास असद्‌विचार उसी प्रकार नहीं आते जिस प्रकार विरागी व्यक्ति के पास माया-मोह नहीं आने पाते।

दया, करुणा और प्रेम-परमार्थ प्रधान व्यक्ति के ऐसे गुण हैं, जिनको संसार का कोई भी प्रलोभन अथवा परिस्थिति उससे नहीं छीन सकती। परमार्थ प्रधान अध्यात्मवाद पर ऋषियों, मुनियों और मनीषी व्यक्तियों ने अमर आत्म-सुख का लाभ पाया और उसका प्रसाद संसार को बाँटकर अपना मानव-जीवन धन्य बनाया है।

सच्चा आध्यात्मिक व्यक्ति अखण्ड आस्तिक होता है। वह कण-कण में व्यापक प्रभु का दर्शन और नमस्कार में अपनी विनम्रता व्यक्त करता रहता है। जिस व्यक्ति को सब और सब जगह, भीतर-बाहर अपने में और दूसरों में परमात्मा की उपस्थिति का अविरल विश्वास बना रहेगा, उसके मन के कुविचारों का पाना किस प्रकार सम्भव हो सकता है? वह तो सदा-सर्वदा ऐसे ही कर्म करने और भावनाएँ रखने का प्रयत्न करता रहेगा, जो उसके सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान प्रभु को पसन्द हो, जिनसे वह प्रसन्न हो सके।

परमात्मा की प्रसन्नता का सम्पादन करना ही सच्ची आस्तिकता भी है। ईश्वर का अस्तित्व मानकर भी दुष्कर्म करने अथवा दुर्भाव रखने वाला यदि अपने को आस्तिक कहता है तो उसका यह कथन उपहास के सिवाय विश्वास का विषय नहीं बन सकता। ईश्वर में विश्वास रखकर भी जो व्यक्ति दुष्कर्म करता अथवा दुर्भावनाएँ रखता है वह तो उस नास्तिक से भी गया-गुजरा नास्तिक है जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखता। ऐसे आस्तिक बनाम नास्तिक को सौ वर्ष की तपस्या के बाद भी क्षमा नहीं किया जा सकता।

संसार की वास्तविक सुख-शान्ति के लिए निष्पाप समाज की रचना का स्वप्न तभी साकार हो सकता है, अब आस्तिकतापूर्ण अध्यात्मवाद द्वारा ही विचारों का परिमार्जन कर नित्यप्रति होने वाले दुष्कर्मों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाये। क्योंकि विचारों से कर्म और कर्मों से दुःख-सुख का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। इससे अन्यथा संसार में स्थायी और वास्तविक सुख-शान्ति का कोई उपाय दृष्टि-गोचर नहीं होता।

लोक-मानस का परिष्कार ही समाज एवं राष्ट्र का विकास

देश और समाज को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने के लिए व्यक्तिगत जीवन में सन्तोष, उल्लास और उत्कर्ष की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए अध्यात्म का प्रवेश अत्यन्त आवश्यक है। तत्त्व-दर्शन के अवलम्बन से ही दृष्टिकोण का विकास होता है। चिन्तन में प्रखरता आती है। इसी पृष्ठभूमि में गुण-कर्म और स्वभाव की परिष्कृत परिपक्वता का समावेश होता है। संयमी, सदाचारी, संतुष्ट, कर्मठ, कर्त्तव्यपरायण विचारणा के आधार पर ही विनिर्मित और विकसित होता है। आन्तरिक परिपक्वता ही जीवन-क्रम को सरल और सुखद बनाती है। उसी स्तर का व्यक्ति चैन से रहने और सम्बन्धित व्यक्तियों को चैन से रहने

देने की स्थिति में होता है। चिन्तन में शालीनता, व्यवहार में सहृदयता और गतिविधियों में प्रखरता उच्चस्तरीय चिन्तन के बिना आ ही नहीं सकती। यदि यह अभाव दूर न हो सके तो कोई व्यक्ति सम्मान और श्रद्धा का भाजन न बन सकेगा। सच्चा सहयोग और स्नेह किसी का भी उपलब्ध न कर सकेगा। इन जटिलताओं से ग्रसित व्यक्ति किसी भी दिशा में ठोस उन्नति नहीं कर सकता, तब या तो उसे पशु-जीवन जीना पड़ता है या महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति उद्धत आचरण से करनी पड़ती है।

व्यक्ति का विकास 'कला' नहीं विद्या है, इस प्रकार के कला-कौशल में छली और पाखंडी निष्णात होते हैं, उनका व्यवसाय ही इस हथकण्डे पर चलता है कि आरम्भ में मधुर सम्भाषण और प्रामाणिक आचरण का परिचय देकर कैसे किसी को आकर्षित करें और फिर उसके प्रिय विश्वासपात्र बनकर कैसे विश्वासघाती छुरी चलायें। यह कला अब कोई छिपा रहस्य नहीं रही। इन हथकण्डों को किसी भी छली व्यवसायी को पास से देख कर सहज ही जाना जा सकता है पाश्चात्य जगत में इस विषय की ढेरों पुस्तकें छप रहीं हैं। नर-नारी को, नारी-नर को झूठे प्रणयपाश में बाँधकर अपना उल्लू सीधा करने के लिए किस प्रकार संभाषण, पत्र-व्यवहार एवं हाव-भाव तथा गतिविधियाँ अपनायें, यह कला पाश्चात्य जगत का एक महत्त्वपूर्ण शस्त्र बन गया है। इससे अपरिचित भोल-भाले नर-नारी वहाँ बेमौत मारे जाते हैं। इस प्रकार *आर्थिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिए किस प्रकार दूसरों की* चापलूसी और प्रशंसा की जाय, कैसे आश्वासन, प्रलोभन या झाँसा दिया जाय इस प्रकार की ढेरों पुस्तकें बाजार में बिकती हैं। यह लोकप्रिय कला-अध्यात्म के उच्चआदर्शों की विडम्बना भर है। भ्रम में डाल कर किसी को हीरे के बदले काँच भी दिया जा सकता है, पर यह छल भी होता है असली हीरे की दुहाई देकर ही है।

अध्यात्म असली हीरा है। जिसने उसे अपनी विचारणा और गतिविधियों में समाविष्ट कर लिया सचमुच वह हीरा हो गया। हीरा ही नहीं उसे तो पारस भी कहा कहा जा सकता है। ऐसा व्यक्ति अटूट लोकश्रद्धा का पात्र बनता है। कहना न होगा जिसके भी पीछे श्रद्धा का बल है उसके लिए संसार की किसी भी दिशा में अप्रत्याशित सफलता प्राप्त करते चले जाना तनिक भी कठिन नहीं है। अन्तःकरण की तुष्टि भी आन्तरिक गरिमा से ही होती है। तीन-चौथाई शान्ति को खा जाने वाले मनोविकारों से भी इसी आधार पर बचा जा सकता है। पग-पग पर खड़ी दीखने वाली अड़चनें और उलझनें भी परिष्कृत दृष्टिकोण ही सुलझाता सरल बनाता है। आधि-व्याधि भरे, शोक-संताप, कष्ट-क्लेश, दुःख-दारिद्र्य से सुरक्षित केवल वे ही रह सकते हैं जिन्होंने अध्यात्म की छत्रछाया का आश्रय ग्रहण कर रखा है। मानव-जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिए अध्यात्म आलम्बन के अतिरिक्त और कोई मार्ग है ही नहीं।

इसे एक दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि अध्यात्म की संजीवनी विद्या आज विकृत और उपहासास्पद रूप में प्रस्तुत हो रही है। धर्म-व्यवसायियों ने उसे कैसा विकृत, कुरूप एवं दुरूह बनाया है इसे देखकर रोना आता है। भोले लोग किस प्रकार उस आडम्बरी जंजाल में उलझ कर अपना समय, धन और शक्ति नष्ट कर रहे हैं, यह कथा और भी अधिक करुणाजनक है। इन दिनों की इस दुर्गति के रहते हुए भी यथार्थता के तत्त्व-ज्ञान में कोई अन्तर नहीं आता। प्राचीनकाल की तरह आज भी यदि कोई व्यक्ति वास्तविक स्वरूप को समझे व और अपनाने का साहस करे तो दीखेगा कि यह व्यक्तित्व के समग्र विकास की, प्रगति के सर्वतोमुखी आधार की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रत्यक्ष प्रक्रिया है। सच्चा अध्यात्मवादी ही सच्ची प्रगति का चिरस्थायी आनन्द प्राप्त कर सकता है।

व्यक्तिगत जीवन के अतिरिक्त सामूहिक जीवन का-समाज व्यवस्था का क्षेत्र आता है। किसी देश, समाज या राष्ट्र को किस प्रकार समर्थ, समुन्नत बनाया जा सकता है इसके लिए विविध स्तरों पर विविध प्रकार के चिन्तन एवं प्रयोग किये जा रहे हैं। यह उचित भी है, क्योंकि व्यक्ति की तरह समाज भी बहुमुखी है और उसकी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक साधनों को जुटाना ही पड़ेगा। शासन, सैन्य, उद्योग,व्यवसाय, नियन्त्रण, शिक्षा, कला, विज्ञान, कृषि, पशुपालन, चिकित्सा, विनोद प्रभृति अगणित आवश्यकताएँ समाज की हैं और उनकी पूर्ति यथावत की ही जानी चाहिए, पर साथ ही यह भूल नहीं जाना चाहिए कि किसी भी समाज या राष्ट्र की समर्थता का, प्रगति का प्रधान कारण उसका चरित्र एवं चिन्तन ही होता है। यदि वह घटिया और ओछा रहा तो तात्कालिक प्रगति के लक्षण भले ही चकाचौंध पैदा कर दें। भावनात्मक खोखलापन रहने पर तथाकथित प्रगति बालू के महल की तरह तनिक-सा आघात लगने पर ढह जायगी।

इस संदर्भ में विश्व इतिहास के पृष्ठ उलटने पर यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि जिन शासकों ने-जिन नेताओं ने अनैतिक आचरण अपनाकर अपने वर्ग को लाभान्वित करने का-अपने समाज या राष्ट्र को समुन्नत बनाने का प्रयास किया वे क्षणिक उछाल लेकर सदा के लिए पतन के गर्त में विलीन हो गये। इसी प्रकार जो समाज, नैतिक मर्यादाओं में उपेक्षा एवं अनास्था व्यक्त करने लगा वह विलासी भर बनकर रह गया। अनैतिक और उच्छृंखल आचरण अपनाकर वह सुखी नहीं बन सका। अव्यवस्थित और अस्त-व्यस्त होकर दुर्बल ही बनता चला गया। नीति-सदाचार की मर्यादाएँ शिथिल होते ही अपराधी प्रवृत्तियाँ अराजक हो उठती हैं और उस आन्तरिक विद्रोह में कोई राष्ट्र बाह्य आक्रमण से भी अधिक जर्जर हो जाता है।

सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रगति के अनेक पक्ष हैं और वे सभी कार्यान्वित किये जाने चाहिए पर यह भूल नहीं जाना चाहिए कि मूलभूत राष्ट्रीय सम्पदा उस देश के नागरिकों

की भावनात्मक एवं कर्मात्मक उत्कृष्टता ही है। इसके रहते कोई निर्धन समाज भी अपनी गौरव-गरिमा बनाये रह सकता है। अपनी स्वतन्त्रता सुरक्षित रख सकता है। यदि इस सम्पदा में कमी आदि हो तो विशाल क्षेत्रफल ,विशाल जनसंख्या, विशाल सेना और विशाल साधनों वाले देश को भी अन्तर्द्वन्द्वों से जर्जरित, दीन-दुर्बल, परमुखापेक्षी होकर रहना पड़ेगा।

पूर्वकाल में साधन अति स्वल्प थे, सम्पत्ति भी कम ही थी पर आन्तरिक स्तर ऊँचा रहने के कारण लोग उतने से ही स्वर्गोपम सुख-शान्ति पाते थे और देवोपम जीवन जीते थे। आज भौतिक दृष्टि से हम पूर्वकाल की अपेक्षा हजार गुने सुसम्पन्न है पर भावनात्मक हीनता के कारण वह समस्त प्रगति सुख के स्थान पर दुःख को ही बढ़ा रही है। भेड़ियों की तरह मनुष्य एक दूसरे के रक्त पिपासु बने हुए हैं। ऐसा साधनों के अभाव में नहीं-भावनात्मक स्तर की निकृष्टता के कारण हुआ है। ओछा मनुष्य, उपलब्ध धन, कौशल, बल एवं साधन को पशु-प्रवृत्तियों के भड़काने में लगाये हुए है। फलतः बढ़ती हुई असुर वृत्ति पग-पग पर नरक के दृश्य उपस्थित कर रही है। उसका प्रभाव राष्ट्र को समर्थ नहीं दुर्बल ही बना रहा है।

राजसत्ता एवं अर्थसत्ता विश्व की भौतिक स्थिति को प्रभावित कर सकती है। विज्ञान की प्रगति सुख-सुविधाएँ बढ़ाने वाले उपकरण प्रस्तुत कर सकती है। बौद्धिक शिक्षा की प्रगति से मनुष्य की मस्तिष्कीय क्षमता बढ़ सकती है। पर इन सब साधनों का समन्वय हो जाने पर भी व्यक्ति का अन्तःकरण समुन्नत नहीं बनाया जा सकता और यह भी असंदिग्ध है कि जब तक अन्तःभूमिका परिष्कृत न होगी तब तक न तो चिन्तन उत्कृष्ट बनेगा और न कर्तृत्व श्रेष्ठ बनेगा । यह न हो सका तो व्यक्ति ओछा-निकृष्ट ही बना रहेगा। ऐसी दशा में उसका आन्तरिक पिछड़ापन असीम सुख-साधनों के रहते हुए भी उसे शोक-संताप ग्रस्त बनाये रहेगा। न वह स्वयं चैन से रहेगा न दूसरों को चैन से रहने देगा। दूध पीने पर सर्प का विष बढ़ने की तरह आन्तरिक दुष्टता साधनों की वृद्धि के साथ-साथ और भी अधिक भयंकर बनेगी। विनाश को सर्वनाश की दिशा में अग्रसर करेगी।

पूँजीवादी देश धन के अभिवर्द्धन को और साम्यवादी देश धन के वितरण को महत्त्वपूर्ण मान रहे हैं। दोनों वर्ग अन्धी दौड़ में आगे निकलने जी-तोड़ कोशिश कर रहे हैं, विज्ञान के क्षेत्र में भी यही बाजी लगी हुई है। बुद्धि-तन्त्र विकसित करने के लिए शिक्षा संस्थान भी कुछ उठा नहीं रख रहे हैं। जन-स्तर पर कला, शिल्प, विनोद, आरोग्य जैसे साधनों का अभिवर्द्धन पूरे उत्साह से चल रहा है। युद्ध तन्त्र अपनी चरम सीमा को छू रहा है। इतने विकट प्रयास प्रगति के नाम पर ही हो रहे हैं।

इनका यदि सूक्ष्म विश्लेषण, विवेचन किया जाय और प्रतिक्रिया को जाना जाय तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि व्यक्ति की आन्तरिक उत्कृष्टता में वृद्धि न हो सकने के कारण यह समस्त भौतिक प्रगति व्यक्ति एवं समाज के अधःपतन में ही योगदान दे रही है। सुख-चैन, संतोष, उल्लास और स्नेह-सद्भाव का क्रमशः अन्त ही होता चला जा रहा है। कारण कि मानवी अन्तश्चेतना, उपलब्ध साधनों को निष्कृष्ट प्रयोजनों में ही प्रयुक्त कर रही है। फलतः सर्वत्र अशान्ति की ही वृद्धि हो रही है।

कानून, कचहरी, पुलिस, जेल की उपयोगिता कितनी ही क्यों न हो यह निश्चित है कि नैतिक मूल्यों के प्रति अनास्थावान नागरिकों को अपराधी गतिविधियाँ अपनाये रहने से पूर्णता रोका नहीं जा सकता। व्यसन और अपव्यय के अभ्यस्त व्यक्ति कितनी ही बड़ी आजीविका रहने पर भी आर्थिक तंगी से मुक्त नहीं हो सकते। असंयमी के लिए आरोग्य दुर्लभ है, भले ही वह निरन्तर पौष्टिक औषधियाँ खाता रहे। कटुभाषी के मित्र देर तक नहीं रहते भले ही वह उन पर कितना ही खर्च करता रहे। कुकर्मी की सन्तान सुसंस्कृत न बन सकेगी। भ्रष्टाचारी और कामचोर कर्मचारियों के रहते कोई शासन जन-कल्याण नहीं कर सकता। पशु-प्रवृत्तियाँ भड़काने वाले साहित्यकार, कलाकार जिस देश में बढ़ेंगे वहाँ प्रजाजनों की दुष्टता पर नियन्त्रण न किया जा सकेगा।

शासन तंत्र ही सब कुछ नहीं है। धन की अभिवृद्धि ही सुख-शान्ति का आधार नहीं है, शिक्षा ही सदाचारण की मूल नहीं है। हमें गहराई तक विचार करना होगा कि जिन तथाकथित समुन्नत देशों में विज्ञान, शिक्षा, धन और साधनों का बाहुल्य है वहाँ के प्रजाजन क्यों दुष्प्रवृत्तियों में अधिकाधिक ग्रसित होकर क्यों सर्वनाश की ओर जा रहे हैं? क्यों अपना और राष्ट्र का भविष्य अन्धकारमय बना रहे हैं? खोज हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचायेगी कि वैयक्तिक चरित्र को राष्ट्रीय प्रगति का अंग न मानकर भारी भूल की गई। व्यक्तिगत जीवन में कुछ करने की छूट, सामाजिक हस्तक्षेप से निजी जीवन को पृथक रखने का नारा हिप्पीवाद को जन्म दे रहा है, उस नैतिक अराजकता को जन्म दे रहा है जो समाज-व्यवस्था का सर्वनाश करके रहेगी।

मनुष्य मशीन नहीं, उसे मात्र भौतिक साधनों के आधार पर ही सुसंचालित नहीं रखा जा सकता। उसमें चेतना भी है और उस चेतना को उत्कृष्ट चिन्तन एवं परिष्कृत वातावरण का पोषण न मिलेगा तो निश्चय ही मानवीय उत्कृष्टता समाप्त होती चलेगी और उस समाज की भी जड़ें खोखली करेगी।

राष्ट्र या समाज को सुस्थिर, सुदृढ़ और समुन्नत रखने के इच्छुकों को भौतिक उन्नति की ही रट नहीं लगाये रहना चाहिए वरन् यह भी देखना चाहिए कि वैयक्तिक उत्कृष्टता को पोषण देने वाले आधार विकसित हो रहे हैं या नहीं। यदि उस ओर उपेक्षा बरती जा रही है तो समझना चाहिए प्रगति थोथी, खोटी और उथली है। उस प्रवंचना से मिथ्या मन बहलाव ही किया जाता रहे तो राष्ट्रीय उत्कर्ष का ठोस आधार न बनेगा। विचारशील

समाज-सेवियों, दूरदर्शी देश भक्तों और मानवता प्रेमी विश्व नागरिकों का कर्त्तव्य है कि वे आत्मिक प्रगति की बात सोचें। चरित्र-निर्माण के आधार स्थापित करें और पत्ते धोने की अपेक्षा जड़ सींचने का बात को महत्त्व दें।

भावनाओं को प्रभावित करने वाले समस्त साधनों और आधारों को अवांछनीय हाथों से निकालकर उन उत्तरदायी हाथों में सौंपा जाना चाहिए जो उनका उपयोग विवेकशीलता एवं उत्कृष्टता की दिशा में नियोजित कर सकें। प्रजातन्त्र में नागरिक आजादी होती है, पर वह आजादी आग लगाने और विष खिलाने की आत्म- हत्या की नहीं होनी चाहिए। यदि प्रजातन्त्र के साथ-नागरिक अधिकारों के साथ ऐसी सर्वनाशी आजादी जुड़ गई है तो उसे विचारा और सुधारा जाना चाहिए। आज का साहित्यकार क्या रच रहा है, प्रकाशक क्या छाप रहा है, गायक क्या गा रहा है, अभिनय और रंग-मंच जन मानस पर क्या छाप छोड़ रहा है, चित्रकार द्वारा क्या चित्रित किया जा रहा है इनकी ओर से आँखें बन्द किये रहना भेड़ियों को छूट देकर शिशुओं के लिए प्राण संकट उत्पन्न करने की तरह है। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि विचारों को प्रभावित करने वाले साधनों को उच्छृंखलता की दिशा में खुली छूट देकर व्यक्ति और समाज का भविष्य अन्धकारमय बनाने की प्रक्रिया को मूकदर्शक की तरह देखा जा रहा है और उसे रोकने के स्थान पर अपंग, असमर्थों की तरह मौन रहा जा रहा है।

धर्म और अध्यात्म के नाम पर जो कूड़ा-करकट जन-मानस के गले उतारा जा रहा है। उससे आत्मा, परमात्मा, लोक-परलोक किसी की कुछ सेवा होना तो दूर उलटे अज्ञान, अन्धविश्वास और प्रपंच, पाखण्ड को प्रोत्साहन मिल रहा है। उचित यह था कि जन-मानस को प्रभावित करने में समर्थ इस धर्म मंच को हाथ में लेने के लिए प्रगतिशील लोग आगे आते और उलूक-शृंगालों को विडम्बनाएँ फैलाने से रोकने के लिए जनता को प्रशिक्षित करते, पर अपने देश में तो राजनीति से लाभान्वित होने की हर किसी को आपाधापी पड़ी है। हर कोई उसी भीड़ में घुसने के लिए व्याकुल हैं। मानो देश-सेवा का और कोई क्षेत्र बना ही नहीं। कितना अच्छा होता यदि राजनीतिक धक्का-मुक्की में घुसकर विग्रह उत्पन्न करने के स्थान पर कुछ सच्चे लोक-सेवी जन-मानस को भावनात्मक दृष्टि से परिष्कृत करने को अपना कार्यक्षेत्र बनाते और उसी में अपने को खपा देते।

युग निर्माण योजना के शतसूत्री कार्यक्रमों के अन्तर्गत ऐसे अनेक आधार हैं जिन्हें अपनाकर लोक-चिन्तन की दिशा मोड़ी जा सकती है। भ्रष्ट साधनों से लोक-मानस को दूषित करने में संलग्न दुष्प्रवृत्तियों से झगड़ना ही काफी नहीं वरन् उनकी तुलना में हर क्षेत्र में उत्कृष्टता विकसित करने वाले साधन खड़े करने होंगे। श्रेष्ठता के अभाव में लोग निकृष्टता अपनाते हैं। निष्कृष्टता की निन्दा करना ही काफी नहीं वरन् उसका सही विधायक तरीका यह है कि उत्कृष्ट आधारों को विकसित करने में सृजनात्मक शक्तियाँ इस प्रकार जुट जाएँ कि जनता को भले-बुरे का अन्तर पहचानने-दोनों में से किसी एक का वरण करने का अवसर मिल सके। जब तक भ्रष्टता ही स्वच्छन्द विचरण करती है, जन-मानस को प्रभावित करने की सारी क्षमता उसी के हाथ है तब तक अपकर्ष ही जीतता रहेगा। उत्कर्ष को असफल, असहाय ही रहना पड़ेगा।

समाज निर्माण के लिए-राष्ट्रीय उत्कर्ष के लिए आवश्यक है कि जन-मानस उत्कृष्टता के आरोपण और पोषण के समुचित साधन जुटाने में दत्तचित्त हो। भौतिक प्रगति की सार्थकता इसके बिना संदिग्ध ही रहेगी।

सामाजिक हित की उपेक्षा न करें

मनुष्य पूर्णतया सामाजिक प्राणी है। उसकी स्थिति एवं प्रगति सब कुछ सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर है; इसलिए हर व्यक्ति का स्वार्थ इस बात में समाया हुआ है कि सामाजिक वातावरण उत्तम बना रहे। यदि समाज से किसी प्रकार की विपन्नता उत्पन्न होगी तो उसका प्रभाव अपने ऊपर पड़े बिना भी न रहेगा। मुहल्ले में दुष्ट-दुराचारी भरे हों और वे आज कुछ न बोल रहे हों, इसका यह मतलब नहीं कि वे कल भी चुप बने रहेंगे। जब भी दाँव-घात लगेगी, वे अपना कुचक्र चलायेंगे अवश्य। पड़ौस में फैल रहा हैजा, अपने घर को छोड़ देगा, यह सोचना मूर्खता ही है। हर बात में अपना स्वार्थ सामाजिक हित के साथ जुड़ा हुआ है; इसीलिए अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए भी सामाजिक जीवन में उत्कृष्टता बनाये रखने का प्रयत्न हर व्यक्ति को करना चाहिए।

आत्म-विकास के लिए भी यह आवश्यक है, हम अपनी आत्मीयता का क्षेत्र व्यापक बनायें। शिक्षा-दीक्षा से लेकर जीवन की साधारण आवश्यकता-वस्त्र पहनने तक के लिए मनुष्य का हित समाज के साथ जुड़ा हुआ है। हमारे पास पैसा तो हो, पर कपड़े सींने के लिए दर्जी, चारपाई बनाने के लिए बढ़ई, कपड़े के लिए बुनकर, अन्न के लिए किसान, भोजन पकाने के बर्तनों के लिए ठठेरे का सहयोग न मिले तो उस पैसे और कंकड़-पत्थर में कोई अन्तर न रह जाएगा। पैसा जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु का मूल्य भी सामाजिकता पर टिका हुआ है यदि मनुष्य इस आत्मीयता की उपेक्षा करने लगे तो उसका जीवन जीना कठिन हो जाये और आत्म-विकास की सारी आवश्यकताएँ ज्यों की त्यों अधूरी पड़ी रह जाएँ। इस तथ्य को गहराई तक अनुभव करने के कारण ही ऋषियों ने लोक-सेवा का जीवन अपनाया था। वे अपने जीवन-यापन की सुविधाओं के लिए थोड़ा समय लगाते थे। शेष सारा समय लोक-कल्याण में खर्च कर देते थे। उनकी इस समझ-त्याग और सेवा-भावना का प्रताप है कि आज भी उनका स्मरण आता है तो श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है।

आज संसार की दिशाएँ उलट चुकी हैं, लोगों के सोचने के तरीके बदलते जा रहे हैं। उत्कृष्टता के सारे आभूषण उतार कर लोग निकृष्टता का चोला धारण करते चले जा रहे हैं। उसी का फल है कि साधन और सुविधाओं में वृद्धि के बावजूद मनुष्य का जीवन प्रेत-पिशाच का सा जीवन बनता जा रहा है। शारीरिक दृष्टि से रोग-शोक, दुर्बलता और अकाल मृत्यु, पारिवारिक दृष्टि से ईर्ष्या-द्वेष, मनोमालिन्य, कलह, मारपीट, क्षोभ, सन्ताप सामाजिक दृष्टि से छल-कपट, शोषण और भ्रष्टाचार की अग्नि में जलते हुए मनुष्य जीवन की आज सब तरफ एक ही माँग है कि कुछ ऐसे लोक-सेवी व्यक्ति आयें और वर्तमान परिस्थितियों से परित्राण का मार्गदर्शन करें। समाज-सेवा आज की सबसे बड़ी अपेक्षा ही नहीं पुण्य भी है। उसकी उपेक्षा करना वर्तमान समय में मानवता को और भी पतन के गहरे गर्त में धकेलने के समान होगा।

परिस्थितियाँ बताती हैं कि मनुष्यता के इस अध:पतन का कारण उसका जीवन के प्रति अज्ञानमूलक दृष्टिकोण है। लोगों के मन और मस्तिष्क को भौतिकवाद के असुर ने बुरी तरह घेर डाला। लोगों की मान्यताएँ जड़वादी और भोगवादी बन गई हैं। आध्यात्मिक तथ्यों और सत्यों की ओर किसी का भी ध्यान नहीं जाता। लौकिक सुखों के इन्द्रजाल में ही लोग उलझे और फँसे नारकीय जीवन जी रहे हैं।

युग निर्माण आन्दोलन मानवता को उस कुचक्र से उबारने और उसे आत्म-कल्याण का सच्चा मार्ग दिखाने का एक सुव्यवस्थित अभियान है। उसका क्षेत्र और उसके कार्यक्रम व्यापक हैं तथापि मूल उद्देश्य लोगों के बौद्धिक स्तर को बदलना ही है। इसीलिए इस अभियान को विचार-क्रान्ति या ज्ञान-यज्ञ भी कहते हैं। समाज की वर्तमान दिशाओं को निकृष्टता से मोड़कर उत्कृष्टता की दिशा में नियोजित करने का यह अभियान ही इस युग की सच्ची सेवा है, ऐसा मानकर हम में से प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञान-यज्ञ के लिए कुछ समय नियमित रूप से देते रहने का नियम बनाना चाहिए। इसी में अपना भी सच्चा हित सन्निहित है।

समाज-सेवा के कार्यक्रम

धर्म-सेवा का व्रत धारण करने के पश्चात् व्रतधारी को अपने लक्ष्य की जानकारी होना आवश्यक है। संसार में अनेक सेवाएँ हो सकती हैं। सभी को लक्ष्य बनाकर उनकी पूर्ति की बात सोचना असम्भव है। बुद्धिमान को अपनी शक्ति, योग्यता और क्षमता की नाप-तौल करके ही किसी कार्य के करने पर विचार करना चाहिए। उसी कार्य को हाथ में लेने का साहस करना चाहिए जिसकी पूर्ति सम्भव हो। असम्भव और अपनी शक्ति और सामर्थ्य के बाहर के कार्यों को लक्ष्य स्थिर करके उसमें लग जाना अपनी शक्तियों का व्यर्थ व्यय करना है।

गायत्री परिवार ने उपरोक्त विचार के आधार पर तीन प्रकार की सेवाओं-रचनात्मक कार्य, सुधारात्मक एवं संघर्षात्मक कार्यों को अपने हाथों में लिया है। संसार में अच्छे और बुरे दो प्रकार के तत्त्व होते हैं। जीवन को उन्नतिशील बनाने के लिए अच्छाई को ग्रहण करना और बुराई से बचते रहना आवश्यक है, यदि सद्गुणों को बढ़ाने का प्रयत्न करते रहे और अवगुणों से सुरक्षित रहने पर ध्यान न दें या अपने अन्दर व्याप्त आसुरी तत्त्वों का नाश करते रहें और देवत्व के विकास पर जोर न दें तो वह एकांगी विकास होगा। इसलिए गायत्री परिवार ने समाज सुधार के जो कदम उठाये हैं, वह तीन प्रकार के हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार से हैं-

रचनात्मक कार्यक्रम

(१) **आस्तिकता**- गायत्री उपासना, अग्निहोत्र, पूजा, उपासना, कथा-कीर्तन, व्रत, उपवास, साधना, तपश्चर्या आदि। टूटे हुए धर्म स्थानों का जीर्णोद्धार।

(२) **स्वाध्याय**-जीवन की विभिन्न समस्याओं का नैतिक आधार पर हल सुझाने वाले साहित्य का अध्ययन।

(३) **सेवा-भावना**-पिछड़े हुए दु:खी लोगों की उन्नति एवं सुविधा बढ़ाने में सहायता करना। सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाने में सहयोग करना। प्रौढ़ शिक्षा, रात्रि पाठशाला, कथा, वाचनालय, औषधालय आदि की व्यवस्था।

(४) **शिष्टाचार**-सबसे मधुर, नम्र और सभ्यता एवं सौजन्य युक्त सद्व्यवहार । बड़ों का विशेष आदर, माता-पिता, बड़े भाई, गुरु तथा पति एवं सासु, ससुर का नित्य चरण स्पर्श, नागरिक कर्त्तव्यों का पालन।

(५) **समता**-मनुष्य मात्र को ईश्वर का पुत्र-सगा भाई जैसा समझना। वंश, श्रमशीलन या लिंग भेद के कारण किसी को नीचा-ऊँचा न मानना। गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर ही भले-बुरे का भेद न करना। पर्दा त्याग एवं स्त्री शिक्षा का प्रसार।

(६) **स्वच्छता**- शरीर, मन, वस्त्र, मकान तथा सामान को स्वच्छ रखना। जहाँ भी जाना या रहना वहाँ से गन्दगी हटाने का प्रयत्न करना। सामूहिक स्थानों की झाड़ू, सफाई आदि के कार्यक्रम बनाना।

(७) **सादगी**-सादी वेशभूषा, सरल स्वभाव से रँगीली तड़क-भड़क, विदेशी एवं बनावटी चीजों से शरीर की अनावश्यक सजावट न करना। स्त्रियों को जेवरों, बहुत बारीक रेशमी एवं कीमती कपड़ों तथा नाखून व होठ रँगने, पाउडर पोतने, सिर खोले फिरने की भद्दी आदतों की हानियों से परिचित करना। खादी या स्वदेशी वस्त्रों की सादी पोशाक अपनाना। व्यवहार एवं हर बात में ठाठ-बाठ छोड़ कर सादगी बरतना।

(८) **सामूहिकता**-मिलजुल कर कार्य करना, पृथकता छोड़कर सम्मिलित प्रवृत्तियाँ अपनाना, संगठित होना,

पारस्परिक सम्बन्धों को घनिष्ट बनाना। साझेदारी की नीति को पसन्द करना। त्यौहार, संस्कार, उत्सव, जन्म दिन कीर्तन, सत्संग, प्रतियोगिता, सभा आदि के कार्यक्रम के आधार पर बार-बार जन-सम्मेलन आयोजनों द्वारा उन्नतिशील विचारों का विस्तार।

(९) मितव्ययता-आवश्यकताओं को कम करना, उपयोगी कार्यों में ही खर्च करना। जिन कार्यों के बिना स्वास्थ्य विकास न रुकता हो, उन विलासिता एवं आडम्बरपूर्ण कार्यों में खर्च न करना बचत की आदत डालना।

(१०) स्वास्थ्य संवर्द्धन-व्यायाम, खेलकूद, ब्रह्मचर्य, उचित आहार-विहार, नियमित दिनचर्या आदि उपायों द्वारा स्वास्थ्य की उन्नति करना। वृक्षारोपण, तुलसी तथा फूलों के पौधे घर-घर में होना।

निषेधात्मक कार्यक्रम-

(१) नशेबाजी-बीड़ी, तमाखु, भाँग, चरस, गाँजा, अफीम, शराब आदि मादक द्रव्यों का त्याग।

(२) व्यभिचार-दाम्पत्ति कर्त्तव्यों की सीमा से बाहर के सभी कामसेवनों से दूर रहना। अश्लील चित्र, कामुकता पूर्ण पुस्तकें, गंदे सिनेमा, गाती नारियों को कुदृष्टि से देखना आदि मानसिक व्यभिचार का त्याग। नारी के प्रति माता-बहिन, बेटी की पवित्र दृष्टि का विकास।

(३) जुआ, चोरी-मुफ्त में बिना श्रम किये धन प्राप्त करने की प्रवृत्ति खेल-खेल में जुआ है और उसी वृत्ति का दुस्साहसी रूप चोरी है। दोनों से दूर रहकर पसीने की रोटी खाना।

(४) माँसाहार-पशुबलि- देवी-देवताओं पर पशु-पक्षियों को काटने की मूर्खता द्वारा हिन्दू-धर्म को कलंकित होने से बचाना, माँस व मछली, अंडा आदि अभक्ष पदार्थों का त्याग।

(५) विवाह-विकृति-दहेज, अनमेल विवाह, बाल-विवाह आदि बुराइयों को मिटाकर, विवाह संस्कार बहुत ही सरल, सादा, कम खर्च में करना।

(६) मृतक-भोज- धार्मिक दृष्टि से १३ या जितने उचित समझे जायँ उतने ब्राह्मणों तथा सगे-सम्बन्धी तथा कुटुम्बियों तक ही मृतक-भोज रहने देना। इसके अतिरिक्त बड़ी दावतें करने का त्याग।

(७) पशु पीड़ा तथा चर्म त्याग-घायल या बीमार पशुओं से काम न लेना, उन्हें निर्दयतापूर्वक न पीटना, चाबुक में कील न रखना। चूँकि, चमड़ा आजकल काटे हुए पशुओं से ही निकलता है, उस पाप कर्म में चमड़े का उपयोग करने वाला भी शामिल है इसीलिए अनिवार्य बातों को छोड़कर जूते आदि चमड़े के न पहनकर कपड़ा, रबड़ आदि के पहनना।

(८) आलस्य-समय का अपव्यय खाली बैठे रहना छोड़कर-श्रमशीलता को अपनाना। खाली समय रहने वाले लोगों के लिए कोई उद्योग तथा शिक्षा की योजना चलाना।

(९) अन्धविश्वास-ऐसी अनेक अविवेकपूर्ण बातें समाज में प्रचलित हैं, जो केवल परम्परा के कारण ही जारी हैं। इनमें से जो हानिकारक हों उन्हें त्यागना।

(१०) भ्रष्टाचार-रिश्वत, बेईमानी, असली के स्थान पर नकली देना, मिलावट करना, धोखा या छल का व्यवहार करना।

(११) अपव्यय-फैशन, जेवर, आडम्बर, विलासिता एवं व्यसनों की फिजूलखर्ची।

अवांछनीयता उन्मूलन हेतु सत्साहस जगायें

संसार में बहुत कुछ ऐसा है जो श्रेष्ठ है और जिसे प्रयत्नपूर्वक बढ़ाया जाना चाहिए; पर साथ ही ऐसा भी काम नहीं जिसे निरस्त किये जाने की आवश्यकता है। खेतों में अनाज के साथ-साथ खरपतवार भी उग पड़ता है। जहाँ पौधों को सींचने, रखवाली करने की आवश्यकता पड़ती है वहाँ यह भी ध्यान में रखना पड़ता है कि खर-पतवार की, कृमि-कीटकों की बाढ़ उसे समाप्त न कर दे और सारे प्रयत्नों को मटियामेट न बना दे। शुभ के परिपोषण और अशुभ के उन्मूलन की आवश्यकता समान रूप से बनी रहती है।

साज-सज्जा के साथ-साथ गंदगी को भी बुहारने, हटाने की आवश्यकता पड़ती है। भोजन ग्रहण के साथ-साथ मलविसर्जन की भी व्यवस्था बनानी पड़ती है, भले ही वह अरुचिकर क्यों न हो। हमारा दृष्टिकोण औचित्य के परिपोषण का पुण्य-परमार्थ अर्जित करना तो होना ही चाहिए पर साथ ही यह ध्यान रखना चाहिए कि आक्रमणकारी तत्त्वों की ऐसी घात न लग जाय जिससे सृजन के लिए किया गया प्रयत्न ही चौपट हो जाय। सरकार जहाँ उत्पादन बढ़ाने की योजनाएँ बनाती है। वहाँ आन्तरिक आक्रमण से निपटने के लिए पुलिस का और सीमा-सुरक्षा के लिए फौज की व्यवस्था भी जुटाती है। व्यक्ति को निजी जीवन में भी इस प्रकार की सतर्कता बरतनी पड़ती है। चोर-उचक्कों के, ठगों की घात न लगने पाये इसके लिए समुचित जागरूकता अपनानी पड़ती है। जहाँ आवश्यकता होती है, वहाँ चौकीदार की नियुक्ति भी करनी पड़ती है। संव्याप्त विषाणुओं से रक्षा करने के लिए डॉक्टरों से टीके लगवाने पड़ते हैं। घरों में खटमल, पिस्सु, जुओं से लेकर घुन, तिलचट्टों की बढ़ोत्तरी भी रोकनी पड़ती है। हमारी गतिविधियों में जितना भाग सृजन प्रयोजनों के लिए, सद्भाव संवर्द्धन के लिए होना चाहिए उतना ही शौर्य-पराक्रम, अनीति-उन्मूलन के लिए भी सुनियोजित होना चाहिए।

बच्चों के संतुलित विकास को ध्यान में रखते हुए एक आँख प्यार की, दूसरी सुधार के लिए सुरक्षित रखने की नीति अपनानी पड़ती है। एकांगी अतिवाद लाभ के स्थान पर हानि ही पहुँचाता है। पूर्ण संत और अहिंसक तो कोई परमहंस ही बन सकते हैं, सामान्यजन को धर्म के परिपोषण और अधर्म के उन्मूलन के लिए कटिबद्ध रहना चाहिए। भगवान् के अवतार भी इन्हीं प्रयोजनों का समान रूप से ध्यान में रखते हुए सुसंतुलन बनाने के निमित्त होते रहे हैं। मनुष्य भी समय रहते इन दोनों यथार्थताओं के साथ सुसंतुलित तालमेल बिठाने के लिए प्रयत्नरत रहे तो ही बात बनती है। एकांगी दया-धर्म का पालन करते रहने से उसे दुष्टता मात्र दुर्बलता समझती है और अपने पंजे गहराई तक गढ़ाने के लिए उत्साहित होती है। अनीति का अब तक बढ़ते चले जाने का प्रधान कारण यही रहा है कि उसका डटकर विरोध नहीं हुआ। खाली मैदान देख कर तो कोई भी दौड़ने के लिए लालायित हो सकता है। प्रतिरोध का अंकुश लगने पर ही अनीति को दुबारा विचार करना पड़ता है और आक्रमण करने से पूर्व दस बार सोचना पड़ता है।

इन दिनों प्रचलित अनाचार का हर ओर बोलबाला है। इसका प्रमुख कारण चिन्तन में अवांछनीयताओं का घुस पड़ना है। तत्त्वज्ञान से जन-मानस को प्रखर बनाये रहने वाला आधार घटते-घटते समाप्त प्रायः हो गया। जो बहुमत का क्रिया-कलाप है, उसी का अनुकरण करने के लिए जनसाधारण का मानस बनता है। अनुकरणप्रियता मनुष्य की स्वाभाविक रुचि एवं प्रवृत्ति है। बच्चे इसी आधार पर बोलना, सोचना और करना सीखते हैं। बड़ों के सम्बन्ध में भी यही बात है। सब ओर अवांछनीयता का प्रचलन दीख पड़े तो फिर मन उसी को सहज, स्वाभाविक व्यावहारिक मान लेता है। उसी का अनुकरण करने लगता है। भले-बुरे की मान्यताएँ प्रायः इस आधार पर बनती हैं कि समीपवर्ती प्रतिभावान लोग क्या करते हैं। इस प्रभाव को उथले आदर्शवादी आदर्शों से निरस्त नहीं किया जा सकता। अनुपयुक्तता के विरुद्ध चिन्तन और प्रयास को जानना तब और भी अधिक कठिन पड़ता है, जब आदर्शवादी आदर्श जीवन्त जाग्रत स्थिति में अपना उदाहरण प्रस्तुत न कर पा रहे हों। तब आदर्शवादी शिक्षा की कथा-वार्ता कहकर उपहास में डाल दिया जाता है, जो उचित, व्यावहारिक एवं शक्य है उसे प्रत्यक्ष प्रयास के रूप में जीवन्त भी तो होना चाहिए। भले ही आदर्शवादी व्यक्तित्व की संख्या अल्पमत में ही क्यों न हो।

आज चिन्तन, चरित्र और व्यवहार में मनुष्य कहीं अधिक गई-गुजरी दयनीय स्थिति में पहुँच गया है। ऐसे लोग खोजे और देखे नहीं जा रहे हैं, जो उचित को ही स्वीकार करें और अनुचित को अस्वीकार करे अपनी आस्था को आदर्शों के प्रति सुनिश्चित सिद्ध करें। ऐसे लोग दूसरों को पतन-पराभाव के गर्त में गिराने से बचा सकते हैं पर जब नाविकों का ही कहीं अता-पता नहीं तो पार उतारने की सुविधा जनसाधारण को कैसे मिले?

मनुष्य का पराक्रम इस बात से जाँचा जाता है कि उसने कितनी उपलब्धियाँ प्राप्त कीं; पर साथ में यह भी देखा जाना चाहिए कि उसने अनीति के साथ असहयोग करने में कितनी बहादुरी दिखाई। अनुचित का कितना असहयोग किया और समय आने पर इसके लिए संघर्ष करने के लिए कितनी दिलेरी का परिचय दिया।

ऐसी प्राणवान प्रतिभा से ही अनीति के उन्मूलन की आशा की जा सकती है। दुर्भाग्य इसी बात का है कि ऐसे व्यक्तित्वों का अभाव हो चला है। जबकि 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' स्तर के लोगों की बाढ़ जैसी आई हुई है। प्रतिरोध के अभाव में तो आक्रमणकारी किसी भी क्षेत्र को रौंदते, तहस-नहस करते चले जाते हैं। उस सफलता का श्रेय आक्रान्ताओं के दुस्साहस को नहीं, वरन् उन लोगों को दिया जाता है जिन्होंने लापरवाही और कायरता बरत कर अनय आक्रमण को सर्वथा सरल बना दिया।

दृष्टिपात करने पर चिन्तन क्षेत्र की भ्रष्टता घटाटोप की तरह छाई दीखती है। लोगों का सोचने का तरीका संकीर्ण स्वार्थपरता से बुरी तरह जकड़ गया है। लोभ और अहंकार की तृप्ति के अतिरिक्त और किसी को कुछ सूझता नहीं।

असीम तृष्णा में आकुल-व्याकुल लोग कुकृत्य करते और अनाचार बरतते दिखलाई पड़ते हैं। समय का प्रवाह कुछ ऐसा ही चल पड़ा है। व्यक्तियों का समूह ही समाज है। कड़ियाँ मिलकर ही जंजीर बनती हैं। मनुष्य जैसे भी होंगे उसी स्तर का समाज या शासन बनेगा। ऊपरी ढाँचे में सुधार लाने के लिए जड़ तक पहुँचने का प्रयत्न करना पड़ेगा।

लोकमानस को भ्रान्तियों से उबारने, न्याय के समर्थन में अड़ जाने और अनौचित्य के विरुद्ध सीना तान कर खड़े हो जाने का साहस यदि जगाया जा सके तो इतने भर से वृत्तासुरों, हिरण्याक्षों, भस्मासुरों के सिंहासन हिल जाएँगे और वे जनसमर्थन के अभाव में औंधे मुँह गिरने के लिए विवश होंगे। अपना समाज हजार वर्ष की गुलामी से मुक्त हुआ है। उस अन्धकार युग की कितनी ही विकृतियाँ आज हमें घेरे हुए हैं और व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन के हर क्षेत्र को बेतरह विकृत बनाये हुए हैं। पिछले पृष्ठों पर उनमें से कुछ विकृतियों की चर्चा की जा चुकी है। व्यक्तिगत जीवन में आलस्य, हरामखोरी, अनियमितता, अस्वच्छता, अशिष्टता का बोलबाला है। नैतिक और नागरिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने में, अवांछनीय उच्छृंखलता, उद्दण्डता बरतने में किसी की कोई संकोच नहीं होता। सभ्य और शालीन जीवन की कसौटी पर हम खरे नहीं खोटे ही सिद्ध होते हैं।

हमें नागरिक और नैतिक मर्यादाओं के प्रति निष्ठावान होना चाहिए और व्यक्तिगत जीवन से उन विकृतियों का उन्मूलन करना चाहिए जो स्थिरता और प्रगति में भारी बाधा बनी हुई हैं। हराम की कमाई की ओर से हमें मन हटाना ही चाहिए। जुआ, सट्टा, लाटरी जैसे अनैतिक माध्यमों से धन प्राप्त करने की प्रवृत्ति हमें छोड़नी ही पड़ेगी। उन माध्यमों को भी चोरी, उठाईगिरी, डकैती, बेईमानी, विश्वासघात जैसे अपराधों द्वारा कमाये गये धन की तरह ही त्याज्य मानना चाहिए। पूरा श्रम करके पसीने की कमाई खाने का हमारा स्वभाव होना चाहिए। वेतन कम मिलता हो तो उसके लिए लड़ने-झगड़ने के हजार मार्ग मौजूद हैं, पर वह लड़ाई अपना नैतिक पक्ष दुर्बल करके नहीं लड़ी जानी चाहिए।

बिना दहेज, बिना जेवर के आदर्श विवाह चल पड़ें

संसार में आधे नर और आधी नारियाँ हैं। विवाहों का क्रम समस्त संसार में चलता है यह एक सामान्य स्वाभाविक सृष्टि-प्रक्रिया है। इसमें और कोई अनोखापन है न आश्चर्य। सर्वत्र आये दिन विवाह होते रहते हैं। ऐसी हँसी-खुशी के अवसर पर कुछ मंगल-गीत, जलपान, उत्सव, उपहार जैसी छोटी प्रक्रिया की जाय तो उचित भी है। संसार भर में प्राय: ऐसा ही कुछ होता है। मित्र-मण्डली के, हितू-सम्बधियों के छोटे उत्सव होते हैं और दो घंटे में समाप्त हो जाते हैं।

अपने देश में इस साधारण-सी बात को तिल का ताड़ बना दिया जाता है। विवाहोत्सव की विशालता, खर्चीलापन और कृत्रिमता भरी धूम-धाम को ऐसा रूप दिया जाता है मानो आकाश से सूरज-चाँद उतरकर जमीन पर आ रहे हैं। यह धूम-धाम कौन कितनी बढ़ा- चढ़ा कर करता है इस बात को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया जाता है और उन दिनों लोग उन्मत्त जैसी मन:स्थिति में जा पहुँचता है। इस अनावश्यक धूम-धाम से किसका क्या प्रयोजन सिद्ध होगा कोई सोचता तक नहीं। पैसा इससे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए चाहिए । घर-परिवार की शिक्षा, तन्दुरुस्ती, दवा-दारू, व्यवसाय आदि कितने ही कामों के लिए पैसा चाहिए । उस सब को रोककर इस धूम-धाम में ऐसीरुरी तरह खर्च किया जाता है मानो वह मुफ्त का, हराम का, कहीं सड़क-चौराहे पर गिर पड़ा मिल गया हो। बाराती इस सज-धज से फिरते हैं मानो उन्हें किसी नाटक में इन्द्र-कुबेर का अभिनय करना हो। गाजे-बाजे, धूम-धड़ाका देखकर लगता है यह लोग कोई बड़ा युद्ध जीत कर आये हों।

इस देश में आर्थिक स्थिति हर दृष्टि से बड़ी शोचनीय है। अपना एक-एक पैसा बचाया जाना चाहिए और ऐसे कामों में खर्च किया जाना चाहिए जिससे जीवन की हर दिशा में संव्याप्त पिछड़ेपन से पीछा छुड़ाने का अवसर मिले। इस तथ्य को भूलकर लोग विवाह-शादियों में पैसे की होली बेरहमी के साथ जलाते हैं। जमापूँजी उसी में स्वाहा कर देते हैं। कइयों को उसके लिए कर्ज लेना पड़ता है और कोई अन्य रास्ता न दीखने पर बेईमानी से पैसा इकट्ठा करते हैं। इस मूर्खतापूर्ण प्रथा के कारण देश की आर्थिक और नैतिक दीवार में भयंकर दरार पड़ गई है। उस यदि न भरा गया तो किसी दिन अपने समाज का ढाँचा ही लड़खड़ा कर गिर पड़ेगा।

दहेज और जेवर की प्रतिस्पर्धा और भी सत्यानाशी है। लड़के वाला माँग पेश करता है कि इतना नकदी सामान मिलने पर विवाह स्वीकार करेगा। लड़की वाला बहुधा प्रत्यक्ष तो नहीं कहता पर परोक्ष रूप से उसका दबाव इस बात के लिए रहता है कि मेरी लड़की के लिए कीमती जेवर और बारात की सज-धज में बहुत पैसा खर्च किया जाय। दोनों में से किसी को इससे कुछ लाभ नहीं होता। लड़के वाले का सारा पैसा धूम-धाम, जेवर आदि में स्वाहा हो जाता है। लड़की वाले का तो प्राण ही निकल जाता है। उसके लिए डाकू और समधी में इतना ही अन्तर रहता है कि डाकू मारते-पीटते हैं समधी इतनी दया करता है। बाकी बन्दूक चलने से लेकर भीड़ लेकर चढ़ आने और घर का सब कुछ लूट ले जाने तक का सारा कृत्य डकैती जैसा ही होता है। आज के विवाहों को एक प्रकार की सामाजिक डकैती ही कह सकते हैं। इस धूम-धाम के कारण होने वाले दुष्परिणाम जो पीछे भुगतने पड़ते हैं इतने भयंकर होते हैं कि उसके घाव आजीवन नहीं भरते।

दहेज के लालच में लड़कियों की आये दिन हत्याएँ होना, अपने को उपेक्षित, तिरस्कृत देखकर लड़कियों द्वारा की जाने वाली आत्महत्याएँ, सुयोग्य लड़कियों का विवाह से वंचित रह जाना, उन्हें किन्हीं बूढ़े बीमारों के गले बाँधा जाना जैसी दु:खद घटनाएँ इस हत्यारे दहेज के प्रचलन के कारण ही होती हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय समाज के शरीर में केन्सर के फोड़े की तरह उगे हुए इस विवाहोन्माद अभिशाप का जड़-मूल से उच्छेदन किया जाय यदि सरलता, सादगी एवं शालीनता के साथ एक छोटे-से पारिवारिक उत्सव की सीमा में इसे सीमित कर दिया जाय। ऐसा न किया जा सका तो देश की आर्थिक और नैतिक स्थिति कभी भी सुधर न सकेगी। कन्या को पुत्र से ऊँचा न माने जाने की विषमता कभी भी दूर न हो सकेगी। सारी दुनिया हम गरीबों द्वारा अमीरों का ऐसा सर्वनाशी भौंड़ा नाटक खेलने की मूढ़ता पर व्यंग्य और उपहास ही करती रहेगी। भारतीय समाज के हर शुभेच्छु सदस्य को समझदारी की चुनौती दें कि वह आगे आये और इस हर दृष्टि से हानिकारक सिद्ध हो रही कुरीति के उन्मूलन में आगे बढ़कर अपने साहस का प्रदर्शन करे।

युग निर्माण परिवार के सदस्यों को इस सन्दर्भ में अपने कदम आगे बढ़ाने चाहिए और समाज का पथ प्रदर्शन करने का उत्तरदायित्व वहन करना चाहिए। यह प्रयास प्रस्ताव पास करने, लैक्चर देने या एक दूसरे से चर्चा करते

रहने से पूरा नहीं हो सकता। इसका सीधा-सा तरीका यह है कि हम में से जिनके लड़के विवाह योग्य हैं वे इस बात की प्रतिज्ञा कर लें कि वे बिना दहेज और बिना धूम-धाम का सादगी सम्पन्न विवाह करेंगे। आगे लड़कों को और उनके अभिभावकों को आना चाहिए। जोर और दबाव उन्हीं पर दिया जाना है। अनीति पर उतारू को ही नीति और न्याय अपनाने के लिए तैयार किया जाना चाहिए।

युग निर्माण परिवार को पहल करनी चाहिए और उन्हें इस आदर्श विवाह विधि को सच्चे मन से स्वीकार करना चाहिए। कठिनाई तब पड़ती है जब हमीं में से लोग दुहरे मुखौटे बाँध लेते हैं। कन्या विवाह योग्य होती है तो आदर्शवाद का समर्थन करते हैं और जब लड़का विवाह योग्य होता है तो गिरगिट की तरह तुरन्त रंग बदल लेते हैं।

यह दुमुँही नीति रखी जाय और आदर्शवादिता का दम भरा जाय तो फिर उज्ज्वल परिवार की सदस्यता ही कलंकित होगी। हमें मन और वचन से एक होना चाहिए। भारतीय समाज के जीवन और मरण से सम्बन्धित इस पवित्र-प्रक्रिया में हमें चालबाजी का नहीं ईमानदारी का परिचय देना चाहिए।

लड़के वाले प्रतिज्ञाबद्ध हों कि लड़कों का विवाह आदर्श ढंग से करेंगे। पर इसका लाभ लड़की वालों को ही मिले जो अपनी आदर्शनिष्ठा का प्रमाण अपने लड़कों का विवाह भी आदर्श ढंग से करके दें। यदि ऐसा न हुआ और लड़की वालों ने धूर्तता करनी आरम्भ कर दी तो फिर समस्या जहाँ की तहाँ बनी रहेगी। पहले लड़के वाले दुष्टता करते थे। अबकी बार वह दाँव लड़की वाले ने जान लिया। अपनी लड़की सस्ते में ब्याह दी और लड़के का समय आया तो पैसा वसूल कर लिया। पुराना ढर्रा अपना लिया। दोनों पक्ष सच्चे मन से विवाहोन्माद विरोधी हों और सादगी की आदर्श प्रक्रिया अपनाये रहने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हों तभी कार्य चलेगा।

आन्दोलन का प्रचारात्मक स्वरूप बहुत दिनों से चल रहा है अब उसे व्यवहार रूप में परिवर्तित होना चाहिए। प्रत्येक लड़के को सच्चे मन से उस परिवर्तन की आवश्यकता स्वीकार करते हुए अपना आदर्श उपस्थित करने का साहस करना चाहिए। शाखा कार्यालय में अपने विवाह योग्य लड़के-लड़कियों सम्बन्धी जानकारी का फार्म भर कर दे दिया जाय उसी की एक प्रति मथुरा भेज दी जाय। उसके साथ परस्पर समानता का ताल-मेल बिठाने वाली ढूँढ़-खोज आरम्भ हो जाती है।

इसी साहसिक कदम के साथ और भी कदम उठाकर दुहरा साहस करना चाहिए कि उपजातियों के बन्धन तोड़कर मुख्य जाति तक ही सीमित रहा जाय। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ उपजातियों के बन्धन तोड़ दें और प्रधान जाति की किसी भी उपजाति में प्रसन्नतापूर्वक शादी करने को तैयार हों।

कोई उपजाति किसी से छोटी-बड़ी है यह मान्यता बिल्कुल हटा दी जाय। इस कदम से लड़की-लड़के ढूँढ़ने का क्षेत्र विस्तृत हो जाएगा।

सामाजिक क्रान्ति के सन्दर्भ में यह तो स्वीकार करना ही है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच खड़ी की गई दीवारें कृत्रिम हैं इस आदर्श की ओर पहले कदम के रूप में उपजाति का दायरा बढ़ाकर जाति तक को विस्तृत करना ही चाहिए। युग निर्माण परिवार के सदस्यों को आदर्श पालन के लिए आगे आना चाहिए।

आदर्शवादी विवाह-प्रक्रिया और उसकी रीति-नीति

विवाहों को सुव्यवस्थित करने के लिए तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण में काफी सुधार-परिष्कार किये जाने की आवश्यकता है। शहरी शिक्षित लोग तो विवाह की आयु बीस वर्ष से अधिक होने का औचित्य मानने लगे हैं, पर देहाती क्षेत्र में अभी भी छोटी आयु में विवाह करने की बात प्राय जड़ जमाये हुए है। बाल-विवाह विरोधी कानून की वहाँ कौन परवाह करता है? अबोध बालकों के विवाह देहातों में अभी भी इतने होते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि सुधारवाद का उजाला वहाँ अभी भी नहीं पहुँचा है; बाल-विवाह को न तो कोई बुरा मानता है न रोकता है। इस ओर हमारा ध्यान जाना ही चाहिए।

विवाह की न्यूनतम आयु कन्या के लिए १८ और लड़के के लिए २१ वर्ष होनी चाहिए, इससे आगे जितना अधिक ठहरा जा सके उतना ही उत्तम है। जनसंख्या वृद्धि के संकट को देखते हुए बड़ी आयु में विवाह करना और शीघ्र प्रजनन को विराम दे देना वैयक्तिक और राष्ट्रीय दृष्टि से आवश्यक है। चालीस-पैंतालीस वर्ष के बाद कोई व्यक्ति सन्तानोत्पादन न करे इसका भी प्रचलन करना चाहिए। गृहस्थ व्यक्तियों को भी समझाया जाना चाहिए कि ढलती आयु में बच्चे पैदा करना, अपने लिए और समाज के लिए प्रत्यक्ष संकट उत्पन्न करना है।

अनमेल विवाहों की भर्त्सना की जानी चाहिए। वृद्ध व्यक्ति छोटी आयु की लड़कियों से विवाह करें यह बहुत ही बुरा है। यदि आवश्यक हो तो उन्हें अपनी ही उम्र की महिला से विवाह करना चाहिए। विधुर-विधवाओं से विवाह किया करें। जिन विधुरों के पास कई बच्चे हैं। उन्हें अपनी ही जैसी स्थिति की बच्चों वाली विधवा को घर में लाने में आपत्ति नहीं होनी होनी चाहिए। दोनों ही मिल-जुलकर सब बच्चों के पालन-पोषण की सुविधा जुटायें। ऐसे विवाहों में कोई बच्चों से किसी प्रकार का पक्षपात न बरतेगा यह पहले ही स्पष्ट हो जाना चाहिए।

अपने देश में शिक्षित कन्याओं के विवाह की समस्या जटिल होती चली आ रही है और उच्च शिक्षा प्राप्त लड़कियों को उपयुक्त जोड़ा न मिलने के कारण

अविवाहित रहने के लिए विवश होना पड़ रहा है। अपने देश में यह मान्यता प्रचलित है कि लड़की से लड़का बड़ा होना चाहिए। लड़कियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करते-करते सहज ही पच्चीस वर्ष से ऊपर निकल जाती हैं। इसके बाद लड़के की ढूँढ़-खोज शुरू होती है। उतने ही या उससे अधिक पढ़े-लिखे लड़कों का बाजार भाव बहुत महँगा होता है। धन ही नहीं ये लोग रूप भी अप्सराओं जैसी कन्या माँगते हैं। ऐसी दशा में उन लड़कियों के अभिभावक जगह-जगह धक्के खाते फिरते हैं, पर कोई उपयुक्त बात बनती नहीं। इस बीच तीन-चार वर्ष और निकल जाते हैं और लड़की अट्ठाईस-तीस पर जा पहुँचती है। अपने देश में जल्दी विवाह की प्रथा वैसे ही परम्परागत है। लड़के पढ़ना समाप्त करते ही विवाहित हो जाते हैं। पच्चीस-छब्बीस से ऊपर के अविवाहित लड़के कदाचित् ही कहीं मिलते हैं।

दहेज और रूप की समस्या तो पहले से ही थी, आयु बढ़ जाने पर उससे बड़ी आयु का लड़का मिलना एक कठिन समस्या और जुड़ जाती है। विवाह होना दुष्कर हो जाता है और शादी के लिए लड़की तथा अभिभावक पूर्णतया तैयार होने पर भी उपरोक्त कारणों से कोई सुयोग नहीं बनता। फलस्वरूप उन्हें प्रायः विवश होकर अविवाहित रहना पड़ता है। तब एक बार यह भी पश्चाताप करना पड़ता है कि उच्च शिक्षा लड़की को क्यों दिलायी गयी?

इस कठिनाई के कारण उच्च शिक्षा नहीं रोकी जानी चाहिए वह तो किसी भी नर-नारी का वास्तविक अधिकार है। विद्या वैयक्तिक ही नहीं राष्ट्रीय सम्पत्ति है। उसकी वृद्धि मानवी प्रगति की वृद्धि है। अविवाहित रहने का जोखिम उठाकर भी जिनके पास साधन हैं, उन्हें ऊँची शिक्षा के लिए प्रयत्न करना चाहिए। लड़कों की तरह लड़कियों को भी इस दिशा में भरपूर प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। किन्तु स्त्री शिक्षा की वृद्धि के साथ-साथ उनकी विवाह समस्या का हल भी ढूँढ़ना चाहिए। इसमें प्रमुख बाधा लड़की की आयु से लड़के की आयु एवं शिक्षा अधिक होनी चाहिए, यह मान्यता है। इसमें फेर-बदल करने की जरूरत है।

लड़के की आयु लड़की से बड़ी ही होनी चाहिए, यह आवश्यक नहीं। बीस वर्ष से ऊपर निकल जाने पर दोनों ही वयस्क हो जाते हैं। इसके बाद आयु का अन्तर कुछ महत्त्व नहीं रखता है। बाईस वर्ष की लड़की के लिए तथा पच्चीस वर्ष की लड़की के लिए बाईस वर्ष का लड़का हो इससे कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। परिपक्व आयु में इस मान्यता की कोई तुक नहीं। सच तो यह है कि लड़की की अधिक आयु का होना उसकी शारीरिक, मानसिक परिष्कृता उसके सुयोग्य गृहिणी सिद्ध होने का चिन्ह माना जाना चाहिए और उसे छोटी उम्र की बच्चियों से कहीं अधिक महत्त्व मिलना चाहिए। लड़के यदि ऐसा सोचने लगें और समाज में इस प्रकार का प्रचलन समाप्त हो जाय तो इससे कन्या शिक्षा के लिए अधिक उत्साह बढ़ेगा और नारी अधिक सुयोग्य एवं सुविकसित बनकर समाज के लिए वरदान सिद्ध हो सकेगी।

हमें निश्चय करना चाहिए कि (१) लड़के के विवाह में कोई दहेज नहीं लिया जाएगा (२) लड़की पर जेवर नहीं चढ़ाया जाएगा (३) बारात की संख्या २० व्यक्तियों से अधिक न बढ़ने दी जाएगी। बारात बिना गाजे-बाजे आतिशबाजी, जुलूस, धूम-धमाके के बिलकुल सादगी के साथ बेटी वाले के यहाँ पहुँचेगी।

इन बातों का और भी अधिक स्पष्टीकरण यह है कि दहेज के नाम पर किसी प्रकार का प्रत्यक्ष या परोक्ष ठहराव नहीं होना चाहिए। यदि कन्या का पिता कुछ देना चाहता है तो वह स्त्री धन के रूप में अपनी कन्या को उपहार दे सकता है, उसका भी दिखावा नहीं होना चाहिए। उस बाप-बेटी के बीच के उपहार की न तो सार्वजनिक चर्चा होनी चाहिए और न ससुराल वालों को उसे लेना चाहिए और समय-असमय के लिए सुरक्षित स्त्री धन माना जाय और उसे बैंक आदि में जमा कर दिया जाय। लड़के वाले इस उपहार राशि में अपनी ओर से कुछ मिला दें। फर्नीचर आदि जो चीजें देनी हों वे विवाह के एक-दो मास बाद दी जाएँ। उस अवसर पर किसी वस्तु का ऐसा प्रदर्शन न हो जिससे कन्या के पिता की गरीबी-अमीरी का परिचय मिलता हो, आगन्तुकों के सम्मानार्थ उपहार का स्थिर मानक एक-एक रुपया होना चाहिए। यह राशि सभी आगन्तुकों को दी जा सकती है ताकि अपने-बिराने का भेद-भाव न हो। समधी और दूल्हे को भी एक-एक रुपया ही मिलना चाहिए।

वर पक्ष की ओर से लड़की को विवाह के समय कीमती जेवर चढ़ाने का प्रदर्शन न किया जाय; वर एवं कन्या पक्ष की ओर से एक दूसरे के लिए एक-एक अँगूठी और पहनने के एक-एक जोड़ी ऐसे वस्त्र जो काम में आते रह सकें देना पर्याप्त माना जाय। अन्य उपहार न तो विवाह अवसर पर दिये जाएँ और न स्वीकार किये जायें। किसी के पास जेवर हो या पहनने का शौक हो तो विवाह के बाद अपने घर जाने में प्रयोग की बात है। विवाह के अवसर पर ऐसा कोई चढावा-दिखावा नहीं होना चाहिए जिसमें वर पक्ष की गरीबी-अमीरी का आभास मिलता हो।

विवाहोत्सव के समय अधिक नर-नारी एकत्रित किये जा सकते हैं। आशीर्वाद देने के लिए समय सायंकाल सूर्य अस्त से पहले का ही होना चाहिए ताकि उसमें महिलाओं की उपस्थिति भी संभव हो सके। चूँकि प्रचलन एवं प्रेरणा की दृष्टि से ऐसे विवाहों की जानकारी अधिकाधिक लोगों को होनी चाहिए इसलिए उत्सव में दर्शकों की उपस्थिति अधिक हो इसका प्रबन्ध किया जाना उचित है। संस्कार स्थल का चुनाव भी इसी दृष्टि से किया जाना चाहिए पर इन आगन्तुकों के लिए सौंफ, सुपारी, चाय, शरबत जैसी सस्ते स्वागत का ही प्रबन्ध किया जाये। इससे आने और बुलाने में संकोच न करना पड़ेगा। जहाँ

सामूहिक यज्ञों में विवाह होता है वहाँ तो दर्शक सहज ही पहुँचते हैं, उनके स्वागत की व्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं होती।

जहाँ सम्भव हो वहाँ कई विवाह मिलकर एक सामूहिक विवाह आयोजन किया जाय। विवाहों की वेदियाँ अलग-अलग रहें पर आयोजन सामूहिक हों। इन्हें विशालकाय आयोजन का रूप दिया जा सकता है। उसमें हजारों नर-नारी उपस्थित होकर भारी प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार के सामूहिक विवाहोत्सव क्रान्तिकारी प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

पर्व-त्यौहारों के दिन इसके लिए उपयुक्त मुहूर्त हो सकते हैं। ऋतु की अनुकूलता-छुट्टियाँ, सुविधा आदि का ध्यान रखकर कोई दिन निश्चित कर लेना चाहिए। शुभ कार्य के लिए हर दिन शुभ है। हर घड़ी भगवान की बनायी होने के कारण शुभ है। इस तथ्य को ही हमें प्रधानता देनी चाहिए और घड़ी-मुहूर्त के जंजाल में विवाह की शोभा और उपयोगिता को नष्ट नहीं करना चाहिए। पंचांग में रात के दो बजे की लग्न निकलती है इस वहम में पड़ने की रत्ती भर भी जरूरत नहीं है क्योंकि इस अड़ंगे में तथ्य राई के बराबर भी नहीं है। पंडितों की बात न मानी तो ग्रह-नक्षत्र नाराज हो जाएँगे, इस बौद्धिक दुर्बलता को जितनी जल्दी हटा दिया जाय उतना ही उत्तम है।

कन्या और वर के गुण-दोष मिलाने के लिये पंचाङ्ग की नहीं लौकिक पर्यवेक्षण एवं निकटवर्ती अन्वेषण की आवश्यकता है। दोनों परिवारों का सामाजिक, मानसिक स्तर क्या है? लड़की-लड़के स्वभाव और आदर्श आपस में मिलते हैं या नहीं? स्वास्थ्य तथा अर्थव्यवस्था की स्थिति क्या है, आदि बातों का अध्ययन किया जाना चाहिए और इसी आधार पर किसी विवाह सम्बन्ध का निर्धारण करना चाहिए। इस झंझट में ग्रह-नक्षत्रों को नहीं डालना चाहिए। वे पृथ्वी से करोड़ों मील दूर हैं। उन्हें किसी के विवाह-शादी से कुछ लेना-देना नहीं है। इसलिए उसके भ्रम के कारण किसी शादी को स्वीकृत या अस्वीकृत करने की बात नहीं सोचनी चाहिए। पंडितों का कार्य विवाह की सफलता में अच्छी शिक्षा देना भर है, ग्रह-नक्षत्रों की आड़ में अकारण किसी शुभ कार्य में बाधक बनना उनका व्यवसाय नहीं होना चाहिए।

युग निर्माण परिवार के सदस्यों को अपने विवाह और अपने लड़की-लड़कों के विवाह इसी आदर्श विधि से करने चाहिए ताकि सामाजिक क्रान्ति का एक अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत कर सकना सम्भव हो सके।

दहेज और धूम-धाम की शादियाँ न होने दें

बुराइयाँ इतनी भोली-भाली नहीं होतीं कि प्रार्थना करने भर से ही अपना बोरिया-बिस्तर समेट लें। वे लालच और अहंकार पर निर्भर होती हैं। अनीति का चस्का ऐसा बुरा है कि समुचित दबाव पड़े बिना वह छूटता नहीं। शराबियों-जुआरियों की आदतें जेल में बन्द होने पर विवश होकर छूट जाती हैं। दण्ड और प्रताड़ना तो बड़ी बात है। साधारण विरोध, व्यंग्य, उपहास जैसे प्रतिरोधों से भी काम चल जाता है। उसके उपरान्त ऐसा भी हो सकता है कि धीमा अथवा कड़ा संघर्ष करना पड़े। न्याय और औचित्य के पक्ष में यह अस्त्र भी काम में लाये जाने चाहिए, समझाने भर से जहाँ काम नहीं चलता। जहाँ दुष्टता को लालच और अहंकार की पूर्ति का लाभ दीखता हो, वहाँ विद्रोह और संघर्ष की सीमा तक जाकर ही अवांछनीयता को समाप्त किया जा सकता है।

अपने समाज में यों अनेक कुरीतियाँ प्रचलित हैं, पर उन सब में अधिक भयावह 'खर्चीली-शादियों' का प्रचलन है। इसमें दहेज का लेन-देन तो प्रधान है ही, इसके अतिरिक्त दिखावे में दी जाने वाली वस्तुएँ, बारात की सज-धज, कीमती ज्यौनार आदि के खर्च भी ऐसे हैं, जो लगभग दहेज के बराबर ही पैसा बर्बाद कराते हैं।

बड़े आदमियों की शादी लाखों की, मध्यमवर्ग की शादी लाख-पचास हजार की और गरीबों की भी चालीस-पचास हजार की बैठती है। लड़कियों को शिक्षित बना देने पर मध्यवर्गीय परिवार तो ढूँढ़ना ही पड़ता है और वह विवाह करने का न्यूनतम लाख-पचास हजार खर्च करना होता है। यह राशि कहाँ से जुटाई जाय-यह प्रश्न टेढ़ी-खीर के समान है। जिसके यहाँ दो-तीन लड़कियाँ भी हों, उसे लाख-डेढ़ लाख की आवश्यकता अवश्य पड़ेगी। इस महँगाई के जमाने में ईमानदारी से कमाने वाला उतना ही अर्जित कर सकता है, जिसमें गुजारा हो सके और किसी प्रकार बच्चों को पढ़ाया भर जा सके। बचत की कोई गुंजाइश नहीं रहती। लड़कियों की शादी के लिए जो अतिरिक्त पैसा चाहिए, इसका जुगाड़ बिठाने में बेईमानी, ठगी, रिश्वत जैसे तरीके ढूँढ़ने पड़ते हैं। जिनकी आत्मा यह सब छन्द-फन्द करने के लिए सहमत नहीं होती, उन्हें महँगी ब्याज पर जहाँ-तहाँ से ऐसा कर्ज लेना पड़ता है। जिसके चुका सकने की संभावना नहीं रहती। यह भी न बन पड़े तो घर के थाली-बर्तन बेचकर पहली लड़की भर के लिए किसी तरह व्यवस्था हो पाती है। बाकी की लड़कियों के लिए तो यह संभावनाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। लड़कियाँ बढ़ने लगती हैं और माँ-बाप चिन्ता से सूखकर काँटा होने लगते हैं। कितनी ही लड़कियाँ इस कुचक्र में कुँवारी रह जाती हैं। कई नौकरी ढूँढ लेती हैं। कई माता- पिता को चिन्ता से मुक्त करने के लिए आत्मघात कर बैठती हैं।

देखा जाय कि धूम-धाम वाली, दहेज-ठहराव वाली शादियाँ क्या आवश्यक हैं? इस संदर्भ में समस्त संसार की ओर दृष्टिपात करना होगा। कहीं भी ऐसा प्रचलन न मिलेगा, जहाँ इस प्रकार का आडम्बर रचा जाता हो और लड़की देने वाले के प्रति कृतज्ञ होने की अपेक्षा उससे

उलटे दहेज वसूल किया जाता हो। अपने देश में भी ईसाई, मुसलमान, जैन, सिख आदि में भी ऐसा रिवाज नहीं है। कहीं-कहीं इन वर्गों में भी प्रचलन होता जा रहा है अथवा नीलाम की बोली बढ़ाकर काले पैसे वाले इस तरह का ढर्रा नये सिरे से चला रहे हैं।

सोचा यह जाना चाहिए कि गरीब वर्ग पर इस प्रथा के कारण कोल्हू में पेले जाने जैसा कितना संकट होता है? उनकी लड़कियाँ माता-पिता की आँखों में से आँसू देखकर कितना सकुचाती हैं और अपने को अभागी मानती हैं। बाप को इस कारण बेईमानी के स्रोत खोजने पड़ें, तो यह और भी बुरी बात है।

लड़के वाले भी कुछ बड़ा नफा नहीं कमा पाते। लड़कियाँ अपने घर-परिवार में भी होती हैं। जितना लिया है उसी हिसाब से उन्हें भी देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त धूम-धाम और प्रदर्शन का पैसा तो सर्वथा निरर्थक चला जाता है। बैण्ड-बाजा, दूल्हा की सजावट और सवारी, बारातियों को बुलाने और खिलाने का खर्चा ऐसा है, जिसे गरीबों का-अमीरों जैसा भौंड़ा स्वाँग ही कहा जा सकता है। अन्य सभी फर्नीचर आदि ऐसे होते हैं, जो बेकार जगह घेरते हैं। उन्हें रखने को छोटे घरों में जगह तक नहीं होती। बेचने में नाक कटती है। फिर वह जहाँ-तहाँ पड़ा हुआ टूट-फूट जाता है। लड़के वाला जितना दहेज माँगता है, उसी अनुपात में उसे वधू के लिए कीमती जेवर और रानियों जैसे कपड़े बनवाने पड़ते हैं। बारात की दावत और सजावट में ढेरों पैसा खर्च करना पड़ता है। ऐसी दशा में जो दहेज में वसूल किया गया था, वह ऐसे ही बेतुके ढंग से बर्बाद हो जाता है, बचाकर रखने जैसी कोई पूँजी हाथ नहीं लगती। लड़की को जो जेवर, कपड़ा मिला- वह समधी के काम नहीं आता। बेटी वाला पिस जाता है और बेटे वाला उस उपलब्धि से कुछ कमा सके-बचत करके घर में जमा कर सके-ऐसा कुछ भी नहीं हो पाता। मात्र बदनामी का ठीकरा ही उसके सिर पर फूटता है और अपनी घर की लड़कियों के लिए उसी अनुपात से खर्च करने का कार्यक्रम बनाता है। न कर पाने पर फिर व्यंग्य-उपहास और लानत-मलामत का वातावरण बनता है। ऐसी दशा में दूसरी बेटी वाले की जो दुर्दशा की गई थी, अपनी बेटियों की बारी आने पर अपनी भी होती है।

हर विवाह में जो दोनों ओर का खर्च होता है, औसतन तीस-चालीस हजार तो आँका ही जा सकता है। बड़े गृहस्थों में हर दूसरे-तीसरे साल एक शादी करना पड़ती है। इस प्रकार इस मद में लाख से ऊपर ही पैसा बर्बाद हो जाता है। यह धन बर्बाद न हुआ होता, किसी उपयुक्त व्यवसाय में लगाया गया होता, बैंक में ही जमा कर दिया गया होता, तो वह पैसा बढ़ता और उसका लाभ दोनों पक्षों को मिलता। अब तो दोनों की ही बर्बादी और बदनामी होती है। दोनों ही गरीबी के चंगुल में फँसते हैं।

समय की माँग है कि इस विचारशीलता के युग में यह तथ्य हर किसी को हृदयंगम कराया जाय कि खर्चीली शादियाँ हमें दरिद्र और बेईमान ही नहीं बनाती बल्कि बदनाम भी कराती हैं। यह मध्यकालीन सामन्तवादी युग के जमींदार, साहूकार, लुटेरों के युग की है, जो अनाप-शनाप कमाते और आँखें बन्द करके खर्च करते थे। अब परिस्थितियाँ बदल गईं, समझदारी अपनाने का तकाजा सिर पर है। सर्वत्र गरीबी और कठिनाई का दौर है। इन दिनों एक-एक पैसा सँभालने और उसे फूँक-फूँक कर पैर रखते हुए-मुट्ठी बाँधकर खर्च करने का जमाना है। इसलिए वह रास्ता निकालना चाहिए, जिससे खर्चीली शादियों की, दहेज ठहराव की लानत-मलामत से बचा जा सके।

मनुष्य आदतन अन्ध-अनुकरण प्रिय है। भेड़ों की तरह एक के पीछे दूसरे को चलते देखा जा सकता है। खर्चीली शादियों के सम्बन्ध में भी यही हुआ और हो रहा है। इस कुचक्र को कहीं से तोड़ना ही पड़ेगा । आदर्शवादी उदाहरण किन्हीं को तो उपस्थित करने ही होंगे। कुरीतियों और मूढ़ताओं से किन्हीं को तो संघर्ष करना ही होगा। यह कार्य प्रज्ञा-परिजनों को अपने कंधों पर उठाना चाहिए और संघर्ष छेड़ने में अपने को भी चोट लगने का जोखिम उठाना पड़ता है, उसके लिए साहस जुटाना चाहिए।

प्रगतिशीलता अपनाने और सुधार-परिवर्तन के श्री गणेश करने का संकल्प लिया गया है। इसीलिए उन्हीं के जिम्मे यह काम भी आता है कि कुरीतियों में सबसे निन्दनीय और हानिकारक, खर्चीले विवाहों की कुप्रथा के उन्मूलन के लिए अपने घरों से शुभारम्भ करें और किसी दूसरे के आगे बढ़ने, साथ देने की प्रतीक्षा किये बिना, स्वयं ही इस दिशा में अपने कदम बढ़ायें।

प्रज्ञा-परिवार के वयस्क नर-नारियों को प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि अपने लड़के-लड़कियों की शादियाँ सर्वथा बिना खर्च के करेंगे। अपना गायत्री परिवार अब इतना बड़ा हो गया है कि उसमें इसी विचार के दोनों पक्ष मिल सकते हैं। यहाँ इतना और सुधार करने की आवश्यकता है कि उपजातियों का बन्धन तो निश्चित रूप से ढीला किया जाना चाहिए। ब्राह्मणों की ब्राह्मण मात्र में, क्षत्रियों की क्षत्रिय मात्र में, वैश्यों की वैश्य मात्र में, कायस्थों की कायस्थ मात्र में, इसी प्रकार अन्य जातियों में भी उपजातियों का बन्धन न रहे, तो उपयुक्त लड़के-लड़की तलाश करने में आधी कठिनाई तो सहज ही दूर हो सकती है। छोटी उपजातियों में थोड़े से सुयोग्य लड़के होते हैं और उनकी बोली महँगी बढ़ती जाती है। यदि ढूँढ़ने का क्षेत्र थोड़ा बड़ा हो जाए तो अपने अनुरूप सम्बन्ध तलाश करने में बहुत सुविधा हो सकती है और समस्या का एक बड़ा समाधान हो सकता है।

आदर्श विवाहों का रूप यह है कि निजी परिवार के न्यूनतम-दस के लगभग व्यक्ति ही बारात में जाएँ। बाहर के किसी सम्बन्धी, यार-दोस्त को उसमें न लाया जाय। वधू के घर आने पर उसके हाथ का बनाया-परोसा भोजन खाने के लिए अपने मित्र-सम्बन्धियों को अपने घर पर दावत के लिए बुलाया जा सकता है।

विवाह के अवसर पर दोनों ओर से कोई दिखावे की चीज न तो ली जाय, न दी जाय। बेटे की ओर से जेवर या राजसी जैसे कपड़े चढ़ाने की कतई जरूरत नहीं है। इसी प्रकार बेटी वाले की ओर से चित्र-विचित्र फर्नीचर, कपड़े या नकदी देने की कोई आवश्यकता न समझी जाय? अधिक से अधिक इतना तो हो सकता है कि दोनों की ओर से लड़की-लड़के के सामान्य कीमत के कपड़ों का आदान-प्रदान कर दिया जाय। जेवर के नाम पर दोनों ओर से एक-एक अँगूठी भर दी जाय। बारात एक रात्रि रुके और दूसरे दिन विदा हो जाय।

अपने यहाँ इसके विरोध-उपहास का झंझट हो तो, दोनों पक्ष शांतिकुंज, हरिद्वार चले आवें और यहाँ के दिव्य वातावरण में शास्त्रीय विधि से शादी करा के ले जाएँ। इसमें किसी साधन-सामग्री के समेटने-बटोरने की आवश्यकता नहीं पड़ती। विवाह में जिन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, उन सबका यहाँ प्रबन्ध है।

बिना खर्च, प्रदर्शन दहेज की शादियाँ करने की प्रतिज्ञा का हमें दृढ़तापूर्वक निर्वाह करना चाहिए? प्रतिज्ञा ऐसी ढीली-पोली न होनी चाहिए कि मित्र, कुटुम्बियों, सम्बन्धियों के विरोध करने पर उसे तोड़ दिया जाय। भले ही उपयुक्त जोड़ा मिलने में देर लगे, इसके लिए धैर्य रखा जाय और विवाह सम्बन्ध उन्हीं परिवारों के साथ जोड़ा जाय, जिनमें आदर्शवाद की लहर पहुँच चुकी हो।

अपने सम्पर्क में भी यह विचारधारा पहुँचनी चाहिए और यह भी निश्चित करना चाहिए कि उन्हीं शादियों में सम्मिलित हुआ जाएगा, जिनमें उपरोक्त आदर्श अपनाया गया है। जहाँ पुराने दर्जे की धूम-धाम हो, लेन-देन हो रहा हो, उनमें सम्मिलित नहीं हुआ जाय, भले ही वह अपने कुटुम्बी या सम्बन्धी के यहाँ ही क्यों न हो रही हो।

स्कूलों-कालेजों में लड़की-लड़कों तक यह प्रचार किया जाना चाहिए। उन्हें इस सन्दर्भ का साहित्य पढ़ाना चाहिए और इस कारण होने वाले अनर्थों का विवरण अखबारों में से कटिंग काटकर सुनाना चाहिए।

जो लड़के-लड़कियाँ सहमत हों, उनसे प्रतिज्ञा-पत्र भराने चाहिए कि विवाह आदर्श परम्परा के अनुरूप ही करेंगे। परिवार के लोग यदि इससे असहमत होंगे तो बिना विवाह के रहेंगे पर इस प्रतिज्ञा को तोड़ेंगे नहीं। अपने इस निश्चय की जानकारी अभिभावकों को भी दे देनी चाहिए, ताकि वे कहीं बात चलाकर पीछे बात को लौटाने में अपनी तौहीन न समझें। स्कूल-कालेजों के अतिरिक्त भी जहाँ-कहीं अविवाहित मिलें, वहाँ उनसे भी यही प्रतिज्ञाएँ करानी चाहिए। साथ ही उपयुक्त जोड़े मिलाने में, उपयुक्त समय पर उनकी सहायता भी करनी चाहिए। हर क्षेत्र में ऐसे प्रतिज्ञा करने वाले अभिभावकों एवं युवक-युवतियों की लिस्ट भी हर शाखा-संगठन को रखनी चाहिए।

एक अच्छा तरीका सामूहिक विवाहों का भी है। गायत्री यज्ञ, युग निर्माण सम्मेलन के साथ सामूहिक विवाहों की योजना भी बनायी जाय। अभिभावकों के साहस को सराहा जाय और अन्य लोगों को भी यही परिपाटी अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। संभव हो तो वर-वधुओं के जोड़े सवारियों पर बिठाकर नगर में उपस्थित जनता समेत जुलूस निकाला जाय, किन्तु स्मरण रहे कि इन सामूहिक विवाह आयोजनों में बाल-विवाहों को प्रोत्साहन न दिया जाय। कुछ समय पूर्व भारत सरकार यह एक्ट पास कर चुकी है कि १८ वर्ष से कम की लड़की और २१ वर्ष से कम के लड़के का विवाह करना दण्डनीय है। ऐसा करने पर दोनों पक्ष के अभिभावक और विवाह कृत्य कराने वाले पंडित जेल जा सकते हैं। अपने मंच से बाल-विवाहों का समर्थन नहीं होना चाहिए। एक अच्छाई-दूसरी बुराई मिला देने पर यह प्रयत्न गुड़-गोबर मिला देने की तरह सर्वथा निरर्थक हो जाता है; दहेज के कारण होने वाली हानियों से बाल-विवाह की हानि किसी प्रकार कम नहीं है। ऐसे आयोजनों से प्रोत्साहित होने वाले अगले सम्बन्ध में परिचित लोगों के बीच जुड़ जाते हैं।

बिहार में मैथिल ब्राह्मणों का एक बड़ा मेला ऐसा भी होता है, जिसमें अभिभावक अपने लड़के-लड़कियों को लेकर पहुँचते हैं और अपने उपयुक्त सम्बन्धों की ढूँढ़-खोज का काम उस अवसर पर सरल बना लेते हैं। गायत्री परिवार के क्षेत्रीय आयोजनों में इस प्रकार का प्रचलन भी करना चाहिए। ढूँढ़-खोज में सरलता हो जाना भी एक बड़ी बात है।

आवश्यकता इस बात की है कि खर्चीली शादियों की हानियों से जन-जन को अवगत कराया जाय और कहा जाय कि इस आधार पर होने वाले सम्बन्धों में कन्या पक्ष अपने ऊपर तेल-पेलने जैसे दबाव भरे अत्याचार को कभी भूले नहीं। सम्बन्धियों के बीच जो प्रेम-भाव बनना चाहिए, वह आजीवन बनता ही नहीं। लड़कियाँ भी समझदार होती हैं, उनके मन में भी यह घाव रहता है कि ससुराल पक्ष ने उसके अभिभावकों को किस प्रकार त्रास दिया और निचोड़ा है। इस घाव के कारण वह ससुराल वालों की मन से सेवा भी नहीं कर पाती। विवाह की धूम- धाम तो दो-चार दिन में समाप्त हो जाती है, पर उसके कारण हुई घर की बर्बादी आजीवन याद बनी रहती है और वह खाई लम्बे समय तक नहीं पटती। विवाह का उद्देश्य दो परिवार में घनिष्टता-आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ना है, पति-पत्नी के बीच श्रद्धा और सहानुभूति उत्पन्न करना है, पर जहाँ दहेज के नाम पर नीलामी होती है, वहाँ बाहर से शिष्टाचार बरता जाने पर भी, भीतर ही भीतर घृणा और तिरस्कार बना रहता है। इसके रहते न वर-वधू में आत्मीयता पनपती है और न दो कुटुम्ब परस्पर सुख-दुःख के साथी होने की आशा करते हैं। दहेज के नाम पर लड़का बेचा जाना हो तो फिर उसे बैल की तरह ससुराल ही जाकर रहना चाहिए और उन्हीं लोगों का काम-धन्धा करना चाहिए। न्याय की दृष्टि से सोचा जाय तो, लड़की वाले दहेज माँगे तो उसके पीछे कोई तर्क तथा औचित्य

भी है; पर लड़के वाले दहेज माँगे, इसका तो कोई न्यायोचित कारण भी समझ में नहीं आता।

इस सन्दर्भ में एक महाभारत स्तर का संघर्ष खड़ा करना पड़ेगा। जिसमें कुटुम्बियों और सम्बन्धियों का ख्याल किये बिना भगवान कृष्ण ने पांडव-कौरवों को नीति-अनीति के प्रश्न पर आपस में लड़ा दिया था। मीरा के एक पत्र का उत्तर देते हुए तुलसीदासजी ने लिखा था-

पिता तज्यो प्रहलाद, विभीषण बन्धु, भरत महतारी।
गुरुबलि तज्यौ, कन्त ब्रजबनितन, भये मुद मङ्गलकारी।।

इसका अर्थ है कि नीति-अनीति के प्रश्न पर कुटुम्बी-सम्बन्धियों के अभिमत उपेक्षा की जा सकती और उनके आग्रह-परामर्श की अवमानना की जा सकती है। प्रज्ञा परिवार में छोटे-बड़े सभी को खर्चीली शादियों के सम्बन्ध में ऐसा ही रुख अपनाना चाहिए। अनीति के आगे सिर नहीं झुकाना चाहिए।

सादगी भरे विवाहों की सत्परम्परा सब ओर चल पड़े

इन दिनों अपने समाज पर छाई हुई दुष्प्रवृत्तियों में सर्वाधिक भयावह शादियों के नाम पर होने वाली बर्बादी है। अपने समाज में लड़की-लड़के बिकते हैं। वनवासी स्तर के पिछड़े, अनगढ़ लोगों में लड़की बिकती है। लड़के वालों को उसके बदले में इतना पैसा देना पड़ता है जिसका कर्ज चुकाते-चुकाते सारा जीवन ही चला जाय। वे इस पैसे को किसी उपयोगी काम में नहीं लगाते वरन् पंच बिरादरी इकट्ठी करने नाच-नशे की धूम-धाम मनाते और खा-उड़ाकर समाप्त कर देते हैं। लड़की वाला बदनाम हुआ, लड़के वाले के सिर पर कभी न चुक सकने जितना कर्ज लद गया; इसे क्या कहा जाय?

दूसरा एक और वर्ग है जो तो शिक्षितों, सम्पन्नों और सभ्य समझे जाने वालों का। किन्तु, अदूरदर्शी मूढ़-मान्यता अपनाने की दृष्टि से उसे भी अनगढ़ आदिवासियों की ही पंक्ति में खड़ा किया जा सकता है। प्रचलन उन्होंने भी प्रायः उसी स्तर के अपना रखे हैं। अन्तर राई-रत्ती जितना यह है कि वे लड़कियाँ नहीं लड़के बेचते हैं। लड़की वालों से अपने लड़के के माँस जितना पैसा दहेज के रूप में माँगते हैं। प्रचलन के दबाव से बेटी वाले को वह पैसा कहीं-न- कहीं से जुटाना पड़ता है। कहीं न कहीं शब्द से तात्पर्य है-चोरी, बेईमानी, रिश्वत आदि अनुचित, अनैतिक उपायों के सहारे या फिर बर्तन, कपड़े, खेत-खलिहान आदि बेचकर, कर्ज या और भी जो कुछ समझ में आये अथवा बन पड़े; भले ही उसकी परिणति अन्ततः कितनी ही भयानक क्यों न हो?

सभी जानते हैं कि इन दिनों महँगाई का समय है। ९९ प्रतिशत लोगों को रोज कुँआ खोदना और रोज पानी पीना है। शिक्षा-चिकित्सा जैसी आवश्यकताएँ जुटाने तक की तंगी पड़ती है। मुश्किल से पेट भरने और तन ढकने का संयोग बन पड़ता है। मुश्किल से एक प्रतिशत लोग ऐसे हैं जो कुछ इतना बचा पाते हैं जिसे शादी की धूम जैसे नितान्त मूर्खतापूर्ण कार्य के लिए बचाकर रखा जा सके।

यह भी सर्वविदित है कि प्रचलन के हिसाब से बारात, दावत, नेग, चलन, बाजे-गाजे, आतिशबाजी आदि में कितना पैसा होली की तरह जलता है। यह भी किसी से छिपा नहीं कि बेटे वाले लड़की वाले से दहेज की मोटी रकम चाहते हैं साथ ही तरह-तरह के साज-सज्जा के भेंट-उपहारों के आडम्बर भी साथ ले जाना चाहते हैं। इस सरंजाम में भी नकद दहेज के लगभग ही राशि लगती है। इतना धन उस परिवार की आर्थिक स्थिति सुधारने में लगता तो भी बात समझ में आने लायक थी। डाकू, हत्यारे धन लूटकर लाते हैं, कमाई में आग तो नहीं लगाते। कम-से-कम अपने मित्रों, कुटुम्बियों का तो भला करते हैं। किन्तु दहेज के लुटेरे उस कमाई को हाथों-हाथ स्वाहा करते चलते हैं। वधू को गुड़िया बनाकर सजाने के लिए जेवर और कपड़ों में इतना पैसा लगाते हैं, दावत, दिखावे, जश्न और धूम-धाम में इतना लुटाते हैं कि लूट के माल में से उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ता। सब ऐसे ही फुलझड़ी जलाने में उड़ जाता है। कई बार तो उसमें उलटा घर से भी लगाना पड़ता है। इसे कहते हैं 'गुनाह बे लज्जत' बेटी के बाप का घर उजड़ गया। उसका परिवार दीन-हीन, जर्जर और दिवालिया हो गया। बदले में लुटेरों का घर भी तो नहीं भरा । आर्थिक दृष्टि से इसे ऐसी विडम्बना कह सकते हैं जिसमें धूर्तता और मूर्खता के अतिरिक्त समझदारी का कहीं एक कण तक नहीं दीखता।

नैतिक दृष्टि से इस अवांछनीयता को जितना अधिक कोसा जाय उतना ही कम है। जिस परिवार ने अपनी लड़की को सुयोग्य बनाकर आजीवन रोटी के बदले अहिर्निश सेवा करने के लिए प्रदान किया उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने, ऋणी रहने की बात सोचने के स्थान पर उनके बच्चों के कपड़े उतरवा लेने जैसी दुरभिसंधि रची जाय तो इसमें कृतघ्नता, निष्ठुरता और दुष्टता के अतिरिक्त और कहीं कोई भलमनसाहत जैसी बात दीखती तक नहीं। जिसका ऐसा शोषण हुआ है उसके घाव आजीवन हरे रहेंगे। बाहर से कोई शिष्टाचारवश दाँत भले ही निपोरता रहे, पर भीतर घुसकर देखने पर पता चलेगा कि कितनी घृणा, कितनी पीड़ा, कितनी विवशता भरी आग वहाँ जल रही है। जो लड़के विलायत जाने का खर्चा और मोटर, स्कूटर की फरमायश ससुराल वालों से करते हैं, समझना चाहिए कि इनकी मनुष्यता और लज्जा जड़ मूल से उखड़कर किसी आँधी-तूफान में उड़ गई।

अपने समाज के हर गृहस्थ को अपनी आजीविका की प्रायः एक तिहाई राशि विवाह-शादियों में खर्च करनी पड़ती है। पेट भरने के बाद जो बचता है उसका अधिकांश भाग इसी खड्ड में गिरकर नष्ट हो जाता है। ऐसी दशा में

दरिद्रता से उबरने का कोई रास्ता नहीं। आजीविका बढ़ी तो शादियों का खर्च भी उसी अनुपात में बढ़ जाता है। मुट्ठी भर लोगों को छोड़कर शेष की ऐसी स्थिति ही नहीं बन पाती कि परिवार में शिक्षा, चिकित्सा आदि का समुचित प्रबन्ध कर सके या आर्थिक उन्नति के लिए कोई पूँजी संग्रह कर सके। निरन्तर आर्थिक समस्या से व्यग्र रहने और उसकी पूर्ति के लिए अनैतिक उपाय सोचते रहने के अतिरिक्त और कोई रास्ता भी तो नहीं मिलता; ऐसी दशा में सामाजिक दृष्टि से अपना समाज दिन-दिन अधिक गई-गुजरी स्थिति में गिरता चला जाय तो आश्चर्य ही क्या है?

लड़की वाला अपने समय पर सुधारवादी बनता है और देन-दहेज को कोसता है, पर जब अपने लड़के के विवाह का समय होता है तो यह गाय न रहकर भेड़िया की तरह गुर्राता है, यह दुमुँही-दोगली नीति अपनाते हुए देखकर लगता है समाजगत शालीनता एक प्रकार से समाप्त होती चली जा रही है।

संसार में सहस्रों देश और सैकड़ों धर्म हैं, पर कहीं किसी में भी ऐसा प्रचलन नहीं है कि विवाह में ऐसा लेन-देन और धूम-धमाका चलता हो। पारिवारिक उत्सव की तरह सीधे-सीधे ढंग से प्रचलित चिन्ह-पूजा करते हुए लड़की विदा हो जाती है। न अग्निकाण्ड जैसी गुहार चलती है और न डकैती जैसी लूटमार जैसे हाहाकारी दृश्य उपस्थित होते हैं। गरीबी द्वारा अमीरी का स्वाँग रचना आमतौर से बड़ा घिनौना और बचकाना माना जाता है, पर अपने समाज में तो इस कुकृत्य को भी नाक की प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाया जाता है। अनैतिकता, अनैतिकता है यह एक जगह पनपती है तो अपनी लपेट ही के हर सम्पर्क क्षेत्र को प्रभावित करती है। लड़की-लड़कों का क्रय-विक्रय निश्चत रूप से कसाइयों जैसा व्यवसाय है, उसकी हर दृष्टि में भर्त्सना ही की जा सकती है।

कहते-सुनते, लिखते-पढ़ते बहुत दिन हो गये कि इस सत्यानाशी कुप्रथा से अपने समाज को छुटकारा दिलाया जाना चाहिए और देव संस्कृति के मुँह पर पुती इस कालिख को हर कीमत पर छुड़ाया जाना चाहिए। किन्तु कठिनाई यह रही है कि एक ने दूसरे का मुँह ताका है। दूसरे ने तीसरे का, आगे बढ़ने की बारी जब भी आई तो बगलें झाँकी गई हैं। दकियानूसी वातारवण में पले लाल बुझक्कड़ों के सामने प्रगतिशीलों ने अपने को हारा-हारा या खोया-खोया-सा अनुभव किया है। यदि यही क्रम चलता रहा तो सुधार में हजारों वर्ष लगेंगे। इतनी लम्बी प्रतीक्षा न करनी हो तो उपाय एक ही है कि हम बिना खर्च, बिना दहेज की शादी सादगी और शालीनता से भरे-पूरे वातावरण में सम्पन्न करने की बात अपने घर-परिवारों से ही आरम्भ करें। दूसरों में आगे बढ़ने का जब प्रचलन चल पड़े तब उसके अनुकरण की प्रतीक्षा में न बैठे रहकर हमें भी अग्रिम पंक्ति में खड़ा होना चाहिए और लंका को अपनी पूँछ से जलाकर अन्यान्य रीछ-वानरों की हिम्मत बढ़ानी चाहिए।

प्रज्ञा-परिजनों की बिरादरी बीस लाख के लगभग है। शादियाँ हम अपने ही लोगों में पक्की करें। दूसरों से भी सम्पर्क साधें तो पर मालदार ढूँढ़ने की अपेक्षा प्रगतिशील को महत्त्व दें। लड़की-लड़के श्रमपूर्वक गुजर करें यह उसकी तुलना में कहीं अधिक अच्छा है कि किसी धनी प्रतिगामी के घर लड़की को सड़ने-सुबकने के लिए खदेड़ा जाय और अपना घर खाली किया जाय। उपजातियों की कट्टरता अब समाप्त होनी चाहिए। उसमें कोई दम नहीं। न वह शास्त्रीय है, न तथ्यपूर्ण। दायरों में बँधे रहने के कारण भी अच्छे सम्बन्ध मिलने में भारी कठिनाई पड़ी और दहेज की माँग बढ़ी है। हमें यह बन्धन भी शिथिल करने चाहिए।

प्रज्ञा-परिजन निश्चय करें कि वे अपने घर के तथा प्रभाव क्षेत्र के लड़की-लड़कों की शादियाँ मिशन की निर्धारित विधि-व्यवस्था के अनुरूप ही करेंगे। जिसमें बारात, गाजे-बाजे, दहेज, प्रदर्शन, जेवर, सज-धज आदि का निषेध हो। कोई पिता देना चाहे तो लड़कों को पाँच साल के फिक्स डिपोजिट में राशि को दूना होने के लिए दे सकता है। दोनों ओर से मात्र वर-वधू के कपड़ों का आदान-प्रदान हो, जेवर के नाम पर अँगूठी बदलने की छूट हो सकती है। सोने की न हो वह चाँदी की हो सकती है। कोई उपहार देने की बात हो तो उसका प्रदर्शन तनिक भी न किया जाय। इस प्रकार सादगी और शालीनता से भरे हुए विवाह प्रचलन होंगे तो उनका अनुसरण अन्य लोग भी करेंगे।

विवाह योग्य लड़के-लड़कियों से इस प्रकार की प्रतिज्ञाएँ कराने का आन्दोलन चलाया जाय। वे सादे कागज पर अपनी प्रतिज्ञा लिखकर स्थानीय प्रज्ञा संस्थान में जमा करें। इसी प्रकार अभिभावक भी वैसी ही प्रतिज्ञा करें और उस घोषणा की जानकारी नोट करायें। इन सबकी एक-एक प्रति शान्तिकुंज, हरिद्वार में भी पहुँचती रहे तो लड़की-लड़के तलाश करने, बताने में सुगमता पड़ेगी। यह कार्य ऐसे क्षेत्रीय सम्मेलनों के माध्यम से ही हो सकता है जिसमें विवाह योग्य लड़की-लड़के अपने अभिभावकों के साथ आयें, बातचीत करके उपयुक्त सम्बन्ध तलाश करने का प्रयत्न करें। इस दृष्टि से प्रगतिशील जातीय सम्मेलनों के आयोजन भी बहुत उपयोगी हो सकते हैं। बन पड़ा तो हर बड़ी बिरादरी के ऐसे सम्मेलन शान्तिकुंज में प्रान्तीय प्रज्ञापीठों से बुलाने की व्यवस्था की जाएगी।

सन् १९३-८४ के दो वर्षों में यह प्रयत्न किया गया कि प्रज्ञा-परिजनों के लड़के-लड़कियों के विवाह शान्तिकुंज में ही सम्पन्न हुआ करें। दोनों पक्ष के दस-दस व्यक्ति वहाँ पहुँचें और इस वातावरण में परिपूर्ण सादगी के साथ विवाह कार्य सम्पन्न करें। दोनों पक्ष मिल-जुलकर एक साथ भोजन बनायें और साथ बैठकर खायें। ठहरने, खाने आदि की सारी व्यवस्था यहाँ है। कर्मकाण्डों पंडितों द्वारा पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से विवाह-प्रक्रिया यहाँ सम्पन्न कराई जाती है। यहाँ एक बात स्मरण रखने योग्य है कि बाल-विवाह या अनमेल विवाह यहाँ नहीं किये जाते। वर-

कन्या का सुयोग होना तथा दोनों की पसन्दगी होना आवश्यक है।

इस निर्धारण में सबसे बड़ा एक लाभ देखा गया है कि स्थानीय क्षेत्र के प्रतिगामी लोगों के दबाव, उपहास से बच जाने पर दुर्बल मनोबल वाले भी असमंजस से बच सकते हैं अन्यथा कुटुम्बी-सम्बन्धियों में से कितने ही ऐसे भी होते हैं, जिनका रिश्ते या आयु के कारण दबाव मानना पड़ता है और करे-धरे का गुड़-गोबर हो जाता है। इस झिझक असमंजस को खोलने के लिए यह सोचा गया है कि दो वर्ष तक प्रज्ञा परिवारों के लड़की-लड़कों के विवाह शान्तिकुंज, हरिद्वार अथवा गायत्री तपोभूमि, मथुरा में ही सम्पन्न किये जाएँ।

स्मरण रहे शुभारम्भ के मुहूर्त में जैसा वातावरण होता है वैसा प्रभाव अन्त तक बना रहता है। विवाह दो आत्माओं का मिलन है। उसे एक प्रकार से नया जन्म कह सकते हैं। उस अवसर पर यदि बुद्धि काम न करे, अहंकार छाया रहे और रुदन एवं घृणा-विद्वेष का भाव रहे तो समझना चाहिए कि उस दम्पत्ति के जीवन पर वह माहौल प्रेत-पिशाच की तरह आजीवन छाया रहेगा। पति-पत्नी में से कोई सुखी न रहेगा। दोनों असन्तोष और विग्रह से आक्रान्त रहेंगे। अच्छा हो इस तथ्य को समझा जाय, विवाहोत्सव को पूर्ण सात्विकता, शालीनता और सद्भावना के वातावरण में सम्पन्न किया जाय? लक्ष्य नष्ट करने वाली विडम्बना का सर्वथा परित्याग ही किया जाय। यह प्रक्रिया शान्तिकुंज के देव वातावरण में विवाहोत्सव कराने पर अधिक अच्छी तरह सम्पन्न हो सकती है। उसमें मितव्ययता भी है और साथ ही उच्चस्तरीय आशीर्वाद की उपलब्धि भी।

यही वह समय है जब प्रज्ञा परिजनों को उत्साह पूर्वक आगे आना चाहिए एवं शुभारम्भ स्वयं से-अपने प्रभाव के परिचितजनों से करना चाहिए। मूक दर्शक की तरह बहुओं को जलते देखना, समधी-समधिनों, लड़कों को लोभी लालची वृत्ति के रूपों में छाई अनीति में हस्तक्षेप न करने की अपनी नीति बना लेना भी प्रकारान्तर से उस अनाचार में सहयोग ही देना है। हमें ध्यान रखना है कि कहीं यह लांछन हममें से किसी पर तो नहीं लग रहा है। अपनी लड़कियों की सादगी भरे विवाहों में अत्युत्साह एवं अपने लड़कों की शादी की चर्चा पर मुखौटा बदलने की नीति कहीं परिजन तो नहीं अपना रहे?

समाज की अन्यान्य समस्याएँ अपनी जगह हैं और विवाह-अपव्यय दहेज की एक ओर। बीस लाख प्रज्ञा परिजन एवं उनके परिचय के लगभग एक करोड़ से भी अधिक व्यक्ति इस समस्या से भली-भाँति अवगत हैं। यदि सादगी भरे विवाहों की सत्परम्परा शान्तिकुंज, हरिद्वार व गायत्री तपोभूमि, मथुरा से आरम्भ होकर सारे प्रज्ञा संस्थानों में भली-भाँति चल जाय तो समझना चाहिए कि समस्या का उचित समाधान खोज लिया गया। स्थापना में समय लगता है-निर्वाह में नहीं। एक बार सही परिणतियाँ सामने आने पर वैसा वातावरण बनने में तनिक भी देर न लगेगी।

प्रज्ञा-परिजनों में से प्रत्येक का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह सादगी और शालीनता भरी शादियों के प्रचलन में पूरा-पूरा रस लें, उत्साह प्रदर्शित करें और अपने-अपने क्षेत्रों में वैसा वातावरण बनाने में कुछ कमी न रहने दें।

विवाहोन्माद प्रतिरोध आन्दोलन

समाज का निर्माण परिवार से होता है और परिवार का विवाह से। हर नया विवाह एक नये समाज की रचना करता है। जिस प्रकार छोटी-छोटी कड़ियों को मिलाकर एक जंजीर बनती है इसी तरह इन छोटे-छोटे परिवारों का समूह ही समाज कहलाता है। यदि सभ्य, सुविकसित, सुसंस्कृत समाज का निर्माण करना हो तो उसके लिए परिवारों के निर्माण पर ध्यान देना होगा। इस सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि विवाह का शुभारम्भ-श्रीगणेश ऐसे वातावरण में हो जो अन्त तक मङ्गलमय परिणाम ही उत्पन्न करता है। कहते हैं कि अच्छी शुरूआत में सफलता की आधी सम्भावना सन्निहित रहती है; जिसका आरम्भ ही दुर्बुद्धि एवं दुर्भावना के साथ होगा उसका विकास भी असन्तोष और संघर्षों के बीच होगा और यह क्रम अन्ततः उसे असफल ही बना देगा।

आज के अधिकांश विवाह आगे चलकर असफल ही सिद्ध होते हैं। ऐसे कम ही जोड़े निकलेंगे जो एक मन, दो शरीर बनकर रहते हों। परस्पर द्वेष-दुर्भाव भरे हुए वे किसी तरह अपनी गाड़ी तो घसीटते रहते हैं, पर उसमें भीतर ही भीतर असन्तोष एवं अविश्वास की आग सुलगती रहती है। ऐसे असफल गृहस्थो की शृंखला सभ्य समाज की सुविकसित एवं सुसंस्कृत समाज की रचना में भला क्या सहायक बन सकती है? आज यही विषम परिस्थिति चारों ओर फैली हुई है।

समाज निर्माण की आवश्यकता सर्वत्र अनुभव की जा रही है। हर कोई जानता है कि व्यक्ति और समाज का उज्ज्वल भविष्य इसी बात पर निर्भर है कि समाज में श्रेष्ठ परम्पराएँ प्रचलित हों। कोई मनस्वी व्यक्ति अपनी प्रतिभा से समाज का वातावरण बदलते हुए भी सफल होते हैं पर अधिकतर होता यह है कि समाज की जैसी भी स्थिति एवं परम्परा होती है, उसी के अनुरूप व्यक्तियों का बनना और ढलना जारी रहता है। तद्नुसार ही उस देश, समाज या जाति का उत्थान एवं पतन होता रहता है। यदि हमें नये समाज का निर्माण करना हो तो वस्तुतः उसके मूल-विवाह पर अत्यधिक ध्यान देना होगा। उसमें जो विषमता, विशृंखलता एवं विकृति उत्पन्न हो गई है उसे सुधारना होगा। इसके बिना समाज निर्माण, मानव प्रगति एवं विश्वशान्ति के सपने साकार न हो सकेंगे।

हिन्दू समाज में विद्रोहों का आरम्भ आज जिस ढंग से, जिस विचारधारा के साथ किया जाता है उसे अत्यन्त निराशाजनक एवं दुर्भाग्यपूर्ण ही कहना चाहिए। उपयुक्त जोड़ी ढूँढ़ने से लेकर दोनों कुटुम्बों में परस्पर अगाध स्नेह-सहानुभूति रहने तक जो उल्लासपूर्ण वातावरण रहना चाहिए और दो आत्माओं के समर्पण यज्ञ की जो परम पवित्र धार्मिक सद्भावनापूर्ण परिस्थितियाँ रहनी चाहिए, उनका कहीं ढूँढ़े भी दर्शन नहीं होता। सच तो यह है कि सब कुछ इससे विपरीत होता है। छोटे-छोटे अबोध बालकों को गृहस्थ निर्माण का भार वहन करने के लिए विवाह वेदी पर प्रस्तुत कर दिया जाता है। युवावस्था आने से पूर्व विवाह करना, अबोध बालकों का बाल विवाह भी भला कोई विवाह है। उसे तो एक श्रेष्ठ परम्परा का थोथा प्रदर्शन मात्र कहा जा सकता है। इसी प्रकार अनमेल विवाह भी भर्त्सना के योग्य है। अधेड़ एवं बूढ़े आदमी यदि अपनी बेटी, पोतियों की आयु की बच्चियों से विवाह करें तो उसमें क्या तो नैतिकता मानी जाएगी और क्या मानवता एवं क्या सामाजिकता? कई-कई बच्चे होते हुए भी पुरुष एक के बाद दूसरे कई विवाह करते चले जायें, पर स्त्री यदि अल्पायु में भी विधवा हो जाय तो उसे उस प्रकार की सुविधा न मिले। इस तरह के पक्षपात एवं अन्याययुक्त कानून जिस समाज में प्रचलित हों और उसके लोग इस अनीति का समर्थन भी करते हों तो उसे अपने धार्मिक कहलाने का भला क्या अधिकार हो सकता है?

आज जिस ढंग से जिस आडम्बर, अहंकार और तामसी वातावरण में विवाह-शादियाँ होती हैं, उन्हें देखकर किसी भी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि यह दो आत्माओं के समर्पण के लिए आयोजित सर्वमेध-यज्ञ का धर्मानुष्ठान है। उन दिनों तमोगुण की ही घटाएँ छाई रहती हैं। अश्लील गीत, गन्दे, ओछे मखौल, पान, बीड़ी, भाँग, शराब की धूम देखकर उसकी संगति यज्ञ से कैसे बिठाई जाय?

यह हलका-फुलका धार्मिक कृत्य मानव जीवन की एक साधारण-सी आवश्यकता है। जिस प्रकार मुण्डन, अन्न- प्राशन, विद्यारम्भ, जनेऊ, वानप्रस्थ आदि अन्य संस्कार होते हैं वैसा ही विवाह भी एक साधारण-सा धर्मानुष्ठान है। उसमें संस्कार का कुछ बड़ा आयोजन रह सकता है,.हर्ष-उल्लास का छोटा-मोटा आयोजन भी रह सकता है, पर वह इतना खर्चीला और उलझन भरा कदापि न होना चाहिए कि आर्थिक दृष्टि से दोनों पक्षों का कचूमर ही निकल जाय। बारातियों को सर्वथा अनावश्यक भीड़ को इधर से उधर ठेले फिरने, उनके ठहराने, अनेक तरह की सुविधाएँ जुटाने एवं कीमती प्रीति-भोजों का खर्चीला भार उठाने में किसका क्या लाभ होता है, यह समझ में नहीं आता? बाराती यह समझते हैं कि हमने अपना वक्त बर्बाद करके और इतनी किल्लत उठाकर बेटे वाले पर अहसान किया। बेटे वाला वाला बारात के लाने, ले जाने की कष्टसाध्य व्यवस्था जुटाता है। बेटी वाले की तो उनकी आव-भगत में कचूमर ही निकल जाता है। इस मूर्खतापूर्ण हंगामे का उस पवित्र धर्मानुष्ठान के साथ कोई तुक नहीं बैठता, फिर भी बारातों की दौड़-धूप चलती ही रहती है। अनावश्यक गाजे-बाजे, महँगी सवारियाँ, आतिश-बाजी, फूल-पट्टी आदि में ढेरों पैसा बर्बाद होता है। इस बर्बादी का भारत जैसे गरीब देश के गरीब लोगों पर आर्थिक दृष्टि से कितना बुरा असर पड़ता है, इसे विचारशील व्यक्ति आसानी से समझ सकता है।

इतने से ही काम चल जाता तब भी भुगता जाता। समस्या तो और भी भयानक तब सिद्ध होती है जब वर-पक्ष की ओर से मोटी रकम दहेज के रूप में माँगी जाती है, उसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाया जाता है। नकदी, जेवर, सामान के रूप में यह माँग आमतौर से इतनी बड़ी होती है कि औसत आर्थिक स्थिति का कोई कन्या का पिता छाती पर पत्थर रखकर ही उसकी पूर्ति कर सकता है। जिन्हें दो-चार कन्याओं के लगातार विवाह करने पड़े हैं वे जानते हैं कि दहेज किस पिशाच का नाम है और उस कोल्हू में पेले जाने पर लड़की के परिवार का तेल किस करुण क्रन्दन के साथ निकलता है। आज जो लड़के वाला बनकर दहेज माँगता है, कल उसे भी अपनी लड़की का विवाह करने उसी चक्की में पिसना पड़ता है। इस दुर्गति को जानते हुए भी न जाने क्यों हमारी आँखें नहीं खुलतीं और रोते-कलपते उसी दुर्दशा के कुचक्र में पिलते-पिसते रहते हैं।

कन्या पक्ष वाले अपने ढंग से लगभग दहेज से मिलती-जुलती दूसरी घात चलते रहते हैं। उनकी प्रत्यक्ष न सही परोक्ष रूप से यह माँग अवश्य रहती है कि जितने अधिक जेवर, जितने अधिक कीमती कपड़े बेटी पर चढ़ाए जावें उतना ही अच्छा है, उसके दरवाजे पर बेटे वाले अपनी अमीरी का ऐसा प्रदर्शन करें ताकि उसे यह शेखी जताने का मौका मिले कि उसकी लड़की कितने अमीर घर में ब्याही गई है। लड़की वाले की यह माँग पूरी करने के लिए लड़के वालों को अपनी आर्थिक बर्बादी करनी पड़ती है। इसका बदला वे दहेज की माँग को बढ़ा-चढ़ा कर करते हैं। इस प्रकार दोनों ही पक्ष न्यूनाधिक मात्रा में इस पाप में हाथ साने रहते हैं और विवाह का स्वरूप सब मिलाकर एक प्रकार के सामाजिक उन्माद जैसा बन जाता है। होली के दिनों में लोग कीचड़ उछालते, गन्दे गीत-गाते, अन्ट-सन्ट बकते और उद्धत आचरण करते देखे जाते हैं। विवाह के दिनों में लोगों की जो विचारणा और कार्यपद्धति देखी जाती है उसे भी उद्धत आचरण ही माना जा सकता है। यह एक प्रकार का उन्माद ही तो है। भला-चंगा आदमी उन्माद के रोग से ग्रस्त होने पर अपार हानि सहता है। हिन्दू-समाज को भी विवाहोन्माद के कारण कितनी अधिक हानि उठानी पड़ी है, कितनी उठानी पड़ेगी? इसका अनुमान लगाने पर विचारशील व्यक्ति का मस्तिष्क चकराने लगता है। जिसके हृदय में देश, धर्म, समाज एवं संस्कृति के प्रति

तनिक भी दर्द है उसे यही सोचने को विवश होना पड़ता है कि इस उन्माद का जितनी जल्दी अन्त हो, उतनी ही अच्छा है।

अब समय आ गया जबकि हमें इस दिशा में कुछ ठोस कदम उठाने ही चाहिए। अखण्ड ज्योति परिवार की युग निर्माण योजना के सदस्यों का उत्तरदायित्व इस सम्बन्ध में बहुत अधिक है। उन्होंने नव-निर्माण की जो शपथ ली है उसके अनुसार विवाहोन्माद को चुपचाप सहते रहना-उसका प्रतिरोध न करना किसी प्रकार उचित न होगा। उन्हें आगे बढ़कर कदम उठाने ही चाहिए। प्रसन्नता की बात है कि यह उठाये भी जा रहे हैं। 'विवाहोन्माद प्रतिरोध आन्दोलन' का विधियत् उद्घाटन किया गया है। कुरीतियों की जड़ें बेशक गहरी होती हैं और वे देर में समूल नष्ट हो पाती हैं पर इससे क्या? जब अटूट निष्ठा के साथ काम किया जाएगा तो आज न सही तो कल उसका सत्परिणाम प्रस्तुत होगा ही।

अखण्ड ज्योति परिवार के सदस्यों को दो-दो, चार-चार की टोलियों में और जहाँ जैसा वैसा प्रबन्ध हो सके वहाँ अकेले ही विवाहोन्माद के विरुद्ध वातावरण बनाने के लिए कार्य-संलग्न होना है। इस प्रयोजन के लिए (१) ऐसे प्रतिज्ञा पत्र छपाये गये हैं जिसमें एक ओर विवाहों में आजकल प्रचलित बुराइयों का दिग्दर्शन कराया गया है और दूसरी ओर उन बुराइयों को परित्याग करने का प्रतिज्ञा पत्र है। (२) १० ट्रेक्ट इसी सदर्भ में लिखे और छापे जा चुके हैं। (३) जो विवाहोन्माद त्यागने की प्रतिज्ञा करेंगे उनके लिए अभिनन्दन-पत्रों जैसी २०-२० पत्रों की छोटी पुस्तिकाएँ छपी हैं। प्रतिज्ञाकर्त्ताओं को यह अभिनन्दन-पत्र उनके उत्साह एवं संकल्प को बढ़ाने के लिए दिये जाया करेंगे। इन तीनों उपकरणों को लेकर हमें प्रचार कार्य के लिए निकलना होगा। टोलियाँ माध्यमिक स्कूलों, हाईस्कूलों एवं कालेजों में जाएँगी और जो किशोर लड़के विवाह योग्य होते जाते हैं उन्हें दसों 'ट्रेक्ट' पढ़ाने का प्रबन्ध करेंगी। इन ट्रेक्टों में प्रस्तुत विषय की इतनी विचारणा एवं प्रेरणा भरी हुई है कि उसे पढ़ने के बाद कोई विरला ही आन्दोलन की उपयोगिता से असहमति प्रकट कर सकेगा।

ट्रेक्ट पढ़ाने के अतिरिक्त प्रवचन एवं विचार-विनिमय का क्रम भी चलाना जाना चाहिए और जो भी नवयुवक प्रस्तुत विचारधारा को अपनाने के लिए तैयार हो जाएँ, उनसे प्रतिज्ञा-पत्र भरवाने चाहिए। लगे हाथों उत्साह अभिवर्द्धन के लिए प्रतिज्ञा-पत्र के उत्तर में अभिनन्दन-पत्र भी दे दिया जाय। जो नवयुवक प्रतिज्ञा लें उन्हें अधिक उत्साहित कर अपनी कक्षा में या अपने स्कूल में इस आन्दोलन को अधिक पनपने का प्रयत्न करने के लिए तैयार करना चाहिए। १० पुस्तिकाओं का एक सैट भी जिस छात्र के पास होगा वह एक बार में एक छात्र को एक पुस्तक पढ़ाने का क्रम चलाये और एक की पुस्तक बदलकर दूसरे को प्रतिदिन देता रहे तो दस दिन दस छात्र उसे पढ़ सकते हैं अर्थात् प्रतिदिन एक छात्र का औसत एक सैट हो। साल में आसानी से २०० छात्रों को एक सैट से प्रभावित किया जा सकता है। यदि इस तरह के कई छात्र प्रचारक हो जाएँ और अपने-अपने ट्रेक्ट-सैट रखें तो उससे सारे विद्यालय के छात्रों को एक-दो महीने में ही प्रशिक्षित किया जा सकता है। दो रुपये में डाक खर्च समेत मिलने वाला यह ट्रेक्ट सैट खरीदना ऊँची कक्षा के किसी भी छात्र के लिए कुछ अधिक कष्टकर नहीं हो सकता। फिर कई छात्र मिलकर भी कई सैट खरीदने की व्यवस्था बना सकते। छात्र न सही अपने प्रचारक भी अपनी ओर से यह प्रबन्ध कर सकते हैं। अपना अंशदान का जमा हुआ पैसा अथवा दूसरों से थोड़ा-थोड़ा करके चन्दा इकट्ठा करके कई सैट मँगाये जा सकते हैं और उन्हें स्कूल-कॉलेजों में पढ़ाने के लिए किन्हीं उत्तरदायी एवं भाग्यशाली छात्रों को दिया जा सकता है।

प्रयत्न यह होना चाहिए कि हर विद्यालय में यह विचारधारा तेजी से फैले और हर अविवाहित नवयुवक उससे प्रभावित होकर विवाहोन्माद प्रतिरोध आन्दोलन में सम्मिलित हो। अपना निज का विवाह आदर्श रीति से ही करने के लिये कटिबद्ध हो, फिर भले ही उसके लिए उसे घरवालों का कितना ही विरोध क्यों न सहना पड़े। हर घर में ऐसे प्रहलाद उत्पन्न किये जाने चाहिए जो साहसपूर्वक अपने अभिभावकों को भी सन्मार्ग पर चलने का सत्याग्रह कर सकने का साहस प्रदर्शित कर सकें। यह आन्दोलन छात्राओं तक भी पहुँचना चाहिए। वे विवाहोन्माद में ग्रसित पागलों के साथ विवाह करने या उनके घर जाने की अपेक्षा अविवाहित रहना श्रेयस्कर मानें तो यह उनकी आदर्शवादिता एवं गर्व-गौरव भरी प्रतिज्ञा ही होगी।

यह आन्दोलन छात्रों तक ही सीमित नहीं रखा जाना चाहिए वरन् हर नर-नारी तक उसकी पुकार पहुँचाई जानी चाहिए। इसके लिए घर-घर अलख जगाया जाना चाहिए। पढ़े-लिखे लोगों को प्रस्तुत १० ट्रेक्ट पढ़ाये जाने और बिना पढ़ों को उन्हें सुनाया जाना चाहिए। गोष्ठियों में, सभाओं में, लगातार इस सन्दर्भ में व्याख्यानमालाओं का आयोजन जगह-जगह होना चाहिए। विवाहोन्माद के फलस्वरूप होने वाली हानियों का दिग्दर्शन कराने वाली चित्र-प्रदर्शनियों का आयोजन करना चाहिए। जहाँ अभिनय, नाटक, एकांकी, नौटंकी, कवि सम्मेलन, गायन आदि का प्रबन्ध हो सकता हो, वहाँ इसी विचारधारा के अनुरूप प्रेरणाएँ प्रस्तुत करनी चाहिए। जहाँ आदर्श रीति से विवाह हों उनका अधिकाधिक प्रचार किया जाय और ऐसे आदर्शवादियों का सार्वजनिक अभिनन्दन करने में पूरे उत्साह के साथ प्रबन्ध करना चाहिए। 'युग-निर्माण योजना' (पाक्षिक) में ऐसे समानान्तर और वर-वधुओं के एवं उनके अभिभावकों के चित्र सहर्ष छापे जाते हैं।

जो भी अन्य तरीके सूझ पड़ें, उन्हें सोचा जाना चाहिए और अपने-अपने ढंग से सर्वत्र विवाहोन्माद आन्दोलन को

पनपाने के लिए भूमिका तैयार करनी चाहिए। युग की यह माँग और पुकार आज की घड़ी में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक है, उसे पूरा करने के लिए हम में से हर एक को पूरी तत्परता और निष्ठा के साथ प्रयत्न करना चाहिए।

दुष्प्रवृत्ति निरोध आन्दोलन

विवाहोन्माद प्रतिरोध आन्दोलन आज के हिन्दू समाज की सबसे बड़ी एवं सबसे प्रमुख आवश्यकता है। उसकी पूर्ति के लिए हमें अगले दिनों बहुत कुछ करना होगा। हमारा यह प्रयत्न निश्चित रूप में सफल होगा। अगले दिनों हवा बदलेगी और आज की खर्चीली वैवाहिक कुरीतियाँ अगली पीढ़ी वालों लिए एक कौतूहल की बात रह जाएगी। कुछ वर्षों बाद भावी सन्तान को यह खोज करनी पड़ेगी कि हमारे पूर्वज थे तो बुद्धिमान पर ऐसी मूर्खतापूर्ण रीति-रिवाज के जंजाल में फँसकर इतना कमर तोड़ अपव्यय आखिर करते क्यों थे?

यह दिन निश्चित रूप में आने हैं। समय की माँग-युग की पुकार इतनी प्रबल होती है कि उसके द्वारा बड़े-बड़े प्रवाह मोड़ दिये जाते हैं। इस परिवर्तन का लाभ अगली पीढ़ी को मिलेगा, हमें तो इसके लिए भगीरथ तप ही करना है और प्रतिरोध करते हुए गोली न हो तो कम-से-कम गाली तो खाते ही रहना है। अन्ध मान्यताओं की भी नशेबाजी जैसी लत होती है, वह मुश्किल से छूटती है। इसलिए काम बहुत कठिन है; पर कठिन काम भी मनुष्य ही करते हैं। हम कठिनाइयों को चीरते हुए आगे बढ़ेंगे और समय को बदल डालने की प्रतिज्ञा पूरी करके रहेंगे।

विवाहोन्माद की जड़ें काफी गहरी हैं। उन्माद रोग ग्रस्त व्यक्ति के गले कोई बात उतारना काफी कठिन होता है। रूढ़ियों की चुड़ैल जिनकी गर्दन पर सवार है उनके लिए समझ की बात मानना-अपनाना काफी कठिन होगा। यह प्रचार करते हुए जहाँ जाया जाय, वहाँ प्रथम बार में ही सफलता मिल जाय, इसकी आशा कम ही होगी। कितनी ही बार प्रचारक को निराश और तिरस्कृत होकर लौटना पड़ेगा। ऐसी दशा में मानव मनोविज्ञान के अनुसार यह हो सकता है कि तिरस्कृत करने वाले और तिरस्कार सहने वाले के बीच मनोमालिन्य का अंकुर उत्पन्न हो जाय और उसके कारण आगे मिलने-जुलने या मधुर सम्बन्ध बनाये रहने में बाधा उत्पन्न होने लगे। यदि ऐसा हुआ तो उससे अपने मिशन को नुकसान ही पहुँचेगा।

इस समस्या का हल करने के लिए यह आवश्यक प्रतीत हुआ है कि विवाहोन्माद प्रतिरोध आन्दोलन के साथ-साथ एक छोटा सहायक आन्दोलन और भी चालू रखा जाय। जिससे जो लोग आदर्श विवाहों की पद्धति अपनाने के लिए तैयार न हो सकें, उन्हें उस सहायक आन्दोलन के किसी अंश के साथ सहमत करने का प्रयत्न किया जाय। किसी-न-किसी बात पर यदि व्यक्ति को सहमत कर लिया जाय तो विदाई के समय मधुरता बनी रहती है और आगे के प्रेम सम्बन्धों में अन्तर नहीं आता। आज की थोड़ी सहमति आगे चलकर बड़ी सहमतियों के रूप में परिणित हो सकती है। अतएव एक सरल आन्दोलन भी साथ-साथ चलते रहने की आवश्यकता अनुभव की गई है।

इस सहायक आन्दोलन का नाम है-'दुष्प्रवृत्ति निरोध आन्दोलन' यों इसकी उपयोगिता, आवश्यकता एवं महत्ता भी किसी प्रकार कम नहीं। समाज निर्माण एवं सुधार के लिए दूसरा सहायक आन्दोलन के अन्तर्गत आने वाले काम भी कम महत्त्व के नहीं हैं। चरित्र-निर्माण, व्यक्ति-निर्माण एवं समाज-निर्माण में इनका भी भारी योगदान रहेगा। पर सहायक आन्दोलन उसे इसलिए कहा गया है कि उसमें बताये हुए दस कार्यों में से किसी-न-किसी के लिए कोई भी व्यक्ति आसानी से सहमत किया जा सकता है और बिना अधिक कठिनाई के आन्दोलन में सम्मिलित होने वाला, कोई एक प्रतिज्ञा लेने वाला बन सकता है।

प्रथम चरण में दस सामाजिक और दस वैयक्तिक बुराइयों का परित्याग करने के लिए सर्व साधारण में विरोध उत्पन्न किया जा रहा है कि इन दुष्प्रवृत्तियों के कारण व्यक्ति और समाज को जो क्षति उठानी पड़ रही है, उसे समझें और अपने में जो दोष दीख पड़ें, उन्हें छोड़ने के लिए प्रतिज्ञाएँ करें। यह प्रतिज्ञा-पत्र उसी प्रयोजन के लिए है। अभी यह परित्याग आन्दोलन चलाया जा रहा है। पीछे उनके विरुद्ध संघर्ष का सुगठित एवं व्यापक मोर्चा खड़ा किया जाएगा और इन दोष-दुर्गुणों को अपनाकर बैठे हुए लोगों को, इन्हें छोड़ने के लिए विवश किया जाएगा।

इन बुराइयों के अतिरिक्त अन्य बुराइयाँ भी हो सकती हैं। उन्हें भी छोड़ा जाना चाहिए। इस अभियान के कार्यकर्त्ताओं को जन-साधारण को इन दोषों की हानि समझाकर प्रभावित करने का प्रयत्न करना चाहिए और उनमें से जो लोग जिस बुराई को अपने मस्तिष्क एवं व्यवहार में से हटा सकें, उनसे उसके लिए प्रतिज्ञा-पत्र भराने चाहिए। परित्याग उन दोषों का किया जाना चाहिए। जो अपने में इस समय हों। जो दोष नहीं हैं, उनका त्याग करना की व्यर्थ विडम्बना से कुछ लाभ नहीं।

व्यक्तिगत

१. आलस्य-प्रमाद-समय बर्बाद करना, धीमी-धीमी गति से अनियमित एवं अस्त-व्यस्त ढंग से काम करना, परिश्रम से जी चुराना, दिनचर्या निर्धारित न करना आदि।

२. अस्वच्छता-शरीर, वस्त्र, घर एवं प्रयोग में आने वाले उपकरण को गन्दा एवं अव्यवस्थित रखना। सफाई एवं सुसज्जा में लापरवाही बरतना, गन्दगी को दूर करने में उपेक्षा करना आदि।

३. असंयम-भोजन का चटोरापन, अनियमित एवं असात्विक आहार, कामुकता की मनोवृत्ति एवं अमर्यादित प्रवृत्ति, वाचालता, निरर्थक बकवास, चंचलता, अकारण शारीरिक अंगों का मटकाना, खर्च बजट बनाकर न

करना, धन तथा अन्य सम्पत्तियों, विभूतियों का अपव्यय, फैशन, ठाट-बाट एवं सज-धज और शृंगारपरक फिजूलखर्ची आदि।

४. अशिष्टता-कटुभाषण, रूखा व्यवहार, सज्जनोचित व्यवहार की कमी, बड़ों का असम्मान, मारपीट, गाली गलौज, उच्छृंखल चेष्टाएँ नागरिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा, शेखीखोरी, आत्मप्रशंसा, अपने स्तर से ऊँचे स्थान पर जा बैठना, अवांछित मेहमान बनना, दूसरों का अनावश्यक समय नष्ट करना आदि।

५. दुर्भावनाएँ- आवेश, उत्तेजना, आपे से बाहर होना, क्रोध, केवल दोष ही ढूँढ़ते रहना, कृतघ्नता, शत्रुता, अविवेकपूर्ण आग्रह, दूसरों की स्थिति न समझकर हर अप्रिय स्थिति को दुष्टता मानना, गरीबी का तिरस्कार, अमीरी की चापलूसी आदि।

६. बेईमानी- असत्य व्यवहार और अनाचरण, धोखेबाजी, छल, विश्वासघात, उत्तरदायित्त्वों से इनकार, कामचोरी, उचित से अधिक पैसा लेना, हराम की कमाई प्रतिज्ञा से मुकरना, अमानत में खयानत, अपनी वस्तुस्थिति को बढ़ाकर बताना।

७. निष्ठुरता- अनुदार स्वभाव, उपेक्षापूर्ण व्यवहार, दुःखियों के प्रति सहानुभूति का अभाव, अपने मतलब रखने की स्वार्थता, किसी के काम न आना, पशुओं से अनुचित काम लेना, सताना, शोषण एवं उत्पीड़न की प्रवृत्ति, शिकार खेलना, माँसाहार, हत्या किये हुए जानवरों का चमड़ा प्रयोग करना, पक्षियों को पिंजड़े में बन्द रखना, बैल, भैंसा, तीतर, मुर्गे आदि पक्षियों का लड़ाना आदि।

८. व्यसन-तम्बाकू, शराब आदि नशों का सेवन, ताश, चौपड़, शतरंज आदि में अनावश्यक समय गँवाना, जुआ, सिनेमा आदि मनोरंजनों में अत्यधिक दिलचस्पी, मटरगस्ती, लापरवाही से समय तथा धन की बर्बादी, व्यभिचार आदि।

९. असामाजिकता-समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्त्वों की उपेक्षा सामूहिक कार्यों में अरुचि, व्यक्तिगत स्वार्थपरता में निमग्नता, अपनी ही दौलत, अमीरी तथा सुख-सुविधा बढ़ाने में मस्त रहना। समाज की दुर्गति तथा प्रगति से उदासीन रहना, व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए सामाजिक अव्यवस्था फैलाने में संकोच न करना।

१०. कायरता-अन्यायी के अप्रसन्न होने से उत्पन्न होने वाली हानि की आशंका से अनीति सहते रहना, अनाचार का विरोध न करना। दुष्टता के समर्थन से लाभ मिलने के कारण उसकी सहायता करने लगना, अनुचित को अनुचित कहने में संकोच करना।

सामाजिक

१. ऊँच-नीच-जाति-पाँति के आधार पर किसी को ऊँच या नीच मानना।

२. नारी तिरस्कार-नारी को हेय, उपेक्षणीय या कम दर्जे की मानना, उस पर पर्दा जैसे प्रतिबन्ध लगाना, शिक्षा एवं स्वावलम्बन की सुविधाओं से नागरिक अधिकारों से वंचित रखना, तिरस्कार पूर्ण व्यवहार, उन प्रतिबन्धों में बाँधना जिनमें पुरुष नहीं बँधता, कन्या से पुत्र को श्रेष्ठ मानना आदि।

३. (अ) विवाहोन्माद-विवाह-शादियों में अनावश्यक धूम-धाम और फिजूलखर्ची, दहेज, लेन-देन का ठहराव।

(ब) विवाह विग्रह-बाल-विवाह, अनमेल विवाह, कन्या-विक्रय, वर-विक्रय, बलात्-वैधव्य।

४. मृत्युभोज-मरणोत्तर प्रीतिभोज की लम्बी-चौड़ी दावत।

५. पशुबलि-धर्म के नाम पर देवी-देवताओं को बदनाम करने के लिए देव स्थानों में पशु-पक्षियों की हत्या।

६. भिक्षावृत्ति-उपार्जन कर सकने में असमर्थ, समाज सेवा से विरत, तरह-तरह के आडम्बर बनाकर मुफ्तखोरी की निर्लज्ज आदत।

७. अन्धविश्वास-भूत-पलीत, शकुन, मुहूर्त, टोटका, टंटा भाग्यवाद, ग्रह-नक्षत्रों की गुलामी।

८. उद्धत आचरण-शरीर को उद्धत वेश-विन्यास से सजाकर लोगों का ध्यान आकर्षित करना, छिछोरी चटक-मटक की पोशाकें, बेहूदे वेश-विन्यास, उद्धत अधनंगा फैशन, चेहरों की लिपाई-पुताई, सज-धज के बचकानेपन से पैसे की बर्बादी, सादगी और शालीनता की उपेक्षा, अनावश्यक जेवरों का शौक।

९. कामुकता- अश्लील चित्र, कामुक साहित्य विकारोत्तेजक गीतवाद्य, फूहड़ अभिनय, घृणित चर्चा, गुह्य प्रसंगों का प्रकटीकरण, अश्लील नृत्य-अभिनय, नारी का कामिनी या रमणी के रूप में प्रदर्शन।

१०. अधिक सन्तानोत्पादन-देश की गरीबी, बेकारी, अन्न की कमी, पत्नी का स्वास्थ्य, अपनी आर्थिक स्थिति, शिशु विकास के साधनों का अभाव जैसी कठिनाइयों की उपेक्षाकर सन्तान पर सन्तान उत्पन्न करते जाने की मूर्खता।

इन दोष-दुर्गुणों में से कुछ-न-कुछ तो हर व्यक्ति में पाये जाते हैं। उनमें से एक-दो को भी छोड़ दिया जाय तो उससे व्यक्ति एवं समाज के उत्थान में बड़ी सहायता मिलती है। जिस प्रकार बुरी आदतें छूत की बीमारी की तरह फैलती हैं और दूसरों को भी वही लत लगाती हैं उसी प्रकार उनका त्याग करने और आदर्शवाद अपनाने की प्रवृत्ति भी यदि पनपे तो उसका प्रभाव अनेक लोगों पर पड़ता है और वे भी उसी प्रकार प्रभावित होते हैं और यह शृंखला तेजी के साथ आगे चलने लगती है।

'दुष्प्रवृत्ति निरोध आन्दोलन' भी साथ-साथ ही हमें चलाना है। इसके लिए 'विवाहोन्माद प्रतिरोध आन्दोलन' जैसे प्रतिज्ञा-पत्र भी छपाये गये हैं और उन्हें भरने वालों के लिये प्रमाण-पत्र जैसे छोटे-छोटे अभिनन्दन पत्र भी। इसका प्रारूप इस प्रकार है-

दुष्प्रवृत्ति परित्याग का प्रतिज्ञा-पत्र

व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में भरी हुई दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों से होने वाली हानियों को मैंने समझा है और यह अनुभव किया है कि इन्हें छोड़ने एवं छुड़ाने से ही व्यक्ति में आदर्शवादिता एवं समाज में उत्कृष्टता का समावेश हो सकेगा। देश, धर्म, समाज और संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए इस अभियान की उपयोगिता मैंने हृदय से स्वीकार की है।

अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में व्याप्त अविवेक एवं अनाचरण में निम्नलिखित दुष्प्रवृत्तियों का परित्याग करता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस परित्याग का आजीवन दृढ़तापूर्वक निर्वाह करूँगा। साथ ही जो अन्य बुराइयाँ शेष हैं उन्हें भी जल्दी छोड़ने का प्रयत्न करूँगा।

मेरा यह प्रयत्न बराबर बना रहेगा। दूसरे लोगों को भी दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों से होने वाली हानि से परिचित कराता रहूँ और जिन्हें भी सहमत किया जा सके, उनसे भी ऐसी प्रतिज्ञा कराऊँ।

बुराइयाँ जो छोड़ी गयीं

....

....

....

तारीख.......................... हस्ताक्षर..............................

पूरा पता ....

....

....

अश्लीलता विरोधी आन्दोलन

कामुकता शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को नष्ट करने वाला विष है। यह विष जब बढ़ता है तो नारी जाति के प्रति पवित्र दृष्टिकोण समाप्त होने लगता है; फलस्वरूप समाज में अनैतिकता बढ़ती है। खेद की बात है कि इन दिनों अश्लीलता बढ़ रही है। अश्लील साहित्य खूब छप रहा है। अश्लील चित्रों की तो बाढ़-सी आ गई है। युवा स्त्रियों के अशोभनीय भाव-भंगिमा के अर्द्धनग्न चित्र घर-घर में टँगे दीखते हैं। चित्रों में एक प्रेरणा होती है। इन चित्रों के द्वारा कामुकता के कुसंस्कार जगते हैं और मस्तिष्क उसी दिशा में चलता है जिसमें सब प्रकार खतरा ही खतरा है।

अब समय आ गया है कि अश्लीलता विरोधी आन्दोलन खड़ा किया जाय। अश्लील चित्रों तथा अश्लील पुस्तकों की सार्वजनिक होली जलाई जानी चाहिए। आन्दोलन का स्वरूप यह हो सकता है कि प्रभावशाली लोगों का 'एक डेपूटेशन' घर-घर में जाकर अश्लील चित्रों और पुस्तकों को ढूँढ कर लावे। अश्लीलता की एक राक्षसी जैसी कागज की बड़ी मूर्ति बनाई जाय। उसके शरीर पर, हाथों में यह गंदी पुस्तकें तथा गंदे चित्र लगे हुए हों। गाजे-बाजे के साथ उसकी सवारी निकाली जाय, 'अश्लीलता का नाश हो', 'अनैतिकता का नाश हो' 'गंदे चित्र मत रखो, गंदी पुस्तकें मत पढ़ो' आदि पोस्टर तथा नारे उस जुलूस में रखे जाएँ। अन्त में किसी सार्वजनिक स्थान पर रावण की तरह इस अश्लीलता राक्षसी को जलाया जाय। सभा में भाषणों द्वारा अश्लीलता की हानियाँ समझाई जाएँ इस सम्बन्ध में पर्चे बाँटे जाएँ तथा साहित्य बेचा जाय।

आन्दोलन का यह प्रदर्शनात्मक रूप अच्छा है। ऐसा वातावरण तैयार करना चाहिए जिसमें अश्लील चित्र अपने यहाँ टाँगते हुए लोग शरमायें और झिझकें। माँस और शराब की भाँति अश्लीलता को भी निन्दनीय वस्तु ठहराया जा सके तो समाज का भारी हित हो सकता है।

अश्लीलता के विष-वृक्ष को उखाड़ फेंकना होगा

गम्भीरतापूर्वक-अध्ययन करने से पता चलता है कि अश्लीलता और कामुकता से बढ़कर और किसी ने हमारे समाज का पतन नहीं किया है। धन के लोभ में लोगों ने इसका प्रचार किया और सिनेमा आदि के द्वारा यह प्रभाव जनता पर छोड़ दिया कि भोगविलास से बढ़कर संसार में कोई सुख नहीं है। वासना की तृप्ति ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है। इसलिए वास्तविकता से दूर वह इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए अपने जीवन को लगा देते हैं।

मनुष्य जिसकी पूजा और सम्मान करता है उसी के गुणों को अपनाता जाता है। आज हमारे बच्चे भगवान की पूजा न करके काम की पूजा करने लगे हैं। सिनेमा में अभिनेत्रियों के कामवासना को उद्दीप्त करने वाले हाव-भाव, वेश-भूषा, नाच-गाने, वार्तालाप को देख-सुनकर वह भी अपने जीवन को वैसा ही ढालने का प्रयत्न करते हैं। जब हम देखते हैं कि सिनेमा के पात्रों को बहुत सम्मान मिलता है तो वह भी जन-सम्मान प्राप्त करने के लिए उसी ओर दौड़ते हैं।

अश्लीलता का जो नग्न नृत्य अपने समाज में देख रहे हैं। उसका मुख्य साधन सिनेमा है। इसने लाखों व्यक्तियों के जीवन को कुमार्ग में लगाया है। यह एक ऐसा विष है जिसका सीधा प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है और उसे अपने काबू में करके अपनी इच्छानुसार मोड़ लेता है। इसने मनुष्य को केवल शरीर-पूजा तक सीमित कर दिया है। यह इसी के लिए मरना और जीना सिखाता है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा को निर्बल करने वाला यह विषवृक्ष एटम बम से अधिक नाश करने वाला है। मौन भावनाओं को

भड़काने वाले, मानसिक व्यभिचार को बढ़ाने वाले, नैतिक पतन की ओर ले जाने के लिए अश्लील साहित्य ने भी कुछ कम काम नहीं किया है। यह भी विचारों को एक नया मोड़ देकर कामुकता की ओर अग्रसर करता है।

इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर अश्लीलता के विष-वृक्ष को उखाड़ फेंकने के लिए निम्न उपाय उपयुक्त जान पड़ते हैं।

१. किशोरावस्था में मनुष्य कोई अपना आदर्श चुन लेता है और उसी के अनुसार अपने जीवन को बनाता है। वह फिल्मों से प्रभावित होकर अभिनेत्रियों और अभिनेताओं को अपना अदर्श मानने लगता है। इसलिए इससे पहले कि वह अपना आदर्श चुन ले, उसके मस्तिष्क पर महापुरुषों के जीवनों की छाप डालनी चाहिए, उनका महत्त्व और जनता द्वारा उनके प्रति सम्मान के भावों का प्रतिपादन करना चाहिए। उनकी महानता के रहस्य को खोलना चाहिए, श्रेष्ठता के कारणों पर विचार करना चाहिए और नवयुवकों को उनकी ओर खींचने का प्रयत्न करना चाहिए।

२. स्कूल-कॉलेजों और घरों में उत्तम चरित्र के विद्यार्थियों को सम्मान भाव से देखना चाहिए और सिनेमा देखने वालों, निरन्तर कामुकता और अश्लीलता के सम्बन्ध में वार्तालाप करने वालों को उपेक्षा की दृष्टि से देखना चाहिए।

३. स्कूल व कॉलेजों में जीवन को उत्तम बनाने के विषय पर नगर के श्रेष्ठ पुरुषों के समय-समय पर प्रवचन होते रहने चाहिए, जिसमें कामवासना के मार्ग की ओर बढ़ने की हानियाँ और उत्तम विचारों की ओर आकर्षित होने के लाभ बताने चाहिए।

४. स्कूल और कॉलेजों में विद्यार्थियों के जीवन पर उत्तम छाप डालने के लिए अध्यापकों को आदर्श बनाना चाहिए। यदि अध्यापकों की प्रवृत्ति भी इस ओर हो तो वह लड़कों को कैसे श्रेष्ठ मार्ग की ओर अग्रसर कर सकते हैं? केवल मौखिक उपदेश देने से कोई व्यक्ति प्रभावित नहीं होता, उसे तो क्रियात्मक आदर्श चाहिए। अध्यापकों को यह सद्प्रेरणा देना चाहिए।

५. किसी व्यक्ति को कोई बुरी आदत या स्वभाव छुड़वाना हो तो सीधे उसकी ओर संकेत न करके पास बैठे हुए व्यक्ति को उस घृणित कार्य की हानियों पर प्रकाश डालना चाहिए क्योंकि यदि उस व्यक्ति विशेष को बुरा कह दिया तो उसके अहं को धक्का लगेगा, वह उत्तेजित हो जाएगा और उसके त्याग की ओर वह प्रवृत्त न होगा।

६. सिनेमा में मनोरंजन मिलता है। इसलिए ऐसे ड्रामे खेलने वाली कम्पनियों का निर्माण करना चाहिए जो उत्तम विचार देने वाले कार्यक्रम प्रस्तुत करें, जिसमें मनोरंजन हो, गानों में रस हो परन्तु कामुकता न हो। स्कूल और कॉलेजों में ऐसे नाटकों को प्रोत्साहन देना चाहिए।

७. सार्वजनिक सभा-सम्मेलन करने चाहिए, जिसमें अश्लील चित्रों और साहित्य के प्रति घृणा उत्पन्न की जाय?

८. जनता में धार्मिक भावनाओं की उत्तरोत्तर वृद्धि के साधनों को अपनाना, धार्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय की ओर रुचि बढ़ाना, धर्म का वास्तविक रूप जनता के सामने रखना, अधर्म के मार्ग पर चलने की हानियाँ बताना।

९. गायत्री सद्बुद्धि की देवी है। इसकी उपासना करने से मनुष्य में दैवी सम्पदाओं की वृद्धि और आसुरी तत्त्वों का नाश होने लगता है। बुरे विचारों का शमन और अच्छे विचारों का उदय करना इसका मुख्य कार्य है। जो व्यक्ति अपने मन-मंदिर में गायत्री देवी की स्थापना कर लेता है। वह पतित मार्ग की ओर ले जाने वाले साधनों से घृणा करने लगता है और नैतिकता, श्रेष्ठता, सदाचार व संयम की ओर बढ़ता जाता है। इसलिए जिस के मन में अश्लीलता के विष को धोना हो, उसे परम पुनीत और श्रेष्ठ साधना में लग जाना चाहिए। विशेषता यह है कि इससे नारी जाति के प्रति सम्मान के भाव जाग्रत होते हैं; उसे केवल भोग की सामग्री न समझ पूज्य भाव से देखने लगते हैं।

जन आंदोलन खड़ा करने के लिए संगठन का सहारा लेना पड़ता है। अपने अनुकूल विचारों के व्यक्तियों को संगठित करना चाहिए। उनकी संगठित-शक्ति-दुर्गा का प्रयोग आसुरी तत्त्वों के नाश करने में करना चाहिए। अश्लीलता की वृद्धि के साधनों के विरोध में अधिक से अधिक प्रचार किया जाय। पर्चे और पैम्फलेट छाप कर घर-घर और दुकान-दुकान बाँटने चाहिए। गायत्री तपोभूमि द्वारा प्रकाशित कामुकता और अश्लीलता सम्बन्धी ट्रेक्ट का वितरण करना चाहिए ताकि जनता के विचारों को बदला जाय, इनके प्रति घृणा उत्पन्न की जाय। जितना प्रचार कामवासना की वृद्धि का सिनेमा, पत्र-पत्रिकाओं व साहित्य द्वारा किया जाता है। उससे कहीं अधिक व्यापक और शक्तिशाली प्रचार करने से ही समाज को इस रोग से मुक्त किया जा सकता है।

किसी भी आंदोलन को सफल बनाने के लिए जन सम्पर्क से अपने संगठन में वृद्धि होती है। प्रचार द्वारा विचार-क्रान्ति की जाती है क्योंकि विचारों में वह महान शक्ति है जो मनुष्य की काया पलट देते हैं। जनता में उत्तम विचारों का प्रचार-प्रसार ही श्रेष्ठ पुरुषों का कर्त्तव्य है। गायत्री परिवार द्वारा आयोजित यज्ञ सम्मेलनों में या लोगों से व्यक्तिगत रूप से मिलकर निम्न प्रकार के संकल्प लेने चाहिए। संकल्प गायत्री तपोभूमि द्वारा प्रकाशित प्रतिज्ञा-पत्रों पर लिये जा सकते हैं।

१. मैं मानता हूँ कि आजकल के अश्लील चित्र समाज में दूषित भावनाओं को जाग्रत करते हैं, सन्मार्ग से हटाकर कुमार्ग की ओर ले जाते हैं, इसीलिए मैं उनको न देखूँगा और अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को भी इनसे दूर रहने की प्रेरणा दूँगा।

२. केवल कल्पना पर आधारित, काम विचारों की वृद्धि करने वाला साहित्य नहीं पढ़ूँगा। जिन पत्रिकाओं में ऐसी विचार-सामग्री आती है, उनका अध्ययन स्वयं बन्द कर के दूसरों को भी वैसी ही प्रेरणा दूँगा।

३. गाली जहालत की निशानी है, उससे मनुष्य के छोटेपन का भान होता है और जिसको गाली दी गई है, उसके मन में उत्तेजना उत्पन्न होती है, इसलिए मैं अपनी वाणी को संयमित रखने का प्रयत्न करूँगा और दूसरों को इस ओर प्रेरित करता रहूँगा।

४. जिन फिल्मी गीतों में गंदे विचार होते हैं, उनको मैं न गाऊँगा और न सुनूँगा।

५. मैं अपने घर में कोई अश्लील चित्र न टाँगूँगा। अपने मुहल्ले में जिन घरों में टँगे होंगे, उनको उतरवाकर महापुरुषों के चित्र व अन्य प्रेरणादायक वाक्य टँगवाऊँगा।

६. जिस समाचार पत्र में ऐसे चित्र व विज्ञापन हों, उन्हें नहीं पढ़ूँगा और संचालकों को वैसी सूचना दूँगा। अन्य व्यक्तियों को भी ऐसी प्रेरणा दूँगा।

७. जिन वस्तुओं का विज्ञापन नारी को आधार बना कर किया जाता है, उनका प्रयोग नहीं करूँगा। जो व्यापारिक संस्थाएँ ऐसा कर रही हैं उन्हें प्रेरणा दूँगा कि यह अपने स्वार्थ के लिए कितना बड़ा सामाजिक अपराध कर रही हैं।

८. अश्लील चित्रों के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिए उनके प्रति असम्मानता के भाव प्रगट करने के लिए होली के अवसर पर जुलूस निकाल कर सामूहिक रूप से चित्रों की होली जलवाने का प्रयत्न करूँगा।

९. मैं नारी जाति के प्रति सम्मान के भाव रखूँगा। उनके प्रति कभी अपने मन में बुरा भाव न लाऊँगा।

समाज को पतन से बचाने के लिए अश्लीलता के विष वृक्ष को उखाड़ फेंकने के लिए हमें तन, मन व धन से लग जाना होगा। बिना त्याग और तप के किसी भी कार्य में सिद्धि नहीं होती। यदि हमारे अन्दर त्याग और परिश्रम शीलता हो तो उपरोक्त उपायों को अपनाकर हम अवश्य अपने उद्देश्य में सफल हो सकते हैं।

जो स्वीकारें उसे विवेक की कसौटी पर कस लें

विचार-विज्ञान अनेक भागों में बँटा हुआ है। हर विषय विभाग में अनेक मान्यतायें प्रचलित हैं। राजनीति में प्रजातन्त्र, राजतन्त्र, साम्यवाद, अधिनायकवाद, उपनिवेशवाद आदि कितनी ही मान्यताएँ हैं और उनका प्रयोग न केवल प्राचीनकाल में होता था, वरन् आज भी उनका विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलन है। इन सभी में गुण-दोष की प्रशंसा और अवगुणों की निन्दा करने का सही प्रयोजन तर्क, तथ्य, प्रमाण और उदाहरण सामने रखते हुए दूरदर्शी विवेक बुद्धि से ही हो सकता है।

धर्मक्षेत्र में अनेक सम्प्रदायों, उपसम्प्रदायों का प्रचलन है। हिन्दुओं में, विभिन्न सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाओं की शाखाएँ-प्रशाखाएँ प्रायः ६०० गिनी गई हैं। इसके अतिरिक्त ईसाई, मुसलमान, यहूदी, पारसी, बौद्ध आदि में भी सम्प्रदाय हैं। उन्हें मानने वाले अपने-अपने मतों की अच्छाइयाँ तथा दूसरों की बुराइयाँ बताते हैं, ऐसी दशा में सामान्य बुद्धि बड़े असमंजस में पड़ती है कि जब जिसकी प्रशंसा सुनी जाती है, तब वही ठीक मालूम पड़ता है और जब निन्दा सुनने का अवसर आता है, तब वह भी गलत प्रतीत नहीं होता। ऐसी दशा में अपना निर्णय क्या हो, इनमें से किसे पसन्द किया जाय?

दर्शन-शास्त्र के मतभेद भी ऐसे ही हैं। हिन्दू दर्शनों में योग, सांख्य, न्याय-वेदान्त, वैशेषिक मीमांसा प्रसिद्ध हैं। चार्वाक दर्शन जैसे कई अलग हैं। जैन और बौद्ध दर्शनों की शाखा-प्रशाखाएँ अलग हैं। इसके अतिरिक्त विदेशों के दर्शन शास्त्र अनेक हैं। उन सभी के प्रतिपादनकर्त्ता सही सिद्ध करते हैं और विरोधी जब काटने खड़े होते हैं तो उन्हें निरस्त करने में भी प्रतिपादन के ढेर लगा देते हैं। ऐसी दशा में फिर वही कठिनाई सामने आती है कि इनमें से किन्हें उपयुक्त और किन्हें अनुपयुक्त माना जाय।

प्रथा-परम्पराओं के सम्बन्ध में भी यही बात है। अकेले हिन्दुस्तान में ही-प्रान्तों, क्षेत्रों और जातियों के हिसाब में इतनी प्रथाएँ प्रचलित हैं। उत्तरप्रदेश, बिहार, राजस्थान में लड़के बिकते हैं और दहेज माँगा जाता है। इसके विपरीत पहाड़ी प्रदेशों तथा कुछ जातियों में लड़के वाले लड़की के बदले पैसा देते हैं। जैन जातियों में से अधिकांश में यही रिवाज है। इनमें से हर पक्ष अपने प्रचलन की पुष्टि करते हैं और उन्हें सही भी सिद्ध करते हैं। माँसाहारी और शाकाहारी दोनों ही अपने-अपने पत्र की दलीलें तब प्रस्तुत करते हैं, जब कुछ समझने और कहते नहीं बन पड़ता कि किसका पक्ष किस हद तक गलत माना जाय।

परस्पर विरोधी मत-मतान्तरों को देखते हुए सामान्य बुद्धि चकराने लगती है। चुनाव के दिनों में जब विभिन्न पार्टियाँ अपने घोषणा-पत्र प्रकाशित करती हैं और प्रत्याशी लोग जब अपने-अपने गुणों और आश्वासनों का बखान करते हैं, तो सूझ नहीं पड़ता कि इनमें से किस पर अविश्वास किया जाय। यदि सभी को सही या गलत माना जाय, तो फिर अपने एक वोट को किसके पक्ष में डाला जाय?

लोगों की अपनी-अपनी मान्यताएँ पूर्व प्रथा-प्रचलनों के सम्पर्क में रहने से अथवा इन दिनों अपने पास-पड़ौसियों या कुटुम्बी-सम्बन्धियों को जो कुछ करते देखते हैं; मन उसी ओर ढुलक जाता है। जिस ओर अपना भीतरी झुकाव हो, उसके पक्ष में कुछ न कुछ तर्क निकल आते हैं। बुद्धि का निर्णय औचित्य के पक्ष में हो इसकी कोई गारन्टी नहीं। वह अभिरुचि वाले पक्ष को सही बताती और

अपनाने का फैसला करती है। वकील तो यही करते हैं। एक मुकदमा उनके पास अपराधी मुवक्किल का हो, तो उसे छुड़ाने के लिए दलीलों, कानूनों और नजीरों का ढेर लगा देते हैं। दूसरा मुकद्मा यदि उसका हो, जिसे अपराधियों द्वारा सताया गया है तो वकील इस बात पर सारा जोर लगा देगा कि अपराधी को सजा मिलनी चाहिए। दोनों मुकदमों में घटनाएँ एक जैसी होने पर भी एक ही वकील जो तरह-तरह के रुख अपनाता है, उसका उद्देश्य इतना भर होता है कि उसका मुअक्किल जीते। बुद्धि अपनी मान्यता के पक्ष में निर्णय देती है। डाकू अपनी बुद्धि को डकैती में-सफलता मिलने के उपाय सोचने में और अपनाने में-अपनी सारी क्षमता लगा देता है। जबकि दूसरा पक्ष जिसे आत्म-रक्षा करनी है, वह भी इस तरह के उपाय सोचता है कि बचाव सम्भव हो सके।

प्रचलनों की संख्या अगणित है, उनके आधार पर ढली हुई मान्यताएँ भी असीम हैं। यह सभी सही या उचित हों-ऐसा हो नहीं सकता। एक सही होगा तो उसका विरोधी दूसरा पक्ष गलत होना चाहिए। सही और गलत के बीच में समझौता नहीं हो सकता। अपनी स्थिति कमजोर हो तो अनुचित से झगड़ने में आफत आने के डर से चुप रहा जा सकता है, पर दोनों पक्षों को सही नहीं माना जा सकता। एक सही है तो प्रतिपक्षी गलत होना ही चाहिए। यदि अन्तरात्मा जीवित है, तो सही पक्ष का ही समर्थन किया जाय। मुँह देखकर दोनों की हाँ में हाँ मिलाने लगा जाय तो, यह चापलूसी, सिद्धान्तहीनों और मतलबी-स्वार्थियों जैसा आचरण होगा। इस प्रकार के दौहरी नीति वाले लोग अपनी और दूसरों की आँखों में गिर जाते हैं; ऐसा आत्म-हनन मानवी-गरिमा के प्रतिकूल ही माना जाएगा।

परस्पर विरोधी मान्यताएँ जन-समाज में प्रचलित हैं। इनमें से सही का चुनाव उनके पक्षधरों के समर्थन में प्रस्तुत किये जाने वाले प्रतिपादनों के आधार पर नहीं हो सकता। नीर-क्षीर विवेक तो अपने को ही अपनाना होगा। इसके लिए कसौटी निर्धारित करनी चाहिए अन्यथा हवा के झोंके के साथ उड़ने वाले पत्रों की तरह अपनी स्थिति भी होगी। सोना नकली भी होता है और असली भी। दोनों के सामने आने पर उनकी परख दो आधारों पर होती है, एक कसौटी पर घिसकर दूसरे आग में तपाकर। यही दो आधार हैं, जो असली-नकली का अन्तर बताते हैं। खरीदने वाला इन अन्तरों की साक्षी लेकर ही सही वस्तु लेता है और गलत को गले बाँध लेने और पीछे पछताने से बच जाता है।

सही निर्णय के लिए न्यायाधीश जैसी पूर्वाग्रह रहित मुक्त और निष्पक्ष मनोस्थिति बनाई जानी चाहिए। अपनी प्रथाओं, मान्यताओं को कुछ समय के लिए एक कोने पर उठाकर रख देना चाहिए। न्यायधीश यही करता है। वह निष्पक्ष बनता है। इसके बाद दोनों के पक्षों के तर्क, तथ्य और प्रमाण ध्यानपूर्वक सुनता है। उनमें से न तो किसी पूर्ण विश्वास करता है और न अविश्वास। मात्र विवे और औचित्य का आश्रय लेकर न्याय-निष्कर्ष प पहुँचता है। इसी आधार पर अपना फैसला घोषित करता है।

हमें भी यथोचित निर्णय पर पहुँचना चाहिए और परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए। अनेक प्रचलन-प्रतिपादन किसी समय, किन्हीं लोगों के लिए, किन्हीं परिस्थितियों के कारण उचित रहे होंगे, पर आज वैसी परिस्थितियाँ न रहने के कारण उनका औचित्य नहीं रह जाता। एक क्षेत्र के निवासियों के लिए जो उचित है, वह दूसरों लोगों के लिए अनुचित हो सकता है। उत्तरी ध्रुव के निवासी ऐस्किमो लोग वहाँ वृक्ष-वनस्पति न होने के कारण मछलियों का शिकार करते और उन्हीं के सहारे जीवित रहते हैं। वनवासी आदिम सभ्यता के लिए लोग कृषि के अभ्यस्त नहीं हैं और न उसका ज्ञान-अनुभव ही है। ऐसी दशा में वे वर्षा के दिनों में उपजे थोड़े-बहुत अन्न पर साल भर का गुजारा नहीं कर सकते। उन परिस्थितियों में आखेट करते और पेट पालते हैं, किन्तु जिन लोगों के पास पर्याप्त खेती है पर्याप्त अन्न उपजाते हैं, उनके लिए माँसाहार पाप कहा जाएगा।

अरब के रेगिस्तान में रेतीली आँधियाँ चलती हैं, वहाँ बड़ों को, विशेषतया बच्चों की आँखों में धूल भरने की आशंका रहती है वहाँ बुरका ओढ़ने का औचित्य है। टम्बकटू क्षेत्र के आस-पास मर्द घर में रहते और बच्चे पालते हैं, इसीलिए गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में महिलाएँ बिलकुल पर्दा नहीं करतीं। उत्तर भारत के लोग मुसलमानी शासन के अन्तर्गत और सम्पर्क में रहे हैं, इसीलिए वहाँ पर्दे का रिवाज देखा-देखी चल पड़ा। सामन्ती मध्यकाल में शासकों और लुटेरों की आँखें सयानी लड़कियों पर लगी रहती थीं। उस मुसीबत से बचाने के लिए उन दिनों बाल-विवाह का प्रचलन सुरक्षा की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए आरम्भ किया गया। आज वैसी विवशता नहीं है, तो उस प्रथा के लिए आग्रह करने का कोई औचित्य नहीं। अब केरल आदि प्रान्तो में लड़कियाँ २०-२५ वर्ष से कम आयु में विवाह नहीं करतीं। वहाँ अधिक विद्या पढ़ने का लड़कियों में उत्साह है।

प्रथा-प्रचलनों के सम्बन्ध में अनेक बातें ऐसी हैं, जो समय की, क्षेत्र की आवश्यकता देखते हुए चली हैं। आवश्यक नहीं कि भिन्न परिस्थिति वाले क्षेत्रों मे भी देखा-देखी या परम्परा को अपनाते हुए उन्हीं रिवाजो का समर्थन किया जाय। योरोप जैसे ठंडे क्षेत्रों में कसे हुए कपड़े ही ठीक पहने जाते हैं, पर हिन्दुस्तान जैसे गरम देश में ढीले और थोड़े कपड़े ही ठीक पड़ते हैं। रीति-रिवाजों प्रायः ऐसी ही हैं, जो समय, क्षेत्र तथा परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए चलाई गईं। आवश्यक नहीं कि परिस्थितियाँ बदल जाने पर भी उन्हें अपनाया जाय और

पुरातन परम्परा होने के कारण उसे अपनाये रखा जाय। कुछ वस्तुएँ पुरानी भी अच्छी हो सकती हैं, कुछ नई उत्तम होती हैं, आसव-अरिष्ट पुराने होने पर अधिक गुणकारी होते हैं पर घी, दूध आदि को पुराना लिया जाय, तो उनमें बदबू आने लगेगी और विषैलापन आ जाएगा। पुराने मकान जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं। वयोवृद्ध व्यक्ति कड़े शारीरिक श्रम के योग्य नहीं रहते। लड़की की शादी के लिए उठती उम्र के लड़के तलाश किये जाते हैं, इस प्रकार एक बात, एक जगह, एक काम के लिए जो उपयुक्त हो सकती है, वही दूसरे काम या समय के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती है। सेना में भर्ती के लिए पहलवान उपयुक्त हो सकते हैं, किन्तु लोकसभा में सांसद चुनने के लिए दूसरी योग्यताएँ होनी चाहिए।

भिन्नताओं के मध्य आज की परिस्थितियों के अनुरूप क्या है? न्याय और औचित्य की कसौटी पर कौन से तर्क, तथ्य और प्रमाण मानने योग्य हैं-यह देखा जाना चाहिए। हर उचित-अनुचित बात के समर्थन में बहुत कुछ कहा जा सकता है, पर देखना यह है कि दूरदर्शी विवेकशीलता की कसौटी पर खरा क्या बैठ रहा है। विवेक की मान्यता सर्वोपरि है। उसी को प्रज्ञा कहा जाता है। बुद्धिमत्ता-चतुरता की तुलना में यह कसौटी उपयुक्त है कि दूरदर्शिता, न्याय और औचित्य कहाँ है?

कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जो तात्कालिक लाभ की दृष्टि से, मित्र, कुटुम्बियों-सम्बन्धियों की पसंदगी की दृष्टि से उपयुक्त लगते हैं और तात्कालिक लाभ दीखता है, पर दूरगामी परिणामों की दृष्टि से वे हानिकारक सिद्ध होते हैं-ऐसी दशा में दूरगामी परिणामों को ही मान्यता देनी चाहिए। अपने लड़के की बोली चढ़ाकर अधिक दहेज वसूल किया जा सकता है, पर कुछ ही दिन बाद जब अपनी कई लड़कियों पर उतना ही खर्च करना पड़ेगा, तब कई गुना घाटा पड़ेगा। उस दशा में दहेज न लेने या देने के पक्ष में कोई तर्क भी नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, क्योंकि जब लड़के की कीमत वसूल कर ली गई, तो बाद में उसी आधार पर अपना घर खाली करा लिये जाने पर पश्चाताप किस बात का!

अपराधी दुष्प्रवृत्तियाँ, नशेबाजी, व्यभिचार आदि तात्कालिक मौज-मजे से आकर्षक एवं लाभदायक दीखते हैं। संयमशीलता, अध्ययन, तपश्चर्या जैसे कार्य, कष्टसाध्य और घाटे के लगते हैं, पर बाद के परिणाम को ध्यान में रखा जाय तो, मौज-मजा बहुमुखी हानि प्रस्तुत करता है और श्रेष्ठ कार्यों के लिए आरम्भ में उठाई गई कठिनाई बीज बोने में खर्च करके फसल काटने में अनेक गुना लाभ उठाने की तरह, दूरदर्शितापूर्ण सिद्ध होती है।

मिष्ठान्न-पकवान की दावत में पेट से ज्यादा ठूँस लेने वाले, जब अपच, उल्टी, दस्त आदि के शिकार होते हैं, तो आरम्भ की चतुराई पीछे प्रतीत होती है कि वह कितनी हानिकारक थी। अन्य इन्द्रियों की लिप्सा भी दाद की जोरों से खुजाते समय जैसी अच्छी लगती है, पर थोड़े ही समय में उस भूल पर पछतावा करना पड़ता है। कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है। उससे जब जबड़ा छिल जाता है, तो खून का जायका मिलने लगता है। कुत्ता समझता है कि यह हड्डी में से निकलने वाला स्वाद है और जोरों से चबाकर अधिक मजा लूटना चाहता है, पर जबड़े छिल जाने पर पता चलता है कि सूखी हड्डी से खून का जायका पाना कितनी भूल थी। कामुकता के वशीभूत होकर लोग अपना ही सर्वनाश करते हैं और दूर के परिणाम को भुला देने के कारण दुर्बलता, रुग्णता और अकाल मृत्यु के ग्रास बनते हैं।

किसान, विद्यार्थी, पहलवान आरम्भिक दिनों में कठोर श्रम करते हैं और खर्च भी सहन करते हैं। पर जब सम्पन्नता, विद्वता और बलिष्ठता के रूप में श्रेयस्कर परिणाम सामने आते हैं, तब प्रतीत होता है कि आरम्भ में जो बातें घाटे की, कष्टकर प्रतीत होती थीं, वे समयानुसार अपना प्रतिफल सामने लाईं और सुखदायक सिद्ध हुईं। लोक-सेवी, आत्मसंयमी, परमार्थ-परायण आरम्भ में मूर्ख जैसे लगते हैं, जब आत्म-संतोष, लोक-सम्मान और दैवी अनुग्रह का लाभ होता है, व्यक्ति को अभिनन्दनीय और अनुकरणीय बनाते हैं, तब प्रतीत होता है कि आरम्भ में जिसे मूर्ख समझा जाता था, वह समय आने पर उच्चस्तरीय बुद्धिमत्ता सिद्ध हुई। आलसी, प्रमादी, आरम्भ में मौज-मजा करते हैं, पर जब देखते हैं कि उनके साथी पुरुषार्थ, साहस, श्रम और मनोयोग के सहारे कितने ऊँचे चढ़े-कितने आगे बढ़े, तब उन्हें पश्चाताप होता है कि अपनाया गया आलस कितना महँगा पड़ा। अपनी दिनचर्या विनिर्मित करने, बुरी आदतों को छोड़ने, प्रगतिशील कार्यक्रमों को अपनाते समय आरम्भ में बड़ा अनख लगता है, पर जब कुछ दिन में गाड़ी लाइन पर चल पड़ती है, तब ज्ञात होता है कि जीवन कितना प्रगतिशील और आन्तरिक स्तर, कितना समुन्नत-सुखी और संतोष से भरा-पूरा बनता चला जा रहा है।

प्रचलनों में अनेक मान्यताएँ तथा प्रथाएँ इस संसार में बिखरी पड़ी हैं। उनमें से प्रत्येक को दूरदर्शी-विवेकशीलता की कसौटी पर कसना चाहिए और देखना चाहिए कि परिणाम व्यक्ति और समाज के सामने किस रूप में आवेंगे। देखना चाहिए कि न्याय और औचित्य में किसका पलड़ा भारी पड़ता है। बिना किसी पूर्वाग्रह के हमें ऐसे ही विवेक, न्याय और अन्तःकरण का निर्णय स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसी में श्रेयस्कर प्रज्ञा का समावेश है। यही स्वीकार करने योग्य है।

उन्मादी दुराग्रह को निरस्त किया जाय

व्यक्तिगत रंजिश एवं स्वभावों के परस्पर टकराव से अक्सर विग्रह खड़े होते हैं। पुरानी कहावत है कि जर, जोरू, जमीन को लेकर कलह मचती है। मानापमान भी

कई बार इसका निमित्त कारण बनता है, आक्रमण और प्रतिशोध भी इन्हीं कारणों में है जो द्वेष की खाई खोदते और उसमें अपने-परायों को धकेलते हैं।

भाषा, क्षेत्र, जाति आदि के आधार पर भी गुट बनते हैं और एक-दूसरे के साथ टकराते हैं। इन टकरावों का कुछ समझने योग्य कारण भी है। पर तब आश्चर्य होता है जब धर्म-सम्प्रदाय के आधार पर संगठित आक्रमण हो और रक्तपात के नृशंस दृश्य उपस्थित है। एक सम्प्रदाय वाले दूसरे सम्प्रदाय वालों से इस तरह कुढ़ते हैं मानो उनमें परस्पर किसी बड़े कारण को लेकर विद्वेष पैदा हुआ हो।

धर्म वस्तुतः प्रेम, सहिष्णुता, सेवा, सद्भावना और भाई-चारे का आधार है। जहाँ धर्म है वहाँ प्यार होना चाहिए। पर यदि साबुन ही कोलतार का काम करे, तो उसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए। सम्प्रदायों के साथ जुड़े हुए प्रचलन क्षेत्रीय परम्पराओं पर आधारित हैं। वे एक दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। जिस प्रकार हर क्षेत्र के व्यवहार, रहन-सहन और खान-पान सम्बन्धी रुचियों में अन्तर होता है, उसी प्रकार दार्शनिक, धार्मिक, पूजा-पाठ एवं क्रिया-कृत्यों में भी अन्तर हो सकता है। एक ही बगीचे में कई प्रकार के पेड़-पौधे हो सकते हैं। एक ही गुलदस्ते में कई आकार-प्रकार के फूल बँधे होते हैं, इससे सुन्दरता बढ़ती है घटती नहीं। अनेक सम्प्रदायों का अस्तित्व होने से लोगों को उस विविधता के बीच सर्वोत्तम का चुनाव करने का अवसर मिलता है।

हाट-बाजार में, मेले-प्रदर्शनियों में लोग इसीलिए जाते हैं कि वहाँ अच्छा चुनाव किया जा सके और जिसमें अधिक आकर्षण हो उसे खरीदा जा सके। यह भी हो सकता है कि एक प्रतिपादन एक सम्प्रदाय की मान्यता प्राप्त करे और इससे अच्छी बातें दूसरे धर्मों से चुन ली जाएँ। इस प्रकार की स्वस्थ प्रतियोगिता, विचारशीलता की अभिवृद्धि और अच्छे चुनाव में सहायक होती है जब लोग अपनी मान्यताओं को सर्वथा सत्य और दूसरे के विश्वासों को नितान्त झूठ कहते हैं। साथ ही इस बात का दबाव डालते हैं कि हमारी पसंदगी हो। जो न माने उन्हें सताया जाय या प्रलोभनों के सहारे अपनी ओर खींचा जाय। धर्म परिवर्तन की घटनाओं के पीछे प्रायः ऐसी ही विडम्बनाएँ काम करती हैं।

अपनी मान्यता अपनाये रहने का हर किसी को अधिकार है। पर साथ ही उसे यह छूट नहीं मिल जाती कि दूसरे जिस-तिस प्रकार आग्रहकर्ता में कथन का ही अनुगमन करने के लिए बाधित हों। सभी को अपनी स्वतन्त्रता बनाये रहने का अवसर मिलता नहीं।

जब सम्प्रदाय आपस में लड़ने लगें, गुटबन्दी करें। अपने वर्ग के लिए सुविधाएँ चाहें। दूसरों को दबाने या मिटाने का प्रयत्न करें तो समझना चाहिए कि यह धर्म के नाम पर किसी अवांछनीय प्रक्रिया ने कब्जा कर लिया। ऐसे वर्ग युद्ध या तो स्वार्थों को लेकर होते हैं अथवा उनमें अहंकार का गहरा पुट रहता है। नम्रता, सज्जनता, उदारता और न्यायशीलता के रहते दुर्गुणों के लिए कोई गुंजायश नहीं रहती। न आग्रही होने की, न लड़ने-झगड़ने की। होता यह है कि उपद्रवी लोगों को लड़ने-झगड़ने का कोई बहाना चाहिए। क्योंकि उसमें पहले टूट पड़ने वाले नफे में रहते हैं। ऐसे अवसर भावुकों को धर्म के नाम पर भड़काकर आसानी से उत्पन्न किए जा सकते हैं। धर्म खतरे में है का नारा लगाकर सहज ही वर्ग-संघर्ष उभारे और प्रारम्भ किये जा सकते हैं।

जिन कारणों से सामूहिक उपद्रव होते हैं, उनमें से एक बड़ा कारण साम्प्रदायिक असहिष्णुता है। इस संघर्ष में कितने मर जाते हैं, कितने ही त्रास सहते, अपंग एवं अनाथ होते हैं। वह जब उपद्रव उभारते हैं तो दोषी या निर्दोष का विचार नहीं किया जाता वरन् एक धर्म दूसरे धर्म वाले पर अन्धा वार करते हैं। विपरीत मान्यता वाले कभी शत्रु प्रतीत होते हैं और किसी का बदला किसी से लेने में नहीं हिचकते। ऐसी आतंकवादी प्रक्रिया को किस प्रकार सहन किया जाय। ऐसी मूर्खता से किस प्रकार निपटा जाय यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे सुलझाने का दायित्व उठाना चाहिए।

अपने वर्ग को अधिक सुविधा-सम्पन्न बनाने के लिए दूसरे वर्ग के उचित अधिकारों का अपहरण किया जाय। यह किसी धर्म का प्रतिपादन नहीं है फिर भी अनीतिकर्ता धर्म का आवरण ओढ़कर अनाचार पर उतारू होते हैं और वह करते हैं जो धार्मिक होने पर तो किया ही नहीं जा सकता। सामान्य मनुष्य भी मानवता को ध्यान में रखते हुए वैसे कदम नहीं उठा सकता। अपना मत न मानने वाला काफिर, मलेच्छ, नास्तिक आदि ठहराया जाना और उसके उत्पीड़न को ईश्वर की आज्ञा, धर्म की सेवा कहा जाय तो इसे अनर्थ ही कहा जाएगा। जिन पर साम्प्रदायिक जुनून सवार होता है वे ऐसे ही अनर्थ करते रहते हैं, साथ ही सामान लूटने के सपने देखते रहते हैं। दुष्टता को कोई बहाना चाहिए। धर्म की आड़ में तो उसे और भी सीनाजोरी से चरितार्थ किया जा सकता है।

साम्प्रदायिक द्वेष की तरह जाति द्वेष भी है। कई बार एक ही धर्म के लोग जाति विशेष का आधार मानकर अत्याचार पर उतारू रहते हैं। कई बार एक ही धर्म वाले अन्य कोई बहाना बनाकर दुष्टता पर उतरते हैं। पिछले दोनों महायुद्ध ईसाइयों-ईसाइयों के मध्य ही हुए। दक्षिण अफ्रीका में काले ईसाइयों पर गोरे ईसाई कहर ढाते हैं। ईरान-ईराक में सिया-सुन्नियों का बहाना है। भारत में भी छूत-अछूत के बीच जातिवादी फिसाद होते हैं। इसमें अत्याचारी पक्ष भी अपने जाति, धर्म या सम्प्रदाय की सेवा मानते हैं। इसे धर्म के नाम पर बरता गया अधर्म ही कहना चाहिए। धर्म के लिए मरने वाले तो कोई विरले ही होते हैं पर उसके लिए मारने वालों का एक बड़ा समुदाय देखा जा सकता है।

नशेबाजी की तरह वर्गवादी पक्षपात भी एक भयानक बुराई है। भयानक इसलिए कि कुकर्मी भी अपने आपको धर्मात्मा मानता है। नशेबाज बोतल खाली करते समय दूसरों की तुलना में अपने को अधिक खुले हाथ खर्च करने वाला अमीर मानते हैं, पर वास्तविकता ठीक इसके विपरीत होती है।

बुराइयों में वृद्धि इसलिए होती है कि भले लोग इनके विरुद्ध संगठित होकर प्रतिरोध नहीं करते। खेत में खर-पतवार उगते और फैलते ही रहेंगे, यदि उन्हें काटा-गिराया न जाय। ठीक इसी प्रकार धर्म की वास्तविकता, प्रक्रिया, विधि-व्यवस्था को यदि ठीक तरह समझने-समझाने का क्रम न चले तो उस निष्क्रियता में बुरे लोग ही लाभ उठायेंगे।

विज्ञजनों का कर्त्तव्य है कि जनसाधारण को धर्म के वास्तविक स्वरूप और सम्प्रदाय के नाम पर करने वाले दुराग्रह का अन्तर समझाएँ । आस्तिकताके नाम पर नास्तिकता न अपनाने के लिए कहें। धर्म के निमित्त ऐसा धर्म अपनाएँ और प्रयासों को प्रोत्साहन दें, जो प्रगति का पथ प्रशस्त करते हैं।

अशिक्षा के कारण जनसमुदाय तक जहाँ साहित्य की पहुँच न हो वहाँ मौखिक रूप से तथ्यों को हृदयंगम कराने वाली प्रचार-प्रक्रिया को अपनायें। घर-घर अलख जगाने और जन-जन से सम्पर्क साधने का धर्म प्रचार के लिए अभी भी उतना ही महत्त्व है जितना कि प्राचीनकाल में था। सूत-शौनक जैसी कथा के हर गाँव में आयोजन किये जा सकते हैं। संगीत भी इस प्रयोजन के लिए एक प्रभावी साधन सिद्ध हो सकता है।

आज के समय में धर्म की सबसे बड़ी सेवा यही है कि उसके नाम पर बरती जाने वाली अधार्मिक दुष्टता को हटाने के लिए सामर्थ्य भर प्रयत्न किया जाय।

भ्रान्तियों और विकृतियों का निराकरण-अभियान

मनुष्य कोरे कागज की तरह है। उसे स्वच्छ दर्पण भी कहा जा सकता है। वातावरण का प्रभाव उस पर पड़ता है। जैसे लोगों के बीच वह रहता है, उसी ढाँचे में ढलने लगता है। कानों से बहरे प्रायः गूँगे भी होते हैं क्योंकि सुन न सकने की स्थिति में अनुकरण करते हुए शब्दोच्चारण कर सकना उनके लिए सम्भव ही नहीं होता। छोटे बालक अपने-अपने क्षेत्र की भाषाएँ बोलने लगते हैं। यह परिवार में चल रही संभाषण क्रिया का अनुकरण मात्र है। वन-वासियों की और सभ्य-सुसंस्कृतों की आदत में जो असाधारण अन्तर पाया जाता है वह उन्हें उपलब्ध होने वाले वातावरण का ही प्रतिफल है। साँचों में ढलकर खिलौने बनते हैं, मनुष्य वातावरण का प्रभाव अपनाता और उसी ढाँचे में ढलता है।

अब प्रश्न वातावरण का आता है। वह क्या है? क्यों कर बनता है? उसका उत्तर है-प्रचलन। प्रचलनों की परम्परा सहज स्वभाव का अंग बन जाती है और एक ढर्रा चल पड़ता है। पानी में बहने वाले तिनकों की तरह सामान्यजन उसी प्रवाह में अनजाने ही बहते चले जाते हैं। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह प्रचलन कैसे बनते हैं। इसका उत्तर स्पष्ट है, बहुसंख्यक लोगों की रीति-नीति ही प्रचलन है। यह रीति-नीति भी स्वतंत्र नहीं है। मनुष्य की आकांक्षा, विचारणा मिलकर मानसिक स्तर का निर्माण करती है और गतिविधियाँ चल पड़ती हैं। जो कुछ हो रहा है उस दृश्य का अदृश्य आधार ढूँढ़ना हो तो एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि चिन्तन की दिशाधारा ही व्यक्तित्व एवं व्यवहार का निर्माण करती है और उसी का सम्मिलित स्वरूप वातावरण के रूप में सामने आता है।

प्रस्तुत विपन्नताओं ने जिस वातावरण को विनिर्मित किया है इसका तात्विक कारण लोक-मानस में घुस पड़ी भ्रान्तियों और विकृतियों के अतिरिक्त और दूसरा नहीं। आखिर यह हुआ कैसे? इसे खोजने के लिए पिछली शताब्दियों में हुए कतिपय परिवर्तनों पर दृष्टि डालनी होगी। यदि वह उथल-पुथल नहीं हुई होती तो मनुष्य अपनी चिर-पुरातन सभ्यता को अपनाये रहता और नीति मर्यादा के राजमार्ग पर चलता हुआ सुख-शान्ति के दिन व्यतीत करता। भूतकाल में साधन कम थे। तो भी लोग स्नेह, सहयोग और संतोष के साथ हिलमिल कर रहने और मिल-बाँट कर खाते थे। न कहीं अभाव था, न विक्षोभ, न विग्रह, न अपराध। जब सभी जीव-जन्तु चैन, सन्तोष, उत्साह और मोद भरा जीवन जी लेते हैं तो कोई कारण नहीं कि असाधारण शरीर संरचना और बुद्धि चेतना वाला मनुष्य सुख-शान्ति की जिन्दगी न जी सके और प्रगति-प्रसन्नता का वातावरण न बनाये रह सके। चिरकाल से मनुष्य ऐसे ही सुखद परिस्थितियों में रहता आ रहा है।

व्यतिरेक के कई कारण पिछली शताब्दियों में हुए हैं। चक्रवर्ती शासन की परम्परा टूटी है और सामन्त-डाकुओं ने अपने गिरोह बनाकर लूट-खसोट और आक्रमण का बाना पहना है। ठिकाने बने, किले खड़े हुए और शासकों की स्थिति सर्वत्र स्वतंत्र जैसी हो गई। प्रजाजनों की सम्पदा और महिलाओं को लूट लेने में उनकी शूरवीरता केन्द्रित हुई। उस अज्ञानान्धकार के युग में प्रजाजनों की रीति-नीति, मर्यादा, साहसिकता आदि का भी समापन हो गया। दुर्बल प्रजाजनों पर ही सामन्तों के अनाचार ठीक प्रकार चल सकते थे। अस्तु, वैसे प्रचलन चलाये गये जिसमें जनसाधारण की क्षमता भ्रान्तियों में उलझी और विकृतियों में फँसी रहे। सामन्तवादी आतंक ने ऐसे पुरोहितों को भी खरीद लिया जो धर्म के नाम पर ऐसे ही शिगूफे छोड़ते रहें, जिससे प्रजाजनों का चिन्तन-चरित्र सामन्तवादी प्रतिरोध के लिए एकत्रित न हो सके। भ्रान्तियों के जंजाल में भटकता रहे। इन दिनों अपने समाज में जो अगणित मूढ़-मान्यताएँ, कुरीतियाँ, अन्धमान्यताएँ प्रचलित

हैं उनमें देववाद, भाग्यवाद, परम्परावाद के ऐसे तत्त्वों का समावेश है जिनके दबाव से स्वतंत्र चिन्तन पनपता ही नहीं व आदर्शवादी पराक्रम का उद्‌भव होता ही नहीं।

सामन्ती दुरभिसंधियाँ जब तक ढह भी न पाई थीं कि तथाकथित पदार्थ विज्ञान और बुद्धिवाद का ऐसा काना-कुबड़ा माहौल उठ खड़ा हुआ जिसने अपनी सफलताओं के आवेश में नीति और धर्म की जड़ों पर अपने ढंग से कुल्हाड़ा चलाना आरम्भ कर दिया। प्रयोगशालाओं में ईश्वर के दर्शन न हुए। आत्मा को न देखा जा सका। परलोक पकड़ में न आया तो उन्होंने प्रयोगशाला से बाहर की हर चीज को अमान्य ठहराना ही आरम्भ कर दिया। इस दृष्टि से आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता की जड़ें ही काटी जाने लगीं। जब मनुष्य को चलता-फिरता पौधा ठहराया गया और शरीर के साथ उसकी सत्ता समाप्त होने की बात जोश-खरोश के साथ कही गई तो विज्ञान के चकाचौंध से प्रभावित अधकचरे मस्तिष्कों को उस मान्यता को स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती थी।

दर्शन के क्षेत्र में भी यही उलट-फेर हुआ, जिसकी लाठी उसकी भैंस का मत्स्य न्याय, जंगल का कानून मनुष्यों के लिए भी उपयुक्त है। यह उपयोगितावादियों ने कहा। मनोविज्ञान के निर्धारकों ने पशु-प्रवृत्तियाँ ही मानवी प्रेरणा की स्रोत बताईं और सेक्स को चेतना तत्व के साथ अविच्छिन्न बना दिया। औद्योगिक क्रान्ति ने पूँजीवादी व्यवस्था बनाई। शासनसत्ता पर उसका आधिपत्य हुआ। साम्राज्यवाद पनपा और प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से उन रीति-नीतियों को प्रश्रय मिला जो समर्थों को अधिक सम्पन्न बनाने के लिए असमर्थों को पराश्रित स्वीकार करने के लिए प्रशिक्षित-बाधित करती थीं। इस माहौल के बीच साँस लेने वाला लोकमानस यदि भ्रान्तियों और विकृतियों से बेतरह आच्छादित हो गया तो उस प्रवाह की स्वाभाविक प्रतिक्रिया ही कहना चाहिए।

उपरोक्त सभी धाराओं का समन्वय ही आज का लोक-चिन्तन है। व्यक्तियों के चरित्र इसी से प्रभावित होते हैं। यही प्रचलन है। लोग इसी से गये-गुजरे स्तर पर सोचते हैं। वैसा ही करते हैं। स्वभाव और अभ्यास से इसी घिनौनेपन को आश्रय देते हैं जो दुर्भाग्यवश पिछले दिनों एक विपत्ति के रूप में पनपा और समूचे जनसमाज को अपनी चपेट में समेट बैठा।

इतना बन लेने के उपरान्त विज्ञजनों को एक ही निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि लोक-मानस पर छाई हुई विकृतियों और भ्रान्तियों का निराकरण करने के लिए एक समर्थ आन्दोलन खड़ा किये बिना निस्तार नहीं। विचार क्रान्ति का तूफानी अभियान ही समय की इस महती आवश्यकता को पूर्ण कर सकने में समर्थ हो सकता है जिसके आधार पर स्वतंत्र चिन्तन उभरे। नीर-क्षीर विवेक की प्रसुप्त भावना को जग पड़ने का अवसर मिले। अतीत का स्वर्णिम सतयुग और उज्ज्वल भविष्य का अभिनव निर्धारण पूरी तरह इस एक तथ्य पर आधारित है कि मनुष्य को नये सिरे से चिन्तन का अवसर मिले, कुहासे को भेद सकने वाले यथार्थता का दर्शन कराने वाले फैले प्रकाश की इन दिनों जितनी आवश्यकता है उतनी भूतकाल में कभी नहीं रही।

जीवन और मरण के चौराहे पर खड़ी हुई मनुष्यता को इन दिनों एक ऐसे प्रकाश पूर्ण मार्गदर्शन की आवश्यकता है, जिसके सहारे भटकाव से विरत होने और तथ्य एवं सत्य के राजमार्ग पर चल पड़ने का सुयोग बन सके।

युग की इस महती आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए स्वाध्याय मण्डली के माध्यम से एक सशक्त अभियान सँजोया जा रहा है। यह विद्याभ्यास नहीं है। पढ़ने और मनोरंजन कराने की विलासिता को इसमें राई-रत्ती भर भी स्थान नहीं है। स्वाध्याय मण्डल प्रज्ञा साहित्य जन-जन को पढ़ाने-सुनाने और हृदयंगम कराने का प्रयत्न करेंगे। प्रज्ञा साहित्य का अर्थ है-आज की परिस्थिति में-सतयुगी विचारधारा का प्रस्तुतीकरण। कहना न होगा कि यह जीवन की हर दिशाधारा को प्रभावित करेगा और ऐसी प्रतिभा द्वारा लिखा होगा जिसे शरीरधारी होते हुए भी तथ्यतः युगान्तरीय चेतना कहा जा सकता है।

नशेबाजी के दुष्परिणाम समझायें

इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्रियों मे सबसे प्रसिद्ध प्रधानमन्त्री श्री लिस्टर ग्लेडस्टन हुए हैं। उन्होंने इंग्लैण्ड और योरोप में बढ़ रही मद्यपान की दुष्प्रवृत्ति का गहराई तक अध्ययन किया। जो निष्कर्ष उन्होंने निकाले उनसे वह स्वयं भी चौंके बिना नहीं रह सके। अपने एक भाषण में उन्होंने कहा-"हम जब मनुष्य जाति पर आई विपत्तियों का ध्यान करते हैं तो पता चलता है कि तीन बड़े से बड़े ऐतिहासिक युद्ध, महामारी और अकाल ने भी मनुष्य को उतना उत्पीड़ित नहीं किया जितना शराब ने। आहार सम्बन्धी इस असंयम ने मनुष्य जाति को भीषण क्षति पहुँचाई है।"

उक्त कथन में प्रधानमन्त्री नहीं, उनका अध्ययन और सर्वेक्षण बोल रहा था। जानने वाली बात है, प्रथम विश्व युद्ध में कुल एक करोड़ व्यक्ति ही युद्ध या युद्ध से उत्पन्न विभीषिका में मारे गये। इसके बाद ही एक महामारी फैली उसने कोई डेढ़ करोड़ व्यक्तियों को अकाल ही निगल लिया था। १९१३ से १९१८ तक की इसी अवधि में शराब से मरने वालों की दर्ज कराई गई संख्या दो करोड़ तक पहुँच गई थी।

इन आँकड़ों से यह पता लगाया जा सकता है कि शराब मनुष्य के लिए पेय पदार्थ नहीं है। शराब जिन वस्तुओं से बनाई जाती है, वह अपने स्वाभाविक रूप से

सभी खाद्य हैं, किन्तु यदि उन्हें सड़ाकर किसी को खाने को दिया जाय तो वह मनुष्य खाना तो दूर उन्हें सूँघेगा भी नहीं, किन्तु कितना बड़ा दुर्भाग्य है मनुष्य जाति का, कि वह उसी सड़े हुए पदार्थ के आसव-शराब को शौकिया पीता, अपने स्वास्थ्य और जीवन को नष्ट करता रहता है।

डॉक्टरों की रिपोर्ट के अनुसार शराब पीने वालों में २७.१ प्रतिशत मस्तिष्क रोग से, २६.९६ प्रतिशत फेफड़े के रोग से, २३.३० प्रतिशत अपच के रोग से मर जाते हैं, जो जीवित भी रहते हैं, वह अर्द्ध-मृत अवस्था में। भारतवर्ष के पागलखानों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि पागलों की संख्या का ६० प्रतिशत भाग वह है, जिसने शराब पी-पीकर अपना मस्तिष्क विकृत कर लिया है। दुर्भाग्य है हमारे देश का कि आज वह पश्चिम की बुरी आदत को तेजी से अपनाता और बुराइयों की जड़ सींचता चला जाता है जबकि इन बुराइयों से अवगत होने के बाद करोड़ों अँग्रेज शराब छोड़कर शुद्ध शाकाहारी जीवन की ओर आकर्षित हो रहे हैं।

शराब एक ऐसा तरल (लिक्विड) है, जिसमें शरीर के लिए आवश्यक प्रोटीन आदि कोई भी तत्त्व नहीं होता। यकृत (लिवर) उसे पचा नहीं सकता, इसीलिए उसे सीधे हृदय में पहुँचा देता है। हृदय में वह खून के साथ मिलकर मस्तिष्क की ओर चल पड़ता है। मस्तिष्क को उसके प्रवाह की सूचना तो मिल जाती है, पर वह उसे रोकने में असमर्थ होता है, क्योंकि शराब के प्रभाव को रोकने वाला कोई अवरोधक (फिल्टर) उसके पास नहीं होता, फलतः वह शराब के दुष्प्रभाव में आ जाता है। उसके ज्ञान एवं तर्क-तन्तुओं (सेन्सरी नर्व्स) की क्षमता नष्ट हो जाती है। वाणी, हाथ-पैर की क्रिया (मोटर एक्शन) दृष्टि आदि सभी इन्द्रियाँ अनियन्त्रित हो जाती हैं। मनुष्य को भगवान ने बुद्धि, विवेक, तर्क और ज्ञान की यह शक्तियाँ किसी महत्त्वपूर्ण उपयोग के लिए दी होती हैं पर जब वही मनुष्य के कल्याण के विपरीत काम करने लगती हैं तो मनुष्य की मूर्खता स्पष्ट हो जाती है। मस्तिष्क ईश्वरीय चेतना का व्यक्त रूप और बड़ा संवेदनशील होता है; उसकी यह दुर्दशा कितनी लज्जाजनक है, इसे प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को सोचना तथा समझना चाहिए।

मानवीय प्रकृति और भगवान का दिया हुआ शरीर आत्म-चेतना की शक्ति सुख-सुविधाएँ बढ़ाने के लिए होते हैं, पर ऐसी अवस्था में सारी व्यवस्था को शरीर को अधिकतम सफाई में लगा देना पड़ता है। गन्दगी इतनी बढ़ जाये कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सबको भंगी का काम करना पड़ जाय तो समाज की दूसरी व्यवस्थाएँ जैसे ज्ञान और सद्बुद्धि, शक्ति और सुरक्षा, उत्पादन और समृद्धि की आवश्यकताएँ कैसे पूरी की जा सकती हैं। स्पष्टतया ऐसे समाज को अकाल और महामारी का मुख देखना पड़ जाता है। हमारे शरीर को भी ठीक वैसी ही दशा है, यदि तमाम आन्तरिक अवयव (इन्टरनल आर्गन्स) शरीर को साफ करने में ही लगे रहें तो शरीर को रोग से बचाना, उसे बलवान् और बुद्धिमान् बनाना कहाँ सम्भव होगा। निश्चित ही वह दुर्दशा का शिकार हो जाएगा, आज पाश्चात्य देशों में यही तो सब कुछ हो रहा है।

प्रकृति ने नाड़ी संस्थान द्वारा यह व्यवस्था तो की है कि कुछ दण्ड देकर शरीर की गन्दगी और विष को बाहर निकाला जाता रहे, पर यह अस्वाभाविक दबाव की स्थिति में नहीं हो सकता। शराब गुर्दों में पहुँचा दी जाती है। गुर्दों के बीस लाख कोष (सेल्स) इस शराब के विष को किसी तरह छान तो डालते हैं पर उसकी प्रतिक्रिया से स्वयं की सुरक्षा व संरक्षण नहीं कर सकते और वे धीरे-धीरे अस्वस्थ होने लगते हैं। यह विष गुर्दों की कोशिकाओं (कैपलरीज) को खरोंचता रहता है, जिससे उनमें खुरदरापन आ जाता है। इस खरोंचे हुए भाग में कैल्सियम जमने लगता है और रक्त प्रवाह में बाधा पहुँचने लगती है, इससे गुर्दे में दर्द भी बढ़ता है और वहाँ की कोशिकाएँ मोटी भी हो जाती हैं।

इन दो बीमारियों के लिए स्थिर निवास-स्थान बना कर ही शराब शरीर से बाहर निकलती है। हाई-ब्लड प्रेशर भी इसी कारण ही जननेन्द्रिय (जैनिटल आर्गेन्जिम) में उत्तेजना (इरीटेशन) बढ़ती है। आज पाश्चात्य देशों में कामवासना एक स्वतन्त्र समस्या बन खड़ी हुई है, देखना पड़ेगा क्या उसे मद्यपान की दुष्प्रवृत्ति को रोके बिना हल किया जा सकता है?

जेनेवा यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर डॉ. एल. रेविलियोड और डॉ. पालबिनेट ने डॉक्टरी अनुसन्धान के आधार पर बताया कि शराब पीने वालों के पेट भीतर ही भीतर सिकुड़कर ऐसे हो जाता है, जैसे उसमें चर्बी बढ़ जाती है, जिससे पेट में कोई-न-कोई शिकायत बनी रहती है,.शराब यकृत (लिवर) के कोषों (सेल्स) को नष्ट कर डालती है, जिससे शराबियों को और उनकी सन्तानों को लिवर की बीमारी प्रायः हो जाती है। क्षय की यह मात्रा हर बार शराब पीने से बढ़ ही जाती है।

शराब के स्थान पर यदि जल की पर्याप्त मात्रा लेते रहें तो उससे स्वास्थ्य और सौन्दर्य की वृद्धि होती है, शक्ति का भी विकास होता है। यदि हम बराबर पानी पीते रहे अर्थात् प्यास न लगे, तब भी थोड़ा-थोड़ा पानी पीने का अभ्यास रखें तो अपने आपको आजीवन नीरोग रख सकते हैं। डॉक्टरों के अनुसार पानी पीते रहने से २४ घण्टे में हृदय की धड़कन १००००० बार होती है, यदि कोई एक औंस शराब पीले तो यह धड़कन १०४३००० होने को बाध्य होगी। २ औंस में ८६०० धड़कनें बढ़ती हैं, यदि और मात्रा बढ़ाकर तीन औंस कर दी जाएँ तो कुल धड़कनों की संख्या ११२९०० हो जाएगी और इससे हृदय की कार्यक्षमता पर असाधारण दबाब पड़ेगा। किसी से भी आवश्यकता से अधिक काम लेने का अर्थ होता है, उसे मारना। शराब पी-पी कर हम अपने आपको मारते रहते हैं।

बराबर शराब पीते रहने से शरीर के कोमल तन्तु जो जल, भोजन एवं रसों को पचाकर रक्त बनाते और सारे

शरीर को शक्ति देते रहते हैं, मुरझाने लगते हैं थोड़े दिन में यह अपना काम बन्द कर देते हैं, कई तन्तु तो मर ही जाते हैं, रक्त बनना बन्द हो जाने से शरीर में पीलापन आने लगता है। शराब का प्रभाव प्रजनन कोषों पर पड़ता है, जिससे जन्मजात बीमार बच्चे पैदा होते हैं, उनके पेट और सिर बड़े होते हैं, जबकि पसलियाँ, हाथ-पांव और गर्दन की हड्डियाँ बहुत कमजोर और सूखी होती हैं, उनमें से कई को निमोनिया, श्वास, तपेदिक, सूजन आदि की बीमारियाँ भी होती हैं, इस तरह अपनी बुराई अपनी सन्तान को दुःख देती है, आने वाली पीढ़ियों को कमजोर और बीमार बनाने का पाप भी उसी प्रकार लगता है, जिस तरह यह अपने शरीर को रुग्ण बनाने का दोषी होता है।

डॉ. फोरबेल बिन्सली ने अनेक शराबियों के जीवन का अध्ययन करके बताया-''शराब से कामोत्तेजना बढ़ती है, इससे स्त्री-पुरुष के बीच काम-वासना सम्बन्धी पाप की भावना बहुत तीव्र हो उठती है।''

सन् १८०८ में अमेरिका में इस दुष्प्रवृत्ति के कारण इतनी समस्याएँ उठ खड़ी हुई है कि वहाँ की लोक-सेवी संस्थाओं को इस ओर व्यापक रूप से ध्यान देना पड़ा। चर्चों और धार्मिक प्रतिष्ठानों के माध्यम से वहाँ 'कम पियो' आन्दोलन चलाया गया। उसके लिए १८५१ में 'इन्डिपेन्डेन्ट आर्डर आफ गुड टैम्पलर्स न्यूयार्क' में एक संस्था खोली गई, उसकी शाखाएँ देखते-देखते आस्ट्रेलिया, इंग्लैण्ड, कनाडा, स्कैंडीनेवियन उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका एवं भारतवर्ष में खुली और उन्होंने कम आय के लोगों और मजदूरों को तरह-तरह से इस बात के लिए राजी किया कि वे अपने और परिवार, समाज एवं राष्ट्र के हित में शराब या तो बिलकुल न पिया करें अथवा कम पिया करें।

दूसरे देशों में ऐसी संस्थाओं को बहुत सफलता मिली। अमेरिका के ३० हजार चर्चों के सहयोग में 'ऐन्टी सैलून लीग' नामक संस्था ने १८३५ में प्रभावकारी आन्दोलन छेड़ कर संसार को बताया कि इस सामाजिक बुराई को संगठन शक्ति के द्वारा बलपूर्वक भी रोका जाना चाहिए। १९०९ में उसी से प्रभावित होकर लन्दन में 'इन्टरनेशनल प्रोहिबिशन कान्फीडिरेशन' संस्था गठित की गई, जिसने सारे संसार में शराबबन्दी के लिए काम करने का संकल्प लिया। इस संस्था ने योरोप भर में शराब के विरुद्ध खूब जमकर प्रचार किया और लाखों लोगों से शराबें छुड़वाईं, शराब पीने वाला अपने लिए जितनी बुराई पैदा करता है, उससे चौगुना अधिक वह अपने परिवार, समाज और विश्व का अहित करता है।

१९२५ में फ्रांस ने भी कई शराबों पर प्रतिबन्ध लगाया तो भी अनेक धनी लोगों ने अपने स्वार्थ के लिये,इस धन्धे को बढ़ाये ही रखा। इस पर अमेरिकी लोक-सेवकों का ध्यान शराब बनाने वालों की ओर गया और तब उनकी बहुत निन्दा की गई। वास्तव में यदि पैसे के लोभ में न पड़कर ऐसे लोग शराब बेचना बन्द कर दें तो इस विश्व-विभीषिका को आसानी से नियन्त्रित किया जा सकता है।

दूसरे देशों में इस दिशा में व्यापक प्रयत्न चल रहे हैं। वहाँ का प्रबुद्ध और विवेकशील वर्ग इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि शराब का पान जितना कम किया जा सके, उतना ही अच्छा है। किन्तु भारतवर्ष जैसे शुद्ध शाकाहारी देश में यह प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है। यहाँ के लोकसेवी सज्जनों को इसके लिए व्यापक आन्दोलन चलाना चाहिए था, पर राज्य सरकारों की छूट के कारण उनमें शिथिलता ही रही और इस तरह यहाँ यह बुराई बढ़ती ही गई। यदि भारतवर्ष का यह हाल हो सकता है तो दूसरे देशों का तो कहना ही क्या, इसलिए यदि हम सम्पूर्ण विश्व को महामारी और महायुद्ध जैसे पातक से बचाना चाहते हैं तो मानव स्वभाव के इस दूषित अंग को उखाड़ने का पुरजोर प्रयत्न करना ही होगा।

वस्तुतः नशों में न शारीरिक पोषण की कोई शक्ति है न मानसिक पोषण की। वे एक प्रकार के हलके विष हैं, जो तात्कालिक स्फूर्ति देते या मानसिक तनाव हलका करने के लाभ बताकर पिये जाते हैं। पर सच बात यह है कि उनसे दोनों में से कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होते। संकट सामने उपस्थित देखकर कोई तेज दौड़ भी सकता है, पर इसका अर्थ यह तो नहीं है कि वह 'दौड़ाक' बन गया। चाबुक मार कर घोड़ा भगाया जा सकता है पर चाबुक में घोड़े को शक्ति देने की क्षमता कहाँ? उसमें केवल संग्रहित पूँजी को क्रमबद्ध रूप से खर्च करने की अपेक्षा एक बार खर्च करके अमीरी का प्रदर्शन करने जैसी बात है । पर उसके चुकते ही जिस भयंकर दरिद्रता का सामना करना पड़ेगा उसे देखते हुए वह संचय की होली फूँकना बुद्धिमत्ता कहाँ रही?

नशा केवल संगृहीत जीवनी शक्ति को भड़काकर एक बार ही उसकी फुलझड़ी जला भर सकता है। कढ़ाई में रखा हुआ थोड़ा-सा दूध तेज आग पर रखने से उबाल के समय ऐसा लगता है मानो सारी कढ़ाई भर गई पर जब वह उफन कर चूल्हे में चला जाता है तब कढ़ाई खाली हो जाती है। नशे के द्वारा मिलने वाली स्फूर्ति इसी स्तर की है।

नशे द्वारा मानसिक तनाव से भी छुटकारा कहाँ मिलता है। घर में आग लग जाने से, प्रियजन की मृत्यु हो जाने से, दुःखी व्यक्ति को क्लोरोफार्म सुँघा कर कुछ समय के लिए मूर्छित कर दिया जाय तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उस शोक का समाधान हो गया। कारण जब तक विद्यमान है तब तक उसकी प्रक्रिया होगी। चिन्तन की दुर्बलता दूर करने, मनोबल बढ़ाने और समस्याओं का

हल ढूँढ़ने से मानसिक तनाव दूर होता है-नशा पीने से नहीं। उनसे तो सोचने की क्षमता, दूरदर्शिता एवं साहसिकता घटती ही चली जाती है। जिसके कारण भविष्य में छोटे-छोटे कारण भी अधिक उद्विग्न करने लगते हैं।

नशे के पक्ष में दी जाने वाली दलीलें बे बुनियाद हैं। हानि इतनी अधिक है, जिनकी कोई शुमार नहीं। पैसा और समय अन्धाधुन्ध खर्च होता है। इतना धन और समय यदि अपना, अपने परिवार का स्वास्थ्य सुधारने तथा दूसरे उपयोगी कार्यों में लगाया जाय तो कितना काम चले। एक व्यक्ति पाँच रुपये रोज की सिगरेट या अन्य नशा पिये तो महीने में १५० रु. वर्ष में १८०० रु. होते हैं। यह लत यदि २० से लेकर ६० वर्ष की आयु तक ४० वर्ष रही तो ७२००० रु. हुए। इस पैसे पर बैंक ब्याज भी लगाया जाय तो मूल पूँजी से दुगुना ब्याज हो जाता है। इस प्रकार लगभग लाख हजार की रकम बनती है। इसी प्रकार बचाये जाने वाले समय का भी हिसाब लगाया जा सकता है। यदि यह बचत की जाती तो बुढ़ापे में इतनी बड़ी रकम शेष दिन शान्तिपूर्वक काटने या कुछ बड़ा काम करने के लिए उपयोगी सिद्ध होती; पर वह तो बूँद-बूँद करके घड़ा खाली हो जाने की तरह टपकता और नष्ट होता चला गया।

नशेबाज की जीवनी-शक्ति चुकती चली जाती है और वह आये दिन बीमार पड़ता है। कोई बीमारी पीछे पड़ जाती है, तो हटने का नाम नहीं लेती। अकाल मौत मरना पड़ता है। मनोबल, दूरदर्शी चिन्तन और धैर्य-साहस जैसी मानसिक विशेषताएँ बेतरह नष्ट होती चली जाती हैं। नशा उतरने पर भी उसका चिन्तन अर्द्धविक्षिप्त जैसा बना रहता है। ऐसे लोगों की प्रगति के द्वार तो बन्द हो ही जाते हैं, जिन्दगी के दिन भी शान्ति से पूरे कर सकना कठिन हो जाता है। इस दुर्दशा का प्रभाव उसके परिवार पर पड़ता है। तरह-तरह की बुराइयाँ घुस पड़ती हैं, उन्नति के द्वार बन्द हो जाने से वे पतन की ओर मुड़ते हैं। नशेबाजों का परिवार ऐसे ही अस्त-व्यस्त होते देखा गया है। इसका प्रभाव समस्त समाज पर पड़ता है। विकृत परिस्थितियों में पड़े हुए व्यक्ति या परिवार समाज में विग्रह एवं व्यतिक्रम ही उत्पन्न करते हैं और उससे अपराधों, अनाचारों की ही वृद्धि होती है।

नशे राष्ट्रीय सम्पदा और समृद्धि में भारी क्षति पहुँचाते हैं। अकेली तम्बाकू की ही खपत अपने देश में बीस करोड़ रुपया प्रतिदिन है। अर्थात् वर्ष में ७२०० करोड़। शराब की खपत इससे भी कहीं अधिक है। गाँजा, अफीम, चरस, भाँग आदि को भी जोड़ें तो पता लगेगा कि शासन तन्त्र चलाने में जितना खर्च जनता को उठाना पड़ता है उससे भी अधिक नशेबाजी में खर्च हो जाता है। तम्बाकू, अफीम जैसे उत्पादनों में घिरने वाली जमीन में यदि अन्न उपजाएँ तो देश में अन्न की कोई कमी न रहे। जितने लोग बीड़ी, सिगरेट बनाने, तम्बाकू उगाने तथा दूसरे नशे बनाने में लगे हैं, यदि उस शक्ति को-श्रम को रचनात्मक कार्यों में लगा दिया जाय तो आज उपयोगी वस्तुओं का जो अभाव दिखाई पड़ता है यह सहज ही पूरा हो जाय। जितनी पूँजी नशे उत्पादन में लगी है, यदि वह उपयोगी उद्योगों में लगे तो देश में खुशहाली बिखरी दिखाई पड़ने लगे।

व्यक्ति को शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, आर्थिक दृष्टि से दुर्बल बनाने वाले नशे का व्यसन का स्वच्छन्द रूप से बढ़ते रहना जनता का स्तर गिराने और नागरिक जीवन में संकट उत्पन्न करना है। समाज को उसका घातक दुष्परिणाम भुगतना पड़ता है। शारीरिक, मानसिक दृष्टि से दुर्बल मनुष्य उत्पादन क्या करेगा? पूँजी को दुष्प्रवृत्ति में खर्च करके राष्ट्रीय सम्पदा को क्षति ही पहुँचायेगा। नशे के साथ-साथ अपराधों और अनाचारों का बढ़ना नितान्त स्वाभाविक है। शारीरिक और मानसिक रोगों की वृद्धि-नशेबाजी के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी है।

इस स्थिति में सर्वसाधारण को परिचित कराया जाना चाहिए। अन्य अन्ध-विश्वासों की तरह नशा पीने में शान समझने को निरस्त किया जाना चाहिए। प्रचार के प्रत्येक साधन का उपयोग करके हमें जन-साधारण को इस सत्यानाशी कुटेव की हानियों को समझाते ही रहना चाहिए। जब तक वे उसे छोड़ने के लिए सहमत न हों, भावनात्मक नव-निर्माण के प्रसंग में जिन मूढ़-मान्यताओं का उन्मूलन करना है उनमें नशेबाजी के प्रति लोगों की रुचि का बदलना भी प्रमुख रूप से सम्मिलित रखना चाहिए।

भिक्षा को व्यवसाय न बनने दिया जाय

भिक्षावृत्ति का अन्धाधुन्ध मात्रा में बढ़ जाना, इस देश के स्वाभिमान का स्तर बेतरह गिर जाने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। मानवी स्वाभिमान का तकाजा है कि हर व्यक्ति अपनी आजीविका स्वयं कमाये। यदि शारीरिक दृष्टि से कुछ अपूर्णता है तो भी विकलांगों द्वारा किये जा सकने वाले कार्यों का अवलम्बन उसे लेना चाहिए। यदि स्वाभिमान की भावना, परिश्रम की इच्छा और उत्साह की मात्रा विद्यमान हो तो १०० में से ८० विकलांग ऐसे होते हैं जो कुछ कमा सकते हैं और अपने बलबूते पर अपनी गुजर कर सकने में समर्थ होते हैं।

साधु-महात्माओं का एक बड़ा वर्ग परावलम्बी जीवन जीता है। सरकारी जनगणना के अनुसार इनकी संख्या ५६ लाख से अधिक है। इसके अतिरिक्त पंडित-पुरोहित अलग हैं, जो कुछ अन्य धन्धा भी करते हैं तथा दान-दक्षिणा भी लेते हैं, मुफ्त का ब्रह्मभोज खाने वाले लोगों की संख्या भी यदि गिनी जाय तो वह ४४ लाख और भी निकल आवेंगे। इस प्रकार दोनों वर्गों को जोड़ लेने से भिक्षाजीवियों की संख्या एक करोड़ हो जाती है । देश में एक करोड़ भिक्षुक

सो भी समर्थ, हट्टे-कट्टे, निस्सन्देह यह किसी देश की मानसिक और सामाजिक स्थिति गयी-गुजरी होने का चिन्ह है।

इस दिशा में हमें गहराई से विचार करना चाहिए और इस गम्भीर प्रश्न के समाधान का हल सोचना चाहिए। इस प्रवृत्ति को बढ़ाने वाले लोग हैं जो दान के साथ विवेक और दूरदर्शिता को नहीं जोड़ते वरन् अन्धविश्वास से ग्रस्त होकर उन लोगों को दान देते हैं, जो उसके अधिकारी किसी भी दृष्टि से नहीं। उनके मन में एक भ्रम यह जमा होता है कि साधु का वेश और ब्राह्मण का वेश दीखना ही पर्याप्त है। ऐसे लोगों को दान देने से भगवान प्रसन्न होते हैं, पुण्य का लाभ मिलता है और स्वर्ग का द्वार खुलता है। यह बात तभी तक ठीक थी जब साधु और ब्राह्मण उच्च चरित्र, उद्भट विद्वान, आत्म-बल सम्पन्न, तपस्वी और निरन्तर लोक-कल्याण परायण प्रवृत्ति के होते थे। ऐसे लोगों को उपयोगी कार्यों में ही निरन्तर लगा रहकर अधिक समाज सेवा संभव हो सके इसलिए उपार्जन की चिन्ता से मुक्त रखा जाता था। उदार लोग उन्हें भिक्षा एवं दान-पुण्य की सहायता करते थे। अपने सेवा कार्यों की तुलनात्मक उपयोगिता का विचार करके वे उन सत्पात्रों द्वारा सम्मानपूर्वक दिये हुए सहयोग को प्रेमोपहार मान कर स्वीकार भी कर लेते थे। उस समय की बात दूसरी थी आज की दूसरी है।

लोक-मंगल के लिए यदि अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित नहीं है तो फिर स्वाभिमानी को दान स्वीकार करने से इन्कार ही करना चाहिए। निजी स्वर्ग प्राप्त करने के लिए भजन साधन करना उचित है, पर चूँकि यह व्यक्तिगत लाभ का क्रिया-कलाप है, इसे अपने उपार्जन पर निर्वाह करते हुए ही करना चाहिए।

शारीरिक दृष्टि से थोड़ी कमी वाले लोगों का गुजारा-उपार्जन करना कठिन पड़ता है। उदार लोगों का कर्त्तव्य है कि उन्हें काम देने की ऐसे संस्थाएँ स्थापित करें जहाँ वे श्रम करके मजदूरी प्राप्त कर सकें। आरम्भ में शारीरिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण लोगों को करने में अड़चन पड़ती है, पर यदि उनके उपयुक्त काम मिल जाय, करने का उत्साह हो और सिखाने की पद्धति ठीक हो, तो फिर कोई कारण नहीं है कि वे निर्वाह के लायक उपार्जन न कर सकें। उनके लिए इस प्रकार के साधन जुटाना, मुफ्त में भीख देने से कहीं अधिक पुण्य-फलदायक है। महाराष्ट्र में बाबा साहब आप्टे ने कोढ़ियों तथा विकलांग लोगों के लिए ऐसा ही विशाल आश्रम बनाया । वे वहाँ रहकर स्वाभिमान पूर्वक अच्छा उपार्जन करते हैं। ऐसे ही संस्थान हर जगह स्थापित होने चाहिए; उन्हें चलाने के लिए मानवता प्रेमियों का उदार सहयोग मिलना चाहिए।

जो सर्वथा अपग-असमर्थ हैं और घर-परिवार की ओर से निराश्रित हैं ऐसे लोगों की सुविधा और सम्मानपूर्वक जीवित रहने के साधन जुटाना समाज का कर्त्तव्य है। ऐसे लोगों के अपंग आश्रम खुलने चाहिए। यदि *अपंग, असमर्थों को निर्वाह के लिए दर-दर भटकना पड़े* तो यह समाज की उदारता को चुनौती है, यह उस देश के लोगों के स्वाभिमान का पतन है। ऐसे स्थानों के लिए यथोचित दान पहुँचना चाहिए; साथ ही अपंग, भिक्षुक भी मलीन और गन्दे संस्कारों में पड़े रहें इसलिए उन्हें स्वच्छता, प्रार्थना जैसे उपयोगी कार्यों में उनकी शारीरिक-मानसिक स्थिति के अनुसार लगाये रहना चाहिए। भिक्षा माँगनी ही पड़े तो उनके लिए किसी परमार्थ प्रेमी घर-घर जाकर रोटी माँगकर लानी चाहिए । भिक्षुक को भटकना पड़े इसकी तुलना में एक परमार्थ प्रेमी का उनके लिए भिक्षा माँगना अधिक उपयुक्त है।

बहुत से लोग भिक्षुक बनना नहीं चाहते, उनकी शारीरिक असमर्थता उतनी बड़ी है, पर काम न मिलने के कारण उन्हें उदर पोषण के लिए भीख भी माँगनी पड़ती है ऐसे लोगों के लिए कामों की व्यवस्था की जानी चाहिए जिन्हें अनभ्यस्त व्यक्ति भी कर सके और जो जितनी देर श्रम करे वह उतना लाभ प्राप्त कर सके। जो लोग अपने लाभ के लिए *विशाल मील-कारखानों की योजना बना* सकते हैं, उनमें लगाने के लिए लाखों-करोड़ों की पूँजी का प्रबन्ध कर सकते हैं, उन्हें इस प्रकार के कामों का भी प्रबन्ध करना चाहिए, जिसमें मृत्यु और भिक्षा के चौराहे पर खड़े हुए लोग कुछ परिश्रम करके राहत प्राप्त कर सकें।

हमें मानवी स्वाभिमान जाग्रत करना चाहिए। दान विपत्तिग्रस्तों की सहायता के लिए *अथवा सत्प्रवृत्तियों* के लिए ही लिया या दिया जाना चाहिए। जहाँ विवश लोगों की सहायता करना आवश्यक है जहाँ यह भी उचित है कि अवांछनीय हेय भिक्षावृत्ति का कठोरतापूर्वक उन्मूलन किया जाय।

गन्दगी की समस्या का समाधान खोजें

जापान में मल-मूत्र का एक-एक कण कृषि के लिए खाद रूप में प्रयुक्त होता है। इससे तीन लाभ हैं। एक तो यह खाद गोबर आदि अन्य खादों से कहीं अधिक उर्वरक और भूमि को उपजाऊ बनाने वाला है। दूसरे उसे जहाँ-तहाँ बिखेरने के कारण उत्पन्न होने वाली गन्दगी का निराकरण होता है। तीसरे रासायनिक खादों के महँगेपन तथा जमीन पर उनकी उलटी प्रतिक्रिया से बचाव हो सकता है।

अपने देश में इस दिशा में ध्यान नहीं दिया और एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्या को उपेक्षित मानकर छोड़कर दिया गया। बड़े शहरों में यह गन्दगी प्रायः वहाँ की नदियों में डाल दी जाती है, इससे उनका जल अनुपयोगी, दुर्गन्धित और हानिकारक हो जाता है यह गन्दगी का निराकरण कहाँ हुआ?

देहातों की दशा और भी अधिक भयानक है। गाँव में मर्द औरतें जितने रहते हैं, वहाँ पेशाब करते हैं, पर वहाँ उसकी न तो उनकी निकासी का कोई प्रबन्ध नहीं है और न उसे खाद रूप में प्रयुक्त करने का। बच्चों की टट्टी भी ऐसे ही गली-कूचों में बिखरी रहती है। पशुओं का मल-मूत्र और भी अधिक होता है। गोबर को तो उपले बनाने या घूरे पर डालने का कुछ प्रबन्ध भी किया जाता है, तो भी गोबर का एक बड़ा अंश और पशुओं का पेशाब तो वहाँ की जमीन ही पीती रहती है। फलस्वरूप वहाँ इतनी दुर्गन्ध बस जाती है कि अनभ्यस्त के लिये वहाँ खड़ा होना कठिन हो जाय। जिन्हें अभ्यास हो गया है, उनकी तो बात क्या की जाय अन्यथा स्वास्थ्य और सुरुचिपूर्ण वातावरण की दृष्टि से मनुष्य के स्तर को हेय सिद्ध करने वाली ही यह परिस्थिति है।

महिलाएँ तो विशेषरूप से गाँव के अति समीप ही टट्टी करने बैठ जाती हैं। मर्द भी बहुत दूर नहीं जाते-वे भी जितना कम चलना पड़े, इस आधार पर जितना समीप मौका मिल जाय वहीं बैठने का प्रयत्न करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि गाँव के इर्द-गिर्द एक घोर बदबू का घेरा पड़ा रहता है। गाँव के बीच-बीच में ऊँचे घूरे कूड़े के टीले जमा रहते हैं, जिनमें गन्दगी पलती रहती है और गाँव की स्वच्छता को विनष्ट करने में लगी रहती है।

एक विदेशी ने अपनी भारतीय गाँवों की यात्रा का अनुभव यह लिखा है कि "जब कभी ये रास्ता भटके और किसी समीपवर्ती गाँव को खोजने की आवश्यकता पड़ी तो यही उपाय सूझा कि ध्यानपूर्वक सब ओर की गन्ध ली जाये। जिधर से बदबू आ रही हो समझ लेना उधर ही कोई गाँव होना चाहिए और यह अनुमान सच निकलता।"

गन्दगी के अभिशाप से मुक्ति पाने के साथ-साथ मलमूत्र की समस्या का दूसरा पहलू और है उसे इधर-उधर न बिखेरकर व्यवस्थित रीति से बुद्धिमत्तापूर्वक उसका खाद के रूप में उपयोग किया जाय तो उसका लाभ भरपूर उठाया जा सकता है। यह मैला सोना हमारी सम्पत्ति के भण्डार भर सकता है, इस सन्दर्भ में हमें जापान का अनुकरण करना चाहिए।

हर घर में, गलियों में जहाँ स्थान हो पेशाबघर बनाने चाहिए। ईंट की हलकी मिट्टी एक गड्ढे में भर दी जाय। ऊपर से चूना छिड़क दिया जाय, जमीन पेशाब पीती रहे। नीचे रेत, घास, भूसे की परत हो। कुछ दिन बाद ऊपर से रोड़ी पर पानी डालकर उससे लगा हुआ पेशाब नीचे चला जाने दिया जाय और पिछले जमा हुए तथा इस धोने से आये हुए पानी से मिश्रित रेत आदि उठाकर खाद के गड्ढे में डाल दिया जाय और दुबारा नयी परत बिछा दी जाय। रोड़े-ईंट की मिट्टी फिर पहले की तरह बिछा दी जाय। इस तरह महीने में एक बार सफाई करते रहने से पेशाब की गन्दगी का समाधान हो सकता है और उसकी कीमती खाद को काम में लाया जा सकता है।

टट्टी की सफाई का सरल तरीका यह है कि पानी का लोटा और खुरपी दोनों ही मल-त्याग के लिए जाते समय आवश्यक माने जाएँ। यथासंभव गाँव से दूर ही जाना चाहिए। जहाँ बैठा जाय, वहाँ पहले खुरपी से छोटा गड्ढा खोद लिया जाय। उसमें टट्टी की जाय और निवृत्त होने पर खुरपी से मिट्टी डालकर उसे बन्द कर दिया जाय। इस प्रकार यह मल एक-दो सप्ताह में ही उपयोगी खाद के रूप में परिणत हो जाएगा और उस खेत के लिए लाभदायक सिद्ध होगा।

नाली खोलकर टट्टी बनाने की पद्धति सर्वविदित है। नाली खोदना उस पर बैठने के लिए-लकड़ी के टुकड़ों का पायदान बनाना। चारों ओर बाँस के टुकड़े गाढ़कर उन पर टाट लपेटना और बैठने वाले के लिए आड़ कर देना, बहुत ही सरल तरीका है। टट्टी जाने वाला ऊपर से मिट्टी डालता जाय। इस प्रकार गन्दगी का नाम भी नहीं रहेगा। एक गड्ढा कई लोगों के लिए कई दिन काम दे सकता है भर जाय तो यह ढाँचा उखाड़ कर दूसरी जगह लगाया जा सकता है।

इसका और भी विकसित तथा सुविधाजनक रूप बन सकता है, एक लकड़ी या टीन की छोटी-सी झोंपड़ी के रूप में नीचे वहीं गड्ढा हो, हर टट्टी जाने वाला मिट्टी डालता रहे। भर जाने पर इस झोंपड़ी को उठाकर दूसरी जगह बनाये हुए गड्ढे पर जमा दिया जाय। उसमें धूप-वर्षा से बचाव भी हो सकता है और लाज-पर्दे की मर्यादा भी रह सकती है। गड्ढे भरते जाने से वह मल उस खेत के लिए कुछ ही दिन में उपयोगी खाद बन जाएगा और उसकी पैदावार बहुत बढ़ जाएगी। देहातों में उन्हें बनाने का श्रम ही रह जाता है। टाट के स्थान पर साड़ियों की-ज्वार, बाजरा, अरहर, कपास, पुआल, मूज आदि की टहनियों, डंठलों की टटिया बनाकर खड़ी कर सकते हैं। इन्हीं चीजों की पूरी झोंपड़ी भी बन सकती है। दो आदमी मिलकर तीन-चार घण्टे के श्रम से एक अच्छी झोंपड़ी तैयार कर सकते हैं।

फ्लैश पद्धति की कितनी ही सस्ती किस्में बनाई और घरों में लगाई जा सकती हैं। दो-चार महीने बाद उनकी सफाई करनी पड़ेगी! ऐसे भी फ्लैश-पाखाने होते हैं जिनमें मुद्दतों तक सफाई की जरूरत न पड़े। इनकी लागत बहुत महँगी नहीं है। उन्हें बनाने की पद्धति सरकारी विभाग भी सिखाते हैं और किसी कुशल मिस्त्री या ओवरसियर से भी सीखी, पूछी जा सकती है। घर में टट्टी की आवश्यकता इनसे सहज ही पूरी हो सकती है।

अगले दिनों सफाई कर्मचारियों का संकट खड़ा होने जा रहा है। अपने देश की सामाजिक परम्पराएँ कुछ विचित्र हैं। अधिक कठिन और अधिक महत्त्व की सफाई सेवा करने को अधिक महत्त्व और सम्मान मिलना चाहिए। पर होता ठीक उलटा है। उसे तिरस्कृत किया जाता है, अछूत माना जाता है। इस दशा में कोई पड़ा रहना चाहेगा? यदि हमारी मान्यताएँ और व्यवहार की रीति नहीं बदलती तो अगले दिनों सफाई कर्मचारी उस धन्धे को छोड़कर कोई सम्मान का धन्धा ढूँढ़ेंगे; तब या तो हर किसी को सफाई कर्मचारी बनना पड़ेगा या फ्लैश पद्धति अपनानी पड़ेगी। मल-मूत्र की समस्या का इन सब

बातों का ध्यान करते हुए गम्भीरतापूर्वक हल सोचना चाहिए।

समाज के विषाक्त नासूर

ईश्वर ने नाक-कान आदि की कैसी सुन्दर रचना की है। उनमें छेद करना और धातुओं के छल्ले ठूँसकर रूप-सौन्दर्य की कल्पना करना जन सामान्य की दृष्टि का पिछड़ापन ही सिद्ध करता है। नाक में साँस का अवरोध, छिद्रों की सफाई में अड़चन, आये दिन टूटते और घिसते रहने में पैसे की बर्बादी, परिवार-पड़ोस में ईर्ष्या, द्वेष, चोर डाकुओं का आकर्षण जैसी अनेक हानियाँ जेवरों के साथ जुड़ी हुई हैं। जेवरों में लगा हुआ धन हमें बैंकों में डालना चाहिए ताकि उससे ब्याज मिले और उस धन से देश में कितने ही उद्योग धन्धे पनपें, बेकारों को काम मिले। सोना-चाँदी जैसी मूल्यवान धातुओं के सरकारी कोष में जमा रहने में-विदेशों में सरकार की साख बढ़ती है और उसे अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में सुविधा रहती है।

इसी प्रकार के अपव्ययों में चित्र-विचित्र फैशन बनाना, सज-धज, ठाठ-बाट में अनावश्यक पैसा खर्च करना भी शामिल है। शृंगारिक वेश-विन्यास बनाना-आत्म-हीनता की मानसिक ग्रन्थि का चिन्ह है। आजकल ऐसे फैशनों की, शृंगार साधनों की भरमार है जो विकार व उत्तेजक भावनाएँ भड़काते हैं और उनसे शील- सदाचार की जड़ें कमजोर होती हैं। आर्थिक, सामाजिक और मानसिक तीनों ही दृष्टि से सादगी सर्वोत्तम सिद्ध होती है। उसके पीछे शालीनता की झलक है। हमें अपने देशवासी नर-नारियों को स्वच्छता की, मनावोचित सुसज्जा की शिक्षा और सज-धज के उद्धतपन से विरत होने की प्रेरणा देनी चाहिए।

दावतें इन दिनों अवांछनीय हैं। भोजन परोसने में अधिक परोसने का, अधिक खाने का आग्रह करना सस्ती भावुकता ही कही जा सकती है। जिससे खाने वाले का पेट खराब होता है, अन्न की बर्बादी होती है। उस आग्रह में दूरदर्शिता का अभाव ही माना जाएगा। यदि प्रीतिभोज आवश्यक ही हो तो उसका स्वरूप जलपान, स्वल्पाहार जैसा होना चाहिए। पूरा भोजन आवश्यक हो तो उसमें विविधता को निरुत्साहित किया जाय। थोड़ी तरह की वस्तुएँ हों। विशेषतया घी और खोआ तो काम में लाया ही न जाय। अपने देश में दूध का उत्पादन इतना कम है कि हर बच्चे के हिस्से में कुछ औंस ही आता है। बीमारों के लिए भी पर्याप्त नहीं। चाय तक की जरूरत उससे पूरी नहीं हो सकती। ऐसी दशा में शुद्ध घी और खोआ-मिठाई पकवानों में खर्च करना बच्चों और बीमारों का हक छीनने के बराबर है। मिष्ठान बनाने ही पड़ें, तो उन्हें घी रहित ही बनाना चाहिए।

बड़ी दावतों में प्रचलित पत्तलों पर जूठन छोड़ने का रिवाज बहुत ही बेतुका है। महतरों को जूठन खाने को देना मानवी स्वाभिमान को पद्दलित करना है। जिन्हें भी भोजन देना है, शुद्ध और सम्मानित रूप से दिया जाना चाहिए। जूठन खाने और खिलाने में मनुष्यता के मूलभूत तथ्यों पर कुठाराघात करना है। इससे छूत के रोग एक-दूसरे के लग सकते हैं और यह प्राणघातक संकट उत्पन्न कर सकते हैं। परोसने का नवप्रचलित वह तरीका अधिक अच्छा है कि खाने वाले अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुरूप वस्तुओं को चुनें और उतना ही लें जिसे वे आसानी से खा सकें।

जब अवांछनीयता के प्रति आवश्यक घृणा एवं रोष उत्पन्न कर लिया जाय तो उसके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा कर दिया जाय। अवांछनीयता वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में बुरी तरह घुस पड़ी हैं, यह सब चल इसलिए रहा है कि उसको सहन कर लिया गया है । इसके लिए लोक- मानस ने समझौता कर लिया है और बहुत हद तक उसे अपना लिया है। जनसाधारण को प्रचार अभियान द्वारा प्रकाश का लाभ और अन्धकार की हानि को गहराई तक अनुभव करा दिया तो निश्चय ही दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह भड़क सकता है।

अगले दिनों ऐसा संघर्ष व्यापक रूप से खड़ा किया जाना चाहिए। उसके लिए विरोध, असहयोग, सत्याग्रह, धरना, घिराव के वे सभी हथियार काम में लाये जायेंगे जो स्वतन्त्रता आन्दोलन के दिनों अँग्रेजी सरकार के विरुद्ध अपनाये गये थे। इस आन्दोलन को 'करो या मरो' के स्तर तक पहुँचाया जाएगा; इस को व्यापक सांस्कृतिक क्रान्ति भी कहा जा सकता है, भले ही वह चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति की तरह उद्धत, उच्छृखंल न हो। उसके पीछे शालीनता को सुरक्षित बनाये रखा जाएगा पर होगा वह विद्रोह ही। मनुष्यता की गौरव व गरिमा को कलंकित करने वाली हर दुष्प्रवृत्ति को अस्वीकृत ही नहीं किया जाएगा वरन् उसका इस संजीदगी के साथ उन्मूलन किया जाएगा, जिससे कि फिर उसके सिर उठाने की संभावना ही शेष न रहे।

राजनीति में हमारी भूमिका

स्वराज्य मिलने के बाद गाँधीजी काँग्रेस को ब्राह्मण संस्था बनाना चाहते थे, उसे लोकसेवक संस्था में बदलनी चाहते थे ताकि जनता और शासन के बीच की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी बनकर और भी अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न कर सके। हमें उन्हीं सपनों की पूर्ति करनी चाहिए। शासन का उत्तरदायित्व दूसरों को सँभालने दें, पर इस तन्त्र में जहाँ विकृतियाँ प्रविष्ट हो रही हैं वहाँ उसे सुधारने-सँभालने की भूमिका निरन्तर निबाहते रहें। हमें यह नहीं कहना चाहिए कि राजनीति से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। आज व्यक्ति और समाज की सारी संभावनाएँ धीरे-धीरे शासन में केन्द्रित होती चली जा रही

हैं। शासन तन्त्र में अवांछनीय तत्व घुस पड़ेंगे तो जनता का भौतिक एवं भावनात्मक स्तर भी सही नहीं रखा जा सकेगा। इसलिए उसे परिष्कृत बनाने के लिए अपना रचनात्मक योगदान सघन और निरन्तर रहना चाहिए। यह कार्य शासन को प्रत्यक्ष हाथ में लेने की अपेक्षा परोक्ष रूप से उसे प्रभावित करके अधिक अच्छा तरह किया जा सकता है।

हर बुरे काम के विरुद्ध कानून बना हुआ है। सबके लिए दण्ड व्यवस्था मौजूद है। पर सबके काम धड़ल्ले से चलते हैं इसका कारण केवल एक ही है-जनसाधारण की मनःस्थिति का विकास न होना पर यदि भीतरी आस्थाओं में दुष्प्रवृत्तियाँ भर गई हों तो कानूनों का उल्लंघन करते रहने का रास्ता आसानी से बनाया जा सकता है।

सरकारी कर्मचारी जनता में से ही आते हैं। जैसे वातावरण में ये पले हैं जो कुछ उनके अन्तःकरण ने देखा, सुना, समझा और सीखा है वे उसी के अनुरूप भ्रष्ट आचरण करने की तैयारी करते जाएँगे। बाहर से नीति सदाचार की, न्याय व्यवस्था की बातें कहीं सुनी जाती रहेंगी पर व्यवहार में उसका ठीक उलटा किया जाता रहेगा। नीचे से ऊपर तब जब ऐसी ही शृंखला मिल जाय तो कुँए में भाँग पड़ने वाली कहावत चरितार्थ होगी। जो भी उस पेय को पियेगा, वही बावला होता चला जाएगा। शासन से लेकर व्यापार तक और श्रमिक से लेकर धर्म पुरोहित तक यह भ्रष्टता जब मनःक्षेत्र में घुसी पड़ी होगी तो हर जगह अनाचार दृष्टिगोचर होगा। इसे प्रजातन्त्र के कानून नहीं रोक सकते। इसे या तो आतंक का राज्य रोक सकता है या जन-मानस को परिष्कृत करने वाला धर्म प्रवाह। जिस कानून में गोली मारने की सजा न हो, पर उसमें भी ये गोली से उड़ाने वाले या सजा सुनाने वाले भ्रष्ट होंगे तो बीजांकुर जहाँ का तहाँ बना रहेगा और समयानुसार उस शासन व्यवस्था में घुस कर पनपेगा। प्रजातन्त्र में कठोर कानून नहीं रखे जा सकते। वस्तु यह अनिवार्य हो जाता है कि नागरिक और नैतिक उत्तरदायित्व के निर्वाह पर प्रजा की प्रगाढ़ आस्था हो।

प्रजातन्त्रीय शासन को यदि सफल बनाना हो तो कानून न्याय में सुधार की बात उस स्तर के लोगों के जिम्मे करके हमें जन-मानस के परिष्कार में जुट जाना चाहिए वस्तुतः यही सबसे बड़ा सुधार है। प्रजातन्त्र की जड़ जनता है। शासन सुधार की बात मतदाताओं से आरम्भ करनी होगी, वोटर को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए कि मतदान के समय वह अनुभव करे कि वह राष्ट्र का कर्णधार है। किस प्रकार का शासन चाहिए, उसका फैसला करने का अवसर उसके पास कई वर्ष में एक बार आता है। उसी समय वह अपनी 'शक्ति' पावर का मतदान के रूप में सँभाल कर सकता है। इसीलिए उसका प्रयोग इतने सोच-विचार के साथ करना चाहिए मानो वह प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति के पद पर बैठा हो और कोई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्णय ले रहा हो, इतने सोच-विचार के बाद यदि मतदाता वोट दे तो निश्चय ही प्रजातन्त्र का लाभ जनता भली प्रकार उठा सकती है। मतदाता की नासमझी उसके सामने भ्रष्टता के रूप में आती है और उस समय की भूल के लिए उसे पछताते रहना पड़ता है।

चुनावों का खर्चा प्रतिनिधि के सिर पर नहीं पड़ना चाहिए। विचारशील मतदाताओं को उसे स्वयं वहन करना चाहिए। व्यक्तिगत मुकद्दमे में जिस तरह अपना पैसा देकर वकील नियुक्त करते हैं उसी तरह इस सामूहिक वकील को भी कम से कम अपनी जेब से तो पैसा नहीं ही खर्च करने देना चाहिए। यदि कोई एडवोकेट कहे कि मुझे अपने मुकद्दमे में वकील बना लीजिए इसके लिए इतना पैसा खर्च करने को तैयार हूँ, तब सहज ही यह अनुमान लगा लेना चाहिए कि दाल में काला है। मतदाता को इस प्रारम्भिक विचारशीलता से परिचित कराया जाना चाहिए, यह बताया जाना चाहिए कि यदि नासमझ या भ्रष्ट व्यक्तियों को उनसे वोट दिया तो यह अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना होगा और उसका परिणाम बहुत समय तक भ्रष्ट शासन के रूप में भुगतना पड़ेगा। चुनाव में यदि नीतिवान, विचारवान और सेवाभावी व्यक्ति ही चुने जा सकें और उन्हें अपना पैसा खर्च करना पड़े तो समझना चाहिए कि शासन तन्त्र की आधी शुद्धि हो गई और सामान्य कानूनों के अन्तर्गत भी सुशासन मिल सकेगा। मतदाता को उसके कर्त्तव्यों का भान कराना प्रजातन्त्र में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है।

व्यक्ति का सुधार समाज का व शासन का सुधार है। इसे समझा जा सके तो अपराधों की जड़ कट सकती है और सरकार का तीन-चौथाई बोझ सहज ही हल्का हो सकता है। अवांछनीय तत्त्वों को दण्ड देने वाली व्यवस्था बनाने के साथ ऐसा वातावरण बनाना भी आवश्यक है, जिसमें बेईमानी एवं उद्दंडता पनपने ही न पाये। शासन तन्त्र की विकृतियों पर हमें कड़ी नजर रखनी चाहिए और जहाँ-कहीं दिखाई पड़ती हों वहाँ प्रयोग करने के लिए लड़ना चाहिए। पर इतने एकाङ्गी प्रयास से काम नहीं चलेगा। गाड़ी का दूसरा पहिया भी सही होना चाहिए। जनता का नैतिक स्तर अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए हमें सजग और तत्पर रहना चाहिए।

इसके अतिरिक्त शासन के सम्बन्ध में उसकी भौतिक माँगें हैं उन्हें पूरा करने के लिए हमें निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। वे सुधार आधार निम्नलिखित हैं-

(१) माध्यमिक स्तर की शिक्षा अनिवार्य हो। पाठ्य पुस्तकों में चरित्रवान एवं समाज सिद्ध बनाने वाले तत्त्व भरे रहें। प्रौढ़ शिक्षा की विशेष योजना बने। आगे शिक्षा कुशल उद्योगी बनाने वाली हो, रात्रि विद्यालय खुलें ताकि स्वाध्यायी छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकें। सरकारी नौकरियों के लिए जितने व्यक्ति आवश्यक हों उतने ही प्रशिक्षित किये जाएँ बेकारी बढ़ाने वाली शिक्षा बन्द की जाय। राष्ट्रभाषा को अनिवार्य किया जाय। शिक्षा में ऐसे तत्त्व घुले रहें जो शिक्षार्थी को स्वस्थ, शारीरिक,

मानसिक, आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से समर्थ, स्वावलम्बी और समुन्नत स्तर की भावना बना सकें।

(२) असेम्बलियों की बैठकें लम्बी न हों। प्रतिदिन अपने क्षेत्र में जनता और सरकार के बीच एक कड़ी बन कर काम करें। असेम्बलियों में विचार-विनिमय के लिए चुने हुए प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया करें। काम के आदमियों को बेकार की बहसों में उलझाये रखने वाली वर्तमान पद्धति बन्द की जाय। मन्त्रियों की संख्या न्यूनतम हो।

(३) न्याय सस्ता और जल्दी होना चाहिए। अपराधों में दंड के कानून कड़े किये जाएँ। न्याय समितियाँ हर क्षेत्र में काम करें। ये वास्तविक अपराधियों का गुप्त रूप से पता लगाएँ और उन्हें दंडित करायें। गुंडा तत्त्वों से डरकर लोग सच्ची गवाही देने को भी तैयार नहीं होते, फलस्वरूप वे वर्तमान कानूनों के अन्तर्गत पकड़ में नहीं आते। खाना-पूरी की गलतियों के सहारे वकील सजा से उन्हें बचा लेते हैं। अपराधियों को दंड दिलाने को साधन सम्पन्न समितियाँ अपने प्रयास से न्याय जुटायें।

(४) अपंग, असमर्थ, असहाय लोगों की निर्वाह व्यवस्था सरकार अपने जिम्मे उठाये, ताकि भिक्षावृत्ति न पनपे। असहाय लोगों को वृद्धावस्था की पेन्शन दी जाय।

(५) वेतनमान और अधिकतम आय कितनी हो यह निर्णय देश की वर्तमान स्थिति को देखकर किया जाय। यह अन्तर इतना अधिक नहीं होना चाहिए, जिसमें समानता के मूलभूत सिद्धान्त को आघात पहुँचे।

(६) प्रत्येक सरकारी कर्मचारी को नियत समय पर नियत कार्य के लिए बाध्य किया जाय। लम्बे समय तक काम लटकाये और टालते रहने की वर्तमान व्यवस्था का अन्त किया जाय। अफसरों और जनता के बीच कार्यों का आदान-प्रदान इस तरह हो कि उसमें रिश्वत लेने की, दबाव डालने की, परेशान करने की गुंजायश ही न रहे। सरकारी कर्मचारियों के आचरण की उच्चस्तरीय जाँच होती रहे। जहाँ भ्रष्टता पनप रही हो वहाँ तुरन्त कड़ी रोक-थाम की जाय।

(७) चुनाव प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष में हों। पंचायतें, जिला परिषद के, जिला परिषद प्रान्तीय सभा असेम्बलियों के और प्रान्तीय सभा, लोकसभा के चुनाव करें।

(८) नैतिक बुराइयों की तरह कुरीतियों पर भी बन्धन लगाये जाएँ। इसी प्रकार कुरुचि उत्पन्न करने वाले साहित्य तथा कला को प्रतिबंधित किया जाय। स्वतन्त्रता के नाम पर किसी भी क्षेत्र में अवांछनीयता सहन न की जाय।

(९) सरकारी नौकरियों में बिल्कुल नये लड़के भर्ती न किये जाएँ उन्हें अनुभव प्राप्त करने दिया जाय और परिपक्वता के आधार पर उन्हें उत्तरदायित्व सौंपे जाएँ। ऊँचे पदों पर ३५ वर्ष से कम के व्यक्ति न लिए जाएँ । हर कर्मचारी का आरम्भ छोटे पदों से हो। उन्हें क्रमशः उन्नति करने दी जाय । शिक्षा ही नहीं व्यक्तिगत चरित्र और अनुभव भी महत्त्वपूर्ण पदों के लिए आवश्यक माना जाना चाहिए। निरक्षरता दूर करने में योगदान के लिए प्रत्येक सुशिक्षित सरकारी कर्मचारी को बाध्य किया जाय। ऐसा न करने पर उसकी डिग्री तथा तरक्की रोक दी जाय।

लॉटरी जैसे अनैतिक उद्योगों को सरकार न चलाये। शराब तथा अन्य नशे रोके। गृह-उद्योगों के विकास, उत्पादन और विक्रय में सहयोग दे। उन बड़े उद्योगों पर प्रतिबन्ध लगाये जो छोटे गृह उद्योगों से प्रतिस्पर्धा करते हों। देहातों की उन्नति के लिए शहरी उन्नति की तुलना में अधिक ध्यान देकर उनका पिछड़ापन दूर किया जाय।

यह साधारण सूत्र हैं इसके अतिरिक्त भी समय-समय पर जो सुधार आवश्यक समझे जाएँ, करने या कराने के लिए जोर दिया जाता रह सकता है। सरकार के माध्यम से देश जितना सुदृढ़ बन सकता है, गैर-सरकारी प्रयास उससे कहीं ज्यादा राष्ट्रीय प्रगति, समृद्धि, सुरक्षा और समता को बढ़ा सकते हैं। शासन-तन्त्र में सीधे प्रवेश न करके जन स्तर पर राष्ट्र को मजबूत बनाना और सरकार का बोझ हलका करना यही प्रधानतया अपनी राजनैतिकता है।

राजनीति से बढ़कर समाज-सेवा की दिशा

अपना दुर्भाग्य ही है कि लोग सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश तो करना चाहते हैं, पर उनका दृष्टिकोण अति संकीर्ण होता है। राजनीति को ही सब कुछ समझा जाने लगा है। विधान सभाओं के चुनाव में जितने स्थान थे उन पर जितने प्रत्याशी खड़े हुए, देखने से उस वर्ग की अभिरुचि का सहज ही पता चल जाता है। दूसरे देशों में दो-तीन से अधिक उम्मीदवार कहीं नहीं होते और वे भी संगठित संस्थाओं के मंच पर ही चुनाव लड़ते हैं। उनके पीछे कुछ आदर्श होता है। कुछ कार्यक्रम, पर अपने देश में तो ऐसे ही भेड़ियाघसान में घुस पड़ने के लिए कोई भी उम्मीदवार खड़ा हो जाता है और मतदाताओं में मतिभ्रम पैदा करके उपयुक्त प्रत्याशियों का भी मार्ग अवरुद्ध करता है।

किन्हीं विधान या लोकसभा के चुनावों पर दृष्टिपात करें और उसका लेखा-जोखा लें तो प्रतीत होगा कि असफल हजारों प्रत्याशी ऐसे थे जो राजनीति के वर्चस्व क्षेत्र में प्रवेश करने की लालसा से एड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे थे, उनका करोड़ों रुपया भी इस प्रयास में खर्च हुआ। इतनी लालसा, दौड़-धूप और खर्चीली राह क्यों अपनाई गई। इस सन्दर्भ में किसी की शान में कुछ कहना उचित न होगा। हो सकता है उनमें से बहुत से विशुद्ध देशसेवा के लिए ही राजनेता बनने के लिए उत्सुक हों। हो सकता है उनमें कुछ यश प्राप्त करने के लिए खड़े हुए हों। ऐसे कुछ ही होंगे जिन्होंने यह सट्टा इसलिए खेला हो कि सफल होने पर ऐसे दाव-घात अपनायेंगे जिनसे एक के बदले दस कमाने का अवसर मिल जाय। कुछ के मन में तो बड़ी लालसा रही होगी, पर परिस्थितिवश मन मारकर बैठना पड़ा होगा।

जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि कितने ही प्रतिभाशाली लोगों की लालसा सार्वजनिक क्षेत्र में आने के लिये-लोक नेता बनने-यश सम्मान पाने या सेवा-साधन का कोई भी प्रयोजन हो या इन सबका मिला-जुला स्वरूप भी ऐसा हो सकता है जो इस क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए लालसा उत्पन्न करे। यह उभरता हुआ तथ्य हम उन लोगों के बीच भी देख सकते हैं जो संस्थाओं के भीतर पदों की प्राप्ति के लिए धक्का-मुक्की करते हुए अवांछनीय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यह संख्या कम नहीं है। लोक- सेवा का आवरण ओढ़े हुए अधिकांश लोग इसी बीमारी से ग्रसित हैं। फलतः सार्वजनिक जीवन की पवित्रता नष्ट होती चली जाती है और धक्का-मुक्की करने वाले लोग भी हर दृष्टि से असफल रहे हैं; न उन्हें यश मिल रहा है न श्रेय । लोक-सेवा तो उस ओछी मनःस्थिति में बन ही कैसे पड़ेगी? वस्तुतः लोकसेवा के क्षेत्र में जिन्हें उतरना है उनके लिए यह का सुझाव है कि वे सामाजिक क्षेत्र में उतरें और उन कार्यों को हाथ में लें जो राजनीति की अपेक्षा अधिक स्थायी हैं। यश और सम्मान की दृष्टि से भी राजनीति का क्षेत्र बड़ा अस्थिर और कुटिल है। जब तक एम.एल.ए.-एम.पी. या मिनिस्टर है तब तक लोग बन्दगी करते हैं और जैसे ही वह टोपी उतरी कि सड़क चलते मुसाफिरों से अधिक इज्जत नहीं रह जाती। उस स्वल्पकालीन सम्मान या पद को प्राप्त करने के लिए-आगे बनाये रहने के लिए किन्हीं-किन्हीं को ऐसे प्रपंच भी करने पड़ते हैं जिनसे उनकी आत्मा दिन-दिन कलुषित होती चली जाय और ईश्वर के दरबार में वह तथाकथित लोक-सेवा, समाज द्रोह से भी बुरी ठहराई जाय।

राजनीति में वर्चस्व प्राप्त करने के लिए लोगों की भीड़ और धक्का-मुक्की अत्यधिक है। घुसने वालों को भीतर बैठे हुए लोग रोकते हैं। भीड़ वाली गाड़ी में पायदान पर लटकते हुए चलने का जोखिम उठाने की अपेक्षा यह अच्छा है कि कम भीड़ वाला वाहन पकड़ा जाय भले ही वह देर में पहुँचे, भारत का सामाजिक क्षेत्र ऐसा है जिसमें लोक-मंगल के लिए बहुत कुछ करने को पड़ा है और जिसमें काम करने की बहुत गुंजायश है। उस क्षेत्र में बिना प्रतिस्पर्धा के सच्ची लोक-सेवा की जा सकती है और उस मार्ग पर चलते हुए सच्ची और चिरस्थायी यश कामना भी पूर्ण हो सकती है।

सच तो यह है कि अपने देश का पिछड़ापन दूर करने में राजसत्ता उतनी सफल नहीं हो सकती जितनी कि सामाजिक क्षेत्र में की गई-सेवा साधना। हजार वर्ष की गुलामी से अपना सब कुछ खो बैठने वाले समाज में व्याप्त नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र के पिछड़ेपन को दूर किया जाना सबसे बड़ा काम है और उसे राजनीति द्वारा नहीं-सामाजिक सत्प्रवृत्तियों द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

निरक्षरता की समस्या पिछड़ेपन का मुख्य प्रतीक है। सरकारी स्कूलों में नगण्य-सी बाल-संख्या शिक्षा पा रही है। प्रौढ़ और महिलाओं को प्रशिक्षित करने में सरकारी खर्चीली योजनाएँ इतने टैक्स लगा देंगी कि उसे वहन करने से तो निरक्षर रहना ही पसंद करेंगे। यह कार्य शिक्षितों में सेवा- भावना उत्पन्न करके गली-गली, गाँव-गाँव, मुहल्ले-मुहल्ले प्रौढ़ पाठशालाएँ चलाकर ही पूरा किया जा सकता है। काम-धन्धे में लगे हुए लोग अवकाश के समय में अपनी शिक्षा वृद्धि कर सकें इसके लिए रात्रिकालीन तथा दिन के स्कूलों की हर जगह भारी आवश्यकता है।

छुआछूत ने जनसमाज के एक बड़े भाग को मानवी अधिकारों से वंचित करके उन्हें पिछड़ी स्थिति में पड़े रहने के लिए विवश कर रखा है। उनका असन्तोष और पिछड़ापन दोनों ही राष्ट्रीय प्रगति में भारी बाधक है। अपने समाज पर लगे हुए इस कलंक को धोया जाना आवश्यक है। जाति-पाँति के नाम पर हजारों टुकड़ों में बँटे, बिखरे अपने असंगठित समाज को फिर एकता और समता के सूत्र में बाँधने की आवश्यकता है। सरकारी कानून तो हर बुरे काम के विरुद्ध बने पड़े हैं, पर उनके रहते हुए भी सब कुछ होता रहता है। छूआ-छूत और ऊँच-नीच का भेदभाव मिटाने के लिये कानून बन जाना ही सब कुछ नहीं उसके लिए अभी वातावरण बनने के लिए बहुत काम करना होगा।

गृह-उद्योगों के अभाव में महिलाएँ तथा वृद्ध लोग सर्वथा अनुत्पादक बनकर जीते हैं उन्हें कुछ काम मिले तो आर्थिक स्थिति सुधरे और बच्चों की शिक्षा तथा पौष्टिक आहार के साधन जुटें। इस दिशा में आवश्यक नहीं कि सरकार ही सब कुछ करे, सामाजिक क्षेत्र में भी इस दिशा में बहुत कुछ किया जा सकता है।

गौरक्षा यदि सचमुच करनी हो तो गौ दुग्ध की वरिष्ठता तथा उपयोगिता से सर्वसाधारण को परिचित करना पड़ेगा और जो लोग गोरस लेना चाहते हैं उनके लिए उपलब्ध कराने का एक विशाल तन्त्र खड़ा करना पड़ेगा। उन्हें गाय की उपयोगिता बता देने पर एक ठोस आर्थिक कारण बन जाएगा तब गौरक्षा सम्भव हो जाएगी।

साहित्य क्षेत्र में जो कूड़ा-करकट ही लिखा, छापा और बेचा जा रहा है। इसे निरस्त करने के लिए उसके स्थान पर ऐसा साहित्य सर्वसाधारण के लिए उपलब्ध कराना होगा जो प्रगतिवादी दृष्टिकोण विकसित कर सके। चित्र और पुस्तकों में भरी अश्लीलता पर कुठाराघात किया जाना, नैतिक मूल्यों की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक है। इस दिशा में सृजनात्मक वस्तुएँ उपलब्ध करने की वास्तविक प्रगति को ध्यान में रखते हुए अत्यधिक आवश्कता है। बाल-साहित्य, नारी-साहित्य तो ऐसा लिखा ही नहीं गया, जो नई पीढ़ी की-महिलाओं को आवश्यक प्रकाश दे सकने में समर्थ हो। ऐसी पत्रिकाएँ भी कहाँ हैं? सामाजिक क्षेत्र में नेतृत्व करने वाले प्रभावशाली पत्रों का भी एक प्रकार से अभाव ही है। राजनीति का ढोल पीटने वाले अखबारों की ही भरमार है। जबकि इस

देश में सामाजिक आन्दोलनों को प्रोत्साहित करने की हजार गुनी आवश्यकता है। समय की पुकार है कि इस आवश्यकता को पूरा किया जाय।

सिनेमा आज का सर्वप्रिय मनोरंजन है। देश के हजारों सिनेमाओं में हर रोज लाखों आदमी देखने जाते हैं। उनमें से अधिकांश फिल्में दर्शकों पर अवांछनीय प्रभाव छोड़ती हैं और इससे नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों का बेतरह ह्रास होता है। इसे कोसने से काम नहीं चलेगा। सुसंगठित रूप से यदि सृजनात्मक फिल्म बनाये जाने लगें तो उस माध्यम से भावनात्मक नव-निर्माण में बहुत सहायता मिल सकती है और नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक क्रान्ति का पथ-प्रशस्त हो सकता है।

व्यायामशालाएँ गाँव-गाँव खोले जाने की आवश्यकता है। अपराधी तत्त्वों से निपटने के लिए सुरक्षा दल गठित किये जाने चाहिए और नागरिकों की परेड करना, शस्त्र चलाना आना चाहिए। खेल-कूदों की शिक्षा एवं प्रतियोगिता: स्वास्थ्य संवर्द्धन में सहायक हो सकती हैं। राष्ट्रीय स्वास्थ्य संरक्षण के लिए व्यायाम आन्दोलन व्यापक बनाये जाने की नितान्त आवश्यकता है।

अन्न की कमी-पौष्टिक आहार की न्यूनता को देखते हुए शाक और फलों का उत्पादन आज की महती आवश्यकता है। सप्ताह में एक समय शाकाहार की परम्परा चल पड़े तो उससे स्वास्थ्य लाभ के अतिरिक्त अन्न की बचत भी हो सकती है। बड़ी दावतें और अनाप-शनाप जूठन छोड़ने के विरुद्ध आन्दोलन करके भी अन्न की बर्बादी का एक बड़ा भाग बचाया जा सकता है। घर-आँगन में फूल एवं शाक उगाने की प्रथा चल पड़े तो उससे जहाँ सृजनात्मक प्रवृत्ति बढ़ेगी, वहाँ घरों की शोभा और शाक खरीदने में बचत भी होगी। गाँव में मल-मूत्र तथा गोबर-कूड़े का सदुपयोग सीखा-सिखाया जा सके तो स्वच्छता की वृद्धि तथा उपलब्ध खाद से अन्न का उत्पादन बढ़ सकता है। ऐसे छोटे किन्तु, महत्त्वपूर्ण कार्य राष्ट्रीय प्रगति में भारी सहायक सिद्ध हो सकते हैं। पुस्तकालय शिक्षित वर्ग की ज्ञान-वृद्धि के लिए अति उपयोगी माध्यम हैं। हर व्यक्ति सभी जीवनोपयोगी पुस्तकें खरीदने की व्यवस्था नहीं जुटा सकता। पुस्तकालयों से इस अभाव की पूर्ति होती है। विचारोत्तेजक साहित्य वाले पुस्तकालय तथा चल पुस्तकालय लोक-चिन्तन में प्रखरता लाने की आवश्यकता पूरी करेंगे।

भिक्षावृत्ति ने ८० लाख साधु-बाबाजी निठल्ले बना दिये हैं और काम कर सकने योग्य व्यक्ति भी थोड़ी-सी शारीरिक कमी होने पर भीख माँगने का व्यवसाय अपनाने पर उतारू हो जाते हैं। उन्हें काम करने के लिए विवश किया जाना चाहिए। समर्थ लोगों की भिक्षावृत्ति को चोरी, उठाईगिरी जैसे अपराधों में गिना जाना चाहिए। लोक-सेवी तथा असमर्थ व्यक्ति दान पर जीवनयापन करें तो बात समझ में आती है पर समर्थ लोगों का अकारण हाथ पसारते फिरना या फिर प्रपंच करके रोटी कमाना, राष्ट्रीय चरित्र पर भारी आघात और मानवी स्वाभिमान का पतन है। अपंग, असमर्थों के निर्वाह की व्यवस्था करना समाज का कर्त्तव्य है, पर भिक्षा व्यवसाय की छूट नहीं होनी चाहिए। निरर्थक आभूषणों से विलासिता और फैशन में अपव्यय रोकने और उस बात को उपयोगी कामों में लगाने के लिए वातावरण तैयार किया जा सकता है। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, कन्या-विक्रय, वर-विक्रय-पशुओं के साथ बरती जाने वाली निर्दयता आदि अनेक सामाजिक बुराइयाँ ऐसी हैं जिन्हें रोकने के लिये सामाजिक स्तर पर बहुत कुछ किया जा सकता है।

ऊपर की पंक्तियों में उन थोड़ी-सी आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिलाया गया है ऐसे अनेक कार्य करने को पड़े हैं जिन्हें हाथ में लेकर व्यक्ति एवं समाज का सर्वाङ्गीण उन्नति में बहुत बड़ा योगदान किया जा सकता है। ऐसे आन्दोलनों को, रचनात्मक कार्यक्रमों को हाथ में लेने के लिए यदि संगठित प्रयास किये जायें तो निसन्देह सच्ची लोक-सेवा हो सकती है।

जनजागरण का प्रयोजन वे कर सकते हैं जो अपने उज्ज्वल चरित्र एवं निस्वार्थ सेवा-साधना से लोक-मानस में अपने लिए गहरा सम्मान और स्थान बना लें। जो इसके लिए साहस कर सकते हैं, लोक-श्रद्धा और यशस्विता उन्हीं के गले पड़ती है और वे ही सच्चे नेता कहलाने के अधिकारी बनते हैं।

इन्हीं रचनात्मक कार्यक्रमों को लेकर युग निर्माण योजना चल रही है। सच्ची सेवा-साधना के इच्छुक व्यक्तियों को उसका विशाल कार्यक्षेत्र तैयार किया हुआ है। उसका आधार भारतीय धर्म और संस्कृति के अनुरूप तथा युग की पुकार से ओत-प्रोत रहने के कारण जनता ने उसे सराहा ही नहीं स्वीकार भी किया है। राजनैतिक वर्चस्व प्राप्त करने के लिए लालायित लोग यदि लोक-मंगल की सेवा-साधना, सामाजिक स्तर पर करने लगें तो देश का कितना बड़ा उपकार हो और उन उमंगों का भी सदुपयोग हो, राजनीति में इधर-उधर धक्के खाती हुई भ्रमित एवं अस्त-व्यस्त होती रहती हैं? यदि लोक-सेवा में निरत जनता की सच्ची श्रद्धा अर्जित कर ली जाय तो राजनेता बनने में भी कुछ कठिनाई नहीं रहती । पर यों ही उछल-कूद के आधार पर यदि राजनेता बन जाया जाय तो उसमें स्थिरता कहाँ रहती है?

हम यह सब करने को कटिबद्ध हों

विचार-क्रान्ति एवं भावनात्मक पुनरुत्थान पर यह निर्भर है कि जनता की गतिविधियों में आवश्यक परिष्कार

उत्पन्न हो। इस परिष्कार से ही राष्ट्र को सर्वाङ्गीण समर्थता उपलब्ध होगी। विचार, कार्यों का मूल है। विचार का बीज ही कार्य रूप में परिणत होता है। उत्तम मार्ग पर वही चल सकता है, जिसके विचार ऊँचे हों। हमें जन-मानस में उत्कृष्ट विचारों का बीजारोपण करना होगा, ताकि वे उगें, पल्लवित हों ओर अपनी हरियाली से इस उद्यान को सुशोभित कर सकें। कुविचारों और सुसंस्कारों का मवाद जब तक हमारे विचारों और भावनाओं में भरा रहेगा, तब तक कष्टकर स्थिति बनी ही रहेगी। इस मवाद को हटाने पर ही घाव पुरेंगे। हमारे सड़े-गले विचार जब हटेंगे, तब सशक्तता उत्पन्न करने वाली परिस्थितियाँ विकसित होंगी। वर्तमान काल की आवश्यकता जन-मानस में भरी हुई सड़ाँध हटाने की है। भावनात्मक दृष्टि से परिष्कृत व्यक्तियों का व्यक्तित्व, समाज एवं राष्ट्र ही तो बलवान् एवं सम्पन्न हो सकता है।

विचार-क्रान्ति इस युग की, वर्तमान काल की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए प्राणपण से जुट जाना ही आवश्यक कर्त्तव्य है। हमारे सामने (१) अनैतिकता, (२) अनागरिकता, (३) दुर्व्यसन एवं (४) सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन का चतुर्विध विशाल कार्यक्रम फैला पड़ा है। बेईमानी, अपराध, अन्याय, उद्दण्डता जैसे अनैतिक कार्यों द्वारा, आलस्य, फूहड़पन, अव्यवस्था, वचन न पालना जैसे अनागरिक स्वभावों द्वारा, नशेबाजी, फैशनपरस्ती, शेखी-खोरी, नाच-रंग जैसे दुर्व्यसनों द्वारा, विवाहोन्माद, नारी तिरस्कार, ऊँच-नीच जैसी सामाजिक अन्ध परम्पराओं द्वारा आज राष्ट्र बुरी तरह जर्जरित हो रहा है। इन चार दुष्प्रवृत्तियों में जितनी शक्ति कुण्ठित एवं नष्ट होती है, उसे यदि बचाया और उपयुक्त मार्ग में लगाया जा सके तो भारतीय समाज का काया-कल्प ही हो सकता है। जो प्रगति दूसरे देशों ने १०० वर्षों में की है, वह हम अपनी दार्शनिक महान् परम्पराओं एवं भारत माता के अतुलित साधनों द्वारा १० वर्ष के भीतर ही ऐसे अच्छे ढंग से कर सकते हैं कि संसार में फिर अपना 'जगद्गुरु' का स्थान हो जाय।

उपयुक्त चार मोर्चों पर जूझने के लिये हमें, (१) प्रचार, (२) संगठन एवं (३) आन्दोलन के त्रिविध आयुधों का उपयोग करना होगा। लड़ाई में-वायुयानों, जलयानों एवं थलसेना की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार नव-निर्माण के लिए यह त्रिविधि-साधन अनिवार्य रूप से अभीष्ट होंगे। लोग को विचार-क्रान्ति के भावनात्मक पुनरुत्थान के महान् अभियान कार्यक्रमों को अपनाने, परिपुष्ट करने एवं बढ़ाने के लिए कटिबद्ध होना ही होगा। नव-निर्माण अभियान में सम्मिलित होने के लिए जिन प्रबुद्ध आत्माओं का आह्वान किया गया है, उन्हें इस त्रिविध आधार पर विनिर्मित शतसूत्री योजना द्वारा युग-निर्माण के लिये अपने समयदान का प्रयोग करना होगा।

स्वार्थपरता एवं संकीर्णता के विचारों को उखाड़ कर उनके स्थान पर सर्वोपयोगी गतिविधियाँ अपनाने की विचार-क्रान्ति तभी सम्भव है, जब इन आदर्शों के उपयुक्त परिपक्व एवं प्रौढ़ विचार जन-साधारण को अधिकाधिक मात्रा में मिलें। इसके लिए लेखनी और वाणी दोनों ही माध्यम पूरी तरह अपनाने होंगे। पढ़-लिख सकने वाले लोगों तक उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति करने वाला साहित्य पहुँचाना होगा और बिना पढ़े लोगों को वे ही बातें सुनानी पड़ेंगी। यह कार्य व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों ही प्रकार से करना होगा। अपने सम्पर्क में जितने भी लोग हों, उन्हें प्रेरणाप्रद-प्रकाशवान् विचार देने के लिये सम्पर्क बनाने में तेजी लानी होगी। अपने परिचितों के पास जाएँ, उन्हें आवश्यक साहित्य पढ़ने को दें, चर्चा करें और विचार-विनिमय द्वारा उनकी मनोभूमि में आवश्यक परिवर्तन प्रस्तुत करें। यह व्यक्तिगत सम्पर्क की कार्य-पद्धति है।

सामूहिक प्रचार के लिए छोटी-बड़ी गोष्ठियों, उत्सवों, आयोजनों एवं समारोहों का प्रबन्ध करना होगा। समय-समय पर लोग किसी-न-किसी निमित्त से एकत्रित किये जाएँ और निर्धारित लक्ष्य के अनुरूप भावनाएँ उत्पन्न करने वाले प्रवचन करके भावनात्मक परिष्कार का प्रयोजन पूरा किया जाय। धार्मिक आधार पर इन प्रयोजनों की पूर्ति-(१) प्रज्ञा-पुराण एवं गीता-सप्ताह के आयोजनों, (२) रामायण की व्याख्या में प्रस्तुत किये गये प्रवचनों, (३) सत्यनारायण कथा की छोटी गोष्ठियों (४) परिवारों के प्रशिक्षण के लिए आयोजित सोलह संस्कारों, (५) पर्व-त्यौहारों के अवसर पर किए गए सामूहिक उत्सवों, दीप-यज्ञों एवं गायत्री यज्ञों के माध्यम से आमन्त्रित समारोहों में, यदि उपर्युक्त प्रवचनों की व्यवस्था रहे तो भारत की धर्म-प्रिय जनता सहज ही विचार-क्रान्ति के उपयुक्त प्रकाश प्राप्त कर सकती है। इसके अतिरिक्त भी जो कार्य सामूहिक प्रचार के लिए सम्भव हों, वे अपनाने चाहिए। हममें से हर एक का कर्त्तव्य है-इस प्रकार के व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रचार साधनों को करने और कराने में पूरी-पूरी दिलचस्पी लें, उन्हें अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने के लिए साधन जुटाते रहें।

एक विचार के, एक उद्देश्य एवं एक लक्ष्य के लोगों का संगठन आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है। इस युग की सबसे बड़ी शक्ति संगठन ही है। युग-परिवर्तन जैसे महान् अभियान तो संगठन की शक्ति पर ही सफल बनाये जा सकते हैं। इसलिए हमें उन लोगों को ढूँढ़ना और संगठित करना चाहिए, जो नव-निर्माण के उद्देश्य, आदर्शों एवं कार्यक्रमों में आस्था रखते हों। ऐसे लोगों में अखण्ड-ज्योति परिवार के सदस्यों को अग्रणी माना जा सकता है। विगत ४५ वर्षों से उन्हें यही शिक्षण मिलता रहा है। धर्म और अध्यात्म के नाम पर चलने वाली विडम्बना से घृणा करने और वास्तविकता को अपनाने का साहस और विवेक उनमें जागृत हुआ है। साथ ही कुछ काम करने के लिए भी

निरन्तर प्रेरणा भरी जाती रही है, इसलिए वे दूसरों की तरह कानूनी न होकर कार्य-संलग्न भी रहते हैं। इन लोगों को सुसंगठित किया जा सकता है। यों इस क्षेत्र को विस्तृत करके देश-व्यापी ही नहीं, विश्व-व्यापी भी बनाना है। जो भी इस प्रकृति एवं प्रवृत्ति के व्यक्ति मिलें उन सबको एक सूत्र में संगठित करना है, पर अभी तात्कालिक आरम्भ अखण्ड ज्योति के सदस्यों से किया जा सकता है।

जहाँ कहीं भी-जितने भी अखण्ड-ज्योति के सदस्य हों, उन सबको एक शाखा के रूप में संगठित हो जाना चाहिए। संगठन की एक पाँच व्यक्तियों की संचालक समिति बना ली जाय जो यह प्रयत्न करती रहे कि वर्तमान सदस्यों का मिलन एवं विचार-विनिमय नियमित एवं क्रमबद्ध रूप से चलते रहने की व्यवस्था बन जाय। जन्म दिन मनाने की इस प्रथा, इस कार्य में आश्चर्यजनक रूप से सहायक होती है। जिसका जब जन्मदिन हो तब उसके यहाँ सब परिजन एकत्रित हों, हवन, प्रवचन के अतिरिक्त पारस्परिक आत्मीयता सुदृढ़ करें। इसके अतिरिक्त समय-समय पर होती रहने वाली गोष्ठियों में निरन्तर यह विचार किया जाता रहे कि उस क्षेत्र में जन-जागरण उत्पन्न कर सकने वाली क्या प्रवृत्तियाँ चलाई जा सकती हैं? शतसूत्री कार्यक्रमों में से जहाँ जो सम्भव हो, वहाँ वह तुरन्त ही आरम्भ कर दिया जाना चाहिए। संगठन का क्षेत्र दिन-दिन अधिक विस्तृत एवं व्यापक बनाने का प्रयत्न पूरे उत्साह एवं धैर्य के साथ चलाते रहना चाहिए। इस प्रकार जो संघ शक्ति विकसित होगी, उसके द्वारा अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त कर सकने में कोई सन्देह न रह जाएगा।

आन्दोलनात्मक, रचनात्मक कार्यों में अनेक ऐसे हैं, जिन्हें अविलम्ब हर जगह आरम्भ कर देना चाहिए। नव-निर्माण की प्रेरणा करने वाला एक पुस्तकालय हर जगह स्थापित हो जाना चाहिए। इसमें कूड़ा-करकट बिलकुल भी न हो, केवल चुनी हुई पुस्तकें हों जो पढ़ने वाले के मस्तिष्क एवं हृदय को नव-निर्माण के लिए आवश्यक प्रेरणा एवं प्रकाश प्रदान कर सकें। पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकाओं मँगाने के लिए सदस्यगण आपस में मासिक चन्दा इकट्ठा कर लें। एक जगह पुस्तकें जमा कर देने से भी कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा। सदस्यगण उन्हें लोगों के घरों पर पहुँचाने और वापिस लाने का भी काम करें। पुस्तकें जमा न रहकर उस देश में घूमती रहें, तो समझना चाहिए कि पुस्तकालय की स्थापना सफल हो गई।

इस युग के देव-मन्दिर, सरस्वती-सदन, गायत्री-देवालय, प्रज्ञा-मंदिर सद्विचारों से परिपूर्ण पुस्तकालय ही हो सकते हैं। जहाँ इनकी स्थापना हो जाय, समझना चाहिए कि वहाँ का शाखा संगठन सजीव एवं जाग्रत है। जहाँ इतना भी न हो सके, समझना चाहिए, लोग उथले मन से लकीर पीटने मात्र की चिन्ह-पूजा कर रहे हैं। युग-निर्माण शाखाओं के लिए यह लज्जा की बात होगी कि वे ऐसा एक पुस्तकालय भी स्थापित एवं संचालित न कर सकें। उस अभाव की पूर्ति तत्काल कर ली जानी चाहिए। विचार-क्रान्ति के उद्गम स्रोत यह युग निर्माण पुस्तकालय ही होंगे। हमारा रचनात्मक आन्दोलन, युग-निर्माण पुस्तकालय ही होंगे। हमारा रचनात्मक आन्दोलन से ही आरम्भ होना चाहिए।

प्रौढ़ पाठशालाओं और व्यायामशालाओं की स्थापना भी ऐसे रचनात्मक कार्य हैं, जिनका ताना-बाना हर जगह बुना जाना चाहिए । साक्षरता-राष्ट्रीय जागरण का आवश्यक अंग है। देश में एक भी निरक्षर न रहने पाये। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रौढ़ पुरुषों और महिलाओं के लिए उनकी सुविधा के समय पर पाठशालाएँ चलाई जानी चाहिए। व्यायाम का प्रचार घर-घर किया जाय। मुहल्ले-मुहल्ले और गाँव-गाँव व्यायामशालाएँ खुलें। खेल-कूदों की प्रतियोगिताएँ होती रहें। लाठी, तलवार जैसे अस्त्र-शस्त्र का चलाना सिखाया जाय। पुस्तकालयों के अतिरिक्त जहाँ सम्भव हो सके प्रौढ़ पाठशालाएँ एवं व्यायामशालाएँ स्थापित करने का भी पूरी दिलचस्पी के साथ प्रयत्न किया जाय।

दीवारों पर आदर्श वाक्य लिखकर नगर को एक बोलती पुस्तक बनाना, दोहा, अन्त्याक्षरी, खेल-कूद, भाषण, कला-कौशल, पशुपालन, स्वच्छता आदि की प्रतियोगिता, प्रदर्शनी जैसे आयोजन जब-तब होते रह सकते हैं। संगीत भवनों के प्रेरणाप्रद आयोजन चलते रहें। घरों में कथा-कहानियों द्वारा पारिवारिक शिक्षण होते रहें। टोलियाँ बनाकर सदस्यगण लोगों के पास जन-सम्पर्क के लिए जाया करें और उन्हें सामाजिक कुरीतियों, दुष्प्रवृत्तियों, अनैतिकताओं एवं व्यसनों की हानियाँ को समझाकर उनके परित्याग का साहस उत्पन्न किया करें तो यह टोलियाँ अपने क्षेत्र में बहुत बड़ा काम कर सकती हैं और सोये हुए इलाके नये सिरे से नव-जीवन एवं नव-जागरण कर नव-प्रकाश उपलब्ध कर सकते हैं।

आजकल सप्ताह में एक समय अन्नाहार करके एवं आध्यात्मिक आधार पर राष्ट्र में सर्वांङ्गीण समर्थता उत्पन्न करने के लिए 'क्लीं' बीजयुक्त महामन्त्र का जो शक्ति पुरश्चरण चल रहा है, उसमें कम-से-कम एक माला जप करने का नियम लेकर भागीदार बनाने की प्रेरणा की जा सकती है। सुरक्षा कार्यों में धन, रक्त, सैनिक देने तथा नागरिक रक्षा दलों की स्थापना करने जैसे कार्य भी बढ़ाये जा सकते हैं उन्हें करने के लिए अगणित काम पड़े हैं। युग निर्माण योजना के शतसूत्री कार्यक्रमों में से जहाँ जो संभव हो सके, उन्हें करना एवं कराना चाहिए। रचनात्मक आन्दोलन द्वारा ही जन-मानस पर यह छाप डाली जा

सकती है कि यह प्रवृत्तियाँ अब चल पड़ीं। लोग चलते हुए दरों में सम्मिलित होते रहते हैं। सुनने का नहीं, देखने का जो कार्य हमें जनता से कराते हैं वे उसकी आँखों के आगे होने लगें, उसे दीखने लगें, यह व्यवस्था करना ही रचनात्मक आन्दोलन का मूल प्रयोजन है। दृश्य-प्रेरणा से ही परिवर्तन की ठोस नींव रखी जा सकती है। इसलिए रचनात्मक आन्दोलन की व्यवस्था जहाँ कहीं भी संगठन स्थापित हो चुके हैं, वहाँ आरम्भ कर दी जानी चाहिए।

नव-निर्माण के लिए हम में से हर एक को कुछ करना है। जिनकी आत्मा में जितना धर्म-तत्त्व जाग्रत हो चुका है, उन्हें उतना ही अधिक करना है। कर्तृत्व ही वास्तविकता की कसौटी है। आज देश, धर्म, समाज एवं संस्कृति की पुनरुत्थान बेला प्रस्तुत है, इसमें अपना योगदान देने के लिए हमें हर बहाने और हर कारण को ठुकराते हुए, योगदान देने के लिए कटिबद्ध होना ही चाहिए। चतुर्विध मोर्चे को जीतने के लिए प्रचार, संगठन व आन्दोलन के त्रिविध शस्त्र हमें सँभालने ही चाहिए।

सामाजिक-क्रान्ति में बुद्धिजीवियों की भूमिका

राष्ट्रों, राज्यों और जातियों के जीवन में आदि काल से उल्लेखनीय धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक क्रान्तियाँ हुई हैं। उन परिवर्तनों में श्रेय भले ही एक व्यक्ति या वर्ग को मिला हो, सच्ची बात यह रही है कि बुद्धिजीवियों, विचारवान् व्यक्तियों ने उन क्रान्तियों को जन-जन तक फैलाया और सफल बनाया।

सर्वसामान्य जनता में विवेचन की शक्ति नहीं होती। आहार-विहार जैसे मोटे विषयों में उचित-अनुचित, संयम-असंयम, लाभ-अलाभ का साधारण ज्ञान भी जिन्हें न हो उन्हें व्यापक उन्नति, सार्वभौमिक परिस्थितियों और उच्चतर जीवन प्रणाली की आचार-संहिता समझना कोई साधारण बात नहीं है। यह कार्य दो वस्तुओं में धुरी की तरह केवल प्रबुद्ध व्यक्ति ही कर सकते हैं। समुद्र अपने आप में अथाह है, पर स्वत: धरती की प्यास बुझाने में असमर्थ है। उसके लिए मध्यस्थ जलधर की आवश्कता होती है।

बादल समुद्र से जल लेकर प्यासी भूमि की तृष्णा हरते हैं। भूमि सूर्य किरणों से जीवन प्राप्त कर अन्न उगा देती है। पौधे धरती से रस लेकर मधुर फल देते हैं। पहाड़ का जल लेकर नदियाँ चलती हैं और सारे प्रान्तों में बाँट आती हैं। इन मध्यस्थों का महत्त्व अपने उद्गम से कम नहीं, क्रियाशक्ति के सहयोग में उससे कुछ अधिक ही है। प्रकट में तो यही मुख्य कारण होते हैं।

यह एक सामान्य सिद्धान्त है। उसके स्थूल दर्शन राष्ट्रों के इतिहास में संभव है। संसार में आज जितने प्रगतिशील देश हैं वे सब एकाएक ही इतने समृद्ध और उन्नतशील नहीं बन गये, उन्हें प्रबुद्ध व्यक्तियों ने उठाया है इसके इतिहास विद्यमान हैं।

रूस की सामाजिक अर्थव्यवस्था, शिक्षा, वैज्ञानिक प्रगति की मिसाल दी जाती है। बहुत कम लोग जानते होंगे कि इस शताब्दी के पूर्व वहाँ तीन-चौथाई जनता से भी अधिक लोग अशिक्षित थे, निर्धन और वैज्ञानिक क्षेत्र में बिलकुल पिछड़े थे। एकाएक तीव्र परिवर्तन हुआ, जिसके पीछे बुद्धिजीवियों की एक सुव्यवस्थित क्रान्ति टिकी हुई है। पढ़े-लिखे लोगों के त्याग, लगाव और परिश्रम का चमकता हुआ अध्याय जुड़ा हुआ है।

१९२० से लेकर १९६० तक केवल शिक्षा जगत में जो क्रान्ति हुई उसका लेखा प्रस्तुत करते हुए विद्वान रूसी लेखक ए. पुल्को ने एक स्थान पर बताया है कि १९२० में १० लाख में केवल ३०० व्यक्ति ऐसे थे, जिन्होंने उच्चतर स्कूल की शिक्षा प्राप्त की थी, इसके बाद प्रबुद्ध व्यक्तियों के माध्यम से सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली का संगठन हुआ और देश में अकाल, विनाश की परिस्थितियों में भी निरक्षरता उन्मूलन के पाठ्यक्रम गाँवों में ; क्लबों, निवास गृहों और औद्योगिक संस्थाओं में प्रसारित किये गये। तथाकथित सांस्कृतिक क्रान्ति का उद्देश्य राष्ट्र में वैज्ञानिकों, लेखकों और कलाकारों की आवश्यकता की पूर्ति करना भी था। इस आन्दोलन में लेनिन, कोन्सतान्तिन-व्रतिसियोल्कोवस्को एवं इवान पवलोव जैसे अगुआ थे पर सफलता का श्रेय थोड़े से व्यक्तियों को दिया जाता है, जिन्होंने सम-विचारक पैदा करने और सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रसार करने में अथक परिश्रम और त्याग दिखाया। फल यह हुआ १९४० में ११०००० और १९६० तक उच्चस्तर शिक्षितों की संख्या ३३४००० तक पहुँची, इन्हें विशेषज्ञ स्नातक कहा जाता है।

यह उत्पादन केवल शिक्षा का है। विज्ञान, उद्योग विकास, इंजीनियरिंग, कला, संस्कृति के क्षेत्र में रूस ने जो उन्नति की वह भी आज सारी दुनिया के सामने है। रूस यह बात मानता है कि यह परिवर्तन थोड़े-से बुद्धिजीवियों के श्रम और सहयोग से ही संभव हुआ है।

विश्व का दूसरा और सम्भ्रान्त राष्ट्र अमेरिका है। वहाँ के सामाजिक, सांस्कृतिक, कानून, औद्योगिक, शिक्षा और वैज्ञानिक क्षेत्र में जो तीव्र परिवर्तन हुए हैं, उसका इतिहास भी काफी पुराना नहीं है।

लगभग १९१० में अमेरिका के कुल ९ व्यक्ति राजधानी वाशिंगटन में 'सरकारी अनुसंधान संस्थान' की रूपरेखा लेकर एकत्रित हुए थे। इन्होंने 'ब्रुकिंग इन्स्टीट्यूशन' नामक संस्था की स्थापना की। इसमें सरकार उलटने की कहीं कोई बात न थी, संस्थान का उद्देश्य अमेरिका के कानूनी प्रशासन, शिक्षा, विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना था। इन क्रान्तिकारी कार्यक्रमों को 'ब्रुकिंग

इन्स्टीट्यूशन' ने केवल व्यवस्थित ढाँचा देकर प्रकाशित किया और उसे उभारा वहाँ के प्रबुद्ध व्यक्तियों ने। इस अभियान ने अमेरिका में बौबवुड, जौन गार्डनर, चार्ली हौर जैसे कर्मठ और प्रभावशाली व्यक्ति पैदा कर दिये। कहा जाता है कि इन लोगों ने क्रान्ति को वैसा ही मोड़ दिया जैसे कुछ समय पूर्व ब्रिटेन में'प्रोटेस्टेन्टों' ने किया था। चूँकि संस्थान के विषय सार्वजनिक नीति, अर्थव्यवस्था, परिवहन, निर्वाचन, कानून, सरकारी नौकरी, मालिक-मजदूरों के सम्बन्ध आदि थे इसीलिए कोई भी व्यक्ति उससे अछूता न रहा और ऐसी आँधी आई कि कानूनी मामले ही नहीं सामाजिक रहन-सहन और राष्ट्रीय प्रगति में ठोस परिवर्तन हुए। अमेरिका की इस प्रगति का इतिहास भी प्रबुद्धों के पसीने से लिखा गया है।

इन देशों ने राष्ट्रीय समस्याओं, नये सृजन, नये आविष्कारों के समाधान के लिए बौद्धिक शक्ति का उपयोग किया और उनसे बहुमुखी विकास का वातावरण बनाया। आज दोनों देश समृद्धि के उच्चशिखर पर हैं।

क्यूबा एक छोटा-सा देश है। उसकी शक्तियाँ सीमित थीं, पर बुद्धिजीवियों की शिक्षा व्यवस्था ने कमाल का इतिहास प्रस्तुत किया। जितने पढ़े-लिखे लोग थे अशिक्षितों को ढूँढ-ढूँढ कर पढ़ाने में लग गये। आज क्यूबा में एक अशिक्षित व्यक्ति नहीं है। निरक्षरता क्यूबा से निर्वासित कर दी गई-यदि पूछा जाय किसने? तो एक ही उत्तर मिलेगा नागरिकों ने।

चीन और जापान में भी राजनैतिक परिवर्तन और सामाजिक सुधार हुए हैं, उनमें बुद्धिजीवियों का ही योगदान मुख्य रहा है। सच बात तो यह है कि सृष्टि के आदि से अब तक समाज की रीति-नीति, व्यवस्था का संचालन प्रबुद्ध व्यक्तियों के ही हाथ रहा है। उनकी मनोदिशा कैसी रही? उपलब्धियों का स्वरूप क्या रहा? इन सब विषयों में तर्क और विवाद हो सकता है पर यह निर्विवाद सत्य है कि अच्छी-बुरी जैसी भी परिस्थितियाँ उठी हैं उनको प्रसारित बुद्धिजीवियों ने किया है।

समस्त क्षमताओं की तुलना में विवेचन की क्षमता मनुष्य की बुद्धि से सबसे अधिक घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। इसलिए प्रबुद्ध व्यक्ति कठिन और मार्गदर्शन जटिल समाधानों को भी सम्बद्ध व्यक्ति के लिए सरल बना देता है। अथवा उसे अपने समीप वातावरण की बौद्धिक बनावट, रीति-रिवाज, रहन-सहन का अधिक पता होता है इसीलिए वह महापुरुषों के क्रान्तिकारी कार्यक्रमों को सरल बना कर प्रस्तुत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा लेता है। यह भूमिका ही किसी देश व परिस्थितियों के उत्थान व पतन में मुख्य सहयोगिनी रही है चाहे वह रूस की शिक्षा और सांस्कृतिक-क्रान्ति रही हो, चाहे अमेरिका की औद्योगिक और आर्थिक-क्रान्ति।

समाज की कुंठाओं को काटने की तेजी भी यदि किसी में हो सकती है तो यह प्रबुद्ध व्यक्ति ही हो सकते हैं, उन्हें छोड़कर या उनके बिना कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना सम्भव नहीं।

असुरता का मान-मर्दन संघशक्ति के बल पर

मनुष्य जाति के सामने अगणित समस्याएँ उत्पन्न करने वाला, विविध-विधि, कष्ट-क्लेश देने वाला, एक ही असुर है-अज्ञान। रावण, कंस, हिरण्यकश्यपु आदि असुरों ने थोड़े से आदमी मारे थे, पर अज्ञान के असुर ने समूची मानव जाति को अपनी दाढ़ों से चबा डाला और उदरस्थ कर लिया है। सर्वसुविधा सम्पन्न इस धरती के निवासियों को स्वर्गीय सुख-शान्ति का उपभोग करना चाहिए था पर हो बिलकुल उलटा रहा है। हर व्यक्ति नरक की आग में जल रहा है-हर व्यक्ति खौलते कड़ाव में तलने और अंगारों पर चलने से अधिक त्रासदायक क्षणों में मौत के दिन पूरे कर रहा है। जिन्दगी जिस सुर-दुर्लभ ईश्वरीय वरदान की तरह हर्षोल्लास के साथ बितायी जानी चाहिए थी, वह नारकीय यन्त्रणाएँ सहते हुए व्यतीत करनी पड़ रही है, उसकी लाश ढोना भारी पड़ रहा है।

यह स्थिति एक आदमी की नहीं-लगभग सभी की है। समझा यह जाता रहा है कि पैसा कम पड़ने से यह कष्ट सहने पड़ रहे हैं, यदि मनचाही मात्रा में पैसा होता तो सुखी जीवन जिया जा सकता था? यह मान्यता बहुत थोड़े अंश में ही सही है। यह ठीक है कि अधिक पैसे से शरीर को सुख-सुविधा देने वाले अधिक साधन खरीदे जा सकते हैं, पर इससे क्या, प्रश्न तो उस मन:स्थिति का है जिसके आधार पर पैसा का उपयोग किया जाना था। उस क्षेत्र में विकृतियों का पूरा साम्राज्य है फलस्वरूप जो धन से खरीदा जाता है उसमें उपयोगी कम और हानिकारक अधिक होता है।

इस सन्दर्भ में हम पैसे वालों की स्थिति का गहरा अन्वेषण-विश्लेषण कर सकते हैं। गरीबों की बात कुछ समय के लिए पीछे करके पहले उन अमीरों की स्थिति देखें जिन्हें आवश्यकता से अधिक पैसा मिला है। वे उसका करते क्या है? अपने और अपने परिवार के लिए स्वादिष्ट भोजनों की भरमार करके सबका पेट खराब करते हैं। श्रम से बचने और आराम-तलबी का ठाठ-बाठ जुटाने में शरीर की श्रम शक्ति गँवा देते हैं। गरीबों से अमीरों के स्वास्थ्य अधिक दुर्बल पाये जाएँगे वे अपेक्षाकृत अधिक रोगी रहते हैं और जल्दी मौत के मुँह में प्रवेश करते हैं।

यहाँ न तो धन की निन्दा की जा रही है और न दरिद्री की प्रशंसा। धन भी विद्या बल, शरीर बल आदि की तरह एक शक्ति है उसका सदुपयोग आता है तो अपना-अपने परिवार का और समाज का भारी हित साधन किया जा सकता है; पर दृष्टिकोण में छाया हुआ अज्ञान उस धन

के सदुपयोग की दिशा सोचने ही नहीं देता। जितनी इच्छाएँ-जितनी चेष्टाएँ होती हैं वे सभी दूषित रहती हैं फलस्वरूप उपार्जित धन अपना, परिवार का, समाज का विविध प्रकार से सत्यानाश करता चला जाता है। धन से *जो लाभ एवं सन्तोष मिलना चाहिए था* उससे धनी वर्ग प्राय: वंचित ही रहता है। यहाँ हजार बार समझना चाहिए कि दोष धन का नहीं, दूषित दृष्टिकोण का है जिसे दूसरे शब्दों में अज्ञान कहा जा सकता है।

विद्या बल की महत्ता और भी अधिक है। ऊँची शिक्षा की, बुद्धि कौशल की कौन निन्दा करेगा। शक्तियों में से किसी की भी निन्दा नहीं की जा सकती, वे सभी प्रशंसनीय और उपयोगी हैं-शर्त एक ही है कि उनके उपयोग में विवेक से काम लिया जाय। बिजली, भाप, गैस, पैट्रोल, अणु-ऊर्जा आदि शक्तियाँ कितनी उपयोगी हैं, सभी जानते हैं पर यदि इनमें से किसी का भी *दुरुपयोग किया जाय* तो वे भयंकर दुष्परिणाम उत्पन्न करती हैं। साहित्यकार कैसे साहित्य लिख रहे हैं-कलाकार किन प्रवृत्तियों को उभार रहे हैं, इसे अत्यन्त निराशापूर्वक देखा जा सकता है। दुनिया में एक से एक बुद्धिमान भरे पड़े हैं जिनमें से थोड़ी भी प्रतिभाएँ यदि जन-मानस की दिशा देने में लग गई होतीं तो दुनिया की स्थिति वैसी न होती, जैसी आज है।

शरीर बल से उपयोगी श्रम हो सकता था-कारखाने उपयोगी सृजन कर सकते हैं। पर हम देखते हैं शारीरिक क्षमता आतंक और अनाचार उत्पन्न करने में लगी हुई है। *अपराधों और अनाचारों में वे ही लोग अधिक लगे हैं* जिनके स्वास्थ्य अच्छे हैं। भगवान् ने जिन्हें रूप दिया है वे उससे कला कोमलता का सृजन करने की अपेक्षा पतन और दुराचार को प्रोत्साहन दे रहे हैं। कल-कारखाने नशेबाजी से लेकर विलासिता के अनेकानेक साधन बनाने में लगे हुए हैं। मनुष्य द्वारा मनुष्य मारे-काटे जाने के लिए जितनी युद्ध-सामग्री बन रही है यदि उसे बदलकर *सृजनात्मक उपकरण बनाये गये होते* तो उतनी धन शक्ति का, जन शक्ति का, क्रिया-कौशल का न जाने संसार की सुख-शान्ति में कितना बड़ा योगदान मिला होता।

संसार में साधन कम नहीं है। अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, कनाडा आदि देशों में इतनी फालतू और बेकार जमीन पड़ी है कि उस पर भारत और चीन जैसे घने देशों की आबादी को बसाकर सबके लिए प्रचुर सुख-साधन जुटाये जा सकते हैं, जितना धन, जितना साधन संसार में है उसे मिल-बाँटकर खाया जाय तो हर मनुष्य बीमारी, बेकारी, अशिक्षाजन्य कठिनाइयों से मुक्ति पा सकता है और निर्वाह की पर्याप्त सुविधा पाकर सुख-शान्ति का जीवन जी सकता है। जो विज्ञानी मस्तिष्क अणु आयुध और विघातक गैसें और भी न जाने क्या-क्या बना रहे हैं वे समुद्र के खारे पानी को मीठा बनाने जैसे कार्यों में जुट जाएँ तो इस *धरती पर स्वर्गीय परिस्थितियाँ* हँसते-खेलती दिखाई पड़ें और हम सब नन्दन वन में रह रहे हों।

एक दूसरे को गिराने में, शोषण और दोहन में हमारी जो दुरभिसन्धियाँ निरन्तर क्रियान्वित रहती हैं यदि वे उलट जाएँ और परस्पर स्नेह, सहयोग प्रदान करने-ऊँचा उठाने में लग जाएँ तो उससे सभी को राहत मिले। घृणा, द्वेष, *प्रतिरोध के स्थान* पर स्नेह, *सौजन्य बिखर* पड़े और दुनिया कितनी सुन्दर, सुहावनी बन जाय, हर व्यक्ति के इर्द-गिर्द हर्षोल्लास का वातवरण बिखरा दिखाई पड़ने लगे।

स्वर्ग जैसी समस्त सम्भावनाओं के रहते हुए भी अपनी दुनिया नारकीय यातनाओं में जल-भुन रही है इसके ऊपर कारण तो पेड़ पर लगे अनेक पत्तों की तरह अलग-अलग दिखाई पड़ सकते हैं पर विचारक देख सकते हैं कि यह विष वृक्ष जिन गहरी जड़ों के कारण फल-फूल रहा है, वह हर क्षेत्र में छाया हुआ अज्ञान, अनाचार ही है। *आदमी का सोचने का तरीका यदि बदला जा सका होता* तो उसका परिणाम उससे सर्वथा विपरीत होता, जो आज हमारे सामने है। हर उलझी समस्या का, हर विपत्ति और दुर्गति का एक ही कारण है-भ्रष्ट चिन्तन और तज्जनित दुष्ट कर्तृत्व। इसका मूलोच्छेदन किये बिना अन्यान्य उपायों से सुधार की, प्रगति की बाल-क्रीड़ा ही होती रहेगी पर बनेगा कुछ नहीं।

पेड़ मुरझा रहा है तो पत्ते छिड़कने से नहीं जड़ सींचने से काम चलेगा। चेचक की हर फुन्सी पर अलग-अलग पट्टी नहीं बँध सकती, रक्त-शोधक दवा से ही उसकी जड़ *कटेगी। मनुष्य और समाज के सामने आज अगणित* समस्याएँ हैं, पर वे उत्पन्न एक ही कारण से हुई हैं और उनका निवारण भी एक ही केन्द्र से सम्बद्ध है। ताले के हर पुर्जे की तोड़-फोड़ जरूरी नहीं। ताली घुमाने से वे सभी घूम जाएँगे और ताला खुल जाएगा। शरीरगत रुग्णता, मनोगत उद्विग्नता, आर्थिक क्षेत्र की तंगी, अपराधों का घातक क्लेश, विग्रह अशिक्षा, बेकारी, पिछड़ापन, पीड़ा आदि जो कुछ जहाँ-कहीं भी अशुभ दिखाई पड़े समझना चाहिए यह सारा दावानल अवांछनीय चिन्तन की चिनगारी का उत्पन्न किया परिवार है।

अपनी निज की, अपने परिवार की, देश, समाज की, विश्व-मानव की, प्राणि मात्र की कुछ ठोस सेवा करने की इच्छा हो तो व्यापक रूप से मन:क्षेत्र में भरी हुई उस गन्दगी को साफ करना चाहिए जिसकी सड़ाँध से विभिन्न जातियों के विषाणु उत्पन्न होते हैं और एक-से-एक भयंकर महामारियों का सृजन करते हैं।

प्राचीन-काल के रावण, कंस, महिषासुर, वृत्तासुर *आदि की सत्ता स्थानीय थी इसलिए उन्हें आसानी से* मारा जा सका। इस युग का रावण सर्वव्यापक है। हर व्यक्ति की इच्छा, बुद्धि और क्रिया उसी के चंगुल में पूरी तरह जकड़ गई है। इससे लोहा लेना अपेक्षाकृत कठिन है, फिर भी हिम्मत तो नहीं ही हारी जाएगी। हाथ पर हाथ धरे तो नहीं ही बैठेंगे। समुद्र से अण्डे वापस लाने के लिए टिटहरी जब अथक प्रयास कर सकती थी और अन्तोगत्वा सफल

हो सकती थी तो हमीं क्यों अपने को कम साहसी और कम पुरुषार्थी सिद्ध करेंगे।

युग परिवर्तन की-जनमानस के भावनात्मक नव-निर्माण की घड़ी निकट आ पहुँची। अरुणोदय का, ऊषा का आलोक प्राची के समीप न सही दूर दिखाई पड़ने लगा है। हम इस ब्रह्ममुहूर्त में आलस्य-प्रमाद के गर्त में पड़े न रहेंगे, कमर बाँधकर आगे बढ़ेंगे और कर्त्तव्यों की पुकार को शिरोधार्य करते हुए शूरवीरों जैसा दुस्साहस जुटायेंगे। इसमें त्याग-बलिदान का परिचय देना होगा। इसके बिना इतना बड़ा सर्वजित यज्ञ सफल नहीं हो सकता।

युग निर्माण परिवार के परिजनों ने प्राथमिक परीक्षाएँ कितनी ही पास कर ली हैं। प्रचारात्मक, रचनात्मक और संघर्षात्मक शतसूत्री योजना के आमंत्रण को प्राय: सभी ने स्वीकार किया है और न्यूनाधिक योगदान सभी का रहा है। यदि ऐसा न हो तो उज्ज्वल भविष्य की जो किरणें हर किसी को आश्वस्त कर रही हैं, उनका आलोक किस प्रकार दृष्टिगोचर होता। पर अब खोजने के लिए पंचवटी से लेकर रामेश्वरम् की यात्रा पूरी हो चुकी है। रास्ता नापने का, ठहराने और भोजन के प्रबन्ध जुटाने का छोटा काम पूरा हो गया। रीछ, वानर अब उस तट पर आ पहुँचे जहाँ से सेतुबन्ध बाँधा जाना है। जहाँ से सोने की बनी, दुर्दान्त असुरों की शस्त्र-सज्जा से सजी लंका पर आक्रमण किया जाना है। संस्कृति की सीता को वापस लाने के लिए और कोई उपाय भी तो नहीं है। रावण को कुछ भी कर गुजरने-असंख्य सीताओं के अपहरण की छूट देकर ही हम अपनी सुख-सुविधाएँ बचा सकते हैं अन्यथा **'हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जीत्वा वा भोक्ष्यसे महीम'** के दोनों हाथों में लड्डू देखते हुए 'करो या मरो' की नीति अपनानी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प अब रह नहीं गया है।

रावण और कंस के समय में अनेक साधन सम्पन्न राजा, योद्धा, धनी, विद्वान और कुशल, समर्थ व्यक्तियों का अभाव न था वे चाहते तो मिल-जुलकर असुरों के विरुद्ध मुहीम खड़ी कर सकते थे। मुगल काल में अनेक शस्त्र सज्जित सामन्त मौजूद थे, वे चाहते तो आक्रान्ताओं को मिल-जुलकर खदेड़ सकते थे। गाँधीजी के जमाने में ६०० से अधिक रजवाड़े थे, उनके पास सैनिक भी थे और शस्त्र भी, पर वे सभी साहस गँवा चुके थे। त्याग-बलिदान की माँग पूरी करने की तेजस्विता उनमें रह नहीं गई थी। फलत: रावण से लड़ने के लिए रीछ, वानरों को, मुगलों से लड़ने के लिए प्रताप, शिवाजी, छापामारों को, अँग्रेजों से लड़ने के लिए गाँधी के निहत्थे सत्याग्राहियों के उपहासास्पद और नगण्य समझे जाने वाले जत्थों को आगे आना पड़ा था। आज भी वही स्थिति है। सुयोग्य और समर्थ व्यक्तियों की कोई कमी नहीं। वे चाहें तो अज्ञान के असुर से जूझने के लिए उन साधनों को दे सकते हैं, जो उनके क्षुद्र स्वार्थों में लगे हुए हैं। पर ऐसा सम्भव नहीं। साधन सम्पन्न होने से क्या हुआ? सामर्थ्यवान होने से क्या बना? उनके हृदय बहुत ही छोटे और कृपण हैं। संग्रह और उपभोग से आगे की बात सोचना उनकी कृपण-चेतना के लिए सम्भव नहीं है। आदर्श प्रस्तुत करने के लिए जिस दुस्साहस की आवश्यकता पड़ती है, उसे जुटाना इनके लिए कदाचित् सम्भव हो सके। मनुष्य का लक्ष्य और सफलता का रहस्य जिन्होंने माला घुमाने और कर्मकाण्डों की टन्ट-घन्ट तक सीमित कर लिया हो, वे सब कुछ पा लेने की बात सोचते हैं। मानवी गरिमा को अक्षुण्ण रखने के लिए जो महँगी कीमत चुकानी पड़ती है, उसे वे क्यों कर जुटा पायेंगे, समर्थ और साधन सम्पन्न होने से क्या हुआ उनकी आन्तरिक कृपणता इतनी गहरी है कि उस साहस की अपेक्षा उनसे नहीं की जो महामानवों की पंक्ति में बैठने वाले, मानवी गौरव को प्रतिष्ठा देने वाले आदर्शवादी लोगों को देनी पड़ती है।

इस सेतुबन्ध को हम रीछ, वानर ही मिलकर बाँधेंगे। इस गोर्वधन को उठाने में हम ग्वाल-बाल ही अपनी लाठी लगावेंगे। समुद्र को पाटने के लिए गिलहरी अपने बालों में रेत भर ले जाती थी और उसे पानी में छिड़कती थी-टिटहरी ने अण्डे वापस लेने के लिए समुद्र में भर चोंच मिट्टी डालने का उपक्रम किया था। निस्सन्देह यह प्रयास बुद्धिमान समझने वाले लोगों के लिए मूर्खतापूर्ण थे। पर जब बुद्धिमानी अपने स्थान पर जीवित है तो इस बेचारी आदर्शवादी मूर्खता को भी तो जिन्दा रहना ही चाहिए। हमें गर्व के साथ इस दुस्साहस भरी मूर्खता का परिचय देना चाहिए, जिसमें हमें अपने पास जो कुछ है उसे युग देवता के चरणों पर समर्पित करना है। अज्ञान का असुर इससे कम में मरेगा नहीं। वृत्तासुर वध का एक ही उपाय था-दधीच की अस्थियों का वज्र। उन महामुनि ने इस सन्दर्भ में कृपणता नहीं बरती। यों कष्ट तो सुई चुभने का भी होता है, अस्थिदान में भी उन्हें पीड़ा तो हुई ही होगी पर आदर्शों की स्थापना के लिए इससे कम में कभी काम चला भी नहीं । रीछ, वानर अपनी जान बचाते तो लंका विजय सम्भव न थी। धर्म-युद्ध में पाप मरता तो है पर मरता तब है जब धर्म वीरों के त्याग-बलिदान की पूरी परख कर लेता है। आज भी इतिहास की उसी पुनरावृत्ति के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं।

यह हमारी वास्तविकता की परीक्षा बेला है। अज्ञान असुर के विरुद्ध लड़ने के लिए प्रचुर साधनों की आवश्यकता पड़ेगी। जनशक्ति, बुद्धिशक्ति, धनशक्ति जितनी भी जुटाई जा सके उतनी कम है। बाहर के लोग आपाधापी की दलदल में आकण्ठ मग्न हैं। इस युग पुकार को भावनाशीलों को ही पूरा करना होगा।

आदर्शवादी साहसिकता का उपयुक्त अवसर

मनुष्य अनुचित सोचते और अकर्म करते हैं तो सन्तुलन बिगड़ता है। व्यक्ति दु:ख पाता है और समाज संकटग्रस्त होता है। स्थिति उसी प्रकार चलती रहे तो

महाविनाश के गर्त में गिरना पड़ेगा। मानवी प्रयास जब अवांछनीयता को रोकने में उपेक्षा बरतते हैं अथवा अपने को असमर्थ समझते हैं तो महाकाल को स्थिति अपने हाथ में लेनी पड़ती है। स्रष्टा को अपना यह विश्व उद्यान दुष्प्रवृत्तियों के कुचक्र में फँसकर नष्ट हो जाने देना स्वीकार नहीं। वे भूलोक की अपनी अनुपम कलाकृति को विनाश के गर्त में गिरने देना नहीं चाहते। अस्तु, समय रहते सन्तुलन बनाने वाली शक्तियों का अवतरण होता है। वे जाग्रत आत्माओं के अन्तःकरणों में अपनी प्रकाश किरणें फेंकती हैं उन्हें कठपुतली जैसा माध्यम बनाकर परिवर्तन का तूफान उत्पन्न करती हैं।

स्थिति की विषमता को सम्भालने के लिए भगवान इसी रूप में अवतार लेते हैं। युगान्तर चेतना के रूप में उसका अवतरण होता है। उसे कार्यान्वित करने में जो अग्रणी पंक्ति में खड़े होते हैं वे श्रेय पाते हैं। किन्तु उसमें योगदान असंख्य का होता है। राम के रीछ-वानर, कृष्ण के ग्वाल-बाल, बुद्ध के परिव्राजक-गाँधी के सत्याग्रही अवतार भूमिका के उपकरण कहे जा सकते हैं। श्रेय किसको मिला यह संयोग की बात है। परिवर्तन विचारधारा के तूफानी प्रवाह के रूप में आता है और असंख्य को अपने प्रभाव से उद्वेलित करता है। जाग्रत आत्माओं को ऐसे अवसरों पर विशेष भूमिका निभानी पड़ती है। जो युग-धर्म को समझते हैं-युग देवता का आह्वान सुनते हैं व धन्य बनते हैं और जो असमंजस में पड़े रहते हैं उन्हें समय को न पहचान सकने का सदा पश्चाताप की आत्म-प्रताड़ना ही सहन करनी पड़ती है।

अरुणोदय का पूर्वाभास पाकर मुर्गा पहले बाँग लगाता है, इस जागरूकता ने उसे प्रख्यात कर दिया। देर से तो सभी पक्षी जगते हैं, पर वे वैसी ख्याति नहीं पाते। उगते सूर्य को नमस्कार किया जाता है, पीछे तो वह दिनभर ही बना रहता है। शुक्ल पक्ष में सर्वप्रथम निकलने वाले दौज के चन्द्रमा का दर्शन करने के लिए सब आतुर रहते हैं। पीछे तो वह महीने भर घटता-बढ़ता बना ही रहता है, जन्म का पहला दिन स्मरणीय रहता है ऐसे तो जिन्दगी में हजारों दिन आते और चले जाते हैं। पर्वत चोटियों के बारे में प्रथम शोध करने वालों के नाम पर एवरेस्ट आदि शिखरों के नाम रखे गये हैं। नैपच्यून, प्लूटो आदि के नाम भी उनके शोधकर्त्ताओं के नाम पर रखे गये हैं। फोटो में साफ तस्वीर उनकी आती है जो ग्रुप की अगली पंक्ति में खड़े होते हैं। साहस उन्हीं का सराहनीय है जो दूसरों की प्रतीक्षा न करके अपनी साहसिकता का परिचय देते हैं।

युग-परिवर्तन अगले दिनों की सुगन्धित सच्चाई है। ईश्वरीय प्रयोजन पूरे होते हैं। गीता में भगवान् अर्जुन को यही समझाते हैं कि यह कौरव दल तो मरा रखा है। तेरे पीछे हटने पर भी यह दूसरी प्रकार से मरेगा। सुनिश्चित सफलता के श्रेय की उपलब्ध करना ही बुद्धिमत्ता है। युग देवता की पुकार सुनने, माँग पूरी करने और प्रेरणा का अनुसरण करने के लिए तो देर-सबेर में सभी को हाथ उठाने और पैर बढ़ाने पड़ेंगे। सराहना उनकी होती है जो समय रहते चेतते हैं। स्वतन्त्रता संग्राम में थोड़े-थोड़े दिन के लिए जेल गये लोग शासन सम्भालते और पेन्शन पाते देखे जा सकते हैं। जो उस समय चूक गये उनके लिए वह सुयोग कभी आ नहीं सका।

जाग्रत आत्माओं को युग देवता ने पुकारा है और कहा है वे अग्रिम पंक्ति में खड़े हों। हनुमान, अंगद की-भीम, अर्जुन की भूमिका सम्पन्न करें। जो स्वीकार करेंगे वे भौतिक दृष्टि से घाटे में रहेंगे, न आत्मिक दृष्टि से और जो असमंजस में पड़े रहेंगे उन्हें पश्चाताप ही पल्ले पड़ेगा।

***

परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगदृष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में जितना भी कुछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनों का निर्माण, उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युग निर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईंट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह-संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़, पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद काँग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं-सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति-स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनेतृत्व भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी रंग में रँगे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे- सृजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन बुनियादी आधार पर टिका- मानव को बनाने का तंत्र-आश्रम तंत्र जो सेवाग्राम-साबरमती आश्रम के रूप में कार्य करता रहा और वह भी शीर्ष-पुरुष के न रहने, बिनोवाजी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भव्य निर्माण, आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक, भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि.संवत् २०८६ में जन्मे, राष्ट्र की आजादी में उन्मत्त बने श्रीराममत्त कहलाने वाले, आचार्यश्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रान्ति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माताजी के रूप में खड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अपनी लेखनी से लिखी, ममत्व भरी चिट्ठियों व छोटी-छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर उन्होंने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्त्वदर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनों में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में सम्पन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरुसत्ता को त्याग करने की, यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा बलवती होने लगी। उन्होंने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेध के रूप में अपने आप को समाज के हित न्यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से सम्पन्न हुआ, एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई- वह थी गायत्री तपोभूमि, मथुरा जो वृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक अपनी जन्मभूमि आँवलखेड़ा से जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा वहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी १२ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनों का निर्माण उनके अंतःस्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा हवेली कहा

जाता था, में अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, **अखण्ड ज्योति संस्थान**, घीयामण्डी, मथुरा के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जो कि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ में बनाई गई। १९५३ में क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदेव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों, भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों, चरणपीठों का महत्त्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं, ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा जा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत् उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्यपूर्ण था।

परमपूज्य गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ इस प्रकार हैं–

(१) युगतीर्थ आँवलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शान्तिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार ।

युगतीर्थ आँवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन, ब्राह्ममुहूर्त में, जो अँग्रेजी तारीख से २० सितम्बर, १९११ के दिन आती थी, में जन्मा। एक श्रीमंत ब्राह्मण परिवार में, जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित, पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित, बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलालेखों की स्थापना हुई है- वहीं पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रम में गिर सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं- जैसी उनके समय में थीं। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुँआ जिसे पूरे गाँव का एकमात्र मीठे जल वाला कुँआ माना गया- वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीरधारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशाधारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क-पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। आँवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इण्टर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धनराशि द्वारा विनिर्मित है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकल कर आत्म-निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ एवं कन्या इंटर कॉलेज की स्थापना का ताना-बाना बुना जाने लगा जो एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था करने वाले, उन्हें सुशिक्षित, संस्कारवान, आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब रूप ले चुका है। प्रथम पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए चुना गया कि यहाँ से उद्भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर जाए व राष्ट्र के नव-निर्माण की सांस्कृतिक व भावनात्मक क्रान्ति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३६-३७ तक ही रहे, कुछ दिन आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये, जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान किराये पर लिया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव सीमित साधनों में अपने अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की जन-जन तक अपने क्रान्तिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरम्भ कर दी गयी थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ व अन्यान्य लेखों की पंक्तियों के माध्यम से सम्पन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतःस्थल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। यहीं पर अगणित दुःखी, तनावग्रसित

व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परमवंदनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी ट्रेडिल मशीनों द्वारा यहाँ पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छापी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी-सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजाघर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में १९४२-४३ में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी घीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनी, १९५८ में सहस्र कुण्डी यज्ञ की आधारशिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार बनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परमवंदनीया माताजी पढ़ती जातीं एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ। जनसम्मेलनों, छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डी पाँच विराट् यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन, विस्तार, डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्याप्त अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परमवंदनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन वहाँ विद्यमान हैं, यह प्रत्यक्षत: देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू. गुरुदेव की साधनास्थली व प्रात:काल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में १९५३ में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डी यज्ञायोजन सम्पन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा सम्पन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्यश्री ने युग निर्माण योजना के शत-सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युग निर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरम्भ होने की घोषणा की। यह विधिवत् १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युग निर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शान्तिकुंज, हरिद्वार ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवंदनीया माताजी को अखण्ड ज्योति दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुनः एक वर्ष बाद लौटे व तब शांतिकुंज को उनने एक बड़ा विराट रूप देने, सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवंदनीया माताजी ने २४ कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़

गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्तन सत्र, जीवन साधना सत्र, वानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता यहीं गढ़े। यह सत्र शृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का ताँता लगा रहता है। पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें करा लेते हैं।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सप्तऋषियों की मूर्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहाँ सभी संस्कारों को सम्पन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत् चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार सम्पन्न होते हैं। इस बीच परमवंदनीया माताजी ने जागरण सत्र शृंखलाएँ सम्पन्न करना आरम्भ रखा। देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर जो आज एक विराट स्थापना के रूप में, एक एकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं, १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ । विलक्षण, दुर्लभ जड़ी-बूटियों के पौधे यहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी तीर्थस्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहीं उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सत्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता-जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर उज्ज्वल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवीं स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७१ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था। वर्तमान शांतिकुंज- गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनों को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फलश्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है, जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच-पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहाँ पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों, जैव विद्युत आदि पर पड़ा, यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहाँ किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित है, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहाँ प्राय: ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टास्तर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीली संदोह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान ४०००० से अधिक प्रज्ञामण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जाएँ तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावनत होने का मन करता है। □□□

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाड्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे
सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से ज
विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से ज
अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, यह समग्र इस वाड्मय के खण्डों में है । जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. परिचयात्मक खण्ड
समग्र वाड्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जागृति की ओर
८. ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८ सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरदः शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं दीक्षा
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत की अदृश्य पहेलियाँ
५६. ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता, प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार-ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना -दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. पूज्यवर की अमृतवाणी-१
६८. विचार सार एवं सूक्तियाँ -१
६९. विचार सार एवं सूक्तियाँ-२
७०. विचार सार एवं सूक्तियाँ -३

वाड्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे—

७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवनः एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. मर्मस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें

हर निमिष उनका साथ ... लिए
बीस वर्ष शांतिकुंज हरिद्व ... सू
शरीर से हिमालय में बीते। ऋषि ... म्प
का बीजारोपण, सिद्ध तीर्थ गायत्री ती
का निर्माण एवं वैज्ञानिक अध्यात्मवा
के लिए संकल्पित ब्रह्मवर्चस शो
संस्थान व समर्थक साहित्य का लेखन इसी अवधि में हुआ। जीवन भर उनने लिखा, हर विषय को स्पर्श किया एवं जीवन मूरि की तरह भाव-संवेदना को अनुप्राणित करने वाली अपनी लेखनी साधना की। स्वयं के बारे में वे कहते थे- "न हम अखबार नवीस हैं, न बुक सेलर, हम तो युगदृष्टा हैं। हमारे ये विचार, क्रांति के बीज हैं। ये फैल गए तो सारी विश्व-वसुधा को हिलाकर रख देंगे।"

गद्य ही नहीं, पद्य पर भी उनकी उतनी ही पकड़ थी। हजारों को प्रेरित कर उनने सृजनात्मक काव्य लिखवाया। लेखनी उनकी पत्रों के माध्यम से करोड़ों व्यक्तियों के जीवन को बदलती चली गयी। प्राय: श्रेष्ठ लेखक, श्रेष्ठ वक्ता नहीं होते। किन्तु उनकी ओजस्वी अमृतवाणी ने लाखों का कायाकल्प कर दिया। उनके उद्‌बोधनों को, जो उनने भारत के कोने-कोने व मथुरा-हरिद्वार की पावन भूमि में दिए, इस वाङ्मय में देने का प्रयास किया गया है। करुणा छलकाती उनकी वाणी, अंत: को स्पर्श करती हुई जीवन-शैली बदलने को प्रेरित रहती प्रतीत होती है।

सत्तर खण्डों में जो पाँच-पाँच सौ पृष्ठ के हैं, प्राय: वह सब कुछ समा गया है, जो ऋषि युग्म के माध्यम से प्रकट हुआ। जो कमियाँ हैं, वह संपादन मण्डल की हैं। जो कुछ भी श्रेष्ठ है, वह सब उसी गुरु-सत्ता का है, उन्हीं का है, उन्हीं को समर्पित है।